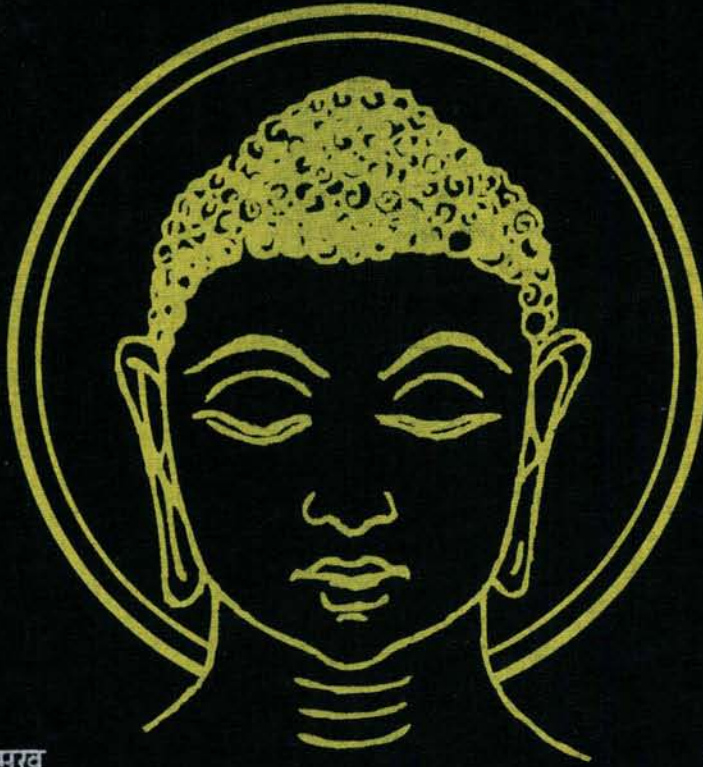


श्रीभिक्षु आगम विषय कोश CYCLOPAEDIA OF JAIN CANONICAL TEXTS

PART II



वाचना प्रमुख
गणाधिपति तुलसी

प्रधान सम्पादक
आचार्य महाप्रज्ञ

निर्देशन
आगम मनीषी मुनि दुलहराज

संग्रहण/अनुवाद/सम्पादन
साध्वी विमलप्रज्ञा
साध्वी सिद्धप्रज्ञा

निगंथं पाठयणं

श्रीभिक्षु आगम विषय कोश

२

(पांच आगम—आचारचूला, निशीथ, दशा, कल्प और व्यवहार
तथा इनके व्याख्या-ग्रंथों के आधार पर)

वाचना प्रमुख
गणाधिपति तुलसी

प्रधान सम्पादक
आचार्य महाप्रज्ञ

निर्देशन
आगम मनीषी मुनि दुलहराज
संग्रहण/अनुवाद/सम्पादन
साध्वी विमलप्रज्ञा
साध्वी सिद्धप्रज्ञा

प्रकाशन
जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
लाडनू (राजस्थान)

© जैन विश्व भारती, लाडनू

सौजन्य : माणकचंद सूर्या की पुण्य-स्मृति में
उनकी धर्मपत्नी श्रीमती केशरबाई सूर्या
सुपुत्र-किशनलाल-कुसुमदेवी
सुपौत्र-सचिन-रीमा, हैप्पी-प्रिया सूर्या
(आमेट/मुम्बई)

प्रथम संस्करण : फरवरी, २००५

मूल्य : ७००/-रुपये

मुद्रक : श्री वर्धमान प्रेस
शाहदरा, दिल्ली-३२

Niggaṃthaṃ Pāvayaṇaṃ

ŚRĪ BHIKṢU ĀGAMA VIṢAYA KOŚA

2

Cyclopedia of Jain Canonical Texts

(Compiled on the basis of these five Āgamas – Ācāracūlā, Nisītha, Daśā, Kalpa and Vyavahāra and their Commentaries)

Synod Chief

GAṆĀDHIPATI TULSĪ

Chief Editor

ĀCĀRYA MAHĀPRAJŅĀ

Direction by

ĀGAMA MANĪṢĪ MUNI DULAHARĀJ

Compilation / Translation / Edition

SĀDHVĪ VIMALPRAJŅĀ

SĀDHVĪ SIDDHAPRAJŅĀ

Published by

JAIN VISHVA BHARATI

LADNUN (Raj.)

**Publisher : Jain Vishva Bharati
Ladnun (Rajasthan)**

© Jain Vishva Bharati, Ladnun

**Courtsey : In memory of late Manakchand Surya
by his wife Kesarbai Surya,
his son-Kishanlal, daughter in law Kusum Devi.
grand childern-Sachin-Roma. Happy-Priya Surya.
(Amet/Mumbai)**

First Edition : February, 2005

Price : 700/- Rs.

**Printers : Shree Vardhaman Press
Shahadara, New Delhi-32**

समर्पण

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं ।
सज्झायसज्झाणरयस्स निच्चं,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
श्रुत-सद्ध्यानलीन चिर चिन्तन,
आर्य भिक्षु को विमल भाव से ॥

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथों से उप्त और सिञ्चित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगे। संकल्प फलवान बना। मुझे केन्द्र मानकर मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया और कार्य को निष्ठा तक पहुंचाने में पूर्ण श्रम किया।

कुछ वर्ष पूर्व मेरे मन में कल्पना उठी कि 'जैन आगम विषय कोश' तैयार किया जाए। सभी आगमों का एक विषय कोश अभीष्ट था। परन्तु वह दीर्घ समय सापेक्ष था। अतः उस कार्य को अनेक खंडों में विभक्त कर दिया गया, जिसकी फलश्रुति प्रस्तुत खंड है।

अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं सबको सम भागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं। संक्षेप में वह संविभाग इस प्रकार है—

प्रधान संपादक	:	आचार्य महाप्रज्ञ
निर्देशन	:	आगम मनीषी मुनि दुलहराज
संपादिका	:	साध्वी विमलप्रज्ञा
	:	साध्वी सिद्धप्रज्ञा
संकलन सहयोगी	:	साध्वी दर्शनविभा
	:	समणी उज्ज्वलप्रज्ञा

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान कार्य का भविष्य बने।

**गणाधिपति तुलसी
आचार्य महाप्रज्ञ**

अनुक्रम

- भूमिका
- Foreword
- प्रस्तुति
- ग्रंथ परिचय
- संदर्भ ग्रंथ : संकेत विवरण
- मुख्य विषय : अनुक्रम
- आगम विषय कोश
- परिशिष्ट
 - १ कथा-दृष्टान्त संकेत
 - २ विशेष शब्द विमर्श
 - ३ युगल शब्द विमर्श

भूमिका

छेदसूत्रों और उनके निर्युक्ति, भाष्य आदि व्याख्या ग्रंथों में जैन मुनियों के आचार का विस्तृत विवेचन है। भगवान महावीर के बाद दस-पन्द्रह शताब्दियों के अंतराल में होने वाली परिस्थितियों, विधि-निषेधों, उत्सर्ग और अपवाद पद्धतियों का विस्तृत लेखा-जोखा है।

आचार के कुछ सूत्र अपरिवर्तनीय होते हैं, तो बहुत सूत्र देश-काल सापेक्ष परिवर्तनीय हैं। उक्त ग्रंथों में परिवर्तन का दीर्घकालिक इतिहास है। परिवर्तन की व्याख्या में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि विषयों का आकलन भी उपलब्ध है।

प्रस्तुत ग्रंथ छेदसूत्रों पर आधारित है। छेदसूत्रों में अनेक विषय चर्चित हैं। उनका विस्तार भाष्य और चूर्णि में मिलता है। आचारचूला छेदसूत्रों की परिगणना में नहीं है, पर उसका निशीथ से बहुत संबंध है, इसलिए प्रस्तुत कोश में इसे छेदसूत्रों के साथ संबद्ध किया गया है।

छेदसूत्र प्रायश्चित्तसूत्र हैं। ज्ञान का सार आचार है। आचारशुद्धि ही साधक को लक्ष्य तक पहुंचाती है किन्तु प्रमाद के कारण साधक से स्वलना होती रहती है। छेदसूत्र उन स्वलनाओं की शुद्धि की प्रक्रिया प्रस्तुत करते हैं, उसकी शोध का मार्गदर्शन करते हैं। इसलिए अर्थ की दृष्टि से पूर्वगत को छोड़कर अन्य आगमों की अपेक्षा इन्हें बलवान् माना गया है।

प्राचीनकाल में जैन, बौद्ध और तापस—इनके बड़े-बड़े संघ होते थे। उनमें परस्पर मतभेद होते और कलह का वातावरण भी बनता था। प्रस्तुत आगम विषय कोश का अधिकरण प्रकरण उनका एक यथार्थ व्याख्या है।

अधिकरण की उत्पत्ति के मुख्य छह कारण हैं—१. सचित्त, २. अचित्त, ३. मिश्र, ४. वचोगत, ५. परिहारकुल, ६. देश-कथा—इनसे संबंधित असद् प्रवृत्ति के निवारण की प्रेरणा के पश्चात् सम्यक् प्रवृत्त न होने पर कलह उत्पन्न होता है।

१-३. सचित्त, अचित्त, मिश्र—शैक्ष, वस्त्र-पात्र अथवा उपकरण सहित शैक्ष—ये जिनके हैं, उन्हें नहीं सौंपा जाता है, अनधिकृत को ग्रहण किया जाता है या पूर्वगृहीत की मार्गणा की जाती है, उसे अस्वीकृत करने पर वितथ प्रतिपत्ति के कारण कलह हो सकता है।

४. वचोगत—शिष्य द्वारा एक सूत्र का दूसरे सूत्र में मिश्रण कर परावर्तन किया जाता है, सूत्रपदों के उच्चारण में अक्षरों की न्यूनाधिकता की जाती है, उसे प्रेरणा देने पर वह सम्यक् प्रवृत्त नहीं होता, तब कलह हो सकता है। देशांतर में देशी भाषा के प्रयोग का उपहास किए जाने पर, दूसरे के शब्दों का अनुकरण (नकल) करने पर तथा वक्तव्य वचनों में व्यत्यय करने पर कलह हो सकता है।

५. परिहारकुल—स्थापनाकुलों की स्थापना न करने पर, स्थापित कुलों में निष्कारण प्रवेश करने पर अथवा कुत्सित कुलों में प्रवेश करने पर निषेध किया जाता है। निषेध करने पर भी प्रवेश से उपरत नहीं होने पर कलह हो सकता है।

६. देशकथा—देश-अनुराग के कारण अपने-अपने देश की गौरवगाथा करने पर या परस्पर एक दूसरे की हीनता दिखाने का प्रयत्न होने पर कलह हो सकता है।

देशकथा, भक्तकथा, स्त्रीकथा तथा राजकथा हमारे लिए करणीय नहीं है—ऐसा कहने पर भी कोई विकथा से विरत नहीं होता है, तब कलह हो सकता है।

भिक्षु अधिकरण कर उस अधिकरण का व्युपशमन किए बिना गृहपति के घर में आहार या पानी के लिए गमन और प्रवेश नहीं कर सकता, बाहर विचारभूमि और विहारभूमि में नहीं जा सकता, ग्रामानुग्राम विहरण, एक गण से दूसरे गण में संक्रमण नहीं कर सकता और वर्षावास में स्थित नहीं हो सकता।

किसी के साथ कलह होने पर भिक्षु उसका उपशमन कर दे। कलह का उपशमन कर देने पर सामने वाला उसे बहुमान दे या न दे, उसके आने पर खड़ा हो या न हो, उसे वन्दन करे या न करे, उसके साथ भोजन करे या न करे, उसके साथ रहे या न रहे, वह कलह का उपशमन करे या न करे, वह उसकी इच्छा है। जो कलह का उपशमन करता है, उसके आराधना होती है। जो उपशमन नहीं करता, उसके आराधना नहीं होती। इसलिए व्यक्ति अपनी ओर से कलह का उपशमन करे।

परस्पर कलह होने पर जितने गृहस्थों या साधुओं ने उसे देखा है, उन सबको एकत्रित कर उनके सम्मुख क्षमा का आदान-प्रदान करना चाहिए। इससे अनेक लाभ होते हैं—गृहस्थ और शैक्ष साधु उस दृश्य को देख यह सोचते हैं—अहो! साधुओं का हृदय नवनीत की भांति कोमल होता है तथा उन्हें (दर्शकों को) यह भी बोध हो जाता है कि साधु कलह उत्पन्न होने पर उपशमन और क्षमायाचना-क्षमादान कर्मक्षय के लिए करते हैं, दण्ड के भय से नहीं।

यदि अनुपशांत अवस्था में एक साधु अन्यत्र सुदूर क्षेत्र में चला गया हो तो दूसरा साधु वहां जाकर क्षमायाचना करे। वैयावृत्यकरण, बीहड़ मार्ग, स्वजनों का उपसर्ग आदि-आदि कारणों से स्वयं वहां न जा सके और कोई भद्र श्रावक उस क्षेत्र में जा रहा हो तो उसके साथ क्षमा का संदेश भेजे।

यदि संदेशवाहक न मिले तो स्वयं अपने मन से कलह का भाव सर्वथा समाप्त कर दे। फिर कभी कहीं मिले, वहाँ क्षमायाचना करे। यदि कभी कहीं मिलने की संभावना न हो तो अपने गुरु के पास आकर उसका स्मरण कर मानसिक संकल्प के साथ उससे क्षमायाचना करे।^१

छेदसूत्रों में प्रायश्चित्त के अनेक प्रकार प्रज्ञप्त हैं। बड़े अपराधों में कड़े दंडों का विधान है। तीर्थकर और संघ की आशातना करना, तीव्र कषाय का उदय, स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय, मैथुनसेवन—इन उत्कृष्ट अपराधों में पाराचित प्रायश्चित्त दिया जाता है। प्रायश्चित्तवाहक उत्कृष्टतः बारह वर्ष तक साधु-क्षेत्र से बाहर अकेला रहता है और जिनकल्पी-सदृश कठोर साधना करता है। परिहारतपप्रायश्चित्तवाहक परस्पर किसी से भी बातचीत नहीं कर सकता, मंडलीभोजन नहीं कर सकता।^२

बौद्ध परम्परा में भी कठोर दंड का विधान है। मैथुनप्रतिसेवी को पाराजिक प्रायश्चित्त दिया जाता है और उसे संघ से बहिष्कृत किया जाता है।^३ वैदिक परम्परा में ब्रह्महत्या करने वाले महापातकी को कठोर दंड दिया जाता है। वह बारह वर्ष तक जंगल में कुटी बनाकर रहता है और भिक्षा से जीवन-यापन करता है। सुरापान करने वाले

१. प्रस्तुत कोश, पृ १३-१५

२. वही, पृ ३३१, ३५७

३. विनयपिटक, पाचित्तिय, पाराजिककांड

महापातकी के लिए विधान है कि वह जटा धारण करे और तीन वर्ष तक रात्रि में केवल एक बार पिण्याक व धान्यकणों का भोजन करे।^१ महापातकी व्यक्ति के साथ बातचीत आदि पारस्परिक व्यवहार करना और उसका अभ्युत्थान करना वर्जनीय माना गया है।

वज्रऋषभनाराच संहनन वाले प्रतिसेवी को ही तप पारांचित (दसवां प्रायश्चित्त) दिया जा सकता है। धृति और संहनन का गहरा संबंध है। हीन संहननी की अपेक्षा दृढ़ संहननी अधिक धृति सम्पन्न होता है। जो अल्पतम शक्ति वाला (सेवार्त संहननी) प्राणी है, वह ऊर्ध्वगति में चौथे कल्प से और अधोगति में दूसरी तरक से आगे नहीं जा सकता।^२

प्राचीन काल में विद्यार्थियों के लिए गुरुकुलवास की व्यवस्था थी। धर्मसंघों में भी यह व्यवस्था मान्य थी कि ज्ञानपिपासु शिष्य विपुल ज्ञानार्जन के लिए अपने गण को छोड़कर दूसरे गण की उपसम्पदा स्वीकार कर सकता था। प्रयोजन पूर्ण होने पर वह पुनः अपने गण में लौट आता था। वह जिस दूसरे गण में जाता, वहां उसकी कड़ी परीक्षा की जाती और उसमें उत्तीर्ण होने पर ही प्रतीच्छक के रूप में वहां रहने की स्वीकृति मिलती थी। गुरु (आचार्य) उसे स्पष्ट भाषा में कहते—तुम्हारा गच्छ पितृगृहस्थानीय है और हमारा गच्छ तुम्हारे लिए श्वसुरगृहस्थानीय है। श्वसुरगृह में वधू का प्रमाद क्षम्य नहीं होता। हम तुम्हारा प्रमाद सहन नहीं करेंगे। सावधान करने पर भी तीन बार से अधिक एक गलती को दोहराया तो गण से निष्कासित भी कर देंगे। इतना सहने की क्षमता हो तो यहां रहना, अन्यथा नहीं। आगन्तुक शिष्य भी गुरु की परीक्षा करते थे।^३ इससे ज्ञान-विकास की अविच्छिन्न परम्परा चलती थी।

श्रुतज्ञान तृतीय नेत्र है। उसकी अव्युच्छिति के लिए अतिशय श्रुतधर (सम्पूर्ण दशपूर्वी आदि) मुनि जिनकल्प आदि प्रतिमाएं स्वीकार नहीं कर सकते। वे अपने श्रुतज्ञान से शासन की प्रभावना करते हैं। संघ को चिरायु बनाने वाला स्थायी आधार है श्रुत। जो मुनि श्रुतधर (चौदहपूर्वी) मुनि का वैयावृत्य करता है, वह विपुलतम निर्जरा करता है।^४

प्रस्तुत ग्रंथ विषय कोश है। इसमें १२४ विषयों का संग्रहण है। तत्त्वदर्शन, कर्मसिद्धांत, चिकित्साशास्त्र, आचारसंहिता, प्रायश्चित्तसंहिता, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, इतिहास आदि अनेक दृष्टियों का इसमें समावेश है इसका पाठक के लिए बहुत मूल्य है। शोध विद्यार्थी के लिए इसका उससे भी अधिक मूल्य है। अनेक ग्रंथों की सामग्री का एक साथ संकलन करने में कोशकार का श्रम शोधकर्ता के श्रम को स्वल्प बना देता है। उदाहरणस्वरूप 'आगम' का प्रकरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

आगम संपादन के प्रारंभकाल में विषय कोश की कल्पना की गई थी। मोहनलाल बांठिया ने यह कार्य प्रारंभ किया। लेश्या कोश आदि अनेक ग्रंथ संपादित होकर सामने आ गए। यह कार्य बहुत बड़ा है। जिस गति से चल रहा है, उससे दीर्घ काल लग सकता है, शीघ्र सम्पन्नता की संभावना भी नहीं है। इस स्थिति को ध्यान

१. याज्ञवल्क्य स्मृति ३/५/२४३, २५४

२. प्रस्तुत कोश, पृ १६४, ३५६

३. वही, पृ १४७, १४८

४. वही, पृ २५५, ५२१, ५७८

में रखकर कुछ अपेक्षित कोशों का कार्य साध्वी विमलप्रज्ञा और साध्वी सिद्धप्रज्ञा को सौंपा गया। उन्होंने समय की सापेक्षता के अनुसार कार्य किया। श्रीभिक्षु आगम विषय कोश सन् १९९६ में समाने आ गया। वह विद्वद्वर्ग के द्वारा काफी समादृत हुआ। उसका अग्रिम भाग पाठक वर्ग के सामने प्रस्तुत हो रहा है। इसकी उपयोगिता आचारशास्त्री के लिए बहुत है। इसका ऐतिहासिक मूल्य भी कम नहीं है।

बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ के भाष्य आकर ग्रंथ हैं। इनमें से कुछ विषयों का चयन करना अति दुर्गम है। इस दुर्गम कार्य को साध्वी विमलप्रज्ञा और साध्वी सिद्धप्रज्ञा की कार्यनिष्ठा ने सुगम बनाया है। मुनि दुलहराजजी ने इसका सांगोपांग परामर्श कर सुव्यवस्थित किया है। समणी उज्ज्वलप्रज्ञा और साध्वी दर्शनविभा ने प्रतिलिपि, परिशिष्ट, प्रूफ अवलोकन आदि में काफी श्रम किया है।

सिरियारी

वीर निर्वाण दिवस

१२ नवम्बर, २००४

आचार्य महाप्रज्ञ

FOREWORD

There is an elaborate discussion on the conduct of the Jain ascetics in the *Cheda Sūtras* and the *Niryuktis*, the *Bhāṣyas* and other exegetic works on them. We get therein an extensive account of the conditions, dos and donts, rules and exceptions that took place in the 10-15 centuries after the *nirvāṇa* of *Bhagavān Mahāvīra*.

Some *Sūtras* of conduct are unchangeable, while there are some which may be changed according to space (place) and time. In the above works, there is a long history of such changes. In the exposition on the changes we get also an account of the topics related with the then social, political, economic and other conditions.

The present “cyclopedia” is based on the canonical texts called the *Cheda Sūtras*. In the *Cheda Sūtras*, we get discussion on many subjects. A detailed and extensive exposition of them is to be found in the *Bhāṣyas* and the *Cūrṇis*.

The *Ācārācūlā* is not enumerated in the category of the *Cheda Sūtras*, but as it is very much related with the *Niśītha (Sūtra)* (which is one of the *Cheda Sūtras*), we have included it in the present *Kośa* (cyclopaedia) on the *Cheda Sūtras*.

The *Cheda Sūtras* are the treatises on the “*Sūtras of Prāyaścitta*”. The essence of *jñāna* (knowledge) is *ācāra* (conduct). It is the purity of conduct that leads the *sādhaka* to his final goal. But, on account of remissness, a *sādhaka* is liable to commit lapses or transgressions. The *Cheda Sūtras* present a process of the purification or atonement and guides the *sādhaka* for undertaking the necessary penances. For this reason, with respect to the contents, these canonical texts of the *Cheda Sūtras* have been considered to be stronger than other scriptures, except the “*Pūrvagata*” scriptures.

In ancient times, there were very big religious orders of the *Jainas*, the *Buddhists* and the *Tāpasas* (hermits). They used to have difference of opinions, and hence there were occasions of mutual conflicts (*adhikaraṇa*) among them. The entry on “*adhikaraṇa*” in the present cyclopedic dictionary may serve as an illustration throwing light on the ‘conflicts’ of that age:

There are six main reasons for rising of conflicts, which can be classified as follows:

1. *Sacitta* (living things),
2. *Acitta* (non-living things like novice etc.),
3. *Miśra* (living-cum-nonliving like clothes, bowls etc.),
4. Verbal,
5. Prohibited *kula* (families),
6. Talks of National Pride, etc.

Let us discuss each in detail—

(1), (2) & (3). — Conflict due to the ownership of a novice, outfit (clothes, bowls), or paraphernalia—

A conflict can arise when these things (which may be living, non-living or *miśra*) which, if belonging to someone, are given to someone else; or when such things are appropriated by someone not authorized for the same, or when such things are claimed by the owners from those who have been given only temporarily, but are denied—such illegitimate verdicts give rise to conflicts.

(4) Conflict due to the verbal lapses, etc.—

For example, if a disciple while reciting a *sūtra* erroneously mixes it with another *sūtra*, or if he makes lapses in correct pronunciation of the *sūtra-padas*, and if he is inspired to make corrections and even then if he may not amend himself, then a conflict or a quarrel may arise. Another example of verbal conflict is — If someone ridicules another person for making use of *deśī* dialect in an alien country where such language is not used, or if someone mimics other person's speech or way of speaking or if someone makes incoherent speech, then a quarrel or a conflict may take place.

(5) Conflict due to entry into the prohibited *kula*—

If the permitted (and prohibited) families are not predecided, or if an entry into the permitted family is made without any necessary purpose, or if entry into the prohibited families is made, others would make a protest against such entry, which would result in a conflict or a quarrel, if such entry is not given up.

(6) Conflict due to talks of national pride etc.—

If the disciples hailing from diverse nations start boasting of their own motherlands, or if they start belittling other's, then also there may be an occasion of a conflict or a quarrel.

Alternatively, if some disciple may reprimand his fellow-monk by saying, “the talks about nations (or countries), food, women and king are prohibited for us (the Jaina monks), and so, you should not indulge in such talks”. But the other fellow may still continue to indulge in such talks; then a conflict or a quarrel may arise.

In case, if a monk creates a conflict or a quarrel with others, then, without resolving it, he should neither go for begging alms or water, nor enter into the house of a householder, nor go to the outskirts (of the town or village) for nature's call, nor for sojourning at other places, nor undertake journey (*viharāṇa*) from village to village, nor get himself transferred from his own *gaṇa* (order) to another one, nor stay at one place for the stay during the rainy-season.

On arising of a quarrel with anybody, a monk should subside it on his part; even, if in spite of this, the other fellow may or may not pay respect to him, may or may not stand up to give him honour, may or may not pay obeisance to him, may or may not dine with him, may or may not stay with him, or may or may not subside the quarrel.

One, who really subsides the quarrel on his part, becomes eligible for the attainment of the emancipation. On the contrary, one who does not do so, remains ineligible for the attainment of the *mokṣa*. Therefore, on his part, one should subside the quarrel.

If there is a quarrel between two or more monks, then one who wants to subside it should ask all the monks and the lay-followers who were witness to the event to get together and in their presence should give and take (mutually) forgiveness from each other. There are many advantages of such act of forgiveness—(for example) the lay-followers and the novices who would witness such an event would be impressed and would think in the terms — “Ah! indeed the hearts of the monks are as soft as butter.” Besides, they (the spectators) would also get the enlightenment that on arising of conflict, the monks subside it and give and take (mutually) the forgiveness for the annihilation of the (past) karma, and not because of the fear of getting punishment.

If any one of the monks who had quarrelled travels far away to other regions without subsiding the quarrel, then the other should go there and ask for forgiveness. If, for any reasons like his pre-occupation with rendering services to the ailing fellow-monks, or the dangers in the path of the journey, which may be passing through a forest, or probability of reprimands from the relatives, etc., he cannot go there, he should send his message of seeking forgiveness through some noble lay-follower who is going there for his own work.

In case, if no messenger is available, he should totally wipe out the feeling of quarrel (vengeance) from his mind, and in meeting the other fellow later on at any place, he should beg pardon from him.

In case, there is no possibility whatsoever of meeting him again, then he should go to his *guru* and mentally recalling the other fellow, in the presence of the *guru*, beg for his forgiveness with a mental resolve.

(This illustration shows how exhaustively the event of “conflict” is described).

In the *Cheda Sūtras*, many types of atonement have been propounded. In case of the grave offences, very strict punishments have been prescribed. In case of the grave offences such as insulting the *tirthankara*, or the *saṅgha* (order), arousal of intense passions, rise of the karma causing somnambulism (and even committing murder during it), or indulging in copulation, the offencer is given the highest atonement called “*pārāñcita*”, in which the monk undergoing such punishment, maximally has to remain solitary in the region outside the sojourning of the monks and has to undertake hard penances like the *jinakalpī* monks. A monk undergoing the atonement called “*parihāra*” is debarred from all communication with the monks and co-dining with them.

In the Buddhist tradition too, there is propounded a very hard punishment (for grave offences). A monk indulging in the act of copulation has to undergo “*pārājika*” *prāyaścitta* and also, he is dismissed from the *saṅgha*. In the Vedic tradition, one who is a great sinner indulging in the murder of a brahmin, is punished with a very hard punishment in which he has to stay in the forest, by setting up a hut there and seek his livelihood through begging alms. For a person who is a great sinner of indulging in drinking (alcohol) is punished with the punishment in which he has to keep the long matted hair and to eat only once in the night in one day and that too only the “*piṇyaka*” (residue of seeds ground for oil) and the grain-corns. Any conversation with a great sinner is strictly prohibited, also any kind of mutual give-and-take and any kind of honour like standing (for welcome) on his coming is prohibited too.

The monk liable for the “*pārāñcita*” penances, which is the tenth *prāyaścitta* could only be a person possessed of *vajra-ṛṣbha-nārāca-saṃhanana* (i.e., the strongest type of bone-structure in which the bone-joints are bolted with nail, bone-joints are interlocked and cross-tightened).

The patience and the bone-structure are intensely related with each other. A person possessed of a strong bone-structure has more patience than one of a weak bone-structure. The living being which is possessed of the weakest bone-structure (*sevārta saṃhanana*) i.e., one which is possessed of the weakest power, cannot get re-incarnation beyond the fourth heaven (*kalpa*) in the higher existence and the second hell in the lower existence.

In the ancient times, there was the tradition of “*gurukulavāsa*” (i.e. to live with the teacher during the period of studies). In the religious orders also, similar tradition was prevalent. A pupil desirous of higher studies could be got transferred to another *gaṇa* (leaving own *gaṇa*) through *upasampadā* (ordination) there. On completion of the desired purpose, the pupil had to join back his original *gaṇa*. There (in the other *gaṇa*), the pupil had to undergo a very strict scrutiny and only after finding fit for the entry, he would be allowed to stay there as a “guest-pupil” (*praticchaka*). The guru (*ācārya*) would warn him before the admission into the new *gaṇa*, “You belonged to a *gaṇa*, which was like the maternal family of a daughter-in-law; now you want to join our *gaṇa*, it would be like the family of the in-laws for a daughter-in-law. You should know that any remissness on the part of the daughter-in-law in her father-in-law’s family is not tolerated; similarly, we would not tolerate your remissness here. Even in spite of reprimanding thrice for the same kind of lapse, if you would repeat it for the fourth time, you would be dismissed from our *gaṇa*. If you have that much power of forbearance, you may stay here, otherwise not.”

The novice, before his entry into the new *gaṇa*, also would like to test the new *guru*. In this way, a tradition of development of knowledge was kept in tact.

The scriptural knowledge is like the third eye. Any monk (or *ācārya*) who was possessed of extraordinary scriptural knowledge (for example, who was a possessor of the ten *purvas*—the texts of the Earlier Lore of Scriptures), was not allowed to take intensive course of the *Jinakalpa*, for maintaining the continuity of the tradition of the scriptural knowledge (for, if he would become a *Jinakalpī*, he would lead a completely secluded life and would not involve himself in the teaching process). Such knowledgeable monks (or *ācāryas*) would render immense services to the religious order through their scholarship and erudition. The scriptures serve as the steady basis of the long standing of the religious order. A monk who occupies himself in rendering medical services to a possessor of scriptural knowledge (or a possessor of fourteen *purvas*) spiritually gets the benefit of immense *nirjarā* (falling off of the karma).

The Cyclopedia Dictionary

Our dictionary is a cyclopedic one based on different topics. There is a collection of 124 main topics dealing with various disciplines, such as metaphysics, doctrine of karma, medical science, ethical codes, atone mental codes, biology, psychology, history, etc., which would prove very valuable for the reader (user of this dictionary). It would be even more valuable for the research scholars, for the dictionary-compiler facilitates them with the material on a topic collected at one place, which

makes easy for them to do their research work. For example, the entry on *āgama* would be illustrative to show this.

In the beginning of our work on the *āgamas*, we had conceived a plan for preparing a cyclopedic dictionary. Late Shri Mohanlal Banthia had taken up this task in his hand. Many works like 'Leśyā-kośa' got edited and have already been published. In fact, it has been a very extensive task. The speed with which it is being accomplished is relatively too slow to be completed in a short time, and hence it will take its own time. On the basis of this line of thinking, this work of compiling some needed dictionaries was entrusted to Sādhvī Vimalprajñā and Sādhvī Siddhaprajñā. They have done the work within a relatively shorter time. The first volume of this cyclopedia got published as early as 1996 and was very much appreciated by the scholars. Now, the second volume, which is being published, is in the hands of the readers. This volume is very much useful for the scholars of ethics, its historical value is also not less.

The *bhāṣyas* on the *Bṛhatkalpa*, *Vyavahāra* and *Niśītha* are voluminous works (on the Jain Ethics). It is a stupendous task to select some topics from them, but the dedication to work of Sādhvī Vimalprajñā and Sādhvī Siddhaprajñā has made it easier. Muni Dulharājī has systematized the work by thorough counselling. Samaṇī Ujjvala Prajñā and Sādhvī Darśanavibhā have done a laborious job in preparing the manuscript and compiling the appendices as well as doing the job of proof-reading.

Siriyāri

12 November 2004

Vīra Nirvāṇa-divasa

Ācārya Mahāprajñā

प्रस्तुति

“अर्हंतों के अनुभवों का आगमों में सार है।
वह हमारी साधना का प्राणमय आधार है॥”
“सत्य की अभिव्यक्ति में अक्षर सहज अक्षर बना।
वन्दना उस आप्त-वाणी की करें पुलकितमना॥
भारती कैवल्य-पथ से अवतरित अधिगम्य है।
सुचिर-संचित तमविदारक रम्य और प्रणम्य है॥”

परमाराध्य आचार्यश्री तुलसी-महाप्रज्ञ द्वारा प्रणीत ये रत्न-पंक्तियां 'श्री भिक्षु आगम विषय कोश' के लिए प्रेरणामय दीपशिखाएं हैं। आगम, निर्ग्रथ-प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, प्रतिपूर्ण है, निर्याणमार्ग और निर्वाणमार्ग है। आगम हमारा प्राण है, श्वासोच्छ्वास है। आगम असंदीन द्वीप है, असंदीन दीप है। आगम का अनुशीलन आत्मा को आह्लाद और आलोक से भर देता है। प्रस्तुत कोश उसी की एक रश्मि है।

वाचनाप्रमुख युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी-महाप्रज्ञ की दिव्य सन्निधि में हमें श्रुत-आराधना का एक दुर्लभ अवसर उपलब्ध हुआ है। पूज्यप्रवरचतुष्टयी (श्रीतुलसी-महाप्रज्ञ-महाश्रमण-महाश्रमणी) ने हमें आगम कोश कार्य में नियोजित कर हमारे अहोभाग्य को अभिव्यंजित किया है। पूज्यवरों के अनुग्रह-आशीर्वादमय मार्गदर्शन और आगम मनीषी मुनिश्री दुलहराजजी के निर्देशन के परिणामस्वरूप हमने सन् १९९६, जैन विश्व भारती, लाडनू में श्रीभिक्षु आगम विषय कोश का प्रथम भाग श्रीचरणों में समर्पित किया।

लगभग दो वर्ष तक इस कार्य पर विराम चिह्न लगा रहा। प्रथम भाग की सामग्री का अवलोकन कर ख्यातिप्राप्त विद्वान् स्व. डॉ. नथमल टाटिया, डॉ. सत्यरंजन बनर्जी आदि ने हमें पुनः-पुनः प्रेरित किया कि अब इस कोश का दूसरा भाग शीघ्र सामने आए। परम पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री महाप्रज्ञ के आदेश-निर्देश-अनुज्ञा-अनुयोग पुरस्सर आशीर्वाद से पुनः पांच आगमों—आचारचूला और चार छेदसूत्र—निशीथ, दशा, कल्प और व्यवहार तथा इनके व्याख्या साहित्य के कार्य का लक्ष्य बनाया गया। प्रारंभ में यद्यपि इस कोशखंड में छेदसूत्रों के संग्रहण की परिकल्पना-परियोजना थी, किन्तु आचारचूला और निशीथ में प्रतिषेध और प्रायश्चित्त की संबंध-शृंखला के कारण हमने आचारचूला का भी इस कोश में संग्रहण किया है। आचारचूला प्रतिषेध सूत्र है, इसमें आचार संबंधी विधि-निषेधों का निरूपण है। निशीथ प्रायश्चित्त सूत्र है, इसमें आचार-भंग की प्रायश्चित्त विधि प्रतिपादित है।

हमारी श्रुतयात्रा का दूसरा प्रस्थान प्रारंभ हुआ। यह यात्रा उस यात्रा की अपेक्षा अधिक जोखिमभरी थी क्योंकि इस बार हमें छेदसूत्रों की पदयात्रा करनी थी। छेदसूत्रों के लघुतम शब्द शरीर से विराट् अर्थ तक पहुंचना, उत्सर्ग और अपवाद की व्यापक सीमा रेखाओं के मर्म को समझकर ग्राह्य का संग्रहण करना तथा उन्हें विषयों में आबद्ध करना दुरूह कार्य था, किन्तु गुरु का अनुग्रह बरसा, सक्रिय मार्गदर्शन प्राप्त हुआ, तब ऊबड़-खाबड़ मार्ग भी राजमार्ग बन गया। अंधेरा ढल गया। प्रकाश का अवतरण हो गया।

लगभग साठे छह हजार (६५००) पृष्ठों वाले इस विपुल साहित्य में समाविष्ट समग्र विषयों का संग्रहण न कर उन विषयों का चुनाव किया गया है, जो हमारी दृष्टि में प्रधानता से समवसृत हुए हैं। श्री भिक्षु आगम विषय कोश के इस द्वितीय भाग में मात्र एक सौ चौबीस (१२४) विषय अकारादि क्रम से समवतरित हैं।

इस कोश के प्रथम भाग में एक सौ अठहत्तर (१७८) विषय अकारादि क्रम से अंकित हैं ।

मुख्य विषय : अनुक्रम (भाग-१)

१. अंगप्रविष्ट	३७. ऊनोदरी	७३. दृष्टिवाद	१०९. प्रवचन	१४५. विनय
२. अंगबाह्य	३८. एषणा समिति	७४. देव	११०. प्रायश्चित्त	१४६. वृद्धश्रावक
३. अंगुल	३९. कथा	७५. द्रव्य	१११. बहुश्रुत	१४७. वैयावृत्य
४. अजीव	४०. करण	७६. द्वीप	११२. बाहुबलि	१४८. व्याकरण
५. अज्ञान	४१. करणसत्तरी	७७. धर्म	११३. बुद्धि	१४९. व्युत्सर्ग
६. अनशन	४२. कर्म	७८. ध्यान	११४. ब्रह्मचर्य	१५०. शकुन
७. अनाचार	४३. कषाय	७९. नक्षत्र	११५. भव्य	१५१. शरीर
८. अनुप्रेक्षा	४४. कामभोग	८०. नमस्कारमंत्र	११६. भाव	१५२. शासन-भेद
९. अनुमान	४५. कायक्लेश	८१. नय	११७. भावना	१५३. शिक्षा
१०. अनुयोग	४६. कायोत्सर्ग	८२. नरक	११८. भाषा	१५४. शिष्य
११. अर्हत्	४७. काल	८३. नाथ	११९. भाषा समिति	१५५. श्रमण
१२. अर्वाधिज्ञान	४८. काल-विज्ञान	८४. निक्षेप	१२०. भिक्षाचर्या	१५६. श्रावक
१३. अष्टांगनिमित्त	४९. काव्य-रस	८५. निदान	१२१. भिक्षु	१५७. श्रुतज्ञान
१४. अस्तिकाय	५०. कुत्रिकापण	८६. निर्बुक्ति	१२२. मंगल	१५८. संख्या
१५. अस्पृशद्गति	५१. कुलकर	८७. निषद्या	१२३. मंत्र-विद्या	१५९. संघ
१६. अस्वाध्याय	५२. केवलज्ञान	८८. निह्व	१२४. मन	१६०. संज्ञा
१७. अहिंसा	५३. केवली	८९. परिग्रह	१२५. मनःपर्यवज्ञान	१६१. संयम
१८. आगम	५४. केवलीसमुद्घात	९०. परिषद्	१२६. मनुष्य	१६२. संलेखना
१९. आचार	५५. गणधर	९१. परीत	१२७. मरण	१६३. संस्थान
२०. आचार्य	५६. गुणस्थान	९२. परीषह	१२८. महाव्रत	१६४. संहनन
२१. आजीवक	५७. गुप्ति	९३. पर्वाप्ति	१२९. माहन	१६५. समवसरण
२२. आत्मा	५८. गोचरचर्या	९४. पल्योपम	१३०. मोक्ष	१६६. समाधि
२३. आनुपूर्वी	५९. गौरव	९५. पाषण्ड	१३१. योग	१६७. समिति
२४. आभिनिबोधिकज्ञान	६०. चक्रवर्ती	९६. पुद्गल	१३२. योगसंग्रह	१६८. सम्यक्त्व
२५. आयतन	६१. चारित्र	९७. पुद्गलपरावर्तन	१३३. योनि	१६९. साधर्मिक
२६. आराधना	६२. जातिस्मृति	९८. पूर्व	१३४. रसपरित्याग	१७०. सामाचारी
२७. आलोचना	६३. जिन	९९. पोट्टपरिहार	१३५. राजीमती	१७१. सामायिक
२८. आवश्यक	६४. जीव	१००. प्रतिक्रमण	१३६. रात्रिभोजनविरमण	१७२. सिद्ध
२९. आशातना	६५. जीवनिकाय	१०१. प्रतिमा	१३७. लब्धि	१७३. सूत्र (सूत)
३०. आश्रव	६६. ज्ञान	१०२. प्रतिलेखना	१३८. लिंग	१७४. स्तव-स्तुति
३१. आहार	६७. तप	१०३. प्रतिसंलीनता	१३९. लेश्या	१७५. स्थविरावलि
३२. इन्द्रिय	६८. तिर्यच	१०४. प्रतिसेवना	१४०. लोक	१७६. स्याद्वाद
३३. ईषत्प्राग्भारा	६९. तीर्थ	१०५. प्रत्याख्यान	१४१. वन्दना	१७७. स्वरमंडल
३४. उपधि	७०. तीर्थकर	१०६. प्रत्येकबुद्ध	१४२. वर्गणा	१७८. स्वाध्याय
३५. उपमान	७१. त्रस	१०७. प्रमाण	१४३. वाद	
३६. उपसर्ग	७२. दुःख	१०८. प्रमाद	१४४. वासुदेव	

प्रथम और द्वितीय भाग के अनेक विषय सदृश हैं। यथा—अनशन, अनुयोग, आगम आदि किन्तु उनकी सामग्री भिन्न-भिन्न है। कुछ विषय मात्र शब्द-परिवर्तन के साथ अंकित हैं। यथा—अंतेवासी (शिष्य), गीतार्थ (बहुश्रुत), अंतकृत (मोक्ष), कल्पस्थिति (शासनभेद) आदि। इन विषयों में शब्दान्तर है, अर्थान्तर नहीं।

कुछ विषयों का परस्पर अन्तर्भाव कर दिया गया है। यथा अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का आगम में, अनुप्रेक्षा का भावना में, अस्वाध्याय का स्वाध्याय में और अनाचार का आचार विषय में समावेश कर दिया गया है।

इस भाग के अनेक विषय पूर्णतः नवीन हैं, अर्थात् उस भाग में नहीं हैं। यथा—आज्ञा, आर्यक्षेत्र, उत्सारकल्प, चिकित्सा, छेदसूत्र, जिनकल्प, नौका, पर्युषणाकल्प, महास्थण्डिल, यथालन्दकल्प, व्यवहार, शय्यातर, साम्भोजिक, स्थविरकल्प, स्थापनाकुल, स्वप्न आदि।

विषयकोश की कार्ययद्दति

इसकी कार्यशैली प्रायः प्रथम भाग के सदृश ही है। सर्वप्रथम गृहीत विषय का भावात्मक शब्दार्थ बताकर उसमें विवेचित बिन्दुओं की सूची दी गई है। इससे पाठक को प्रथम दृष्टिपात में ही विषयगत महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की सूचना मिल जाती है। यथा—‘अंतेवासी’ मूल विषय है। सूची में अंतेवासी का अर्थ, उसके प्रकार, उसकी योग्यता-अयोग्यता की परीक्षा, विनयप्रतिपत्ति आदि बिन्दु सूचित किए गए हैं।

शब्द की अन्य शब्द से संबद्धता (cross reference)

जहां एक शब्द दूसरे शब्द से संबद्ध है, वहां उस शब्द का विवेचन उपयुक्त स्थान पर कर, दूसरे स्थान पर स्टार (★) चिह्न के साथ द्र (द्रष्टव्य) का प्रयोग कर उसे सूचित किया गया है। यथा—

‘आचार’ विषय की सूची में—★ मुनि का आचार-व्यवहार (द्र सामाचारी)

‘आराधना’ विषय की सूची में—★ प्रायोगमन में द्विविध आराधना (द्र अनशन)

बिन्दुओं के विवरण के पश्चात् भी यथावश्यक क्रॉस रेफरेंस दिए गए हैं। यथा—

कर्म विषय में १७ वें बिन्दु के मेटर के पश्चात्—* पूर्व तप से देवायुबंध कैसे? (द्र देव)

कल्पस्थिति विषय के अंतिम बिन्दु-विवरण के पश्चात्—* पर्युषणा की सामाचारी (द्र पर्युषणाकल्प)

जो महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द अपने मूल विषय में व्याख्यायित हैं, उन शब्दों को स्वतन्त्र रूप से ग्रहण कर शेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य (द्र) लिखकर उसकी सूचना दी गई है। यथा—अंतकृतभूमि (द्र अंतकृत), अनुप्रेक्षा (द्र भावना), निर्यापक (द्र अनशन), नैषेधिकी (द्र स्वाध्याय)।

अनेक विषयों के बिन्दुओं का संबंध आगम विषय कोश के प्रथम भाग के विषयों से जोड़ा गया है। यथा—अनुयोग विषय के प्रथम बिन्दु विवरण के पश्चात्—

* अनुयोगविधि द्र श्रीआको १ अनुयोग * श्रवण-विधि के सात अंग द्र श्रीआको १ शिक्षा

स्वप्न विषय के चतुर्थ बिन्दु विवरण के पश्चात्—

* महावीर के दस महास्वप्न द्र श्रीआको १ तीर्थकर

स्वाध्याय विषय में—* अस्वाध्यायिक के भेदों का विवरण द्र श्रीआको १ अस्वाध्याय

इस संबद्धता सूचन से अनावश्यक पुनरावृत्ति को विराम मिल जाता है और यह बोध भी हो जाता है कि एक शब्द दूसरे शब्द के साथ किस प्रकार और क्यों सम्बद्ध है।

जो विषय अधिक विस्तृत हैं, उनके भेदों में कहीं कुछ भेदों को और कहीं सब भेदों को स्वतंत्र विषय के रूप में ग्रहण किया गया है। यथा—

प्रायश्चित्त के दस भेद हैं। उनमें से आलोचना (प्रथम भेद) और पारांचित (अंतिम भेद) स्वतंत्र रूप में गृहीत हैं। अनवस्थाप्य (नौवां भेद) पारांचित के अन्तर्गत गृहीत है।

अन्य ज्ञातव्य बिन्दु

◦ जहाँ मूल पाठ की प्रलम्ब संलग्नता थी, उसे अनेक शीर्षकों-उपशीर्षकों में विभक्त-व्यवस्थित कर सहज गम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। यथा—प्रतिमा विषय में—यवमध्य-वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा का स्वरूप, अर्हता, अभिग्रह, आहारग्रहण विधि आदि बिन्दु-उपबिन्दु।

◦ कहीं-कहीं विषय की प्रवाह रूप में क्रमबद्ध जानकारी के लिए अनेक सूत्रों को संलग्न रूप में ग्रहण किया गया है। यथा—भिक्षुप्रतिमा विषय का दूसरा बिन्दु—प्रथम सात प्रतिमाओं का स्वरूप। इसमें २३ सूत्रों (दशा ७/४-२६) का एक साथ संग्रहण हुआ है। श्रुतज्ञान विषय के १२ वें बिन्दु में १५ सूत्र (व्य १०/२५-३९) युगपत् संगृहीत हैं। शय्या विषय के प्रथम बिन्दु के द्वितीय उपबिन्दु में सात सूत्र (आचूला २/३६-४२) संगृहीत हैं।

◦ पूर्णविराम युगल (II) प्रत्येक सूत्र की पृथक्ता/परिसम्पन्नता का द्योतक है।

◦ जहाँ गाथा की केवल प्रथम पंक्ति ग्रहण की गई है, वहाँ पूर्ण विराम के पश्चात् बिन्दु…… लगाकर दूसरी पंक्ति के परिहार की सूचना दी गई है और जहाँ केवल दूसरी पंक्ति ग्रहण की गई है, वहाँ उसके प्रारंभ में बिन्दु…… लगाए गए हैं।

◦ ग्रन्थ लाघव के लिए अनेक गाथाएं, सूत्रपाठ और वृत्तिपाठ समग्रता से ग्रहण नहीं किए गए हैं। जितने पाठ से विषयबोध स्पष्ट हो सके, उतना पाठ लिया गया है। परिहृत पाठ को……इन बिन्दुओं से सूचित किया गया है।

◦ कुछेक पारिभाषिक शब्दों का इन निर्धारित ग्रंथों में विस्तृत विवरण नहीं है किन्तु उनकी परिभाषा सर्वत्र उपलब्ध नहीं होती, उन शब्दों को भी हमने ग्रहण किया है।

◦ जिन विषयों का विवेचन इन स्वीकृत ग्रंथों में है किन्तु वे विषय यदि प्रथम भाग में विवेचित हैं तो उस विवेचन की यहाँ पुनरावृत्ति न कर वहाँ देखने का संकेत दे दिया गया है। यथा—संलेखना, परिषद् आदि। यद्यपि परिषद् के प्रसंग में मुद्गशैल-घन आदि १६ दृष्टान्तों द्वारा शिष्य/श्रोता की योग्यता-अयोग्यता का २७ गाथाओं (बृभा ३३४-३६१) में विशद निरूपण किया गया है किन्तु वह निरूपण कोश के प्रथम भाग में निरूपित होने के कारण यहाँ केवल क्रोस रेफरेंस द्वारा उसका संबंध जोड़ा गया है। कहीं-कहीं प्रथम भाग में निर्दिष्ट गाथाओं की इस भाग में पुनरावृत्ति भी हुई है, यदि वे गाथाएं उस भाग में व्याख्याग्रंथों में उद्धृत रूप में हैं और इस भाग में स्वीकृत ग्रंथों के मूल में हैं।

अन्य आगम ग्रंथों से पाठांशों का निर्यूहण

विषय को विशद और समृद्ध बनाने के लिए अनेक स्थलों पर कोष्ठक में आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ, भगवई आदि आगमों के यथास्थान उद्धरण दिए गए हैं। यथा—

* अंतकृत विषय में स्था ४/१ में उल्लिखित चार प्रकार की अंतक्रिया का उल्लेख किया गया है।

* अनशन विषय में पण्डितमरण के प्रकारों की मीमांसा में भगवती-जोड़ की गाथाएं उद्धृत की गई हैं।

* देवों के इन्द्र, वर्ण, चिह्न, उनके अधिकार आदि के संदर्भ में ठाणं, पणवणा आदि के अनेक स्थल उद्धृत हैं।

भगवती भाष्य में देवों की मनुष्यलोक में आने की प्रक्रिया निर्दिष्ट है। उसे भी यहां उद्धृत किया गया है। (द्र देव)

* रोग के प्रसंग में १६ प्रकार के रोग आयारो और उसकी वृत्ति से उद्धृत किए गए हैं (द्र चिकित्सा)। मण्डल कुष्ठ आदि रोगों के लक्षण, अगद (विषनाशक औषधि), पुराने घृत आदि की उपयोगिता तथा रोगी, परिचारक, वैद्य और औषधि की अर्हता के संदर्भ में चरक और सुश्रुत के ग्रंथांश उद्धृत किए गये हैं। संक्रामक रोग कुष्ठ के प्रकरण में सेटुक का दृष्टांत निर्दिष्ट है, उस पूरी घटना की जानकारी हेतु उपदेशप्रासाद (भाग-१) से सेटुक की कथा उद्धृत की गई है। (द्र चिकित्सा)

* तत्त्वार्थभाष्य से सोलह भावनाओं का स्वरूप उद्धृत किया गया है। (द्र भावना)

* सूयगडो से छब्बीस प्रकार की विद्याएं उद्धृत की गई हैं। (द्र मंत्र-विद्या)

* व्यवहारचूलिका से चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न उद्धृत किये गए हैं। (द्र स्वप्न)

* कहीं-कहीं विषय में निर्दिष्ट कथ्य की संपुष्टि के लिए उसका सक्रिय प्रयोगात्मक पक्ष कोष्ठक में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यथा—जन्म से आठवें वर्ष में दीक्षा हो सकती है—इस आदेश की क्रियान्विति के रूप में प्रज्ञापुरुष श्रीमज्जयाचार्य द्वारा प्रदत्त बालदीक्षा का उल्लेख किया गया है। (द्र दीक्षा)

* जहां मूलपाठ या व्याख्यापाठ में पाठ की द्विरूपता है, मतैक्य नहीं है, उन दोनों पाठों का संग्रहण कर कोष्ठक में उसकी समीक्षा भी दे दी गई है। यथा उपस्थाना शय्या। (द्र शय्या)

* जहां सूत्रपाठ, निर्वृक्ति गाथा या भाष्यगाथा दुरूह/दुर्बोध है, शब्दों की क्लिष्टता है, वहां उसकी चूर्णि और वृत्ति दे दी गई है और हिन्दी अनुवाद प्रायः उसी के अनुरूप किया गया है। कहीं-कहीं वृत्तिपाठ नहीं भी दिया है किन्तु स्पष्टता के लिए हिन्दी अनुवाद विस्तार से किया गया है, वह भी चूर्णि-वृत्ति के आधार पर ही किया गया है।

* प्रथम दृष्टिपाठ में ही विषय के सहज एवं स्पष्ट बोध के लिए कहीं-कहीं यन्त्र, स्थापना एवं चित्र दिए गए हैं। यथा—उपधि (पात्र का मुद्रिका-नौबंध), काल (करणयंत्र), तप (रत्नावलि आदि के यंत्र), लोक (अढ़ाई द्वीप का मानचित्र)। इसी प्रकार तीर्थकर, देव, भिक्षुप्रतिमा, महाव्रत, स्थविरावलि आदि विषयों में तालिकाएं दी गई हैं।

* अनेक स्थलों पर विषय की सरसता और सुबोधता के लिए कथाओं और दृष्टान्तों का समावेश किया गया है। उनमें इतिहास, संस्कृति, कला, शिक्षा, मनोविज्ञान और लोकजीवन की अमूल्य धरोहर निहित है। यथा—

★ भगवान महावीर द्वारा उदायन की दीक्षा (द्र तीर्थकर)

★ क्षमादान : प्रद्योत-उद्रायण (द्र अधिकरण)

★ पालक की क्रूरता, स्कन्दक के शिष्यों की समाधि मृत्यु (द्र अनशन)

★ ज्ञानदान की आकांक्षा : आर्यकालक का स्वर्णभूमि में गमन (द्र अनुयोग)

★ तीक्ष्ण आज्ञा : चन्द्रगुप्त-चाणक्य (द्र आज्ञा)

★ प्रवचन-प्रभावना : राजा सम्प्रति (द्र संघ)

★ अतिशयों की उपजीविता : आर्यसमुद्र-आर्यमंगु (द्र आचार्य)

★ विद्यार्थी की योग्यता वृद्धि : सर्षप आदि दृष्टान्त (द्र अंतेवासी)

★ स्वभाव परीक्षण की प्रक्रिया : ब्राह्मणी की पुत्रियां (द्र अनुयोग)

★ कलह अनुपशमन से हानि : गज-गिरगिट दृष्टांत (द्र अधिकरण)

★ नेतृत्व क्षमता : सर्पशीर्ष-पुच्छ दृष्टान्त (द्र आचार्य)

★ विसंभोजविधि-प्रवर्तन : महागिरि-सुहस्ती (द्र साम्भोजिक)

ग्रंथ के अंत में तीन परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट में लगभग पांच सौ कथाओं, दृष्टान्तों और उपमाओं का ससंदर्भ विषय-विभागपूर्वक संकेत दिया गया है। दूसरे-तीसरे (विशेष शब्द विमर्श-युगल शब्द विमर्श) परिशिष्ट में लगभग दो सौ शब्दों के अर्थ, परिभाषाएं ससंदर्भ निर्दिष्ट हैं।

० विमर्शनीय स्थल

प्राचीन काल प्रवचन काल था। लिखने की परम्परा नहीं थी। कण्ठस्थ परम्परा जब लिपिबद्धता में परावर्तित हुई तो लिपिकर्ताओं ने अत्यंत जागरूकता से आगमपाठों को लिपिबद्ध किया। हो सकता है कहीं कोई पाठ छूट गया हो अथवा काल के प्रलम्ब अंतराल में किसी कारणवश विलुप्त हो गया हो। यथा—दशाश्रुतस्कंध की आठवीं दशा (परिशिष्ट) में चार तीर्थकरों (अर्हत् ऋषभ, अर्हत् अरिष्टनेमि, अर्हत् पार्श्व और श्रमण महावीर) के सिद्ध होने वाले साधुओं की संख्या निर्दिष्ट है। अर्हत् पार्श्व के अतिरिक्त शेष तीन अर्हत् की सिद्ध होने वाली साधियों की संख्या भी निर्दिष्ट है। वह सिद्ध होने वाले साधुओं से दुगुनी है (साधु बीस हजार तो साधियां चालीस हजार, साधु डेढ़ हजार तो साधियां तीन हजार)। इसी को आधार मानकर हमने अर्हत् पार्श्व की सिद्धि प्राप्त साधियों की संख्या कोष्ठक में दे दी है—सिद्ध होने वाले एक हजार साधु (और दो हजार साधियां)। द्र अंतकृत

प्रज्ञापुरुष श्रीमज्जयाचार्य ने सिद्धिगमन के प्रसंग में सब तीर्थकरों के सिद्ध होने वाले साधुओं की संख्या का निर्देश किया है, साधियों का नहीं। केवल अर्हत् ऋषभ की साधियों की चर्चा की है—श्रमणी……चाली सहस्र अमर पद पाई……। (बड़ी चौबीसी १/२०)। ऋषभ के बीस हजार साधु और चालीस हजार साधियां सिद्ध हुईं। साधुओं से साधियों की दुगुनी संख्या की संभावना इससे भी पुष्ट होती है। फिर भी एक विमर्शनीय बिन्दु शेष रह जाता है, जब अर्हत् मल्लि के सिद्ध होने वाले अंतेवासियों की संख्या पढ़ते हैं—अर्हत् मल्लि पांच सौ साधियों और पांच सौ अनगारों के साथ सिद्ध बनीं (ज्ञा१/८/२३५)। पर यह संख्या मल्लिप्रभु के साथ ही सिद्ध होने वालों की है, उनके केवलज्ञानी मुनियों की संख्या तीन हजार दो सौ है (बड़ी चौबीसी १९/२४, २७)। हो सकता है, उनकी कैवल्यप्राप्त साधियों की संख्या छह हजार चार सौ हो।

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां भारतीय साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। जिन्होंने इन्हें लिखा है, वे लिपिकार भी नाना ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं के सुरक्षासंवाहक बने हैं। किसी भी कारण से उनमें जो अशुद्धियां रह गई हैं, उनका सही-सही संशोधन विज्ञ पुरुष के वश की बात है। लगभग चार सौ वर्ष पुरानी बृहत्कल्पचूर्ण की प्रति देखी, उसके किसी एक उद्देशक में भी पचासों अशुद्धियां पाई गईं। सवृत्ति व्यवहार भाष्य की मुद्रित प्रतियों में भी सैकड़ों अशुद्धियां रह गई हैं। लिपिभेद या अर्थ बोध के अभाव में ऐसा हुआ है—यह संभव है। यथा—

व्यभा २७६३ की वृत्ति में कण्डकानि के स्थान पर कण्टकानि शब्द लिखा है। असंख्य संयमस्थानों अथवा संयमश्रेणिविशेष की संज्ञा है कण्डक (संख्यातीत परिणामस्थान)। हमने कण्डक शब्द ही रखा है। (द्र लेश्या)

शब्दों की जोड़-तोड़, अक्षर व्यत्यय या अक्षर छूटने से जो अशुद्धि ध्यान में आयी, उसे भी ठीक किया गया है। व्यभा ९५६, ९५७ में निष्फादगसिस्साणं और आयतीय पडिबंधो के स्थान पर निष्फादग सिस्साणं और आयतीयऽपडिबंधो पाठ ग्रहण किया है। (द्र संघ)

कहीं-कहीं हमने गाथा के मूल शब्द के स्थान पर लगभग उसी के समकक्ष अन्य शब्द की संभावना कर उसे अनुवाद में कोष्ठक में वैकल्पिक रूप से दिया है। यथा आसासो...मा भाहि (व्यभा १६८१)—इसमें मा भाहि के स्थान पर माभाइ रूप की संभावना की है। यह शब्द देशीनाममाला में अभयदान के अर्थ में गृहीत है। संघ आश्वास है, विश्वास है...इसलिए 'डरो मत'—इसकी अपेक्षा 'संघ अभयदाता है' यह अनुवाद अधिक संगत प्रतीत होता है (द्र संघ)। हो सकता है कभी यही (माभाइ) शब्द रहा हो और लिपि-प्रतिलिपि काल में एक पद के स्थान पर दो पद और 'इ' के स्थान पर 'हि' अक्षर लिखे जाने पर 'मा भाहि' हुआ हो।

० उत्सर्ग-अपवाद सूत्र

भाष्य-चूर्णि-टीका साहित्य में अपवादों की प्रलंब परिचर्चा है, जिसमें प्रयोजनवश छहकायवध तक को करणीय मान लिया गया है। किन्तु अध्यात्मवादी आचार्यों ने इसे किंचित् भी स्वीकृति नहीं दी (द्र सूत्र)। आचार्य भिक्षु और श्रीमज्जयाचार्य ने चूर्णि आदि को उतना ही प्रमाण माना, जितना वे ग्यारह अंगों से मेल खाते हैं—

'टीका चूर्णि भाष्य निर्युक्ति नां, यांरा करै घणा बखाण।

ए च्यारुई जिन भाख्या नहीं, त्यांरी बुधिवंत करज्यो पिछाण॥'

—भिक्षुग्रंथरत्नाकर (खण्ड ३) रत्न : १४ निक्षेपनिर्णय (हस्तलिखित प्रति)

एकादश जे अंग थी, मिलता वचन सुजाण।

सर्व मानवा जोग्य मुझ, पइन्ना प्रमुख पिछाण॥

संपूरण दस पूर्वधर, चउदश पूरवधार।

तास रचित आगम हुवै, वारू न्याय विचार॥

दस चउदस पूरवधरा, आगम रचै उदार।

ते पिण जिन नीं साख थी, विमल न्याय सुविचार॥

—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, १५/१३; १९/१२; २०/९

चतुर्दशपूर्वी और सम्पूर्णदशपूर्वी द्वारा रचित आगम प्रमाण हैं—जयाचार्य की इस स्थापना का आधार है नन्दी (सूत्र ६६), जिसमें बतलाया गया है कि 'द्वादशांग गणिपिटक चौदह पूर्वधरों और अभिन्न दसपूर्वधरों के लिए सम्यक्श्रुत है। इससे न्यून पूर्वधरों के लिए सम्यक्श्रुत की भजना (विकल्प) है।' जो द्वादशांगी के अविरुद्ध है, वह प्रमाण है। जो द्वादशांगी के विरुद्ध है, वह प्रमाण नहीं है। जयधवला में गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और सम्पूर्ण दशपूर्वधर के द्वारा रचित आगम का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। (कषाय पाहुड, पृ. १५३)

भाष्यकारों ने व्यवहार (प्रायश्चित्तदान) के लिए नवपूर्वी का भी प्रामाण्य माना है। (व्यभा ३१८)।

पुस्तक लेखन

वीरनिर्वाण ८२७-८४० में आर्य स्कंदिल की अध्यक्षता में मथुरा में और नागार्जुनसूरि की अध्यक्षता में वलभी में आगम वाचना हुई। साधुसंघ एकत्र हुआ। उस समय आगमों को संकलित कर लिखा गया। वीरनिर्वाण ९८०-९९३ में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वलभी में पुनः आगमों को पुस्तकारूढ़ किया। आगमों के लिपिबद्ध होने के उपरांत भी एक विचारधारा ऐसी रही कि साधु पुस्तक नहीं लिख सकते। पुस्तक लिखने और रखने में अनेक दोष हैं (द्र पुस्तक)। साधु जितनी बार पुस्तकों को बांधते हैं, खोलते हैं और जितने अक्षर लिखते हैं, उन्हें दण्डस्वरूप

उतने ही चतुर्लघु प्राप्त होते हैं (बृभा ३८३१) और आज्ञा-भंग आदि दोष लगते हैं। आचार्य भिक्षु ने इस विचारधारा का निरसन करते हुए लिखा है—

साधु लेखनी, मषि, मषिपात्र, पट्टी, कम्बिका आदि लेख सामग्री के उपकरणों को रख सकता है। पूर्व आचार्यों द्वारा लिखित पांना (पत्र) हमारी प्रतीति के स्थान हैं। पांचवें आरे में जिनशासन चलेगा, शुद्ध श्रद्धा और आचार रहेगा—इसमें शंका हो तो उन लिखित पत्रों को देखकर ही शंका-निवारण किया जा सकता है। पुस्तक के बिना शुद्ध श्रद्धा और आचार का परिज्ञान और उसका अनुपालन कैसे संभव हो सकता है? उन्होंने नंदी, दशा आदि आगमों की साक्षियां भी दी हैं। (द्र भिक्षुग्रंथ रत्नाकर खण्ड १, रत्न : ११ जिनाज्ञा री चौपाई ५/३४-४८)

जैनसाहित्य के अनुसार लिपि का प्रारंभ प्रागैतिहासिक है। समवाओ ७२/७में वर्णित बहत्तर कलाओं में लेखकला का प्रथम स्थान है। समवाओ (१८/५) और प्रज्ञापना (१/९८) में ब्राह्मी लिपि के अठारह प्रकार के लेखविधान प्रज्ञप्त हैं। ऋषभ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिविधान और सुन्दरी को संख्यागणित सिखाई थी (द्र श्रीआको १ तीर्थकर)। श्रुतज्ञानी आचार्य अपने शिष्यों को सरलता से समझाने के लिए मेरुपर्वत, द्वीप-समुद्र, देवकुरु-उत्तरकुरु, देवलोक आदि के चित्रों का आलेखन करते हैं (द्र आवचू १ पृ. ३५, ३६; नंदीचू पृ. ८२)। पत्र, वल्क, काष्ठ, दंत, लोह, ताम्र, रजत आदि—ये लिपि के आधार हैं। (समवृ प. ७८)

० तित्थोगाली में आगमविच्छेद का उल्लेख प्राप्त है। (द्र श्रुतज्ञान) उसके अनुसार आचारांग का विच्छेद वीरनिर्वाण १३०० (ई. ७७३) में हुआ।……इतना सुनिश्चित है कि शीलांकसूरि (वि. ८ वीं शती) को आचारांग का जो अंश प्राप्त था, उसका विच्छेद नहीं हुआ है। अतः तित्थोगाली का विवरण प्रामाणिक नहीं लगता। (देखें आचारांग भाष्य की भूमिका, पृ. १८)

कृतज्ञता के स्वर

अर्हत्-वाणी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए परमपूज्य आचार्य श्री तुलसी ने सन् १९६५ में लिखा था—
'मेरी यह धारणा रही है कि जिनवाणी की आराधना जिनशासन की सबसे बड़ी प्रभावना है। हमारा यह प्रयास शताब्दियों तक चार तीर्थ के लिए उपयोगी बना रहेगा। हमें इस क्षेत्र में कार्य करने का जो अवसर मिला है, इसके लिए हम सदा जिनवाणी के कृतज्ञ रहेंगे।……आगम-सम्पादन के कार्य में मानसिक समाधि बहुत रहती है। एक अनूठी आत्मानुभूति और आनन्दानुभूति होती है। उस समय एकाग्रता भी अनिर्वचनीय होती है।'

हमें जिनोपम-जिनवाणीरसज्ञ आगममर्मज्ञ वाचनाप्रमुख श्रीतुलसी-महाप्रज्ञ की सिद्ध सन्निधि में बैठकर अगम आगमसिन्धु की अनेक अमृतबूंदों का रसास्वादन करने के अनेक दुर्लभ अवसर सुलभ हुए हैं— यह हमारा अहोभाग्य है। आगमकार्य में सहभागिता से हमारे सौभाग्य में चार चांद लग गये।

परानुकम्पी पूज्यप्रवर पुरुषयुग ने हमें आगमविषयकोश के महत्त्वपूर्ण कार्य में नियोजित कर प्रसन्नता के पावन प्रयाग में प्रतिष्ठित कर दिया है। आत्ममंदिर की परिक्रमा करने वाली उनकी अध्यात्ममयी श्रुतसन्निधि में श्रवण, बोधि और अभिगम के द्वारा अनेक श्रुतरत्न समुपलब्ध हुए हैं—अनेक अदृष्ट, अश्रुत और अविज्ञात आर्यपद दृष्ट, श्रुत और सुविज्ञात हुए हैं। जिनकी निष्कारण करुणा ने, अविगत अनुग्रह-आशीर्वाद ने हमें अर्थसम्पदा से सम्पन्न बनाया है, जिन्होंने विद्या और आचार की अनुशिष्टि दी है, दे रहे हैं। अनुत्तर योगक्षेमपद की प्राप्ति कराई है, करा रहे हैं, कराते रहेंगे—ऐसे परम प्रणम्य परमाराध्ययुग के श्रीचरणों में पुनः-पुनः श्रद्धाभिषिक्त प्रणाम।

अंतर्द्रष्टा आचार्यप्रवर ने कोशगत शब्द-अर्थ संबंधी अनेक दुर्गम स्थलों को प्रज्ञालोक से प्रकाशित कर सुगम बनाया है। आज्ञापुरुष पूज्य युवाचार्यप्रवर की समाधानमयी जिज्ञासा से यह कोश परिष्कृत-उपकृत हुआ है। धारणाकुशल साहित्यस्रोतस्विनी पूज्या महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्रीजी के व्यवस्था कौशल ने, वात्सल्यमयी संपृच्छा ने—अब यह कार्य कितना शेष है, कब पूरा करोगी?—इस प्रश्नमयी प्रेरणा ने कोशकार्य की शीघ्र सम्पूर्ति के लिए पुनः-पुनः संप्रेरित किया है। करुणा की इस कामधेनु ने उदारता के साथ विकास के अनेक अवसर दिए हैं, दे रही हैं, देती रहेंगी।

प्रस्तुत कोश की समग्र सम्पन्नता में सर्वाधिक श्रेयोभागी हैं आगम मनीषी मुनिश्री दुलहराजजी, जिन्होंने अकार से सकारपर्यन्त प्रत्येक विषय के प्रत्येक पृष्ठ की वीक्षा-समीक्षा में अपने अमूल्य क्षणों का नियोजन किया है।

साध्वी दर्शनविभाजी ने पाठग्रहण, न्यूनाधिक हिन्दी अनुवाद, प्रतिलिपि, प्रूफरीडिंग और परिशिष्ट-निर्माण में निष्ठापूर्ण श्रम किया है। समणी उज्ज्वलप्रज्ञाजी ने अत्यंत तत्परता से सैकड़ों-हजारों काडों की प्रतिलिपि, परिशिष्टनिर्माण और प्रूफ को मूल ग्रंथ से मिलाने में जो निष्ठापूर्ण श्रम किया, वह मूल्यार्ह है। समणी चिन्मयप्रज्ञाजी और मुमुक्षु शिल्पा का आंशिक प्रूफ अवलोकन आदि में अच्छा सहयोग रहा।

परमाराध्य पूज्यप्रवर द्वारा आलेखित भूमिका कोश की मूल्यवत्ता को लक्षगुणित करने वाली है। मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी ने भूमिका का आंग्लभाषा में अनुवाद किया है। प्रस्तुत कोश में पाठक को तद्-तद्विषयक विपुल सामग्री एक स्थान पर उपलब्ध हो जाए—इस भावना से आचारांगभाष्य, भगवतीभाष्य, तत्त्वार्थभाष्य, चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता आदि अनेक ग्रंथों का उपयोग किया गया है। उन सब सूत्रकारों, भाष्यकारों और ग्रंथकारों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता। जिन साधु-साध्वियों, समणियों, मुमुक्षु बहिनों, प्राध्यापकों आदि का इस कोशकार्य में यत्किंचित् भी सहयोग रहा है, उन सबके प्रति कृतज्ञता।

पुनश्च पूज्यप्रवरत्रयी के प्रेरणा-प्रोत्साहन-मार्गदर्शन के असंदीन दीप हमारे ज्ञान-दर्शन-चरणपथ को निरंतर आलोकित करते रहें। इस विलक्षण अभिनव रत्नत्रयी के पुण्य प्रसाद से हम अतल श्रुत-सागर की गहराइयों में अवगाहन कर उसका यत्किंचित् तलस्पर्श कर सकें—यही अभिलषणीय है। दिव्यात्मा पुण्यात्मा परमाराध्य श्री तुलसी की आशीर्वादमयी अध्यात्म मुद्रा एवं आत्मप्रदेशों में अभिनव परिस्पन्दन पैदा करने वाली वात्सल्यमयी दृष्टि के स्मरण-दर्शन से श्रुतयात्रा में हमारी निरंतर गतिशीलता बनी रहे—यही हार्दिक अभिलाषा है।

लाडनू

२६.१.२००५

विनयावनत
साध्वी विमलप्रज्ञा
साध्वी सिद्धप्रज्ञा

ग्रंथ-परिचय^१

जैन आगमों की रचना के दो प्रकार प्राप्त होते हैं—कृत और निर्यूढ। जिनकी रचना स्वतंत्र रूप से हुई है, वे आगम कृत हैं। द्वादशांगी गणधर द्वारा तथा उपांग आदि विभिन्न आगम भिन्न-भिन्न स्थविरों द्वारा कृत हैं। निर्यूढ आगम छह हैं—१. दशवैकालिक २. आचारचूला ३. निशीथ ४. दशाश्रुतस्कंध ५. बृहत्कल्प ६. व्यवहार।

दशवैकालिक चतुर्दशपूर्वी आचार्य शय्यम्भव द्वारा निर्यूढ है, जिसका संग्रहण हमने श्रीभिक्षु आगम विषय कोश के प्रथम भाग में किया है। शेष पांच आगम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहुस्वामी द्वारा निर्यूढ हैं। प्रस्तुत कोश (भाग-२) इन्हीं पांच निर्यूढ आगमों से संबंधित है।

१. आचारचूला

जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम है। नन्दी में आगम (श्रुतज्ञान) के दो प्रकार प्रजप्त हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट के बारह प्रकारों में पहला प्रकार है—आचारांग। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध प्राचीन है। दूसरा श्रुतस्कंध उत्तरकालीन है। उसकी प्रथम श्रुतस्कंध की चूला के रूप में स्थापना की गई है।

आचारांग पांच चूलाओं से युक्त है।^१ उनमें से प्रथम चार चूलाएं द्वितीय श्रुतस्कंध—आचारचूला के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आचारचूला के सोलह अध्ययन हैं। प्रथम सात अध्ययन प्रथम चूला है, सात सप्तैकक द्वितीय चूला है। पन्द्रहवां अध्ययन तृतीय चूला और सोलहवां अध्ययन चतुर्थ चूला है। निशीथ पांचवीं चूला है। आचारचूला के अध्ययनों के नाम, उनके निर्यूहण स्थल आदि प्रस्तुत कोश के आगम विषय में निर्दिष्ट हैं।

आचारचूला आचारांग के सूत्रपाठों का विस्तार है। इसके रचनाकार चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु हैं। इसकी विस्तृत भीमांसा के लिए देखें—आचार्य तह आचारचूला की भूमिका, पृ २१-२७। आचारचूला के पन्द्रह अध्ययन मुख्यतया गद्यात्मक हैं, कहीं-कहीं पद या संग्रह गाथाएं भी हैं। सोलहवां अध्ययन पद्यात्मक है।

ग्रंथ परिमाण—कुल अक्षर ९६२१०, अनुष्टुप् श्लोक—३००६

आचारचूला और दशवैकालिक दोनों ग्रंथों के कुछ अध्ययनों में शाब्दिक और आर्थिक—दोनों प्रकार की पर्याप्त समानता है।^२ आचारचूला और निशीथ में प्रयुक्त विशेष नाम प्रायः सदृश हैं, अतः आचारचूला के विशेष नामों का अनुक्रम निशीथ के विशेष नामानुक्रम के साथ किया गया है।^३

आचारांग में वर्णित आचार मूलभूत है। उत्तरवर्ती सूत्रों में वर्णित आचार उसका परिवर्धन या विकास है। आचारचूला में भी आचार का परिवर्धन या विकास हुआ है।^४ सामयिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर वर्तमान आचार्यों ने उत्सर्ग और अपवाद के सिद्धांत की स्थापना और उसके आधार पर विधि-विधानों का निर्माण किया था। आचारचूला उसी शृंखला की प्रथम कड़ी है।^५

आचारचूला में मुनि की प्रशस्त विहारचर्या का निरूपण है। इसमें दैनिक जीवन में प्रयुक्त आहार, शय्या, गमनागमन, भाषा, वस्त्र, पात्र और अवग्रह—इन विषयों से संबंधित सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियमोपनियम उपदर्शित हैं। मुनि शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शमय पंचविषयात्मक मोह जगत् में रहता हुआ भी वीतरागता के सर्वोच्च शिखर पर

१. प्रस्तुत कोश में संगृहीत पांच आगम तथा उनके व्याख्या ग्रंथ

२. आनि ११, ३१७

३. दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. ५३-७१

४. निशीहज्जयणं, परिशिष्ट-३, पृ. ५९-१२०

५. आचारांगभाष्यम् भूमिका, पृ २१

आरोहण कैसे करे ?—इसकी वैज्ञानिक प्रविधि भावना (अध्ययन १५) में प्रज्ञप्त है। यथा—‘श्रोत्रेन्द्रिय को प्राप्त शब्द न सुनना शक्य नहीं है। शक्य यही है कि उन पर राग-द्वेष न किया जाए।’

अंतिम विमुक्ति अध्ययन में रूप्य, पर्वत आदि के माध्यम से सब आसक्तियों से मुक्त होने की प्रेरणा दी गई है। आध्यात्मिक जीवन मूल्यों के प्रति निष्ठा पैदा करने वाले इस आचार शास्त्र में अनेक ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक तथ्य भी समाकलित हैं।

व्याख्या ग्रंथ

● **निर्युक्ति**—आगम की मूलस्यर्शी पद्यात्मक व्याख्या निर्युक्ति कहलाती है। व्याख्यासाहित्य में निर्युक्ति सर्वाधिक प्राचीन और प्राकृत भाषा में प्रथम पद्यबद्ध व्याख्या है। आचार्य भद्रबाहु द्वितीय^१ (वि. छठी शताब्दी) ने आचारांगनिर्युक्ति का प्रणयन किया। आचारांगनिर्युक्ति की कुल ३६८ गाथाएं हैं, जिनमें ३०४ गाथाएं प्रथम श्रुतस्कंध की हैं। दूसरे श्रुतस्कंध की मात्र ६४ गाथाएं (३०५-३६८) हैं। दूसरे श्रुतस्कंध के दो नाम हैं—आचाराग्र और आचारचूला।

निर्युक्तिकार ने अग्र शब्द के निक्षेपों के साथ आचारचूला की निर्युक्ति प्रारंभ की है। अग्र शब्द के द्रव्य, अवगाहना आदि दस निक्षेप हैं। दसवां अग्र है उपकार। प्रस्तुत में उपकाराग्र का प्रसंग है। जैसे वृक्ष और पर्वत के अग्र होते हैं, वैसे ही आचारांग के ये (चूलाएं) अग्र हैं।^२ अग्र के दस निक्षेप निशीथ निर्युक्ति-भाष्य में व्याख्यायित हैं।^३

निर्युक्तिकार ने आचारचूला के निर्यूहण का प्रयोजन बताते हुए निर्यूहणकार और निर्यूहणस्थलों का भी निर्देश किया है।^४ पिण्डैषणा की जो निर्युक्ति है, वही शय्या, वस्त्रैषणा आदि की है और वाक्यशुद्धि (द ७) की निर्युक्ति ही भाषाजात (आचूला ४) की निर्युक्ति है—निर्युक्तिकार के इस कथन से स्पष्ट है कि आचारांगनिर्युक्ति की रचना दशवैकालिकनिर्युक्ति के पश्चात् की गई है।

शय्या के छह निक्षेप प्रज्ञप्त हैं। द्रव्य शय्या के प्रसंग में वल्गुमति का उदाहरण दिया गया है। जीव का औदयिक आदि छह भावों में प्रवर्तन भाव शय्या है। जीव जब जहां सुख-दुःख का वेदन करता है, स्त्री की काया में गर्भ रूप में रहता है, उसे भी भाव शय्या कहा गया है। फिर शय्याध्ययन के तीनों उद्देशकों की विषयवस्तु का प्रतिपादन कर सम-विषम शय्या में निर्जरा हेतु समभाव से रहने का निर्देश दिया गया है। इससे आगे ईर्या, भाषा, पात्र और अवग्रह के निक्षेप करते हुए उन-उन उद्देशकों की विषयवस्तु का वर्णन किया गया है।^५

दूसरी चूला के सात अध्ययनों में उद्देशक नहीं हैं—यह बताते हुए उच्चार-प्रस्रवण का निरुक्त करते हुए शब्द, रूप, पर और अन्य शब्द के निक्षेप किये गए हैं। अंत में निष्प्रतिकर्म मुनि के लिए परक्रिया और परस्परक्रिया को अयुक्त बताया गया है। तीसरी चूला की निर्युक्ति में अप्रशस्त भावना बताकर प्रशस्त—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वैराग्य भावना की स्वरूप मीमांसा की गई है। अनित्य आदि बारह भावनाएं वैराग्य भावना के अंतर्गत हैं। प्रस्तुत अध्ययन में चारित्र भावना का प्रसंग है। चतुर्थ चूला (विमुक्ति) के पांच अर्थाधिकार हैं—१. अनित्यता, २. पर्वत अधिकार, ३. रूप्य अधिकार, ४. भुजगत्वक् अधिकार और ५. महासागर अधिकार। अंत में निर्युक्तिकार ने पांचवीं

१. श्रीआकोश, ग्रंथपरिचय, पृ. ३१

२. आनि ३०५, ३०६

३. निभा ४९-५८

४. आनि ३०७-३१६

५. वही, ३१८, ३१९

६. वही, ३२१-३४२

चूला (निशीथ) की निर्युक्ति करने की प्रतिज्ञा करते हुए आयारो के दोनों श्रुतस्कंधों के अध्ययनों और उद्देशकों की संख्या का निर्देश किया है।^१

● **चूर्ण**—यह ग्रंथ की प्राकृत-प्रधान गद्यमय व्याख्या है। परंपरा से इसके कर्ता जिनदास महत्तर माने जाते हैं। चूर्ण का शब्दशरीर टीका की अपेक्षा संक्षिप्त है, किन्तु अर्थाभिव्यक्ति और ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत मूल्यवान् है। इसमें यत्र-तत्र अनेक संदर्भों में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों से प्राकृत-संस्कृत के अनेक श्लोक उद्धृत किए गए हैं।

आचारांग के दोनों श्रुतस्कंधों की चूर्ण ३८२ पृष्ठों में परिसम्पन्न होती है, जिसमें द्वितीय श्रुतस्कंध (आचारचूला) की चूर्ण मात्र ५८ (३२५-३८२) पृष्ठों में वर्णित है।

● **वृत्ति**—आचारांग का तीसरा व्याख्याग्रंथ वृत्ति (टीका) है। चूर्ण और वृत्ति ये दोनों सूत्र और निर्युक्ति के आधार पर चलते हैं। वृत्ति का शब्दशरीर उपलब्ध व्याख्याग्रंथों में सबसे बड़ा है। ४३२ पत्रों में आलेखित इस वृत्ति के कर्ता शीलोकसूरि हैं। आचारचूला की वृत्ति ११५ (३१८-४३२) पत्रों में व्याख्यायित है। आचारचूलावृत्ति २५५४ श्लोकप्रमाण है। सम्पूर्ण आचारांग वृत्ति का ग्रंथ परिमाण १२००० श्लोक प्रमाण है।

द्वितीय श्रुतस्कंध के प्रारंभ में वृत्तिकार ने श्लोकत्रयी के माध्यम से मध्य मंगल करते हुए चतुर्चूलात्मक अग्रश्रुतस्कंध की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है। आचारांग की अग्रभूता चार चूलाएं उक्त-अनुक्त अर्थसंग्राहिका हैं। निक्षेप पद्धति से द्रव्याग्र, अवगाहनाग्र आदि की सोदाहरण व्याख्या की गई है। सूत्रपदों और निर्युक्तिपदों का सरस भाषा में अर्थबोध कराया गया है। यथा—‘सासियाओ’ त्ति जीवस्य स्वाम् आत्मीयामुत्पत्तिं प्रत्याश्रयो यासु ताः स्वाश्रयाः, अविनष्टयोनय इत्यर्थः। ‘द्विदलकृताः’ ऊर्ध्वपाटिताः ‘तिरश्चीनच्छिन्नाः’ कन्दलीकृताः। ‘पिहुयं व’ त्ति पृथुकं जातावेकवचनं नवस्य शालित्रीह्यादेरग्निना ये लाजाः क्रियन्ते ते……। ‘अप्रतिष्ठितः’ न क्वचित् प्रतिबद्धोऽशरीरी वा……‘कलंकलीभावात्’ संसारगर्भादिपर्यटनाद्……।^३

सूत्र अथवा निर्युक्ति के मंतव्य की स्पष्टता-विशदता के लिए अनेक स्थलों में सैकड़ों सुंदर श्लोक उद्धृत किए गए हैं, जो तत्कालीन संस्कृति, परम्परा, मनोविज्ञान, वस्त्रविज्ञान आदि विविध कोणों का स्पर्श करते हैं। यथा—सूत्र (५/३०) का निर्देश है कि मुनि प्रायोग्य, स्थिर, ध्रुव और धारणीय वस्त्र ग्रहण करे। लक्षणहीन वस्त्र से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की हानि होती है। इस संदर्भ में दो श्लोक उद्धृत हैं^३—

चत्तारि देविया भागा, दोय भागा य माणुसा। आसुस य दुवे भागा, मञ्जे वत्थस्स रक्खसो ॥

देविएसुत्तमो लाभो, माणुसेसु अ मञ्झिमो। आसुरेसु य गेलनं, मरणं जाण रक्खसे ॥

● **वार्तिक**—श्रीमज्जयाचार्य ने वि. सं. १८९३ में आचार के दूसरे श्रुतस्कंध पर राजस्थानी भाषा में वार्तिक (टबा) लिखा। आचारचूला के चर्चास्पद विषयों के स्पष्टीकरण के लिए १३१ पत्रों में निबद्ध (हस्तलिखित) प्रस्तुत वार्तिक (बालावबोध) बहुत महत्त्वपूर्ण है।

चार छेदसूत्र

दशा, कल्प, व्यवहार और निशीथ—ये चार आगम वर्तमान वर्गीकरण के अनुसार छेदसूत्र के वर्गीकरण में

१. आनि ३४३-३६८

२. आवृ प ३२३, ४३१।

३. वही, प ३९६

हैं। अनुयोग व्यवस्था में छेदसूत्रों को चरणकरणानुयोग के अंतर्गत रखा गया है (द्र श्रीआको १ अनुयोग)।

नन्दी में इनकी गणना अंगबाह्य कालिकसूत्रों में की गई है (द्र श्रीआको १ अंगबाह्य)। इनका मुख्य विषय कल्प-अकल्प, विधि-निषेध और प्रायश्चित्त है (द्र प्रस्तुत कोश, छेदसूत्र)।

२. निशीथ (आचार की पांचवीं चूला)

यद्यपि छेदसूत्रों की गणना में निशीथ का स्थान चतुर्थ है, किन्तु हमने परिचय-क्रम में इसे प्रथम स्थान पर रखा है क्योंकि निशीथ आचारांग की पांचवीं चूला है। आचारचूला के साथ इसकी विषय संबद्धता भी है। निशीथ को आचारांग का छब्बीसवां अध्ययन कहा गया है।^१

निशीथ को एक अध्ययन के रूप में मान्यता प्राप्त है, इसीलिए इसे निशीथाध्ययन भी कहा जाता है। इसके बीस उद्देशक हैं, जिनमें कुल १४१७ सूत्र हैं। उन्नीस उद्देशकों में प्रायश्चित्त का विधान है और बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया है। इस उद्देशक का मुख्य विषय आरोपणा है।

१. मासिक उद्घातिक २. मासिक अनुद्घातिक ३. चातुर्मासिक उद्घातिक ४. चातुर्मासिक अनुद्घातिक और ५. आरोपणा—इन पांच विकल्पों के आधार पर बीस उद्देशकों का विभाजन किया गया है। स्थानांग (५/१४८) में इन्हीं पांच विकल्पों को 'आचार-प्रकल्प' (निशीथ) कहा गया है।

निशीथ का अर्थ है—अप्रकाश। यह सूत्र अपवादबहुल है, इसलिए इसका यत्र-तत्र प्रकाशन नहीं किया जाता। जिसकी बुद्धि परिपक्व होती है, वह परिणामक पाठक ही निशीथ पढ़ने का अधिकारी है। जो रहस्य को धारण नहीं कर सकता, जो अपरिणामी या अतिपरिणामी है, वह निशीथ पढ़ने का अधिकारी नहीं है।^२

इस ग्रंथ का अक्षरपरिमाण ७६०२१, अनुष्टुप् श्लोकपरिमाण २३७५ है।

व्याख्या ग्रंथ

● **निर्युक्ति**—निशीथ का सबसे प्राचीन व्याख्या ग्रंथ निर्युक्ति है। आचार की चौथी चूला के अंत में निर्युक्तिकार ने प्रतिज्ञा की है कि इसके पश्चात् में पांचवीं चूला (निशीथ) की निर्युक्ति करूंगा।^३ चूर्णिकार ने निर्युक्तिकार के रूप में भद्रबाहुस्वामी का उल्लेख किया है।^४ इससे निशीथ निर्युक्ति का अस्तित्व सहज सिद्ध होता है।

● **भाष्य**—दूसरा व्याख्या ग्रंथ भाष्य है। वर्तमान में निर्युक्ति और भाष्य परस्पर एकमेक हो गए हैं। भाष्यकार संघदासगणी क्षमाश्रमण हैं, ऐसी संभावना की जाती है।^५ प्राकृत भाषा में निबद्ध निर्युक्ति-भाष्य की पद्य-संख्या ६७०३ है। भाषा, संस्कृति, इतिहास व मनोविज्ञान की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

● **चूर्णि**—तीसरा व्याख्या ग्रंथ विशेष चूर्णि है। इसके कर्ता जिनदासगणी महत्तर हैं, जो प्रतिपाद्य विषय के साथ पारिपार्श्विक विषयों का संकलन-संग्रहण करने में बहुत दक्ष हैं। उन्होंने साधक के मानसिक आरोह-अवरोहों का सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है। देश-काल संबंधी परिस्थितियों से प्रभावित हो कहीं-कहीं अपवादों की अतियों को भी प्रश्रय दिया है, किन्तु अंततोगत्वा दृढ़ मनोबली संयमी की निर्दोष जीवनचर्या को ही अग्रिम स्थान पर प्रतिष्ठित किया है।^६ प्रस्तुत चूर्णि भारतीय सभ्यता, लोकसंस्कृति एवं इतिहास का आकर ग्रंथ है। इस गद्यमय व्याख्याग्रंथ का परिमाण २८००० श्लोक प्रमाण है।

● **सुबोधा व्याख्या**—यह बीसवें उद्देशक की चूर्णि की व्याख्या है। इसके कर्ता श्रीचन्द्रसूरि हैं।

१. निचू २ पृ ४

२. निभा ६९, ४९५ चू

३. आनि ३६६

४. निचू २ पृ ३०७

५. बुभा, भाग-६ प्रस्तावना, पृ २२

६. निभा ४६० चू

● **जोड़** — श्रीमज्जयाचार्य (तेरापंध के चतुर्थ आचार्य) द्वारा कृत यह ग्रंथ निशीथ के भावानुवाद जैसा है। यह राजस्थानी भाषा में पद्यबद्ध रचना है। इसमें उन्नीस ढालें (गीत) और कुछ दोहे हैं। कुल पद्य ४०१ हैं। प्रारंभ में श्रीमज्जयाचार्य ने चारों छेदसूत्रों को कोतवाल के समान बताते हुए उनमें निशीथ को सारभूत कहा है। क्योंकि इसमें दोषविशुद्धि के लिए नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान है। निशीथ जोड़ का रचना स्थान—गोगुंदा (मोटा गांव)। रचनाकाल—वि. सं. १८८१ चैत्रमास का शुक्ल पक्ष। जयाचार्यकृत निशीथ की हुंडी भी है, जिसमें निशीथ का सारांश है। निशीथसूत्र की विशेष जानकारी हेतु देखें—‘निसीहज्जयणं’ ग्रंथ की भूमिका।

३. दशा (दशाश्रुतस्कंध)

प्रस्तुत आगम के दो नाम उपलब्ध हैं। नंदी^१ की सूची में इसका नाम ‘दशा’ और स्थानांग^२ में इसका नाम ‘आचारदशा’ मिलता है। इसके दस अध्ययन हैं, इसलिए इसका नाम ‘दशा’ है। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से इसका नाम ‘आचारदशा’ है।

इसके निर्यूहक चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु हैं। इसका निर्यूहण प्रत्याख्यान पूर्व से किया गया है।^३

प्रथम दशा में साधु की जीवनचर्या को अज्यवस्थित और असमाहित करने वाले बीस असमाधि स्थान प्रज्ञप्त हैं यावत् दसवीं दशा में आज्ञाति स्थान/निदानकरण का निरूपण है।^४

‘प्रस्तुत आगम की आठवीं दशा का पाठ संक्षिप्त है। इसमें ‘तेणं कालेणं……’—इस पाठ से सूत्र का प्रारंभ और ‘जाव भुज्जो भुज्जो उवदंसइ’—इस पाठ से सूत्र पूर्ण होता है। इस जाव पद के द्वारा पूरा पर्युषणाकल्प यहां संगृहीत है। हमने पर्युषणाकल्प को परिशिष्ट में दिया है। प्रस्तुत अध्ययन के पांच विभाग हैं—

१. महावीर चरित्र (१-१०७)। २. शेष तेईस तीर्थकरों का चरित्र (१०८-१८१)। ३. गणधरावलि (१८२-१८५)। ४. स्थविरावलि (१८६-२२२)। ५. पर्युषणाकल्प (२२३-२८८)……निर्युक्ति और चूर्णि के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रस्तुत अध्ययन का ‘पर्युषणाकल्प’ मूल था। महावीर चरित्र और स्थविरावलि ये दोनों देवद्विगणी की वाचना के समय जुड़े।……तेवीस तीर्थकरों के विवरण की तथा स्थविरावलि की चूर्णि नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों चूर्णि की रचना के पश्चात् इसके साथ जोड़े गए।……‘पर्युषणाकल्प’ अनेक कालखंडों में संकलित है।……देवद्विगणी की वाचना के उत्तरवर्ती संकलन को आगम की कोटि में रखना एक समस्या है।…… इस दृष्टि से हम पर्युषणाकल्प के समग्र रूप को आगम की कोटि में नहीं रख पाते। इसीलिए उसे दशाश्रुतस्कंध आगम के एक परिशिष्ट के रूप में रखा है।^५

व्याख्या ग्रंथ

● **निर्युक्ति**—‘दशा’ के प्रमुख शब्दों और विषयों की संक्षिप्त किन्तु मौलिक व्याख्या करने वाली यह निर्युक्ति १४३ गाथाओं में निबद्ध है। सर्वप्रथम निर्युक्तिकार ने दशा-कल्प-व्यवहार के निर्यूहणकर्ता चरम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु की वन्दना करते हुए क्रीड़ा आदि दस आयुविपाकदशाओं का नामोल्लेख किया है और अध्ययनदशा के अंतर्गत ज्ञाता आदि छह अंग-अध्ययनों को महती दशा बताते हुए इस आचारदशा को छोटी दशा कहा है, जिसका निर्यूहण शिष्यों पर अनुग्रह करने के लिए किया गया है।^६

१. नंदी, सूत्र ७८

२. ठाणं १०/११५

३. दशानि १ चू प २

४. नवसुत्ताणि, दसाओ

५. नवसुत्ताणि, भूमिका, पृ ६०-६३

६. दशानि १-६

निर्युक्ति में समागत तीसरी दशा का 'अनाशातना' नाम विमर्शनीय है क्योंकि इस दशा में तेतीस आशातनाएं प्रज्ञप्त हैं। 'आसादणाए सबलो भवति। एतेणाभिसंबंधेण आसादणज्झयणं पण्णत्तं'—चूर्णि (पत्र ११) की इस पंक्ति से भी स्थानांग (१०/११५) में निर्दिष्ट 'आशातना' नाम की पुष्टि होती है। निर्युक्ति गाथा (८) में प्रयुक्त अणसादण शब्द मूलतः आसादण ही रहा हो, लिपिकाल में आ के स्थान पर अण लिखा या पढ़ा गया हो, बहुत संभव है।

चौथा, आठवां और दसवां—इन तीन अध्ययनों को छोड़कर शेष सात अध्ययनों के विषय समवायांग में भी तत्-तत् संख्या से संबद्ध समवाय में प्रज्ञप्त हैं।

निर्युक्तिकार ने समाधि, स्थान, आसायणा (आसादना-आशातना), गणी, सम्पदा, चित्त, प्रतिमा आदि शब्दों की निक्षेपपरक संक्षिप्त व्याख्या की है। स्थान शब्द के पन्द्रह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, अद्धा, ऊर्ध्व, उपरति, वसति, संयम, प्रग्रह, योध, अचल, गणना, संधना और भाव। चूर्णिकार ने इन पन्द्रह स्थान-निक्षेपों की विस्तृत व्याख्या की है।^१ उत्तराध्ययन निर्युक्ति में उत्तर शब्द के पन्द्रह निक्षेप किए गए हैं।^२ आठवीं दशा पर्युषणाकल्प की निर्युक्ति में कलह और उसके उपशमन के संदर्भ में दुरूतक, चण्डप्रद्योत और द्रमक के दृष्टान्त ऐतिहासिक एवं मार्मिक हैं।^३ साधना के क्षेत्र में जागरूक न रहने से जब चित्त कषायावेश से आविष्ट हो जाता है तो उससे होने वाली क्षति और दुर्गति के प्रसंग में मरुक, अत्वंकारी भट्टा, पांडुरा आर्या और आर्यमंगु के उदाहरण पठनीय हैं।^४

दसवीं दशा की निर्युक्ति में जाति, आजाति और प्रत्याजाति का स्वरूप बताकर आजाति का हेतु बताते हुए अनाजाति के उपायों का निर्देश किया गया है। श्रमण की आजाति का हेतु निदान बताकर अनिदानता की श्रेष्ठता स्थापित कर अंत में भवपारगामिता के पांच उपायों की प्रज्ञप्ति दी गई है।^५

● चूर्णि—दशाश्रुतस्कंधसूत्र और निर्युक्ति के आधार पर जिनदासगणिकृत यह चूर्णि प्राकृत प्रधान है, कहीं-कहीं संस्कृत शब्द एवं वाक्य भी प्रयुक्त हैं। यह चूर्णि सरल, सरस एवं अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों से समृद्ध है। जीवन की दस अवस्थाओं के प्रसंग में शरीर-इंद्रियविज्ञान संबंधी कुछ तथ्य उद्घाटित किए गए हैं। जीवन के दूसरे दशक में इन्द्रियविज्ञान मंद रहता है, तीसरे, चौथे और पांचवें दशक में काम, शक्ति और प्रज्ञान का विकास होता है। छठे दशक में बाहुबल और नेत्रज्योति क्षीण होने लगती है। शरीरबल के बिना अध्ययन की श्रद्धा पैदा नहीं होती। दृढ संहनन के बिना उत्साह जागृत नहीं होता।^६ इस चूर्णि में पूर्वो के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य विकीर्ण हैं—

- आचार्य भद्रबाहु ने नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से दशा-कल्प-व्यवहार का निर्यूहण किया।
- नौवें पूर्व के असमाधिस्थान प्राभृत से असमाधिस्थान (दशा १) का तथा सदृश नाम वाले प्राभृतों से शेष अध्ययनों का निर्यूहण किया गया है।
- छठे सत्यप्रवादपूर्व के अक्षरप्राभृत में आ उपसर्ग उपवर्णित है।
- आठवें कर्मप्रवाद पूर्व में अष्टांग महानिमित्त प्रज्ञप्त है। वहां स्वर निमित्त के प्रसंग में आ उपसर्ग वर्णित है।
- कर्मप्रवाद पूर्व में अष्टविध कर्म को मोह कहा गया है।^७

चूर्णि में अनेक स्थलों पर आगमों के पाठांश तथा संस्कृत एवं प्राकृत के श्लोक भी उद्धृत हैं। बानवे (९२) पत्रों में मुद्रित चूर्णि २२२५ श्लोक परिमाण है।

१. दशानि १० चू.प ४, ५

२. उनि १

३. दशानि ९२-१००

४. वही, १०४-११२

५. दशानि १२९-१४३

६. दशाचू.प ३

७. वही, प ३, ५, १२, ७१

● वृत्ति—दशा पर ब्रह्माविरचित जनहिता नामक एक संक्षिप्त टीका है। इसके प्रारंभ में पांच गाथाओं में भगवान महावीर और गौतम गणधर की स्तुति कर चूर्ण का उल्लेख करते हुए वृत्ति निर्माण का प्रयोजन बताया गया है। इसमें अध्ययनों की संबंध-योजना भी की गई है। यथा—असमाधिस्थानों का आचरण करने वाला शबल होता है। अथवा शबल स्थानों में प्रवर्तमान के असमाधि होती है। अतः असमाधि से उपरत रहने के लिए शबलत्व के स्थानों का परिहार करना चाहिये। ३४ पत्रों में निबद्ध (हस्तलिखित) इस वृत्ति का पदपरिमाण १०३० है।

कल्पसूत्र (पर्युषणाकल्प) पर कल्पलता नाम की (हस्तलिखित) टीका है, जो समयसुंदर उपाध्याय द्वारा विरचित है। इसका ग्रंथपरिमाण ८००० है। प्रारंभ में दशविध कल्पस्थिति की चर्चा की गई है। तत्पश्चात् पर्युषणा की सामाचारी की विस्तृत जानकारी दी गई है। समिति, गुप्ति आदि के संदर्भ में अनेक कथानक नामोल्लेखपूर्वक निर्दिष्ट हैं।

४. कल्प (बृहत्कल्प)

यह छेदसूत्र है, जो चरणकरणानुयोग के अंतर्गत है। कालिक सूत्रों की सूची में यह कल्प नाम से उल्लिखित है।^१ मध्यकाल में पर्युषणाकल्प 'कल्पसूत्र' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। संभवतः इसीलिए प्रस्तुत 'कल्पसूत्र' के लिए 'बृहत्कल्प' नाम प्रसिद्धि में आ गया। एक दूसरी संभावना पर भी ध्यान आकर्षित होता है कि कल्पसूत्र पर दो भाष्य लिखे गए—बृहत् और लघु। बृहत्कल्पभाष्य—इसमें कल्प के साथ बृहद्भाष्य का उल्लेख है किन्तु उत्तरकाल में यह बृहत् शब्द कल्प के साथ जुड़ गया और कल्प का नाम बृहत्कल्प हो गया।

कल्प का नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु से निर्यूहण किया गया है। निर्यूहणकार हैं चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु।^२ कल्प के छह उद्देशक हैं, दो सौ पांच सूत्र हैं, जिनमें साधु के आचार की प्रज्ञप्ति है। इनमें महाव्रत, समिति और गुप्ति संबंधी विविध विधि-निषेधों का निरूपण है। छह उद्देशकों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय ये हैं—

- प्रथम उद्देशक—तालप्रलंब, मासकल्प, चित्रकर्म, सागारिक-उपाश्रय, व्युपशमन, वैराज्य, आर्यक्षेत्र-विहार आदि।
- द्वितीय उद्देशक—शय्या, शय्यातर, वस्त्र आदि।
- तृतीय उद्देशक—वस्त्रग्रहण, अंतरगृह, अवग्रह-अनुज्ञा, सेनापद आदि।
- चतुर्थ उद्देशक—अनुद्घातिक, पारांचित और अनवस्थाप्य, उपसम्पदा, शवपरिष्ठापन विधि, महानदी आदि।
- पंचम उद्देशक—मैथुनप्रतिसेवना और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त, अनुपशांत कलह और छेद प्रायश्चित्त, ब्रह्मचर्यसुरक्षा हेतु निर्गृथी के लिए आतापना तथा अनेक आसनों का निषेध, यथालघुस्वक व्यवहार आदि।
- षष्ठ उद्देशक—षड्विध अवचन, विशेष स्थिति में साधु-साध्वी की पारस्परिक सेवा विधि (कंटकोद्धार, जलप्रवाह आदि में आलम्बन), साध्वाचार के परिमन्थु (विघ्न), कल्पस्थिति (जिनकल्प, स्थविरकल्प आदि)।^३ प्रस्तुत सूत्र में उपशम को श्रामण्य का सार बताया गया है, जो प्रत्येक साधक के लिए प्रकाशस्तंभ है। सूत्रकार ने विहारक्षेत्र के संदर्भ में निर्देश दिया है कि मुनि को आर्यक्षेत्रों में ही विहरण करना चाहिये, किन्तु इस सीमा से परे यदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि होती हो तो मुनि वहां भी जा सकता है।^४ साधना के प्रति यह उदार दृष्टिकोण सूत्रकार की अनेकांत दृष्टि का श्रेष्ठ निदर्शन है। इसका ग्रंथपरिमाण है—अनुष्टुप् श्लोक ४७१, जिनमें कुल अक्षर १५०९५ हैं।

व्याख्या ग्रंथ

● निर्युक्ति-भाष्य—निर्युक्तिकार ने जिन दस निर्युक्तियों के निर्माण का संकल्प किया, उनमें से एक नाम

१. नन्दी ७८

२. प्रस्तुत कोश (छेदसूत्र)

३. नवसुत्ताणि, कप्पो

४. वही, १/३४, ४७

कल्पनिर्युक्ति का भी है^१, किन्तु सम्प्रति यह निर्युक्ति स्वतंत्र रूप में उपलब्ध नहीं है। वृत्तिकार के अनुसार सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति और भाष्य आज एक ग्रंथ के रूप में प्राप्त है।^२ संघदासगणिकक्षमाश्रमण द्वारा प्रणीत प्रस्तुत बृहत्कल्पलघुभाष्य भारतीय साहित्य के इतिहास में एक अद्भुत ग्रंथरत्न है। इसमें तत्कालीन धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों संबंधी महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। अनेक स्थल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से आलोकित हैं।

प्रस्तुत भाष्य में मुनि-आचार का युक्तियुक्त सूक्ष्म विवेचन किया गया है। मुनि के लिए अनेक प्रकार के साधना मार्ग निर्दिष्ट हैं, जिनमें जिनकल्प की साधना का मार्ग अत्यंत दुर्गम है। जिनकल्पी की शिक्षा, सामाचारी और अवस्थिति का ४६ द्वारों से व्याख्यान किया गया है।^३ भाष्य में लगभग २३४ गाथाओं (बृभा भाग-२) में जिनकल्पी की यथासंभव सर्वांगीण जानकारी दी गई है। इस ग्रंथ में अयोग्य विद्यार्थी को योग्य बनाने की और उन्मत्त-विक्षिप्त चित्त वाले व्यक्ति को स्वस्थ बनाने की मनोवैज्ञानिक प्रविधियां सोदाहरण प्रस्तुत की गई हैं।^४

अनेक स्थलों पर भाष्यकार की प्राकृतकाव्यमयी छवि उभर कर अभिव्यक्त हुई है। उन्होंने गुरुकुलवास की गरिमा का संगान करते हुए कुछ ऐसी गाथाएं आलेखित की हैं, जिन्हें पढ़ने मात्र से आनन्दानुभूति होती है—

नागस्स होइ भागी, धिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना गुरुकुलवासं, आवकहाए न मुंच्चति ॥
जइमं साहुसंसग्गिं, न विमोक्खसि मोक्खरि। उज्जतो व तवे निच्चं, न होहिसि न होहिसि ॥
सच्छंदवत्तिथा जेहिं, सग्गुणेहिं जढा जढा। अण्णणे ते परेसिं च, निच्चं सुविहिया हिया ॥
जेसिं चाऽयं गणे वासो, सज्जणाणुमओ मओ। दुहाऽवाऽऽराहियं तेहिं, निव्विकप्पसुहं सुहं ॥
नवधम्मस्स हि पाएणा, धम्मे न रमती मती। वहए सो वि संजुत्तो, गोरिवाविधुरं धुरं ॥
एगागिस्स हि चित्ताइं, विचित्ताइं खणे खणे। उप्पज्जंति विद्यंते य, वसेवं सज्जणे जणे ॥
यत्र-तत्र सूक्त-सुभाषितों का प्रयोग भी बहुत आकर्षक और संबोधसंवर्धक है। यथा—
'तं तु न विज्जइ सज्जं, जं धिइमंतो न साहेइ ॥' 'धंतं पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्धं अधेणूतो ॥'
'मज्जात्थं अच्छंतं, सीहं गंतूण जो विबोहेइ। अप्पवहाए होइ, वेयालो चेव दुज्जुसो ॥'
'जागरिया धम्पीणं, आहम्पीणं च सुतया सेया ।' 'एवकम्मि खंभम्मि न मत्तहत्थी, बज्जंति वग्घा न य पंजरेदो ॥'

भाष्यकार ने विषय की विशदता के लिए लौकिक-लोकोत्तर दृष्टान्तों और कथानकों का प्रचुर प्रयोग किया है, जिनकी संकेत सूची परिशिष्ट १ में दी गई है। ६४९० गाथाओं में संदृब्ध यह भाष्य जीवनदर्शन की विपुल सामग्री से समृद्ध है।

● **चूर्णि**—कल्पसूत्र एवं उसके लघुभाष्य पर लिखित इस चूर्णि की भाषा संस्कृतमिश्रित प्राकृत है। चूर्णिकार की प्रतिपादनशैली अत्यंत सहज, सरल एवं सरस है—

……उस्सग्गजोगाणं उस्सग्गं दीवेति। अववायजोगाणं अववायं दीवेति। उभयजोगाणं दो वि दीवेति। पमाएताण वा दोसे दीवेति। अप्पमादीनं गुणे दीवेति।…… (बृभा ६४९० की चू प २२७)

चूर्णि के कर्ता प्रलम्बसूरि हैं।^५ वृत्तिकार मलयगिरि और क्षेमकीर्ति ने चूर्णिकार के लिए क्रमशः यतीश और

१. श्रीआको १ (निर्युक्ति)

२. बृभावृ पृ २

३. प्रस्तुत कोश (जिनकल्प)

४. प्रस्तुत कोश (अंतेवासी, चित्तचिकित्सा)

५. बृभा ५७१३, ५७१५-५७१९

६. बृभा १३५७, १९४४, २२२७, ३३८६, ४४१०

७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ३

यतीन्द्र शब्द का प्रयोग किया है।^१ सं. १६६१ में हस्तलिखित २२७ पत्रों वाली इस प्रति में चूर्णिका का ग्रंथाग्र १४७८७ बताया गया है।

● **वृत्ति**—आचार्य मलयगिरि ने बृहत्कल्पभाष्य की अपूर्ण वृत्ति लिखी। वे ६४९० गाथाओं में से प्रारंभ की पीठिका की मात्र ६०६ गाथाओं की ही वृत्ति लिख पाए, जिसका ग्रंथमान ४६०० श्लोकप्रमाण है। शेष समग्र वृत्ति आचार्य क्षेमकीर्ति द्वारा अनुसन्धित है। आचार्य मलयगिरि और आचार्य क्षेमकीर्ति ने विषय की विशदता एवं निरूपण की स्पष्टता के लिए शताधिक ग्रंथांश (संस्कृत-प्राकृत श्लोक एवं कथानक) उद्धृत किये हैं। यथा—

तेषां कटतटध्वष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः। प्रावर्तते नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी॥

न वि लोणं लोणिज्जइ, न वि तुष्पिज्जइ घयं व तेल्लं वा॥^२

अनुयोगाधिकार में अधिकाक्षर के संदर्भ में उद्धृत वंजुलवृक्ष और वानर का कथानक पठनीय है^३—
कामित सरोवर के तट पर विशाल वंजुल वृक्ष था। जो प्राणी उस पर चढ़कर सरोवर में गिरता, वह यदि तिर्यच होता तो मनुष्य बन जाता, मनुष्य होता तो देव बन जाता। एक वानर-वानरी युगल उसमें गिरा और मनुष्य युगल बन गया। बंदर के मन में लोभ जागा। मानुषी रूप वानरी के निषेध करने पर भी वह पुनः जल में गिरा, देव के बदले पुनः बंदर ही हो गया। आज के जीवविज्ञानजगत् के लिए यह अन्वेषणीय विषय हो सकता है कि क्या किसी विशेष वृक्ष और जल में ऐसे परमाणु हो सकते हैं, जो योनि को परिवर्तित कर सकें।

मलयगिरि की भाषा प्रसादगुण युक्त और शैली प्रौढ़ है। क्षेमकीर्ति-वृत्ति भी मलयगिरि-वृत्ति की कोटि की है। यत्र-तत्र प्राकृत-संस्कृत श्लोक और कथानक विविध विज्ञानशाखाओं का स्पर्श करते हैं। परिश्रावी-अपरिश्रावी के प्रसंग में प्रदत्त अमात्य के दृष्टांत में वृक्षविज्ञान या ध्वनिविज्ञान का एक विचित्र तथ्य उजागर हुआ है^४—

एक राजा के कान गर्दभ के कान जैसे थे, जो सदा खोल से आवृत रहते थे। एक दिन मंत्री ने देख लिया और वह अत्यंत विस्मित हुआ। राजा ने इस बात को गुप्त रखने का निर्देश दिया। अमात्य इसे पचा न सका। वह जंगल में गया। एक वृक्ष के कोटर में मुंह डालकर गुनगुनाया—गद्भकन्नो राया, गद्भकन्नो राया। एक बार किसी ने उस वृक्ष की लकड़ी को काटकर वादित्र बनाया और संयोग ऐसा बना कि उसे सर्वप्रथम राजा के सामने ही बजाया गया। उस वाद्य से पुनः-पुनः गद्भकन्नो राया...ध्वनि सुनकर राजा ने पूछा—अमात्य! तुमने यह रहस्य किसको बताया था? अमात्य ने सही बात बता दी। इससे स्पष्ट है कि वनस्पति अत्यंत ग्रहणशील और संवेदनशील है, वह हमारे शब्दोच्चारण से भावित हो जाती है।

बृहत्कल्पभाष्य को ज्ञान-विज्ञान के विविध रत्नों से प्रभास्वर बनाने वाली १७१२ पृष्ठमयी इस वृत्ति का ग्रंथमान ४२६०० श्लोकप्रमाण है। इसका पूर्णाहुति काल वि. सं. १३३२ ज्येष्ठ शुक्ला दशमी है।

५. व्यवहार

यह छेदसूत्र है। व्यवहार का अर्थ है—आलोचना, शुद्धि अथवा प्रायश्चित्त।^५ आलोचना के आधार पर आलोच्य सूत्र का नाम व्यवहार रखा गया। आचार्य भद्रबाहु ने नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु से इसका निर्यूहण किया। इसके दस उद्देशक हैं, जिनमें कुल दो सौ अट्ठासी सूत्र हैं। इसका ग्रंथपरिमाण है—अनुष्टुप् श्लोक ८६७, जिनमें कुल

१. बृभावृ पृ १, १७७

२. वही, पृ ८५, १६६

३. वही, पृ ८९

४. बृभावृ पृ २३७

५. व्यभा १०६४

अक्षर २७७४८ हैं। कल्प और व्यवहार दोनों प्रायश्चित्त सूत्र हैं। कल्प में प्रायश्चित्त विधि और व्यवहार में प्रायश्चित्तदान विधि तथा आलोचना विधि प्रज्ञप्त है।^१

व्याख्या ग्रंथ

● **व्यवहारनिर्युक्तिभाष्य**—बृहत्कल्प की भांति इसकी निर्युक्ति भी भाष्यमिश्रित ही मिलती है। निर्युक्तिभाष्य में व्यवहार, आलोचना, प्रतिसेवना, प्रायश्चित्त, विहार आदि सैकड़ों विषय विवेचित हैं। आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत—इन पांच व्यवहारों और व्यवहारप्रयोक्तृओं का लगभग पांच सौ पचीस (४०२८-४५५३) गाथाओं में विशदता से व्याख्यान किया गया है। क्षेत्र के आधार पर मनोरचना के कुछ निदर्शन द्रष्टव्य हैं—

मगध देशवासी इंगित और आकार से, कौशल के वासी प्रेक्षामात्र से, पांचाल के लोग आधी बात कहने पर तथा दक्षिणवासी पूरी बात कहने पर ही अभिप्राय को समझ पाते थे।^२

धर्म, राजनीति आदि के संदर्भ में कुछ ऐतिहासिक तथ्य ज्ञातव्य हैं—

- चाणक्य ने नंदवंश का समूल उच्छेद किया।
- आर्यरक्षित अंतिम आगमव्यवहारी थे।
- लोहार्य मुनि भगवान महावीर के लिए भिक्षा लाते थे।
- चेटक एवं कोणिक के मध्य महाशिलाकंटक और रथमुसल संग्राम हुए।^३

● **वृत्ति**—व्यवहारसूत्र एवं निर्युक्तिभाष्य पर आचार्य मलयगिरि ने विशद वृत्ति लिखी। प्रारंभ में श्लोकचतुष्टयी के माध्यम से देव (अर्हत् अरिष्टनेमि) और गुरु को प्रणमन करते हुए उन्होंने लिखा है—‘जिन्होंने व्यवहार को विषमपदविवरण के द्वारा व्यवहर्तव्य बनाया है, उन चूर्णिकार को नमस्कार करता हूं। कहां तो यह गहन-गंभीर भाष्य और कहां मेरी अल्प बुद्धि? फिर भी मैं गुरुप्रसाद से व्यवहार का विवरण लिखने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हूं।’

व्यवहारचूर्ण अप्रकाशित है। वृत्तिकार ने कुछ स्थलों में चूर्ण के अंश उद्धृत किए हैं। कायोत्सर्ग के प्रसंग में वे लिखते हैं—स्वाध्यायकाल-प्रस्थापनाकरण में आठ उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करणीय है। पानकपरिष्ठापन करके भी ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण के पश्चात् आठ उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए—यह तथ्य मैंने व्यवहारचूर्ण को देखकर लिखा है।^४

वृत्तिकार ने सूत्रगत और भाष्यगत प्रत्येक शब्द का विशद अर्थ बताकर अपेक्षानुसार विस्तृत विवेचन भी किया है। विषय की सुबोधता के लिए शताधिक प्राकृत कथानक और प्राकृत-संस्कृत के श्लोक उद्धृत किए हैं। निरुक्त, देशी शब्द और पर्यायवाची शब्दों के प्रचुर प्रयोगों से विद्यार्थी के शब्दकोश को समृद्ध बनाया है। शास्त्रगुणदीपन और भावप्रकर्ष तथा शिष्यानुग्रह हेतु प्रयुक्त एकार्थक शब्दों के कुछ प्रयोग पठनीय हैं—

- कर्म—कम्मं ति वा खुहं ति वा कलुसं ति वा वज्जं ति वा वेरं ति वा पंको ति वा मलो ति वा एगट्टिया।
- ऋतुमास—उउमासो कम्ममासो सावणमासो।
- मेढि—मेढिरिति वा आधार इति वा चक्षुरिति वा एकार्थाः।

मूलस्पर्शी अर्थाभिव्यक्ति, पारिभाषिक शब्दों की महनीय परिभाषाएं, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों का समाकलन, प्रायश्चित्तदान की विभिन्न परम्पराओं का उल्लेख, व्यवहार संबंधी अनेक रहस्यों का उद्घाटन—इन सब तथ्यों से समृद्ध इस वृत्ति का ग्रंथमान ३४६२५ श्लोकप्रमाण है।

१. प्रस्तुत कोश (छेदसूत्र)

४. व्यभा ११४ की वृ

२. व्यभा ४०२०

५. वही, १९४, १९८ तथा २५८२ की वृ

३. वही, ७१६, २३६५, २६७१, ४३६३-४३६५

संदर्भ ग्रंथ : संकेत-विवरण

संकेत	ग्रंथ नाम	प्रकाशन
आचूला	आयारचूला (अंगसुत्ताणि, भाग-१)	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.), सन् १९७४
आचूलाचू	आचारचूला (आचारांग) चूर्णि	ऋषभदेवजी केसरीमलजी, रतलाम
आनि	आचारांगनिर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक)	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.), सन् १९९९
आवृ	आचारचूला (आचारांग)वृत्ति (आचारांगसूत्रं सूत्रकृतांगसूत्रं च)	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९७८
क	कल्प (कप्पो, नवसुत्ताणि, भाग-५)	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.), सन् १९८७
दशा	दशाश्रुतस्कंध (दसाओ, नवसुत्ताणि)	वही
दशाचू	श्रीदशाश्रुतस्कंध-मूलनिर्युक्तिचूर्णि	श्री मणिविजयगणिग्रंथमाला, भावनगर, वि. सं. २०११
दशानि	दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक)	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.), सन् १९९९
दशा परि (पर्युषणाकल्प)	दशा परिशिष्ट (पञ्जोसवणाकप्पो, नवसुत्ताणि)	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.), सन् १९८७
नि	निशीथ (निसीहज्झयणं, नवसुत्ताणि)	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.), सन् १९८७
निचू १-४	निशीथचूर्णि (सभाष्यचूर्णि निशीथसूत्रम्, भाग१-४)	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, द्वि. सं., सन् १९८२
निभा	निशीथभाष्य (निशीथसूत्रम्)	वही
बृभा	बृहत्कल्पभाष्य (सभाष्य-वृत्ति बृहत्कल्पसूत्रम्, भाग १-६)	श्री जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर, सन् १९३३-१९४२
बृभाचू	बृहत्कल्पभाष्यचूर्णि	हस्तलिखित प्रति
बृभावृ	बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति (सभाष्यवृत्ति बृहत्कल्पसूत्रम्, भाग १-६)	श्री जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर, सन् १९३३-१९४२
व्य	व्यवहार (ववहारो, नवसुत्ताणि)	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.), सन् १९८७
व्यभा	व्यवहार भाष्य	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू (राज.), सन् १९९६
व्यभापी	व्यवहारभाष्यपीठिकावृत्ति (सभाष्य-वृत्ति)	केशवलाल प्रेमचंद, भावनगर, सं. १९८२
व्यभावृ	व्यवहारभाष्यवृत्ति	वकील केशवलाल प्रेमचंद, अहमदाबाद
श्रीआको १	श्रीभिक्षु आगम विषय कोश भाग-१	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू (राज.), सन् १९९६

मुख्य विषय : अनुक्रम (भाग-२)

१. अंतकृत	३२. कुत्रिकापण	६३. परिहारविशुद्धि	९४. विनय
२. अंतेवासी	३३. कृतयोगी	६४. पर्युषणाकल्प	९५. विहार
३. अधिकरण	३४. कृतिकर्म	६५. पारांचित	९६. वीर्य
४. अनशन	३५. क्षेत्रप्रतिलेखना	६६. पिण्डैषणा	९७. वेद
५. अनुयोग	३६. गणिसम्पदा	६७. पुस्तक	९८. वैयावृत्य
६. अभिषेक	३७. गीतार्थ	६८. प्रतिमा	९९. व्यवहार
७. अवग्रह	३८. गुप्ति	६९. प्रतिसेवना	१००. शय्या
८. आगम	३९. गोष्ठी	७०. प्रायश्चित्त	१०१. शय्यातर
९. आगाढप्रज्ञ	४०. चारित्र	७१. बहुश्रुत	१०२. शरीर
१०. आचार	४१. चिकित्सा	७२. ब्रह्मचर्य	१०३. शीतगृह
११. आचार्य	४२. चित्तचिकित्सा	७३. भावना	१०४. शौक्ष
१२. आज्ञा	४३. चित्तसमाधिस्थान	७४. भिक्षाचर्या	१०५. श्रमण
१३. आतापना	४४. चूला	७५. भिक्षप्रतिमा	१०६. श्रुतज्ञान
१४. आराधना	४५. छेदसूत्र	७६. मंगल	१०७. संघ
१५. आर्यक्षेत्र	४६. जिनकल्प	७७. मंत्र-विद्या	१०८. संज्ञी
१६. आलोचना	४७. जिनशासन	७८. मन	१०९. संहनन
१७. आशातना	४८. जीवनिकाय	७९. मरण	११०. समवसरण
१८. आहार	४९. ज्ञान	८०. महाव्रत	१११. समिति
१९. इन्द्रिय	५०. तप	८१. महास्थण्डिल	११२. सम्यक्त्व
२०. उत्सारकल्प	५१. तीर्थकर	८२. मूढ	११३. साधर्मिक
२१. उपधान	५२. दिग्बंध	८३. मेधावी	११४. सामाचारी
२२. उपधि	५३. देव	८४. मोक्ष	११५. साम्भोजिक
२३. उपसम्पदा	५४. द्रव्य	८५. यथालन्दकल्प	११६. सार्धवाह
२४. उपासक प्रतिमा	५५. ध्यान	८६. युद्ध	११७. सिद्धांत
२५. ऋजुप्राज्ञ	५६. निदान	८७. राज्य	११८. सूत्र
२६. कर्म	५७. निर्ग्रंथ	८८. लेश्या	११९. स्थविर
२७. कल्पस्थिति	५८. निर्यापक	८९. लोक	१२०. स्थविरकल्प
२८. कषाय	५९. नौका	९०. वस्त्र	१२१. स्थविरावलि
२९. कायक्लेश	६०. परिमंथ	९१. वाचना	१२२. स्थापनाकुल
३०. कायोत्सर्ग	६१. परिषद्	९२. वाद	१२३. स्वप्न
३१. काल	६२. परिहार तप	९३. वास्तुविद्या	१२४. स्वाध्याय

प्रयुक्त ग्रंथ संकेत सूची

संकेत	ग्रंथ नाम	संकेत	ग्रंथ नाम
अंत	अंतगडदसाओ (अंगसुत्ताणि, भाग-३)	दजिचू	दशवैकालिक जिनदासचूर्णि
अंनि	अंगुत्तरनिकाय भाग-१	दनि	दशवैकालिनिर्युक्ति
अनु	अणुओगदाराइं	दे, देशी	देशीनाममाला
आ	आचारांग/आयारो	देको	देशीशब्दकोश
आप्टे	आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश	नंदीहावृ	नन्दी हारिभद्रीया वृत्ति
आभा	आचारांगभाष्यम्	निको	निरुक्तकोश
आव	आवश्यक (आवस्सयं, नवसुत्ताणि)	पिनि	पिण्डनिर्युक्ति
आवचू	आवश्यकचूर्णि	प्रज्ञा	प्रज्ञापना (पण्णवणा, उवंगसुत्ताणि)
आवनि	आवश्यकनिर्युक्ति	प्रसा	प्रवचनसारोद्धार
उ	उत्तरज्झयणाणि	भ	भगवई (अंगसुत्ताणि, भाग-२)
उनि	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	भ आ	भगवती आराधना
उप्रा	उपदेशप्रासाद	भ जो	भगवती जोड़
उशावृ	उत्तराध्ययन शांत्याचार्यवृत्ति	मानि	माधवनिदानम्
उसअ	उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन	मूला	मूलाचार
औ, औप	औपपातिक (ओवाइयं, उवंगसुत्ताणि)	विभा	विशेषप्रवश्यकभाष्य
च	चरकसंहिता	विभाकोवृ	विशेषावश्यकभाष्य कोट्याचार्य वृत्ति
जंबू	जंबूद्वीवपण्णत्ती (उवंगसुत्ताणि, भाग-४)	विभामवृ	विशेषावश्यकभाष्य मलधारीया वृत्ति
जीवा	जीवाजीवाभिगमे (उवंगसुत्ताणि)	सम, सम प्र	समवाओ, समवाओ प्रकीर्णक
जैसिदी	जैन सिद्धांत दीपिका	सु	सुश्रुतसंहिता
ज्ञा	ज्ञातधर्मकथा (नायाधम्मकहाओ)	सू	सूयगडो १, २
तवा	तत्त्वार्थराजवार्तिक	सू टि	सूत्रकृतांग (सूयगडो १, २) टिप्पण
तसू, तभा	सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र	सूनि	सूत्रकृतांगनिर्युक्ति
द	दसवेआलियं	सूर्य	सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरपण्णत्ती, उवंगसुत्ताणि)
दअचू	दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि	स्था टि	स्थानांग (ठाणं), टिप्पण

अन्य प्रयुक्त ग्रंथ

अयोगव्यवच्छेदिका, आगमसम्पादन की समस्याएं, आचारांग की जोड़, आयारो तह आयारचूला, ओघनिर्युक्ति, जैन आगम : वनस्पति कोश, जैनदर्शन: मनन और मीमांसा, जैनधर्म के प्रभावक आचार्य, जैन भारती, जैन साधनापद्धति में तपोयोग, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, झीणी चरचा, नंदी, निशीथ टबा (हस्तलिखित), निसीहज्झयणं, प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, बंकचूलिया (हस्तलिखित), भगवई (भाष्य), भिक्षु-ग्रंथ रत्नाकर, विशुद्धिमगग, व्यवहारचूलिका (हस्तलिखित), शासन-समुद्र (भाग १, ७, ९, १४), श्रमण महावीर।

आगम विषय कोश— २

अंतकृत — जन्म-मरण की परम्परा का अंत करने वाला ।

१. अंतकृत कौन ?	
२. अंतकृत होने की साधना	
* अनिदानता से निर्वाण	द्र निदान
* निदान : मोक्षमार्ग का परिमंथ	द्र परिमंथ
* चारित्र बिना निर्वाण नहीं	द्र चारित्र
* पुण्यबंध से मुक्ति कैसे ?	द्र कर्म
* प्रायोपगमन से अंतक्रिया या देवोपपत्ति	द्र अनशन
३. अंतकृतभूमि	
४. श्रमण महावीर के अंतकृतभूमि	
५. अर्हत् पाश्र्व-अरिष्टनेमि-ऋषभ के अंतकृतभूमि	
६. श्रमण महावीर आदि के अंतकृत अंतेवासी	

१. अंतकृत कौन ?

जमाह ओहं सलिलं अपारगं, महासमुद्रं व भुयाहि दुत्तरं ।
अहे य णं परिजाणाहि षंडिए, से हु मुणी अंतकडेत्ति वुच्चइ ।
जहा हि बद्धं इह माणवेहि य, जहा य तेसिं तु विमोक्ख आहिओ ।
अहा तथा बंधविमोक्ख से विऊ, सेहु मुणी अंतकडेत्ति वुच्चइ ।
इमंमि लोए परए य दोसुवि, ण विज्जइ बंधण जस्स किंचिवि ।
से हु णिरालंबणे अप्पइट्टिए, कलंकली भावपहं विमुच्चइ ।

निरालम्बनः-ऐहिकामुष्मिकाशंसारहितः, अप्रतिष्ठितः—
न क्वचित् प्रतिबद्धोऽशरीरी वा । (आचूला १६/१०-१२ वृ)

जिसे अपार सलिल का प्रवाह और भुजाओं से दुस्तर महासागर कहा है, वह है संसार । जो इसे जान लेता है—ज्ञेय का ज्ञान और हेय का परित्याग कर देता है, वह पंडित मुनि अंतकृत (भव या कर्म का अंत करने वाला) कहलाता है ।

जिन हेतुओं से मनुष्य (प्राणी) बंधन को प्राप्त होते हैं और जिन हेतुओं से उनका मोक्ष कहा गया है, जो मुनि उन बंधन और प्रमोक्ष के हेतुओं को यथार्थ रूप में जानता है, वह मुनि अंतकृत कहलाता है ।

इस लोक और परलोक दोनों में ही जिसका किंचित्

भी बंधन शेष नहीं है, वह साधक निरालम्ब—इहलोक-परलोक की आशंसा से मुक्त और अप्रतिष्ठित—अप्रतिबद्ध तथा अशरीरी होकर जन्ममरण के दुःखमय संसार से विमुक्त हो जाता है ।

* मुक्त का स्वरूप, सिद्धि का क्रम द्र श्रीआको १ मोक्ष

२. अंतकृत होने की साधना

अणिच्चमावासमुवेत्ति जंतुणो, पलोयए सोच्चमिदं अणुत्तरं ।
विऊसिरे विण्णु अगारबंधणं, अभीरु आरंभपरिगहं चए ॥
सितेहि भिक्खु असिते परिव्वए, असज्जमित्थीसु चाएज्ज पूअणं ।
अणिसिओ लोणमिणं तथा परं, ण मिज्जति कामगुणेहि षंडिए ॥
तहा विमुक्कस्स परिणचारिणो, धिइमओ दुक्खखमस्स भिक्खुणो ।
विसुज्जई जंसि मलं पुरेकडं, समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥
से हु प्परिणणा समयंमि वट्टइ, णिराससे उवरय-मेहुणे चरे ।
भुजंगमे जुण्णतयं जहा जहे, विमुच्चइ से दुहसेज्ज माहणे ॥

(आचूला १६/१, ७-९)

प्राणी अनित्य आवास को प्राप्त होते हैं—मनुष्य आदि गतियों में उत्पन्न होकर अनित्य शरीर में आवास करते हैं—इस अनुत्तर अर्हत्-वचन का श्रवण कर पर्यालोचन—अनित्यता का साक्षात् अवलोकन करने वाला विज्ञ पुरुष वित्त, पुत्र, कलत्र संबंधी घर के बंधनों को विसर्जित कर भयमुक्त होकर आरंभ और परिग्रह का परित्याग करे ।

मुनि नाना प्रकार की आसक्तियों और मतवादों से बंधे हुए लोगों के बीच में अप्रतिबद्ध रहता हुआ परिव्रजन करे । वह स्त्रियों में आसक्त न हो, पूजा-सत्कार की चाह छोड़ दे । ऐहिक और पारलौकिक विषयों से अनिश्रित रहने वाला पंडित भिक्षु कामगुणों (इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों) में आसक्त न हो ।

जो भिक्षु संयोग से मुक्त, परिज्ञाचारी—विवेक से आचरण करने वाला, धृतिमान व कष्टसहिष्णु है, उस भिक्षु का पूर्व संचित कर्ममल उसी प्रकार विशुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार

अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मल ।

परिज्ञासम्पन्न, समता में प्रतिष्ठित और अभिलाषामुक्त भिक्षु मैथुन से उपरत हो विहरण करे । जैसे सांप अपने शरीर की जीर्ण केंचुली को छोड़ देता है, वैसे ही माहन (अहिंसक भिक्षु) दुःखशय्या को छोड़ दे ।

(कामभोगों की आशंसा को दुःखशय्या और अनाशंसा को सुखशय्या कहा गया है । स्था ४/४५०, ४५१)

३. अंतकृतभूमि

अंतकरभूमिति अंतः कर्मणां भूमिः—कालो । सो दुविधो—पुरिसंतकरकालो परियायंतकरकालो य ।

(दशा ८ परि सू १०५ की चू)

जिस भूमि—काल में कर्मों का अंत हो, वह अंतकरभूमि है । उसके दो प्रकार हैं—पुरुषांतकर (युगांतकर) काल और पर्यायांतकरकाल ।

(० युगांतकरभूमि—युग का अर्थ है विशेष कालमान । युग क्रमवर्ती होते हैं । उनके साधर्म्य से गुरु-शिष्य-प्रशिष्य आदि के रूप में होने वाली क्रमभावी पुरुष-परम्परा को भी युग कहा जाता है । उस युगप्रमित अंतकरभूमि को युगांतकर भूमि कहा गया है ।

० पर्यायांतकरभूमि—तीर्थकर के केवलित्व काल के आश्रित होने वाली अंतकरभूमि ।

अर्हत् मल्ली के बीसवें पुरुषयुग अर्थात् अर्हत् मल्ली से लेकर उनके तीर्थ में बीसवीं शिष्य परम्परा तक साधु सिद्ध हुए । उसके बाद सिद्धिगति का व्यवच्छेद हो गया । उनके तीर्थ में पर्यायांतकरभूमि दो वर्ष पश्चात् प्रारंभ हुई अर्थात् मल्ली को कैवल्य प्राप्त हुए जब दो वर्ष सम्पन्न हुए, तब उनके तीर्थ में सिद्ध होने का क्रम प्रारम्भ हुआ । —ज्ञा १/८/२३३ का टि)

४. श्रमण महावीर के अंतकृतभूमि

समणस्स भगवओ महावीरस्स दुविहा अंतकड-भूमी होत्था, तं जहा—जुगंतकडभूमी य परियायंतकडभूमी य । जाव तच्चाओ पुरिसजुगाओ जुगंतकडभूमी चउवास-परियाए अंतमकासी ॥

जाव अज्जंबुणामो ताव सिवपहो, एस जुगंत-करकालो । चत्तारि वासाणि भगवता तिथ्ये पवत्तिते तो

सिञ्जितुमारद्धा, एस परियायंतकरकालो ॥

(दशा ८ परि सू १०५ चू)

श्रमण भगवान् महावीर के दो अंतकृतभूमियां थीं—

१. युगांतकृतभूमि—भगवान् महावीर के तीसरे पुरुषयुग जंबू स्वामी अर्थात् तीसरी शिष्य परम्परा तक युगांतकृतभूमि—निर्वाणगमन का क्रम रहा—यह युगांतकरकाल है ।

२. पर्यायांतकृतभूमि—भगवान् महावीर के तीर्थप्रवर्तन के चार वर्ष पश्चात् उनके शिष्य मोक्ष जाने लगे—यह पर्यायांतकरकाल है ।

५. अर्हत् पार्श्व-अरिष्टनेमि-ऋषभ के अंतकृतभूमि

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स दुविहा अंतकड-भूमी...जाव चउत्थाओ पुरिसजुगाओ जुगंतकडभूमी, तिवासपरियाए अंतमकासी ॥

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स दुविहा अंतकडभूमी...जाव अट्टमाओ पुरिसजुगाओ जुगंतकडभूमी, दुवासपरियाए अंतमकासी ॥

उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स दुविहा अंतकडभूमी...जाव असंखेज्जाओ पुरिसजुगाओ जुगंतकडभूमी, अंतोमुहुत्त-परियाए अंतमकासी । (दशा ८ परि सू १२३, १३७, १७९)

पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के चतुर्थ पुरुषयुग तक निर्वाण गमन का क्रम रहा—यह युगांतकृतभूमि है ।

अर्हत् पार्श्व को केवलज्ञान हुए तीन वर्ष हुए थे, उसी समय से उनके शिष्य मोक्ष जाने लगे—यह पर्यायांतकृतभूमि है ।

अर्हत् अरिष्टनेमि के दो अंतकृतभूमियां थीं—

१. युगांतकृतभूमि—अर्हत् अरिष्टनेमि के आठवें पुरुषयुग तक निर्वाण गमन का क्रम रहा ।

२. पर्यायांतकृतभूमि—अर्हत् अरिष्टनेमि को केवलज्ञान हुए दो वर्ष हुए थे, उसी समय से उनके शिष्य मोक्ष जाने लगे ।

कौशलिक अर्हत् ऋषभ के दो अंतकृतभूमियां थीं—

१. युगांतकृतभूमि—अर्हत् ऋषभ के संख्यातीत पुरुषयुग तक निर्वाण गमन का क्रम रहा ।

२. पर्यायांतकृतभूमि—अर्हत् ऋषभ को केवलज्ञान हुए अंतर्मुहूर्त हुआ था, उसी समय से मोक्षगमन का क्रम प्रारंभ हो गया ।

(सर्वप्रथम भगवती मरुदेवा सिद्ध हुई।)

६. श्रमण महावीर आदि के अंतकृत अंतेवासी

समणस्स भगवओ महावीरस्स सत्त अंतेवासिसयाइं सिद्धाइं जाव सव्वदुक्खप्पहीणाइं चउहस अज्जियासयाइं सिद्धाइं ॥

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स दस सया केवलनाणीणं ॥

अरहओ णं अरिद्वेणेमिस्स पन्नरस समणसया सिद्धा, तीसं अज्जियासयाइं सिद्धाइं ॥

उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स वीसं अंतेवासि-सहस्सा सिद्धा, चत्तालीसं अज्जियासाहस्सीओ सिद्धाओ ।

(दशा ८ परि सू १०३, १२२, १३६, १७८)

श्रमण भगवान् महावीर के सात सौ अंतेवासी साधु और चौदह सौ साध्वियां सिद्धि को प्राप्त हुई यावत् सर्व दुःखों से मुक्त हुई।

पुरुषादानीय अर्हत् पार्व के एक हजार साधु (और दो हजार साध्वियां) अंतकृत हुए।

अर्हत् अरिष्टनेमि के डेढ़ हजार साधु और तीन हजार साध्वियां सिद्धि को प्राप्त हुई।

कौशालिक अर्हत् ऋषभ के बीस हजार अंतेवासी और चालीस हजार साध्वियां मुक्त हुई।

(स्था ४/१ में चार प्रकार की अन्तक्रिया का उल्लेख है—

१. कोई पुरुष अल्प कर्मों के साथ मनुष्य जन्म को प्राप्त होता है, प्रव्रजित होकर उपधान करता है, उसके घोर तप और घोर वेदना नहीं होती। इस श्रेणी का पुरुष दीर्घकालीन मुनिपर्याय के द्वारा सिद्ध होता है। जैसे—चक्रवर्ती सम्राट भरत।

२. कोई पुरुष बहुत कर्मों के साथ मनुष्य जन्म को प्राप्त होता है, उसके घोर तप और घोर वेदना होती है। इस श्रेणी का पुरुष अल्पकालीन मुनिपर्याय के द्वारा सिद्ध होता है। जैसे—गजसुकुमाल।

३. कोई पुरुष महाकर्म के साथ आता है, उसके घोर तप और घोर वेदना होती है। वह दीर्घकालीन मुनि पर्याय के द्वारा

सिद्ध होता है। जैसे—चक्रवर्ती सम्राट सनत्कुमार।

४. कोई पुरुष अल्प कर्मों के साथ आता है, उसके घोर तप और घोर वेदना नहीं होती। वह अल्पकालीन मुनि पर्याय के द्वारा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है। जैसे—भगवती मरुदेवा।)

अंतकृतभूमि— भव-परम्परा का अंत कर निर्वाण प्राप्त करने वालों की भूमि अर्थात् काल।

(द्र अंतकृत)

अंतेवासी— शिष्य, सन्निकट रहने वाला।

१. अंतेवासी का अर्थ

० अंतेवासी के प्रकार : प्रजाजना आदि

* ज्ञैक्षभूमि : सामाधिक की कालमर्यादा द्र चारित्र

* आगमवाचना में संयमपर्याय की कालमर्यादा द्र श्रुतज्ञान

२. शिष्य के प्रकार : परिणामक आदि

३. परिणामक (परिपक्व) शिष्य के प्रकार

४. परिणामक आदि शिष्यों की परीक्षा

* आज्ञापरिणामक शिष्य द्र व्यवहार

* अपरिणामक और प्रायश्चित्त द्र प्रायश्चित्त

५. अपरिणामक आदि वाचना के अयोग्य

६. अयोग्य से योग्य : अग्नि आदि दृष्टांत

७. स्थूलग्राही से सूक्ष्मग्राही : सिद्धार्थ आदि दृष्टांत

८. अशिष्य आचार्यपद के अयोग्य

* शिष्य द्वारा संपादित पांच अतिशय]

* आचार्य आदि की निश्चा अनिचार्य द्र आचार्य

९. अंतेवासी की विनय प्रतिपत्ति के प्रकार

* अध्ययन योग्य शिष्य : छत्रांतिका आदि पर्वद द्र परिषद

* विनीत शिष्य को वाचना द्र वाचना

* ज्ञान-दर्शन-चारित्र हेतु उपसम्पदा द्र उपसम्पदा

* श्रुतहेतु वृद्धवास की अनुज्ञा द्र श्रुतज्ञान

१. अंतेवासी का अर्थ

.....अंतमब्भासमासनं, समीवं चैव आहितं ।

.....अंते य वसति जम्हा, अंतेवासी ततो होति ॥

थेराणमंतिए वासो..... ॥

(व्यभा ४५९५-४५९७)

अंतेवासी का शाब्दिक अर्थ है निकट रहने वाला। अंत, अभ्यास, आसन और समीप—ये सब एकार्थक हैं।

जो आचार्य के समीप रहता है, वह अंतेवासी है।

० अंतेवासी के प्रकार : प्रव्राजना आदि

चत्वारि अंतेवासी षण्णत्ता, तं जहा—पब्बावणंतेवासी नाममेगे नो उवट्ठावणंतेवासी, उवट्ठावणंतेवासी नाममेगे नो पब्बावणंतेवासी, एगे पब्बावणंतेवासी वि उवट्ठावणंतेवासी वि, एगे नो पब्बावणंतेवासी नो उवट्ठावणंतेवासी—धम्मंतेवासी ॥

चत्वारि अंतेवासी षण्णत्ता, तं जहा—उद्देशणंतेवासी नाममेगे नो वायणंतेवासी, वायणंतेवासी नाममेगे नो उद्देशणंतेवासी, एगे उद्देशणंतेवासी वि वायणंतेवासी वि, एगे नो उद्देशणंतेवासी नो वायणंतेवासी—धम्मंतेवासी ॥ (व्य १०/१७, १८)

अंतेवासी चार प्रकार के होते हैं—

१. कुछ मुनि एक आचार्य के प्रव्रज्या अंतेवासी होते हैं (जो केवल मुनिदीक्षा या सामायिक चारित्र की दृष्टि से आचार्य के पास रहते हैं) किन्तु उपस्थापना अंतेवासी नहीं होते।

२. कुछ मुनि एक आचार्य के उपस्थापना अंतेवासी होते हैं, प्रव्रज्या अंतेवासी नहीं होते। (जो केवल महाव्रत आरोपण की दृष्टि से आचार्य के पास रहते हैं।)

३. कुछ मुनि एक आचार्य के प्रव्रज्या अंतेवासी भी होते हैं और उपस्थापना अंतेवासी भी होते हैं।

४. कुछ मुनि एक आचार्य के न प्रव्रज्या अंतेवासी होते हैं और न उपस्थापना अंतेवासी होते हैं, धर्मान्तेवासी होते हैं (धर्मश्रवण के लिए आचार्य के पास रहते हैं)।

अंतेवासी के चार (अन्य) प्रकार हैं—

१. कुछ मुनि एक आचार्य के उद्देशना अंतेवासी होते हैं, वाचना अंतेवासी नहीं।

२. कुछ वाचना अंतेवासी होते हैं, उद्देशना अंतेवासी नहीं।

३. कुछ उद्देशना अंतेवासी भी होते हैं और वाचना अंतेवासी भी होते हैं।

४. कुछ मुनि एक आचार्य के न उद्देशना अंतेवासी होते हैं और न वाचना अंतेवासी होते हैं।

यहां अंतेवासी धर्मान्तेवासी की कक्षा के हैं।

(एक ही व्यक्ति धर्मान्तेवासी, प्रव्राजनान्तेवासी, उपस्थापनान्तेवासी हो सकता है।—द्र स्था ४/४२४, ४२५ का टि)

२. शिष्य के प्रकार : परिणामक आदि

परिणाम अपरिणामे, अइपरिणाम पडिसेह चरिमदुए ॥
जो दव्व-खेत्तकय-काल-भावओ जं जहा जिणक्खायं।
तं तह सदहमाणं, जाणसु परिणामयं साधुं ॥
जो दव्व-खेत्तकय-काल-भावओ जं जहा जिणक्खायं।
तं तह असदहं, जाण अपरिणामयं साहुं ॥
जो दव्व-खेत्तकय-काल-भावओ जं जहिजया काले।
तल्लेसुस्सुत्तमई, अइपरिणामं वियाणाहि ॥
परिणामइ जहत्येणं, मई उ परिणामगस्स कज्जेसु।
बिइए न उ परिणमई, अहिगं मइ परिणमे तइओ ॥
दोसु वि परिणमइ मई, उस्सग्गऽववायओ उ पढमस्स।
बिइतस्स उ उस्सग्गे, अइअववाए य तइयस्स ॥
(बृभा ७९२-७९७)

शिष्य के तीन प्रकार हैं—

१. परिणामक शिष्य

२. अपरिणामक शिष्य

३. अतिपरिणामक शिष्य

इन तीनों में अपरिणामक और अतिपरिणामक—ये दो प्रकार के शिष्य छेदसूत्र की वाचना के लिए निषिद्ध हैं।

परिणामक शिष्य—अर्हत् ने द्रव्यकृत, क्षेत्रकृत, कालकृत और भावकृत जिस उत्सर्ग और अपवाद विधि का प्रतिपादन किया है, जो उसी रूप में उन वचनों पर श्रद्धा करता है, वह परिणामक साधु होता है। उसकी मति यथोचित कार्यों में यथार्थ रूप से परिणत होती है। वह उत्सर्ग मार्ग प्राप्त होने पर उत्सर्गमति तथा अपवाद मार्ग प्राप्त होने पर अपवादमति होता है। जहां उत्सर्ग बलवान् होता है, वहां उत्सर्ग का समाचरण करता है और जहां अपवाद बलवान् होता है, वहां अपवाद का समाचरण करता है, वह परिणामक शिष्य है।

अपरिणामक शिष्य—जो अर्हत् द्वारा प्ररूपित द्रव्यकृत, क्षेत्रकृत, कालकृत और भावकृत उत्सर्ग तथा अपवाद मार्ग पर

श्रद्धा नहीं करता, जिसकी मति यथार्थ रूप से परिणत नहीं होती, केवल उत्सर्ग मार्ग में ही परिणत होती है, वह अपरिणामक शिष्य है।

अतिपरिणामक शिष्य—जो अर्हत्-प्रज्ञप्त द्रव्यकृत, क्षेत्रकृत, कालकृत और भावकृत उत्सर्ग और अपवाद मार्गों में केवल अपवाद मार्ग की गवेषणा करता है और उसको अपनी मति से कल्पनीय (आचरणीय) मान लेता है, उसी का आलंबन लेता है, जिसकी उत्पन्न मति—श्रुतोक्त अपवाद से अत्यधिक अपवाद वाली बुद्धि होती है, वह अतिपरिणामक शिष्य होता है।

३. परिणामक शिष्य के प्रकार

आणा दिट्ठंतेण य, दुविधो परिणामगो समासेणं ।
तमेव सच्चं नीसकं, जं जिणेहिं पवेइयं ।
आणाए एस अक्खातो, जिणेहिं परिणामगो ॥
परोक्खं हेउगं अत्थं, पच्चक्खेण उ साहयं ।
जिणेहिं एस अक्खातो, दिट्ठंतपरिणामगो ॥
(व्यभा ४६०७-४६०९)

परिणामक शिष्य दो प्रकार के होते हैं—

१. आज्ञापरिणामक—‘वही सत्य है, जो अर्हत्तों द्वारा प्रज्ञप्त है’, इस रूप में जो असंदिग्ध भाव से श्रद्धा करता है, वह आज्ञा-परिणामक है।
२. दृष्टान्तपरिणामक—जो हेतुगम्य परोक्ष पदार्थ को प्रत्यक्ष प्रसिद्ध दृष्टान्त से बुद्धि में आरोपित करता है, उस पर श्रद्धा करता है, उसे अर्हत्तों ने दृष्टान्तपरिणामक कहा है।

४. परिणामक आदि शिष्यों की परीक्षा

.....अंबाईदिट्ठंतो, कहणा य इमेहिं ठाणेहिं ॥
चेयणमचेयण भाविय, केहह छिने अ कित्तिया वा वि ।
लद्धा पुणो व वोच्छं, वीमंसत्थं व वुत्तो सि ॥
किं ते पित्तपलावो, मा बीयं एरिसाई जंपाहिं ।
मा णं परो वि सोच्छिहि, कहं पि नेच्छामो एयस्स ॥
कालो सिं अइवत्तइ, अहं वि इच्छा न भाणिउं तरिमो ।
किं एच्चिरस्स वुत्तं, अन्नाणि वि किं व आणेमि ॥
नाभिप्यायं गिण्हसि, असमत्ते चेव भाससी वयणे ।
सुत्तंबिल-लोणकए, भिन्ने अहवा वि दोच्चंगे ॥

निष्काव-कोह्वाईणि बेमि रुक्खाणि न हरिए रुक्खे ।
अंबिल विद्धत्थाणि अ, भणामि न विरोहणसमत्थे ॥

(बृभा ७९२, ७९८-८०२)

एक दिन आचार्य शिष्यों को वाचना दे रहे थे। उन्होंने परिणामक, अपरिणामक तथा अतिपरिणामक शिष्यों की परीक्षा लेने के उद्देश्य से कहा—आर्यों! हमें आम की आवश्यकता है।

जो परिणामक शिष्य था, उसने आचार्य से निवेदन किया—भंते! कैसे आम लाऊं? सचेतन या अचेतन? भावित अथवा अभावित? बड़े या छोटे? पूर्व छिन्न अथवा छिन्न करवाकर? कितनी संख्या में?

आचार्य ने कहा—आम तो पहले ही प्राप्त थे। अब कभी प्रयोजन होने पर कहूंगा। मैंने तुम्हारी परीक्षा के लिए ऐसा कहा था।

जो अपरिणामक शिष्य था, वह बोला—आचार्यवर! क्या आपको पित्त का प्रकोप हो गया है, जो आप असंबद्ध प्रलाप कर रहे हैं? आज आपने मेरे समक्ष जो कहा, वह कह दिया, दूसरी बार ऐसे सावद्य वचन मत कहना। दूसरा कोई सुन न ले। हम तो आम की कथा भी सुनना नहीं चाहते।

जो अतिपरिणामक शिष्य था, वह बोला—क्षमाश्रमण! यदि आपको आम की आवश्यकता है, तो मैं अभी आम ले आऊंगा। अभी आम का मौसम है। आम तरुण हैं फिर वे कठोर हो जायेंगे। हमें भी आम की रुचि है परन्तु आपके भय से कह नहीं सके। यदि आम हमारे लिए ग्रहणीय है, तो फिर इतने समय के बाद आपने क्यों कहा? पहले ही कह देते। क्या बिजौरा आदि दूसरे फल भी ले आऊं?

आचार्य ने अपरिणामक और अतिपरिणामक शिष्य की बात सुनकर उनसे कहा—तुमने मेरे अभिप्राय को नहीं समझा। मैंने अपनी बात पूरी भी नहीं की और तुम अनर्गल बोलने लग गए।

मैंने कांजी अथवा लवण से भावित, टुकड़े किए हुए अथवा शाक रूप में पकाए हुए आम मंगाए थे, अपरिणत (अप्रासुक) नहीं।

इसी प्रकार जब मैं कहता हूँ कि निष्पाव, कोद्रव आदि

ले आओ तो इसका अभिप्राय रूक्ष द्रव्यों से है, हरित निष्पाव अथवा कोद्रव से नहीं है। मैं कहता हूँ कि अमुक बीज ले आओ तो उसका अभिप्राय अम्लभावित अथवा छिन्नयोनिक बीज से है, सजीव बीज से नहीं।

५. अपरिणामी आदि वाचना के अयोग्य

दारुं धाउं वाही, बीए कंकडुय लक्खणे सुमिणे।
एगंतेण अजोग्गे, एवमाई उदाहरणा॥
को दोसो एरंडे, जं रहदारुं न कीरए तत्तो।
को वा तिणिसे रागो, उवजुज्जइ जं रहंगेसु॥
जं पि य दारुं जोगं, जस्स उ वत्थुस्स तं पि हु न सक्का।
जोएउमणिम्मविउं, तच्छण-दल-वेह-कुस्सेहिं॥
एमेव अधाउं उज्झिऊण धाऊण कुणइ आयाणं।
न य अवकमेण सक्का, धाउमि वि इच्छियं काउं॥
सुहसज्जो जत्तेणं, जत्तासज्जो असज्जवाही उ।
जह रोगे पारिच्छ, सिस्ससभावाण वि तहेव॥
बीयमबीयं नाउं, मोत्तुमबीए उ करिसतो सालिं।
ववइ विरोहणजोग्गे, न यावि से पक्खवाओ उ॥
कंकडुए को दोसो, जं अग्गी तं तु न पयई दित्तो।
को वा इयरे रागो, एमेव य सूवकारस्स॥
जे उ अलक्खणजुता, कुमारगा ते निसेहिउं इयरे।
रजरिहे अणुमन्इ, सामुद्धो नेय विसमो उ॥
जो जह कहेइ सुमिणं, तस्स तह फलं कहेइ तन्नाणी।
रत्तो वा दुट्ठो वा, न यावि वत्तव्वयमुवेइ॥

(बृभा २१५-२२३)

काष्ठ, धातु, व्याधि, बीज, कांकटुक, लक्षण और स्वप्न—
ये एकान्त अयोग्य अर्थात् अपरिणामक तथा अतिपरिणामक शिष्यों के सन्दर्भ में उदाहरण हैं।

(गुरु अयोग्य शिष्य को वाचना नहीं देते, इसमें गुरु का द्वेष हेतु नहीं है) इस सन्दर्भ में सात दृष्टांत हैं—

० काष्ठ दृष्टांत—रथ बनाने के लिए एरण्ड की लकड़ी उपयुक्त नहीं है। इसमें एरण्ड के प्रति क्या द्वेष? रथ को बनाने के लिए तिनिश की लकड़ी उपयुक्त होती है, उसमें तिनिश वृक्ष के प्रति क्या राग?

किसी वस्तु के निर्माण के लिए उपयुक्त काष्ठ है,

परन्तु जब तक वह काष्ठ छीला नहीं जाता, फाड़ा नहीं जाता, बीधा नहीं जाता तथा उस वेध में कुश नहीं डाला जाता, तब तक वह काष्ठ उस वस्तु के निर्माण में योजित नहीं किया जा सकता।

० धातु दृष्टांत—कोई व्यक्ति राग-द्वेष के बिना अधातु को छोड़कर धातु को ग्रहण करता है। धातु से अक्रम से ईप्सित निर्माण नहीं किया जा सकता, क्रम से ही निर्माण हो सकता है। इसी प्रकार आचार्य अयोग्य शिष्यों को वाचना नहीं देते, योग्य शिष्यों को क्रम से वाचना देते हैं। उसमें राग और द्वेष का प्रसंग नहीं है।

० व्याधि दृष्टांत—‘यह रोग सुख-साध्य है, यह प्रयत्न साध्य है और यह रोग असाध्य है, प्रयत्न से भी यह साध्य नहीं है।’ इस प्रकार वैद्य रोगी की परीक्षा कर राग-द्वेष के बिना उसकी चिकित्सा करता है। आचार्य भी शिष्य के स्वभाव की परीक्षा कर राग-द्वेष के बिना उन्हें वाचना देते हैं।

० बीज दृष्टांत—अबीज और बीज के लक्षण को जानकर किसान अबीज को छोड़कर शालि आदि के बीजों को बोता है। इसमें उगने योग्य बीजों के प्रति किसान का पक्षपात नहीं है। इसी प्रकार आचार्य का योग्य शिष्यों को वाचना देने में कोई पक्षपात नहीं है।

० कांकटुक (कोरडु) दृष्टांत—प्रदीप्त अग्नि भी ‘कोरडु’ धान्य को नहीं पका सकती, इसमें अग्नि का उसके प्रति क्या द्वेष? अन्य धान्य को वह पका देती है, इसमें अग्नि या सूपकार का उस धान्य के प्रति कैसा राग? इसी प्रकार आचार्य योग्य शिष्य को वाचना देते हैं तो उसमें उनका कोई राग नहीं है।

० लक्षण दृष्टांत—जो सामुद्र विद्या (शरीर के लक्षणों) को जानता है, वह राजा की मृत्यु के पश्चात् लक्षणहीन राजकुमारों को छोड़कर लक्षणयुक्त कुमार को राज्यभार वहन करने योग्य मानता है। इसमें सामुद्रिक शास्त्रवेत्ता का क्या राग? क्या द्वेष?

० स्वप्न दृष्टांत—स्वप्नद्रष्टा स्वप्नज्ञानी को स्वप्न के फल पूछता है। स्वप्न के अनुरूप स्वप्न का फल बताने वाले का इसमें क्या राग? क्या द्वेष?

६. अयोग्य से योग्य : अग्नि आदि दृष्टांत

अग्नी बाल गिलाणे, सीहे रुक्खे करीलमाईया ।
 अपरिणयजणे एए, सप्यडिवक्खा उदाहरणा ॥
 जह अरणीनिम्मविओ, थोवो विउलंघणं न चाएइ ।
 दहिउं सो पज्जलिओ, सव्वस्स वि पच्चलो पच्छा ॥
 एवं खु थूलबुद्धी, निउणं अत्थं अपच्चलो घेत्तुं ।
 सो चेव जणियबुद्धी, सव्वस्स वि पच्चलो पच्छा ॥
 देहे अभिवडुंते, बालस्स उ पीहगस्स अभिवुड्डी ।
 अइबहुएण विणस्सइ, एमेवऽहुणुट्टिय गिलाणे ॥
 खीर-मिउपोगलेहिं, सीहो पुट्टो उ खाइ अट्ठी वि ।
 रुक्खो विवन्नओ खलु, वंसकरिल्लो य नहछिज्जो ॥
 ते चेव विवडुंता, हुंति अछेज्जा कुहाडमाईहिं ।
 तह कोमला वि बुद्धी, भज्जइ गहणेसु अत्थेसु ॥
 शिष्यस्यापि प्रथमतः कोमला बुद्धिर्भवति... क्रमेण
 तु शास्त्रान्तरदर्शनतोऽभिवर्द्धमाना कठोरा कठोरतरोप-
 जायते इति न क्वचिदपि भंगमुपयाति ।

(बृभा २२४-२२९ वृ)

अपरिणत शिष्य, जो भविष्य में योग्य हो सकता है, उसके संदर्भ में सप्रतिपक्ष (पहले अयोग्य पश्चात् योग्य के) छह दृष्टांत हैं—१. अग्नि २. बाल ३. ग्लान ४. सिंह ५. वृक्ष ६. वंशकरीर ।

१. अग्नि दृष्टांत—जैसे अरणि निर्मापित स्तोक अग्नि विपुल ईंधन को जलाने में असमर्थ होती है किन्तु वह प्रदीप्त होने पर सम्पूर्ण ईंधन को जलाने में समर्थ हो जाती है। वैसे ही स्थूल बुद्धि वाला शिष्य पहले सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण करने में असमर्थ होता है किन्तु विविध शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा बुद्धि परिकर्मित होने पर वही शिष्य समस्त शास्त्र के अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है।

२, ३. बाल-ग्लान दृष्टांत—बालक के शरीर की वृद्धि के साथ-साथ उसको दिए जाने वाले आहार की भी क्रमशः वृद्धि की जाती है। उसको अति आहार देने से वह रुग्ण हो जाता है। उसी प्रकार अभी-अभी रोगमुक्त हुए रोगी के आहार की क्रमशः वृद्धि होती है, तो वह स्वस्थ हो जाता है।
 ४-६ सिंह-वृक्ष-करील दृष्टांत—प्रारंभ में सिंह अपनी मां के

दुग्ध के मृदु पुद्गलों से पुष्ट होता है। तत्पश्चात् वह अस्थि को भी खाने लगता है।

प्रारंभ में द्विषर्ण और वंशकरील वृक्ष नखों से भी काटे जा सकते हैं। बढ़ने पर वे ही वृक्ष कुठार से भी नहीं काटे जा सकते। इसी प्रकार शिष्य की बुद्धि प्रारंभ में कोमल होती है। वह गहन अर्थों को पकड़ नहीं पाती, टूट जाती है। वही बुद्धि क्रमशः शास्त्रों से परिकर्मित होने पर कठोर, कठोरतर हो जाती है, कहीं टूटती नहीं।

७. स्थूलग्राही से सूक्ष्मग्राही : सिद्धार्थ आदि दृष्टांत
 निउणे निउणं अत्थं, थूलत्थं थूलबुद्धिणो कहए ।
 बुद्धीविवद्धणकरं, होहिइ कालेण सो निउणो ॥
 सिद्धत्थए वि गिणहइ, हत्थी थूलगहणे सुनिम्माओ ।
 सरवेह-छिज्ज-पवए, घड-पड-चिन्ने तहा धमए ॥
 जत्थ मई अणेगाहइ, जोगं जं जस्स तस्स तं कहए ।
 परिणामा-ऽऽगमसरिसं, संवेगकरं सनिव्वेयं ॥

(बृभा २३०-२३२)

आचार्य निपुण (सूक्ष्मग्राही) शिष्य को सूक्ष्म अर्थ बताए और स्थूलबुद्धि शिष्य को बुद्धिवर्धक स्थूल अर्थ बताये। कालान्तर में वह स्थूलबुद्धि शिष्य भी निपुण हो जाता है।

० सिद्धार्थ (सरसों के दाने)—स्थूल पदार्थों (काष्ठ, पत्थर आदि) को ग्रहण करने में प्रशिक्षित हाथी धीरे-धीरे सरसों के दानों को भी ग्रहण करने में निपुण हो जाता है।

इस विषय में स्वरवेध, पत्रछेद्य, प्लवक, घटकारक, पटकारक, चित्रकारक और धमक के दृष्टांत ज्ञातव्य हैं।

० स्वरवेध—जैसे धनुर्धर पहले स्थूल पदार्थों को बींधता है, फिर बालाग्र को तथा क्रमशः वह स्वरवेध—ध्वनि के आधार पर बींधने लग जाता है।

० पत्रछेद्य—पत्रछेदक प्रारंभ में सामान्य पत्रों को छेदता है। धीरे-धीरे वह इच्छित पत्रों के छेदन में निष्णात हो जाता है।

० प्लवक—नट प्रारंभ में बांस के सहारे अपने करतब दिखाता है, फिर निपुणता अर्जित कर बिना सहारे भी अनेक करतब दिखाने लग जाता है।

० घटकारक—कुंभकार पहले शराव (सिकोरे) आदि बनाता है, फिर प्रसिद्ध घटकारक बन जाता है।

- ० पटकार—तन्तुवाय पहले मोटे वस्त्र बुनता है, फिर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर वस्त्रों का निर्माण करने लग जाता है।
- ० चित्रकार—चित्रकार पहले टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं खींचना सीखता है, फिर वह चित्रकला में निपुण होकर सूक्ष्म चित्रांकन करने में भी निपुण हो जाता है।
- ० धमक—धमक (बजाने वाला) पहले सींग बजाना सीखता है, फिर शंख बजाने में भी निपुण हो जाता है।

जिस शिष्य का जितने आगम को ग्रहण करने का परिणाम हो, उसे जानकर आचार्य उसे उतना ही आगम पढ़ाए। फिर उसको धीरे-धीरे आगे बढ़ाए। शिष्य को संवेग तथा निर्वेद पैदा करने वाले आगम के अंशों को पुनः पुनः बताए।

८. अशिष्य आचार्यपद के अयोग्य

आयरियत्तणतुरितो, पुव्वं सीसत्तणं अकाऊणं ।
हिंडति चोप्पायरितो, निरंकुसो मत्तहत्थि व्व ॥

(बृभा ३७३)

कोई शिष्य पहले अपने शिष्यत्व को पूर्णरूप से स्थापित किए बिना आचार्य बनने की त्वरा करता है, वह अज्ञानी आचार्य के रूप में निरंकुश मत्त हाथी की भांति इतस्ततः धूमता रहता है।

९. अंतेवासी की विनयप्रतिपत्ति के प्रकार

तस्सेवं गुणजातीयस्स अंतेवासिस्स इमा चउव्विहा
विणयपडिवत्ती भवति, तं जहा—उवगरणउप्पायणया,
साहिल्लया, वण्णसंजलणता, भारपच्चोरुहणता ॥

(दशा ४/१९)

उपशम, सुप्रणिधान आदि गुणों से सम्पन्न अंतेवासी की चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति है—१. उपकरण उत्पादनता
२. सहायता ३. वर्णसंज्वलनता ४. भारप्रत्यवरोहणता।

उपकरणोत्पादनता के प्रकार

उवगरणउप्पायणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
अणुप्यण्णाइं उवगरणाइं उप्पात्ता भवति, पोरणाइं
उवगरणाइं सारक्खित्ता भवति, संगोवित्ता भवति, परित्तं
जाणित्ता पच्चुद्धरित्ता भवति, अहाविधिं संविभइत्ता
भवति ।

.....जति आयरितो सयमेव उवगरणं उप्पाएइ तो
वायणादि ण तरति दातुं, अतो सिस्सेण उप्पाएतव्वं उवगरणं
वत्थपत्तसंथारगादि ।...सारक्खति—काले पाउणति, जुत्तं
च सिव्वति, विधीए पाओणति । वासत्ताणं कालादीए संगो-
वति, जहा सेहादी ण हरंति ।...परित्तो अप्पोवहितो सुद्धो
वा, सगणित्तं अन्नगणित्तं वा साधुं आगतं उवगरणेण
उद्धरति अहाविधिं संविभइत्ता भवति । अहाविधी जहा
रातिणियाए जस्स वा जो जोग्गो । (दशा ४/२० चू)

उपकरण उत्पादनता के चार प्रकार हैं—

१. जो उपकरण प्राप्त नहीं हैं, उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। यदि आचार्य स्वयं उपकरणों की प्राप्ति में लग जाए तो वे शिष्यों को वाचना आदि नहीं दे सकते। इसलिए गण के लिए आवश्यक वस्त्र, पात्र, संस्तारक आदि की प्राप्ति के लिए शिष्य को ही प्रयत्नशील रहना चाहिए।

२. जो उपकरण पहले से संगृहीत हैं, उनका संरक्षण और संगोपन करना। संरक्षण करना अर्थात् उचित काल में उनका उपयोग करना, जो सीने योग्य हों उन्हें विधिपूर्वक सिलवाना, विधि से उनका प्रावरण करना।

संगोपन करना अर्थात् वर्षाऋतु आदि काल को ध्यान में रखकर वर्षात्राण आदि का संरक्षण करना, जिससे शैक्ष आदि उनका दुरुपयोग न करें।

३. उपकरणों को परीत—अल्प या उनका अभाव जानकर उनका प्रत्युद्धार करना—अपने गण के अथवा अन्य गण से आगत साधुओं के पास अल्प उपकरण हों अथवा उपकरण न हों तो उनकी यथायोग्य पूर्ति करना।

४. उपकरणों का यथाविधि संविभाग कर सबको देना। यथाविधि का अर्थ है—रत्नाधिक मुनियों के क्रम से जिसके लिए जो उपकरण योग्य हों, वैसे वितरण करना।

सहायता विनय के प्रकार

....साहिल्लया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
अणुलोमवइसहिते यावि भवति, अणुलोमकायकिरियता,
पडिरुवकायसंफासणया, सव्वत्थेसु अपडिलोमया ॥

(दशा ४/२१)

सहायता विनय के चार प्रकार हैं— १. अनुलोम वचन २. अनुलोम कायक्रिया ३. प्रतिरूप कायसंस्पर्श ४. सर्वार्थ अप्रतिलोमता।

ये चारों प्रतिरूप विनय के प्रकार भी हैं। (द्र विनय) वर्णसंज्वलनता विनय के प्रकार

.....वर्णसंज्वलनता चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
आहातच्चाणं वर्णवाइ भवति, अवण्णवातिं पडिहणित्ता
भवति, वर्णवातिं अणुवूहइत्ता भवति, आया वुड्ढुसेवी
यावि भवति ॥ (दशा ४/२२)

वर्णसंज्वलनता विनय के चार प्रकार हैं—

१. यथातथ्य गुणों का वर्णवादी होना।
२. अवर्णवादी को निरुत्तर करने वाला होना।
३. वर्णवादी के गुणों का अनुबृंहण करना।
४. स्वयं वृद्धों अथवा आचार्य की सतत पर्युपासना करना।

भारप्रत्यवरोहणता विनय के प्रकार

.....भारपच्चोरुहणता चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
असंगहियपरिजणं संगहित्ता भवति, सेहं आयासगोयं
गाहित्ता भवति, साहम्मियस्स गिलायमाणस्स अहाथामं
वेयावच्चे अब्भुट्टेत्ता भवति, साहम्मियाणं अधिकरणंस्सि
उप्पन्नंस्सि तत्थ अणिसितोवस्सिए अपक्खगाही मज्झत्थ-
भावभूते सम्मं ववहरमाणे तस्स अधिकरणस्स खामण-
विओसमणताए सया समियं अब्भुट्टेत्ता भवति, कहं नु
साहम्मिया अप्पसद्दा, अप्पझंझा अप्पकलहा अप्पतुमंतुमा
संजमबहुला संवरबहुला समाहिबहुला अप्पमत्ता संजमेण
तवसा अप्पाणं भावेमाणं णं एवं च णं विहरेज्जा ?।

भारपच्चोरुहणता—जधा राया अमात्यादीनां भारं
न्यस्य भोगान् भुंक्ते जधा वा आयरिएण अण्णस्स आयरि-
यस्स भारो पच्चोरुभित्ते, एवं आयरियस्स सुत्तत्थगण-
चिंतणाभारो, तं सीसो चेव सव्वं जं जं कायव्वं गच्छस्स
तं तं करेति ।.....असंगहितो रुट्ठो वाहिरं भावं वच्चति तं
संगेणहति ।.....पडिलेहण-आवस्सग-भिक्षुपाढादि गाहेति ।
समाणधम्मिओ साधम्मिओ, गिलाणो असुहिओ, आगाढा-
णागाढेणं अधाथामं जधासत्तीए वेतावच्चं उव्वत्तण-

मत्तग-विज्जोसहाहारे य अहाथामं अब्भुट्टेति ।.....अणिसितो-
वस्सितेति—निस्सा रागो, उवस्सा दोसो। (दशा ४/२३, चू)

जैसे राजा मंत्री आदि को राज्यभार सौंपकर (राज्यचिंता से मुक्त होकर) भोग भोगता है, वैसे ही आचार्य भी अपना भार दूसरे आचार्य (शिष्य) को सौंपकर निश्चित हो जाता है। आचार्य पर भार रहता है—सूत्र और अर्थ की वाचना देना तथा गण की चिन्ता करना। भार सौंपने के पश्चात् यह सारा कार्य शिष्य (आचार्य) संपादित करता है। गच्छ के लिए जो-जो करणीय होता है, वह सारा शिष्य करता है। यह भार-प्रत्यवरोहणता है।

उसके चार प्रकार हैं—

१. असंगृहीत-संगृहीत—रुष्ट अथवा असंयम में प्रस्थित शिष्य को संगृहीत—संयम में स्थापित करना।
२. शैक्षआचारग्राहिता—शैक्ष शिष्य को आचारविषयक प्रशिक्षण देना। प्रतिलेखन, आवश्यक, भिक्षा, सूत्रपाठ आदि की विधियां बताना।
३. साधर्मिक वैयावृत्त्य—ग्लान साधर्मिक के वैयावृत्त्य में यथाशक्ति प्रवृत्त होना—उद्धर्तन, मात्रक, वैद्य, औषधि, आहार आदि की व्यवस्था करना।
४. अधिकरण शमन—साधर्मिकों में परस्पर कलह उत्पन्न होने पर निजी शिष्य और प्रतीच्छक के प्रति अनिश्रितोपश्रित—निश्रा और उपश्रा से मुक्त, निष्पक्ष होकर मध्यस्थभाव से सम्यक् व्यवहार द्वारा उस कलह के क्षमापन और शमन के लिए सदा सम्यक् अभ्युत्थान करना। निश्रा का अर्थ है—राग और उपश्रा का अर्थ है—द्वेष।

साधर्मिक कोलाहलपूर्ण शब्दों से मुक्त, वाचिक कलह से मुक्त, झगड़े से मुक्त, तू-तू से मुक्त, संयमबहुल, संवरबहुल, समाधिबहुल, अप्रमत्त तथा संयम और तप से अपने को भावित करते हुए कैसे विहरण करें ? इसके लिए अभ्युद्यत रहना।

* सुविनीत अंतेवासी के कर्त्तव्य..... द्र. श्रीआको १ शिष्य
अगुरुलघु—भारहीन द्रव्य, वे द्रव्य जिनके पर्याय न गुरु होते हैं और न लघु। द्र द्रव्य

अधिकरण—हिंसाकारक साधनों का निर्माण, प्रयोग आदि। कलह। कषायों के उदय से होने वाली प्रवृत्ति।

१. द्रव्य-भाव अधिकरण।
२. द्रव्य अधिकरण क्रिया : निर्वर्तना आदि
३. निर्वर्तना : तीक्ष्ण शस्त्रनिर्माण से तीव्र कर्मबंध
४. शरीर निर्वर्तना : अश्व-उत्पादन आदि
 - मूल-उत्तर गुण निर्वर्तना : शरीर संघात-परिशाट करण
५. निक्षेपणा-संयोजना-निसर्जना अधिकरण
 - संयोजना अधिकरण : कर्मबंध में नानात्व
६. भाव अधिकरण (कलह) के निर्वचन
७. अधिकरण के पर्याय
८. अधिकरण-उत्पत्ति के छह हेतु
९. कलहशमन से पूर्व आहार आदि का निषेध
१०. कलह-उपशमन से आराधना
 - कलह-शमन विधि
 - कलह-शमन का एक उपाय : संवाद स्थापन
११. आचार्य द्वारा प्रेरणा : चार स्मरणा काल
१२. अनुपशांत की गच्छ में रहने की अवधि
१३. अधिकरण (कषाय) से उत्पन्न दोष
 - * कषाय से चारित्र-हानि : शमी-शाकपत्र दृष्टांत द्र कषाय
१४. वैर के प्रकार, कलह-जन्य वैर की भय-परम्परा
१५. कलह-उपेक्षा कैसे ?
१६. कलह-उपेक्षा से सर्वनाश : गिरगिट-हृथी दृष्टांत
 - * कलह उत्पन्न करना असमाधिस्थान द्र सामाचारी
१७. कलह-उत्पत्ति और प्रायश्चित्त
 - कलह निवारण न करने पर प्रायश्चित्त
१८. पर्युषणा में क्षमायाचना अनिवार्य
 - दृष्टांत : दुरूतक और द्रमक
 - प्रद्योत-उद्रायण
 - * क्षमायाचना से गुण-निष्पादन द्र जिनकल्प

१. द्रव्य अधिकरण—यंत्रों का निर्वर्तन आदि।

२. भावअधिकरण—क्रोध आदि कषायों का उदय।

२. द्रव्य अधिकरण क्रिया : निर्वर्तना आदि

द्रव्यमि उ अहिगरणं, चउव्विहं होइ आणुपुव्वीए।
निव्वत्तण निव्विखवणे, संजोयण निसरणे य तहा ॥
अहिकरणं समासओ दुविहं।
णिव्वत्तणताए वा, संजोगे चेवऽणोवविधं ॥
या प्रथमतो घटना सा निर्वर्तना, या पुनस्तेषामेव
निर्वर्तितानामेकत्र संघातना सा संयोजना।

(बृभा २६८१, ३९४२ वृ)

द्रव्य अधिकरण के चार प्रकार हैं—निर्वर्तना, निक्षेपणा, संयोजना और निसर्जना।

संक्षेप में अधिकरण के दो प्रकार हैं—

१. निर्वर्तना अधिकरण क्रिया—नए सिरे से शस्त्रनिर्माण की क्रिया।

२. संयोजनाधिकरणक्रिया—पूर्व निर्मित भागों को जोड़कर शस्त्रनिर्माण करने की क्रिया।

इनके उत्तर भेद अनेक हैं।

(शस्त्रनिर्माण की पृष्ठभूमि में है—अविरति और निर्माण की प्रक्रिया है—दुष्प्रवृत्ति। द्र भ ३/१३४ का भाष्य)

३. निर्वर्तना : तीक्ष्ण शस्त्रनिर्माण से तीव्र कर्मबंध

एगो करेति परसुं, णिव्वत्तेति णखछेदणं अवरो।
कुंत-कणगे य वेच्चे, आरिय सुई अ अवरो उ ॥
सुईसुं पि विसेसो, कारणसुईसु सिव्वणीसुं च।
संगामिय परियाणिय, एमेव य जाणमादीसु ॥
कारग-करेतगाणं, अधिकरणं चेव तं तहा कुणति।
जह परिणामविसेसो, संजायति तेसु वत्थसु ॥

या: परव्यपरोपणादिकारणमुद्दिश्य कारयित्वा परस्य
नखमूलादौ कुट्यन्ते ता: कारणसूच्य उच्यन्ते, तासु विधीय-
मानासु महान् कर्मबन्धो भवति। यास्तु वस्त्रसीवनार्थं क्रियन्ते
तासु स्वल्पतर: कर्मबन्ध:। (बृभा ३९४३-३९४५ वृ)

(अधिकरण के आधार पर क्रिया होती है और क्रिया के आधार पर कर्मबंध।)

१. द्रव्य-भाव अधिकरण

.....द्रव्यमि जंतमादी, भावे उदओ कसायाणं ॥

(बृभा २६८०)

अधिकरण के दो प्रकार हैं—

एक लोहकार कुठार बनाता है, दूसरा नखच्छेदनिका बनाता है। एक व्यक्ति भाला, बाण, शक्ति, शूल आदि शरीरवेधक शस्त्रों का निर्माण करता है। दूसरा आरिका या सूई बनाता है। जो कुठार, भाला, बाण आदि बनाता है, वह तीव्र कर्मबंध करता है और जो नखच्छेदनी, आरिका, सूची आदि बनाता है, वह स्वल्प कर्मबंध करता है।

सूची के दो प्रकार हैं—कारणसूची और सिलाई की सूची। कारणसूची शत्रु का व्यपरोपण आदि करने के लिए नखों में डाली जाती है। जो इस सूची का निर्माण करता है, वह घोर कर्मों का बंध करता है और जो सिलाई की सूची का निर्माण करता है, वह अल्प कर्मों का बंध करता है। वैसे ही संग्राम में काम आने वाले यान आदि का निर्माण करने वाला महान् कर्मबंध करता है। गमनागमन हेतु वाहन का निर्माण करने वाला स्वल्प कर्मबंध करता है।

परिणामधारा की विचित्रता के कारण विचित्र कर्मबंध होता है। शस्त्रनिर्माण करते-करवाते समय कुंत आदि वस्तुओं के प्रति वैसी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। (यथा—मैं इन शस्त्रों से शत्रु को मारूंगा—यह संक्लिष्ट अध्यवसाय तीव्र कर्मबंध का हेतु बनता है।)

४. शरीर निर्वर्तना : अश्व उत्पादन आदि

ओरालियं एगिंदियादि पंचविधं, तं 'जोगिपाहु-डातिणा' जहा सिद्धसेणायरिएण अस्साए कता। जहा वा एणेण आयरिएण सीसस्स उवदिट्ठो जोगो जहा महिसो भवति। तं च सुयं आयरियस्स भाइणितेण। सो य णिद्धम्मो उण्णिक्खंतो महिसं उप्पादेउं सोयरियाण हट्ठे विक्किणति। आयरिएण सुयं। तत्थ गतो भणेति—किं ते एएण ? अहं ते रयणजोगं पयच्छामि दव्वे आहराहि ते य आहरिता, आयरिएण संजोतिता, एगंते थले णिक्खिता, भणितो एत्तिएण कालेण ओक्खणेज्जाहि, अहं गच्छामि, तेण उक्खत्तो दिट्ठीविसो सप्पो जातो, सो तेण मारितो, अधिकरणच्छेओ, सो वि सप्पो अंतोपुहुत्तेण मओ।

(निभा १८०४ की चू)

योनिप्राभृत आदि ग्रंथों के आधार पर एकेन्द्रिय यावत्

पंचेन्द्रिय प्राणियों के औदारिक शरीर का निर्वर्तन किया जा सकता है। आचार्य सिद्धसेन ने अपने भक्त राजा की प्रार्थना पर अश्वों का उत्पादन किया था।

एक बार एक आचार्य अपने शिष्यों को महिषों के उत्पादन का योग बता रहे थे। उस योग का पूरा विवरण आचार्य के भानजे ने सुन लिया। वह हिंसक वृत्ति का था। वह उस योग के अनुसार महिषों का उत्पादन करता और कसाई को बेच देता। आचार्य ने यह सुना। वे उसके पास गए और बोले—अरे ! इससे क्या ? मैं तुझे रत्न उत्पादन का योग बताऊंगा। तुम अमुक-अमुक द्रव्य ले आओ। वह सारे द्रव्य ले आया। आचार्य ने उनकी संयोजना कर, एकान्त में स्थापित कर उससे कहा—इतना समय बीतने पर इसको उठाना। मैं जा रहा हूँ। समय बीतने पर उसने उसे उठाया। उससे एक दृष्टिविष सर्प निकला, जिससे वह वहीं मर गया। अन्तर्मुहूर्त के बाद वह सर्प भी मर गया।

वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरे अपि यन्निष्कारणे निर्वर्त-
यति, परशु-कुन्तादीनि वा करोति, तन्निर्वर्तनाधिकरण-
मुच्यते। (बृभा २६८१ की वृ)

वैक्रिय शरीर और आहारक शरीर का भी निष्कारण निर्माण करना, अथवा परशु, कुंत आदि का निर्वर्तन करना निर्वर्तना अधिकरण कहलाता है।

० मूलउत्तरगुणनिर्वर्तना : शरीर संघात-परिशाटकरण निव्वत्तणा य दुविधा, मूलगुणे चैव उत्तरगुणे य। मूले पंचसरीरा, दोसु तु संघातणा णत्थि॥ संघातणा य पडिसाडणा य उभयं व जाव आहारं। उभयस्स अणियतठिती, आदि अंतेगसमओ तु॥ हविपूयो कम्मगरे, दिट्ठता होति तिसु सरीरेसु। कण्णे य खंधवण्णे, उत्तरकरणं व तीसु तु॥ संघाडणा य परिसाडणा य मोसे तहेव पडिसेहो।
(निभा १८०१-१८०४)

निर्वर्तनाधिकरण के दो प्रकार हैं—

१. मूलगुण निर्वर्तना—यह पांच शरीरों से संबंधित है। तैजस और कामण-शरीर में संघात नहीं होता, क्योंकि ये अनादि हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक में संघात, परिशाट और उभय (संघात-परिशाट)—तीनों होते हैं। उभय की स्थिति अनियत है। संघात और परिशाट एक सामयिक है। संघात प्रथम क्षण में और परिशाट अंतिम क्षण में होता है।

० घृतपूष दृष्टांत—पूष को घी में डाला जाता है। वह प्रथम समय में एकांत रूप से घी को ग्रहण करता है, दूसरे, तीसरे आदि क्षणों में ग्रहण और मोचन दोनों करता है।

० लोहकार दृष्टांत—लोहकार तप्त लोहे को जल में डालता है। लोह प्रथम समय में एकांत जलग्रहण करता है, अगले क्षणों में ग्रहण और मोचन दोनों क्रियाएं होती हैं।

इसी प्रकार औदारिक आदि प्रथम तीन शरीरों में प्रथम समय में संघात और अगले क्षणों में संघात-परिशाट होता है।

तैजस और कर्मण शरीर में अनादि होने के कारण सब क्षणों में संघातपरिशाट होता है।

चरमशरीरी के अंतिम क्षण में पांचों शरीरों का सर्वपरिशाट (पूर्ण परित्याग) होता है।

अथवा औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के सिर, उर, उदर, पृष्ठ, बाहुद्वय, ऊरुद्वय—ये आठ अंग मूलकरण निर्वर्तन हैं, शेष अंगोपांग उत्तरकरण निर्वर्तन हैं।

२. उत्तरगुण निर्वर्तना—प्रथम तीन शरीरों में उत्तरकरण है—कर्णवेधकरण, स्कंधकरण और घृत आदि से वर्णकरण।

* शरीर-संघातपरिशाटकरण, द्रव्यकरण द्र श्रीआवो १ शरीर

५. निक्षेपणा-संयोजना-निसर्जना अधिकरण

गल-कूड पासमादी, उ लोइया उत्तरा चउविकप्या।

पडिलेहणा पमज्जण, अधिकरणं अविधि-णिविखवणा ॥

विसगरमादी लोए, उत्तरसंयोग मत्तउवहिम्मि।

अंतो बहि आहारे, विहि अविधि सिव्वणाउवधी ॥

कंडादि लोअ णिसिरण, उत्तर सहसा पमायण्णाभोगे।”

(निभा १८०५-१८०७)

० निक्षेपणा अधिकरण—इसके दो प्रकार हैं—

१. लौकिक निक्षेपणा—मत्स्य को पकड़ने के लिए गल (लोहकण्टक), मृग आदि को फंसाने के लिए कूट, लावक आदि को पकड़ने के लिए जाल आदि का निक्षेपण करना।

२. लोकोत्तर निक्षेपणा—पात्र-उपकरण रखते समय प्रत्युपेक्षा-प्रमार्जन संबंधी दोष लगाना। इसके चार विकल्प हैं—

प्रतिलेखना नहीं करता, प्रमार्जन नहीं करता।

प्रतिलेखन नहीं करता, प्रमार्जन करता है।

प्रतिलेखन करता है, प्रमार्जन नहीं करता।

दुष्प्रतिलेखन-दुष्प्रमार्जन करता है।

अविधि से निक्षेपणा के कारण ये चारों विकल्प अधिकरण हैं।

सुप्रतिलेखन और सुप्रमार्जन अधिकरण नहीं हैं।

(आहार-पानी के पात्रों को खुला रखना भी निक्षेपणा अधिकरण है।)

० संयोजना अधिकरण—इसके दो प्रकार हैं—

१ लौकिक संयोजना—विष, गर (जिसे खाने से सहसा मृत्यु नहीं होती) आदि को निष्यन्न करने हेतु द्रव्यों की संयोजना करना। अनेक रोगोत्पादक द्रव्यों को संयुक्त करना।

२. लोकोत्तर संयोजना—आहार, उपधि आदि की संयोजना। वसति के भीतर या बाहर क्षीर में खांड, मण्डक में गुड़ आदि मिलाया, यह आहार संयोजना है।

निष्कारण या अविधि से वस्त्र आदि सीना उपधि संयोजना हैं।

० निसर्जना अधिकरण—इसके दो प्रकार हैं—

१. लौकिक निसर्जना—बाण, शक्ति, गोफण, पाषाण, चक्र आदि फेंकना।

२. लोकोत्तर निसर्जना—सहसा, प्रमाद से या विस्मृति से निसर्जन करना, भोजन में गिरे हुए कंकर आदि को निकालकर फेंकना।

० संयोजना अधिकरण : कर्मबंध में नानात्व

संजोययते कूडं, हलं पडं ओसहे य अण्णोण्णे।

भोयणविहिं च अण्णे, तत्थ वि णाणत्तगं बहुहा ॥

यः कूटं संजोययति तस्य संक्लिष्टपरिणामतया तीव्रतरः कर्मबन्धः, तदपेक्षया हलं संजोययतः स्वल्पतरः, पटं संजोययतः स्वल्पतम इत्यादि। (बृभा ३९.४६ वृ)

कोई लुब्धक मृग आदि को फंसाने के लिए कूटयंत्र को रज्जु आदि से संयोजित करता है। कृषक क्षेत्रकर्षण के लिए

हल को युग आदि से संयोजित करता है। कोई वस्त्र को दूसरे वस्त्र के साथ सिलाई के प्रयोग से संयुक्त करता है। कोई वैद्य औषधिहेतुक हरीतकी, पिप्पली आदि अन्य द्रव्य परस्पर मिलाता है। कोई भोजन के लिए चावल, दाल, घी आदि की संयोजना करता है। इन सब क्रियाओं में कर्मबंध का नानात्व होता है। जो कूट-संयोजना करता है, उसके संक्लिष्ट परिणामों के कारण तीव्रतर कर्मबंध होता है। जाल बनाने वाले की अपेक्षा से हल योजित करने वाले के स्वल्पतर, वस्त्र की संयोजना करने वाले के स्वल्पतम कर्मबंध होता है।

६. भाव अधिकरण (कलह) के निर्वचन

.....अद्धितिकरणं च तद्वा, अधीकरणं च अहीकरणं ॥

भावाधिकरणं कर्मबंधकारणं । "अहीकरणं" अधीः

अबुद्धिमान् पुरुषः, स तं करोतीत्यधिकरणं ।

(निभा २७७२ चू)

जो कषायभाव या अशुभभाव रूप शस्त्र से युक्त है, वह साधिकरण है।

जो कर्मबंध का कारण है, वह भावाधिकरण है। धृतिहीन व्यक्ति जिसे करता है, वह अधीकरण/अधिकरण है। बुद्धिविहीन व्यक्ति जिसे करता है, वह अधीकरण (अधिकरण/ कलह) है।

अधिक्रियते—नरकगतिगमनयोग्यतां प्राप्यते आत्मा
अनेनेत्यधिकरणं कलहः प्राभृतमित्येकोऽर्थः ।

(क १/३४ की वृ)

जीव जिसके द्वारा नरकगतिगमन की योग्यता अधिकृत/प्राप्त करता है, वह अधिकरण है। कलह और प्राभृत इसके एकार्थक हैं।

७. अधिकरण के पर्याय

....पाहुड पहेण पणयण, एग्गुहा ते उ निरयस्स ॥

अधिकरणं नरकस्य —सीमन्तकादेः प्राभृतमिव
प्राभृतमुच्यते। (बृभा २६७८ वृ)

प्राभृत, प्रहेणक और प्रणयन—ये तीनों अधिकरण के पर्यायवाची नाम हैं।

अथवा प्राभृत आदि तो नरक के एकार्थक हैं, क्योंकि नरक के सीमन्तक आदि के प्राभृत की तरह जो प्राभृत है, वह अधिकरण है।

८. अधिकरण-उत्पत्ति के छह हेतु

सच्चित्ते अच्चित्ते, मीस वओगय परिहार देसकहा ।
सम्ममणाउट्टंते, अहिगरणमओ समुप्पज्जे ॥
आभव्वमदेमाणे, गिण्हंत तहेव मग्गमाणे य ।
सच्चित्तेतरमीसे, वितहापडिबत्तिओ कलहो ॥
विच्चाभेलण सुत्ते, देसीभासा पवंचणे चेव ।
अन्नम्मि य वत्तच्चे, हीणाहिय अक्खरे चेव ॥
परिहारियमठवेत्ते, ठवियमणट्ठाए निव्विसंते वा ।
कुच्छियकुले व पविसइ, चोइयऽणाउट्टणे कलहो ॥
देसकहापरिकहणे, एक्के एक्के व देसरागम्मि ।
मा कर देसकहं ति य, चोइय अठियम्मि अहिगरणं ॥
(बृभा २६९३-२६९७)

अधिकरण की उत्पत्ति के मुख्य छह कारण हैं—
सचित्त, अचित्त, मिश्र, वचोगत, परिहारकुल और देशकथा—
इनसे संबंधित असद् प्रवृत्ति के निवारण की प्रेरणा के पश्चात्
सम्यक् प्रवृत्त न होने पर कलह उत्पन्न होता है।

१-३. सचित्त, अचित्त, मिश्र—शैक्ष, वस्त्र-पात्र अथवा उपकरण
सहित शैक्ष—ये जिनके हैं, उन्हें नहीं सौंपा जाता है, अनधिकृत
को ग्रहण किया जाता है या पूर्वगृहीत की मार्गणा की जाती
है, उसे अस्वीकृत करने पर वितथ प्रतिपत्ति के कारण कलह
हो सकता है।

४. वचोगत—शिष्य द्वारा एक सूत्र का दूसरे सूत्र में मिश्रण कर
परावर्तन किया जाता है, सूत्रपदों के उच्चारण में अक्षरों की
न्युनाधिकता की जाती है, उसे प्रेरणा देने पर वह सम्यक्
प्रवृत्त नहीं होता, तब कलह हो सकता है। देशांतर में देशी
भाषा के प्रयोग का उपहास किये जाने पर, दूसरों के शब्दों का
अनुकरण (नकल) करने पर तथा वक्तव्य वचनों में व्यत्यय
करने पर कलह हो सकता है।

५. परिहार कुल—स्थापना कुलों की स्थापना न करने पर,
स्थापित कुलों में निष्कारण प्रवेश करने पर अथवा कुत्सित

कुलों में प्रवेश करने पर निषेध किया जाता है। निषेध करने पर भी प्रवेश से उपरत नहीं होने पर कलह हो सकता है।

६. देशकथा—देशानुराग के कारण अपने-अपने देश की गौरवगाथा करने पर परस्पर एक-दूसरे की हीनता दिखाने का प्रयत्न होने पर कलह हो सकता है।

देशकथा, भक्तकथा, स्त्रीकथा तथा राजकथा हमारे लिए करणीय नहीं है—ऐसा कहने पर भी कोई विकथा से विरत नहीं होता है, तब कलह हो सकता है।

९. कलह-शमन से पूर्व आहार आदि का निषेध

भिक्षु य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवेत्ता नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा विवार-भूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, गामाणुगामं वा दूइज्जित्तए, गणाओ वा गणं संकमित्तए, वासावासं वा वत्थए। (क ४/२६)

भिक्षु अधिकरण कर उस अधिकरण का व्युपशमन किए बिना गृहपति के घर में आहार या पानी के लिए गमन और प्रवेश नहीं कर सकता, बाहर विचारभूमि और विहारभूमि में नहीं जा सकता, प्रवेश नहीं कर सकता, ग्रामानुग्राम विहरण, एक गण से दूसरे गण में संक्रमण नहीं कर सकता और वर्षावास में स्थित नहीं हो सकता।

१०. कलह-उपशमन से आराधना

भिक्षु य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं विओसवित्ता विओसवियपाहुडे इच्छाए परो आढाएज्जा, इच्छाए परो नो आढाएज्जा, इच्छाए परो अब्भुट्टेज्जा, इच्छाए परो नो अब्भुट्टेज्जा, इच्छाए परो वंदेज्जा, इच्छाए परो नो वंदेज्जा, इच्छाए परो संभुंजेज्जा, इच्छाए परो नो संभुंजेज्जा, इच्छाए परो संवसेज्जा, इच्छाए परो नो संवसेज्जा, इच्छाए परो उवसमेज्जा, इच्छाए परो नो उवसमेज्जा। जे उवसमइ, तस्स अत्थि आराहणा, जे न उवसमइ, तस्स नत्थि आराहणा। तम्हा अण्णणा चव उवसमियव्वं।

से किमाहु भंते ? उवसमसारं सामण्णं।

(क १/३४)

किसी के साथ कलह होने पर भिक्षु उसका उपशमन

कर दे। कलह का उपशमन कर देने पर सामने वाला उसे बहुमान दे या न दे, उसके आने पर खड़ा हो या न हो, उसे वन्दन करे या न करे, उसके साथ भोजन करे या न करे, उसके साथ रहे या न रहे, वह कलह का उपशमन करे या न करे, यह उसकी इच्छा है। जो कलह का उपशमन करता है, उसके आराधना होती है। जो उपशमन नहीं करता, उसके आराधना नहीं होती। इसलिए व्यक्ति अपनी ओर से कलह का उपशमन करे।

भंते! ऐसा क्यों कहा गया ?

श्रामण्य का सार है—उपशम।

० कलह-शमन विधि

तं जत्तिएहि दिट्ठं, तत्तियमेत्ताण मेलणं काउं।
गिहियाण व साधूण व, पुरतो च्चिय दो वि खामंति ॥
नवणीयतुल्लहियया, साहू एवं गिहिणो तु नाहेत्ति।
न य दंडभया साहू, काहिंती तत्थ वोसमणं ॥
चित्तिओ जदि न उवसमे, गतो य सो अन्नदेसं तु ॥
गंतुं खामेयव्वो अधव न गच्छेज्जमेहि दोसेहिं।
नीयल्लगउवसग्गो, तहियं गतस्स व होज्जा तु ॥
अह नत्थि कोवि यच्चंतो, ताथे उवसमेती अण्णणा।
खामेती जत्थ णं, मिलती अदिट्ठे गुरुणांतियं ॥

(व्यभा २९९७-२९९९, ३००१, ३००६)

परस्पर कलह होने पर जितने गृहस्थों या साधुओं ने उसे देखा है, उन सबको एकत्रित कर उनके सम्मुख क्षमा का आदान-प्रदान करना चाहिए। इससे अनेक लाभ होते हैं—

गृहस्थ और शैक्ष साधु उस दृश्य को देख यह सोचते हैं—अहो! साधुओं का हृदय नवनीत की भांति कोमल होता है तथा उन्हें (दर्शकों को) यह भी बोध हो जाता है कि साधु कलह उत्पन्न होने पर उपशमन/क्षमायाचना-क्षमादान कर्मक्षय के लिए करते हैं, दण्ड के भय से नहीं।

यदि अनुपशांत अवस्था में एक साधु अन्यत्र सुदूर क्षेत्र में चला गया हो तो दूसरा साधु वहां जाकर क्षमायाचना करे। वैयावृत्त्यकरण, बीहड़ मार्ग, स्वजनों का उपसर्ग आदि-आदि कारणों से स्वयं वहां न जा सके और कोई भद्र श्रावक उस क्षेत्र

में जा रहा हो, तो उसके साथ क्षमा का संदेश भेजे।

यदि संदेशवाहक न मिले तो स्वयं अपने मन से कलह का भाव सर्वथा समाप्त कर दे। फिर कभी कहीं मिले, वहीं क्षमायाचना करे। यदि कभी कहीं मिलने की संभावना न हो तो अपने गुरु के पास जाकर उसका स्मरण कर मानसिक संकल्प के साथ उससे क्षमायाचना करे।

० कलहशमन का एक उपाय : संवाद-स्थापन

“दोसं, इवन्ति तिकखाइ-महुरेहिं ॥
अवराह तुलेऊणं, पुव्ववरद्धं च गणधरा मिलिया।
बोहित्तुमसागारिणं, दिंति विसोहिं खमावेउं ॥
(बृभा २२३०, २२३१)

आचार्य तीक्ष्ण-मधुर वचनों से कलह को शांत करते हैं। दो गच्छों के दो व्यक्तियों में परस्पर कलह होने पर दोनों गच्छों के आचार्य मिलकर उन दोनों की बात सुनते हैं। फिर परस्पर संवाद स्थापित कर जिसने पहले अपराध किया है, उसे एकांत में प्रतिबोध देकर दूसरे अपराधी से क्षमायाचना का निर्देश देते हैं। क्षमायाचना के पश्चात् दोनों को प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते हैं।

११. आचार्य द्वारा प्रेरणा : चार स्मरणा काल

गच्छा अण्णगयस्सा, अणुवसमंतस्सिमो विही होइ।
सज्झाय भिक्ख भत्तडु, वासए चउर एक्केक्के ॥
“न वि पट्टवेत्ति उवसम, कालो ण सुद्धो जियं वा सिं ॥
णोतरणे अभत्तट्ठी, ण व वेला अभुंजणे ण जिण्णं सिं।
ण पडिक्कमंति उवसम, णिरतीयारा णु पच्चाह ॥
एवं दिवसे दिवसे, चाउक्कालं तु सारणा तस्स” ॥
एवं तु अगीतत्थे, गीतत्थे सारिए गुरू सुद्धो।
जति तं गुरू ण सारे, आवत्ती होइ दोण्हं पि।
गच्छो य दोन्नि मासे, पक्खे पक्खे इमं परिहवेत्ति।
भत्तट्टुण सज्झायं, वंदण लावं ततो परेणं ॥
(बृभा ५७६२-५७६४, ५७६६-५७६८)

कलह के पश्चात् यदि मुनि गच्छ में ही स्थित है किन्तु उपशांत नहीं हुआ है, उसके लिए यह विधि है—
आचार्य प्रतिदिन उसे चार बार प्रेरित करें—

१. स्वाध्यायकाल में—आचार्य उससे कहे—ये साधु स्वाध्याय की प्रस्थापना नहीं कर पा रहे हैं, अतः तुम शांत हो जाओ।

यदि वह प्रत्युत्तर में कहे—अभी काल शुद्ध नहीं है अथवा साधुओं के सूत्र तो परिचित ही है—ऐसा कहने पर साधु स्वाध्याय प्रारंभ कर दें।

२. भिक्षावेला में—आचार्य उससे कहे—साधु भिक्षा के लिए नहीं जा रहे हैं, तुम शांत हो जाओ।

ये तपस्वी हैं अथवा भिक्षा का समय नहीं हुआ है इसलिए नहीं जा रहे हैं’—उसके ऐसा कहने पर साधु भिक्षा के लिए चले जाते हैं।

३. आहार के समय—आचार्य उससे कहे—साधु आहार नहीं कर रहे हैं, तुम शांत हो जाओ।

वे अजीर्ण के कारण आहार नहीं कर रहे हैं—उसके ऐसा कहने पर सब साधु मंडलीभोजन करते हैं।

४. प्रतिक्रमण के समय—आचार्य उससे कहे—साधु प्रतिक्रमण नहीं कर पा रहे हैं, तुम शांत हो जाओ। वह कहता है—वे निरतिचार हैं, तब सब प्रतिक्रमण करते हैं।

इस प्रकार प्रतिदिन के ये चार स्मरणाकाल हैं। यह विधि अगीतार्थ के लिए है। गीतार्थ के लिए एक दिन में चारों स्थानों की स्मरणा कराने वाले आचार्य शुद्ध हैं। यदि आचार्य अनुपशांत मुनि को स्मरणा नहीं कराते हैं तो दोनों प्रायश्चित्त के भागी हैं।

गच्छ और स्मरणा की अवधि—गच्छ दो मास तक प्रतिदिन स्मरणा कराये। तत्पश्चात् प्रत्येक पक्ष में एक-एक स्थान का वर्जन करे। यथा—प्रथम पक्ष के बाद उसके साथ मण्डली भोजन का, दूसरे पक्ष के बाद स्वाध्याय का, तीसरे पक्ष के बाद वंदना-व्यवहार का और चौथे पक्ष के बाद आलाप-संलाप का वर्जन करे।

१२. अनुपशांत की गच्छ में रहने की अवधि

संवच्छरं च रुद्धं, आयरिओ रक्खती पयत्तेणं।
जति णाम उवसमेज्जा, पव्वतराजी सरिसरोसो ॥
अण्णे दो आयरिया, एक्केक्कं वरिसमुवमेंतस्स।
तेण परं गिहि एसो, बितियपदं रायपव्वतिए ॥

एमेव गणाचरिए, गच्छम्मि तवो तु तिण्णि पक्खाइ ।
 दो पक्खा आयरिए..... ॥
 (निभा २८०७-२८०९)

आचार्य अनुपशांत शिष्य को शांत होने की संभावना से एक वर्ष तक प्रयत्नपूर्वक अपने पास रखे। जो वर्ष भर में भी शांत नहीं होता, उसका रोष पत्थर की रेखा के समान होता है।

एक वर्ष बीतने पर उसे अन्य दो आचार्यों के संरक्षण में एक-एक वर्ष तक रखा जाता है। जो आचार्य उसे उपशांत करता है, वह उसी का शिष्य हो जाता है। उपशांत न होने पर तृतीय वर्ष के पश्चात् उसे गृहस्थ बना दिया जाता है। प्रव्रजित राजा आदि इसके अपवाद हैं। संघ उनके लिंग का अपहार नहीं करता।

इसी प्रकार उपाध्याय और आचार्य अनुपशांत होकर गच्छ में रहते हैं तो उपाध्याय को तीन पक्ष और आचार्य को दो पक्ष तक तप तथा उसके बाद छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१३. अधिकरण (कषाय) से उत्पन्न दोष

तावो भेदो अयसो, हाणी दंसण-चरित्त-नाणाणं ।
 साहुपदोसो संसारवड्डणो साहिकरणस्स ॥
 अइभणियअभणिए वा, तावो भेदो उजीव चरणे वा ।
 रूवसरिसं न सीलं, जिहं व मणे अयस एवं ॥
 अक्कुद्धतात्तिए वा, पक्खापक्खि कलहम्मि गणभेदो ।
 वत्तकलहो वि न पढइ, अवच्छलत्ते य दंसणे हाणी ।
 जह कोहाइविवड्डी, तह हाणी होइ चरणे वि ॥
 अकसायं खु चरित्तं, कसायसहितो न संजओ होइ ।
 साहूण पदोसेण च, संसारं सो विवड्डेइ ॥
 (बृभा २७०८-२७१२)

कलह या कषाय के कारण छह दोष उत्पन्न होते हैं—

१. ताप (पश्चात्ताप), २. भेद, ३. अपयश, ४. ज्ञान-दर्शन-चारित्र की हानि, ५. साधुप्रद्वेष, ६. संसारवृद्धि।

१. ताप—इसके दो प्रकार हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। अधिक बोलने वाला कलहकारी सोचता है—थिक्कार है मुझे। मैंने उस साधु पर अनेक असत्य आरोप लगाए, उस पर आक्रोश किया—यह प्रशस्त ताप है। मौन रहने वाला सोचता है—कलह

के समय मैं कुछ नहीं कह पाया। मैं मंदभाग्य हूँ, विस्मरणशील हूँ। उस समय मैं उसके जाति आदि के मर्म को प्रगट नहीं कर सका। यह अप्रशस्त ताप है।

२. भेद—कलह होने के बाद पश्चात्ताप से तप्त चित्त से वह जीवन और चारित्र का भेद कर सकता है। आक्रोश-ताड़नाजन्य पक्षापक्षी (पक्षपात) के कारण गण में भेद हो सकता है।

३. अयश—लोग कहने लगते हैं—इसका बाह्यरूप प्रशांत प्रतीत होता है, परन्तु इसका मनःप्रणिधान उसके अनुरूप नहीं है। कोई कहता है—क्या यह मानूँ कि इसने कोई लज्जनीय कार्य किया है, जिससे इसका मुख म्लान हो रहा है।

४. ज्ञान-दर्शन-चारित्र की हानि—कलह करने के बाद वह कषायकलुषित चित्त वाला मुनि पढ़ नहीं सकता। उसके ज्ञान की हानि होती है। साधर्मिक वात्सल्य विराधित होने के कारण दर्शन की परिहानि तथा कषायों की वृद्धि के कारण चारित्र की हानि होती है।

५. साधुप्रद्वेष—कलहकारी के मन में साधुओं के प्रति प्रद्वेष होता है। वह किसी के साथ मैत्रीभाव नहीं रख सकता।

६. संसारवर्द्धन—चारित्र कषायरहित ही होता है। जो कषायसहित है, वह संयत ही नहीं है—यह निश्चयनय का अभिप्राय है। कलहकारी दीर्घसंसारी होता है। वह निरंतर कर्मबंध करता रहता है।

१४. वैर के प्रकार, कलह-जन्य वैर की भव-परंपरा नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य भाववेरे य ।
 तं महिस-वसभ-वग्घा-सीहा नरएसु सिञ्जणया ॥
 (बृभा २७६२)

कलह के कारण ही वैर उत्पन्न होता है और जब वह वैर बद्धमूल हो जाता है तब उसकी परम्परा जन्म-जन्मान्तरों तक चलती है।

वैर के छह निक्षेप हैं—नाम वैर, स्थापना वैर, द्रव्य वैर, क्षेत्र वैर, काल वैर और भाव वैर।

० द्रव्य वैर—धन आदि के निमित्त से उत्पन्न वैर।

० क्षेत्र वैर—अमुक क्षेत्र में या अमुक क्षेत्र के कारण उत्पन्न वैर।

- ० काल वैर—अमुक काल में उत्पन्न वैर।
- ० भाव वैर—परिणामों की मलिनता। एक भव से दूसरे भव में संक्रान्त होने वाला वैर।

एक गांव में चोरों ने गायों को चुरा लिया। महत्तर (गांव का मुखिया) खोजी को साथ लेकर गया। गायें हमारी हैं—यह कहकर चोरों का अधिपति महत्तर के साथ झगड़ने लगा। वे रौद्रध्यान में लीन होकर एक-दूसरे का वध करते हुए मर गए और प्रथम नरक में नारक के रूप में उत्पन्न हुए।

वहां से उद्वृत्त होकर दोनों महिष रूप में उत्पन्न हुए। एक-दूसरे को देखकर तमतमा उठे, झगड़ने लगे। मरकर दूसरी नरक में उत्पन्न हुए। वहां से उद्वृत्त हो वृषभ बने। उसी वैर परम्परा में आबद्ध होने के कारण एक-दूसरे को मारकर पुनः दूसरी नरक में गये। वहां से आयुष्य पूर्णकर दोनों ही बाघ रूप में जन्मे। वहां भी परस्पर वध कर मरकर तीसरी नरक में गए। वहां से उद्वृत्त हो सिंह रूप में उपपन्न हुए, फिर चौथी नरक में उत्पन्न हुए। वहां से उद्वृत्त हो दोनों ही मनुष्य योनि में जन्मे, जिनशासन में दीक्षित हुए और सदा के लिए मुक्त हो गए।

१५. कलह-उपेक्षा कैसे ?

परवन्तियाण किरिया, मोत्तु परट्टु च जयसु आयट्टे ।
अवि य उवेहा वुत्ता, गुणा य दोसा य एवं तु ॥
जति परो पडिसेविज्जा, पावियं पडिसेवणं ।
मज्झ मोणं चरेंतस्स, के अट्टे परिहायति ॥
(निभा २७८१, २७८२)

कलह की उपेक्षा करने वाले कहते हैं—हमारे पर-प्रत्ययिक कर्मबंध नहीं होता। कलह को उपशांत करना परार्थ है, इसे छोड़कर आत्मार्थ को साधो। (ओघनिर्युक्ति भाष्य गाथा १७१ में) उपेक्षा को संयम कहा गया है। उपेक्षा से स्वाध्याय आदि गुण निष्पन्न होते हैं। परार्थसापेक्षता सूत्र, अर्थ आदि का परिमंथु है।

यदि कोई पापमयी प्रतिसेवना करता है तो मेरे मौन या मध्यस्थ रहने से मेरे कौन से प्रयोजन की हानि होती है ? यह है उपेक्षा।

१६. कलह-उपेक्षा से सर्वनाश : गिरगिट-हाथी दृष्टांत नागा! जलवासीया! सुणोह तस-थावरा!। सरडा जत्थ भंडंति, अभावो परियत्तई ॥ वणसंड सेरे जल-थल-खहचर वीसमण देवया कहणं। वारेह सरडुवेक्खण, धाडण गयनास चूरणया ॥
(बृभा २७०६, २७०७)

अरण्य के मध्य में एक अगाध जल वाला सुंदर सरोवर था। वह चारों ओर वृक्षों से मंडित था। वहां जलचर, स्थलचर तथा खेचर प्राणियों की बहुलता थी। एक बड़ा हस्तियूथ भी वहां रहता था। ग्रीष्मकाल में वह हस्तियूथ उस सरोवर में पानी पीता, जलक्रीड़ा करता और वृक्षों की छाया में सुखपूर्वक विश्राम करता था। सरोवर के निकट गिरगिटों का निवास था। एक बार दो गिरगिट लड़ने लगे। वनदेवता ने यह देखा। उसे भविष्य का अनिष्ट स्पष्टरूप से दृग्गोचर होने लगा। उसने अपनी भाषा में सबको सावचेत करते हुए कहा—

हे हाथियो! जलवासी मच्छ-कच्छपो! त्रस-स्थावर प्राणियो! सब मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनें—जहां सरोवर के निकट गिरगिट लड़ रहे हों, वहां सर्वनाश होता है। इसलिए इन लड़ने वाले गिरगिटों की उपेक्षा न करें। इनको निवारित करें।

जलचर आदि प्राणियों ने सोचा—लड़ने वाले ये गिरगिट हमारा क्या बिगाड़ देंगे? इतने में एक गिरगिट भाग कर सरोवर के किनारे सोए हुए हाथी की सूंड को बिल समझ कर उसमें चला गया। दूसरा गिरगिट भी उसके पीछे भागता हुआ सूंड में घुस गया। वे हाथी के कपाल में लड़ने लगे। हाथी अत्यंत पीड़ित हुआ। महान् वेदना से पराभूत होकर हाथी उठा और वनबंध का विनाश करने लगा। अनेक प्राणी मारे गए। वह सरोवर में घुसा। वहां अनेक जलचरों को मारा। सरोवर की पाल तोड़ डाली, सभी प्राणी नष्ट हो गए।

१७. कलह-उत्पत्ति और प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णवाइं अणुप्पण्णाइं अहिगरणाइं उप्पाएत्ति...पोराणाइं...पुणो उदीरेत्ति...आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घात्तियं । (नि ४/२४, २५, ११८)

जो भिक्षु अनुत्पन्न नए कलहों को उत्पन्न करता है, पुराने क्षामित और उपशांत कलहों की उदीरणा करता है, वह मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

० कलह-निवारण न करने पर प्रायश्चित्त

जे भिक्खू साहिगरणं अविओसविय-पाहुं डं अकडपायच्छित्तं परं ति-रायाओ विष्फालिय अविष्फालिय संभुजति संभुजंतं वा सातिज्जति ।... आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं अणुगघातियं । (नि १०/१४, ४१)

जिस भिक्षु ने कलह कर उसका उपशमन नहीं किया, प्रायश्चित्त नहीं किया, उससे पृच्छ कर या बिना पृच्छ किए जो उसके साथ तीन दिन से अधिक मण्डली भोजन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, वह चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

जो जस्स उ उवसमई, विज्झवणं तस्स तेण कायव्वं ।
जो उ उवेहं कुज्जा, आवज्जइ मासियं लहुगं ॥
...गुरुओ सो चेव उवहसंतस्स ।
उत्तुयमाणे लहुगा, सहायगत्ते सरिसदोसो ॥
(बृभा २६९८, २६९९)

कलह होने पर जो साधु जिस साधु की प्रज्ञापना से उपशांत होता है, उस साधु को उसे उपशांत करना चाहिए। उसकी उपेक्षा और उपहास करने वाला तथा उत्तेजित करने वाला—ये तीनों क्रमशः मासलघु, मासगुरु और चतुर्लघु प्रायश्चित्त के भागी बनते हैं। उसका सहयोग करने वाला उसी के समान दोषी है और उतना ही प्रायश्चित्त (चतुर्गुरु) प्राप्त करता है।

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अवि-
ओसवेत्ता, इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,
कण्णइ तस्स पांच राइदियं छेयं कट्टु—परिणिव्वविय-
परिणिव्वविय दोच्चं पि तमेव गणं पडिनिज्जाएयव्वे सिया,
जहा वा तस्स गणस्स पत्तिर्यं सिया । (क ५/५)

कोई भिक्षु कलह कर उसको उपशांत किए बिना अन्य गण की उपसम्पदा ग्रहण कर विहरण करना चाहे, उसे पांच

अहोरात्र का छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है। धीरे-धीरे कषाय की आग बुझ जाने पर वह उपशांत होकर दुबारा उसी गण में (अपने मूलगण में) आना चाहे तो गण को जैसे प्रीति/प्रतीति हो, वैसे करना चाहिये।

१८. पर्युषणा में क्षमायाचना अनिवार्य

अधिकरणं...ण कायव्वं, पुव्वुप्पण्णं च ण उदीरियव्वं । पुव्वुप्पण्णं जइ कसायुक्कडताए न खामितं तो—पज्जोसवणासु अवस्सं विओसवेयव्वं...खामेयव्वं च, एवं करंतेहिं संजमाराहणा कता भवति ।...

गिहिणो वि कयवेरा अधिकरणाइं ओसवन्ति, समणेहिं पुण सव्वपावविरतेहिं सुदुत्तरं ओसवेयव्वं ।

(निचू ३ पृ १३९, १४७)

कलह नहीं करना चाहिये। पूर्व उत्पन्न (उपशांत) कलह की उदीरणा नहीं करनी चाहिये। यदि कषाय की प्रबलता के कारण पूर्व उत्पन्न कलह के लिए क्षमायाचना न की हो तो पर्युषणा में अवश्य कर लेनी चाहिये। कलह का शमन कर क्षमायाचना करने वाला संयम की आराधना करता है।

वैर भाव रखने वाले गृहस्थ भी अधिकरण का उपशमन करते हैं तो सर्वपापों से विरत श्रमणों को अच्छी तरह से अधिकरण को उपशांत करना चाहिये।

० दृष्टांत : दुरूतक और द्रमक

एगबतिल्लं भंडिं, पासह तुब्भे वि डज्झंतखलहाणे ।
हरणे ज्झामण भाणग, घोसणता मल्लजुद्धेसु ॥
अप्पिणह तं बडल्लं, दुरूवगा तस्स कुंभकारस्स ।
मा भे डइहिति धण्णं, अण्णाणि वि सत्त वरिसाणि ॥
खद्धादाणि य गेहे, पायस दमचेडरूवगा दट्टुं ।
पितरोभासण खीरे, जाइय रद्धे य तेणा तो ॥
पायसहरणं छेत्ता, पच्छागय असियण्ण सीसं तु ।
भाउयसेणाहिव, खिसणाहिं सरणागतो जत्थ ॥
(निभा ३१८०, ३१८१, ३१८६, ३१८७)

दुरूतक—एक कुंभकार शकट में मिट्टी के बर्तन भरकर एक गांव पहुंचा। वह प्रत्यन्तवर्ती गांव था। वहां पहुंचते ही एक व्यक्ति बोला—आश्चर्य है, यह शकट एक बैल वाला है।

कुंभकार ने यह सुनकर कह दिया—यहां के खलिहान जल रहे हैं। एक व्यक्ति ने अवसर देखकर एक बैल का अपहरण कर लिया। पूछने पर दुरूतक (प्रत्यंतग्रामवासी लोग) कहने लगे—तुम तो एक बैल को ही लेकर आए थे। वह कुंभकार निराश होकर चला गया। उसने उस गांव के सभी खलिहानों को जला डाला। उसने इस जलाने की क्रिया को सात वर्षों तक किया। आठवें वर्ष गांव वालों ने पराजित होकर यह घोषणा करवाई कि हमने जिस किसी का अपराध किया हो, वह हमें क्षमा करे। हमने जो कुछ उसका अपहृत किया है, उसे लौटा देंगे। वह हमारे शस्त्रों को न जलाए। गांव वालों ने उस कुंभकार से क्षमायाचना की। बैल लौटा दिया। विग्रह शांत हो गया।

द्रमक—धनाढ्य के घर खीर का भोजन देखकर एक दरिद्र ब्राह्मण के बच्चों ने पिता से खीर का आग्रह किया। पिता ने दूसरों से दूध आदि की याचना कर खीर बनाई। चोरों का आगमन हुआ और खीर चोर ले गए। द्रमक ने चोरों का पीछा किया और चोर सेनापति का तलवार से शिरच्छेद कर दिया। नायक की मृत्यु होने पर चोरों ने सेनापति के छोटे भाई को अपना मुखिया बना दिया।

मुखिया बनने पर उसकी मां, बहिन और भाभी व्यंग्य में कहने लगीं कि तुम्हारे जीवन को धिक्कार है, जो तुम अपने भाई के शत्रु से बदला लिए बिना सेनापति बन गए। परिजनों की बात सुनकर क्रोध में आकर वह चोर सेनापति उस गरीब को जीवित ही पकड़कर ले आया और पूछा—‘बोल’, तेरा वध कहां करूं? तू मेरे भाई का घातक है। गरीब ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—‘जहां शरणागत मारे जाते हैं, वहीं मुझे मारो।’ ‘शरणागत तो अवध्य होते हैं’ ऐसा सोचकर चोर सेनापति ने उस भ्रातृघातक को विसर्जित कर दिया।

० प्रद्योत-उद्रायण

.....पञ्जोयहरण.....रणगहणे णाम ओसवणा ॥
दासो दासीवतिओ, छेत्तुड्डी जो घरे ये वत्तव्वो।
आणं कोवेमाणो, हंतव्वो बंधियव्वो य ॥

पडिमं सुवण्णगुलिंगं च पञ्जोतो हरिउं गतो ।... रुट्ठो उदायणो दूतं विसज्जेति, जइ ते हडा दासचेडी तो हडा णाम, विसज्जेहे मे पडिमं। गतपच्चागतेण दूतेण कहियं

उदायणस्स—ण विसज्जेति पञ्जोओ पडिमं।

ततो उदायणो दसहिं मउडबद्धरातीसह सव्व-साहण-बलेण पयातो ।...रोहिता उज्जेणी। बहुजणक्खए वट्टमाणे उदायणेण पञ्जोतो भणिओ—तुज्झं मज्झ य विरोहो। अम्हे चेव दुअग्गा जुज्झामो, किं सेसजणवएणं माराविएणं ति। अब्भुवगयं पञ्जोएण ।...इमं च से णामयं ललाटे चेव अंकितं—...उदायणो। उदायणेण रणे जिता गहिओ पञ्जोओ ।...ससाहणेण पडिनियत्तो, पञ्जोओ वि बद्धो खंधावारे णिज्जति...उदायणस्स उवजेमणाए भुंजति पञ्जोतो। अण्णया पञ्जोसवणकाले पत्ते उदायणो उव-वासी, तेण सूतो विसज्जितो ।...।

“राया समणोवासओऽज्ज पञ्जोसवणाए उववासी। तो ते जं इट्ठं अज्ज उवसाहयामि ति पुच्छिओ।

तओ पञ्जोतेण लवियं—‘अहो सपावकम्मेण वसणपत्तेण पञ्जोसवणा वि ण णाता, गच्छ कहेहि राइणे उदायणस्स जहा अहं पि समणोवासगो अज्ज उववासिओ भत्तेण ण मे कज्जं ।’

सूतेण गंतुं उदायणस्स कहियं—सो वि समणोवासगो अज्ज ण भुंजति ति।

ताहे उदायणो भणति—समणोवासणेण मे बद्धेण अज्ज सामातियं ण सुज्झति, ण य सम्मं पञ्जोसवियं भवति, तं गच्छामि समणोवासगं बंधणातो मोएमि खामेमि य सम्मं, तेण सो मोइओ खमिओ य।

(निभा ३१८४, ३१८५ चू)

राजा प्रद्योत द्वारा स्वर्णगुटिका एवं देव प्रतिमा का हरण किये जाने पर राजा उद्रायण ने दूत के साथ संदेश भिजवाया कि तुमने दासी की चोरी की, इससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है लेकिन मेरी प्रतिभा वापिस कर दो। प्रत्युत्तर में राजा प्रद्योत ने कहा कि प्रतिमा भी वापिस नहीं करूंगा। यह बात सुनते ही उद्रायण के रोष का पार नहीं रहा। राजा उद्रायण ने दस मुकुटबद्ध राजाओं के साथ विशाल सुसज्जित सेना लेकर उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया।

अकारण ही अनेक लोगों की मौत को देखकर उद्रायण ने प्रद्योत से कहा—विरोध तो परस्पर हमारा है अतः हम दोनों

ही लड़ेंगे। शेष निरपराध जनता को मारने से क्या लाभ ? प्रद्योत ने उद्रायण की बात स्वीकार कर ली।

उद्रायण ने प्रद्योत को हरा दिया और अपनी सेना के साथ उसे बंदी बना कर ले गया। उसके ललाट पर यह अंकित किया—‘यह दास है, दासीपति है, क्षेत्रार्थी (क्षत्रार्थी) है। हमारे घर में बंदी रूप में रह रहा है। जो कोई राजा की आज्ञा का भंग कर उसे कुपित करता है, वह हंतव्य और बंधन योग्य है।’

प्रतिदिन उद्रायण के आहार के पश्चात् प्रद्योत को आहार करवाया जाता था। एक बार पर्युषण के दिन उद्रायण ने उपवास किया। उसने रसोइए को भेजकर प्रद्योत को पुछवाया कि आज तुम्हारे लिए क्या बनवाया जाए ? प्रद्योत से जब उसकी इच्छा पूछी गई तो उसका मन आशंकित हो गया। उसने सोचा—आज तक मुझे यह प्रश्न नहीं पूछा गया, आज ही यह बात क्यों पूछी गयी ? इसी से पूछूँ कि वास्तविकता क्या है ? पूछने पर रसोइए ने उत्तर दिया कि राजा श्रमणोपासक हैं अतः उन्होंने पर्युषण पर्व की आराधना के लिए उपवास किया है, इसलिए आपकी इच्छा जानने के लिए मुझे भेजा है। यह सुनते ही प्रद्योत को स्वयं पर बहुत ग्लानि हुई और वह अपने आपको धिक्कारने लगा कि आज मुझे पर्युषण का दिन भी याद नहीं रहा। फिर उससे कहा कि मैं भी श्रमणोपासक हूँ अतः राजा से कहना कि मैं भी आज उपवास करूँगा। रसोइए ने जाकर सारी बात उद्रायण के सामने प्रकट की। आत्मचिंतन करते हुए उद्रायण ने सोचा—‘मैंने अपने साधर्मिक को बंदी बना रखा है अतः आज मैं उसे मुक्त किए बिना शुद्ध सामायिक नहीं कर सकता और इस रूप में पर्युषणा की सम्यग् आराधना भी नहीं हो सकती।’ राजा उसी क्षण प्रद्योत के पास गया और उसके सारे बंधन खोलकर क्षमायाचना की।

अनंतकाय—साधारण वनस्पति, एक शरीर में अनन्त जीव वाली वनस्पति। द्र जीवनिकाय

अनवस्थाप्य—वह प्रायश्चित्त, जिसमें तपस्यापूर्वक पुनः व्रतारोपण किया जाता है। द्र पारांचित

अनशन—यावज्जीवन चतुर्विध अथवा त्रिविध आहार का परित्याग।

१. अनशन से पूर्व संलेखना
२. आहारकांक्षा की छेदनविधि
३. अनशन दुराराध्यः राधावेध दृष्टांत
४. अनशन (पंडितमरण) के प्रकार
 - ० अभ्युद्यतमरण : भक्तपरिज्ञा आदि
५. आनुपूर्वी-अनानुपूर्वी अनशन
६. आनुपूर्वी अनशन का विधि-क्रम
७. भक्तपरिज्ञा : सपराक्रम-अपराक्रम
 - ० श्रमणोपासक द्वारा अनशन
८. इंगिनी अनशन : तुला, संहनन, श्रुत
९. भक्तपरिज्ञा और इंगिनीमरण में अंतर
१०. प्रायोपगमन अनशन : पादप-मेरु दृष्टांत
११. प्रायोपगमन : निर्हारि-अनिर्हारि
१२. प्रायोपगमन : संहनन और विच्छेद
१३. प्रायोपगमन : पांच तुला, अन्यत्व भावना
१४. उपसर्गों में अविचलन : देवता द्वारा संहरण
१५. राजकन्या का उपसर्ग : अनशनी अविचल
१६. चाणक्य, चिलातीपुत्र आदि की अविचलता
१७. द्विविध आराधना : अंतक्रिया या देवोपपत्ति
१८. अनशन और कर्मक्षय
 - ० अनशनत्रयी : उत्तरोत्तर महानिर्जरा
१९. अनशन के लिए गीतार्थ संविग्न की खोज
२०. अनशन के लिए अप्रशस्त-प्रशस्त स्थान
 - ० दो वसति क्यों ? वृषभ संस्थान
 - ० संस्तारक
२१. अनशनकर्त्ता का स्वावलम्बन
 - * अनशनकाल में आलोचना द्र आलोचना
२२. भक्तप्रत्याख्यान की वैयावृत्त्यविधि
२३. आत्मनिर्यापक-परनिर्यापक
२४. अनशन में कुशल निर्यापक की भूमिका
२५. निर्यापक : अर्हता, कार्य, संख्या
२६. निर्यापक के महानिर्जरा
२७. अनशनधारी की समाधि का उपाय

० परीषह-पराजित को प्रेरणा

* असाध्य रोगी को अनशन की प्रेरणा द्र वैयावृत्य

२८. निर्बाध अनशन हेतु पर्यालोचन : देव-संकेत

२९. स्कन्दक के शिष्यों की समाधिमृत्यु

१. अनशन से पूर्व संलेखना

अञ्जो संलेहो ते, किं कतो न कतो त्ति एवमुदियम्मि ।
भंतु अंगुलि दावे, पेच्छह किं वा कतो न कतो ॥
न हु ते दव्वसंलेहं, पुच्छे पासामि ते किसं ।
कीस ते अंगुली भग्गा?, भावं संलिहमाउर! ॥
इंदियाणि कसाए य, गारवे य किसे कुरु ।
न चेयं ते पसंसामी, किसं साधुसरीरगं ॥
(व्यभा ४२९०, ४२९१, ४२९४)

अनशनेच्छु शिष्य की परीक्षा के लिए गुरु ने पूछा—
आर्य! तुमने संलेखना की या नहीं? शिष्य ने क्रोधावेश में
अपनी अंगुलि तोड़कर दिखाते हुए कहा—आर्यवर! देखो,
कहीं रक्त और मांस दिखाता है? अब आप ही बताएं कि मैंने
संलेखना की या नहीं?

गुरु ने कहा—मैंने द्रव्यसंलेखना के विषय में नहीं पूछा
है। यह तो तुम्हारे कृश शरीर को देखकर प्रत्यक्षतः जान रहा
हूँ। फिर तुमने अंगुलि को भग्न क्यों किया? मैं तो भावसंलेखना
के विषय में जानना चाहता हूँ। तुम क्रोध के वशीभूत होकर
आतुर मत बनो।

वत्स! तुम अपनी इन्द्रियों को जीतो, कषायों को कृश
करो और ऋद्धि, रस, सात—इस त्रिविध गौरव से मुक्त बनो।
मैं तुम्हारे इस कृश शरीर की प्रशंसा नहीं करता।

* संलेखना का क्रम, अतिचार आदि द्र श्रीआको १ संलेखना

२. आहारकांक्षा की छेदनविधि

तस्स य चरिमाहारो, इड्ढो दायव्व तणहछेदट्ठ ।
सव्वस्स चरिष्काले, अतीवतणहा समुप्पज्जे ॥
किं च तन्नोवभुत्तं मे, परिणामासुइं सुइं ।
दिट्ठसारो सुहं ज्ञाति..... ॥
(व्यभा ४३२४, ४३२८)

भाष्यकार का कथन है कि जो व्यक्ति अनशन करना
चाहता है, उसके चरमकाल में आहार की अतीव तृष्णा उत्पन्न
होती है। अतः अनशन से पूर्व उस आहारकांक्षा का व्यवच्छेद
करने के लिए, अनशनकर्ता को जो अत्यंत प्रिय आहार आदि
हो, उसे लाकर देना चाहिए। उसका परिभोग कर लेने पर
उसकी आकांक्षा शांत हो जाती है। उसमें वैराग्य बढ़ता है। वह
सोचता है—संसार में ऐसा कौन-सा भोग्य पदार्थ है, जिसका मैंने
उपभोग नहीं किया है। खाने के पश्चात् पवित्र आहार अपवित्रता
में परिणत हो जाता है—इस तथ्य का ज्ञाता मुनि आहारसंज्ञा से
मुक्त होकर सुखपूर्वक ध्यान में लीन हो जाता है।

३. अनशन दुराराध्य : राधावेध दृष्टान्त

.....उत्तिमट्ठे, चंदगवेज्झसरिस..... ।
चक्राष्टकमुपरिपुत्तलिकाक्षिचन्द्रिकावेधवत् दुरा-
राध्यमनशनम् । (निभा ३४२४ चू)

अनशन चन्द्रवेध्य (राधावेध) के समान दुराराध्य है।
चन्द्रकवेधक का अर्थ है आठ अर वाले चक्र के ऊपर पुत्तलिका
की अक्षिचन्द्रिका को बीधना।

४. पंडितमरण के प्रकार

..... पंडितमरणे ।
भक्तपरिण्णा इंगिणि, पादोपगमे य णायव्वे ॥
(निभा ३८११)

पंडितमरण के तीन प्रकार हैं—भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और
प्रायोपगमन अनशन।

० अभ्युद्यत मरण

...अब्भुज्जयमरणं पुण, पाओवग-इंगिणि-परिन्ना ॥
(बृभा १२८३)

प्रायोपगमन, इंगिनी और भक्तपरिज्ञा—इस अनशनत्रयी
को अभ्युद्यत मरण कहा गया है।

(भ २/४९ में पंडितमरण के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—
प्रायोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान। पंडितमरण का एक प्रकार
इंगितमरण भी है। यह भक्तप्रत्याख्यान का ही एक प्रकार है।
इसलिए इसका पृथक् निर्देश नहीं है। जयाचार्य ने इस प्रसंग

में एक सहज उभरने वाले प्रश्न का समाधान किया है। यहाँ पंडितमरण के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं। कोई मुनि अनशन के बिना मरता है, क्या उसका मरण पंडितमरण नहीं कहलाएगा? किन्तु वह यहाँ विवक्षित नहीं है। यहाँ प्रायोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान के अर्थ वाला पंडितमरण विवक्षित है। श्रमण महावीर के अंतैवासी शिष्य सर्वानुभूति मुनि और सुनक्षत्र मुनि ने अनशन के बिना ही पंडितमरण का वरण कर आराधक पद प्राप्त किया।—भ २/४९ का भाष्य

श्रीमज्जयाचार्य ने लिखा है—

इंगितमरणज तेह, विशेष भतपचखाण नों।
तिण कारण थी जेह, तृतीय भेद न कह्यो इहां ॥
मुख्य थकी ए ख्यात, द्वि प्रकार पंडितमरण।
अणसण बिन मुनिजात, मरै तिको न कह्यो इहां ॥
सर्वानुभूति साध, सुनक्षत्र मुनिवर बलि।
पाम्या पद आराध, अणसण बिन पंडितमरण ॥
बलि अन्य मुनिराय, संथारा बिन जे मरे।
ते पंडितमरण सुहाय, तेहनो कथन इहां नथी ॥

—भ जो १/३५/२८-३१)

५. आनुपूर्वी-अनानुपूर्वी, निर्व्याघात-सव्याघात अनशन
एक्केक्कं दुहा पडिवज्जइ—अहाणुपुव्वीए अणाणु-
पुव्वीए य। पव्वज्जासिक्खापयादिकमेण मरणकालं पत्तस्स
आणुपुव्वी, अत्थग्गहणाईए पदे अण्णसेत्ता अणाणुपुव्वी।

पुणो एक्केक्कं दुविहं—णिव्वाघाइमं वाघाइमं च।
णिरुअस्स अक्खयदेहस्स णिव्वाघाइमं, इतरस्स वाघाइमं।
वाघाओ दुविहो—चिरघाइ आसुघाइ य। १.....

वाघाइमं अणाणुपुव्वी—रोगातंकेहिं बाहिओ
बालमरणं मरेज्जा, अत्थभल्लाईहिं वा विरुंगिओ बहूहिं
आसुघाइकारणेहिं परक्कममकाऊणं भत्तं पच्चक्खावेइ।
सो जइ पंडियमरणेण असत्तो ततो उस्सासं निरुंभइ,
वेहाणसं गिद्धपट्टं वा पडिवज्जइ, तस्स उत्तमा आराहणा।

(निचू ३ पृ २९३, २९९)

एमेव आणुपुव्वी, रोगायंकेहिं नवरि अभिभूतो।
बालमरणं पि सिया हु, मरिज्ज व इमेहि हेतूहिं ॥

वालच्छ-भल्ल विस विसूइकरँ आयंक.....।

ऊसासगद्ध

रज्जू..... ॥

(व्यभा ४३८१, ४३८२)

प्रत्येक अनशन के दो प्रकार हैं—आनुपूर्वी और अनानुपूर्वी।
० आनुपूर्वी—प्रब्रज्या, शिक्षापद यावत् गण अव्यवच्छिन्ति पर्यंत
पदों का क्रमशः अनुशीलन करते हुए अनशन करना।

० अनानुपूर्वी—अर्थग्रहण आदि सब पदों का अनुपालन किए
बिना अनशन करना।

इन दोनों के दो-दो प्रकार हैं—

० निर्व्याघात—नीरोग और अक्षत देह वाले भिक्षु द्वारा किया
जाने वाला अनशन।

० सव्याघात—व्याघात के दो प्रकार हैं—चिरघाती रोग, सद्योघाती
रोग। रोग और आतंक से व्यथित व्यक्ति बालमरण करता है।
कोई व्यक्ति व्याल, रीछ, व्याघ्र आदि द्वारा उपद्रुत होने पर
अथवा विष या विसूचिका आदि सद्योघाती रोगों से पीड़ित होने
पर संलेखना किए बिना ही भक्तप्रत्याख्यान करता है। यदि
वह पंडितमरण स्वीकार करने में असमर्थ है, तो श्वासोच्छ्वास
का निरोध करता है, वैहायस या गृध्रस्पृष्टमरण से मरता है,
उसके उत्तम आराधना होती है—यह सव्याघात अनानुपूर्वी अनशन
है।

* प्रयोजनवश वैहायस-गृध्रस्पृष्टमरण सम्मत

—द्र श्रीआको १ मरण

(श्वेताम्बर साहित्य में गृध्रस्पृष्ट की जो अर्थपरम्परा है,
वह आलोच्य है। जैन साधना पद्धति की तपस्या के अनुकूल
भी नहीं है। कारण उपस्थित होने पर तात्कालिक मरण के लिए
यह प्रयोग उपयोगी नहीं है।

मरणमीमांसा—भगवान् महावीर ने जीवन और मृत्यु दोनों की
अनेकांत-दृष्टि से समीक्षा की थी। उनकी दृष्टि में व्यक्ति जैसे
जीने के लिए स्वतंत्र है, वैसे ही मरने के लिए भी स्वतंत्र है।
इस स्वतंत्रता का उपयोग और दुरुपयोग दोनों ही हो सकते
हैं। १..... भावावेश में जो आत्महत्या की जाती है, वह बालमरण
है। वह स्वतंत्रता का दुरुपयोग है। पंडितमरण या समाधिमरण
मृत्यु की स्वतंत्रता का सदुपयोग है। इस मरण के पीछे कोई

भावावेश नहीं होता। पूर्ण शांत और समाहित चित्त की अवस्था में इस मरण का वरण किया जाता है।.....मुनि को जब यह लगे कि इस शरीर के द्वारा नए-नए गुणों की उपलब्धि हो रही है, तब तक वह जीवन का बृंहण करे। जब कोई विशेष गुण की उपलब्धि न हो, तब वह परिज्ञापूर्वक इस शरीर को त्याग दे। शरीर-व्युच्छेद के लिए आहार का त्याग किया जा सकता है।.....अनशन रुग्ण अवस्था में ही नहीं, किसी बाधा के न होने पर भी किया जा सकता है। यह विधान केवल मुनि के लिए ही नहीं, श्रावक के लिए भी है। इस समाधिमरण को उत्तरवर्ती आचार्यों ने मृत्यु-महोत्सव कहा है।.....व्यक्ति को जीवन की आकांक्षा और मरण के भय से मुक्त रहना चाहिए, किन्तु संयमपूर्ण जीवन और समाधिमरण की आकांक्षा करणीय है।—भ २/४९ का भाष्य)

६. आनुपूर्वी अनशन का विधि-क्रम

पव्वज्जा सिक्खावय, अत्थग्गहणं च अणियतो वासो।
निष्फत्ती य विहारो, सामाघारी ठिती चेव॥
पव्वज्जं अब्भुवगओ सिक्खापदं ति सुत्तं गहियं,
अत्थो सुओ बारससमाओ देसदंसणं कयं, सीसा
निष्फातिआ, एसा अब्बोच्छित्ती। ताहे जइ दीहाऊ
संघयणधितिसंपण्णो य ताहे अप्पाणं तवेण, सत्तेण,
सुत्तेण, एगत्तेण, बलेण य पंचहा तुलेऊण जिणकप्पं
अहालंदं सुद्धपरिहारं पडिमं वा पडिवज्जइ। अह अप्पाऊ,
विहारस्स वा अजोग्गो, ताहे अब्भुज्जयमरणं तिविहं
विथालेऊण अप्पणो धितिसंघयणाणुरूवं भत्तपरिन्नं
परिणओ। (निभा ३८१३ चू)

एक व्यक्ति प्रव्रजित होता है। वह मुनि बनकर बारह वर्ष सूत्रग्रहण, बारह वर्ष अर्थग्रहण और बारह वर्ष देशाटन कर शिष्यनिष्पादन द्वारा गण की परम्परा को अविच्छिन्न करता है। यदि वह दीर्घायु है, धृतिसंहननसंपन्न है तो तप, सत्व, सूत्र, एकत्व और बल—इन पांच तुलाओं से अपने आपको तोलता है, तोलकर जिनकल्प, यथालंद, शुद्धपरिहार (परिहारविशुद्धि) अथवा प्रतिमा को स्वीकार करता है।

यदि वह अल्पायु है और विहार करने में असमर्थ है, तब त्रिविध अभ्युद्यत मरण (भक्तपरिज्ञा आदि) का विमर्श

कर अपनी धृति और संहनन के अनुरूप भक्तपरिज्ञा या अन्य अनशन ग्रहण करता है।

७. भक्तपरिज्ञा : सपराक्रम-अपराक्रम

सपरक्कमे य अपरक्कमे य वाघाय आणुपुव्वीए।
सुत्तत्थजाणएणं, समाहिमरणं तु कायव्वं॥
भिव्ख-वियारसमत्थो, जो अन्नगणं च गंतु वाएति।
एस सपरक्कमो खलु, तव्विवरीतो भवे इतरो॥
(व्यभा ४२२४, ४२२५)

भक्तपरिज्ञा के दो भेद हैं—सपराक्रम और अपराक्रम। इनके दो-दो भेद हैं—व्याघातिम और निर्व्याघातिम। व्याघात उपस्थित होने पर या न होने पर भी सूत्र और अर्थ के ज्ञाता मुनि को समाधिमृत्यु का वरण करना चाहिए।

जो अपने या दूसरे के लिए भिक्षाचर्या करने में तथा विचारभूमिगमन में समर्थ हो अथवा अन्य गण में जाकर वाचना दे सकता हो, वह भक्तपरिज्ञा का इच्छुक हो तो उसका मरण सपराक्रम कहलाता है। इसके विपरीत असमर्थ का मरण अपराक्रम है।

० श्रमणोपासक द्वारा अनशन

से णं समणोवासए बहूणि वासाणि समणोवासग-
परियागं पाउणति, पाउणिता आबाहंसि उप्पणंसि वा
अणुप्पणंसि वा बहूइं भत्ताइं पव्वक्खाइ, पव्वक्खाइत्ता
बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेइ, छेदेत्ता आलोइय-पडिक्कंते
समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अण्णायरेसु देवलोएसु
देवत्ताए उव्वत्तारो भवति। (दशा १०/३१)

श्रमणोपासक (श्रावक) बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक-पर्याय का पालन करता है, पालन कर बाधा उत्पन्न होने पर या न होने पर बहुत भक्तों (भोजन के समय) का प्रत्याख्यान करता है, प्रत्याख्यान कर अनशन के द्वारा भक्तछेदन कर, आलोचना-प्रतिक्रमण कर समाधिपूर्ण दशा में कालमास में काल कर देवलोक में देवरूप में उपपन्न होता है।

(तिर्यच द्वारा अनशन—संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जलचर, स्थलचर और खेचर जीव जातिस्मरण ज्ञान को प्राप्त कर पांच अणुव्रतों को स्वीकार करते हैं, बहुत सारे

शीलव्रत आदि के द्वारा अपने आपको भावित कर अनशनपूर्वक मरकर उत्कर्षतः सहस्रारकल्प तक उत्पन्न हो जाते हैं।

—औ सू १५६, १५७)

८. इंगिनी अनशन : तुला, संहनन, श्रुत

“पंच तुलेऊण य तो, इंगिणिमरणं परिणतो य ॥

(व्यभा ४३९१)

इंगिणीए आयवेयावच्चं परो न करेइ, णियमा चउव्विहाहारविरई। जइ बहिं पडिवज्जइ तो अणीहारिमं, अह गच्छे तो णीहारिमं। पढमबिइयसंघयणी पडिवज्जइ, जेण अहीयं णवमपुव्वस्स तइयं आयारवत्थुं एक्कारसंगी वा पडिवज्जइ, धितीए वज्जकुडुसमाणो सव्वाणि उव-सग्गाणि अहियासेइ। (निभा ३८१७ की चू)

मुनि तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल—इन पांच तुलाओं द्वारा अपने आपको तोलकर इंगिनीमरण स्वीकार करता है। वह स्थान, शयन आदि कार्य स्वयं करता है, दूसरा व्यक्ति उसकी सेवा नहीं कर सकता। स्वीकर्ता नियमतः चतुर्विध आहार से विरत होता है। गच्छ में स्वीकार करना निर्हारिम और अन्यत्र बाहर स्वीकार करना अनिर्हारिम अनशन है।

वज्रऋषभनाराच अथवा ऋषभनाराच संहनन वाला, नौवें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु या ग्यारह अंगों का अध्येता और वज्रकुड्य के समान धृतिसम्पन्न मुनि इसे स्वीकार करता है तथा सब उपसर्गों को सहन करता है।

संघयणधित्तीजुत्तो, नवदसपुव्वा सुतेण अंगा वा ।”
संहनने तु त्रयाणामाद्यानामन्यतमेन धृत्या च युक्तः। (व्यभा ४३९४ वृ)

वह वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच और नाराच—इनमें से किसी एक संहनन तथा धृति से सम्पन्न होता है।

वह नौ या दस पूर्वी अथवा ग्यारह अंगसूत्रों का ज्ञाता होता है।

९. भक्तपरिज्ञा और इंगिनीमरण में अंतर
आयप्परपडिकम्मं, भत्तपरिण्णाय दो अणुण्णाता।
परिवज्जिया य इंगिणि, चउव्विधाहारविरती य ॥

ठाण-निसीय-तुयट्टण, इत्तरियाइं जधासमाधीए।
सयमेव य सो कुणती, उवसग्गपरीसहऽहियासे ॥

(व्यभा ४३९२, ४३९३)

भक्तपरिज्ञा—इसमें अनशनकर्ता स्वयं अपना परिकर्म कर सकता है, दूसरों से भी करवा सकता है। इसमें तीनों या चारों आहारों का त्याग किया जाता है।

इंगिनीमरण—इस अनशन में दूसरों से परिकर्म नहीं करवाया जा सकता। स्थान, निषीदन और शयन वह स्वयं ही यथासमाधि करता है। इसमें चारों आहारों का परित्याग अनिवार्य है। अनशनकर्ता उपसर्ग और परीषहों को सहन करता है।

१०. प्रायोपगमन अनशन : पादप-मेरु दृष्टांत
पादोवगमं भणियं, समविसमे पादवो जहा पडितो।
नवरं परप्पओगा, कंपेज्ज जधा चलतरुव्वः।
तसपाणबीयरहिते, विच्छिन्नवियारथंडिलविसुद्धे।
निहोसा निहोसे उवेति अब्भुज्जयं मरणं॥
पुव्वावरदाहिणउत्तरेहि वातेहि आवयतेहिं।
जह न वि कंपति मेरू, तध ते ज्ञाणाउ न चलंति ॥
(व्यभा ४३९५, ४३९६, ४४००)

जैसे सम-विषम भूमि पर गिरा हुआ पादप उसी रूप में अवस्थित रहता है, वैसे ही प्रायोपगमनप्रतिपन्न मुनि खंडे, बैठे या लेटे—जिस मुद्रा में अनशन स्वीकार करता है, जीवनपर्यंत उसी मुद्रा में निष्प्रकंप रहता है।

वायु आदि से प्रेरित वृक्ष की भांति केवल पर-प्रयोग से वह प्रकम्पित हो सकता है, स्वप्रयोग से नहीं।

वह त्रस, प्राण और बीज से रहित विस्तृत विशुद्ध स्थण्डिल में अभ्युद्यतमरण स्वीकार करता है। वह मुनि ध्यान से वैसे ही विचलित नहीं होता, जैसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा से आने वाली हवाओं से मेरुपर्वत प्रकम्पित नहीं होता।

णिच्चलणिय्यडिकम्मो, णिक्खवति जं जहि जहा अंगं ।”
(निभा ३८१८)

प्रायोपगमन अनशन करने वाला अनशन काल में नियमतः निष्प्रतिकर्म और निश्चल होता है। वह जिस

मुद्रा या स्थान से स्थित होता है, जीवनपर्यंत उसी मुद्रा में अवस्थित रहता है।

(प्रायः का अर्थ है—मृत्यु। समाधिमरण के लिए उपगमन करना अथवा उपवेशन करना प्रायोपगमन कहलाता है। व्याख्या साहित्य में इसके संस्कृत रूप पादोपगमन और पादपोपगमन भी मिलते हैं। — भ २/४९ का भाष्य)

११. प्रायोपगमन : निर्हारि-अनिर्हारि

.....पादोवगमं, नीहारी वा अनीहारी ॥
निर्हारिमं नाम यद् ग्रामादीनामन्तः प्रतिपद्यते, ततो हि मृतस्य ततस्तस्य शरीरं निष्काशनीयं भवति। अनिर्हारिमं नाम यद् ग्रामादीनां बहिः प्रतिपद्यते।

(व्यभा ४३९४ वृ)

प्रायोपगमन अनशन के दो प्रकार हैं—

१. निर्हारिम—ग्राम के उपाश्रय में किया जाने वाला अनशन, जहां से मृतक के शरीर का निर्हरण—निष्काशन किया जाता है।

२. अनिर्हारिम—उपाश्रय या गांव से बाहर गिरिकन्दरा आदि एकांत निर्जन स्थान में किया जाने वाला अनशन।

१२. प्रायोपगमन : संहनन और विच्छेद

पहमम्मि य संघयणे, वट्टंता सेलकुड्डुसामाणा।

तेसिं पि य वुच्छेदो चोद्दसपुब्बीण वोच्छेदे ॥

(व्यभा ४४०१)

इस अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि वज्रऋषभ-नाराच संहनन वाला होता है। उसकी धृति शैलकुड्य (वज्र-भित्ति) के समान होती है। चौदह पूर्वी के विच्छेद के साथ ही प्रथम संहनन और प्रायोपगमन अनशन का विच्छेद हो गया।

१३. प्रायोपगमन : पांच तुला, अन्यत्व भावना

....यंच तुलेऊण य सो, पाओवगमं परिणतो य ॥

(निभा ३९४०)

जह नाम असी कोसे, अण्णो कोसे असी वि खलु अण्णे।
इय मे अन्नो देहो, अन्ने जीवो त्ति मण्णंति ॥

(व्यभा ४३९९)

मुनि तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल—इन पांच तुलाओं से अपने आपको तोलकर प्रायोपगमन स्वीकार करता है। (पांच तुलाएं द्र जिनकल्प)

जैसे कोश (म्यान) में निक्षिप्त तलवार भिन्न है, कोश भिन्न है, वैसे ही मेरा 'शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है'—वह इस अन्यत्व भावना (भेदज्ञान) से भावित होता है, इसलिए कष्टों से प्रभावित नहीं होता।

१४. उपसर्गों में अविचलन : देवता द्वारा संहरण

पुव्वभवियवेरेणं, देवो साहरति कोवि पाताले।

मा सो चरमसरीरो, न वेदणं किंचि पाविहिंति ॥

उप्पन्ने उवसग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य।

सव्वे पराइणित्ता, पाओवगता पविहरंति ॥

दिव्वमणुया उ दुग तिग, अस्से पक्खेवगं सिया कुज्जा।

वोसट्टुचत्तदेहो, अधाउयं कोइ पालेज्जा ॥

अणुलोमा पडिलोमा, दुगं तु उभयसहित्ता तिगं होति।

अधवा चित्तमचित्तं, दुगं तिगं मीसगसमग्गं ॥

पुढ्वि-दग-अगणि-मारुय-वणस्सति-तसेसुकोवि साहरंति।

वोसट्टुचत्तदेहो, अधाउयं कोवि पालेज्जा ॥

मज्जणगंधं पुप्फोवधारपरिचारणं सिया कुज्जा।

वोसट्टुचत्तदेहो, अधाउयं कोवि पालेज्जा ॥

पुव्वभवियपेम्मेणं, देवो देवकुरु-उत्तरकुरासु।

कोई तु साहरेज्जा, सव्वसुहा जत्थ अणुभावा ॥

पुव्वभवियपेम्मेणं, देवो साहरति नागभवणम्मि।

जहियं इट्ठा कंता, सव्वसुहा होति अणुभावा ॥

(व्यभा ४३९७, ४३९८, ४४०२-४४०४, ४४०६-४४०८)

अनशनी को देखकर कोई देव पूर्वभव-जन्य वैर के कारण यह सोचता है कि यह चरमशरीरी है—यहां इसे कोई कष्ट नहीं होगा। वह अपने वैर के पोषण के लिए उसे कष्ट देने पाताल में ले जाता है। मुनि उस उपसर्ग को सहन करता है।

वह देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी उत्पन्न सब उपसर्गों को पराजित कर प्रायोपगमन अनशन की आराधना करता है।

देव अथवा मनुष्य उसके मुख में अनुलोम और प्रतिलोम अथवा सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का प्रक्षेप कर सकते हैं, फिर भी वह व्युत्सृष्ट-त्यक्त देह वाला मुनि जीवनपर्यंत अविचल भाव से अनशन की अनुपालना करता है।

कोई पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस-काय में उसका संहरण करता है, फिर भी वह जीवनपर्यंत शरीर का व्युत्सर्ग और त्याग कर स्वीकृत अनशन की आराधना करता है।

कोई लुब्ध व्यक्ति उसे स्नान कराता है, पटवास आदि गंध द्रव्यों का प्रयोग और पुष्पोपचार करता है, परिचारणा करता है, तब भी वह अनुरक्त न होता हुआ देह का व्युत्सर्ग और त्याग कर जीवनपर्यंत अनशन की आराधना करता है।

कोई देव पूर्वजन्म के स्नेह के कारण उसका संहरण कर उसे देवकुरु-उत्तरकुरु अथवा नागभवन में ले जाता है, जहां सर्वशुभ, इष्ट और कांत अनुभाव होते हैं, वहां भी वह यथास्थित रहता है, आसक्त नहीं होता।

१५. राजकन्या द्वारा उपसर्ग : अनशनकर्ता अविचल

बत्तीसलक्खणधरो, पाओवगतो य पागडसरीरो ।
पुरिसव्वेसिणि कण्णा, राइविदिण्णा तु गेणहेज्जा ॥
मज्जणगंधं पुप्फोवयारपरियारणं सिया कुज्जा ।
वोसट्टचत्तदेहो, अहाउयं कोवि पालेज्जा ॥
“तिमि-मग्गेहि व उदधिं, न खोधितो जो मणो मुणिणो ॥
जाधे पराजिता सा, न समत्था सीलखंडणं काउं ।
नेऊण सेलसिहरं, तो से सिल मुंचए उवरिं ॥
(व्यभा ४४०९, ४४१०, ४४१४, ४४१५)

बत्तीस लक्षणों से युक्त शरीर वाला मुनि जब पूर्ण नग्न होकर प्रायोपगमन में स्थित होता है और तब यदि कोई पुरुषद्वेषिणी कन्या राजा की आज्ञा प्राप्त कर उसको ग्रहण करती है, स्नान, गंधद्रव्य, पुष्पोपचार आदि क्रियाएं कर उसके साथ परिचारणा करना चाहती है, फिर भी उस अनशनधारी मुनि का मन सर्व कलाओं में निपुण कामशास्त्र की पंडिता उस कुमारी के प्रति किंचित् भी आकृष्ट नहीं होता। व्युत्सृष्ट-त्यक्त देह वाला मुनि जीवनपर्यंत विधिवत्

अनशन की परिपालना करता है। जैसे समुद्र जलजंतुओं से क्षुब्ध नहीं होता, वैसे ही मुनि का मन किंचित् भी क्षुब्ध नहीं होता। तब शील खंडित करने में असमर्थ वह कुमारी अपना पराभव देख उस मुनि को शैल-शिखर पर ले जाकर उसके ऊपर शिला का प्रक्षेप करती है, तब भी मुनि निश्चल रहता है।

१६. चाणक्य, चिलातीपुत्र आदि की अविचलता

जंतेण करकतेण व, सत्थेण व सावएहि विविधेहिं ।
देहे विद्धंसंते, न य ते ज्ञाणाउ फिट्ठिति ॥
पडिणीययाएँ कोई, अरिंण से सव्वतो पदेज्जाहि ।
पादोवगते संते जह, चाणवकस्स व करीसे ॥
पडिणीययाएँ कोई, चम्मं से खीलएहि विहुणित्ता ।
महुघतमक्खिचदेहं, पिवीलियाणं तु देज्जाहि ॥
जह सो चिलायपुत्तो, वोसट्ट-निसट्ट-चत्तदेहो उ ।
सोणियगंधेण पिवीलियाहि जह चालणिव्व कतो ॥
जध तो कालसयवेसिओ, वि मोग्गल्लसेलसिहरम्मि ।
खइतो विउव्विऊणं, देवेण सियालरूवेणं ॥
जह सो वंसिपदेसी, वोसट्ट-निसट्ट-चत्तदेहो उ ।
वंसीपत्तेहि विणिग्गतेहि आगासमुक्खित्तो ॥
जधऽवंतीसुकुमालो, वोसट्ट-निसट्ट-चत्तदेहो उ ।
धीरो सपेल्लियाए, सिवाय खइओ तिरत्तेणं ॥
(व्यभा ४४१९-४४२५)

प्रायोपगमन अनशन में स्थित मुनि यन्त्र, क्रकच, शस्त्र, श्वापद आदि के द्वारा अपने शरीर का विध्वंस किए जाने पर भी ध्यान से विचलित नहीं होते।

० चाणक्य—कोई शत्रुभाव जागने पर सब ओर आग जला सकता है। जैसे सुबन्धु नामक मंत्री ने कण्डों के मध्य प्रायोपगमन में स्थित चाणक्य के चारों ओर अग्नि प्रज्वलित की।

० चिलातीपुत्र—कोई प्रत्यनीक व्यक्ति अनशन प्रतिपन्न मुनि की चमड़ी को लोहमय कीलों से बाँधकर या मांस में कीलक घुसाकर, देह को मधु और घी से प्रक्षित कर देता है। उस प्रक्षित देह पर चींटियां आकर उसे चलनी बना देती है। चिलातीपुत्र अत्यंत व्युत्सृष्ट-त्यक्त देह होकर ध्यान-

कायोत्सर्गलीन था। उसके शरीर पर लगे शोणित की गंध के कारण चींटियों ने उसके शरीर को चलनी बना डाला, फिर भी वह धीर पुरुष ध्यान से किंचित् भी विचलित नहीं हुआ।
 ० कालासवैश्य आदि—कालासवैश्यपुत्र मोद्गलपर्वत के शिखर पर ध्यानलीन था। एक प्रत्यनीक देव शृगाल का रूप बनाकर उसे खाने लगा। वह समभाव से सहन करता रहा।

कुछ प्रत्यनीक व्यक्तियों ने प्रायोपगमन अनशन में स्थित अतिशय व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह मुनि को उठाकर बांसों के झुरमुट पर बिठा दिया। बांस फूटने लगे। उन बढ़ते हुए बांसों ने मुनि को बींध डाला और ऊपर आकाश में उछाल दिया। उसने सब कुछ समभाव से सहन किया।

० अवन्ति सुकुमाल—वह शरीरक्रिया और शरीरपरिकर्म का पूर्णतः परित्याग कर प्रायोपगमन अनशन में स्थित था। वहां एक शृगाली अपनी संतान के साथ आकर तीन रात तक उसके शरीर का भक्षण करती रही। धीर मुनि ने उस कष्ट को समभाव से सहन किया।

१७. द्विविध आराधना : अंतक्रिया या देवोपपत्ति

एगंतनिज्जरा से, दुविधा आराधना धुवा तस्स।

अंतकिरियं व साधू, करेज्ज देवोववत्तिं वा ॥

(व्यभा ४४०५)

प्रायोपगमन अनशन में अविचल स्थित मुनि के एकांत निर्जरा होती है। वह निश्चित रूप से सिद्धिगमनयोग्य या कल्पोपपत्ति-योग्य आराधना करता है, जिससे वह या तो अंतक्रिया—भवपरंपरा का अंत कर सिद्ध होता है या देवलोक में उत्पन्न होता है।

१८. अनशन और कर्मक्षय

कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।

अन्नतरगम्मि जोगे, विसेसतो उत्तिमट्टम्मि ॥

(व्यभा ४३४१)

किसी भी संयमयोग में उपयुक्त मुनि प्रतिक्षण असंख्येय भवों में उपाजित कर्मों को क्षीण करता है। जो अनशन में उपयुक्त है, वह विशेष रूप से कर्मक्षय करता

है। (किसी भी कर्म की स्थिति अनंत काल नहीं है, अतः असंख्येय का कथन है।)

० अनशनत्रयी : उत्तरोत्तर महानिर्जरा

एवं पादोपगमं, निष्पडिकम्मं तु वणिणतं सुत्ते।
 तित्थगर-गणहरेहि य, साहूहि य सेवियमुदारं ॥

यः पादोपगमनस्येङ्गिनीमरणस्य च करणे असमर्थः
 स भक्तप्रत्याख्यानं करोति। ततोऽपि यः समर्थतरः
 पादोपगमनं च कर्तुमसमर्थः स इंगिनीमरणं ततोऽपि
 समर्थतरः पादोपगमं, एतानि च मरणानि कुर्वन्तो यथा
 यथोपरितनमरणकारिणस्तथा तथा महानिर्जरा।

(व्यभा ४४२९ वृ)

भक्तपरिण्णा इंगिणि पाउवगमणं च—एते कमेण-
 जहण्णमज्झिमुक्कोसा। (निभा ३८११ की चू)

व्यवहार सूत्र में प्रायोपगमन अनशन की निष्प्रतिकर्मता निरूपित है। तीर्थकरों, गणधरों और अनेक साधुओं ने इस उदार अनशन की आराधना की।

अनशन का स्वीकार अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार किया जाता है। जो मुनि प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करने में असमर्थ होता है, वह इंगिनीमरण स्वीकार करता है और जो इंगिनीमरण स्वीकार करने में असमर्थ होता है, वह भक्तप्रत्याख्यान अनशन स्वीकार करता है।

जो भक्तप्रत्याख्यानकरण से भी अधिक समर्थ है और प्रायोपगमन में असमर्थ है, वह इंगिनीमरण अनशन स्वीकार करता है, उससे भी अधिक समर्थ मुनि प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करता है।

भक्तप्रत्याख्यान जघन्य, इंगिनीमरण मध्यम और प्रायोपगमन उत्कृष्ट अनशन है। इनमें उत्तरोत्तर महान् निर्जरा होती है।

१९. अनशन के लिए गीतार्थ संविग्न की खोज

नासेति अगोयत्थो, चउरंगं सव्वलोगसारंगं।

माणुस्सं धम्मसुती, सद्धा तव संजमे विरियं ॥

पंच व छस्सत्तसे, अधवा एत्तो वि सात्तिगते।

एकं व दो व त्तिनि व, उक्कोसं वारसेव वासाणि ।
 गीतत्थपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो ॥
 आहाकम्मिय पाणम*** ।
 सेज्जा संथारे वि य, उक्धी वि य होति अविमुद्धो ॥
 ***संविग्गपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो ॥
 (व्यभा ४२५२, ४२५३, ४२६१, ४२६२, ४२६७, ४२६९)

अगीतार्थ या असंविग्ग के पास अनशन नहीं करना चाहिए। क्योंकि अग्नीतार्थ की सन्निधि सर्वलोक में सारभूत चतुरंग—मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और तप-संयम में वीर्य—इन चारों अंगों को नष्ट कर देती है।

असंविग्ग के पास अनशन करने से वह आधाकर्म दोष से दूषित पानक लाकर देता है, अशुद्ध शय्या-संस्तारक और उर्पाधि प्रस्तुत करता है। अतः अनशन की सफल आराधना के लिए अश्रांतभाव से क्षेत्रतः और कालतः गीतार्थ-संविग्ग की मार्गणा करनी चाहिए।

क्षेत्रतः—पांच सौ, छह सौ, सात सौ या इससे भी अधिक योजन तक मार्गणा।

कालतः—एक, दो या तीन वर्ष यावत् उत्कृष्टतः बारह वर्षों तक मार्गणा।

२०. अनशन के लिए अप्रशस्त-प्रशस्त स्थान

गंधव्व-नट्टजडुऽस्स, चक्कजंतऽगिगकम्म पुरुसे य ।
 पांतिकक-रयग-देवड, डोंबे पाडहिग रायपथे ॥
 चाग कोट्टग कलाल, करकय पुप्फ-फल-दगसमीवम्मि ।
 आरामे अहवियडे नागघरे पुव्वभणिए य ॥
 पढमबितिएसु कप्पे, उहेसेसुं उवस्सया जे तु ।
 विहिसुत्ते य निसिद्धा, तव्विवरीते गवेसेज्जा ॥
 उज्जाणरुक्खमूले, सुण्णघरऽणिसड्ड हरियमग्गे य ।
 एवंधिथे न ठायति, होज्ज समाधीय वाघातो ॥
 इंदियपडिसंचारो, मणसंखोभकरणं जहिं नत्थि ।
 चाउस्सालादि दुवे, अणुण्णवेऊण ठायंति ॥
 (व्यभा ४३१२-४३१६)

अप्रशस्त स्थान—गन्धर्वशाला, नाट्यशाला, हस्ति-शाला, अश्वशाला, चक्रशाला (तिलपीडनशाला), इक्षुर्यत्र-

शाला, लोहकारशाला, कुम्भकारशाला, रंजक (छीपा) शाला, रंजकशाला, चर्मकारशाला, लंखशाला, पटहवादकशाला, राजपथ, गुप्तिगृह, पाठशाला, सुराविक्रय-शाला, काष्ठक्रक-शाला, फूल-फल-उदक-स्थान, आराम, खुला स्थान, नागगृह, यक्षगृह आदि—इन स्थानों में अथवा इनके समीप रहने से शब्दश्रवण, रूपदर्शन आदि के कारण राग-द्वेष का प्रसंग आता है, ध्यान में विघ्न होता है अतः ये अप्रशस्त हैं।

कल्पाध्ययन के दूसरे-तीसरे उद्देशक में तथा विधि सूत्र आचारचूला के शय्याध्ययन में साधु के रहने आदि के लिए जो उपाश्रय निषिद्ध हैं, उन सबका वर्जन करना चाहिए। उनके अतिरिक्त स्थानों की गवेषणा करनी चाहिए।

जहां समाधिभंग हो जैसे उद्यान, वृक्षमूल, अनुनज्ञात शून्यगृह, हरिताकुल मार्ग वाले स्थान आदि में भक्तप्रत्याख्याता न रहे।

० प्रशस्त स्थान—जहां इन्द्रियचंचलता और मानसिक उद्वेग उत्पन्न न हो (इन्द्रिय प्रतिसंचार न हो—इष्ट-अनिष्ट शब्द, रूप, गंध आदि का अभाव हो, मन को संक्षुब्ध करने वाले विषय न हों), ऐसी चतुःशाल, त्रिशाल, द्विशाल आदि में अनुज्ञापूर्वक दो वसतियां ग्रहण कर उनमें रहे।

० दो वसति क्यों ? वृषभ संस्थान***

सव्वसाहूण एक्का वसही न कप्पइ ।***तेसु समुहिसंतेसु
 अन्नपाणगंधेणं ज्ञाणवाघाओ हवेज्जा, तम्हा दो वसहीओ
 घेत्तव्वाओ ।***सन्निवेशसस कम्मि दिसाभागे वसही पसत्था ?
 सन्निवेशवसभस्स मुहसिरककुहपोट्टा पसत्था, सेसेसु
 अप्पसत्था । (निभा ३८१५ की चू)

सब साधु एक वसति (या कक्ष) में न रहें, क्योंकि वहां उनके आहार करने पर अन्न-पान की गंध से अनशनस्थ साधु के ध्यान में व्याघात हो सकता है, अतः दो वसति का ग्रहण अपेक्षित है।

सन्निवेश के किस दिशाभाग में वसति प्रशस्त होती है ? वृषभ संस्थान से संस्थित सन्निवेश के मुख, शिर, ककुद (बैल के कंधे का उभरा हुआ भाग) और उदर-स्थानीय भाग में वसति का होना प्रशस्त है।

* वृषभ संस्थान

त्र श्रीआको १ संस्थान

० संस्तारक

संधारो उत्तिमट्टे, भूमिसिलाफलगमादि नातव्वे ।
संधारपट्टमादी, दुगचीरा तू बहू वावि ॥
तह वि य संधरमाणे, कुसमादी णित्तु अञ्जुसिरतणाइं ।
तेसऽसति असंधरणे, झुसिरतणाइं ततो पच्छा ॥
(व्यभा ४३४२, ४३४३)

अनशनस्थित मुनि के लिए भूमि या शिलातलरूप या फलकरूप संस्तारक होता है ।

संस्तारक पर एक उत्तरपट्ट बिछाने से उसे असमाधि हो तो अनेक उत्तरपट्ट भी बिछाये जा सकते हैं । इतने पर भी पूर्ण समाधि न हो तो कुश आदि का निश्छिद्र या शुषिर तृणसंस्तारक भी बिछाया जा सकता है ।

२१. अनशनकर्त्ता का स्वावलम्बन

पडिलेहण संधारं, पाणगउव्वत्तणादि निगमणं ।
सयमेव करेति सहू, असहुस्स करेति अन्ने उ ॥
कायोवचितो बलवं, निक्खमणपवेसणं च से कुणति ।
तह वि य अविस्सहमाणं, संधारगतं तु संचारे ॥
(व्यभा ४३४५, ४३४६)

जो भक्तप्रत्याख्याता समर्थ है, शरीर से उपचित और बलवान् है, वह अपना कार्य स्वयं करे । जैसे—प्रतिलेखन, संस्तारकप्रस्तारण, पानकग्रहण, करवट बदलना, भीतरी प्रदेश से बाहर निर्गमन तथा बाह्य प्रदेश से पुनः भीतर प्रवेश आदि ।

जो अनशनधारी असमर्थ है, उसके सारे कार्य अन्य मुनि करते हैं । अन्य के सहारे से भी वह संचरण न कर सके तो संस्तारक पर ही उसके सारे कार्य किए जाते हैं ।

२२. भक्तप्रत्याख्यानी की वैयावृत्त्य विधि

उव्वत्तणा य पाणग, धीरवणा चेव धम्मकहणा य ।
अंतो बहि नीहरणं, तम्मि य काले णमोक्कारो ॥
(व्यभा ७५५)

० अनशनधारी की शारीरिक शक्ति क्षीण होने से वह स्वयं उद्धर्तना-परिवर्तना आदि क्रियाएं नहीं कर पाता हो तो उसका इन कार्यों में सहयोग करने से उसे परम समाधि उत्पन्न होती है—

० प्यास परीषह उत्पन्न होने पर उसे पानी पिलाना होता है ।
० किसी कष्ट के कारण वह अधीर हो जाए तो उसे इन शब्दों में ढाढस बंधाया जाता है—'धृति धारण करो । तुम्हारी पैर आदि की पीड़ा विश्रामणा (दबाने) से दूर कर दूंगा । हे पुण्यभाग ! सहन करो, शीघ्र सर्वदुःखमुक्त हो जाओगे ।'
० कष्टसहिष्णुता और समता की प्रेरणा देने वाले पूर्व मुनियों के अपूर्व जीवनवृत्त सुनाये जाते हैं ।

० उष्ण परीषह उत्पन्न होने पर उसे कक्ष से बाहर और वायु आदि सहन न होने पर पुनः भीतर ले जाया जाता है ।

० भेदज्ञान और अन्तर्लौकिकता के लिए नमस्कार महामंत्र, लोगस्स आदि सूत्रपाठ सुनाये जाते हैं ।

२३. आत्मनिर्यापक-परनिर्यापक

...इह दुविधा निज्जवगा, अत्ताण परे य बोधव्वा ॥
पादोवगमे इंगिणि, दुविधा खलु होंति आयनिज्जवगा ।
निज्जवणा य परेण व, भत्तपरिणाय बोधव्वा ॥
(व्यभा ४२२०, ४२२१)

निर्यापक (निर्वाहक) के दो प्रकार हैं—आत्मनिर्यापक, परनिर्यापक । प्रायोपगमन और इंगिनीमरण में आत्मनिर्यापक होते हैं (वे किसी से सेवा नहीं लेते) तथा भक्तपरिज्ञा में दूसरे के द्वारा भी निर्यापना/सेवा की जाती है ।

२४. अनशन में कुशल निर्यापक की भूमिका : दृष्टांत

वसधे जोधे य तहा, निज्जामगविरहिते जहा पोते ।
पावति विण्णसमेवं भत्तपरिणाय संमूढो ॥
नामेण वि गोत्तेण य, विपलायंतो वि सावितो संतो ।
अवि भीरू वि नियत्तति, वसभो अप्फालितो पहुणा ॥
अप्फालिया जह रणे, जोधा भंजंति परबलाणीयं ।
गीतजुतो उ परिण्णी, तध जिणति परीसहाणीयं ॥
सुनिउणनिज्जामगविरहियस्स पोतस्स जध भवे नासो ।
गीयत्थविरहियस्स उ तहेव नासो परिण्णस्स ॥
निउणमतिनिज्जामगो, पोतो जह इच्छित्तं वए भूमिं ।
गीतत्थेषुववेतो, तह य परिण्णी लहति सिद्धिं ॥
(व्यभा ७५०-७५४)

जैसे स्वामी से रहित वृषभ और योद्धा तथा

निर्यामकरहित नौका विनष्ट हो जाती है, वैसे ही कुशल निर्यापक के बिना अनशनधारी भक्तपरिज्ञा में संमूढ हो जाता है और उसकी समाधि खंडित हो जाती है।

० वृषभ—वृषभ जब प्रतिवृषभ के साथ युद्ध में पराजित होकर पलायन करता है तो उसका मालिक नामगोत्र से संबोधित कर उसे अपने पास बुलाता है, स्नेहपूर्वक हाथ से आस्फालन करता है, तब वह डरता हुआ भी प्रोत्साहित हो पुनः युद्ध के लिए तैयार हो जाता है।

० योद्धा—अपने स्वामी द्वारा प्रशंसित-प्रोत्साहित-आस्फालित योद्धा रणभूमि में शत्रुसेना को परास्त कर देता है। इसी प्रकार गीतार्थ निर्यापक को पाकर भक्तपरिज्ञावान् मुनि परीषह सेना पर विजय प्राप्त कर लेता है।

० पोतनिर्यामक—निपुण निर्यामक के अभाव में जैसे पोत विनष्ट हो जाता है। कुशल कर्णधार नौका को अभीप्सित भूमि तक ले जाता है, इसी प्रकार गीतार्थ के सहयोग से अनशनधारी सिद्धि को प्राप्त करता है।

२५. निर्यापक : अर्हता, कार्य, संख्या

चारित्रस्य पर्यन्तसमये निर्यापका एव यथावस्थित-शोधिप्रदानत उत्तरोत्तरचारित्रनिर्वाहकाः.....!

(व्यभा ४१६४ की वृ)

चारित्रमयजीवन के पर्यन्तसमय—अनशनकाल में निर्यापक ही यथावस्थित शोधि प्रदान करते हैं, इससे वे उत्तरोत्तर चारित्र के निर्वाहक होते हैं।

पासत्थोसन्नकुसीलठाणपरिवज्जिया तु निज्जवगा ।
पियधम्मऽवज्जभीरू, गुणसंपन्ना अपरितंता ॥
उव्वत्त दार संथार, कहग वादी य अग्गदारम्मि ।
भत्ते पाण विद्यारे, कधग दिसा जे समत्था य ॥
जो जारिसिओ कालो, भरहेरवएसु होति वासेसु ।
ते तारिसया ततिया, अड्यात्तीसं तु निज्जवगा ॥
एवं खलु उक्कोसा, परिहायंता हवंति तिण्णोव ।
दो गीयत्था ततिए, असुन्नकरणं जहन्नेणं ॥
(व्यभा ४३२०-४३२३)

अनशनकर्ता की समाधि में जो योगभूत होते हैं, वे

निर्यापक कहलाते हैं। वे पार्श्वस्थ-अवसन्न-कुशील स्थानों का वर्जन करने वाले, प्रियधर्मा, पापभीरु, गुणसम्पन्न तथा अपरिभ्रंत होते हैं। उनके कार्य इस प्रकार हैं—

१. अनशनधारी की करवट बदलना।
२. द्वारमूल में स्थित रहना।
३. संस्तारक (उसके लिए बिलौना) करना।
४. अनशनी को धर्मकथा सुनाना।
५. वाद करना—उल्लंठ व्यक्तियों के वचनों का प्रतिकार करना।
६. अग्र द्वार पर स्थित रहना।
७. निर्यापकों के योग्य आहार लाना।
८. प्रत्याख्याता के योग्य पानी लाना।
९. उच्चर-परिष्ठापन करना।
१०. प्रसन्नवण-परिष्ठापन करना।
११. बाहर लोगों को धर्मकथा सुनाना।
१२. चारों दिशाओं में चार साहस्रक मल्ल।

इन बारह प्रकार के कार्यों में से प्रत्येक कार्य के लिए चार-चार निर्यापक नियुक्त होते हैं। इस प्रकार कुल अड़तालीस निर्यापक होते हैं।

भरतक्षेत्र और ऐरवतक्षेत्र में जब जैसा काल होता है, ये निर्यापक उस काल के अनुरूप होते हैं। निर्यापकों की उत्कृष्ट संख्या अड़तालीस है। जघन्य दो गीतार्थ मुनि अनशनी के पास होते हैं। एक भक्तपान की मार्गणा करता है, दूसरा भक्तप्रत्याख्याता के पास रहता है। (अनशनकर्ता को अकेला नहीं छोड़ा जा सकता।)

...निज्जवगेण समाही, कायव्वा उत्तमदुम्मि ॥
एवकम्मि उ निज्जवगे, विराहणा होति कज्जहाणी य ।...
एगो संथारगतो, बितिओ संलेह ततिय पडिसेधो ।
अपहुव्वंतऽसमाही, तस्स व तेसिं च असतीए ॥
(व्यभा ४२७२, ४२७३, ४२८०)

निर्यापक अनशनधारी को समाधिस्थ रखता है। निर्यापक अनेक होने चाहिए। एक निर्यापक होने से अतिश्रम के कारण आत्मविराधना तथा संयमविराधना और कार्यहानि का प्रसंग आता है।

एक मुनि अनशन में स्थित है, दूसरा संलेखना कर रहा

है, तीसरा फिर तैयार हो रहा हो तो निषेध कर देना चाहिए क्योंकि पर्याप्त कुशल निर्यापकों के अभाव में उन्हें असमाधि उत्पन्न हो सकती है। निर्यापक अनेक हों तो उसको भी स्वीकृति दी जा सकती है।

२६. निर्यापक के महानिर्जरा

वट्टंति अपरिन्ता, दिया व रातो व सव्वपडिकम्मं ।
पडियरगा गुणरयणा, कम्मरयं निज्जरेमाणा ॥
जो जत्थ होति कुसलो, सो तु न हावेति तं सति बलम्मि ।
उज्जुत्ता सनियोगे, तस्स वि दीवेंति तं सद्धं ॥
देहवियोगो खिण्णं, व होज्ज अहवा वि कालहरणेणं ।
दोणहं पि निज्जरा, वद्धमाण गच्छो उ एतद्धा ॥
(व्यभा ४३३५-४३३७)

श्रेष्ठ गुणसम्पन्न परिचारक या निर्यापक दिन-रात अश्रांत-अक्लांत भाव से अनशनकर्ता का सारा परिकर्म करते हुए कर्मरजों का निर्जरण करते हैं।

जो जिस परिकर्म में कुशल होते हैं, वे शक्ति होने पर उस परिकर्म की उपेक्षा नहीं करते, वे अपने कार्य में जागरूक रहकर प्रत्याख्याता की श्रद्धा को संज्वलित करते हैं।

प्रत्याख्याता का देहवियोग शीघ्र हो या विलंब से हो—इस स्थिति में जागरूक प्रतिचारक और प्रतिचर्यमाण दोनों विपुल निर्जरा के आभागी होते हैं। गच्छ का प्रयोजन यही है कि परस्पर उपकार से दोनों के कर्मनिर्जरा हो।

२७. अनशनधारी की समाधि का उपाय

संधारो मउओ तस्स, समाधिहेउं तु होति कातव्वो ।
तह वि य अविशहमाणे, समाहिहेउं उदाहरणं ॥
धीरपुरिसपण्णत्ते, सप्पुरिसनिसेविते परमरम्भे ।
धण्णा सिलातलगता, निरावयक्खा निवज्जंति ॥
जदि ताव सावयाकुल, गिरि-कंदर-विसमकडगदुगेसु ।
साधेंति उत्तिमट्टं, धितिधणियसहायगा धीरा ॥
किं पुण अणगारसहायणेण अण्णोण्णसंगहबलेणं ।
परलोइए न सक्का, साहेउं उत्तमो अट्टो ॥
जिणवयणाम्पमेयं, मधुरं कण्णाहुतिं सुणेताणं ।
सक्का हु साहुमज्झे, संसारमहोदधिं तरिउं ॥

सव्वे सव्वद्धाए, सव्वण्णू सव्वकम्मभूमीसु ।
सव्वगुरु सव्वमहिता, सव्वे मेरुम्मि अभिसित्ता ॥
सव्वाहि वि लद्धीहिं, सव्वे वि परीसहे पराइत्ता ।
सव्वे वि य तित्थगरा, पादोवगया तु सिद्धिगया ॥
अवसेसा अणगारा, तीत-पडुप्पण्णऽणागता सव्वे ।
केई पादोवगया, पच्चक्खाणिंगिणिं केई ॥
सव्वाओ अज्जाओ, सव्वे वि य पढमसंघयणवज्जा ।
सव्वे य देसविरता, पच्चक्खाणेण तु मरंति ॥
(व्यभा ४३४७-४३५५)

अनशनकर्ता के समाधिसम्पादन के लिए मृदु संस्तारक करना चाहिए। यदि वह किसी कारणवश असमाधि का अनुभव करे, परीषह या वेदना से आर्त हो तो उसे सोदाहरण प्रोत्साहित करना चाहिए—

वे धन्य हैं जो धीरपुरुषप्रज्ञप्त, सत्पुरुषनिषेवित, परमरम्य अभ्युद्यत मरण को स्वीकार कर शिलातल पर निरपेक्ष रहते हैं—
किसी का सहयोग नहीं लेते।

एकमात्र धृति ही जिनकी अत्यंत सहायक होती है, ऐसे अतिशय धृति-सम्पन्न अनशनी श्वापदों से आकीर्ण स्थानों, गिरिकंदराओं और विषम कटक-दुर्गों में अनशन की आराधना करते हैं तो फिर आपके लिए उत्तमार्थ (अनशन) आराधन शक्य क्यों नहीं है? परस्पर संग्रह-उपग्रह की शक्ति से सम्पन्न अनगार आपके सहयोगी हैं।

जिनवचन अतिशय मधुर और अग्नि में घृताहुति की भांति कानों को तृप्ति देने वाले होते हैं। इन वचनों को सुनने वाले, साधुओं से परिवृत उत्तमार्थी सरलता से संसार-सागर को तर जाते हैं। सर्वकालों में, सब कर्मभूमियों में सर्वगुरु, सर्वपूज्य, मेरुगिरि पर अभिषिक्त सर्वलब्धिसम्पन्न सर्वज्ञाता तीर्थकरों ने सभी परीषहों को पराजित कर प्रायोपगमन अनशन में सिद्धिगति को प्राप्त किया।

अतीत, वर्तमान और अनागत—तीनों कालों में शेष मुनियों में से यथाशक्ति कई प्रायोपगमन, कई इंगिनी और कई भक्तपरिज्ञा अनशन स्वीकार करते हैं।

प्रथम (तीन) संहनन वर्जित साधु-साध्वियां तथा श्रावक भक्तप्रत्याख्यान अनशन कर मृत्यु का वरण करते हैं।

० परीषह-पराजित को प्रेरणा

सव्वसुहप्यभवाओ, जीवियसाराउ सव्वजणगाओ।
 आहाराओ रतणं, न विज्जति हु उत्तमं लोए ॥
 विग्गहगते य सिद्धे, य मोत्तु लोगम्मि जत्तिया जीवा।
 सव्वे सव्वावत्थं, आहारे होंति उवउत्ता ॥
 तं तारिसगं रथणं, सारं जं सव्वलोगरथणाणं।
 सव्वं परिच्चइत्ता, पादोवगता पविहरंति ॥
 एयं पादोवगमं, निप्यडिकम्मं जिणेहि पण्णात्तं।
 जं सोऊणं खमओ, ववसायपरक्कमं कुणति ॥
 कोई परीसहेहिं, वाउलिओ वेयणहिओ वावि।
 ओभासेज्ज कयाई, पढमं बितियं च आसज्ज ॥
 गीतत्थमगीतत्थं, सारेउ मतिविबोहणं काउं।
 तो पडिबोहिय..... ॥

(व्यभा ४३५६-४३६१)

आहार सब सुखों का उत्पादक कारण, जीवन का सार और सबका जनक है। इस लोक में आहार से बढ़कर उत्तम रत्न अन्य कोई वस्तु नहीं है।

विग्रहगतिसमापन्न और सिद्ध—इनको छोड़कर लोक में शेष जितने जीव हैं, वे सब अवस्थाओं में आहार में उपयुक्त होते हैं।

लोक में सब रत्नों में सारभूत ऐसे आहार रत्न को छोड़कर जो प्रायोपगमन अनशन करते हैं, वे धन्य हैं। अनशनी इस जिनप्रज्ञप्त निष्प्रतिकर्म प्रायोपगमन के विषय में सुनकर अपने स्वीकृत निश्चय में पराक्रम करता है।

कदाचित् कोई उत्तमार्थी परीषह से व्याकुल और वेदना से अभिभूत हो आहार-पानी की याचना करे तो उसकी परीक्षा करनी चाहिये कि कहीं वह प्रान्तदेवता से अधिष्ठित होकर तो नहीं मांग रहा है। उसे पूछना चाहिये कि तुम गीतार्थ हो या अगीतार्थ? अभी दिन है या रात? सही उत्तर देने वाले को परीषह से पराजित मान कर प्रतिबोधित करना चाहिये।

२८. निर्बाध अनशन हेतु पर्यालोचन : देवसंकेत

कंचणापुर गुरुसण्णा, देवयरुवणा य पुच्छ कथणा य।
 पारणगखीररुधिरं, आमंतण संघनासणया ॥
 (व्यभा ४२७८)

कलिंग जनपद में कांचनपुर नाम का नगर। वहां बहुश्रुत आचार्य रह रहे थे। उनका शिष्य परिवार बृहद् था। एक बार वे अपने शिष्यों को सूत्र और अर्थ की वाचना देकर संज्ञाभूमि में गए। अन्तराल में उन्होंने एक विशाल वृक्ष के नीचे एक स्त्री को रोते हुए देखा। दूसरे, तीसरे दिन भी यही देखा। आचार्य को आशंका हुई। उन्होंने उस स्त्री से पूछा—तुम क्यों रो रही हो? उसने कहा—मैं इस नगर की अधिष्ठात्री देवी हूँ। यह नगर शीघ्र ही जल-प्रवाह से आप्लावित होकर नष्ट हो जाएगा। यहां अनेक मुनि स्वाध्यायशील हैं। उनके विनाश को सोचकर मैं रो रही हूँ। आचार्य ने पूछा—इस बात का प्रमाण क्या है? उसने कहा—अमुक तपस्वी मुनि के पारणक में लाया हुआ दूध रक्त बन जाएगा। जहां जाने से पुनः वह स्वाभाविक रूप में आएगा, वहां सुभिक्ष होगा और वहां सुखपूर्वक रहा जा सकेगा।

दूसरे दिन तपस्वी मुनि द्वारा पारणक में लाया हुआ दूध रक्त में बदल गया। तब संघ के प्रमुख व्यक्ति एकत्रित हुए, पर्यालोचन किया और समूचे संघ ने वहां से प्रस्थान कर दिया।

२९. स्कन्दक के शिष्यों की समाधि मृत्यु

मुणिसुव्वयंतवासी, खंदगदाहे य कुंभकारकडे।
 देवी पुरंदरजसा, दंडगि पालक्क मरुगे य ॥
 पंचसता जंतणं, रुट्टेण पुरोहिण्ण मलिताइं।
 रागद्दोसतुलग्गं, समकरणं चिंतयंतहिं ॥
 (व्यभा ४४१७, ४४१८)

कुम्भकारकट नगर। दंडकी राजा। पुरन्दरयशा रानी। पालक ब्राह्मण पुरोहित। अर्हत् मुनिसुव्रत के अंतेवासी स्कन्दक अनगर का अपने शिष्यों के साथ विहरण करते हुए वहां आगमन।

पुरोहित ने द्वेषवश उन पांच सौ शिष्यों को कोल्हू में पीलकर मार डाला। जब सबसे छोटे मुनि को पीलने लगे तो स्कन्दक अत्यंत कुपित हुए। उन्हें भी पील दिया। वे मरकर अग्नि कुमार देव के रूप में उत्पन्न हुए। अपने पूर्वभव की स्मृति कर दंडकी के पूरे देश को भस्म कर दिया।

पांच सौ शिष्य रुष्ट पुरोहित के द्वारा पीले जाते हुए भी

रग-द्वेष से मुक्त (मध्यस्थ) रहकर समभाव का अनुचिन्तन करते हुए समाधि मृत्यु को प्राप्त हुए।

* इत्वरिक-यावत्कथिक अनशन द्र श्रीआको १ अनशन

अनागाढ योग— नंदी, उत्तराध्ययन आदि श्रुतग्रंथों के अध्ययन काल में किया जाने वाला उपधान। द्र स्वाध्याय

अनुद्घात— गुरु प्रायश्चित्त, जिसमें भाग या परिवर्तन नहीं किया जाता। द्र प्रायश्चित्त

अनुप्रेक्षा— मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन। द्र भावना

अनुयोग— सूत्र के अनुरूप अर्थ की योजना।

१. अनुयोग की परिपाटी : कुंभजल दृष्टांत

सुत्तथो खलु पढमो, बिइओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।

तइओ य निरवसेसो, एस विही भणिय अणुयोगे ॥

निरवयवो न हु सक्को, सयं पगासो उ संपयंसेउं।

कुंभजले वि हु तुरिउज्झियम्मि न हु तिम्यए लिट्टु ॥

द्वितीयस्यां परिपाट्यां 'निर्युक्तिमिश्रितः' पीठि-

कथा सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या च समन्वितः...तृतीयस्यां परिपाट्यामनुयोगो निरवशेषो वक्तव्यः, पद-पदार्थ-चालना-प्रत्यवस्थानादिभिः सप्रपञ्चं समस्तं कथयित-व्यमिति भावः। एष विधिरनुयोगे ग्रहणधारणादिसमर्थान् शिष्यान् प्रति वेदितव्यः।...मन्दमेधसां श्रवणपरिपाट्या विवक्षिताध्ययनार्थावगमः ततस्तान् प्रति सप्तवारान् अनुयोगो यथाप्रतिपत्ति कर्तव्यः। (बृभा २०९, २१३ वृ)

१. प्रथम अनुयोग—सूत्र के अर्थमात्र का प्रतिपादन।

२. द्वितीय अनुयोग—दूसरी परिपाटी में पीठिका और सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति से समन्वित अर्थ का प्रतिपादन।

३. तृतीय अनुयोग—तीसरी परिपाटी में निरवशेष अर्थ का प्रतिपादन—पद, पदार्थ, चालना, प्रत्यवस्थान आदि द्वारा प्रसंग-अनुप्रसंग सहित समग्रता से व्याख्या।

यह अनुयोगविधि ग्रहण-धारणा आदि की शक्ति से सम्पन्न शिष्यों के लिए है।

सूत्र का अर्थ संपूर्ण रूप से एक बार में प्रकाशित भी नहीं किया जा सकता और सूत्रार्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ शिष्य भी उसको एक बार में ग्रहण नहीं कर पाता। जैसे—जल से परिपूर्ण घट का पूरा पानी भी यदि अतिशीघ्रता से पत्थर के टुकड़े पर गिराया जाए तो भी वह सर्वात्मना गीला नहीं हो पाता। इसलिए तीन परिपाटियों में अनुयोग के कथन का प्रतिपादन है।

मन्दमति शिष्यों को श्रवणपरिपाटी द्वारा विवक्षित अध्ययन का अर्थबोध होता है, अतः उनके प्रति सात बार अनुयोग किया जाता है।

* अनुयोग विधि द्र श्रीआको १ अनुयोग

* श्रवणविधि के सात अंग द्र श्रीआको १ शिक्षा

(अनुयोग विधि के तीन प्रकार और श्रवण विधि के सात प्रकार बतलाए गए हैं। सब शिष्य समान योग्यता वाले

१. अनुयोग की परिपाटी : कुंभजल दृष्टांत

२. अनुयोग के पर्याय

◦ भाषा : प्रतिध्वनि दृष्टांत

◦ विभाषा : अश्व दृष्टांत

◦ वार्तिक : मंखफलक दृष्टांत

३. अनुयोग का प्रवेशद्वार : उपक्रम

◦ द्रव्य-क्षेत्र-काल उपक्रम

४. भाव उपक्रम : गणिका आदि दृष्टांत

५. सर्वश्रुत का अनुयोग : कल्प-व्यवहार अनुयोग

* निशीथ का अनुयोग

द्र छेदसूत्र

६. अनुयोगकृत् (आचार्य) के छत्तीस गुण

* श्रुतविनय : निःशेष वाचना

द्र आचार्य

७. अनुयोग की प्रवृत्ति : गौ दृष्टांत

◦ वीर-गौतम दृष्टांत

८. प्रमादी शिष्य : आर्य कालक का स्वर्णभूमिगमन

◦ धूलि दृष्टांत

* अनुयोग (वाचना) के योग्य-अयोग्य द्र अंतेवासी

* छेदसूत्र की अर्थवाचना के योग्य

द्र छेदसूत्र

* अर्धमण्डली व्यवस्था

द्र वाचना

* आचार्य अर्थ के उत्प्रेक्षक

द्र सूत्र

* आचार्य अर्थवाचक

द्र संघ

* वाचना सम्पदा

द्र गणिसम्पदा

नहीं होते। इसलिए योग्यता की तरतमता के आधार पर इन तीन अनुयोगविधियों में से किसी एक विधि का सात बार प्रयोग किया जा सकता है।—नंदी १२७ का टि)

२. अनुयोग के पर्याय

अणुयोगो य नियोगो, भास विभासा य वत्तियं चैव ।...

अनुकूलः सूत्रस्यार्थेन योगोऽनुयोगः । निश्चितो योगो नियोगः । अर्थस्य भाषणं भाषा । विविधप्रकारैर्भाषणं विभाषा । वृत्तौ भवं वार्तिकम्, यदेकस्मिन् पदे यदर्थापन्नं तस्य सर्वस्यापि भाषणम् । (बृभा १८७ वृ)

अनुयोग के पांच पर्याय हैं—

१. अनुयोग—सूत्र के अनुरूप अर्थ का योग ।
२. नियोग—सूत्र के साथ अर्थ का निश्चित योग ।
३. भाषा—सूत्र के अर्थ का कथन ।
४. विभाषा—एक सूत्र के विविध अर्थों का प्रतिपादन ।
५. वार्तिक—सूत्र के अर्थ का समग्रता से प्रतिपादन ।

० भाषाः प्रतिध्वनि दृष्टांत

पडिसद्गसस सरिसं, जो भासइ अत्थमेगु सुत्तस्स ।
सामइय बाल पंडिय, साहु जईमाइया भासा ॥
समभावः सामायिकम्, द्वाभ्यां—बुभुक्षया तृषा
वाऽऽगलितो बालः । पापात् डीनः—पलायितः पण्डितः ।
.....साधयति मोक्षमार्गमिति साधुः । यतते सर्वात्मना
संयमानुष्ठानेष्विति यतिः । (बृभा १९६ वृ)

गुफा आदि में किए गए शब्द के सदृश प्रतिशब्द होता है। वैसे ही सूत्र के अनुरूप उसका एक अर्थ बताना भाषा है। जैसे—

सामायिक—समभाव की साधना ।

बाल—धुधा-पिपासा से आकुल रहने वाला ।

पण्डित—पाप से पलायन करने वाला ।

साधु—मोक्षमार्ग को साधने वाला ।

यति—सर्वात्मना संयमानुष्ठान में प्रयत्नशील रहने वाला ।

० विभाषा : अश्व दृष्टांत

एगषए उ दुगाई, जो अत्थे भणइ सा विभासा उ ।

असइ य आसु य धावइ, न य सम्मइ तेण आसो उ ॥

(बृभा १९८)

एक पद के दो, तीन आदि अर्थ कहना विभाषा है।
जैसे अश्व शब्द की व्याख्या करते समय कहना—

जो खाता है, वह अश्व है ।

जो तीव्र गति से दौड़ता है, परन्तु श्रान्त नहीं होता,
वह अश्व है ।

० वार्तिक (भाष्यकार) : मंखफलक दृष्टांत

सामाइयस्स अत्थं, पुव्वधर समत्तमो विभासेइ ।
चउरो खलु मंखसुया, वत्तीकरणम्मि आहरणा ॥
फलगिबको गाहाहिं, बिइओ तइओ य वाइयत्थेणं ।
तिन्नि वि अकुडुंबभरा, तिगजोग चउत्थओ भरइ ॥
जे जम्मि जुगे पवरा, तेसि सगासम्मि जेण उग्गहियं ।
.....वत्तीकरो स खलु ॥
(बृभा १९९-२०१)

चतुर्दशपूर्वी सामायिक आदि का समस्त अर्थ बता देते हैं। उसके पश्चात् कुछ भी कहना शेष नहीं रहता। उन्हें व्यक्तिकर अथवा वार्तिककर कहा जाता है।

मंखफलक-दृष्टांत—चार मंख (चित्रपट्ट आजीवी) थे। उनमें से एक मंखफलक लेकर घूमता है, गाथा का उच्चारण नहीं करता है और न उसका अर्थ बताता है। दूसरा मंखफलक लेकर नहीं जाता, केवल गाथा पढ़ता हुआ घूमता है। तीसरा मंख न फलक ग्रहण करता है, न गाथा का उच्चारण करता है, किन्तु किंचित् अर्थ बताता है। इन तीनों को कुटुम्बपोषण के लिए कुछ भी धन प्राप्त नहीं होता है।

चौथा मंख फलक लेकर गाथा पढ़ता हुआ और उनका अर्थ बताता हुआ घूमता है। उसको अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो जाता है।

(भाष्यकार चतुर्थ मंख के सदृश होता है। वह सूत्र और अर्थ को समग्रता से व्यक्त करता है।)

जिस युग में जो प्रधान अनुयोगकृत होते हैं, उनके पास अध्ययन करने वाला ग्रहण-धारण में समर्थ जो शिष्य उनसे सम्पूर्ण श्रुत को ग्रहण कर अतिशय विशदता से अपने शिष्यों को बताता है, वह भाष्यकार है।

३. अनुयोग का प्रवेशद्वार : उपक्रम

उपोद्धातेनाभिहितेन सूत्रादयोऽर्था अतिव्यक्ता

भवन्ति—

वत्तीभवन्ति दव्वा, दीवेणं अप्पगासे उव्वरए ।

वत्तीभवन्ति अत्था, उवघाएणं तहा सत्थे ॥

उपोद्घाताभिधानमन्तरेण पुनः शास्त्रं स्वतो-
ऽतिविशिष्टमपि न तथाविधमुपादेयतया विराजते, यथा
नभसि मेघाच्छन्नश्चन्द्रमाः ।

मेघच्छन्नो यथा चन्द्रो, न राजति नभस्तले ।

उपोद्घातं विना शास्त्रं, न राजति तथाविधम् ॥

(बृभा २५८-२६१)

उपक्रम का समानार्थक शब्द है उपोद्घात । उपोद्घात कथन से जिस सूत्र की जिस प्रसंग में जो व्याख्या करनी होती है, उसकी पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है—सूत्र का उद्देश-निर्देश, निर्गम, रचनाकाल, रचनाक्षेत्र, ग्रंथ का प्रयोजन और प्रतिपाद्य—यह सब अत्यंत स्पष्ट हो जाते हैं ।

अंधेरे ओरे में रखी हुई वस्तुएं दीपक के प्रकाश में दिखाई देती हैं, उसी प्रकार शास्त्र में निहित अर्थ उपोद्घात के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं ।

उपक्रम के बिना स्वतः अतिविशिष्ट शास्त्र भी अपने वैशिष्ट्य के अनुरूप उपादेय नहीं होता ।

जिस प्रकार मेघ से आच्छादित चन्द्रमा आकाश में नहीं चमकता, उसी प्रकार शास्त्र भी उपोद्घात के बिना उपयोगी नहीं बनता ।

० द्रव्य-क्षेत्र-काल उपक्रम

सच्चित्तार्इ ति विहो, उवक्कमो दव्वि सो भवे दुविहो ।

परिकम्मणम्मि एक्को, बिइओ संवट्टणाए उ ॥

जेण विसिस्सइ रूवं, भासा व कलासु वा वि कोसल्लं ।

परिकम्मणा उ एसा, संवट्टणं वत्थुनासो उ ॥

नावाएँ उवक्कमणं, हल-कुलियाईहिं वा वि खित्तस्स ।

सम्मज्ज-भूमिकम्मे, पंथ-तलागाइएसुं तु ॥

छायाएँ नालियाइ व, कालस्स उवक्कमो विउपसत्थो ।

रिक्खाईचारेसु व, साव-विबोहेसु व दुमाणं ॥

(बृभा २५८-२६१)

० द्रव्य उपक्रम—लौकिक द्रव्य उपक्रम के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त, मिश्र । इनमें से प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—

१. परिकर्म—वस्तु को विशिष्टतर बनाना, रूप को सजाना-संवारना, विशिष्ट भाषा सिखाना व कलाओं में कुशल बनाना ।

२. संवर्तन—वस्तु को सम्पूर्ण रूप में या आंशिक रूप में विनष्ट कर देना ।

सचित्त उपक्रम—सचित्त वस्तु के परिकर्म और विनाश में किया जाने वाला उपक्रम । यथा—नट को पोशाक पहनाना, शुक-सारिका को स्पष्ट वर्णोच्चारण सिखाना, पुरुष का कलाओं में पारंगत होना आदि सचित्त परिकर्म है । किसी प्राणी का वध करना—यह सचित्त संवर्तन है ।

अचित्त उपक्रम—अचित्त वस्तु के परिकर्म और विनाश में किया जाने वाला उपक्रम । यथा—सोने का कड़ा बनाना । कड़े को भांजना ।

मिश्र उपक्रम—यथा—आभूषणयुक्त नट को सुंदर वेष पहनाना, आभूषणों से अलंकृत पुरुष को बहतर कलाएं सिखाना मिश्र परिकर्म है ।

शास्त्रधारी पुरुष को मारना मिश्र संवर्तन है ।

० क्षेत्र उपक्रम—नौका आदि से नदी को पार किया जाता है, हल, कुलिका (खेत में उगे हुए घास को काटने का उपकरण) आदि के द्वारा खेत को बीज बोने योग्य किया जाता है, घर और देवकुल का सम्मार्जन या भूमिकर्म किया जाता है, मार्ग का शोधन और तालाब आदि का खनन किया जाता है—यह क्षेत्र उपक्रम है ।

० काल उपक्रम—शंकुच्छाया, नालिका (घटिका—तांबे से बनी हुई एक घड़ी, जिससे धूलि या पानी के नीचे गिरने से समय को जाना जाता है । जितने समय में ऊपर का पदार्थ नीचे जाता है, वह एक मुहूर्त का समय होता है), नक्षत्र की गति आदि के द्वारा समय को जाना जाता है—यह विद्वत्प्रशस्य काल उपक्रम है ।

द्रुमपुष्पों के विबोध और स्वाप (खिलने-मुरझाने) के आधार पर भी सूर्य के उदय-अस्त को जाना जाता है ।

४. भाव उपक्रम : गणिका-ब्राह्मणी-अमात्य दृष्टांत गणिका मरुगीऽमच्चे, अपसत्थो भावुवक्कमो होइ ।

आयरियस्स उ भावं, उवक्कमिज्जा अह पसत्थो ॥

(बृभा २६२)

दूसरे के भाव को जानने का उपक्रम भाव उपक्रम है।
लौकिक भाव उपक्रम के दो प्रकार हैं—

१. अप्रशस्त उपक्रम—वेश्या, ब्राह्मणी, मंत्री आदि की दूसरों के भावबोध की प्रवृत्ति। यहां लौकिक फल वाले उपक्रम को अप्रशस्त कहा गया है।

गंगाप्रवाह की दिशा बताकर शिष्य ने गुरु के इंगित की आराधना की। (द्र विनय)

गणिका दृष्टांत—एक वेश्या चौंसठ कलाओं में प्रवीण थी। आंगंतुकों का अभिप्राय जानने के लिए उसने अपनी चित्रसभा में मनुष्य जाति के जातिकर्म शिल्प, कुपित-प्रसादन आदि से संबंधित अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त व्यक्तियों के चित्र आलेखित करवाए। जो कोई व्यक्ति वहां आता, अपने व्यापार की प्रशंसा करता, अच्छे-बुरे चित्र की समीक्षा करता, उसके आधार पर वह अंकन कर लेती कि कौन व्यक्ति किस श्रेणी का है, कैसे स्वभाव वाला है और फिर उसके प्रति अनुकूल आचरण कर, उसे प्रसन्न कर, उससे पर्याप्त धन प्राप्त कर लेती।

ब्राह्मणी दृष्टांत—एक ब्राह्मणी चाहती थी कि शादी के बाद मेरी तीनों पुत्रियां सुखी रहें। ऐसी व्यवस्था करने के लिए उसने अपनी पुत्रियों से कहा—आज तुम पहली बार ससुराल जा रही हो। जब तुम्हारा पति कमरे में आए तो कोई गलती बताकर उसके सिर पर अपनी पाष्णि (एड़ी) से प्रहार करना, फिर उसकी प्रतिक्रिया मुझे बताना।

पहली पुत्री ने अपने पति के सिर पर पाद प्रहार किया। पति ने उसके पांव को सहलाते हुए कहा—मेरे कठोर सिर से तुम्हारे कोमल पांव में पीड़ा तो नहीं हुई? इस घटनाचक्र को सुनकर मां ने कहा—बेटी! वह तुम्हारा दास बनकर रहेगा।

दूसरी पुत्री ने प्रहार किया तो उसका पति थोड़ा सा गुस्सा कर शांत हो गया। इस स्थिति को सुनकर मां ने कहा—तुम भी थोड़ी सी सावधानी के साथ इच्छानुसार घर में रहो।

तीसरी पुत्री का पति आहत होने पर रुष्ट हो गया, उसे पीटा और उठकर चला गया। इस घटनाचक्र को सुनकर मां ने कहा—बेटी! यह उचित है। तुम अप्रमत्तता से देवता की भांति उसकी सेवा करो। यह निर्देश देकर मां जामाता के पास गई और बोली—यह हमारी कुल-परंपरा है, अन्यथा वह तुम्हारे प्रति ऐसा व्यवहार कैसे कर सकती

है—ऐसा कहकर उसे प्रसन्न किया।

अमात्य दृष्टांत—एक राजा शिकार के लिए जा रहा था। मार्ग में अश्व ने प्रस्रवण किया। लौटते समय राजा ने उस स्थान को गोला देखकर सोचा—यहां तालाब हो तो अच्छा रहे। मंत्री ने राजा के अन्तर्मन की बात जान ली और वहां तालाब खुदवा दिया। तट पर वृक्ष लगा दिए।

एक दिन राजा उधर से गुजरा, तालाब देखा और पूछा—यह तालाब किसका है? मंत्री ने कहा—आपका। राजा ने कहा—कैसे? मंत्री ने उस दिन की सारी बात बताई। राजा मंत्री पर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने मंत्री का वेतन बढ़ा दिया।
२. प्रशस्त उपक्रम—लोकोत्तर फल वाला उपक्रम, गुरु आदि के भावबोध की प्रवृत्ति।

(गुरु के भावों को समझकर तदनु रूप चेष्टा करना प्रशस्त भाव उपक्रम है। शास्त्राध्ययन के प्रसंग में गुरु का भावबोध तो अप्रासंगिक-सा लगता है, किन्तु गुरु के भावबोध को व्याख्या का मुख्य अंग माना गया है, क्योंकि शास्त्र का प्रारंभ गुरु के अधीन होता है। इसलिए शिष्य को गुरु की आराधना में तत्पर रहना चाहिये।—अनु ९९ का टि)

* शास्त्रीय भाव उपक्रम द्र श्रीआको १ अनुयोग

५. सर्वश्रुत का अनुयोग : कल्प-व्यवहार अनुयोग
जइ पवयणस्स सारो, अत्थो सो तेण कस्स कायव्वो।
एवंगुणनिणं, सव्वसुयस्साऽऽउ देसस्सा ॥
को कल्लाणं निच्छइ, सव्वस्स वि एरिसेण वत्तव्वो।
कप्प-व्ववहाराण उ, पगयं सिस्साण थिज्जत्थं ॥
जइ कप्पादणुयोगो, किं सो अंगं उयाहु सुयखंधो।
अञ्जयणं उद्देसो, पडिवक्खं गादिणो बहवो ॥
सुयखंधो अञ्जयणा, उद्देसा चेव हुंति निक्खिप्पा।
सेसाणं पडिसेहो, पंचणह वि अंगमाईणं ॥
(बृभा २४६, २४७, २५१, २५२)

प्रवचन—द्वादशांग का सार है अर्थ, श्रुत का अनुयोग। प्रश्न होता है कि गुण-संपन्न आचार्य श्रुत का अनुयोग समग्रता से करें या अंश रूप में करें? इस जिज्ञासा को समाहित करते हुए आचार्य कहते हैं—आचार्य को संपूर्ण श्रुत का अनुयोग करना चाहिए क्योंकि संपूर्ण श्रुत कल्याणकारी होता है और कल्याण

कौन नहीं चाहता? कल्प और व्यवहारसूत्र अपवाद बहुल हैं इसलिए शिष्यों के स्थिरीकरण के लिए गुणसंपन्न आचार्य को ही इन सूत्रों के अनुयोग का अधिकार है।

यदि कल्प और व्यवहार का अनुयोग प्रवृत्त होता है तो क्या कल्प एक अंग है? अथवा अनेक अंग हैं? एक श्रुतस्कंध है? अथवा अनेक श्रुतस्कंध हैं? एक अध्ययन है? अथवा अनेक अध्ययन हैं? एक उद्देशक है? अथवा अनेक उद्देशक हैं?

उपर्युक्त आठ विकल्पों में तीन विकल्प निक्षेप्य/आदरणीय हैं, शेष पांच विकल्प निक्षेप्य नहीं हैं। यथा—कल्प एक अंग नहीं है और अनेक अंग भी नहीं हैं। एक श्रुतस्कंध है, अनेक श्रुतस्कंध नहीं हैं। एक अध्ययन है, अनेक अध्ययन नहीं हैं। एक उद्देशक नहीं है, अनेक उद्देशक हैं।

(इसी प्रकार व्यवहार का स्वरूप ज्ञातव्य है। विशेष यह है कि कल्प के छह और व्यवहार के दस उद्देशक हैं।)

६. अनुयोगकृत् (आचार्य) के छत्तीस गुण

देस-कुल-जाइ-रूवी, संघइणी धिइजुओ अणासंसी।
अविकंथणो अमाई, थिरपरिवाडी गहियवक्को ॥
जियपरिसो जियनिहो, मण्डत्थो देस-काल-भावनू।
आसन्नलद्धपइभो, नानाविहदेसभासन्नू ॥
पंचविहे आयारे, जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहन्नू।
आहरण-हेउ-उवणय-नयनिउणो गाहणाकुसलो ॥
ससमय-परसमयविऊ, गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो।
गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं ॥
गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयपरिसित्तु व्व पावओ भाइ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहूणो जह पईवो ॥
(बृथा २४१-२४५)

अनुयोगकृत् (आचार्य) छत्तीस गुणों से संपन्न होते हैं—

१. देशयुत—मध्यदेश या साढे पचीस आर्य देशों में उत्पन्न।
२. कुलयुत—नागकुल, इश्वकुकुल आदि उत्तम कुलों में उत्पन्न।
३. जातियुत— उत्तम मातृक पक्ष वाले।

४. रूपयुत—शरीर सम्पदा से सम्पन्न।
५. संहननयुत—सुदृढ़ संहनन संपन्न।
६. धृतियुत—अतिगहन अर्थों में अभ्रमित।
७. अनाशंसी—अनाकांक्षी।
८. अविकल्थन—अबहुभाषी/अल्पभाषी।
९. अमायी—मायापूर्ण व्यवहार से शिष्य का निर्वहन न करने वाले।
१०. स्थिरपरिपाटी—निरन्तर अभ्यास के कारण अविच्छिन्न अनुयोग की परम्परा वाले।
११. गृहीतवाक्य—आदेय वचन वाले।
१२. जितपरिषद्—महान् परिषद् में भी अक्षुब्ध।
१३. निद्राजयी—नींद से अबाधित।
१४. मध्यस्थ—अपक्षपाती।
१५. देशज्ञ—देश को जानने वाले।
१६. कालज्ञ—काल को जानने वाले।
१७. भावज्ञ—अभिप्राय को जानने वाले।
१८. आसन्नलब्धप्रतिभ—प्रतिवादियों के प्रश्नों का तत्काल उत्तर देने में समर्थ।
१९. नानाविधदेशभाषज्ञ—अनेक देशों की भाषा जानने वाले।
२०. आचारसंपन्न—ज्ञान आदि पांच आचारों में सुस्थित।
२१. सूत्रविधिज्ञ—सूत्र की विधि को जानने वाले।
२२. अर्थविधिज्ञ—अर्थ की विधि को जानने वाले।
२३. तदुभयविधिज्ञ—सूत्र तथा अर्थ की विधि को जानने वाले।
२४. आहरण-निपुण—दृष्टांत-निपुण।
२५. हेतु-निपुण—ज्ञापक, कारक आदि हेतुओं में निपुण।
२६. उपनयनिपुण—उपसंहार करने में निपुण।
२७. नयनिपुण—नैगम आदि नयों में निपुण।
२८. ग्राहणाकुशल—प्रतिपादन की शक्ति से संपन्न।
२९. स्वसमयवित्—स्वसिद्धांत को जानने वाले।
३०. परसमयवित्—पर सिद्धांत को जानने वाले।
३१. गंभीर—गंभीर स्वभाव वाले।
३२. दीप्तिमान्—परवादियों द्वारा अनुद्धर्षणीय-अपराजेय।
३३. शिव—शांत स्वभाव वाले। कल्याण करने वाले।
३४. सोम—सौम्य दृष्टि वाले।

३५. गुणशतकलित—मूलगुण, उत्तरगुण आदि सैकड़ों गुणों से युक्त।

३६. प्रवचनयुक्त—द्वादशांग के सम्यक् व्याख्याता।

जो गुणों में सुस्थित है, उस अनुयोगकृत के वचन घृत से अभिषिक्त अग्नि की भांति दीप्त होते हैं। गुणहीन के वचन स्नेहविहीन दीपक की भांति प्रभासित नहीं होते।

७. अनुयोग की प्रवृत्ति : गौ दृष्टान्त

अणिउत्तो अणिउत्ता, अणिउत्तो चेव होइ उ निउत्ता।
निउत्तो अणिउत्ता, उ निउत्तो चेव उ निउत्ता॥
निउत्ता अनिउत्ताणं, पवत्तई अहव ते वि उ निउत्ता।
दव्वम्मि होइ गोणी, भावम्मि जिणादयो हुंति॥
अध्यणहुया य गोणी, नेव य दुद्धा समुज्जओ दुद्धं।
खीरस्स कओ पसवो, जइ वि य सा खीरदा धेणू॥
बीए वि नत्थि खीरं, थेवं व हविज्ज एव तइए वि।
अत्थि चउत्थे खीरं, एसुवमा आयरिय-सीसे॥
अहवा अणिच्छमाणमवि किंचि उज्जोगिणो पवत्तंति।
तइए सारिंते वा, होज्ज पवित्ती गुणिते वा॥
(बृभा २३४-२३८)

अनुयोगप्रवर्तन को बताने के लिए प्रवृत्ति के दो प्रकार किए गए हैं—

द्रव्यतः—क्षीरप्रसव हेतु गौदृष्टान्त।

भावतः—जिन आदि अनुयोगप्रवर्तक।

गाय और दोहक से संबंधित चार विकल्प हैं—

१. दोहक अनियुक्त, गौ भी अनियुक्त
२. दोहक अनियुक्त, गौ नियुक्त
३. दोहक नियुक्त, गौ अनियुक्त
४. दोहक नियुक्त, गौ भी नियुक्त

प्रथम भंग में गाय अप्रस्तुता है, दोहक अनियुक्त है, तब क्षीर की प्राप्ति नहीं होगी।

द्वितीय भंग में दोहक अनियुक्त है किन्तु गाय नियुक्त है तो क्षीर की प्राप्ति नहीं होगी। यदि प्रस्तुता गाय के स्तनों से थोड़ा-थोड़ा क्षीर गिरता है तो थोड़े क्षीर की प्राप्ति हो जायेगी।

तृतीय भंग में गाय अनियुक्त और दोहक नियुक्त है, तब क्षीर की प्राप्ति नहीं होगी किन्तु दोहक में गुण है तो

थोड़ा क्षीर प्राप्तकर लेगा।

चतुर्थ भंग में दोनों नियुक्त हैं तो क्षीर की प्राप्ति होगी।

गाय व दोहक की उपमा के आधार पर आचार्य व शिष्य के अनुयोग की प्रवृत्ति को जान लेना चाहिए। इसके चार विकल्प हैं—

१. आचार्य अनियुक्त, शिष्य भी अनियुक्त
२. आचार्य अनियुक्त, शिष्य नियुक्त
३. आचार्य नियुक्त, शिष्य अनियुक्त
४. आचार्य नियुक्त (अनुयोग में प्रवृत्त), शिष्य भी नियुक्त (श्रवण में प्रवृत्त)।

पहले भंग में आचार्य व शिष्य दोनों अनुयोग में अनियुक्त हैं तो अनुयोग की प्रवृत्ति नहीं होगी।

दूसरे भंग में आचार्य अनुयोग की प्रवृत्ति में अनियुक्त हैं और शिष्य नियुक्त हैं तब भी अनुयोग की प्रवृत्ति नहीं होगी, किन्तु शिष्य यदि पुरुषार्थी हैं तो आचार्य के न चाहने पर भी वे बार-बार प्रश्न, जिज्ञासा आदि के द्वारा आचार्य को अनुयोग में प्रवृत्त कर देते हैं।

तीसरे भंग में आचार्य अनुयोग की प्रवृत्ति में नियुक्त हैं पर शिष्य नियुक्त नहीं हैं तो अनुयोग की प्रवृत्ति नहीं होगी, किन्तु आचार्य समर्थ हैं तो वे शिष्यों को प्रेरणा-प्रोत्साहन द्वारा अनुयोग में प्रवृत्त कर देते हैं।

अथवा 'अनुयोग की परम्परा विच्छिन्न न हो'—इस चिन्तन से आचार्य शिष्य के न चाहने पर भी उसके समक्ष ग्रंथपरावर्तन के निमित्त से अनुयोग में प्रवृत्त होते हैं। यथा आचार्य कालक।

चौथे भंग में आचार्य तथा शिष्य दोनों अनुयोग में नियुक्त हैं तो सहज ही अनुयोग की प्रवृत्ति होगी।

० वीर-गौतम दृष्टान्त

निउत्तो उभउकालं, भयवं कहणाएँ वद्धमाणो उ।

गोयममाई वि सया, सोयव्वे हुंति उ निउत्ता॥

(बृभा २४०)

भगवान् वर्धमान दोनों समय अनुयोग में प्रवृत्त होते थे और गौतम आदि शिष्य सदा श्रोतव्य में नियुक्त थे—यह चतुर्थ विकल्प (आचार्य नियुक्त शिष्य भी नियुक्त) का निदर्शन है।

८. अप्रमादी शिष्य : आर्यकालक का स्वर्णभूमिगमन
सागारियमप्याहण, सुवन्न सुयसिस्स खंतलवखेण।

कहणा सिस्सागमणं, धूलीपुंजोवमाणं च॥

उज्जेणीए नयरीए अज्जकालगा नामं आयरिया
सुत्त-ऽत्थोववेया बहुपरिवारा विहरंति। तेसिं अज्ज-
कालगाणं सीसस्स सीसो सुत्त-ऽत्थोववेओ सागरो नामं
सुवन्नभूमीए विहरइ। ताहे अज्जकालया चिंतंति—एस मम
सीसा अणुओगं न सुणंति तओ किमेएसिं मज्जे चिट्ठमि ?
तत्थ जामि जत्थ अणुओगं पवत्तेमि । “सुवन्नभूमीए सागराणं
सगासं गया” खंतलवखेण पविट्ठा “सागरायरिया ‘खंत’
त्ति काउं तं नाडाइया अब्भुट्ठाणाईहिं। तओ अत्थपोरिसी-
वेलाए सागरायरिएणं भणिगा—खंता! तुब्भं एयं गमइ ?
आयरिया भणंति—आमं। ‘तो खाइं सुणेह’ त्ति पकहिया,
गळ्वायंता य कहिंति। इयरे वि सीसा पभाए
संते” उच्चलिया सुवन्नभूमिं गंतुं। पंथे लोगो पुच्छइ—
एस कयरो आयरिओ जाइ? ते कहिंति
अज्जकालगा । “सागरा सिस्साणं पुरओ भणंति—मम
अज्जया इति, तेसिं सगासे पयत्थे पुच्छीहामि त्ति। अचिरेणं
ते सीसा आगया। तत्थ अगिल्लेहिं पुच्छिज्जंति—किं इत्थ
आयरिया आगया चिट्ठंति? नत्थि, नवरं अन्ने खंता
आगया। केरिसा? वंदिए नायं ‘एए आयरिया’ ताहे सो
सागरो लज्जिओ ‘बहुं मए इत्थ पलवियं, खमासमणा य
वंदाविया।’ “भणियं च णेण—केरिसं खमासमणो अहं
वागरेमि? आयरिया भणंति—सुंदरं, मा पुण गळ्वं
करिज्जासि। ताहे धूली-पुंजदिट्ठं करंति। (बृथा २३९ वृ)

एक बार विहरण करते हुए आचार्य कालक का पदार्पण
अवन्ति में हुआ। उस समय वे वृद्धावस्था में थे और अपने
शिष्य वर्ग को अत्यंत जागरूकता के साथ आगम-वाचना
देते थे। उनके जैसा उत्साह उनके शिष्य वर्ग में नहीं था।
सभी शिष्य आगम-वाचना ग्रहण करने में अत्यन्त उदासीन
थे। अपने शिष्यों के इस प्रमत्त भाव से आचार्य कालक
खिन्न हुए। वे उनको शिक्षा देने की दृष्टि से शय्यातर के
पास जाकर बोले—‘मैं अपने अविनीत शिष्यों को यहां छोड़कर
इन्हें बिना सूचित किए अपने प्रशिष्य सागर के पास स्वर्ण-

भूमि की ओर जा रहा हूँ। पर मेरे चले जाने की सूचना
शिष्यवर्ग को अत्यन्त आग्रहपूर्वक पूछने पर उन्हें सरोष स्वरों
में बताना।’ शय्यातर को इस प्रकार अपनी बात पूरी तरह से
समझाकर गुप्त रूप से आचार्य कालक ने वहां से विहार कर
दिया।

वे सुदूर स्वर्णभूमि में सागर के पास पहुंचे। आगम-
वाचनारत आचार्य सागर ने उन्हें सामान्य वृद्ध साधु समझकर
अभ्युत्थान आदि द्वारा उनका आदर नहीं किया। अर्थ-पौरुषी
(अर्थ-वाचना) के समय शिष्य सागर ने अपने सम्मुख
आसीन आगन्तुक को संकेत करते हुए पूछा—“वृद्ध! मेरा
कथन समझ में आ रहा है?” आचार्य कालक ने ‘ओम्’
कहकर स्वीकृति दी। सागर सगर्व बोले—“वृद्ध! अवधानपूर्वक
सुनो।” आचार्य कालक गंभीर मुद्रा में बैठे थे। आर्य सागर
अनुयोग प्रदान में प्रवृत्त हुए।

उधर अवन्ति में आचार्य कालक के शिष्यों ने देखा—
उनके बीच में आचार्य कालक नहीं हैं। उन्होंने इधर-उधर
खोज की पर वे नहीं मिले। शिष्यों ने शय्यातर से पूछा—
‘आचार्य देव कहां हैं?’ आग्रहपूर्वक पूछने पर शय्यातर ने
कठोर रुख बनाकर शिष्यों से कहा—“आप जैसे अविनीत
शिष्यों की अनुयोग ग्रहण करने में अलसता के कारण खेदखिन्न
आचार्य कालक स्वर्णभूमि में प्रशिष्य सागर के पास चले गए
हैं।” शय्यातर के कटु उपालम्भ से लज्जित-उदासीन शिष्यों
ने तत्काल अवन्ति से स्वर्णभूमि की ओर प्रस्थान कर दिया।
विशाल श्रमण संघ को विहार करते देख लोग प्रश्न करते—
कौन आचार्य जा रहे हैं? शिष्य कहते—आचार्य कालक।

श्रावकवर्ग ने आर्य सागर से निवेदन किया—विशाल
परिवारसहित आचार्य कालक आ रहे हैं। अपने दादा गुरु के
आगमन की बात सुनकर उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। पुलकित
मन होकर आर्य सागर ने अपने शिष्य वर्ग को गुरु के आगमन
की सूचना दी और कहा—मैं उनसे कई गंभीर प्रश्न पूछकर
समाहित होऊंगा।

शीघ्र गति से चलते हुए आचार्य कालक के शिष्य
स्वर्णभूमि में पहुंचे और आर्य सागर के अग्रवर्ती शिष्यों से
पूछा—आचार्य कालक यहां पधारे हुए हैं? उत्तर मिला—एक

वृद्ध श्रमण के अतिरिक्त यहां कोई नहीं आया। कौन वृद्ध ? तत्पश्चात् नवांगंतुक श्रमण संघ द्वारा अभिवदित होते देखकर आर्य सागर ने अपने दादा गुरु आचार्य कालक को पहचाना। उन्हें अपने द्वारा कृत अविनय के कारण लज्जा की अनुभूति हुई। सागर ने कहा—मैंने बहुत प्रलाप किया है, वंदना करवा कर क्षमाश्रमण की आशातना की है, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, फिर विनम्र स्वरों में पूछा—क्षमाश्रमण! क्या मैं अनुयोग वाचना उचित प्रकार से दे रहा था? आचार्य कालक ने धूलिपुंज के उपमान से बताया—तुम्हारा अनुयोग सम्यक् है, पर गर्व मत करना।

० धूलिदृष्टांत

धूली हत्थेण घेत्तुं तिसु द्वाणेषु ओयारंति—जहा एस धूली ठविज्जभाणी उखिप्पमाणी य सक्कत्थ परिसड्ड, एवं अत्थो वि तित्थगरेहिंतो गणहराणं गणहरेहिंतो जाव अहं आयरि-उवज्जायाणं परंपरणं आगयं, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गलिया ? ता मा गव्वं काहिसि। ताहे 'मिच्छा दुक्कडं' करित्ता आढत्ता अज्जकालिया सीस-पसीसाण अणुओगं कहेउं। (बृभा २३९ की वृ)

ज्ञान अनन्त है। जैसे मुष्टि-भर धूल राशि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर एवं दूसरे स्थान से तीसरे स्थान पर रखते-उठाते समय वह न्यून से न्यूनतर होती जाती है, वैसे ही तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित अर्थ गणधरों को, गणधरों से आचार्य परम्परा को यावत् हम आचार्य-उपाध्यायों को प्राप्त हुआ है। कौन जाने किस अनुयोग के कितने पर्याय गलित हो गए? इसलिए गर्व मत करना। सागर ने कहा—मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। तब आचार्य कालक शिष्य-प्रशिष्यों को अनुयोग देने में प्रवृत्त हुए।

अनुशिष्टि—स्व-पर को अथवा दोनों को अनुशासित—संबोधित और प्रशिक्षित करना। स्तुति करना। द्र वैयावृत्य

अपरिणामक—वह व्यक्ति जो, आगमोक्त विषय पर श्रद्धा नहीं करता। द्र अंतेवासी

अपवादसूत्र—वह सूत्र, जिसमें आचारविषयक विशेष विधि का प्रतिपादन हो। उत्सर्ग का प्रतिपक्षी सूत्र। द्र सूत्र

अभिषेक—आचार्यपद के योग्य मुनि।

अभिषेकः सूत्रार्थतदुभयोपेत आचार्यपदस्थापनार्हः।

(बृभा ४३३६ की वृ)

जो सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ का ज्ञाता है, आचार्यपद पर प्रतिष्ठित करने योग्य है, वह अभिषेक कहलाता है।

* अभिषेक : उपाध्याय द्र संघ

अभ्युद्यत मरण—प्रशस्त अनशनत्रयी। द्र अनशन

अभ्युद्यत विहार—जिनकल्प आदि की साधना का प्रयोग। द्र जिनकल्प

अर्थकल्पिक—आवश्यक से लेकर सूत्रकृतांग तक के आगमों के अर्थ का ज्ञाता। द्र श्रुतज्ञान

अवग्रह—अधिकृत वस्तु, क्षेत्र आदि। स्थान आदि का अनुज्ञापूर्वक ग्रहण।

- | | |
|---|------------------|
| १. अवग्रहकल्पिक | |
| २. अवग्रह के पांच प्रकार | |
| ३. अवग्रह-प्राधान्य और पूर्व-अभिनव अनुज्ञा | |
| ४. प्रत्येक अवग्रह के चार प्रकार | |
| ५. द्रव्य अवग्रह | |
| * शक्रेन्द्र-ईशानेन्द्र का क्षेत्रावग्रह | द्र देव |
| ६. चक्रवर्ती का क्षेत्रावग्रह | |
| ७. गृहपति-शय्यातर-साधर्मिक का क्षेत्रावग्रह | |
| ८. सात अवग्रह-प्रतिमाएं | |
| ९. इन्द्र और चक्री का कालावग्रह | |
| १०. मुनि के वृद्धवास आदि का कालावग्रह | |
| * वर्षावास का उत्कृष्ट अवग्रहकाल | द्र पर्युषणाकल्प |
| ११. भाव अवग्रह : मनसा-वाचा अनुज्ञा | |
| १२. अवग्रह (आभवद् व्यवहार) : अधिकारी-अनधिकारी | |
| * वाचना और क्षेत्रावग्रह |] द्र वाचना |
| * पूछा और अवग्रह | |

१. अवग्रहकल्पिक

पढिते य कहिय अहिगय, परिहरति... कप्पितो सो उ ।...
(बृभा ४१६ वृ)

अवग्रहकल्पिकः.....सूत्रमत्र आचारद्वितीय-
श्रुतस्कन्धस्य सप्तमम् अवग्रहप्रतिमानामकमध्ययनम् ।
(बृभा ६६९ की वृ)

जिसने आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध (आचारचूला) के 'अवग्रह प्रतिमा' नामक सातवें अध्ययन को पढ़ा है, उसके अर्थ को सुना है, अभ्यास किया है, उस पर श्रद्धा की है और उसके अनुरूप अवग्रह का परिभोग करता है, वह अवग्रह-कल्पिक है।

२. अवग्रह के पांच प्रकार

.....पंचविहे ओग्गहे पण्णत्ते, तं जहा—देविंदोग्गहे,
रायोग्गहे, गाहावइ-ओग्गहे, सागारिय-ओग्गहे, साहम्मिय-
ओग्गहे। (आचूला ७/५७)

देवेन्द्रः—शक्र ईशानो वा, स यावतः क्षेत्रस्य प्रभवति तावान् देवेन्द्रावग्रहः । राजा—चक्रवर्त्तिप्रभृतिको महर्द्धिकः पृथ्वीपतिः, स यावतः षट्खंडभरतादेः क्षेत्रस्य प्रभुत्वमनुभवति तावान् राजावग्रहः । गृहपतिः—सामान्यमण्डलाधिपतिः तस्याप्याधिपत्यविषयभूतं यद् भूमिखण्डं स गृहपत्यवग्रहः । सागारिकः—शय्यातरः, तस्य सत्तायां यद् गृहपाटकादिकं स सागारिकावग्रहः । साधर्मिकाः—समानधर्माणः साधवः, तेषां संबन्धि सक्रोशयोजनादिकं यद् आभाव्यं क्षेत्रं स साधर्मिकावग्रहः । (बृभा ६६९ की वृ)

अवग्रह के पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं—

१. देवेन्द्र-अवग्रह—शक्र और ईशान का प्रभुत्व-क्षेत्र।
२. राज-अवग्रह—चक्रवर्ती आदि महर्द्धिक भूपति का प्रभुत्व-क्षेत्र।
३. गृहपति-अवग्रह—सामान्य मण्डलाधिपति का आधिपत्य-क्षेत्र।
४. सागारिक-अवग्रह—शय्यातर का अधिकृत-क्षेत्र।
५. साधर्मिक-अवग्रह—समानधर्मा साधुओं का आभाव्य-क्षेत्र।

३. अवग्रह-प्राधान्य और पूर्व-अभिनव अनुज्ञा

हेट्टिल्ला उवरिल्लेहिं बाहिया न उ लहंति पाहनं ।
पुव्वाणुन्नाऽभिनवं, च चउसु भय पच्छिमेऽभिनवा ॥

राजावग्रहे राजैव प्रभवति न देवेन्द्रः, ततो देवेन्द्रे-
णानुज्ञातेऽप्यवग्रहे यदि राजा नानुजानीते तदा न कल्पते तदवग्रहे स्थातुम्;—अथानुज्ञातो राज्ञा स्वविषयावग्रहः परं न गृहपतिना, ततस्तदवग्रहेऽपि न युज्यतेऽवस्थातुम्;...एव-
मुपरितनैरधस्तना बाध्यन्ते ।...थो यदावग्रहार्थं साधर्मिक-
मुपसम्पद्यते स सर्वोऽपि तदानीं तमनुज्ञाप्यैवावतिष्ठते नान्यथेत्यभिनवानुज्ञैवैका । (बृभा ६७० वृ)

पूर्व-पूर्व अवग्रह उत्तर-उत्तर अवग्रह से क्रमशः बाधित है। (यथा—राजावग्रह में राजा ही प्रभु है, देवेन्द्र नहीं। देवेन्द्र द्वारा अनुज्ञात होने पर भी राजा की अनुमति के बिना मुनि उसके क्षेत्र में नहीं रह सकते। इसी प्रकार क्रमशः राजा, गृहपति और शय्यातर द्वारा अनुज्ञात क्षेत्र में साधर्मिक की अनुमति के बिना नहीं रहा जा सकता।) अतः किसी भी अवग्रह को एकांततः प्राधान्य प्राप्त नहीं है।

प्रथम चार अवग्रहों में पूर्व और अभिनव अनुज्ञा की भजना है तथा अंतिम साधर्मिक अवग्रह में अभिनव अनुज्ञा ही होती है, पूर्व अनुज्ञा नहीं।

(पूर्व समागत साधुओं द्वारा अनुज्ञापित जो अवग्रह है, पश्चात् आगन्तुक पुनः अनुज्ञा लिए बिना ही उस अवग्रह का परिभोग करते हैं—यह पूर्वानुज्ञा है। यथा—चिरंतन साधुओं ने जिस अवग्रह की देवेन्द्र से अनुज्ञा ली, वर्तमानिक साधु उसी पूर्वानुज्ञा का अनुवर्तन करते हैं। जब अन्य देवेन्द्र उपपन्न होता है, तब तत्कालवर्ती साधु उसके अवग्रह की अनुज्ञा लेते हैं—यह उनकी अभिनव अनुज्ञा है, अपर साधुओं की पूर्व अनुज्ञा है।)

जहिवसं समणा निगंथा सेज्जा-संथारयं विप्य-
जहंति, तहिवसं अवेरे समणा निगंथा हव्व मागच्छेज्जा... ॥

अत्थि या इत्थ केइ उवस्सयपरियावन्ने अचित्ते परिहरणारिहे, सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ—
अहलंदमवि ओग्गहे ॥ (क ३/२८, २९)

जिस दिन श्रमण-निर्ग्रथ शय्या-संस्तारक छोड़कर विहार कर रहे हों, उसी दिन दूसरे श्रमण-निर्ग्रथ आ जाएं तो उसी पूर्व गृहीत आज्ञा से यथालंदकाल (कल्पनीय समय) तक वहां रह सकते हैं।

यदि उपयोग में आने योग्य कोई अचित्त उपकरण उपाश्रय में हो तो उसका भी उसी पूर्व की आज्ञा से उपयोग किया जा सकता है।

४. प्रत्येक अवग्रह के चार प्रकार : क्षेत्रप्राधान्य

दव्वाई एक्केक्को, चउहा खित्तं तु तत्थ पाहन्ने ।
तत्थेव य जे दव्वा, कालो भावो अ सामित्ते ॥
(बृभा ६७१)

देवेन्द्र आदि प्रत्येक अवग्रह के चार प्रकार हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इनमें क्षेत्र की प्रधानता है क्योंकि द्रव्य, काल और भाव क्षेत्र में ही होते हैं और क्षेत्र का कोई अधिपति भी होता है।

५. द्रव्य अवग्रह

चेयणमचित्त मीसग, दव्वा खलु उग्गहेसु एएसु ।
जो जेण परिग्गहिओ, सो दव्वे उग्गहो होइ ॥
(बृभा ६८१)

देवेन्द्र आदि के क्षेत्र में जो सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य होते हैं और जो जिसके द्वारा परिगृहीत होते हैं, वह उससे संबंधित द्रव्य अवग्रह है।

६. चक्रवर्ती का क्षेत्रावग्रह

सरगोयरो अ तिरियं, बावत्तरिजोयणाई उड्डं तु ।
अहलोगगाम-अघमाइ हेडुओ चक्किणो खित्तं ॥

जम्बूद्वीपापरविदेहवर्तिनलिनावती-वप्राभिधान-
विजययुगलसमुद्भवा योजनसहस्रोद्देशाः समयप्रसिद्धा
येऽधोलोकग्रामास्तेषु ये चक्रवर्तिनः समुत्पद्यन्ते तेषां त
एवाधः क्षेत्रावग्रहः, तदपरेषां तु गर्ता-कूप-भूमिगृहादिकम् ।
(बृभा ६७५ वृ)

चक्रवर्ती के बाण का जितना विषय है, वह चक्रवर्ती

का तिर्यग् अवग्रह है (दिग्विजय यात्रा करता हुआ चक्रवर्ती मागध आदि तीर्थों में अपना नामांकित बाण छोड़ता है। वह बाण पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी समुद्रों में बारह योजन तक जाता है, यह चक्री का तिर्यग् अवग्रह है)। वही बाण जब चक्रवर्ती चुल्लहिमवत्-कुमारदेव को साधने के लिए छोड़ता है, तब वह ऊर्ध्व दिशा में बहतर योजन तक जाता है—यह चक्रवर्ती का ऊर्ध्व अवग्रह है। अधोलोक के ग्राम, गर्त, वापी, कूप आदि चक्रवर्ती का अधः अवग्रह है।

जम्बूद्वीप की पश्चिम विदेह में नलिनावती और वप्रा नाम की दो विजय हैं। उनमें हजार योजन की गहराई वाले अधोलोकग्राम हैं। जो चक्रवर्ती उन ग्रामों में उत्पन्न होते हैं, अधोलोकग्राम केवल उन्हीं का उत्कृष्ट अधः क्षेत्रावग्रह है, अन्य चक्रवर्तियों का अधः क्षेत्रावग्रह है—गर्त, वापी, कूप, भूमिगृह आदि।)

७. गृहपति-शय्यातर-साधर्मिक का क्षेत्रावग्रह

गहवइणो आहारो, चउहिसिं सारियस्स घरवगडा ।
हेडुअघा-ज्गडाई, उड्डं गिरि-गेहधय-रुक्खा ॥
साधर्मिकाणां तु क्षेत्रावग्रह उत्कृष्टः...बृहद्भाष्ये
इत्थमभिहितः—

खित्तोगहो सकोसं, जोयण साहम्मियाण बोधव्वं ।
छहिसि जा एगदिसिं, उज्जाणं वा मडंबाई ॥
(बृभा ६७६ वृ)

गृहपति (मंडलेश्वर) का चारों दिशाओं में जितना प्रभुत्व क्षेत्र है, उतना उसका उत्कृष्ट तिर्यग्-अवग्रह है। शय्यातर का उत्कृष्ट तिर्यग्-अवग्रह है घर की परिधि।

दोनों का अधः अवग्रह है—गर्त, कूप, वापी आदि। दोनों का ऊर्ध्व अवग्रह है—पर्वत, गृहध्वज और वृक्ष।

साधर्मिक का उत्कृष्ट क्षेत्रावग्रह बृहद्भाष्य में अभिहित है—छहों दिशाओं यावत् एक दिशा में सन्नोश योजन (पांच कोस) तथा मडंब, ग्राम आदि का उद्यान पर्यंत क्षेत्र।

से गामंसि वा जाव सन्निवेशंसि वा कप्पइ निग्गंथाण
वा निग्गंथीण वा सव्वओ समंता सकोसं जोयणं ओग्गहं
ओगिण्हत्ताणं चिट्ठित्तए परिहरित्तए ॥ (क ३/३४)

मूलग्रामादेकैकस्यां दिशि योजनाद्धर्मद्धक्रोशेन समधिकं तावदवग्रहो भवति, स च पूर्वा-ऽपराभ्यां दक्षिणोत्तराभ्यां वा कृत्वा सक्रोशं योजनं भवति, यद्वा गतिप्रत्यागतिभ्यामेकस्यामपि दिशि (सक्रोश) योजनं मन्तव्यम्। (बृभा ४८४५ की वृ)

साधु और साध्वियां ग्राम यावत् सन्निवेश में सब दिशाओं तथा चारों विदिशाओं में सक्रोश योजन (पांच कोस) अवग्रह ग्रहण कर रह सकते हैं, उसका उपयोग कर सकते हैं।

मूल ग्राम से एक-एक दिशा में ढाई कोस का अवग्रह होता है। वह पूर्व-पश्चिम अथवा दक्षिण-उत्तर में पांच कोस का हो जाता है।

अथवा गति-प्रत्यागति में (जाकर पुनः आने पर) एक दिशा में भी पांच कोस का अवग्रह मानना चाहिए।

८. सात अवग्रह-प्रतिमाएं

अह भिक्खू जाणेज्जा इमाहिं सत्तहिं पडिमाहिं ओग्गहं ओगिण्हत्तए ॥

तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावडकुलेसु वा, परिवावसहेसु वा अणुवीड ओग्गहं जाएज्जा—जे तत्थ ईसरे, जे तत्थ सपहिदुए, ते ओग्गहं अणुणवज्जा। कामं खलु आउसो! अहालंदं अहापरिणायं वसामो—तेण परं विहरिस्सामो—पढमा पडिमा।

अहावरा दोच्चा पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ “अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्टाए ओग्गहं ओगिण्हस्सामि, अण्णेसिं भिक्खूणं ओग्गहे ओग्गहिए उवल्लिस्सामि”.....

अहावरा तच्चा पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ “अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्टाए ओग्गहं ओगिण्हस्सामि, अण्णेसिं भिक्खूणं च ओग्गहे ओग्गहिए णो उवल्लिस्सामि”.....

अहावरा चउत्था पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ “अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्टाए ओग्गहं णो ओगिण्हस्सामि, अण्णेसिं च ओग्गहे ओग्गहिए उवल्लिस्सामि”.....

अहावरा पंचमा पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ “अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्टाए ओग्गहं ओगिण्हस्सामि”.....

अहावरा छट्ठा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जस्सेव ओग्गहे उवल्लिएज्जा, जे तत्थ अहासमण्णा-गए...तणे वा, कुसे वा, कुच्चगे वा, पिप्पले वा, पलाले वा। तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा, णोसज्जिए वा विहरेज्जा....

अहावरा सत्तमा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहासंथडमेव ओग्गहं जाएज्जा, तं जहा—पुढविसिलं वा, कट्टुसिलं वा अहासंथडमेव, तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुओ वा, णोसज्जिओ वा विहरेज्जा....।

एवंभूतः प्रतिश्रयो मया ग्राहो नान्यथाभूतः... प्रथमा प्रतिमा सामान्येन।...द्वितीयाः गच्छान्तरगतानां साधूनां साम्भोगिकानामसांभोगिकानां चोद्युक्तविहारिणां.....। तृतीया.....अहालन्दिकानां, यतस्ते सूत्रार्थविशेषमाचार्या-दभिकांक्षन्त आचार्यार्थं याचन्ते। चतुर्थी.....गच्छएवाभ्युद्यत-विहारिणां जिनकल्याणार्थं परिकर्मं कुर्वताम्। पंचमी.....जिनकल्पिकस्य। षष्ठी.....जिनकल्पिकादेः। सप्तमी—एषैव पूर्वोक्ता। (आचूला ७/४८-५५ वृ)

भिक्षु इन सात प्रतिमाओं—अभिग्रहविशेष से अवग्रह-ग्रहण करे।

उनमें यह पहली प्रतिमा—वह अतिथिगृह, आरामगृह, गृहपतिगृह अथवा मठों में विवेकपूर्वक अवग्रह को जाने—जो वहां का स्वामी या प्रबन्धक (अधिष्ठाता) हो, उसकी अवग्रह-अनुज्ञा ले। उससे कहे—आयुष्मन्! जितने काल तक जितने क्षेत्र में रहने की अनुज्ञा है, उतने काल तक उसमें रहेंगे, तत्पश्चात् विहार करेंगे।

दूसरी प्रतिमा—जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—‘मैं अन्य भिक्षुओं के लिए अवग्रह ग्रहण (स्थान की याचना) करूंगा, अन्य भिक्षुओं के अवग्रह ग्रहण करने पर रहूंगा।’

तीसरी प्रतिमा—जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—‘मैं दूसरे भिक्षुओं के लिए अवग्रह ग्रहण करूंगा, किन्तु दूसरों

के द्वारा अवग्रहीत अवग्रह में नहीं रहूंगा।'

चौथी प्रतिमा—जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—'मैं दूसरे भिक्षुओं के लिए अवग्रह ग्रहण नहीं करूंगा, दूसरों द्वारा अवग्रहीत अवग्रह में रहूंगा।

पांचवीं प्रतिमा—जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—'मैं अपने लिए अवग्रह ग्रहण करूंगा।

छठी प्रतिमा—वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी जिसके अवग्रह में रहे, वहां तृण, कुश, कुर्कक, पिप्पल या फलाल से निर्मित संस्तारक उपलब्ध हो, उसके प्राप्त होने पर संवास करे, उसके प्राप्त न होने पर उत्कुटुक या निषद्या आसन में विहरण करे—बैठे।

सातवीं प्रतिमा—वह भिक्षु या भिक्षुणी यथासंस्तृत अवग्रह की ही याचना करे, जैसे पृथ्वीशिला या काष्ठशिला यथासंस्तृत हो, उसके मिलने पर संवास करे, उसके न मिलने पर उत्कुटुक या नैषद्यिक आसन में विहरण करे—बैठे।

अमुक प्रकार का स्थान मेरे लिए ग्राह्य है, अन्य प्रकार का नहीं—यह प्रतिमा सामान्य है।

दूसरी प्रतिमा गच्छवर्ती साम्भोजिक और उद्युक्तविहारी असांभोजिक साधुओं की अपेक्षा से है, क्योंकि वे परस्पर एक-दूसरे के लिए अवग्रह की याचना करते हैं।

तीसरी प्रतिमा यथालांरिक साधुओं की अपेक्षा से है। क्योंकि वे आचार्य से सूत्रार्थ विशेष की वाचना लेना चाहते हैं तो उनके लिए अवग्रह ग्रहण करते हैं।

चौथी प्रतिमा उन अभ्युद्यतविहारी साधुओं के लिए है, जो गच्छ में रहकर जिनकल्प आदि स्वीकार करने से पूर्व परिकर्म करते हैं।

पांचवीं प्रतिमा जिनकल्पी साधु की अपेक्षा से है। छठी और सातवीं प्रतिमा जिनकल्पिक आदि की अपेक्षा से है।

९. इन्द्र और चक्री का कालावग्रह

दो सागरा उ पढमो, चक्की सत्त सय पुव्व चुलसीई।
सेसनिवम्मि मुहुत्तं, जहन्नमुक्कोसाए भयणा॥
एवं गहवइ-सागारिण वि चरिमे जहन्नओ मासो।
उक्कोसो चउमासा, दोहि वि भयणा उ कज्जम्मि॥

चक्कवट्टिउग्गहो जहण्णोपां सत्त वाससया बंभ-
दत्तस्स, उक्कोसेणं चउरासीइपुव्वसयसहस्साइं भरहस्स।
(बृभा ६८२, ६८३ वृ)

देवेन्द्र शक्र का कालावग्रह दो सागरोपम का होता है क्योंकि शक्रेन्द्र की आयु स्थिति दो सागरोपम की है।

० चक्री-अवग्रह—जघन्य अवग्रह ब्रह्मदत्त चक्री का सात सौ वर्ष का तथा उत्कृष्ट अवग्रह भरत चक्रवर्ती का चौरासी लाख पूर्व वर्ष का है।

शेष नृपति, गृहपति तथा शय्यातर का जघन्य अवग्रह अन्तर्मुहूर्त का है। उत्कृष्ट अवग्रह वैकल्पिक है (जिसकी जितनी आयु है या जितने समय तक राज्य करता है, उतना उत्कृष्ट कालावग्रह है)।

साधर्मिक का ऋतुबद्धकाल में जघन्य अवग्रह एक मास तथा वर्षावास में उत्कृष्ट अवग्रह चार मास है। ग्लान-सेवा आदि विशेष प्रयोजन होने पर इसमें न्यूनाधिकता भी हो सकती है।

(इस विषय में शिष्य ने प्रश्न किया—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने कुमार अवस्था में अट्ठाईस वर्ष, मांडलिक रूप में छप्पन वर्ष, दिग्विजय में सोलह वर्ष व्यतीत कर केवल छह सौ वर्षों तक चक्रवर्ती पद का उपभोग किया था। इसी प्रकार भरत चक्रवर्ती भी सतहत्तर लाख पूर्व तक कुमारावस्था में तथा हजार वर्ष तक मांडलिक के रूप में रहे। साठ हजार वर्ष विजययात्रा में व्यतीत कर फिर कुछ न्यून छह लाख वर्ष तक चक्रवर्तित्व का उपभोग किया था। तब ब्रह्मदत्त सात सौ वर्ष और भरत चौरासी लाख पूर्व तक चक्रवर्ती रहे—यह कैसे कहा जा सकता है?)

आचार्य कहते हैं—योग्यता की दृष्टि से भरत आदि जन्म से ही चक्रवर्ती होते हैं। चक्रवर्ती के उत्पन्न होते ही उसके प्रभावक्षेत्र के निवासी देव यह जानकर हर्ष मनाते हैं कि समस्त पृथ्वी का स्वामी उत्पन्न हो गया है। वे देव चक्री की भाग्य-संपदा आदि से आकृष्ट हो सब प्रकार की अनुकूलताएं आपादित करने में तत्पर तथा उसकी विजय के अभिलाषी बने हुए शत्रुओं द्वारा उत्पन्न बाधाओं का निरसन करने में प्रवृत्त होते हैं, अतः यथोक्त कालावग्रह समीचीन ही है अथवा उपयोग उपयुक्त बहुश्रुत इस कथन का अन्य प्रकार से निर्वचन कर सकते हैं।

चक्रवर्ती के अतिरिक्त शेष नृपति का जघन्य कालावग्रह अन्तर्मुहूर्त का है क्योंकि राज्याभिषेक के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् भी वे मृत्यु को प्राप्त हो सकते हैं अथवा राज्यपद से च्युत भी हो सकते हैं।—बृभा ६८२ की वृ)

१०. मुनि के वृद्धवास आदि का कालावग्रह

केवतिकालं उग्रह, तिविधो उवबद्ध वास वुद्धे य।

मास-चउमासवासे, गेलण्णो सोलमुक्कोसो ॥

(व्यभा २२५५)

काल-अवग्रह के तीन प्रकार हैं—

१. ऋतुबद्धकाल—सामान्यतः एक मास।

२. वर्षाकाल—चार मास। ग्लान होने पर सोलह मास का अवग्रह है। कुछ आचार्य सोलह वर्ष भी मानते हैं।

३. वृद्धवास—जो क्षीण जंघाबली वृद्ध मुनि होता है, उसका प्रवास वृद्धवास कहलाता है। अथवा रोग के कारण वृद्धिगत वास वृद्धवास है।

(वृद्धवास का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त (वास के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् मृत्यु होने की स्थिति में), उत्कृष्ट काल गृहिपर्याय के नौ वर्ष कम पूर्वकोटि। कोई (नौ वर्ष का दीक्षा ले और) दीक्षित होते ही प्रतिकूल कर्मोदयवश जंघाबल की क्षीणता या रोग के कारण विहार करने में असमर्थ हो जाये, उसका पूर्वकोटि कालमान है। वृद्धवास का यह उत्कृष्ट कालपरिमाण अर्हत् ऋषभ के तीर्थ की अपेक्षा से कहा गया है। जिस तीर्थकर के शासनकाल में जितनी उत्कृष्ट आयु होती है, उतना उत्कृष्ट (नौ वर्ष कम) वृद्धवासकाल हो सकता है।)

११. भाव अवग्रह : मनसा-वाचा अनुज्ञा

चउरो ओदइअम्मी, खओवसमियम्मि पच्छिमो होइ।

मणसी करणमणुन्नं, च जाण जं जत्थ ऊ कमइ ॥

देवेन्द्र-राजावग्रहयोर्मनसैवानुज्ञापनं करोति, गृहपत्यवग्रहस्य मनसा वा वचसा वा, सागारिक-साधर्मिकावग्रहयोर्नियमाद् वचसाऽनुज्ञापना, यथा—अनुजानीतास्माकं शय्यां वस्त्र-पात्र-शैक्षादिकं वा।

(बृभा ६८४ वृ)

देवेन्द्र, राजा, गृहपति और शय्यातर—इन चारों का अवग्रह औदयिक भाव है, क्योंकि इनमें 'यह मेरा क्षेत्र है'—इस रूप में मूर्च्छा का सद्भाव रहता है, जो कषाय मोहकर्मोदयजन्य है। साधर्मिक का अवग्रह मूर्च्छा के अभाव के कारण क्षायोपशमिक भाव है, यह भाव अवग्रह है।

अणुजाणह जस्स ओग्गहं—जिसका स्थान है, उसकी आज्ञा है—इस रूप में अवग्रह का मन में ही अनुज्ञापन करना अथवा वचन से अनुज्ञापन करना अनुज्ञा है। जिस अवग्रह में जिसका अवतरण होता है, उसे जानो। यथा—

देवेन्द्र और राजा के अवग्रह की मन से ही अनुज्ञा ली जाती है। गृहपति के अवग्रह की अनुज्ञा मन से अथवा वचन से ली जाती है। शय्यातर और साधर्मिक के अवग्रह की नियमतः वचन से अनुमति ली जाती है। जैसे—हमें शय्या, वस्त्र, पात्र, शैक्ष आदि के ग्रहण की अनुमति दें।

१२. अवग्रह (आभवद्व्यवहार) : अधिकारी-अनधिकारी

किं उग्गहो त्ति भणिए, उग्गहत्तिविधो उ होत्ति चित्तादी।

एक्केक्को पंचविधो, देविंदादी मुणोयव्वो ॥

कस्स पुण उग्गहो त्ती, परपासंडीण उग्गहो नत्थि।

निण्होसन्ने संजति, अगीते य गीत एक्के वा ॥

ओसण्णाण बहूण वि, गीतमगीताण उग्गहो नत्थि।

सच्छंदियगीताणं, असमत्त अणीसगीते वि ॥

एवं वा सावेक्खे, निरवेक्खणं पि उग्गहो नत्थि।

मोत्तूण अधालंदे, तत्थ वि जे गच्छपडिबद्धा ॥

आसन्नतरा जे तत्थ, संजता सो व जत्थ नित्थरति।

तहियं देंतुवदेसं, आयपरं ते न इच्छंति ॥

अगीत समणा संजति, गीतत्थपरिग्गहाण खेत्तं तु।

अपरिग्गहाण गुरुगा, न लभति सीसेत्थ आयरिओ ॥

गीतत्थागत गुरुगा, असती एगाणिए वि गीतत्थे।

समुसरण नत्थि उग्गह, वसधीय उ मग्गणऽक्खेत्ते ॥

सेसं सकोसजोयण, पुव्वग्गहितं तु जेण तस्सेव।

समगोग्गह साधारं, पच्छागत होत्ति अक्खेत्ती ॥

(व्यभा २२१६-२२२३)

अवग्रह (आभवद् व्यवहार) के तीन प्रकार हैं—
सचित्त, अचित्त, मिश्र।

प्रत्येक के पांच-पांच प्रकार हैं—देवेन्द्रावग्रह, नरेन्द्रावग्रह, माण्डलिकावग्रह, शय्यातरावग्रह और साधर्मिकावग्रह।

निम्नांकित व्यक्ति अवग्रह के लिए अधिकृत नहीं हैं—परपाषंडी, निह्व, बहुत से अवसन्न गीतार्थ, गीतार्थ से अपरिगृहीत साध्वियां, गीतार्थनिश्रान्तिहीन अगीतार्थ, स्वच्छन्द-विहारी एकाकी गीतार्थ, असमाप्तकल्प (पर्याप्त सहयोगियों से रहित) असमर्थ गीतार्थ वाला समुदाय—इन सब सापेक्ष-स्थितिकल्पियों का अवग्रह नहीं होता।

निरपेक्ष—जिनकल्पिक, गच्छ-अप्रतिबद्ध यथालंद आदि का भी अवग्रह नहीं होता। गच्छप्रतिबद्ध यथालंद का अवग्रह होता है।

गच्छनिर्गत जिनकल्पी आदि के पास कोई दीक्षार्थी आता है तो वे स्वयं उसे दीक्षित नहीं करते—यह उनका कल्प है। उसे प्रव्रज्या के लिए निकटवर्ती साधुओं के पास जाने का उपदेश देते हैं अथवा यदि वे श्रुतबल से यह जान लेते हैं कि अमुक के पास इसका अनल्प हित होगा तो उसे उस दूरवर्ती साधु के पास जाने का उपदेश देते हैं।

वस्तुतः जिनकल्पिक आदि को स्वगच्छ और परगच्छ का विभाग मान्य नहीं है।

गीतार्थनिश्रित अगीतार्थ साधु-साध्वियों का क्षेत्र अवग्रह होता है। गीतार्थनिश्रित विहार करने वाले अगीतार्थ चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

गीतार्थ अनिश्रितों का जो प्रव्रज्या आचार्य होता है, उसके अपने द्वारा दीक्षित शिष्य भी उसके निश्रित नहीं होते।

जहां सब अगीतार्थ हों, वहां कोई गीतार्थ आये तो उसकी उपसम्पदा स्वीकार न करने पर गुरु प्रायश्चित्त आता है। कारणवश एकाकी गीतार्थ का भी अवग्रह होता है। जहां जितने दिन समवसरण आदि हो, उतने दिन अवग्रह नहीं होता। अक्षेत्र में भी वसति-अवग्रह की मार्गणा होती है।

अक्षेत्र की वसति में यदि एक साथ आकर कई साधु रहते हैं तो उन सबका समान अवग्रह होता है, बाद में आने वाला अक्षेत्र होता है—वह क्षेत्र उसके अधिकार में नहीं होता। अवग्रह का प्रमाण पांच कोस है।

अवसन्न—वह श्रमण, जो आवश्यक, स्वाध्याय आदि विधिपूर्वक नहीं करता और गृहस्थप्रतिबद्ध होता है।
द्र श्रमण

असमाधिस्थान—असमाधि उत्पन्न करने वाले स्थान—
कारण।
द्र सामाचारी

अस्थितकल्प—वह आचार व्यवस्था, जो प्रथम और चरम तीर्थकर के अतिरिक्त मध्यवर्ती बाईस तीर्थकरों के शासनकाल में अनिवार्य नहीं थी।
द्र कल्पस्थिति

अस्वाध्याय—वह कालखंड और परिस्थिति, जिसमें आगम स्वाध्याय निषिद्ध हो।
द्र स्वाध्याय

आगम—आप्तवचन। गणधरों एवं स्थविरों द्वारा रचित श्रुत ग्रंथ।

१. आगम के प्रकार
२. अंग आदि का सार
३. आचारांग के पर्याय
४. आचारांग की प्राथमिकता क्यों ?
० आचारांग वाचना की प्राथमिकता
* उत्क्रम से वाचना का निषेध
* दृष्टिवाद का उत्सारण क्यों ?] द्र उत्सारकल्प
५. आचारधर : पहला गणिस्थान
६. अंगप्रविष्ट और अंगप्रविष्ट की भेदरेखा
० आदेश-मुक्तव्याकरण
७. कालिकश्रुत और दृष्टिवाद की रचनाशैली
८. श्रुत का ग्रहण-परावर्तन काल
* अकाल में श्रुतस्वाध्याय का पृच्छपरिमाण द्र स्वाध्याय
* व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि : योगवहन द्र स्वाध्याय
* वाचना में संयमपर्याय की काल मर्यादा द्र श्रुतज्ञान
९. गमिक-अगमिक श्रुत
१०. दृष्टिवाद और छेदसूत्र : उत्तम श्रुत
११. दृष्टिवाद की सूक्ष्मता

१२. दृष्टिवाद में विद्यातिशय	
१३. दृष्टिवाद के पांच प्रस्थान	
१४. चतुर्दशपूर्वी की विलक्षणताएं	
* चौदहपूर्वी की सेवा से महानिर्जरा	द्र वैयावृत्य
* चौदहपूर्वी तक दसों प्रायश्चित्त	द्र प्रायश्चित्त
* चौदहपूर्वी द्वारा बालदीक्षा	द्र दीक्षा
१५. पूर्वज्ञान : छटा-आठवां पूर्व	
○ नौवां-दसवां पूर्व	
* पूर्वधर और आगम व्यवहार	द्र व्यवहार
* व्यवहार : द्वादशांग का नवनीत] द्र छेदसूत्र
* नौवें पूर्व से छेदसूत्रों का निर्यूहण	
* जिनकल्पी, परिहारविशुद्धिक और प्रतिमाप्रतिपन्न जघन्यतः नौ पूर्वी	द्र संबद्धनाम
१६. सूत्र देवता-अधिष्ठित क्यों ?	
* सूत्र और अर्थ में बलवान् कौन ?	द्र सूत्र
१७. अर्थधर मुनि प्रमाण	
१८. अर्हत् महावीर की अंतिम देशना	
१९. उद्घाटः पौरुषी में अंगपठन निषिद्ध क्यों ?	
२०. आचार, आचारचूला और निशीथ	
२१. आचाराय (आचारचूला) : उत्तरतंत्र	
२२. आचारचूला के निर्यूहणस्थल	
२३. आचारचूला का निर्यूहण क्यों ?	
○ आचारचूला और दशवैकालिक में समानता	
* आचारचूला और निशीथ का संबंध	द्र छेदसूत्र
२४. आचाराय का समवतार	
* आचार आदि समवसरण	द्र समवसरण

१. आगम के प्रकार

आगमोक्तिविहो—अत्तागमो, अणंतरागमो, परंपरागमो।
तित्थगाराणं अत्थस्स अत्तागमे। गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे। अत्थस्स अणंतरागमे। गणहरस्सिस्साणं सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे। तेण परं सेसाणं सुत्तस्स वि अत्थस्सवि णो अत्तागमे, णो अणंतरागमे, परंपरागमे।

(निभा १ की चू)

आगम के तीन प्रकार हैं—आत्मागम, अनंतरागम और परंपरागम। तीर्थकर्तों के लिए अर्थ आत्मागम है। गणधरों के

लिए सूत्र आत्मागम और अर्थ अनंतरागम है। गणधरशिष्यों के लिए सूत्र अनंतरागम और अर्थ परंपरागम है। उनके बाद शेष सबके लिए सूत्र और अर्थ दोनों ही न आत्मागम हैं और न अनंतरागम हैं। वे परंपरागम हैं।

२. अंग आदि का सार

अंगाणं किं सारो ? आयारो तस्स किं हवति सारो।
 अणुयोगत्थो सारो, तस्स वि य परूवणा सारो ॥
 सारो परूवणाए, चरणं तस्स वि य होइ निव्वाणं।
 निव्वाणस्स य सारो, अब्वाबाहं जिणा बेत्ति ॥
 (आनि १६, १७)

अंगों का सार क्या है ? वह है आचार। उसका सार क्या है ? वह है अनुयोगार्थ—व्याख्यानभूत अर्थ। उसका सार है प्ररूपणा। प्ररूपणा का सार है—चारित्र। चारित्र का सार है—निर्वाण और निर्वाण का सार है—अव्याबाध (सुख)। ऐसा जिन भगवान् कहते हैं।

३. आचार के पर्याय

आयारो आचालो, आगालो आगरो य आसासो।
 आदरिसो अंगं ति य आइण्णाऽऽजाइ आमोक्खा ॥
 (आनि ७)

आचार के दस एकार्थक नाम हैं—

१. आचार—यह आचरणीय का प्रतिपादक है, इसलिए आचार है।
२. आचाल—यह निबिड बंधन को आचालित (शिथिल) करता है, इसलिए आचाल है।
३. आगाल—यह चेतना को सम धरातल में अवस्थित करता है, इसलिए आगाल है।
४. आकर—यह आत्मशुद्धि के रत्नों का उत्पादक है, इसलिए आकर है।
५. आश्वास—यह संत्रस्त चेतना को आश्वासन देने में सक्षम है, इसलिए आश्वास है।
६. आदर्श—इसमें 'इतिकर्तव्यता' देखी जा सकती है, इसलिए यह आदर्श है।
७. अंग—यह अन्तस्तल में स्थित अहिंसा आदि को व्यक्त

करता है, इसलिए अंग है।

८. आचीर्ण—इसमें आचीर्ण-धर्म का प्रतिपादन है, इसलिए यह आचीर्ण है।

९. आज्ञाति—इससे ज्ञान आदि आचारों की प्रसूति होती है, इसलिए आज्ञाति है।

१०. आमोक्ष—यह बंधन-मुक्ति का साधन है, इसलिए आमोक्ष है।

४. आचारांग की प्राथमिकता क्यों ?

आयारपकप्ये ऊ, नवमे पुव्वम्मि आसि सोधी य।
तत्तो च्चिय निज्जूढो, इध्धाणितो एण्हि किं न भवे ?॥
पुव्विं सत्थपरिण्णा, अधीत-पढिताइ होउवट्टवणा।
एण्हिं छज्जीवणिया, किं सा उ न होउवट्टवणा॥
बितियम्मि बंधचेरे, पंचमउद्देस आमगंधम्मि।
सुत्तम्मि पिंडकप्पी, इह पुण पिंडेसणा एसो॥
आयारस्स उ उवरिं उत्तरज्झयणाणि आसि पुव्वि तु।
दसवेयालिय उवरिं, इयाणिं किं ते न होति उ॥
(व्यभा १५२८, १५३१-१५३३)

प्राचीनकाल में नौवें पूर्व में आचार प्रकल्प था, उससे शोधि की जाती थी—उसके आधार पर प्रायश्चित्त दिया जाता था। वर्तमान में उसी पूर्व से निर्यूढ निशीथ के आधार पर क्या प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता ?

प्राचीन काल में शस्त्रपरिज्ञा (आयारो का प्रथम अध्ययन) का अर्थतः अध्ययन करने पर और सूत्रतः पढ़ने पर उपस्थापना होती थी। वर्तमान में षड्जीवनिका (दशवैकालिक के चौथे अध्ययन) के अध्ययन-पठन से क्या उपस्थापना नहीं होती ?

पहले मुनि आचारांग के लोकविजय नामक दूसरे अध्ययन के पांचवें उद्देशक ब्रह्मचर्य के आमगंधि सूत्र पर्यंत (सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए २/५/१०८) सूत्रतः और अर्थतः पढ़ लेने पर पिण्डकल्पी होता था। वर्तमान में दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन 'पिण्डेषणा' को पढ़ लेने पर वह पिण्डकल्पी हो जाता है।

पहले आचारांग के पश्चात् उत्तराध्ययन पढ़ा जाता था। अब दशवैकालिक के पश्चात् उत्तराध्ययन पढ़ा जाता है।

० आचारांग वाचना की प्राथमिकता

जे भिक्खू णव बंधचेराइं अवाएत्ता उत्तमसुयं
वाएति, वाएंत्तं वा सातिज्जति ॥ (नि १९/१७)

जो भिक्षु नौ ब्रह्मचर्य अर्थात् आचारांग से पहले छेद सूत्र आदि की वाचना देता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

५. आचारधर : पहला गणिस्थान

आयारम्मि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ।
तम्हा आयारधरो भण्णति पढमं गणिट्ठाणं॥
(आनि १०)

'आचार' को पढ़ लेने पर सारा श्रमण-धर्म परिज्ञात हो जाता है। इसलिए आचारधर को पहला गणिस्थान (आचार्य होने का प्रथम कारण) कहा जाता है।

६. अंगप्रविष्ट और अनंगप्रविष्ट की भेदेखा

गणहर-थेरकयं वा, आदेसा मुक्कवागरणतो वा।
धुव-चलविसेसतो वा, अंगा-ऽणंगेसु णाणत्तं॥

आदेसा जहा अज्जमंगू तिविहं संखं इच्छइ
एकभविंयं, बद्धाउयं, अभिमुहणामगोत्तं। अज्जसमुहा
दुविहं—बद्धाउयं, अभिमुहणामगोत्तं च। अज्जसुहत्थी
एगं अभिमुहणामगोत्तं इच्छइ।

मुक्कवागरणा जहा—वरिस देव! कुणालाए।
मरुदेवा अणादिवणस्सइकातिता। एते आदेसमुक्क-
वागरणा अंगबाहिरा। अथवा धुवा बारसंगा। चला
पइण्णगा—कयाइ णिज्जूहिज्जंति कताइ न।

(वृभा १४४ चू)

यद् गणधरैः कृतं तदङ्गप्रविष्टम्। यत्पुनर्गणधर-
कृतादेव स्थविरैर्निर्यूढम्; ये चादेशाः यथा—आर्यमङ्गु-
राचार्यस्त्रिविधं शंखमिच्छति.....यानि च मुक्तकानि
व्याकरणानि, यथा—“वर्ष देव कुणालायाम्” इत्यादि,
तथा मरुदेवा भगवती अनादिवनस्पतिकायिका तद्भवेन
सिद्धा इत्यादि, एतत्स्थविरकृतम् आदेशा मुक्तक-
व्याकरणतश्च अनंगप्रविष्टम्। अथवा धुव-चलविशेष-

तोऽङ्ग-ऽनङ्गेषु नानात्वम् । तद्यथा— ध्रुवं अंगप्रविष्टम्, तच्च द्वादशांगम्, तस्य नियमतो निर्यूहणात् चलानि प्रकीर्ण-कानि, तानि हि कदाचिन्निर्यूहन्ते कदाचिन्, तान्यनङ्ग- प्रविष्टम् ।

(बृभा १४४ की वृ)

गणधरों द्वारा रचित आगम अंगप्रविष्ट है। गणधरकृत आगमों से स्थविरों द्वारा निर्यूह आगम अनंगप्रविष्ट हैं।

अथवा आदेश और मुक्तव्याकरण अनंगप्रविष्ट हैं।

० आदेश—जैसे आर्य मंगु को त्रिविध शंख मान्य हैं—एकभक्ति, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र। आर्य समुद्र को द्विविध शंख मान्य हैं—बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र। आर्य सुहस्ती केवल अभिमुखनामगोत्र शंख को मान्य करते हैं।

बहुसुतमाङ्गणं न उ, बाहियऽण्णेहि जुगप्पहाणेहि ।

आदेशो सो उ भवे, अधवावि नयंतरविगप्पो ॥

(व्यभा ३८२५)

जो बहुश्रुतों द्वारा आचीर्ण है और अन्य युगप्रधान आचार्यों द्वारा बाधित नहीं है, वह आदेश कहलाता है। अथवा नयान्तर (किसी अपेक्षा से कृत) विकल्प आदेश है।

० मुक्तव्याकरण—जैसे—दो उपाध्याय थे—कुरुट और उत्कुरुट। किसी कारणवश रुष्ट होकर कुरुट ने कहा—देव! कुणाला में बरसो। उत्कुरुट ने कहा—पन्द्रह दिन निरंतर बरसो। कुरुट ने कहा—मुसलाधार वर्षा करो—इतना कहकर वे साकेत चले गए। तीसरे वर्ष मरकर सातवीं नरक में उत्पन्न हुए। पन्द्रह दिन में कुणाला नगरी जलप्लावित होकर विनष्ट हो गई। कुणाला के विनाश के बारह वर्ष पश्चात् भगवान महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

० मरुदेवा अनादि वनस्पतिकायिक से उद्वृत्त होकर सिद्ध हुई।

ये स्थविरकृत आदेश और मुक्तव्याकरण अंगबाह्य हैं। अंगप्रविष्ट—द्वादशांग नियत है, उसका नियमतः संगुम्फन होता है।

अनंगप्रविष्ट—प्रकीर्णक अनियत हैं, उनका निर्यूहण कभी होता है, कभी नहीं होता।

(विशेष—प्रस्तुत गाथा में आदेश और मुक्तव्याकरण—ये दो शब्द विमर्शनीय हैं। वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने विभिन्न नयों अथवा द्रव्यनिक्षेप के आधार पर विकल्पित

मान्यताओं का आदेश के रूप में तथा पांच सौ आदेशों का मुक्तव्याकरण के रूप में प्रतिपादन किया है और दोनों को अंगबाह्य आगम कहा है।

भाष्यकार के अनुसार आदेश अंगप्रविष्ट और मुक्तव्याकरण अंगबाह्य है। विशेषावश्यक भाष्य की वृत्ति में लिखा है—

गणधर द्वारा कृत त्रिपृच्छा के प्रत्युत्तर में तीर्थकर का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक जो आदेश—प्रतिवचन है, उससे निष्पन्न है अंगप्रविष्ट।

प्रश्न पूछे बिना तीर्थकर द्वारा प्रतिपादित अर्थ—मुक्तव्याकरण से जो निष्पन्न है, वह अंगबाह्य है—

गणधरपृष्ठस्य तीर्थकरस्य संबंधी य आदेशः प्रतिवचन-मुत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मकं पदत्रयमित्यर्थः, तस्माद् यद् निष्पन्नं तदंगप्रविष्टं द्वादशांगमेव । 'मुक्तं' मुक्तकलम-प्रश्नपूर्वकं च यद् व्याकरणमर्थप्रतिपादनं, तस्माद् यद् निष्पन्नं तदंगबाह्यमभिधीयते, तच्चावश्यककदिकम् ।... ध्रुवं सर्वतीर्थकरतीर्थेषु नियतं निश्चयभावि श्रुतमंगप्रविष्टम्... अनियतमनिश्चयभावि तत् तंदुलवैकालिक प्रकीर्णकादि श्रुतमंगबाह्यम् । विभा ५५० की मवृ

आदेशाद्—आदेशेन त्रिपृच्छोत्थं तदंगप्रविष्टं, स्थविर-कृतमंगबाह्यम् । उत्कृष्टव्याकरणव्यापारमात्रोपसंहतं वा ।

—विभा ५५० की कोवृ

आदेश शब्द का अन्यार्थ—श्रुतकरण के दो भेद हैं—बद्धश्रुत और अबद्धश्रुत। द्वादशांग बद्धश्रुत है, शेष आगम अबद्धश्रुत हैं।

जो पाठ अंग-उपांग में नहीं हैं, उन्हें आदेश कहा गया है। यथा—

० श्रीविष्णु ने कुछ अधिक एक लाख योजन की विकुर्वणा की।

० स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्यों और पद्मपत्रों के वलय संस्थान को छोड़कर शेष सब संस्थान होते हैं।

इस प्रकार के पांच सौ आदेश सूत्रों में निबद्ध नहीं हैं। यह वृद्धसम्प्रदाय से प्राप्त है—द्र श्रीआको १ श्रुतज्ञान

० जो आचार्यपरम्परा से प्राप्त है, वृद्धवाद से आयात है, वह आदेश है, इसे ऐतिह्य कहा गया है—

आचार्य चारम्यर्यश्रुत्यायातो वृद्धवादो यमैतिह्यामाचक्षते ।
 ...आदेशः वृद्धवादायातः । आनि २६५, २६६ की वृ
 अंगबाह्य रचनाकार—सभी तीर्थकरों ने अर्थागम का प्रतिपादन
 किया । आरातीय (उत्तरवर्ती) आचार्यों ने कालदोष से प्रभावित
 अल्प आयु, मति और शक्ति वाले शिष्यों पर अनुग्रह कर
 अंगबाह्य की रचना की ।—सर्वार्थसिद्धि, पृ ८७

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का तत्त्वार्थ अर्हत् ने बतलाया
 और उपांग सहित द्वादशांग की रचना गणधर गौतम ने की ।

—हरिवंशपुराण २/१०१, १११)

७. कालिकश्रुत और दृष्टिवाद की रचनाशैली

कामं विपक्खसिद्धी, अत्थावत्तीइ होतऽवुत्ता वि ।
 तह वि विवक्खो वुच्चति, कालियसुयधम्मता एसा ॥
 ववहार णऽत्थवत्ती, अणप्पिएण य चउत्थभासाए ।
 मूढणय अगमितेण य, कालेण य कालियं नेयं ॥

व्यवहारनयमतेन कालिकश्रुते प्रायः सूत्रार्थनिबन्धो
 भवति...अर्थापत्तिः कालिकश्रुते न व्यवहियते किन्तु तथा
 लब्धोप्यर्थः प्रपंचितज्ञविनेयजनानुग्रहाय साक्षादेवाभि-
 धीयते, यथा उत्तराध्ययनेषु प्रथमाध्ययने "आणानिहेसकरे"
 (गा. २) इत्यादिना विनीतस्वरूपमभिधायार्थापत्तिलब्ध-
 मप्यविनीतस्वरूपम् "आणानिहेसकरे" (गा. ३) इत्यादिना
 भूयः साक्षादभिहितमिति...अनर्पितं विषयविभागस्यानर्पणं
 तेन कालिकश्रुतं रचितम्, विशेषाभिधानरहितमित्यर्थः...
 विशेषः सूत्रे साक्षान्नोक्तः परमार्थादवगन्तव्यः...असत्यामृषा
 नाम चतुर्थभाषा भण्यते, सा चामन्त्रण्याऽऽज्ञापनीप्रभृति-
 स्वरूपा, तथा कालिकश्रुतं निबद्धम्...दृष्टिवादास्तु नैगमादि-
 नयमतप्रतिबद्धनिपुणयुक्तिभिर्वस्तुतत्त्वव्यवस्थापकतया
 सत्यभाषानिबद्ध इति भावः । तथा मूढाः—विभागेना-
 व्यवस्थापिता नया यस्मिन् तद् मूढनयम्...ततो मूढनयत्वेन
 कालिकं विज्ञेयम् । तथा गमाः—भंग-गणितादयः सदृशपाठा
 वा तैर्युक्तं गमिकम्, तद्विपरीत- मगमिकम्, तेनागमिकत्वेन
 कालिकश्रुतं ज्ञेयम्...काले—प्रथम-चरमपौरुषीलक्षणे
 पठ्यते ॥ (बृभा ५२३४, ५२३५ वृ)

कालिकश्रुत—यद्यपि प्रतिपक्ष का कथन न करने पर भी

अर्थापत्ति से उसकी सिद्धि हो जाती है—यह सही है, तथापि
 विपक्ष का साक्षात् कथन किया जाता है—यह कालिकश्रुत की
 रचना शैली है । कालिकश्रुत की रचना शैली के कुछ लक्षण ये
 हैं—

० व्यवहारनय—कालिकश्रुत में अर्थापत्ति का प्रयोग नहीं है ।
 उससे लब्ध अर्थ का भी शिष्यों पर अनुग्रह करने के लिए
 साक्षात् प्रतिपादन किया गया है । जैसे—उत्तराध्ययन के प्रथम
 अध्ययन की दूसरी गाथा में आणानिहेसकरे...विनीत का
 स्वरूप बताकर तीसरी गाथा में अविनीत का स्वरूप बताया
 गया है, जब कि अर्थापत्ति से वह स्वतः प्राप्त है ।

० अनर्पित—कालिकश्रुत में विषयविभाग की प्रधानता नहीं
 है । सूत्र में विशेष का कथन साक्षात् नहीं है, वह अर्थ से
 ज्ञातव्य है ।

० चतुर्थभाषा—असत्यामृषा भाषा अर्थात् व्यवहार भाषा को
 चतुर्थभाषा कहा गया है, सत्य, मृषा, मिश्र और व्यवहार—
 भाषा के इन चार प्रकारों में व्यवहारभाषा चौथा प्रकार है ।
 आमंत्रणी, आज्ञापनी आदि उसके भेद हैं । कालिकश्रुत इस
 भाषा में निबद्ध है, यथा—

आमंत्रणी—गोयमा ।

आज्ञापनी—सव्वे पाणा ण हंतव्वा ।

० मूढनय—कालिकश्रुत मूढनयिक है । इसमें नयविभाग से
 सब नयों के भेद-प्रभेदों द्वारा विस्तृत निरूपण नहीं है ।

(अपृथक्त्व अनुयोग में सब नयों का समवतार था,
 पृथक्त्व अनुयोग में सब नयों का समवतरण नहीं है—

मूढनइयं सुयं कालियं तु, ण णया समोयरंति इह ।

अपुहुत्ते समोयारो, गत्थि पुहुत्ते समोयारो ॥

विभा २२७६)

० अगमिक—यह विसदृश पाठों में निबद्ध है ।

० कालिक—जो आगम दिन-रात के प्रथम प्रहर व चरम प्रहर
 में पढ़े जाते हैं, वे कालिक कहलाते हैं । ग्यारह अंग कालिक
 हैं ।

(आयारो आदि ग्यारह अंग कालप्रहरण आदि की विधि
 से पढ़े जाते हैं, अतः वे कालिक हैं । कालिकश्रुत में प्रायः
 चरणकरणानुयोग का प्रतिपादन है ।—विभा २२९४ की वृत्ति)
 दृष्टिवाद—दृष्टिवाद में नैगम आदि नयों से प्रतिबद्ध निपुण

युक्तियों से वस्तुतत्त्वों का निरूपण है अतः यह सत्यभाषा में निबद्ध है।

दृष्टिवाद गमिक है—भंग-गणित अथवा सदृश पाठों से युक्त है।

८. श्रुत का ग्रहण-परावर्तन काल

संवच्छरं च झरण, बारसवासाइ कालियसुतम्मि ।”

”सोलस उ दिट्ठिवाए, गहणं झरणं दसदुवे य ॥

(व्यभा २२९२, २२९३)

कालिकश्रुत के ग्रहण में बारह वर्ष तथा झरण (परावर्तन) में एक वर्ष लगता है।

दृष्टिवाद के ग्रहण में सोलह वर्ष तथा परावर्तन में बारह वर्ष लगते हैं। बारह वर्ष का समय अल्पमति की अपेक्षा से है, प्राज्ञ को मात्र एक वर्ष लगता है।

९. गमिक-अगमिक श्रुत

भंग-गणियादि गमियं, जं सरिसगमं च कारणवसेणं ।

गाहादि अगमियं खलु, कालिय तह दिट्ठिवाए य ॥

दृष्टिवादो गमिकम्, कालिकश्रुतमगमिकम् एतद् बाहुल्येनोच्यते”कालिकश्रुते दृष्टिवादे वा यत्र भंगाः—चतुर्भागादयः गणितं—संकलनादि, आदिग्रहणेन क्रियाविशाले पूर्वे यत् छन्दः प्रकृतं तत् सदृशगममित तस्य परिग्रहः, यच्च ‘कारणवशेन’ अर्थवशेन सदृशगमम्, यथा निशीथस्य विंशतितम उद्देशकः एतद् गमिकम्। शेषं गाथादि आदि-शब्दात् श्लोकादि परिग्रहः अगमिकम्। (बृभा १४३ वृ)

जो रचना भंग-गणित प्रधान या सदृशपाठ प्रधान होती है, उसकी संज्ञा गमिक है। विसदृश पाठ प्रधान रचना अगमिक है। दृष्टिवाद गमिक है तथा आचारांग आदि कालिकश्रुत अगमिक हैं—यह बहुलता की अपेक्षा से कहा गया है। कालिकश्रुत तथा दृष्टिवाद में जो चतुर्भाग आदि विकल्प कहे गए हैं तथा संकलन आदि गणित का वर्णन है और क्रियाविशालपूर्व में जो छंद प्रकरण है, ये सारे गमिक हैं।

प्रयोजनवश अगमिकश्रुत में भी कहीं-कहीं सदृश पाठ की रचना शैली का प्रयोग हुआ है। यथा—निशीथ का बीसवां उद्देशक। शेष गाथा, श्लोक आदि विसदृश पाठ अगमिक हैं।

१०. छेदसूत्र और दृष्टिवाद : उत्तम श्रुत

छेयसुयमुत्तमसुयं, अहवा वी दिट्ठिवाओ भण्णइ उ ।

जं तहि सुत्ते सुत्ते, वण्णिणज्जइ चउह अणुयोगो ॥

सव्वाहिं णयविहीहिं दव्वा दंसिज्जंति, विविधा

य इड्डीओ अतिसता य उघ्यज्जंति, तम्हा तं उत्तमसुतं ।

(निभा ६१८४ चू)

छेदसूत्र और दृष्टिवाद उत्तमश्रुत हैं।

० छेदसूत्र—इनमें आचारविधियों का प्रायश्चित्त सहित प्ररूपण है, जिससे चारित्र्यविशुद्धि होती है, अतः छेदसूत्र उत्तमश्रुत है।

० दृष्टिवाद—इसके प्रत्येक सूत्र में चारों अनुयोग वर्णित होते हैं, द्रव्यों का सब नयविधियों से उपदर्शन किया जाता है। इसके ज्ञाता को विविध ऋद्धियां और अतिशय उत्पन्न होते हैं, इसलिए यह उत्तम श्रुत है।

११. दृष्टिवाद की सूक्ष्मता

नयवादसुहुमयाए, गणिते भंगसुहुमे णिमित्ते य ।

गंथस्स य बाहुल्ला,दिट्ठिवातम्मि ॥

णेगमादि सत्तणया, एक्केक्को य सयविहो, तेहिं सभेदा जाव दव्वपरूवणा दिट्ठिवाए कज्जंति सा णय-वादसुहुमया भण्णति । तह परिकम्मसुत्तेसु गणियसुहुमया, तहा परमाणुमादीसु वण्णगंधरसफासेसु एगगुणकालगादि-पज्जवभंगसुहुमता । तहा अट्ठंगमादिणिमित्तं ।

(निभा ६०६३ चू)

नैगम आदि सात नय हैं। प्रत्येक नय के सौ-सौ प्रकार हैं। दृष्टिवाद में नयवाद की सूक्ष्मता है। वहां भेद-प्रभेद सहित नयों तथा द्रव्यों की प्ररूपणा है।

परिकर्म सूत्रों में गणित की सूक्ष्मता है तथा एक गुण काला आदि वर्ण-गंध-रस-स्पर्श युक्त परमाणु आदि के पर्यवविकल्पों की सूक्ष्मता है। वहां अष्टांगनिमित्त का भी निरूपण है।

१२. दृष्टिवाद में विद्यातिशय

दिट्ठिवाते बहुविज्जाइसया सव्वकामकामिणो ।

(बृभा १४६ की चू)

दृष्टिवाद में अनेक प्रकार के सर्वकामप्रद—सब इच्छाओं

को पूर्ण करने वाले विद्यातिशय उपवर्णित हैं। (अतः सत्त्व और धृति से सम्पन्न साधक ही इसका अध्ययन कर सकते हैं।)

१३. दृष्टिवाद के पांच प्रस्थान

परिकम्मेहि य अत्था, सुत्तेहि य जे य सुइया तेसिं ।
होति विभासा उवरिं, पुव्वगतं तेण बलियं तु ॥

दृष्टिवादः पंचप्रस्थानः, तद्यथा—परिकर्माणि सूत्राणि पूर्वगतमनुयोगश्चूलिकाश्च। तत्र ये परिकर्मभिः सिद्धश्रेणिकाप्रभृतिभिः सूत्रैश्चाप्यशीतिसंख्यैरर्थाः सूचित्वास्तेषां सर्वेषामप्यन्येषां च उपरि पूर्वेषु विभाषा भवति, अनेकप्रकारं ते तत्र भाष्यन्ते। तेन कारणेन पूर्वगत-सूत्रं बलिकम्। (व्यभा १८२७ वृ)

दृष्टिवाद के पांच प्रस्थान हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका।

सिद्धश्रेणिका आदि सात परिकर्मों तथा ऋजुसूत्र आदि सर्व अष्टासी सूत्रों द्वारा जो अर्थ सूचित हैं, उन सबकी तथा अन्य अर्थों की पूर्वगत में विभाषा की गई है—अनेक प्रकारों से उनका निरूपण किया गया है, इसलिए पूर्वगत सूत्र बलवान है।

१४. चतुर्दशपूर्वी की विलक्षणताएं

.....चोद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवाईणं जिणो विव अवितहं वागर-माणणं.....। (दशा ८ परि सू ९७)

चतुर्दशपूर्वी जिन नहीं होते हुए भी जिन के समान होते हैं। वे सर्वाक्षरसन्निपाती—सब अक्षरों के संयोगों के ज्ञाता तथा श्रव्य अक्षरों के वक्ता और जिन भगवान के समान अवितथ व्याकरण करने वाले होते हैं।

* चतुर्दशपूर्वी : अनेक लक्षियों से सम्पन्न ब्र श्रीआको १ पूर्व

१५. पूर्वज्ञान : छठा-आठवां पूर्व

छट्ठमपुव्वेसु, आउवसग्गो त्ति सव्वजुत्तिकओ ।
पयअत्थविसोहिकरो।

सच्चप्पवायपुव्वे अक्खरपाहुडे तत्रादुपसर्गो वर्ण्यते। अट्टमे कम्मप्पवायपुव्वे अट्टुगं महानिमित्तं तत्थ

स्वरचिंता, तत्रापि आदुपसर्गो वर्ण्यते।.....उपसर्ग-विशेषात्पदार्थविशोधिर्भवति। (दशानि १८ चू)

छठे सत्यप्रवादपूर्व के अक्षरप्राभृत में 'आ' उपसर्ग प्रतिपादित है। आठवें कर्मप्रवाद पूर्व में अष्टांग महानिमित्त के प्रसंग में स्वरविमर्श है। वहां भी 'आ' उपसर्ग वर्णित है। वह अपने अर्थ से युक्तकृत पद के अर्थ का विशोधिकर है। उपसर्ग के प्रयोग से पदार्थ की विशोधि होती है।

० नौवां-दसवां पूर्व

णवमस्स पुव्वस्स.....ततियं आयांरवत्थू तत्थ कालणाणं वणिणज्जति। (निभा २८७३ की चू)

.....नवम दसमा उ पुव्वा, अभिणवगहिया उ नासेज्जा ॥
.....सागरसरिसं नवमं, अतिसयनयभंगगुविलत्ता ॥
ततोऽगीतार्थानामतिशयाकर्णनं मा भूत्।
(व्यभा १७३७, १७३८ वृ)

नौवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु में कालज्ञान वर्णित है।

नये सीखे हुए नौवें एवं दसवें पूर्व का सतत स्मरण (परावर्तन) आवश्यक है, अन्यथा वह विस्मृत हो जाता है। नौवां पूर्व और दसवां पूर्व—ये दोनों स्वयम्भूरमण समुद्र के समान विशाल हैं। ये अनेक अतिशयों, नयों और विकल्पों के कारण गहन हैं।

नयों और भंगों की बहुलता के कारण बहुत साधुओं के मध्य इनका परावर्तन दुष्कर है। अगीतार्थ उन अतिशयों को न सुन सके—इस रूप में परावर्तन करना चाहिए।

१६. सूत्र देवता- अधिष्ठित क्यों ?

सलक्खणमिदं सुत्तं, जेण सव्वण्णुभासितं ।
सव्वं च लक्खणोवेयं, समधिद्धेति देवया ॥
(व्यभा ३०१९)

सूत्र सर्वज्ञभाषित है, इसलिए सर्वलक्षण सम्पन्न है। लोक में लक्षण सम्पन्न सब वस्तुएं देवता द्वारा अधिष्ठित होती हैं—इस आधार पर कहा जा सकता है कि सूत्र देवताअधिष्ठित है।

१७. अर्थधर मुनि प्रमाण

अत्थधरो तु पमाणं, तित्थगरमुहुगतो तु सो जम्हा।
पुव्वं च होति अत्थो, अत्थे गुरु जेसि तेसेवं ॥
(निभा २२)

कुल, गण और संघ के सामाचारी-प्ररूपण में अर्थधर मुनि प्रमाण होता है क्योंकि अर्थ तीर्थकर के श्रीमुख से उद्गत है। सूत्र से पहले अर्थ होता है।

सूत्रार्थधर के अभाव में अर्थधर मुनि गणसंचालन (गण अनुज्ञा) करते हैं, सूत्रधर नहीं।

अर्थभेद होने पर गुरु प्रायश्चित्त तथा सूत्रभेद होने पर लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—जिन आचार्यों का यह अभिमत है, उसका कारण यही है कि अर्थधर प्रमाण होता है।

(सूत्रपौरुषी न करने पर मासलघु तथा अर्थपौरुषी न करने पर मासगुरु प्रायश्चित्त विहित है—निभा ४१ की चू)

१८. अर्हत् महावीर की अंतिम देशना

...पच्चूसकालसमयंसि संपलियं कनिसन्ने पणपन्नं
अञ्जयणाइं कल्लाणफलविवागाइं, पणपन्नं अञ्जयणाइं
पावफलविवागाइं, छत्तीसं च अपुट्टवागरणाइं वागरित्ता
पधाणं नाम अञ्जयणं विभावेमाणे-विभावेमाणे...सिद्धे
बुद्धे मुत्ते...। (दशा ८ परि सू १०६)

प्रातःकाल का समय, पर्यकासन में आसीन तीर्थकर महावीर ने कल्याणफलविपाक वाले पचपन अध्ययन, पापफलविपाक वाले पचपन अध्ययन तथा छत्तीस अपृष्ट-व्याकरणों को कहकर प्रधान अध्ययन का निरूपण करते-करते सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

१९. उद्घाटा पौरुषी में अंगपठन निषिद्ध क्यों ?

अर्हन् पूर्वाह्णपर्राहे च भाषते, एषैव भगवतो देशना
अंगे निबद्धा, तस्मादुद्घाटायां पौरुष्यां न पठनीयम्।

(व्य ७/१४ की वृ)

अर्हत् भगवान् पूर्वाह्ण और अपराह्ण में देशना देते हैं, वही देशना अंगप्रविष्ट में निबद्ध है, अतः उद्घाटा पौरुषी

(व्यतिकृष्ट काल—द्वितीय-तृतीय प्रहर) में अंगग्रंथों का पठन-पाठन नहीं करना चाहिये।

२०. आचार, आचारचूला और निशीथ

बंधचेरमइओ, अट्टारसपदसहस्सिओ वेदो।
हवइ य सपंचचूलो, बहुबहुतरओ पदगोणं ॥
सत्थपरिण्णा लोगविजओ य सीओसणिज्ज सम्पत्तं।
तह लोगसारनामं, धुतं तह महापरिण्णा य ॥
अट्टमए य विमोक्खो, उवहाणसुतं च नवमगं भणियं।
इच्चेसो आयारो, आयारग्गाणि सेसाणि ॥
(आनि ११, ३१, ३२)

ताओ य पुण साओ पंचचूलाओ-पिंडेसणादि-
जावोगहपडिमा ताव पढमा चूला, बितिया सत्तिकग्गा, तइथा
भावणा, चउत्था विमोत्ती, पंचमी आयारपकप्पोएत्ताहिं पंचहिं
चूलाहिं सहिओ आयारो।...पुव्वाणुपुव्वीए इच्चेयं
णिसीहचूलञ्जयणं छव्वीसइमं। (निभा १ की चू)

नवब्रह्मचर्यमय अर्थात् आचारांग के नौ अध्ययन हैं, अठारह हजार पद हैं। इससे ब्रह्मचर्य का ज्ञान होता है (ब्रह्म और चरण की उत्पत्ति के निमित्त अथवा उनकी साधना के गुरु जाने जाते हैं), इसलिए यह वेद है। इसकी पांच चूलाएं हैं।

१. शस्त्रपरिज्ञा २. लोकविजय ३. शीतोष्णाय ४. सम्यक्त्व ५. लोकसार ६. धुत ७. महापरिज्ञा ८. विमोक्ष ९. उपधानश्रुत—ये नौ अध्ययन आचार कहलाते हैं तथा शेष अध्ययन आचारग्र (आचारचूला) कहलाते हैं।

आचारचूला में चार चूलाएं हैं—

- ० प्रथम चूला—पिंडैषणा यावत् अवग्रहप्रतिमा (१ से ७)।
- ० द्वितीय चूला—सप्त सप्तैकक (८ से १४) अध्ययन
- ० तृतीय चूला—भावना (१५ वां अध्ययन)
- ० चतुर्थ चूला—विमुक्ति (अंतिम १६ वां अध्ययन)
- ० पंचम चूला—आचारप्रकल्प (द्र छेदसूत्र)

आचारांग प्रथम चार चूलिकाओं के प्रक्षेप से बहुपद परिमाण वाला और पांचवीं चूलिका के प्रक्षेप से बहुतर पद परिमाण वाला है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के नौ अध्ययन तथा

द्वितीय श्रुतस्कंध के सोलह अध्ययन हैं। पूर्वानुपूर्वी क्रम से निशीथ चूला छब्बीसवां अध्ययन है।

(आचारांग के दो श्रुतस्कंध, पच्चीस अध्ययन और पचासी उद्देशनकाल हैं।

अध्ययन के लिए ग्रंथांश और कालांश की समुचित व्यवस्था की जाती थी, वह उद्देशनकाल है।

अध्ययन	I	उद्देशनकाल
१. शस्त्रपरिज्ञा		७
२. लोकविजय		६
३. शीतोष्णीय		४
४. सम्यक्त्व		४
५. लोकसार		६
६. धुत		५
७. महापरिज्ञा		७
८. विमोक्ष		८
९. उपधानश्रुत		४

II

१. पिंडैषणा	११
२. शय्या	३
३. ईर्या	३
४. भाषाजात	२
५. वस्त्रैषणा	२
६. पात्रैषणा	२
७. अवग्रहप्रतिमा	२
८-१४. सप्तैकक	७
१५. भावना	१
१६. विमुक्ति	१

कुल उद्देशनकाल ८५

—नंदी ८१ चू पृ ६२, हावृ पृ ७६)

२१. आचारांग (आचारचूला) : उत्तरतंत्र

.....आधारस्सेव उवरिमाइं तु ।
स्मखस्स पव्वयस्स य, जह अग्गाइं तहेताइं ॥
अनभिहितार्थाभिधानाय संक्षेपोक्तस्य च प्रपंचाय
तदग्रभूताश्चतस्त्रश्चूडा उक्तानुक्तार्थसंग्राहिकाः प्रति-
पाद्यन्ते । (आनि ३०६ वृ)

आचारचूला के सोलह अध्ययन आचारांग के उत्तरवर्ती अर्थात् उससे संबद्ध हैं। जैसे वृक्ष और पर्वत के अग्र होते हैं, वैसे ही आचारांग के ये अग्र (चूलाएं) हैं।

सूत्र में अवर्णित अर्थ का कथन और संक्षिप्त वर्णित अर्थ का विस्तार करने के लिए इन चार चूलाओं का प्रतिपादन किया गया है। ये उक्त-अनुक्त अर्थ की संग्राहिका हैं।

(ग्रंथ के उत्तरभाग—चूलिका (परिशिष्ट) उत्तरतंत्र कहा गया है—चूलिका.....उत्तरतंत्रं जथा.....आयारस्स पंचचूला उत्तरमित्ति जं उवरिसत्थस्स ।—दअचू पृ २४५)

२२. आचारचूला के निर्यूहणस्थल

बितियस्स य पंचमए, अट्टमगस्स बितियम्मि उद्देसे ।
भणितो पिंडो सेज्जा, वत्थं पाउग्गहे चेव ॥
पंचमगस्स चउत्थे इरिया वणिणज्जते समासेणं ।
छट्टस्स य पंचमए, भासज्जायं विद्याणाहि ॥
सत्तेक्काणि सत्त वि, निज्जूढाइं महापरिण्णाओ ।
सत्थपरिण्णा भावण, निज्जूढाओ धुय विमुत्ती ॥

धुताध्ययनस्य द्वितीयचतुर्थोद्देशकाभ्यां विमु-
क्त्यध्ययनं निर्यूढम् । (आनि ३०८-३१० वृ)

आचारांग के दूसरे अध्ययन (लोक-विजय) के पांचवें उद्देशक से तथा आठवें अध्ययन (विमोक्ष) के दूसरे उद्देशक से पिंडैषणा, शय्या, वस्त्रैषणा, पात्रैषणा और अवग्रहप्रतिमा निर्यूढ हैं। पांचवें अध्ययन (लोकसार) के चौथे उद्देशक से 'ईर्या', छठे अध्ययन (धुत) के पांचवें उद्देशक से भाषाजात, महापरिज्ञा अध्ययन से सात सप्तैकक, शस्त्रपरिज्ञा से भावना और धुत अध्ययन के दूसरे तथा चौथे उद्देशक से विमुक्ति अध्ययन निर्यूढ है।

आचारांग चूर्णि पृ. ३२६, ३२७ में निर्यूहण-स्थलों का सूत्र-निर्देशपूर्वक उल्लेख इस प्रकार है—

आचारांग के निर्यूहण स्थल	आचारचूला के निर्यूढ स्थल	अध्ययन	उद्देशक व सूत्र	अध्ययन
२	५/१०४, १०८, ११२	१, २, ५, ६, ७		
८	२/२१	१, २, ५, ६, ७		
५	४/६२, ६८, ६९, ७०	३		
६	५/१०१	४		

७	१-७	८-१४
१	१-७	१५
६	२, ४	१६

२३. आचारचूला का निर्यूहण क्यों

थेरेहिऽणुगहट्टा, सीसहियं होउ पागडत्थं च ।
आयाराओ अत्थो, आयारगोसु पविभत्तो ॥
स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिः... ।

(आनि ३०७ वृ)

श्रुतवृद्ध चतुर्दशपूर्वी स्थविर (आचार्य भद्रबाहु) ने शिष्यों के हित-सम्पादन का चिंतन कर उन पर अनुग्रह करने के लिए तथा तथ्यों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए आचारांग का सम्पूर्ण अर्थ आचारांग में विस्तार से निरूपित किया।

पिंडीकृतो पृथक्-पृथक्, पिंडस्स पिंडेसणासु कतो
सेज्जात्थो सेज्जासु एवं सेसाणवि । (आनि ३०७ की चू)

आचारांग में पिंडैषणा आदि के नियम बिखरे हुए हैं, अर्थागम के रूप में प्रतिपादित हैं, उनका आचारचूला में सूत्रागम के रूप में संकलन किया गया है। जैसे पिंड का विषय 'पिंडैषणा' में तथा शय्या का विषय 'शय्या' अध्ययन में संकलित है। इसी प्रकार शेष अध्ययन ज्ञातव्य हैं।

पूर्वोक्तस्य विस्तरतोऽनुक्तस्य च प्रतिपादनात्... ।
(आनि ३०५ की वृ)

आचारांग में उक्त का विस्तार और अनुक्त का प्रतिपादन—ये दोनों हैं। (इसके प्रथम सात अध्ययनों में उक्त का विशदीकरण है। पन्द्रहवें अध्ययन में भगवान् महावीर का जीवन-वृत्त है, वह अनुक्त का प्रतिपादन है।)
(निर्यूहणकर्ता के संदर्भ में निम्न मंतव्य पठनीय है—

दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यंभव चतुर्दशपूर्वी थे और आचारचूला के कर्ता भी चतुर्दशपूर्वी थे।

भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों में शय्यंभव, यशोभद्र, सम्भूतविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र—ये छह आचार्य चतुर्दशपूर्वी हैं। इनमें आगमकर्ता के रूप में शय्यंभव और भद्रबाहु—ये दो ही आचार्य विश्रुत हैं। शय्यंभव दशवैकालिक के और भद्रबाहु छेदसूत्रों के कर्ता माने जाते हैं। निशीथ

आचारांग की पांच चूलाओं में से एक है। इसलिए पांचों चूलाओं का कर्ता एक ही होना चाहिए। चार चूलाओं को एक क्रम में पढ़ा जा सकता है। निशीथ को परिपक्व बुद्धि वाले को ही पढ़ने का अधिकार है। इसलिए संभव है कि प्रथम चार चूलाओं की एक श्रुतस्कंध के रूप में और निशीथ की स्वतंत्र आगम के रूप में योजना की गई।

पंचकल्पभाष्य (गाथा २३) और चूर्णि के अनुसार निशीथ के कर्ता भद्रबाहु हैं। इसलिए आचारांग की चार चूलाओं के कर्ता भी वे ही होने चाहिए। यदि हमारा यह अनुमान ठीक है तो आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कंध दशवैकालिक के बाद की रचना है। इसका पुष्ट आधार प्राप्त होता है—

प्राचीन काल में आचारांग पढ़ने के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाता था, किन्तु दशवैकालिक की रचना के पश्चात् वह दशवैकालिक के बाद पढ़ा जाने लगा।

प्राचीन काल में आमगंध (आ. १/२/५) का अध्ययन कर मुनि पिण्डकल्पी होते थे। फिर वे दशवैकालिक के पिण्डैषणा के अध्ययन के पश्चात् पिण्डकल्पी होने लगे।

यदि आचारचूला की रचना पहले हो गई होती तो दशवैकालिक को यह स्थान प्राप्त नहीं होता।—दशवैकालिकः एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ. ६५, ६७)

० आचारचूला और दशवैकालिक में समानता

आचारचूला के पिण्डैषणा (प्रथम अध्ययन) और भाषाजात (चतुर्थ अध्ययन) में तथा दशवैकालिक के पिण्डैषणा (पंचम अध्ययन) और वाक्यशुद्धि (सप्तम अध्ययन) में शाब्दिक और आर्थिक—दोनों प्रकार की पर्याप्त समानता है। यथा—

आचारचूला	दशवैकालिक
...एगंतमवक्कमेत्ता...तओ	एगंतमवक्कमित्ता,
संजयामेव परिट्टवेज्जा ।	अचित्तं पडिलेहिया ।
(१/३)	जयं परिट्टवेज्जा" ॥

(५/१/८१)

...मा मेयं दाइयं संतं,
दट्टुणं सयमायए, आवरिए
वा...णो किंचिवि
णिगूहेज्जा ।

(१/१३१)

सिया एगइओ लद्धुं,
लोभेण विणिगूहई ।
मा मेयं दाइयं संतं,
दट्टुणं सयमायए ॥

(५/२/३१)

....जा य भासा सच्चा, जा य भासा मोसा....तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं....णो भासेज्जा	जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा।न तं भासेज्ज पण्णवं ॥
(४/१०)	(७/२)
....अंतलिक्खे ति वा गुज्झाणुचरिए ति वा....।	अंतलिक्खे ति णं बूया, गुज्झाणुचरिय ति य।....
(४/१७)	(७/५३)

२४. आचाराग्र का समवतार

आयारग्गाणत्थो, बंभच्चेरेसु सो समोयरइ।
सो वि य सत्थपरिण्णाए षिंडियत्थो समोयरइ ॥
सत्थपरिण्णा अत्थो, छस्सु वि काएसु सो समोयरति।
छज्जीवणिया अत्थो, पंचसु वि वाएसु ओयरति ॥
पंच य महव्वयाइं, समोयरंते य सव्वदव्वेसुं।
सव्वेसि पज्जवाणं, अणंतभागम्मि ओयरति ॥
(आनि १२-१४)

आचाराग्र अर्थात् चूलिकाओं के अर्थ का समवतार नौ ब्रह्मचर्य (आचारांग) के अध्ययनों में होता है। उनका पिंडितार्थ शस्त्र-परिज्ञा में समवतरित होता है। शस्त्र-परिज्ञा का अर्थ षड्जीवनिकाय में तथा षड्जीवनिकाय का अर्थ पांच व्रतों (महाव्रतों) में समवतरित होता है। पांच महाव्रतों का समवतार धर्मास्तिकाय आदि समस्त द्रव्यों में तथा समस्त पर्यायों के अनन्तवें भाग में होता है।

* अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के प्रकार, प्रतिपाद्य आदि द्र श्रीआको १ अंगप्रविष्ट /अंगबाह्य/आगम।

आगाढप्रज्ञ—गहन-गंभीर ग्रंथ।

आगाढाप्रज्ञा येषु व्याप्रियते न या काचन तान्या-
गाढप्रज्ञानि शास्त्राणि तेषु भावितात्मा तात्पर्यग्राहितया
तत्रातीवनिष्पन्नमतिः। (व्यभा १४०३ की वृ)

जिन श्रुतग्रंथों के अध्ययन में सघन/अतिशय प्रज्ञा का उपयोग होता है, जो साधारण प्रज्ञा से ग्राह्य नहीं हैं, वे आगाढप्रज्ञ शास्त्र हैं। उनमें अवगाहन करने वाले की बुद्धि उनके तात्पर्यार्थ (ऐदम्पर्य) को ग्रहण कर अत्यंत सूक्ष्म हो जाती है।

* प्रशस्य आचार्य : आगाढप्रज्ञ आदि द्र आचार्य

आगाढयोग— भगवती आदि आगमों के अध्ययन काल में अध्येता को सघनता से योगवहन करना होता है, उसे आगाढयोग कहा जाता है।

द्र स्वाध्याय

* आगाढ-अनागाढ श्रुत

द्र आचार

आचार— शास्त्रविहित आचरण, मोक्ष के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान।

१. आचार के प्रकार

० द्रव्य आचार-अनाचार

२. भाव आचार के प्रकार

३. ज्ञानाचार के प्रकार

४. काल ज्ञानाचार : विद्यासाधन का भी काल

५. विनय ज्ञानाचार : हरिकेश-श्रेणिक दृष्टांत

६. भक्ति-बहुमान ज्ञानाचार : मरुक-पुलिनंद दृष्टांत

७. उपधान : आगाढ-अनागाढ श्रुत

० अशकटपिता दृष्टांत

* उपधान और जीत व्यवहार

द्र व्यवहार

* अनिहवन : निहवी परिव्राजक दृष्टांत

द्र छेदसूत्र

८. ज्ञान अतिचार : सूत्रभेद-अर्थभेद

* अकाल स्वध्याय से ज्ञानविसाधना

द्र स्वाध्याय

९. दर्शनाचार : निःशंकता आदि

० पेयापान दृष्टांत

* चारित्राचार में श्लथता के स्थान

द्र उपसम्पदा

* चारित्र अतिचार

द्र प्रतिसेवना

१०. अतिचार : ज्ञान-दर्शन-चारित्र और भाव

११. वीर्याचार का स्वरूप

१२. वीर्याचार के प्रकार

* वीर्य के प्रकार

द्र वीर्य

१३. आचार कुशल कौन ?

* आचार के पर्याय

द्र आगम

* मुनि का आचार-व्यवहार

द्र सामाचारी

* आचार विनय : सामाचारी में नियोजन

द्र आचार्य

* मुनि द्वारा वाहन प्रयोग

द्र सार्थवाह

१. आचार के प्रकार

“द्व्यायारो य भावमायारो ।”
(निभा ५)

आचार के दो प्रकार हैं—द्रव्याचार और भावाचार ।

० द्रव्य आचार-अनाचार

णामण-धोवण-वासण-सिक्खावण-सुकरणाविरोधीणि ।

द्व्याणि जाणि लोए, द्व्यायारं वियाणाहि ॥

णामणं पडुच्च आयारमंतो तिणिसो अणायारमंतो एरंडो । धोवणं पडुच्च कुसुंभरागो आयारमंतो, अणायारमंतो किमिरागो । वासणाए कवेल्लुगादीणि आयारमंताणि, वड्ढं अणायारमंतं । सुक-सालहियादिसिक्खावणं पडुच्च आयारमंताणि, वायस-गोत्थूभगादि अणायारमंताणि । सुकरणं सुवर्णं आयारमंतं, घंटालोहमणायारमंतं । अविरोहं पडुच्च पयसक्कराणं आयारो, दहितेल्ला य विरोधे अणायारमंता । (निभा ६ चू)

जो द्रव्य विवक्षित रूपों में परिणत हो सकता है, वह आचारवान् है और जो परिणत नहीं हो सकता, वह अनाचारवान् है । उसके छह प्रकार हैं—

आचारवान् द्रव्य अनाचारवान् द्रव्य

नामन (झुकना)	तिनिश	एरण्ड
धावन (धोना)	कुसुंभराग	कृमिराग
वासन (सुगंध देना)	ईट, खपरैल	वज्र
शिक्षापण (शिक्षण)	शुक-सारिका	कौआ, बकरा
सुकरण (सरलता से रूपांतरण)	सुवर्ण	घंटालोह
अविरोधी (अविद्ध मिश्रण)	दूध-चीनी	दही-तैल

२. भाव आचार के प्रकार

नाणे दंसण-चरणे, तवे य विरिये य भावमायारो ।”
(निभा ७)

आचार के पांच प्रकार हैं—

१. ज्ञान आचार
२. दर्शन आचार
३. चारित्र आचार
४. तप आचार
५. वीर्य आचार

३. ज्ञानाचार के प्रकार

काले विणये बहुमाने, उवधाने तहा अनिण्हवणे ।
वज्जणअत्थतदुभए, अट्टविधो णाणमायारो ॥
(निभा ८)

ज्ञान आचार के आठ प्रकार हैं—काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्वन, व्यंजन (सूत्र), अर्थ, तदुभय (सूत्रार्थ) ।

४. काल ज्ञानाचार : विद्यासाधन का भी काल

को आउरस्स कालो, मडलंवरधोवणे व्व को कालो ।
जदि मोक्खहेउ नाणं, को कालो तस्सऽकालो वा ॥
आहारविहारादिसु, मोक्खधिगारेसु काल अवकाले ।
जह दिट्ठो तह सुत्ते, विज्जाणं साहणे चेव ॥
(निभा १०, ११)

शिष्य ने पूछा—रोगी का क्या काल ? मलिन वस्त्र धोने का क्या काल ? यदि ज्ञान मोक्ष का हेतु है, तो उसका क्या काल और क्या अकाल ?

गुरु ने कहा—आहार-विहार मोक्ष के साधक हैं, उनका भी काल होता है । सूत्र का निर्देश है—भिक्षु अकाल में भिक्षाटन न करे । वर्षाकाल में विहार न करे, ऋतुबद्ध काल में करे । रात में न करे, दिन में करे । इसी प्रकार श्रुत अध्ययन का भी काल-अकाल होता है ।

विद्यासाधन का भी काल होता है । कुछ विद्याएं कृष्णपक्ष की चतुर्दशी या अष्टमी को ही साधी जाती हैं । अकाल में साधी गई विद्या उपघातकारी होती है । इसी प्रकार काल में पढ़ा हुआ श्रुत निर्जरा का हेतु और अकाल में पठित श्रुत उपघातकारक होता है ।

५. विनय ज्ञानाचार : हरिकेश-श्रेणिक दृष्टांत

णीयासणंजलीपगग्हादिविणयो तर्हिं तु हरिएसो ।”
हरिएसो”अभयेण गहितो । एस चोरोत्ति रण्णो उवणीओ । पुच्छीओ सम्भावो कहिओ । राया भणति—
जइ विज्जाओ देसि तो जीवसि । तेण पडिस्सुयं—देमि त्ति ।
आसणत्थो पढियो वाहेत्ति, ण वहइ । अभओ पुच्छिओ किं ण वहत्ति । अभओ भणत्ति—अविणय गहिया, एस हरिकेसो भूमित्थो तुमं सीहासणत्थो । तओ तस्स अण्णं आसणं दिण्णं ।
राया णीतत्तो ठितो । सिद्धा । (निभा १३ चू)

गुरु के आसन से अपना आसन नीचा करना, कुछ झुककर हाथ जोड़ना आदि विनय ज्ञानाचार है।

हरिकेश चाण्डाल ने राजा श्रेणिक के बगीचे के आम तोड़े। अभय ने बुद्धिमत्ता से हरिकेश चोर को पकड़ कर राजा के सामने प्रस्तुत किया। पूछने पर उसने सचाई प्रकट की—मैंने आम चुराए नहीं, बाहर खड़े-खड़े ही तोड़ लिए, क्योंकि मेरे पास दो विद्याएं हैं—अवनामिनी और उन्नामिनी।

राजा ने कहा—यदि ये विद्याएं मुझे सिखा दोगे तो मैं तुम्हें मृत्युदंड से मुक्त कर दूंगा। हरिकेश ने स्वीकृति दी कि मैं आपको विद्याएं सिखा दूंगा। उसने दो-तीन बार मंत्रविद्या का उच्चारण किया किन्तु राजा उसे पकड़ नहीं सका। राजा ने पूछा—अभय! ऐसा क्यों हो रहा है? अभय ने कहा—आप अविनय से ग्रहण कर रहे हैं। यह भूमि पर बैठा है, आप सिंहासन पर बैठे हैं। राजा ने उसे ऊंचा आसन दिया और स्वयं नीचे बैठा। राजा के तत्काल विद्या सिद्ध हो गई।

६. भक्ति-बहुमान ज्ञानाचार : मरुक-पुल्लिंद दृष्टांत

.....भक्तीओ होति सेवा, बहुमाणो भावपडिबंधो ॥
बहुमाणो भक्ति भइता, भक्तीए वि माणो....।
गिरिणिञ्जरसिवमरुओ, भक्तीए पुल्लिंदओ माणो ॥

अब्भुट्ठाणं डंडग्गह-पायपुंछणासणप्यदाण-
ग्गहणादीहिं सेवा जा सा भक्ती भवति । पाण-दंसण-चरित्त-
तव-भावणादिगुणरंजियस्स जो रसो पीतिपडिबंधो सो
बहुमाणो भवति । भण्णति—एत्थ चउभंगो कायव्वो ।....
पढमभंगे वासुदेवपुत्तो पालगो । बित्थियभंगे सेदुओ संबो
वा, तत्थियभंगे गोयमो । चउत्थे कविला कालसोकरिआइ ।....

...अन्नया बंधणेण आलावसद्धो सुओ ।...उवालाद्धो
य सो सिवो—तुमं एरिसो चव पाणसिवो । तेण सिद्धं एस्स मे
भावओ अणुरत्तो । अण्णया अच्छि उक्खणिऊण अच्छइ
सिवो । बंधणो आगओ, रडिओ, उवसंतो । पुल्लिंदो
आगओ । अच्छि णत्थि त्ति अप्पणो अच्छी भल्लीए
उक्खणिऊण सिवगस्स लाएत्ति । बंधणो पतीतो । तस्स
बंधणस्स भक्ती, पुल्लिंदस्स बहुमाणो ।

(निभा १३, १४ चू)

० भक्ति—अभ्युत्थान, दण्डग्रहण, पादप्रोक्षण और आसनप्रदान द्वारा सेवा करना।

० बहुमान—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, भावना आदि गुणों से अनुरंजित के प्रति प्रीतिप्रतिबंध।

बहुमान में भक्ति की और भक्ति में बहुमान की भजना है। उसके चार विकल्प हैं—

० एक भक्ति करता है, बहुमान नहीं। यथा वासुदेवपुत्र पालक।

० एक बहुमान करता है, भक्ति नहीं। यथा सेदुक, शंब।

० एक भक्ति भी करता है, बहुमान भी करता है। यथा गौतम।

० एक न भक्ति करता है, न बहुमान। यथा—कालसौकरिक, कपिला आदि।

मरुक-पुल्लिंद दृष्टांत—गिरि-निर्झर के पास शिव की मूर्ति थी। एक ब्राह्मण और एक भील—दोनों उसकी अर्चना करते थे। ब्राह्मण उपलेप, स्नान आदि कर मूर्ति की अर्चा करता। भील मुंह में पानी भर कर लाता और उससे मूर्ति को नहलाता। एक दिन शिव को भील के साथ वार्तालाप करते देखा और उपालंभ दिया—तुम कैसे शिव हो, जो चण्डाल से बात करते हो। शिव ने कहा—यह मुझमें भावतः अनुरक्त है। इस सचाई को प्रमाणित करने के लिए शिव ने एक दिन अपनी आंख निकाल ली।

ब्राह्मण आया और चक्षुविकल मूर्ति को देख रोने लगा, फिर शांत होकर बैठ गया। भील आया। उसने देखा—आंख नहीं है। उसने तीर से अपनी आंख निकाल कर शिव के लगा दी।

ब्राह्मण को विश्वास हो गया कि उसकी शिव के प्रति भक्ति है और भील का शिव के प्रति आंतरिक अनुराग है।

७. उपधान : आगाढ-अनागाढ श्रुत

दोग्गइ पडणुपधरणा, उवधानं जत्थ जत्थ जं सुत्ते ।

आगाढमणागाढे, गुरुलहु आणादि सगडपिता ॥

जत्थ उद्देसगे, जत्थ अञ्जयणे, जत्थ सुयखंधे,

जत्थ अंगे, कालुवक्कालियअंगाणांगेसु पोया ।....जं उवहाणं

णिव्वीत्तितादि तं तत्थ तत्थ सुत्ते कायव्वं ।....जं च उद्देसगादी

सुतं भणियं तं सव्वं समासओ दुविहं भण्णति—आगाढं अणागाढं वा ।.....आगाढसुयं भगवतिमाइ। अणागाढं आयारमाति। आगाढे आगाढं उवहाणं कायव्वं। अणागाढे अणागाढं। जो पुण विवच्चासं करेति तस्स पच्छित्तं भवति। आगाढे ड्ढ। अणागाढे ड्ढ। (निभा १५ चू)

जो दुर्गति में गिरने से बचाये, वह उपधान (श्रुत-अध्ययनकाल में करणीय तप) है। कालिक-उत्कालिक अंग-अंगबाह्य सूत्रों के जिस उद्देशक, अध्ययन या श्रुतस्कन्ध के लिए निर्विकृतिक आदि जो उपधान करणीय है, वह करना चाहिए।

श्रुत के दो प्रकार हैं—आगाढश्रुत और अनागाढश्रुत। भगवती आदि आगाढश्रुत तथा आचारांग आदि अनागाढश्रुत हैं। आगाढ के लिए आगाढ और अनागाढ के लिए अनागाढ उपधान करणीय है। जो आगाढ और अनागाढ में विपर्यास करता है, वह क्रमशः चतुर्गुरु और चतुर्लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसमें अशकटपिता का दृष्टांत ज्ञातव्य है।

० अशकटपिता दृष्टांत

एगो आयरिओ वायणापरिस्संतो सज्झाये वि असज्झायं घोसेति एवं णाणंतरायं काऊण देवलोगं गओ। तओ चुओ आभीरकुले पच्चायाओ भोगे भुंजति। धूया य से जाया अतीव रूववती। ते य पच्चंतिया गोयारियाए हिंडंति। तस्स य सगडं पुरतो वच्चति। सा य से धूया सगडस्स तुंडे ठिता। तीसे य दरिसणत्थं तरुणेहिं सगडा वि उप्पहेण पेरियाणि भग्गाणि य। तो से दारियाए लोणेण णामं कतं असगडा।

असगडाए पिता असगडपिता। तस्स तं चेव खेरगं जातं। दारियं दाउं पव्वइतो। पढिओ जाव चाउरंगिज्जं। असंखए उद्दिट्ठे तण्णाणावरणं उदिण्णं। पढंतस्स ण ठाति। छट्ठेण अणुण्णावइत्ति भणिए भणति—एयस्स को जोगो ? आयरिया भणति—जाव ण ठाति ताव आयंबिलं। तहा पढति। बारस वित्ता। बारसहिं वरिसेहिं आयंबिलं करेतेणं पढिया। तं च से णाणावरणं खीणं। (निभा १५ की चू)

जहा असगडपियाए आगाढजोगो अणुपालितो, तहा सव्वेहिं सव्वमुवहाणं पालेयव्वं। (व्यथा ६३ की वृ)

एक आचार्य ने वाचना से परिश्रांत होकर स्वाध्याय-काल को अस्वाध्यायकाल घोषित कर दिया। इससे उनके ज्ञानावरणीयकर्म का बंध हो गया। वे मृत्यु के पश्चात् देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां से च्युत होकर वे आभीरकुल में उत्पन्न हुए। यौवन आने पर विवाह हुआ और एक कन्या उत्पन्न हुई, जो अत्यंत रूपवती थी। एक दिन पिता और पुत्री घी बेचने जा रहे थे। पुत्री शकट के अग्रभाग पर बैठी थी। कुछ तरुण भी अपनी गाड़ियां लेकर उसी मार्ग से जा रहे थे। वे उस कन्या के रूप को देखने के लिए अपनी गाड़ियों को उत्पथ में ले गए तो वे टूट गईं। इस कारण से उन्होंने लड़की का नाम 'अशकटा' रख दिया। उसका पिता अशकटपिता के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस घटना से ग्वाले को वैराग्य हो गया। वह लड़की का विवाह कर दीक्षित हो गया। उसने उत्तराध्ययन के तीन अध्ययन तो सीख लिए किन्तु चौथा अध्ययन (असंखयं) सीखते हुए पूर्वबद्ध ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो गया। प्रयत्न करने पर भी अध्ययन याद नहीं हुआ। मुनि ने आचार्य को निवेदन किया।

आचार्य ने बेले-बेले तप की अनुज्ञा दी। उसने पूछा— इसके लिए कौन सा योग वहन करूं ? आचार्य ने कहा— जब तक याद न हो, तब तक आयंबिल तप करो। उसने उसी रूप में उपधान किया। बारह वर्ष तक आयंबिल करते हुए उसने मात्र बारह श्लोक याद किये। तब उसका ज्ञानावरण क्षीण हुआ।

जैसे अशकटपिता ने आगाढयोगवहन किया, वैसे ही सब अध्येताओं को योगवहन करना चाहिये।

८. ज्ञान अतिचार : सूत्रभेद-अर्थभेद

सक्कयमत्ताविंदू, अण्णभिधाणेण वा वि तं अत्थं। वंजेति जेण अत्थं, वंजणमिति भण्णते सुत्तं॥ वंजणमभिंदमाणो, अवंतिमादण्ण अत्थे गुरुगो उ। जो अण्णो अणणुवादी, णाणादिविसधणा णवरिं॥ दुमपुष्पिकपढमसुत्तं-अहागडरीयंति रण्णो भत्तं च। उभयण्णकरणेणं - मीसगपच्छित्तुभयदोसा॥

(निभा १७, १९, २०)

० सूत्रभेद—जिससे अर्थ व्यक्त होते हैं, वह व्यंजन सूत्र है।

प्राकृतसूत्र का संस्कृतीकरण, उसमें मात्रा और बिंदु की न्यूनाधिकता तथा उसमें उसी के अर्थवाची अन्यपदों का प्रयोग करने से सूत्रभेद होता है। यथा—

धम्मो मंगलमुक्किट्टं, अहिंसा संजमो तवो। (द १/१)

संस्कृत—धर्मो मंगलमुक्कृष्टम्...

मात्रा-बिन्दु — धम्मो मंगले उक्किट्टम्...

अन्य अर्थपद — पुण्णं कल्लाणमुक्कोसं, दया संवर णिज्जरा।

जो सूत्र को अन्यथा नहीं करता, किन्तु उसमें अन्य अर्थ की कल्पना करता है, उसके चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है। अर्थभेद का उदाहरण—

आवंति केआवंति लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवादं वदंति.....। (आ ४/२०) —दार्शनिक जगत् में कुछ श्रमण और ब्राह्मण परस्पर विरोधी मतवाद का निरूपण करते हैं।

अर्थभेद—अवंती—जनपद। केया—रज्जु। वंती—कुएं में गिर गई। लोयंसि समणा य माहणा य—लोक में श्रमण और ब्राह्मण (कुएं में उतर कर) परस्पर विवाद करते हैं।

इसी प्रकार अन्य सूत्रों का अन्यथा अर्थ करने पर प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र में अयुज्यमान अर्थ की संयोजना करने से केवल विराधना ही होती है, ज्ञान आदि गुणों की प्राप्ति नहीं होती। उभय (सूत्रार्थ) भेद—जो सूत्र का अन्यथा उच्चारण करता है और अर्थ का भी अन्यथा व्याख्यान करता है, उसे मिश्र (सूत्रभेद और अर्थभेद में निर्दिष्ट चतुर्लघु और चतुर्गुरु) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

उभयभेद के उदाहरण

१. द्रुमपुष्पिका का प्रथम श्लोक

धम्मो मंगलमुक्किट्टं अहिंसा संजमो तवो। (द १/१)

भिन्न श्लोक—धम्मो मंगलमुक्किट्टं, अहिंसा डुंगरमस्तके।

२. अहागडेसु रीयंति, पुप्फेसु भमरा जहा। (द १/४)

भिन्न श्लोक—अहाकडेहिं रंधंति, कट्टेहिं रहकारिया।

३. राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे। (द ३/२)

भिन्न श्लोक—रण्णो भत्तंसिणो जत्थ, गह्हो तत्थ खज्जति।

१. दर्शनाचार : निःशंकता आदि

संसयकरणं संका, कंखा अण्णोण्णदंसणग्गाहो।

संतंमि वि वित्तिगिच्छा, सिञ्जेज्ज ण मे अयं अट्ठो ॥

.....संका.....। सा दुविहा देसे सव्वे य। देसे जहा—
तुल्ले जीवत्ते कहमेगे भव्वा एगे अभव्वा ।.....सव्वसंकात्ति सव्वं
दुवालसंगं गणिपिट्ठं पागयभासाणिबद्धं मा णं एत्तं
कुसलकप्पियं होज्जा।

संकिणो असंकिणो य दोसगुणदीवणत्थं उदाहरणं—
जहा ते पेयापाया-दारगा। (निभा २४ चू)

० शंका—तत्त्व में संशय करना। (शिष्य ने पूछा—शंका ज्ञान से भिन्न पदार्थ है या अभिन्न? गुरु ने कहा—जैसे घट पट का अर्थांतर है, वैसे यह शंका विज्ञान का अर्थांतर नहीं है। अंगुलि के वक्रीकरण की भांति यह अनर्थांतर है।)

० कांक्षा—अन्यान्य दर्शनों की अभिलाषा।

० विचिकित्सा—विद्यमान पदार्थ के फल में संदेह करना। मैं ब्रह्मचर्य पालन, केशलुंचन, भूमिशयन, परीषहसहन आदि की कठोर साधना करता हूँ पर मुझे इनका फल मिलेगा या नहीं, कौन जाने? इस प्रकार की मतिविप्लुति विचिकित्सा है।

शंका के दो प्रकार हैं—

देशशंका—जीवत्व सबमें समान है, फिर भी उनमें कुछ भव्य हैं, कुछ अभव्य हैं। यह कैसे?

सर्वशंका—प्राकृत भाषा में निबद्ध सम्पूर्ण द्वादशांग गणिपिट्ठक कुशलकल्पित नहीं है।

शंका से हानि होती है और निःशंकता से लाभ होता है—यह तथ्य प्रकाशित करने के लिए पेयापायक बच्चों का दृष्टांत है।

० पेयापान दृष्टांत

दोवि लेहसालाए पढंति। भोयणकाले आगताण
दोण्ह वि गिहंतो णिविद्वान्ण मासकणफोडिया पेया दिण्णा।
तत्थ मुयमात्तिओ चिंतेंड—मच्छित्ता इमा। ससंकिओ पियति।
तस्स संकाए वग्गुलियावाही जातो, मतो य। वित्तिओ
चिंतेंति—ण ममं माता मच्छियाओ देति। णिस्संकिओ पिबति
जीवितो य। (निभा २४ की चू)

दो भाई थे। एक दिन वे पाठशाला से लौटे। मां द्वारा दोनों को पेया परोसी गई, जिसमें उड़द के कण थे। जिसकी सौतेली मां थी, उस भाई ने सोचा—ये मक्खियां हैं। सशंक

पेयापान किया, वमन हुई और वह मर गया। मेरी मां मुझे मक्षिका नहीं खिला सकती—यह सोचकर दूसरे भाई ने निःशंक होकर पेयापान किया, वह जीवित रहा।

१०. अतिचार : ज्ञान-दर्शन-चारित्र और भाव

एक्केक्कं पि य तिविहं, सद्गुणे नत्थि खड्गय अतियारो।
उवसामिण्णु दोसुं, अतियारो होज्ज सेसेसु ॥
सद्गुणपरद्गुणे, खओवसमितेसु तीसु वी भयणा।
दंसण-उवसम-खड्गए, परठाणे होति भयणा उ ॥
(व्यभा ९८३, ९८४)

दर्शन के तीन प्रकार हैं—

१. क्षायिक दर्शन—क्षायिकसम्यग्दृष्टि के क्षायिक सम्यक्त्व।
२. औपशमिक दर्शन—उपशम श्रेणी में औपशमिक सम्यक्त्व (किसी एक अपेक्षा से)।
३. क्षायोपशमिक दर्शन—उपर्युक्त दोनों से अतिरिक्त (शेष काल में) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व।

चारित्र के तीन प्रकार हैं—

१. क्षायिक चारित्र—क्षपक निर्ग्रन्थ में।
२. औपशमिक चारित्र—उपशमक निर्ग्रन्थ में।
३. क्षायोपशमिक चारित्र—उल्लिखित द्वयी से अन्य निर्ग्रन्थ में।

क्षायिक भाव—क्षायिक ज्ञान-दर्शन-चारित्र में वर्तमान केवली के स्वस्थान में किंचित् भी अतिचार नहीं होता, परस्थान में संभव भी है।

औपशमिक भाव—औपशमिक दर्शन और चारित्र में वर्तमान निर्ग्रन्थ के स्वस्थान में अतिचार नहीं होता। कषाय-उपशांति के कारण वहां प्रतिसेवना संभव नहीं है। उसमें अनुष्योग (प्रमाद) से अन्यथा प्ररूपण-चिंतन के कारण ज्ञानविराधना हो सकती है।

उपशमश्रेणी के पतनकाल में औदयिकभाव के कारण अतिचार संभव है।

औपशमिक और क्षायिक दर्शन-चारित्र में स्वस्थान में अतिचार नहीं होता, परस्थान में प्रतिसेवना की भजना है।

क्षायोपशमिक भाव—क्षायोपशमिक भाव में वर्तमान निर्ग्रन्थ के ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन तीनों में स्वस्थान और परस्थान

में अतिचार की भजना है—कभी होता है, कभी नहीं होता।

११. वीर्याचार का स्वरूप

अणिगूहियबलविरिओ, परक्कमति जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजइ य जहत्थामं, णायव्वो वीरियायारो ॥
(निभा ४३)

मुनि अपने बल-वीर्य का गोपन न करता हुआ अत्यंत जागरूकता से सूत्रोक्त विधि के अनुसार ज्ञान आदि की आराधना में पराक्रम करता है, स्वयं को यथाशक्ति कार्यों में नियोजित करता है—यह वीर्याचार है।

१२. वीर्याचार के प्रकार

नाणे दंसण-चरणे, तवे य विरिये य भावमायारो।
अट्ट ट्ट ट्ट दुवालस, विरियमहानी तु जा तेसिं ॥
(निभा ७)

भाव आचार के पांच प्रकार हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इनमें से प्रत्येक आचार के आठ-आठ भेद हैं। तप के बारह भेद हैं। इन छत्तीस (८+८+८+१२=३६) भेदों के परिपालन में शक्ति का गोपन न करना वीर्याचार है। उसके छत्तीस भेद हैं।

* दर्शन-चारित्र-तप आचार के भेद आदि

द्र श्रीआको १ आचार

१३. आचार कुशल कौन ?

यः कुशं दर्भ दात्रेण तथा लुनाति न क्वचिदपि दात्रेण विच्छिद्यते स द्रव्यकुशलः ।.....यः पुनः पञ्च-विधेनाचारेण दात्रकल्पेन कर्मकुशं लुनाति स भाव-कुशलः ।
(व्य ३/३ वृ)

कुशल के दो प्रकार हैं—

द्रव्य कुशल—जो कुश को दात्र से इस प्रकार से काटता है कि वह उससे स्वयं छिन्न नहीं होता।

भाव कुशल—जो दात्रसदृश पंचविध आचार के द्वारा कर्मकुशल को काटता है।

अब्भुद्गुणे आसण, किंकर अब्भासकरणमविभत्ती।
पडिरूवज्जोगजुंजण, नियोगपूजा जधाकमसो ॥

अफरुस-अणवल-अचवलमकुवकुवमदं भगोमसीभरगा ।
 सहित-समाहित-उवहित-गुणनिधि आयारकुसलो उ ॥
 अब्भुद्वाणं गुरुमादी, आसणदाणं च होति तस्सेव ।
 गोसे व य आयरिए, संदिसहे किं करोमि त्ति ॥
 अब्भासकरणधम्मज्जुयाण अविभत्तसीसपाडिच्छे ।
 पडिरुवजोग जह पेडियाय जुंजण करेति धुवं ॥
 पूयं जधाणुरुवं, गुरुमादीणं करेति कमसो उ ।
 लहादीजणणमफरुसं, अणवलया होतऽकुडिलत्तं ॥
 अचवलथिरस्स भावो, अप्फंदणया य होति अकुयत्तं ।
 उल्लावलालसीभर, सहिता कालेण नाणादी ॥
 सम्मं आहितभावो, समाहितो उवहितो समीवम्मि ।
 नाणादीणं तु ठितो, गुणनिहि जो आगर गुणाणं ॥
 (व्यभा १४८१-१४८७)

आचारकुशल वह होता है, जो—

- ० अभ्युत्थान—गुरु आदि के आने पर खड़ा होता है ।
 - ० आसन—उन्हें आसन प्रदान करता है ।
 - ० किंकर—प्रातः गुरुचरणों में उपस्थित हो पूछता है—किं करोमि—मुझे क्या करना है ? आज्ञा दें ।
 - ० अभ्यासकरण—सदा गुरु के उपपात में रहता है ।
 - ० अविभक्ति—शिष्य और प्रतीच्छकों में अभेदबुद्धि रखता है ।
 - ० प्रतिरूपयोग—कायिक विनय आदि में जागरूक होता है ।
 - ० नियोग—वस्त्र आदि के उत्पादन में जो नियोजनीय है, उसे उस कार्य में नियुक्त करता है ।
 - ० पूजा—गुरु आदि का यथायोग्य सम्मान-बहुमान करता है ।
 - ० अपरुष—मनःप्रह्लादकारी वचन बोलता है ।
 - ० अवलय—ऋजु होता है ।
 - ० अबपल—स्वभाव से स्थिर होता है ।
 - ० अकुत्कुच—मुख आदि से विरूप चेष्टा नहीं करता ।
 - ० अदम्भक—वंचनायुक्त वचन नहीं बोलता ।
 - ० असीभरक—बोलता हुआ दूसरों पर थूक नहीं उछालता ।
- उल्लिखित अभ्युत्थान आदि क्रियाएं विनयबहुल वीर्याचार की सूचक हैं ।
- ० सहित—यह 'काले कालं समायरे' का प्रतिरूप है । आचार-कुशल साधु स्वाध्याय, प्रतिलेखना, तप आदि सब कार्य समय पर करता है ।

- ० समाहित—उसका चित्त उपधान आदि करने में सम्यक् प्रतिष्ठित होता है । वह उपशम भाव में रहता है ।
- ० उपहित—ज्ञान आदि में रमण करता हुआ आत्मा की अधिक निर्मलता चाहता हुआ, सदा गुरुसन्निधि में रहता है ।

आचारचूला—आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कंध ।

द्र आगम

आचार्य—परम आचार कुशल और सामाचारी-प्रशिक्षण में निपुण । तीर्थंकर की अनुकृति । जो शिष्यों को सूत्रार्थ की वाचना देने वाले ।

१. आचार्य कौन ? अर्हता के स्थान
२. प्रशस्य आचार्य : आगाठप्रज्ञ आदि
३. गणधारण का लक्ष्य : सागर की उपमा
 - ० चन्द्र, सरोवर एवं चक्री की उपमा
 - ० श्रीगृह की उपमा : तोसलिक दृष्टांत
 - * आचार्य अर्हत् की अनुकृति द्र संघ
४. आचार्य के प्रकार : प्रवाजनाचार्य.....
 - * वाचनाचार्य के प्रकार द्र वाचना
 - * वाचना से महानिर्जरा द्र वैवावृत्त्य
 - * आचार्य (अनुयोगदाता) के छतीस गुण
 - * आर्यकालक का स्वर्णभूमि-गमन द्र अनुयोग
 - * आचार्य अर्थ के उत्प्रेक्षक द्र सूत्र
 - * उपाध्याय सूत्रवाचक द्र संघ
५. बहुश्रुत-गीतार्थ-चतुर्भंगी : गणधारण के अर्ह
 - * भावी आचार्य : देशाटन अनिवार्य द्र विहार
६. गणधारण के योग्य की परीक्षाविधि
७. गणधारण से पूर्व स्थविर पृच्छा
 - ० गणधारक को तीन शिष्य
८. एकपाक्षिक आचार्य-पदयोग्य
 - ० एकपाक्षिक के विकल्प
 - ० एकपाक्षिक न होने से हानि : अन्य विकल्प
९. नवनिर्वाचित आचार्य का दायित्व
१०. आचार्य आदि पद : न्यूनतम संयमपर्याय-श्रुत
११. अल्प पर्याय वाला श्रमण आचार्य क्यों ? कैसे ?
 - * अभिषेक : आचार्य पदयोग्य द्र अभिषेक

१२. आचार्य आदि पदों के अर्थ
 ◦ दोषसेवन से आचार्यत्व आदि के निषेध की सीमा
 * निशीथ-विस्मृति : पद का निषेध द्र छेदसूत्र
 * अशिष्य आचार्यपद के अयोग्य द्र अंतेवासी
१३. आचार्य के प्रकार : गीतार्थ व सारणा के आधार पर
 ◦ सारणा-वारणा का मूल्य
 ◦ सारणा-वारणा : दो दृष्टांत
 ◦ असारणा का दुष्परिणाम
१४. अबहुश्रुत-अगीतार्थ आचार्य : सर्पशीर्ष दृष्टांत
 ◦ वैद्यपुत्र दृष्टांत
१५. अगीतार्थ की आचार्य पद पर स्थापना से प्रायश्चित्त
 * गणिविहीन गण नहीं द्र संघ
१६. आचार्य आदि की निश्रा : द्विसंगृहीत-त्रिसंगृहीत
१७. आचार्य-उपाध्याय और साध्वी
 ◦ स्थविरा साध्वी : निश्रा संबंधी विकल्प
 * दिशा : आचार्य-उपाध्याय द्र दिग्बंध
१८. आचार्य-उपाध्याय के अतिशेष
 ◦ अतिशेष के हेतु
 ◦ एकाकी रहने के हेतु : विद्यापरावर्तन-महाप्राणध्यान
 ◦ एक शिष्य के साथ विहार क्यों ?
 ◦ आचार्य के चरण-प्रमार्जन की विधि
 ◦ भिक्षार्थ न जाने के हेतु
१९. अन्य पांच अतिशय : शिष्यों द्वारा सम्पादित
 ◦ योगसंधान : शिष्यों की जागरूकता
२०. अतिशयों की उपजीविता : आर्यसमुद्र-मंगु दृष्टांत
 * आचार्य की समृद्धिसम्पन्नता द्र गणिसम्पदा
२१. आचार्य सुलक्षण हो : सलक्षण कुमार दृष्टांत
२२. आचार्य चिकित्साविधिज्ञ : संयोगदृष्टपाठी
२३. शक्तिसम्पन्न आचार्य : कुमार दृष्टांत
२४. इत्वरिक तथा यावत्कश्चिक आचार्य की स्थापना
 * इत्वरिक गणनिक्षेप : गणपालन दुष्कर
 * नये आचार्य, शिष्यों को शिक्षा द्र जिनकल्प
२५. सापेक्ष-निरपेक्ष राजा और आचार्य
२६. सापेक्ष द्वारा भावी आचार्य की प्रतिष्ठा
२७. निरपेक्ष राजा की मृत्यु : मूलदेव दृष्टांत
२८. निरपेक्ष आचार्य कालगत, पदाभिषेक विधि
 ◦ निरपेक्ष के कालगत की पूर्व घोषणा से हानि

२९. गणधारक के आभाव्य पुरुषयुग
३०. पश्चात्कृत शिष्य : आभवद् व्यवहार
३१. आचार्य की ऋणमुक्ति के उपाय
 ◦ आचार्य विनय : सामाचारी में नियोजन
 ◦ श्रुतविनय : निःशेष वाचना
 ◦ विक्षेपणा विनय : सम्यक्त्व आदि में प्रतिष्ठापन
 ◦ दोषनिर्घातना विनय : कषाय-कांक्षा-विनयन
 * आचार्य आदि : एकलविहारप्रतिमा द्र प्रतिमा
३२. आचार्य वैयावृत्त्यकारी कैसे ?
 * परिहार तप : आचार्य द्वारा वैयावृत्त्य द्र परिहार तप
 * पारोचित प्रायश्चित्त : आचार्य का दायित्व द्र पारोचित
 * अनुपशांत को आचार्य द्वारा प्रेरणा द्र अधिकरण
 * आलोचनाई (आचार्य) का व्यवहार द्र आलोचना
 * व्यवहारी (आलोचनाई) की अर्हता द्र व्यवहार
३३. आचार्य : इहलोक-परलोक हितकारी
३४. असंक्लेशकर आचार्य : प्रासाद दृष्टांत
 * आचार्य के वैयावृत्त्य से महानिर्जरा द्र वैयावृत्त्य
 * आचार्य की आशातना से आराधना नहीं द्र आशातना
३५. आचार्य-अवज्ञा से श्रुत-हानि
 * उपसम्पदा और आचार्य द्र उपसम्पदा
 * आचार्य-उपाध्याय और जिनकल्प द्र जिनकल्प
 * आचार्य अंगबाह्य के रचयिता द्र आगम
 * आचार्य परम्परा द्र स्थविरावलि

१. आचार्य कौन ? अर्हता के स्थान
 आयरिय-उवज्झाया, नाणुण्णाता जिणोहि सिष्यद्वा ।
 नाणे चरणे जोगा, पावमा उ तो अणुण्णाता ॥
 (व्यभा १९३२)

अर्हतों द्वारा आचार्य-उपाध्याय का पद शिल्पशिक्षा देने के लिए अनुज्ञात नहीं है ।

जो शिक्षा ज्ञानयोग, दर्शनयोग और चारित्र्ययोग की प्रापक हो, इस योगत्रयी की वृद्धि करने वाली हो, उसी शिक्षा के लिए वे अनुज्ञात हैं ।

पढिय सुय गुणिय धारिय, करणे उवउत्तो छहि वि ठणोहि ।
 छट्ठाणसंपउत्तो, गणपरियट्ठी अणुनाओ ॥
 (वृभा ७०८)

जिसने निशीथ का सूत्रतः पूर्ण अध्ययन किया हो, गुरु के पास अर्थ को ग्रहण किया हो, परावर्तना और अनुप्रेक्षा द्वारा सूत्रार्थ का अच्छा अभ्यास किया हो, जो विधि-निषेध के विधान में कुशल हो, पांच महाव्रत और रात्रिभोजन-विरमण में जागरूक हो—इस प्रकार जो पठित, श्रुत, गुणित, धारित, यथोक्तकरण और छह व्रतों में अप्रमत्त—इन छह स्थानों से सम्पन्न होता है, वही तीर्थंकरों और गणधरों द्वारा आचार्य पद के लिए अनुज्ञात है।

२. प्रशस्य आचार्य : आगाढप्रज्ञ आदि

गणधारिस्साहारो, उक्करणं संधवो च उक्कोसो ।
सक्कारो सीसपडिच्छगेहि गिहि-अन्नतिथीहिं ॥
सुतेण अत्थेण य उतमो उ, आगाढपण्णेसुय भावितप्पा ।
जच्चन्तितो वा वि विसुद्धभावो, संते गुणेवं पविकत्थयंतो ॥
(व्यभा १४०२, १४०३)

गणधारी का आहार, उपकरण, संस्तव—ये सब उत्कृष्ट होते हैं। वह शिष्यों, प्रतीच्छकों, गृहस्थों और अन्यतीर्थिकों द्वारा सत्कृत-पूजित होता है।

जो सूत्र और अर्थ का पारगामी है, जो आगाढप्रज्ञ शास्त्रों से भावित है (जिन शास्त्रों के अध्ययन में गहन प्रज्ञा का उपयोग करना होता है, उन गहन-गंभीर शास्त्रों के तात्पर्यार्थ को पकड़ने में जिसकी बुद्धि निपुण है), जो आभिजात्य है, जिसका चिन्तन विशद है, ऐसे गुणसम्पन्न गणधारी को सब संस्तुति करते हैं।

३. गणधारण का लक्ष्य : सागर की उपमा

किं नियमेति निज्जरनिमित्तं न उ पूयमादिअट्टाए ।
धारेति गणं जदि पहु, महातलागेण सामाणो ॥
तिमि-मगरेहि न खुब्भति, जहंबुनाधो वियंभमाणेहिं ।
सोच्चिय महातलागो, पफुल्लपउमं च जं अन्नं ॥
परवादीहि न खुब्भति, संगिणहंतो गणं च न गिलाति ।
होती य सदाभिगमो, सत्ताण सरोव्व पउमड्डो ॥
आहारवत्थादिसुलद्धिजुत्तं, आदेज्जवक्कं च अहीणदेहं ।
सक्कारभज्जम्मि इमम्मि लोए, पूयंति सेहा य पिहुज्जणा य ॥
(व्यभा १३६९-१३७१, १३९९)

गणधारण केवल निर्जरा के लिए करना चाहिए, पूजा-प्रतिष्ठा के लिए नहीं। गणधारक उस महान् सरोवर के समान होना चाहिए, जो विकस्वर कमलों से शोभित हो।

जैसे समुद्र विजृम्भमाण मीन-मकरों से संक्षुब्ध नहीं होता, वैसे ही वह भी परवादियों से क्षुब्ध नहीं होता। वह गण का संग्रहण करता हुआ कलांत नहीं होता। विशाल पद्मसरोवर की भांति उसके पास भी सदा जनसंकुलता रहती है।

वह आहार, वस्त्र आदि की लब्धि से सम्पन्न होता है। उसके वचन आदेय होते हैं, शरीर के अवयव परिपूर्ण होते हैं। वह विद्वज्जनपूज्य और मतिमान् होता है। ऐसा गणधारी ही अपने शिष्यों और सब लोगों की दृष्टि में पूज्य होता है।

० चन्द्र, सरोवर एवं चक्री की उपमा

सन्निसेज्जागतं दिस्स, सिस्सेहि परिवारितं ।
कोमुदीजोगजुत्तं वा, तारापरिवुडं ससिं ॥
गिहत्थपरतिथीहिं, संसयत्थीहि निच्चसो ।
सेविज्जंतं विहंगेहिं, सरं वा कमलोज्जलं ॥
खग्गूडे अणुसासंतं, सद्धावंतं समुज्जते ।
गणस्स अगिला कुव्वं, संगहं विसए सए ॥
इंगितागारदक्खेहिं, सदा छंदाणुवत्तिहिं ।
अविकूलितनिदेसं, रायाणं व अणायगं ॥
(व्यभा २०००-२००३)

कार्तिकी पूर्णिमा की रात्रि में तारागण से परिवृत चन्द्रमा की भांति सुन्दर निषद्या पर उपविष्ट, शिष्यों से परिवृत आचार्य शोभित होते हैं।

गृहस्थों, परतीर्थिकों और जिज्ञासु साधुओं से निरन्तर सेव्यमान आचार्य ऐसे लगते हैं, मानो पक्षी कमलों से परिमण्डित सरोवर का आसेवन कर रहे हों।

आचार्य स्वच्छन्द व्यक्तियों को अनुशासित करते हैं, अनुशासितों में (गण के प्रति) महान् श्रद्धा समुत्पन्न करते हैं। वे आत्मोत्साह से (तथा निर्जराधिता से) शिष्यों आदि का संग्रहण कर यथाशक्ति गण की श्रीवृद्धि करते हैं।

इंगिताकार-सम्पन्न और छन्दानुवर्ती (गुरु के अभिप्राय के अनुकूल वर्तन करने वाले) शिष्य गुरु-आज्ञा की सदा

अखण्ड आराधना करते हैं, जैसे लोग चक्रवर्ती की आज्ञा की आराधना करते हैं।

० श्रीगृह की उपमा : तोसलिक दृष्टांत

जह राया तोसलिओ, मणिपडिमा रक्खते पयत्तेण।
तह होति रक्खियब्बो, सिरिघरसरिसो उ आयरिओ ॥
पडिमुप्पत्ती वणिण, उदधीउप्पात उवायणं भीत्ते।
रयणदुगे जिणपडिमा, करेमि जदि उत्तरेऽविग्घं ॥
उप्पा उवसम उत्तरणमविग्घं एक्कपडिमकरणं वा।
देवयच्छंदेण ततो, जाता वित्ति ए वि पडिमा उ ॥
...ता दीवएण पडिमा, दीसंतिधरा उ रयणाइं ॥
सोऊण पाडिहेरं, राया घेतूण सिरिहरे छुभति।
मंगलभत्तीय ततो, पूएत्ति परेण जत्तेण ॥
पूयंति य रक्खंति य, सीसा सव्वे गणिं सदा पयता।
इथ परलोए य गुणा, हवंति तप्पूयणे जम्हा ॥
(व्यभा २५६०-२५६४, २५६६)

आचार्य श्रीगृह के समान होते हैं, अतः उनकी वैसे ही रक्षा करनी चाहिए, जैसे तोसलिक नृप ने श्रीगृह में मणि-प्रतिमाओं की रक्षा की थी।

प्रतिमाउत्पत्ति—एक रत्नवणिक् समुद्रयात्रा कर रहा था। उपद्रव उपस्थित हुआ। वणिक् ने भयभीत होकर देवता की मनौती की—यदि मैं निर्विघ्न पार पहुंच जाऊं तो मणिरत्नमय दो जिनप्रतिमाएं बनवाऊंगा। उपद्रव शांत हो गया। वह निर्विघ्न समुद्र के पार पहुंच गया। मन में लोभ जागा। अतः मणिरत्नमय एक प्रतिमा बनवाई। देवता के अभिप्राय से दूसरी प्रतिमा भी निर्मित हो गई।

दीपक के प्रकाश में वे प्रतिमा के रूप में दृश्य होती थीं अन्यथा रत्न ही दिखाई देते थे। प्रतिमाओं का यह चमत्कार सुनकर राजा तोसलिक ने उनको अपने श्रीगृह भांडागार में रखवा दिया। राजा मंगलबुद्धि और परम भक्ति से यत्नपूर्वक उनकी पूजा करता।

इसी प्रकार सब शिष्य रत्नतुल्य आचार्य की सदा प्रयत्नपूर्वक पूजा—रक्षा करते हैं। गुरु की पूजा करने से इस लोक और परलोक में महान् गुणों की प्राप्ति होती है—विपुल श्रुतलाभ और मोक्षमार्ग की आराधना होती है।

४. आचार्य के प्रकार : प्रव्राजनाचार्य.....

चत्तारि आयरिया षण्णत्ता, तं जहा—पव्वावणा-यरि ए नाममेगे नो उवट्ठावणायरि ए, उवट्ठावणायरि ए नाममेगे नो पव्वावणायरि ए, एगे पव्वावणायरि ए वि उवट्ठावणायरि ए वि, एगे नो पव्वावणायरि ए नो उवट्ठावणायरि ए धम्मायरि ए ॥

चत्तारि आयरिया षण्णत्ता, तं जहा—उद्देसणायरि ए नाममेगे नो वायणायरि ए, वायणायरि ए नाममेगे नो उद्देसणायरि ए, एगे उद्देसणायरि ए वि वायणायरि ए वि, एगे नो उद्देसणायरि ए नो वायणायरि ए—धम्मायरि ए ॥

(व्य १०/१५, १६)

जो पुण नोभयकारी, सो कम्हा भवति आयरीओ उ।
भण्णति धम्मायरिओ, सो पुण गिहिओ व समणो वा ॥
धम्मायरि प व्वावण, तह य उवट्ठावणा गुरू तत्तिओ।
कोइ तिहिं संपन्नो, दोहि वि एक्केक्कएणं वा ॥

(व्यभा ४५९२, ४५९३)

आचार्य के चार प्रकार हैं—

१. कुछ आचार्य प्रव्रज्या (मुनिवेश) देने वाले होते हैं, किन्तु उपस्थापना (महाव्रतों में आरोपित) करने वाले नहीं होते।
२. कुछ आचार्य उपस्थापना करने वाले होते हैं, किन्तु प्रव्रज्या देने वाले नहीं होते।
३. कुछ आचार्य प्रव्रज्या भी देते हैं और उपस्थापित भी करते हैं।
४. कुछ आचार्य न प्रव्रज्या देते हैं और न उपस्थापित करते हैं। यहां आचार्य धर्माचार्य की कक्षा के हैं (वे केवल धर्माचार्य होते हैं)।

शिष्य ने पूछा—जो न प्रव्रज्या देता है, न उपस्थापना करता है, वह आचार्य कैसे ?

आचार्य ने कहा—जो धर्मोपदेश देता है, प्रथम बार धर्म में प्रेरित करता है, वह धर्माचार्य होता है। वह गृहस्थ या श्रमण कोई भी हो सकता है।

धर्माचार्य, प्रव्राजनाचार्य और उपस्थापनाचार्य—ये तीनों पृथक्-पृथक् भी हो सकते हैं अथवा एक ही व्यक्ति दोनों या तीनों प्रकार का आचार्य भी हो सकता है।

आचार्य चार प्रकार के होते हैं—

१. कुछ उद्देशनाचार्य (सूत्र पढ़ने का आदेश देने वाले) होते हैं, किन्तु वाचनाचार्य (पढ़ाने वाले) नहीं होते।
२. कुछ वाचनाचार्य होते हैं, उद्देशनाचार्य नहीं।
३. कुछ आचार्य दोनों होते हैं।
४. कुछ दोनों नहीं होते, केवल धर्माचार्य होते हैं।

एक ही व्यक्ति धर्माचार्य, उद्देशनाचार्य और वाचना-
चार्य हो सकता है।

५. बहुश्रुत-गीतार्थ-चतुर्भंगी : गणधारण के अर्थ

अबहुस्सुतऽगीतस्थे ।.....

जो सो चउत्थभंगो, दव्वे भावे य होति संछण्णो ।

गणधारणम्मि अरिहो, सो सुद्धो होति नायव्वो ॥

अबहुश्रुतागीतार्थपदाभ्यां भङ्गचतुष्टयम् । तद्यथा —
अबहुश्रुतो अगीतार्थ इति प्रथमो भङ्गः, अबहुश्रुतो गीतार्थः,
बहुश्रुतोऽगीतार्थः, बहुश्रुतो गीतार्थः । तत्र यस्य निशीथादिकं
सूत्रतोऽर्थतो वा न गतं प्रथमभङ्गः । यस्य पुनर्निशीथादि-
गतौ सूत्रार्थो विस्मृतौ स द्वितीयभङ्गः । पुनरेकादशाङ्गधारी
अश्रुतार्थः स तृतीयभङ्गः । सकलकालोचितसूत्रार्थोपेत-
श्चतुर्थः । (व्यभा १४१८, १४२१ वृ)

अबहुश्रुत-अगीतार्थ के चार विकल्प हैं—

१. अबहुश्रुत-अगीतार्थ—जिसे निशीथ आदि आगम सूत्रतः
और अर्थतः ज्ञात नहीं है।
२. अबहुश्रुत गीतार्थ—जो निशीथ आदि सूत्र अर्थसहित पद
सीख चुका है, किन्तु वर्तमान में वे विस्मृत हो चुके हैं।
३. बहुश्रुत अगीतार्थ—जो ग्यारह अंगों का धारक है, किन्तु
जिसने उनका अर्थ नहीं सुना-जाना है।
४. बहुश्रुत गीतार्थ—जो समप्रता से समयोचित सूत्र और अर्थ से
सम्पन्न (सूत्रार्थ का ज्ञाता) है।

चतुर्थ भंगवर्ती शुद्ध है, गणधारण के योग्य है, क्योंकि
वह द्रव्य और भाव से संछन्न—शिष्य समुदय और श्रुत से
सम्पन्न होता है।

उवसंपाविय पव्वाविता य अण्णे च तेसि संगहिता ।

एरिसए देति गणं..... ॥

(व्यभा १९१३)

देशाटन करते हुए जिस शिष्य ने बहुतों को उपसम्पदा
दी है, बहुतों को प्रव्रजित किया है और बहुतों को संगृहीत
किया है, आचार्य उस पूर्णतः योग्य शिष्य को गण का भार
सौंपते हैं।

भिवखू य इच्छेज्जा गणं धारेत्तए, भगवं च से
अपलिच्छन्ने एवं से नो कप्पइ गणं धारेत्तए । भगवं च से
पलिच्छन्ने, एवं से कप्पइ गणं धारेत्तए ॥ (व्य ३/१)

जो भगवान् भिक्षु गण को धारण करना चाहे, वह
यदि अपरिच्छन्न—श्रुत और शिष्य सम्पदा से विहीन है, उस
स्थिति में गण को धारण नहीं कर सकता। परिच्छन्न-भिक्षु
गण को धारण कर सकता है।

.....गुणपरिवुद्धीय ठाणलंभो उ।.....

भिक्षुर्गुणाधिकत्वेन गणावच्छेदकस्थानं लभते ।
गणावच्छेदको गुणाधिकतया आचार्योपाध्यायस्थानम् ।

(व्यभा २१९१ वृ)

भिक्षु अतिशय गुणों से युक्त होकर गणावच्छेदक का
पद प्राप्त करता है और गणावच्छेदक अतिशय गुण-वृद्धि से
आचार्य-उपाध्याय का पद प्राप्त करता है।

६. गणधारण के योग्य की परीक्षाविधि

सुद्धस्स य पारिच्छा, खुडुय थेरे य तरुणखग्गूडे ।
दोमादिमंडलीए, सुद्धमसुद्धे ततो पुच्छा ॥
उच्चफलो अह खुड्डो, सउणिच्छावो व पोसिउं दुक्खं ।
पुट्टो वि होहिति न वा, पलिमंथो सारमंतस्स ॥
पुट्टो वासु मरिस्सति, दुराणुयत्ते न वेत्थ पडिगारो ।
सुत्तत्थपारिहाणी, थेरे बहुयं निरत्थं तु ॥
अहियं पुच्छति ओगिण्हते बहं किं गुणो मि रेणेणं ।
होहिति य विवद्धंतो, एसो हु ममं पडिसवत्ती ॥
कोधी व निरुवगारी, फरुसो सव्वस्स वामवट्टो य ।
अविणीतो त्ति च काउं, हंतुं सत्तुं च निच्छुभती ॥
वत्थाहारादीभि य, संगिण्हऽणुवत्तए य जो जुयलं ।
गाहेति अपरितंतो, गाहण सिक्खावए तरुणं ॥
खरमउएहिऽणुवत्तति, खग्गूडं जेण पडति पासेण ।
देमो विहार विजडो, तत्थोडुणामप्पणा कुणत्ति ॥

इय सुद्धसुत्तमंडलि, दाविज्जति अत्थमंडली चेव ।
दोहिं पि असीदंते, देति गणं..... ॥
(व्यभा १४२२-१४२९)

जो शिष्य गणधारण के योग्य हो, उसकी परीक्षा करनी चाहिए और उत्तीर्ण होने पर ही गणधरपद की अनुज्ञा देनी चाहिए। परीक्षा के बिंदु ये हैं—

० क्षुल्लक विषयक परीक्षा—तुम इस शैक्ष का ग्रहण-आसेवन शिक्षा द्वारा निर्माण करो—गुरु के इस निर्देश पर यदि वह सोचता है—

यह शैक्ष चिरकाल के पश्चात् मेरा उपकार करेगा, तब तक न जाने क्या होगा ? क्यों इसे शिक्षित करूँ ? अथवा पक्षी-शावक की भांति इसका पोषण करना कष्टप्रद है। पुष्ट होने पर भी मेरा होगा या नहीं होगा—कौन जाने ? अथवा इसकी सारणा से मेरे अध्ययन में व्याघात होगा। ऐसा चिंतन कर जो क्षुल्लक शैक्ष को प्रशिक्षित नहीं करता है, वह गणधारण के योग्य नहीं है।

० स्थविर विषयक परीक्षा—यह स्थविर आर्यरक्षित के पिता की तरह प्रवचन-प्रभावक होगा—ऐसा जानकर गुरु उसे स्थविर शैक्ष समर्पित करते हैं, तब यदि वह सोचता है—

यह वृद्ध है, पुष्ट करने पर भी न जाने कब काल-कवलित हो जाए ? वृद्ध को संभालना दुष्कर है। यह प्रत्युपकार नहीं करेगा। जड़प्रज्ञ होने से इसे शिक्षित करने में सूत्रार्थ की हानि होगी। इसे शिक्षित करना बहुत सार्थक नहीं है। ऐसा सोच स्थविर को शिक्षित नहीं करने वाला गणधारण करने योग्य नहीं है।

० तरुणविषयक परीक्षा—तरुण को सौंपने पर यदि वह सोचता है—यह मेधावी है, बहुत प्रश्न करता है, बहुत ग्रहण करता है। इसे आक्षेप पद्धति (संवाद शैली या विभज्यवाद शैली) से पढ़ाने में क्या लाभ है ?

यह सूत्र-अर्थ में निपुण हो गया तो मेरा प्रतिपंथी हो जाएगा इसलिए इसे कौन पढ़ाए ? क्यों पढ़ाए ? ऐसा चिन्तक गणधारक पद के अनर्ह है।

० खगूड विषयक परीक्षण—वक्र सामाचारी वाले को शिक्षा आदि द्वारा ऋजु और कुशल बनाओ—इस निर्देश के साथ

समर्पित वक्रस्वभावी के लिए वह सोचता है—यह क्रोधी, निरुपकारी, परुषभाषी, सबके प्रतिकूल वर्तन करने वाला और अविनीत है—यह सोचकर उसे शत्रु की तरह आहत कर निकाल देता है, वह भी गणधारण के अयोग्य है।

जो गणधारण की अर्हता से सम्मन है, वह क्षुल्लक और वृद्ध का आहार, वस्त्र आदि द्वारा संग्रहण करता है, सम्यक् अनुवर्तन करता है तथा मेधावी तरुण को अक्लांत भाव से ग्रहण और आसेवन शिक्षा में निपुण बनाता है।

खगूड के साथ कोमल-कठोर वचनों से ऐसा व्यवहार करता है, जिससे वह उसके वश में हो जाता है, माया को छोड़ देता है। जो खगूड छलपूर्वक एक स्थान को छोड़ विहार नहीं करता है, उसे भी वह मृदु-कठोर उपायों से विहार के लिए तैयार कर देता है।

क्षुल्लक, स्थविर, तरुण और खगूड—इन चारों को सूत्र पढ़ाने में जो सफल होता है, उसे सूत्रमण्डली सौंपी जाती है। जो सूत्रमण्डली और अर्थमण्डली—दोनों में विषण्ण नहीं होता, अपरिश्रांतता की अनुभूति करता हुआ ज्ञानाभिलाषी गच्छवर्ती साधुओं और प्रतीच्छकों को वाचना देता है, उनके चित्त को आकर्षित-आह्लादित करता है, मूल आचार्य उसे गण सौंप देते हैं।

७. गणधारण से पूर्व स्थविर पृच्छा

भिव्खू य इच्छेज्जा गणं धरेत्तए, नो से कप्पइ थेरे
अणापुच्छित्ता गणं धरेत्तए...जण्णं थेरेहिं अविइण्णं गणं
धारेज्जा, से संतरा छेओ वा परिहारो वा। (व्य ३/२)

सयमेव दिसाबंधं, अणाणुण्णाते करे अणापुच्छा ।
थेरेहि य पडिसिद्धो, सुद्धा लग्गा उवेहंता ॥
(व्यभा १४७४)

भिक्षु गणधारण करना चाहे तो स्थविर (गच्छमहत्तर) को पूछे बिना गण धारण नहीं कर सकता। स्थविर की अनुज्ञा के बिना गणधारण करने वाला छेद या परिहार प्रायश्चित्त का भागी होता है।

मेरे आचार्य भावतः मुझे आचार्य बना चुके हैं, (आचार्य के कालगत होने पर) अब स्थविरों को क्या पूछना है—ऐसा

सोचकर जो स्वयं दिग्बंध (आचार्यत्व) करता है, स्थविर की अनुज्ञा प्राप्त नहीं करता, उसे स्थविर सचेत करते हैं कि 'ऐसा करना अर्हत् की आज्ञा में नहीं है'। प्रतिषेध करने पर भी वह प्रतिनिवर्तित नहीं होता है, तो स्थविर शुद्ध हैं। उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

यदि स्थविर उपेक्षा करते हैं तो वे भी उपेक्षा-प्रत्ययिक चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

० गणधारक को तीन शिष्य

.....पव्वाविते समाणे, तिग्णिण जहन्नेण दिज्जति ॥
एगो चिद्धति पासे, सण्णा आलित्तमादि कज्जट्टा।
भिक्षादि विचार दुवे, पच्चयहेउं य दो होउं ॥
(व्यभा १४०६, १४०७)

आचार्य शिष्य को गणधारण की अनुज्ञा देने के पश्चात् प्रव्रजित शिष्यों में से कम से कम तीन शिष्य उस गणधारक को अवश्य दे।

एक शिष्य उसके पास बैठता है, वह आवश्यक कार्य संपादित करता है और निर्देशानुसार किसी के साथ बातचीत करना, बुलाना आदि कार्य भी करता है। शेष दो शिष्य भिक्षा, औषध आदि लाते हैं, बाहर विचारभूमि में साथ जाते हैं, सूत्रार्थ में संवादी प्रमाण भी बनते हैं।

८. एकपाक्षिक आचार्य पदयोग्य

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पति इत्तरियं दिंसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया।
(व्य २/२६)

एक पाक्षिक (एक ही आचार्य के पास दीक्षा एवं श्रुतग्रहण किए हुए) भिक्षु को अल्पकाल के लिए (अथवा यावज्जीवन के लिए) आचार्य या उपाध्याय पद पर स्थापित किया जा सकता है, वह गण को धारण कर सकता है। अथवा जिसके प्रति गण की प्रीति या प्रतीति हो, उसे आचार्य बनाया जा सकता है।

० एकपाक्षिक के विकल्प

दुविहो र एगपक्खी, पव्वज्जसुते य होति नायव्वो।
सुत्तम्मि एगवायण, पव्वज्जाए कुलिव्वादी ॥

पव्वज्जाय कुलस्स य, गणस्स संघस्स चेव पत्तयं।
समयं सुतेण भंगा, कुज्जा कमसो दिसाबंधो ॥
(व्यभा १२९९, १३०३)

एकपाक्षिक दो प्रकार का होता है—

१. प्रव्रज्या से—दीक्षित होकर एक ही संघ में रहना।
 २. श्रुत से—एक गुरु के पास श्रुत ग्रहण करना अथवा गुरु के समान ही जिसका वाचन—श्रुतज्ञान हो।
- एक पाक्षिक—१. प्रव्रज्या से है, श्रुत से है।
२. प्रव्रज्या से है, श्रुत से नहीं है।
३. श्रुत से है, प्रव्रज्या से नहीं है।
४. न प्रव्रज्या से है, न श्रुत से है।

इसी प्रकार कुल, गण और संघ भी श्रुत के साथ विकल्पनीय हैं।

• इनमें प्रथम विकल्पवर्ती अर्थात् जो प्रव्रज्या, कुल या गण तथा श्रुत इन दोनों से एकपाक्षिक है, वही इत्वर या यावत्कथिक आचार्य-उपाध्याय के पद पर स्थापित करने योग्य है। प्रथम भंग के अभाव में तृतीय भंगवर्ती आचार्य पद पर स्थापनीय है।

० एकपाक्षिक न होने से हानि : अन्य विकल्प

दुविध तिगिच्छं काऊण, आगतो संकियम्मि कं पुच्छे।
पुच्छंति व कं इतरे, गणभेदो पुच्छणा हेउं ॥
न तरति सो संघेउं, अप्पाहारो व पुच्छिउं देति।
अन्नत्थ व पुच्छंते, सच्चित्तादी उ गेणहंति ॥
.....पव्वज्जऽणेगपक्खिय, ठवयंत भवे इमे दोसा ॥
दोण्ह वि बाहिरभावो, सच्चित्तादीसु भंडणं नियमा।
होति स गणस्स भेदो, सुचिरेण न एस अम्ह ति ॥
.....पढमासति ततियभंगमित्तरियं।
ततियस्सेव तु असती, बितिओ तस्साऽसति चउत्थो ॥
पगतीए मिउसहावं, पगतीए सम्मतं विणीतं वा।
जाऊण गणस्स गुरुं, ठावेति अणेगपक्खिं पि ॥
(व्यभा १३०६-१३११)

श्रुत से अनेकपाक्षिक के दोष—कोई साधु मोहचिकित्सा या रोगचिकित्सा कर लौटा है, उसे लम्बे कालव्यवधान के कारण सूत्र-अर्थ में शंका उत्पन्न हो गई है तो वह किसके

पास शंकानिवारण करे क्योंकि इत्वर आचार्य पद पर स्थापित साधु अनेकपाक्षिक है—उसकी वाचना भिन्न है।

० गच्छवासी आचार्य प्रयोजनवश अन्यत्र गए हुए हैं तो अन्य साधु वाचना के अभाव में जिज्ञासा हेतु गच्छांतर में चले जाते हैं, इससे गणभेद होता है।

० स्थापित यावत्कथिक आचार्य भिन्न वाचना के कारण विस्मृत आलापकों का संधान नहीं कर सकता।

० अल्पश्रुत को भी श्रुत से अनेकपाक्षिक कहा गया है, वह अल्पाधार (अल्पसूत्रार्थ ज्ञाता) होता है, इसलिए शिष्यों के प्रश्न का समाधान दूसरों को पूछकर देता है।

० गणांतर में जाकर पृछने से गणांतरवर्ती आचार्य गीतार्थ-अगीतार्थ शिष्यों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

प्रब्रज्या से अनेकपाक्षिक के दोष—अन्य गण की प्रब्रज्या वाला साधु आचार्य बनता है तो दोनों का परस्पर अनात्मीय भाव होता है—आचार्य साधुओं को और साधु आचार्य को पराया समझते हैं।

० अनाभाव्य सचित्त आदि का ग्रहण होने पर नियमतः कलह होता है।

० दीर्घकाल तक भी जब आत्मीयता का अध्यवसाय निर्मित नहीं होता है तो उस गण में भेद उत्पन्न हो जाता है।

अतः श्रुत-प्रब्रज्या से एकपाक्षिक आचार्य के अभाव में तृतीय भंगवर्ती को आचार्यपद पर स्थापित कर उसे शीघ्र सूत्रार्थ में निष्पादित करना चाहिए। इसके अभाव में द्वितीय भंगवर्ती और उसके भी अभाव में चतुर्थ भंगवर्ती आचार्य स्थापनीय है।

जो प्रकृति से मृदुस्वभावी है, जिसकी प्रकृति समस्त गच्छ द्वारा मान्य है और जो विनीत है, उसे आत्मीय जानकर अनेकपाक्षिक होने पर भी गण में आचार्य पद पर स्थापित किया जाता है।

९. नवनिर्वाचित आचार्य का दायित्व

जो जाए लद्धीए, उववेतो तत्थ तं नियोएति।

उवकरणसुते अत्थे, वादे कहणे गिलाणे य॥

जध जध वावारयते, जधा य वावारिता न हीयंति।

तध तध गणपरिवुद्धी, निज्जरवुद्धी वि एमेव॥

(व्यभा १४११, १४१२)

जो शिष्य जिस लब्धि से सम्पन्न होता है, आचार्य उसे उसी कार्य में नियोजित करते हैं। यथा—जो उपकरण-उत्पादन में कुशल है, उसे उपकरण-ग्रहण में, सूत्रपाठ और अर्थग्रहण की लब्धि से सम्पन्न को सूत्रपाठ और अर्थग्रहण में, वादलब्धियुक्त को परवादीमथन में, धर्मकथाकुशल को धर्मकथन में तथा पटु परिचारक को ग्लानसेवा में नियुक्त करता है। इस प्रकार जैसे-जैसे शिष्यों को यथोचित कार्यों में व्यापृत करने से प्रवृत्ति या प्रयोजन की हानि नहीं होती, वैसे-वैसे गण की श्रीवृद्धि होती है और उसी रूप में निर्जरा की परिवृद्धि होती है।

दुविधेण संगहेणं, गच्छं संगिणहते महाभागो।

तो विण्णवेति ते वी, तं चेव य ठाणयं अहं॥

उवगरण बालवुद्धा, खमग गिलाणे य धम्मकधि वादी।

गुरुचिंत वायणा-पेसणेसु कित्तिकम्मकरणे य॥

एतेसु ठाणेसुं, जो आसि समुज्जतो अठवितो वि।

ठवितो वि य न विसीदति, स ठावितुमलं खलु परेसिं॥

(व्यभा १९४२-१९४४)

नव अभिषिक्त महाभाग आचार्य दो प्रकार से गच्छ का संग्रहण करते हैं—

द्रव्य संग्रह—वस्त्र, पात्र आदि।

भाव संग्रह—ज्ञान आदि द्वारा संग्रहण।

गच्छ के साधु बद्धांजलि हो विज्ञप्ति करते हैं—भंते! हमारी अपने-अपने स्थान पर पुनः नियुक्ति करें। वे स्थान ये हैं—

० उपकरण—उपकरणों के उत्पादन कार्य में नियुक्त।

० वैयावृत्य—बाल, वृद्ध, तपस्वी या ग्लान की वैयावृत्य में नियुक्त।

० धर्मकथा—धर्मकथा करने में नियुक्त।

० वाद—पर-वादों के निरसन में निरत।

० गुरुचिंत—गुरुसेवा में नियुक्त, गुरु के प्रत्येक कार्य को जिम्मेवारी से करने वाला।

० वाचना—वाचनाचार्य के पद पर नियुक्त।

० प्रेषण—मुनियों को यत्र-तत्र प्रेषण कार्यों में नियुक्त।

० कृतिकर्मकरण—विश्रामणा आदि कार्यों में नियुक्त।

जो इन उपकरण आदि स्थानों में आचार्यपदनियुक्ति से पूर्व भी जो सदा समुद्यत रहते थे, वे आचार्य बनने के पश्चात् भी इन स्थानों में विषण्ण नहीं होते, पूर्व अभ्यास के कारण खेद-खिन्न नहीं होते। ऐसे आचार्य ही दूसरे साधुओं को इन स्थानों में नियोजित करने में समर्थ होते हैं।

गीतमगीता बहवो, गीतत्थसलक्खणा उ जे तत्थ।
तेसि दिसाउ दाउं, वितरति सेसे जहरिहं तु ॥
मूलायरि राइणिओ, अणुसरिसो तस्स होउवञ्जाओ।
गीतमगीता सेसा, सञ्झिलगा होंति सीसाहा ॥
राइणिया गीतत्था, अलब्धिा धारयंति पुव्वदिसं।
अपहुव्वंत सलक्खण, केवलमेगे दिसाबंधो ॥
सीसे य पहुव्वंत, सव्वेसिं तेसि होति दायव्वा।
अपहुप्यंतेसुं पुण, केवलमेगे दिसाबंधो ॥
अच्चित्तं च जहरिहं, दिज्जति तेसुं च बहुसु गीतेसु।
एस विधी अक्खातो, अग्गीतेसुं इमो उ विधी ॥
अरिहं व अनिम्माउं, णाउं थेरा भणंति जो ठवितो।
एतं गीतं काउं, देज्जाहि दिसिं अणुदिसिं वा ॥
सो निम्माविय ठवितो, अच्छति जदि तेण सह ठितो लब्धं।
अह न वि चिट्ठति तहियं, संघाडो तो सि दायव्वो ॥
(व्यभा १३२३-१३२९)

गच्छ में अनेक साधु गीतार्थ और अगीतार्थ होते हैं। उनमें जो आचार्यपद योग्य हों, लक्षणसम्पन्न हों, रत्निक हों, संग्रह-उपग्रह की लब्धि से सम्पन्न हों, उन्हें दिशा (आचार्य पद) देकर शेष साधुओं को यथायोग्य (अनुरत्नाधिक आदि) पद प्रदान किये जाते हैं।

जो रत्निक (दीक्षापर्याय में बड़े) और गीतार्थ हैं किन्तु लब्धिसम्पन्न नहीं हैं, वे पूर्वदिशा (पूर्वाचार्य द्वारा प्रदत्त दिशा अनुरत्नाधिकत्व आदि) को धारण करते हैं। उन्हें आचार्य या उपाध्याय पद पर आरोपित नहीं किया जाता।

अनेक आचार्य वहां होते हैं, जहां बहुत साधु होते हैं। प्रत्येक आचार्य के साधु-परिवार की संख्या अपर्याप्त हो तो वहां केवल एक उसी को ही आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाता है, जो आचार्य के लक्षणों से सम्पन्न होता है। शेष सब

साधु शिष्यत्व से अनुबंधित होते हैं।

उपाध्याय मूल आचार्य के अनुरूप तथा शेष गीतार्थ अनुरत्नाधिक और अगीतार्थ शिष्य होते हैं।

० उपकरण-वितरण—आचार्यपद पर स्थापित गीतार्थों को यथायोग्य वस्त्र, पात्र आदि उपकरण वितरित किए जाते हैं।
० आचार्य पद योग्य शिष्य का निष्पादन—जो आचार्यपद योग्य है, किन्तु अभी तक अगीतार्थ है, उसके लिए स्थविर (वृद्धाचार्य) तत्काल स्थापित आचार्य को निवेदन करते हैं— 'भंते! अमुक साधु को गीतार्थ बनाकर दिशा या अनुदिशा (आचार्य या उपाध्याय पद) प्रदान करें।'

इस निवेदन पर आचार्य उसे सूत्र-अर्थ में निष्पन्न कर आचार्यपद पर स्थापित करते हैं।

वह नव स्थापित आचार्य गुरु के साथ रहना चाहे तो गुरु के साथ रहे, स्वतंत्र विहार करना चाहे तो उसे एक संघाटक समर्पित किया जाता है। (वह गणधर द्वारा प्रदत्त दो-तीन सहयोगियों और पूर्व आचार्य द्वारा प्रदत्त वैयावृत्त्यकर को पढ़ाता है। उसके पास अभिनव प्रव्रजित साधु भी उसी के शिष्य होते हैं।)

१०. आचार्य आदि पद : न्यूनतम संयमपर्याय-श्रुत तिवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले, संजम-कुसले, पवयणकुसले, पण्णात्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले अक्खयायारे असबलायारे अभिनायारे असंकिलिद्वायारे बहुस्सुए बब्भागमे जहण्णेणं आयार-पकप्पधरे कप्पइ उवञ्जायत्ताए उद्दिसित्ताए ॥

पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे जहण्णेणं दसाकप्प-ववहारधरे कप्पइ आयरिय-उवञ्जायत्ताए उद्दिसित्ताए ॥

अट्टवासपरियाए समणे निग्गंथे जहण्णेणं ठाण-समवायधरे कप्पइ आयरियत्ताए उवञ्जायत्ताए पवत्तित्ताए थेरत्ताए गणित्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्ताए ॥

(व्य ३/३, ५, ७)

आथाकम्मुद्देसिय

परिहरति असण-पाणं, सेज्जोवधिपूति-संकितं मीसं।
अक्खुतमसबलमभिनऽसंकिलिद्वमावासए जुत्तो ॥
आवश्यकं युक्तः.....स्थापितादिपरिहारी अक्षता-

चारः अभ्याहतादिपरिहारी अशबलाचारः । जात्योपजीव-
नादि परिहरन् अभिन्नाचारः । दोषपरिहारी असंक्लिष्टः ।
(व्यभा १५२०, १५२१ वृ)

जो तीन वर्ष का दीक्षित श्रमण निर्ग्रन्थ आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल (स्वसमय तथा परसमय के निरूपण में दक्ष), संग्रह-उपग्रहकुशल, अक्षत, अशबल, अखंड और असंक्लिष्ट चारित्र वाला, बहुश्रुत-बहुआगम (प्रभूत सूत्र-अर्थ का ज्ञाता) तथा जघन्यतः आचार-प्रकल्पधर, (उत्कृष्टतः द्वादशांगविद्) है, उसे उपाध्याय के रूप में नियुक्त किया जा सकता है ।

पांच वर्ष की प्रव्रज्या-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ जघन्यतः दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार का धारक आचार्य-उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है ।

आठ-वर्ष का दीक्षित श्रमण निर्ग्रन्थ जघन्यतः स्थानांग और समवायांग का ज्ञाता (स्थान-समवायधर) मुनि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी और गणावच्छेदक पद पर नियुक्त किया जा सकता है ।

० अक्षताचार—अशन, पान, शय्या और उपधि संबंधी आध्यात्मिक, औद्देशिक, पूति, शंकिता, मिश्र, स्थापित आदि दोषों का परिहार करने वाला तथा आवश्यक में उद्यमी ।

० अशबलाचार—अभ्याहृत आदि दोषों का परिहारी ।

० अभिन्नाचार—जाति आदि बताकर जीविका नहीं चलाने वाला ।

० असंक्लिष्टाचार—इह-परलोक की आशंसा आदि दोषों से मुक्त ।

११. अल्प पर्याय वाला श्रमण आचार्य क्यों ? कैसे ?

निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ तद्विससं आयरियउवज्जायत्ताए उद्विसत्ताए । से किमाहु भंते! अत्थि णं थेरणं तहारूवाणि कुलाणि कडाणि पत्तियाणि थेज्जाणि वेसासियाणि संमयाणि सम्मुइकराणि अणु-मयाणि बहुमयाणि भवंति, तेहिं कडेहिं...जं से निरुद्ध-परियाए समणे निग्गंथे, कप्पइ आयरिय-उवज्जायत्ताए उद्विसत्ताए तद्विससं ॥

निरुद्धवासपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ आयरिय-उवज्जायत्ताए उद्विसत्ताए समुच्छेय कप्पंसि । तस्स णं आधार-पकप्पस्स देसे अहिज्जिण्णं देसे नो अहिज्जिण्णं, से य अहि-ज्जिस्सामिन्ति अहिज्जइ, एवंसेकप्पइ आयरिय-उवज्जायत्ताए उद्विसत्ताए । से य अहिज्जिस्सामिन्ति नो अहिज्जइ, एवं से नो कप्पइ आयरिय-उवज्जायत्ताए उद्विसत्ताए ॥

निरुद्धो विनाशितः पर्यायो यस्य स निरुद्धपर्यायः... तस्य पूर्वपर्यायो विकृष्टो विंशतिवर्षाण्ययासीत् ।

त्रिषु वर्षेषु परिपूर्णेषु यस्य निरुद्धः पूर्वपर्यायो यदि वापूर्णेषु समाप्तश्रुतस्य निरुद्धवर्षपर्यायः ।

(व्य ३/९, १० वृ)

निरुद्धपर्याय अर्थात् जिसने अपने बीस वर्षीय पूर्व संयम पर्याय को उत्प्रव्रजन द्वारा नष्ट कर दिया हो, वह श्रमण निर्ग्रन्थ जिस दिन पुनः संयमपर्याय ग्रहण कर रहा हो, उसी दिन उसे आचार्य-उपाध्याय के रूप में नियुक्त किया जा सकता है । (शिष्य ने पूछा) भंते! ऐसा क्यों कहा गया है ? (आचार्य कहते हैं) ऐसे अनेक कुल हैं, जो आचार्यों के लिए प्रायोग्य, प्रीतिकर, स्थिर, विश्वसनीय, सम्मत, विसंगति मिटाकर मोद उत्पन्न करने वाले, अनुमत, बहुमत हैं ! इन कुलों को इस प्रकार निर्वर्तित करने में यह निरुद्धपर्याय वाला मुनि कारणभूत है । इसलिए निरुद्धपर्याय वाले मुनि को उसी दिन आचार्य-उपाध्याय के रूप में नियुक्त किया जा सकता है ।

आचार्य या उपाध्याय के कालगत हो जाने पर निरुद्ध वर्ष पर्याय वाला—तीन वर्ष के मुनि-पर्याय का विनाश करने वाला अथवा असमाप्तश्रुतपर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जिस दिन पुनः प्रव्रजित होता है, उसी दिन उसे आचार्य-उपाध्याय पद दिया जा सकता है ।

उसने आचार प्रकल्प—निशीथ का देश (सूत्र) पढ़ा हो अथवा देश (अर्थ) पढ़ना शेष हो, शेष अंश को पढ़ लूंगा—यह सोचकर जो सम्पूर्ण सूत्र को पढ़ लेता है तो उसे आचार्य-उपाध्याय पद दिया जा सकता है । 'पूरा पढ़ लूंगा' ऐसा चिन्तन करके भी जो सम्पूर्ण सूत्र नहीं पढ़ता, उसको आचार्य-उपाध्याय पद पर उद्दिष्ट नहीं किया जा सकता ।

१२. आचार्य आदि पदों के अनर्ह

आयरिय-उवज्जाए आयरियउवज्जायत्तं अनि-
विख्वित्ता ओहाएज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो
कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उहिसित्तए
वा धारेत्तए वा ॥ (व्य ३/२१)

आचार्य-उपाध्याय पद का विसर्जन किये बिना जो
अवधावन या उत्पन्नजन करते हैं, उन्हें यावज्जीवन आचार्य
यावत् गणावच्छेदक पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता।
वे स्वयं किसी पद को धारण नहीं कर सकते।

० दोषसेवन से आचार्यत्व आदि के निषेध की सीमा

भिक्षु य गणाओ अवक्कम्म मेहुणधम्मं पडि-
सेवेज्जा" ॥"ओहायइ, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं
नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उहि-
सित्तए वा धारेत्तए वा । तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं
चउत्थागंसि संवच्छरंसि पट्टियंसि" पडिविरयस्स निव्वि-
गारस्स, एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं
वा उहिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ (व्य ३/१३, १८)

कोई भिक्षु (वेदोदय के कारण) गण से अपक्रमण
कर मैथुनधर्म की प्रतिसेवना करता है अथवा अवधावन करता
है तो उसे उस कारण से (प्रायश्चित्त स्वरूप) तीन वर्ष पर्यन्त
आचार्य यावत् गणावच्छेदक का पद नहीं दिया जा सकता,
वह कोई भी पद धारण नहीं कर सकता।

तीन वर्ष बीतने पर चतुर्थ वर्ष के प्रवर्तित होने पर
प्रतिविरत और निर्विकार भिक्षु को आचार्य यावत् गणावच्छेदक
के रूप में उद्दिष्ट (नियुक्त) किया जा सकता है। वह किसी
भी पद को धारण कर सकता है।

१३. आचार्य के प्रकार : गीतार्थ व सारणा के आधार पर
देसो व सोवसग्गो, वसणी व जहा अजाणगनरिंदो ।
रज्जं विलुत्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो ॥
अहवा वि अगीयत्थो, गच्छ न सारेइ इत्थ चउभंगो ।
बिइए अगीयदोसो, तइतो न सारेतरो सुब्बो ॥
देसो व सोवसग्गो, पढमो तइओ तु होइ वसणी वा ।
बिइओ अजाणतुल्लो..... ॥
(बृभा ९३७, ९४१, ९४२)

कोई देश दुर्भिक्ष, महामारी या अन्य उपद्रव से आक्रान्त
है, वहां का राजा व्यसनी या अज्ञानी है, वह राज्य की चिंता
नहीं करता, उस राजा से राज्य सारहीन बन जाता है। उसी
प्रकार गच्छ की सारणा नहीं करने वाला आचार्य गच्छ को
निस्सार बना देता है।

सारणा और गीतार्थ की अपेक्षा से आचार्य के चार
विकल्प बनते हैं—

१. कोई आचार्य अगीतार्थ है, गच्छ की सारणा नहीं करता।
२. कोई आचार्य अगीतार्थ है, गच्छ की सारणा करता है।
३. कोई आचार्य गीतार्थ है, गच्छ की सारणा नहीं करता।
४. कोई आचार्य गीतार्थ है, गच्छ की सारणा करता है।

प्रथम भंग उपद्रवयुक्त देश की तरह, दूसरा भंग
अज्ञानी राजा की तरह और तीसरा भंग व्यसनी राजा की
तरह परित्याज्य है। चौथा विकल्प शुद्ध है, आदरणीय है।

० सारणा-वारणा का मूल्य

जीहाए विलिहंतो, न भइओ जत्थ सारणा नत्थि ।
दंडेण वि ताडेंतो स भइओ सारणा जत्थ ॥
(व्यभा ५६९)

जो आचार्य सारणा नहीं करते, वे जिह्वा से चाटते
हुए (मधुर वचनों से प्रसन्न करते हुए) भी कल्याणकारी
नहीं हैं।

जहां सारणा होती है, प्रमत्त साधु का संयम योगों में
पुनः प्रवर्तन होता है, वहां आचार्य दण्ड से ताडित करते हुए
भी एकान्त कल्याणकारी हैं।

० सारणा-वारणा : दो दृष्टांत

कन्तेपुर ओलोयणेण अनिवारियं विणट्टं तु ।
दारुभरो य विलुत्तो, नगरहारे अवारित्तो ॥
बित्तिणोलोयंती, सव्वा पिंडित्तु तालिता पुरतो ।
भयजणणं सेसाण वि, एमेव य दारुहारी वि ॥
(बृभा ९९१, ९९२)

महर्द्धिक दृष्टांत—महर्द्धिक (राजा) के कन्याअन्तःपुर की
कन्याएं वातायनों से झांकी थीं। उनको किसी ने रोका नहीं।
उन्होंने विटपुत्रों के साथ आलाप करना शुरू कर दिया। वे
सब विनष्ट हो गईं।

अन्यत्र कन्याअन्तःपुर में किसी एक कन्या ने झरोखे से झांका। उसे सब कन्याओं के सामने प्रताड़ित किया गया तो शेष सब कन्याएं झरोखे से झांकने से डर गईं। कन्या-अन्तःपुर सुरक्षित रह गया।

दारुभर दृष्टांत—लकड़ियों से भरी एक गाड़ी जा रही थी। नगरद्वार पर बच्चे ने एक लकड़ी उठाई। किसी ने मनाही नहीं की। तब बालकों ने एक-एक कर गाड़ी से सब लकड़ियों को खींच लिया।

दूसरी गाड़ी के अधिकृत व्यक्ति ने प्रथम काष्ठहारी को पीटा और अपनी पूरी गाड़ी को सुरक्षित रख लिया।

० असारणा का दुष्परिणाम

.....पच्छिन्तं, गणिणो गच्छं असारवितस्स।.....

असारणा नाम अगवेषणा—कः कुत्र गतः ? को वा मामापृच्छ्य गतः ? को वा अनापृच्छ्या ? यद्वा प्रलम्बं गृहीत्वा आगत्यालौचिंतेऽन्येन वा निवेदिते यत् प्रायश्चित्तं तन्न ददाति, दत्त्वा वा न कारयति, न वा नोदनादिना खरण्ट-यति, एषा सर्वाऽप्यसारणाऽभिधीयते।.....

तथाचोक्तम्..... बृहद्भाष्ये—

किं कारणं तु गणिणो, असारवितस्स होइ पच्छिन्तं ?। वट्टति जेण गणहरो, विराहणाए उ गच्छस्स ॥ किह पुण विराहणाए, गच्छस्स गणी उ वट्टती स खलु ?। भन्नइ सुणसु जह गणी, विराहओ होइ गच्छस्स ॥ जह सरणमुवगयाणं, जीवियववरोवणं णरो कुणइ । एवं सारणिघाणं, आयरिओ असारओ गच्छे ॥

(बृभा ९३६ वृ)

असारणा का अर्थ है—गवेषणा न करना। कौन कहां गया ? कौन मुझे पूछकर गया या बिना पूछे गया ? अथवा प्रलम्ब फल आदि अकल्पनीय ग्रहण कर आने वाले ने आलोचना की या अन्य से निवेदन करवाया तो उसका जो प्रायश्चित्त है, वह नहीं देता है अथवा प्रायश्चित्त देकर उसका निर्वहन नहीं करवाता है। प्रेरणा आदि के द्वारा निर्भर्त्सना नहीं करता है (प्रोत्साहन और उपालम्भ नहीं देता है)—यह सब असारणा कहलाती है। बृहद्भाष्य में कहा गया है—

“जो आचार्य संघ की सारणा नहीं करता, वह

प्रायश्चित्त का भागी होता है। ऐसा क्यों ? असारणा करने वाला आचार्य गच्छ की विराधना करता है। शिष्य ने पूछा—क्यों ? आचार्य ने कहा—वह अपने शिष्यों को उन्मार्ग में जाने से नहीं रोकता। इसलिए वह गच्छ का विराधक होता है। जैसे कोई व्यक्ति अपनी शरण में आए हुए (शरणागत) को ही मार देता है, वैसे ही सारणीय व्यक्तियों की सारणा नहीं करने वाला आचार्य गच्छ को ही नष्ट कर देता है।

१४. अबहुश्रुत-अगीतार्थ आचार्य : सर्पशीर्ष दृष्टांत जो गणहरो न घाणति, जाणंतो वा न देसती मग्गं । सो सप्पसीसग्गं पिव, विणास्सती विज्जपुत्तो वा ॥ सी-अह-वासेयतमंथक्करे, णिच्चंयिगच्छमिज्जोमिणेसी । गंतव्वए सीसग! कंचि कालं, अहं पि ता होज्ज पुरस्सरा ते ॥ ससक्करे कंटइले य मग्गे, वज्जेमि मोरे णउलादिए य । विलेय जाणामि अदुट्ठदुट्ठे मा ता विसूगहि अजाणि एवं ॥ तं जाणगं होहि अजाणिगा हं, पुरस्सरं ताव भवाहि अज्ज । एसा अहं णंगलिपासएणं, लगादुअंसीसग! वच्च वच्च ॥ अकोविए! होहि पुरस्सरा मे, अलं विरोहेण अपंडितेहिं । वंसस्स छेदं अमुणे! इमस्स, दट्ठं जतिं गच्छसि तो गता सि ॥ बुद्धीखलं हीणबला वयंति, किं सत्तजुत्तस्स कोइ बुद्धी । किं ते कहा णेव सुत्ता कताथी, वसुंधरेयं जह वीरभोज्जा ॥ सा मंदबुद्धी अह सीसकस्स, सच्छंदं मंदा वयणं अकाउं । पुरस्सरां हेतु मुहुत्तमेत्तं, अपेयचक्खू सगडेण खुण्णा ॥ (बृभा ३२४६-३२५०, ३२५४, ३२५६)

जो आचार्य मार्ग (सामाचारी) को नहीं जानता अथवा जानता हुआ भी शिष्यों को मार्ग का उपदेश नहीं देता, वह सर्पशीर्ष और वैद्यपुत्र की भांति विनष्ट हो जाता है।

सर्पशीर्ष का उदाहरण—एक बार पूंछ ने सर्प के सिर से कहा—हे सिर! सर्दी, गर्मी और वर्षा में, सघन अंधकार वाले प्रदेश में—जहां—कहीं तुम मुझे ले जाते हो, वहीं मैं सदा तुम्हारे पीछे-पीछे चली जाती हूँ किन्तु अब कुछ समय के लिए मार्ग में मैं भी तुमसे आगे चलूंगी।

सिर ने कहा—पुच्छिके! मैं कंकरीले, कंटीले, मयूर और नकुल वाले मार्गों से नहीं जाता हूँ। मैं दुष्ट-अदुष्ट

(बुरे-अच्छे) बिलों को जानता हूं, जिन्हें तुम नहीं जानती।
अतः तुम खेद का अनुभव मत करो।

पूँछ ने कहा—तुम तो ज्ञानी रहो, मैं तो अज्ञानी ही रह जाऊंगी। आज तो तुम अग्रगामी बनो, लो, यह मैं इस हल से लिपट कर यहीं रहूंगी। तुम तो जाओ, शीघ्र जाओ।

सिर ने कहा—मूर्खें! तुम मेरे से आगे हो जाओ। अज्ञानी के साथ विरोध करने से क्या लाभ? अज्ञे! मेरे इस वंश का विनाश देखकर भी आगे जाती हो तो जाओ, तुम भी विनष्ट हो जाओगी।

पूँछ ने कहा—जो शक्तिहीन होते हैं, वे ही बुद्धि को बलशाली मानते हैं। बुद्धि शक्तिसम्पन्न का क्या बिगाड़ सकती है? क्या तुमने यह कहावत नहीं सुनी—वीरभोज्या वसुंधरा।

सिर के वचन को अमान्य करती हुई पूँछ स्वच्छन्दता से अग्रगामिनी बन गई। मुहूर्तमात्र चली होगी कि नेत्रविहीन होने से गाड़ी से आक्रान्त होकर विनष्ट हो गई।

० वैद्यपुत्र का दृष्टान्त

वेज्जस्स एगस्स अहेसि पुत्तो, मतम्मि तात्ते अणधीयविज्जो।
गंतुं विदेसं अह सो सिलोगं, घेत्तूणमेगं सगदेसमेति ॥
अहाऽऽगतो सो उ सयम्मि देसे, लब्धूण तं चेव पुराणवित्तिं।
रण्णो णियोगेण सुते तिगिच्छं, कुब्बंतु तेणेव समं विणट्ठो ॥
(बृभा ३२५९, ३२६०)

राजवैद्य की मृत्यु के पश्चात् राजा ने वैद्यपुत्र की वृत्ति का निषेध कर दिया। वह वैद्यकशास्त्रवेत्ता नहीं था, अतः वह विदेश गया। एक वैद्य के पास रहा और वैद्य के मुख से एक पद्य सुना—

पूर्वाह्णे वमनं दद्यादपराह्णे विरेचनम्।
वातिकेष्वपि रोगेषु पथ्यमाहुर्विशोषणम् ॥

रोगी को पूर्वाह्न में वमन तथा अपराह्न में विरेचन कराना चाहिए। वातिक रोगों में भी विशोषण पथ्य होता है।

उसने सोचा—वैद्यकशास्त्र का यही सार है। वह अपने आपको कुशल वैद्य मानने लगा और स्वदेश लौट आया। राजा ने पुनः वृत्ति देना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन राजा की आज्ञा से वैद्यकपुत्र राजपुत्र की चिकित्सा में प्रवृत्त हुआ। उसने रोग का

निदान किए बिना ही इस श्लोक के माध्यम से कालानुपाती वमन, विरेचन तथा विशोषण—तीनों क्रियाएँ एक साथ कीं। राजकुमार मर गया।

१५. अगीतार्थ की आचार्य पद पर स्थापना से प्रायश्चित्त
.....गणस्स अप्पत्तियं तु ठावेति होति परिहारो ।.....
(व्यभा १३३५)

जो गण द्वारा असम्मत अप्रीतिकर साधु को अपनी इच्छानुसार आचार्य पद पर स्थापित करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

अबहुस्सुए अगीयत्थे निसिरए वा वि धारए व गणं ।.....
.....मासा चत्तारि भारिया ॥
(बृभा ७०३)

जो आचार्य अबहुश्रुत-अगीतार्थ साधु को गण का भार सौंपते हैं और अबहुश्रुत-अगीतार्थ उसे धारण करता है तो वे दोनों चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

१६. आचार्य आदि की निश्रा : द्विसंगृहीत-त्रिसंगृहीत
निगंथस्स णं नवडहरतरुणस्स आयरिय-उवञ्जाए
वीसंभेज्जा, नो से कप्पइ अणायरियउवञ्जायस्स होत्तए।
कप्पइ से पुव्वं आयरियं उदिसावेत्ता, तओ पच्छा उवञ्जायं।
सेक्किमाहुभन्ते! ? दुसंगहिए समणे निगंथे, तंजहा—आयरिएणं
उवञ्जाएणं य ॥

.....तिसंगहिया समणी निगंथी, तं जहा—आयरिएणं
उवञ्जाएणं पवत्तिणीए य ॥ (व्य ३/११, १२)

शैक्ष (नवदीक्षित और बाल) व तरुण मुनि का आचार्य-उपाध्याय दिवंगत हो जाए तो वह आचार्य-उपाध्याय के बिना नहीं रह सकता।

उसके लिए पहले आचार्य और बाद में उपाध्याय की स्थापना करनी चाहिए।

भन्ते! ऐसा क्यों?

श्रमण निर्ग्रन्थ द्विसंगृहीत—आचार्य और उपाध्याय के आदेश-निर्देश में रहने वाला होता है।

साध्वी त्रिसंगृहीत—आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तनी के आदेश-निर्देश में रहने वाली होती है।

१७. आचार्य-उपाध्याय और साध्वी

तिवासपरियायस्स समणस्स निग्गंथस्स तीस-
वासपरियायाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ उवञ्जायत्ताए
उद्दिस्सित्तए ॥

पंचवासपरियायस्स समणस्स निग्गंथस्स सट्ठि-
वासपरियायाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ आयरियत्ताए
उद्दिस्सित्तए ॥ (व्य ७/२०, २१)

तीस वर्ष की संयमपर्याय वाली श्रमणी निर्ग्रन्थी तीन
वर्ष के संयमपर्याय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को उपाध्याय के रूप
में उद्दिष्ट कर सकती है।

साठ वर्ष की संयमपर्याय वाली श्रमणी निर्ग्रन्थी पांच
वर्ष के मुनिपर्याय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को आचार्य के रूप में
स्वीकार कर सकती है।

० स्थविरा साध्वी : निश्रा संबंधी विकल्प

गीताऽगीता वुद्धा, अवुद्धा व जाव तीसपरियागा ।
अरिहति तिसंगहं सा, दुसंगहं वा भयपरेणं ॥
वयपरिणीता य गीता, बहुपरिवारा य निव्वियारा य ।
होज्जउ अणुवञ्जाया, अपवत्तिणि यावि जा सट्ठी ॥
एमेव अणायरिया, थेरी गणिणी व होज्ज इतरा य ।
कालगतो सण्णाय व दिसाएँ धरेति पुव्वदिसं ॥
बहुपच्चवाय अज्जा, नियमा पुणऽसंगहे य परिभूता ।
संगहिता पुण अज्जा, थिरश्चावरसंजमा होति ॥
(व्यभा ३२४३-३२४६)

साध्वी गीतार्थ हो या अगीतार्थ, वृद्धा हो या अवृद्धा,
तीस वर्ष के व्रतपर्याय तक उसके लिए तीन का संग्रह
आवश्यक है—आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी। तीस वर्ष के
पश्चात् त्रिसंग्रह की भजना है।

जो साध्वी वय से परिणत है, गीतार्थ है, निर्विकार
है, जिसके पास विशाल साध्वीपरिवार है, वह साठ वर्ष
तक आचार्य और उपाध्याय अथवा आचार्य और प्रवर्तिनी—
इन दो की निश्रा में रह सकती है।

साठ वर्ष के पश्चात् प्रवर्तिनी या अन्य स्थविरा साध्वी
आचार्य की निश्रा के बिना रह सकती है। आचार्य के कालगत

हो जाने पर अथवा उनके अवसन (गणत्याग कर शिथिलाचारी)
हो जाने पर साठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाली साध्वी पूर्वदिक्
(पूर्व आचार्य-प्रदत्त पद) धारण कर सकती है।

साध्वी बहुप्रत्यपाया होती है (उसकी साधना में बहुत
विघ्न संभव हैं)। संग्रह (आचार्य आदि की निश्रा) के बिना
वह पराभव को प्राप्त होती है। जो निश्रा में रहती है, वह
अत्यन्त स्थिर संयम वाली होती है।

१८. आचार्य-उपाध्याय के अतिशेष

आयरिय-उवञ्जायस्स गणंसि पंच अइसेसा
पण्णत्ता, तं जहा—आयरिय-उवञ्जाए अंतो उवस्सयस्स
पाए 'निगिञ्जिय-निगिञ्जिय' पप्फोडेमाणे वा पमज्जे-
माणे वा णातिक्कमति ।

आयरिय-उवञ्जाए अंतो उवस्सयस्स उच्चार-
पासवणं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा णातिक्कमति ।

आयरिय-उवञ्जाए पभू वेयावडियं इच्छाए करेज्जा
इच्छाए नो करेज्जा । आयरिय-उवञ्जाए अंतो उवस्सयस्स
एगाणिए एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णातिक्कमति ।

आयरिय-उवञ्जाए बाहिं उवस्सयस्स एगाणिए
एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णातिक्कमति । (व्य ६/२)

गण में आचार्य तथा उपाध्याय के पांच अतिशेष
(विशेष विधियां) होते हैं—

१. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय में पैरों की धूलि को
यतनापूर्वक झाड़ते हुए, प्रमार्जित करते हुए, आज्ञा का अतिक्रमण
नहीं करते।

२. उपाश्रय में उच्चार-प्रश्रवण का व्युत्सर्ग और विशोधन
करते हुए आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।

३. उनकी इच्छा पर निर्भर है कि वे किसी साधु की सेवा करें
या न करें।

४. वे उपाश्रय में एक रात या दो रात अकेले रहते हुए आज्ञा
का अतिक्रमण नहीं करते।

५. वे उपाश्रय से बाहर एक रात या दो रात अकेले रहते हुए
आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।

(व्यवहार के छठे उद्देशक के भाष्य में इन विधियों
के अतिक्रमण से उत्पन्न होने वाले दोषों का विस्तृत विवेचन

है, जिसका सारांश इस प्रकार है—

१. यतनापूर्वक प्रमार्जन न करने से चरणधूलि तपस्वी आदि पर गिरने से वह कुपित होकर दूसरे गच्छ में जा सकता है।
२. आचार्य शौचकर्म के लिए एक बार बाहर जाएं। बार-बार बाहर जाने से अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं—जिस रास्ते से आचार्य जाते हैं, उस रास्ते में स्थित व्यापारी लोग आचार्य आदि को देखकर उठते हैं, वन्दन करते हैं। यह देखकर दूसरे लोगों के मन में भी उनके प्रति पूजा-आदर के भाव उत्पन्न होते हैं, किन्तु बार-बार जाने से वे लोग उन्हें देखते हुए भी नहीं देखने वालों की तरह मुंह मोड़कर वैसे ही बैठे रहते हैं। यह देखकर अन्य लोगों के मन में भी विचिकित्सा उत्पन्न होती है और वे भी पूजा-सत्कार करना छोड़ देते हैं। सूत्र और अर्थ की परिहानि हो सकती है। उपाश्रय में समागत ऋद्धिमान् व्यक्ति धर्मश्रवण और व्रतग्रहण से वंचित रह सकते हैं।

३. तीसरा अतिशेष—सेवा की ऐच्छिकता—आचार्य का कार्य है कि वे सूत्र, अर्थ, मंत्र, विद्या, निमित्तशास्त्र, योगशास्त्र का परावर्तन करें तथा उनका गण में प्रवर्तन करें। सेवा आदि में प्रवृत्त होने पर इन कार्यों में व्याघात आ सकता है।

४. ५. मंत्र, विद्या आदि के परावर्तन अथवा विशिष्ट ध्यानसाधना के लिए आचार्य अकेले रह सकते हैं। छेदसूत्र, योनिप्राप्त आदि रहस्यसूत्रों के गुणन-परावर्तन के लिए एकान्त स्थान अपेक्षित है, अन्यथा अपरिणामक और अतिपरिणामक अगीतार्थ शिष्य रहस्यों को सुनकर अनर्थ कर सकते हैं। अयोग्य व्यक्ति मंत्र आदि को सुनकर उसका दुरुपयोग कर सकता है। जनसंकुल स्थान में विशिष्ट ध्यान साधना में व्याक्षेप हो सकता है।)

० अतिशेष के हेतु

तित्थगरपवयणे निज्जरा य सावेक्ख भत्तवुच्छेदो।
एतेहि कारणेहि, अतिसेसा होंति आयरिए॥

(व्यभा २५६८)

आचार्यों के ये अतिशेष इसलिए होते हैं कि—

- ० वे तीर्थकर के प्रतिनिधि/संदेशवाहक होते हैं।
- ० वे सूत्र और अर्थरूप प्रवचन के दायक होते हैं।
- ० उनका वैवाचित्य करने से महान् निर्जरा होती है।

० वे सापेक्षता के सूत्रधार होते हैं।

० वे तीर्थ की अव्यवच्छिति में हेतुभूत होते हैं।

० एकाकी रहने के हेतु : विद्यापरावर्तन-महाप्राणध्यान
विज्जाणं परिवाडी, पव्वे पव्वे य देति आयरिया।
मासद्धमासियाणं, पव्वं पुण होति मज्झं तु॥
पव्वस्स अट्टमी खलु, मासस्स य पव्विखयं मुणेयव्वं।
अण्णं वि होति पव्वं, उवरागो चंदसूराणं॥
चाउहसीगहो होति, कोइ अधवावि सोलसिगहणं।
वत्तं तु अणज्जंते, होति दुरायं तिरायं वा॥
वा सहेण चिरं पी, महापाणादीसु सो उ अच्छेज्जा।
ओयविए भरहम्मी, जहराया चक्कवट्टी वा॥
(व्यभा २६९७-२७००)

प्राचीन काल में आचार्य पर्व के दिनों में विद्याओं का परावर्तन करते थे। मास और अर्धमास की मध्य तिथियां पर्व कहलाती हैं। जैसे पक्ष की मध्य तिथि अष्टमी, मास की मध्य तिथि चतुर्दशी। (विद्यासाधना प्रायः कृष्ण पक्ष में होती है।)

चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण भी पर्व के दिन हैं। इन दिनों में विद्या साधी जाती है। अतः आचार्य को एक अहोरात्र अकेले रहना पड़ता है। अथवा कृष्णा चतुर्दशी अमुक विद्या साधने का दिन है और शुक्ला प्रतिपदा अमुक विद्या साधने का दिन है, तब आचार्य दो या तीन दिन-रात तक अकेले अज्ञात में रहते हैं।

वे महाप्राण आदि ध्यान की साधना करते समय अधिक काल तक भी अकेले रह सकते हैं। जब तक विशिष्ट लाभ न मिले (अवधिज्ञान आदि की प्राप्ति न हो), तब तक महाप्राण-ध्यान किया जाता है। जैसे चक्रवर्ती सम्पूर्ण भरतक्षेत्र को और वासुदेव अर्धभरत को साधे बिना नहीं लौटते, वैसे ही साधक महाप्राणध्यान सिद्ध न होने तक साधना में ही रत रहते हैं।

० एक शिष्य के साथ विहार क्यों ?

कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पविइयस्स
हेमंतगिम्हासु चारए॥

कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पतइयस्स वासा-
वासं वत्थए॥ (व्य ४/२, ६)

.....कारणियं पुण सुत्तं..... ॥
(व्यभा १७३३)

आचार्य-उपाध्याय हेमंत ऋतु और ग्रीष्मऋतु में एक साधु के साथ (कुल दो साधु)विहार कर सकते हैं तथा वर्षावास में दो साधुओं के साथ (कुल तीन साधु) रह सकते हैं। यह कारणिक/आपवादिक सूत्र है।

आयरिय-उवञ्जाया, संघयणा धितिय जे उ उववेया।
सुत्तं अत्थो व बहं, गहितो गच्छे य वाघातो ॥
धम्मकहि महिड्डीए, आवास-निसीहिया य आलोए।
पडिपुच्छवादिगहणे, रोगी तह दुल्लभं भिक्खं ॥
वाउलणे सा भणिता, जह उहेसम्मि पंचमे कप्पे।
नवम दसमा उ पुव्वा, अभिणवगगहिया उ नासेज्जा ॥
पाहुडविज्जातिसया, निमित्तमादी सुहं च पतिरिवके।
छेदसुत्तम्मि व गुणणा, अगीतबहुलम्मि गच्छम्मि ॥
(व्यभा १७३५-१७३७, १७३९)

निम्न कारणों से दो का विहार अनुज्ञात है—

- ० आचार्य और उपाध्याय वज्रऋषभनाराच संहनन वाले तथा वज्रकुड्य के समान धृतिसम्पन्न हों।
- ० बृहद् गच्छ के कारण प्रभूत गृहीत सूत्र या अर्थ के स्मरण में व्याघात हो।

व्याघात के कारण ये हैं—

- ० यदि वे आचार्य लब्धिसम्पन्न धर्मकथावाचक हैं, तो उनके पास श्रोताओं का जमघट रहता है।
- ० महर्द्धिक राजा आदि उनके पास आते हैं।
- ० अन्य साधु धर्मकथा कर रहा हो, तो वे उच्चारणपूर्वक सूत्र-अर्थ का परावर्तन नहीं कर सकते।
- ० आवश्यकी-नैषेधिकी—गच्छ में अनेक साधु हैं। वे बाहर जाते समय 'आवश्यकी' तथा उपाश्रय में प्रवेश करते समय 'नैषेधिकी' का उच्चारण करते हैं। उनका निरीक्षण भी आवश्यक है। पुनः पुनः स्मरणा के बिना सामाचारी का सम्यक् निर्वाह कठिन हो जाता है।
- ० आलोचना—संघाटक भिक्षाग्रहण कर गुरु के पास आलोचना करते हैं, उस समय गुरु अध्ययननिरत नहीं रह सकते। यदि रहें तो सम्यक् आलोचना के अभाव में चरणहानि होती है।

० प्रतिपृच्छ—अनेक शिष्यों की प्रतिपृच्छ का प्रत्युत्तर देना होता है।

० वादिग्रहण—बहुश्रुत आचार्य के पास परवादी आते हैं। उनके प्रश्नों का निरसन करना होता है अन्यथा प्रवचन की प्रभावना नहीं होती।

० रोगी आदि—विशाल गच्छ में कई साधु ग्लान हो जाते हैं तो उनकी सारसंभाल करनी होती है। प्राधूर्णक साधुओं की विश्रामणा आदि करानी होती है। इससे सूत्रव्याघात होता है।

० दुर्लभ भिक्षा—क्षेत्र छोटा और साधु अधिक हों तो भिक्षा के लिए अन्यत्र भेजने की व्यवस्था करनी होती है।

इस प्रकार की व्याकुलताओं (व्याघातों) का विस्तृत वर्णन कल्पाध्ययन के पांचवें उद्देशक में है।

० अभिनव गृहीत (नया सीखा हुआ) नौवां-दसवां पूर्व सतत स्मरण के अभाव में विस्मृत हो जाता है।

० अगीतार्थबहुल विशाल गच्छ में सागरतुल्य नौवें-दसवें पूर्व का स्मरण, योनिप्राभृत आदि ग्रंथों का गुणन, आकाशगमन आदि विद्यातिशयों का परावर्तन, निमित्त, योग, मंत्र आदि का अभ्यास तथा छेदसूत्रों का परावर्तन दुष्कर होता है। इन सबका अभ्यास एकांत प्रदेश में ही सुखपूर्वक हो सकता है।

० आचार्य के चरण-प्रमार्जन की विधि

आभिग्रहितस्स असती, तस्सेव रयोहरणेणउण्णतरे।

पाउंछणुणितेण व, पुच्छंति अणणणभुत्तेणं ॥

(व्यभा २५२६)

बाहर से समागत आचार्य के चरणों का प्रमार्जन यदि आभिग्रहित साधु (आचार्यचरण-प्रमार्जन मुझे करना है—ऐसा अभिग्रहधारी) हो तो वह, अन्यथा कोई भी साधु आचार्य की निश्रा के रजोहरण से करे अथवा अपरिभुक्त (किसी के द्वारा काम में नहीं लिए हुए) और्णिक पादप्रोच्छन से करे। निष्कारण आचार्यचरण-प्रमार्जन न करने पर तथा परिभुक्त पादप्रोच्छन से करने पर मासलधु प्रायश्चित्त आता है।

० भिक्षार्थ न जाने के हेतु

जेणाहारो उ गणी, स बालवुडुस्स होति गच्छस्स।

तो अतिसेसपभुत्तं,

उप्यण्णणाणा जह णो अडंती, चोत्तीसबुद्धातिसया जिणिंदा ।
 एवं गणी अट्टगुणोववेतो, सत्था व नो हिंडती इड्डिमं तु ॥
 आलोगो तिन्निवारे, गोणीण जधा तथेव गच्छे वि ।
 मा आवस्सयहाणी, करेज्ज भिक्खालसा व अच्छेज्जा ।
 हिंडंतो उव्वातो, सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी ।
 सुत्तत्थाणं गुणणं, विज्जा मंता निमित्तजोगाणं ।
 वीसत्थे पतिरिक्के, परिजिणति रहस्ससुत्ते य ॥

(व्यभा २५६७, २५७९, २५७७-२५७९, २६००)

आचार्य गण में आबालवृद्ध के आधार होते हैं। उनका अतिशायी प्रभुत्व होता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर चौंतीस अतिशयसम्पन्न अर्हत् भिक्षाटन नहीं करते। इसी प्रकार अष्ट गणिसम्पदा से सम्पन्न, शास्ता की भांति ऋद्धिमान् आचार्य भिक्षाटन नहीं करते।

जैसे ग्वाला प्रातः चराने ले जाते समय, मध्याह्न में छाया में बैठी हुई और सायं घर लौटती हुई गायों का अवलोकन करता है, वैसे ही आचार्य प्रातः, मध्याह्न और विकाल वेला में गण का अवलोकन करते हैं।

यदि आचार्य गोचरचर्या में लग जाते हैं, तो प्रमादि शिष्यों के अवश्यकरणीय योगों की हानि होती है। वे भिक्षाटन में आलसी बन जाते हैं।

भिक्षाटन काल में आचार्य को महान् कायक्लेश होता है। परिश्रान्ता के कारण वे वाचना नहीं दे पाते हैं, इससे शिष्यों और प्रतीच्छकों के सूत्रार्थ की परिहानि होती है। श्रुतलाभ के अभाव में वे गच्छांतर में चले जाते हैं, तो गच्छ की हानि होती है।

आचार्य सूत्र-अर्थ, विद्या-मंत्र, निमित्तशास्त्र, योगशास्त्र आदि का परावर्तन करते हैं। वे आश्वस्त-विश्वस्त होकर रहस्यसूत्रों का एकांत प्रदेश में अभ्यास करते हैं—उन्हें आत्मसात् करते हैं। भिक्षाटन इन सबमें व्याघात उपस्थित करता है। इसलिए उनके लिए भिक्षाटन उचित नहीं है।

१९. अन्य पांच अतिशय : शिष्यों द्वारा सम्पादित

अने वि अत्थि भणिता, अतिसेसा घंच होंति आयरिण् ।
 भत्ते पाणे धोव्वण, पसंसणा हत्थ-पायसोए य ।
 कालसभावाणुमतं, भत्तं पाणं च अच्छितं खेत्ते ।
 मलिणमलिणा य जाता, चोलादी तस्स धुव्वंति ॥

गंभीरो महवितो, अब्भुवगतवच्छलो सिवो सोमो ।
 विच्छिण्णकुलुप्यण्णो, दाया य क्तण्णु तह सुतवं ॥
 खंतादिगुणोवेओ, पहाणणाण-तव-संजमावसहो ।
 एमादि संतगुरुगुणविकत्थणं संसणातिसए ॥
 संतगुणुविकत्तणया, अवणवादीण चैव पडिघातो ।
 अवि होज्ज संसईणं, पुच्छभिगमे दुविधलंभो ॥
 कर-चरण-नयण-दसणाइ, धोव्वणं घंचमोउअतिसेसो ।
अग्गि-मति-वाणिपड्डया, होति अणोत्तप्यया चैव ॥

(व्यभा २६७४-२६७६, २६७९-२६८३)

आचार्य के पांच अन्य अतिशय भी हैं—

१. उत्कृष्ट भक्त—जो आचार्य के कालानुकूल और स्वभावानुकूल हो, वैसा भोजन देना।

२. उत्कृष्ट पान—जिस क्षेत्र या काल में जो उत्कृष्ट पेय हो, वह देना।

३. प्रक्षालन—मलिन वस्त्रों का प्रक्षालन करना।

४. प्रशंसन—गुणोत्कीर्तन करना। यथा—हमारे आचार्य गंभीर (अपरिश्रावी), मृदुमार्दव, शिष्यवत्सल, निरुपद्रव, सौम्य, कुलीन, दाता, कृतज्ञ, श्रुतसम्पन्न, क्षमा आदि गुणों से उपेत, ज्ञानप्रधान (अतिशय-ज्ञानी) और तप-संयम के आलय हैं—इस प्रकार गुरु के सद्भूत सद्गुणों की उत्कीर्तना करना प्रशंसन अतिशय है। सद्गुणों की उत्कीर्तना से महान् निर्जरा होती है, अवर्णवादियों का प्रतिघात होता है तथा महान् ज्ञानी-गुणी आचार्य के बारे में सुनकर राजा, मंत्री, विद्वान् आदि विशिष्ट व्यक्ति आकृष्ट होते हैं और जिज्ञासा-समाधान के लिए उनका आगमन होता है। समाहित होकर वे साधुधर्म या श्रावकधर्म स्वीकार करते हैं।

५. शौच—हाथ, पैर, नयन, दांत आदि की शुद्धि। मुख और दांत को धोने से जठराग्नि की प्रबलता होती है। आंख और पैर धोने से बुद्धि और वाणी की पटुता बढ़ती है तथा शरीर का सौन्दर्य वृद्धिगत होता है।

० योगसंधान : शिष्यों की जागरूकता

असदस्स जेण जोगाण, संधणं जध उ होति थेरस्स ।
 तं तह करेति तस्स उ, जध से जोगा न हायंति ॥

(व्यभा २६८४)

शिष्य अपने कल्याणकारी ऋजुमना आचार्य के वे सब कार्य करते हैं, जिनसे योगों का संधान हो सके। आचार्य के योगों की हानि न हो, वैसा कार्य करते हैं।

२०. अतिशयों की उपजीविता : आर्यसमुद्र...दृष्टांत
एते पुण अतिसेसे, णोजीवे वावि को वि दढदेहो।
निदरिसणं एत्थ भवे, अज्जसमुद्दा य मंगू य॥
अज्जसमुद्दा दुब्बल, कितिकम्मा तिण्णि तस्स कीरंति।
सुत्तत्थपोरिसि समुट्टियाण ततियं तु चरमाए॥
सट्टकुलेसु य तेसिं, दोच्चंगादी उ वीसु घेप्पंति।
मंगुस्स य कितिकम्मं, न य वीसुं घेप्पते किंची॥
बेंति ततो णं सट्टा, तुज्झ वि वीसुं न घेप्पते कीस।
तो बेंति अज्जमंगू, तुब्भेच्चिय एत्थ दिट्ठंतो॥
जा भंडी दुब्बला उ, तं तुब्भे बंधहा पयत्तेण।
न वि बंधह बलिया ऊ, दुब्बलबलिए व कुंडी वि॥
एवं अज्जसमुद्दा, दुब्बलभंडी व संठवणयाए।
धारंति सरीरं तू, बलि भंडीसरिसग वयं तु॥
निष्पडिकम्मो वि अहं, जोगाण तरामि संधणं काउं।
नेच्छामि य बितियंगे, वीसुं इति बेंति ते मंगू॥
न तरंती तेण विणा, अज्जसमुद्दा उ तेण वीसं तु।
इय अतिसेसायरिए, सेसा पंतेण लाढेंती॥
(व्यभा २६८५-२६९२)

आचार्य उत्कृष्ट भक्तपान आदि अतिशयों के उपजीवी होते हैं किन्तु जिनका शरीर सुदृढ़ होता है, वे इन अतिशयों का भोग नहीं भी करते हैं। आर्य समुद्र और आर्य मंगु इसके निदर्शन हैं।

आर्य समुद्र—ये देह से दुर्बल थे। इनके विश्रामणा रूप तीन कृतिकर्म किए जाते थे—

प्रथम—सूत्रपौरुषी की सम्पन्नता पर।

द्वितीय—अर्थपौरुषी की सम्पन्नता पर।

तृतीय—कालप्रतिक्रमण के पश्चात् चरम पौरुषी में।

साधु श्राद्धकुलों से उनके योग्य ओदन, शाक, तीमन आदि पृथक् पात्र में ग्रहण करते थे।

आर्य मंगु—इनके न कृतिकर्म किया जाता था, न पृथक् पात्र में भिक्षा लायी जाती थी।

० भण्डी और कुण्डी दृष्टांत—एक बार दोनों आचार्य सोपारक नगर में समवसृत हुए। वहां के शाकटिक और वैकटिक (सुरासंधानकारी)—दोनों श्रावकों के मन में जिज्ञासा हुई और उन्होंने आर्य मंगु से पूछा—आर्य समुद्र की भांति आपके प्रायोग्य पुद्गल पृथक् पात्र में क्यों नहीं लाये जाते? आर्य मंगु ने कहा—इस सन्दर्भ में तुम ही उदाहरण हो। सुनो—

शाकटिक! तुम्हारी गाड़ी यदि दुर्बल है, तो तुम उसे प्रयत्नपूर्वक बांधते हो, अन्यथा वह पार नहीं पहुंचा सकती। मजबूत गाड़ी बिना बांधे ही भार वहन कर लेती है।

वैकटिक! तुम दुर्बल कुंडी को बांस के सीकचों या खपाचियों से बांधकर उसमें सुरा डालते हो। मजबूत कुंडी को नहीं बांधते।

इसी प्रकार आर्य समुद्र दुर्बल भंडी व कुण्डी सदृश अपने शरीर को उचित आहार, परिकर्म आदि से संस्थापित करते हैं। हम तो सुदृढ़ भंडीसदृश हैं। हमें शरीरसंस्थापना की अपेक्षा नहीं है।

निष्प्रतिकर्म रहते हुए भी मैं योगसंधान में समर्थ हूँ, आर्य समुद्र समर्थ नहीं हैं। पृथक् पात्र में आहार ग्रहण का रहस्य यही है। शेष साधु बिना किसी अतिशय के अन्त-प्रान्त भिक्षा से जीवनयापन करते हैं—संयमयात्रा का निर्वाह करते हैं।

२१. आचार्य लक्षणसम्पन्न : कुमार दृष्टांत

तिण्णी जस्स य पुण्णा, वासा पुण्णेहि वा तिहि उतं तु।
वासेहि निरुद्धेहि, लक्खणजुत्तं पसंसंति॥
किं अहं लक्खणेहिं, तवसंजमसुट्टियाण समणाणं।
गच्छविबुद्धिनिमित्तं, इच्छिज्जति सो जहा कुमरो॥
बहुपुत्तओ नरवती, सामुहं भणति कं ठ्वेमि निवं।
दोस-गुण एगउण्णेगे, सो वि य तेसिं परिकधेति॥
निद्धूमगं च डमरं, मारी-दुब्भिकख-चोर-पउराइं।
धण-धन-कोसहाणी, बलवति पच्चंतरायाणो॥
खेमं सिवं सुभिकखं, निरुवस्सगं गुणेहि उववेतं।
अभिसिंचंति कुमारं, गच्छे वि तयाणुरूवं तु॥

(व्यभा १५६२-१५६६)

किसी लक्षणसम्पन्न मुनि के व्रतपर्याय के तीन वर्ष पूर्ण

हो गये हैं या अपूर्ण भी हैं, श्रुत अध्ययन भी अपूर्ण है, उस स्थिति में आचार्य कालधर्म को प्राप्त हो जाएं और अन्य बहुश्रुत साधु लक्षणसम्पन्न न हों तो उसे आचार्य पद दिया जा सकता है।

लौकिक, वैदिक और सामयिक शास्त्रविशारद लक्षण-संपन्न नायक की अनुशंसा करते हैं।

शिष्य ने जिज्ञासा की—भते! तप-संयम में सुस्थित हम जैसे श्रमणों के लिए लक्षण से क्या प्रयोजन? लक्षणहीन बहुश्रुत से हमारे श्रुत-स्वाध्याय में वृद्धि होगी।

आचार्य ने कहा—गण की श्रीवृद्धि के लिए अल्पश्रुत होने पर भी लक्षणयुक्त को गणधरपद पर स्थापित करना अभीष्ट है। जैसे राज्यवृद्धि के लिए लक्षणसम्पन्न कुमार को राजा बनाया जाता है।

कुमार दृष्टांत—एक राजा के अनेक पुत्र थे। उसने सामुद्रिक-शास्त्र वेत्ता को बुलाकर पूछा—किस कुमार को राज्य दूं? सामुद्रिक ने बताया—अमुक-अमुक कुमारों को राजा बनाने से राज्य में निर्धूमक (भूखमरी), डमर (स्वदेशोत्थ, विप्लव), महामारी, दुर्भिक्ष, चोरबाहुल्य, सर्वत्र धन और कौश की हानि, वर्षा होने पर भी धान्यनिष्पत्ति का अभाव और प्रत्यंत राजाओं की बलवृद्धि होगी। अमुक कुमारों को राज्य देने से राज्य में क्षेम, शिव तथा सुभिक्ष होगा और मारी-डमर आदि उपसर्गों का अभाव होगा। इन दोष-गुणों में से किसी में एक और किसी में अनेक दोष या गुण हैं। राजा ने सर्वगुणसम्पन्न कुमार का अभिषेक किया।

२२. आचार्य चिकित्साविधिज्ञः संयोगदृष्टपाठी

नियमा विज्जागहणं..... ।.....

संजोगदिदृष्टपाठी, हीणधरंतम्मि छग्गुरू हीति ।.....

उप्पण्णे गेलण्णे, जो गणधारी न जाणति तिगिच्छं।

दीसंततो विणासो, सुहदुक्खी तेण तू चत्ता ॥

....असमाही सुयलंभं, केवललंभं तु उप्पाए ॥

इह लोगियाण परलोगियाण लद्धीण फेडितो हीति ।”

(व्यभा २४२४, २४२७, २४२८, २४३०, २४३१)

आचार्य को नियमतः अनेक विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए। वह संयोगदृष्टपाठी हो, यह आवश्यक है। संयोगदृष्ट-पाठी वह होता है, जो अन्यान्य व्यक्तियों को माना प्रकार के

द्रव्यों का संयोग करते तथा तत् संबंधी पाठ या मंत्र पढ़ते देख चुका है तथा उनकी दृढ़ अवधारणा कर चुका है, वह अवसर आने पर उनका सफल प्रयोग कर सकता है।

जो आचार्य संयोगदृष्टपाठी नहीं होता, वह षड्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

यदि गणधारी चिकित्साविधि से अनभिज्ञ होता है तो उसके देखते-देखते रोगग्रस्त साधु तथा साध्वी मृत्यु को प्राप्त करते हैं। असमाधि मरण से अनन्त संसार बढ़ता है। यदि उपयुक्त चिकित्सा से मुनि स्वस्थ हो जाता है तो वह चिरकाल तक श्रुतलाभ कर सकता है, केवलज्ञान को प्राप्त हो सकता है। असमाधि मरण से इहलौकिक और पारलौकिक लब्धियों से वह वंचित रह जाता है।

२३. शक्ति सम्पन्न आचार्यः कुमार दृष्टांत

पुव्वं ठावेति गणे, जीवंतो गणधरं जहा सया ।”

दसविधवेयावच्चे, नियोग कुसलुज्जयाणमेवं तु।

ठावेति सत्तिमंतं, असत्तिमंते बहू दोसा ॥

(व्यभा १९९३, १९९५)

पूर्व आचार्य अपनी जीवित अवस्था में ही कुमार-परीक्षक राजा की भांति गण में शक्तिसम्पन्न शिष्य को गणधर पद पर स्थापित करते हैं। वे अभिनव स्थापित आचार्य दशविध (शैक्ष, स्थविर आदि का) वैयावृत्य करने के लिए उद्यत शिष्यों में से, जो जिसमें कुशल होता है, उसे उसी में नियोजित करते हैं। आचार्य शक्तिहीन हों तो उपधि, शिष्य, निर्जरा आदि की हानि होती है।

.....कुमरे उ परिच्छत्ता, रज्जरिहं ठावए रज्जे ॥

दहिकुड अमच्च आणात्ति, कुमारा आणयण तहिं एगो।

पासे निरिक्खिऊणं, असि मंति पवेसणे रज्जं ॥

(व्यभा १९९३, १९९४)

एक राजा के अनेक पुत्र थे। राजा ने सोचा, इनमें से जो शक्तिशाली होगा, उसी को राज्य दूंगा। उसने कुमारों की परीक्षा प्रारंभ की। अपने कर्मकर्मों से कहा—एक स्थान पर दही से भरे घड़ों को रखो। उन्होंने घड़े रखकर राजा को निवेदन कर दिया। राजा ने अमात्य को बुलाकर कहा—तुम

दही के घड़ों के पास बैठ जाओ। फिर राजा ने कुमारों को बुलाकर कहा—जाओ, दही से भरा एक-एक घड़ा ले आओ। कुमार गए। इधर-उधर देखा। घड़ों को वहन कर ले जाने वाला कोई न दीखा, तब वे स्वयं एक-एक घड़ा उठाकर चले। एक कुमार घड़ों के पास गया। सभी ओर देखा, पर घड़ा उठाने वाला एक भी नजर नहीं आया, तब उसने अमात्य से कहा—दही के घड़े को उठाओ। अमात्य उठाना नहीं चाहता था। कुमार ने म्यान से तलवार निकालते हुए कहा—यदि घड़े को उठाने की इच्छा नहीं है, तो मैं अभी तुम्हारा सिरच्छेद कर देता हूँ। अमात्य डरा और दही का घड़ा उठाकर चला। कुमार उसको लेकर राजा के पास गया। राजा ने उस शक्तिशाली कुमार का राज्याभिषेक कर दिया।

२४. इत्वरिक-यावत्कथिक आचार्य की स्थापना
गणधरपाउग्गाऽसति, पमादअट्टावि एव कालगते ।
शेराण पगासेंति, जावऽन्नो ण ठावितो तत्थ ॥
परिकम्मं कुणमाणो, मरणस्सऽब्भुजयस्स व विहारो ।...
(व्यभा १३०२, १३०५)

दो कारणों से इत्वरिक (अल्पकाल के लिए) आचार्य स्थापित किया जाता है—

- ० गणधर (आचार्य) पद के योग्य कोई साधु न हो।
- ० प्रमाद से अभिनव आचार्य बनाये बिना ही पूर्व आचार्य कालधर्म को प्राप्त हो गये हों।

जो इत्वरिक आचार्य स्थापित करते हैं, वे गच्छ कें स्थविरों के समक्ष यह प्रकशित करते हैं कि जब तक मूल आचार्य पद पर अन्य स्थापित नहीं होता है, तब तक ही यह आपका आचार्य है।

यावत्कथिक आचार्य-स्थापना के दो हेतु हैं—

- ० अभ्युद्यतमरण के लिए आचार्य द्वादशवर्षीय संलेखना रूप परिकर्म कर रहे हों।
- ० अभ्युद्यतविहार (जिनकल्प आदि) के लिए आचार्य तपोभावना आदि रूप परिकर्म कर रहे हों।
- ० आचार्य मोहचिकित्सा या रोगचिकित्सा कर रहे हों।
- ० किसी प्रयोजनविशेष से अवधावन कर रहे हों।

२५. सापेक्ष-निरपेक्ष राजा और आचार्य
दिट्ठतो जध राया, सावेक्खो खलु तधेव निरवेक्खो ।
सावेक्खो जुगनरिद, ठवेति इय गच्छुवज्झायं ॥
(व्यभा १३०१)

राजा के दो प्रकार हैं—

- ० सापेक्ष—अपने जीवन काल में युवराज स्थापित करने वाला राजा। इससे राजा के कालगत होने पर भी राज्य व्यवस्थित रूप से अनुवर्तित-प्रवर्तित होता है।
- ० निरपेक्ष—जो राजा युवराज नहीं बनाता, उसका राज्य विनष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार आचार्य भी दो प्रकार के होते हैं—

- ० सापेक्ष—अपने जीवनकाल में अन्य गणनायक को स्थापित करने वाला आचार्य। इससे आचार्य के कालगत होने पर भी गण खिन्न या छिन्न-भिन्न नहीं होता।
- ० निरपेक्ष—अपने जीवनकाल में भावी आचार्य को स्थापित नहीं करने वाला आचार्य।

२६. सापेक्ष द्वारा भावी आचार्य की प्रतिष्ठा : दो दृष्टांत
सावेक्खो सीसगणं, संगह कारेति आणुपुव्वीए ।
पाडिच्छ आगते ति व, एस विद्याणे अह महल्लो ॥
जह राया व कुमारं, रज्जे ठावेउमिच्छते जं तु ।
भड जोधे वेति तगं, सेवह तुब्भे कुमारं ति ॥
अहयं अतीमहल्लो, तेसिं वित्ती उ तेण दावेति ।
सो पुण परिक्खिऊणं, इमेण विहिणा उ ठावेति ॥
परमन्न भुंज सुणगा, छडुण दंडेण वारणं बितिए ।
भुंजति देति य तत्तिओ, तस्स उ दाणं न इतरेसिं ॥
परबलपेल्लिउ नासति, बितिओ दाणं न देति तु भडाणं ।
न वि जुज्जंते ते ऊ, एते दो वी अणरिहाओ ॥
तत्तिओ रक्खति कोसं, देति य भिच्चाण ते य जुज्जंति ।
पालेतव्वो अरिहो, रज्जं तो तस्स तं दिण्णं ॥
(व्यभा १९३५-१९४०)

सापेक्ष आचार्य अभिनव स्थापित गणधर को आनुपूर्वी कथन आदि द्वारा प्रतिष्ठित करते हैं (यथा— 'पहले सुधर्मा गणधर थे, फिर क्रमशः जम्बूस्वामी, प्रभव आदि हुए, अब मैं

हूँ।) आचार्य अपने शिष्यों और प्रतीच्छकों को कहते हैं—में वृद्ध हो गया हूँ, मैंने अमुक को गणधर स्थापित किया है, अब तुम विनयपूर्वक उसके आदेश-निर्देश का पालन करो।
१. युवराज दृष्टांत—राजा जिस राजकुमार को राजपद पर स्थापित करना चाहता है, उसके लिए वह सुभटों और योद्धाओं को कहता है—तुम अमुक कुमार की सेवा करो, मैं अत्यंत वृद्ध हो गया हूँ।

राजा उन्हें वृत्ति भी कुमार से दिलवाता है (जिससे कुमार के प्रति उनका अनुराग पैदा हो)। फिर परीक्षापूर्वक उसे युवराज बनाता है।

२. परमान्न और कुत्ते—राजकुमार बहुत हैं, उनमें से किसे युवराज बनाऊँ—यह सोचकर राजा परीक्षा हेतु सभी कुमारों को बुलाता है, प्रत्येक के सामने पायस परोसा हुआ एक-एक थाल रखवाकर खाने के लिए कहता है और उधर शृंखलाबद्ध कुत्तों को छुड़वाता है। वे वेग के साथ कुमारों के पास आ जाते हैं। एक कुमार उनके भय से भाग जाता है, दूसरा कुमार डंडे से कुत्तों को हटाकर परमान्न का भोजन करता है। तीसरा कुमार स्वयं खाता है और साथ-साथ कुत्तों को भी खिलाता है। तीसरे को राज्य दिया जाता है, पहले और दूसरे को नहीं।

पहला कुमार शत्रुसेना के आने पर भाग जाएगा। दूसरा कुमार सुभटों को यथेष्ट वृत्ति नहीं देगा तो वे शत्रुसेना के साथ युद्ध नहीं करेंगे। अतः दोनों कुमार राज्य के लिए अयोग्य हैं।

तीसरा कुमार कोश की रक्षा करेगा और भृत्यों को पर्याप्त वृत्ति देगा, इस कारण से वे शत्रुसेना के साथ युद्ध कर उसे भगा देंगे। अतः यह कुमार राज्य की परिपालना के लिए योग्य है—यह जानकर राजा उसे राज्यभार सौंप देता है।

२७. निरपेक्ष राजा की मृत्यु और मूलदेव दृष्टांत

निरपेक्षे कालगते, भिन्नरहस्सा तिगिच्छऽमच्चो य।
अहिवास आस हिंडण, वज्जो त्ति य मूलदेवो उ ॥
आसस्स पट्टिदाणं, आणयणं हत्थच्चालणं रणणो।
अभिसेग भोइ परिभव, तण-जक्ख निवायणं आणा ॥
जक्खऽतिवातियसेसा, सरणगता जेहि तोसितो पुव्वं।
ते कुव्वंती रणणो, अत्ताण परे य निक्खेवं ॥

(व्यभा १८९५-१८९७)

निरपेक्ष राजा कालधर्म को प्राप्त हो गया है—इस रहस्य को दो ही व्यक्ति जानते थे—वैद्य और मंत्री। राजा के कोई संतान नहीं थी। राजपुरुषों ने नये राजा के चयन के लिए घोड़े को अधिवासित कर नगर में धुमाया। रास्ते में मूलदेव चोर मिला, जिसे वध के लिए ले जाया जा रहा था। (राजा ने ही उसे चोरी के आरोप में वध्य घोषित किया था और कुछ क्षणों के पश्चात् ही राजा स्वयं दिवंगत हो गया।)

अश्व ने मूलदेव के पास जाकर अपनी पीठ नीचे की। मूलदेव को उस पर बिठाकर वहां लाया गया, जहां पर्दे के पीछे राजा का शव रखा हुआ था। वहां वैद्य और मंत्री बैठे थे। उन्होंने राजा के हाथ को ऊपर उठाकर हिलाया और बोले—राजा बोल नहीं सकते, अतः अपना हाथ हिलाकर यह अनुमति देते हैं कि मूलदेव का राज्याभिषेक किया जाए। मूलदेव राजा बन गया।

कुछ सामंत राजा का परिभव करने लगे। उन्हें अनुशासित करने के लिए एक दिन मूलदेव अपने मुकुट में तीक्ष्ण तृण लगाकर सभा में आया। कुछ सामंत कानाफूसी करने लगे—राजा की चोरी की आदत नहीं छूटी है। लगता है किसी तृणगृह में चोरी करने गया है और वहां तिनके सिर पर लगे हैं। यह बात मूलदेव ने सुनली और वह अत्यन्त रुष्ट होकर बोला—

है कोई मेरी चिंता करने वाला, जो इन सामंतों को दंडित करे? इतना कहते ही उसके पुण्य प्रभाव से राज्यदेवता से अधिष्ठित चित्रगत प्रतीहार प्रकट हुए, जिनके हाथों में तीखी तलवारें थीं। उन्होंने कुछेक सामंतों के सिर काट डाले। इस यक्षकृत विनाश को देख शेष सभी सामंतों ने मूलदेव की शरण स्वीकार कर राजाज्ञा के अनुसार चलने का संकल्प किया। जो राजा को पहले तुष्ट कर चुके थे, उन्होंने अपने आपको और अपने निश्चित दूस रों को राजा के चरणों में इस शब्दावलि में समर्पित किया—आज से हम और ये आपके हैं।

२८. नए आचार्य के अभिषेक की विधि

आसुक्कारोवरते, अट्टुविते गणहरे इमा मेरा।
चिलिमिलि हत्थाणुण्णा, परिभव सुत्तत्थावावणया ॥
तम्मि गणे अभिसित्ते, सेसगभिक्खूण अप्पनिक्खेवो।
जे पुण फड्डुगवतिया, आतपरे तेसि निक्खेवो ॥

(व्यभा १८९९, १९१४)

कई आचार्य सद्योघाती रोग आदि के कारण गणधर को स्थापित किए बिना ही कालगत हो जाए तो नये आचार्य के पदाभिषेक की विधि यह है—

कालगत आचार्य के शव को पर्दे के पीछे स्थापित कर आचार्यपद योग्य शिष्य को पर्दे के बाहर बिठाया जाता है। आचार्यपद पर किसे प्रतिष्ठित किया जाये?—ऐसा कहते हुए गीतार्थ मुनि पर्दे के भीतर से आचार्य के हाथ को ऊपर उठाकर स्थाप्यमान गणधर के अभिमुख करते हुए कहते हैं—

‘हमारे आचार्य बोलने में अशक्त हैं, अतः इनकी हस्तानुज्ञा से अमुक मुनि हमारे आचार्य हैं।’ तत्पश्चात् पूर्व आचार्य के कालगत होने की घोषणा की जाती है।

जो शिष्य अभिनव स्थापित आचार्य का परिभव करते हैं, आचार्योचित विनय नहीं करते हैं, उन्हें आचार्य सूत्र-अर्थ की वाचना नहीं देते।

आचार्य के पदाभिषेक के पश्चात् गणवर्ती शेष साधु स्वयं को तथा स्पर्धकपति (अग्रणी) स्वयं को और अपने अनुगामियों को गुरुचरणों में समर्पित करते हैं।

(भंते! मैं और मेरे सहवर्ती साधु आपके चरणों में समर्पित हैं, आप हमारे नाथ हैं।)

० निरपेक्ष के कालगत की पूर्व घोषणा से हानि

.....रणणो व्व अणभिसित्ते, रज्जे खोभो तथा गच्छे ॥
जायामो अणाहो त्ति, अण्णहि गच्छंति केइ ओधावे ।
सच्छंदा व भमंती, केई खित्ता व होज्जाही ॥
पासत्थगिहत्थादी, उन्निक्खावेज्ज खुडुगादी उ ।
लता व कंपमाणा उ, केई तरुणा उ अच्छंति ॥
आयरियपिवासाए, कालगतं सोउ ते वि गच्छेज्जा ।
गच्छेज्ज धम्मसद्धा, व केइ सारेंतगस्सऽसती ॥
(व्यभा १५८१, १५८३-१५८५)

जैसे नये राजा का अभिषेक किए बिना दिवंगत राजा की घोषणा से राज्य में क्षोभ उत्पन्न होता है, वैसे ही गच्छ में नए आचार्य की स्थापना किए बिना पूर्व आचार्य के कालगत होने की घोषणा से अन्य अनेक हानियां हो सकती हैं—

० आचार्य के बिना हम अनाथ हो गए हैं—यह सोचकर कई मुनि अन्य गच्छ में जा सकते हैं या अवधावन कर सकते हैं।

- ० कई मुनि स्वच्छंदचारी बनकर घूमते हैं।
- ० कई मुनि आचार्य के वियोग में क्षिप्तचित्त हो जाते हैं।
- ० पार्श्वस्थ या गृहस्थ मंदधर्मा क्षुल्लक आदि को उन्निष्कांत कर सकते हैं—विपरिणत कर अपना बना सकते हैं।
- ० कई मुनि निराश्रित लता की भांति संयम या परीषहों से कंपित हो जाते हैं।
- ० कई मुनि अपने आचार्य को दिवंगत सुनकर अनुत्तरज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए अन्य आचार्य के पास चले जाते हैं।
- ० कई मुनि सारणा के अभाव में गच्छांतर में चले जाते हैं।

२९. गणधारक के आभाव्य पुरुषयुग

सीसो सीसो सीसो चउत्थगं पि पुरिसंतरं लभति ।
हेट्ठा वि लभति तिण्णी, पुरिसजुगं सत्तहा होति ॥
मूलायरिए वज्जित्तु, उवरि सगणो उ हेट्ठिमे तिन्नि ।
अप्पा य सत्तमो खलु, पुरिसजुगं सत्तथा होति ॥
अधवा न लभति उवरि, हेट्ठिच्चिय लभति तिण्णि तिण्णेय ।
तिण्णि तल्लाभ-परलाभ, तिण्णि दासक्खरेणातं ॥
(व्यभा १४६८-१४७०)

जो शिष्य अन्य गण में श्रुतअध्ययन कर पुनः अपने गण में आता है, उसके आभाव्य पुरुषयुग सप्तविध हैं—

१. मूल आचार्य को छोड़कर शेष सारा गण। आचार्य पितृस्थानीय हैं।
२. पितामह को छोड़कर पितामह का परिवार।
३. प्रपितामह का परिवार।
—ये तीन उपरितन पुरुषयुग हैं।
४. गुरु भ्रातृ-प्रब्राजित समस्त परिवार।
५. भ्रातृव्य-प्रब्राजित समस्त परिवार।
६. भ्रातृ-प्रब्राजितों द्वारा प्रब्राजित गण।
—ये तीन अधस्तन पुरुषयुग हैं।
७. स्वयं द्वारा दीक्षित (पुत्रस्थानीय) शिष्य, शिष्यों द्वारा दीक्षित (पौत्रस्थानीय) अनुशिष्य, इनके द्वारा दीक्षित (प्रपौत्रस्थानीय) प्रशिष्य—यह एक (सातवां) पुरुषयुग है।
ये सातों पुरुषयुग नव गणधारक के आभाव्य हैं (उसे प्राप्त हो सकते हैं)। अथवा प्रथम तीन पुरुषयुग एक गुरु द्वारा दीक्षित होने से उसके आभाव्य नहीं भी होते (सहदीक्षित सदा

अनुशासनीय नहीं होते)।

उत्तरवर्ती तीन पुरुषयुग और शिष्यप्रशिष्य उसके आभाव्य हैं। यहां दास-खर का उदाहरण ज्ञातव्य है—
दासेण मे खरो कीतो, दासो वि मे खरो वि मे।
मेरे दास ने गधा खरीदा। दास भी मेरा, गधा भी मेरा।

३०. पश्चात्कृत शिष्य : आभवद् व्यवहार

गिहिलिंगं पडिवज्जति, जो ऊ तद्विवसमेव जो तं तु।
उवसामेती अण्णो, तस्सेव ततो पुरा आसी॥
एण्हं पुण जीवाणं, उक्कडकलुसत्तणं वियाणेत्ता।
तो भद्वाहुणा ऊ, तेवरिसा ठाविता ठवणा॥
परलिंग निणहवे वा, सम्मदंसण जडे तु संकंते।
तद्विवसमेव इच्छा, सम्मत्तज्जुए समा तिण्णि॥
(व्यभा १८६३-१८६५)

जो मुनि उत्प्रजित हो गृहलिंग को स्वीकार करता है, उसे उसी दिन जो आचार्य या साधु उपशांत कर प्रव्रज्या के लिए पुनः तैयार कर देते हैं तो वह प्रव्रजित होकर उपशामक आचार्य का शिष्य होता है, मूल आचार्य का नहीं होता—यह प्राचीन विधि है।

अर्वाचीन विधि—जीवों की उत्कट कलुषता को जानकर समयज्ञ आचार्य भद्रबाहु ने तीन वर्ष की मर्यादा की—साधुवेश का त्याग कर पुनः दीक्षित होने वाला तीन वर्ष तक मूल आचार्य का ही शिष्य होता है, तीन वर्ष से पहले उसका पूर्व पर्याय छिन्न नहीं होता। जो उत्प्रजित होकर परतीर्थिकों के पास अथवा निहवों के पास उसी दिन प्रव्रजित होता है, उसका पूर्व संयम पर्याय छिन्न हो जाता है और वह प्रव्रजित करने वाले का शिष्य हो जाता है। जो सम्यक्त्व सहित परतीर्थिकों में प्रव्रजित होता है तो उसका पूर्व संयम-पर्याय तीन वर्षों तक रहता है, पश्चात् वह छिन्न हो जाता है।

३१. आचार्य की ऋणमुक्ति के उपाय

आयरिओ अंतेवासिं इमाए चउव्विधाए विणय-
पडिवत्तीए विणएत्ता निरिणत्तं गच्छति, तं जहा—आयार-
विणएणं, सुयविणएणं, विक्खेवणाविणएणं, दोसनिग्घा-
यणाविणएणं ॥
(दशा ४/१४)

आचार्य अपने शिष्यों को चार प्रकार की विनयप्रति-
पत्तियां ग्रहण कराकर उच्छ्रण हो जाते हैं—

१. आचारविनय
२. श्रुतविनय
३. विक्षेपणाविनय
४. दोषनिर्घातन विनय।

० आचारविनय : सामाचारी में नियोजन

आयारविणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—संजम-
सामायारी यावि भवति, तवसामायारी यावि भवति,
गणसामायारी यावि भवति, एगल्लविहारसामायारी यावि
भवति ॥

“संजमं समायरति स्वयं, परं च गाहेति, समाचार-
यति सीतंतं परं, उज्जमतं च अणुवूहति।” तवो पक्खिय-
पोसधिएसु तवं कारवेति परं, सयं च करेति” भिक्खायरि-
याए निउंजंति परं, सयं च, सव्वमि तवे परं सयं च णिजुंजति।
गणसामायारी गणं सीतंतं पडिलेहणपप्फोडणबाल-
दुब्बलगिलाणादिसु वेतावच्चेय सीतंतं गाहेति उज्जमावेति
“एगल्लविहारपडिमादिसु सयमण्णं वा पडिवज्जावेति।
(दशा ४/१५ चू)

आचार-विनय के चार प्रकार हैं—

१. संयम सामाचारी—स्वयं संयम का समाचरण करना, दूसरों से संयम का आचरण करवाना, संयम में विषण्ण होने वालों को संयम सामाचारी में स्थित करना तथा उद्यमशील का अनुबृंहण करना।
२. तप सामाचारी—बारह प्रकार के तप में स्वयं को तथा दूसरों को योजित करना। पाक्षिक पौषध आदि करना। भिक्षाचर्या में नियोजित करना।
३. गणसामाचारी—प्रतिलेखना आदि की व्यवस्था में प्रमाद न होने देना। शैक्ष, दुर्बल और ग्लान की वैयावृत्त्य संबंधी व्यवस्था बनाये रखना, सेवार्थियों को प्रोत्साहित करना।
४. एकलविहारसामाचारी—एकलविहार आदि प्रतिमाओं को स्वयं स्वीकार करना तथा दूसरों को स्वीकार करवाना।

० श्रुत विनय : निःशेष वाचना

सुतविणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—सुतं वाएत्ति,
अत्थं वाएत्ति, हियं वाएत्ति, निस्सेसं वाएत्ति ॥

आयारमंतस्स सुतं दिज्जति । सुतेण विनयति अप्याणं परं च । सुत्तं वाएति पाढेति, अत्थं सुणावेति गेण्हावेति—हितं गाम जं जस्स जोगं । परिणाममं वाएति, दोण्ह वि हितं भवति । अपरिणाममं अतिपरिणाममं वा ण वाएति, तं अहितं तेसिं भवति परलोगे इहलोगे य । निस्सेसं नाम अपरिसेसं । (दशा ४/१६ चू)

श्रुतविनय के चार प्रकार हैं—

१. सूत्रवाचना—गुरु आचारसम्पन्न शिष्य को श्रुत/सूत्र की वाचना देते हैं, पढ़ाते हैं । इससे वे स्व और पर को मोक्षमार्ग पर ले जाते हैं ।
२. अर्थवाचना—वे शिष्य को अर्थ की वाचना देते हैं, अर्थ का श्रवण और ग्रहण करवाते हैं ।
३. हितवाचना—वे शिष्य की योग्यता के आधार पर सूत्र-अर्थ की वाचना देते हैं, यह हितकारी वाचना है । परिणामी शिष्य को वाचना देने से इहलोक-परलोक में हित होता है । अपरिणामी और अतिपरिणामी को वे वाचना नहीं देते । उन्हें वाचना देने से उभयलोक में अहित होता है ।
४. निःशेष वाचना—वे योग्य शिष्य को नय-निक्षेप आदि के द्वारा सूत्रार्थ का समग्रता से बोध कराते हैं ।

* वाचना सम्पदा

द्र गणिसम्पदा

० विक्षेपणाविनय : सम्यक्त्व आदि में प्रतिष्ठान

विकखेवणाविणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा— अदिट्ठं दिट्ठपुव्वगताए विणएत्ता भवति, दिट्ठपुव्वगं साहम्मियत्ताए विणएत्ता भवति, चुयं धम्माओ धम्मे ठावइत्ता भवति तस्सेव धम्मस्स हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए अणुगामियत्ताए अब्भट्ठेत्ता भवति ॥

परसमयातो विकखेवयति ससमयं तेण गाहिंति अदिट्ठधम्मं दिट्ठधम्मताए—सम्मदंसण-मित्यर्थः । अदृष्टं दृष्टवत्, पुव्वं ति पढमं ण दिट्ठो दिट्ठपुव्वताए जथा भ्रातरं पितरं वा मिच्छादिट्ठिपि होतंगं । दिट्ठपुव्वगो सावग इत्यर्थः, तं समानधर्मं कारयति पव्वावेति ।—चुतो भट्टो चरित्तधम्मातो वा दंसणधम्मातो वा, तंमि चेव धम्मे ठावयति ।—कस्स चरित्तधम्मस्स हिताए जथा तस्स वृद्धिर्भवति, अणेसणादी

ण गेण्हति गिण्हंतं वारेति । (दशा ४/१७ चू)

विक्षेपणा (नाना प्रकार से परसमय से स्वसमय की ओर प्रेरित करना) विनय के चार प्रकार हैं—

१. अदृष्ट दृष्टपूर्वक विनेता—अदृष्टधर्मा को दृष्टधर्मा बनाना । जिन्होंने पहले धर्म (सम्यक्त्व) को नहीं जाना, यथा— भाई, पिता आदि मिथ्यादृष्टि रहे हों, उनको परसमय से स्वसमय में स्थापित करना, सम्यक्त्वी बनाना ।
२. दृष्टपूर्वक—श्रावक को साधर्मिक—समानधर्मा बनाना, प्रव्रजित करना ।
३. च्युतधर्म का धर्म में स्थापन—चारित्रधर्म अथवा दर्शनधर्म से भ्रष्ट शिष्य को पुनः उसी धर्म में स्थापित करना ।
३. धर्म अभ्युद्यत—चारित्र धर्म के हित—वृद्धि के लिए अभ्युद्यत रहना, अनेषणीय वस्तु का ग्रहण न करना, ग्रहण करते हुए को रोकना । अथवा धर्म के हित, सुख, सामर्थ्य, निःश्रेयस (मोक्ष) और आनुगामिकता (भवांतर में भी धर्मप्राप्ति) के लिए अभ्युद्यत रहना ।

० दोषनिर्घातना विनय : कषाय-कांक्षा-विनयन

दोसनिग्घायणाविणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा— कुद्धस्स कोहं विणएत्ता भवति, दुट्ठस्स दोसं णिगिण्हत्ता भवति, कंखियस्स कंखं छिंदित्ता भवति, आया सुप्पणिहिते यावि भवति ॥

दोसा कसायादी बंधहेतवो अट्टु वा पगडीतो । नियतं निश्चितं वा घातयति विनाशयतीत्यर्थः । कुद्धस्स सीतघर-समाणो वंजुलवृक्षवत् । दुट्ठो कसायविसएसु माणदुट्ठस्स वा आयारसीलभावदोसा वा विणएत्ति, तं दोसं उवसमेति विनाशयतीत्यर्थः । कंखा भत्तपाणे परसमाए वा संखंडिए णदीजत्ताए वा—'संपुण्णमेवं तु भवे गणित्तं, जं कंखिता-णंपि हणेति कंखं ।—जदा सयं तेसु कोहदोसकंखासु ण वट्टति, तदा सुप्पणिहितो भवति ।—एवायरिण सिस्सो गाहितो । (दशा ४/१८ चू)

दोष का अर्थ है—बंध के हेतु कषाय आदि अथवा आठ कर्मप्रकृतियां । निर्घातना का अर्थ है निश्चित विनाश करना । दोषनिर्घातना विनय के चार प्रकार हैं—

१. क्रोधविनय—वंजुल वृक्ष की भांति अपने शीतलस्वभाव से क्रोधी शिष्य के क्रोध को दूर कर देना।
२. दोषनिग्रहण—दुष्ट के दोष को दूर करना। कषाय और विषयों से दूषित अथवा मान से दूषित शिष्य के आचार, शील और भावधारा के दोषों का अपनयन, उपशमन अथवा विनाश करना।
३. कांक्षा विच्छेद—कांक्षायुक्त शिष्य की कांक्षा का छेदन करना। भक्तपान, परसमय, भोज, नदीयात्रा—इनमें कांक्षा हो सकती है। गणी कांक्षित की कांक्षा मिटाता है, यही उसका सम्पूर्ण गणित्व है।
४. सुप्रणिहितआत्मा—जब गुरु क्रोध, द्वेष और कांक्षा में वर्तन नहीं करते, तब उनके सुप्रणिधान होता है। ऐसे आचार्य से ही शिष्य उपगृहीत-अनुगृहीत होते हैं।

३२. आचार्य वैयावृत्यकारी कैसे ?

गुरुअणुकंपाए पुण, गच्छो अणुकंपितो महाभागो ।
गच्छाणुकंपयाए, अव्वोच्छिन्ती कता तित्थे ॥
किह तेण न होति कतं, वेयावच्चं तु दसविधं जेणं ।
तस्स पउत्ता अणुकंपितो उ थेरो थिरसभावो ॥
(व्यभा २६७२, २६७३)

गुरु की अनुकम्पा से महाभाग (अचिन्त्यशक्ति-सम्पन्न) गच्छ अनुगृहीत होता है और गच्छ की अनुकम्पा द्वारा गुरु तीर्थ की अविच्छिन्नता में योगभूत बनते हैं।

स्थविर (आचार्य) स्थिर स्वभाव वाले होते हैं। वे संघ के सदस्यों को दशविध (आचार्य आदि के) वैयावृत्य में नियोजित कर अनुगृहीत करते हैं। इस प्रकार वैयावृत्य की सम्यक् व्यवस्था के द्वारा आचार्य गण का दशविध वैयावृत्य करते हैं।

३३. आचार्य : इह-परलोक-हितकारी

आयरिओ केरिसओ, इहलोए केरिसो व परलोए ।
इहलोएऽसारणिओ, परलोएँ फुडं भणंतो उ ॥
(व्यभा ५६८)

शिष्य ने पूछा—भंते! कौन से आचार्य इहलोक में हितकारी हैं और कौन से आचार्य परलोक में हितकारी हैं ?

गुरु ने आचार्य के चार विकल्प प्रस्तुत किये—

१. इहलोक में हितकारी, परलोक में नहीं—जो वस्त्र-पात्र, भक्तपान आदि अपेक्षाओं को पूरा करते हैं किन्तु सारणा-वारणा नहीं करते।
२. परलोक में हितकारी, इहलोक में नहीं—जो शिष्यों के संयमयोगों में प्रमाद होने पर विधि-निषेध का समुचित प्रयोग करते हैं, किन्तु आहार आदि की समुचित व्यवस्था नहीं करते।
३. इहलोकहित-परलोकहित—जो व्यवस्था और सारणा-वारणा दोनों करते हैं।
४. न इहलोकहित, न परलोकहित—जो उपधि, आहार आदि के द्वारा संघ का उपष्टम्भ नहीं करते और न ही सारणा-वारणा करते हैं।

३४. असंक्लेशकर आचार्य : प्रासाद दृष्टांत

दिट्ठतोऽमच्चेणं, पासादेणं तु रायसंदिट्ठे ।
दव्वे खेत्ते काले, भावेण य संकिलेसेति ॥
अलोणाऽसक्कयं सुक्खं, नो पगामं व दव्वतो ।
तं खेत्ताणुचियं उण्हे, काले उस्सूरभोयणं ॥
भावे न देति विस्सामं, निट्ठुरेहिं च खिंसति ।
जियं भतिं च नो देति, नट्ठा अकयदंडणा ॥
अकरणे पासायस्स उ, जह सोऽमच्चो तु दंडितो रण्णा ।
एमेव य आयरिए, उवणायणं होति कातव्वं ॥
(व्यभा ३६९२-३६९५)

राजा ने अमात्य को आदेश दिया कि एक प्रासाद का निर्माण शीघ्रता से कराओ। अमात्य ने अनेक कर्मकरों को प्रासाद-निर्माण में लगा दिया। कार्य चलने लगा। परन्तु कर्मकर अमात्य से प्रसन्न नहीं थे, क्योंकि अमात्य लोभी था। वह कर्मकरों को लवणरहित, असंस्कृत, रूखा-सूखा अपर्याप्त भोजन देता, उस क्षेत्र के लिए जो अनुचित भक्त-पान होता, वह कर्मकरों को देता। समय पर भोजन न देकर, गर्मी में काम कराकर सायंकाल भोजन देता। विश्राम करने की छूट न देकर निष्ठुर वचनों से उनकी खिंसना करता तथा उन्हें उचित मूल्य—कार्य के अनुरूप पारिश्रमिक भी नहीं देता। इस अनुचित व्यवस्था से उत्पीड़ित होकर प्रासाद के निर्माण को अधूरा ही छोड़कर सभी कर्मचारी अन्यत्र चले गए। जब राजा को यह

ज्ञात हुआ, तब उसने अमात्य को दंडित कर उसका सर्वस्व हरण कर लिया।

इसी प्रकार जो आचार्य अपने साधुओं को उचित आहार आदि उचित समय में नहीं देता है और उनको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव संबंधी अनुचित व्यवस्था से संक्लिष्ट करता है, वह तिरस्कार का भाजन होता है।

३५. आचार्य संस्तुति से लाभ

आगम्य एवं बहुमाणितो हु, आणाथिरत्तं च अभावितेसु।
विणिज्जरा वेणइयाय निच्चं, माणस्स भंगो विय पुज्जयंते ॥
(व्यभा १४०४)

जो आगमज्ञ आचार्य की पूजा करते हैं, वे आगम का बहुमान करते हैं, अर्हत्-आज्ञा की आराधना करते हैं।

गुरुपूजा को देख विनय से अभावित शिष्य विनय में प्रतिष्ठित होते हैं। गुरु का विनय करने से कर्मों की सतत निर्जरा होती है, अहंकार क्षीण होता है।

गुर्वायत्ता यस्मात् शास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेधि,
तस्मात् गुर्वाराधनपरेण हितकाक्षिणा भाव्यम्।
(व्यभापी वृ प २)

सभी शास्त्रों में प्रवृत्ति गुरु के अधीन होती है, इसलिए अपना हित चाहने वाले हर शिष्य को गुरु की आराधना में तत्पर रहना चाहिए।

३६. आचार्य की अवज्ञा से हानि

पज्जाय-जाई-सुततो य बुद्ध, जच्चनिययासीससमिद्धिंमंता।
कुव्वंतऽवण्णं अह ते गणाओ, निज्जहई नो य ददाइ सुत्तं ॥
(बृभा ४४३६)

अल्प पर्याय वाले आचार्य को देख जो पर्यायवृद्ध हैं, वे सोचते हैं कि यह अवमरालिक है। जो सत्तर वर्ष के वृद्ध हैं, वे सोचते हैं कि यह बालक है। जो श्रुतवृद्ध हैं, वे यह अल्पश्रुत है, ऐसा मानते हैं। जो विशिष्ट जाति सम्पन्न हैं, वे यह सोचते हैं कि यह हीनकुल में उत्पन्न हुआ है। जो शिष्यपरिवार से समृद्ध हैं, वे सोचते हैं कि यह अल्प परिवार वाला है, इस प्रकार वे गुरु की अवज्ञा करते हैं। अवज्ञा करने

वालों को गुरु गण से निकाल देते हैं और उन्हें श्रुत प्रदान नहीं करते।

* आचार्य और उपाध्याय में भेद-अभेद आदि

द्र श्रीआको १ आचार्य

आज्ञा—वचननिर्देश।

१. आज्ञा के प्रकार	
० आज्ञा के पर्याय	
२. गुरुआज्ञा बलवती	
* लोकोत्तर विनय (आज्ञा) बलवान्	द्र विनय
३. उपसम्यदा और आज्ञा	
४. आज्ञा में ही चारित्र की अवस्थिति	
* शय्यातर की अनुज्ञा	द्र शय्यातर
५. गुरुआज्ञा से उपधिग्रहण	
० गुरु आज्ञा से विकृति-ग्रहण और तप	
६. बिना आज्ञा भिक्षाटन से प्रायश्चित्त	
* बिना आज्ञा पात्र-ग्रहण से प्रायश्चित्त	द्र उपधि
* साधर्मिक आदि की अनुज्ञा	द्र अवग्रह
७. आज्ञाभंग से अनवस्था दोष	
८. आज्ञाभंग का परिणाम : चन्द्रगुप्त-चाणक्य दृष्टांत	
* सम्यक् व्यवहारी आज्ञा का आराधक] द्र व्यवहार
* आज्ञा व्यवहार	

१. आज्ञा के प्रकार

द्वे भावे आणा, भावाणा खलु सुयं जिणवराणं ।...

(व्यभा ३८८६)

आज्ञा के दो प्रकार हैं—

द्रव्य आज्ञा—राजा आदि की आज्ञा।

भाव आज्ञा—अर्हत्तों की वाणी।

० आज्ञा के पर्याय

उववातो निद्देषो, आणा विणओ य होति एगद्धा ।...

(व्यभा २०८१)

उपपात, वचननिर्देश, आज्ञा और विनय—ये एकार्थक हैं।

२. गुरुआज्ञा बलवती

....आणा बलिया, आणासारो य गच्छवासो उ ।
मोक्तुं आणापाणुं, सा कज्जा सव्वहिं जोगे ॥
(व्यभा २०७४)

गुरु की आज्ञा बलवती होती है। गुरुकुलवास आज्ञासार वाला है (गच्छ में आज्ञा ही प्रधान है)। आन-प्राण (शवासोच्छ्वास) के अतिरिक्त शेष सारी प्रवृत्तियां गुरु की आज्ञा से करनी चाहिए।

३. उपसम्पदा और आज्ञा

भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म अण्णं गणं उव-
संपज्जित्ताणं विहरेज्जा तं च केइ साहम्मिए पासित्ता
वएज्जा—कं अज्जो! उवसंपज्जित्ताणं विहरसि ? जे तत्थ
सव्वराइणिए तं वएज्जा ।

राइणिए तं वएज्जा—अह भंते! कस्स कप्पाए ? जे
तत्थ सव्वबहुमुए तं वएज्जा, जं वा से भगवं वक्खइ तस्स
आणा-उववाय-वचणनिहेसे चिट्ठिस्सामि ॥ (व्य ४/१८)

जो भिक्षु गण से निष्क्रमण कर अन्य गण की उपसम्पदा स्वीकार कर विहरण करे, उसे देखकर कोई साधर्मिक पूछे—
आर्य ! तुम किसकी उपसम्पदा स्वीकार कर विहरण कर रहे हो ? वह उस गण में जो सर्वरात्मिक है, उसका नाम बताए।
रात्मिक उसे पुनः पूछे—भदंत ! तुम किसकी निश्रा में हो ? उस गच्छ में जो सर्वाधिक बहुश्रुत हो, उसका नाम बताए तथा यह भी बताए कि वे जिसकी आज्ञा में रहने का कहेंगे; उसी की आज्ञा में, उसके समीप, उसके वचननिर्देश के अनुसार रहूंगा।

४. आज्ञा में ही चारित्र की अवस्थिति

अवराहे लहुगतरो, आणाभंगम्मि गुरुतरो किह णु ।
आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु ॥
(बृभा ९२४)

चारित्र संबंधी अतिचार होने पर लघुतर और आज्ञा भंग होने पर गुरुतर प्रायश्चित्त आता है। जहां जीवोपघात होता है, वहां गुरुतर दंड युक्तियुक्त हो सकता है किन्तु

आज्ञाभंग में जीवोपघात नहीं होता, फिर गुरुतर दंड क्यों ?
आचार्य कहते हैं—भगवान् की आज्ञा में ही चारित्र है, आज्ञा का भंग होने पर क्या चारित्र भंग नहीं होता ? सब कुछ भंग हो जाता है।

५. गुरुआज्ञा से उपधिग्रहण

भिक्षू आओसरणम्मि व, अपुव्ववत्था उ ताउ ददुणं ।
गुरुकहण तासि पुच्छा, अहम्मदिन्ना न वा दिट्ठा ॥
सच्छंद गेण्हमाणीण, होति दोसा जतो तु इच्चादी ।
इति पुच्छिउं पडिच्छा, न तासि सच्छंदता सेया ॥
(व्यभा २८४१, २८६६)

वृषभ भिक्षावेला या समवसरण में नवीन वस्त्र-धारिणी साध्वी को देखकर गुरु से निवेदन करते हैं फिर गुरु उन्हें जानकारी हेतु निर्देश देते हैं, तब वृषभ उस साध्वी के पास जाकर पूछा करते हैं—आर्य ! हमने ये वस्त्र-पात्र आदि तुमको नहीं दिये और न ही किसी को देते हुए देखा। ऐसा पूछने पर भी जो आर्या निवेदन नहीं करती है, वह प्रायश्चित्त की भागी होती है।

उपधि (वस्त्र-पात्र) या शिष्य, जो भी प्राप्त हो, उसका गुरु से निवेदन करना होता है। स्वच्छन्दता से वस्तु-ग्रहण करने में अनेक दोष हैं, अतः प्रत्येक वस्तु आचार्य की आज्ञा से ही ग्रहण करे और ग्रहण कर आचार्य को निवेदित करे। स्वच्छन्दता कहीं भी श्रेयस्करी नहीं है।

० गुरुआज्ञा से विकृति-ग्रहण और तप

वासावासं पज्जोसविए भिक्षू इच्छेज्जा गाहावइ-
कुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्ताए वा पविसित्तए
वा, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा उवज्जायं
वा....जं वा पुरओ काउं विहरइ, कप्पइ से आपुच्छिउं.... ।

....अण्णयरिं विगइं आहारित्तए, नो से कप्पइ
अणापुच्छित्ता... ।...अण्णयरं ओरालं तवोक्कम्मं उवसंपज्जि-
त्ताणं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता.... ।

(दशा ८ परि सू २७१, २७३, २७५)

वर्षावास में स्थित मुनि गृहपति के घर में आहार-
पानी के लिए जाना-प्रवेश करना चाहे तो वह आचार्य,

उपाध्याय या जिसके अग्रगामित्व में विहरण कर रहा है, उसको पूछे बिना नहीं जा सकता।

इसी प्रकार वह विकृति का आहार और उदार तपःकर्म का स्वीकार भी गुरु को बिना पूछे नहीं कर सकता।

६. बिना आज्ञा भिक्षाटन से प्रायश्चित्त

बहुते साहम्यिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिचारियं चारए । नो ष्हं कप्पइ थैरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिचारियं चारए.....जं तथ थैरेहिं अविइण्णे अभिनिचारियं चरंति से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥

बहिर्व्रजिकादिषु...समुदानं लब्धुं गमनं अभिनिचारिका...अन्तरा नाम तस्मात् स्थानादप्रतिक्रमणं तस्मात् छेदः परिहारे वा । (व्य ४/१९ वृ)

बहुत साधर्मिक एक साथ अभिनिचारिका—वसति क्षेत्र से बाहर व्रजिका आदि में भिक्षाटन करना चाहें तो वे स्थविर (आचार्य) को पूछे बिना एक साथ अभिनिचारिका नहीं कर सकते। यदि वे स्थविर की आज्ञा प्राप्त किये बिना अभिनिचारिका करते हैं तो उन्हें उस स्थान से निवृत्त नहीं होने पर सीमा का अतिक्रमण करने के कारण स्वान्तर-कृत—स्वच्छेदता से बार-बार गमन करने पर छेद अथवा परिहार (मासलघु आदि तप) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

७. आज्ञा भंग से अनवस्था दोष

एगेण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो ।

सायाबहुल परंपर, वोच्छेदो संजम-तवाणं ॥

(बृभा ९२८)

किसी एक श्रुतधर साधु ने प्रमादस्थान का सेवन किया। यह श्रुतधर भी ऐसा करता है, तब निश्चित ही इसमें दोष नहीं है—ऐसा सोचकर अन्य साधु भी वैसा करता है। फिर दूसरा और तीसरा भी उसका अनुकरण करता है। इस प्रकार सातबहुल (सुविधावादी) व्यक्तियों की प्रमादस्थानसेवन की परम्परा से संयम और तप की परम्परा का विच्छेद हो जाता है।

८. आज्ञा-भंग का परिणाम : चन्द्रगुप्त-चाणक्य दृष्टांत भक्तमदाणमडंते, आणडुवणंब छेत्तु वंसवती। गविसण पत्त दरिसए, पुरिसवइ सबालडहणं च ॥

एगमरणं तु लोए, आणऽइआरुत्तरे अणंताइं ।
अवराहरक्खणट्ठा, तेणाणा उत्तरे बलिया ॥

पाडलिपुत्ते नथरे चंदगुत्तो राया । सो य मोरपोसग-
पुत्तो त्ति जे खत्तिया अभिजाणंति ते तस्स आणं परिभवंति ।
चाणक्कस्स चिंता जाया—आणाहीणो केरिसो राया ?
तम्हा जहा एयस्स आणा तिक्खा भवइ तहा करेमि ।

(बृभा २४८९, २४९० वृ)

पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त राजा था। 'वह मयूरपोषक का पुत्र है'—यह जानकर क्षत्रिय लोग उसकी आज्ञा का सम्मान नहीं करते थे। चाणक्य ने सोचा—आज्ञाहीन राजा कैसा ? अतः वह काम करूँ, जिससे राजाज्ञा की अखण्ड आराधना हो। एक बार चाणक्य कार्पटिक के रूप में घूम रहा था। एक गांव में उसे भिक्षा नहीं मिली। उस गांव में आम और बांस प्रचुर मात्रा में थे। आज्ञा को प्रतिष्ठित करने के लिए चाणक्य ने उस गांव में यह राजाज्ञा प्रेषित की—आमों का छेदन कर शीघ्र बांस के झुरमुट के चारों ओर उनकी बाड़ बनाई जाये।

'यह दुर्लिखित है'—ऐसा सोचकर ग्रामीणों ने बांसों को काटकर आम्रवृक्षों के चारों ओर बाड़ बना दी। चाणक्य ने यह खोज करवायी कि गांव वालों ने राजाज्ञा का पालन किया या नहीं। जब उसे ज्ञात हुआ कि ग्रामीणों ने राजाज्ञा के विपरीत कार्य किया है, तब वह उस गांव में आया और गांव वालों को उपालंभ देते हुए बोला—तुम लोगों ने यह क्या किया ? बांस नगरोध आदि में काम आते हैं। तुमने उनको क्यों काटा ? राजाज्ञा का पत्र दिखाते हुए आगे कहा—राजाज्ञा कुछ और है और तुम लोगों ने कुछ और ही कर डाला। तुम अपराधी हो, दंडनीय हो। यह कहते हुए उसने बालवृद्ध सहित उस गांव को जला डाला।

लौकिक आज्ञा का अतिक्रमण करने पर एक बार मरण होता है। लोकोत्तर आज्ञा का अतिक्रमण करने पर अनंत जन्म-मरण करने पड़ते हैं। इसलिए अपराधपदों से रक्षा के लिए लोकोत्तर क्षेत्र में आज्ञा बलवती है।

* सुविनीत शिष्य आज्ञाकारी द्र श्रीआको १ शिष्य
आज्ञाव्यवहार—देशान्तर में स्थित गीतार्थ से विधि-निषेध तथा प्रायश्चित्त का निर्णय प्राप्त करना। द्र व्यवहार

आतापना—कर्मनिर्जरा के लक्ष्य से सूर्य का ताप सहन करना। द्र कायक्लोश

आदेश—बहुश्रुत द्वारा आचीर्ण अथवा नयान्तर विकल्प। द्र आगम

आधाकर्म—मन से साधु के निमित्त आरंभ-समारंभ का संकल्प कर आहार आदि निष्यन्त करना। द्र पिण्डैषणा

आभवद् व्यवहार—क्षेत्रस्थित तथा आगंतुक मुनियों का उस क्षेत्रगत सचित्त आदि के लाभ का स्वामित्वविषयक व्यवहार-चिन्तन। द्र व्यवहार

आराधना—लक्ष्यसिद्धि के लिए सम्यक् साधना करना।

- | | |
|---------------------------------------|----------------|
| १. आराधना के प्रकार और भवसीमा | |
| २. आलोचना में आराधना की नियमा | |
| ३. आलोचना परिणाम मात्र से आराधक | |
| ४. आराधक : आलोचना हेतु समर्पित | |
| * गुरु की आशातना से ज्ञान आराधना नहीं | द्र आशातना |
| * कल्पिका प्रतिसेवक आराधक | द्र प्रतिसेवना |
| * कलहशमन करने वाला आराधक | द्र अधिकरण |
| * सम्यक् व्यवहारी आराधक | द्र व्यवहार |
| * प्रायोपगमन में द्विविध आराधना | द्र अनशन |
| * असारणा से संघविराधना | द्र आचार्य |

१. आराधना के प्रकार और भवसीमा
आराहणा उ तिविधा, उक्कोसा मञ्जिमा जहण्णा उ।
एग दुग तिग जहन्तं, दु तिगट्ठभावा उ उक्कोसा ॥
(व्यभा ३८८७)

आराधना के तीन प्रकार हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। इस त्रिविध आराधना का क्रमशः फल है—एक भव (उसी भव में मुक्ति), दो भव, तीन भव।

यदि उसी भव में मोक्ष न हो तो उत्कृष्ट आराधना का फल है—जघन्य दो भव, मध्यम आराधना के तीन भव और

जघन्य आराधना के उत्कृष्ट आठ भव।

* सेवार्त्तसंहननी उत्तम आराधक द्र श्रीआको १ आराधना

२. आलोचना में आराधना की नियमा

आलोइयपडिकंतस्स होति आराधना तु नियमेण।
अणालोयमि भयणा, किह पुण भयणा भवति तस्स ॥
कालं कुव्वेज्ज सयं, अमुहो वा होज्ज अहव आयरिओ।
अप्पत्ते पत्ते वा, आराधण तहवि भयणेवं ॥
(व्यभा ४०५२, ४०५३)

जो सम्यक् आलोचना कर पुनः उस अपराध को न करने के लिए संकल्पित होता है, वह निश्चित आराधक होता है।

आलोचना न करने पर आराधना की भजना है—कोई आलोचक आलोचनापरिणामपरिणत है, आलोचनार्ह गुरु के पास जाने के लिए सम्प्रस्थित है, किन्तु बीच में ही कालधर्म को प्राप्त हो जाता है अथवा गुरु के पास पहुंच कर भी रोग के कारण बोल नहीं पाता है या आलोचनार्ह आचार्य कालगत हो जाते हैं अथवा वे बोलने में अशक्त होते हैं तो इन स्थितियों में आलोचना नहीं करने पर भी वह आराधक है। जो आलोचना-परिणामपरिणत नहीं है, वह आराधक नहीं होता।

३. आलोचना परिणाममात्र से आराधक

...ण वि णज्जति वाघातो, कं वेत्तं होज्ज जीवस्स ॥
तं न खमं खु पमातो, मुहुत्तमवि अच्छित्तुं ससल्लेणं।
आयरियपादमूले, गंतूण समुद्धरे सल्लं ॥
न हु सुज्झती ससल्लो, जह भणियं सासणे जिणवराणं।
उद्धरियसव्वसल्लो, सुज्झति जीवो धुतकिलेसो ॥
आलोयणापरिणतो, सम्मं संपट्ठितो गुरुसगासं।
जदि अंतरा उ कालं, करेति आराहओ सो उ ॥
(व्यभा २२८-२३०, २३३)

किस क्षण मृत्यु आवेगी—यह ज्ञात नहीं है। (सशल्य मरने वाला दीर्घसंसारी होता है इसलिए) प्रमादवश मुहूर्त्तभर भी सशल्य रहना क्षम्य नहीं है। आचार्य-चरणों में पहुंचकर अतिचार-शल्यों का उद्धरण कर लेना चाहिए।

शल्ययुक्ता साधक की शुद्धि नहीं होती—यह तथ्य

जिनप्रवचन में प्रतिपादित है। जो सब शक्तियों को निकाल फेंकता है, उसके क्लेश मिट जाते हैं और वही शुद्ध होता है।

जिसके भलीभांति आलोचना करने के परिणाम हैं और जिसने गुरु की दिशा में प्रस्थान कर दिया है, वह यदि अन्तराल में ही बिना आलोचना किए कालधर्म को प्राप्त हो जाता है, फिर भी वह आराधक है (क्योंकि उसने शक्ति का गोपन नहीं करते हुए निश्छल प्रवृत्ति की है)।

एवं होति विरोधो, आलोयणापरिणतो य सुद्धो य।
एगंतेण पमाणं परिणामो वी न खलु अहं॥
(व्यभा ९२२)

० सशक्त्यमरण से चरणनाश होता है।

० आलोचनापरिणामपरिणत तथा तथाविध प्रवृत्ति में संलग्न मुनि आलोचना न कर सकने पर भी शुद्ध है।

इन दोनों में परस्पर विरोध है—शिष्य के इस कथन पर आचार्य कहते हैं—केवल परिणाम हमारे लिए एकांत रूप से प्रमाण नहीं है। जो अपनी शक्ति का गोपन कर यथाशक्ति प्रवृत्ति नहीं करता, उसकी केवल परिणामपरिणति तत्त्वतः परिणाम ही नहीं है, परिणामाभास है।

४. आराधक : आलोचना हेतु समर्पित

पडिसेवणाऽतियारे, जह वीसरिया कहिंचि होज्जाहि।
तेसु कह जडितव्वं, सत्लुद्धरणाम्मि समणेणं॥
जे मे जाणंति जिणा, अवराधा जेसु जेसु ठाणेसु।
ते हं आलोएउं, उवडितो सव्वभावेणं॥
एवं आलोएंतो, विसुद्धभावपरिणामसंजुत्तो।
आराहओ तह वि सो, गारवपलिकुंचणारहितो॥
(व्यभा ४३०८-४३१०)

शिष्य ने पूछा—यदि प्रतिसेवनातिचार किसी कारण से विस्मृत हो गए हों तो श्रमण उनका शल्योद्धरण कैसे करे ?

आचार्य ने कहा—वह सोचे कि जिन-जिन स्थानों में जो-जो मेरे अपराध हैं, अर्हत् उन्हें जानते हैं। मैं उनकी आलोचना के लिए सर्वात्मना उपस्थित हुआ हूँ। इस प्रकार आलोचना करता हुआ भी वह आराधक है क्योंकि वह गौरव और माया से रहित तथा विशुद्ध परिणामधारा से संयुक्त है।

आरोपणा—प्रायश्चित्त का तीसरा प्रकार, एक दोष से प्राप्त प्रायश्चित्त में दूसरे दोष के आसेवन से प्राप्त प्रायश्चित्त का आरोपण करना।

द्र प्रायश्चित्त

आर्यक्षेत्र—श्रेष्ठ क्षेत्र। साधना के अनुकूल विहरण भूमि। अहिंसा में आस्था रखने वाले क्षेत्र।

१. आर्य शब्द के निक्षेप
२. आर्यक्षेत्र की सीमा : कालसापेक्ष
३. आर्यक्षेत्र : साढे पचीस जनपद
४. आर्यक्षेत्र में तीर्थकरमहिमा : संयमपालन सुकर
५. अनार्यक्षेत्रगमन निषिद्ध
 - ० निषेध के हेतु : स्कन्दक दृष्टांत
 - ० निषिद्ध क्षेत्रगमन के हेतु
६. राजा संप्रति : अनार्यक्षेत्र आर्यक्षेत्र में परिवर्तित

१. आर्य शब्द के निक्षेप

नामं ठवणा दविए, खेत्ते जाती कुले य कम्मे य।
भासारिय सिप्पारिय, गाणे तह दंसण चरित्ते॥
अंबड्डा य कलंदा, विदेहा विदका ति य।
हारिया तुंतुणा चेव, छ एता इब्भजातिओ॥
उग्गा भोगा राइण्णा खत्तिया तह य पात कोरव्वा।
इक्खागा वि य छट्टा, कुलारिया होति नायव्वा॥
(बृभा ३२६३-३२६५)

आर्य शब्द के बारह निक्षेप हैं—

१. नाम आर्य — 'आर्य' नाम।
२. स्थापनार्य — आर्य की स्थापना।
३. द्रव्यार्य — नमनशील तिनिश आदि वृक्ष।
४. क्षेत्रार्य — मगध आदि जनपद।
५. जात्यार्य — अम्बष्ठ, कलिन्द, वैदेह, विदक, हारित और तुंतुण—ये छह इभ्य—अभ्यर्चनीय जातियां।
६. कुलार्य — उग्र, भोज, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात-कौरव और इक्ष्वाकु—इन छह कुलों में उत्पन्न।
७. कर्मार्य — कर्म से आर्य।

८. भाषार्य — अर्धमागधी भाषाभाषी ।

९. शिल्पार्य — तुण्णाक, तन्तुवाय आदि ।

१०. ज्ञानार्य — मति, श्रुत आदि पांच ज्ञान के धारक ।

११. दर्शनार्य — सराग और वीतराग दर्शन के धारक ।

१२. चारित्रार्य — सामायिक आदि पांच चारित्र के धारक ।

(प्रज्ञापना सूत्र में आर्य के दो प्रकार प्रतिपादित हैं— ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धिअप्राप्त आर्य। अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण और विद्याधर—ये ऋद्धिप्राप्त आर्य हैं। ऋद्धिअप्राप्त आर्य के नौ प्रकार हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, शिल्पार्य, भाषार्य, ज्ञानार्य, दर्शनार्य, चारित्रार्य। इनमें से प्रत्येक के अनेक भेद हैं।—द्र प्रज्ञा १/९०-१२९)

२. आर्यक्षेत्र की सीमा : कालसापेक्ष

कप्पड़ निगंथाण वा निगंथीण वा पुरत्थिमेणं जाव अंग-मगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसंबीओ एत्तए, पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ एत्तए, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए। एतावताव कप्पड़, एतावताव आरिए खेत्ते। नो से कप्पड़ एत्तो बाहिं। तेण परं जत्थ नाणदंसणचरित्ताइं उस्सप्यंति। (क १/४७)

साएयम्मि पुरवरे, सभूमिभागम्मि वद्धमाणेण।

सुत्तमिणं पण्णसं, पडुच्च तं चेव कालं तु॥

(बृभा ३२६१)

निगंथ और निगंथी पूर्व दिशा में अंग और मगध जनपद, दक्षिण दिशा में कौशाम्बी, पश्चिम दिशा में स्थूणा देश तथा उत्तर दिशा में कुणाला क्षेत्र तक जा सकते हैं, इतने क्षेत्र में विहार कर सकते हैं, इतना आर्यक्षेत्र है। वे इससे बाहर नहीं जा सकते। उससे आगे जहां ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि होती है, वहां जा सकते हैं।

साकेत नगर में सुभूमिभाग उद्यान में समवसृत भगवान् महावीर ने उस काल की अपेक्षा से उपर्युक्त क्षेत्र-सीमाविषयक सूत्र का प्ररूपण किया।

३. आर्यक्षेत्र : साढे पचीस जनपद

क्षेत्रार्या अर्द्धषड्विंशतिर्जनपदाः तद्वासिनो वा। ते च जनपदा राजगृहादिनगरोपलक्षिता मगधादयः। उक्तञ्च—

रायगिह मगह चंपा, अंगा तह तामलित्ति बंगा य।
कंचणपुरं कलिंगा, वाणारसि चैव कासी य॥
साकेत कोसला गयपुरं च कुरु सोरियं कुसट्टा य।
कंपिल्लं पंचाला, अहिच्छता जंगला चैव॥
वारवई य सुरट्टा, विदेह मिहिला य वच्छ कोसंबी।
नंदिपुरं संडिम्भा, भहिलपुरमेव मलया य॥
वेराड वच्छ वरणा, अच्छा तह मत्तियावड दसन्ना।
सुत्तीवई य चेदी, वीतभयं सिंधुसोवीरा॥
महुरा य सूरसेणा, पावा भंगी य मासपुरि वट्टा।
सावथी य कुणाला, कोडीवरिसं च लाढा य॥
सेयविया वि य नगरी, केगइअद्धं च आरियं भणियं।
जत्थुप्पत्ति जिण्णाणं, चक्कीणं राम-कण्हाणं॥
(बृभा ३२६३ की वृ)

साढे पचीस जनपद अथवा उनमें रहने वाले क्षेत्रार्य कहलाते हैं। वे मगध आदि जनपद राजगृह आदि नगरों से उपलक्षित हैं, जो प्रज्ञापना (१/९३/१-६) में प्ररूपित हैं—

जनपद (प्रदेश)	नगर (राजधानी)
१. मगध	राजगृह
२. अंग	चम्पा
३. बंग	ताम्रलिप्ति
४. कलिंग	कांचनपुर (भुवनेश्वर)
५. काशी	वाराणसी (बनारस)
६. कौशल	साकेत
७. कुरु	हस्तिनापुर
८. कुशार्त्त (कुशावर्त्त)	सोरियपुर (सौरपुर)
९. पांचाल	काम्पिल्य
१०. जांगल	अहिच्छत्रा
११. सौराष्ट्र	द्वारिका
१२. विदेह	मिथिला
१३. वत्स	कौशाम्बी
१४. शांडिल्य	नन्दिपुर
१५. मलया	भहिलपुर
१६. मत्स्य	वैराट
१७. अच्छ	वरुणा

१८.	दशाणं	मृत्तिकावती
१९.	चेदी	शुक्तिमती
२०.	सिन्धु-सौवोर	वीतभय
२१.	शूरसेन	मथुरा
२२.	भंगी	अषाषा (पावापुरी)
२३.	वर्त	मासपुरी
२४.	कुणाला	श्रावस्ती
२५.	लाढ/लाट	कोटिवर्ष
२६.	केकयार्ड	श्वेतविका

इन क्षेत्रों में ही तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव उत्पन्न होते हैं, इसलिए (प्राचीन मान्यता से) इनको आर्यक्षेत्र की संज्ञा प्राप्त हुई है।

४. आर्यक्षेत्र में तीर्थकरमहिमा: संयमपालन सुकर जम्मण-निक्खमणेसु य, तित्थकराणं करेति महिमाओ। भवणवड्-वाणमंतर-जोइस-वेमाणिया देवा॥ उप्पण्णे णाणवरे, तम्मि अणंते पहीणकम्माणो। तो उवदिसंति धम्मं, जगजीवहियाय तित्थकरा॥ लोगच्छेस्यभूतं, ओवयणं निवयणं च देवाणं। संसयवाकरणाणि य, पुच्छंति तहिं जिणवरिदे॥ समणगुणविदुऽत्थ जणो, सुलभो उवधी सतंतमविरुद्धो। आरियविसयम्मि गुणा, पाण-चरण-गच्छवुड्डी य॥ एत्थ किर सणिण सावग, जाणंति अभिग्गहे सुविहियाणं।”
(बृभा ३२६६-३२७०)

आर्यक्षेत्र में तीर्थकरों के जन्म, अभिनिष्क्रमण और केवलज्ञान की प्राप्ति के समय भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव महिमा करने आते हैं।

मनुष्य लोक में देवों के विस्मयकारी गमनागमन को देखकर अनेक जीव संबुद्ध-प्रतिबुद्ध होते हैं। कैवल्य-उत्पत्ति के पश्चात् क्षीणकर्मा तीर्थकर प्राणी-जगत् के हित-संपादन के लिए उपदेश देते हैं।

भव्य प्राणी तीर्थकरों के सामने अपने संशयों को प्रस्तुत करते हैं। तीर्थकर अपने अतिशय से एक साथ सबके संशयों का उन्मूलन करते हैं।

आर्यक्षेत्र के लोग श्रमणों के हजारों गुणों को जानते हैं।

वहां उपधि आदि की प्राप्ति आगमविहित विधि के अनुसार सुलभ होती है। निर्विघ्नता के कारण ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि होती है। भव्यजनों की दीक्षा से गच्छ की वृद्धि होती है।

आर्यक्षेत्र में ही अविरतसम्यग्दृष्टि और व्रती श्रावक सुविहित साधुओं की आहार आदि संबंधी प्रतिज्ञाओं को जानते हैं और तदनुसार उनकी अपेक्षाओं को पूर्ण करते हैं।

५. अनार्यक्षेत्रगमन निषिद्ध

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूङ्ग-माणे अंतरा से विरूवरूवाणि पच्चंतिकाणि दस्सुमा-यतणाणि मिलक्खूणि अणारियाणि दुस्सन्नप्पाणि दुप्पण्णवाणिज्जाणि अकालपडिबोहीणि अकालपरि-भोईणि, सति लाढे विहाराए, संथरमाणेहिं जणवएहिं, णो विहार-वत्तियाए पवज्जेज्जा गमणाए ॥ (आचूला ३/८)

भिक्षु अथवा भिक्षुणी ग्रामानुग्राम परिव्रजन करें, उनके मार्ग में विविध देशों की सीमाओं पर विरूपरूप दस्युओं के आयतन हों, म्लेच्छों और अनार्यों के गांव हों, कठिनाई से साधु का आचार समझने वाले लोग हों, जिन्हें प्रतिबोध देना कठिन हो, असमय में जागने वाले और असमय में खाने वाले हों, तो विहार की प्रतिज्ञा से प्रासुकभोजी मुनि वहां जाने का संकल्प न करे, यदि विहार के योग्य लाढ देश (आर्यक्षेत्र) हो, संयम-निर्वाह योग्य अन्य जनपद विद्यमान हों।

जे भिक्खू विरूवरूवाइं दसुयाययणाइं अणारियाइं मिलक्खूइं पच्चंतियाइं सति लाढे विहाराए संथरमाणेसु जणवएसु विहारपडियाए अभिसंधारेति, अभिसंधारेतं वा सातिज्जति ॥...तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहार-दुणं उग्धातियं। (नि १६/२७, ५१)

सग-जवणादिविरूवा, छ्वीसद्धंतवासि पच्चंता।
कम्माणज्जमणारिय, दसणोहि दसंति तेण दसू॥
मिलक्खूऽव्वत्तभासी

(निभा ५७२७, ५७२८)

जो भिक्षु साधु-विहरण योग्य जनपद सुलभ होने पर भी विरूपरूप दस्यु, अनार्य, म्लेच्छ और प्रत्यंत संबंधी क्षेत्रों में विहार की प्रतिज्ञा से जाने का संकल्प करता है अथवा

संकल्प करने वाले दूसरे का अनुमोदन करता है, वह चतुर्लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

० विरूपरूप—विविध वेश, भाषा और दृष्टि वाले शक, यवन आदि।

० दस्यु—आरुष्ट होकर दांतों से काटने वाले।

० अनार्य—हिंसा आदि अकरणीय कर्म करने वाले।

० म्लेच्छ—अव्यक्त-अस्फुटभाषी।

० प्रत्यंत—मगध आदि साढे पचीस आर्यक्षेत्रों के सीमावर्ती प्रदेशों में रहने वाले अनार्य लोग।

० निषेध के हेतु : स्कन्दक दृष्टांत

आणादिणो य दोसा, विराहणा खंदएण दिट्ठतो ।
एतेण कारणेणं, पडुच्च कालं तु पण्णवणा ॥
दोच्चेण आगतो खंदएण वादे पराजितो कुतितो ।
खंदगदिक्खा पुच्छा, णिवारणाऽऽराध तव्वज्जा ॥
उजाणाऽऽयुध पूमण, णिवकहणं कोव जंतयं पुव्वं ।
बंध चिरिक्क णिदाणे, कंबलदाणे रयोहरणं ॥
अग्गिकुमारुववातो, चिंता देवीय चिण्ह रयहरणं ।
खिज्जण सपरिसदिक्खा, जिण साहर वात डाहो य ॥

(बृभा ३२७१-३२७४)

अनार्यदेश में जाने से आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं, आत्मविराधना और संयमविराधना होती है। यह प्ररूपण भगवान् महावीर के समय को दृष्टिगत रखकर किया गया है।

स्कन्दक का दृष्टांत—श्रावस्ती नगरी। जितशत्रु राजा। धारिणी रानी। युवराज पुत्र स्कन्दक। पुत्री पुरंदरयशा।

उत्तरापथ में कुम्भकारकट नगर के राजा दण्डकी के साथ पुरन्दरयशा का विवाह हुआ। एक बार दण्डकी का पुरोहित पालक दूत के रूप में श्रावस्ती में आया। राजपरिषद् में शास्त्रार्थ के प्रसंग में स्कन्दक द्वारा पराजित पालक रुष्ट होकर अपने देश चला गया।

स्कन्दक पांच सौ व्यक्तियों के साथ अर्हत् मुनिसुव्रत के पास प्रव्रजित हुआ। एक दिन स्कन्दक ने पूछा—भंते! क्या मैं इन पांच सौ साधुओं के साथ कुम्भकारकट नगर में चला जाऊँ? 'वहां उपसर्ग होगा'—यह कहते हुए भगवान् ने उसे रोका। उसने पुनः पूछा—हम आराधक होंगे या विराधक? भगवान् ने

कहा—'तुम्हारे अतिरिक्त शेष सब आराधक होंगे।' यह सुनकर स्कंदक चला, कुम्भकारकट के उद्यान में ठहरा।

उसे देखते ही पालक का पूर्व वैर जागा। उसने दण्डकी से कहा—यह मुनि आपके राज्य को हड़पने आया है। राजा को विश्वास नहीं हुआ, तब पालक ने उद्यान में स्वयं द्वारा छिपाये हुए आयुधों को दिखाया। क्रुद्ध राजा ने कहा—तुम जैसा चाहो, वैसा करो।

पालक ने पुरुषयंत्र बनाकर सब साधुओं को पीलना शुरू किया। स्कंदक ने कहा—यंत्र में पहले मुझे डालो। पालक ने स्कंदक की बात को अस्वीकार कर उसे बांध दिया। शिष्यों के रक्त से अभिषिक्त स्कंदक ने अशुभ परिणामों से निदान किया और भवनपतिदेवों में अग्नि कुमार के रूप में उत्पन्न हुआ। शिष्य सब सिद्ध हो गए।

भगिनी पुरन्दरयशा ने अपने भ्राता मुनि को रत्नकंबल दिया था, जिसका रजोहरण बनाया गया था। बाज पक्षी ने रक्तरंजित रजोहरण को मांस का टुकड़ा समझ कर उठा लिया और वह संयोगवश पुरन्दरयशा के सामने जा गिरा। उसे देखते ही वह आर्त्तस्वर में बोली—अरे! यह यहां कैसे? क्या मेरा भाई मारा गया? उसने राजा के सामने दुःख प्रकट किया।

अग्नि कुमार ने पूर्वकृत निदान के फलस्वरूप संवर्तक वायु की विकुर्वणा कर जनपद सहित नगर को जला दिया और पुत्र-पत्नी सहित पालक की कुत्ते के साथ कुंभी में पकाया तथा सपरिवार पुरंदरयशा को अर्हत् समवसरण में पहुंचा दिया।

० निषिद्ध क्षेत्रगमन के हेतु

पडिकुट्ट देस कारण गया उ तदुवरमि निति चरणट्ठा ।

असिवाई व भविस्सइ, भूए व वर्यति परदेसं ॥

(बृभा २८८१)

भगवान् महावीर ने सिन्धु आदि देशों में विहरण का निषेध किया है, क्योंकि वे देश संयम के प्रतिकूल हैं। यदि दुर्भिक्ष आदि कारणों के उत्पन्न होने पर मुनि निषिद्ध देशों में जाए तो कारण समाप्त होने पर पुनः संयम के अनुकूल देश में आ जाए अथवा निमित्तबल से यह जान ले कि यहां दुर्भिक्ष होने वाला है या हुआ है, तब मुनि प्रतिषिद्ध क्षेत्र में जा सकता है।

६. राजा सम्प्रति : अनार्यक्षेत्र आर्यक्षेत्र में परिवर्तित
सो रायाऽवतिवती, समणाणं सावतो सुविहिताणं ।
पच्चंतियरायाणो, सव्वे सहाविया तेणं ॥
कहिओ य तेसि धम्मो, वित्थरतो गाहिता य सम्मत्तं ।
अप्पाहिता य बहुसो, समणाणं भद्गा होह ॥
जति मं जाणह सामिं, समणाणं पणमहा सुविहियाणं ।
दव्वेण मे न कज्जं, एयं खु पियं कुणह मज्झं ॥
वीसज्जिया य तेणं, गमणं घोसावणं सरज्जेसु ।
साहूण सुहविहारा, जाता पच्चंतिया देसा ॥
समणभडभाविण्णुं, तेसू रज्जेसु एसणादीसु ।
साहू सुहं विहरिया, तेणं चिय भद्गा ते उ ॥
(बृभा ३२८३, ३२८४, ३२८६-३२८८)

अवन्ति का राजा सम्प्रति सुविहित साधुओं का उपासक था। उसने प्रत्यन्त (अनार्य) देश के राजाओं को बुलाया। उन्हें धर्म का स्वरूप बताया, सम्यक्त्व ग्रहण करवाई और बार-बार निर्देश दिया— 'आप अपने देश में भी साधुओं के साथ भद्र व्यवहार करें, उनकी भक्ति करें। यदि आप मुझे स्वामी मानते हैं तो सुविहित साधुओं को वन्दना करें—यह मुझे प्रिय है। करस्वरूप दिए जाने वाले द्रव्य से मुझे प्रयोजन नहीं है।'

राजा सम्प्रति ने राजाओं को शिक्षा देकर विदा किया। उन्होंने अपने-अपने राज्यों में जाकर अमारि की घोषणा की। अनार्य देश साधुओं के लिए सुखद विहारक्षेत्र बन गए।

सम्प्रति नृप ने अपने भटों को साधु-सामाचारी का प्रशिक्षण देकर उन्हें साधु वेश में अनार्य देशों में भेजा। उन श्रमण वेशधारी भटों ने एषणा के दोषों का परिहार करते हुए शुद्ध आहार को ग्रहण किया, जिससे अनार्यक्षेत्र श्रमण-विधियों से भावित हो गए और वे देश साधुओं के लिए सुखद विहारक्षेत्र बन गए।

आलोचना— गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन।

१. आलोचना के स्थान

* आलोचना : प्रायश्चित्त का एक भेद द्र प्रायश्चित्त

२. आलोचनीय क्या ?

३. आलोचना की इयत्ता

४. आलोचना के तीन प्रकार

५. विहार आलोचना के प्रकार

० उत्कृष्टकाल

० महाव्रत-गुप्ति-समिति-अतिचार-आलोचना

६. उपसंपदा और अपराध आलोचना

* उपसम्पन्न द्वारा आलोचना द्र उपसम्पदा

७. आलोचनाकाल में प्रशस्त-अप्रशस्त द्रव्य***

० चरती दिशा

८. आलोचनाई की अर्हताएं

० अपरिस्रावी : दृढमित्र दृष्टांत

९. आलोचनाई का व्यवहार : व्याध और गौ दृष्टांत

* व्यवहारी (आलोचनाई) की अर्हता द्र व्यवहार

१०. आलोचनाई : आगम-व्यवहारी एवं स्मारणा विधि

० आगमव्यवहारी : आलोचना श्रवण के पश्चात् प्रायश्चित्त

० श्रुतव्यवहारी : तीन बार आलोचनाश्रवण

११. आलोचना : गीतार्थ या अगीतार्थ के पास ?

१२. आलोचनाई का क्रम

१३. पार्श्वस्थ आदि के पास आलोचना

१४. सम्यक्त्वी देव के पास आलोचना

१५. साधु-साध्वी की आलोचना विधि : चतुष्कर्णा आदि परिषद्

१६. आलोचना काल में सहवर्ती मुनि की अर्हता

१७. साध्वी की प्राचीन आलोचनाविधि

१८. निषद्या, दिशा आदि

० निषद्या की अनिवार्यता : राजा-नापित दृष्टांत

१९. निषद्या विवेक : सिंहानुग आदि आलोचनाई

२०. आलोचना विधि के दोष

२१. आलोचक की अर्हता

० भद्र बालक की तरह आलोचना

२२. आचार्य के लिए भी आलोचना अनिवार्य

२३. अनशनकाल में आलोचना विधि

२४. शल्योद्धारण आवश्यक : अश्ववत् प्रस्थान

० व्याध दृष्टांत

२५. सशल्यमरण से अनन्त संसार

२६. आलोचना न हो, तब तक कर्मबंध

२७. किस आलोचना से शुद्धि

० मायापूर्ण आलोचना से प्रायश्चित्तवृद्धि

* आलोचना में आराधना की नियमा द्र आराधना

२८. आलोचना से निष्पन्न गुण

* पृथक् वसति : आलोचनाविधि द्र सामाचारी

१. आलोचना के स्थान

भिक्ष-वियार-विहारे, अन्नेसु य एवमादिकज्जेसु ।
अविगडियम्मि अविणओ, होज्ज असुद्धे व परिभोगो ॥
अन्नं च छाउमत्थो, तधन्हा वा हवेज्ज उवजोगो ।
आलोएंतो ऊहइ, सोउं च वियाणते सोता ॥
(व्यभा ५७, ५८)

वस्त्र, पात्र, भक्तपान, औषधि आदि ग्रहण कर वसति में आने पर, उच्चारभूमि, विहारभूमि आदि से आकर तथा इसी प्रकार के अन्यान्य कार्यों से निवृत्त होकर गुरु के पास आलोचना न करने वाला अविनय और अशुद्ध परिभोग—इन दो दोषों से दूषित होता है। छद्मस्थ साधु का उपयोग अयथार्थ या विपरीत भी हो सकता है। आचार्य आदि बहुश्रुतों के पास आलोचना करता हुआ मुनि ऊहापोह के द्वारा स्वयं ही शुद्ध-अशुद्ध को जान लेता है अथवा वहां आने-जाने वाले अन्य श्रोताओं से भी शुद्धाशुद्धि की बात सुनकर स्वयं शुद्धाशुद्धि का विवेक कर सकता है।

(प्रत्युपेक्षण, प्रमार्जन, वैवावृत्य, स्वाध्याय, तपश्चरण, आहार-विहार आदि अवश्यकरणीय क्रियाओं में जागरूक रहते हुए भी जो प्रमाद होता है, उनमें अतिचार लगता है तो उसकी शुद्धि आलोचना मात्र से हो जाती है।—तसू ९/२२ वृ विद्या और ध्यान के साधनों को ग्रहण करने आदि में विनय के बिना प्रवृत्ति करना दोष है, उसका प्रायश्चित्त है आलोचना।—तवा ९/२२)

२. आलोचनीय क्या ?

चेयणमचित्तदच्चे, जणवयमद्धाण होति खेत्तम्मि ।
दिण-निसि सुभिक्ष-दुभिक्षकाले भावम्मि हट्टित्ते ॥
(व्यभा ३१६)

आलोचना के चार पहलू हैं—

द्रव्य—सचित्त और अचित्त

क्षेत्र—जनपद आदि स्थान

काल—दिन-रात या सुभिक्ष-दुर्भिक्ष

भाव—स्वस्थ या ग्लान अवस्था

इनसे सम्बद्ध विहित आचार का अतिक्रमण होने पर आलोचना की जाती है।

३. आलोचना की इयत्ता

बित्ति ए नत्थि वियडणा, वा उ विवेगे तथा विउत्सग्गे ।
(व्यभा ५५)

प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त में आलोचना नहीं की जाती है। विवेकार्ह और व्युत्सगार्ह प्रायश्चित्त में आलोचना वैकल्पिक है—कभी की जाती है, कभी नहीं की जाती।

४. आलोचना के तीन प्रकार

.....आलोचना ति विहा ॥
विहारालोचना, उवसंपयालोचना, अवराहालोचना
य। (निभा ६३१० चू)

आलोचना के तीन प्रकार हैं—

१. विहार आलोचना—बल-वीर्य होने पर भी तप-उपधान आदि में उद्यम न करने की आलोचना।
२. उपसम्पदा आलोचना—उपसम्पदा हेतु उपस्थित मुनि द्वारा की जाने वाली आलोचना।
३. अपराध आलोचना—अतिक्रमण की विशुद्धि के लिए की जाने वाली आलोचना।

५. विहार आलोचना के प्रकार

तं पुण ओहविभागे, दरभुत्ते ओह जाव भिण्णो उ ।
तेण परेण विभाओ, संभमसत्थादिसुं भइत्तं ॥
ओहे एगदिवसिया, विभागतो एगऽणो गदिवसा तु ।
रत्तिं पि दिवसओ वा, विभागओ ओहओ दिवसे ॥
अप्या मूलगुणेसुं, विराहणा अप्यउत्तरगुणेसुं ।
अप्या पासत्थाइसु, दाणग्गह संपओगोहा ॥
(निभा ६३१४-६३१६)

विहार आलोचना के दो प्रकार हैं—ओघ और विभाग।

० ओघ विहार आलोचना—एक क्षेत्र में प्रवासी मुनि आहारकार्य

प्रारंभ कर चुके हों, उसी समय कोई अतिथि सांभोजिक वहां पहुंच जाये तो वह अतिथि मुनि ओघ (सामान्य रूप से संक्षेप में) आलोचना करे। पांच दिन यावत् भिन्न-मासपर्यंत प्रायश्चित्त-योग्य अपराध हो तो ओघ आलोचना कर एक मंडली में आहार करे।

मूल या उत्तर गुणों में अल्प अतिचार लगने के कारण अथवा भोजनकाल होने पर ओघ आलोचना की जाती है। यह एक दैवसिकी होती है—दिन में ही की जाती है। पार्श्वस्थ आदि के साथ आहार आदि का आदान-प्रदान-संप्रयोग करने पर ओघ आलोचना की जाती है।

० विभाग विहार आलोचना—भिन्न मास से अधिक प्रायश्चित्त योग्य अपराध हो तो एक मंडली में आहार न करे। पृथक् आहार कर विभाग (विस्तार से) आलोचना करे।

अग्निसंभ्रम आदि कारण हो या सार्थ के साथ विहार कर रहे हों, मार्ग में सार्थसन्निवेश में कोई मुनि आए, सार्थ जल्दी प्रस्थान करने वाला हो अथवा पात्र कम हों तो आगंतुक मुनि ओघ आलोचना कर एक साथ (भोजन-मंडली में) आहार करे, तत्पश्चात् विभाग आलोचना करे।

विभाग आलोचना दिन में या रात में कभी भी की जा सकती है। यह एक या अनेक दैवसिकी होती है क्योंकि इसमें अपराध की बहुलता होती है।

० उत्कृष्ट काल

पक्खिय चउ संवच्छर, उक्कोसं बारसण्ह वरिसाणं ।
समणुण्णा आयरिया, फड्ढुगपतिया य विगडेंति ॥
भिक्ष्वादिनिग्गाएसुं, रहिते विगडेंति फड्ढुगवईओ ।
सव्वसमक्खं केई, ते वीसरियं तु सारेंति ॥
(व्यभा २३४, २३९)

समनोज्ञ (जिनकी सामाचारी एक हो, वे) आचार्य परस्पर तथा स्पर्धकपति एवं अन्य सब साधु अपने मूल आचार्य के पास पाक्षिक आलोचना करें। दूरी आदि किसी कारणवश पाक्षिक आलोचना न हो सके तो चातुर्मासिक आलोचना अवश्य करें। वह भी न हो तो सांवत्सरिक और वह भी न हो तो उत्कृष्टतः बारह वर्ष हो जाने पर दूर से आकर भी आलोचना अवश्य कर लेनी चाहिए।

जब शिष्य और प्रतीच्छक सब भिक्षा के लिए या विचारभूमि में या अन्य प्रयोजन से बाहर गए हुए हों, तब अकेले आचार्य के पास स्पर्धकस्वामी आलोचना करते हैं। कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि स्पर्धकपति को अपने साथ आए हुए साधुओं के सामने आलोचना करनी चाहिए, जिससे जो कुछ विस्मृत हुआ हो, वे उसकी स्मृति दिला सकें।

० महाव्रत-गुप्ति-समिति-अतिचार आलोचना

मूलगुण पढमकाया, तत्थ वि पढमं तु पंथमादीसु ।
पाद अपमज्जणादी, बितिए उल्लादि पंथे वा ॥
ततिए पतिट्टियादी, अभिधारणवीयणादि वाउम्मि ।
बीयादिघट्ट पंचम, इंदिय अणुवायतो छट्टे ॥
दुब्भसिय हसितादी, बितिए ततिए अजाइउग्गहणं ।
घट्टणपुव्वरतादी, इंदिय-आलोय पेहुण्णे ॥
मुच्छातिरित्त पंचम, छट्टे लेवाड अगद-सुंठादी ।
गुत्ति-समिती विवक्खा, अणेसिगहणुत्तरगुणेसु ॥
संतम्मि वि बलविरिए, तवोवहाणम्मि जं न उज्जमियं ।
एस विहारवियडणा ॥
(व्यभा २४०-२४४)

आलोचना करते समय सबसे पहले प्रथम महाव्रत संबंधी आलोचना करनी चाहिए। इसका विषय है—छह जीवनिकाय। प्रथम पृथ्वीकाय संबंधी आलोचना हो। यथा—पृथ्वीकाय—मार्ग में चलते समय अस्थण्डिल से स्थण्डिल में, स्थण्डिल से अस्थण्डिल में, काली मिट्टी से नीली मिट्टी में, नीली मिट्टी से काली मिट्टी में संक्रमण करते हुए चैरों का प्रमार्जन न किया हो, सचित्त रजों से संसृष्ट हाथ या पात्रक से भिक्षा ग्रहण की हो—इस प्रकार पृथ्वीकाय विराधना की आलोचना करे।

अपकाय—उदक से आर्द्र या स्निग्ध हाथ आदि से भिक्षा ली हो, मार्ग में अयतना से जल को पार किया हो।

तेजस्काय—अग्नि पर प्रतिष्ठित या परस्पर प्रतिष्ठित भक्तपान ग्रहण किया हो, ज्योति वाली वसति में रहे हों इत्यादि।

वायुकाय—शरीर, भक्तपान आदि पर पंखे से हवा की हो, गर्मी से पीड़ित हो वायु के सम्मुख अभिसंधारण किया हो।

वनस्पतिकाय—बीज आदि का संघट्टन-ग्रहण किया हो।

त्रसकाय—इन्द्रियवृद्धि के क्रम से आलोचना करे। द्वीन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय प्राणी का संघट्टन-परितापन आदि किया हो।

दूसरे महाव्रत में दुर्भाषित अथवा हास्य, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा भय से मृषा कहा हो।

तीसरे महाव्रत में अयाचित का ग्रहण किया हो।

चौथे महाव्रत में स्त्री का संघट्टन, पूर्वक्रीडित का अनुस्मरण, स्त्रियों के अवयवों का अवलोकन किया हो।

पांचवें महाव्रत में उपकरणों में मूर्च्छा तथा अतिरिक्त उपधि का ग्रहण-उपभोग किया हो।

छठे व्रत में आहार के लेप से युक्त पात्र आदि, औषधि अथवा सौँठ आदि रात्री में रखे हों।

उत्तरगुण विषयक आलोचना—गुप्ति और समिति के विपरीत आचरण किया हो—कदाचित् अगुप्त रहा हो, कदाचित् असमित अवस्था में अनेषणीय भक्त-पान लिया हो—

बल और वीर्य—शारीरिक शक्ति और आंतरिक शक्ति होने पर भी तप-उपधान में उद्यम न किया हो, शक्ति का संगोपन किया हो तो आलोचना करे। यह विहार आलोचना है।

६. उपसम्पदा और अपराध आलोचना

आलोयण तह चेष य, मूलुत्तर नवरि विगडिते मं तु ।^१

एमेव य अवराहे ।^१

(व्यभा ३०२, ३०३)

उपसम्पदा आलोचना में भी विहार आलोचना की तरह पहले मूलगुणों के अतिचारों की, फिर उत्तरगुणों के अतिचारों की आलोचना की जाती है। आलोचना के पश्चात् उपसम्पद्यमान मुनि साधुओं को वंदना कर निवेदन करता है—आपने मुझे आलोचना दी, अब आप मेरी सारणा-वारणा करें। वे मुनि भी कहते हैं—आप भी हमारी सारणा-वारणा करना।

अपराध आलोचना के विषय में भी यही विधि प्रयोजनीय है।

एगमणेगा दिवसेसु, होति ओघे य पदविभागे य ।^१

दिव-रातो उवसंपय, अवराधे दिवसतो पसत्थम्मि ।^१

(व्यभा २४५, २४६)

उपसंपदालोचना और अपराधालोचना के दो-दो प्रकार हैं—ओघ और पदविभाग। ओघआलोचना एक दैवसिकी

और विभागआलोचना एक दैवसिकी तथा अनेक दैवसिकी होती है। उपसंपद्यमान ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार के होते हैं। अज्ञात की परीक्षा की जाती है। (परीक्षाविधि द्र उपसम्पदा)

उपसंपदालोचना प्रशस्त अथवा अप्रशस्त दिन या रात में दी जा सकती है। अपराधालोचना प्रशस्त दिन में ही दी जाती है।

७. आलोचनाकाल में प्रशस्त-अप्रशस्त द्रव्य...

दव्वादिकतुरभिग्गह, पसत्थमपसत्थए दुहेक्केक्के ।

अपसत्थे वज्जेउं, पसत्थएहिं तु आलोए ॥

भग्गघरे कुड्डेसु य, रासीसु य जे दुमा य अमणुण्णा ।

तत्थ न आलोएज्जा, तप्पडिवक्खे दिसा तिण्णि ॥

अमणुण्णधनरासी, अमणुण्णदुमा य होति दव्वम्मि ।

भग्गघर-रुह-ऊसर, पवाय दड्ढादि खेत्तम्मि ॥

निप्पत्त कंटइल्ले, विज्जुहते खार-कडुग-दड्ढे य ।

अय-तउय-तंब-सीसग, दव्वे धन्ना य अमणुण्णा ॥

पडिकुट्टेल्लगदिवसे, वज्जेज्जा अट्टमिं च नवमिं च ।

छट्ठिं च चउत्थिं च, बारसिं दोणहं पि पक्खाणं ॥

संझागतं रविगतं, विट्ठेरं संगहं विलंबिं च ।

राहुहतं गहभिन्नं, व वज्जए सत्तनक्खत्ते ॥

तप्पडिवक्खे खेत्ते, उच्छुवणे सालि-चेइयघरे वा ।

गंभीरसाणुणाए, पयाहिणावत्तउदए य ॥

उत्तदिणासेसकाले, उच्चट्टाणा गहा य भावम्मि ।

पुव्वदिसि उत्तरा वा, चरंतिया..... ॥

(व्यभा ३०५-३१०, ३१३, ३१४)

अपराधालोचना देते समय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चारों को देखकर तथा दिशा का अभिग्रहण कर आलोचना देनी चाहिए—इन पांचों के दो-दो प्रकार हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त द्रव्य आदि के सद्भाव में आलोचना करनी चाहिए, अप्रशस्त में नहीं।

० अप्रशस्त द्रव्य—अमनोज्ञ धान्यराशि—तिल, माष आदि।

अमनोज्ञ द्रुमराशि—पत्ररहित वृक्ष (करीर आदि), कंटीले

वृक्ष (बबूल आदि), विद्युत्तृह वृक्ष, क्षाररस (मोरड आदि),

कटुकरस (रोहिणी, कुटज, नीम आदि), दवदाध वृक्ष।

० अमनोज्ञ धातु—लोहा, जस्ता, तांबा, सीसा आदि।

- अप्रशस्त क्षेत्र—भग्नगृह, भित्ति के अवशेष, रुद्रगृह, ऊपर भूमि, प्रपात, दग्ध भूमि आदि।
- अप्रशस्त काल—शुक्ल और कृष्ण पक्ष की चतुर्थी, छठ, अष्टमी, नवमी और द्वादशी—ये तिथियां शुभ कार्यों में स्वभावतः वर्जनीय हैं। सन्ध्यागत आदि नक्षत्र अप्रशस्त हैं।
- अप्रशस्त भाव—नीच स्थान (सप्तम स्थान) गत ग्रह।
- अप्रशस्त सात नक्षत्र वर्जनीय हैं—संध्यागत, रविगत, विद्वारिक (विडुर), संग्रह, विलम्बी, राहुहत और ग्रहभिन्न।
- अप्रशस्त दिशा—याम्या आदि।
- प्रशस्त द्रव्य—धान्य राशि—शालि आदि।

धातु राशि—मणि, स्वर्ण, मौक्तिक आदि की राशि।

- प्रशस्त क्षेत्र—इक्षुवन, पत्र-पुष्प-फलोपेत उद्यान, शालिवन, चैत्यगृह, गंभीरस्थान (भग्नत्व आदि दोषों से रहित तथा जिसका मध्यभाग प्रायः अलक्षित—शेष जनों द्वारा अदृष्ट रहता है), सानुनाद स्थान (जहां शब्दोच्चारण करने पर प्रतिध्वनि उठती है), प्रदक्षिणावर्त जल (वह नदी या सरोवर, जिसमें जल का आवर्त—मोड़ दक्षिण की ओर हो), पद्मसरोवर।
- प्रशस्त काल—द्वितीया, तृतीया आदि प्रशस्त तिथियां (व्यतिपात आदि दोष वर्जित), प्रशस्त करण और मुहूर्त।
- प्रशस्त भाव—उच्च स्थानगत ग्रह।
- प्रशस्त दिशा—पूर्व दिशा, उत्तर दिशा और चरंती दिशा।
- चरंती दिशा

.....चरंतिथा जाव नवपुव्वी ॥

चरंती नाम यस्यां भगवानर्हन् विहरति सामान्यतः केवलज्ञानी मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञानी चतुर्दशपूर्वी त्रयोदशपूर्वी यावन्नवपूर्वी, यदि वा यो यस्मिन् युगे प्रधान आचार्यः स वा यया विहरति। (व्यभा ३१४ वृ)

चरन्ती दिशा वह है जिस दिशा में तीर्थंकर, केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, त्रयोदशपूर्वी यावत् नवपूर्वी अथवा युगप्रधान आचार्य विहरण करते हैं।

८. आलोचनार्ह की अर्हताएं

गीतत्था कयकरणा, पोढा परिणामिया य गंभीरा।

चिरदिक्खिया य वुड्ढा, जतीण आलोचना जोग्गा ॥

(व्यभा २३७८)

- आलोचनार्ह (आलोचना श्रवण योग्य) की अर्हता—
- गीतार्थ—सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ में निष्णात।
- कृतकरण—जो आलोचना में सहायक रह चुके हैं।
- प्रौढ—बिना हिचकिचाहट के प्रायश्चित्त देने में समर्थ।
- परिणामी—न अपरिणामक, न अतिपरिणामक।
- गंभीर—आलोचक के महान् दोषों को सुनकर भी जो अपरिस्वावी हैं (बात को पचाने में समर्थ हैं)।
- चिरदीक्षित—तीन वर्ष से अधिक दीक्षापर्याय वाले।
- वृद्ध—श्रुत, पर्याय और वय से स्थविर।

आलोचनारिहो खलु, निरावलावी उ जह उ दढमित्तो।
अडुहि चेव गुणेहिं, इमेहि जुत्तो उ नायव्वो ॥
आचारवं आधारवं, ववहारोव्वीलए पकुव्वी य।
निज्जवगऽवायदंसी, अपरिस्सावी य बोधव्वो ॥
(व्यभा ५१९, ५२०)

- आलोचनार्ह निश्चित रूप से दृढमित्र की भंति निर-पलापी होता है। वह आठ गुणों से युक्त होता है—
१. आचारवान्—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पांच आचारों से युक्त।
 २. आधारवान्—आलोचक द्वारा आलोचित या आलोच्यमान समस्त अतिचारों का अवधारण करने में समर्थ।
 ३. व्यवहारवान्—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत—इन पांच व्यवहारों का ज्ञाता तथा इनके आधार पर प्रायश्चित्त देने में कुशल।
 ४. अपव्रीडक—आलोचक लज्जामुक्त हो निःसंकोच अपने दोषों को बता सके, विचित्र मधुर वचनों से वैसा साहस उत्पन्न करने वाला।
 ५. प्रकुर्वी (प्रकारी)—सम्यक् प्रायश्चित्त देकर आलोचक की विशोधि करने वाला।
 ६. निर्यापक—आलोचक बड़े प्रायश्चित्त का भी निर्वहन कर सके, ऐसा सहयोग देने वाला।
 ७. अपायदर्शी—प्राप्त प्रायश्चित्त का सम्यक् वहन तथा सम्यक् आलोचना न करने से उत्पन्न दोषों को बताने वाला।
 ८. अपरिस्वावी—आलोचक के आलोचित दोषों को दूसरों के सामने प्रकट न करने वाला।

इन आठ स्थानों से सम्पन्न अनगार आलोचना श्रवण के योग्य होता है।

० अपरिस्रावी : दृढमित्र दृष्टांत

.....जध घोसण पुहविपालो ।
दंतपुरे कासी या, आहरणं तत्थ कायव्वं ॥
(व्यभा ५१७)

दंतपुर नगर में दंतवक्त्र राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम था सत्यवती। एक बार उसे दोहद उत्पन्न हुआ कि मैं सम्पूर्ण दंतमय प्रासाद में क्रीड़ा करूँ। उसने अपना दोहद राजा को बताया। राजा ने अमात्य को दंतमय प्रासाद बनवाने की आज्ञा दी और उसे शीघ्र ही संपन्न करने को कहा। अमात्य ने नगर में घोषणा कराई—जो कोई दूसरों के दांत खरीदेगा अथवा अपने घर में एकत्रित दांत नहीं देगा, उसे शूली की सजा भुगतनी होगी।

उस नगर में धनमित्र नाम का सार्थवाह रहता था। उसके दो पत्नियां थीं। एक का नाम था धनश्री और दूसरी का नाम था पद्मश्री। एक बार दोनों में कलह उत्पन्न हुआ, पद्मश्री ने धनश्री से कहा—तू क्या गर्व करती है? क्या तूने महारानी सत्यवती की भंति अपने लिए दंतमय प्रासाद बनवा लिया है? यह बात धनश्री को चुभ गई। उसने हठ पकड़ लिया कि यदि मेरे लिए दंतमय प्रासाद नहीं होता है तो मेरा जीवन व्यर्थ है। अब उसने अपने पति धनमित्र से आलाप-संलाप करना बंद कर दिया। धनमित्र ने अपने मित्र दृढमित्र से सारी बात कही। दृढमित्र बोला—मैं शीघ्र ही उसकी इच्छा पूरी कर दूंगा। तब दृढमित्र वनचरों से मिलने वन में गया। साथ में कुछ उपहार भी लिए। वनचरों ने पूछा—आपके लिए हम क्या लाएं? क्या भेंट करें? दृढमित्र बोला—मुझे दांत ला दो। वनचरों ने दांतों को अनेक घास के पूलों में छिपाकर उनसे एक शकट भर दिया। दृढमित्र तथा वनचर उस शकट को लेकर चले। नगरद्वार में प्रवेश करते ही एक बैल ने शकट से घास का पूला खींच लिया। उसमें छुपाए हुए दांत नीचे आ गिरे। 'यह चौर है'—ऐसा सोचकर राजपुरुषों ने वनचर को पकड़ लिया और पूछा—ये दांत किसके अधिकार में हैं? वनचर मौन रहा। इतने में ही

दृढमित्र वहां आकर बोला—ये दांत मेरे अधिकार में हैं। यह मेरा कर्मकर है। राजपुरुषों ने वनचर को छोड़ दिया और दृढमित्र को राजा के पास ले गए। राजा ने पूछा—ये दांत किसके हैं? दृढमित्र बोला—मेरे। इतने में ही 'दृढमित्र को राजपुरुषों ने पकड़ लिया है' यह सुनकर धनमित्र वहां आ पहुंचा। उसने राजा से कहा—ये दांत मेरे अधिकार में हैं। आप मुझे दंड दें, मेरे शरीर का निग्रह करें। दृढमित्र बोला—ये दांत मेरे हैं, मेरा निग्रह करें। इसे मुक्त कर दें। इस प्रकार वे दोनों अपने आपको दोषी ठहराने लगे। तब राजा ने कहा—तुम दोनों निरपराधी हो। मुझे यथार्थ बात बताओ। उन्होंने दांतों की पूरी बात बताई। राजा बहुत संतुष्ट हुआ और दोनों को मुक्त कर दिया।

१. आलोचनाई का व्यवहार : व्याध और गौ दृष्टांत
पलिउंचण चउभंगो, वाहे गोणी य पढमतो सुद्धो ।
तं चेव य मच्छरिते, सहसा पलिउंचमाणो उ ॥
खरंटणभीतो रुद्धो, सक्कारं देति ततियाए सेस ॥
अपलिउंचिय पलिउंचियम्मि य चउरो हवंति भंगा उ ॥
पढम-ततिएसु पूया, खिंसा इतरेसु पिसिय-पय ॥
(व्यभा ५८०-५८३)

प्रतिकुंचन (माया) की अपेक्षा से आलोचना के चार भंग बनते हैं—

- ० संकल्पकाल में ऋजुता, आलोचनाकाल में ऋजुता
 - ० संकल्पकाल में ऋजुता, आलोचनाकाल में माया
 - ० संकल्पकाल में माया, आलोचनाकाल में ऋजुता
 - ० संकल्पकाल में माया, आलोचनाकाल में माया
- इनमें प्रथम भंग शुद्ध है।

व्याध दृष्टांत—एक व्याध यह सोचकर चला कि मुझे सारा मांस स्वामी को देना है। घर पहुंचते ही स्वामी ने कहा—आओ, बैठो, स्वागत है, सुस्वागत है। व्याध ने तुष्ट होकर सारा मांस दे दिया।

दूसरा व्याध सारा मांस देने का निर्णय कर चला किंतु स्वामी की डांट-फटकार से रुष्ट हो उसने स्वामी को सारा मांस नहीं दिया।

इसी प्रकार एक आलोचक पूर्ण आलोचना के लिए

गुरु के पास आता है। गुरु कहते हैं—आयुष्मन्! तुम धन्य हो, कृतपुण्य हो, जो आलोचना के लिए उपस्थित हुए हो। प्रतिसेवना दुष्कर नहीं है, दुष्कर है आलोचना। यह सुनकर वह ऋजुता से पूर्ण आलोचना करता है। आचार्य उसे डांटते हैं तो वह पूर्ण आलोचना नहीं कर पाता है।

गौ दृष्टान्त—गृहस्वामी जंगल से लौटने वाली प्रस्रुता गाय को मधुरता से नामोल्लेखपूर्वक बुलाता है, पीठ थपथपाता है और उसके आगे चारा रख देता है तो वह सारे दूध का क्षरण करती है। इसके विपरीत पीटना आदि व्यवहार करने पर वह सारे दूध का क्षरण नहीं करती। यही बात आलोचना के संदर्भ में है।

इसी प्रकार जिस आलोचक को आलोचना करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है, उसके कृत्य की सराहना होती है तो वह ऋजुतापूर्वक आलोचना करता है और जिसको प्रारंभ से ही तिरस्कार मिलता है तो वह आलोचना-काल में माया का सहारा लेता है।

जो संकल्पकाल और आलोचनाकाल—दोनों में प्रति-कुंचन नहीं करता, समग्रता से आलोचना करता है, तत्त्वतः उसी के शोधि होती है।

१०. आलोचनार्हः : आगमव्यवहारी एवं स्मारणाविधि
आगमसुयववहारी, आगमतो छव्विहो उ ववहारी।
केवल मणोहि चोदस, दस णव पुव्वी य णायव्वा ॥
पम्हुट्टे पडिसारण, अप्पडिवज्जंतगं ण खलु सारे।
जति पडिवज्जति सारे, दुविहउतियारं वि पच्चवक्खी ॥
(निभा ६३९३, ६३९४)

आलोचनार्ह के दो प्रकार हैं—आगमव्यवहारी और श्रुतव्यवहारी। आगमव्यवहारी के छह प्रकार हैं—

१. केवलज्ञानी
२. मनःपर्यवज्ञानी
३. अवधिज्ञानी
४. चौदहपूर्वी
५. दसपूर्वी
६. नवपूर्वी

आगमव्यवहारी प्रत्यक्षज्ञानी तथा अप्रत्यक्षज्ञानी—दोनों प्रकार के होते हैं। आलोचना भी दो प्रकार की होती है—मूलगुणविषयक अतिचारों की आलोचना तथा उत्तरगुणविषयक अतिचारों की आलोचना। आलोचक यदि आलोचनीय तथ्य को भूल जाता है, तो आगमव्यवहारी उसे उसकी स्मृति करा देते

हैं। वे यदि यह जान जाते हैं कि आलोचक कहने पर भी स्वीकार नहीं करेगा तो उसे आलोचनीय की स्मृति नहीं कराते। यदि वे यह जान जाते हैं कि वह कहने पर स्वीकार कर लेगा तो उसे आलोचनीय की स्मृति करा देते हैं।

० आगमव्यवहारी : आलोचना श्रवण के पश्चात् प्रायश्चित्त
आगमववहारी छव्विहो वि आलोयणं निसामेत्ता।
देति ततो पच्छित्तं ॥
अवराहं वियाणंति, तस्स सोधिं च जहपि।
तधेवालोयणा वुत्ता, आलोएते बहू गुणा ॥
दव्वेहि षज्जवेहिं, कम-खेत्ते काल-भावपरिसुद्धं।
आलोयणं सुणेत्ता, तो ववहारं पउजंति ॥
पडिसेवणातियारे, जदि नाउट्टति जहक्कमं सव्वे।
न हु देंती पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स ॥
कधेहि सव्वं जो वुत्तो, जाणमाणो वि गूहति।
न तस्स देंति पच्छित्तं, बेत्ति अन्नत्थ सोधय ॥
न संभरति जो दोसे, सब्भावा न य मायया।
पच्चवक्खी साहते ते उ, माइणो उ न साधए ॥
जदि आगमो य आलोयणा य दो वि विसमं निवडियाइं।
न हु देंती पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स ॥

(व्यभा ४०५१, ४०५४, ४०५५, ४०६५-४०६८)

केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी और नौपूर्वी—ये षड्विध आगमव्यवहारी आलोचना सुनकर ही प्रायश्चित्त देते हैं।

यद्यपि आगमव्यवहारी आलोचक के अपराधों और उनकी शोधि को जानते हैं, फिर भी उसे उनके सामने आलोचना करनी चाहिए—यह अर्हत् का निर्देश है। आलोचना करने से अनेक गुण निष्पन्न होते हैं।

आगमव्यवहारी आलोचक की द्रव्य, पर्याय, क्रम, क्षेत्र, काल और भाव से विशुद्ध यथावस्थित आलोचना सुनते हैं, तत्पश्चात् उसके प्रति शोधिव्यवहार का प्रयोग करते हैं।

यदि प्रतिसेवक सब अतिचारों की यथाक्रम आलोचना नहीं करता है तो आगमव्यवहारी उसे प्रायश्चित्त नहीं देते। किसी भी दोष को छिपाओ मत—ऐसा कहने पर जो आलोचक जानता हुआ भी दोष को छिपाता है तो उसे प्रायश्चित्त नहीं देते, अन्यत्र जाकर शोधि करने की बात कहते हैं।

यदि आलोचक सहजता से अपने अपराध को भूल गया है, उसमें माया नहीं है तो प्रत्यक्षज्ञानी उसे याद दिला देते हैं। मायावी को उस दोष की स्मृति नहीं दिलाते।

यदि आगम और आलोचना में विषमता होती है—जिस रूप में उसने आलोचना की है, आगमज्ञानी ने उसके अतिचारों को वैसा नहीं देखा, न्यूनाधिक देखा है तो आगमव्यवहारी उसे प्रायश्चित्त नहीं देते।

० श्रुतव्यवहारी : तीन बार आलोचना श्रवण

कप्पपकप्पी तु सुते, आलोयावेंति ते उ तिवखुत्तो ।
सरिसत्थमपलिकुंची, विसरिसपरिणामतो कुंची ॥
आगारेहि सरेहि य, पुव्वावर-वाहताहि य गिराहि ।
नाउं कुंचियभावं, परोक्खनाणी ववहरति ॥
दशाकप्पव्यवहारदिसूत्रार्थधराः.....महाकल्पश्रुत-
महानिशीथनिर्युक्तिपीठिकाधराश्च.....श्रुतव्यवहारिणः
प्रोच्यन्ते । (व्यभा ३२०, ३२३ वृ)

जो दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार और निशीथसूत्र को अर्थसहित धारण करने वाले हैं तथा महाकल्पश्रुत-महानिशीथ-निर्युक्ति-पीठिकाधर हैं, वे श्रुतव्यवहारी कहलाते हैं।

कल्प-प्रकल्पधारी श्रुतव्यवहारी तीन बार आलोचना सुनते हैं और जान लेते हैं कि तीनों बार सदृश आलोचना करने वाला अमायावी है, विसदृश आलोचक मायावी है।

श्रुतव्यवहारी आलोचक के आकार (शरीरगत भाव विशेष), अस्पष्ट-क्षुब्ध स्वर और पूर्वापर विसंवादिनी वाणी के आधार पर उसकी माया को जान लेते हैं।

अमायावी आलोचक के सभी आकार संविग्न भावों को संदर्शित करते हैं। उसका स्वर स्पष्ट और अक्षुब्ध तथा वाणी पूर्वापरसंवादिनी होती है।

११. आलोचना : गीतार्थ या अगीतार्थ के पास

....आलोयणा उ नियमा, गीतमगीते य केसिंचि ॥
करणज्जेसु उ जोगेसु, छउमत्थस्स भिक्खुणो ।
आलोयणा व पच्छित्तं गुरूणां अंतिए सिया ॥
(व्यभा ५५, ५६)

आलोचना निश्चित रूप से गीतार्थ के पास करनी चाहिए। कुछ आचार्यों का अभिमत है कि गीतार्थ की अनुपस्थिति हो तो वह अगीतार्थ के पास भी की जा सकती है।

अवश्यकरणीय संयमयोगों में स्खलना होने पर छद्मस्थ भिक्षु को गुरु के पास आलोचना एवं प्रायश्चित्त करना चाहिए।

अवराहविहारपगासणा य दोण्णि व भवंति गीतत्थे ।
अवराहपयं मोत्तुं पगासणं होतऽगीतत्थे ॥
(व्यभा २१९८)

गीतार्थ के पास अपराध-आलोचना और विहार-आलोचना—दोनों प्रकार की आलोचना की जाती है।

अगीतार्थ के पास विहार-आलोचना की जा सकती है, अपराध-आलोचना नहीं।

१२. आलोचनाई का क्रम

भिक्खू य अण्णयरं अकिच्चट्टाणं सेविता इच्छेज्जा
आलोएत्ताए, जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवञ्जाए पासेज्जा,
तेसंतियं आलोएज्जा...नो चेव अप्पणो आयरिय-उवञ्जाए
पासेज्जा, जत्थेव संबोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं
बब्भागमं...अण्णसंबोइयं साहम्मियं बहुस्सुयं बब्भागमं...
सारूवियं बहुस्सुयं बब्भागमं...समणोवासगं पच्छाकडं
बहुस्सुयं बब्भागमं...सम्मंभावियाइं चेइयाइं पासेज्जा,
तेसंतिए आलोएज्जा...बहिया गामस्स वा नगरस्सवा
...याईणाभिमुहे वा उदीणाभिमुहे वा करयलपरिग्गहिचं
सिरसावत्तं मत्थाए अंजलिं कट्टु एवं वएज्जा—एवइया मे
अवराहा, एवइक्खुत्तो अहं अवरद्धो, अरहंताणं सिद्धाणं
अंतिए आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा
विउट्टेज्जा विसोहेज्जा, अकरणयाए अब्भुट्टेज्जा, अहारिहं
तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जासि । (व्य १/३३)

भिक्षु किसी अकृत्यस्थान का आचरण कर आलोचना करना चाहे, जहां भी अपने आचार्य-उपाध्याय को देखे, उनके पास आलोचना करे।

आचार्य-उपाध्याय दृष्टिगत न हों, तो बहुश्रुत गीतार्थ साम्भोजिक साधर्मिक के पास, उसके अभाव में क्रमशः बहुश्रुत-गीतार्थ अन्य सांभोजिक, सारूपिक और पश्चात्कृत श्रमणोपासक के पास आलोचना करे। उसके अभाव में सम्यक् भावित चैत्य देखे तो वहां आलोचना करे। उसके अभाव में गांव या नगर के बाहर पूर्व या उत्तर की ओर अभिमुख हो करबद्ध मस्तक पर अंजलि रखकर इस प्रकार बोले—

मैंने इतने अपराध किये हैं, इतनी बार अपराध किए हैं—
ऐसा उच्चारण कर अर्हत् और सिद्धों की साक्षी से आलोचना,
प्रतिक्रमण, निंदा, गद्दी, व्यावर्तन और विशोधन करे, पुनः उस
दोष का सेवन न करने के लिए अभ्युत्थित/ संकल्पित होकर
यथायोग्य तपःकर्म प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

**आयरिए आलोयण, पंचणहं असति गच्छवहिया जो ।
वोच्चवत्थे चउलहुगा, अगीयत्थे होंति चउगुरुगा ॥**
(व्यभा १६५)

प्रतिसेवना होने पर साधु को अपने गच्छ में आचार्य के
पास और उनके अभाव में क्रमशः उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर,
गणावच्छेदक के पास आलोचना करनी चाहिए।

अपने गच्छ में इन पाँचों के न होने पर अन्य सांभोजिक
गच्छ में जाकर आचार्य आदि के क्रम से आलोचना करनी
चाहिए। क्रम का उल्लंघन करने पर चतुर्लघु और अगीतार्थ के
पास आलोचना करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

१३. पार्श्वस्थ आदि के पास आलोचना

**असतीय लिंगकरणं, सामाइयइत्तरं च कितिकम्मं ।”
लिंगकरणं निसेज्जा कितिकम्ममणिच्छतो पणामो य ।
एमेव देवयाए नवरं सामाइयं मोत्तुं ॥**
(व्यभा ९७०, ९७१)

जिसके समक्ष आलोचना करनी है, उसका पहले
अभ्युत्थान-कृतिकर्म करना चाहिए। यदि पार्श्वस्थ, पश्चात्-
कृत आदि ऐसा न चाहें तो उनके लिए निषद्या-रचना कर और
उन्हें प्रणाम कर आलोचना करनी चाहिए।

पश्चात्कृत (उत्प्रव्रजित) को इत्वरिक सामायिक व्रत
और रजोहरण आदि लिंग देकर, उसकी निषद्या कर कृतिकर्म-
वन्दन करना चाहिए। कृतिकर्म की अनिच्छा प्रकट करने पर
वचन और काया से प्रणाममात्र कर आलोचना करनी चाहिए।

इसी प्रकार सम्यक्त्व भावित देवता के पास आलोचना
करे। व्रतार्ह नहीं होने से उसमें सामायिक का आरोपण नहीं
किया जाता और लिंग समर्पण भी नहीं किया जाता।

१४. सम्यक्त्वी देव के पास आलोचना

**कोरेंटगं जथा भावितट्टमं पुच्छिऊण वा अनं ।
असति अरिहंत-सिद्धे जाणंतो सुद्धो जा चेव ॥**

**सोधीकरणा दिट्ठा गुणसिलमादीसु जाहि साधूणं ।
तो देति विसोधीओ पच्चुप्पणणा व पुच्छंति ॥**
(व्यभा ९७५, ९७६)

भरुकच्छ के कोरेंटक उद्यान में अर्हत् सुव्रतस्वामी तथा
राजगृह नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशाभाग में स्थित गुणशिलक
नाम के चैत्य में भगवान् महावीर अनेक बार समवसृत हुए।
वहाँ अर्हत्तों तथा गणधरों ने अनेक बार अनेक साधुओं को
प्रायश्चित्त दिया, जिसे वहाँ स्थित देवता ने देखा-सुना। अतः
कोरेंटक, गुणशिलक आदि उद्यानों में जाकर तेले का अनुष्ठान
कर सम्यक्त्वभावित देवता का आह्वान कर उसके समक्ष
आलोचना की जाती है और वह देवता यथाहं प्रायश्चित्त देता
है। यदि पूर्व देव का च्यवन हो गया हो और उसके स्थान पर
दूसरा देव उत्पन्न हो गया हो तो उसको आह्वान करने पर वह
कहता है—

‘मैं महाविदेह में तीर्थकर को पूछकर आता हूँ।’ वह
आलोचक से अनुज्ञा लेकर, महाविदेह में जाकर, तीर्थकर
से पूछकर उसे प्रायश्चित्त देता है। उसके अभाव में पूर्व दिशा
की ओर अभिमुख होकर अर्हत् और सिद्ध की साक्षी से
आलोचना कर स्वयं ही प्रायश्चित्त ग्रहण करे। इस सूत्रोक्त
विधि से प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला शुद्ध ही है।

१५. साधु-साध्वी की आलोचना विधि: चतुष्कर्णा.....परिषद्
**आलोयणं पडंजइ, गारवपरिवज्जितो गुरुसगासे ।
एगंतमणावाए, एगो एगस्स निस्साए ॥
विस्सहम्मि दिसाभिग्गह, उक्कुडुतो पंजली निसेज्जा वा ।
एस सपक्खे परपक्खे मोत्तु छण्णं निसिज्जं च ॥
आलोयणं पडंजइ, गारवपरिवज्जिया उ गणिणीए ।
एगंतमणावाए, एगा एगाएँ निस्साए ॥
आलोयणं पडंजइ, एगंते बहुजणस्स संलोए ।
अब्बितियथेरगुरुणो, सब्बिइया भिक्खुणी निहुया ॥
नाण-दंसणसंपन्ना, पोढा वयस परिणया ।
इंगियागारसंपन्ना, भणिया तीसे बिइज्जिया ॥
आलोयणं पडंजइ, एगंते बहुजणस्स संलोए ।
सब्बितियतरुणगुरुणो, सब्बिइया भिक्खुणी निहुया ॥**
(वृभा ३९२-३९७)

साधु एकान्त निर्जन प्रदेश में आचार्य की निषद्या की स्थापना कर पूर्व या उत्तर दिशाभिमुख हो गुरु को वंदन कर उत्कुटुक आसन में बैठ बद्धांजलि हो आलोचना करता है। आलोचक साधु यदि रुग्ण हो अथवा आलोच्य विषय प्रलम्ब हो तो वह निषद्या की अनुज्ञा लेकर आलोचना करता है। यह स्वपक्ष की आलोचना विधि है।

परपक्ष अर्थात् साध्वी। उसकी आलोचना विधि इससे कुछ भिन्न है। साध्वी साधु के समक्ष निर्जन में नहीं किन्तु जहां लोग दिखाई देते हों, वैसे एकान्त स्थान में आलोचना करती है। वह आचार्य की निषद्या की स्थापना नहीं करती और स्वयं खड़ी-खड़ी आलोचना करती है।

चतुष्कर्णा परिषद्—एकान्त और अनापात (जहां लोगों का आवागमन न हो) स्थान में गौरव से रहित होकर अकेला साधु गुरु के समक्ष आलोचना करता है अथवा एकान्त और अनापात स्थान पर अकेली साध्वी प्रवर्तिनी के पास गौरव से रहित होकर आलोचना करती है, यह चतुष्कर्णा परिषद् है। (आचार्य अथवा प्रवर्तिनी के दो कान तथा आलोचना करने वाले मुनि या साध्वी के दो कान।)

षट्कर्णा परिषद्—एकान्त में किन्तु जहां बहुत लोग दिखाई दें, ऐसे स्थान में एक साध्वी अचपलता से जब दूसरी साध्वी के साथ स्थविर गुरु के पास आलोचना करती है तब वह षट्कर्णा परिषद् होती है।

ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न, उचित और अनुचित का विवेक देने में सक्षम, अवस्था से परिणत, इंगित और आकार से संपन्न—ये उस सहगामिनी अपर साध्वी की अर्हताएं हैं।

अष्टकर्णा परिषद्—एकान्त किन्तु जहां बहुत लोग दिखाई दें, ऐसे स्थान में एक साध्वी दूसरी साध्वी को साथ लेकर दूसरे साधु से युक्त तरुण गुरु के पास चपलता रहित होकर आलोचना करती है—यह अष्टकर्णा परिषद् है।

१६. आलोचनाकाल में सहवर्ती मुनि की अर्हता

नाणेण दंसणेण य, चरित्त-तव-विणय-आलयगुणेहिं ।

वयपरिणामेण य अभिगमेण इयरो हवइ जुत्तो ॥

(बृभा ३९८)

आलोचनाश्रवणकाल में आचार्य के पास रहने वाला मुनि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और विनय से संपन्न, आलयगुण—

प्रतिलेखना आदि क्रियाओं में जागरूक तथा उपशम गुण से संपन्न, अवस्था से परिणत और अभिगम—शास्त्र के सही अर्थ का ज्ञाता हो।

१७. साध्वी की प्राचीन आलोचनाविधि

तो जाव अज्जरविखय, सट्ठण पगासयंसु वतिणीओ
असती कडजोगी पुण, मोत्तूणं संकिताइं ठाणाइं ।
आइण्णे धुवकम्मिय, तरुणी थेरस्स दिट्ठिपधे ॥
सुण्णघर देउलुज्जाण-रण्ण पच्छण्णुवस्सयस्संतो ।
एय विवज्जे ठायंति, तिण्णिण चउरोऽहवा पंच ॥
थेरतरुणेसु भंगा, चउरो सव्वत्थ परिहरे दिट्ठिं ।
दोण्हं पुण तरुणाणं, थेरे थेरी च पच्चुरसं ॥
थेरे पुण असहायो, निग्गंथी थेरिया वि ससहाया ।
सरिसवयं च विवज्जे, असती पंचम पडुं कुज्जा ॥
(व्यभा २३६७, २३६९-२३७२)

आर्यरक्षित के समय में भी यदि साध्वी को मूलगुण संबंधी अपराध की ओलाचना करनी होती तो वह साध्वी के पास ही करती थी। गीतार्थ साध्वी के न होने पर कृतयोगी (छेदश्रुतधर) स्थविर के पास आलोचना की जाती थी।

साध्वी द्वारा आलोचना उचित स्थान में की जाती है। शून्यगृह, देवकुल, उद्यान, अरण्य, प्रच्छन्न स्थान, उपाश्रय का मध्यभाग—इन शंकास्थानों का वर्जन किया जाता है।

जहां ध्रुवकर्मिक दिखाई देता हो किन्तु आलोचना सुनता न हो, वहां यवनिकान्तरित आलोचना की जाती है।

यवनिका का अवकाश न हो तो सर्वत्र दृष्टिक्षेप का परिहार किया जाता है—आलोचिका साध्वी की दृष्टि भूमि पर टिकी रहती है।

स्थविरा साध्वी स्थविर या तरुण साधु के पास आलोचना करे तो उसके साथ एक साध्वी अवश्य रहे।

साध्वी और साधु—दोनों तरुण हों तो उनके पास एक स्थविर और एक स्थविरा रहे। सदृश वय वाले सहायक का नियमतः वर्जन किया जाए। यदि ऐसा संभव न हो तो आलोचिका व आलोचनार्ह के सदृश वय वाले दो सहायक तथा एक पटु क्षुल्लक या क्षुल्लिका भी पास में रहे।

इस प्रकार आलोचना काल में तीन अथवा चार अथवा

पांच व्यक्ति भी हो सकते हैं। पांच विकल्प—

१. स्थविरा स्थविर के पास — तीन
२. स्थविरा तरुण के पास — तीन
३. तरुणी स्थविर के पास — तीन
४. तरुणी तरुण के पास — चार
५. सदृश वय में — पांच

(प्राचीनकाल में साध्वी को छेदसूत्र की वाचना दी जाती थी और अपेक्षा होने पर साधु भी साध्वी के पास आलोचना करते थे।—द्र छेदसूत्र)

१८. निषद्या-दिशा आदि

निसेञ्जऽसति पडिहारिय, कितिकम्मकाउपंजलुवकुडुओ।
बहुपडिसेवऽरिसासु य, अणुण्णावेउ निसेञ्जगतो ॥
ईसिं ओणा उद्धट्टिया उ आलोयणा विवक्खम्मि।
सरिपक्खे उक्कुडुओ, पंजलिविट्ठो वणुण्णातो ॥
(व्यभा ३१५, २३७३)

आलोचना करने वाला अपने नवीन कल्पों (कंबल आदि) से और अपने पास कल्प न हो तो अन्य से प्रातिहारिक कल्प ग्रहण कर आचार्य की निषद्या करता है।

(निषीदन दिशा—यदि आचार्य पूर्वाभिमुख हैं तो वह गुरु के दाहिनी ओर उत्तराभिमुख बैठता है और यदि आचार्य उत्तराभिमुख बैठे हैं तो वह वामपार्श्व में पूर्वाभिमुख बैठता है अथवा चरन्ती दिशाभिमुख बैठता है।)

तत्पश्चात् वह कृतिकर्म कर बद्धांजलि हो सामान्यतः उत्कुटुकासन में आलोचना करता है। बहुप्रतिसेवना के कारण आलोचना में लम्बा समय लगे, उतने समय तक वह इस आसन में न बैठ सके या अर्श आदि रोग हो तो गुरु से अनुज्ञा प्राप्त कर यथेच्छ आसन में स्थित हो आलोचना करता है।

विपक्ष में—साध्वी साधु के पास कुछ झुकी हुई खड़ी-खड़ी आलोचना करती है। साधु साधु के पास उत्कुटुकासन में बैठ बद्धांजलि हो आलोचना करता है।

० निषद्या की अनिवार्यता : राजा-नापित दृष्टान्त

.....अथवा वि सभावेणं, निमंसुगे..... ॥

भवतु यो वा स वा नियमेन तस्य निषद्यां कृत्वा
आलोचकेनालोचयितव्यम्। (व्यभा ५८६ वृ)

शिष्य ने पूछा—यदि कोई आलोचनाई आचार्य आदि

स्वभाव से ही निषद्या पर बैठना न चाहे, तो उसके लिए निषद्या करनी चाहिए या नहीं? गुरु ने कहा—कोई चाहे, न चाहे, निषद्या अवश्य करनी चाहिये।

एक राजा के सिर में बाल नहीं थे, दाढ़ी-मूँछ भी नहीं थी। इसलिए वहाँ नियुक्त नापित राजा के पास नहीं आता था। राजा ने उसे निष्कासित कर दूसरा नापित नियुक्त किया, जो हर सातवें दिन उपस्थित हो जाता था। उसे पुरस्कृत किया गया।

इसी प्रकार निषद्या किए बिना आलोचना करने वाला आलोचक दण्डित और निषद्या करने वाला प्रशंसित होता है।

१९. निषद्या विवेक : सिंहानुग आदि आलोचनाई
आयरिए कह सोधी, सीहाणुग वसभ कोल्हुगाणूए।
आलोचका अपि त्रिविधास्तद्यथा—आचार्या वृषभा
भिक्षवश्च। एकैके त्रिविधकल्पाः—सिंहानुगाः वृषभानुगाः
क्रोष्टुकानुगाश्च। नवरं क्रोष्टुकानुगे विशेषः। स यदा निषद्यायां
पादप्रोञ्छने वा उत्कुटुको वा आलोचयति, तत्र यद्यत्कुटुकः
स आलोचयति, ततः शुद्धिः। (व्यभा ५८६ वृ)

आलोचनाई के तीन प्रकार हैं—

१. सिंहानुग—जो महान् (अनेक कल्पों-कम्बलों वाली) निषद्या पर स्थित हो वाचना देता है।
२. वृषभानुग—जो एक कल्प वाली निषद्या पर स्थित हो वाचना देता है अथवा बैठता है।
३. क्रोष्टुकानुग—जो रजोहरणनिषद्या या औपग्रहिक पादप्रोञ्छन पर स्थित हो वाचना देता है अथवा बैठता है।

आलोचक के तीन प्रकार हैं—आचार्य, वृषभ और भिक्षु। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं—सिंहानुग, वृषभानुग और क्रोष्टुकानुग।

सिंहानुग आचार्य के समक्ष आलोचक आचार्य यदि सिंहानुग हो आलोचना करता है तो वह अशुद्ध है, प्रायश्चित्त का भागी है। वृषभानुगत्व या क्रोष्टुकानुगत्व उसके लिए शुद्ध है। इसी प्रकार क्रोष्टुकानुग गीतार्थ भिक्षु के समक्ष आलोचक आचार्य उत्कुटुकासन में आलोचना करता है, तो वह शुद्ध है। आलोचनाई ऊपर और आलोचक नीचे बैठे—यह आलोचना की सामाचारी या मर्यादा है। आलोचनाई की अनुज्ञा से किसी भी आसन में बैठा जा सकता है।

२०. आलोचना विधि के दोष

आकंपयित्ता अणुमाणयित्ता, जं दिट्ठं बादरं च सुहमं वा ।
छण्णं सहाउलगं बहुजण अब्वत्त तस्सेवी ॥

(व्यभा ५२३)

आलोचना विधि के दस दोष हैं—

१. आकम्प्य—आलोचनाई का वैयावृत्य करके उनका अनुग्रह प्राप्त कर आलोचना करना ।
२. अनुमान्य—‘ये आचार्य मृदु दंड देंगे’—ऐसा सोचकर उनके पास आलोचना करना । (अथवा मैं दुर्बल हूँ, अतः मुझे कम प्रायश्चित्त दें, ऐसा अनुनय कर आलोचना करना ।)
३. यद्दृष्ट—उसी दोष की आलोचना करना, जो आचार्य या अन्य किसी के द्वारा दृष्ट या ज्ञात है ।
४. बादर—केवल स्थूल दोषों की आलोचना करना ।
५. सूक्ष्म—केवल सूक्ष्म दोषों का प्रकाशन करना ।
६. छन्न—प्रच्छन्न रूप से अथवा मंद शब्दों में आलोचना करना, जिससे आचार्य स्पष्ट रूप में न सुन सकें ।
७. शब्दाकुल—जोर-जोर से बोलकर आलोचना करना, जिससे अगीतार्थ मुनि भी सुन ले ।
८. बहुजन—एक के पास आलोचना कर फिर दूसरे के पास भी आलोचना करना ।
९. अव्यक्त—अगीतार्थ के पास आलोचना करना ।
१०. तस्सेवी—उस आचार्य के पास आलोचना करना, जो स्वयं दोष का सेवन कर चुका है या सेवन करता है, जिससे अल्प प्रायश्चित्त मिले ।

२१. आलोचक की अर्हता

आलोएंतो एत्तो, दसहि गुणोहिं तु होति उववेतो ।
जाति-कुल-विणय-नाणे, दंसण-चरणोहि संपण्णो ॥
खंते दंते अमायी य, अपच्छतावी य होति बोधव्वे ।

जातिसम्पन्नः प्रायोऽकृत्यं न करोति । अथ कथ-
मपि कृतं तर्हि सम्यगालोचयति । कुलसम्पन्नः प्रतिपन्न-
प्रायश्चित्तनिर्वाहक उपजायते । विनयसम्पन्नो निषद्या-
दानादिकं विनयं सर्वं करोति, सम्यगालोचयति । ज्ञान-
सम्पन्नः श्रुतानुसारेण सम्यगालोचयति । दर्शनसम्पन्नः
प्रायश्चित्तात् शुद्धिं श्रद्धन्ते, चरणसम्पन्नः पुनरतिचारं

प्रायो न करोति, अनालोचिते चारित्रं मे न शुद्ध्यतीति
सम्यगालोचयति, क्षान्तो गुर्वादिभिः खरपरुषमपि भणितः
सम्यग् प्रतिपद्यते, यदपि च प्रायश्चित्तमारोपितं तत्सम्यग्
वहति । दान्तः प्रायश्चित्ततपः सम्यक्करोति । अमायी
सोऽप्रतिकुञ्चितमालोचयति । अपश्चात्तापी नाम यः
पश्चात्परितापं न करोति । किन्त्वेवं मन्यते—कृतपुण्योऽहं
यत्प्रायश्चित्तं प्रतिपन्नवान् । (व्यभा ५२१, ५२२ वृ)

दस स्थानों से सम्पन्न अनगार आलोचना करने के
योग्य होता है—

- | | |
|-----------------|-------------------|
| १. जातिसम्पन्न | ६. चारित्रसम्पन्न |
| २. कुलसम्पन्न | ७. क्षान्त |
| ३. विनयसम्पन्न | ८. दान्त |
| ४. ज्ञानसम्पन्न | ९. अमायावी |
| ५. दर्शनसम्पन्न | १०. अपश्चात्तापी |

शिष्य ने पूछा—आलोचक में इतने गुणों की अन्वेषणा
क्यों ? आचार्य कहते हैं—

- जातिसम्पन्न मुनि प्रायः अकृत्य नहीं करता । यदि अकृत्य
हो जाए तो सम्यग् आलोचना कर लेता है ।
- कुलसम्पन्न प्राप्त प्रायश्चित्त का सम्यग् निर्वाह करता है ।
- विनयसंपन्न सभी विनय प्रतिपत्तियों का निर्वाह करता है ।
- ज्ञानसम्पन्न मुनि श्रुत के अनुसार सम्यग् आलोचना करता
है । वह जान लेता है कि अमुक श्रुत के आधार पर मुझे
प्रायश्चित्त दिया गया है, अतः मेरी शुद्धि हो गई है ।
- दर्शनसंपन्न प्रायश्चित्त से शुद्धि में विश्वास करता है ।
- चारित्रसंपन्न मुनि पुनः अतिचार सेवन नहीं करता । वह
चारित्र की स्वल्पनाओं की सम्यक् आलोचना करता है ।
- क्षान्त मुनि गुरु के खर-परुष संभाषण को भी सम्यग्
स्वीकार करता है । उनके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त का सम्यग्
निर्वहन करता है ।
- दान्त मुनि प्रायश्चित्त-तप का सम्यक् वहन करता है ।
- अमायी बिना कुछ छिपाए आलोचना स्वीकार करता है ।
- अपश्चात्तापी मुनि आलोचना कर पश्चात्ताप नहीं करता,
किन्तु मानता है कि मैं पुण्यशाली हूँ, जो प्रायश्चित्त स्वीकार
कर विशुद्ध हो गया हूँ ।

० भद्र बालक की तरह आलोचना

जह् बालो जंपतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणति ।
तं तह् आलोएज्जा, माया-मदविप्पमुक्को उ ॥
उप्पन्ना उप्पन्ना, मायामणुमग्गतो निहंतव्वा ।
आलोयण-निंदण-गरहणादि न पुणो य बित्थियं ति ॥
(व्यभा ४२९९, ४३००)

जैसे एक भद्र बालक अपने अच्छे-बुरे कार्य को ऋजुता से बता देता है, वैसे ही आलोचक माया और अहंकार से विमुक्त होकर गुरु के सामने आलोचना करे ।

‘अब मैं पुनः दूसरी बार अतिचार का सेवन नहीं करूंगा’—इस प्रतिपत्ति के साथ वह बार-बार कृत माया—स्खलना को याद करके उसको आलोचना, निन्दा और गर्हा के द्वारा क्षीण करे ।

२२. आचार्य के लिए भी आलोचना अनिवार्य

आयरियपादमूलं, गंतूणं सति परक्कमे ताधे ।
सव्वेण अत्तसोधी, कायव्वा एस उवदेसो ॥
जह् सुकुसलो वि वेज्जो, अन्नस्स कधेति अप्पणो वाहिं ।
वेज्जस्स य सो सोउं, तो षडिकम्मं समारभते ॥
जाणंतेण वि एवं, पायच्छित्तविहिमप्पणो निउणं ।
तह् वि य पागडतरयं, आलोएयव्वयं होति ॥
छत्तीसगुणसमन्नागतेण, तेण वि अवस्स कायव्वा ।
परपक्खिग्गा विसोधी, सुट्ठु वि ववहारकुसलेणं ॥
(व्यभा ४२९५-४२९८)

जो अनशन करना चाहते हैं, उन्हें शक्ति होने पर आचार्यचरणों में पहुंचकर आत्मविशोधि करनी चाहिए—यह अर्हतों का उपदेश है ।

जैसे चिकित्सापारगामी वैद्य भी अपनी व्याधि को अपर वैद्य को बताता है । पारगामी वैद्य की व्याधि-वार्ता सुनकर अपर वैद्य उसकी चिकित्सा प्रारंभ करता है, वैसे ही निपुण प्रायश्चित्त विधिवेत्ता को भी अन्य आचार्य के पास प्रकट रूप में आलोचना करनी चाहिए ।

जो आचार्य के छत्तीस गुणों से सम्पन्न हैं, आगम आदि पांच व्यवहार प्रयोगों में कुशल हैं, उन्हें भी अवश्य ही अन्य आचार्य के पास विशोधि करनी चाहिए ।

२३. अनशनकाल में आलोचना विधि

पव्वज्जादी आलोयणा उ तिण्हं चउक्कग विसोधी ।
जह् अप्पणो तह् परे, कातव्वा उत्तमट्ठम्मि ॥
नाणनिमित्तं आसेवियं तु, वितहं परूवियं वावि ।
चेतणमचेतणं वा, दव्वं सेसेसु इमगं तु ॥
नाणनिमित्तं अद्धानमेति ओमे य अच्छति तदट्ठु ।
नाणं च आगमेस्सं, ति कुणति परिकम्मणं देहे ॥
पडिसेवति विगतीओ, मेज्झं दव्वं व एसती पिबती ।
वायंतस्स व किरिया, कता तु पणागादिहाणीए ॥
एमेव दंसणम्मि वि, सहहणा णवरि तत्थ णाणत्तं ।
एसण इत्थी दोसे, वतं ति चरणे सिया सेवा ॥
(व्यभा ४३०२-४३०६)

मुनि को अनशन स्वीकार करते समय प्रव्रज्या ग्रहण से लेकर अनशन धारण तक ज्ञान-दर्शन-चारित्र संबंधी अतिचारों की आलोचना करनी चाहिए । जो स्वयं को ज्ञात है—जिस रूप में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव संबंधी अतिचार का आसेवन किया है, उसका गोपन न करते हुए उसी रूप में गुरु के समक्ष निवेदन करना चाहिए ।

ज्ञान-अतिचार-आलोचना—इसके चार प्रकार हैं—

द्रव्य से—ज्ञान के निमित्त उद्गम आदि दोषों से दूषित द्रव्य का आसेवन किया हो, सचित्त को अचित्त तथा अचित्त को सचित्त निरूपित कर तत्त्वों की विपरीत प्ररूपणा की हो तो आलोचना करे ।

क्षेत्र और काल से—ज्ञान के निमित्त अन्यत्र जाते समय मार्ग में सचित्त, अकल्पिक के ग्रहण-आसेवन में यतना-अयतना की आलोचना करना क्षेत्रतः आलोचना है । दुर्भिक्ष के समय एक स्थान पर रहते हुए अयतना अथवा अकल्पिक प्रतिसेवना की आलोचना करना कालतः आलोचना है ।

भाव से—ज्ञानोपलब्धि के लिए देहपरिकर्म किया हो । जैसे—व्याख्याप्रज्ञप्ति अथवा महाकल्पश्रुत जैसे आकर ग्रंथों के योगवहन के लिए घृतपान किया हो, प्रणीत आहार किया हो, निरंतर विकृति (विगय) सेवन किया हो, मेधावर्धक (मेधा उपकारक) द्रव्यों की एषणा की हो, उनका सेवन किया हो—इन सब क्रियाओं में हुई अयतना की आलोचना करे ।

वाचना लेते समय वाचनाचार्य की पंचक परिहानि से क्रिया की हो, शुद्ध आहार आदि न मिलने पर अशुद्ध लाकर दिया हो तो आलोचना करे।

दर्शन-चारित्र के अतिचारों की आलोचना—ज्ञान की भांति दर्शन—श्रद्धा में भी दर्शन के निमित्त किसी अतिचार का सेवन किया हो, चारित्र में एषणा संबंधी, सदोष शय्यासंबंधी तथा स्त्रीसंबंधी किसी दोष का सेवन किया हो तो उसकी आलोचना करे।

० पञ्चकपरिहानि और आलोचना

पञ्चकपरिहानियतना नाम स शुद्धालाभे पञ्चक-प्रायश्चित्तस्थानप्रतिसेवनाद् उत्पादयति। तदसंभवे दशक-प्रायश्चित्तस्थानप्रतिसेवनाद् एवं तावत् यावद् चतुर्गुणक-मसम्प्राप्तः। (व्यभा १५७५ की वृ)

पंचकपरिहानि यतना से तात्पर्य है—किसी कारणवश शुद्ध आहार-पानी, औषध आदि का लाभ न मिलने पर पांच दिनों जितने प्रायश्चित्त स्थान का सेवन कर उनका उत्पादन किया हो। वैसे भी संभव न होने पर दस दिनों का यावत् चार गुरुमास जितने प्रायश्चित्त स्थान का सेवन करके उनका उत्पादन किया हो, उसकी आलोचना करे।

२४. शल्योद्धरण आवश्यक : अश्ववत् प्रस्थान

तं ण खमं खु पमादो, मुहुत्तमवि अच्छित्तुं ससल्लेणं।
आयरिषपादमूले, गंतूणं उद्धरे सल्लं॥
अहयं च सावराही, आसो इव पत्थिओ गुरुसगासं।
सिग्घुज्जुगती आसो, अणुवत्तति सारहिं ण अत्ताणं।
इय संजममणुवत्तति, वइयाइ अवकिओ साहू॥
(निभा ६३०९-६३११)

साधक के लिए सशल्य रहना, अतिचारशल्य को निकालने में प्रमाद करना मुहूर्त्तभर के लिए भी क्षम्य नहीं है। उसे आचार्यचरणों में पहुँचकर शीघ्र शल्योद्धरण करना चाहिए।

मुनि अपने आप को अपराधी जानकर दोष-विशोधन हेतु गुरु के पास जाने के लिए अश्ववत् प्रस्थान करता है।

आकीर्ण (विनीत) अश्व अपने सारथि के अभिप्राय का अनुवर्तन करता हुआ शीघ्र या मंद गति से ऋजु चलता है, स्वेच्छा से चारा-पानी भी ग्रहण नहीं करता। इसी प्रकार साधु संयम का अनुवर्तन करता हुआ सीधे पथ से गुरु के पास जाता है, ब्रजिका आदि स्थानों में प्रतिबद्ध नहीं होता।

० व्याध-दृष्टांत

कंटगमादिपविट्टे, नोद्धरति सयं न भोइए कहति।
कमढीभूत वणगते, आगलणं खोभिता मरणं॥
बित्तिओ सयमुद्धरती, अणुद्धिए भोइयाय णीहरति।
परिमहण दंतमलादि पूरण धाडण पलातो व्व॥
(व्यभा ६६२, ६६३)

एक व्याध नंगे पैर वन में गया। उसके पैर कांटों आदि से विद्ध हो गये। उसने न स्वयं उन कांटों को निकाला, न अपनी भार्या से निकलवाया। वह एक बार फिर वन में गया। एक हाथी ने उसका पीछा किया। व्याध दौड़ने लगा किन्तु पूर्वप्रविष्ट कांटे और अधिक गहरे मांस तक चले गये। उसकी गति श्लथ और कछुए की तरह मंद हो गई। वह छिन्नमूल वृक्ष की भांति गिर पड़ा, मूर्च्छित हो गया, हाथी ने उसे रोंदकर मार डाला।

दूसरा व्याध भी नंगे पैर वन में गया, कांटे चुभे। स्वयं ने कांटे निकाले, शेष अनुद्धत कांटों को अपनी पत्नी से निकलवाया। पैर के विद्ध स्थानों का अंगुष्ठ आदि से परिमर्दन किया, दंतमल, कर्णमल (किट्टी) से विद्ध छिद्रों को भरा। स्वस्थ होकर वन में गया। हाथी ने उसे देखा, वह भागकर सुरक्षित घर लौट आया।

अतिचार रूपी शल्यों की उपेक्षा करने वाले आचार्य और शिष्य दुःखों को प्राप्त होते हैं और आलोचना-प्रायश्चित्त के द्वारा शल्योद्धरण करने वाले सुखों के आभागी होते हैं।

२५. सशल्यमरण से अनंत संसार

मरिउं ससल्लमरणं, संसाराडविमहाकडिल्लम्मि।
सुचिरं भमंति जीवा, अणोरपारम्मि ओतिण्णा॥
(व्यभा १०२२)

जो जीव इस अत्यंत गहन संसार अटवी में शल्ययुक्त (आलोचना किये बिना ही) मृत्यु को प्राप्त करते हैं, वे महागहन संसार रूपी अटवी में अवतीर्ण होकर अनंत काल तक भवभ्रमण करते हैं।

२६. आलोचना न हो, तब तक कर्मबंध

तं तेण छूढं तहिगं च पत्ता, तेणा.....।
आसत्तणामडडित्त आउ मंसा, णजिण्णाणादेस ण जवित्ठे॥
(बृभा ३६०६)

किसी मुनि का भोजन से भरा पात्र कोई चुराकर ले जाते हैं तो उस मुनि के होने वाले कर्मबंध के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं—

- जब तक चोरों के सातवें कुल तक अनुवर्तन होता है।
- जब तक उनका नाम-गोत्र रहता है।
- जब तक उनकी अस्थियां रहती हैं।
- उसके आयुष्यकाल तक।
- जब तक उस आहार के भक्षण से मांसोपचय होता है।
- जब तक वह भुक्त भोजन पच नहीं जाता।

आचार्य कहते हैं—ये सब अनादेश हैं। सैद्धान्तिक मत यह है कि जिस मुनि का पात्र चुराया गया है, जब तक वह मुनि उसकी आलोचना और प्रतिक्रमण नहीं कर लेता, तब तक उसके कर्मबंध होता रहता है।

२७. किस आलोचना से शुद्धि

आलोचयन्ति य पुणो, जा एसाऽकुंचिया उभयतो वि ।
सच्चैव होति सोही..... ॥
(व्यभा ५८५)

जो आलोचना उभयतः—संकल्पकाल और आलोचना-काल में मायारहित होती है, उसी से वास्तविक शुद्धि होती है।

○ मायापूर्ण आलोचना से प्रायश्चित्तवृद्धि

जे भिक्खू दोमासियं परिहारद्वाणं पडिसेवित्ता
आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासियं,
पलिउंचियं आलोएमाणस्स तेमासियं ॥ (व्य १/२)

जो भिक्षु द्वैमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना कर ऋजुता से आलोचना करता है, उसे द्वैमासिक प्रायश्चित्त और यदि वह मायापूर्वक आलोचना करता है तो उसे त्रैमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, माया का एक मास अधिक प्राप्त होता है।

२८. आलोचना से निघ्न गुण

लहुयल्हादीजणणं, अप्पपरनियत्ति अज्जवं सोही ।
दुक्करकरणं विणओ, निस्सत्तत्तं व सोधिगुणा ॥
(व्यभा ३१७)

आलोचना (शोध) से आठ गुण प्रकट होते हैं—

- लाघव—भारहीन की भांति हल्कापन।
 - आह्लाद की उत्पत्ति—अतिचारजन्य ताप का शमन।
 - आत्म-पर-निवृत्ति—स्वयं की और उसे देख दूसरों की भी दोषों से निवृत्ति।
 - आर्जव—अपने दोषों के प्रकटीकरण से ऋजुता का विकास।
 - शोधि—मलिन चारित्र की प्रायश्चित्त-जल द्वारा निर्मलता।
 - दुष्करकरण—प्रबल मुमुक्षा एवं वीर्योल्लास से ही आलोचना संभव है। प्रतिसेवना दुष्कर नहीं है। दुष्कर है आलोचना।
 - विनय—चारित्रविनय का सम्यक् सम्पादन।
 - निःशल्यता—माया आदि शल्यों का उद्धरण।
 - * आलोचना की परिभाषा आदि द्र श्रीआको १ आलोचना
- आशातना**—सम्यक्त्व, ज्ञान आदि की उपलब्धि में बाधा डालने वाली अथवा न्यूनता उत्पन्न करने वाली अवज्ञापूर्ण प्रवृत्ति।

१. आशातना के प्रकार : द्रव्य, क्षेत्र आदि
२. आशातना से सम्यक्त्व आदि का नाश
३. गुरु की आशातना से ज्ञान आदि की आराधना नहीं
 - आशातना कब नहीं ?
४. आसायणा के प्रकार
 - मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना
 - लाभ आसादना : इष्ट-अनिष्ट द्रव्य आदि

१. आशातना के प्रकार : द्रव्य, क्षेत्र आदि

दव्वे खेत्ते काले, भावे आसायणा मुणेयव्वा ।...
दव्वे आहारादिसु, खेत्ते गमणादिएसु णायव्वा ।
कालम्मि विवच्चासे, मिच्छं पडिवज्जणा भावे ॥
काले उ सुयमाणे, अपडिसुणेंतस्स होति आसयणा ।
मिच्छादिफरुसभावे, अंतरभासा य कहणा य ॥
जंजगारणगारत्ते, सुतं तु सहसंमुतं य जं किं चि ।
तं गुरु अण्णहकहणे, पेवमिदं मिच्छपडिवत्ती ॥
(निभा २६४१-२६४३, २६४९)

आशातना के चार प्रकार हैं—

१. द्रव्य आशातना—आहार, वस्त्र आदि का उपभोग करना।
२. क्षेत्र आशातना—गुरु के आगे-पीछे या पार्श्व में सटकर चलना, बैठना या खड़े रहना।

३. काल आशातना—काल विपर्यास करना—रात्रि या विकाल में गुरु के द्वारा बुलाये जाने पर सुनकर भी अनसुना कर देना।

४. भाव आशातना—मिथ्याप्रतिपत्ति—गुरु की बात को स्वीकार नहीं करना, परुष बोलना, बीच में बोलना आदि।

आचार्य द्वारा परिषद् में किसी गलत तत्त्व की प्ररूपणा सुनकर शिष्य वहां कुछ न बोले, किन्तु एकांत में वह सही तत्त्व गुरु को बता दे, जो उसने गृहस्थ या मुनिअवस्था में किसी दूसरे से सुना हो अथवा स्वयं ऊहापोहपूर्वक जाना हो। ऐसा करने वाला शिष्य आशातना से बच जाता है।

२. आशातना से सम्यक्त्व आदि का नाश

गुरुवच्चइया आसायणा तु धम्मस्स मूलछेदो तु।...

गुरुविणयकरणे कम्मक्खए जो आतो तं सादेति।

अहवा गुरुपच्चत्तितो णाणादिया आयो, तं अविणयदोसेण सादेति न लभतीत्यर्थः। विणओ धम्मस्स मूलं, सो य अविणयजुतो तस्स छेदं करेति। अहवा धम्मस्स मूलं सम्मत्तं, गुरुआसादणाए तस्स छेदं करेति। (निभा २६४४ चू)

० गुरु का विनय करने से कर्मक्षय होते हैं। विनय से होने वाले लाभ का जो विनाश करती है, वह आशातना है।

० ज्ञान आदि की प्राप्ति में गुरु हेतुभूत होते हैं। गुरु का अविनय करने से उनकी प्राप्ति नहीं होती। विनय धर्म का मूल है। अविनय करने वाला धर्मवृक्ष का उच्छेद करता है।

० अथवा धर्म का मूल है सम्यक्त्व। गुरु की आशातना सम्यक्त्व को विच्छिन्न करती है।

३. गुरु की आशातना से ज्ञान आदि की आराधना नहीं

...सो खलु भारियकम्मो, न गणेति गुरुं गुरुद्वाने ॥

दंसण-नाण-चरित्तं, तवो य विणओ य होति गुरुमूले।

विणओ गुरुमूले त्ति य, गुरुणं आसायणा तम्हा ॥

सो गुस्मासायंतो, दंसणणाणचरणेसु सयमेव।

सीयति कतो आराहणा, से तो ताणि वज्जेज्जा ॥

(दशानि २१, २२, २४)

जो शिष्य गुरु को गुरुस्थानीय नहीं मानता, वह भारीकर्मा होता है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय—ये गुरुमूलक होते हैं। विनय गुरुमूलक होता है, इसलिए जो गुरु की आशातना

करता है, वह इन गुणों की आशातना करता है।

जो गुरु की आशातना करता है, वह स्वयमेव दर्शन, ज्ञान और चारित्र में विषण्ण होता है। वह उन्हें प्राप्त ही नहीं कर पाता है तो उनकी आराधना कैसे कर सकता है? इसलिए आशातनाओं का वर्जन करना चाहिए।

० आशातना कब नहीं ?

जाइं भणियाइं सुत्ते, ताइं तो कुणइ कारणज्जाए।

सो न हु भारियकम्मो, गणेती गुरुं गुरुद्वाने ॥

कारणे पुण पंथमयाणमाणस्स अचक्खुगस्स वा पुरतो गच्छेज्जा, पडंतस्स विसमे रत्तिं वा जुवलितो गच्छेज्ज, गिलाणस्स वा साणाइभए वा मगतो आसन्ने गच्छिज्जा। (दशानि २३ चू)

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की तीसरी दशा में जो आशातनाएं वर्णित हैं, उनको जो शिष्य प्रयोजनवश करता है तथा गुरु को गुरु-स्थान पर मानता है, वह भारीकर्मा नहीं होता।

अपेक्षा या प्रयोजन होने पर (आचार्य या रत्नाधिक मुनि से) आगे चलना आशातना नहीं है। जैसे—जो गुरु आदि मार्ग से अनजान हो या प्रज्ञाचक्षु हो, उसके आगे चलना चाहिए। विषम स्थान में गिरने का भय हो या रात्रि का समय हो, तब साथ-साथ चले। कोई ग्लान हो या श्वान आदि का भय हो तो पीछे या पास-पास चले।

* तृतीय आशातना

द्र श्रीआको १ आशातना

४. आसायणा के प्रकार

आसायणा उ दुविहा, मिच्छापडिवज्जणा य लाभे य।...

(दशानि १५)

'आसायणा' (आशातना और आसादना) के दो प्रकार हैं—मिथ्याप्रतिपत्ति तथा लाभ।

० मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना

मिच्छापडिवत्तीए, जे भावा जत्थ होति सब्भूता।

तेसिं तु वितहपडिवज्जणाए आसायणा तम्हा ॥

(दशानि १९)

मिथ्याप्रतिपत्ति अर्थात् सम्यक् स्वीकार न करना। जो अर्थ जैसे सदभूत होते हैं, उनको अयथार्थरूप में स्वीकार करना आशातना है।

० लाभ आसादना : इष्ट-अनिष्ट द्रव्य आदि
लाभे छक्कं तं पुण, इद्दुमणिदुं दुहेक्केक्कं॥
 साधू तेणे ओगह, कंतार-वियाल-विसम सुहवाही।
 जे लद्धा ते ताणं, भणंति आसादणा तु जगे॥
 द्वं माणुम्माणं, हीणहियं जम्मि खेत्त जं कालं।
 एमेव छव्विहम्मी, भावे.....॥
 (दशानि १५-१७)

लाभ आसादना के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—इष्ट और अनिष्ट।

चोरों द्वारा साधुओं की चुराई हुई उपधि का पुनः लाभ होना अनिष्ट द्रव्य आसादना है। एषणा शुद्धि से उपधि की प्राप्ति इष्ट द्रव्य आसादना है। इसी प्रकार क्षेत्र, कान्तार, ग्रामानुग्राम विहरण, विषममार्ग, दुर्भिक्ष आदि में अप्राप्त द्रव्य-ग्रहण अनिष्ट द्रव्य आसादना तथा सुभिक्ष में शुद्ध आहार आदि की प्राप्ति इष्ट द्रव्य आसादना है। ग्लान आदि के लिए अनेषणीय की प्राप्ति अनिष्ट द्रव्य आसादना तथा एषणीय की प्राप्ति इष्ट द्रव्य आसादना है। इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति के आधार पर यहां आसादना कही गयी है।

मान-उन्मान-प्रमाण युक्त द्रव्य की प्राप्ति इष्ट द्रव्य-आसादना है तथा हीन-अधिक की प्राप्ति अनिष्ट द्रव्य आसादना है। जिस क्षेत्र और काल में इष्ट-अनिष्ट द्रव्य दिया जाता है अथवा उसका वर्णन किया जाता है, वह इष्ट-अनिष्ट क्षेत्र और काल की आसादना है। अथवा प्रवास के योग्य-अयोग्य क्षेत्र की प्राप्ति क्षेत्र आसादना और सुभिक्ष-दुर्भिक्ष काल की प्राप्ति काल आसादना है। भाव आसादना के छह प्रकार हैं—औद्यिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिकभाव।

* भावों का स्वरूप द्र श्रीआको १ भाव
 आहार—भूख-प्यास को शांत करने वाले, शरीर को पोषण देने वाले पदार्थ।

१. आहार-अनाहार

२. आहार द्रव्य : शीत-उष्ण परिणामी

३. द्रव्य परिणामन के प्रकार

४. पुलाक आहार के प्रकार

५. कवल-परिमाण एवं ऊनोदरी तप

६. प्रकाम-निकामभोजी कौन ?

७. आहार का अनुपात और उदर-विभाग

८. अति आहार से हानि : कटाह दृष्टांत

९. चींटी..... मिश्रित भोजन : मेधा आदि की हानि

१०. विरुद्ध द्रव्यों का मेल अहितकर

११. विकृति-वर्जन से स्वाध्याय में सुविधा

* योगवहन में विकृति वर्जन

द्र स्वाध्याय

* आहार संबंधी अभिग्रह

द्र भिक्षाचर्या

* मुनि की आहारग्रहण विधि

द्र पिण्डैषणा

१२. परिभोगैषणा-विवेक : आर्य मंगु-समुद्र दृष्टांत

० आहार-विधि

* प्रणीत भोजन : कल्याण आहार

द्र ब्रह्मचर्य

* स्निग्ध आहार से आयु की वृद्धि

द्र चिकित्सा

* अवस्था, आहार और बल

द्र वीर्य

१३. पशु का प्रिय भोजन

१. आहार-अनाहार

....आहारो एगंगिओ, चउव्विहो जं वऽतीइ तहिं॥

कूरो नासेइ छुहं, एगंगी तक्क-उदग-मज्जाई।

खाइमे फल-मंसाई, साइमे महु-फाणियाईणि॥

जं पुण खुहापसमणे, असमत्थेगंगि होइ लोणाई।

तं पि य होताऽऽहारो, आहारजुयं व विजुतं वा॥

उदए कप्पूराई, फलि सुताईणि सिंगबेर गुले।

न य ताणि खविंति खुहं, उवगारित्ता उ आहारो॥

अहवा जं भुक्खत्तो, कद्दमउवमाइ पक्खिखइ कोट्टे।

सव्वो सो आहारो, ओसहमाई पुणो भइतो॥

(बृथा ५९९८-६००२)

जो एकांगी—अकेला क्षुधा को शांत करता है, वह आहार है। वह चार प्रकार का है—अशन, पान, खादिम और स्वादिम। चावल आदि खाद्य एकांगिक भूख मिटा देते हैं। पानक में तक्र, पानी आदि भूख-प्यास को मिटा देते हैं। खादिम में फल, मांस गूदा आदि तथा स्वादिम में मधु, फाणित आदि आहार का कार्य करते हैं, अतः ये आहार हैं।

यद्यपि आहार से संयुक्त या वियुक्त लवण, हींग आदि

पदार्थ क्षुधा को सर्वथा नहीं मिटा सकते, फिर भी वे आहार में गिने जाते हैं। इसी प्रकार पानी में कपूर आदि, फली में राई आदि, सूट में गुड़ आदि संयुक्त होते हैं। यद्यपि ये अकेले भूख नहीं मिटाते, परन्तु भोजन के उपकारी होने के कारण ये भी आहार में माने जाते हैं।

अथवा क्षुधार्त व्यक्ति मिट्टी आदि को पेट में डालता है, वह भी आहार ही है। औषधि आहार भी होती है और अनाहार भी। शर्करा आहार है। सर्पदंश में खिलाई जाने वाली मृत्तिका आदि औषधि अनाहार है।

(मांस शब्द की अर्थमीमांसा—आयुर्वेदीय ग्रंथों में छाल के लिए त्वचा और गूदे के लिए मांस शब्द का प्रयोग किया जाता है। अष्टांग संग्रह (८/१६८) में भिलावे के गूदे के लिए मांस शब्द का प्रयोग किया गया है—

भल्लातकस्य त्वग् मांसं, बृहणं स्वादु शीतलम् ॥

आयुर्वेदीय ग्रंथों में गूदे के लिए मांस शब्द का प्रयोग अपवादस्वरूप नहीं है। यह एक वनस्पतिशास्त्रीय सामान्य प्रयोग है।

कैयदेव निघण्टु (श्लोक २५५, २५६ औषधिवर्ग) में भी गूदे के लिए मांस शब्द का प्रयोग मिलता है—

उष्णवात-कफ-श्वास-कास-तृष्णा-वमिप्रणुत ।
तस्य त्वक् कटु तिक्तोष्णा, गुर्वी स्निग्धा च दुर्जरा ॥
कृमिश्लेष्मानिलहरः मांसं स्वादु हिमं गुरु ।
बृहणं श्लेष्मलं स्निग्धं पित्तमारुतनाशनम् ॥

वनस्पतिशास्त्र में मांसल फल का मतीरे के अर्थ में प्रयोग हुआ है—मांसलफलः कालिन्दी ।

अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनका प्रयोग प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र—दोनों में समान रूप से हुआ है।... कुक्कुट मांस का अर्थ चोपतिया शाक है ।

—जैनभारती, नवंबर २००१, आचार्य श्री महाप्रज्ञ के 'मांसा-हार : एक विवेचना' लेख से उद्धृत)

सक्कर-घृत-गुलमीसा, अगंठिमा खज्जुरा व तम्मीसा ।
सत्तू पिण्णागो वा, घृत गुलमिस्सो खरेणं वा ॥
थोवा वि हणंति खुहं, न य तण्ह करंति एते खज्जंता ।...
(बृभा ३०९३, ३०९४)

शर्करा और घी अथवा गुड़ और घी से मिश्रित कदली फल अथवा गुड़ और घी से मिश्रित खज्जूर या सक्त् अथवा घी-गुड़ मिश्रित पिण्याक, घी के अभाव में खरतेल से मिश्रित पिण्याक—इनको थोड़ी मात्रा में खाने पर भी भूख मिट जाती है और प्यास नहीं सताती ।

२. आहार द्रव्य : शीत-उष्ण-परिणामी

द्वं तु उण्हसीतं, सीउण्हं चेव दो वि उण्हाइं ।
दुण्णि वि सीताइं, चाउलोद तह चंदण घते थ ॥
आयाम अंबकंजिय, जति उसिणाणुसिण तो विवागे वी ।
उसिणोदग-पेज्जाती, उसिणा वि तण्णुं गता सीता ॥
सुत्ताइ अंबकंजिय-घणोदसी तेल्ल-लोण-गुलमादी ।
सीता वि होंति उसिणा, दुहतो चुण्हा व ते होंति ॥
(बृभा ५९०२-५९०४)

द्रव्य के चार प्रकार हैं—१. उष्ण शीत—शीत परिणाम वाले उष्ण द्रव्य । उष्णोदक, पेया आदि द्रव्य उष्ण होने पर भी शरीरगत होने पर शीत हो जाते हैं ।

२. शीत उष्ण—मदिराखोल, अम्लकांजी, अम्ल घनविकृति, अम्लतक्र, तेल, लवण, गुड़ आदि द्रव्य शीत होने पर भी परिणामतः उष्ण होते हैं ।

३. उष्ण उष्ण—अम्लकांजी आदि द्रव्य यदि उष्ण हैं तो वे परिणाम में भी उष्ण ही होते हैं ।

४. शीत शीत—चावल, चन्दन, घृत आदि शीत द्रव्य शीत-परिणामी हैं ।

३. द्रव्य परिणामन के प्रकार

परिणामो खलु दुविहो, कायगतो बाहिरो य दव्वाणं ।
सीओसिणत्तणं पि य, आगंतु तदुब्भवं तेसिं ॥
साभाविया व परिणामिया व सीतादतो तु दव्वाणं ।
असरिससमागमेण उ, णियमा परिणामतो तेसिं ॥
सीया वि होंति उसिणा, उसिणा वि य सीयगं पुणरुवेत्ति ।
दव्वंतरसंजोगं, कालसभावं च आसज्ज ॥

(बृभा ५९०५-५९०७)

द्रव्य-परिणाम के दो प्रकार हैं—१. कायगत—शरीर द्वारा गृहीत द्रव्यों का शीत या उष्ण परिणाम ।

२. बाह्य—शरीर द्वारा अगृहीत द्रव्यों का परिणाम।

शीतोष्णता के आधार पर स्वाभाविक या पारिणामिक परिणामन के दो प्रकार हैं—

१. आगंतुक—असदृश वस्तु के मिलने से जिसका पर्याय परिवर्तित हो जाता है। जैसे पानी शीत होता है लेकिन अग्नि या सूर्य के ताप से वह उष्णता को प्राप्त हो जाता है।

द्रव्यांतर के संयोग से—जैसे अग्नि, जल आदि। काल से—जैसे ग्रीष्म, हेमन्त आदि। इनके निमित्त से उष्ण द्रव्य शीतता को और शीत द्रव्य उष्णता को प्राप्त हो जाते हैं।

२. तदुद्भव—जिस द्रव्य के शीत आदि परिणाम स्वाभाविक होते हैं। यथा—हिम स्वभाव से शीत होता है। तापोदक स्वभाव से ही उष्ण होता है।

४. पुलाक आहार के प्रकार

तिविहं होइ पुलागं, धण्णे गंधे च रसपुलाए य।
निष्पावाइं धन्ना, गंधे वाइग-पलंडु-लसुणाईं।
खीरं तु रसपुलाओ, चिंचिणि-दक्खारसाईया ॥
(बृभा ६०४८, ६०४९)

पुलाक के तीन प्रकार हैं—

१. धान्य पुलाक—वत्स, चने आदि।
२. गंध पुलाक—मद्य, प्याज, लहसुन आदि।
३. रस पुलाक—क्षीर, अम्लिका रस, द्राक्षा रस आदि।

(धान्यपुलाक सेवन से वायुप्रकोप, गंधपुलाक से उन्मत्तता तथा शरीर से वायुनिस्सरण, रसपुलाक से अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते हैं। यहां पुलाक का अर्थ है असार।)

५. कवल-परिमाण एवं ऊनोदरी तप

अट्ट कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे समणे निग्गंथे अप्पाहारे। बारस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे समणे निग्गंथे अवड्ढेमोयरिए। सोलस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे समणे निग्गंथे दुभागपत्ते। चउवीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे समणे निग्गंथे ओमोयरिए। एगतीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे समणे निग्गंथे किंचूणेमोयरिए। बत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारे-

माणे समणे निग्गंथे पमाणपत्ते। एत्तो एणेण वि घासेणं ऊणगं आहारं आहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामभोइ ति वत्तव्वं सिया ॥
(व्य ८/१७)

निययाहारस्स सया, बत्तीसइमो उ जो भवे भागे।
तं कुक्कुडिप्पमाणं, नातव्वं बुद्धिमंतेहिं ॥
कुच्छियकुडी तु कुक्कुडि, सरीरगं अंडगं मुहं तीए।
जायति देहस्स जतो, पुव्वं वयणं ततो सेसं ॥
थलकुक्कुडिप्पमाणं, जं वाणायासिते मुहे खिवति।
अयमन्नो तु विगप्पो, कुक्कुडिअंडोवमे कवले ॥
(व्यभा ३६८२-३६८४)

मुर्गी के अण्डे जितने (अपने मुखप्रमाण) आठ कवल खाने वाला श्रमण निर्ग्रथ अल्पाहारी, वारह कवल आहार करने वाला अपार्थअवमौदर्य, सोलह ग्रास खाने वाला अर्धअवमौदर्य, चौबीस ग्रास खाने वाला अवमौदर्य तथा इकतीस ग्रास खाने वाला किंचित् ऊनअवमौदर्य होता है। बत्तीस कवल आहार करने वाला श्रमण निर्ग्रथ प्रमाणप्राप्त आहारी होता है। इससे एक भी ग्रास न्यून खाने वाला प्रकामभोजी नहीं कहलाता।

कुक्कुटीअण्डकप्रमाण—जिसका जितना आहार है, उतने आहार का बत्तीसवां भाग कुक्कुटी अण्डक का प्रमाण जानना चाहिए। अथवा कुक्कुटी का अर्थ है शरीर और अण्डक का अर्थ है मुख। चित्र बनाते समय या गर्भोत्पत्तिकाल में सर्वप्रथम शरीर का मुख भाग निष्पन्न होता है, इसलिए मुख को अण्डक कहा गया है।

कवलप्रक्षेप के लिए मुख खोलने पर उसमें जो आकाश होता है, वह स्थल कहलाता है। जितने प्रमाण का कवल मुख में रखने पर मुख विकृत नहीं होता, वह स्थल कुक्कुटी-अण्डकप्रमाण है—यह कुक्कुटी अण्डकोपम कवल का वैकल्पिक अर्थ है।

६. प्रकाम-निकामभोजी कौन ?

छम्मासखवणंतम्मि, सित्थादण्हातु लंबणं।
तत्तो लंबणवड्डीए, जावेक्कतीस संथरे ॥
एक्कमेक्कं तु हावेत्ता, दिणं पुव्वेक्कमेव उ।
दिणे दिणे उ सित्थादी, जावेक्कतीस संथरे ॥

पगामं होति बत्तीसा, निकामं जं तु निच्चसो।
दुप्पविजहया तेसु, गेही भवति वज्जिया ॥
(व्यभा ३६८६-३६८८)

स्वाध्याय आदि योगों की हानि न हो तो मुनि छहमासिक तप के पारणे में एक सिक्थ (धान्यकण जितना) खाये। एक सिक्थ खाकर न रह सके तो दो, तीन सिक्थ यावत् एक ग्रास, दो ग्रास यावत् इकतीस ग्रास खाये।

छहमासिक तप न कर सके तो एक-एक दिन की हानि करते हुए उपवास करे। पारणे में अपेक्षानुसार सिक्थ-कवल की वृद्धि करे। उपवास भी न कर सके तो नित्यभोजी मुनि एक-एक सिक्थ-कवल की वृद्धि करते हुए इकतीस कवल खाए।

बत्तीस ग्रास खाने वाला प्रकामभोजी और नित्यप्रति बत्तीस ग्रास खाने वाला निकामभोजी कहलाता है। जो प्रकामभोजी और निकामभोजी नहीं होता—बत्तीस कवल में से एक कवल भी कम खाता है, उसकी आहार के प्रति आसक्ति टूट जाती है।

७. आहार का अनुपात और उदर-विभाग

अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भाए।
वायापवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणयं कुज्जा ॥
एसो आहारविधी, जध भणितो सव्वभावदसीहिं।
धम्माऽवस्सगजोगा, जेण न हायंति तं कुज्जा ॥
(व्यभा ३७०१, ३७०२)

उदर के छह भाग कल्पित हैं। उनमें से तीन भाग व्यञ्जनसहित अशन के लिए तथा दो भाग पानी के लिए सुरक्षित रखे। एक छठा भाग वायु प्रविचार के लिए खाली रखे। (प्रावृत् काल में चार भाग अशन-व्यंजन के लिए, एक पानी के लिए और एक वायुसंचरण के लिए रखे। ग्रीष्मकाल में दो भाग अशन-व्यंजन के लिए, तीन भाग पानी के लिए और एक भाग वायु-प्रविचारण के लिए हो।)

यह आहारविधि सर्वभावदर्शी सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित है। जिससे धर्महेतु अवश्यकरणीय योगों की हानि न हो, उतनी मात्रा में आहार करना विहित है।

८. अति आहार से हानि : कटाह दृष्टान्त

अतिभुत्ते उग्गालो, तेणोमं भुंज जण्ण उग्गिलसि।
छड्डिज्जति अतिपुण्णा, तत्ता लोही ण पुण ओमा ॥

पडुपन्नऽणागते वा, संजमजोगाण जेण परिहाणी।
ण वि जायति तं जाणसु, साहुस्स घमाणमाहारे ॥
(बृभा ५८४७, ५८५२)

लोहे की कड़ाही में उसके प्रमाण से अधिक वस्तु उसमें डाली जाती है तो वह बाहर निकल जाती है। कड़ाही में प्रमाण से कम डाली जाती है तो वह बाहर नहीं निकलती। इसी प्रकार अतिमात्रा में आहार करने से उद्गार आते हैं, वमन हो जाता है। अतः आहार की मात्रा कम हो, जिससे उद्गार न आए।

जितना आहार करने से वर्तमान और अनागत काल में संयमयोगों की हानि नहीं होती, वह प्रमाणयुक्त आहार है।

९. चींटी-मिश्रित भोजन : मेधा आदि की हानि

...घरकोइलाइमुत्तण, पिवीलगा मरण णाणाता ॥
गिहकोकिल-अवयवसम्मिस्सेण भुत्तेण पोट्टे किल
गिहकोइला सम्मुच्छंति ।...मुडंगासु मेहा परिहायति।
मेहापरिहाणीए णाणविराहणा। (निभा ३४७५ चू)

रात्रि में भोजन-पानी में गृहकोकिला (छिपकली) मूत्रविसर्जन कर सकती है। उसके अवयवों से मिश्रित भोजन करने पर पेट में छिपकली सम्मूर्च्छित हो सकती है। उस व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है—यह आत्मविराधना है। चींटी-मिश्रित भोजन करने से मेधा की हानि होती है और मेधा की परिहानि से ज्ञान-विराधना होती है।

१०. विरुद्ध द्रव्यों का मेल अहितकर

पालक-लट्टसागा, मुग्गकयं चाऽऽमगोरसुम्मीसं।
संसज्जती उ अचिरा, तं पि य नियमा दुदोसाय ॥
दहि-तेल्लाई उभयं, पय-सोवीराउ होंति उ विरुद्धा।
देहस्स विरुद्धं पुण, सी-उण्हाणं समाओगो ॥
(बृभा २०९४, २०९५)

पालक का शाक और लट्टाशाक (कौसुम्भ शालनक) इनको परस्पर मिलाने से सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती है। मूंग आदि दालों के साथ कच्चा दूध मिलाने से अतिशीघ्र जीवों की उत्पत्ति होती है, जिससे संयमविराधना और आत्मविराधना होती है।

दही और तैल, दूध और कांजी परस्पर विरुद्ध द्रव्य हैं। शीत

और उष्ण द्रव्यों का समायोग शरीर की प्रकृति के प्रतिकूल है।

११. विकृति-वर्जन से स्वाध्याय में सुविधा

जागरंतमजीरादी, ण फुसे लूहवित्तिणं ।
जोगीऽहं ति सुहं लब्धे, विगतिं परिहरिस्सति ॥
(निभा १५९८)

रूक्षभोजी मुनि स्वाध्याय आदि के निमित्त रात्रिजागरण करता हुआ भी अजीर्ण आदि रोगों से ग्रस्त नहीं होता। 'मैं योगी (आगाढ-अनागाढ योगी) हूँ'—ऐसा चिन्तन करने वाला मुनि विकृति प्राप्त होने पर भी सुखपूर्वक उसका परिहार कर सकता है।

१२. परिभोगैषणा-विवेक : आर्यमंगु-समुद्र दृष्टांत
रसगेहि अधिक्खाए, अविधि सङ्गालपक्कमे माया ।
लोभे एसणघातो, दिट्ठतो अज्जमंगुहिं ॥
(निभा १११६)

मुनि रसलोलुपता के कारण मात्रा से अधिक खाता है तथा काक, शृगाल आदि की तरह अविधि से खाता है। भोज्य की प्रशंसा करता हुआ वह इंगल दोष से दूषित होता है। वह गृद्धि और अधृति के कारण गच्छ से अपक्रमण कर लेता है, माया का आवरण करता है, सरस भोजन में लुब्ध होकर एषणासमिति में स्खलना करता है।

आर्यमंगु-आर्यसमुद्र—बहुश्रुत आचार्य आर्यमंगु सपरिवार मथुरा में आये। वे कालांतर में रसगृद्धि के कारण अवसन्न हो गए, मृत्यु को प्राप्त कर भवनवासी देव के रूप में उत्पन्न हुए और तत्काल साधुओं को प्रतिबोध देने के लिए अपने ही शव में प्रविष्ट होकर जीभ निकालने लगे। पूछने पर कहा—मैं आर्यमंगु हूँ। इतना कहकर साधु-श्रावकों को रसगृद्धि से होने वाले दुष्परिणामों की अवगति देकर लौट गए।

आर्यसमुद्र रसगृद्धि से भयभीत थे, अनासक्त थे, अतः सरस और अरस को एक साथ मिलाकर खाते थे।

० आहार-विधि

तम्हा विधीए भुंजे, दिण्णम्मि गुरूण सेस रातिणिताते ।
भुयति करंबेऊणं, एवं समता तु सव्वेसिं ॥
(निभा १११९)

भोजन-मण्डली में जो रात्रिक साधु होता है, वह सर्वप्रथम आचार्य, ग्लान, बाल, वृद्ध, अतिथि आदि को उत्कृष्ट द्रव्य खिलाकर अवशिष्ट श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ सब अविरोधी द्रव्यों को मिला देता है और शेष साधु वह भोजन करते हैं, इससे सबकी समता सधती है। यह विधिपरिभोग है।

१३. पशु का प्रिय भोजन

जड्डो जं वा तं वा, सूमालं महिसओ मधुरमासो ।
गोणो सुगंधिदव्वं, इच्छति ॥
हत्थिस्स इट्ठं णलइक्खुमोतगमादी, तं आहारेति ।
तस्याभावे जं वा अणिइं तं वा आहारेति, जं वा कमागयं ।
महिसो सुकुमालं वंसपत्तमादी, तस्साभावे तद्भाव-
भावितत्वात् अण्णं ण चरति, तं अह चरए पुट्ठि ण गेण्हति ।
एवं आसो हप्पिच्छं (हरिमत्थं) मुग्गमादि मधुरं,
गोणो अज्जुणमाति सुगंधदव्वं । (निभा १६३८ चू)

हाथी को सरकण्डे, इक्षु, मोदक आदि का भोजन प्रिय है। ऐसा भोजन न मिले तो वह जिस—किसी सहज प्राप्त भोजन से भी उदरपूर्ति कर लेता है।

महिष को वंशकरील जैसे सुकुमार द्रव्य प्रिय हैं। उनके न मिलने पर वह अन्य द्रव्य नहीं खाता है। यदि खाता भी है तो उससे पुष्ट नहीं होता है।

घोड़ा काला चना, मूंग आदि मधुर द्रव्य तथा बैल अर्जुन, ग्रन्थिघर्षण आदि सुगंधित द्रव्य खाना चाहता है।

इंगिनीमरण—प्रशस्त मरण का एक प्रकार। द्र अनशन

इन्द्रिय—चेतना के विकास का प्राथमिक स्तर। प्रतिनियत और वर्तमान अर्थ को ग्रहण करने वाली चेतना।

१. इन्द्रियावरण-ज्ञानावरण के भेद

२. इन्द्रियावरण-विज्ञानावरण का विषय विभाग

३. इन्द्रियावरण होने पर भी विज्ञान अनावृत

* इन्द्रियनिश्चित मतिज्ञान	द्र ज्ञान
* इन्द्रियविजय का अभ्यास	द्र जिनकल्प
* इन्द्रियप्रतिसंलीनता	द्र प्रतिभा
* दृष्टिराग : ब्रह्मचर्य का विघ्न	द्र ब्रह्मचर्य

१. इन्द्रियावरण-ज्ञानावरण के भेद

इन्द्रियावरणे चैव, नाणावरणे इय।
तो नाणावरणं चैव, आहितं तु दु पंचध॥
सोइन्द्रियआवरणे, नाणावरणं च होति तस्सेव।
एवं द्युयभेदेणं, णेयव्वं जाव फासो त्ति॥
(व्यभा ४६११, ४६१२)

० इन्द्रियावरण—शब्द आदि इन्द्रियविषय संबंधी सामान्य उपयोग (दर्शन) को आवृत करने वाला कर्म।

० ज्ञानावरण—इन्द्रियविषय संबंधी विशेष उपयोग (ज्ञान) को आवृत करने वाला कर्म। इनके पांच-पांच भेद हैं—

इन्द्रियावरण	ज्ञानावरण
१. श्रोत्रेन्द्रियावरण	१. श्रोत्रेन्द्रियज्ञानावरण
२. चक्षुरिन्द्रियावरण	२. चक्षुरिन्द्रियज्ञानावरण
३. घ्राणेन्द्रियावरण	३. घ्राणेन्द्रियज्ञानावरण
४. रसनेन्द्रियावरण	४. रसनेन्द्रियज्ञानावरण
५. स्पर्शनेन्द्रियावरण	५. स्पर्शनेन्द्रियज्ञानावरण

२. इन्द्रियावरण-विज्ञानावरण का विषय विभाग

बहिरस्स उ विण्णाणं, आवरियं न पुण सोतमावरियं।
अपडुप्पणो बालो, अतिवुड्ढो तथ असण्णी वा॥
विण्णाणावरियं तेसिं, कम्हा जम्हा उ ते सुणोता वि।
न वि जाणंते किमयं, सहो संखस्स पडहस्स॥
किं ते जीवअजीवा, जीवं ति य एव तेण उदियम्मि।
भण्णति एव विजाणसु, जीवा चउरिंदिया बेत्ति॥
एवं चविंखदिय-घाण, जिब्भ-फासिंदिउवघातेहिं।
एक्केक्कगहाणीए, जाव उ एगिंदिया नेया॥
इंदियउवघातेणं, कमसो एगिंदि एव संवुत्तो।
अणुवहते उवकरणे, विसुञ्जती ओसधादीहिं॥
(व्यभा ४६१३-४६१६, ४६२०)

बधिर व्यक्ति को शब्द का विशेष परिज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसका श्रोत्रेन्द्रियविज्ञान आवृत होता है। जिसकी श्रोत्रेन्द्रिय आवृत नहीं होती, वह शब्द को सामान्य रूप से सुनता है।

जो अपटुपन्न, बाल, अतिवृद्ध या अमनस्क पञ्चेन्द्रिय जीव हैं, वे शब्द सुनते हुए भी यह नहीं जान पाते कि यह शब्द शंख का है या पटह का है। उनके श्रोत्रेन्द्रियविज्ञानावरण का उदय होता है।

बधिर आदि जीव हैं या अजीव? प्रत्युत्तर में कहा गया— वे जीव हैं। श्रोत्रावरण मात्र से जीवत्व नष्ट नहीं होता। बधिर आदि की भंति चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय भी जीव हैं। इनमें क्रमशः एक-एक इन्द्रिय की हानि होती है। चक्षुइन्द्रिय का उपघात होने पर त्रीन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय के उपघात से द्वीन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय के उपघात से एकेन्द्रिय होता है।

कोई पुरुष क्रमशः इन्द्रियों के उपहत होने पर एक ही इन्द्रिय वाला रह गया हो, तब भी जब तक उपकरण इन्द्रिय उपहत नहीं होती, तब तक वह औषध आदि के प्रयोग से सर्वइन्द्रियों से स्वस्थ हो सकता है।

३. इन्द्रियावरण होने पर भी विज्ञान अनावृत

सण्णस्सिंदियघाते वि, तन्नाणं नावरिञ्जति।
विण्णाणं नसत्थसण्णीणं, विञ्जमाणे वि इंदिए॥
जो जाणति य जच्चंधो, वण्णे रूवे विकप्पसो।
नेत्ते वावरिते तस्स, विण्णाणं तं तु चिदुत्ति॥
पासता वि न जाणंति, विसेसं वण्णमादिणं।
बाला असण्णणो चैव, विण्णाणावरियम्मि उ॥

(व्यभा ४६१७-४६१९)

संज्ञी जीवों की इन्द्रियां उपहत होने पर भी उनका ज्ञान आवृत नहीं होता। असंज्ञी जीवों के इन्द्रियां होने पर भी उनका विज्ञान आवृत होता है।

एक जन्मांध व्यक्ति के नेत्रावरण होने पर भी वह वर्ण-रूप-विशेषों को स्पर्श के द्वारा स्पष्ट जान लेता है। बाल और असंज्ञी जीव देखते हुए भी विज्ञानावरण के कारण वर्ण आदि के विशेष धर्मों को नहीं जानते।

(इस पूरे विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रिय-उपघात होने पर भी विज्ञानोपघात नहीं होता और विज्ञानोपघात होने पर भी इन्द्रियोपघात नहीं होता। यही विज्ञान और इन्द्रिय का भेद है तथा आवरणों का भी भेद है। इस प्रकार ज्ञानावरण दस प्रकार का होता है।)

* इन्द्रिय के प्रकार : विषय ग्रहण की क्षमता आदि

द्र श्रीआको १ इन्द्रिय

उत्सर्ग सूत्र—वह सूत्र, जिसमें आचार-विषयक सामान्य विधि का प्रतिपादन हो। द्र सूत्र

उत्सारकल्प—सूत्र और अर्थ के क्रम का अतिक्रमणकर अध्ययन-अध्यापन करना।

१. उत्सारकल्प धूमकेतु सदृश
२. सूत्रार्थ के क्रमशः अध्ययन के गुण
 - * उक्तम से आगमवाचना का निषेध क्यों? द्र वाचना
३. उत्सारण के दोष : उत्सारवाचक दृष्टांत
 - ० प्रवचन आदि का विच्छेद : घंटाशृगाल दृष्टांत
४. उत्सारकल्प के हेतु : ढंढणमुनि आदि दृष्टांत
५. उत्सारकल्पकारक की अर्हता
६. दृष्टिवाद का उत्सारण क्यों ?
७. उत्सारकल्प-योग्य के गुण
८. उत्सारण के विकल्प और प्रायश्चित्त
९. आर्य-अनार्य उत्सारकल्पी
१०. उत्सारकाल : अकाल वर्जन नहीं
११. वाचनापरिमाण : ओज-अनोज उद्देशक
 - * उद्देश समुद्देश अनुज्ञा द्र श्रुतज्ञान
१२. योगवहन एवं आहार
१३. अव्याक्षेप : भिक्षाटन आदि द्वारा वैद्यावृत्य

१. उत्सारकल्प धूमकेतु सदृश

सूत्रार्थयोः परिपाटिवाचनां परित्यज्य सकलश्रुत-धर्मधूमकेतुकल्पमुत्सारकल्पम्। (बृभा ७२३ की वृ)

सूत्र और अर्थ का परिपाटिवाचना (क्रमशः वाचना) से मुक्त होकर अविधि अथवा अक्रम-व्युत्क्रम से अध्ययन-अध्यापन करना उत्सारकल्प है। यह समग्र श्रुतधर्म के लिए धूमकेतु के समान विनाशकारी है।

२. सूत्रार्थ के क्रमशः अध्ययन के गुण

आणा विकोवणा बुञ्जणा य उवओग निञ्जरा गहणं।

गुरुवास जोग सुसूसणा य कमसो अहिज्जंते॥

(बृभा ७२७)

जो सूत्र का क्रमशः अध्ययन-अध्यापन करता है, उसके आठ गुण प्रकट होते हैं—

- ० आज्ञा—तीर्थकरों की आज्ञा की आराधना।
- ० विकोपना—योग-उद्वहन विधि तथा गच्छ-सामाचारी में शिष्यों की निपुणता।

- ० बोध—जीव-अजीव आदि तत्त्वों का अवबोध।
- ० उपयोग—प्रबुद्ध होने पर श्रुत में सदा उपयोग।
- ० निर्जरा—श्रुत में निरन्तर उपयुक्त रहने से महान् निर्जरा।
- ० ग्रहण—नित्य उपयुक्त रहने पर सूत्र-अर्थ को शीघ्र ही ग्रहण करने की क्षमता।
- ० गुरुवास-योग—गुरुकुल में रहने के कारण सूत्र और अर्थ के अध्ययन के अवसर की प्राप्ति तथा योगों की विधिवत् आराधना।
- ० शुश्रूषा—आचार्य आदि के प्रति विनय-वैद्यावृत्य आदि करने के अवसर की प्राप्ति।

उत्सारकल्पी सूत्र और अर्थ का क्रमशः अध्ययन नहीं करता, अतः उसके द्वारा वे सारे गुण आराधित नहीं होते।

३. उत्सारण के दोष : उत्सारवाचक दृष्टांत

आणाऽणवत्थ मिच्छा, विराहणा संजमे य जोगे य।
अप्या परो पवयणं, जीवनिक्काया परिच्चत्ता॥
पुठ्ठि वल्लिया उस्सारवाचए आगए पडिमिलंति।
पडिलेह पुग्गलिंदिय, बहुजण ओभावणा तित्थे॥
जीवाऽजीवे न मुणइ, अलियभया साहए दग-मिताई।
करणे अ विवच्चासं, करेइ आगाढऽणागाढे॥
तुरियं नाहिज्जंते, नेव चिरं जोगजंतिता होंति।
लद्धो महंतसद्धो, ति केइ पासाइं गेण्हंति॥
कमजोगं न वि जाणइ, विगईओ का य कत्थ जोगमि।
(बृभा ७१६-७२०)

उत्सारकल्पी भगवान् की आज्ञा की सम्यक् आराधना नहीं करता। आचार्य को उत्सारकल्प करते देख अन्य आचार्य भी वैसा ही आचरण करने लग जाते हैं। शिष्य तथा प्रतीच्छक भी प्रतिस्पर्धा से उत्सारकल्पी हो जाते हैं। इससे अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है। नया शिष्य मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। संयम और योग-विषयक विराधना हो सकती है। उत्सारक आचार्य द्वारा आत्मा, शिष्य, प्रवचन तथा षड्जीव-निकाय परित्यक्त हो जाते हैं अर्थात् उनका सम्यक् अनुशीलन-आराधन नहीं होता।

मिथ्यात्व प्राप्ति—एक बार नगर में बहुश्रुत पूर्वधर आचार्य

आये। वे वादकुशल थे। अन्यतीर्थिकों ने आचार्य का पराभव करने के लिए वाद-विवाद का आयोजन किया। पर वे स्वयं पराभूत हो गए और पराभव से उत्पीड़ित हो अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

कुछ दिनों पश्चात् उसी नगर में एक पंडितमानी उत्सारकल्पिक वाचक आया। प्रतिशोध लेने के लिए अन्यतीर्थिकों ने पहले गुप्त रूप से एक प्रत्युपेक्षक को यह जानने के लिए भेजा कि नवागतुक्त वाचक तत्त्ववेत्ता वाग्मी है या नहीं? उस प्रत्युपेक्षक ने उत्सारकल्पिक से पूछा—परमाणु-पुद्गल के कितनी इन्द्रियां होती हैं? पल्लवग्राही वाचक ने कहा—परमाणु एक समय में लोक के एक चरमान्त से दूसरे चरमान्त तक चला जाता है, अतः निश्चित ही वह पंचेन्द्रिय है, अन्यथा ऐसी गमनवीर्य लब्धि नहीं हो सकती। यह उत्तर सुनकर प्रश्नकर्ता ने सारी बात अन्यतीर्थिकों को बता दी। वे सब इकट्ठे होकर आ गए। अनेक प्रश्न पूछे। उत्सारकल्पिक वाचक ने किसी भी प्रश्न का सही समाधान नहीं दिया, अंत में वह निरुत्तर हो गया। ऐसी स्थिति में प्रवचन की लघुता होती है। 'इसके गुरु भी तत्त्वज्ञानी नहीं हैं, अन्यथा यह ऐसी प्ररूपणा क्यों करता?' इस विपरिणाम के कारण नवश्रद्धालु अपना सम्यक् दृष्टिकोण खो देते हैं।

० संयम विराधना—उत्सारकल्पी सूत्रवाचनामात्र से अनुयोग में अवगाहन करता है, अतः वह जीव और अजीव को पृथक्-पृथक् रूप से विस्तार से नहीं जानता। इस अपरिज्ञान के कारण उसमें संयम का सद्भाव कैसे हो सकता है?

क्या नदी में पानी है? क्या तुमने मृग आदि को देखा है? प्यासे और शिकारी व्यक्तियों द्वारा ये प्रश्न पूछे जाने पर वह असत्य के भय से कह देता है—पानी है, मृग इधर गए हैं। वह नहीं जानता कि पापकारिणी सत्यभाषा भी नहीं बोलनी चाहिए।

उत्सर्ग-अपवाद विधि से अनभिज्ञ होने के कारण वह करण (चारित्र) में विपर्यास करता है, जैसे ग्लान आदि आगाढ कारण में प्रतिसेवना नहीं करता, अनागाढ में शीघ्र प्रतिसेवना कर लेता है। यह संयम विराधना है।

० योगविराधना—उत्सारकल्पिक शिष्य सोचते हैं—“गुरु ने

हमें एक ही दिन में समग्र श्रुतस्कन्ध की वाचना की अनुज्ञा दे दी है, अब इसे पढ़ने से क्या?”—यह सोचकर वे उत्सारकल्पी अध्ययन में त्वरता नहीं करते और न चिरकाल तक योग (तप अनुष्ठान) से नियमित होते हैं।

हमने 'वाचक' का महान् सम्बोधन प्राप्त कर लिया है—अब हम गुरु-सन्निधि में क्यों रहें? यह सोचकर वे पार्श्ववर्ती क्षेत्रों में स्वतंत्र विहरण करने लगते हैं।

वे योगक्रम को नहीं जानते—आगम अध्ययनकाल में कौन-सा योगवहन करना है, अमुक योग में इतने आर्यबिल आदि करणीय हैं। वे यह भी नहीं जानते कि किस योग में कितनी विकृति वर्जनीय है।

० प्रवचन आदि का विच्छेद : घंटाशृगाल दृष्ट्यांत

.....अण्णस्स वि दिंति तथा, परंपरा घंटदिट्ठतो ॥
उच्छुकरणोव कोट्टुगपडणं घंटासियालनासणाया।
विगमाई पुच्छ परंपराएँ नासंति जा सीहो ॥
पडियरिउं सीहेणं, स हओ आसासिया भिगगणा य।
इय कइवयाई जाणइ, पयाणि पढमिल्लुगुस्सारी ॥
किं पि ति अन्नपुट्टो, पच्चंतुस्सारणे अब्बोच्छिती।
गीताऽऽगमण खरंण, पच्छिंतं कित्तिया चेव ॥
अप्पत्ताण उ दिंतेण अप्पओ इह परत्थ वि य चत्तो।
सो वि अ हु तेण चत्तो, जं न पढइ तेण गव्वेणं ॥
(बृभा ७२०-७२४)

उत्सारवाचक अपने शिष्यों को भी उत्सारकल्प से वाचना देते हैं। यह परम्परा आगे बढ़ती है तो सूत्र-अर्थ का व्यवच्छेद हो जाता है। परम्परा के प्रसंग में घंटाशृगाल का दृष्ट्यांत ज्ञातव्य है—

एक इक्षुवाटक था। उसमें सियार प्रवेश कर इक्षु खा जाते थे। स्वामी ने वाटक के चारों ओर खाई खुदवा दी। एक बार एक सियार उस खाई में गिर पड़ा। स्वामी ने उसे पकड़ा। उसकी पूंछ और कान काट दिये, शरीर पर चीते की खाल मढ़कर गले में घंटा बांध दिया। वह भयभीत होकर वहां से दौड़ा। अन्य सियारों ने देखा और उसे विचित्र प्राणी समझ कर वे सब भयभीत होकर दौड़ने लगे। उन्हें भागते देख तरक्षों ने कारण पूछा। शृगालों ने कहा—कोई अपूर्व प्राणी

अपूर्व शब्द करता हुआ आ रहा है। तरक्ष (लकड़बाग़े) भी भयाक्रान्त होकर दौड़ने लगे। चीतों ने तरक्षों से पूछा। उनका उत्तर सुन वे भी भयभीत होकर भागने लगे। एक सिंह मिला। उसने चीतों से पलायन का कारण पूछा। चीतों ने सारी बात कही। सिंह ने सोचा—

(.....पाणियसहेण उवाहणाउ णाविब्भलो मुयति ॥

बृभा ३१७५

विज्ञ व्यक्ति पानी के शब्द मात्र से उपानत् नहीं छोड़ता।) मैं यथार्थ की खोज करूंगा। उसने सूक्ष्मता से उसे देखा और जान लिया कि यह सियार है। उसे पकड़ा और मार डाला। फिर उसने सबको आश्वस्त कर दिया।

इसी प्रकार जो शिष्य उत्सारकल्पिक आचार्य के पास पढ़ते हैं, वे आगमों के कुछेक आलापकों तथा सूत्रस्पर्शिका निर्युक्ति को सीखकर स्वयं को निष्णात मान लेते हैं और प्रायः प्रत्यंत गांव में जाकर गच्छाधिपतित्व कर दूसरों को उत्साहित करते हैं और कहते हैं— हम सूत्र और अर्थ की अव्युच्छिति करने वाले हैं। जैसे वन के सियार आदि सभी प्राणी उस घंटासियार के घंटा शब्द को नहीं जानते तथा यह भी नहीं जानते कि यह कौन है? इसके गले में क्या है? यह शब्द किसका है? वैसे ही प्रथम उत्सारित शिष्य कुछ जानता है, सारा नहीं जानता। उसके पास पढ़ने वाला, उत्सारकल्प करने वाला कुछ सूत्रआलापक जान पाता है, अर्थ नहीं? शिष्य जब आलापकों के विषय में पूछते हैं, तब कहता है—मैं नहीं जानता। तुम योगवहन करो। इस प्रकार के सभी उत्सारकारक और शिष्य नष्ट होते हैं।

एक बार उस प्रत्यंत ग्राम में गीतार्थ आचार्य आते हैं और उन्हें उपालंभ देते हैं—तुम लोग सूत्रार्थ की परिपाटि-वाचना को त्यागकर सर्वश्रुतधर्म के लिए धूमकेतु के समान उत्सारकल्प का आचरण क्यों कर रहे हो? इस उपालंभ से प्रेरित हो जो उत्सारकल्पी पुनः उत्सारण न करने का संकल्प करते हैं, उन्हें आचार्य प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते हैं। किन्तु ऐसे गीतार्थ कितने होंगे, जो इस प्रकार सीख दे सकें, अतः उत्सारण करना ही नहीं चाहिए।

उत्सारक आचार्य अयोग्य अथवा विवक्षित अनुयोग-

भूमि को अप्राप्त शिष्यों को श्रुत की वाचना देता है तो उसकी आत्मा इह-परत्र त्यक्त हो जाती है। यहां भी उसे अपयश प्राप्त होता है और परभव में उसे बोधि प्राप्त नहीं होती। जो शिष्य उससे वाचना लेता है, वह भी अल्पज्ञान से गर्विष्ठ होकर अध्ययन छोड़ देता है। पठन के अभाव में चरण-करण का प्रतिपालन कैसे संभव हो सकता है?

४. उत्सारकल्प के हेतु : ढंढणमुनि आदि दृष्टांत

चोयग पुच्छा उत्सारकप्पिओ नत्थि तस्स किह नामं ।
निक्कारणम्मि नामं, पि निच्छिमो इच्छिमो अ कज्जम्मि ।
उत्सारकप्पियस्स उ, चोयग! सुण कारणं तं तु ॥
गच्छो अ अलद्धीओ, ओमाणं चेष अणहिियासा य ।
गिहिणो अ मंदधम्मा, सुद्धं च गवेसए उवहिं ॥
हिंडउ गीयसहाओ, सलद्धि अह ते हणांति से लद्धिं ।
तो एक्कओ वि हिंडइ, आयारुस्सारियसुअत्थो ॥
भिक्खु विह तणह वदल, अभागधेज्जो जहिं तहिं न पडे ।
दुग-तिगमाईभेदे, पडइ तहिं जत्थ सो नत्थि ॥

ननु च किं कोऽपि कस्यापि लाभान्तरायकर्म-क्षयोपशमसमुत्थां लब्धिमुपहन्ति? येनैवमुच्यते—ते गीतार्थास्तस्य लब्धिमुपघ्नन्ति इति, अत्रोच्यते—भो भद्र! किं न कर्णकोटरमुपागतं सुप्रतीतमपि भवतो ढणढणमहर्षे-रलब्धिस्वरूपम्। (बृभा ७१५, ७३१, ७४०-७४२ वृ)

शिष्य ने पूछा—भंते! आपने सूत्रकल्पिक आदि बारह प्रकार के कल्पिकों का वर्णन किया है, उनमें 'उत्सारकल्पिक' का उल्लेख नहीं है। ऐसा क्यों? आचार्य बोले—'उत्सारकल्पिक' नाम का कल्पिक नहीं है। शिष्य ने पूछा—यदि उसका अस्तित्व नहीं है तो फिर उसके नामोल्लेख की क्या आवश्यकता है? यदि नाम है तो वह सार्थक है या निरर्थक?

गुरु ने कहा—हमें निष्कारण नाम भी अभीष्ट नहीं है तो अर्थ की बात ही क्या? प्रयोजन होने पर हमें उत्सारकल्प नाम और उसका अर्थ—दोनों अभीष्ट हैं। उत्सारकल्प के कारणों को सुनो—

० किसी आचार्य के गच्छ में कोई भी साधु वस्त्र-पात्र-शय्या के उत्पादन में लब्धिसम्पन्न न हो।

- ० जिस क्षेत्र में स्वपक्ष और परपक्ष से अवमानना होती हो।
- ० साधु शीत आदि सहने में असमर्थ हों।
- ० गृहस्थ मंदधर्मा हों—प्रज्ञापित किए बिना वस्त्र आदि न देते हों।
- ० साधु शुद्ध उपधि की गवेषणा करे फिर भी वह जिस किसी साधु को न मिले, वह दुर्लभ हो, ऐसी स्थिति में अल्पमेधा वाले लब्धिसम्पन्न शिष्य को वस्त्रैषणा आदि अध्ययनों की वाचना देकर उसे कल्पिक बनाया जाता है।

वह गीतार्थ साधु के साथ वस्त्र आदि की प्राप्ति के लिए जाए। यदि गीतार्थ साधु उसकी लब्धि का उपहनन करते हों तो वह अकेला ही वस्त्र आदि की गवेषणा करे। क्योंकि उसने उत्सारकल्पकरण द्वारा आचारांग के अन्तर्गत वस्त्रैषणा अध्ययन (आचूला-५) के सूत्रार्थ को जान लिया है। ढंढण दृष्टांत—शिष्य ने जिज्ञासा की—भंते! आपने कहा कि वे गीतार्थ उसकी लब्धि का उपघात करते हैं। क्या कोई किसी की लब्धि का उपघात कर सकता है? क्योंकि लब्धि तो लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है।

गुरु ने कहा—शिष्य! क्या तुमने सुप्रसिद्ध ढंढण महर्षि की अलब्धि की घटना नहीं सुनी?

(ढंढणकुमार अर्हत् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुए। उनके गहन अंतराय कर्म का बंधन था, जिससे उन्हें आहार-पानी की प्राप्ति नहीं होती थी। दूसरे साधु भी यदि उनके साथ जाते तो उन्हें भी आहार-पानी नहीं मिलता।

एक बार ढंढण मुनि ने अभिग्रह कर लिया कि मुझे अपनी लब्धि का आहार मिलेगा तो आहार लूंगा अन्यथा नहीं। वे भिक्षा के लिए प्रतिदिन जाते, पर आहार का सुयोग नहीं मिलता। छह माह बीत गए। शरीर दुर्बल हो गया।

एक बार ढंढण मुनि भिक्षार्थ गए हुए थे। श्रीकृष्ण ने भगवान् अरिष्टनेमि से प्रश्न किया—भगवन्! आपके १८००० साधुओं में कौन मुनि साधना में सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् ने ढंढण मुनि का नाम बताते हुए कहा कि उसने अलाभ परीषह को जीत लिया है।

श्रीकृष्ण ने भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए ढंढण मुनि के दर्शन किए, पुनः पुनः स्तवना की। इसे एक हलवाई ने देखा और सोचा—ये अवश्य ही पहुंचे हुए साधक हैं, जिनकी

श्रीकृष्ण भी स्तवना करते हैं। मुझे इन्हें भोजन देना चाहिए। यों विचारकर वह मुनि को भक्तिभाव से अपने घर ले गया और मोदकों का दान दिया।

मुनि ने अपनी लब्धि की भिक्षा जानकर उसे ग्रहण किया और भगवान् के पास गये। भगवान् ने रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—आयुष्मन्! यह भिक्षा तुम्हारी लब्धि की नहीं अपितु श्रीकृष्ण की लब्धि की है। अतः यह भिक्षा तुम्हारे अभिग्रह के अनुसार तुम्हारे लिए अग्राह्य है।—त्रिषष्टि-शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ८)

परपुण्योपघातक दृष्टांत—पांच सौ व्यक्तियों का एक सार्थ अटवी में भटक गया। उसके साथ एक अभागी रक्तपट भिक्षु भी था। उसने उन पांच सौ व्यक्तियों के पुण्य का उपहनन कर दिया। सब प्यास से व्याकुल थे। उनसे कुछ दूरी पर बादल बरस रहे थे किन्तु उनको एक बूंद भी नहीं मिल रही थी। सार्थ दो भागों में बंट गया। रक्तपट भिक्षु प्रथम विभाग के साथ मिल गया। वर्षा सर्वत्र होने लगी, परन्तु वह भिक्षु जहां था, वहां वर्षा नहीं हुई। सार्थ के लोगों ने उसे निकाल दिया। वह अकेला हो गया। जहां वह रहा, वहां वर्षा नहीं हुई। अन्यत्र वर्षा का अभाव नहीं रहा।

५. उत्सारकारक की अर्हता

आधार-दिट्टिवायत्थजाणाए पुरिस-कारणविहिन्नु।
संविग्गमपरितंते, अरिहइ उस्सारणं काउं॥
(बृभा ७३२)

उत्सारकल्पकारक वही हो सकता है,

- ० जो आचारांग और दृष्टिवाद का ज्ञाता है। (मुख्यतः दो आगम-ग्रंथ उत्सारणीय हैं)।
- ० जो उत्सारकल्प के योग्य पुरुष को जानता है।
- ० जो कारणविधिज्ञ है—उत्सारण का कारण विद्यमान है या नहीं—इसे जानता है।
- ० जो संविग्गन—मोक्षाभिलाषी है।
- ० जो दिन-रात वाचना देने पर भी परिश्रान्त नहीं होता।

६. दृष्टिवाद का उत्सारण क्यों?

कालियसुआणुओगम्मि गंडियाणं समयरणहेउं।
उस्सारिंति सुविहिया, भूयावायं न अन्नेणं॥
(बृभा ७४४)

धर्मकथा की लब्धि से सम्पन्न शिष्य भी दीक्षापर्याय की न्यूनता के कारण दृष्टिवाद नहीं पढ़ सकता। इस कारण से वह कालिकश्रुत अनुयोग से धर्मकथा करता है और उसके लिए दृष्टिवाद के अन्तर्गत आने वाली कुलकरगंडिका तथा तीर्थकरगंडिका आदि का अध्ययन उपयोगी है, किन्तु उद्देश-समुद्देश की विधि के बिना उनका अध्ययन आदि नहीं कर सकता—यह सोचकर सुविहित आचार्य गंडिकाओं का कालिकश्रुतानुयोग में समवतार करने के लिए दृष्टिवाद का उत्सारण करते हैं, अन्य किसी कारण से नहीं।

७. उत्सारकल्प-योग्य के गुण

अभिगए पडिबद्धे, संविग्गे अ सलद्धिए।
अवट्टिए अ मेधावी, पडिबुज्झी जोअकारए॥
सम्पत्तम्मि अभिगओ, विजाणओ वा वि अब्भुवगओ वा।
सज्झाए पडिबद्धो, गुरुसु नीएल्लएसुं वा॥
संविग्गे दव्व मिओ, भावे मूलुत्तरेसु उ जयंतो।
लद्धी आहारइसु, अणुओगे धम्मकहणे य॥
लिंगं विहारेऽवट्टिओ, मेरामेहावि गहणओ भइओ।
पडिबुज्झइ जं कत्थइ, कुणइ अ जोगं तदट्टस्स॥
अभिगय थिर संविग्गे, गुरुअमुई जोगकारए चेव।
दुम्मेहसलद्धीए, पडिबुज्झी परिणय विणीए॥
आयरियवण्णवाई, अणुकूले धम्मसट्टिए चेव।
एतारिसे महाभागे, उस्सारं काउमरिहइ॥
(बृभा ७३३-७३८)

उत्सारकल्प के योग्य वही हो सकता है, जो अनेक गुणों से युक्त होता है—

- ० अभिगत—दृढ़ सम्यक्त्वी अथवा तत्त्वविज्ञाता अथवा गुरुकुलवास को न छोड़ने के लिए संकल्पित।
- ० प्रतिबद्ध—परावर्तन, अनुप्रेक्षा आदि रूप स्वाध्याय में सतत उपयुक्त अथवा गुरु के प्रति स्थिर ममत्वानुबंध वाला अथवा प्रव्रजित संबंधियों के प्रति अनुरक्त।
- ० संविग्न—मूल-उत्तर गुणों में उद्यमी भावसंविग्न है। सर्वत्र भयभीत मृग द्रव्य संविग्न है।
- ० सलब्धिक—आहार, वस्त्र आदि के उत्पादन की लब्धि से युक्त तथा अनुयोग और धर्मकथा आदि की लब्धि से सम्पन्न।

- ० अवस्थित—स्वलिंग और मुनिचर्या में अवस्थित।
- ० मेधावी—मर्यादा मेधावी। प्रयोजन होने पर ग्रहण मेधावी भी उत्सारणीय है।
- ० प्रतिबोधी—जितना बताया जाता है, उतना जान लेने में कुशल।
- ० योगकारक—सूत्र के अर्थ ग्रहण में प्रमाद न करने वाला।

अन्य आचार्य-परम्परा के अनुसार—प्रबुद्ध, स्थिर, संविग्न, गुरु को कभी न छोड़ने वाला, योगकारक, दुर्मेधा होने पर भी लब्धिसम्पन्न, परिणामक, विनीत, आचार्य का गुणोत्कीर्तन करने वाला, अनुकूल वर्तन (वैयावृत्य आदि) करने वाला और धर्मानिष्ठ—ऐसा महाभाग शिष्य उत्सारकल्प के योग्य होता है।

८. उत्सारण के विकल्प और प्रायश्चित्त

अणभिगयमाइआणं, उस्सारितस्स चउगुरू होंति।
उग्गहणम्मि वि गुरुगा.....॥
योऽवग्रहणे समर्थ उत्तममेधावी...यावन्मात्रं सूत्रं
तस्योद्दिश्यते तावदशेषमप्यर्थेन युक्तमवगृह्णाति, यो वा
वैरस्वामिवत् पदानुसारिप्रतिभो भूयस्तरमप्यनुसरति
तस्योत्सारणीयम्। (बृभा ७३९ वृ)

जो अनभिगत, अप्रतिबद्ध, असंविग्न, अलब्धिक, अनवस्थित, अमर्यादामेधावी, अप्रतिबोधी, अयोगकारक, अपरिणत, अविनीत, आचार्य का अवर्णवादी, आचार्य के अननुकूल तथा अधर्मश्रद्धालु है, उस शिष्य के लिए उत्सार-कल्प करने वाले आचार्य चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

जो सूत्र-अर्थ का शीघ्र अवग्रहण करने में कुशल है, उस मेधावी के लिए निष्कारण उत्सारण करने पर आचार्य को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है। अथवा अवग्रहण की एक अन्य व्याख्या भी है—

जो समर्थ—उत्तम मेधावी होता है, उसके लिए जितनी मात्रा में सूत्र का उद्देश किया जाता है, उतनी मात्रा में वह सूत्र के साथ अशेष अर्थ को भी ग्रहण कर लेता है। अथवा जिसकी वज्रस्वामी की भांति पदानुसारिणी प्रतिभा होती है, वह और अधिक मात्रा में ग्रहण कर लेता है। उसके लिए अवश्य उत्सारण करना चाहिए अन्यथा चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है।

९. आर्य-अनार्य उत्सारकल्पी

अञ्जस्स हीलणा लज्जणा य गारविअकारणमज्जे ।

आयरिण परिवाओ, वोच्छेदो सुतस्स तित्थस्स ॥

(बृभा ७२५)

यदि उत्सारकल्पी आर्य हो और उसे कोई 'वाचक' कहता है तो उसे हीलना का अनुभव होता है क्योंकि वह मन ही मन जानता है कि मैं कैसा वाचक? वह प्रश्न का सही उत्तर नहीं आने पर लज्जा का अनुभव करता है। इसके विपरीत जो उत्सारकल्पी अनार्य होता है, उसे वाचक कहने पर वह गौरव का अनुभव करता है।

प्रश्नकर्ता सम्यक् समाधान न मिलने पर उसके आचार्य का परिवाद करते हैं। श्रुत के परावर्तन के अभाव में श्रुत का व्यवच्छेद हो जाता है। श्रुत के व्यवच्छेद से तीर्थ का भी व्यवच्छेद हो जाता है।

१०. उत्सारकाल : अकालवर्जन नहीं

सञ्झायमसञ्झाए, सुद्धासुद्धे व उद्दिसे काले ।^१...

(बृभा ७४५)

उत्सारकल्प करते समय स्वाध्यायिक हो या अस्वाध्यायिक, शुद्धकाल हो या अशुद्धकाल, विवक्षित श्रुत की निरंतर वाचना दी जाती है, किंचित् भी व्याघात नहीं किया जाता।

११. वाचना परिमाण : ओज अनोज उद्देशक

...दो दो अ अणोएसुं, ओएसु उ अंतिमं एक्कं ।

...जावइअं च अहिज्जइ, तावइयं उद्दिसे केई ॥

अणोया णाम समा उद्देसया । जथा कप्पस्स, तस्स दिणे दिणे दो दो उद्देसया उद्दिस्संति, पढमपोरिसीए एणो उद्दिट्ठो समुद्दिट्ठो य, ताथे बितियं उद्दिस्सति, बितियपोरिसीए तेसिं चेव सो अत्थो कधिज्जति । चरिमपोरिसीए तं पढमं अणुयाणित्ता बितियं समुद्दिस्सति अणुयाणति य ।

ओया णाम विसमा । जहा सत्थपरिण्णाए, तीए छ उद्देसया उद्दिस्सित्ता तिहिं दिवसेहिं, चउत्थे दिवसे एणो चेव । तं पढमपोरिसीए उद्दिट्ठ-समुद्दिट्ठुं करेत्ता चरिमाए अणु-जाणति ।

(बृभा ७४५, ७४६ चू)

पठनीय अध्ययन के अनोज और ओज उद्देशकों के आधार पर वाचना-परिमाण होता है। अनोज का अर्थ है सम और ओज का अर्थ है विषम।

सम (२, ४, ६ आदि) उद्देशक हों तो प्रतिदिन दो-दो उद्देशक की वाचना दे। जैसे—कल्प के छह उद्देशक हैं। एक दिन में दो उद्देशकों की वाचना दे। प्रथम पौरुषी में प्रथम उद्देशक का उद्देश-समुद्देश कर द्वितीय उद्देशक भी पढ़ाये।

दूसरे प्रहर में दोनों उद्देशकों का अर्थ कहे। चौथे प्रहर में प्रथम उद्देशक की अनुज्ञा देकर द्वितीय उद्देशक का समुद्देश करे और अनुज्ञा दे। इस विधि से तीन दिन में छह उद्देशकों की वाचना दे।

जिस अध्ययन में उद्देशकों की संख्या विषम (३, ५, ७ आदि) हो तो अंतिम दिन एक उद्देशक की वाचना दे। जैसे—शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में सात उद्देशक हैं। तीन दिनों में छह उद्देशक उद्दिष्ट कर चौथे दिन सातवें उद्देशक का प्रथम प्रहर में उद्देश-समुद्देश कर चौथे प्रहर में उसकी अनुज्ञा दे।

कुछ आचार्य मानते हैं—यदि शिष्य मेधावी है, तो वह जितने परिमाण में अध्ययन करता है, उसे उतने उद्देशकों की वाचना दे (दो, चार अथवा सभी उद्देशकों की वाचना एक दिन में दी जा सकती है)।

१२. योगवहन एवं आहार

एगंतरमार्यबिल, विगईए मक्खियं पि वज्जेति ।^१...

...अप्पाहारो परिहार मोअ जह अप्पनिद्धो अ ॥

दिंति पणीयाहारं, न य बहुगं मा हु जगगतो ऽजिण्णं ।

मोआइनिसग्गेसु अ, बहुसो मा होज्ज पल्लिमंथो ॥

(बृभा ७४६, ७४७, ७५०)

० योगवहन—आचार आदि के उद्देश-समुद्देश काल में एक दिन आचाम्ल और एक दिन निर्विकृतिक तप किया जाता है, विकृति से खरंटित पदार्थ का भी वर्जन किया जाता है।

० आहार—अध्येता को अल्प आहार देना चाहिए। जिससे उच्चार-प्रस्रवण की अल्पता रह सके। वह निद्रा भी अल्प ले, आचार्य को वैसा प्रयत्न करना चाहिये। गुरु उत्सारकल्प करने वाले शिष्य को स्निग्ध और मधुर आहार देते हैं, जिससे वह दिन-रात सुखपूर्वक दृष्टिवाद आदि सूत्रों की अनुप्रेक्षा

कर सके। प्रणीत आहार भी बहुत मात्रा में नहीं दिया जाता, जिससे सूत्रार्थ के निमित्त रात्रिजागरण करने पर भी अजीर्ण नहीं होता। स्वल्प मात्रा में प्रणीत आहार करने से नौद भी कम हो जाती है। रूक्ष भोजन करने से प्रस्रवण आदि का बार-बार व्युत्सर्ग करना पड़ता है, जिससे अध्ययन में व्याघात होता है, इसलिए अल्प प्रणीत आहार दिया जाता है।

१३. अव्याक्षेप : भिक्षाटन आदि द्वारा वैयावृत्त्य

आहारे उवकरणे, पडिलेहण लेव खित्तपडिलेहा ।
हिंडाविंति न वा णं, अहवा अन्नद्वया न सो अडइ ।
पेहिंति व से उवहिं, पेहेइ व सो न अनेसिं ॥
एमेव लेवगहणं, लिंपइ वा अप्पणो न अन्नस्स ।
खेत्तं च न पेहावे, न यावि तेसोवहिं पेहे ॥

(बृभा ७४७-७४९)

आचार्य उत्सारकल्पी को भिक्षाटन, उपकरण-प्रति-लेखन, लेपग्रहण और क्षेत्रप्रतिलेखन संबंधी व्याक्षेपों से मुक्त रखते हैं।

० भिक्षाटन—आचार्य उसे भिक्षा के लिए नहीं भेजते। अपेक्षा होने पर वह अपने लिए भिक्षा ले आता है किन्तु आचार्य, ग्लान आदि के लिए पर्यटन नहीं करता।

० प्रतिलेखन—उसके अध्ययन में बाधा न आये—इस दृष्टि से अन्य साधु उसके उपकरणों का प्रतिलेखन करते हैं। वह दूसरों की उपधि की प्रत्युपेक्षा नहीं करता।

० लेपग्रहण—इसी प्रकार वह लेप लाने नहीं जाता। उसके पात्रलेपन का कार्य भी अन्य साधु करते हैं। किसी कारणवश यह संभव न हो तो वह अपने पात्रों पर स्वयं लेप लगाता है, अन्य साधुओं के पात्र-लेप का कार्य नहीं करता।

० क्षेत्रप्रत्युपेक्षा—क्षेत्रप्रतिलेखना के लिए उसे नहीं भेजा जाता और वह क्षेत्रप्रतिलेखकों की उपधि की प्रत्युपेक्षा भी नहीं करता।

उद्घाटा पौरुषी—द्वितीय-तृतीय प्रहर। द्र स्वाध्याय

उपधान—श्रुत के अध्ययन काल में किया जाने वाला तप अनुष्ठान।

उपदधाति पुष्टिं नयति अनेनेत्युपधानं तपः यद्

यत्राध्ययने आगाढादियोगलक्षणमुपधानमुक्तं तत्तत्र कार्यं, तत्पूर्विकस्यैव श्रुतग्रहणस्य सफलत्वात्।

(व्यभा ६३ की वृ)

जो अध्ययन को पुष्ट करता है, वह उपधानतप है।

जिस श्रुतग्रंथ के अध्ययन काल में जो आगाढ या अनागाढ योग रूप उपधान निर्धारित है, वह अवश्य करना चाहिये। उपधानपूर्वक श्रुतग्रहण करने से ही श्रुतोपलब्धि सफल होती है। (जैसे—अशकटपिता द्र आचार।)

* आगाढयोग-अनागाढयोग द्र स्वाध्याय

उपधि—मुनि के उपयोग में आने वाले वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि आवश्यक उपकरण।

१. उपधि के प्रकार

२. परिहारविशुद्धिक आदि के औषिक उपधि

* जिनकल्प की उपधि द्र जिनकल्प

३. गणचिंतक के पास सर्व उपधि

४. स्थविर की उपधि : दूसरी बार अवग्रह ग्रहण

५. उपकरण सहित विहार

* उपधि का गुरु आज्ञा से ग्रहण द्र आज्ञा

* फल बताकर उपधि लेना निषिद्ध द्र पिण्डैषणा

६. वर्षाकाल में उपधि का अग्रहण

७. उपहत उपधि का अग्रहण

० विहार अवधावन से उपहत उपधि

० लिंग अवधावन से उपहत उपधि

८. उपधि परिष्ठापन की प्राचीन विधि

९. कृत्स्न वस्त्र के प्रकार

० अकृत्स्न वस्त्र कल्पनीय

* जांगमिक आदि वस्त्र

* मूल्यवान् वस्त्रों के प्रकार

* चर्ममय प्रावरण के प्रकार

द्र वस्त्र

१०. सुलक्षण वस्त्र का प्रयोजन : द्रमक आदि दृष्टांत

११. वस्त्रेषणा की चार प्रतिमाएं

१२. वस्त्र प्राप्ति के लिए निवेदन

१३. वस्त्र ग्रहण से पूर्व तीन घृच्छा

१४ वस्त्र ग्रहण के अवग्रह

१५. वस्त्र विक्रिया निषेध
 १६. साध्वी प्रायोग्य वस्त्र का ग्रहण-परीक्षण
 ० गणधरनिश्रा में वस्त्र ग्रहण
 १७. वस्त्र ग्रहण किससे ?
 १८. वस्त्र-उपयोगविधि
 १९. वस्त्र सीवन की अविधि-विधि
 २०. सूई का स्वरूप और उपयोग
 २१. सूई आदि सौंपने की विधि
 २२. चिलिमिलिका के प्रकार और प्रमाण
 ० चिलिमिलिका का प्रयोजन
 २३. वस्त्र-अपहरणकाल में उपेक्षा भाव
 ० अचेल सचेल की अवमानना न करे
 २४. वस्त्र-पात्र एषणा हेतु क्षेत्रगमन-सीमा
 २५. तीन से अधिक थिंगल-निषेध
 २६. अतिरिक्त पात्र-वस्त्र धारण की अवधि
 २७. पात्र के प्रकार
 ० पात्र-परिधि का मापन
 २८. पात्रैषणा की चार प्रतिमाएं
 २९. धारणीय पात्र ग्राह्य
 ३०. सलक्षण-अलक्षण पात्र
 ० पात्र का संस्थान और लाभ-हानि
 ३१. अविधिबंध पात्र का निषेध
 ३२. घटीमात्रक का स्वरूप और उपयोग
 ३३. आर्यरक्षित द्वारा मात्रक अनुज्ञा
 ० जिनकल्पी के एक पात्र, स्थविर के मात्रक भी
 ० वर्षाकाल में तीन मात्रक
 ३४. मूल्यवान् पात्रग्रहण का निषेध
 ० गृहिपात्र के प्रकार
 ० गृहिपात्र में खाने का निषेध
 ३५. पात्र प्राप्ति के स्थान
 ३६. लेप के प्रकार : तज्जात-युक्ति-द्विचक्र
 ० लेप के प्रकार : उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्य
 ३७. पात्रलेप क्यों ? सती का दृष्टांत
 ३८. बिना आज्ञा पात्रग्रहण से प्रायश्चित्त
 ३९. वस्त्र-पात्र-लेप-कल्पिक
 ४०. प्रतिपूर्ण क्रमणिका के प्रकार
 ४१. क्रमणिका का निषेध क्यों ?

४२. क्रमणिका पहनने के हेतु : चक्षुर्दौर्बल्य आदि

४३. रजोहरण के प्रकार

० और्णिक रजोहरण उपयोगी

४४. रजोहरण और पादलेखनिका का प्रयोजन

१ उपधि के प्रकार

ओहे उवग्गहम्मि य, दुविधो उवधी समासतो होति ।...

(निभा १३८७)

उपधि के दो प्रकार हैं—

१. ओघ उपधि—प्रतिदिन काम में आने वाले उपकरण।
२. उपग्रह उपधि—प्रयोजन विशेष से उपयोग में आने वाले उपकरण।

२. परिहारविशुद्धिक आदि के औघिक उपधि

जिणाणं परिहारविसुद्धियाणं अहालंदियाणं पडिमा-पडिवण्णगाणं, एतेसिं ओहितो चेव उवही ।...परिहार-विसुद्धिगादी णियमा पडिग्गहधारी पाउरणं । धितिसंवघण-अभिग्गहविसेसओ भयणिज्जं । (निभा ५९०० की चू)

जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिक, यथालंदिक और प्रतिमाप्रतिपन्नक के औघिक उपधि ही होती है। वे नियमतः पात्रधारी और सप्रावरण होते हैं। धृति, संहनन, अभिग्रह आदि के भेद से उनमें नानात्व होता है।

(स्थविरकल्पी साधुओं के चौदह प्रकार की और साध्वियों के पचीस प्रकार की औघिक उपधि होती है। औपग्रहिक उपधि अनेक प्रकार की होती है।

द्र श्रीआको १ उपधि)

३. गणचिंतक के पास सर्व उपधि

भिण्णं गणणाजुत्तं, पमाण इंगाल-धूमपरिसुद्धं ।
 उवहिं धारण भिक्खु, जो गणचिंतं न चिंतेइ ॥
 गणचिंतगस्स एत्तो, उक्कोसो मज्झिमो जहण्णो य ।
 सब्बो वि होइ उवही, उवग्गहकरो महाणस्स ॥

(निभा ५८१०, ५८११)

जो गणचिन्ता नहीं करता है, सामान्य भिक्षु है, वह गणनाप्रमाण और प्रमाणप्रमाण से युक्त भिन्न (खंडित या छिन्न) उपधि धारण करे तथा राग-द्वेष से मुक्त होकर उसका परिभोग करे।

जो गणचिंतक (गणावच्छेदक आदि) है, उसके पास उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य—सब प्रकार की उपधि होती है, उससे गण का उपग्रह होता है।

४. स्थविर की उपधि : दूसरी बार अवग्रह-ग्रहण

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दंडए वा भंडए वा छत्तए वा मत्तए वा लट्ठिया वा चेले वा चेलचिलिमिलिया वा चम्मे वा चम्मकोसए वा चम्मपलिच्छेयणाए वा अवि-रहिए ओवासे ठवेत्ता गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तए वा निक्खमित्तए वा। कप्पइ ण्हं संनियट्टचारीणं दोच्चं पि ओगहं अणुणवेत्ता परिहरित्तए ॥ (व्य ८/५)

स्थविरभूमिप्राप्त स्थविर दंड, भांड, छत्र, मात्रक, यष्टिका, वस्त्र, वस्त्र की चिलिमिली, चर्म, चर्मकोश (उपानद्) और चर्मपरिच्छेदनक रख सकते हैं। वे इन्हें अविरहित स्थान में रखकर (किसी को संभलाकर या सूचित कर या उनकी सुरक्षा में नियुक्त कर) गृहपति के घर भिक्षा के लिए जा-आ सकते हैं। भिक्षाचर्या से लौटकर दूसरी बार (नियुक्त व्यक्ति से) आज्ञा लेकर उनका उपयोग कर सकते हैं।

५. उपकरण सहित विहार

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे सव्वं भंडगमायाए गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥

(आचूला १/३९)

भिक्षु अथवा भिक्षुणी ग्रामानुग्राम परिव्रजन करते हुए सब भण्डोपकरण साथ में लेकर ग्रामानुग्राम परिव्रजन करे।

६. वर्षाकाल में उपधि का अग्रहण

पढमसमोसरणं वरिसाकालो भण्णति। तत्थ य भगवया णापण्णायं उवहिगहणं। तम्मि अणणुण्णाते गहणं करैतस्स अदत्तं भवति। (निभा ३३५ की चू)

वर्षाकाल को प्रथम समवसरण कहा जाता है। उस काल में उपधि का ग्रहण भगवान् द्वारा अनुज्ञात नहीं है। अतः उस काल में उपधि ग्रहण करने से अदत्तादान विरमण व्रत भंग होता है।

७. उपहत उपधि का अग्रहण

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा एगइओ मुहुत्तगं-मुहुत्तगं

पाडिहारियं वत्थं जाएज्जा—एगाहेण वा...पंचाहेण वा विप्पवसिय-विप्पवसिय उवागच्छेज्जा, तहप्पगारं वत्थं णो अप्पणा गिण्हेज्जा, ...वत्थं ससंधियं तस्स चव णिसिरेज्जा, णो णं साइज्जेज्जा ॥

.....तहप्पगारं पडिग्गहं.....णो णं साइज्जेज्जा ॥

(आचूला ५/४६; ६/५४)

कोई भिक्षु अथवा भिक्षुणी (दूसरे भिक्षु से) मुहूर्त भर (नियतकाल) के लिए प्रातिहारिक वस्त्र की याचना करे—वह अकेला एक दिन यावत् पांच दिन अन्यत्र प्रवास कर लौटे, उस प्रकार के (उपहत) वस्त्र को (समर्पित करने पर) वस्त्रस्वामी स्वयं ग्रहण न करे...वैसे उपहत वस्त्र को उसी को (उपहत करने वाले को ही) सौंप दे, वस्त्रस्वामी उसका परिभोग न करे।

इसी प्रकार उपहत पात्र भी ग्रहण न करे।

० विहार अवधावन से उपहत उपधि

खग्गूडेण उवहते, अमणुण्णेणागयस्स वा जं तु।

असंभोइयउवगरणं ॥

तिट्ठाणे संवेगो, सापेक्खो नियट्ठो य तद्विससुद्धो।

मासो वुत्थ विगिंचण..... ॥

संविग्गाण सगासे, वुत्थो तेहिमणुसासिय णियत्तो।

लहुगो णो उवहम्मइ..... ॥

संविग्गादणुसट्ठो, तद्विसणियत्तो जइ वि ण मिलेज्जा।

ण य सज्जइ वइगाइसु सुचिरेणऽवि तो न उवहम्मे ॥

एगाणियस्स सुवणे, मासो उवहम्मए य से उवही।".....

(निभा ४५८१, ४५८२, ४५८८-४५९०)

वक्र सामाचारी वाले से उपधि उपहत होती है।

जो पार्श्वस्थ आदि असांभोजिक के पास से आया है और उद्यत विहार के अभिमुख है, उसके असांभोजिक उपकरण उपहत होते हैं।

कोई साधु गच्छ से निर्गत हो गया, किन्तु संयम सापेक्षचित्त वाला वह त्रिस्थान में संवेग (ज्ञान, दर्शन, चरित्र की शुद्धि और वृद्धि की पिपासा) उत्पन्न होने पर उसी दिन गच्छ में लौट आता है, तो उसकी उपधि उपहत नहीं होती। यदि वह असांविग्नो के साथ रहकर आता है तो उसको मासलघु प्रायश्चित्त आता है और उसकी उपहत उपधि परिष्ठापनीय होती है।

जो अपने गच्छ से उन्निष्क्रमण कर अन्य सांभोजिक संविगनों के पास चला जाता है और उनके द्वारा अनुशासित होने पर लौट आता है तो उसकी उपधि उपहत नहीं होती, केवल लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है। पार्श्वस्थ आदि के पास रहने वाले की उपधि उपहत होती है। संविग्न से अनुशिष्टि प्राप्त कर उसी दिन लौटने वाला साधु यद्यपि उस दिन गच्छ में सम्मिलित नहीं होता है किन्तु ब्रजिका आदि स्थानों में प्रतिबद्ध भी नहीं होता है तो उसकी उपधि दीर्घ काल तक भी उपहत नहीं होती।

जो पार्श्वस्थ का परिहार करने पर भी यदि रात्री में अकेला सोता है तो उसकी उपधि उपहत हो जाती है।

० लिंग अवधावन से उपहत उपधि

नीसंकिओ वि गंतूण दोहि वग्गेहि चोदितो एति ।
तक्खण णितं ण हम्मं, तहि परिणत वुत्थ उवहम्मं ॥
अत्तद्वाए परस्स व पडिलेहति रक्खिओ वि हु ण हम्मं ।”
(निभा ४५९९, ४६००)

‘मैं अवश्य उत्प्रव्रजित होऊंगा’—इस निश्चय के साथ अवधावन करने वाला साधु संविग्न और असंविग्न—दोनों वर्गों से प्रतिबोध प्राप्त कर पुनः प्रव्रज्या हेतु पार्श्वस्थ आदि के पास से तत्क्षण निकल जाता है तो उसकी उपधि उपहत नहीं होती।

‘मैं पार्श्वस्थ आदि के पास रहूंगा’—इस भाव में परिणत होकर वह एक रात या क्षणमात्र भी वहां रहता है तो उसकी उपधि उपहत होती है। जो उपकरणों को लेकर अवधावन करता है, गृहस्थ बन जाता है और ‘मैं पुनः मुनि बनूंगा’ इस भाव से उन उपकरणों का संरक्षण करता है या ‘दूसरे मुनियों को दूंगा’—इस भाव से उनकी प्रतिलेखना करता है या नहीं भी करता है, तब भी वे उपकरण उपहत नहीं होते। इसका कारण यह है कि वह व्यक्ति गृहस्थ के तुल्य है। जहां चारित्र नहीं है, वहां उपकरणों के उपघात का प्रश्न ही नहीं है।

८. उपधि परिष्ठापन की प्राचीन विधि

दुविहा जातमजाता, जाता अभियोग तह असुद्धा य ।
अभियोगादी छेतुं, इतरं पुण अक्खुतं चेव ॥

पहनिग्गयादियाणां, विजाणणट्ठाव तत्थ चोदेति ।
सुद्धासुद्धनिमित्तं, कीरतु चिंधं इयं तु तहिं ॥
एगा दो तिन्नि वली, वत्थे कीरन्ति पाय-चीराणि ।
छुब्भंतु चोदगेणं, इति उदिते बेति आयरिओ ॥
सुद्धमसुद्धं एवं, होति असुद्धं च सुद्ध वातवसा ।
तेण ति दुगेग गंधी, वत्थे पादम्मि रेहा ऊ ॥
(व्यभा ३५८४-३५८७)

उपधिपरिष्ठापनिका के दो प्रकार हैं—जाता और अजाता। जाता का अर्थ है अभियोगकृत (वशीकरणयुक्त) अथवा मूलगुण-उत्तरगुण से अशुद्ध उपधि।

दोषों से युक्त उपधि का छेदन-भेदन कर तथा निर्दोष उपकरणों का अक्षत रूप में परिष्ठापन करना चाहिए।

मार्गवर्ती साधुओं की उपहतउपधि संबंधी जानकारी के लिए शुद्ध और अशुद्ध उपधि को चिह्नित करना चाहिए। मूलगुण से अशुद्ध वस्त्र पर एक चक्र, उत्तरगुण से अशुद्ध पर दो चक्र तथा मूल-उत्तरगुण से शुद्ध वस्त्र पर तीन चक्र करके परिष्ठापन करना चाहिए।

मूलगुण से अशुद्ध पात्र में एक चीवरखंड या एक प्रस्तर, उत्तरगुण से अशुद्ध पात्र में दो चीवरखंड या दो प्रस्तर तथा शुद्ध पात्र में तीन चीवर या तीन प्रस्तर डालकर परिष्ठापन करना चाहिए।

हवा आदि के कारण चक्र के बनने और चीवर के उड़ने-गिरने से शुद्ध वस्त्र-पात्र अशुद्ध हो सकते हैं, अशुद्ध शुद्ध हो सकते हैं। अतः परिष्ठापन की यह विधि होनी चाहिए—मूल-उत्तरगुण से शुद्ध वस्त्र में तीन गांठ, उत्तरगुण से अशुद्ध में दो तथा मूलगुण से अशुद्ध में एक गांठ लगाकर विसर्जित करे। इसी प्रकार पात्र को तीन, दो या एक रेखा से चिह्नित कर विसर्जित करे।

(उपकरणों का परिष्ठापन गर्त, तरु, तडाग, कूप आदि के समीप किया जाता था। अशिव आदि कारणों से उपधि की अत्यंत अपेक्षा होने पर विसर्जित उपधि को पुनः ग्रहण कर लिया जाता था।—व्यभा ३५८८ की वृ)

९. कृत्स्न वस्त्र के प्रकार

दुविहं तु दव्वकसिणां, सकलव्वकसिणां पमाणकसिणां च ।”

घण मसिणं णिरुवहयं, जं वत्थं लब्भते सदसियागं ।
 एतं तु सकलकसिणं, जहण्णगं मज्झिमुक्कोसं ॥
 वित्थारा-ऽऽयामेणं, जं वत्थं लब्भए समतिरेगं ।
 एयं प्रमाणकसिणं ॥
 जं वत्थ जम्मि देसम्मि दुल्लहं अच्चियं व जं जत्थ ।
 तं खिन्तजुयं कसिणं ॥
 जं वत्थ जम्मि कालम्मि, अग्घितं दुल्लभं व जं जत्थ ।
 तं कालजुतं कसिणं ॥
 दुविहं च भावकसिणं, वण्णजुतं च वेव होति मोल्लजुयं ।
 मुल्लजुयं पि य तिविहं, जहण्णगं मज्झिमं च उक्कोसं ।
 जहण्णेणऽट्टारसगं, सतसाहस्सं च उक्कोसं ॥
 (बृभा ३८८१-३८८६, ३८९०)

१. द्रव्यकृत्स्न—इसके दो प्रकार हैं—सकलकृत्स्न और प्रमाण-कृत्स्न

सकलकृत्स्न—तन्तुओं से सान्द्र, स्पर्श से सुकुमार, निरुपहत (अंजन-खंजन आदि से निर्दोष) और सदशाक (किनारी सहित) वस्त्र—मुखपोतिका आदि जघन्य, पटलक आदि मध्यम और कल्प आदि उत्कृष्ट हैं ।

प्रमाणकृत्स्न—विस्तार और आयाम में प्रमाण से अतिरिक्त वस्त्र ।

२. क्षेत्रकृत्स्न—जो वस्त्र जिस क्षेत्र में दुर्लभ अथवा बहुमूल्य है, वह क्षेत्रकृत्स्न कहलाता है । जैसे—पूर्व देश में उत्पन्न वस्त्र लाटदेश में मूल्यवान् है ।

३. कालकृत्स्न—जो वस्त्र जिस काल में मूल्यवान् अथवा दुर्लभ है, वह कालकृत्स्न कहलाता है, जैसे—ग्रीष्म में काषायिक, शिशिर में प्रावार और वर्षाऋतु में कुंकुमखचित आदि वस्त्र ।

४. भावकृत्स्न—इसके दो प्रकार हैं—वर्णयुत और मूल्ययुत ।

मूल्ययुत वस्त्र के तीन प्रकार हैं—जघन्य अठारह रुपये का, उत्कृष्ट एक लाख रुपये का और इनके मध्यवर्ती मध्यम है ।

० अकृत्स्न वस्त्र कल्पनीय

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं
 वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥

कप्पइ अकसिणाइं वत्थाइं ॥

(क ३/७, ८)

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी अकृत्स्न वस्त्र ग्रहण-धारण कर सकते हैं, कृत्स्न नहीं ।

१०. सुलक्षण वस्त्र का प्रयोजन : द्रमक आदि दृष्टांत किं लक्खणेण अम्मं, सब्बणियत्ताण पावविरयाणं । लक्खणमिच्छंति गिही, घण-धण्णे-कोसपरिवुद्धी ॥ लक्खणहीणो उवही, उवहणती णाण-दंसण-चरित्ते । तम्हा लक्खणजुत्तो, गच्छे दमएण दिट्ठतो ॥ श्राड्ढिण वलवा वरिसं, दमओ पालेति तस्स भाएणं । चेडीघडण निकायण, उविट्ट दुम चम्म भेसणया ॥ दुण्ह वि तेसिं गहणं, अलं मि अस्सेहि अस्सिगं भणइ । वड्डइ भच्चइ धूयापयाण कुलएण ओवम्मं ॥ (बृभा ३९५७-३९६०)

शिष्य ने पूछा—भंते! गृहस्थ सारंभ और सपरिग्रह होते हैं । वे धन-धान्य-कोश की वृद्धि चाहते हैं, इसलिए वस्तु ग्रहण करने से पूर्व लक्षण-अलक्षण, संस्थान आदि की विचारणा करते हैं । हम मुनि आरंभ और परिग्रह से मुक्त हैं, फिर हम वस्त्र के लक्षण-अलक्षण की मीमांसा क्यों करें ?

आचार्य ने कहा—प्रशस्त वर्ण, संस्थान आदि से रहित उपधि धारण करने से साधुओं के ज्ञान, दर्शन और चारित्र का हनन होता है, अतः लक्षणयुक्त उपधि धारण करना चाहिए । द्रमक दृष्टांत—पारस देश के एक व्यक्ति के पास प्रतिवर्ष प्रसव करने वाली अनेक घोड़ियां थीं । उसके पास अश्वों की प्रचुरता हो गई । उनकी सार-संभाल के लिए उसने एक नौकर को इस शर्त पर रखा कि वर्ष के अंत में उसकी मनपसंद के दो अश्व उसे दे दिए जाएंगे । अश्वरक्षक का अश्वस्वामी की कन्या से साहचर्य हो गया था । एक वर्ष पूरा हुआ । अश्वस्वामी ने उसे कहा—जाओ, दो मनपसंद अश्व ले लो । वह अश्वों के लक्षण नहीं जानता था । उसने स्वामी की कन्या से लक्षणयुक्त अश्वों के विषय में पूछा । वह बोली—तुम प्रतिदिन अश्वों को लेकर जंगल में जाते हो । जब अश्व एक विशाल वृक्ष के नीचे बैठे हों तब तुम चमड़े के कुतप में पत्थर भरकर वृक्ष के ऊपरी भाग से उसे गिराना और पटहवादन करना । जो अश्व इस क्रिया से त्रस्त न हों, वे सुलक्षण अश्व हैं । उसने वैसा ही किया और स्वामी से उन दो अश्वों को

मांगा, जो इस प्रक्रिया से त्रस्त नहीं हुए थे। स्वामी ने सोचा—ये दोनों अश्व समस्त लक्षणों से युक्त हैं। इन्हें देने पर शेष क्या रहेगा? इसलिए उससे कहा—इन दो अश्वों के अतिरिक्त तुम दो, चार, दस अश्व ले लो। अश्वरक्षक अपनी मांग पर अडिग रहा। अश्वस्वामी ने सोचा—यदि मैं इसका अपनी कन्या से विवाह कर इसे घरजामाता बनाऊं तो ये अश्व यहीं रह जाएंगे। उसने अपने मन की बात अपनी पत्नी से कही। वह ऐसा करना नहीं चाहती थी। तब अश्वस्वामी ने उसे समझाने के लिए एक दृष्टान्त कहा—एक बढई ने अपनी कन्या का विवाह अपने भानजे से कर उसे गृहजामाता के रूप में घर में ही रखा। वह आलसी था। पत्नी के कहने पर वह कुठार लेकर जंगल में जाता परन्तु काष्ठ बिना लिए ही लौट आता।

छह महीने बीत गए। एक दिन उसे 'कृष्णचित्रकाष्ठ' प्राप्त हुआ। उसने उससे धान्य मापने का कुलक बनाया और उसे एक लाख मुद्राओं में बेचने के लिए अपनी पत्नी को बाजार में भेजा। एक लाख मूल्य में उसे कौन खरीदे? अंत में एक बुद्धिमान् ग्राहक वणिक् आया। वह पारखी था। उस धान्यमापक पात्र का यह गुण था कि उससे जो धान्य मापा जाता, वह कम नहीं होता था। उस वणिक् ने लाख मुद्राएं देकर पात्र खरीद लिया। वर्षकी के जामाता ने अपने कुटुम्ब को धन-धान्य से समृद्ध बना दिया।

११. वस्त्रैषणा की चार प्रतिमाएं

....भिवखू जाणेज्जा चउहिं पडिमाहिं वत्थं एसित्तए ॥....पढमा पडिमा....उद्दिसिय-उद्दिसिय वत्थं जाएज्जा.... ॥....दोच्चा पडिमा....पेहाए वत्थं जाएज्जा.... ॥....तच्चा पडिमा....वत्थं जाणेज्जा, तं जहा—अंतरिज्जगं वा उत्तरिज्जगं वा.... ॥....चउत्था पडिमा....उज्झियधम्मियं वत्थं जाएज्जा.... ॥

(आचूला ५/१६-२०)

उद्दिसिय पेह अंतर, उज्झियधम्मे चउत्थए होइ।
चउपडिमा गच्छ जिणे, दोण्हउग्गहउभिग्गहउन्नयरा ॥
(बृभा ६०९)

मुनि प्रतिमाचतुष्टयी से वस्त्र की एषणा करे—

१. उद्दिष्ट वस्त्र—गुरु के समक्ष प्रतिज्ञात वस्त्र को गृहस्थों से मांगना।

२. प्रेक्षावस्त्र—अवलोकन करते हुए वस्त्र की याचना करना।

३. अन्तरावस्त्र—गृहस्थ पुरातन अंतरीय-उत्तरीय वस्त्रयुगल को स्थापित करना चाहता है, किन्तु अभी तक स्थापित नहीं किया है और नया वस्त्रयुगल धारण कर लिया है—इस अंतराल में उस वस्त्र की याचना करना।

४. उज्झितधर्मा—परित्यागार्ह वस्त्र की गवेषणा करना।

अभिग्रह (प्रतिज्ञाविशेष) की भाषा में इन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है—

१. मैं उद्दिष्ट (नामोल्लेखपूर्वक संकल्पित) वस्त्र की याचना करूंगा।

२. मैं दृष्ट वस्त्रों की याचना करूंगा।

३. मैं शय्यातर के द्वारा भुक्त वस्त्रों की याचना करूंगा।

४. मैं छोड़ने योग्य वस्त्रों की याचना करूंगा।

ये वस्त्र की चार प्रतिमाएं—ग्रहण विधियां हैं।

गच्छवासी (स्थविरकल्पी) मुनि के लिए ये चारों प्रतिमाएं विहित हैं। जिनकल्पी मुनि के लिए यावज्जीवन अंतिम दो प्रतिमाएं विहित हैं, उनमें से भी एक का अभिग्रह होता है (यदि तीसरी प्रतिमा का ग्रहण होता है तो चौथी का नहीं होता और यदि चौथी का ग्रहण होता है तो तीसरी का नहीं होता)।

१२. वस्त्र प्राप्ति के लिए निवेदन

जं जस्स नत्थि वत्थं, सो उ निवेइड तं पवत्तिस्स।
सो वि गुरूणं साहइ, निवेइ वावारए वा वि ॥
(बृभा ६१५)

जिसके पास जो वस्त्र नहीं हैं, वह उसकी प्राप्ति के लिए प्रवर्त्तक को निवेदन करता है। प्रवर्त्तक आचार्य को कहता है। तब आचार्य आभिग्रहिक मुनि से (जिसने समस्त गच्छ के लिए वस्त्र-पात्रों की पूर्ति करने का अभिग्रह ले रखा हो) वस्त्र लाने के लिए कहते हैं। यदि आभिग्रहिक मुनि न हो, तब आचार्य वस्त्रार्थी मुनि से वस्त्र की गवेषणा करने के लिए कहे और यदि वह लाने में समर्थ न हो तो दूसरे मुनि को वस्त्र-गवेषणा के लिए कहे।

१३. वस्त्र ग्रहण से पूर्व तीन पृच्छा

विउसग्ग जोग संघाडएण भोइयकुले तिविह पुच्छा ।
कस्स इमं किं व इमं, कस्स व कज्जे..... ॥

(बृभा २७९६)

संघाटक (मुनिद्वय) उपयोग संबंधी कायोत्सर्ग कर भिक्षा के लिए जाए। भोजिक आदि कुलों में प्रवेश करने पर यदि गृहपति वस्त्र के लिए निर्मात्रित करे तो मुनि वस्त्रग्रहण से पूर्व त्रिविध पृच्छा करे—

१. यह वस्त्र किसका है ?

२. यह क्या है ?

३. किस प्रयोजन से तुम इसे दे रहे हो ?

१४. वस्त्र ग्रहण के अवग्रह

निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए
अणुप्पविट्ठं केइ वत्थेण.....उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से
सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवेत्ता दोच्चं पि ओग्गहं
अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ (क १/३८)

संघाडए पविट्ठे, रायणिए तह य ओमरायणिए ।

जं लब्भइ पाओग्गं, रायणिए उग्गहो होइ ॥

(बृभा २८१०)

गृहपति के घर में पिंडपात की प्रतिज्ञा से अनुप्रविष्ट मुनि को कोई गृहस्थ वस्त्र से उपनिमंत्रित करे तो मुनि उस वस्त्र को इस धारणा से ग्रहण करे कि यह वस्त्र आचार्य का है, मेरा नहीं। आचार्य मुझे या अन्य जिस किसी को देंगे या स्वयं उसका उपयोग करेंगे, यह उसी का होगा—इस सविकल्प वचन व्यवस्था से उसे ग्रहण कर आचार्य के चरणों में उसे समर्पित करे। यदि आचार्य उसे ही दे देते हैं तो वह दूसरा अवग्रह है। एक गृहस्थ का अवग्रह, दूसरा आचार्य का अवग्रह। तत्पश्चात् उस वस्त्र को धारण करे, परिभोग करे।

भिक्षा के लिए प्रविष्ट मुनिसंघाटक में एक रात्तिक होता है और एक अवम रात्तिक। वे भिक्षा में प्रायोग्य वस्तु प्राप्त करते हैं। जब तक आचार्य के पास नहीं पहुंचते, तब तक उस वस्तु का स्वामी रात्तिक मुनि का अधिकार होता है।

१५. वस्त्र विक्रिया निषेध

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णो वण्णमंताइं वत्थाइं

विवण्णाइं करेज्जा, विवण्णाइं णो वण्णमंताइं करेज्जा,
“अण्णं वा वत्थं लभिस्सामि” ति कट्ठु णो अण्णमण्णस्स
देज्जा...थिरं वा णं संतं णो पल्लिच्छिदिय-पल्लिच्छिदिय
परिट्ठवेज्जा, जहा चेयं वत्थं पावगं परो मन्नइ ।.....

(आचूला ५/४८)

वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी वर्णवान् (सुंदर) वस्त्रों को विवर्ण न करे, विवर्ण वस्त्रों को वर्णवान् न करे, 'अन्य वस्त्र प्राप्त कर लूंगा' यह सोचकर परस्पर एक-दूसरे को न दे...मजबूत वस्त्र को खण्ड-खण्ड कर विसर्जित न करे, जिस वस्त्र को गृहस्थ असुंदर मानता है, (वैसा वस्त्र धारण करे)।

१६. साध्वी-प्रायोग्य वस्त्र का ग्रहण-परीक्षण

सत्त दिवसे ठवेत्ता, थेरपरिच्छा ।

देइ गणी गणिणीए, ॥

मग्गंति थेरियाओ, लद्धं पि य थेरियाउ गेण्हंति ।....

सत्त दिवसे ठवित्ता, कप्पे कते थेरिया परिच्छंति ।

सुद्धस्स होइ धरणा, असुद्ध छेतुं परिट्ठवणा ॥

(बृभा २८२०, २८२८, २८२९)

साधु द्वारा साध्वी के प्रायोग्य वस्त्र प्राप्तकर उन्हें सात दिन तक स्थापित किया जाता है, फिर धोकर उनसे स्थविर को प्रावृत कर परीक्षा की जाती है। यदि उनके परिभोग से कोई विकार पैदा नहीं होता है तो गणी उन्हें प्रवर्तिनी को देते हैं, फिर प्रवर्तिनी यथाक्रम से साध्वियों को देती है।

श्रमणों के अभाव में दृढधर्मिणी और गीतार्थ स्थविरा वस्त्र की गवेषणा करे। वस्त्र की उपलब्धि होने पर स्थविरा ही दायक के हाथ से ग्रहण करे। गृहीत वस्त्र को सात दिनों तक स्थापित करे। फिर उसका प्रक्षालन करके उससे अपने शरीर को प्रावृत कर उसकी परीक्षा करे। यदि वस्त्र शुद्ध है तो धारण करे। यदि अशुद्धभावों का उत्पादक है तो उसे छिन्न कर परिष्ठापित करे।

० गणधरनिश्रा में वस्त्रग्रहण

संज्ञातकादिना वस्त्रं दीयमानं प्रवर्तिन्या निवेद-
यति, प्रवर्तिनी गणधरस्य निवेदयति, ततो गणधरः
स्वयमागत्य परीक्षाशुद्धं कृत्वा गृह्णाति। अथ नास्ति तत्र
प्रवर्तिनी ततस्तद् वस्त्रं वर्णेन रूपेण चिह्नेन चोपलक्ष्य

गणधरस्य कथयति, स चागत्य स्वयं गृह्णाति। एतन्नि-
श्राग्रहणमुच्यते। (बृभा ४१५१ की वृ)

श्रावक वस्त्र देना चाहे है तो प्रवर्तिनी से निवेदन करे। प्रवर्तिनी गणधर को निवेदन करे। फिर गणधर स्वयं आकर वस्त्र की परीक्षा करे। यदि वस्त्र शुद्ध है तो उसे ग्रहण करे। वहां प्रवर्तिनी नहीं है, तब उस वस्त्र को वर्ण, रूप और चिह्न से उपलक्षित कर साध्वी गणधर से कहे। गणधर स्वयं आकर वस्त्र ग्रहण करता है, इसे निश्रा ग्रहण कहते हैं।

१७. वस्त्र ग्रहण किससे ?

कावलिए य भिक्खू, सुइवादी कुव्विए अ वेसिन्थी।
वाणियग तरुण संसट्ट, मेहुणे भोइए चेव॥
माता पिया य भगिणी, भाउग संबंधिए य तह सन्नी।
भावितकुलेसु गहणं, असई षडिलोम जयणाए॥
(बृभा २८२२, २८२३)

स्थविरा साध्वी तेरह स्थानों से वस्त्र ग्रहण न करे—

- | | |
|------------------|---------------------------|
| १. कापालिक | ८. पूर्व परिचित उद्भ्रामक |
| २. भिक्षु | ९. मातुल-पुत्र |
| ३. शौचवादी | १०. भर्ता |
| ४. कूर्चन्धर | ११. माता-पिता, |
| ५. वेश्या स्त्री | भगिनी-भ्राता |
| ६. वणिक् | १२. संबंधीजन |
| ७. तरुण | १३. श्रावक |

इन्हें छोड़कर भावितकुलों से वस्त्र ग्रहण करे। वहां वस्त्र प्राप्त न होने पर प्रतिषिद्ध स्थानों से पश्चानुपूर्वी क्रम से यतनापूर्वक वस्त्र ग्रहण करे।

१८. वस्त्र-उपयोग विधि

“कप्पासिगा य दोण्णि उ, उण्णिय एक्को य परिभोगो॥
छय्यइय-पणगरक्खा, भूसा उज्जायणा य परिहरिया।
सीतत्ताणं च कतं, खोम्मिय अंबिभतरे तेण॥
सौत्रिकं कल्पमन्तः प्रावृणुयात्, और्णिकं तु बहिः।
एष विधिपरिभोग उच्यते। (बृभा ३६६४, ३६६७ वृ)

मुनि दो सूती और एक ऊनी वस्त्र ग्रहण करे। वह सूती वस्त्र भीतर में और उसके ऊपर ऊनी वस्त्र धारण करे—

यह विधिपरिभोग है। ऊनी वस्त्र शीघ्र मलिन हो जाता है, अतः भीतर में धारण करने से यूका, पनक आदि संसक्त हो सकते हैं। विधिपूर्वक परिभोग से वे स्वतः रक्षित हो जाते हैं। सूती वस्त्र बाहर पहनने से विभूषा का भाव पैदा होता है। मलिन ऊनी वस्त्र में दुर्गंध भी आने लगती है। विधिपरिभोग से वह भी परिहृत हो जाती है। नीचे सूती वस्त्र और ऊपर ऊनी वस्त्र से शीत से बचाव भी होता है। इसलिए क्षौमिक वस्त्र को भीतर में धारण करना चाहिए।

१९. वस्त्र सीवन की अविधि-विधि

जे भिक्खू अविहीए वत्थं सिव्वति, सिव्वंतं वा
सातिज्जति॥ (नि १/४९)

गग्गरा दंडिवलित्तग-जालेगसरा-दुखील-एक्का य।
गोमुत्तिगा य अविधी, विहि झसकंटा विसरिगा॥
गग्गरसिव्वणी जहा संजतीणं, डंडिसिव्वणी—जहा
गारत्थाणं। जालगसिव्वणी—जहा वरक्खाइसु एगसरा, जहा
संजतीण पयालणीकसासिव्वणी णिब्भंगे वा दिज्जति।
दुक्खीला संधिज्जंते उभओ खीला देति। एगखीला एगओ
देति। गोमुत्ता संधिज्जंते इओ इओ एक्कसिं वत्थं विंधइ।
एसा अविधी। विधि झसकंटा सा संधणे भवति, एक्कतो
व उक्कुइते संभवति। विसरिया सरडो भण्णति।
(निभा ७८२ चू)

अविधि से वस्त्र सीने वाला भिक्षु मासगुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है। (अविधि-सीवन सूत्रार्थ का परिमंथु है। ठीक प्रतिलेखन न होने से संयम की विराधना होती है।)

अविधि सीवन के सात प्रकार हैं—

- गग्गर सीवन—साध्वी की तरह सीना।
- दंडी सीवन—गृहस्थ की भांति सीना।
- वलित्तग—बल (बंट) देते हुए सीना।
- जालक एकसरा—जालक की तरह एक समान सीना।
- दुक्कील—सांधते समय दोनों ओर से खीलना।
- एककील—एक ओर से खीलना।
- गोमूत्रिका—गोमूत्रिका की तरह बाएं से दाएं, दाएं से बाएं बल देते हुए सीना।

विधिसीवन—इसके दो प्रकार हैं—

० झषकंटा—मछली के कांटे की आकृति में सीना अथवा एक ओर से तूमना (रफू करना) ।

० विस्तरिका—मछली पकड़ने के जाल के आकार में सीना अथवा गिरगिट की गति के आकार में सीना ।

२०. सूई का स्वरूप और उपयोग

वेलुमयी, लोहमयी, दुविधा सूयी समासओ होति ।

चउरंगुलप्यमाणा, सा सिव्वणसंधणट्टाए ॥

लोहमती सूती साहुणा ण घेत्तव्वा परं आयरियस्स एक्का भवति, सेसाण वेलुमती सिंगमती वा गणणप्य-माणेण एक्केक्का भवति । यमाणप्यमाणेण चतुरंगुला भवति । किं कारणं घेप्पति ? इमं—तुण्णणं उक्कइयकरणं वा सिव्वणं दुगातिखंडाण संधणं । (निभा ७१८ चू)

सामान्यतः दो प्रकार की सूई होती है—वेणुमयी और लोहमयी । साधुओं को लोहमयी सूई ग्रहण नहीं करनी चाहिए किन्तु आचार्य के लिए एक सूई ली जा सकती है, शेष प्रत्येक साधु के पास वेणुमयी या शृंगमयी एक-एक सूई होती है । यह चार अंगुल प्रमाण होती है । सूई ग्रहण के मुख्य दो प्रयोजन हैं—

० सीवन—रफू करना (तूमना) आदि ।

० संधान—दो, तीन आदि खंडों को जोड़ना ।

२१. सूई आदि सौंपने की विधि

.....गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा सूई वा, पिप्पलाए वा कण्णसोहणए वा, णहच्छेयणए वा, तं अण्णो एगस्स अट्टाए पाडिहारियं जाइत्ता णो अण्णमण्णस्स देज्ज वा, अणुपदेज्ज वा, सयं करणिज्जं ति कट्टु से तमा-दाए तत्थ गच्छेज्जा, गच्छेत्ता पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे कट्टु भूमीए वा ठवेत्ता इमं खलु ति आलोएज्जा, णो चेव णं सयं पाणिणा परपाणिंसि पच्चवापिणेज्जा ॥

(आचूला ७/९)

गृहपति अथवा गृहपतिपुत्र की सूई, कैंची, कर्ण-शोधनी, नखच्छेदनी हो, उस प्रातिहारिक वस्तु की स्वयं अकेले के लिए याचना कर लाए, उसे परस्पर एक-दूसरे को न दे, बार-बार न दे, स्वयं के लिए जो उस वस्तु से करणीय है, वह कार्य कर उसे लेकर गृहस्थ के पास जाए, जाकर

पहले ही हाथ को फैला कर सूई को भूमि पर रखे 'यह वस्तु है' ऐसा कहे, अपने हाथ से उसे गृहस्थ के हाथ में न सौंपे ।

२२. चिलिमिलिका के प्रकार और प्रमाण

सुत्तमई रज्जुमई, वागमई दंड-कडगमयई य ।

पंचविह चिलिमिली पुण, उवगगहकरी भवे गच्छे ॥

हत्थपणगं तु दीहा तिहत्थ-रुंदोन्निया असइ खोमा ।

एतप्यमाण गणणेक्कमेक्क, गच्छं व जा वेहे ॥

(बृभा २३७४, २३७५)

चिलिमिलिका के पांच प्रकार हैं—

१. सूत्रमयी—वस्त्रमयी अथवा कम्बलमयी ।
२. रज्जुमयी—ऊन आदि के डोरे से बनी हुई ।
३. वल्कमयी—वृक्ष (सन आदि) की छाल से निष्पन्न ।
४. दण्डकमयी—बांस, वेत्र आदि की यष्टि से निष्पन्न ।
५. कटकमयी—वंशकट आदि से निष्पन्न ।

चिलिमिलिका गच्छवासी मुनियों के लिए उपग्रह-कारी होती है । यह पांच हाथ लम्बी तथा तीन हाथ विस्तीर्ण प्रमाण वाली होती है । सूत्रमयी और और्णिकी चिलिमिली प्राप्त न होने पर क्षौमिकी (रेशमी) का ग्रहण किया जा सकता है । गणना प्रमाण की अपेक्षा से प्रत्येक साधु एक-एक चिलिमिलिका रख सकता है । अथवा जितनी से गच्छ वेष्टित किया जा सके, उतने प्रमाण वाली चिलिमिलिकाएं ग्रहण की जा सकती हैं ।

० चिलिमिलिका का प्रयोजन

पडिलेहोभयमंडलि, इत्थी-सागारियट्टु सागरिए ।

घाणा-ऽऽलोग ज्झाए, मच्छिय-डोलाइपाणोसु ॥

उभओसहकज्जे वा, देसी वीसत्थमाइ गेलन्ने ।

अद्धाणे छन्नासइ, भओवही सावए तेणे ॥

छन्न-वहणट्टु मरणे, वासे उज्झवखणी य कडओ य ।

उल्लुवहि विरल्लिति व, अंतो बहि कसिण इतरं वा ॥

(बृभा २३७९-२३८१)

चिलिमिलिका के प्रयोग के अनेक प्रयोजन हैं—

० प्रतिलेखन करते समय द्वार पर चिलिमिलिका के कारण गृहस्थ उत्कृष्ट उपधि देख नहीं सकता, तब उसके अपहरण की चिन्ता नहीं रहती ।

- ० भोजन मंडली और स्वाध्याय मंडली की रक्षा के लिए।
- ० स्त्रियों के अवलोकन से बचने के लिए।
- ० स्वाध्याय भूमि में मल-मूत्र की गंध आ रही हो अथवा शोणित आदि दिखाई दे रहे हों तो निर्बाध स्वाध्याय करने के लिए।
- ० मक्खी, टिड्डी आदि प्राणियों की हिंसा से बचने के लिए।
- ० ग्लान मुनि के मल-मूत्र-विसर्जन की सुविधा के लिए। उसे औषध प्रच्छन्न रूप से देने के लिए।
- ० ग्लान को शाकिनी आदि के उपद्रव से बचाने के लिए।
- ० ग्लान के निश्चित खुले बदन सो सकने के लिए।
- ० मार्ग में प्रच्छन्न स्थान के अभाव में आहार, प्रतिलेखना आदि कर सकने के लिए।
- ० जहां श्वापद और चोरों का भय हो, वहां कटकमयी और दण्डकमयी चिलिमिली से द्वार को बंद किया जाता है।
- ० जब तक मृतक का परिष्ठापन नहीं किया जाता, तब तक उसे चिलिमिलिका से आच्छादित कर रखने के लिए। दण्डक-मयी चिलिमिली से मृतक को वहन किया जाता है।
- ० वर्षा के समय जिस दिशा से हवा से प्रेरित होकर जलकण आ रहे हों, उस दिशा में कटक-चिलिमिलिका का प्रयोग करना चाहिए। वर्षा के जल से भीगी उपधि को रज्जुमयी चिलिमिलिका में फैलाकर सुखाया जा सकता है। मूल्यवान् उपधि को उसके भीतर तथा अल्पमूल्य वाली उपधि को उसके बाहर फैलाना चाहिए।

२३. वस्त्र-अपहरणकाल में उपेक्षा भाव

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से आमोसगा संपिंडिया गच्छेज्जा। तेणं आमोसगा एवं वदेज्जा—आउसंतो! समणा! आहरेयं वत्थं, देहि, निक्खिवाहि। तं णो देज्जा, णो णिक्खिवेज्जा, णो वंदिय-वंदिय जाएज्जा, णो अंजलिं कट्टु जाएज्जा, णो कलुण-पडियाए जाएज्जा, धम्मियाए जायणाए जाएज्जा, तुसिणीय-भावेण वा उवेहेज्जा।

ते णं आमोसगा सयं करणिज्जं ति कट्टु अवको-संति वा, बंधंति वा, रुंधंति वा, उद्वंति वा, वत्थं अच्छिदेज्ज वा, अवहरेज्ज वा, परिभवेज्ज वा। तं णो गामसंसारियं

कुज्जा, णो रायसंसारियं कुज्जा, णो परं उवसंकमित्तु बूया... ॥ (आचूला ५/५०)

ग्रामानुग्राम परिव्रजन करते हुए भिक्षु अथवा भिक्षुणी के मार्ग में चोर एकत्रित होकर जा रहे हों। वे चोर यह कहें—आयुष्मन्! श्रमण! इस वस्त्र को लाओ, दो, रख दो। भिक्षु उन्हें वस्त्र न दे, न नीचे रखे। (यदि वे छीन लें तो) न वन्दना कर याचना करे, न बद्धाञ्जलि हो याचना करे, न दीनतापूर्वक याचना करे, धार्मिक वृत्ति से याचना करे अथवा मौनभाव से उपेक्षा करे। वे चोर, वस्त्र को अपना बनाना है—यह सोचकर मुनि पर आक्रोश करते हैं, उसे बांधते हैं, अवरुद्ध करते हैं, उपद्रुत करते हैं, वस्त्र को छीनते हैं, अपहरण करते हैं अथवा परिभव करते हैं। साधु इस बात को गांव में न फैलाए, राजा को न कहे, न गृहस्थ के पास जाकर कहे।

० अचेल सचेल की अवमानना न करे

जो वि दुवत्थ तिक्थो, एगेण अचेलतो व संथरती।
ण हु ते खिसंति परं, सव्वेण वि तिणिण घेतव्वा ॥
(निभा ५८०७)

स्थविरकल्पी अपनी अपेक्षा के अनुसार एक, दो या तीन वस्त्र ग्रहण-धारण कर सकता है। जिनकल्पी यदि अचेल रहता है, तो वह अचेल रहे किंतु विशिष्ट अभिग्रहधारी अधिक वस्त्र रखने वालों की अवहेलना न करे क्योंकि सबके लिए तीन कल्प ग्राह्य हैं।

(जोऽवि दुवत्थतिक्थो, एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं, सव्वेऽपि थ ते जिणाणाए ॥

कोई मुनि दो वस्त्र रखता है, कोई तीन वस्त्र, कोई एक वस्त्र और कोई निर्वस्त्र रहता है। वे एक-दूसरे की अवहेलना न करें क्योंकि वे सब तीर्थंकर की आज्ञा में हैं।

—आ ६/५६ का भाष्य)

२४. वस्त्र-पात्र-एषणा हेतु क्षेत्रगमन-सीमा

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा परं अद्धजोयण-मेराए वत्थ-पडियाए... पाय-पडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए ॥ (आचूला ५/४, ६/३)

भिक्षु अथवा भिक्षुणी वस्त्र और पात्र (प्राप्ति) की

प्रतिज्ञा से आधे योजन से आगे जाने का संकल्प न करे।

२५. तीन से अधिक बंधन-धिगल-निषेध

जे भिक्खू पायं परं तिण्हं बंधाणं बंधति... वत्थस्स परं तिण्हं पडियाणियाणं देति... आवज्जइ मासियं परिहारट्टाणं अणुघातियं ॥ (नि १/४५, ४८, ५६)

जो भिक्षु पात्र के तीन से अधिक बंधन बांधता है, वस्त्र के तीन से अधिक धिगल (पैबंद) लगाता है, वह गुरुभासिक प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

२६. अतिरिक्त पात्र-वस्त्र धारण की अवधि

जे भिक्खू अतिरेगबंधणं पायं... ॥... अइरेगगहियं वत्थं परं दिवड्ढाओ मासाओ धारेति... ॥... आवज्जइ मासियं परिहारट्टाणं अणुघातियं ॥ (नि १/४६, ५४, ५६)

जो भिक्षु अतिरिक्त बंधनयुक्त पात्र और अतिरिक्त गृहीत वस्त्र को डेढ़ मास से अधिक रखता है, वह गुरुभासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

२७. पात्र के प्रकार

..... अलाउपायं वा, दारुपायं वा, मट्टियापायं वा... ॥ (आचूला ६/१)

..... तिविहं उक्कोस मज्झिम जहन्नं ।
एक्केक्कं पुण तिविहं, अहागडुप्पं सपरिकम्मं ॥
(बृभा ६५२)

पात्र के तीन प्रकार हैं—

१. अलाबु पात्र २. काष्ठ पात्र ३. मृत्तिका पात्र।

इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं—

१. उत्कृष्ट २. मध्यम ३. जघन्य।

इन तीनों के तीन-तीन प्रकार हैं—

१. यथाकृत २. अल्पपरिकर्म ३. सपरिकर्म।

० पात्र-परिधि का मापन

तिन्नि विहत्थी चउरांगुलं च भाणस्स मज्झिमपमाणं ।
एत्तो हीण जहन्नं, अतिरेगयरं तु उक्कोसं ॥
(बृभा ४०१३)

पात्र की परिधि रस्सी से मापी जाती है। मापने पर माप वाली रस्सी तीन वितस्ति तथा चार अंगुल की होती है

तो उस माप वाला पात्र मध्यम प्रमाण का है। इस माप से छोटा जघन्य पात्र है तथा इससे बड़ा उत्कृष्ट पात्र है।

२८. पात्रैषणा की चार प्रतिमाएं

.... चउहिं पडिमाहिं पायं एसित्तए ॥

तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उद्दिसिय-उद्दिसिय पायं जाएज्जा, तं जहा—लाउय-पायं वा, दारु-पायं वा, मट्टिया-पायं वा... ॥

अहावरा दोच्चा पडिमा... पेहाए पायं जाएज्जा... ॥
अहावरा तच्चा पडिमा... सेज्जं पुण पायं जाणेज्जा संगतियं वा, वेजयंतियं वा... ॥

अहावरा चउत्था पडिमा—... उज्झिय-धम्मियं पायं जाएज्जा, जं चउण्णे बहवे समण-माहण-अतिहि-क्विण-वणीमगा णावकंखति... ॥ (आचूला ६/१५-१९)

उद्दिसिय पेह संगय, उज्झियधम्मि चउत्थाए होइ।...

उद्दिट्ठ तिगेगयरं, पेहा पुण दु एरिसं भणइ।

दोणहेगयरं संगइ, वाहयई वारएणं तु ॥

गच्छवासिनः प्रतिमाचतुष्टयेनापि पात्रं गृह्णन्ति, जिनकल्पिकानामधस्तनाभ्यां द्वाभ्यामग्रहणमुपरितन-योर्द्वयोरेकतरस्यामभिग्रहः।

कस्यचिदगारिणो द्वे पात्रे, स च तयोरेकतरं दिने दिने वारकेण वाहयति, तत्र यस्मिन् दिवसे यद् वाह्यते तत् सङ्गतिकमभिधीयते, इतरद् वैजयन्तिकम्। तयोरेकतरं यद्भिग्रहविशेषेण गवेष्यते सा तृतीया प्रतिमा।

(बृभा ६५४, ६५५ वृ)

मुनि प्रतिमाचतुष्टयो से पात्र की एषणा करे—

१. उद्दिष्ट पात्र—अलाबु, काष्ठ और मिट्टी के अथवा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—मुनि इन तीन प्रकार के पात्रों में से गुरु के समक्ष जिस पात्र की प्रतिज्ञा की हो, उसी की गृहस्थ से याचना करता है।

२. प्रेक्षा पात्र—भिक्षु पात्र को देखकर याचना करे।

३. संगतिक पात्र—किसी गृहस्थ के पास दो पात्र हैं। वह बारी-बारी से प्रतिदिन एक पात्र का उपयोग करता है। जिस दिन जिस पात्र का उपयोग करता है, वह पात्र संगतिक पात्र

कहलाता है। दूसरा पात्र वैजयंतिक है। इन दोनों में से एक की अभिग्रहपूर्वक गवेषणा करना तीसरी प्रतिमा है।

४. उज्जितधर्मिक पात्र—जिस पात्र को श्रमण, माहन, अतिथि, कृपण और वनीपक नहीं चाहते, वैसे पात्र की स्वयं याचना करे या गृहस्थ स्वयं दे, उस पात्र को ग्रहण करे।

गच्छवासी मुनि प्रतिमाचतुष्टय से पात्र ग्रहण करते हैं। जिनकल्पी मुनि अंतिम दो में से किसी एक का अभिग्रह ग्रहण कर पात्र की गवेषणा करते हैं।

२९. धारणीय पात्र ग्राह्य

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण पायं जाणेज्जा—अप्यंडं अप्यपाणं अप्यबीयं अप्यहरियं अप्योसं अप्युदयं अप्युत्तिग-पणग-दग-मट्टिय-मक्कडासंताणगं, अलं थिरं धुवं धारणिज्जं, रोइज्जंतं रुच्चइ, तहप्यगारं पायं—फासुयं एसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते पडिगाहेज्जा ॥ (आचूला ६/३१)

वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी पात्र को जाने—अण्डे, प्राण, बीज, हरित, ओस, उदक, चींटियों के बिल, फफूंदी दलदल (या सचित मिट्टी) और मकड़ी के जाले से रहित है, पर्याप्त, स्थिर (मजबूत), ध्रुव (टिकाऊ) और धारण करने योग्य है, उस प्रकार के पात्र को अभिलषणीय-एषणीय मानता हुआ मिलने पर ग्रहण करे।

जे भिक्खू पडिग्गहं अणलं अधिरं अधुवं अधारणिज्जं धरेति... ॥ अलं थिरं धुवं धारणिज्जं न धरेति... ॥ तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारड्डाणं उग्घात्तियं ॥ (नि १४/८, ९, ४१)

अणलमपज्जत्तं खलु, अधिरं अददं तु होति णायव्वं।

अधुवं च पाडिहारिय, अलक्खणमधारणिज्जं तु ॥

(निभा ४६२६)

जो भिक्षु अपर्याप्त, अदृढ़, प्रातिहारिक और अलक्षण पात्र रखता है, पर्याप्त, दृढ़, ध्रुव और धारणीय पात्र नहीं रखता है, वह चतुर्लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

३०. सलक्षण-अलक्षण पात्र

वट्टं समचउरंसं, होइ थिरं थावरं च वन्नट्टं।
हुंडं वायाइद्धं, भिन्नं च अधारणिज्जाइं ॥

वृत्तं वर्तुलं, समचतुरस्रं उच्छ्रयपरिधिना कुक्षि-
परिधिना च तुल्यं, स्थिरं सुप्रतिष्ठानं दृढं वा, स्थावरम्
अप्रातिहारिकं, वर्णाढ्यं स्निग्धवर्णोपेतं... हुण्डं
विषमसंस्थितं क्वचिद् निम्नं क्वचिदुन्नतमित्यर्थः,
वाताविद्धं निष्पत्तिकालमन्तरेणावांगपि शुष्कम् अत एव
संकुचितं बलिभूतं च सज्जातम्, भिन्नं नाम सच्छिद्रं
राजियुक्तं वा। (बृभा ४०२२ वृ)

वर्तुल, समचतुरस्र, स्थिर, अप्रातिहारिक (दीर्घ-
कालस्थायी) और स्निग्ध वर्ण युक्त—इन गुणों से युक्त तथा
ज्ञान आदि गुणों का वहन करने वाला पात्र लक्षणयुक्त होता
है। विषम संस्थान वाला, निष्पत्तिकाल से पूर्व सूखने वाला
झुरीयुक्त, छिद्र तथा दरार से युक्त पात्र लक्षणहीन होने से
अधारणीय होता है।

० पात्र का संस्थान और लाभ-हानि

संठियम्मि भवे लाभो, पतिट्ठा सुपतिट्ठिए।
निव्वणे कित्तिमारोगं, वन्नट्टे नाणसंपया ॥
हुंडे चरित्तभेओ, सबलम्मि य चित्तविब्भमं जाणे।
दुप्पुत्ते खीलसंठाणे, नत्थि ट्ठाणं ति निहिसे ॥
पउमुप्पले अकुसलं, सव्वणे वणमाइसे।
अंतो बहिं व दट्टे, मरणं तत्थ निहिसे ॥
(बृभा ४०२३-४०२५)

वृत्त और समचतुरस्र संस्थित पात्र धारण करने पर
विपुल भक्तपान आदि का लाभ होता है। स्थिर पात्र ग्रहण
करने पर चारित्र, गण आदि में स्थिरता होती है। व्रणरहित
पात्र से कीर्ति और आरोग्य की प्राप्ति होती है। स्निग्धवर्णयुक्त
पात्र से ज्ञान संपदा बढ़ती है।

विषम संस्थान वाला पात्र चारित्र का भेद करता है।
विचित्र वर्ण वाला पात्र चित्त में विक्षिप्तता पैदा करता है। जो
पात्र पुष्पकमूल में अप्रतिष्ठित या अस्थिर कीलक संस्थान
वाला है, उससे गण और चारित्र में स्थान नहीं होता।

पद्मोत्पलाकार पुष्पकयुक्त पात्र अकुशल करने वाला
होता है (पुष्पक का अर्थ है पात्र की नाभि)। सत्रण पात्र का
स्वामी व्रणों से युक्त होता है, भीतर व बाहर से जला हुआ
पात्र मरण का संकेत है।

३१. अविधिबंध पात्र का निषेध

जे भिक्खू पायं अविहीए बंधति, बंधंतं वा सातिज्जति ॥
(नि १/४३)

....अविधी विधी य बंधो, अविधीबंधो इमो तत्थ ॥
सोत्थियबंधो दुविधो, अविक्कलितो तेण-बंधो चउरंसो ।
एसो तु अविधिबंधो, विहिबंधो मुहि-णावा य ॥
(निभा ७३७, ७३८)

पात्र को अविधिबंध से बांधने वाला भिक्षु मासगुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

बंध के दो प्रकार हैं—

१. अविधिबंध—स्वस्तिकबंध और स्तेनबंध ।

स्वस्तिकबंध के दो प्रकार हैं—

० अविकल—समचतुरस्र कोणों से भिन्न



० विकल—एक ओर से भिन्न



दो ओर से भिन्न



स्तेनबंध



२. विधिबंध—मुद्रिकासंस्थित और नौकाबंध संस्थित ।

भिज्जिज्ज लिप्पमाणं, लित्तं वा असइए पुणो बंधे ।
मुद्दियनावाबंधे, न तेणबंधेण बंधेज्जा ॥
(बृभा ५२८)

लेप्यमान अथवा लिप्त पात्र भग्न हो जाए और दूसरा पात्र न हो, भग्न पात्र को पुनः जोड़ना हो तो मुद्रितनौबंधन (मुद्रिका-नौकाबंध-संस्थित) से जोड़े, स्तेनकबंध से नहीं ।

३२. घटीमात्रक का स्वरूप और उपयोग

अपरिस्साई मसिणो, पगासवदणो स मिम्मओ लहुओ ।
सुइ-सिय-दहरपिहणो, चिडुइ अरहम्मि वसहीए ॥
(बृभा २३६४)

घटीमात्रक जल से अत्यंत भ्रूणित होने के कारण अपरिश्रावी होता है । वह चौड़े मुख वाला, मिट्टी से निष्पन्न और हल्का होता है, स्वच्छ श्वेत वस्त्र से पिहित होता है । ऐसा पात्र उपाश्रय के प्रकाश प्रदेश में रखा जा सकता है (यह प्रस्रवण के लिए उपयोगी है ।)

कप्पइ निग्गंथीणं अंतोलिन्नयं घडिमन्नयं धारित्तए वा

परिहरित्तए वा ॥ नो कप्पइ निग्गंथाणं... । (क १/१६, १७)

.....बिडयं

गिलाणकारण ॥

लाउय असइ सिणेहो, ठाइ तहिं पुव्वभाविय कडाहो ।
सेहे न सोयवायी, धरंति देसिं व ते षप्प ॥
(बृभा २३६५, २३६९)

साध्वियां अंतःलेपयुक्त घटीमात्रक (घटी के आकार वाला मृन्मय पात्रविशेष) रख सकती हैं और उसका उपयोग कर सकती हैं ।

साधु घटीमात्रक न रख सकते हैं और न ही उसका उपयोग कर सकते हैं । वे दो कारणों से घटीमात्रक का प्रयोग कर सकते हैं—

० रोग उत्पन्न हो जाने पर किसी ग्लान के लिए घृत की अपेक्षा हो तो अलाबुपात्र के अभाव में पूर्वभाषित कटाहक या घटीमात्रक ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि उसमें गृहीत घृत परिश्रवित नहीं होता ।

० शौचवादी शिष्य के लिए तथा गोल्लदेश जैसे शौचवादी क्षेत्र में यह पात्र ग्रहण किया जा सकता है ।

३३. आर्यरक्षित द्वारा मात्रक अनुज्ञा

दिन्नज्जरक्खितेहिं दसपुरनगरम्मि उच्छुधरनामे ।
वासावासठितेहिं, गुणनिप्फत्तिं बहुं नाउं ॥
....लोभे पसज्जमाणे, वारंति ततो पुणो मत्तं ॥
एवं सिद्धग्गहणं आयरियादीण कारणे भोगो ।
पाणादयदुवभोगो, बित्तिओ पुण रक्खियज्जाओ ॥
(व्यभा ३६०५, ३६०९, ३६१०)

अतिरिक्त पात्र रखने से वर्षावास में बहुत गुण-निष्पत्ति होगी—इस उद्देश्य से आर्यरक्षित ने दशपुर नगर के इक्षुगृह उद्यान में वर्षावास में एक अतिरिक्त पात्र—मात्रक रखने की अनुज्ञा दी ।

ऋतुबद्धकाल में आचार्य, ग्लान आदि के प्रायोग्य द्रव्य ग्रहण के लिए मात्रक अनुज्ञात है । अन्य कारणों से उसका उपभोग केवल लोभ के प्रसंग से होता है, इसलिए मात्रक का वर्जन कर दिया ।

आचार्य आदि के कारण से मात्रक का परिभोग ओघनिर्युक्ति

में अनुज्ञात है। मात्रक का दूसरा परिभोग प्राणीदया के लिए आर्यरक्षित द्वारा अनुज्ञात है।

० जिनकल्पी के एक पात्र, स्थविर के मात्रक भी
दव्वे एगं पायं, भणिओ तरुणो य एगपाओ उ।
अप्पोवही पसत्थो, चोएति न मत्ततो तम्हा॥
जिणकप्पे तं सुत्तं, सपडिग्गहकस्स तस्स तं एगं।
नियमा थेराण पुणो, बित्तिज्जओ मत्तओ होइ॥
(बृभा ४०६१, ४०६२)

शिष्य ने कहा—एक पात्र रखना उपकरण द्रव्य ऊनोदरी है तथा तरुण साधु को एक पात्र रखने का निर्देश दिया गया है—‘जे भिक्खू तरुणे...एगं पायं धारेज्जा’ (आचूला ६/२)। अल्पोपधि प्रशस्त है, इसलिए साधु को मात्रक ग्रहण नहीं करना चाहिए।

इसके उत्तर में गुरु ने कहा—जिनकल्प के विषय में वह सूत्र मान्य है कि जो सप्रतिग्रह जिनकल्पिक है, उसके लिए एक पात्र होता है। स्थविरकल्पिकों के नियमतः दूसरा मात्रक होता है। (एगं पायं जिणकप्पियाण थेराण मत्तओ बीओ—ओधनिर्युक्ति ६७९)।

० वर्षाकाल में तीन मात्रक

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा
निग्गंथीण वा तओ मत्तगाइं गिण्हत्तए, तं जहा—उच्चार-
मत्तए पासवणमत्तए खेलमत्तए ॥ (दशा ८ सू २८०)

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी वर्षाकाल में तीन मात्रक रख सकते हैं—उच्चारमात्रक, प्रस्त्रवणमात्रक और श्लेषमात्रक।

३४. मूल्यवान् पात्रग्रहण-निषेध

...अय-पायाणि वा, तउ-पायाणि वा, तंब-पायाणि
वा, सीसग-पायाणि वा, हिरण-पायाणि वा, सुवण-
पायाणि वा, रीरिय-पायाणि वा, हारपुड-पायाणि वा, मणि-
काय-कंस-पायाणि वा, संख-सिंग-पायाणि वा, दंत-चेल-
सेल-पायाणि वा, चम्म-पायाणि वा—अण्णयराइं वा
तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं पायाइं—
अफासुयाइं अणेसणिज्जाइं ति मण्णमाणे लाभे संते नो
पडिगाहेज्जा ॥ (आचूला ६/१३)

लोह-पात्र, रंगे के पात्र, ताम्र-पात्र, सीसे के पात्र,
रजत-पात्र, स्वर्ण-पात्र, पीतल के पात्र, हारपुट-पात्र (रत्नजटित

लोहे आदि के पात्र), मणि-काच-कांस्य-पात्र, शंख-शृंग-
पात्र, दंत-वस्त्र-प्रस्तर-पात्र, चर्म-पात्र—इनको तथा इस प्रकार
के अन्य महामूल्यवान् पात्रों को अप्रासुक-अनेषणीय मानता
हुआ मिलने पर ग्रहण न करे।

० गृहिपात्र के प्रकार

...गिहिमत्ते, तसथावरजीवदेहनिष्फण्णे।...
सव्वे वि लोहपादा, दंते सिंगे य पवक्कभोमे य।
एते तसनिष्फण्णा, दारुगत्तुंवाइया इतरे ॥
(निभा ४०४२, ४०४३)

गृहिपात्र के दो प्रकार हैं—

१. त्रसजीवों के शरीर से निष्पन्न, जैसे—हाथी दांत से निर्मित
पात्र, महिष आदि के सींग से निर्मित (कपाल आदि)।

२. स्थावर जीवों के शरीर से निष्पन्न, जैसे—स्वर्ण, रजत आदि
सब प्रकार के लोह पात्र, काष्ठ, अलाबु और मिट्टी के पात्र।

० गृहि-पात्र में खाने का निषेध

जे भिक्खू गिहिमत्ते भुंजति, भुंजंतं वा सातिज्जति ॥

...तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वाणं
उग्घातियं ॥ (नि १२/११, ४३)

जो भिक्षु गृहिपात्र में खाता है, खाने वाले का अनुमोदन
करता है, वह चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

३५. पात्र-प्राप्ति के स्थान

कुत्तीय सिद्ध-निण्हग-पवंच-पडिमाउवासगाईसु।

कुत्तियवज्जं बित्तियं, आगरमाईसु वा दो वि ॥

आगर पल्लीमाई, निच्चुदग नदी कुडंगमुस्सरणं।

वाहे तेणे भिक्खे, जंते परिभोगऽसंसत्तं ॥

(बृभा ४०३३, ४०३५)

कुत्रिकापण में यथाकृत पात्र की गवेषणा करे।
सिद्धपुत्र, निहव, प्रपञ्चश्रमण (वेशधारी) तथा ग्यारहवीं
प्रतिमा पूर्ण कर जो श्रमणोपासक घर चले गए हैं, उनके
पास यथाकृत और अल्पपरिकर्म पात्र की गवेषणा करे।

आकर (भीलों की पल्ली), नदी, वनखंड और व्याध
तथा चोरों की पल्ली में, भिक्षाचरों के पास तथा यंत्रशालाओं
में अल्पपरिकर्म और सपरिकर्म दोनों प्रकार के पात्र प्राप्त होते
हैं तो कल्पनीय पात्रों को विधिपूर्वक ग्रहण करे। ये पात्र

प्रतिदिन उपयोग में आने के कारण जीव-जंतुओं से संसक्त नहीं होते, अतः ग्राह्य हैं।

(भीलों के पास प्रचुर मात्रा में तुंबे होते थे। ग्रामवासी लोग अगाध जल वाली नदियों को तुंबों से तैरते थे। वनों में तुंबों का वपन होता था। व्याध और चोरों की पल्लियों में मिट्टी के पात्रों का अभाव होता था। वे कांजी, पानी आदि तुम्बों में डालकर रखते थे। भिक्षाचर भिक्षा के लिए तुम्बे रखते थे। यंत्रशाला में गुड़-उत्सेचन आदि के लिए तुम्बे रखे जाते थे। —बृभा ४०३५ की वृ)

३६. लेप के प्रकार : तज्जात-युक्ति-द्विचक्र

अणवद्वंते तह वि उ, सव्वं अवणेत्तु तो पुणो लिंपे।
तज्जाय सचोप्पडयं, घट्ट रएउं ततो धोवे॥
तज्जाय-जुत्तिलेवो, दुचक्कलेवो य होइ नायव्वो।
जुत्ती य पत्थरायी, पडिकुड्डा सा उ सन्निही काउं।
दय सुकुमाल असन्निहि, दुचक्कलेवो अतो इट्ठो॥
(बृभा ५२४-५२६)

लेप के तीन प्रकार हैं—

१. तज्जातलेप २. युक्तिलेप ३. द्विचक्रलेप
१. तज्जात लेप—पात्र पर उत्कृष्ट पांच लेप लगाने पर यदि वह लेप पात्र से एकीभूत नहीं होता है तो उसे उतारकर पुनः लेप लगाया जाता है। जब पात्र को तेल आदि से चुपड़ा जाता है, उस पर रजें लग जाती हैं, तब उसके लेप को घट्टक पाषाण से रगड़कर पुनः उसी लेप से पात्र को रंगा जाता है, फिर धोया जाता है—वह तज्जातलेप है।
२, ३. युक्तिलेप-द्विचक्रलेप—प्रस्तर, शर्करा, लोहकिट्ट आदि से किया गया लेप युक्ति लेप है। भगवान् ने युक्तिलेप का निषेध किया है क्योंकि इसमें सन्निधि दोष होता है। द्विचक्र लेप (शकटलेप) सुकुमार होता है, इसमें पानी के जन्तु स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं, उन प्राणियों की हिंसा से बचा जा सकता है और इस लेप में सन्निधि दोष भी नहीं होता, अतः द्विचक्र लेप इष्ट है।

० लेप के प्रकार : उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्य

खरअयसि-कुसुंभ सरिसव, कमेण उक्कोस मज्झिम जहन्तो।
नवणीए सप्पि वसा, गुले य लोणे अलेवो उ॥
(बृभा ५२९)

लेप के तीन प्रकार हैं—

- ० उत्कृष्ट लेप—खर नामक तिलतेल से निष्पन्न।
- ० मध्यम लेप—अतसी व कुसुंभ के तेल से निष्पन्न।
- ० जघन्य लेप—सरसों के तेल से निष्पन्न।

नवनीत, घृत और वसा से निर्वृत लेप अलेप है क्योंकि वह पात्र पर सम्यक् प्रकार से नहीं लगता है। तिलों के तेल से प्रक्षित तथा गुड़ और लवण से भरे शकटों में जो लेप होता है, वह भी अलेप है क्योंकि लवण आदि के योग से वह अप्रशस्त हो जाता है।

३७. पात्रलेप क्यों ?

संजमहेउं लेवो, न विभूसाए वयंति तित्थयरा।
सत्ति-असतीदिट्ठतो, विभूसाए होंति चउगुरुगा॥
(बृभा ५२७)

तीर्थकरों ने कहा है—पात्र के लेप संयम साधना के लिए देना चाहिए न कि विभूषा अथवा गौरव के लिए। जो विभूषा की भावना से पात्रों पर लेप देता है, वह चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी है। लेप देने से यदि विभूषा होती है, तो वह संयमहेतु ही है।

सती स्त्री की विभूषा और असती स्त्री की विभूषा के उद्देश्य में अन्तर होता है। सती स्त्री अपने कुलाचार के लिए और असती स्त्री जार की संतुष्टि के लिए विभूषा करती है।

इसी प्रकार जो साधु संयमरूप कुलाचार हेतु लेप रूप विभूषा करता है, वह निर्दोष है। जो असंयम रूप जारतुष्टि हेतु अथवा गौरव के कारण लेपविभूषा करता है, वह सदोष है।

उड्ढादीणि उ विरसम्मि भुंजमाणस्स होंति आयाए।
दुर्गांधि भायणं ति य, गरहति त्थोगो पवयणम्मि॥
(बृभा ४७७)

अलेपकृत पात्र अत्यन्त विरस होता है। उसमें आहार करने से वमन, व्याधि अथवा भोजन के प्रति अरुचि पैदा हो जाती है। लोग भिक्षा देते समय दुर्गन्धित पात्र को देखकर मुनियों की और प्रवचन की गर्हा करते हैं।

३८. बिना आज्ञा पात्र-ग्रहण से प्रायश्चित्त
दुविधा छिन्नमछिन्ना, भणांति लहुगो य पडिसुणंते य।

छिन्ना नाम ये आचार्येण संदिष्टा यथा विंशतिः, पात्राप्यानयितव्यानि अच्छिन्ना येषां न परिमाणनिरोपः (निरुपः/निरोधः ?)..... एकः साधुः छिन्नानां संदेशं श्रुत्वा तत्रैव समक्षमाचार्यस्य ब्रूते—क्षमाश्रमणा! अनुजानीत युष्माकं योग्येषु परिपूर्णेषु पतद्ग्रहेषु लब्धेषु यद्यन्यान्यपि लभेन् ततस्तान्यपि मम योग्यानि गृह्णन्तु एवं ब्रुवाणः शुद्धः । अश्वैवमाचार्यः नानुज्ञापयति किन्त्वेवमेतान् व्रजतो ब्रूते तर्हि तस्मिन्नेवं भणति प्रायश्चित्तं लघुको मासः ते चेत् व्रजन्तः प्रतिशृण्वन्ति ग्रहीष्याम इति तदा तेषामपि प्रायश्चित्तं प्रत्येकं लघुको मासः । (व्यभा ३६१९ वृ)

पात्र की एषणा करने वाले साधुओं के दो प्रकार हैं—
१. छिन्न—जो आचार्य द्वारा संदिष्ट हैं । यथा—तुम्हें बीस पात्र लाने हैं ।

२. अच्छिन्न—जिन्हें पात्रों का परिमाण नहीं बताया गया है ।

एक साधु आचार्य के समक्ष उन संदिष्ट साधुओं से कहता है—क्षमाश्रमणा! अनुमति दें—आपके योग्य सारे पात्र प्राप्त हो जाने पर यदि अन्य पात्र प्राप्त हों तो मेरे योग्य पात्र भी लाएं—ऐसा कहने वाला शुद्ध है ।

जो साधु आचार्य की अनुमति के बिना पात्र मंगवाता है और जो उसकी बात को स्वीकार करते हैं—वे सब लघु मास प्रायश्चित्त के भागी होते हैं ।

३९. वस्त्र-पात्र-लेप-कल्पिक

अप्यन्ते अकहिता, अणहिगयऽपरिच्छणे य चउगुरुका ।”

सूत्रे पात्रैषणालक्षणे अप्राप्ते यदि लेपस्याऽऽनयनाय प्रेषयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं...सूत्रे प्राप्ते तत्रापि कथिते तत्राप्याधिगते स परीक्ष्य लेपस्यानयनाय प्रेषणीयः । एष लेपस्य कल्पिकः । (बृभा ४७१ वृ)

सूत्रमाचारान्तर्गतं पात्रैषणाध्ययनम्...पाठयित्वा तस्यार्थं कथयित्वा सम्यग्धिगते श्रद्धिते चार्थे पात्राय परीक्ष्य प्रेषणीयः । (बृभा ६४९ की वृ)

(जो आचार चूला के पांचवें 'वस्त्रैषणा' नामक अध्ययन का ज्ञाता है, वह वस्त्रकल्पिक है ।) जिसने पात्रैषणा (आचारचूला का छठा) अध्ययन नहीं पढ़ा है, पढ़ने पर

भी अर्थ नहीं जाना है, अर्थ को अधिगत नहीं किया है तथा अधिगत अर्थ पर श्रद्धा है या नहीं—इसकी परीक्षा किए बिना गुरु यदि शिष्य को पात्र या लेप लाने भेजता है तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है । पात्रैषणा सूत्र को प्राप्त, कथित, अधिगत और परीक्षित होने पर शिष्य पात्रकल्पिक और लेपकल्पिक होता है ।

पठिय सुय गुणियमगुणिय, धारमधर उवउत्तो परिहरति ।”

येन ओघनिर्युक्तिसूत्रम् इयं वा कल्पपीठिका पठिता स्यात्... । (बृभा ५३० वृ)

जिसने ओघनिर्युक्ति सूत्र अथवा कल्पपीठिका को पढ़ा हो, सुना हो, वह गुणित (अत्यंत अभ्यास से आत्मसात्) हो अथवा अगुणित, धारित हो या अधारित, फिर भी उसमें उपयुक्त होता हुआ सूत्रोक्त प्रकार से लेप का भोग करता है, वह लेपकल्पिक है ।

४०. प्रतिपूर्ण क्रमणिका (पदत्राण) के प्रकार

सगल प्यमाण वण्णे, बंधणकसिणे य होइ णायव्वं ।
अकसिणमट्टारसगं, दोसु वि पासेसु खंडाइं ॥
एगपुड सकलकसिणं, दुपुडादीयं पमाणतो कसिणं ।
खल्लग खउसा वग्गुरि, कोसग जंघऽड्ढुजंघा य ॥
पायस्स जं पमाणं, तेण पमाणेण जा भवे कमणी ।
मज्झमि तु अकखंडा, अण्णत्थ व सकलकसिणं तु ॥
दुपुडादि अद्धखल्ला, समत्तखल्ला य वग्गुरि खपुसा ।
अद्धजंघ समत्ता य, पमाणकसिणं मुणेयव्वं ॥
उवरिं तु अंगुलीओ, जा छाए सा तु वग्गुरि होति ।
खपुसा य खलुगमेत्तं, अद्धं सव्वं च दो इयरे ॥
वण्णह्व वण्णकसिणं, तं पंचविहं तु होइ नायव्वं ।
बहुबंधणकसिणं पुण, परेण जं तिण्ह बंधाणं ॥
(बृभा ३८४६-३८५१)

कृत्स्न (प्रतिपूर्ण) के चार प्रकार हैं—

- | | |
|-------------------|-----------------|
| १. सकल कृत्स्न | ३. वर्ण कृत्स्न |
| २. प्रमाण कृत्स्न | ४. बंधन कृत्स्न |

अकृत्स्न चर्म के अटारह खंड कर पैर के दोनों पार्श्वों में धारण करना चाहिए ।

० सकल कृत्स्न—एकपुटी—एक तल वाली, पैर जितने प्रमाण

वाली क्रमणिका, जो मध्य या अन्यत्र भाग में अखण्ड हो।

० प्रमाण कृत्स्न—दो, तीन आदि तल वाली क्रमणिका। इसके अनेक प्रकार हैं—

खल्लक—आधे चरण को आच्छादित करने वाला अर्धखल्लक और पूरे चरण को ढकने वाला समस्त खल्लक।

वागुरा—अंगुलियों को आच्छादित कर पैर के उपरिभाग को भी ढकने वाली।

खपुसा—टखने तक पैर को ढकने वाली।

कोशक—पादनखों की सुरक्षा के लिए जिसमें अंगूठे-अंगुलियों को डाला जाता है।

जंघा—पिंडली को स्थगित करने वाली पादरक्षिका।

अर्धजंघा—आधी जंघा को स्थगित करने वाली पादरक्षिका।

जो कृष्ण आदि पांच वर्णों से उज्ज्वल है, वह वर्णकृत्स्न और तीन से अधिक बन्धनों से बद्ध है, वह बन्धन कृत्स्न है।

४१. क्रमणिका का निषेध क्यों ?

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ (क ३/५)

गव्वो णिम्मह्वता, णिरवेक्खो निहत्तो णिरंतरता।

भूताणं उवघाओ, कसिणे चम्पम्मि छहोसा ॥

(बृभा ३८५६)

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी कृत्स्न (वर्ण, प्रमाण आदि से पूर्ण) चर्म क्रमणिका का ग्रहण और उपयोग नहीं कर सकते।

कृत्स्न चर्म पहनने से छह दोष उत्पन्न होते हैं—

- ० गर्व—मैं उपानधारी हूँ—ऐसा गर्व हो सकता है।
- ० निर्मादवता—पैर स्वभावतः मृदु होते हैं। क्रमणिका कठोर स्पर्श वाली होती है। क्रमणिका से जीवोपघात की अधिक संभावना रहती है।
- ० निरपेक्षता—नंगे पांव चलने वाला कांटों आदि के प्रति सतर्क रहता है। क्रमणिकाधारी जीवों के प्रति भी निरपेक्ष हो जाता है।
- ० निर्दयता—जीवों के प्रति करुणा का अभाव।
- ० निरंतरता—क्रमणिका की निरंतर भूमिस्पर्शिता के कारण पैर के नीचे समागत जीव बच नहीं पाता है।
- ० भूतोपघात—प्राणियों का वध।

४२. क्रमणिका पहनने के हेतु : चक्षुदौर्बल्य आदि विह अतराऽसहुसंभम, कोट्टिऽरिस चक्खुदुब्बले बाले। अज्जा कारणजाते, कसिणाग्गहणं अणुण्णायं ॥ कुट्टिस्स सक्करादीहि वा वि भिण्णो कमो मधूला वा। बालो असंफरो पुण, अज्जा विहि दोच्च पासादी ॥ (बृभा ३८६२, ३८६५)

दस कारणों से कृत्स्न चर्म का ग्रहण अनुज्ञात है—

- ० बीहड़ मार्ग पार करना हो।
- ० कोई मुनि ग्लान हो अथवा ग्लान के लिए दवा लाना हो।
- ० कोई मुनि सुकुमार चरणों वाला (राजकुमार आदि) हो।
- ० चोर, श्वापद आदि का संक्षोभ हो।
- ० कुष्ठ रोगी, जिसके रक्त, पीब से स्फटित पैरों में कंकर आदि की चुभन से महती पीड़ा होती हो।
- ० अर्श या पादगण्ड होने पर क्रमणिका बांधनी पड़ती है।
- ० असंवृत बाल (जिसके पैरों का संतुलन न हो)।
- ० आर्यों को मार्ग पार कराने के लिए चोर आदि का भय होने पर वृषभ पदत्राण पहनकर पार्श्व भाग में हैं।
- ० संघसंबंधी कोई कार्य हो।
- ० दुर्बल आंखों वाला हो। (पैरों का मर्दन करना, उपान्त पहनना आदि रूप पैर-परिकर्म चक्षु के लाभ के लिए होता है।—द्र चिकित्सा)

४३. रजोहरण के प्रकार

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा—उण्णाए उट्टिए साणाए वच्चापिच्चिए मुंजापिच्चिए नाम पंचमे।

और्णिकम् ऊरणिक्कानामूणाभिर्निर्वृत्तम्, औष्ट्रिकं उष्ट्रोरोमभिर्निर्वृत्तम्, सानकं सनवृक्षवल्काद् जातम्, वच्चकः—तृणविशेषस्तस्य चिप्पकः—कुट्टितः त्वग्रूपः तेन निष्यन्नं वच्चकचिप्पकम्, मुञ्जः—शरस्तम्बस्तस्य चिप्पकाद् जातं मुञ्जचिप्पकम्। (क २/२९ वृ)

वच्चक मुंजं कन्तंति चिप्पिउं तेहि वूयए गोणी। पाउरणऽत्थुरणाणि य, करंति देसिं समासज्ज ॥

क्वचिद् धर्मचक्रभूमिकादौ देशे वच्चकं दर्भाकारं

तृणविशेषं मुञ्जं च शरस्तम्बं प्रथमंकुट्टयित्वा तदीयो
यः क्षोदस्तं कर्त्तयन्ति । ततः तैः वच्चकसूत्रैर्मुञ्जसूत्रैश्च
गोणी बोरको व्यथते, प्रावरणाऽऽस्तरणानि च देशविशेषं
समासाद्य कुर्वन्ति अतस्तन्निष्पन्नं रजोहरणं वच्चक-
चिप्यकं भण्यते । (बृभा ३६७५ वृ)

पिच्चिउ त्ति वा, विप्पिउ त्ति वा, कुट्टितो त्ति वा
एगट्टं । (निभा ८२० की चू)

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियां पांच प्रकार के रजोहरण
ग्रहण तथा धारण कर सकती हैं—

१. और्णिक—ऊन से निष्पन्न ।
२. औष्टिक—ऊंट के केशों से निष्पन्न ।
३. सानक—सन-वृक्ष की छाल से निष्पन्न ।
४. वच्चापिच्चिय—दर्भ के आकार वाली मोटी घास (वल्बज)
को कूटकर बनाया हुआ ।

चिप्यक, पिच्चिय, विप्पिय और कुट्टित एकार्थक हैं ।

धर्मचक्रभूमि—समवसरणभूमि वाले देश में यह प्रथा
थी कि लोग इस घास को कूटकर, उसका क्षोद बना लेते थे ।
फिर उसके टुकड़े-टुकड़े कर उसके बोरे बनाते थे । कहीं-
कहीं प्रावरण और बिछौने भी बनाए जाते थे । इससे सूत
निकालकर रजोहरण गूथे जाते थे ।

५. मुंजापिच्चिय—कूटी हुई मूँज से बने बोरों से तंतु निकालकर
बनाया गया ।

० और्णिक रजोहरण उपयोगी

उट्ट-सणा कुच्छंती, उल्ला इयरेसु महवं गत्थि ।
तेणोण्णिणयं पसत्थं, ॥
(बृभा ३६७८)

औष्टिक और सनक रजोहरण वर्षाकाल में आर्द्र
होने पर कुथित हो जाते हैं, जिससे उनमें पनक आदि जीव
उत्पन्न हो जाते हैं । वच्चक और मूँज के रजोहरण स्वभावतः
कठोर होते हैं, अतः और्णिक रजोहरण ही प्रशस्त है ।

४४. रजोहरण और पादलेखनिका का प्रयोजन

उडुबद्धे रयहरणं, वासावासासु पादलेहणिया ।
वडउंबरे पिलवखू, तेसि अलंभम्मि अंबिलिया ॥

बारसअंगुलदीहा, अंगुलमेगं तु होति विच्छिण्णा ।
घणमसिणणिव्वणा वि य, पुरिसे पुरिसे य पनेयं ॥

(निभा ७०९, ७१०)

० रजोहरण—ऋतुबद्धकाल में इससे पैरों का प्रमार्जन किया
जाता है ।

० पादलेखनिका—वर्षाकाल में इससे कर्दम का अपनयन किया
जाता है । यह वटमयी, उदुंबरमयी या पिप्पलमयी होती है ।
इसके अभाव में अम्लिकामयी का उपयोग किया जाता है ।

पादलेखनिका बारह अंगुल लम्बी, एक अंगुल विस्तीर्ण
तथा अशुषिर, श्लक्ष्ण और निर्ब्रण (अक्षत) होती है । यह
प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी-अपनी होती है ।

अब्भितरं च बज्जं, हरति रयं तेण होइ रयहरणं ।
(बृभा ३६७४)

जो आभ्यन्तर तथा बाह्य रजों का हरण करता है, वह
रजोहरण है । रजोहरण बाह्य रजों का हरण करता है, यह
स्पष्ट है किन्तु आभ्यन्तर रजों का हरण कैसे करता है ?
आचार्य कहते हैं—मुनि रजोहरण से भूमि प्रमार्जित कर वस्तु
का आदाननिक्षेप आदि संयमव्यापार करता है । उससे अष्ट
कर्मरूपी रजों का हरण होता है, इस अपेक्षा से उसे आभ्यन्तर
रजों का हरण करने वाला कहा गया है ।

उपसम्पदा—प्रयोजनवश एक गण से अपक्रमण कर
दूसरे गण में जाकर, वहां की सामाचारी को
स्वीकार करना ।

१. उपसम्पदा के प्रयोजन एवं प्रकार
 - ० वैयावृत्त्य चारित्र उपसम्पदा
 - ० क्षपणा (तप) चारित्र उपसम्पदा
२. गणसंक्रमण के पांच हेतु
 - ० सम्भोजार्थ उपसम्पदा : चारित्राचार में श्लथता
 - ० आचार्य के उपसम्पदा ग्रहण के हेतु
३. गण-संक्रमण से पूर्व अनुमति अनिवार्य
४. उपसम्पदा के आठ अतिचार
५. निर्गमन स्थान : पंजरभग्न-पंजराभिमुख
 - ० पंजर शब्द के अर्थ : शकुनि दृष्टांत
६. उपसम्पदा के अयोग्य
७. योग्य होने पर भी अग्राह्य

८. उपसम्पद्यमान की पृच्छा अर्वाधि
 ९. उपसम्पन्न की परीक्षा के आठ बिंदु
 १०. मार्गवर्ती उपसम्पदा : इत्वर दिग्बंध
 ० आचार्य द्वारा आत्म परीक्षण
 ० पर तुलना (शिष्य-परीक्षा) : स्नुषा दृष्टांत
 ११. उपसम्पन्न द्वारा आचार्य की परीक्षा
 १२. आलोचना श्रवण व सामाचारी बोध
 * उपसम्पदा आलोचना द्र आलोचना
 १३. उपदेश-स्मारणा-प्रतिस्मारणा
 १४. सारणा की अनिवार्यता : प्रमादी का परित्याग
 १५. प्रमादी द्वारा पश्चात्ताप, गच्छ द्वारा निवेदन
 १६. स्मारणा आपातकटु : गुटिकांजन दृष्टांत
 १७. उपसम्पदा के आकर्षण बिंदु : देशाटन आदि
 १८. उपसम्पदाकाल के विकल्प
 १९. रत्नाधिक की उपसम्पदा (नेतृत्व) अनिवार्य
 २०. शैक्ष और रात्तिक के पारस्परिक कर्तव्य

१. उपसम्पदा के प्रयोजन एवं प्रकार

सो पुण उवसंपज्जे, नाणद्वा दंसणे चरित्तद्वा ।...
 वत्तणा संधणा च्चेव, गहणे सुत्तत्थ-तदुभए ।...
 ...उवसंपदा चरित्ते, वेयावच्चे थ खमणे थ ॥
 (व्यभा २८४-२८६)

उपसम्पदा के तीन प्रयोजन हैं—

१. ज्ञान निमित्त
 २. दर्शन निमित्त
 ३. चारित्र निमित्त।
- ज्ञान और दर्शन उपसम्पदा के तीन प्रकार हैं—सूत्र, अर्थ और तदुभय।

इन तीनों के तीन-तीन प्रकार हैं—

१. वर्तना—पूर्वगृहीत सूत्र आदि का पुनः पुनः अभ्यास।
२. संधान—जो पूर्वगृहीत है किन्तु विस्मृत हो गया है, उसका पुनः संस्थापन।
३. ग्रहण—अपूर्व श्रुत का ग्रहण।

(दर्शन उपसम्पदा का ग्रहण दर्शनप्रभावक और दर्शनविशोधक ग्रन्थों के अध्ययन के लिए होता है।)

चारित्र उपसम्पदा के दो प्रकार हैं—

१. वैयावृत्त्य हेतु
२. क्षपणा (तपस्या) हेतु।

० वैयावृत्त्य चारित्र उपसम्पदा

...वेयावच्चकरो पुण, इत्तरितो आवकहिओ थ ॥

तुल्लेसु जो सलब्धी, अन्नस्स व वारएणऽनिच्छंते ।
 तुल्लेसु व आवकही, तस्सऽणुमएण च इत्तरिओ ॥
 (व्यभा २९०, २९१)

वैयावृत्त्य के लिए उपसम्पन्न के दो प्रकार हैं—इत्वरिक और यावत्कथिक।

वैयावृत्त्यकारापणविधि—एक गच्छवासी सेवार्थी मुनि और एक आगन्तुक मुनि, जो सेवा का इच्छुक है—दोनों में जो लब्धिसंपन्न है, उसे आचार्य की सेवा में और अलब्धिसम्पन्न को उपाध्याय आदि की सेवा में नियुक्त किया जाता है। यदि वह उपाध्याय का वैयावृत्त्य करना न चाहे तो दोनों को बारी-बारी से वैयावृत्त्य में नियुक्त करना चाहिए।

दोनों ही मुनि लब्धिमत्त हैं और यावत्कथिक हैं तो एक को आचार्य की और दूसरे को उपाध्याय की सेवा में नियोजित किया जाता है। दोनों को यह मान्य न हो तो जो आगंतुक है, उसे विसर्जित कर दिया जाता है।

दोनों सलब्धिक और इत्वरिक हों तो आगंतुक को उपाध्याय आदि की सेवा में नियोजित किया जाता है। यदि वह आचार्य का वैयावृत्त्य करना चाहे तो वास्तव्य मुनि की अनुमति से कुछ समय तक प्रतीक्षा करे, फिर आचार्य की सेवा करे।

० क्षपणा (तप) चारित्र उपसम्पदा

आवकही इत्तरिए, इत्तरियं विगिट्ठ तहऽविगिट्ठे थ ।
 सगणामंतण खमणो, अणिच्छमाणं न तु निओए ॥
 अविक्किट्ठ किलम्मंतं, भणंति मा खम करेहि सज्जायं ।
 सक्का किलम्मिंतुं जे, वि विगिट्ठेणं तहिं वितरे ॥
 ...पडिलेहण-संधारग, पाणग तह मत्तगतिगं च ॥
 (व्यभा २९३-२९५)

उपसम्पद्यमान क्षपक के दो प्रकार हैं—यावत्कथिक और इत्वरिक। इत्वरिक के दो भेद हैं—

१. अविक्कृष्ट तप—उपवास, बेला, तेला करने वाला।
२. विक्कृष्ट तप—चोला आदि करने वाला।

इस उपसम्पदा से पूर्व आचार्य अपने गच्छ को आमंत्रित कर पूछते हैं—

आर्यो! अमुक साधु तपःसाधना के लिए यहां आया

है, उसे स्वीकार किया जाए या नहीं? गच्छ की अनुमति हो तो उसे उपसम्पदा दी जाती है, अन्यथा प्रतिषेध कर दिया जाता है। यदि कुछ गच्छवासी मान्य करते हैं और कुछ अमान्य, तो अमान्य करने वालों को उस क्षपक की वैयावृत्त्य में बल प्रयोग से नियोजित नहीं किया जाता।

अविकृष्ट तपस्वी को पूछा जाता है—पारणे में तुम्हारी स्थिति कैसी रहती है? वह कहता है—गुरुदेव! पारणक में मेरी स्थिति ग्लान जैसी हो जाती है। तब गुरु कहते हैं—आयुष्मन्! तुम तप मत करो। तुम्हारे में इतनी शक्ति नहीं है, अतः बहुगुणकारी स्वाध्याय करो।

विकृष्ट तपस्वी पारणक में क्लान्त भी हो सकता है फिर भी उसे तपःकरण की अनुज्ञा दे दी जाती है, क्योंकि विकृष्ट तप महागुणकारी है। उसे भक्तपान, भैषज आदि लाकर दिए जाते हैं। तपस्वी की सेवा के मुख्य कार्य हैं—

- उसके उपकरणों का प्रतिलेखन करना।
- बिछौना करना।
- उसके योग्य पानक लाकर देना।
- यथासमय मात्रकत्रिक (उच्चारमात्रक, प्रस्त्रवणमात्रक, श्लेषमात्रक) लाकर देना और परिष्ठापन करना।

२. गणसंक्रमण के पांच हेतु

षाण्डु दंसण्डा, चरित्तद्वा एवमाइसंकमणं ।
संभोगद्वा व पुणो, आयरियद्वा व णातव्वं ॥
सुत्तस्स व अत्थस्स व उभयस्स व कारणा तु संकमणं ।
वीसज्जियस्स गमणं, भीओ य णियत्तई कोई ॥
कालियपुव्वगते वा, णिम्माओ जदि य अत्थि से सत्ती ।
दंसणदीवगहेउं, गच्छइ अहवा इमेहिं तू ॥
चरित्तद्देस दुविहा, एसणदोसा य इत्थिदोसा य ।
गच्छम्मि विसीयंते, आतसमुत्थेहि दोसेहिं ॥
तिणहद्वा संकमणं, एयं संभोइएसु जं भणितं ।
तेसऽसति अण्णसंभोइए वि वच्चेज्ज तिणहद्वा ॥
(निभा ५४५८, ५४५९, ५५२३, ५५३९, ५५५३)

एक गण से दूसरे गण में संक्रमण के पांच हेतु हैं—

१. ज्ञानार्थ उपसम्पदा।
२. दर्शनार्थ उपसम्पदा।
३. चारित्रार्थ उपसम्पदा।
४. सम्भोजार्थ उपसम्पदा।
५. आचार्यार्थ उपसम्पदा।

१. ज्ञानार्थ उपसम्पदा—अपने आचार्य के पास सूत्रार्थ-ग्रहण के पश्चात् अभिनव सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थग्रहण के लिए मुनि अपने आचार्य के द्वारा विसर्जित होने पर अन्य गण में जाए। वहां आचार्य के कठोर स्वभाव से डर कर यदि लौट आता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

२. दर्शनार्थ उपसम्पदा—मुनि कालिकश्रुत और पूर्वगतश्रुत में निपुण होने के पश्चात् यदि सामर्थ्य हो तो दर्शन (स्व-पर मतों) के प्रकाशन के लिए उपसम्पदा स्वीकार करता है।

३. चारित्रार्थ उपसम्पदा—इसके दो हेतु हैं—

१. देशदोष—अपने क्षेत्र में एषणा-दोष स्त्री-संबंधी दोष उत्पन्न होने पर चारित्रविशोधि के लिए गणसंक्रमण करे।
२. आत्मसमुत्थदोष—गुरु या सम्पूर्ण गच्छ चक्रवाल सामाचारी के पालन में श्लथ या खिन्न हो जाये तो उन्हें सावधान करे, पन्द्रह दिन प्रतीक्षा करे, परिवर्तन के अभाव में गणसंक्रमण करे।

○ सम्भोजार्थ उपसम्पदा : चारित्राचार में श्लथता

संभोगा अवि हु तिहिं, कारणेहिं तत्थ चरणे इमो भेदो ।
संकमचउक्कभंगो, पढमे गच्छम्मि सीदंते ॥
पडिलेह दियतुयट्टण, णिक्खवणाऽऽयाण विणय सज्जाते ।
आलोय-ठवण-भत्तट्ट-भास-पडलग-सेज्जातरदीसु ॥
चोदावेति गुरुण व, सीदंतं गणं सयं व चोदेति ।
आयरियं सीदंतं, सयं गणेणं व चोदावे ॥
दोणिण वि विसीयमाणे, सयं च जे वा तहिं ण सीदंति ।
ठाणं ठाणासज्जतु, अणुलोमादीहि चोदावे ॥
भणमाण भणावेतो, अयाणमाणस्स पक्ख उक्कोसो ।
लज्जाए पंच तिणिण व तुह किं ति व परिणते विवेगे ॥
(निभा ५५५४-५५५८)

ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन तीन कारणों से संभोज उपसम्पदा ग्रहण की जाती है। जिसके पास ज्ञान-दर्शन हेतु उपसम्पदा स्वीकार की है, उसमें खिन्नता या श्लथता होने पर वहां से निर्गमन कर पुनः अन्य गण में संक्रमण करना चाहिये।

जहां चारित्र के लिए उपसम्पन्न हुआ है, उस गच्छ में चारित्रपालन के प्रति श्लथता प्रतीत हो तो वहां से अन्य संविग्न गण में संक्रमण करे।

संक्रमण-हेतु के चार विकल्प हैं—

१. गच्छ श्लथ है, आचार्य नहीं।

२. आचार्य श्लथ है, गच्छ नहीं।
३. गच्छ भी श्लथ है, आचार्य भी श्लथ है।
४. न गच्छ श्लथ है, न आचार्य।

गच्छ में चारित्राचार में अवसन्नता या श्लथता के मुख्य दस बिंदु हैं—

- ० प्रतिलेखन—समय पर प्रतिलेखना न हो, प्रतिलेखना में विपर्यास हो अथवा जहां गुरु, ग्लान आदि की उपधि की प्रतिलेखना न हो।
- ० दिवसशयन—निष्कारण दिन में शयन हो।
- ० निक्षेप-आदान-प्रमाद—वस्तु को रखते या ग्रहण करते समय प्रतिलेखन-प्रमार्जन न करे।
- ० विनय—यथायोग्य विनय का प्रयोग न हो।
- ० स्वाध्याय—सूत्र-अर्थ पौरुषी न करे अथवा अकाल या अस्वाध्याय में स्वाध्याय करे।
- ० आलोचना—पाक्षिक आलोचना और दोषों की आलोचना न करे या आहार आदि लाकर गुरु को न दिखाये। जीमनवार में आहार की गवेषणा करे।
- ० स्थापना—स्थापनाकुलों का निर्धारण न करे अथवा स्थापित कुलों में गुरु की अनुमति बिना प्रवेश करे।
- ० भक्तार्थ—मण्डली में भोजन न कर अकेला ही खाये, गुरु को दिखाये बिना ही खाये।
- ० पटलक—गठरियों में लाया हुआ आहार करे।
- ० शय्यातर—शय्यातरपिंड खाये, सदोष भिक्षा ग्रहण करे।

गण की इस विषण्णता या शिथिलता के निवारण के लिए गुरु से प्रेरणा दिलवाये या स्वयं प्रेरणा दे। आचार्य विषण्ण हो तो स्वयं प्रेरणा दे या गण प्रेरणा दे।

गण और आचार्य दोनों विषण्ण हों तो स्वयं अथवा जो सामाचारी पालन में सजग हैं, वे गण और आचार्य को आचारपालन में जागरूकता हेतु प्रेरित करें। स्थान (आचार्य, शैक्ष आदि) के अनुरूप अनुलोम-प्रतिलोम, मधुर-कठोर वचनों से प्रेरित करें।

प्रेरणा या सारणा-वारणा करने पर भी ये संयम में उद्यमशील होंगे या नहीं—यह ज्ञात न हो तो उत्कृष्ट एक पक्ष तक उनके साथ रहा जा सकता है। सामाचारी में अवसन्न गुरु को जो शिष्य लज्जा या गौरव के कारण तीन अथवा पांच

(या पन्द्रह) दिन तक कुछ नहीं कहता, फिर भी वह शुद्ध है। सावधान करने पर यदि वे कहें कि 'तुम्हें क्या प्रयोजन? हम श्लथ हैं तो हमारी दुर्गति होगी। तुम क्यों दुःखी हो रहे हो?' ऐसा कहने वाले गुरु और गच्छ को छोड़कर अन्य किसी उद्यतविहारी गण में संक्रमण करना चाहिये।

० आचार्य के उपसम्पदा ग्रहण के हेतु

आयरिओ वि हु तिहि कारणेहि गाणट्ट दंसणचरित्ते ।
नाणे महकप्पसुयं, ।
विजा-मंत-णिमित्ते, हेतूसत्थट्ट दंसणट्टाए ।
चरितट्टा पुव्वगमो, अहव इमे होंति आएसा ॥
आयरिय-उवञ्जाए, ओसण्णोहाविते व कालगते ।
ओसण्ण छव्विहे खलु, वत्तमवत्तस्स मग्गणता ॥
(निभा ५५७१-५५७४)

आचार्य भी तीन कारणों से उपसम्पदा ग्रहण करते हैं—

- ० ज्ञानार्थ—महाकल्पश्रुत आदि के अध्ययन के लिए।
- ० दर्शनार्थ—विद्या, मंत्र और निमित्त संबंधी शास्त्रों को जानने के लिए तथा गोविन्दनिर्युक्ति आदि हेतुशास्त्र पढ़ने के लिए।
- ० चारित्रार्थ—चारित्रविशोधि के स्थानों की अभिवृद्धि तथा सामाचारी की विशिष्ट परिपालना के लिए। अथवा इसमें तीन आदेश भी हैं—

१. कोई आचार्य अवसन्न हो गया है—पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त, नैयतिक (नित्यपिंडखादक) और यथाच्छन्द—इन छहों में से किसी भी प्रकार के अवसन्न आचार्य का जो शिष्य आचार्यपद के योग्य है, वह वय और श्रुत से व्यक्त है या अव्यक्त—इसकी मार्गणा के लिए।

२. अवधावित—कोई आचार्य या उपाध्याय अवधावन कर गृहस्थ बन गया है तो उस गण की व्यवस्था के लिए।

३. कालगत—कोई आचार्य दिवंगत हो गया हो तो उस गण की सार-संभाल के लिए।

३. गण-संक्रमण से पूर्व अनुमति अनिवार्य

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्ताए.....कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं उवसंप-ज्जित्ताणं विहरित्ताए.....ते य से नो वियरज्जा, एवं से नो कप्पइ..... ।

गणावच्छेदइय य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा.....
नो कप्पइ गणावच्छेदइयस्स गणावच्छेदइयत्तं अनिक्खि-
वित्ता.....॥.....नो कप्पइ आयरिय-उवज्जायस्सायरिय-
उवज्जायत्तं अनिक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं
विहरित्ताए। णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता..... ॥

(क ४/१६-१८)

भिक्षु गण से अपक्रमण कर अन्य गण की उपसम्पदा
स्वीकार कर विहरण करना चाहे, वह आचार्य यावत्
गणावच्छेदक को पूछकर जा सकता है। वे अनुमति नहीं दें
तो नहीं जा सकता।

गणावच्छेदक, आचार्य या उपाध्याय अन्य गण में
उपसम्पन्न हो विहरण करना चाहें तो वे अपने पदों का
निक्षेप/त्याग किए बिना तथा आचार्य आदि की अनुमति लिए
बिना नहीं जा सकते।

४. उपसम्पदा के आठ अतिचार

....आपुच्छिऊण गमणं, भीतो य नियत्तते कोती।
चिंतंतो वड्ढादी संखडि पिसुगादि अपडिसेहे य।
परिसिल्ले सत्तमए, गुरुपेसविए य सुद्धे य॥
(बृभा ५३६३, ५३६४)

पृच्छा और अनुमति के पश्चात् आचार्य द्वारा विसर्जित
होकर गमन करने पर आठ अतिचार संभव हैं—

१. भयभीत—विवक्षित गण के आचार्य की कठोर चर्चा को
सुनकर लौट आना।

२. चिंता—मैं जाऊं या न जाऊं—इस चिंतन से जाना।

३. ब्रजिका—ब्रजिका आदि में प्रतिबद्ध होकर मार्ग से प्रत्यावर्तन
करना।

४. संखडि—जीमनवार में प्रतिबद्ध हो जाना।

५. पिशुक—पिशुक, दंश-मशक आदि के भय से लौट आना।

६. अप्रतिषेधक—किसी गण के मेधावी शिष्य को अन्य गण
में जाते देख मार्गवर्ती आचार्य उसको स्वयं नहीं रोकते, किन्तु
ऐसा उपाय करते हैं कि वह विपरिणत होकर वहां रुक जाता
है।

७. परिषद्युक्त—जिस गण में जा रहा है, वहां की परिषद्
संविग्न तथा असंविग्न—दोनों प्रकार की हो, वहां जाना।

८. गुरुप्रेषित—आचार्य ने मुझे श्रुत अध्ययन के लिए आपके
पास भेजा है, ऐसा कहना।

जो मुनि इन अतिचारों से मुक्त होकर अन्य गण की
उपसंपदा स्वीकार करता है, 'आचार्य द्वारा विसर्जित होकर मैं
आपके पास आया हूँ'—ऐसा कहता है, वह शुद्ध है।

५. निर्गमन स्थान : पंजरभग्न-पंजराभिमुख

जयमाणपरिहवेत्ते, आगमणं तस्स दोहि ठाणेहिं।

पंजरभग्नअभिमुहे, आवासयमादि आयरिए॥

(निभा ६३४९)

साधु दो स्थानों से उपसम्पदा के लिए आते हैं—

१. यतमान—संविग्न साधुओं के पास से आने वाले, ज्ञान-
दर्शन की उपसम्पदा के लिए समागत। ये साधु 'पंजरभग्न'
कहलाते हैं।

२. परिभवत्—पार्श्वस्थ आदि के पास से आने वाले, चारित्र
की उपसम्पदा के लिए समागत। ये साधु पंजराभिमुख कहलाते
हैं। आचार्य दोनों प्रकार के साधुओं की आवश्यक आदि पदों
से परीक्षा कर उनको उपसम्पन्न करे।

० पंजर शब्द के अर्थ : शकुनि दृष्टांत

पणगादि संगहो होति पंजरो जा य सारणऽण्णोण्णे।

पच्छिन्नचमढणादी, णिवारणा सउणिदिट्ठतो॥

आयरिओ-उवज्जातो पवत्ती थेरो गणावच्छेत्तितो
एतेहिं पंचहिं परिग्गहितो गच्छो पंजरो भण्णति। आदि-
ग्गहणाओ भिक्खु-वसह-वुड्ढ-खुड्डाया घेप्पंति।

(निभा ६३५० चू)

पंजर शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त है—

१. पंचकादि संग्रह—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर
और गणावच्छेदक—इन पांचों से परिगृहीत गच्छ पंजर कहलाता
है। भिक्षु, वृषभ, क्षुल्लक और वृद्ध इसी के अन्तर्गत हैं।

२. सारणा-वारणा—आचार्य आदि परस्पर सारणा-वारणा करते
हैं—मृदु-मधुर वचनों से प्रेरणा या उपालंभ देते हैं तथा कठोर
वचनों से तर्जनापूर्वक प्रायश्चित्त देकर असामाचारी से निवृत्त
करते हैं, यह पंजर कहलाता है।

पंजरे में स्थित पक्षी के स्वच्छन्द गमन का शलाका
आदि द्वारा निवारण किया जाता है। इसी प्रकार गच्छ रूपी
पंजर में प्रतिबद्ध शिष्य का सारणा-वारणा की शलाका से

असामाचारीरूप उन्मार्ग में गमन निरुद्ध हो जाता है।

६. उपसम्पदा के अयोग्य

अहिकरण विगति जोए पडिणीए थद्ध लुद्ध णिद्धम्मे ।
अलसाणुबद्धवेरो, सच्छंदमती परिहियव्वे ॥
(निभा ६३२७)

अपने गण से दस स्थानों से निर्गमन कर आने वाला साधु उपसम्पदा की दृष्टि से परिहरणीय है—

१. गृहस्थों अथवा मुनियों के साथ कलह हो जाने के कारण।
 २. विकृति की प्रतिबद्धता से।
 ३. योगोद्वहन के भय से।
 ४. यहां मुनि मेरा प्रत्यनीक है, यह सोचकर।
 ५. आचार्य के आने-जाने पर अभ्युत्थान न करने से खरंटना होती है, इस स्तब्धता से।
 ६. उत्कृष्ट द्रव्य यहां नहीं मिलते, इस लोलुपता के कारण।
 ७. यहां आचार्य उग्रदण्ड देते हैं, इस विचार से।
 ८. भिक्षाचार्या के लिए श्रम करना होता है, इस कारण से।
 ९. यहां मुनि अनुबद्ध वैर वाले हैं, इस कारण से।
 १०. यहां आने-जाने की स्वतंत्रता नहीं है—इस कारण से।
७. योग्य होने पर भी अग्राह्य

एगे अपरिणए वा, अप्पाधारे य थेरए ।
गिलाणो बहुरोगे य, मंदथम्मे य पाहुडे ॥
एगाणियं तु मोत्तुं, वत्थादि अकप्पिएहि वा सहितं ।
अप्पाधारो वाचण, तं चेव य पुच्छिउं देति ॥
थेरमतीवमहल्लं, अजंगमं मोत्तु आगतो गुरुं तु ।
सो च परिसा व थेरा, अहं तु वड्ढवओ तेसिं ॥
तत्थ गिलाणो एगो, जप्पसरीरो तु होति बहुरोगी ।
निद्धम्मा गुरु-आणं, न करेति ममं पप्पोत्तूणं ॥
एतारिसं विउसज्ज, विप्पवासो न कप्पति ।
सीसायरिय पडिच्छे, पायच्छिउं विहिज्जइ ॥
(व्यभा २५७-२६१)

- ० एकाकी—जो एकाकी आचार्य को छोड़कर आया हो।
- ० अपरिणत—किसी भी शैक्ष ने वस्त्रैषणा आदि का अध्ययन कर कल्प न किया हो, उन्हें छोड़कर आया हो।
- ० अल्पाधार—पीछे आचार्य सूत्रार्थ-निपुण न हों, उसे पूछकर वाचना देते हों।

० स्थविर—पीछे आचार्य या मुनिगण वृद्ध हों और वह उनकी सेवा करता हो।

० ग्लान-बहुरोगी—पीछे ग्लान या बहुरोगी अकेला हो और वह उसकी सेवा करता हो।

० निर्धर्म—साधु-परिवार आचार्य की आज्ञा न मानता हो, केवल उसके भय से ही कार्य करता हो।

० प्राभृत—अपने गच्छ में उत्पन्न कलह का उपशमन करने में सक्षम हो, गुरु का सहयोगी हो।

उल्लिखित स्थितियों में सक्षम संवाहक का कार्य करने वाला मुनि यदि उपसम्पदा के लिए आता हो तो उसे उपसम्पदा दिए बिना ही यथोचित प्रायश्चित्त प्रदान कर लौटा देना चाहिए।

८. उपसम्पद्यमान की पृच्छा अवधि

पढमदिणम्मि न पुच्छे, लहुओ मासो उच्चितिय गुरुओ य ।
ततियम्मि होति लहुगा, तिणहं तु वतिक्कमे गुरुगा ॥
कज्जे भत्तपरिणणा, गिलाण राया व धम्मकहि-वादी ।
छम्मासा उक्कोसा, तेसिं तु वतिक्कमे गुरुगा ॥
(व्यभा २९८, २९९)

उपसम्पदा के लिए आने वाले साधु की प्रथम दिन ही पृच्छा करनी चाहिए कि तुम यहां किस कारण से आये हो? प्रथम दिन पृच्छा किए बिना और आलोचना दिए बिना उसे अपने गण में रखने वाले आचार्य लघुमास प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। दूसरे और तीसरे दिन पृच्छा करने पर क्रमशः गुरुमास और चतुर्लघुमास तथा तीन दिनों का अतिक्रमण होने पर चतुर्गुरुमास प्रायश्चित्त आता है।

पृच्छा के कुछ अपवाद हैं—

- ० आचार्य संघ के किसी विशेष कार्य में संलग्न हों।
- ० किसी साधु ने अनशन कर लिया हो।
- ० कोई साधु ग्लान हो गया हो।
- ० जिज्ञासु धर्मार्थी राजा प्रतिदिन धर्मकथा सुनने आता हो।
- ० किसी वादी का निग्रह करना हो—इत्यादि प्रयोजनों के कारण आचार्य यदि उत्कृष्ट छह माह तक पृच्छा न करे, तब भी प्रायश्चित्त के भागी नहीं होते। इस समय-सीमा का व्यतिक्रम होने पर गुरुमास प्रायश्चित्त आता है।

९. उपसम्पन्न की परीक्षा के आठ बिन्दु

आवस्सग-पडिलेहण, सञ्जाए भुंजणे य भासाए ।
वीयारे गेलणणे, भिक्खग्गहणे पडिच्छंति ॥
हीणाधियविवरीते, सति वि बले पुव्वऽठंति चोदेति ।
अप्यणए चोदेती, न ममंति सुहं इहं वसितुं ॥
जो पुण चोइज्जंते, दडूण नियत्तए ततो ठाणा ।
भणति अहं भे चत्तो, चोदेह ममं पि सीदंतं ॥
पडिलेहणसञ्जाए, एमेव य हीणमधियविवरीतं ।
दोसेहिं वावि भुंजति, गारत्थियदडूरा भासा ॥
थंडिल्लसमायारिं, हावति अतरंतगं न पडिजग्गे ।
अभणितो भिक्ख न हिंइति, अणेसणादी व पित्तेई ॥

(व्यभा २६६, २६८-२७१)

आचार्य शिष्य का आठ दृष्टियों से परीक्षण करते हैं—

- | | |
|--------------|----------------|
| १. आवश्यक | ५. भाषा |
| २. प्रतिलेखन | ६. विचारभूमि |
| ३. स्वाध्याय | ७. ग्लान |
| ४. भोजन | ८. भिक्षाग्रहण |

आवश्यक में कायोत्सर्ग संबंधी प्रमाद के कुछ स्थान हैं। यथा—० हीन—कायोत्सर्ग सूत्रों का मंद-मंद उच्चारण कर शेष साधुओं के कायोत्सर्ग में स्थित होने के पश्चात् कायोत्सर्ग करता है।

० अधिक—कायोत्सर्ग सूत्रों का अति शीघ्रता से उच्चारण कर अनुप्रेक्षा करने के लिए सबसे पहले कायोत्सर्ग करता है, रत्नाधिक के कायोत्सर्ग पूर्ण करने के बहुत देर पश्चात् अपना कायोत्सर्ग पूर्ण करता है।

० विपरीत—प्रादोषिक और प्राभातिक कायोत्सर्ग में व्यत्यय करता है।

० शक्तिगोपन—आचार्य के साथ प्रतिक्रमण करना चाहिए। किन्तु किसी कारणवश आचार्य के विलम्ब हो तो सूत्रार्थस्मरण के लिए पहले कायोत्सर्ग नहीं करता है।

इस प्रकार आवश्यक में प्रमाद करने पर आचार्य शिष्य को सावधान करते हैं, प्रेरणा देते हैं किन्तु जिसकी परीक्षा की जा रही है, उसे प्रमाद करने पर भी शिक्षा नहीं देते हैं। प्रेरणा के अभाव में परीक्षणीय शिष्य यदि ऐसा सोचता है कि ये आचार्य आत्मीय शिष्यों को प्रेरित करते हैं, मुझे नहीं, अतः मैं यहाँ

सुखपूर्वक रहूँगा। ऐसा शिष्य प्रतीच्छनीय नहीं है।

जो शिष्य प्रशिक्षण लेते हुए शेष साधुओं को देखकर स्वतः उस प्रमादस्थान से निवृत्त हो जाता है और गुरुचरणों में पहुंच कर गदगद् स्वर से सविनय निवेदन करता है—

‘भंते! मैं आपकी शरण में आ गया हूँ, फिर भी आपके प्रेरणा-प्रशिक्षण के अनुग्रह से वंचित हूँ, आप द्वारा परित्यक्त हो गया हूँ। आप जैसे परम करुणचेता के लिए यह उचित नहीं है। अतः मुझे पर अनुग्रह करें और प्रमाद करने पर मुझे भी प्रेरणा-प्रशिक्षण दें।’ ऐसा शिष्य प्रतीच्छनीय है।

इसी प्रकार आचार्य हीन-अधिक, विपरीत आदि दोषों से युक्त स्वाध्याय और प्रतिलेखना करते हुए आत्मीय शिष्य को शिक्षा देते हैं, परीक्ष्यमाण को नहीं।

कोई शिष्य सुरसुर, चवचव शब्द करता हुआ खाता है, गृहस्थ की भाषा में बोलता है, उच्च स्वर से बोलता है, विचारभूमि संबंधी सामाचार्य का लोप करता है, असमर्थ ग्लान साधु की सेवा नहीं करता है, बिना कहे भिक्षा के लिए नहीं जाता है या कहने पर भी थोड़ा-सा घूमकर आ जाता है, अनेषणीय आहार ग्रहण करता है—इस प्रकार के प्रमादरत आत्मीय साधु को आचार्य प्रेरित करते हैं, परीक्ष्यमाण साधु को नहीं।

१०. मार्गवर्ती उपसंपदा : इत्वर दिग्बंध

आयपरोभयतुलणा, चउव्विहा सुत्तसारणित्तरिया ।
तिण्हऽट्टा संविग्गे, इयरे चरणेहरा नेच्छे ॥

तेषामुपसम्पन्नानां चासौ सूत्रसारणां करोति, सूत्रं पाठयतीत्यर्थः । इत्तरां दिशं बध्नाति, यथा—यावदाचार्याणां सकाशं ब्रजामस्तावदहमेवाचार्योऽहमेवोपाध्यायः, तत्रगतानामाचार्या ज्ञायकाः । (बृभा १२५३ वृ)

देश-दर्शन के समय मुनि जिनको उपसंपदा देते हैं, प्रव्रजित करते हैं, उन्हें वे सूत्रआगम पढाते हैं और इत्वर दिशाबंध करते हैं, यथा—जब तक हम आचार्य के पास न जाएं, तब तक मैं ही आचार्य हूँ और मैं ही उपाध्याय हूँ। वहाँ जाने के पश्चात् आचार्य ही प्रमाण हैं।

जो संविग्न मुनि ज्ञान, दर्शन और चारित्र के लिए उपसम्पन्न होना चाहते हैं, उन्हें अवश्य उपसंपदा दें। जो

पार्श्वस्थ मुनि चारित्र के लिए उपसम्पन्न होना चाहते हैं, उनका संग्रह करें और जो केवल ज्ञान-दर्शन के प्रयोजन से उपसम्पन्न होना चाहते हैं, उन्हें कभी उपसम्पदा न दें।

उपसम्पदा से पूर्व आचार्य स्वयं की और उपसम्पद्यमान शिष्य की चार प्रकार से परीक्षा करते हैं।

० आचार्य द्वारा आत्मपरीक्षण

आहाराई दब्बे, उप्पाएउं सयं जइ समत्थो।
खेत्तओ विहारजोग्गा, खेत्ता विहत्तारणाईया॥
कालम्मि ओममाई, भावे अतरंतमाइपाउग्गं।
कोहाइनिग्गहं वा, जं कारण सरणा वा वि॥
(बृभा १२५४, १२५५)

उपसम्पदा से पूर्व आचार्य स्वयं को तोलते हैं—

१. द्रव्यतः—क्या मैं उपसम्पन्न मुनियों के लिए एषणीय आहार आदि का उत्पादन कर सकता हूँ?

२. क्षेत्रतः—क्या मैं वर्षावास तथा मासकल्प के योग्य क्षेत्रों की गवेषणा कर सकता हूँ? क्या मैं मार्गगत मुनियों का योगक्षेम वहन कर सकता हूँ?

३. कालतः—क्या मैं दुर्भिक्ष आदि में शिष्यों का निर्वाह कर सकता हूँ?

४. भावतः—क्या मैं शैक्ष, वृद्ध और ग्लान मुनियों की आवश्यकताओं को पूरी कर सकता हूँ? क्या मैं क्रोध आदि कषायों का निग्रह करने में सक्षम हूँ? क्या मैं अपने पास उपसम्पन्न मुनियों के ज्ञान आदि के प्रयोजन को सिद्ध कर सकता हूँ?

० परतुलना (शिष्य-परीक्षा) : स्नुषा दृष्टांत

आहाराइ अनियओ, लंभो सो विरसमाइ निज्जूढो।
उब्भामग खुलखेत्ता, अरिउहियाओ अ वसहीओ॥
ऊणाइरित्त वासो, अकाल भिक्ख पुरिमड्ड ओमाई।
भावे कसायनिग्गह, चोयण न य पोरुसो नियया॥
अत्तणि य परे चेवं, तुलणा उभय थिरकारणे वुत्ता।
पडिवज्जंते सव्वं, करिति सुण्हाए दिट्ठंतं॥
मरिसिज्जइ अण्णो वा, सगणे दंडो न यावि निच्छुभणं।
अह्णे पुण न सहामो, ससुरकुलं चैव सुण्हाए॥
(बृभा १२५६-१२५८, १२६१)

उपसम्पदा से पूर्व आचार्य प्रतीच्छक मुनियों के सामर्थ्य

का परीक्षण करते हैं—

१. द्रव्यतः—वे उन्हें बताते हैं—यहां आहार आदि का लाभ अनियत है। अरस-विरस तथा परिष्ठापन योग्य आहार भी आ सकता है।

२. क्षेत्रतः—भिक्षाचर्या के लिए अन्य गांवों में अथवा ऐसे गांवों में जहां भिक्षाप्रदाता अल्प हों, भिक्षाप्राप्ति भी अल्प हो—वहां जाना पड़ सकता है। रहने के लिए ऋतु के प्रति-कूल स्थान भी प्राप्त होता है।

३. कालतः—कभी-कभी वर्षावासकल्प या मासकल्प स्थानों में अतिरिक्त निवास भी करना पड़ता है। किसी-किसी क्षेत्र में सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी के समय भिक्षा के लिए जाना पड़ता है। कहीं पूर्वाद्ध बीत जाने पर भी पूरा आहार प्राप्त नहीं होता है।

४. भावतः—कषायनिग्रह करना आवश्यक है। यहां कठोर वचनों से प्रेरित किया जाता है। सूत्र और अर्थ पौरुषी नियत नहीं भी होती।

इतना बताने पर प्रतीच्छक (अन्य गुरु परम्परा के) मुनि यदि सहर्ष इन सब बातों को स्वीकार करें तो उन्हें उपसम्पदा दें, अन्यथा नहीं।

स्नुषा दृष्टान्त—उन्हें स्पष्ट रूप से स्नुषा के दृष्टांत से समझाएं—आर्यों! तुम्हारा गच्छ पितृगृहस्थानीय है और हमारा गण तुम्हारे लिए श्वसुरकुलस्थानीय है। पितृगृह में वधू का प्रमाद सहन कर लिया जाता है, परन्तु श्वसुरगृह में उसे सहन करना कठिन होता है। हम आपका अल्प प्रमाद भी सहन नहीं करेंगे। प्रमाद के प्रसंग में हम लघु या गुरु प्रायश्चित्त भी देंगे।

११. उपसम्पद्यमान द्वारा आचार्य की परीक्षा

तेण वि आगंतुणा गच्छो परिच्छियव्वो आवस्सग-
मादीहिं पुव्वभणियदारेहिं। गच्छिल्लगाणं जति किंचि
आवस्सगदारेहिं सीदंतं पस्सइ तो आयरियातीणं कहेति,
जति सो कहिए सम्मं आउट्ठति त्ति तं साधुं चोदेति पच्छिंतं
च से देति तो तत्थ उवसंपदा। अह कहिते सो आयरिओ
तुसिणीओ अच्छति भणति वा—किं तुज्झ, णो सम्मं
आउट्ठति? तो अविउट्ठे आयरिए अण्णहिं गच्छति
अन्यत्रोपसंपन्नतेत्यर्थः। (निभा ६३५१ की चू)

आगंतुक शिष्य किसी गच्छवासी साधु को आवश्यक आदि क्रियाओं में प्रमत्त देखता है तो आचार्य के पास जाकर उस प्रमाद का निवेदन करता है। निवेदन सुनकर आचार्य उस प्रमादी साधु को सावधान करते हैं, उचित प्रायश्चित्त देते हैं, तो वह वहां उपसम्पदा ग्रहण करता है।

इसके विपरीत प्रमाद के ज्ञात होने पर भी आचार्य मौन रहते हैं अथवा यह कहते हैं—प्रवृत्ति करता है या नहीं करता है—इससे तुम्हें क्या प्रयोजन? आचार्य के द्वारा ऐसा उपेक्षापूर्ण व्यवहार किए जाने पर वह अन्यत्र गच्छान्तर में उपसम्पदा ग्रहण करता है।

१२. आलोचना-श्रवण व सामाचारी बोध

पासत्थाईमुंडिँ, आलोयण होइ दिक्खपभिईओ ।
संविग्गपुराणे पुण, जप्पभिइं चैव ओसन्नो ॥
समणुन्नमसमणुन्ने, जप्पभिइं चैव निग्गओ गच्छा ।
सोहिं पडिच्छिऊणं, सामायारिं पयंसंति ॥
अवि गीय-सुयहराणं, चोइज्जंताण मा हु अचियत्तं ।
मेरासु य पत्तेयं, माऽसंखड पुव्वकरणेणं ॥
(बृभा १२६२-१२६४)

उपसम्पदा स्वीकार करने वाले शिष्य दो प्रकार के हो सकते हैं—पार्श्वस्थ और संविग्न। पार्श्वस्थ द्वारा मुण्डित पार्श्वस्थ जब दीक्षित हुआ था, उस दिन से लेकर आज तक की आलोचना करता है। संविग्न से मुण्डित संविग्न यदि अवसन्न (सामाचारी में शिथिल) हो गया है तो वह जब से अवसन्न हुआ, तब से आलोचना प्रारंभ करता है।

सांभोजिक और असांभोजिक संविग्न जब से अपने गच्छ से निकले हैं, उस दिन से लेकर आज तक की उन्हें आलोचना करनी होती है।

आचार्य आलोचना सुनकर उन्हें तप, छेद, मूल आदि जो भी प्रायश्चित्त देना होता है, देते हैं और फिर अपने गच्छ की सामाचारी से अवगत कराते हैं।

गीतार्थ, श्रुतधर—गणी, वाचक आदि बहुश्रुत, जो भी उपसम्पन्न होते हैं, उनकी अपने-अपने गण की अपनी-अपनी सामाचारी होती है। उसमें अभ्यस्त होने के कारण वे वर्तमान सामाचारी में स्खलित हो जाते हैं तो उन्हें

बार-बार प्रेरित किया जाता है, इससे उनमें अप्रीति उत्पन्न हो सकती है, कलह हो सकता है। अतः इनसे बचने के लिए उन्हें सर्वप्रथम चक्रवाल सामाचारी का प्रशिक्षण देना चाहिए।

१३. उपदेश-स्मारणा-प्रतिस्मारणा

उवएसो सारणा चैव, तइया पडिसारणा ।
छंदे अवट्टमाणां, अप्पछंदेण वज्जेज्जा ॥
निद्दापमायमाइसु, सइं तु खलियस्स सारणा होइ ।
नणु कहिय ते पमाया, मा सीयसु तेसु जाणान्तो ॥
फुड-रुक्खे अचियत्तं, गोणो तुदिओ व मा हु पेत्तेज्जा ।
सज्जं अओ न भन्नइ, धुव सारणा तं वयं भणिमो ॥
(बृभा १२६६-१२६८)

० उपदेश—सामाचारी में स्खलना करने पर गुरु उपसम्पन्न शिष्य को उपदेश देते हैं—निद्रा, विकथा आदि प्रमाद त्याज्य हैं—यह हमारी सामाचारी है। जो उपदेश के अनुसार वर्तन नहीं करता, उसे गुरु स्व अभिप्राय से विमर्शपूर्वक गच्छ से निष्कासित कर देते हैं।

० स्मारणा—एक बार निद्रा प्रमाद आदि करने पर उसे स्मरण कराना चाहिए कि हमने पहले ही तुम्हें प्रमाद के बारे में बता दिया है, अतः जानते हुए भी प्रमाद मत करो।

० प्रतिस्मारणा—दूसरी, तीसरी बार स्खलना होने पर पुनः सचेत करना प्रतिस्मारणा है। जिसने प्रमाद किया है, उसे सीधा न कहकर अन्य के बहाने सजग करना चाहिए। स्फुट और रूक्ष शब्दों के प्रयोग से अप्रीति उत्पन्न होती है। इससे वह क्रुद्ध हो उत्प्रव्रजित भी हो सकता है। जैसे भार से लदे बैल को अत्यधिक पीड़ित करने पर वह भार को गिरा देता है। अतः प्रमाद करने पर तत्काल न कहकर कुछ समय पश्चात् अथवा दूसरे दिन कहना चाहिए। संयमयोगों में प्रमाद करने पर स्मारणा अवश्य करनी चाहिए।

(महानिशीथ के दूसरे अध्ययन में कहा गया है—

रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तउ ।
भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिया ॥

‘कोई रुष्ट हो या न हो, चाहे विषरूप में—विपरीत रूप में अन्यथा ग्रहण करे, तब भी स्वपक्ष—साधुता के लिए जो गुणकारी और हितकारी हो, वैसी भाषा बोलनी चाहिए।)

अतः जिन आज्ञा की आराधना के लिए हम आपको ऐसा कहते हैं, मत्सर या प्रद्वेष से प्रेरित होकर नहीं—इस प्रकार आचार्य प्रमत्त शिष्य की सारणा-वारणा करते हैं।

१४. सारणा की अनिवार्यता : प्रमादी का परित्याग
सारेयव्वो नियमा, उवसंपन्नो सि जं निमित्तं तु।
तं कुणसु तुमं भंते!, अकरेमाणे विवेगो उ ॥

(व्यभा २८८)

तेण परं निच्छुभणा, आउट्ठो पुण सयं परेहिं वा।
तंबोलपत्तनायं, नासेहिसि मज्झ अन्ने वि ॥

(बृभा १२७२)

जो उपसंपन्न है, उसकी नियमतः सारणा की जाती है—भदन्त! तुम ज्ञानाभ्यास आदि जिस निमित्त से उपसंपन्न हो, उसे उसी रूप में सम्पादित करो—इस प्रकार सारणा करने पर भी वह अपने लक्ष्य में एकनिष्ठ नहीं होता है तो उसका परित्याग कर दिया जाता है।

तीन बार जागरूक करने पर भी यदि वह प्रमाद से निवृत्त नहीं होता है तो आचार्य उसे गण से निष्कासित कर देते हैं, तब वह स्वयं या दूसरों के द्वारा प्रेरित होकर प्रमाद से निवृत्त हो जाता है और संकल्प करता है—भंते! अब मैं इस गलती को पुनः नहीं करूंगा। आष मुझे क्षमा करें।

तब गुरु उसे अनुशासित करते हैं—जैसे एक सड़ा हुआ ताम्बूलपत्र (पान) अन्य पत्रों को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार तुम स्वयं विनष्ट होकर मेरे अन्य शिष्यों का भी नाश करोगे। इसलिए मैं तुम्हें गण से निष्काशित किता है।

१५. प्रमादी द्वारा पश्चात्ताप, गच्छ द्वारा निवेदन
“सेज्जायरनिब्बन्धे, कहियाऽऽगय न विणाए हाणी ॥
को नाम सारहीणं, स होइ जो भहवाइणो दमए।
दुट्ठे वि उ जो आसे, दमेइ तं आसियं बिंति ॥
होति हु पमाय-खलिया, पुव्वभासा य दुच्चया भंते!।
न चिरं च जंतणोयं, हिया य अच्चंतियं अंते ॥

(बृभा १२७४-१२७६)

(जो उपसम्पन्न शिष्य बार-बार कहने पर भी प्रमाद से निवृत्त नहीं होते हैं तो आचार्य उन्हें वहीं छोड़ कर प्रच्छन्न

रूप से अन्यत्र चले जाते हैं।

आचार्य के विहार करने के पश्चात् जो शिष्य कहें कि बहुत अच्छा हुआ उग्रदण्ड देने वाले आचार्य से हमें मुक्ति मिल गई—उन शिष्यों का यहां प्रसंग नहीं है। जो शिष्य कहें—हा! कष्ट है, आचार्य हमें छोड़कर कहां चले गए?) वे आग्रहपूर्वक शय्यातर से पृच्छते हैं, तब शय्यातर बता देते हैं कि क्षमाश्रमण अमुक ग्राम में गए हैं। वे तत्काल विहार कर उस ग्राम में आचार्य के पास पहुंच जाते हैं। पहुंचते ही वहां स्थित साधु आदरपूर्वक उनसे उपधि, दण्ड आदि ले लेते हैं, जिससे विनय की परम्परा अक्षुण्ण बनी रहती है।

(आगतुक शिष्य आचार्य के चरणों में गिर जाते हैं, टूटी हुई मुक्तामाला की भांति अश्रुधारा बहाते हुए करबद्ध निवेदन करते हैं—

भंते! हमारा अपराध क्षमा करें। हमें करुणाद्र दृष्टि से देखें, अपने प्रतीच्छक के रूप में पुनः स्वीकार करें, स्मरणा, वाचना आदि के द्वारा हम पर अनुग्रह करें। महामना! महात्मा प्रणिपातपर्यवसित प्रकोप वाले होते हैं—सानुनय विनम्र नमनमात्र से उनका कोप शान्त हो जाता है। अब हम प्रयत्नपूर्वक प्रमाद का परिहार करेंगे।)

तत्पश्चात् गच्छ के साधु करबद्ध हो आचार्य को प्रसन्न करते हैं, उन्हें स्वीकृति देने के लिए निवेदन करते हैं। गुरु कहते हैं—आर्यो! दुष्ट अश्वों के सारथि के समान मुझे इनका आचार्य बनना इष्ट नहीं है। आचार्य के ऐसा कहने पर साधु पुनः प्रार्थना करते हैं—

वह क्या सारथि, जो विनीत घोड़ों का दमन करता है? जो अविनीत घोड़ों का दमन करता है, उन्हें प्रशिक्षित करता है, लोग उसे अश्वदम (श्रेष्ठ सारथि) कहते हैं।

भंते! अनेक जन्मों के पूर्वाभ्यास के कारण प्राणियों के लिए प्रमाद और स्वखलना को छोड़ना प्रायः बहुत कठिन है। आप तो सारणा-वारणा द्वारा नियंत्रण कर रहे हैं, वह चिरकालिक नहीं है। (अप्रमाद जब इनका आत्मधर्म बन जाएगा, तब कौन करेगा स्मरणा? कौन देगा उपदेश? अपेक्षा भी नहीं रहेगी) स्मरणा प्रारंभ की भांति परिणाम में दुस्सह नहीं है अपितु परिणाम में अत्यंत हितकर है। जो परिणामसुन्दर होता है, वह आपातकटुक होने पर भी उपादेय है।

१६. स्मारणा आपातकटु : गुटिकांजन दृष्टांत

अच्छिरुयालु नरिंदो, आगंतुअविज्जगुलियसंसणया ।
विसहामि ति य भणिए, अंजण वियणा सुहं पच्छा ॥
इय अविणीयविवेगो, विगिंचियाणं च संगहो भूओ ।
जे उ निसग्गविणीया, सारणया केवलं तेसिं ॥
(बृभा १२७७, १२७८)

आचार्य प्रमत्त साधुओं के तीव्रतर संवेग को जानकर उन्हें स्थिर करने के लिए एक दृष्टांत देते हैं—

एक राजा अक्षिवेदना से पीड़ित हो गया। वहां के वैद्य सफल चिकित्सा नहीं कर सके। आगंतुक वैद्य ने कहा—मेरे पास अक्षिशूलप्रशामक गुटिका है। इसे आंख में आंजने से कुछ क्षणों के लिए तीव्रतर दुःसह वेदना होगी। यदि आप मुझे मृत्युदण्ड न दें तो मैं गुटिका से आपकी आंखें आंज दूँ।

मैं वेदना को सहन कर लूंगा—राजा के ऐसा कहने पर वैद्य ने गुटिका से उसकी आंखें आंज दी। एक बार तो असह्य वेदना हुई, किन्तु कुछ समय पश्चात् ही आंखें स्वस्थ हो गईं।

आचार्य ने दृष्टांत का उपसंहार करते हुए कहा—आर्यों! उस दुःसह गुटिकाञ्जन के आंजने के समान स्मारणा आदि आपके लिए आपातकटुक हो सकते हैं, किन्तु परिणामसुंदर हैं। इस प्रकार आचार्य अविनीत शिष्यों (प्रतीच्छकों) का परित्याग करते हैं, लौटे हुए परित्यक्त शिष्यों का पुनः संग्रहण करते हैं और जो स्वभाव से विनीत हैं, उनके लिए केवल स्मारणा का प्रयोग करते हैं। यथा—यह क्रिया तुम्हें ऐसे करनी चाहिए।

१७. उपसंपदा के आकर्षण-बिंदु : देशाटन आदि
सो चरणसुट्टियप्पा, नाणपरो सुहूओ अ साहूहिं ।
उवसंपया य तेसिं, पडिच्छणा चेव साहूणं ॥
.....उवसंपय दीवणा अत्थे ॥
अहवा वि गुरुसमीवं, उवागए देसदंसणम्मि कए ।
उवसंपय साहूणं, होइ कयम्मी दिसाबंधे ॥
(बृभा १२५०-१२५२)

उपसंपदा के तीन प्रकार हैं—

१. देश-दर्शन से लौटकर आए हुए चारित्र में सुस्थित मुनि को सूत्रार्थ की पौरुषी के प्रति जागरूक तथा उसमें पूर्ण

जानकर और गच्छगत मुनियों द्वारा उसकी प्रशंसा सुनकर अनेक अन्य गच्छगत मुनि उसके पास उपसम्पदा स्वीकार करते हैं और वह उनको यथाविधि अंगीकार करता है।

२. भावी आचार्य की सूत्रों के अर्थ की सूक्ष्मता में प्रवेश करने की क्षमता को देखकर उसके पास अर्थग्रहण की दृष्टि से उपसम्पदा स्वीकार करते हैं। वह उनके समक्ष सूत्रों के अर्थ प्रकाशित करता है।

३. देशदर्शन कर गुरु के पास आने पर गुरु उसे आचार्य योग्य समझकर आचार्य पद पर प्रतिष्ठापित कर देते हैं और उसे किसी एक दिशा में विहरण करने की अनुज्ञा प्रदान करते हैं। जब वह वहां से विहरण करता है, तब अन्य गुरुओं की परम्परा के अनेक मुनि (प्रतीच्छक) उसके पास उपसम्पदा ग्रहण कर लेते हैं।

१८. उपसम्पदाकाल के विकल्प

छम्मासे उवसंपद, जहणण बारससमा उ मज्झिमिया ।
आवकहा उक्कोसे, पडिच्छसीसे तु जाजीवं ॥
(निभा ५४५२)

काल की अपेक्षा से उपसम्पदा के तीन प्रकार हैं—

जधन्यछहमास । मध्यमबारह मास । उत्कृष्टयावजीवन ।

उत्कृष्ट उपसम्पदाग्राहक प्रतीच्छक शिष्य जीवनपर्यंत एक ही आचार्य के पास रहता है।

१९. रत्नाधिक की उपसम्पदा (नेतृत्व) अनिवार्य
दो भिक्खुणो एगयओ विहरंति... बहवे भिक्खुणो
बहवे गणावच्छेइया बहवे आयरिय-उवज्झाया एगयओ
विहरंति, नो एहं कप्पइ अण्णमण्णमणुवसंपज्जित्ताणं
विहरित्तए। कप्पइ एहं अहाराइणियाए अण्णमण्णं
उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ (व्य ४/२६, ३२)

दो भिक्षु या अनेक भिक्षु, गणावच्छेदक और आचार्य-उपाध्याय एक साथ विहरण करते हों तो वे परस्पर उपसम्पदा स्वीकार किये बिना विहरण नहीं कर सकते (या एक स्थान पर नहीं रह सकते)। वे रत्नाधिक की उपसम्पदा (नेतृत्व) स्वीकार कर विहरण कर सकते हैं।

२०. शैक्ष और रत्निक के पारस्परिक कर्तव्य
दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तं जहा—सहे य

राइणिए य। तत्थ सेहतराए पलिच्छन्ने, राइणिए अपलिच्छन्ने।
सेहतराएणं राइणिए उवसंपज्जियव्वे भिक्खोववायं च
दलयइ कप्पागं ॥

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तं जहा—सेहे य
राइणिए य। तत्थ राइणिए पलिच्छन्ने, सेहतराए अपलिच्छन्ने।
इच्छा राइणिए सेहतरागं उवसंपज्जइ इच्छा नो उवसंपज्जइ,
इच्छा भिक्खोववायं दलयइ कप्पागं इच्छा नो दलयइ
कप्पागं ॥ (व्य ४/२४, २५)

आलोइयम्मि सेहेण, तस्स विगडे उ पच्छराइणिओ ।
एगस्स उ परिवारो, बितीए रायणियत्तवादो य।
इति गव्वो न कायव्वो, दायव्वो चेव संघाडो ॥
पेहाभिक्खकितीओ, करंति सो यावि ते पवाएति ।
सुत्तत्थं जदि गिण्हति, तो से देति पलिच्छदं।
गहिते वि देति संघाडे मा से नासेज्ज तं सुत्तं ॥
(व्यभा २१८१-२१८३, २१८७)

दो साधर्मिक एक साथ विहरण करते हैं—शैक्षतर—
अपेक्षाकृत अल्प दीक्षापर्याय वाला और रत्नाधिक। उनमें
यदि शैक्ष परिच्छन्न (शिष्यपरिवार और श्रुतसम्पदा से
सम्पन्न) है और रत्निक अपरिच्छन्न (श्रुतसम्पन्न होने पर
भी शिष्य संपदा से विहीन) है, तो शैक्ष को चाहिए कि
वह रत्नाधिक को उपसम्पद् दे।

प्रथमतः शैक्षतर रत्निक के समक्ष आलोचना करे,
फिर रत्निक शैक्षतर के समक्ष आलोचना करे।

एक अपने परिवार का तथा दूसरा अपने रत्निकत्व का
गर्व न करे। शैक्ष रत्निक को संघाटक अवश्य दे।

शैक्षतर के शिष्य रत्निक के वस्त्रों आदि की प्रतिलेखना
करें, भिक्षा लाकर दें, कृतिकर्म आदि से विनय करें। रत्निक
वाचना देते हैं (सूत्र पढ़ाते हैं, अर्थ सुनाते हैं)। उससे परिश्रान्त
होने पर उन्हें दबायें (पगचंपी आदि करें)।

रत्निक परिच्छन्न और शैक्ष अपरिच्छन्न हो तो रत्निक
की इच्छा पर निर्भर है कि वह उसे उपसम्पद्, भिक्षा, उपपात
और योग्यसंघाटक दे, इच्छा न हो तो न दे।

यदि शैक्ष तुल्य अथवा अधिक श्रुत वाला है, रत्निक
उससे सूत्र-अर्थ ग्रहण करता है तो उसे शिष्यपरिवार देता है।

सूत्रार्थ ग्रहण के पश्चात् भी संघाटक देता है, जिससे कि
भिक्षाटन, प्रतिलेखना आदि व्याक्षेपों के कारण श्रुत नष्ट न
हो।

उपाध्याय—सूत्रार्थ के ज्ञाता, सूत्र-वाचना द्वारा शिष्यों
के निष्पादन में कुशल। द्र संघ

उपाध्याय का न्यूनतम दीक्षापर्याय आदि द्र आचार्य

उपासक प्रतिमा—श्रमणोपासक की साधना का एक
विशिष्ट प्रयोग।

१. उपासक कौन ?

२. साधु भी उपासक या श्रावक कैसे ?

३. उपासक प्रतिमा के प्रकार

४. उपासकप्रतिमाओं का स्वरूप

○ प्रतिमा का जघन्य काल एक दिन क्यों ?

५. पौषध के प्रकार

६. सागरचन्द्र द्वारा एकरात्रिकी प्रतिमा

* भोगों का निदान : श्रावकत्व दुर्लभ

* श्रावक होने का निदान : श्रमणधर्म दुर्लभ द्र निदान

१. उपासक कौन ?

भावे उ सम्मदिट्ठी, सम्ममणो जं उवासए समणे।

तेण सो गोण्णां नाम उवासगो सावगो व त्ति ॥

(दशानि ३७)

जो सम्यग्दृष्टि है, सम मन वाला है तथा श्रमणों की
उपासना करता है, वह भाव उपासक है। उसके दो गौण
(गुणनिष्पन्न) नाम हैं—उपासक और श्रावक।

२. साधु भी उपासक या श्रावक कैसे ?

कामं दुवात्तसंगं पवयणमणगारऽगारधम्मो य।

ते केवलीहिं पसूया..... ॥

तो ते सावग तम्हा, उवासगा तेसु हींति भत्तिगया।

अविसेसम्मि विसेसो, समणोसु पहाणया भणिया ॥

कामं तु निरवसेसं, सव्वं जो कुणति तेण होइ कयं।

तम्मि ठिताओ समणा, नोवऱसगा सावगा गिहिणो ॥

साधवस्तु केवलज्ञानोत्पत्तेः कृत्स्नश्रुतत्वाच्च चोद्दस-

पुष्वी जदा तदा षो उवासगा भवन्ति.....श्रावकास्तु
अकृत्स्नश्रुतत्वात् नित्योपासनाच्च उवासगा एव भवन्ति ।

(दशानि ३८-४० चू)

द्वादशांग प्रवचन में द्विविध धर्म का प्रतिपादन है—
अनगारधर्म और अगारधर्म (श्रावक धर्म)। ये दोनों केवली
से प्रसूत हैं। केवली धर्म सुनाते हैं इसलिए वे श्रावक हैं।
साधु और गृहस्थ अर्हत् की उपासना करते हैं, इसलिए
उपासक हैं। उपासक धर्म सुनते हैं अतः वे भी श्रावक हैं।
इस प्रकार साधु और गृहस्थ दोनों श्रावक हैं। विशेष यह है
कि मुनि नित्यकालिक उपासक और श्रावक नहीं होते, गृहस्थ
ही दोनों हो सकते हैं।

यह सिद्ध है कि जो कार्य निरवशेष रूप से होता है,
वही कृत माना जाता है। मुनि निरवशेष रूप में अर्थात्
नित्यकालिक न सुनते हैं और न उपासना करते हैं—वे केवलज्ञान
उत्पन्न होने पर अथवा चौदहपूर्वी सम्पूर्ण श्रुत के ज्ञाता होने
पर उपासना या श्रवण नहीं करते। इसलिए मुनि न उपासक
होते हैं और न श्रावक। गृहस्थ असम्पूर्ण श्रुत के कारण नित्य
श्रवण और नित्य उपासना करते हैं अतः वे ही श्रावक और
उपासक हैं।

३. उपासक प्रतिमा के प्रकार

दंसण-वय-सामाइय-पोसहपडिमा अबंभ सच्चित्ते ।

आरंभ-पेस-उद्दिट्टवज्जए समणभूए य ॥

(दशानि ४४)

उपासक की ग्यारह प्रतिमाएं हैं—दर्शन, व्रत,
सामायिक, पौषध, एकरात्रिकी प्रतिमा, अब्रह्मवर्जन,
सच्चित्तवर्जन, आरंभवर्जन, प्रेष्यारंभवर्जन, उद्दिष्टवर्जन और
श्रमणभूत।

४. उपासकप्रतिमाओं का स्वरूप

.....एक्कारस उवासगपडिमा पण्णत्ताओ ।....

.....सव्वधम्मरुई यावि भवति । तस्स णं बहूइं
सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं नो
सम्मं पट्टविताइं भवन्ति । एवं दंसणसावगोत्ति पढमा
उवासगपडिमा ॥

अहावरा दोच्चा उवासगपडिमा —सव्वधम्मरुई यावि

भवति । तस्स णं बहूइं सील-व्वय-गुण-वेरमण-
पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्मं पट्टविताइं भवन्ति ।....

अहावरा तच्चा उवासगपडिमा —से णं सामाइयं
देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवति ।....

अहावरा चउत्था उवासगपडिमा —से णं चाउद्दस-
ट्टमुद्दिट्टपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं सम्मं
अणुपालित्ता भवति ।....

अहावरा पंचमा उवासगपडिमा —से णं एगराइयं
उवासगपडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवति ।से णं असिणाणए
वियडभोईं मउलिकडे दिया बंभचारी रत्तिं परिमाणकडे ।
से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा
दुयाहं वा तियाहं वा, उक्कोसेणं पंचमासे विहरेज्जा ।....

अहावरा छट्ठा उवासगपडिमा —रातोवरातं
बंभचारी । सचित्ताहारे से अपरिण्णान्ते भवति । से णं
एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे.....छम्मासे विहरेज्जा ।....

अहावरा सत्तमा उवासगपडिमा —सचित्ताहारे से
परिण्णान्ते भवति.....सत्तमासे विहरेज्जा ।....

अहावरा अट्टमा उवासगपडिमा — आरंभे से
परिण्णान्ते भवति.....अट्टमासे विहरेज्जा ।....

अहावरा नवमा उवासगपडिमा —पेस्सारंभे से
परिण्णान्ते भवति.....नवमासे विहरेज्जा ।....

अहावरा दसमा उवासगपडिमा.....उद्दिट्टभत्ते से
परिण्णान्ते भवति । से णं खुरमुंडए वा छिथलिधारए वा ।
तस्स णं आभट्टस्स समाभट्टस्स कर्णंति दुवे भासाओ
भासित्तए, तं जहा—जाणं वा जाणं, अजाणं वा
नोजाणं ।....दसमासे विहरेज्जा ।....

अहावरा एक्कारसमा उवासगपडिमा —से णं
खुरमुंडए वा लुत्तसिरए वा गहितायारभंडगनेवत्थे जे इमे
समण्णणं निगंथाणं धम्मो तं सम्मं काएण फासेमाणे
पालेमाणे पुरतो जुगमायाए पेहमाणे दट्टण तसे पाणे उद्धट्टु
पायं रीएज्जा, साहट्टु पायं रीएज्जा, वित्तिरिच्छं वा पायं
कट्टु रीएज्जा, सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, नो
उज्जुयं गच्छेज्जा, केवलं से णातए पेज्जबंधणे अक्कोच्छिन्ने
भवति । एवं से कप्पति नायवीथिं एत्तए । तत्थ से पुब्बा-

गमणेणं पुवाउत्ते चाउलोदणे पच्छउत्ते भिलंगसूवे, कप्पति से चाउलोदणे पडिगाहित्तए नो से कप्पति भिलंगसूवे पडिगाहित्तए ।”

तस्स णं गाहावडकुलं पिंडवायपडियाए अणु-
प्विट्ठस्स कप्पति एवं वदित्तए—समणोवासगस्स
पडिमापडिवन्नस्स भिक्खं दलयह । तं एतारूवेणं विहारेणं
विहरमाणं केइ पासित्ता वदिज्जा — केइ आउसो ! तुमंसि
वत्तव्वं सिया ।

समणोवासए पडिमापडिवन्नए अहमंसीति वत्तव्वं
सिया । से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे..... एक्कारस
मासे विहरेज्जा ।” (दशा ६/१, ८-१८)

ग्यारह उपासक-प्रतिमाएं प्रज्ञप्त हैं—

१. दर्शनश्रावक—यह पहली प्रतिमा है। इसमें सर्वधर्म विषयक रुचि होती है, किन्तु अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास सम्यक् प्रतिष्ठित नहीं होते।
२. कृतव्रतधर्म—यह दूसरी प्रतिमा है। इसमें सर्वधर्म विषयक रुचि होती है और प्रतिमाधारी उपासक अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि का सम्यक् प्रतिष्ठापन करता है, किन्तु वह सामायिक और देशावकाशिक का सम्यक् अनुपालन नहीं करता।
(शील—चार शिक्षाव्रत। व्रत—पांच अणुव्रत। गुण—तीन गुणव्रत। विरमण—विषयों का यथाशक्ति परित्याग। प्रत्याख्यान—नमस्कारसहिता आदि का स्वीकार। पौषध—शरीर-संस्कार वर्जन तथा ब्रह्मचर्य का स्वीकार। उपवास—आहार का परित्याग।—सू. २/२/७२ का भाष्य)
३. कृतसामायिक—यह तीसरी प्रतिमा है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक सामायिक और देशावकाशिक व्रत का सम्यक् अनुपालन करता है।
४. पौषधोपवासनिरत—यह चौथी प्रतिमा है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् अनुपालन करता है।
५. एकरात्रिकी—यह पांचवीं प्रतिमा है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक “एकरात्रिकी

उपासकप्रतिमा का सम्यक् अनुपालन करता है तथा स्नान नहीं करता, दिवाभोजी होता है, धोती के दोनों अंचलों को कटिभाग में टांक लेता है—नीचे से नहीं बांधता, दिवा ब्रह्मचारी होता है, रात्रि में अब्रह्मचर्य का परिमाण करता है।

वह इस विहारचर्या से विहरण करता हुआ जघन्य एक दिन या दो दिन या तीन दिन यावत् उत्कृष्ट पांच मास तक इस प्रतिमा का पालन करे।

६. दिन और रात में ब्रह्मचारी—यह छठी प्रतिमा है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक दिन और रात में ब्रह्मचारी रहता है, किन्तु सचित्त का परित्याग नहीं करता। कालमान छह मास।

७. सचित्त-परित्यागी—यह सातवीं प्रतिमा है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक सम्पूर्ण सचित्त का परित्याग करता है। कालमान सात मास।

८. आरम्भ-परित्यागी—यह आठवीं प्रतिमा है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक आरम्भ—हिंसा का परित्याग करता है। कालमान आठ मास।

९. प्रेष्यारम्भ-परित्यागी—यह नौवीं प्रतिमा है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक प्रेष्य आदि से हिंसा करवाने का परित्याग करता है। कालमान नौ मास।

१०. उद्दिष्टभक्त-परित्यागी—यह दसवीं प्रतिमा है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक उद्दिष्ट भोजन का परित्याग करता है। वह शिर को क्षुर से मुंडवा लेता है या चोटी रख लेता है।

घर के विषय में एक बार या बार-बार पूछे जाने पर वह दो प्रकार की भाषा बोल सकता है—जानता हो तो कहता है—‘मैं जानता हूँ’ और न जानता हो तो कहता है—‘मैं नहीं जानता।’ कालमान दस मास।

११. श्रमणभूत—यह ग्यारहवीं प्रतिमा है। इसमें पूर्वोक्त उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रतिमाधारी उपासक क्षुर से मुंडन करता है या लुंचन करता है। वह साधु का आचार, भांड-उपकरण एवं वेश धारण करता है। श्रमण-निर्ग्रंथों के धर्म का सम्यक् प्रकार से काया से स्पर्श करता है, पालन करता है, चलते समय युगप्रमाण (चार हाथ) भूमि को देखता हुआ चलता है, त्रस प्राणियों को देखकर अपने पैर उठा लेता है,

पैरों को संकुचित कर चलता है अथवा तिरछे पैर रखकर चलता है। (यदि मार्ग में त्रस जीव अधिक हों और) दूसरा मार्ग विद्यमान हो तो उस मार्ग पर यतनापूर्वक चलता है, सीधे मार्ग से नहीं जाता। केवल ज्ञाति-वर्ग से उसके प्रेम-बंधन का विच्छेद नहीं होता, अतः वह ज्ञातिजनों के घर भिक्षा के लिए जा सकता है।

स्वजन-संबंधी के घर पहुंचने से पूर्व चावल पके हों और भिलिंगसूप (मूंग आदि की दाल) न पका हो तो वह चावल-ओदन ले सकता है किन्तु भिलिंगसूप नहीं ले सकता।

वह भिक्षा के लिए गृहस्थों के घर में प्रवेश कर 'प्रतिमाप्रतिपन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो'—ऐसा कहता है। उसे इस विहारचर्या से विहरण करते हुए देखकर कोई पूछे—तुम कौन हो? वह कहे मैं प्रतिमाप्रतिपन्न श्रमणोपासक हूँ। कालमान ग्यारह मास।

० प्रतिमा का जघन्य काल एक दिन क्यों?

दिवसो, कहं एगाहं? सयं पडिवने कालगतो य संजमं वा गेणहेज्जा, एतेणेगाहं वा दुआहं वा, इतरथा संपुण्णा पंचमासा अणुपालेतव्वा। (दशा ६/१२ की चू)

पांचवीं यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा का जघन्य कालमान एक दिन क्यों? वह प्रतिमा स्वीकार करते ही कालगत हो सकता है अथवा श्रमण बन सकता है—इस दृष्टि से एक दिन, दो दिन आदि का निर्देश है। अन्यथा पांचवीं प्रतिमा सम्पूर्ण पांच मास यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा सम्पूर्ण ग्यारह मास नियमतः पालनीय है।

(दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार इन प्रतिमाओं का आधार सम्यग्-दर्शन और श्रावक के प्रथम ग्यारह व्रत हैं। दूसरी प्रतिमा का आधार पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत, तीसरी प्रतिमा का आधार सामायिक और देशावकाशिक (प्रथम दो शिक्षाव्रत) तथा चौथी प्रतिमा का आधार प्रतिपूर्ण पौषधोपवास है। शेष प्रतिमाओं में इन्हीं व्रतों का उत्तरोत्तर विकास किया गया है।

श्रावक बारहव्रती के रूप में कई वर्षों तक साधना कर चुकता है और जब उसके मन में साधना की तीव्र भावना उत्पन्न होती है, तब वह गृहस्थ की प्रवृत्तियों से निवृत्त

होकर प्रतिमाओं को स्वीकार करता है। प्रायः वे लोग इनका स्वीकरण करते हैं—

१. जो अपने आपको श्रमण बनने के योग्य नहीं पाते, किन्तु जीवन के अन्तिमकाल में श्रमण जैसा जीवन बिताने के इच्छुक होते हैं।

२. जो श्रमण-जीवन बिताने का पूर्वाभ्यास करते हैं।

आनन्द श्रावक ने चौदह वर्षों तक बारहव्रती का जीवन बिताया। पन्द्रहवें वर्ष के अंतराल में भगवान् महावीर के पास उपासक की ग्यारह प्रतिमाएं स्वीकार कर लीं। इनके प्रतिपूर्ण पालन में साढ़े पांच वर्ष लगे। तत्पश्चात् उसने अपश्चिम मारणांतिक-संलेखना की और अन्त में एक मास का अनशन किया।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बारहव्रती श्रावक जब सम्यक्-दर्शनी और व्रती होता ही है, तब फिर पहली और दूसरी प्रतिमा में सम्यक्-दर्शनी बनने की बात क्यों कही गई है? इसका समाधान यही है कि बारह व्रत सअपवाद होते हैं, जबकि प्रतिमाओं में कोई अपवाद नहीं होता। प्रतिमा में दर्शन और व्रत-गत गुणों का निरपवाद परिपालन और उत्तरोत्तर विकास किया जाता है।—सम ११/१ का टि)

५. पौषध के प्रकार

पोसहो चउड्विहो—आहारपौषधो, शरीर-सक्कारपोसहो, अक्कावारपोसहो, बंधचरपोसहो।

(दशा ६/८ की चू)

पौषधोपवासव्रत के चार प्रकार हैं—

१. आहार-पौषध—आहार-परित्याग।
२. शरीर-संस्कारवर्जन रूप पौषध।
३. प्रवृत्तिवर्जन रूप पौषध।
४. ब्रह्मचर्य-पौषध—ब्रह्मचर्य का स्वीकार।

६. सागरचन्द्र द्वारा एकरात्रिकी प्रतिमा

सागरचंदो अट्टमि-चउद्वसीसुं सुनघरे वा सुसाणे वा एगराइयं पडिमं ठाइ। धणदेवेणं एयं नाऊणं तंबियाओ सूईओ घडावियाओ। तओ सुनघरे पडिमं ठियस्स वीससु वि अंगुलीनहेसु अक्कोडियाओ। तओ सम्ममहियासमाणो वेयणाभिभूओ कालगतो देवो जाओ। (बृभा १७२ की वृ)

श्रावक सागरचन्द्र अष्टमी-चतुर्दशी को शून्यगृह अथवा श्मशान में एकरात्रिकी प्रतिमा की आराधना करता था। धनदेव को इस बात का पता चला तो उसने प्रतिशोध की भावना से ताम्रिक (कसेरा) से ताम्रमयी तीक्ष्ण सूइयां बनवाई, फिर उन सूइयों को शून्यगृह में प्रतिमास्थित सागरचन्द्र के बीसों अंगुलिनखों में डाल दिया। वह वेदना को समभाव से सहन करता हुआ, वेदना की तीव्रता से कालधर्म को प्राप्त कर देव बना।

ऋजुजड़—ऋजुता से सम्पन्न किन्तु प्रज्ञा से विपन्न पुरुष। प्रथम अर्हत् ऋषभ के शिष्य ऋजु थे परन्तु प्रज्ञा में मंद थे। द्र ऋजुप्राज्ञ

ऋजुप्राज्ञ—ऋजुता और प्राज्ञता से सम्पन्न व्यक्ति। प्रथम और अंतिम तीर्थंकर को छोड़ मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शिष्य ऋजुप्राज्ञ होते हैं।

उज्जुत्तणं सें आलोयणाएँ जडुत्तणं सें जं भुज्जो।
तज्जातिए ण याणति, गिही वि अन्नस्स अन्नं वा ॥
उज्जुत्तणं सें आलोयणाएँ षण्णा उ सेसवज्जणया।
सण्णायगा वि दोसे, ण करंतऽण्णे ण यऽण्णोसिं ॥
वंका उ ण साहंती, पुट्ठा उ भणंति उण्ह-कंटादी।
पाहुणग सद्ध ऊसव, गिहिणो वि य वाउलंतेवं ॥
(बृभा ५३५६-५३५८)

प्रथम तीर्थंकर के ऋजुजड़ साधु अपने अतिचार की आलोचना करते हैं, यह उनका ऋजुभाव है। किन्तु तज्जातीय दोषों का वर्जन नहीं कर सकते, यह उनकी मति की जड़ता है। यही बात तत्कालीन गृहस्थों की है। जिस सदोष कार्य का निषेध किया जाता है, उसी का वर्जन करते हैं, उससे संबंधित अन्य कार्य का नहीं। पूछने पर वे स्पष्ट बता देते हैं—यह उनकी ऋजुता है।

मध्यम तीर्थंकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं। वे जिस दोष का सेवन करते हैं, उसकी आलोचना करते हैं—यह उनका ऋजुभाव है। उसके साथ तज्जातीय सब दोषों का वर्जन करते हैं—यह उनकी प्राज्ञता है। तत्कालीन गृहस्थ भी एक दोष के आधार पर तज्जातीय शेष सब दोषों की अकल्पनीयता जान लेते हैं।

अंतिम तीर्थंकर के साधु वक्रजड़ होते हैं। वे दोष का सेवन करके न उसे कहते हैं, न उसकी आलोचना करते हैं—यह उनकी वक्रता है। जानते हुए या नहीं जानते हुए दोष सेवन में प्रवृत्त होते हैं—यह उनकी जड़ता है।

तुमने नाटक देखा है? यह पूछने पर वक्रजड़ शिष्य कहता है—नहीं देखा। तुम वहां खड़े क्यों थे? मैं गर्मी से आहत हो गया, इसलिए खड़ा था। अथवा पैर में कांटा लग गया इसलिए वहां खड़ा था।

गृहस्थ भी एषणा आदि के विषय में सद्भाव नहीं कहते। वे कहते हैं—यह वस्तु अतिथियों के लिए बनाई है अथवा ऐसा भोजन मेरे लिए रुचिकर है अथवा आज हमारे उत्सव है—इत्यादि बातें कहकर व्यामोह उत्पन्न करते हैं।

० ऋजुजड़ शिष्य : नाट्यप्रेक्षण दृष्टान्त

नडपेच्छं दडूणं, अवस्स आलोयणा ण सा कप्पे।
कउयादी सों पेच्छति, ण ते वि पुरिमाण तो सव्वे ॥
एमेव उग्गमादी, एक्केक्क निवारि एतरे गिण्हे।
सव्वे वि ण कप्पंति, ति वारितो जज्जियं वप्पे ॥
सण्णायगा वि उज्जुत्तणेण कस्स कत तुज्जमेयं ति।
मम उद्धि ण कप्पइ, कीतं अण्णस्स वा पणो ॥
सव्वजईण निंसिद्धा, मा अणुमण्ण ति उग्गमा णे सिं।
इति कथिते पुरिमाणं, सव्वे सव्वेसि ण करंति ॥
(बृभा ५३५२-५३५५)

ऋजुजड़ शिष्यों ने नाटक देखा। आकर ऋजुता से गुरु को निवेदन किया। गुरु ने कहा—यह अकल्पनीय है। घूमते हुए पुनः एक बार बहुरूपिये का कौतुक देखा। गुरु ने कहा—कौतुक क्यों देखा? आपने नाटक का निषेध किया था, इसका नहीं। वे ऋजुभाव के कारण जितना निषेध किया जाता है, उतना ही वर्जन करते हैं। सर्वनाट्य का निषेध करने पर समग्रता से वर्जन करते हैं।

इसी प्रकार उद्गम आदि दोषों में से एक-एक का निषेध करने पर केवल उसी एक का वर्जन कर शेष का वर्जन नहीं करते। सारे दोषों का निषेध करने पर जीवनपर्यंत सब दोषों का वर्जन करते हैं।

ज्ञातिजनों को पूछने पर कि यह आहार आदि किसके लिए बनाया है तो वे ऋजुभाव से कहते हैं—यह आपके लिए

बनाया है। मेरे लिए बनाया हुआ मैं नहीं ले सकता—ऐसा कहने पर गृहस्थ उस मुनि के लिए खरीद लेता है तथा अन्य के लिए बना देता है। यह उसकी जड़तायुक्त ऋजुता है।

हमें उद्गम आदि दोषों के अनुमोदन का दोष न लगे— इस दृष्टि से हम सब साधुओं के लिए उद्गम के सब दोष वर्जित हैं—पूर्ववर्ती ऋजु-जड़ गृहस्थों के सामने ऐसा प्ररूपण करने पर वे सब दोषों का वर्जन करते हैं।

* शासनभेद का हेतु : ऋजुप्राज्ञ आदि द्र कल्पस्थिति

एकलविहारप्रतिमा—विशिष्ट श्रुतसम्पन्न मुनि द्वारा एकाकी रहकर की जाने वाली प्रतिमा-साधना। द्र प्रतिमा

कर्म—कर्मरूप में परिणत होने योग्य और आत्मा की प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट पुद्गल।

१. कर्म की मूल-उत्तर प्रकृतियां	
२. भय मोहकर्म की प्रकृतियां	
* वेद मोहनीय का स्वरूप	द्र वेद
३. कर्मबंध के तीन हेतु	
* मान में क्रोध की नियमा] द्र कषाय
* कषाय का उपशम आदि : चार गति	
४. महामोहनीय कर्मबंध के स्थान	
५. प्रत्येक कर्मबंध के सामान्य हेतु	
६. द्रव्यबंध : कायप्रयोग आदि	
o भावबंध : जीवभावप्रयोगबंध	
o अजीवभावबंध : औदारिक शरीर आदि	
७. अबंध, बंध की तुल्यता और अल्पबहुत्व	
८. बंध का हेतु पदार्थ नहीं	
* प्रतिसेवना और कर्म	द्र प्रतिसेवना
९. बालवीर्य आदि और कर्मबंध	
१०. संहनन-धृति और कर्म	
११. संहनन, परिणाम और कर्मबंध	
१२. ज्ञान-अज्ञान और कर्मबंध	
* स्त्यानद्धि निद्रा : लिंग पाराचिक	द्र पाराचित
१३. जीव में भाव और कर्मबंध	
१४. कर्म का गुरुत्व-लघुत्व और नय	

* कर्म : गुरु-लघु-अगुरुलघु	द्र द्रव्य
१५. कर्म का कर्ता स्वतंत्र या परतंत्र	
१६. मोहक्षय : तल, सेनापति आदि दृष्टांत	
* मोहोदय और उसकी चिकित्सा	द्र ब्रह्मचर्य
१७. पुण्यबंध से मुक्ति कैसे ? ध्यान्यपत्य दृष्टांत	
* पूर्वतप से देवायुबंध कैसे ?	द्र देव
* निर्वर्तना आदि और कर्मबंध	द्र अधिकरण
* लेश्या और कर्म	द्र लेश्या

१. कर्म की मूल-उत्तर प्रकृतियां

अद्भुमूलधगडीओ, (सत्तणउड ?) पंचणउड वा उत्तरपगडीतो, सम्यक्त्वमिश्रयोर्बन्धो नास्तीत्येवं पंचनवति। (निभा ३३२२ की चू)

कर्म की मूल प्रकृतियां आठ और उत्तरप्रकृतियां सत्तानवे हैं। सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय—इन दो प्रकृतियों का बंध नहीं होता, अतः कर्म की उत्तर प्रकृतियां पिच्यानवे हैं।

* कर्म के प्रकार, स्थिति..... द्र श्रीआको १ कर्म (कर्म की मूल आठ प्रकृतियां—

- | | |
|----------------|-----------|
| १. ज्ञानावरणीय | ५. आयुष्य |
| २. दर्शनावरणीय | ६. नाम |
| ३. वेदनीय | ७. गोत्र |
| ४. मोहनीय | ८. अंतराय |

ज्ञानावरणीयकर्म की ५ प्रकृतियां—

- | | |
|----------------------|-------------------------|
| १. मति ज्ञानावरणीय | ४. मनःपर्यव ज्ञानावरणीय |
| २. श्रुत ज्ञानावरणीय | ५. केवल ज्ञानावरणीय |
| ३. अवधि ज्ञानावरणीय | |

* इन्द्रियज्ञानावरण द्र इन्द्रिय दर्शनावरणीय कर्म की ९ प्रकृतियां

- | | |
|------------------|-----------------------|
| १. निद्रा | ६. चक्षुदर्शनावरणीय |
| २. निद्रा-निद्रा | ७. अचक्षु दर्शनावरणीय |
| ३. प्रचला | ८. अवधि दर्शनावरणीय |
| ४. प्रचला-प्रचला | ९. केवल दर्शनावरणीय |
| ५. स्त्यानर्धि | |

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां—

- | | |
|---------------|----------------|
| १. सात वेदनीय | २. असात वेदनीय |
|---------------|----------------|

मोहनीय कर्म की दो प्रकृतियां—

१. दर्शन मोहनीय २. चारित्र मोहनीय

दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियां—

१. सम्यक्त्व वेदनीय २. मिथ्यात्व

वेदनीय ३. सम्यक्त्वमिथ्यात्ववेदनीय

चारित्रमोहनीय की दो प्रकृतियां—

१. कषायवेदनीय २. नोकषायवेदनीय

कषायवेदनीय की सोलह प्रकृतियां

१-४. अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ

५-८. अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ

९-१२. प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ

१३-१६. संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ

नोकषायवेदनीय की नौ प्रकृतियां—

१. स्त्रीवेद ४. हास्य ७. भय
२. पुरुषवेद ५. रति ८. शोक
३. नपुंसकवेद ६. अरति ९. जुगुप्सा

आयुष्यकर्म की चार प्रकृतियां—

१. नरकायुष्य ३. मनुष्यायुष्य
२. तिर्यचायुष्य ४. देवायुष्य

* क्षेत्र-काल की सिग्धता : दीर्घ आयु ३ चिकित्सा

नामकर्म की बयालीस प्रकृतियां—

१. गतिनाम १५. पराघातनाम
२. जातिनाम १६. आनुपूर्वीनाम
३. शरीरनाम १७. उच्छ्वासनाम
४. शरीर अंगोपांग नाम १८. आतपनाम
५. शरीर बंधन नाम १९. उद्योतनाम
६. शरीर संघात नाम २०. विहायगतिनाम
७. शरीर संहनन नाम २१. त्रसनाम
८. संस्थाननाम २२. स्थावरनाम
९. वर्णनाम २३. सूक्ष्मनाम
१०. गंधनाम २४. बादरनाम
११. रसनाम २५. पर्याप्तकनाम
१२. स्पर्शनाम २६. अपर्याप्तकनाम
१३. अगुरुलघुनाम २७. साधारणशरीरनाम
१४. उपघातनाम २८. प्रत्येकशरीरनाम

२९. स्थिरनाम ३६. दुःस्वरनाम
३०. अस्थिरनाम ३७. आदेयनाम
३१. शुभनाम ३८. अनादेयनाम
३२. अशुभनाम ३९. यशःकीर्तिनाम
३३. सुभगनाम ४०. अयशःकीर्तिनाम
३४. दुर्भगनाम ४१. निर्माणनाम
३५. सुस्वरनाम ४२. तीर्थकरनाम

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियां—

१. उच्च गोत्र २. नीच गोत्र

अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां—

१. दानान्तराय ४. उपभोगान्तराय
२. लाभान्तराय ५. वीर्यान्तराय
३. भोगान्तराय

—पज्ञा २३/२४-५९)

२. भयमोहकर्म की प्रकृतियां

जे भिक्खू अप्पाणं.....परं बीभावेति.....।

(नि ११/६५, ६६)

दिव्व-मणुय-तेरिच्छं, भयं च आकम्हिकं तु णायव्वं ।
एक्केक्कं पि य दुविहं, संतमसंतं च णायव्वं ॥
कामं सत्तविकप्यं, भयं समासेणं तं पुणो चउहा ।...
रक्खस-पिसाय-तेणाइएसु उदयग्गि-जडुमाईसु ।...
इहलोकभयं परलोकभयं आदाणभयं आजीवण-
भयं अकस्माद्भयं मरणभयं असिलोगभयं एयं सत्तविहं
भयमुत्तं ।

इहलोगभयं मणुयभए समोतरति, परलोगभयं दिव्व-
तिरियभएसु समोतरति । आदाणे आजीवण-मरण-
असिलोगभयं च एते चउरो वि तिसु दिव्वादिएसु समोतरंति ।

(निभा ३३१४, ३३१५, ३३१७ चू)

जो भिक्षु स्वयं को या दूसरों को डराता है, वह प्रायश्चित्त
का भागी है। मोहकर्म की उत्तर प्रकृति है भय। वह चार
प्रकार से उत्पन्न होता है—

दिव्यभय—राक्षस, पिशाच आदि से उत्पन्न ।

मानुष्य भय—चोर आदि से उत्पन्न ।

तैरश्चिक भय—जल, अग्नि, वायु, हाथी आदि से उत्पन्न ।

अकस्मात् भय—निर्हेतुक भय ।

इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—सत् और असत्। पिशाच, सिंह आदि को देखकर होने वाला भय सत् और बिना देखे उत्पन्न भय असत् है।

भयमोहनीय प्रकृति के उदय से होने वाला आत्मसमुत्थ अकस्मात् भय सत् है। अकल्पित अभिप्राय से उत्पन्न अकस्मात् भय असत् है।

शिष्य ने पूछा—भय के सात प्रकार प्रज्ञप्त हैं—

१. इहलोक भय—सजातीय से भय, जैसे—मनुष्य को मनुष्य से होने वाला भय।
२. परलोक भय—विजातीय से भय, जैसे—मनुष्य को तिर्यच आदि से होने वाला भय।
२. आदान भय—धन आदि पदार्थों के अपहरण का भय।
४. अकस्मात् भय—निमित्त के बिना ही उत्पन्न भय।
५. वेदना भय—पीड़ा आदि से उत्पन्न भय।
६. मरण भय—मृत्यु का भय।
७. अश्लोक भय—अकीर्ति का भय।

फिर चार प्रकार कैसे ?

आचार्य ने कहा—यह सही है कि भय के सात विकल्प हैं किन्तु संक्षेप में उसके चार विकल्प हैं। इहलोकभय का मानुष्य भय में और परलोक भय का दिव्य-तिर्यचभय में समवतार होता है। आदान, आजीविका, मरण और अश्लोक—इन चारों का दिव्यभय आदि तीनों में समवतार होता है।

३. कर्मबंध के तीन हेतु

रागो य दोसो य तहेव मोहो, ते बंधहेतु तु तओ वि जाणे ।
णाणत्तगं तेसि जथा य होति, जाणाहि बंधस्स तथा विसेसं ॥
तिव्वेहि होति तिव्वो, रागादिएहिं उवचओ कम्मे ।
मंदेहि होति मंदो, मज्झिमपरिणामतो मज्झो ॥

(बृभा ३९३५, ३९३७)

राग, द्वेष और मोह—इन तीनों को कर्मबंध का हेतु जानो। इनमें नानात्व होता है, तब कर्मबंध में भी नानात्व होता है।

राग आदि तीव्र संक्लिष्ट परिणामों से तीव्र, मंद परिणामों से मंद तथा मध्यम परिणामों से मध्यम कर्मोपचय होता है।

४. महामोहनीय कर्मबंध के स्थान

जे केइ तसे पाणे, वारिमज्जे विगाहिया ।
उदएणक्कम्म मारेति, महामोहं पकुव्वति ॥
पाणिणा संपिहित्ताणं, सोयमावरिय पाणिणं ।
अंतोनदंतं मारेति, महामोहं पकुव्वति ॥
जायतेयं समारब्भ, बहं ओरुंभिया जणं ।
अंतोधूमेण मारेति, महामोहं पकुव्वति ॥
सीसम्मि जो पहणति, उत्तमंगम्मि चेतसा ।
विभज्ज मत्थगं फाले, महामोहं पकुव्वति ॥
सीसावेडेण जे केइ, आवेडेति अभिक्खणं ।
तिव्वासुहसमायारे, महामोहं पकुव्वति ॥
पुणो-पुणो पणिहीए, हणित्ता उवहसे जणं ।
फलेणं अदुव डंडेणं, महामोहं पकुव्वति ॥
गूढाचारी निगूहेज्जा, मायं मायाए छावई ।
असच्चवाई णिणहाई, महामोहं पकुव्वति ॥
धंसेति जो अभूतेणं, अकम्मं अत्तकम्मुणा ।
अदुवा तुमकासित्ति, महामोहं पकुव्वति ॥
जाणमाणे परिसाए, सच्चामोसाणि भासति ।
अज्झीणज्जं पुरिसे, महामोहं पकुव्वति ॥
अणायगस्स नयवं, दारे तस्सेव धंसिया ।
विउलं विक्खोभइत्ताणं, किच्च्राणं पडिबाहिरं ॥
उवकसंतंपि ज्जंपेत्ता, पडिलोमाहिं वग्गुहिं ।
भोगभोगे वियारेति, महामोहं पकुव्वति ॥
अकुमारभूते जे केइ, कुमारभूतेत्तिहं वदे ।
इत्थीहिं गिद्धे विसए, महामोहं पकुव्वति ॥
अबंधचारी जे केइ, बंधचारित्तिहं वदे ।
.....इत्थीविसयगेहीए, महामोहं पकुव्वति ॥
जं णिसित्तो उव्वहती, जससाहिगमेण वा ।
तस्स लुब्भइ वित्तंसि, महामोहं पकुव्वति ॥
इस्सरेण अदुवा गामेण, अणिसरे इस्सरीकए ।
.....जे अंतरायं चेतैति, महामोहं पकुव्वति ॥
सप्पी जहा अंडउडं, भत्तारं जो विहिंसइ
सेणावतिं पसत्थारं, महामोहं पकुव्वति ॥
जे नायगं व रट्टस्स, नेतारं निगमस्स वा ।
सेट्ठिं च बहुरवं, हंता, महामोहं पकुव्वति ॥

बहुजणस्स नेतारं, दीवं ताणं च पाणिणं ।
 एतारिसं नरं हंता, महामोहं पकुव्वति ॥
 उवट्टियं पडिविरयं, संजयं सुतवस्सियं ।
 वोक्कम्म धम्माओ भंसे, महामोहं पकुव्वति ॥
 तहेवाणंतणाणीणं, जिणाणं वरदंसिणं ।
 तेसिं अवण्णवं बाले, महामोहं पकुव्वति ॥
 णेयाउयस्य मग्गस्स, दुट्ठे अवयरई बहुं ।
 तं तिप्पयंतो भावेति, महामोहं पकुव्वति ॥
 आयरिय-उवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहिए ।
 ते चेव खिंसती बाले, महामोहं पकुव्वति ॥
 आयरिय-उवज्झायाणं, सम्मं ण पडितप्पति ।
 अप्पडिपूयए थद्धे, महामोहं पकुव्वति ॥
 अबहुस्सुते वि जे केइ, सुतेणं पविकत्थइ ।
 सज्झायवायं वयइ, महामोहं पकुव्वति ॥
 अतवस्सिते य जे केइ, तवेणं पविकत्थति ।
 सव्वलोगपरे तेणे, महामोहं पकुव्वति ॥
 साहारणट्ठा जे केइ, गिलाणम्मि उवट्टित्ते ।
 पभू ण कुव्वती किच्चं, मज्झं पेस ण कुव्वती ॥
 सढे नियडिपण्णाणे, कलुसाउलचेतसे..... ।
 जे कहाधिकरणाइं, संपउंजे पुणो-पुणो ।
 सव्वत्तित्थाण भेयाए, महामोहं पकुव्वति ॥
 जे य आधम्मिए जोए, संपउंजे पुणो-पुणो ।
 सहाहेउं सहीहेउं, महामोहं पकुव्वति ॥
 जे य माणुस्सए भोगे, अटुवा पारलोइए ।
 तेऽतिप्पयंतो आसयति, महामोहं पकुव्वति ॥
 इट्ठी जुती जसो वण्णो, देवाणं बलवीरियं ।
 तेसिं अवण्णवं बाले, महामोहं पकुव्वति ॥
 अपस्समाणो पस्सामि, देवे जक्खे य गुज्झगे ।
 अण्णाणी जिणपूयट्ठी, महामोहं पकुव्वति ॥

(दशा ९/२/१-३४)

१. किसी त्रस प्राणी को पानी में ले जा, पैर आदि से आक्रमण कर पानी के द्वारा उसे मारना ।
२. अपने हाथ से किसी मनुष्य का मुंह बंद कर, उसे कमरे में रोक कर, अन्तर्विलाप करते हुए को मारना ।
३. अनेक जीवों को किसी एक स्थान में अवरुद्ध कर, अग्नि

जलाकर उसके धुएं से मारना ।

४. संक्लिष्ट चित्त से किसी प्राणी के सर्वोत्तम अंग (सिर) पर प्रहार कर, उसे खंड-खंड कर फोड़ देना ।
५. तीव्र अशुभ समाचरणपूर्वक किसी त्रस प्राणी को गीले चमड़े की बाध से बांधकर मारना ।
६. प्रणिधि से (वेश बदल कर) किसी मनुष्य को विजन में फलक या डंडे से मारकर खुशी मनाना ।
७. गोपनीय आचरण कर उसे छिपाना, माया से माया को ढांकना, असत्य बोलना, यथार्थ का अपलाप करना ।
८. अपने दुराचरित कर्म का दूसरे निर्दोष व्यक्ति पर आरोपण करना अथवा किसी एक व्यक्ति के दोष का किसी दूसरे व्यक्ति पर 'तुमने यह कार्य किया था'—ऐसा आरोपण करना ।
९. यथार्थ को जानते हुए भी सभा के समक्ष मिश्र भाषा बोलना और निरन्तर कलह करते रहना ।
१०. शासनतंत्र में भेद डालने की प्रवृत्ति से अपने राजा को संक्षुब्ध और अधिकार से वंचित कर उसकी अर्थ-व्यवस्था (या अन्तःपुर) का ध्वंस कर देना और जब वह अधिकार-मुक्त राजा अपेक्षा लिए सामने आए, तब प्रतिलोम वाणी द्वारा उसकी भर्त्सना करना, अपने स्वामी के विशिष्ट भोगों को विदीर्ण करना ।
११. अकुमार—ब्रह्मचारी होते हुए भी अपने को कुमार—ब्रह्मचारी (बाल-ब्रह्मचारी) कहना तथा दूसरी ओर स्त्रियों में आसक्त रहना ।
१२. अब्रह्मचारी होते हुए भी अपने आपको ब्रह्मचारी कहना और स्त्री विषयक आसक्ति के कारण मायायुक्त मिथ्यावचन का बहुत प्रयोग करना ।
१३. राजा आदि के आश्रित होकर उसके संबंध से प्राप्त यश और सेवा का लाभ उठाकर जीविका चलाना और उसी के धन में लुब्ध होना ।
१४. ईर्ष्यादोष से आविष्ट तथा पाप से पंक्लिष्ट चित्त वाला होकर अनीश्वर को ईश्वर मानकर अपने भाग्य-निर्माताओं के जीवन या सम्पदा में अन्तराय डालना ।
१५. जैसे नागिन अपने अंड-पुट को खा जाती है, वैसे ही अपना पोषण करने वाले को तथा सेनापति और प्रशास्ता को मार डालना ।

१६. राष्ट्र के नायक तथा प्रचुर यशस्वी निगम-नेता श्रेष्ठी को मार डालना ।
१७. जन-नेता तथा जो प्राणियों के लिए द्वीप (आशवासनभूत) और त्राण है, ऐसे व्यक्ति को मार डालना ।
१८. जो व्यक्ति प्रव्रज्या के लिए उपस्थित है अथवा जो प्रव्रजित होकर संयत और सुतपस्वी हो गया, उसे बरगला कर, फुसलाकर या बलात् धर्म से भ्रष्ट करना ।
१९. अनंतज्ञानी-अनन्तदर्शी अर्हत् का अवर्णवाद बोलना ।
२०. द्वेषवश नैर्वातृक (मोक्ष की ओर ले जाने वाले) मार्ग के बहुत प्रतिकूल चलना तथा उसकी निंदा के द्वारा अपनी आत्मा को भावित करना ।
२१. जिन आचार्य अथवा उपाध्याय के पास श्रुत और विनय (चारित्र) की शिक्षा प्राप्त की, उन्हीं की निंदा करना ।
२२. आचार्य और उपाध्याय की सम्यक् प्रकार से सेवा-शुश्रूषा तथा उनकी पूजा नहीं करना और अभिमान करना ।
२३. अबहुश्रुत होते हुए भी श्रुत के द्वारा अपना ख्यापन करना तथा किसी व्यक्ति द्वारा पूछे जाने पर 'बहुश्रुत मुनि के बारे में सुना है, वे आप ही हैं?' 'हां', मैं ही हूँ, मैंने घोषविशुद्धि का अभ्यास किया है, बहुत ग्रन्थों का पारायण किया है—इस प्रकार स्वाध्याय का निर्वचन करना ।
२४. अतपस्वी होते हुए भी तपस्वी के रूप में ख्यापन करना ।
२५. सहकार लेने के लिए ग्लान के उपस्थित होने पर समर्थ होते हुए भी 'यह मेरी सेवा नहीं करता है'—इस दृष्टि से उसकी सेवा नहीं करना, शठ, माया-प्रज्ञान (छद्मग्लानवेषी), पाप से पंकिल चित्त वाला होना ।
२६. सर्व तीर्थों के भेद के लिए कथा और अधिकरण का बार-बार संप्रयोग करना ।
२७. श्लाघा अथवा मित्रगण के लिए अधार्मिक योग (निमित्त, वशीकरण आदि) का बार-बार संप्रयोग करना ।
२८. मानुषी अथवा पारलौकिक भोगों का अतृप्तभाव से आस्वादन करना ।
२९. देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण और बल-वीर्य का अवर्णवाद बोलना—उनका अपलाप करना ।
३०. जिनेश्वर की भांति पूजे जाने की वांछा से देव, यक्ष और गुह्यक को नहीं देखते हुए भी कहना कि 'मैं उन्हें देखता हूँ।'

५. प्रत्येक कर्मबंध के सामान्य हेतु

णाणं जस्स समीवे सिक्खियं तं निण्हवति । नाणि-
पुरिसस्स पडिणीओ । अधिज्जंतो वा अंतरायं करेति ।
जीवस्स वा णाणोवघायं करेति । णाणिपुरिसे वा पदोसं
करेति । एवमादिएहिं पंचविहं णाणावरणं बञ्जइ ।

एतेसु चेव सविसेसु नवविधं दंसणावरणं बञ्जति ।

भूताणुकंपयाते वयाणुपालणाते खंतिसंपणयाए
दाणरुईए गुरुभत्तीते एतेहिं सातावेदणिज्जं बञ्जति ।
विवरीयहेऊहिं असातं ।

मोहणिज्जं दुविधं—दंसणमोहं चरित्तमोहं च । तत्थ
दंसणमोहे अरहंतपडिणीययाए एवं सिद्ध-चेतिय-तवस्सि-
सुय-धम्म-संघस्स य पडिणीयत्तं करेत्तो दंसणमोहं बंधति ।
तिव्वकसायताए बहुमोहयाते रागदोससंपन्नयाते चरित्तमोहं
बंधति ।

आउयं चउव्विहं—तत्थ णिरयाउयस्स इमे हेऊ—
मिच्छत्तेण महारंभयाते महापरिग्गहाते कुणिमाहारेणं
णिस्सीलयाते रुहज्जाणेण य णिरयाउं णिबंधति ।

तिरियाउयस्स इमे हेतू—उम्मग्गदेसणाते संतमग्ग-
विष्णणासणेणं माइल्लयाते सढसीलताते ससल्लमरणेणं
एवमादिएहिं तिरियाउयं निबंधति ।

इमे मणुयाउयहेउणो—विरयविहूणो जो जीवो
तणुकसातो, दाणरतो, पगतिभइयाए मणुयाउयं बंधति ।

देवाउयहेतू इमे—देसविरतो सव्वविरतो बालतवेण
अकामणिज्जराए सम्महिट्टियाए य देवाउयं बंधति ।

नामं दुविहं—सुभासुभं । तत्थ सामण्णतो असुभे य
इमे हेतू—मण-वय-कायजोगेहिं वंको मायावी तिहिं
गारवेहिं पडिबद्धो । एतेहिं असुभं णामं बञ्जति । एतेहिं
चेव विवरीएहिं सुभं णामं बञ्जइ ।

सुभगोत्तस्स इमे हेतू—अरहंतेसु य साहूसु य भत्तो
अरहंतपणीएण सुएण जीवादिपदत्थे य रोचंतो, अप्प-
माययाए संजमादिगुणप्पेही य उच्चागोयं बंधति । विवरीएहिं
णीयागोयं ।

सामण्णतो पंचविहंतराए इमो हेतू—पाणवहे मुसा-
वाते अदिन्नादाणे मेहुणे परिग्गहे य एतेसु रइबंधगरे,
जिणापूयाए विग्घकरो, मोक्खमग्गं पवज्जंतस्स जो विग्घं

करेति। एतेसु अंतराइयं बंधति एतेसु हेऊसु णिवकारणे
वहुंतस्स पच्छित्तं भवति। (निभा ३३२२ की चू)

१. ज्ञानावरणीय कर्मबंध के हेतु—जिसके पास ज्ञान सीखा है, उस व्यक्ति के नाम का गोपन करता है।

- ० जो ज्ञानी पुरुष का प्रत्यनीक है।
- ० जो अध्ययन करने वाले के विघ्न उपस्थित करता है।
- ० जो व्यक्ति के ज्ञान का उपघात करता है।
- ० जो ज्ञानी पुरुष से प्रद्वेष करता है।

इस प्रकार की प्रवृत्तियों से पांच प्रकार के ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।

२. इसी प्रकार की सामान्य प्रवृत्ति से नवविध दर्शनावरण का बंध होता है।

३. वेदनीयकर्म बंध के हेतु—भूतानुकम्पा, व्रतपालन, क्षांति-सम्पन्नता, दानरुचि और गुरुभक्ति से सातवेदनीय तथा इसके विपरीत प्रवृत्ति से असातवेदनीय का बंध होता है।

४. मोहनीय कर्मबंध के हेतु— इसके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह।

जो अरिहंत, सिद्ध, चैत्य, तपस्वी, श्रुत, धर्म और संघ का प्रत्यनीक होता है, वह दर्शनमोहनीय का बंध करता है।

तीव्र कषाय, गाढ मोह और राग-द्वेषसम्पन्नता से चारित्रमोहनीय का बंध करता है।

५. आयुष्य कर्म बंध के हेतु—

- ० नरकायु—मिथ्यात्व, महारंभ, महापरिग्रह, मांसाहार, निःशीलता और रौद्रध्यान से नरकायु का बंध होता है।
- ० तिर्यचायु—उन्मार्गदेशना, सन्मार्गविप्रणाश, माया, शठशीलता, सशल्यमरण आदि हेतुओं से तिर्यचायु का बंध होता है।
- ० मनुष्यायु—अव्रती जीव के प्रतनुकषाय, दानरुचि और भद्र प्रकृति से मनुष्यायु का बंध होता है।
- ० देवायु—देशव्रत, सर्वव्रत, बालतप, अकामनिर्जरा और साम्यदृष्टि से देवायु का बंध होता है।

६. नामकर्म बंध के हेतु—इसके दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। जो मन-वचन-काययोगों से वक्र, मायावी और ऋद्धि-रस-सात—इस त्रिविध गौरव से प्रतिबद्ध है, वह सामान्यतः इन हेतुओं से अशुभ नामकर्म का और इसके विपरीत प्रवृत्ति से शुभनामकर्म का बंध करता है।

७. गोत्रकर्म बंध के हेतु—इसके दो प्रकार हैं—उच्चगोत्र, नीचगोत्र। जो अर्हतों और साधुओं का भक्त है, अर्हत्-प्रणीत श्रुत और जीव आदि पदार्थों में रुचि करता है, अप्रमत्तता से संयम आदि गुणों का प्रेक्षक है, वह उच्चगोत्र का तथा इसके विपरीत हेतुओं से नीचगोत्र का बंध करता है।

८. अंतराय कर्म बंध के सामान्य हेतु—जो प्राणवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह में रतिबंध (प्रेमानुबंध) करता है, जिनपूजा में और मोक्षमार्ग में विघ्न उपस्थित करता है, वह अंतराय कर्म का बंध करता है।

इन हेतुओं में निष्कारण प्रवृत्त होने वाला प्रायश्चित्त का भागी होता है।

६. द्रव्य बंध : कायप्रयोग आदि

द्व्वपओग-वीससप्यओग स-मूलउत्तरे चेव।
मूलसरीरसरीरी, सादीय अणादिए चेव॥
निगलादि उत्तरो वीससा उ साई अणादिओ चेव।
खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले कालो जहिं जो उ॥

पओगबंधो तिविधो-मणादि। मणस्स मूलप्य-
ओगबंधो—जे षडमसमए गेण्हंति पोगला मणेतुकामो
मणपज्जत्तीए वा। सेसो उत्तरबंधो। एवं वयीए वि। जो सो
कायप्यओगबंधो सो दुविधो—मूलबंधो य उत्तरबंधो य।
मूलबंध—सरीरसरीरिणो जो संजोगबंधो स मूलबंधो
सव्वबंधो वा। (दशानि १३८, १३९ चू)

द्रव्यबंध दो प्रकार का है—प्रयोगबंध और विस्त्रसाबंध। प्रयोगबंध तीन प्रकार का है—मनप्रयोगबंध, वचनप्रयोगबंध और कायप्रयोगबंध। मन का मूलप्रयोगबंध है—मनन करने के लिए मनःपर्याप्त के द्वारा पहले समय में गृहीत पुद्गल। शेष उत्तरबंध है। वचनप्रयोगबंध भी इसी प्रकार है। जो काय- प्रयोगबंध है, वह दो प्रकार का है—मूलबंध और उत्तरबंध। शरीर और शरीरी का जो संयोगबंध है, वह मूलबंध अथवा सर्वबंध कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है—सादि और अनादि।

निगड आदि उत्तरबंध है। विस्त्रसाबंध सादि और अनादि दो प्रकार का होता है। जिस क्षेत्र में बंध होता है, वह क्षेत्रबंध है और जिस काल में बंध होता है, वह कालबंध है।

* सादि-अनादि विस्त्रसाकरण, अजीवभावकरण

द्र श्रीआको १ करण, पुद्गल

(जीवों के तीन प्रकार के प्रयोग प्रज्ञप्त हैं—मनप्रयोग, वचनप्रयोग और कायप्रयोग। जीवों के कर्मों का उपचय प्रयोग से होता है, स्वभाव से नहीं होता।

कर्म के अनादित्व-सादित्व के संदर्भ में चार भंग किये गए हैं—१. सादि-सपर्यवसित—वीतराग के होने वाला ईर्यापथिक कर्म का बंध।

२. अनादि-सपर्यवसित—भवसिद्धिक के कर्मों का उपचय।

३. अनादि-अपर्यवसित—अभवसिद्धिक के कर्मों का उपचय।

४. सादि-अपर्यवसित—यह भंग शून्य है। कर्मबंध का अनादित्व निरपेक्ष है और सादित्व सापेक्ष है।—भ ६/२५-२९

बंध के दो प्रकार हैं—१. प्रयोगबंध—जीव के व्यापार से मन-वचन-काययोग की प्रवृत्ति से होने वाला बंध।

२. विस्त्रसाबंध—स्वाभाविक रूप से होने वाला पुद्गल आदि विषयक संबंध। इसके दो प्रकार हैं—

१. सादि विस्त्रसाबंध—परमाणु, द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी आदि पुद्गलस्कंधों का बंधनप्रत्ययिक बंध। बादल, अभ्रवृक्ष आदि का परिणामप्रत्ययिक बंध।

२. अनादि विस्त्रसाबंध—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय का अपने-अपने प्रदेशों का अन्योन्य संबंध। इन तीनों का परस्पर देशबंध होता है, सर्वबंध नहीं होता।

प्रयोगबंध के तीन प्रकार हैं—

१. अनादि अपर्यवसित—जीव के आठ मध्यप्रदेशों का, उनमें भी तीन-तीन का अनादि-अपर्यवसित, शेष का सादि बंध।

२. सादि-अपर्यवसित—सिद्ध जीवों के प्रदेशों का बंध। जीव सिद्धिगति की अपेक्षा सादि अपर्यवसित है।

३. सादि सपर्यवसित—शरीरबंध, शरीरप्रयोगबंध आदि।

० शरीरबंध—समुद्घात के समय जीव-व्यापार से होने वाला जीवप्रदेशों का बंध। अथवा जीवप्रदेशाश्रित तैजस-कर्मण शरीर का बंध।

० शरीर प्रयोगबंध—एकेन्द्रिय आदि जीवों के औदारिक आदि शरीरों का बंध। यह बंध शरीरप्रयोगनामकर्म के उदय से होता है। औदारिक शरीर प्रयोगबंध देशबंध भी है, सर्वबंध भी है। सर्वबंध का काल एक समय, देशबंध का जघन्यतः

एक समय उत्कृष्टतः एक समय कम तीन पल्लोपम। यह उत्कृष्ट काल मनुष्य की अपेक्षा से है। जिसकी जितनी आयुस्थिति है, उसका देशबंध उसमें एक समय कम होता है।

जीव उत्पत्ति स्थान में प्रथम समय में शरीरयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है—यह सर्वबंध है। दूसरे, तीसरे आदि समयों में पुद्गलों को ग्रहण भी करता है और छोड़ता भी है—यह देशबंध है। इस प्रकार औदारिक आदि पांचों शरीरों के बंध, बंधहेतु, काल, अंतरकाल आदि का विस्तार से निरूपण किया गया है। द्र भ ८/३४५-३५४, ३६३-४४७

शरीर की निष्पत्ति जीवमूलप्रयोगकरण और शरीर की प्रवृत्ति उत्तरप्रयोगकरण है। शरीर का अवयवविभाग से रहित प्रथम निर्माण मूलकरण है। इसे पुद्गलसंघातकरण कहा जा सकता है।.....—द्र श्रीआको १ शरीर)

० भावबंध : जीवभावप्रयोगबंध

दुविहो य भावबंधो, जीवमजीवे य होइ बोधव्वो।

एक्केक्को वि य तिविहो, विवाग-अविवाग-तदुभयगो ॥

जीवभावप्यओगबंधो—मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमाद कषायजोगबंधाः।.....जीवभावप्रयोगबंधो तिविधो—विपाकजो अविपाकजो उभयो। जीवभावविपाकजो—जेण चेव भावेण गहिता तेण चेव वेदेति, एस विपाकजो। अविपाकजो अन्नधा वेदेति। अथवा तेसिं चेव पोग्गलाणं उदओ वेदणा। सा दुविधा—विपाकजा अविपाकजा य। तेसिं पोग्गलाणं सति भावे भवति अभावे ण भवति। अहवा जे बद्धपुट्टनिधत्ता, सो विपाकजो अविपाकजो वा। जो पुण निकाचितो सो नियमा विपाकजो।

(दशानि १४० चू)

भावबंध दो प्रकार का होता है—जीवभावबंध और अजीवभावबंध। प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं—विपाकज, अविपाकज और तदुभयज।

जीवभावप्रयोगबंध—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से होने वाला बंध। इसके तीन प्रकार हैं—विपाकज, अविपाकज और उभयज।

विपाकज—जिस भाव से पुद्गल गृहीत हैं, उसी भाव से वेदन करना।

अविपाकज—अन्यथा वेदन करना। अथवा उन्हीं पुद्गलों का

उदय वेदना है। वह दो प्रकार की होती है—विपाकजा और अविपाकजा। यह पुद्गलों के होने पर होती है, उनके अभाव में नहीं होती। अथवा जो कर्म पुद्गल बद्ध, स्पृष्ट और निधत्त है वह विपाकज भी होता है और अविपाकज भी। जो निकाचित होता है, वह नियमतः विपाकज होता है।

० अजीवभावप्रयोगबंध : औदारिक शरीर आदि

अजीवभावप्रयोगबंधो दुविधो—विपाकजो अविपाकजो य। विपाकजो जो सुभत्तेण गहिताणं पोगगलाणं सुभो चैव उदतो। अविपाकजो ण चैव उदओ अण्णहा वा।

अजीवभावबंधो चउदसविहो, तं जहा—ओरालियं वा सरीरं ओरालियसरीरपरिणामितं वा दब्बं, वेउब्बियं वा सरीरं, वेउब्बियसरीरपरिणामियं वा दब्बं, आहारगं वा सरीरं, आहारगसरीरपरिणामियं वा दब्बं, तेथगं वा सरीरं, तेथगसरीरपरिणामियं वा दब्बं, कम्मयं वा सरीरं, कम्मयसरीरपरिणामितं, वा दब्बं, पयोगपरिणामिते वण्णे गंधे रसे फासे। (दशानि १४० की चू)

अजीवभावप्रयोगबंध दो प्रकार का है—

विपाकज—शुभरूप में गृहीत पुद्गलों का शुभरूप में उदय। अविपाकज—उदय होता ही नहीं, अथवा अन्यथा उदय होता है।

अजीवभावबंध के चौदह प्रकार हैं—

१. औदारिक शरीर २. औदारिक शरीर परिणामित द्रव्य ३. वैक्रिय शरीर ४. वैक्रिय शरीर परिणामित द्रव्य ५. आहारक शरीर ६. आहारक शरीर परिणामित द्रव्य ७. तैजस शरीर ८. तैजस शरीर परिणामित द्रव्य ९. कर्मण शरीर १०. कर्मण शरीर परिणामित द्रव्य ११. प्रयोगपरिणामित वर्ण १२. प्रयोगपरिणामित गंध १३. प्रयोगपरिणामित रस १४. प्रयोगपरिणामित स्पर्श।

(अजीवोदयनिष्पन्न के अनेक प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—औदारिक शरीर, औदारिक शरीर के प्रयोग द्वारा परिणामित पुद्गल द्रव्य...पांचों शरीरों के प्रयोग द्वारा परिणामित वर्ण, गंध, रस और स्पर्श।—अनु २७६)

७. अबंध, बंध की तुल्यता और अल्पबहुत्व

.....पंडिय.....अबंधी य ॥.....इरियरवह्निबंधगा तुल्ल ॥

...अयोगिकेवली तु नियमादबन्धकः १००ये तूपशान्त-
मोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिन ऐर्यापथस्ययोग-मात्रप्रत्ययस्य

कर्मणो बन्धकास्ते परस्परं तुल्याः, एकस्यैव सातवेदनीयस्य द्विसमयस्थितिकस्य सर्वेषामपि बन्धनात्। तदेवं न योगप्रत्ययः कर्मबन्धस्याल्पबहुत्वविशेषः, किन्तु रागादितीव्रमन्दताप्रत्ययः। (वृथा ३९४९, ३९५० वृ)

अयोगिकेवली निश्चित रूप से कर्मबंध नहीं करते।

जो उपशांतमोह, क्षीणमोह और सयोगीकेवली (ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान वाले जीव) हैं, उनके ईर्यापथिक—मात्र योगजन्य कर्मबंध होता है, जो सबके परस्पर तुल्य होता है, क्योंकि वे सभी दो समय की स्थिति वाले एक सातवेदनीय कर्म का ही बंध करते हैं। इस प्रकार योगप्रत्ययिक कर्मबंध में अल्पत्व और बहुत्व का भेद नहीं होता, किन्तु राग-द्वेष की मंदता-तीव्रता के कारण ही कर्मबंध का अल्पबहुत्व होता है।

रागद्वेषाणुगता, जीवा कम्मस्स बंधगा होंति।
रागादिविसेसेण य, बंधविसेसो वि अविगीतो ॥

(व्यभा १११०)

राग-द्वेष से अनुगत जीव कर्म का बंध करते हैं। राग-द्वेष की तरतमता के आधार पर कर्मबंध की तरतमता होती है।

८. बंध का हेतु पदार्थ नहीं

तुल्ले वि इंदियत्थे, सज्जति एगो विरज्जती बितिओ।
अज्झत्थं खु पमाणं, न इंदियत्था जिणा वेत्ति ॥
मणसा उवेति विसए, मणसेव य सन्नियत्तए तेसु।
इति वि हु अज्झत्थसमो, बंधो विसया न उ पमाणं ॥

(व्यभा १०२८, १०२९)

इन्द्रियों के रूप आदि विषय समान होने पर भी एक व्यक्ति उन पर आसक्त हो जाता है और दूसरा उनसे विरक्त हो जाता है। कर्मबंध में आन्तरिक भाव—आत्मपरिणाम ही प्रमाण हैं, इन्द्रिय-विषय नहीं—ऐसा अर्हंतों ने प्रतिपादित किया है।

विषय-उपलब्धि के अभाव में भी कोई मन से ही उन पर राग-द्वेष करता है और ठीक इसके विपरीत विषयों के होने पर भी किसी का मन उनसे विरक्त हो जाता है। अतः परिणामधारा के अनुसार कर्मबंध होता है। इन्द्रिय-विषय प्रमाण नहीं हैं।

९. बालवीर्य आदि और कर्मबंध

अहवा बालादीर्यं, त्तिविहं विरियं समासतो होति।
बंधविसेसो तिण्ह वि, पंडिय बंधी अबंधी य॥
तम्हा ण सव्वजीवा, उ बंधगा णेव बंधणा तुल्ला।
अधिकिच्च संपरागं, इरियावहिबंधगा तुल्ला॥
(बृभा ३९४९, ३९५०)

वीर्य के तीन प्रकार हैं—

बालवीर्य—असंयत व्यक्ति का असंयम विषयक वीर्य।

बालपण्डितवीर्य—देशविरत व्यक्ति का संयमासंयम विषयक वीर्य।

पण्डितवीर्य—सर्वविरत व्यक्ति का सर्वसंयम विषयक वीर्य।

इन तीनों प्रकार के प्राणियों के कर्मबंध भी भिन्न-भिन्न होता है। बालवीर्यवान् प्रभूतर, बालपण्डित-वीर्यवान् अल्पतर और पण्डितवीर्यवान् अल्पतम कर्मबंध करता है।

पण्डितवीर्यवान् के दो प्रकार हैं—बंधी और अबंधी। प्रमाद आदि कर्मबंध के हेतुओं के सद्भाव से बंध होता रहता है। यह स्थिति प्रमत्तसंयत से सयोगी केवली तक रहती है। अयोगीकेवली नियमतः अबंधी होता है। अतः सभी जीव बंधक नहीं होते। जो बंधक हैं, उनमें भी कषाय के अल्पबहुत्व के कारण कर्मबंध समान नहीं होता।

ईर्यापथिक (योगजन्य) बंध सबके समान होता है।

१०. संहनन-धृति और कर्म

णामुदया संघयणं, धिती तु मोहस्स उवसमे होति।

तहवि सती संघयणे, जा होति धिती ण साहीणे॥

(निभा ८५)

० संहनन—यह नामकर्म की प्रकृति (नामकर्म के बयालीस भेदों में आठवां भेद) है। शुभनाम कर्म के उदय से दृढ़ संहनन होता है।

० धृति—यह मोहकर्म (अरति नोकषाय चारित्र मोहनीय) के क्षयोपशम से प्राप्त होती है।

यद्यपि संहनन और धृति की उत्पत्ति भिन्न है, फिर भी दृढ़ संहननी में जैसी धृति होती है, वैसी धृति हीन संहनन वाले में नहीं होती।

११. संहनन : परिणाम और कर्मबंध

देहबलं खलु विरियं, बलसरिसो चेव होति परिणामो।
आसज्ज देहविरियं, छट्टाणगया तु सव्वत्तो॥

……यः सेवार्त्तसंहननी जघन्याबलो जीवस्तस्य परिणामोऽपि शुभोऽशुभो वा मन्द एव भवति न तीव्रः, ततः शुभाऽशुभकर्मबन्धोऽपि तस्य स्वल्पतर एव, अत एवास्योर्ध्वगतौ कल्पचतुष्ट्यादूर्ध्वम् अधोगतौ नरक-पृथ्वीद्वयादध उपपातौ न भवति……। एवं कीलिकादि-संहनेनिष्वपि……। (बृभा ३९४८ वृ)

संहनन छह प्रकार का होता है—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त्त। संहनन-जनित शरीरबल वीर्य कहलाता है। संहननजनित बल के सदृश ही प्राणियों के परिणाम होते हैं। जैसे सेवार्त्त संहननी प्राणी जघन्य बल वाला होता है। उसके शुभ और अशुभ परिणाम भी मंद होते हैं, जिनके अनुसार शुभ-अशुभ कर्मबंध स्वल्पतर होता है। उसकी ऊर्ध्वगति चौथे देवलोक तक तथा अधोगति दूसरी नरक तक होती है। इसी प्रकार कीलिका आदि संहनन वालों की ऊर्ध्व-अधोगति होती है। इस देहवीर्य को प्राप्त कर सभी संहनन के प्राणी परस्पर षट्स्थानपतित होते हैं। जैसे सेवार्त्त संहनन वाले प्राणियों में जो सर्वजघन्य बल वाले हैं, उनकी अपेक्षा से अन्य सेवार्त्त संहननी अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि वाले होते हैं। अतः देहबल की विचित्रता से परिणाम की विचित्रता होती है और इससे कर्मबंध भी विचित्र होता है।

१२. ज्ञान-अज्ञान और कर्मबंध

जाणं करेति एक्को, हिंसमजाणमपरो अविरतो य।

तत्थ वि बंधविसेसो, महंतरं देसितो समए॥

(बृभा ३९३८)

दो अविरत व्यक्ति हैं। एक जानता हुआ हिंसा करता है और दूसरा अज्ञान अवस्था में हिंसा करता है। दोनों के कर्मबंध में महान् अन्तर है, ऐसा सिद्धान्त में प्ररूपित है। जो जानता हुआ हिंसा करता है, वह तीव्र अनुभाव वाले अत्यधिक

पापकर्मों का संचय करता है तथा दूसरा मंदविपाक वाले अल्पतर पापकर्मों का संचय करता है।

१३. जीव में भाव और कर्मबंध

एगो खओवसमिए, वडुति भावेऽवरो उ ओदइए।
तत्थ वि बंधविसेसो, संजायति भावणाणत्ता ॥
एमेव ओवसमिए, खओवसमिए तहेव खइए य।
बंधाऽबंधविसेसो, ण तुल्लबंधा य जे बंधी ॥

(बृभा ३९४०, ३९४१)

भाव पांच हैं—उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और पारिणामिक। जीव किसी न किसी भाव में प्रवर्तमान रहता है, जिसके आधार पर उसके कर्मबंध होता है। क्षायोपशमिक भाव में प्रवर्तमान जीव के मंदतर कर्मों का और औदयिक भाव में प्रवर्तमान जीव के तीव्रतर कर्मों का उपचय होता है। इसी प्रकार औपशमिक, क्षायिक आदि भावों में प्रवर्तमान जीव के बंध-अबंध में अंतर होता है। जो कर्मबंधक जीव हैं, उनमें भी बंध समान नहीं होता किन्तु प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के रूप में भिन्न-भिन्न (विसदृश) बंध होता है।

१४. कर्म का गुरुत्व-लघुत्व और नय

गुरुलघुकमगुरुलघुकं वा द्रव्यं भवति नैकान्त-
गुरुकं न वा एकान्तलघुकमित्यागमेऽभिधीयते ततः कर्मणां
गुरुतया जीवा अधो गच्छन्ति लघुतया तूर्ध्वमिति कथं न
विरुध्यते? उच्यते—इह हि यद् आगमे गुरुलघु-
कमगुरुलघुकं वा द्रव्यमुक्तं तन्निश्चयनयमताश्रयणेन, इदं
तु कर्मणां गुरुत्वं लघुत्वं च व्यवहारनयमताश्रयणाद्
उच्यते।

(बृभा २६८४ की वृ)

शिष्य ने पूछा—जीव कर्मों की गुरुता से नीचे तथा कर्मों की लघुता से ऊपर जाता है—यह कथन आगम के विरुद्ध कैसे नहीं है? क्योंकि आगम के अनुसार कोई भी द्रव्य एकांत गुरु या एकांत लघु नहीं होता। वह या तो गुरुलघु होता है या अगुरुलघु होता है। गुरु ने कहा—आगम में निश्चयनय के आधार पर गुरुलघु और अगुरुलघु द्रव्य का प्रतिपादन हुआ है। यह कर्मों का गुरुत्व और लघुत्व व्यवहार नय के आधार पर प्रतिपादित है।

१५. कर्म का कर्त्ता स्वतंत्र या परतंत्र?

कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होत्ति।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो ॥
कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहिंचि कम्मइं।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणिओ कत्थइ बलवं ॥
धणियसरिसं तु कम्मं, धारणिगसमा उ कम्मिणो होत्ति।
संताऽसंतधणा जह, धारणा धिई तणू एवं ॥
सहणोऽसहणो कालं, जह धणिओ एवमेव कम्मं तु।
उदियाऽणुदिए खवणा, होज्ज सिया आउवज्जेसु ॥

(बृभा २६८९-२६९२)

शिष्य ने पूछा—जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का उपचय करने में स्वतंत्र हैं तो फिर गति भी उनके वशवर्ती ही होनी चाहिए। कर्मों के द्वारा वे ऊर्ध्व, अधः या तिर्यग् कथों ले जाए जाते हैं?

आचार्य ने कहा—जीव कर्म का बंधन करने में स्वतंत्र हैं किन्तु उसके भोग में परतंत्र हैं। जैसे एक मनुष्य वृक्ष पर आरोहण करने में स्वतंत्र है। किन्तु किसी प्रमाद से वह खलित हो जाए तो गिरने में परतंत्र है।

कहीं जीव कर्म के वशवर्ती होता है और कहीं कर्म जीव के वशवर्ती होते हैं। कहीं ऋण देने वाला बलवान् होता है तो कहीं ऋण लेने वाला बलवान् होता है।

धनिक व्यक्ति के सदृश कर्म है तथा धारणिक—कर्ज लेने वाले के समान जीव है। यदि धारणिक वैभव सम्पन्न है, तो वह धन देकर ऋणमुक्त हो जाता है। यदि वह धनरहित है तो उसे धनिक के वशीभूत होकर उसके दासत्व को स्वीकार करना पड़ता है। इसी प्रकार जिस जीव का धृतिबल और शरीरबल मजबूत होता है, वह कर्मों को खपाकर सुखपूर्वक कर्म ऋण से मुक्त हो जाता है। जिसका धृतिबल और शरीरबल कमजोर होता है, वह कर्मों के वशीभूत हो जाता है।

धनिक के दो प्रकार हैं—सहिष्णु तथा असहिष्णु। जो सहिष्णु होता है, वह विवक्षित काल की प्रतीक्षा करता है और जो असहिष्णु होता है, वह प्रतीक्षा नहीं करता। इसी प्रकार कुछ कर्म स्थिति पूर्ण होने पर और कुछ कर्म उससे पूर्व ही अपना प्रभाव दिखाते हैं। इसी प्रकार उदीर्ण अथवा अनुदीर्ण कर्मों का

क्षय धृति, संहनन और शारीरिक बल से युक्त कभी किसी व्यक्ति के होता है, सदा नहीं होता, सबके नहीं होता। जो प्राणी संहनन और बल से हीन होता है, वह अनुदीर्ण कर्म का देशतः क्षय करता है, सर्वतः क्षय नहीं करता। आयुष्य कर्म का क्षय उदीर्ण अवस्था में ही होता है। शेष कर्मों का उदीर्ण और अनुदीर्ण—दोनों अवस्थाओं में क्षय हो सकता है। जीव और कर्म—दोनों की यथायोग तुल्य बलवत्ता है—

दृग्नाशो ब्रह्मदत्ते भरतनृपजयः सर्वनाशश्च कृष्णो ।
नीचैर्गात्रावतारश्चरमजिनपतेर्मल्लिनाथेऽबलात्वम् ॥
निर्वाणं नारदेऽपि प्रशामपरिणतिः सा चिलातीसुतेऽपि ।
इत्थं कर्मा-ऽऽत्मवीर्ये स्फुटमिह जयतां स्पन्द्या तुल्यरूपे ॥

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का अंधा होना, भरतचक्रवर्ती का विजयी होना अथवा बाहुबली द्वारा भरत चक्रवर्ती का दुष्टि, मुष्टि आदि पांच प्रकार के युद्धों में हारना, कृष्ण का सर्वनाश होना, चरम तीर्थंकर भगवान महावीर का नीचगोत्र में जन्म ग्रहण करना, तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्रीरूप में जन्म लेना, नारद का निर्वाण होना, चिलातिपुत्र का उपशमभाव में परिणत हो जाना—ये सारी घटनाएं आत्मवीर्य तथा कर्मशक्ति की यथायोग तुल्यता की ओर संकेत करती हैं।

१६. मोहक्षय : ताल, सेनापति आदि दृष्टांत

जहा मत्थाए सूईए, हताए हम्मती तले ।
एवं कम्माणि हम्मंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥
सेणावतिम्मि णिहते, जथा सेणा पणस्सती ।
एवं कम्मा पणस्संति, मोहणिज्जे खयं गते ॥
धूमहीणे जथा अग्गी, खीयती से निरिंधणे ।
एवं कम्माणि खीयंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥
सुक्कमूले जथा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा न रोहंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥

(दशा ५/७/११-१४)

जैसे तालवृक्ष के शीर्ष स्थान में सूई से छेद किए जाने पर वह नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सर्व कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

जैसे सेनापति के मर जाने पर सारी सेना विनष्ट हो जाती है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सर्व कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

जैसे धूम-रहित अग्नि ईंधन के अभाव में बुझ जाती है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर सर्व कर्म क्षीण हो जाते हैं।

मूल के सूख जाने पर जैसे वृक्ष जल से अधिषिक्त होकर भी अंकुरित नहीं होता, वैसे ही मोहकर्म के क्षीण हो जाने पर शेष कर्म उत्पन्न नहीं होते।

१७. पुण्यबंध से मुक्ति कैसे ? धान्यपल्य दृष्टांत

सक्का अपसत्थाणं, तु हेतवो परिहरित्तु पयडीणं ।
सादादिपसत्थाणं, कहं णु हेतू परिहरेज्जा ॥
जति वा बज्झति सात्तं, अणुकंपादीसु तो कहं साहू ।
परमणुकंपाजुत्तो, वच्चति मोक्खं सुहणुबंधी ॥
सुहमवि आवेदंतो, अवस्समसुभं पुणो समादियति ।
एवं तु णत्थि मोक्खो, कहं च जयणा भवति एत्थं ॥
भण्णति जहा तु कोती, महल्लपल्ले तु सोधयति पत्थं ।
पक्खिवति कुंभं तस्स उ, णत्थि खतो होति एवं तु ॥
अनो पुण पल्लातो, कुंभं सोहयति पक्खिवेति पत्थं ।
तस्स खओ भवतेवं, इय जे तु संजया जीवा ॥
तेसिं अप्पा णिज्जर, बहु बज्झइ पाव तेण णत्थि खओ ।
अप्पो बंधो जयाणं, बहुणिज्जर तेण मोक्खो तु ॥

(निभा ३३२८-३३३०, ३३३३-३३३५)

शिष्य ने पूछा—अशुभ अध्यवसाय-निरोध से अप्रशस्त कर्मप्रकृतियों के अशुभ बंध का परिहार किया जा सकता है, किन्तु नित्य शुभ अध्यवसायों से सात वेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों के बंध का वर्जन कैसे संभव है ?

यदि साधु प्राणदया, व्रतसम्पन्ना, संयमयोगों में उद्यम, क्षांतिसम्पन्ना, दानरुचि, गुरुभक्ति आदि से सातवेदनीयकर्म का बंध करता है तो वह स्वपरानुकंपी पुण्यबंधी साधु मोक्ष को कैसे प्राप्त कर सकता है, क्योंकि पुण्य मोक्षगमन का विघ्न है।

जीव शुभ का संवेदन करता हुआ भी अवश्य अशुभ का बंध करता है। पुण्य-पाप के उदय से संसार बढ़ता है, मोक्ष नहीं होता, तब साधु को कैसा प्रयत्न करना चाहिये ?

आचार्य ने धान्यपल्य दृष्टान्त देते हुए कहा—जैसे कोई व्यक्ति एक बहुत बड़े धान्य के कोठे में से एक प्रस्थ धान्य निकालता है और उसमें एक कुंभ धान्य डालता है,

इस क्रम से उसका धान्य कभी समाप्त नहीं होता। इसी प्रकार असंयत प्राणी के अल्प निर्जरा और बहुत कर्मबंध होता है, उसका कभी मोक्ष नहीं होता।

कोई व्यक्ति एक बहुत बड़े धान्य के कोठे में से एक कुंभ धान्य निकालता है और एक प्रस्थ धान्य डालता है, इस क्रम से उसका धान्य एक दिन समाप्त हो जाता है।

इसी प्रकार संयत व्यक्ति के अल्प कर्मबंध और बहुत निर्जरा होती है। वह अपश्चिम संयम-तप (यथाख्यात चारित्र और शुक्ल ध्यान) के द्वारा समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है।

* पूर्वतप से देवायुबंध कैसे? द्र देव

कल्प—एक छेदग्रंथ, जिसमें साध्वाचार के विधि-निषेधों का निरूपण है। द्र छेदसूत्र

कल्पस्थित—वह मुनि, जो परिहारविशुद्धि चारित्र की साधना के समय गुरु का दायित्व निभाता है। द्र परिहारविशुद्धि

कल्पस्थिति—मुनि की आचार-मर्यादा, साधु सामाचारी में अवस्थान। प्रथम-चरम और मध्यम तीर्थकरों के शासन में होने वाला आचारव्यवस्था-भेद।

१. कल्पस्थिति के पर्याय
२. कल्पस्थिति के प्रकार
 - कल्पस्थिति का समवतरण
३. सामायिक संयत : स्थित-अस्थितकल्प
 - * सामायिक संयत द्र चारित्र
४. कल्पस्थित-अकल्पस्थित कौन ?
 - * जिनकल्प : स्थित-अस्थित कल्प द्र जिनकल्प
५. छेदोपस्थापनीयसंयत : दस स्थितिकल्प
 - अचेल
 - औद्देशिक वर्जन
 - शय्यातरपिण्ड वर्जन
 - राजा और राजपिण्ड के प्रकार
 - कृतिकर्म
 - व्रत (चातुर्ग्राम-पंचग्राम) : ऋजुप्राज्ञ आदि
 - ज्येष्ठकल्प
 - प्रतिक्रमण

○ बिना दोष प्रतिक्रमण क्यों? वैद्यत्रयी दृष्टान्त

○ मासकल्प

○ पर्युषणाकल्प

* कल्पस्थिति के विघ्न

द्र परिमंथ

१. कल्पस्थिति के पर्याय

पलिमंथविष्पमुक्कस्स होति कप्पो अवट्टितो णियमा।

कप्पे य अवट्टाणं, वदंति कप्पट्टितिं थेरा॥

.....ठिति ति मेर ति एगट्टा॥

पतिट्टा ठावणा ठाणं ववत्था संठिती ठिती।

अवट्टाणं अवत्था य, एकट्टा.....॥

(बृभा ६३४९, ६३५५, ६३५६)

कल्पे—कल्प-शास्त्रोक्तसाधुसमाचारे स्थिति:—

अवस्थानं कल्पस्थितिः कल्पस्य वा स्थितिः—मर्यादा कल्पस्थितिः। (क ६/२० की वृ)

जो साधु संयम के विघ्नों से मुक्त होता है, उसके नियमतः सर्वकालभावी कल्प होता है। स्थविरों ने आचारशास्त्र में प्ररूपित साधु के आचार में अवस्थिति को कल्पस्थिति कहा है। अथवा आचारमर्यादा कल्पस्थिति है।

स्थिति और मर्यादा एकार्थक हैं। प्रतिष्ठा, स्थापना, स्थान, व्यवस्था, संस्थिति, स्थिति, अवस्थान और अवस्था—ये सब स्थिति के एकार्थक हैं।

२. कल्पस्थिति के प्रकार

छव्विहा कप्पट्टिती पण्णात्ता, तं जहा—सामाइय-संजयकप्पट्टिती, छेदोवट्टावणियसंजयकप्पट्टिती, निव्वि-समाणकप्पट्टिती, निव्विट्टुकाइयकप्पट्टिती, जिणकप्पट्टिती, थेरकप्पट्टिती। (क ६/२०)

कल्पस्थिति के छह प्रकार हैं—

१. सामायिकसंयतकल्पस्थिति
२. छेदोपस्थापनीयसंयतकल्पस्थिति
३. निर्विशमानकल्पस्थिति
४. निर्विष्टकायिककल्पस्थिति द्र परिहारविशुद्धि
५. जिनकल्पस्थिति द्र जिनकल्प
६. स्थविरकल्पस्थिति द्र स्थविरकल्प

० कल्पस्थिति का समवतरण

तइय-चउत्था कप्पा, समयरंति तु बियम्मि कप्पम्मि ।
पंचम-छट्टुठितीसुं, हेट्टिल्लाणं समयारो ॥
(बृभा ६४८१)

निर्विशमान और निर्विष्टकायिक कल्प का छेदो-
पस्थापनीय कल्प में समवतार होता है। प्रथम चारों कल्पों
का जिनकल्प और स्थविरकल्प दोनों में समवतार होता है।

३. सामायिक संयत : स्थित-अस्थितकल्प

सिज्जायरपिंडे या, चाउज्जामे य पुरिसजेट्टे य ।
कितिकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्टिया कप्पा ॥
आचेलक्कुहेसिय, सपडिक्कमणे य रायपिंडे य ।
मासं पज्जोसवणा, छप्पेतणवट्टिता कप्पा ॥

आचेलक्यम्.....षडप्येते कल्या मध्यमसाधूनां
विदेहसाधूनां चानवस्थिताः । तथाहि—यदि तेषां वस्त्र-
प्रत्ययो रागो द्वेषो वा उत्पद्यते तदा अचेलाः, अथ न
रागोत्पत्तिस्ततः सचेलाः, महामूल्यं प्रमाणातिरिक्तमपि च
वस्त्रं गृह्णन्तीति भावः । औद्देशिकं नाम साधूनुद्दिश्य कृतं
भक्तादिकम् आधाकर्मैत्यर्थः, तदप्यन्यस्य साधोरर्थाय कृतं
तेषां कल्पते, तदर्थं तु कृतं न कल्पते । प्रतिक्रमण-मपि
यदि अतिचारो भवति ततः कुर्वन्ति अतिचाराभावे न
कुर्वन्ति । राजपिण्डे यदि वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति ततः
परिहरन्ति अन्यथा गृह्णन्ति । मासकल्पे यदि एकक्षेत्रे
तिष्ठतां दोषा न भवन्ति ततः पूर्वकोटीमप्यासते, अथ दोषा
भवन्ति ततो मासे पूर्णोऽपूर्णो वा निर्गच्छन्ति । पर्युषणायामपि
यदि वर्षासु विहरतां दोषा भवन्ति तत्र एकत्र क्षेत्रे आसते,
अथ दोषा न भवन्ति ततो वर्षारान्त्रेऽपि विहरन्ति ।

(बृभा ६३६१, ६३६२ वृ)

मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधुओं के तथा महाविदेह क्षेत्र के
साधुओं के चार कल्प अवस्थित होते हैं—

- | | |
|-----------------------|-------------------|
| १. शय्यातरपिण्ड वर्जन | ३. पर्याय ज्येष्ठ |
| २. चातुर्याम धर्म | ४. कृतिकर्म |

छह कल्प अनवस्थित होते हैं—

१. अचेल—वे वस्त्र संबंधी राग-द्वेष होने पर अचेल रहते
हैं, अन्यथा सचेल रहते हैं और उस स्थिति में महामूल्यवान्
व प्रमाण से अधिक वस्त्र भी ग्रहण करते हैं ।

२. औद्देशिक—एक साधु के उद्देश्य से कृत आधाकर्मिक
भोजन आदि दूसरे साधुओं के लिए कल्पनीय हो जाता है ।
केवल उसके लिए कल्पनीय नहीं होता, जिसके उद्देश्य से
वह बनाया गया है ।

३. प्रतिक्रमण— वे अतिचार लगने पर प्रतिक्रमण करते हैं
अन्यथा नहीं करते ।

४. राजपिण्ड—दोष की संभावना होने पर राजपिण्ड का
परिहार करते हैं, अन्यथा ग्रहण भी करते हैं ।

५. मासकल्प—दोष की संभावना न होने पर वे एक क्षेत्र में
पूर्वकोटि वर्ष तक रह सकते हैं । दोष की संभावना होने पर
मासकल्प पूर्ण होने या न होने पर भी विहार कर सकते हैं ।

६. पर्युषणाकल्प—वर्षाकालीन विहरण में दोषों की संभावना
होने पर एक क्षेत्र में रहते हैं और दोषों की संभावना न होने पर
वर्षारान्त्र में भी विहार करते हैं ।

४. कल्पस्थित-अकल्पस्थित कौन ?

जे कडे कप्पट्टियाणं कप्पइ से अकप्पट्टियाणं, नो
से कप्पइ कप्पट्टियाणं । जे कडे अकप्पट्टियाणं नो से कप्पइ
कप्पट्टियाणं कप्पइ से अकप्पट्टियाणं । कप्पे ठिया
कप्पट्टिया, अकप्पे ठिया अकप्पट्टिया ॥ (क ४/१५)

जो वस्तु कल्पस्थित के लिए कृत है, वह अकल्पस्थित
के लिए कल्पनीय (ग्राह्य) है, कल्पस्थित के लिए नहीं ।

जो अकल्पस्थित के लिए कृत है, वह कल्पस्थित के
लिए कल्पनीय नहीं है, अकल्पस्थित के लिए कल्पनीय है ।

जो अचेल, राजपिण्ड आदि कल्पों में स्थित है, वह
कल्पस्थित है । जो अकल्प में स्थित है, वह अकल्पस्थित है ।

...कप्पट्टियाणं पणगं, अकप्प-चउजाम सेहे य ॥

(बृभा ५३४०)

कल्पस्थित के पांच महाव्रत होते हैं । चतुर्यामप्रतिपत्ता
और शैक्ष (प्रथम या अंतिम तीर्थकर के अनुपस्थापित—
सामायिकसंयत शिष्य)—ये अकल्पस्थित हैं ।

५. छेदोपस्थापनीयसंयत : दस स्थितकल्प

दसठाणठितो कप्पो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
आचेलक्कुहेसिय, सिज्जायर रायपिंड कितिकम्मे ।
वत जेट्टु पडिक्कमणे, मासं-पज्जोसवणकप्पे ॥

(बृभा ६३६३, ६३६४)

प्रथम और अंतिम तीर्थकर के शिष्यों के लिए दस कल्प अवस्थित—अनिवार्य होते हैं—

- | | |
|----------------------|------------------|
| १. अचेल | ६. व्रत |
| २. औद्देशिकवर्जन | ७. ज्येष्ठ |
| ३. शय्यातरपिण्डवर्जन | ८. प्रतिक्रमण |
| ४. राजपिण्डपरिहार | ९. मासकल्प |
| ५. कृतिकर्म | १०. पर्युषणाकल्प |

० अचेल

दुविहो होति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य।
तित्थगर असंतचेलो, संताचेलो भवे सेसा॥

(बृभा ६३६५)

अचेल के दो प्रकार हैं—सद् अचेल और असद् अचेल। तीर्थकर असद् अचेल होते हैं। (श्रमण महावीर दीक्षा के समय देवदूष्यधारी थे, तेरह महीनों के पश्चात् उस वस्त्र को छोड़कर अचेलक हो गए।) शेष सभी जिनकल्पिक आदि मुनि सद्-अचेल होते हैं। क्योंकि वे रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि रखते हैं।

* सचेल-अचेल*..... द्र श्रीआको १ शासनभेद

० औद्देशिक वर्जन

संघस्सोह विभाए, समणा-समणीण कुल गणे संघे।
कडमिह ठिते ण कप्पति, अट्टितकप्पे जमुद्दिस्स॥

(बृभा ६३७६)

जो आहार श्रमणसंघ या श्रमणीसंघ, कुल या गण के लिए बनाया गया है, वह आहार स्थितकल्प वाले प्रथम और अन्तिम तीर्थकर के किसी भी साधु के लिए कल्पनीय नहीं है। अस्थितकल्प में जिस मुनि के उद्देश्य से आहार बनाया गया है, वह मुनि उसे नहीं ले सकता, शेष मुनियों के लिए वह कल्पनीय है।

* ग्राह्य-अग्राह्य आधाकर्म द्र पिण्डैषणा

० शय्यातरपिण्ड वर्जन

शय्यातरपिण्ड किसी भी तीर्थकर द्वारा किसी भी स्थिति में अनुज्ञात नहीं है। द्र शय्यातर

० राजा और राजपिण्ड के प्रकार

मुइए मुद्धभिसित्ते, मुत्तितो जो होइ जोणिसुद्धो उ।
अभिसित्तो व परेहिं, सतं व भरहो जहा राया॥

पढमग भंगे वज्जो, होतु व मा वा वि जे तहिं दोसा।
सेसेसु होतऽपिंडो, जहिं दोसा ते विवज्जंति॥
असणाईआ चउरो, वत्थे पादे य कंबले चेव।
पाउंछणाए य तहा, अट्टुविधो रायपिंडो उ॥
(बृभा ६३८२-६३८४)

राजा के चार प्रकार हैं—१. मुदित और मूर्धाभिषिक्त

२. मुदित है, मूर्धाभिषिक्त नहीं ३. मूर्धाभिषिक्त है, मुदित नहीं ४. न मुदित, न मूर्धाभिषिक्त।

मुदित का अर्थ है योनिशुद्ध (जिसके माता-पिता भी राजवंशीय हैं)। मूर्धा-अभिषिक्त का अर्थ है—मुकुटबद्ध राजा के द्वारा अथवा पट्टबद्ध प्रजा के द्वारा जिसका अभिषेक किया गया है। अथवा नृप भरत की तरह जो स्वयं अभिषिक्त है, वह मूर्धाभिषिक्त है।

इनमें प्रथम भंगवर्ती राजा के आहार को राजपिण्ड कहा गया है। वह सदा वर्जनीय है। शेष भंगवर्ती पिंड राजपिण्ड नहीं है, किन्तु दोष की संभावना हो तो वह भी वर्जनीय है।

राजपिण्ड के आठ प्रकार हैं—अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल और घादप्रोच्छन (रजोहरण)।

जो मुद्धा अभिसित्तो, पंचहि सहिओ पभुंजते रज्जं।

तस्स तु पिंडो वज्जो, तव्विवरीयम्मि भयणा तु॥

मुद्धं परं प्रधानमाद्यमित्यर्थः, तस्स आदिराइणा अभिसित्तो...सेणावइ-अमच्च-पुरोहिय-सेट्टि-सत्थवाह-सहिओ रज्जं भुंजति। (निभा २४९७ चू)

जो राजा द्वारा अभिषिक्त है, सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाह सहित राज्य का उपभोग करता है, उसका पिण्ड राजपिण्ड है। वह वर्जनीय है। शेष राजपिण्ड का वर्जन वैकल्पिक है—सदोष हो तो वर्ज्य है, अन्यथा नहीं।

० कृतिकर्म

कितिकम्मं पि य दुविहं, अब्भुद्धानं तहेव वंदणं।
समणेहि य समणीहि य, जहारिहं होति कायव्वं॥

(बृभा ६३९८)

कृतिकर्म के दो प्रकार हैं—अभ्युत्थान तथा वन्दन। साधु-साध्वियों परस्पर रत्नाधिक के क्रम से वन्दना और अभ्युत्थान करना चाहिए।

* कृतिकर्म के विकल्प आदि द्र कृतिकर्म

० व्रत (चातुर्याम-पंचयाम) : ऋजुप्राज्ञ आदि
पंचायामो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
मच्चिमगाण जिणाणां, चाउज्जामो भवे धम्मो ॥
पुरिमाण दुव्विसोच्चो, चरिमाणं दुरणुपालओ कप्पो ।
मच्चिमगाण जिणाणां, सुविसोच्चो सुरणुपालो य ॥
(बृभा ६४०२, ६४०३)

प्रथम तीर्थंकर ऋषभ और अंतिम तीर्थंकर महावीर ने
पांच महाव्रत धर्म का निरूपण किया—

- | | |
|--------------------------|----------------------|
| १. सर्व प्राणातिपातविरमण | ४. सर्व मैथुनविरमण |
| २. सर्व मृषावादविरमण | ५. सर्व परिग्रहविरमण |
| ३. सर्व अदत्तादानविरमण | |

बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म का निरूपण किया—

- | | |
|--------------------------|------------------------|
| १. सर्व प्राणातिपातविरमण | ३. सर्व अदत्तादानविरमण |
| २. सर्व मृषावादविरमण | ४. सर्व बाह्यआदानविरमण |

पूर्ववर्ती साधु ऋजु-जड़ होते हैं। उनके लिए मुनि के
आचार को यथावत् ग्रहण कर लेना कठिन है।

चरमवर्ती साधु वक्र-जड़ होते हैं। उनके लिए मुनि
का आचार-पालन कठिन है।

मध्यवर्ती साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं। वे मुनि-आचार को
यथावत् ग्रहण कर लेते हैं और उसका पालन भी सरलता से
करते हैं। द्र ऋजुप्राज्ञ

० ज्येष्ठकल्प

पुव्वंतरं सामइयं, जस्स कयं जो वतेसु वा ठविओ ।
एस कितिकम्मजेड्ढो, ण जाति-सुततो दुपक्खे वी ॥
(बृभा ६४०८)

मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के समय जो सामायिक
चारित्र में तथा प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के समय जो
छेदोपस्थापनीय चारित्र में पूर्वदीक्षित हैं, वही कृतिकर्मज्येष्ठ
हैं। साधुवर्ग और साध्वीवर्ग में जन्मपर्याय या श्रुत से ज्येष्ठ
यहां विवक्षित नहीं है।

० प्रतिक्रमण

गमणाऽऽगमण वियारे, सायं पाओ य पुरिम-चरिमाणं ।
नियमेण पडिक्कमणं, अतिचारो होउ वा मा वा ॥

.....प्रतिश्रयाद् निर्गत्य हस्तशतात् परतो गत्वा भूयः
प्रत्यागमने.....हस्तशतमध्येऽप्युच्चारदः परिष्ठापने कृते ।
(बृभा ६४२६ वृ)

प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधु प्रतिश्रय से सौ हाथ
की दूरी तक गमनागमन करने पर, सौ हाथ की दूरी के मध्य
परिष्ठापन करने पर तथा अतिचार लगने या नहीं लगने पर
भी प्रातः और सायंकाल नियमतः प्रतिक्रमण करते हैं।

० बिना दोष प्रतिक्रमण क्यों? वैद्यत्रयी दृष्टांत

अतिचारस्स उ असती, णणु होति णिरत्थयं पडिक्कमणं ।
ण भवति एवं चोदग!, तत्थ इमं होति णातं तु ॥
सति दोसे होअगतो, जति दोसो णत्थि तो गतो होति ।
बितियस्स हणति दोसं, न गुणं दोसं व तदभावा ॥
दोसं हंतूण गुणं, करेति गुणमेव दोसरहिते वि ।
ततियसमाहिकरस्स उ, रसातणं डिंडियसुतस्स ॥
जति दोसो तं छिंदति, असती दोसम्मि णिज्जरं कुणई ।
कुसलतिगिच्छरसायणमुवणीयमिदं पडिक्कमणं ॥
(बृभा ६४२७-६४३०)

शिष्य ने पूछा—भंते! अतिचार न लगने पर प्रतिक्रमण
करना क्या निरर्थक नहीं है? आचार्य ने कहा—वह निरर्थक
कभी नहीं होता। यह उदाहरण ज्ञातव्य है—

एक राजा ने सोचा—मेरे प्रिय पुत्र को ऐसे रसायन का
सेवन कराऊं, जिससे यह सदा नीरोग रहे। उसने वैद्यों को
बुलाया। वैद्य आए। राजा ने एक वैद्य से पूछा—तुम्हारी औषधि
का क्या प्रयोजन है? उसने कहा—यदि कोई रोग हो, तो मेरी
औषधि उसको उपशांत कर देती है, अन्यथा वह रोगी को ही
मार डालती है। दूसरे वैद्य ने कहा—यदि रोग हो, तो मेरी
औषधि उसे उपशांत कर देती है और यदि रोग न हो, तो न
वह लाभ करती है और न हानि। तीसरे वैद्य ने कहा—मेरी
औषधि यदि रोग है, तो वह उसको मिटा देती है। यदि कोई
रोग नहीं है, तो मेरी औषधि का सेवन करने वाला अपना
वर्ण, रूप, यौवन तथा लावण्य बढ़ाता है और भविष्य में
उसके नया रोग उत्पन्न नहीं होता। राजा ने तीसरे वैद्य से
राजकुमार की चिकित्सा करवाई।

इसी प्रकार अतिचार लगा है, तो प्रतिक्रमण उस अतिचार
की विशोधि कर देता है और यदि अतिचार नहीं लगा है, तो

वह चारित्र की विशोधि करता है और अभिनव कर्मरोग का निरोध करता है।

० मासकल्प और उसके प्रकार

से गार्मसि वा नगरसि वा "सपरिक्खेवंसि अब्बाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंत-गिम्हासु एगं मासं वत्थए ॥" "सपरिक्खेवंसि सब्बाहिरियंसि" "हेमंत-गिम्हासु दो मासे वत्थए—अंतो एगं मासं, बाहिं एगं मासं। अंतो वसमाणाणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणाणं बाहिं भिक्खायरिया ॥

"सपरिक्खेवंसि अब्बाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंत-गिम्हासु दो मासे वत्थए ॥" "सपरिक्खेवंसि सब्बाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंत-गिम्हासु चत्तारि मासे वत्थए—अंतो दो मासे, बाहिं दो मासे। अंतो वसमाणीणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया।

(क १/६-९)

निर्ग्रन्थ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु (आठ महीनों) में एक गांव या नगर में, जहां परिक्षेप (बाड़ आदि का घेरा) हो, किन्तु बाहिरिका (परकोटे के बाहर बस्ती) न हो, वहां एक मास रह सकते हैं। परिक्षेप और बाहिरिका युक्त गांव में दो मास रह सकते हैं—भीतर एक मास, बाहर एक मास। वे भीतर रहते हुए भीतर और बाहर रहते हुए बाहर भिक्षाचर्या करें।

निर्ग्रन्थियां बाहिरिका रहित परिक्षेप वाले गांव में दो मास रह सकती हैं, परिक्षेप और बाहिरिका युक्त गांव में चार मास रह सकती हैं—भीतर दो मास, बाहर दो मास। वे भीतर रहती हुई भीतर, बाहर रहती हुई बाहर भिक्षाचर्या करें।

दुविहो य मासकप्पो, जिणकप्पो च्चैव थेरकप्पो य।
एक्केक्को वि य दुविहो, अट्टियकप्पो य ठियकप्पो ॥

(बृभा ६४३१)

मासकल्प के दो प्रकार हैं—जिनकल्पी मुनि का मासकल्प और स्थविरकल्पी मुनि का मासकल्प। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—अस्थितकल्प और स्थितकल्प। प्रथम और अंतिम तीर्थकरों के साधुओं का मासकल्प स्थित है और शेष तीर्थकरों के मुनियों का अस्थित। प्रथम-अंतिम तीर्थकर के मुनि ऋतुबद्धकाल में नियमतः मासकल्प से विहार करते हैं और शेष मुनियों के लिए यह नियम नहीं है। वे मास पूरा होने से पहले भी विहार कर सकते हैं अथवा एक स्थान पर देशोनपूर्वकोटि तक भी रह सकते हैं।

० पर्युषणाकल्प

पञ्जोसवणाकप्पो, होति ठितो अट्टितो य थेराणं।
एमेव जिणाणं पि य, कप्पो ठितमट्टितो होति ॥
चाउम्मासुक्कोसे, सत्तरिाइंदिया जहणणेणं।
ठितमट्टितमेगतेरे, कारणवच्चासितण्णयेरे ॥
(बृभा ६४३२, ६४३३)

पर्युषणाकल्प दो प्रकार का है—स्थित और अस्थित। स्थविरकल्पी तथा जिनकल्पी मुनियों के पर्युषणाकल्प दोनों प्रकार का होता है।

उत्कृष्ट पर्युषणाकल्प चार मास—आषाढी पूर्णिमा से कार्तिकी पूर्णिमा तक का होता है। जघन्य पर्युषणाकल्प ७० दिन-रात का—भाद्रपद शुक्ला पंचमी से कार्तिकी पूर्णिमा तक का होता है। प्रथम और अंतिम तीर्थकर के मुनियों का यह पर्युषणा का स्थितकल्प है। मध्यम तीर्थकरों का यह अस्थित है। वृष्टि होने पर वे एक क्षेत्र में अवस्थित रहते हैं, अन्यथा विहार करते हैं। विशेष कारण उपस्थित होने पर इस क्रम में व्यत्यय भी होता है।

* पर्युषणा की सामाचारी

द्र पर्युषणाकल्प

कल्पिक—जिस समाचरण के लिए जितने श्रुतग्रंथों का अध्ययन निर्धारित है, उतने श्रुतग्रंथों का ज्ञाता मुनि।
कल्पिक के बारह प्रकार हैं।

द्र सूत्र

कल्याणक—प्रायश्चित्तस्वरूप दिया जाने वाला प्रत्याख्यान-विशेष।

चउरो चउत्थभन्ते, आयंबिल एगठाण पुरिमड्डं।
णिब्बीयग दायव्वं

चतुः कल्याणकं प्रायश्चित्तं.....चत्वारि चतुर्थ-
भक्तानि चत्वार्याचाम्लानि चत्वारि एकस्थानानि.....
चत्वारि पूर्वाद्धानि चत्वारि निर्विकृतिकानि च भवन्ति।.....
पञ्चकल्याणकं.....तत्र चतुर्थ भक्तादीनि प्रत्येकं पञ्च
पञ्च भवन्ति। (बृभा ५३६० वृ)

प्रायश्चित्त विशेष का नाम है कल्याणक। चार कल्याणक का अर्थ है—चार उपवास, चार आयंबिल, चार एकस्थान (एकाशन), चार पूर्वार्ध और चार निर्विकृतिक।

पांच कल्याणक प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना करने पर पांच उपवास, पांच आयंबिल, पांच एकस्थान, पांच पूर्वार्ध

और पांच निर्विकृतिक दिए जाते हैं।

(एक कल्याणक से तात्पर्य है एक उपवास, एक आचाम्ल, एक एकाशन, एक पूर्वार्ध और एक निर्विकृतिक।)

० कल्याणक द्वारा प्रायश्चित्त का विधान

यस्य यावन्ति इन्द्रियाणि तस्य तावन्ति कल्याणानि प्रायश्चित्तं तद्यथा—एककल्याणकमेकेन्द्रियाणां परितापने, द्वे कल्याणके द्वीन्द्रियाणां पूर्वार्द्धमित्यर्थः। त्रीणि कल्याणकानि त्रीन्द्रियाणामेकाशनकमिति भावः। चतुरिन्द्रियाणामाचाम्लं, पञ्चेन्द्रियाणामभक्तार्थः। (व्यभा ४०१२ की वृ)

पञ्चकल्याणं निर्विकृतिकपूर्वार्धएकाशनकाया-मात्मलक्षणरूपम्। (व्यभा ४५४० की वृ)

जिसके जितनी इन्द्रियां होती हैं, उसकी परितापनारूप विराधना होने पर उतने ही कल्याणक का प्रायश्चित्त आता है। यथा—

एकेन्द्रिय परितापना	कल्याणक—निर्विकृतिक
द्वीन्द्रिय परितापना	दो कल्याणक—पूर्वार्ध
त्रीन्द्रिय परितापना	तीन कल्याणक—एकाशन
चतुरिन्द्रिय परितापना	कल्याणक—आचाम्ल
पञ्चेन्द्रिय परितापना	पांच कल्याणक—उपवास

(कल्याणक की व्याख्या में बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति तथा व्यवहारभाष्य वृत्ति का भेद दो परंपराओं की सूचना देता है। ज्ञातव्य है कि कल्याणक के सापेक्ष विकल्पों के प्रसंग में व्यभा ४२०५ की वृत्ति में बृभा ५३६० की वृत्ति की अनुवृत्ति हुई है—द्र प्रायश्चित्त।

जीतकल्प (सूत्र ३२ तथा उसकी चूर्णि) में पञ्चेन्द्रिय के संघट्टन, अनागाढ परितापन, आगाढ परितापन और अपद्रावण में क्रमशः एकाशन, आचाम्ल, उपवास तथा एक कल्याणक प्रायश्चित्त का विधान है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि एक कल्याणक में उपवास आदि पांचों होते हैं।)

कषाय—मोहजनित आंतरिक उत्ताप।

१. कषाय के प्रकार, उपमा, कालावधि
२. मान में क्रोध की नियमा
३. कषाय और दृष्टांत
 - ० क्रोध : मरुक दृष्टांत
 - ० मान : अत्वंकारी भट्टा

० माया : पांडुरा आर्या

० लोभ : आर्य मंगु

* कषाय प्रतिसेवना द्र प्रतिसेवना

४. कषाय से चारित्रनाश : कनकरस दृष्टांत

* चारित्र अकषाय द्र चारित्र

५. कषाय और गति : कषायक्षय से निर्वाण

* कषाय शमन का उपाय द्र अधिकरण

* दोषनिर्घातन विनय : कषायविनयन द्र आचार्य

* अनशन से पूर्व कषाय का कृशीकरण द्र अनशन

* राग-द्वेष वृद्धि से प्रायश्चित्त वृद्धि द्र प्रायश्चित्त

१. कषाय के प्रकार, उपमा, कालावधि

वाओदएहि राई, नासति कालेण सिगय पुढवीणं।
णासति उदगस्स सतिं, पव्वतराई तु जा सेलो ॥
(निभा ३१८८)

उदगसरिच्छ पक्खेणऽवेति चतुमासिण सिगयसमा।
वरिसेण पुढविराई, आमरणगती उ पडिलोमा ॥
सेलऽट्ठि-थंभ-दारुय, लता य वंसी य मिंढ गोमुत्तं।
अवलेहणिया किमिराग-कहम-कुसुंभय-हलिहा ॥
(दशानि १०२, १०३)

कषाय के चार प्रकार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।

क्रोध कषाय के चार प्रकार हैं—पानी की रेखा के समान, बालू की रेखा के समान, भूमि की रेखा के समान तथा पर्वत की रेखा के समान।

हवा और जल से बालू की रेखा और भूमि की रेखा स्वल्प समय में मिट जाती है। जल की रेखा तत्क्षण मिट जाती है, पर्वत की रेखा पर्वत के अस्तित्व काल तक रहती है।

जो क्रोध पानी के रेखा के समान होता है, वह उसी दिन के प्रतिक्रमण से या पाक्षिक प्रतिक्रमण से उपशांत हो जाता है। जो चातुर्मासिक काल में उपशांत होता है, वह क्रोध बालू की रेखा के समान, जो सांवत्सरिक काल में उपशांत होता है, वह भूमि की रेखा के समान तथा पर्वत की रेखा जैसा क्रोध जीवनपर्यंत नष्ट नहीं होता।

मान के चार प्रकार हैं—पत्थर के स्तम्भ के समान, अस्थि-स्तम्भ के समान, काष्ठ-स्तम्भ के समान तथा लता-स्तम्भ के समान।

माया के चार प्रकार हैं—बांस की जड़ के समान, मेंढे के सींग के समान, गोमूत्रिका के समान तथा छिलते बांस की छाल के समान।

लोभ के चार प्रकार हैं—कृमिराग के समान, कर्दम के समान, कुसुंभराग के समान तथा हरिद्राराग के समान।

(क्रोध, मान, माया और लोभ के चार-चार प्रकारों में प्रत्येक का प्रथम प्रकार — अनंतानुबंधी

द्वितीय प्रकार — अप्रत्याख्यानी

तृतीय प्रकार — प्रत्याख्यानी

चतुर्थ प्रकार — संज्वलन

—द्र श्रीआको १ कषाय)

२. मान में क्रोध की नियमा

कोहे माणो अत्थि वा ण वा । माणे पुण कोहो णियम
अत्थि । तम्हा कोहीओ माणी बहुदोसतरो ।

(निभा ३११३ की चू)

क्रोध में मान वैकल्पिक है। मान में क्रोध की नियमा है। अतः क्रोधी से मानी बहुत दोष वाला है।

३. कषाय और दृष्टांत

अवहंत गोण मरुए, चउणह वप्पाण उक्करो उवरिं ।
छोदुं मए मुवड्डुअतिकोवे ण देमु पच्छित्तं ॥
वणिधूयाऽचंकारियभट्टा अट्टसुयमगतो जाया ।
वरग पडिसेह सचिवे, अणुयत्तीह पदाणं च ॥
निवचित्तं विकालपडिच्छणा य दारं न देमि निवकहणा ।
खिंसा निसिनिग्गमणं, चोरा सेणावतीगहणं ॥
नेच्छति जलूगवेज्जगहणं तं पि य अणिच्छमाणी उ ।
गिणहावेइ जलूगा, धणभाउग कहण मोयणया ॥
सयगुणासहस्सपागं, वणभेसज्जं जतिस्स जायणता ।
तिक्खुत्तं दासिभिंदण, न य कोव सयं पदाणं च ॥
पासत्थि पंडरज्जा, परिणण गुरुमूल णातअभियोगा ।
पुच्छा तिपडिक्कमणे, पुव्वभासा चउत्थम्मि ॥
अपडिक्कमसोहम्मे अभिओगा, देवि सक्कओसरणे ।
हत्थिणि वायणिसग्गो, गोतमपुच्छा य वागरणं ॥
महुरा मंगू आगम, बहुसुत वेरग सड्डूपूया य ।
सातादिलोभ णितिए, मरणे जीहा य णिद्धमणे ॥
(दशानि १०५-११२)

० क्रोध : मरुक दृष्टांत

एक ब्राह्मण बैल को लेकर खेत जोतने के लिए गया। खेत जोतता हुआ बैल श्रांत होकर गिर गया। ब्राह्मण ने उसे चाबुक से मारा। बैल उठ नहीं सका। ब्राह्मण ने चार केदारों के ढेलों से उसे पीटा। बैल मर गया।

वह ब्राह्मण गोहत्या के पाप की विशुद्धि के लिए अन्य ब्राह्मणों के पास उपस्थित हुआ। उन्हें सारी घटना सुनाई। ब्राह्मणों ने कहा—तुम अति क्रोधी हो अतः तुम्हें प्रायश्चित्त नहीं देंगे।

० मान : अत्वंकारी भट्टा दृष्टांत

धनश्रेष्ठी के आठ पुत्रों के पश्चात् एक पुत्री हुई, जिसका नाम भट्टा रखा गया। माता-पिता ने सभी से कह रखा था कि इसे कोई 'चूं' तक न कहे। अतः उसका नाम अत्वंकारी—अत्वंकारी भट्टा हो गया। वह रूपवती थी। अनके व्यक्ति उससे विवाह करना चाहते थे, तब पिता ने कहा—जो इसकी आज्ञा में रहेगा, अपराध होने पर भी इसे कुछ नहीं कहेगा, वही इसका जीवनसाथी बनेगा। मंत्री सुबुद्धि ने इस संकल्प को मान्य किया। विवाह हुआ।

भट्टा ने पति से कहा—आप सायं राजकार्य से निवृत्त हो शीघ्र आया करें। मंत्री ने वैसा ही किया। राजा ने सोचा—यह इतनी जल्दी क्यों जाता है? पूछताछ करने पर राजपुरुषों ने बताया—यह अपनी पत्नी की आज्ञानिर्देश का पालन करता है।

एक दिन राजा ने उसे रोका। विलम्ब से घर पहुंचा। भट्टा ने द्वार नहीं खोला, अवहेलना की। मंत्री ने कहा—मैं जाता हूं, तुम गृहस्वामिनी बनकर रहना। उसने द्वार खोला और अभिमान वश अकेली जंगल में चली गई। चोर उसे पकड़कर अपने सेनापति के पास ले गए। सेनापति ने भोगों की प्रार्थना की, प्रस्ताव अस्वीकृत करने पर उसे जलौक वैद्य के हाथों बेच दिया। उसने भी भोगप्रार्थना की। भट्टा ने स्वीकृति नहीं दी, तब वैद्य ने रोष में कहा—पानी में से मेंरे लिए जलौका लेकर आओ। वह शरीर पर मक्खन चुपड़ कर जल में अवगाहन करती और जौक पकड़ती। वैद्य उसके शरीर से रक्त निकाल कर बेचता। न चाहते हुए भी शील की रक्षा के लिए उसने यह कार्य किया। रक्तस्त्राव के कारण वह रूपलावण्यविहीन हो गई।

एक बार दूतकार्य में नियुक्त उसका भाई वहां आया। उसने बहिन को पहचान लिया और उस वैद्य से मुक्त कराकर उसे अपने घर ले आया। वमन-विरेचन द्वारा पुनः स्वस्थ कर अमात्य को सौंप दिया। अमात्य ने पुनः उसे गृहस्वामिनी बना दिया।

भट्टा का मेरुसदृश अभिमान समाप्त हो गया। उसने संकल्प किया—अब मैं क्रोध और मान नहीं करूंगी।

भट्टा के घर में लक्षपाक तैल था। एक मुनि ने ब्रण-संग्रहण हेतु तैल की याचना की। भट्टा ने दासी से तैल घट लाने को कहा। दासी तैल का घड़ा ला रही थी, घड़ा उसके हाथ से गिरा और फूट गया। दूसरा और तीसरा घट भी फूट गया। लक्षपाक तैल के तीन घट नष्ट हो जाने पर भी भट्टा को क्रोध नहीं आया। चौथी बार वह स्वयं उठकर गयी और मुनि को लक्षपाक लाकर दिया।

० माया : पांडुरा आर्या दृष्टांत

पांडुरा पार्श्वस्था—शिथिलाचारिणी साध्वी। समय आने पर गुरु के पास भक्तप्रत्याख्यान का स्वीकरण। मंत्रशक्ति से लोगों की भीड़। गुरु के द्वारा पूछे जाने पर उसने तीन बार प्रतिक्रमण किया। चौथी बार फिर मंत्रशक्ति का प्रयोग किया। आचार्य के पूछने पर कहा कि पूर्वाभ्यास से लोग आते हैं अतः आलोचना-प्रतिक्रमण नहीं किया। मरकर वह सौधर्म देवलोक में ऐरावण हाथी की अग्रमहिषी बनी। महावीर के समवसरण में हथिनी के रूप में चिंचाड़ने लगी। गौतम के द्वारा पूछने पर महावीर ने उसका पूर्वभव बताया।

० लोभ : आर्य मंगु दृष्टांत

मथुरा में आर्य मंगु बहुश्रुत, वैरागी एवं श्रद्धालुओं द्वारा पूजित आचार्य थे। वे सुखसाता में प्रतिबद्ध होकर श्रावकों की नित्य शिक्षा करने लगे। दिवंगत होने पर प्रतिमा में प्रवेश कर लंबी जीभ निकालकर कहते—मैं लोलुपतावश अधर्मी व्यन्तर देव बना हूँ अतः कोई लोलुपता मत करना।

४. कषाय से चारित्रनाश : कनकरस दृष्टांत

.....

गुरुवयणं।

उवसमह कुणह ज्झायं, छडुणया सागपतेहिं॥

जं अज्जियं समीखल्लएहिं तव-नियम-बंभमइएहिं।

तं दाणि पच्छ नाहिसि, छडुंतो सागपतेहिं॥

जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए।
तं पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण॥

(बृभा २७१३-२७१५)

क्रोध अथवा कलह करते हुए शिष्य को गुरु कहते हैं—शांत हो जाओ, शांत हो जाओ। (अनुपशांत के संयम कहां?, स्वाध्याय कहां?) स्वाध्याय करो। द्रमक की तरह शाकवृक्ष के पत्रों से कनकरस का परित्याग क्यों कर रहे हो?

एक परिव्राजक ने द्रमक को देखा और पूछा—तुम चिंतित क्यों हो? द्रमक ने कहा—मैं दरिद्रता से अभिभूत हूँ। परिव्राजक ने कहा—जैसा मैं कहूँ, वैसा करोगे तो धनवान् बन जाओगे—यह कहते हुए वह उसे एक पर्वतनिकुंज में ले गया और कहा—

‘यह कनकरस है। इसे प्राप्त करने के लिए तुम टंडी-गर्म हवाओं को सहन करो, भूख-प्यास को सहन करो, ब्रह्मचर्य का पालन करो, अचित्त कंद-मूल-पत्र-पुष्प-फलों का आहार करो और फिर पवित्र भावधारा से शमीपत्रपुटक में इसे ग्रहण करो’—यह स्वर्णरसप्राप्ति की उपचारविधि है।

द्रमक ने उपचारपूर्वक कनकरस को शमीपत्रकपुटक में भर लिया। घर लौटते समय परिव्राजक ने कहा—रोष उत्पन्न पर भी तुम शाकपत्र से (कषाय के वशीभूत होकर) तुम्बिका में एकत्रित इस स्वर्णरस को मत फेंकना। उसने आगे कहा—‘देखो! तुम मेरे प्रभाव से धनी हो जाओगे।’ पुनः पुनः इन शब्दों को सुना तो द्रमक क्रोध भरे शब्दों में बोला—तुम्हारे प्रसाद से मैं धनी होऊँ तो इससे मुझे प्रयोजन नहीं है—यह कहते हुए उसने स्वर्णरस को फेंक दिया।

परिव्राजक ने कहा—‘जिसको तप-नियम-ब्रह्मचर्य की साधना से अर्जित कर शमीपत्रपुटक में रखा था शाकपत्रों से छोड़ते हुए बाद में जान पाओगे कि मैंने चिरसंचित स्वर्णरस को शाकपत्रों से उत्सिक्त कर परित्याग किया—यह अच्छा नहीं किया।’ (इसी प्रकार शिष्य! तुम चारित्र रूपी स्वर्णरस को कषायरूपी शाकपत्र से समाप्त कर पश्चात्ताप करोगे।)

‘मनुष्य देशोन् पूर्वकोटि जितने लम्बे काल तक संयम-साधना कर जो चारित्रसम्पदा अर्जित करता है, उसे क्रोध आदि कषायों के उदय मात्र से अन्तर्मुहूर्त में नष्ट कर देता है।’

५. कषाय और गति : कषायक्षय से निर्वाण

.....उवसम-खएण उड्ढं, उदएण भवे अहेगरणं ॥
 तिक्कसायसमुदया, गुरुक्कमुदया गती भवे हिट्ठा ।
 नाइकिलिट्ठ-मिऊहि य, उववज्जइ तिरिय-माणुएसु ॥
 खीणेहि उ निक्वाणं, उवसंतेहि उ अणुत्तरसुरेसु ।
 जह निग्गहो तह लहू, समुवचओ तो सेसेसु ॥
 (बृभा २६८२-२६८४)

कषाय के उपशम और क्षय से ऊर्ध्वगति (स्वर्ग या मोक्ष) की प्राप्ति होती है। कषाय के तीव्र उदय से अधोगति (नरक) की प्राप्ति होती है।

कषायोदय अति तीव्र न हो तो तिर्यचगति और मध्यम परिणामधारा से मनुष्यगति प्राप्त होती है।

क्रोध आदि तीव्र संक्लिष्ट परिणामों से भारी कर्मों का उपचय होता है। भारी कर्मोदय से नरकगति प्राप्त होती है। अतिक्लिष्ट परिणाम न हों तो अतिक्लिष्ट कर्मोपचय नहीं होता। परिणामस्वरूप तिर्यचगति में गमन होता है।

मृदु (प्रतनुकषाय) परिणामों से मृदु कर्मोपचय होता है। फलस्वरूप जीव मनुष्यगति में उत्पन्न होता है।

जीव कषाय के पूर्ण क्षय से निर्वाण प्राप्त करता है। कषाय के उपशांत अथवा क्षीणोपशांत होने पर जीव अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है।

जीव के कषाय का जितना अधिक निग्रह होता है, उतना ही अधिक वह लघुभूत होता है।

कषायों के प्रकृष्ट निग्रह के अभाव में कर्मों का समुपचय होता है, जिससे जीव अनुत्तरविमान वर्जित शेष देवलोकों में उत्पन्न होते हैं।

चउसु कसाएसु गती, नरय-तिरिय-माणुसे य देवगती ।
 (दशानि १०४)

कषाय	गति	कषाय	गति
१. क्रोध	नरक	३. माया	मनुष्य
२. मान	तिर्यच	४. लोभ	देव

कांदर्पी भावना—संक्लिष्ट भावना का एक प्रकार। कामकथा आदि से भावित चित्त वाले व्यक्ति का व्यवहार और आचरण।

द्र भावना

कामभोग—शब्द आदि इन्द्रियविषयों का आसेवन।
 द्र ब्रह्मचर्य

कायक्लेश—आसन, आतापना, केशलोच आदि निरवद्य प्रवृत्तियों द्वारा शरीर को साधना।

१. आसन के प्रकार
 २. साध्वी और आसन (अभिग्रहविशेष)
 ३. आतापना के प्रकार
 ४. लेटकर ली जाने वाली आतापना उत्कृष्ट
 ५. आतापना-विधि
 ६. साध्वी और आतापना
- * केशलोच

द्र पर्युषणाकल्प

१. आसन के प्रकार

....ठाणाययाए...पडिमट्टाइयाए...नेसज्जियाए,
 उक्कुडुगासणियाए, वीरासणियाए, दंडासणियाए, लंगंड-
 साइयाए, ओमंथियाए, उत्ताणियाए, अंबखुज्जियाए,
 एकपासियाए ।
 (क ५/२१-२३)

....पंचेव णिसिज्जाओ, तासि विभासा उ कायव्वा ॥
 वीरासणं तु सीहासणे व जह मुक्कजाणुक्क णिविट्ठो ।
 दंडे लंगंड उवमा, आयत खुज्जाय दुण्हं पि ॥

निषद्या नाम—उपवेशनविशेषः, ताः पंचविधाः,
 तद्यथा—समपादपुता गोनिषट्टिका हस्तिशुण्डिका पर्यका-
 ऽर्धपर्यका चेति । तत्र यस्यां समौ पादौ पुतौ च स्पृशतः सा
 समपादपुता, यस्यां तु गौरिवोपवेशनं सा गोनिषट्टिका, यत्र
 पुताभ्यामुपविश्यैकं पादमुत्पाटयति सा हस्तिशुण्डिका, ...
 अर्धपर्यका यस्यामेकं जानुमुत्पाटयति । ...वीरासनं नाम यथा
 सिंहासने उपविष्टो भूयस्तपाद आस्ते तथा तस्यापनयने
 कृतेऽपि सिंहासन इव निविष्टो मुक्तजानुक इव निरालम्ब-
 नेऽपि यद् आस्ते । दुष्करं चैतद् अत एव वीरस्य साहसिक-
 स्यासनं वीरासनमित्युच्यते । ...दण्डस्येवायतं—पाद-
 प्रसारणेन दीर्घं यद् आसनं तद् दण्डासनम् । ...लगाण्डं किल-
 दुःसंस्थितं काष्ठम्, तद्दत्तं कुब्जतया मस्तकपार्श्विकानां
 भुवि लगनेन पृष्ठस्य चालगनेनेत्यर्थः । (बृभा ५९५३, ५९५४ वृ)

आसन के अनेक प्रकार हैं—

१. स्थानायतिक—कायोत्सर्ग में स्थिर होना। (द्र कायोत्सर्ग)
२. प्रतिमास्थायी—भिक्षुप्रतिमाओं की विविध मुद्राओं में स्थित रहना।
३. नैषद्यिका—बैठकर किए जाने वाले आसन। इसके पांच प्रकार हैं—
 - ० समपादपुता—पैरों और पुतों को सटाकर भूमि पर बैठना।
 - ० गोनिषद्यिका—गाय की तरह बैठना।
 - ० हस्तिशुण्डिका—पुतों के बल पर बैठ कर एक पैर को ऊंचा रखना।
 - ० पर्यका—पैरों को मोड़ पिंडलियों के ऊपर जांघों को रखकर बैठना और एक हस्ततल पर दूसरा हस्ततल रख कर नाभि के पास रखना।
 - ० अर्द्धपर्यका—एक पैर को मोड़, पिंडली के ऊपर जांघ को रखना और दूसरे पैर के पंजों को भूमि पर टिकाकर घुटनों को ऊपर रखना।
४. उत्कुटुक—उकड़ू आसन—पुतों को ऊंचा रखकर पैरों के बल पर बैठना।
५. वीरासन—भूमि पर पैर रखकर सिंहासन पर बैठने से शरीर की जो स्थिति होती है, उसी स्थिति में सिंहासन के निकाल लेने पर स्थित रहना। मुक्तजानुक की तरह निरालम्ब स्थित रहना दुष्कर है, इसकी साधना वीर मनुष्य ही कर सकता है, इसलिए इसका नाम वीरासन है।
६. दण्डायत—दण्ड की तरह आयत होकर—पैर पसार कर बैठना।
७. लगण्डशयन—वक्र काष्ठ की भांति एड़ियों और सिर को भूमि से सटाकर शेष शरीर को ऊपर उठाकर सोना।
८. अधोमुखशयन—ओंधा लेटना।
९. उत्तानशयन—सीधा लेटना।
१०. आम्रकुब्जिका—आम्र-फल की भांति टेढ़ा होकर सोना।
११. एकपार्श्वशयन—दाई या बाई करवट लेटना। एक पैर को संकुचित कर दूसरे पैर को उसके ऊपर से ले जाकर फैलाना और दोनों हाथों को लम्बा कर सिर की ओर फैलाना।

(आसन का प्रभाव—उकड़ू-आसन का प्रभाव वीर्य-ग्रन्थियों पर पड़ता है और यह ब्रह्मचर्य की साधना में बहुत फलदायी है। वीरासन से धैर्य, सन्तुलन और कष्ट-सहिष्णुता का विकास होता है।—भ २/६२ का भाष्य

आसन तीन प्रयोजनों से किए जाते हैं—१. इन्द्रिय-निग्रह के लिए २. विशिष्ट विशुद्धि के लिए और ३. ध्यान के लिए। विशिष्ट विशुद्धि के लिए तथा किंचित् मात्रा में इन्द्रिय-निग्रह के लिए किए जाने वाले आसन उग्र होते हैं इसलिए उन्हें कायक्लेश की कोटि में रखा गया। ध्यान के लिए कठोर आसन का विधान नहीं है। वर्तमानकाल में शारीरिक शक्ति की दुर्बलता के कारण कायोत्सर्ग और पर्यक—ये दो आसन ही पर्याप्त हैं।—उसअ पृ १५२, १५३)

२. साध्वी और आसन (अभिग्रहविशेष)

नो कप्पइ निग्गंथीए ठाणाययाए होत्तए ॥.....
पडिमद्वाइयाए.....वीरासणियाए..... ॥ (क ५/२१-२३)
वीरासण गोदोही, मुत्तुं सव्वे वि ताण कप्पंति।
ते पुण पडुच्च चेदुं, सुत्ता उ अभिग्गहं पप्पा ॥
तवो सो उ अणुण्णाओ, जेण सेसं न लुप्पति।
अकामियं पि पेत्तिल्लज्जा, वारिओ तेणऽभिग्गहो ॥
लज्जं बंभं च तित्थं च, रक्खंतीओ तवोरेता।
गच्छे चेव विसुज्झंती, तहा अणसणादिहिं ॥
कारणमकारणम्मि य, गीयत्थम्मि य तहा अगीयम्मि।
एए सव्वे वि पए, संजयपक्खे विभासिज्जा ॥
अभिग्रहविशेषादूर्ध्वस्थानादीनि संयतीनां न कल्पन्ते,
सामान्यतः पुनरावश्यकादिवेलायां यानि क्रियन्ते तानि
कल्पन्त एव ॥(बृभा ५९५६, ५९५७, ५९६१, ५९६४ वृ)
साध्वी ऊर्ध्वस्थान, प्रतिमास्थान, वीरासन, गोदोहिका
आदि आसन नहीं कर सकती—सूत्र में यह निषेध
अभिग्रहविशेष की अपेक्षा से है, सामान्य चेष्टा की अपेक्षा से
नहीं। साध्वी आवश्यक आदि के समय गोदोहिका आदि
आसन कर सकती है।

शिष्य ने पूछा—अभिग्रह आदि रूप तप कर्मनिर्जरा के लिए किया जाता है, फिर वह साध्वी के लिए निषिद्ध क्यों? गुरु ने कहा—वही तप अनुज्ञात है, जिमसे ब्रह्मचर्य आदि गुणों का लोप नहीं होता। अभिग्रहविशेष या आसनविशेष में स्थित साध्वी को उसके न चाहते हुए भी कोई कामी पुरुष उसे शील से च्युत कर सकता है, अतः अभिग्रह आदि का निषेध किया गया है।

साध्वी गच्छ में रहकर ही लज्जा, ब्रह्मचर्य और तीर्थ की रक्षा करती हुई अनशन, स्वाध्याय आदि में संलग्न होकर

कर्मनिर्जरा कर सकती है।

साधुओं के लिए भी गांव के बाहरी प्रदेश में आतापना लेना, विशिष्ट अभिग्रह स्वीकार करना आदि यथासम्भव विकल्पनीय हैं—

सिंह आदि से अभिभव, देवआकम्पन आदि कारणों से गीतार्थ या अगीतार्थ तीव्र अभिग्रह कर सकते हैं। अगीतार्थ निष्कारण अभिग्रह नहीं कर सकते। गीतार्थ कर्मनिर्जरा के लिए निष्कारण भी अभिग्रह कर सकते हैं। अचेलता आदि भी जिनकल्प स्वीकार करने वाले गीतार्थ के लिए विहित है।

३. आतापना के नौ प्रकार

आयावणा य तिविहा, उक्कोसा मञ्जिमा जहण्णा य।
उक्कोसा उ णिवण्णा, णिसण्ण मञ्जा ठिय जहण्णा ॥
तिविहा होइ निवण्णा, ओमत्थिय पास तइयमुत्ताणा।
उक्कोसुक्कोसा उक्कोसमञ्जिमा उक्कोसगजहण्णा ॥
मञ्जुक्कोसा दुहओ, वि मञ्जिमा मञ्जिमाजहण्णा य।
अहमुक्कोसाऽहममञ्जिमा य अहमाहमा चरिमा ॥
पलियक अद्ध उक्कुडुग, मो य तिविहा उ मञ्जिमा होइ।
तइया उ हत्थिसुंडेगपाद, समपादिगा चव ॥
क्वचिदादर्शो...मध्यमोत्कृष्टा गोदोहिका, मध्यम-
मध्यमा उत्कटिका, मध्यमजघन्या पर्यकासनरूपा।

(बृभा ५९४५-५९४८ वृ)

आतापना के तीन प्रकार हैं—

- ० उत्कृष्ट—गर्म शिला आदि पर लेट कर ताप सहना।
- ० मध्यम—बैठकर आतापना लेना।
- ० जघन्य—खड़े-खड़े आतापना लेना।

इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार होने से आतापना के कुल नौ प्रकार हैं।

उत्कृष्ट आतापना के तीन प्रकार हैं—

१. उत्कृष्ट-उत्कृष्ट—छाती के बल लेट कर ताप सहना।
२. उत्कृष्ट-मध्यम—एक पार्श्व में सोकर ताप सहना।
३. उत्कृष्ट-जघन्य—उत्तानशयन—पीठ के बल लेट कर ताप सहना।

मध्यम आतापना के तीन प्रकार हैं—

१. मध्यम-उत्कृष्ट—पर्यकासन में बैठकर ताप सहना।
२. मध्यम-मध्यम—अर्धपर्यकासन में बैठकर ताप सहना।
३. मध्यम-जघन्य—उकडू आसन में बैठकर ताप सहना।

मध्यम के वैकल्पिक प्रकार इस प्रकार हैं—

- ० मध्यम-उत्कृष्ट—गोदोहिका में ली जाने वाली आतापना।
- ० मध्यम-मध्यम—उकडू आसन में ली जाने वाली आतापना।
- ० मध्यम-जघन्य—पर्यकासन में ली जाने वाली आतापना।

जघन्य आतापना के तीन प्रकार हैं—

१. जघन्य-उत्कृष्ट—हस्तिशुण्डिका में ली जाने वाली आतापना।
२. जघन्य-मध्यम—एकपादिका में ली जाने वाली आतापना।
३. जघन्य-जघन्य—समपादिका में ली जाने वाली आतापना।

४. लेटकर ली जाने वाली आतापना उत्कृष्ट

सव्वंगिओ पतावो, पताविया घम्मरस्सिणा भूमी।

ण य कमइ तत्थ वाओ, विस्सामो णेव गत्ताणं॥

(बृभा ५९४९)

भूमि पर लेटकर ली जाने वाली आतापना से शरीर के सारे अंग प्रकृष्टरूप से तप्त हो जाते हैं। भूमि सूर्य की रश्मियों से अत्यंत तापित होती है, उस पर वायु का संचरण नहीं होता, तब शरीर के किसी भी अवयव को ताप से विश्राम नहीं मिलता।

(भगवान् महावीर ग्रीष्म ऋतु में सूर्य का आतप लेते थे।

उकडू आसन में वायु के अभिमुख होकर बैठते थे।

—आ ९/४/४

आचार्य भिक्षु निर्जल उपवास करते, सहयोगी संतों के साथ धर्मोपकरण साथ में लेकर प्रातः गांव के बाहर चले जाते। वे सरिताचर में अत्युष्ण रेतीली धरती पर लेट जाते, आतापना के साथ ध्यान-स्वाध्याय भी करते। पारणे के दिन गांव से यथाप्राप्त आहार-पानी लेकर जंगल में जाते, वृक्ष की छाया में आहार-पानी रखकर आतापना लेते, फिर आहार करते, सायंकाल गांव में लौट आते। लगभग दो वर्ष तक यह क्रम चला।—शासन समुद्र भाग १ पृ १०३

घोरतपस्वी मुनिश्री सुखलालजी ग्रीष्म ऋतु में लगभग सात माह (चैत्र से आश्विन) तक मध्याह्न में राजस्थान की कड़ी धूप में आतापना लेते—एक कछोटा लगाकर आंखों पर पट्टी बांधकर दो-दो घंटे तक (कभी-कभी पांच घंटे भी) शिलापट्ट पर लेते रहते। उत्कृष्ट गर्मी के कारण शिलापट्ट पसीने से टंडा हो जाता तो वे बीच-बीच में पार्श्ववर्ती दूसरे पत्थर पर लेट जाते। लेटे-लेटे स्वाध्याय में लीन हो जाते। प्रतिवर्ष

आतापना काल में डेढ़-दो लाख गाथाओं का स्वाध्याय कर लेते। कभी-कभी वे कहते—‘आज तो श्रुतपरावर्तना में इतनी तन्मयता आ गई कि आतप का पता ही नहीं लगा, नींद भी आने लगी।’ सूर्य का ताप सहते-सहते उनके शरीर की चमड़ी सूखकर काली हो गई, किन्तु मनःप्रसन्ति और मुख-मुस्कान को आभा निरंतर बढ़ती गई। यह क्रम वि. सं. २००० से २०१६ तक चला।—शासनसमुद्र भाग १४ पृ १०५, १०६)

५. आतापना-विधि

.....बहिया गामस्स वा जाव सन्निवेशस्स वा उड्डं बाहाओ पगिण्डिय-पगिण्डिय सूराम्भुहीए एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावेत्तए। (क ५/१९)

ग्राम यावत् सन्निवेश के बाहर आतापना भूमि में दोनों भुजाएं ऊपर उठाकर सूर्य के सम्मुख खड़े होकर एकपादिका—एक पैर को ऊपर उठाकर आतापना ली जाती है। (समपादिका, उत्तानशायन, पर्यकासन आदि आसनों का भी यथाशक्ति, यथारुचि प्रयोग किया जाता है।)

६. साध्वी और आतापना

नो कप्पइ निगंथीए बहिया गामस्स.....आयावणाए आयावेत्तए ॥

कप्पइ से उवस्सयस्स अंतोवगडाए संघाडिपडि-बद्धाए समतलपाइयाए पलंबियबाहियाए ठिच्चा आया-वणाए आयावेत्तए ॥ (क ५/१९, २०)

एयासि णवण्हं पी, अणुणाया संजईण अंतिल्ला।

सेसा नाणुन्नाया, अडु तु आतावणा तासिं ॥

(बृभा ५९५०)

साध्वी गांव के बाहर आतापना नहीं ले सकती। वह उपाश्रय के भीतरी भाग में संघाटी से प्रतिबद्ध, बाहुयुगल को घुटनों की ओर प्रलम्बित कर समपादिका आसन में स्थित होकर आतापना ले सकती है।

आतापना के नौ प्रकारों में साध्वी के लिए समपादिका नामक अंतिम प्रकार ही अनुज्ञात है, शेष आठ प्रकार अनुज्ञात नहीं हैं।

(कायक्लेश अनेक प्रकार का है—स्थानावतिक, उत्कटकासन, प्रतिमास्थायी, वीरासनिक, नैषद्विक, आतापना, अपावृत (सर्दी में वस्त्रविहीन) रहना, अकण्डूयन (शरीर

को न खुजलाना), अनिष्ठीवन (न थूकना) तथा शरीर का परिकर्म और विभूषा न करना।—भ २५/५७१)

* कायक्लेश की निष्पत्ति द्र श्रीआको १ कायक्लेश

कायोत्सर्ग—शारीरिक प्रवृत्ति और शारीरिक ममत्व का विसर्जन।

१. स्थानस्थित—कायोत्सर्गीस्थित	
२. स्थानप्रतिमा के प्रकार	
३. कायोत्सर्ग : कौन-सा ध्यान ?	
* कायोत्सर्ग और ध्यान	द्र ध्यान
* कायोत्सर्ग और प्रतिमा	द्र भिक्षुप्रतिमा
* कायगुप्ति : कूर्म दृष्टांत	द्र गुप्ति
४. देवता-आह्वान के लिए कायोत्सर्ग	
५. स्वाध्याय हेतु उदघाट कायोत्सर्ग	
६. अनुयोगहेतु कायोत्सर्ग	
* स्वाध्यायभूमि और कायोत्सर्ग	द्र स्वाध्याय
७. कायोत्सर्ग पूर्ण करने की विधि	
८. कायोत्सर्ग की फलश्रुति : भेदज्ञान	
* भेदज्ञान से उपसर्गों में अविचलन	द्र अनशन
* जिनकल्प और कायोत्सर्ग	द्र जिनकल्प
* कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग) प्रायश्चित्त	द्र प्रायश्चित्त

१. स्थानस्थित—कायोत्सर्गीस्थित

सम्यग्निरुद्धं स्थानं स्थास्यामीत्येवं प्रतिज्ञाय कायोत्सर्गव्यवस्थितो मेरुवनिष्प्रकम्पस्तिष्ठेत्।

(आचूला ८/२० की वृ)

में मानसिक, वाचिक और कायिक (श्वासोच्छ्वास के अतिरिक्त सब) प्रवृत्तियों का सम्यक् निरोध कर स्थान में स्थित होऊंगा (कायोत्सर्ग करूंगा)—इस संकल्प के साथ कायोत्सर्ग में अवस्थित साधक मेरु की भांति निष्प्रकम्प रहता है।

उद्भ्रङ्गणं

ठाणायतं.....

(बृभा ५९५३)

स्थानायत का अर्थ है ऊर्ध्वस्थान—खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना। (बैठकर और लेटकर भी कायोत्सर्ग किया जाता है।)

२. स्थानप्रतिमा के चार प्रकार

.....अह भिक्खु इच्छेज्जा चउहिं पडिमाहिं ठाणं

ठाइत्तए ॥ तत्थिमा पडिमा पडिमा—अचित्तं खलु उव-
सज्जिस्सामि, अवलंबिस्सामि, काएण विपरिक्कमिस्सामि,
सविचारं ठाणं ठाइस्सामि.... ॥

अहावरा दोच्चा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जि-
स्सामि, अवलंबिस्सामि, काएण विपरिक्क-मिस्सामि, णो
सविचारं ठाणं ठाइस्सामि ॥

अहावरा तच्चा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जि-
स्सामि, अवलंबिस्सामि, णो काएण विपरिक्कमिस्सामि,
णो सविचारं ठाणं ठाइस्सामि.... ॥

अहावरा चउत्था पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जि-
स्सामि, णो अवलंबिस्सामि, णो काएण विपरिक्कमि-
स्सामि, णो सविचारं ठाणं ठाइस्सामि, वोसट्टुकाए,
वोसट्टुकेसमंसु-लोम-णहे सण्णिरुद्धंवा ठाणं ठाइस्सामि ।
(आचूला ८/१६-२०)

भिक्षु चार प्रतिमाओं से स्थानस्थित होता है—

पहली प्रतिमा—अचित्त भूमि में स्थित होउंगा (कायोत्सर्ग
करूंगा), अचित्त भित्ति आदि का सहारा लूंगा, शरीर का
परिस्पन्दन(हाथ-पैर का संकुचन-प्रसारण) करूंगा, सविचार
(हलनचलनयुक्त) कायोत्सर्ग करूंगा ।

दूसरी प्रतिमा—अचित्त भूमि में रहूंगा, सहारा लूंगा,
हाथ-पैर का संकुचन-प्रसारण करूंगा, चंक्रमण नहीं करूंगा ।

तीसरी प्रतिमा—अचित्त भूमि में रहूंगा, सहारा लूंगा,
संकुचन-प्रसारण नहीं करूंगा, चंक्रमण नहीं करूंगा ।

चौथी प्रतिमा—अचित्त भूमि में कायोत्सर्ग करूंगा, न
दीवार का सहारा लूंगा, न संकुचन-प्रसारण करूंगा, न हलन-
चलन करूंगा—इस प्रकार देह का विसर्जन कर, केश-श्मश्रू-
रोम-नख के परिकर्म से मुक्त होकर श्वासोच्छ्वास के अतिरिक्त
प्रवृत्तियों का निरोध कर कायोत्सर्ग करूंगा ।

(खड़े रहकर किए जाने वाले स्थानों को ऊर्ध्व-स्थान-
योग कहा जाता है। उसके सात प्रकार हैं—१. साधारण—
खम्भे आदि के सहारे निश्चल होकर खड़े रहना ।

२. सविचार—जहां स्थित हो, वहां से दूसरे स्थान में जाकर
एक प्रहर, एक दिन आदि निश्चित काल तक खड़े रहना ।

३. संनिरुद्ध—जहां स्थित हो, वहीं निश्चल होकर खड़े
रहना ।

४. व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग करना ।

५. समपाद—पैरों को समश्रेणि में स्थापित कर खड़े रहना ।

६. एकपाद—एक पैर पर खड़े रहना ।

७. गृद्धोड्डीन—उड़ते हुए गीध के पंखों की भांति बाहों को
फैलाकर खड़े रहना।—५ आ २२५)

३. कायोत्सर्ग कौन-सा ध्यान ?

योगनिरोधात्मकं ध्यानं त्रिधा, तद्यथा, काययोग-
निरोधात्मकं, वाग्योगनिरोधात्मकं, मनोयोगनिरोधात्मकं
च, तत्र कायोत्सर्गः किं ध्यानं ? उच्यते त्रिविधमपि,
मुख्यतस्तु कायिकम् । (व्यभा १२१ की वृ)

योगनिरोधात्मक ध्यान के तीन प्रकार हैं—मनोयोग-
निरोध, वचनयोगनिरोध और काययोगनिरोध । कायोत्सर्ग में
तीनों ध्यान होते हैं, मुख्यरूप से कायिक ध्यान होता है ।

कायचेट्टं निरंभित्ता, मणं वायं च सव्वसो ।

वट्टति काइए ज्ञाणे, सुहुमुस्सासवं मुणी ॥

न विरुद्धंति उस्सग्गे, ज्ञाणे वाइय-माणसा ।

तीरिए पुण उस्सग्गे, तिण्णमण्णतरं सिया ॥

(व्यभा १२२, १२३)

कायिकध्यान में कायिकप्रवृत्ति तथा मनोयोग और
वचनयोग का सर्वात्मना निरोध कर कायोत्सर्ग किया जाता
है । इसमें सूक्ष्म उच्छ्वास आदि का निरोध नहीं होता ।

कायोत्सर्ग में और वाचिक-मानसिक ध्यान में विरोध
नहीं है । मनोयोग और वचनयोग का विषयांतर रूप से विरोध
होता है, कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर मानसिक, वाचिक, कायिक—
तीनों में से कोई भी ध्यान किया जा सकता है । भंगश्रुत
(दृष्टिवाद आदि विकल्पप्रधान श्रुत) के गुणन में तीनों ध्यान
एक साथ होते हैं । अन्य प्रवृत्तियों में यह संभव नहीं है ।

४. देवता-आह्वान के लिए कायोत्सर्ग

साधु...पंथं च अजाणमणा भीमाड्विं पवज्जेज्जा ।

तत्थ वसभा...वणदेवताए उस्सग्गं करेति, सा आगंपिया
दिसिभागं पंथं वा कहेज्ज । (निभा ५६९५ की चू)

साधु यात्रापथ में सार्थ से च्युत हो गए, मार्ग जानते
नहीं थे, भयंकर अटवी में चले गए । वृषभ साधु ने वनदेवी
का आवाहन करने के लिए कायोत्सर्ग किया । उसका आसन
कम्पित हुआ, वह प्रकट हुई और उसने सही मार्ग का दिशा-
दर्शन किया ।

५. स्वाध्याय हेतु उद्घाट कायोत्सर्ग

जति दंतो षडितो सो पयत्ततो गवेषियव्वो, जइ दिट्ठो तो हत्थसतातो परं विगिंचियव्वो । अह ण दिट्ठो तो उग्घाडकाउस्सग्गं काउं सज्झायं करेति ।

(निभा ६१११ की चू)

उपाश्रय में कहीं किसी का दांत गिर जाए तो उसकी गवेषणा करे, मिल जाने पर सौ हाथ की दूरी पर उसका परिष्ठापन करे। यदि न मिले तो उद्घाट कायोत्सर्ग कर स्वाध्याय प्रारंभ करे।

६. अनुयोगहेतु कायोत्सर्ग

अनुयोगारंभनिमित्तं कायोत्सर्गम् ।

(व्यभा २३३१ की वृ)

अनुयोग का प्रारंभ करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

७. कायोत्सर्ग पूर्ण करने की विधि

.....णमोक्कारे, काउस्सग्गे य पंचमंगलाए ।.....

(निभा ६१३४)

‘णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्जायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं’—इस पंच मंगलात्मक नमस्कार मंत्र के पाठ से कायोत्सर्ग को पूर्ण करे।

८. कायोत्सर्ग की फलश्रुति : भेदज्ञान

जह नाम असी कोसे, अण्णो कोसे असी वि खलु अण्णो ।

इय मे अन्नो देहो, अन्नो जीवो त्ति मण्णंति ॥

(व्यभा ४३९९)

जैसे कोश (भ्यान) में निक्षिप्त तलवार भिन्न है, कोश भिन्न है, वैसे ही मेरा ‘शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है’—इस भेदज्ञान से भावित होना ही कायोत्सर्ग की फलश्रुति है।

* कायोत्सर्ग के प्रकार, प्रयोजन, परिणाम आदि

द्र श्रीआको १ कायोत्सर्ग

कारक सूत्र—आगम-सम्मत सिद्धांत की अपाय-दर्शन-

पूर्वक सिद्धि करने वाले सूत्र। द्र सूत्र

काल—चेतन और अचेतन के परिणमन में हेतुभूत काल्पनिक द्रव्य।

१. काल के एकार्थक

२. कालमास के प्रकार

० अहोरात्र संख्याज्ञान हेतु करणगाथा

३. नक्षत्रमास : नक्षत्रों का चन्द्र के साथ योग

* अर्धक्षेत्र आदि नक्षत्र

द्र शवपरिष्ठापन

४. अभिवर्धित वर्ष और चन्द्रवर्ष

५. अप्रशस्त नक्षत्र : संध्यागत आदि

६. प्रशस्त भाव : उच्च स्थानगत ग्रह

७. अनेकविध गणना

० शीर्षप्रहेलिका.....

* नीचें पूर्व में कालज्ञान-वर्णन

द्र आगम

* श्रुताभ्यास से कालज्ञान

द्र जिनकल्प

१. काल के एकार्थक

...कालो त्ति व समयो त्ति व, अद्धा कप्पो त्ति एगट्ठं ॥

(व्यभा २०५७)

काल, समय, अद्धा और कल्प—ये एकार्थक हैं।

२. कालमास के प्रकार

.....णक्खत्तादी

व

पंचविहो ॥

अहोरेत्ते सत्तवीसं, तिसत्तसत्तट्ठिभाग णक्खत्तो ।

चंदो अउणत्तीसं, बिसट्ठि भागा य बत्तीसं ॥

उडुमासो तीसदिणो, आइच्चो तीस होइ अद्धं च ।

अभिवट्ठितो य मासो, ॥

एक्कत्तीसं च दिणा, दिणभागसयं तहेक्कवीसं च ।

अभिवट्ठिओ उ मासो, चउवीससतेण छेदेणं ॥

(निभा ६२८३-६२८६)

कालमास के पांच प्रकार हैं—

१. नक्षत्रमास—जितने काल में चन्द्रमा नक्षत्र मण्डल का परिभोग करता है, वह नक्षत्रमास है। इसका परिमाण है $२७\frac{२२}{६७}$ अहोरात्र।

२. चन्द्रमास—इसका परिमाण है $२९\frac{२२}{३२}$ अहोरात्र।

३. ऋतुमास—इसका परिमाण है—पूरे तीस अहोरात्र।

४. आदित्यमास—इसमें साढ़े तीस अहोरात्र होते हैं। (सूर्य जितने समय में एक राशि का भोग करता है, उतने समय को एक आदित्यमास कहते हैं।)

५. अभिवर्धितमास—यह अधिक मास होता है। इसमें $३१\frac{१२९}{२२४}$ अहोरात्र होते हैं।

रिउ त्ति वा कम्ममासो वा एगट्ठं । (निभा ६२८७ की चू)

ऋतुमास और कर्ममास एकार्थक हैं।

० अहोरात्रसंख्याज्ञान हेतु करणगाथा
एतेषां चानयनाय इयं करणगाथा—

जुगमासेहिं उ भइए, जुगामि लद्धं हविज्ज नायव्वं।
मासाणां पंचण्ह वि, एयं राइंदियपमाणं॥

इह सूर्यस्य दक्षिणमुत्तरं वा अयनं त्र्यशीत्यधिक-
दिनशतात्मकम्। द्वे अयने वर्षमिति कृत्वा वर्षे षट्षष्ट्य-
धिकानि त्रीणि शतानि भवन्ति। पञ्च संवत्सरा युगमिति
कृत्वा तानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशानि
दिवसानाम्। एतेषां नक्षत्रमास-दिवसानयनाय सप्तषष्टियुगे
नक्षत्रमासा इति सप्तषष्ट्या भागो द्वियते, लब्धाः सप्त-
विंशतिरहोरात्रा एकविंशति-रहोरात्रस्य सप्तषष्टिभागाः १।
तथा चन्द्रमासदिवसानयनाय द्वाषष्टियुगे चन्द्रमासा इति
द्वाषष्ट्या तस्यैव युगदिनराशेर्भागो द्वियते, लब्धान्येकोन-
त्रिंशदहोरात्राणि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागाः २। एवंयुग
दिवसानमेवैकषष्टियुगे कर्ममासा इत्येकषष्ट्या भागे हते
लब्धानि कर्ममासस्य त्रिंशद्दिनानि ३। तथा युगे षष्टिः
सूर्यमासा इति षष्ट्या युगदिनानां भागे हते लब्धाः सूर्यमास-
दिवसान्त्रिंशदहोरात्रस्याद्धं च ४। तथा युगदिवसा एव
अभिवर्द्धितमासदिवसानयनाय त्रयोदशगुणाः क्रियन्ते
जातानि त्रयोविंशतिसहस्राणि सप्त शतानि नवत्यधिकानि,
एषां चतुश्चत्वारिंशैः सप्तभिः शतैर्भागो द्वियते लब्धा
एकत्रिंशद्विवासाः, शेषाण्यवतिष्ठन्ते षड्विंशत्यधिकानि
सप्तशतानि चतुश्चत्वारिंशसप्तभागानाम्, तत उभयेषा-
मप्यङ्कानां षड्भिरपवर्त्तना क्रियते जातमेकविंशं शतं
चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामिति ५। (बृभा ११३० की वृ)

नक्षत्रमास के दिनों की संख्या जानने के लिए यह
करणगाथा है—'जुगमासेहिं.....।' युग के दिनों में युगमासों
का भाग देने पर जो भागफल लब्ध हो, उसे पंचविध मासों
के अहोरात्रों का प्रमाण जानना चाहिये।

युग के दिन सूर्य दक्षिणायन में १८३ दिन और उत्तरायण
में १८३ दिन गति करता है। दो अयन का एक वर्ष होता है।
अतः एक वर्ष में ३६६ दिन होते हैं। पांच वर्षों का एक युग
होता है। ३६६ को ५ से गुणन करने पर एक युग में ३६६×५
=१८३० दिन होते हैं।

१. नक्षत्रमास—एक युग में ६७ नक्षत्रमास होते हैं। युग के
१८३० दिनों में नक्षत्रमासों का भाग देने पर जो भागफल
निकले, वह एक नक्षत्रमास के दिनों की संख्या है—
 $१८३० \div ६७ = २७ \frac{२१}{६७}$ अहोरात्र।

२. चन्द्रमास—एक युग में ६२ चन्द्रमास होते हैं। युग-दिनों में
६२ का भाग देने पर जो लब्ध हो, वह चन्द्रमास के दिनों की
संख्या है— $१८३० \div ६२ = २९ \frac{३२}{६२}$ दिन।

३. ऋतुमास—एक युग में ६१ कर्म (ऋतु) मास होते हैं। एक
मास के दिनों की संख्या— $१८३० \div ६१ = ३०$ दिन।

४. सूर्यमास—एक युग में ६० सूर्यमास होते हैं। एक मास के
दिनों की संख्या— $१८३० \div ६० = ३० \frac{३०}{६०}$ दिन।

५. अभिवर्द्धित मास—इसके दिनों की संख्या निकालने के
लिए युग-दिवसों को १३ से गुणित किया जाता है—
 $१८३० \times १३ = २३७९०$ । इसमें ७४४ का भाग देने पर भागफल
३१ दिन लब्ध होते हैं। ७२६ शेष रहते हैं। $\frac{७२६}{७४४}$ इन
द्विविध अंकों को छह से अपवर्त्तना करने पर $\frac{१२६}{१२४}$ । इस
प्रकार अभिवर्द्धित मास के ३१ $\frac{१२६}{१२४}$ दिन होते हैं।

(सूर्य की गति के आधार पर अद्धाकाल (समये
अहोरात्र आदि) होता है।—श्रीआको १ काल

० सूर्य-चन्द्र संख्या—मनुष्यक्षेत्र में एक सौ बत्तीस चन्द्र और
एक सौ बत्तीस सूर्य हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—

मनुष्य क्षेत्र	चन्द्र	सूर्य
जम्बूद्वीप	२	२
लवणसमुद्र	४	४
धातकीखंड	१२	१२
कालोदधि समुद्र	४२	४२
पुष्कराद्ध	७२	७२
	१३२	१३२

मनुष्य-क्षेत्र दो पंक्तियों में विभक्त है—दक्षिण-पंक्ति
और उत्तर-पंक्ति। प्रत्येक पंक्ति में छःसठ-छःसठ चन्द्र-सूर्य
हैं।—सम ६६/१, २ वृ।

० अहोरात्र और तिथि में अंतर—साधारणतया एक मास में
३० अहोरात्र होते हैं और एक पक्ष में १५ अहोरात्र। किन्तु
आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास के
कृष्ण पक्ष में १४ अहोरात्र होते हैं। इसका कारण यह है कि

एक अहारात्र के कालमान से $\frac{1}{62}$ भाग कम तिथि का कालमान है, अर्थात् $\frac{1}{62}$ अहारात्र में एक तिथि पूरी होती है। इस प्रकार ६१ अहारात्र में ६२ तिथियां होती हैं। प्रत्येक अहारात्र में अगली तिथि का $\frac{1}{62}$ भाग प्रवेश करता है। अतः ६१ वें अहारात्र में ६२ वीं तिथि समा जाती है।

अहारात्र की उत्पत्ति सूर्य से और तिथि की उत्पत्ति चन्द्रमा से होती है।—उ २६/१५ का टि।

० चन्द्रमण्डल और कृष्ण-शुक्ल पक्ष—ध्रुवराहु (सदा चन्द्र के पास ही संचरण करने वाला राहु) कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से प्रतिदिन चन्द्रलेश्या का पन्द्रहवां भाग आवृत करता है, जैसे—प्रतिपदा के दिन पहला पन्द्रहवां भाग, द्वितीया के दिन दूसरा पन्द्रहवां भाग यावत् अमावस्या के दिन पन्द्रहवां भाग—सम्पूर्ण चन्द्रमंडल। वही ध्रुवराहु शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक-एक पन्द्रहवें भाग को उद्घाटित करता है। चन्द्र-लेश्या के सोलह भाग होते हैं। एक भाग सदा उद्घाटित रहता है और शेष पन्द्रह भाग कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से अमावस्या तक प्रतिदिन एक-एक भाग के अनुपात से आवृत होते जाते हैं। इसी प्रकार शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से पूर्णिमा तक, एक-एक भाग के अनुपात से उद्घाटित होते रहते हैं।

पूर्ण चन्द्रमंडल के ९३१ भाग होते हैं। इनमें एक भाग अवस्थित रहता है, शेष बढ़ते-घटते हैं। शुक्लपक्ष का चन्द्र प्रतिदिन बासठ भाग बढ़ता है और पूर्णिमा के दिन चन्द्रमंडल पूर्णरूप से प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार कृष्णपक्ष का चन्द्र प्रतिदिन बासठ भाग घटता है और अमावस्या के दिन वह मंडल पूर्णरूप से आच्छादित हो जाता है।

—सम १५/३; ६२/३)

३. नक्षत्रमास : नक्षत्रों का चन्द्र के साथ योग

चन्द्रस्य भरण्याद्रा-ऽश्लेषा-स्वाति-ज्येष्ठा-शत-भिषग्नामानि षड् नक्षत्राणि पञ्चदशमुहूर्त्तभोगीनि, तिस्र उत्तराः पुनर्वसू रोहिणी विशाखा चेति षट् पञ्च-चत्वारिंशन्मुहूर्त्तभोगीनि, शेषाणि तु पञ्चदश नक्षत्राणि त्रिंशन्मुहूर्त्तानीति जातानि सर्वसंख्यया मुहूर्त्तानामष्टशतानि दशोत्तराणि, एतेषां च त्रिंशन्मुहूर्त्तैरहोरात्रमिति कृत्वा त्रिंशता भागो हियते लब्धानि सप्तविंशतिरहोरात्राणि, अभिजिद-

भोगश्चैकविंशतिः सप्तषष्टा भागा इति तैरभ्यधिकानि सप्तविंशतिरहोरात्राणि सकलनक्षत्रमण्डलोपभोगकालो नक्षत्रमास उच्यते। (बृभा ११२८ की वृ)

छह नक्षत्र चन्द्रमा के साथ पन्द्रह मुहूर्त्त तक योग करते हैं—भरणि, आर्द्रा, अश्लेषा, स्वाति, ज्येष्ठा, शतभिषक्।

छह नक्षत्र पैंतालीस मुहूर्त्त तक चन्द्रमा के साथ योग करते हैं—उत्तराषाढा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराभाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखा। शेष पन्द्रह नक्षत्र तीस मुहूर्त्त तक चन्द्रमा के साथ योग करते हैं।

सत्ताईस नक्षत्र कुल मिलाकर आठ सौ दस मुहूर्त्त तक चन्द्रमा के साथ योग करते हैं। तीस मुहूर्त्त का एक अहोरात्र होता है। अतः आठ सौ दस में तीस का भाग देने पर (८१०÷३०=२७) सत्ताईस अहोरात्र होते हैं।

अभिजित् नक्षत्रभोग के $\frac{21}{67}$ भाग मिलाने पर सर्व-नक्षत्रमण्डल का उपभोग काल $२७\frac{21}{67}$ होता है, यही नक्षत्र-मास है।

* नक्षत्र और उनके अधिष्ठाता देव द्र श्रीआको १ नक्षत्र (जम्बूद्वीप में अभिजित् नक्षत्र को छोड़कर शेष सत्ताईस नक्षत्रों से व्यवहार चलता है। उत्तराषाढा नक्षत्र के चौथे पाये में अभिजित् नक्षत्र का समावेश होने से इसे अलग नहीं गिना गया है।—सम २७/२ वृ

अभिजित् ९ $\frac{27}{67}$ मुहूर्त्त तक चन्द्र के साथ योग करता है। प्रत्येक नक्षत्र एक अहारात्र में अमुक-अमुक क्षेत्र का अवगाहन करता है। अभिजित् नक्षत्र द्वारा एक अहारात्र में अवगाहक्षेत्र के यदि सड़सठ भाग किए जाएं तो नक्षत्र इक्कीस भाग तक चन्द्र के साथ योग करता है अर्थात् क्षेत्र की दृष्टि से अभिजित् नक्षत्र का सीमा विष्कम्भ $\frac{21}{67}$ है।—सम ६७/४ वृ)

४. अभिवर्धितवर्ष और चन्द्रवर्ष

जत्थ अधिकमासो पडति वरिसे तं अभिवहुयवरिसं भरणति। जत्थ ण पडति तं चंदवरिसं। सो य अधिगमासो जुगस्स अंते मज्झे वा भवति। जति अंते तो णियमा दो आषाढा भवति। अह मज्जे तो दो पोसा। (निभा ३१५२ की चू)

जिसमें अधिक मास होता है, वह अभिवर्धित वर्ष और जिसमें अधिक मास नहीं होता, वह चन्द्रवर्ष कहलाता है।

अधिक मास युग के अंत में या मध्य में होता है। यदि अंत में होता है तो नियमतः दो आषाढ और मध्य में होता है तो दो पौष होते हैं।

(संवत्सर पांच प्रकार का होता है—

- | | |
|-------------------|-------------------|
| १. नक्षत्रसंवत्सर | ४. लक्षणसंवत्सर |
| २. युगसंवत्सर | ५. शनिश्चरसंवत्सर |
| ३. प्रमाणसंवत्सर | |

युगसंवत्सर पांच प्रकार का होता है—१. चन्द्र २. चन्द्र ३. अभिवर्धित ४. चन्द्र ५. अभिवर्धित।

प्रमाणसंवत्सर पांच प्रकार का होता है—१. नक्षत्र २. चन्द्र ३. ऋतु ४. आदित्य ५. अभिवर्धित।

लक्षणसंवत्सर के प्रकार और स्वरूप—

१. नक्षत्र संवत्सर—जिस संवत्सर में नक्षत्र समतया—अपनी तिथि का अतिवर्तन न करते हुए तिथियों के साथ योग करते हैं, ऋतुएं समतया—अपनी काल-मर्यादा के अनुसार परिणत होती हैं, न अति गर्मी होती है और न अति सर्दी तथा जिसमें पानी अधिक गिरता है, उसे नक्षत्रसंवत्सर कहते हैं।

२. चन्द्र संवत्सर—जिस संवत्सर में चन्द्रमा सभी पूर्णिमाओं का स्पर्श करता है, अन्य नक्षत्र विषमचारी—अपनी तिथियों का अतिवर्तन करने वाले होते हैं, जो कटुक—अतिगर्मी और अतिसर्दी के कारण भयंकर होता है तथा जिसमें पानी अधिक गिरता है, उसे चन्द्रसंवत्सर कहते हैं।

३. कर्म (ऋतु) संवत्सर—जिस संवत्सर में वृक्ष असमय में अंकुरित हो जाते हैं, असमय में फूल तथा फल आ जाते हैं, वर्षा उचित मात्रा में नहीं होती, उसे कर्मसंवत्सर कहते हैं।

४. आदित्य संवत्सर—इस संवत्सर में वर्षा अल्प होने पर भी सूर्य पृथ्वी, जल तथा फूलों और फलों को मधुर और स्निग्ध रस प्रदान करता है तथा फसल अच्छी होती है।

५. अभिवर्धित संवत्सर—इस संवत्सर में सूर्य के ताप से क्षण, लव, दिवस और ऋतु तप्त जैसे हो उठते हैं तथा आंधियों से स्थल भर जाता है।

संवत्सरों का कालमान—

१. नक्षत्रसंवत्सर में $(२७ \frac{१}{७} \times १२) ३२७ \frac{५१}{६७}$ दिन होते हैं।
२. युगसंवत्सर—पांच संवत्सरों का एक युगसंवत्सर होता है।

इसमें तीन चन्द्रसंवत्सर और दो अभिवर्धित संवत्सर होते हैं। चन्द्रसंवत्सर में $(२७ \frac{३२}{६२} \times १२) ३५४ \frac{१२}{६२}$ दिन होते हैं और अभिवर्धित संवत्सर में $(३१ \frac{१२१}{२४} \times १२) ३८३ \frac{४४}{६२}$ दिन होते हैं।

३. प्रमाण (दिवस आदि के परिमाण से उपलक्षित) संवत्सर के ऋतुसंवत्सर में ३६० दिन होते हैं। कर्मसंवत्सर और सावनसंवत्सर इसके पर्यायवाची हैं। आदित्यसंवत्सर में ३६६ दिन-रात होते हैं, क्योंकि इसके प्रत्येक मास में साढ़े तीस अहोरात्र होते हैं।

४. लक्षणसंवत्सर—लक्षणों से जाना जाने वाला संवत्सर।

५. शनिश्चरसंवत्सर—जितने समय में शनिश्चर एक नक्षत्र अथवा बारह राशियों का भोग करता है, उतने काल परिमाण को शनिश्चरसंवत्सर कहा जाता है।—स्था ५/२१०-२१३ वृ नक्षत्रों के आधार पर शनिश्चरसंवत्सर के अठाईस प्रकार हैं—अभिजित्, श्रवण यावत् उत्तराषाढा। यह महाग्रह शनिश्चरसंवत्सर तीस संवत्सरों में सम्पूर्ण नक्षत्रमंडल का परिभोग करता है।—सूर्य १०/१३०

युगसंवत्सर—प्रत्येक चन्द्र संवत्सर में बारह चन्द्रमास और प्रत्येक अभिवर्धित संवत्सर में तेरह चन्द्रमास होते हैं। इस प्रकार तीन चन्द्रसंवत्सरों में छत्तीस पूर्णिमाएं और छत्तीस अमावस्याएं तथा दो अभिवर्धित संवत्सरों में छब्बीस पूर्णिमाएं और छब्बीस अमावस्याएं होती हैं। कुल बासठ पूर्णिमाएं और बासठ अमावस्याएं होती हैं।—सम ६२/१)

५. अप्रशस्त नक्षत्र : संध्यागत आदि

संज्ञागतं रविगतं, विदुरं सगहं विलंबिं च।
राहुहतं गहभिण्णं, च वज्जए सत्त णक्खत्ते॥
संज्ञागतम्मि कलहो, होति कुभत्तं विलांबिणक्खत्ते।
विदुरे परविजयो, आइच्चवगते अणेव्वाणी॥
जं सगहम्मि कीरइ, णक्खत्ते तत्थ चुग्गहो होति।
राहुहतम्मि य मरणं, गहभिण्णे सोणिउग्गालो॥
जम्मि उदिते सूरु उदेति तं संज्ञागतं। जत्थ सूरु ठितो तं रविगतं। जं सूरस्स पिट्ठतो अणंतरं तं विलंबी।

अण्णे भणंति—जं सूरस्स पिट्ठतो अगगतो वा अणंतरं तं संज्ञागतं। जं पुण पिट्ठतो सूरगतातो ततितं विलंबी। जं जत्थ गमणकम्मसमरंभादिस्सु अण-भिहियं तं विदुरं

विगतद्वारमित्यर्थः । जं क्रूरग्रहेणाक्रान्तं तं सगहं, जत्थ रविससीण गहणं आसी तं राहुहतं, मञ्जेण जस्स गहो गतो तं गहभिण्णं, एते सत्त वि णक्खत्ता चंदजोगजुत्ता आलोयणादिसु सव्वपयत्तेण वज्जणिज्जा ।

(निभा ६३८४-६३८६ चू)

सात नक्षत्र अप्रशस्त हैं—

- ० संध्यागत—जिसके उदित होने पर सूर्य उदित हो। अन्य मतानुसार सूर्य के पीछे के या आगे के नक्षत्र के बाद का नक्षत्र।
- ० रविगत—जहां सूर्य स्थित हो।
- ० विडुर—जिसके होने पर गमन, कर्मसमारंभ आदि अभिहित नहीं हैं। अथवा जो विगतद्वार है—पूर्व द्वार वाले नक्षत्रों में पूर्व दिशा से जाने के स्थान पर पश्चिम दिशा से जाने पर प्राप्त नक्षत्र।
- ० सग्रह—क्रूर ग्रह से आक्रांत।
- ० विलंबि—सूर्य के द्वारा भोगकर छोड़ा हुआ। अन्य मतानुसार सूर्य के जाने पर उसके पीछे का तीसरा नक्षत्र।
- ० राहुहत—जिसमें सूर्यग्रहण-चन्द्रग्रहण हो।
- ० ग्रहभिन्न—जिसके बीच से ग्रह का गमन हो।

चन्द्रयोग से युक्त ये सातों नक्षत्र आलोचना आदि शुभकार्यों में सर्वथा वर्जनीय हैं। संध्यागत में कार्य करने पर कलह, विलंबी में पर्याप्त या अच्छे भोजन की अप्राप्ति, विडुर में शत्रु की विजय, रविगत में अशांति-दुःख, सग्रह में

(एक तिथि में दो करण होते हैं। किस तिथि में कौन-सा करण होता है ? देखें यंत्र —

व्युद्ग्रह, राहुहत में मृत्यु और ग्रहभिन्न में शोणितउद्गार होता है।

६. प्रशस्त भाव : उच्च स्थानगत ग्रह

.....उद्धट्टाणा गहा य भावम्मि ।.....

...भावतो उच्चट्टाणगतेसु गहेसु—रविस्स मेसो उच्चो, सोमस्स वसभो, अंगारस्स मगरो, बृहस्स कण्णा, विहस्स-तिस्स कक्कडओ, मीणो सुक्कस्स, तुलो सणिच्छरस्स । सव्वेसिं गहाण अप्पणो उच्चट्टाणातो जं सत्तमं तं णीयं । अहवा—भावतो पसत्थं बृहो सुक्को वहस्सती ससी य । एतेसिं रासि-होरा-द्रेक्कणिअंसतेसु वा उदिएसु सोम्मगह-बलाइएसु य । (निभा ६३८८ चू)

ग्रह	उच्चस्थान	ग्रह	उच्चस्थान
१. सूर्य	मेष	५. बृहस्पति	कर्कटक
२. सोम	वृषभ	६. शुक्र	मीन
३. मंगल	मकर	७. शनि	तुला
४. बुध	कन्या		

सब ग्रहों में अपने उच्चग्रहस्थान से जो सातवां स्थान है, वह नीच स्थान है। अथवा प्रशस्त बुध, शुक्र, बृहस्पति, सोम आदि सौम्य ग्रह, इन ग्रहों से संबंधित राशि-लग्न और इन ग्रहों से अवलोकित बव आदि करण प्रशस्त हैं।

* बव आदि ग्यारह करण द्र श्रीआको १ कालविज्ञान

कृष्ण पक्ष			शुक्ल पक्ष		
तिथि	दिवसकरण	रात्रिकरण	तिथि	दिवसकरण	रात्रिकरण
१.	बालव	कोलव	१	किंस्तुध्न	बव
२.	स्त्रीविलोकन	गर	२	बालव	कौलव
३.	वणिज	विष्टि	३	स्त्रीविलोकन	गर
४.	बव	बालव	४	वणिज	विष्टि
५.	कौलव	स्त्रीविलोकन	५	बव	बालव
६.	गर	वणिज	६	कौलव	स्त्रीविलोकन
७.	विष्टि	बव	७	गर	वणिज
८.	बालव	कौलव	८	विष्टि	बव
९.	स्त्रीविलोकन	गर	९	बालव	कौलव

कृष्ण पक्ष			शुक्ल पक्ष		
तिथि	दिवसकरण	रात्रिकरण	तिथि	दिवसकरण	रात्रिकरण
१०.	वणिज	विष्टि	१०	स्त्रीविलोकन	गर
११.	बव	बालव	११	वणिज	विष्टि
१२.	कौलव	स्त्रीविलोकन	१२	बव	बालव
१३.	गर	वणिज	१३	कौलव	स्त्रीविलोकन
१४.	विष्टि	शकुनि	१४	गर	वणिज
१५.	चतुष्पद	नाग	१५	विष्टि	बव

—जंबू ७/१२५)

७. अनेकविध गणना

....गणणे एगादि जा कोडी ॥

....गणियं, तस्स ठाणा अणेगविहा, जहा एकं दहं सतं सहस्सं दससहस्साइं सयसहस्सं दहशतसहस्साइं कोडी। उवरिं पि जहासंभवं भाणियव्वं ॥ (निभा ६३०० चू)

गणना—गणित के अनेकविध स्थान हैं, जैसे—इकाई, दस, सौ, हजार, दसहजार, लाख, दस लाख, करोड़—इससे आगे भी यथासंभव वक्तव्य हैं।

० शीर्षप्रहेलिका.....

.....सीसपहेलिया ततो परं गणणा ण पयडुति..... ।

उक्कोसं गणणग्गं, जा सीसपहेलिया ठिता गणिए ।

जुत्तपरित्ताणंतं, उक्कोसं तं पि नायव्वं ॥

(निभा ५४ की चू)

शीर्षप्रहेलिका तक गणना प्रवृत्त होती है, उससे आगे नहीं। शीर्षप्रहेलिका उत्कृष्ट गणनापरिमाण है, अतः गणित का विषय इतना ही है।

असंख्येय के तीन भेद हैं—युक्त असंख्येय, परीत असंख्येय और असंख्येय असंख्येय।

अनंत के तीन भेद हैं—युक्त अनंत, परीत अनंत और अनंत अनंत। —द्र श्रीआको १ संख्या

(काल औपचारिक द्रव्य है। वह जीव और अजीव दोनों का पर्याय है। समय, आवलिका, आन-प्राण, स्तोक, क्षण, लव, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, सौ वर्ष, हजार वर्ष, लाख वर्ष, करोड़ वर्ष, पूर्वांग, पूर्व.....शीर्ष-प्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका, पल्योपम, सागरोपम,

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी—ये सभी जीव और अजीव दोनों हैं।—स्था २/३८७-३८९

यजुर्वेद १७/२ में १ पर १२ शून्य रखकर दस पूर्व तक की संख्या का उल्लेख है। वहां शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, अन्त, परार्द्ध तक का उल्लेख है।

गणितशास्त्र में महाशंख तक की संख्या का व्यवहार होता है। वे २० अंक इस प्रकार हैं—इकाई, दस, शत, सहस्र दससहस्र, लक्ष, दसलक्ष, करोड़, दस करोड़, अरब, दस अरब, खरब, दस खरब, नील, दस नील, पद्म, दस पद्म, शंख, दस शंख, महाशंख—स्था २/३८९ का टि)

* शीर्षप्रहेलिका का प्रयोजन..... द्र श्रीआको १ काल

कालप्रतिलेखना—आगमेकविधि के अनुसार स्वाध्याय आदि के काल का ग्रहण-निर्धारण और प्रज्ञापन करना। कालज्ञान के प्राचीन साधनों में 'दिक्-प्रतिलेखन' और 'नक्षत्रावलोकन' प्रमुख थे। मुनि स्वाध्याय से पहले काल की प्रतिलेखना करते थे। नक्षत्रविद्या में कुशल मुनि इस कार्य के लिए नियुक्त होते थे। द्र स्वाध्याय

कुत्रिकापण—वह विशिष्ट दुकान, जहां तीन लोक में प्राप्य सभी वस्तुएं मिलती हैं।

१. कुत्रिकापण का तात्पर्यार्थ

२. कुत्रिकापण की उत्पत्ति

३. त्रिविध मूल्यनिर्धारण : शालिभद्र की उपधि

४. उज्जयिनी में कुत्रिकापण : व्यन्तर-विक्रय

१. कुत्रिकापण का तात्पर्यार्थ

कु त्ति पुढ्वीय सण्णा, जं विज्जति तत्थ चेदणमचेयं।
गहणुवभोगे य खमं, न तं तहिं आवणे पत्थि ॥

(बृभा ४२१४)

कु शब्द पृथ्वी का वाचक है। त्रिक का अर्थ है तीन लोक—स्वर्ग, मर्त्य और पाताल। आपण का अर्थ है दुकान।

तीनों पृथ्वियों पर सब लोगों के ग्रहण और उपभोग के योग्य जितने भी चेतन और अचेतन (जीव, धातु और मूल) पदार्थ हैं, वे कुत्रिकापण में नहीं हैं—ऐसा नहीं है। (उस दुकान में सब पदार्थों का विक्रय होता है।)

(कुत्तिय के संस्कृत रूप दो मिलते हैं—कुत्रिक और कुत्रिज। जिस दुकान में स्वर्गलोक, मनुष्यलोक और पाताललोक—इन तीनों में होने वाली सभी वस्तुएं मिलती हैं, उसे 'कुत्रिकापण' कहा जाता है। जिसमें जीव, धातु और मूल (जड़)—ये तीनों प्रकार के पदार्थ मिलते हैं, उसे 'कुत्रिकापण' कहा जाता है।—भ २/९५ का भाष्य)

२. कुत्रिकापण की उत्पत्ति

पुव्वभविगा उ देवा, मणुयाण करिंति पाडिहेराइं।
लोगच्छेरयभूया, जह चक्कीणं महाणिहयो ॥

(बृभा ४२१८)

जिन पुण्यशाली व्यक्तियों के कोई देव पूर्वभव के मित्र होते हैं, वे प्रातिहार्य—यथाभिलषित पदार्थ उपस्थित कर देते हैं। (इस प्रकार कुत्रिकापणों की उत्पत्ति होती है।)

जैसे लोक में आश्चर्यभूत नैसर्ग आदि नौ महानिधि चक्रवर्ती के चरणों में प्रातिहार्य उपस्थित करते हैं।

(कुत्रिकापण में किसी वणिक् द्वारा आराधित व्यन्तर देव वे सारी वस्तुएं कहीं से भी लाकर दे देता है, जो ग्राहकों द्वारा याचित होती हैं। उनका मूल्य वणिक् ग्रहण करता है। एक मत यह भी है कि कुत्रिकापण के अधिष्ठाता व्यन्तर देव ही होते हैं और वे ही वस्तु का मूल्य ग्रहण करते हैं। ये विशिष्ट आपण उज्जयिनी, राजगृह आदि प्रतिनियत नगरों में ही होते थे।—द्र श्रीआको १ कुत्रिकापण)

३. त्रिविध मूल्यनिर्धारण : शालिभद्र की उपधि

पणतो पागतियाणं, साहस्सो होति इब्भमादीणं।
उक्कोस सतसहस्सं, उत्तमपुरिसाण उवधी उ ॥

विक्किंतगं जथा पप्प होइ रयणस्स तव्विहं मुल्लं।
कायगमासज्ज तथा, कुत्तियमुल्लस्स णिक्कं ति ॥
एवं ता तिविह जणे, मोल्लं इच्छाएं दिज्ज बहुयं पि।
सिद्धमिदं लोगम्मि वि, समणस्स वि पंचगं भंडं ॥
...दिव्खा य सालिभहे, उवकरणं स्यसहस्सेहिं ॥

.....राजगृहं च नगरं कुत्रिकापणयुक्तमासीत् ।.....

राजगृहे श्रेणिके राज्यमनुशासति शालिभद्रस्य सुप्रसिद्ध-
चरितस्य दीक्षायां शतसहस्राभ्याम् उपकरणं रजोहरण-
प्रतिग्रहलक्षणमानीतम्।(बृभा ४२१५-४२१७, ४२१९ वृ)

यदि कोई सामान्य व्यक्ति प्रव्रजित होता, तो उसके लिए कुत्रिकापण में पांच रुपये के मूल्य में उपधि (रजोहरण-पात्र) प्राप्त होती थी।

इभ्य, श्रेष्ठी, सार्थवाह आदि मध्यम कोटि के पुरुषों की उपधि का मूल्य हजार रुपये तथा चक्रवर्ती, मांडलिक आदि उत्तम पुरुषों की उपधि का मूल्य लाख रुपये था। यह जघन्य मूल्य था, उत्कृष्ट मूल्य तीनों कोटि के पुरुषों के लिए अनियत था। सामान्यतः जघन्य मूल्य पांच, मध्यम मूल्य हजार और उत्कृष्ट मूल्य एक लाख रुपये था।

जैसे मरकत, पद्मराग आदि रत्नों का मूल्य मुग्ध या प्रबुद्ध विक्रेता के आधार पर कम या अधिक होता है, वैसे ही कुत्रिकापण में ग्राहक की क्षमता के अनुसार मूल्यनिर्धारण होता था। इस प्रकार तीनों प्रकार के पुरुष अपनी इच्छा से यथोक्त प्रमाण से अधिक मूल्य भी दे सकते थे। प्रतिनियत कुछ भी नहीं था। लोक में भी यह बात प्रसिद्ध थी कि श्रमण के भी पांच रुपये मूल्य के भंडोपकरण होते हैं। शालिभद्र की उपधि—राजगृह में राजा श्रेणिक के शासनकाल में पुण्यशाली शालिभद्र की दीक्षा के अवसर पर कुत्रिकापण से रजोहरण और पात्र लाए गए। उनमें से प्रत्येक का मूल्य एक-एक लाख रुपये था। राजगृह नगर कुत्रिकापण युक्त था।

४. उज्जयिनी में कुत्रिकापण : व्यन्तर-विक्रय

पज्जोए णरसीहे, णव उज्जेणीय कुत्तिया आसी।
भरुयच्छवणियऽसद्दह, भूयऽडुम सयसहस्सेणं ॥
कम्मम्मि अदिज्जंते, रुद्धे मारेइ सो य तं घेत्तुं।
भरुयच्छाऽऽगम, वावारदाण खिष्पं च सो कुणति ॥

भीएण खंभकरणं, एत्थुस्सर जा ण देमि वावारं ।
णिज्जित भूततलागं, आसेण ण पेहसी जाव ॥
एमेव तोसलीए, इसिवालो वाणमंतरो तत्थ ।
णिज्जित इसीतलागे ॥

(बृभा ४२२०-४२२३)

अवन्तिजनपद के अधिपति चण्डप्रद्योत नृप के शासनकाल में उज्जयिनी में नौ कुत्रिकापण थे ।

१. भूत-विक्रय—भृगुकच्छ के एक वणिक् को भूतों के अस्तित्व पर विश्वास नहीं था। एक बार वह वणिक् उज्जयिनी नगरी में आया। उसे ज्ञात हुआ कि कुत्रिकापण में भूत आदि प्राप्त होते हैं। वह वहां गया और कुत्रिकापण के स्वामी से 'भूत' देने की बात कही। उस आपणिक (दुकानदार) ने सोचा—यह वणिक् मुझे धोखा देना चाहता है, इसलिए मैं इससे 'भूत' का इतना मूल्य मांगूँ कि यह उसे खरीद ही न सके। उसने कहा—यदि तुम मुझे एक लाख मुद्राएं दोगे तो मैं तुम्हें भूत दूंगा। वणिक् ने इतना मूल्य देना स्वीकार कर लिया। तब आपणिक बोला—देखो, तुमको पांच दिन प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। फिर मैं तुम्हें भूत दे दूंगा।

आपणिक ने तेले की तपस्या कर अपने अधिष्ठाता देव से पूछा। देव ने कहा—तुम वणिक् को निर्धारित मूल्य में भूत दे दो। पर उसको कह देना कि यह भूत विचित्र है। इसे सतत कार्य में व्यापृत रखना होगा। यदि तुम इसको कोई कार्य नहीं दोगे, तो यह तुम्हें मार डालेगा। पांचवें दिन वणिक् आया और भूत की मांग की। आपणिक ने देवता द्वारा कथित बात बताकर उसे भूत दे दिया। भूत को साथ ले वणिक् भृगुकच्छ चला गया। वहां जाते ही भूत बोला—मुझे कार्य बताओ। वणिक् ने कार्य बताया। भूत ने उसे तत्काल संपन्न कर दूसरे कार्य की मांग की। वणिक् के सारे कार्य संपन्न हो गए। भूत ने फिर नए कार्य की मांग की, तब वणिक् ने बुद्धिमत्ता से कहा—तुम यहां एक ऊंचा स्तम्भ गाड़ो और उस पर तब तक चढ़ते-उतरते रहो, जब तक कि मैं तुम्हें दूसरे काम में नियोजित न करूं। यह सुनते ही भूत ने कहा—मैं हारा, तुम जीते। मैं अपनी पराजय के स्मृतिचिह्न के रूप में एक तडाग बनाना चाहता हूँ। तुम जाते हुए जब तक पीछे मुड़कर नहीं देखोगे, उतने क्षेत्र में एक तालाब निर्मित हो

जाएगा। उस वणिक् ने अश्व पर आरूढ़ होकर बारह योजन तक जाने के पश्चात् मुड़कर पीछे देखा। भूत ने तत्काल वहां भृगुकच्छ के उत्तरी भाग में 'भूततडाग' नाम का तालाब निर्मित कर दिया।

२. ऋषिपाल व्यंतर-विक्रय—तोसलीनगर का एक वणिक् उज्जयिनी में आया और एक कुत्रिकापण से ऋषिपाल नामक वानव्यंतर को खरीदा। आपणिक ने कहा—इस वानव्यंतर को निरंतर कार्य में व्यापृत रखना, अन्यथा यह तुमको मार डालेगा। वणिक् उसे तोसलीनगर ले गया और अपने सारे कार्य करवाकर अंत में उसी प्रकार खंभे पर चढ़ने-उतरने की बात कहकर उसे पराजित कर दिया। उसने भी 'ऋषितडाग' नामक तालाब बना दिया।

कृतयोगी—अध्ययन, तप, वैयावृत्य आदि में अभ्यस्त।

कृतयोगी सूत्रतोऽर्थतश्च छेदग्रंथधरः स्थविरः ।

(व्यभा २३६९ की वृ)

छेदग्रंथों के सूत्र और अर्थ को धारण करने वाला स्थविर कृतयोगी है।

कृतयोगी नाम यः पूर्वमुभयधरः आसीद् नेदानीं, सोऽर्थे समागच्छति गणं धारयितुं समर्थः ।

(व्यभा २३३५ की वृ)

जो पहले सूत्र और अर्थ—दोनों को धारण करता था किन्तु अब उभयधर नहीं है, वह कृतयोगी है। यदि वह अर्थधर है तो गणधारण कर सकता है।

* कृतयोगी और गीतार्थ में अंतर

द्र गीतार्थ

कृतयोगी तपःकर्मणि कृताभ्यासः ।

(बृभा ४९४६ की वृ)

कृतयोगो नाम कर्कशतपोभिरनेकधा भावितात्मा ।

(व्यभा ५३८ की वृ)

जिसने तपःकर्म का अभ्यास किया है, अनेक बार कठोर तपोयोग से अपने आपको भावित किया है, वह कृतयोगी है।

न किलममति दीघेण वि तवेण..... ।

(व्यभा ७८५)

जो दीर्घकालिक तपअनुष्ठान से भी क्लान्त नहीं होता, वह कृतयोगी है।

छट्टुडुमादिएहिं, कथकरणा.....।
(व्यभा १६२)

जो षष्ठभक्त, अष्टमभक्त आदि तप द्वारा अपने आपको भावित कर लेता है, वह कृतकरण है।

गीतार्थ आदि कृतकरण होते हैं। द्र प्रायश्चित्त

...कृतकरण जीय बहुसो, वेयावच्चा कया कुसला ॥
(व्यभा २३८८)

जो साध्वी अनेक बार वैयावृत्य कर चुकी, वह कृत-करण है। ऐसी कुशल साध्वी श्रमणसेवा में नियुक्त की जा सकती है। द्र वैयावृत्य

कृतिकर्म—वन्दनाकाल में की जाने वाली क्रियाविधि।

१. कृतिकर्म के प्रकार	
२. अभ्युत्थान से निष्पन्न गुण	
* सूत्र-अर्थ मण्डली में अभ्युत्थान विधि	द्र वाचना
३. परस्पर कृतिकर्म का क्रम	
४. रत्नाधिक वन्दनार्ह : व्यवहारनयसम्मत	
* ज्येष्ठकृतिकर्म अवस्थित कल्प	द्र कल्पस्थिति
५. केवली द्वारा छद्मस्थ की वन्दना : केवली की पहचान	
* ज्ञानहेतु स्थविर भी कृतिकर्म करे	द्र वाचना
६. स्थविरकृत वन्दना से प्रेरणा	
७. वन्दन कार्य और संघकार्य की इयत्ता	
८. श्रेणिस्थित की वन्दना के विकल्प	
* लिंगधारक भी श्रेणिबाह्य	द्र श्रमण
९. निरंतर प्रतिसेवी और कृतिकर्म : दृष्टांत	
१०. कृतिकर्म के अनर्ह	
११. वन्दना के अवश्यकरणीय काल	

१. कृतिकर्म के प्रकार

किइकम्मं पि य दुविहं, अब्भुद्वाणं तहेव वंदणगं ।...
(बृभा ४४१५)

कृतिकर्म के दो प्रकार हैं—अभ्युत्थान और वन्दन।

२. अभ्युत्थान से निष्पन्न गुण

परपक्खे य सपक्खे, होइ अगम्मत्तणं च उट्ठाणे।
सुयपूयणा थिरत्तं, पभावणा निज्जरा चेव ॥
(बृभा ४४३९)

अभ्युत्थान से पांच गुण निष्पन्न होते हैं—

१. स्वपक्ष और परपक्ष में अपराजेयता स्थापित होती है।
२. गुरु की पूजा से श्रुत की पूजा स्वयं हो जाती है।
३. शिष्यों की विनय-प्रतिपत्ति में स्थिरता आती है।
४. शासन की प्रभावना होती है।
५. निर्जरा होती है।

३. परस्पर कृतिकर्म का क्रम

कण्णइ निग्गंथाण वा निग्गंश्रीण वा अहाराइणियाए
किइकम्मं करेत्तए। (क ३/२०)

आयरिय-उवज्झाए, काऊणं सेसगाण कायव्वं ।...
(बृभा ४४९६)

निर्ग्रथ-निर्ग्रथी यथारात्तिक—बड़े-छोटे के क्रम से कृतिकर्म—वन्दना करें। वे प्रतिक्रमण के पश्चात् पहले आचार्य-उपाध्याय को फिर शेष साधुओं को वन्दना करें।

४. रत्नाधिक वन्दनार्ह : व्यवहारनयसम्मत

पुव्वं चरित्तसेडीठियस्स, पच्छाटिण्ण कायव्वं।
सो पुण तुल्लचरित्तो, हविज्ज ऊणो व अहिओ वा ॥
निच्छयओ दुनेयं, को भावे कम्मि वट्टई समणो।
ववहारओ य कीरइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि ॥
(बृभा ४५०५, ४५०६)

जो पहले सामायिक या छेदोपस्थापनीय चारित्र को स्वीकार कर चारित्रश्रेणि में स्थित होते हैं, उनके बाद स्थित होने वाले उनका कृतिकर्म करते हैं। पूर्वस्थित साधु पश्चात् स्थित साधु से निश्चय नय की अपेक्षा से चारित्र में न्यून अथवा अधिक भी हो सकता है। निश्चयनय की दृष्टि से कौन श्रमण किस भाव में स्थित है, किसमें चारित्राध्यवसाय मन्द, मध्य या तीव्र है—यह दुर्ज्ञेय है। व्यवहारनय की अपेक्षा जिसने चारित्र पहले ग्रहण किया, उसका कृतिकर्म करना चाहिए।

५. केवली द्वारा छद्मस्थ की वन्दना : केवली की पहचान ववहारो वि हु बलवं, जं छउमत्थं पि वंदई अरिहा।
जा होइ अणाभिन्नो, जाणंतो धम्मयं एयं ॥

केवलिणा वा कहिए, अवंदमाणो व केवलिनं अनं ।
वागरणपुव्वकहिए, देवयपूयासु व मुणंति ॥
(बृभा ४५०७, ४५०८)

व्यवहारनय भी निश्चित रूप ये बलवान् होता है ।
इसके आधार पर केवली भी जब तक वह केवलज्ञानी केवली
के रूप में अर्नाभिज्ञात रहता है, तब तक वह व्यवहारनय की
बलवत्ता को जानता हुआ छद्मस्थ गुरु को भी वन्दना करता है ।

चार स्थानों से केवली केवली के रूप में ज्ञात होता है—

१. दूसरे केवलज्ञानी के द्वारा बताये जाने पर ।
२. दूसरे परिज्ञात केवली को वंदना न करने पर ।
३. अतिशयज्ञानगम्य अर्थ का व्याकरण करने पर ।
४. सन्निहित देवताओं से पूजित-संस्तुत होने पर ।

६. स्थविरकृत वन्दना से प्रेरणा

थेरस्स तस्स किं तू, एद्देहेणं किलेसकरणेणं ।
भण्णति एगत्तुवओग सद्धाजणणं च तरुणाणं ॥
(व्यभा २३४६)

श्रुतग्रहण के लिए स्थविर अवमरात्मिक आदि को
वन्दना करता है । यह देखकर शिष्य ने पूछा—ये वृद्ध मुनि
इतना कष्ट क्यों करते हैं ?

गुरु ने कहा—स्थविर मुनि वन्दना-विनयव्यवहार
करता हुआ सूत्र-अर्थ के साथ एकत्व उपयोगउपयुक्त
(दत्तचित्त) होकर सूत्र-अर्थ को सम्यग् ग्रहण करता है ।
तरुण साधुओं के मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है—हमारे महान्
दुर्बल-वृद्ध स्थविर भी श्रुतप्रदाता का इतना विनय करते हैं तो
हमें भी श्रुतविनय अवश्य करना चाहिए ।

७. वंदन कार्य और संघकार्य की इयत्ता

सेढीठाणे सीमा, कज्जे चत्तारि बाहिरा होंति ।
सेढीठाणे दुयभेययाएँ चत्तारि भइयव्वा ॥
पत्तेयबुद्ध जिणकप्पिया य सुद्धपरिहारऽहालंदे ।
एए चउरो दुगभेदयाएँ, कज्जेसु बाहिरगा ॥
गच्छम्मि णियमकज्जं, कज्जे चत्तारि होंति भइयव्वा ।
गच्छपडिबद्ध आवण्ण पडिम तह संजतीतो य ॥
(बृभा ४५३२-४५३४)

श्रेणिस्थान का अर्थ है सीमास्थान । संयमश्रेणी में स्थित
चार प्रकार के मुनि—प्रत्येकबुद्ध, जिनकल्पिक, शुद्धपरिहारी
तथा गच्छअप्रतिबद्ध यथालंदिक—कार्य से बाह्य होते हैं ।

कार्य के दो प्रकार हैं—वन्दनकार्य और कार्यकार्य ।
वन्दनकार्य दो प्रकार का होता है—अभ्युत्थान और कृतिकर्म ।
कार्यकार्य का अर्थ है—अवश्य कर्त्तव्यरूप कार्य । इसके
कुलकार्य, गणकार्य, संघकार्य आदि अनेक प्रकार हैं । इन
दोनों प्रकार के कार्यों को प्रत्येकबुद्ध आदि चारों प्रकार के
मुनि नहीं करते—वे इनसे बाह्य होते हैं ।

गच्छप्रतिबद्ध यथालंदिक, आपन्नपरिहारिक, प्रतिमा-
प्रतिपन्न और साध्वी—ये चार प्रकार के संयमी उपर्युक्त दोनों प्रकार
के कार्यों को करते भी हैं और नहीं भी करते । उनके कार्य करने की
भजना है ।

कुल, गण और संघ की सुरक्षा या प्रभावना का कोई
अनिवार्य प्रयोजन उपस्थित हो गया हो, संघ में दूसरा कोई
साधु उस कार्य को करने में समर्थ न हो, तब ये उस कार्य
को संपादित करते हैं ।

गच्छप्रतिबद्ध यथालंदिक मुनि जिस आचार्य के पास
सूत्रार्थ ग्रहण करते हैं, वह चाहे छोटा भी क्यों न हो, उसके प्रति
वन्दनकार्य (अभ्युत्थान-कृतिकर्म) करते हैं, शेष साधुओं के
प्रति नहीं करते । इसी प्रकार आपन्नपरिहारिक, प्रतिमाप्रतिपन्न
और साध्वी के वंदन-विषयक अनेक विकल्प हैं ।

८. श्रेणिस्थित की वंदना के विकल्प

अंतो वि होइ भयणा, ओमे आवण्ण संजतीओ य ।

आपन्नपरिहारिको न वन्दते, स पुनराचार्यान् वन्दते ।
.....संयत्योऽपि उत्सर्गतो न वन्दन्ते, अपवादपदे तु यदि
बहुश्रुता महत्तरा काचिदपूर्वश्रुतस्कन्धं धारयति तत-
स्तस्याः सकाशात् तत्र ग्रहीतव्ये उद्देश-समुद्देशादिषु सा
फेटावन्दनकेन वन्दनीया । (बृभा ४५३५ वृ)

जो संयमश्रेणी के अन्तर्गत मुनि हैं, उनके वन्दन-
विषयक अनेक विकल्प हैं । जो अवमरात्मिक मुनि आलोचना-
वाचना आदि में नियुक्त हैं, उसको आलोचना-वाचना के
समय सभी वन्दना करते हैं, अन्यथा नहीं । आपन्नपरिहारिक
अन्य मुनियों द्वारा वन्दन नहीं होता । वह भी केवल आचार्य

को वन्दना करता है। साध्वी उत्सर्गतः वन्द्य नहीं होती, किन्तु यदि वह बहुश्रुत महत्तरा हो, अपूर्व-श्रुतस्कंध की धारक हो और यदि अन्य मुनि उसके पास उद्देश, समुद्देश आदि ग्रहण करते हों तो वे मुनि उसको फेटा वंदनक देते हैं।

९. निरंतर प्रतिसेवी और कृतिकर्म : दृष्टांत

मूलगुण उत्तरगुणे, मूलगुणोहिं तु पागडो होइ।
उत्तरगुणपडिसेवी, संचयऽवोच्छेदतो भस्से ॥
अंतो भयणा बाहिं, तु निग्गते तत्थ मरुगदिट्ठतो।
संकर सरिसव सगडे, मंडव वत्थेण दिट्ठतो ॥
पक्कणकुले वसंतो, सउणीपारो वि गरहिओ होइ।
इय गरहिया सुविहिया, मज्झि वसंता कुसीलाणं ॥
संकिन्नवराहपदे, अणाणुतावी अ होइ अवरद्धे।
उत्तरगुणपडिसेवी, आलंबणवज्जिओ वज्जो ॥

शकुनीशब्देन चतुर्दश विद्यास्थानानि, तानि चामूनि—
अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च, स्थानान्याहुश्चतुर्दश ॥
(बृभा ४५२१-४५२४ वृ)

संयमश्रेणी में आरूढ़ मुनि दो प्रकार के होते हैं—
मूलगुणप्रतिसेवी अर्थात् चारित्र के मूलगुणों में दोष लगाने वाले
और उत्तरगुणप्रतिसेवी अर्थात् उत्तरगुणों में दोष लगाने वाले।
मूलगुणप्रतिसेवी के चारित्र से भ्रष्ट होने पर स्पष्ट रूप से ज्ञात
हो जाता है। उसके प्रति कृतिकर्म करना निषिद्ध है। किन्तु जो
उत्तरगुणप्रतिसेवी है, वह दोषों का संचय करते-करते चारित्र से
भ्रष्ट होता है। अतः उसका परिज्ञान संभव नहीं है। उसके प्रति
कृतिकर्म की भजना है—कृतिकर्म किया भी जाता है और नहीं
भी किया जाता। इस विषय में ये दृष्टांत हैं—

१. संकर दृष्टांत—एक बगीचे को एक सारणी से पानी दिया
जाता था। उस सारणी में एक-एक कर संकर (तिनके आदि)
इकट्ठे होते गए। किसी ने उस पर ध्यान नहीं दिया। सारणी
अवरूढ़ हो गई। पानी अन्यत्र बहने लगा। बगीचा सूख
गया।

२. सर्षप-शकट-मंडप दृष्टांत—एक शकट अथवा तृणमंडप
पर सर्षप के दाने फेंके गए। वे वही स्थिर हो गए। दानों के
प्रक्षेप का क्रम चलता रहा और कालान्तर में वह शकट और

मंडप—दोनों उन सर्षप के दानों के भार से भग्न हो गए।

३. वस्त्र दृष्टांत—एक वस्त्र पर तैल का एक धब्बा लग गया।
उसे धोकर साफ नहीं किया गया। और भी तैल के धब्बे लगते
गए। प्रक्षालन के अभाव में वह पूरा वस्त्र मलिन हो गया।

इसी प्रकार उत्तरगुणप्रतिसेवी मुनि दोषसंचय और
निरंतर दोषसेवन के परिणाम से उपरत न होने के कारण धीरे-
धीरे चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है। जो संयमश्रेणि में स्थित है,
उसके प्रति कृतिकर्म की भजना है—

जिसका चारित्र उत्तरगुण संबंधी अनेक अपराधों से
मलिन है, जो दोषसेवन कर पश्चात्ताप नहीं करता और पुष्ट
आलंबन के बिना प्रतिसेवना करता है, वह कृतिकर्म के योग्य
नहीं है। सालंबप्रतिसेवी वन्दनीय है।

जो संयमश्रेणि से बाह्य है, वह वन्दनीय नहीं है।

४. मरुक दृष्टांत—जो ब्राह्मण शकुनीपारग अर्थात् वेद, वेदांग
आदि चौदह विद्यास्थानों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद,
शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, ज्योति, निरुक्ति, मीमांसा,
आन्वीक्षिकी, धर्मशास्त्र और पुराण का पारगामी है, वह भी
मातंग के घर में रहता हुआ लोक में गर्हित होता है।

इसी प्रकार सुविहित मुनि भी पार्श्वस्थ आदि कुशीलों
के मध्य रहता हुआ गर्हित होता है।

१०. कृतिकर्म के अनर्ह

सेढीठाणठियाणं, किइकम्मं बाहिरे न कायव्वं।
पासत्थादी चउरो ॥
(बृभा ४५१५)

चारित्र-श्रेणि संबंधी संयमस्थानों में स्थित साधुओं का
कृतिकर्म करना चाहिए। जो श्रेणि-बाह्य श्रमण आदि हैं, उनका
कृतिकर्म नहीं करना चाहिए। उनके चार प्रकार हैं—

१. पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त, यथाच्छंद।
२. काथिक, प्राशिनक, मामाक, संप्रसारक।
३. अन्यतीर्थिक।
४. गृहस्थ।

११. वन्दना के अवश्यकरणीय काल

देसिय राइय पक्खिय, चाउम्मासे तहेव वरिसे य १००
(बृभा ४४६७)

वन्दना के पांच अवश्यकरणीय काल हैं—१. दैवसिक
२. रात्रिक ३. पाक्षिक ४. चातुर्मासिक तथा ५. सांवत्सरिक।
इनसे संबंधित वंदनक निश्चित हैं, जिनको यथाविधि न करना
प्रायश्चित्त का स्थान है।

* कृतिकर्म के पच्चीस भेद, वंदना के बत्तीस दोष आदि

द्र श्रीआको १ वन्दना

क्षेत्रप्रतिलेखना— मुनि द्वारा मासकल्प और वर्षावास के
योग्य क्षेत्र की गवेषणा।

१. क्षेत्रप्रत्युपेक्षा के योग्य-अयोग्य
२. क्षेत्रप्रतिलेखना : गण को आमन्त्रण
३. गण को आमन्त्रित नहीं करने के दोष
४. क्षेत्रप्रतिलेखक : दिशा और संख्या
* यथालन्दिक द्वारा क्षेत्रप्रतिलेखना द्र यथालंद
* गणधर द्वारा साध्वी योग्य क्षेत्र-प्रतिलेखना द्र स्थविरकल्प
५. मार्गवर्ती प्रतिलेखना
६. क्षेत्र-प्रवेश-विधि : पौरुषी निषेध
० सूत्र-अर्थपौरुषी का निषेध क्यों ?
७. निर्दोष उपाश्रय की गवेषणा
८. वर्षावासयोग्य क्षेत्र
० जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट वर्षा क्षेत्र
० गोरसभावित क्षेत्र उत्कृष्ट क्यों ?
९. आगाढ क्षेत्र
१०. प्रत्युपेक्षित क्षेत्र-समीक्षा : आचार्य द्वारा निर्णय
* एक द्वार वाले क्षेत्र में रहना निषिद्ध द्र शय्या

१. क्षेत्र-प्रत्युपेक्षा के योग्य-अयोग्य
वेयावच्चगरं बाल वुड्ड खमयं वहंतऽगीयत्थं ।
गणावच्छेदऽगमणं, तस्स य असती य पडिलोमं ॥
सामायारिमगीए, जोगिमणागाढ खमग पारावे ।
वेयावच्चे दायण, जुयल समत्थं व सहियं वा ॥
(बृभा १४६४, १४७१)

छह व्यक्ति क्षेत्र-प्रत्युपेक्षा के अयोग्य हैं—

१. वैयावृत्य करने वाला ३. वृद्ध ५. योगवाही
 २. बाल ४. क्षपक ६. अगीतार्थ
- गणावच्छेदक को क्षेत्र-प्रत्युपेक्षा के लिए भोजना

चाहिए। उसके अभाव में प्रतिलोम (अगीतार्थ, योगवाही
आदि) क्रम से भोजना चाहिए। इनको भेजने में भी इस
विधि का पालन आवश्यक है—

अगीतार्थ—इसे ओघनिर्युक्ति की सामाचारी का प्रशिक्षण देकर
भोजना चाहिए।

योगवाही—अनागाढ योगवाही को भोजना चाहिए। क्योंकि
वह अपने संकल्प को स्थगित कर सकता है।

क्षपक—इसे पारणा कराकर, 'कार्य पूर्ण न हो, तब तक तपस्या
नहीं करनी है' ऐसी शिक्षा देकर भोजना चाहिए।

वैयावृत्यकर—सेवा करने वाला मुनि वहां रहने वाले साधुओं
को स्थापनाकुल बताकर फिर वहां से प्रस्थान करे।

बाल-वृद्ध—दृढ़शरीरी बाल-वृद्ध युगल जाए अथवा वृषभ के
साथ जाए।

२. क्षेत्रप्रतिलेखना : गण को आमंत्रण

शुद्धमंगलमामंतण, नागच्छइ जो व पुच्छिओ न कहे ।"
कयरी दिसा पसस्था, अमुगी सव्वेसि अणुमए गमणं ।"
(बृभा १४६१, १४६३)

आचार्य आवश्यक सम्मन होने पर तीन बार स्तुतिमंगल
करके गण को आमंत्रित करते हैं। बुलाने पर यदि कोई नहीं
आता है या प्रत्युपेक्षणीय क्षेत्र के बारे में पूछे जाने पर जानता
हुआ भी मौन रहता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

जब सब साधु एकत्रित होते हैं, तब आचार्य पूछते हैं—
आर्यों! हमारा मासकल्प पूर्ण हो रहा है, अब अन्य क्षेत्र प्रत्युपेक्षणीय
है, अतः सम्प्रति कौन सी दिशा प्रशस्त है? अमुक दिशा प्रशस्त
है—क्षेत्रज्ञायक मुनियों द्वारा ऐसा कहे जाने पर सर्वसम्मति से
उस दिशा में प्रस्थान करना चाहिए।

३. गण को आमंत्रित नहीं करने के दोष

...पेसेइ जइ अणापुच्छिउं गणं तत्थिमे दोसा ॥
सीसे जइ आमंते, पडिच्छगा तेण बाहिरं भावं ।
जइ इअरे तो सीसा, ते वि समत्तम्मि गच्छंति ॥
तरुणा बाहिरभावं, न य पडिलेहोवहिं न किइकम्मं ।
मूलगपत्तसरिसगा, परिभूया वच्चिमो थेरा ॥
(बृभा १४५४, १४५७, १४५८)

गण को बिना पूछे यदि आचार्य क्षेत्रप्रत्युपेक्षक को भेजते हैं तो अनेक दोषों की संभावना रहती है। यदि आचार्य केवल अपने शिष्यों को बुलाते हैं, तब प्रतीच्छक शिष्य बाह्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं। वे सोचते हैं—इनके हर कार्य में अपने ही शिष्य प्रमाण हैं, हम नहीं। जब इनका चित्त राग-द्वेष से मलिन है, तब इनके पास रहने से क्या ?

प्रतीच्छक शिष्यों को बुलाने पर स्वशिष्य बाह्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं—इनके तो प्रतीच्छक शिष्य ही कृपापात्र हैं। तब हम किसलिए सेवा करें। प्रतीच्छक शिष्य सूत्रार्थ की वाचना पूर्ण होने पर अपने गण में चले जाते हैं, तब आचार्य एकाकी रह जाते हैं।

स्थविर शिष्यों को बुलाने पर तरुण शिष्य बाह्य- भाव को प्राप्त हो जाते हैं। वे गुरु और स्थविर साधुओं की उपधि प्रतिलेखना और कृतिकर्म आदि नहीं करते। केवल तरुणों को बुलाने पर स्थविर साधु पराभव का अनुभव करते हैं। वे सोचते हैं—हम पके हुए पान की तरह अथवा कंदविशेष के पत्ते की तरह निस्सार हैं। अब यहां रहने से क्या ?

४. क्षेत्र-प्रतिलेखक : दिशा और संख्या

“चउदिसि ति दु एक्कं वा, सत्तग घणगे तिग जहन्ने ॥
तिन्नेव गच्छवासी, हवंतऽहालंदियाण दोन्नि जणा ॥”

(बृभा १४६३, १४७२)

गच्छवासी मुनि क्षेत्रप्रत्युपेक्षा के लिए चारों दिशाओं में जाते हैं। अशिव आदि उपद्रव हो तो तीन, दो या एक दिशा में जाते हैं।

एक-एक दिशा में उत्कृष्टतः सात मुनि जाते हैं। इसके अभाव में पांच और जघन्यतः तीन मुनि जाते हैं।

गच्छप्रतिबद्ध यथालन्दिक एक दिशा में दो जाते हैं। शेष तीन दिशाओं में आचार्य की अनुज्ञा से गच्छवासी मुनि यथालन्दिक के योग्य क्षेत्र की भी प्रत्युपेक्षा करते हैं।

५. मार्गवर्ती प्रतिलेखना

कंटग तेणा वाला, पडिणीया सावया य दव्वम्मि ।
सम विसम उदय थंडिल, भिक्खायरियंतरा खेत्ते ॥
दिय राओ पच्चवाए, य जाणई सुगम-दुगामे काले ।
भावे सपक्ख-परपक्खपेल्लणा निण्हगाईया ॥
(बृभा १४७५, १४७६)

क्षेत्रप्रतिलेखना के लिए जाने वाले मुनि द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव से मार्ग की भी प्रतिलेखना करे—
द्रव्यतः—मार्ग में कण्टक, व्याल, स्तेन, प्रत्यनीक, श्वापद आदि की जानकारी करे।

क्षेत्रतः—मार्ग सम है या विषम, जलबहुल है या शुष्क, स्थण्डिलभूमी है या नहीं, भिक्षा सुलभ है या नहीं, मार्गवर्ती बस्तियां हैं या नहीं—इन सबकी जानकारी करे।

कालतः—दिन या रात उपद्रव रहित है या नहीं। अथवा दिन या रात्रि में मार्ग सुगम है या दुर्गम।

भावतः—ग्राम अथवा मार्ग स्वपक्ष—निहव आदि से आक्रान्त है या परपक्ष—परिव्राजक आदि से। इन सबकी प्रतिलेखना करता हुआ मुनि अपने लक्षित क्षेत्र में प्रवेश करे।

६. क्षेत्र-प्रवेश-विधि : पौरुषी निषेध

सुत्तथे अकरिंता, भिक्खं काउं अइंति अवरण्हे ।
बीयदिणे सज्झाओ, पोरिसि अब्बाए संघाडो ॥
बाले वुड्ढे सेहे, आयरिय गिलाण खमग पाहुणए ।
तिनि य काले जहियं, भिक्खायरिया उ पाउग्गा ॥

(बृभा १४७९, १४८१)

सूत्र और अर्थ पौरुषी को नहीं करते हुए मुनि विवक्षित क्षेत्र के निकटवर्ती ग्राम में भिक्षा कर अपराह्न में विचारभूमि के लिए स्थण्डिल की प्रतिलेखना करके उस क्षेत्र में प्रवेश करें। वहां वसति ग्रहण करके प्रतिक्रमण करें। काल की प्रतिलेखना करके रात्रिकालीन स्वाध्याय करें। उसके बाद दो प्रहर तक शयन करें। दूसरे दिन प्रातःकाल स्वाध्याय करके अर्द्धपौरुषी व्यतीत होने पर संघाटक भिक्षा के लिए निकले।

जहां बाल, वृद्ध, शैक्ष, आचार्य, ग्लान, क्षपक तथा प्राघूर्णक के प्रायोग्य भक्त-पान तीनों कालों—पूर्वाह्न, मध्याह्न तथा सायाह्न में प्राप्त हो, वह क्षेत्र गच्छ के योग्य है।

० सूत्र-अर्थपौरुषी का निषेध क्यों ?

सुत्तथाणि करिंते, न व ति वच्चंतगाउ चोएइ ।
न करिंति मा हु चोयग! गुरुण निइआइआ दोसा ॥
(बृभा १४७७)

शिष्य ने पूछा—क्षेत्र-प्रतिलेखना के लिए जाते हुए मुनि सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी करते हैं या नहीं ? गुरु ने कहा—वे

नहीं करते, क्योंकि नित्यवास के दोष से बचने के लिए गुरु का अन्यत्र विहार आवश्यक होता है।

७. निर्दोष उपाश्रय की गवेषणा

जेहिं कया उ उवस्सय, समणाणं कारणा वसहिहेउं।
परिपुच्छिया सदोसा, परिहरियव्वा पयत्तेणं॥
...परिपुच्छिय निहोसा, परिभोत्तुं जे सुहं होइ॥
जेहिं कया पाहुडिया, समणाणं कारणा वसहिहेउं।
परिपुच्छिया सदोसा, परिहरियव्वा पयत्तेणं॥
...परिपुच्छिय निहोसा, परिभोत्तुं जे सुहं होइ॥
(बृभा १४९०-१४९३)

क्षेत्र में पहुंचकर मुनि पहले उपाश्रय की गवेषणा करते हैं। गृहस्थों से पृच्छा करके वे यह जान लेते हैं कि यह उपाश्रय श्रमणों (तापस, शाक्य, परिव्राजक, आजीवक और निर्ग्रन्थ) के रहने के लिए गृहस्थ द्वारा निर्मित है। मुनि उसे सदोष जानकर प्रयत्नपूर्वक उस उपाश्रय का परिहार करते हैं। मुनि पृच्छा से यह जान लेते हैं कि यह उपाश्रय निर्ग्रन्थ को छोड़कर शेष श्रमणों के रहने के लिए गृहस्थ द्वारा निर्मित है। मुनि उसे निर्दोष जानकर सुखपूर्वक उसका उपभोग करते हैं।

मुनि पृच्छा से यह जान लेते हैं कि मुनि के निमित्त इस उपाश्रय में उपलेपन-धवलन आदि किया गया है। मुनि उसे उत्तरगुणों से अशुद्ध जानकर प्रयत्नपूर्वक उसका परिहार करते हैं। मुनि पृच्छा से यह जान लेते हैं कि निर्ग्रन्थ को छोड़कर शेष श्रमणों के निमित्त उपाश्रय में उपलेपन-धवलन आदि किया गया है। मुनि उसे उत्तरगुणों से निर्दोष जानकर सुखपूर्वक उसका उपभोग करते हैं।

८. वर्षावासयोग्य क्षेत्र

.....महती विहारभूमि, महती विचारभूमि, सुलभे जत्थ
पीढ-फलग-सेज्जा-संधारण, सुलभे फासुए उंछे अहेस-
णिज्जे, णो जत्थ बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-
वणीमगा उवागया उवागमिस्संति य, अप्पाइण्णा वित्तो-
पण्णस्स निक्खमणपवेसाए, पण्णस्स वायण-पुच्छण-
परियट्ठणणुपेह-धम्माणुओग-चिंताए। सेवं णच्चा तहप्पगारं
गामं वा जाव रायहाणिं वा, तओ संजयामेव वासावासं
उवल्लिएज्जा ॥ (आचूला ३/३)

जहां विशाल विहारभूमि और विशाल विचारभूमि है,

जहां पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक सुलभ हैं, प्रासुक और यथा-एषणीय भिक्षा सुलभ है, जहां बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र और भिखारी आये हुए नहीं हैं और न आयेंगे, मार्ग जनाकीर्ण नहीं है—प्राज्ञ मुनि के लिए गमन और प्रवेश सुगम है, प्राज्ञ मुनि के वाचना, प्रच्छन्ना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मानुयोगचिन्ता के लिए उपयुक्त स्थान है। वह इस प्रकार जानकर वैसे गांव यावत् राजधानी में वर्षाकाल में संयमपूर्वक रहे।

० जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट वर्षाक्षेत्र

चतुग्गुणोववेयं तु, खेतं होति जहन्नगं।
तेरसगुणमुक्कोसं, दोण्हं मज्झम्मि मज्झिमं॥
महती विहारभूमि, विचारभूमि य सुलभवित्ती य।
सुलभा वसधी य जहिं, जहण्णगं वासखेतं तु॥
चिक्खल्ल पाण थंडिल, वसधी गोरस जणाउले वेज्जे।
ओसधनिययाधिपती, पासंडा भिक्ख-सज्जाए॥
(व्यभा ३८९७-३८९९)

क्षेत्रप्रत्युपेक्षक विधिपूर्वक क्षेत्र की जानकारी करते हैं। क्षेत्र के तीन प्रकार हैं—

१. जघन्य क्षेत्र—यह क्षेत्र चार गुणों से युक्त होता है—
१. विहारभूमि विशाल हो। २. विचारभूमि की सुविधा हो।
३. भिक्षा सुलभ हो। ४. वसति सुलभ हो।
२. उत्कृष्ट वर्षाक्षेत्र—जो तेरह गुणों से युक्त हो—
१. पंकबहुल न हो। २. सम्पूर्च्छिम जीवों का उपद्रव न हो। ३. स्थंडिलभूमि एकांत में तथा महास्थंडिलभूमि ईप्सित दिशा में हो। ४. वसति सुलभ हो। ५. गोरस की प्रचुरता हो। ६. जनाकुल हो तथा जनता भद्र हो। ७. चिकित्सक भद्र हो। ८. औषध सुलभ हो। ९. अन्न-भण्डार प्रचुर हों। १०. शासक भद्र हों।
११. अन्य- तीर्थिक कलहकारी न हों। १२. भिक्षा सुलभ हो। तृतीय पौरुषी में पर्याप्त भिक्षा मिलती हो और अन्य पौरुषियों में भी वह प्राप्त हो। १३. वसति में और अन्यत्र भी स्वाध्याय की सुविधा हो।
३. मध्यम क्षेत्र—मध्यम गुणों वाला क्षेत्र।

० गोरसभावित क्षेत्र उत्कृष्ट क्यों ?

नणु भणिय रसच्चाओ, पणीयरसभोयणे य दोसा उ।
किं गोरसेण भंते!, भण्णति सुण चोयग! इमं तु॥

कामं तु रसच्चागो, चतुत्थभंगं तु बाहिरतवस्स ।
सो पुण सहूण जुज्जति, असहूण य सज्जवावत्ती ॥
अंगिलाय तवोकम्मं, परक्कमे संजतो त्ति इति वुत्तं ।
तद्दा उ रसच्चाओ, नियमातो होति सव्वस्स ॥
जस्स उ सरिरजवणा, रिते पणीयं न होति साहुस्स ।
सो वि य हु भिण्णपिंडं, भुंजउ अहवा जधसमाधी ॥
(वृभा १७७५-१७७८)

शिष्य ने पूछा—गोरस भावित क्षेत्र उत्कृष्ट क्यों ?
आगम तो रस-परित्याग का विधान करते हैं । प्रणीत रस के
आहार से कामोद्रेक आदि दोष उत्पन्न होते हैं ।

गुरु ने कहा—यद्यपि रसपरित्याग उत्कृष्ट है, शास्त्र-
विहित है, षड्भेदात्मक बाह्य तप का चौथा भेद है, फिर भी
वह सबके लिए समान रूप से नियमतः करणीय नहीं है । जो
समर्थ हैं, सहिष्णु हैं, उन्हीं के लिए उपयुक्त है । जो असमर्थ
हैं, दुर्बल हैं, उनकी रस के अभाव में मृत्यु भी हो सकती है ।
इसीलिए भगवान ने कहा है—‘संयमी अग्लानभाव से तप में
पराक्रम करे ।’

जो साधु प्रणीत रस के बिना शरीरयापन न कर सके,
वह भी भिन्नपिण्ड (घृत आदि से मिश्रित गलित पिण्ड)
का भोजन करे । अथवा जैसे समाधि हो, वैसे क्षीर आदि का
भोजन करे ।

९ . आगाढ क्षेत्र

आगाढं सप्तधा, तद्यथा—द्रव्यागाढं, क्षेत्रागाढं,
कालागाढं, भावागाढं, पुरुषागाढं, चिकित्सागाढं, सहाया-
गाढं । तत्र द्रव्यागाढमेषणीयं द्रव्यं तत्र न लभ्यते । क्षेत्रागाढं
नाम तदतीव खुलक्षेत्रम्, स्वल्पभैक्षदायकमित्यर्थः । काला-
गाढं तत् क्षेत्रं न ऋतुक्षमम् । भावागाढं ग्लानादिप्रायोग्यं तत्र
न लभ्यते । पुरुषागाढमाचार्यादिपुरुषाणां तदकारकम् ।
चिकित्सागाढं वैद्यास्तत्र न प्राप्यन्ते । सहायागाढं सहायास्तत्र
न सन्ति ।
(बृभा २७५६ की वृ)

आगाढ क्षेत्र के सात प्रकार हैं—

१. द्रव्यागाढ—एषणीय द्रव्य की अप्राप्ति वाला क्षेत्र ।
२. क्षेत्रागाढ—अल्प भिक्षादायक क्षेत्र ।
३. कालागाढ—ऋतु के प्रतिकूल क्षेत्र ।

४. भावागाढ—ग्लान आदि के पथ्य की अप्राप्ति वाला क्षेत्र ।
५. पुरुषागाढ—आचार्य आदि के लिए अकारक क्षेत्र ।
६. चिकित्सागाढ—वैद्य आदि की दुर्लभता वाला क्षेत्र ।
७. सहायागाढ—सहायक के अभाव वाला क्षेत्र ।

१०. प्रत्युपेक्षित क्षेत्र-समीक्षा : आचार्य द्वारा निर्णय
पढमाएँ नत्थि पढमा, तत्थ य घय-खीर-कूर-दधिमाई ।
बिइयाएँ बीय तइयाएँ दो वि तेसिं च धुव लंभो ॥
ओभासिय धुव लंभो, पाउग्गाणं चउत्थिए नियमा ।
इहरा वि जहिच्छाए, तिकाल जोगं च सव्वेसिं ॥
इच्छगहणं गुरुणो, कत्थ वयामो त्ति तत्थ ओअरिया ।
खुहिया भणंति पढमं, तं चिय अणुओगतत्तिल्ला ॥
बिइयं सुत्तग्गाही, उभयग्गाही य तइयगं खेत्तं ।
आयरिओ उ चउत्थं, सो उ पमाणं हवइ तत्थ ॥
(बृभा १५२३-१५२६)

क्षेत्र की प्रतिलेखना करके आने वाले मुनि आचार्य
के समक्ष अपने-अपने क्षेत्र की स्थिति निवेदित करते हैं—

प्रथम दिशा (पूर्व) में घृत, दुग्ध, दधि, चावल आदि
की उपलब्धि पर्याप्त है किन्तु सूत्रपौरुषी का समय वहां भिक्षा
का समय है । दूसरी दिशा (पश्चिम) में घृत, दुग्ध आदि
की उपलब्धि पर्याप्त है किन्तु अर्थपौरुषी का समय वहां
भिक्षा का समय है ।

तीसरी (उत्तर) दिशा में सूत्र पौरुषी और अर्थ पौरुषी
निर्बाध हो सकती है । वहां मध्याह्न का समय भिक्षा का समय
है । चतुर्थ (दक्षिण) दिशा में पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न तीनों
ही कालों में बाल, वृद्ध और ग्लान प्रायोग्य भक्त-पान की
प्राप्ति याचित अथवा अयाचित अवस्था में हो सकती है ।

शिष्यों से क्षेत्र की अवगति हो जाने पर आचार्य शिष्यों
से पूछते हैं—आर्यों! बोलो, हमें किस दिशा में जाना चाहिए ।

जो औदरिक—प्रथम प्रहर में पर्याप्त आहार करना चाहते
हैं और जो अनुयोगग्रहण में एकनिष्ठ हैं, वे प्रथम दिशा की
अनुमोदना करते हैं । अर्थपौरुषी के लिए वह क्षेत्र निर्बाध है ।

जो सूत्रपौरुषी के इच्छुक हैं, वे दूसरी दिशा में जाना
चाहते हैं । आचार्य चतुर्थ दिशा में जाना चाहते हैं वहां तीनों
कालों में रुग्ण-बाल-वृद्ध प्रायोग्य आहार-पानी मिल सकता

है। सूत्र और अर्थपौरुषी में भी कोई बाधा नहीं है। इन सबमें आचार्य ही प्रमाण होते हैं।

गण—परस्पर सापेक्ष अनेक कुलों का समुदाय।

गीतस्थउज्जुयाणं, गीतपुरोगामिणं चऽगीताणं।
एसो खलु भावगणो, नाणादितिगं च जत्थत्थि॥
(व्यभा १३६७)

जहां गीतार्थ और गीतार्थनिश्चित अगीतार्थ अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए सदा संयम में प्रवर्तमान रहते हैं, वह गण वास्तव में गण है। अथवा जहां ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये तीनों प्रवर्धमान हैं, वह वास्तविक गण है।

* गणिविहीन गण नहीं द्र संघ

गणधर—जो आचार्य-तुल्य होता है तथा जो आचार्य के आदेश से साधु संघ को लेकर पृथक् विहरण करता है। गणधर एक पद है। द्र संघ

* गणधर : साध्वीवर्ग-व्यवस्थापक द्र स्थविरकल्प

गणावच्छेदक—जो गण के कार्य के विषय में चिन्तन करता रहता है। आचार्य आदि पंचक में से एक। द्र संघ

* गणावच्छेदक : न्यूनतम पर्याय-श्रुत द्र आचार्य

* गणावच्छेदक द्वारा क्षेत्र प्रतिलेखना द्र क्षेत्रप्रतिलेखना

* गणावच्छेदक : जिनकल्प के लिए अधिकृत द्र जिनकल्प

गणिसम्पदा—आचार्य की संपदा। आचार्य के अतिशय।

१. गणिसम्पदा के प्रकार	
○ आचारसम्पदा : संयमध्रुवयोग आदि	
* आचारविनय : सामाचारी में नियोजन	द्र आचार्य
२. श्रुतसम्पदा : घोषविशुद्धि आदि	
३. शरीरसम्पदा : आरोह-परिणाह आदि	
* आचार्य सुलक्षण हो	द्र आचार्य
४. वचनसम्पदा के प्रकार	
५. वाचना सम्पदा : उद्देशन आदि	
* वाचना से महानिर्जरा	द्र वैयावृत्त्य
६. मतिस्सम्पदा : अवग्रह आदि	

○ अवग्रह-ईहा-अवायमति : क्षिप्र, बहु
○ धारणामति के प्रकार
७. प्रयोगसम्पदा : परिषद्परिज्ञान आदि
८. संग्रहपरिज्ञा : क्षेत्र आदि की व्यवस्था

१. गणिसम्पदा के प्रकार

...अद्भुविहा गणिसंपदा पणत्ता, तं जहा—आयार-संपदा सुतसंपदा सरीरसंपदा वयणसंपदा वायणासंपदा मतिसंपदा पओगसंपदा संगहपरिण्णा णामं अट्टमा ॥
(दशा ४/३)

गणिसंपदा के आठ प्रकार हैं—

- | | |
|---------------|------------------|
| १. आचारसंपदा | ५. वाचनासंपदा |
| २. श्रुतसंपदा | ६. मतिसंपदा |
| ३. शरीरसंपदा | ७. प्रयोगसंपदा |
| ४. वचनसंपदा | ८. संग्रहपरिज्ञा |

○ आचारसम्पदा : संयमध्रुवयोग आदि

...आयारसंपदा चउव्विहा पणत्ता, तं जहा—संजम-ध्रुवजोगजुत्ते यावि भवति, असंपगगहियप्पा, अणियत-वित्ती, वुड्डीसीले यावि भवति ।.....

...असंपगगहितप्पत्ति—अनुत्सेकः, अहमाचार्यो बहु-श्रुतस्तपस्वी वा सामायारिकुसलो वा, जात्यादिमदेहि वा अमत्तो। अणिएतवत्तित्ति गामे एगरातिए णगरे पंचरातिए अन्नअन्नाए भिक्खावरियाए अडत्ति...चउत्थादीहि वा एषणाविसेसेहि वा जतति। विसुद्धसीलो निहुत्तसीलो अबालसीलो अचंचलसीलो मज्झत्थसील इत्यर्थः।

(दशा ४/४ चू)

.....चरणं तु संजमो तू, तहियं निच्चं तु उवउत्तो ॥
आयरिओ उ बहुस्सुत, तवस्सि जच्चादिगेहि व मदेहिं।
जो होति अणुस्सित्तो, ऽसंपगगहितो भवे सो उ ॥
अणिययचारिअणिययवित्ती अणिहितो वि होति अणिकेत्तो।
निहुयसभाव अचंचल, नातव्वो वुड्डीसील त्ति ॥
(व्यभा ४०८४-४०८६)

आचारसंपदा के चार प्रकार हैं—

१. संयमध्रुवयोगयुक्तता—चारित्र में सदा समाधियुक्त होना।

२. असंप्रग्रहिता—जाति, श्रुत आदि मर्दों का परिहार करना। जैसे—मैं आचार्य हूँ, बहुश्रुत हूँ, तपस्वी हूँ, सामाचारीकुशल हूँ—इस प्रकार के अहंकार से मुक्त होना।

३. अनियतवृत्ति—अनियतविहार। ग्राम में एक दिन तथा नगर में पांच दिन का प्रवास करना, अन्य-अन्य वीथियों में भिक्षाचर्या करना। उपवास आदि तपस्या करना और एषणासंबंधी अभिग्रहविशेष ग्रहण करना भी अनियतवृत्ति है। अथवा अगृही—अनिकेत होना अनियतवृत्ति है।

४. वृद्धशीलता—शरीर और मन से निर्विकार होना। विशुद्धशीलता, निभृतशीलता, अबालशीलता, अचंचलशीलता और मध्यस्थशीलता—ये वृद्धशीलता के पर्याय हैं।

२. श्रुतसम्पदा : घोषविशुद्धि आदि

.....सुतसंपदा चउव्विहा पणत्ता, तं जहा—बहुसुते यावि भवति, परिचितसुते यावि भवति, विचित्तसुते यावि भवति, घोसविशुद्धिकारए यावि भवति। (दशा ४/५)

बहुसुतजुगप्पहाणे, अर्द्धिभतर-बाहिरं सुतं बहुहा।
होति च सहग्गहणा, चारित्तं पी सुबहुयं पि॥
सगनामं व परिचितं, उक्कमकमतो बहूहि विगमेहिं।
ससमय-परसमएहिं, उस्सग्गऽववायतो चित्तं॥
घोसा उदत्तमादी, तेहि विसुद्धं तु घोसपरिसुद्धं। (व्यभा ४०८८-४०९०)

श्रुतसम्पदा के चार प्रकार हैं—

१. बहुश्रुत—युगप्रधान पुरुष, जो अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगमों का परिज्ञाता होता है तथा जिसके चारित्रपर्यव बहुत निर्मल होते हैं।

२. परिचितश्रुत—जो अपने नाम की तरह श्रुत से परिचित होता है, क्रम-उत्क्रम के विविध प्रकारों से श्रुतपरावर्तन में दक्ष होता है।

३. विचित्तश्रुत—स्वसमय-परसमयवक्तव्यता में निपुण तथा उत्सर्ग-अपवादसूत्रों की विचित्रता को जानने वाला।

४. घोषविशुद्धिकारक—जिसका घोष उदात्त-अनुदात्त-स्वरित से विशुद्ध है, जो शिष्यों को स्पष्ट सूत्र उच्चारण का अभ्यास कराने में कुशल है।

३. शरीरसम्पदा : आरोह-परिणाह आदि

.....शरीरसंपदा चउव्विहा पणत्ता, तं जहा—

आरोहपरिणाहसंपन्ने यावि भवति, अणोतप्पसरिरे, धिर-संघयणे, बहुपडिपुण्णिणदिए यावि भवति। (दशा ४/६)

तवु लज्जाए धातू, अलज्जणीओ अहीणसव्वंगो।
होति अणोत्तप्पे सो, अविगलइंदी तु पडिपुण्णे॥
(व्यभा ४०९३)

शरीरसंपदा के चार प्रकार हैं— १. आरोह-परिणाह-सम्पन्न। २. अनपत्रप—शोभनीय-अलज्जनीय शरीर वाला। अथवा जिसके सभी अंग अहीन—पूर्ण हो। ३. स्थिर (सुदृढ़) संहनन वाला। ४. परिपूर्ण और स्वस्थ इन्द्रियों वाला।

आरोह-परीणाहा, चियमंसो इंदिया य पडिपुण्णा।
अह ओओ तेओ पुण, होइ अणोतप्पया देहे॥

आरोहो नाम—शरीरेण नातिदैर्ध्यं नातिह्रस्वता,
परिणाहो नाम—नातिस्थौल्यं नातिदुर्बलता; अथवा
आरोहः—शरीरोच्छ्रयः, परिणाहः—बाह्योर्विक्रमः, एतौ
द्वावपि तुल्यौ न हीनाधिकप्रमाणौ। (आरोहादिक-मोज
उच्यते, तद् यस्यास्ति स ओजस्वी। (अलज्जनीयता
दीप्तियुक्तत्वेनापरिभूतत्वम्, तद् विद्यते यस्य स तेजस्वी।
(बृभा २०५१ वृ)

आरोह—न दीर्घता, न बौनापन। अथवा शरीर की उचित ऊंचाई।
परिणाह—न स्थूलता, न दुर्बलता। अथवा भुजाओं की विशालता।
आरोह और परिणाह दोनों तुल्य हों, हीनाधिक प्रमाण में न हों। जिसका शरीर सुगठित और उपचित हो, इन्द्रियां प्रतिपूर्ण हों तथा जो आरोह-परिणाहसम्पन्न हो, वह ओजस्वी है।

जो शरीर से अलज्जनीय हो, दीप्तियुक्त होने से अनभिभवनीय हो, वह तेजस्वी है।

माणुम्माणयमाणं, लेहसत्तवपुअंगमंगाइं। (व्यभा ४०९३)
मणिबंधाओ पवत्ता, अंगुट्टे जस्स परिगता लेहा।
सा कुणति धणसमिद्धं, लोगपहाणं च आयरियं॥
सत्तं अदीणता खलु, वपुतेओ जस्स ऊ भवइ देहे।
अंगा वा सुपइट्टा, लक्खण सिरिवच्छमादीणि इतरे॥
(निभा ५९७७, ५९८०, ५९८१)

शरीर के कुछ लक्षण ये हैं—

० मान-उन्मान-प्रमाण युक्त शरीर। द्र शरीर
० रेखा—मणिबंध से अंगुष्ठपर्यंत रेखा, जो गण, ज्ञान आदि

की समृद्धि में हेतुभूत होती है और उससे आचार्य को सुयश प्राप्त होता है—वे लोकमान्य पुरुष बन जाते हैं ।

- ० सत्त्व—महान् संकटकाल में भी अदीन ।
- ० वपु—तेजस्वी आभा वाला शरीर ।
- ० अंगोपांग—सुप्रतिष्ठित-सुसंस्थित अवयव ।
- ० लक्षण—श्रीवत्स, स्वस्तिक आदि लक्षणों और तिल आदि व्यंजनों से युक्त शरीर ।

४. वचनसम्पदा : आदेयवचन आदि

.....वयणसंपदा चउच्चिहा पणत्ता, तं जहा—
आदिज्जवयणे यावि भवति, महुरवयणे यावि भवति,
अणिसियवयणे यावि भवति, असंदिद्धभासी यावि
भवति ॥ (दशा ४/७ चू)

.....आदेज्जगण्डवक्को, अत्थवगाढं भवे मधुरं ॥
अहवा अफरुसवयणो, खीरासवमादिलद्धिजुत्तो वा ।
निस्सियकोधादीहिं, अहवा वी रागदोसेहिं ॥
अव्वत्तं अफुडत्थं, अत्थवहुत्ता व होति संदिद्धं ।
विवरीयमसंदिद्धं, वयणेसा संपया चउहा ॥
(व्यभा ४०९५-४०९७)

वचनसंपदा के चार प्रकार हैं—

१. आदेयवचन—जिसका वचन सबके लिए ग्राह्य होता है ।
२. मधुरवचन—इसके तीन अर्थ हैं—अर्थयुक्तवचन । अपरुष-वचन—जो वचन रूखा और कठोर नहीं होता । क्षीरस्रव आदि लब्धियों से युक्त वचन ।
३. अनिश्रितवचन—इसके दो अर्थ हैं—जो वचन क्रोध से उत्पन्न न हो । जो वचन राग-द्वेष आदि से उत्पन्न न हो ।
४. असंदिग्धवचन—इसके तीन अर्थ हैं—सर्वभाषाविशारद अथवा व्यक्त वचन वाला । स्पष्ट वचन बोलने वाला । निर्णायक शब्द का प्रयोग करने वाला ।

अव्यक्त, अस्पष्ट अर्थ वाला और अनेक अर्थों वाला वचन संदिग्ध वचन है ।

५. वाचनासम्पदा : उद्देशन आदि

.....वायणसंपदा चउच्चिहा पणत्ता, तं जहा—
विजयं उद्दिसति, विजयं वाएति, परिनिव्वावियं वाएति,
अत्थनिज्जवए यावि भवति ।.....

विजयं उद्दिसति—विचिन्त्य विचिन्त्य जो जस्स जोगो तं तस्स उद्दिसति सुत्तमत्थं वा । परिणाभिगादि परिकव्वति—अभायणं न वाएति, जहा अपक्कमद्वियभायणे अंबभायणे वा खीरं न छुब्भति, जइ छुब्भइ विणस्सति ।.....
विजयं वाएति जत्तियं तरति । सो गिण्हितुं परिणिव्वविया जाधे से परिजितः ताहे से अणणं उद्दिसति जाहकवत् । अत्थ-
णिज्जवए—अर्थाभिज्ञो अत्थेण वा तं सुत्तं निव्वहति । अत्थं पि तस्स कधेति, गीतत्थोत्ति भणितं भवति । (दशा ४/८ चू)

वाचनासंपदा (अध्यापन कौशल) के चार प्रकार हैं—

१. विदित्वोद्देशन—शिष्य की योग्यता को जानकर उद्देशन करना । शिष्य परिणामी है या नहीं—इसका परीक्षण कर अपात्र को वाचना न देना । अपक्व मिट्टी के भाजन में या आम्लपात्र में दूध नहीं डाला जाता, यदि डाला जाता है, तो वह नष्ट हो जाता है ।
२. विदित्वावाचना—योग्यता के आधार पर समुद्देशन करना ।
३. परिनिर्वाप्य वाचना—पहले दी गई वाचना को पूर्ण हृदयंगम कराकर आगे की वाचना देना । जैसे जाहक (सैला) दुग्ध पात्र में से थोड़ा-थोड़ा दूध पीकर उसके किनारे चाटता रहता है, जिससे दूध की एक भी बूंद नीचे नहीं गिरती ।
४. अर्थनिर्यापणा—सूत्र के अर्थ और उसके पौर्वापर्य का बोध कराकर शिष्य को गीतार्थ बनाना ।

६. मतिसम्पदा : अवग्रह आदि

.....मतिसंपदा चउच्चिहा पणत्ता, तं जहा—ओग्गह-
मतिसंपदा, ईहामतिसंपदा, अवायमतिसंपदा, धारणा-
मतिसंपदा ॥ (दशा ४/९)

मतिसंपदा के चार प्रकार हैं—१. अवग्रहमतिसंपदा

२. ईहामतिसंपदा ३. अवायमतिसंपदा ४. धारणामतिसंपदा ।

० अवग्रह-ईहा-अवायमति : क्षिप्र, बहु.....

.....ओग्गहमती छुच्चिहा पणत्ता, तं जहा—खिप्पं
ओगिण्हति, बहुं ओगिण्हति, बहुविहं ओगिण्हति, धुवं
ओगिण्हति, अणिसियं ओगिण्हति, असंदिद्धं ओगिण्हति ।
.....एवं ईहामती वि, एवं अवायमती वि ॥

खिप्पं ओगिण्हति—उच्चारितमात्रमेव सिस्से पुच्छंते

परवादीण वा... उच्चारितमात्रं । बहुगं पंचछ-गंधसयाणि ।
बहुविधं नाम लिहति पहारेइ गणेति, अवखा-णयं कहेति,
अणेगेहि वा उच्चारितं अवगेणहति । धुवं ण विसारेति ।
अणिस्सियं न पोत्थयलिहियं अहवा सोउं । असंदिग्धं न
संकिंतं । (दशा ४/१० चू)

सीसेण कुतित्थीण व, उच्चारितमेत्तमेव ओगिण्हे ।
तं खिण्यं बहुगं पुण, पंच व छस्सत्तगंधसया ॥
बहुविह णेगपयारं, जह लिहतिऽवधारए गणेति वि य ।
अवखाणगं कहेती, सहसमूहं व णेगविहं ॥
न वि विस्सरति धुवंतू, अणिस्सितं जन्न पोत्थए लिहियं ।
अणभासियं च गेणहति, णिस्संकिंत होतेऽसंदिद्धं ॥
(व्यभा ४१०६-४१०८)

अवग्रहमति के छह प्रकार हैं—

१. क्षिप्र अवग्रहण—शिष्य अथवा परवादी आदि के उच्चारण मात्र से ग्रहण कर लेना ।
२. बहु अवग्रहण—एक साथ बहुत ग्रहण करना । पांच सौ, छह सौ, सात सौ श्लोकों को एक साथ ग्रहण करना ।
३. बहुविध अवग्रहण—लेखन, दूसरे के द्वारा कथित वचनों का अवधारण, गणना, आख्यान-कथन आदि अनेक क्रियाओं का एक साथ अथवा अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चारित शब्दों का एक साथ अवग्रहण करना ।
४. ध्रुव अवग्रहण—चिरकाल तक विस्मृत न करना ।
५. अनिश्रित अवग्रहण—पुस्तक, संभाषण आदि का सहारा लिए बिना ग्रहण करना ।
६. असंदिग्ध अवग्रहण—निःशंकित करना ।

ईहा और अवाय के भी ये ही छह-छह भेद हैं ।

० धारणामति के प्रकार

...धारणामती छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—बहुं धरेति,
बहुविधं धरेति, पोराणं धरेति, दुद्धरं धरेति, अणिस्सियं
धरेति, असंदिद्धं धरेति ।..... (दशा ४/११)

धारणामति के छह प्रकार हैं—

१. बहुधारण—विपुलश्रुत को धारण करना ।
२. बहुविधधारण—अनेकविध श्रुतपाठ का एक साथ अवधारण करना ।

३. पुराण धारण—पूर्व पठित पाठ को धारण करना ।
४. दुर्धर धारण—भंगों से गहन पाठ का अवधारण करना ।
५. अनिश्रित धारण—बिना किसी अपर आलंबन के स्वयं अवधारण करना ।
६. असंदिग्ध धारण—पाठ को असंदिग्ध रूप में धारण करना ।

७. प्रयोगसम्पदा : परिषद्-परिज्ञान आदि

...पओगसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—आतं
विदाय वादं पउंजित्ता भवति, परिसं विदाय...खेत्तं विदाय
...वत्थुं विदाय वादं पउंजित्ता भवति ।... (दशा ४/१२)
वत्थुं परवादी ऊ, बहुआगमितो न वावि णारुणं ।
राया व रायऽमच्चो, दारुणभदस्सभावो त्ति ॥
(व्यभा ४११५)

प्रयोगसंपदा के चार प्रकार हैं—

१. आत्मपरिज्ञान—वाद-प्रयोग में अपने सामर्थ्य का परिज्ञान ।
२. परिषद्परिज्ञान—परिषद् या वादी के मत का ज्ञान ।
३. क्षेत्रपरिज्ञान—वाद करने के क्षेत्र का परिज्ञान ।
४. वस्तुपरिज्ञान—वाद-काल में निर्णायक के रूप में स्वीकृत सभापति आदि का ज्ञान । परवादी अनेक आगमों का ज्ञाता है या नहीं तथा राजा, अमात्य आदि कठोर स्वभाव वाले हैं अथवा भद्र स्वभाव वाले—यह जानना वस्तुपरिज्ञान है ।

८. संग्रहपरिज्ञा : क्षेत्र आदि की व्यवस्था

संग्रहपरिण्णसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
बहुजणपाओगताए वासावासासु खेत्तं पडिलेहिता भवति,
बहुजणपाओगताए पाडिहारियपीढफलगासेज्जा-संधारयं
ओगेण्हत्ता भवति । कालेणं कालं समाणइत्ता भवति,
अहागुरुं संपूएत्ता भवति ।..... (दशा ४/१३)

वासे बहुजणजोग्गं, वित्थिण्णं जं तु गच्छपायोगं ।
अहवावि बाल-दुब्बल-गिलाण-आदेसमादीणं ॥
खेत्तऽसति असंगहिया, ताधे वच्चंति ते उ अन्नत्थ ।
न उ मइलेति निसेज्जा, पीढगफलगाण गहणम्मि ॥
वित्ते न तु वासासुं, अन्ने काले उ गम्भतेऽण्णत्थ ।
पाणा सीतल-कुंथादिया य तो गहण वासासुं ॥
जं जम्मि होति काले, कायव्वं तं समाणए तम्मि ।
सज्जायपेहउवधी, उप्पायण भिक्खमादी य ॥

अथागुरु जेण पच्चावितो उ जस्स व अधीत पासम्मि ।
अधवा अधागुरु खलु, हवंति रातीणियतरा उ ॥
तेसिं अब्भुद्धानं, दंडग्गह तह य होति आहारे ।
उवधीवहणं विस्सामणं च संपूयणा एसाम् ॥
(व्यभा ४११८-४१२३)

संग्रहपरिज्ञा संपदा (संघव्यवस्था कौशल) के चार प्रकार हैं—

१. बहुजनप्रायोग्यक्षेत्र—वर्षावास में ऐसे क्षेत्र की प्रतिलेखना करना, जो विस्तीर्ण और समूचे संघ—बाल, दुर्बल, ग्लान, तपस्वी, आचार्य, प्राधूर्णक आदि के लिए उपयुक्त हो। ऐसे क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा न करने से योगवाही साधुओं का संग्रह नहीं हो सकता और वे दूसरे गच्छों में भी जा सकते हैं।

२. पीठ-फलक संप्राप्ति—प्रातिहारिक (लौटाने योग्य) पीठ-फलक, शय्या-संस्तारक आदि की उचित व्यवस्था करना। वर्षाकाल में मुनि अन्यत्र विहार नहीं करते तथा उस समय वस्त्र आदि भी नहीं लेते। वर्षाकाल में पीठ-फलक के ग्रहण के बिना संस्तारक आदि मैले हो जाते हैं तथा भूमि की शीतलता से कुन्थु आदि जीवों की उत्पत्ति भी होती है।

३. कालसमानयन—यथासमय स्वाध्याय, उपाधि की प्रत्युपेक्षा, भिक्षाटन आदि की व्यवस्था करना।

४. गुरु-पूजा—यथोचित विनय की व्यवस्था बनाए रखना। प्रब्रज्या देने वाले, अध्यापन करने वाले और दीक्षापर्याय में बड़े मुनि—इन तीनों प्रकार के गुरुओं की पूजा करना अर्थात् उनके आने पर खड़े होना, उनके दंड (यष्टि) को ग्रहण करना, उनके योग्य आहार का संपादन करना, विहार में उपकरणों का वहन तथा उनकी विश्रामणा आदि रूप वैयावृत्य करना।

गीतार्थ—सूत्रार्थ का ज्ञाता मुनि। बहुश्रुत।

१. गीतार्थ कौन ?
२. गीतार्थ-बहुश्रुत के प्रकार
○ बहुश्रुत नियमतः चिरप्रब्रजित
○ बहुसूत्र-श्रुतबहुश्रुत-बहुआगम
३. अबहुश्रुत की गीतार्थता.....
* बहुश्रुत-गीतार्थ की चतुर्भंगी.....
* अबहुश्रुत-अगीतार्थ आचार्य.....
* आचार्य के प्रकार : गीतार्थ.....

४. गीतार्थ : कालज्ञ और उपायज्ञ
५. गीतार्थ और केवली : प्रज्ञप्ति में तुल्य
६. गीतार्थ और कृतयोगी में अंतर
* गीतार्थ का गीतार्थ के साथ व्यवहार द्र व्यवहार
* गीतार्थ ही गणावच्छेदक द्र संघ
* स्थापनाकुल और गीतार्थ द्र स्थापनाकुल
* अनशन में गीतार्थ की मार्गणा द्र अनशन
* गीतार्थ और विहार] द्र विहार
* जिनकल्प आदि और गीतार्थ द्र प्रतिसेवना
* दरिंका प्रतिसेवना से अगीतार्थ द्र प्रतिसेवना
* गीतार्थ और प्रायश्चित्त द्र प्रायश्चित्त

१. गीतार्थ कौन ?

गीयं मुणितेगडुं, विदियत्थं खलु वयंति गीयत्थं ।
गीएण य अत्थेण य, गीयत्थो वा सुयं गीयं ॥
गीएण होइ गीई, अत्थी अत्थेण होइ नायव्वो ।.....

.....परिज्ञातोऽर्थः छेदसूत्रस्य येन तं विदितार्थं खलु
वदन्ति गीतार्थम् ।.....सूत्रधरो नामैको नार्थधरः १ ।
अर्थधरो नामैको न सूत्रधरः २ । एकः सूत्रधरोऽप्यर्थधरो-
ऽपि ३ ।.....तृतीयभंगवर्त्येव तत्त्वतो गीतार्थशब्द-
मविकलमुद्वोदुमर्हति । (बृभा ६८९, ६९० वृ)

गीत, मुणित और परिज्ञात एकार्थक हैं। जो छेदसूत्रों के अर्थ को जानता है, वह निश्चित रूप से गीतार्थ है।

अथवा गीत का अर्थ है सूत्र। जो गीत को सम्यक् प्रकार से जान लेता है, वह गीती है। जो अर्थ को सम्यक् प्रकार से जान लेता है, वह अर्थी है। जो सूत्र और अर्थ—दोनों को जानता है, वह गीतार्थ होता है।

सूत्र-अर्थधर के तीन भंग हैं—१. एक सूत्रधर है, अर्थधर नहीं। २. एक अर्थधर है, सूत्रधर नहीं। ३. एक सूत्रधर भी है, अर्थधर भी है। तृतीय भंगवर्ती मुनि ही वस्तुतः गीतार्थ शब्द की अविकल अर्थवत्ता को वहन करने योग्य है।

अणधीयणिसीहो अगीयत्थो सुत्तेण अब्वत्तो, सुत्तेण गीयत्थो वत्तो ।
(निभा २७३६ की चू)

जिसने निशीथसूत्र नहीं पढ़ा, वह अगीतार्थ सूत्र से

अव्यक्त होता है। गीतार्थ सूत्र से व्यक्त होता है।

जातकप्पिओ णाम गीतत्थो, अजातकप्पिओ
अगीतत्थो। (बृभा ६९४ की चू)

गीतार्थ वह है, जो जातकल्पिक है—छेदसूत्र के अर्थ को धारण कर अग्रिम आगमसूत्रों का अध्ययन करने तथा पिंडैषणा आदि अध्ययनों को पढ़कर पिंड आदि ग्रहण करने योग्य हो गया है। जो अजातकल्पिक है, वह अगीतार्थ है।

वस्त्रपात्रपिण्डशय्यैषणाध्ययनादि छेदसूत्राणि च
सूत्रतोऽर्थतः तदुभयतो वा येन सम्यग्धीतानि स गीतार्थः।
(व्यभा १०८ की वृ)

जिसने आचारचूला के वस्त्रैषणा, पात्रैषणा, पिण्डैषणा, शय्या आदि अध्ययनों तथा छेदसूत्रों का सूत्रतः, अर्थतः अथवा सूत्रार्थतः सम्यक् अध्ययन किया है, वह गीतार्थ है।

२. बहुश्रुत और गीतार्थ के प्रकार

तिविहो बहुस्सुओ खलु, जहण्णओ मञ्झिमो उ उक्कोसो।
आयारपकप्पे कप्प नवम-दसमे य उक्कोसो॥
(बृभा ४०२)

बहुश्रुत के तीन प्रकार हैं—

१. जघन्य बहुश्रुत—आचारप्रकल्प (निशीथ) का ज्ञाता।
२. मध्यम बहुश्रुत—कल्प-व्यवहार को धारण करने वाला।
३. उत्कृष्ट बहुश्रुत—नौपूर्वी-दसपूर्वी मुनि।

आयारपकप्पधरा, चउदसपुव्वी अ जे अ तम्मञ्जा ।
“निशीथाध्ययनधारिणो जघन्या गीतार्थाः” कल्प-
व्यवहार-दशाश्रुतस्कन्धधरादयो मध्यमाः।

(बृभा ६९३ वृ)

गीतार्थ के तीन प्रकार हैं—१. जघन्य—आचारप्रकल्प-
धर। २. मध्यम—कल्प, व्यवहार, दशा आदि का धारक।
३. उत्कृष्ट—चतुर्दशपूर्वी मुनि।

० बहुश्रुत नियमतः चिरप्रव्रजित

चिरपव्वइओ तिविहो, जहण्णओ मञ्झिमो य उक्कोसो।
तिवरिस पंचग मञ्जो, वीसतिवरिसो य उक्कोसो॥

बहुसुय चिरपव्वइओ.....।

यो बहुश्रुतः स नियमाच्चिरप्रव्रजितः येन त्रिवर्ष-

प्रव्रजितस्य निशीथमुद्दिश्यते, पञ्चवर्षप्रव्रजितस्य कल्प-
व्यवहारौ, विंशतिवर्षप्रव्रजितस्य दृष्टिवादः।

(बृभा ४०३, ४०४ वृ)

चिरप्रव्रजित के तीन प्रकार हैं—

जघन्य—तीन वर्ष के मुनिपर्याय वाला।

मध्यम—पांच वर्ष के मुनिपर्याय वाला।

उत्कृष्ट—बीस वर्ष के मुनिपर्याय वाला।

बहुश्रुत निश्चितरूप से चिरप्रव्रजित होता है। तीन वर्ष पर्याय वाले को निशीथ, पांच वर्ष पर्याय वाले को कल्प-व्यवहार और बीस वर्ष पर्याय वाले को दृष्टिवाद पढ़ाया जाता है।

० बहुसूत्र-श्रुतबहुश्रुत-बहुआगम

बहुकालोचितं सूत्रं आचारादिकं यस्य स बहुसूत्रो।
गीतार्थो विदितसूत्रार्थः। (व्यभा १४४२ की वृ)

जिसने श्रुताध्ययनपरिपाटी से आचारांग आदि बहुत से सूत्रों को कण्ठस्थ कर लिया है, वह बहुसूत्र है। जो सूत्रों के अर्थ को भी जानता है, वह गीतार्थ है।

यस्याबह्वपि श्रुतं न विस्मृतिपथमुपय ति य श्रुत-
बहुश्रुतः। (व्यभा ४५०८ की वृ)

जो बहुत सूत्रों को सुनकर भी विस्मृत नहीं करता, वह श्रुतबहुश्रुत है।

बहुरागमोऽर्थरूपो यस्य स बह्वागमः।

(व्यभा १४७९ की वृ)

जो अनेक अर्थार्थों का ज्ञाता है, वह बह्वागम है।

* सूत्रकल्पिक-अर्थकल्पिक

द्र सूत्र

३. बहुश्रुत तथा अबहुश्रुत की गीतार्थता, अगीतार्थता
अबहुश्रुतो नाम येनाऽऽचारप्रकल्पाध्ययनं नाधीतं
अधीतं वा परं विस्मारितम्, अगीतार्थः येन छेदश्रुतार्थो न
गृहीतो गृहीतो वा परं विस्मारितः।^१...

इह चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा—अबहुश्रुतो नामैको-
ऽगीतार्थश्च, अबहुश्रुतो गीतार्थः बहुश्रुतोऽगीतार्थः, बहुश्रुतो
गीतार्थश्च।^१ प्रमादादिना सूत्रं विस्मृतम् अर्थं पुनः स्मरती-
त्यबहुश्रुतस्य गीतार्थत्वम्, यद्वा आज्ञाधारणादिमात्रव्यव-
हारेणाबहुश्रुतस्यापि गीतार्थत्वम्, ...ऽऽचारप्रकल्पाध्ययनं

सूत्रतोऽधीतं न पुनरर्थतः श्रुत्वा सम्यग्धिगतमिति बहुश्रुत-
स्यागीतार्थत्वम् । (बृभा ७०३, ७०८ की वृ)

जिसने आचारप्रकल्प का अध्ययन नहीं किया हो या अध्ययन कर भूल गया हो, वह अबहुश्रुत है। जिसने छेदसूत्र को अर्थ सहित ग्रहण न किया हो या ग्रहण कर भूल गया हो, वह अगीतार्थ है।

बहुश्रुत-गीतार्थ के सन्दर्भ में चार विकल्प हैं—

- | | |
|------------------------|-----------------------|
| १. अबहुश्रुत- अगीतार्थ | ३. बहुश्रुत- अगीतार्थ |
| २. अबहुश्रुत- गीतार्थ | ४. बहुश्रुत- गीतार्थ |

प्रमाद से सूत्र विस्मृत हो गया किन्तु अर्थ याद है, अथवा जो आज्ञा, धारणा आदि का मात्र व्यवहार करता है, यह अबहुश्रुत की गीतार्थता है। जिसने आचारप्रकल्प का अध्ययन सूत्रतः किया हो, अर्थतः सुनकर सम्यग् ग्रहण न किया हो, यह बहुश्रुत की अगीतार्थता है।

४. गीतार्थ कालज्ञ और उपायज्ञ

सुहसाहगं पि कज्जं, करणविहूणमणुवायसंजुत्तं ।
अन्नायऽदेस-काले, विवत्तिमुवजाति सेहस्स ॥
नक्खेणावि हु छिज्जइ, पासाए अभिनवुद्धितो रुक्खो ।
दुच्छेज्जो वड्ढंतो, सो च्चिय वत्थुस्स भेदाय ॥
जो य अणुवायछिन्नो, तस्सइ मूलाइं वत्थुभेदाय ।
अहिनव उवायछिन्नो, वत्थुस्स न होइ भेदाय ॥
संपत्ती य विपत्ती, य होज्ज कज्जेसु कारगं पप्प ।
अणुवायतो विवत्ती, संपत्ती कालुवाएहिं ॥
इय दोसा उ अगीए, गीयम्मि उ कालहीणकारिम्मि ।
गीयत्थास्स गुणा पुण, होंति इमे कालकारिस्स ॥
आयं कारण गाढं, वत्थुं जुत्तं ससत्ति जयणं च ।
सव्वं च सपडिवक्खं, फलं च विधिवं वियाणाइ ॥
आयरियाइं वत्थुं, तेसिं चिय जुत्त होइ जं जोग्गं ।
गीय परिणामगा वा, वत्थुं इयरे पुण अवत्थुं ॥

(बृभा ९४४-९४६, ९४९-९५१, ९५५)

जो शैक्ष कार्यविधि से अनजान है, उचित देश और काल में कार्य प्रारंभ नहीं करता, उसका प्रयत्न-विहीन और अनुपाय से संयुक्त सुखसाध्य कार्य भी निष्पन्न नहीं होता।

प्रासाद में उगे हुए अभिनव वृक्ष का नख से भी छेदन किया जा सकता है। वही वृक्ष जब शाखा-प्रशाखाओं से विस्तार पा लेता है तब वह दुश्छेद्य हो जाता है। उसकी वृद्धि प्रासाद का भेदन कर सकती है। जो समूल छिन्न नहीं है, तो उसकी जड़ें भी प्रासाद को भेद सकती हैं। अभिनव वृक्ष को समूल छिन्न करने पर प्रासाद सुरक्षित रहता है।

कर्त्ता के अनुरूप ही कार्य की सिद्धि और असिद्धि होती है। कर्त्ता उपायज्ञ नहीं है तो कार्य की सिद्धि नहीं होती। कर्त्ता कालज्ञ और उपायज्ञ है तो कार्य सिद्ध हो जाता है। अगीतार्थ या हीन अधिक काल में कार्य करने वाला गीतार्थ किसी कार्य को निष्पन्न नहीं कर पाता। जो गीतार्थ उचित उपायों से उचित काल में कार्य करता है, उसमें निम्न गुण होते हैं—

गीतार्थ उत्सर्ग-अपवाद आदि विधियों को जानता है। वह जानता है कि किस कार्य में अधिक लाभ है? कौन से कार्य की प्रयोजनीयता है? ग्लानत्व आदि आगाढ़ कारणों में प्रतिसेवना की औचित्य-सीमा क्या है? वह वस्तु (परिणामक साधु) को जानता है, उसके धृति और संहनन के सामर्थ्य को जानता है, एषणीय द्रव्य ग्रहण की यतना को जानता है तथा कार्य-अकार्य की निष्पत्ति को भी जानता है।

वह अलाभ, अकारण, अनागाढ, अवस्तु (अपरिणामक आदि), अयुक्त, अशक्त और अयतना—इन प्रतिपक्षों को भी जानता है।

आचार्य आदि प्रधान पुरुष तथा गीतार्थ-परिणामक साधु को वस्तु कहा जाता है। शेष अगीतार्थ, अपरिणामक आदि सब अवस्तु कहलाते हैं। समयज्ञ गीतार्थ इन सब के प्रायोग्य आहार, औषध, स्थान आदि की युक्तता-अयुक्तता को जानता है।

५. गीतार्थ और केवली : प्रज्ञप्ति में तुल्य

सव्वं नेयं चउहा, तं वेइ जिणो जहा तहा गीतो ।
चित्तमचित्तं मीसं, परित्तंणंतं च लक्खणतो ॥
कामं खलु सव्वन्नु, नाणेणऽहिओ दुवालसंगीतो ।
पन्त्तीइ उ तुल्लो, केवलनाणं जओ मूयं ॥

(बृभा ९६२, ९६३)

उत्कृष्ट बहुश्रुतगीतार्थ केवली की भांति होता है। सारा ज्ञेय चार प्रकार का होता है—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से। जैसे केवली चतुर्विध ज्ञेय तथा सचित्त-अचित्त-मिश्र-धरीत अनन्त वनस्पति को लक्षण से जानता है, प्रज्ञापित करता है, वैसे ही श्रुतधर श्रुत के आधार पर जानता है, प्ररूपित करता है। यद्यपि केवली द्वादशांगविद्—श्रुतकेवली से ज्ञान में अधिक होता है, यह सही है परन्तु प्रज्ञप्ति में वह श्रुतकेवली के तुल्य होता है। जो भाव श्रुतज्ञान के विषयभूत नहीं हैं, केवली उन्हें जान सकता है किन्तु वह भी उनकी प्रज्ञापना नहीं कर सकता क्योंकि केवलज्ञान मूक है।

* बहुश्रुत : शंख आदि की उपमा द्र श्रीआको १ बहुश्रुत ६. गीतार्थ और कृतयोगी में अंतर

श्रुतार्थप्रत्युच्चारणासमर्थः कृतयोगी । यस्तु श्रुतार्थ-
प्रत्युच्चारणासमर्थः स गीतार्थः । (निभा ३००१ की चू)
कृतयोगी—जो श्रुत-अर्थ के प्रत्युच्चारण में समर्थ नहीं है।
गीतार्थ—जो श्रुतार्थ के प्रत्युच्चारण में कुशल है।

सूत्रोपदेशेन मोक्षाविराधीकृतो ज्यस्तो योगो मनो-
वाक्कायव्यापारात्मकः स कृतयोगः स येषामस्ति ते
कृतयोगिनः । बहुश्रुताः प्रकीर्णकानामपि सूत्रार्थधारणात् ।
(व्यभा १४७८ की वृ)

सूत्रोपदेश के अनुरूप मोक्षहेतु मन-वचन-काया का
विराधनाविहीन प्रवृत्त्यात्मक चिन्त्यास कृतयोग है। जो उसमें
संलग्न है, वह कृतयोगी है।

बहुश्रुत प्रकीर्णकों के सूत्रार्थ को भी धारण करता है।

गुप्ति—असत् प्रवृत्ति से निवर्तन। योगनिग्रह।

गुप्तिंदिय सोतिंदियविसयपधारनिरोधो वा सोतिं-
दियप्यत्तेसु वा अत्थेसु रागदोसनिग्गहो । एवं पंचणह वि ।
(दशा ५/७ की चू)

गुप्तेन्द्रिय के दो अर्थ हैं—

- ० शब्द आदि पांचों इन्द्रियविषयों की प्रवृत्ति का निरोध।
- ० जो इन्द्रियों को प्राप्त विषय हैं, उनमें राग-द्वेष का निग्रह।
(गुप्ति तीन प्रकार की है—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति,
कायगुप्ति। संयत मनुष्य के तीनों ही गुप्तियां होती हैं।

अगुप्ति तीन प्रकार की है—मनअगुप्ति, वचनअगुप्ति, काय-
अगुप्ति। नैरयिक, दस भवनपति, पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक,
असंयत मनुष्य, वानमंतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक देवों में
तीनों ही अगुप्तियां होती हैं।

गुप्ति का शाब्दिक अर्थ है—रक्षा। मन, वचन और काय
के साथ योग होने पर इसका अर्थ होता है—मन, वचन और
काय की अकुशल प्रवृत्तियों से रक्षा और उनका कुशल प्रवृत्तियों
में नियोजन। असम्यक् की निवृत्ति हुए बिना कोई भी प्रवृत्ति
सम्यक् नहीं बनती, इस दृष्टि से सम्यक्प्रवृत्ति में गुप्ति का
होना अनिवार्य माना गया है।

सम्यक् प्रवृत्ति से निरपेक्ष होकर यदि गुप्ति का अर्थ
किया जाए तो इसका अर्थ होगा—निरोध। महर्षि पतञ्जलि ने
लिखा है—‘चित्तवृत्तिनिरोधो योगः।’ (योगदर्शन १/१) जैन
दृष्टि से इसका समानान्तर सूत्र लिखा जाए तो वह होगा
‘चित्तवृत्तिनिरोधो गुप्तिः।’—स्था ३/२१-२३ टि

साधना के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन अपेक्षित
होता है। प्रवृत्ति के बिना जीवन की यात्रा नहीं चलती और
निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति में होने वाली समस्याओं का समाधान
नहीं हो सकता। इसलिए यह निर्देश है कि मन, वचन तथा
शरीर की सम्यक् प्रवृत्ति और गुप्ति दोनों करनी चाहिए। उनकी
सम्यक् प्रवृत्ति करने वाला मुनि मनसमित, वचनसमित और
कायसमित कहलाता है। उनकी निवृत्ति करने वाला मनोगुप्त,
वचनगुप्त और कायगुप्त कहलाता है।—ध २/५५ का भाष्य)

* समिति और गुप्ति..... द्र श्रीआको १ गुप्ति, समिति
मनोगुप्ति : श्रेष्ठिपुत्र मुनि दृष्टांत

मणोगुप्तीए—एगो सेट्टिसुतो सुन्नधरे पडिंमं ठितो ।
पुराणभज्जा से सन्निरोहमसहमाणी उब्भामइल्लेण समं
तं चैव घरमतिगता । पल्लंकरिखल्लएण य साधुस्स पादो
विद्धो । तत्थ अणायारं आयरति । ण य तस्स भगवतो
मणो विणिग्गतो सट्ठाणातो । (दशानि ९२ की चू)

एक श्रेष्ठिपुत्र दीक्षित होकर एक शून्यगृह में प्रतिमा
में स्थित हो गया। उसकी त्यक्तभार्या निरोध को सहन नहीं
कर सकी और वह एक जार पुरुष के साथ उसी शून्यगृह में
आई। पल्यंक बिछाया। पल्यंक के पायों में कील लगे हुए

थे। शून्यगृह में अंधकार व्याप्त था। एक पाया मुनि के पैर पर टिका और मुनि का पैर उस कील से बिंध गया। वह जार पुरुष के साथ व्यभिचार करने लगी। किन्तु उस भगवान् मुनि का मन अपने ध्यान से विचलित नहीं हुआ।

० वचनगुप्ति : साधु-ज्ञातिजन दृष्टांत

वतिगुप्तीए—सण्णातयसगासं साधू पत्थितो। चोरेहिं गहितो वुत्तो य। मातपितरो से विवाहनिमित्तं एंताणि दिट्ठाणि। तेहिं नियत्तितो। तेण तेसिं वड्ढगुत्तेण ण कहितं। पुणारवि चोरेहिं गहिताणि। साहू य पुणो तेहिं दिट्ठो। स एवायं साधुत्ति भण्णुण मुक्को। इतराणवि तस्स वड्ढ-गुत्तस्स मातापितरोत्ति काउं मुक्काणि। (दशानि ९२ की चू)

एक साधु अपने ज्ञातिजनों के साथ प्रस्थित हुआ। चोरों ने उसे पकड़ लिया और पूछताछ की। मुनि मौन रहा, तब उसे छोड़ दिया। साधु ने अपने माता-पिता को विवाह के निमित्त उधर जाते हुए देखा। किन्तु चोरों के बारे में कुछ नहीं बताया। चोरों ने उन्हें भी रोका और पकड़ लिया। साधु को भी पुनः पकड़ लिया। फिर यह वही साधु है—ऐसा कहकर उसे छोड़ दिया। ये वाग्गुप्त मुनि के माता-पिता हैं, यह सोचकर उन्हें भी मुक्त कर दिया।

* वचनसमिति और मौन

द्र समिति

० कायगुप्ति : कूर्म दृष्टांत

जहा कच्छपो स्वजीवितपरिपालनार्थं अप्पणो अंगाणि सए कभल्ले गोवेति गमणादिकारणे पुण सणियं पसारेति, तथा साधुवि संजमकडाहे इंदियपयारं कायचेट्टं च निरुंभति। (दशा ५/७ की चू)

कछुआ अपने जीवन की सुरक्षा के लिए अपने अंग-प्रत्यंगों को अपने कटाह में संगोषित कर लेता है। गमन आदि प्रयोजन होने पर पुनः अपने अवयवों को धीरे-धीरे फैलाता है। इसी प्रकार साधु भी संयम रूपी कटाह में इन्द्रियों की प्रवृत्ति का और कायचेष्टा का निरोध करता है।

० कायगुप्त मुनि दृष्टांत

कायगुप्तीए—साहू हत्थिसंभमे गतिं ण भिंदति, अद्धाणपडिवन्नो वा। (दशानी ९२ की चू)

कायगुप्ति की साधना में निष्णात मुनि यतनापूर्वक चल रहा था। इतने में ही एक हाथी चिंघाड़ता हुआ उसी मार्ग पर आ गया। उसके भय से मुनि ने अपनी गति में भेद नहीं किया। वह ईर्यापूर्वक मार्ग में चलता रहा। हाथी निकट आया और उसने मुनि को सूंड में पकड़कर ऊपर उछाला। उस समय मुनि ने अपने शरीर की परवाह नहीं की। नीचे गिरने पर सत्त्वों की हिंसा होगी—इस दयाभाव में परिणत होकर वह ध्यानस्थ हो गया।

गोष्ठी—मण्डली, समान वय वालों का समुदाय।

गोष्ठी के अधिकृत व्यक्ति महत्तर आदि

महतर अणुमहतरए, ललियासण कडुअ दंडपतिए य। एतेहिं परिग्गहिया, हांति घडातो तदा काले॥ सव्वत्थ पुच्छणिज्जो, तु महतरो जेट्ठमासण धुरे य। तहियं तु असण्णिहिए, अणुमहतरतो धुरे ठाति॥ भोयणमासणमिट्ठं, ललिए परिवेसिया दुगुणभागो। कडुओ उ दंडकारी, दंडपती उगमे तं तु॥ (बृभा ३५७४-३५७६)

प्राचीनकाल में पांच प्रकार के व्यक्तियों द्वारा परिगृहीत गोष्ठियां होती थीं—

१. महत्तर—सब गोष्ठीपुरुषों में यह प्रमाणभूत प्रथमपुरुष होता था। सारे कार्य इसी से पूछकर किए जाते थे। इसका आसन बृहत्तर होता, जो सबसे आगे स्थापित किया जाता।
२. अनुमहत्तर—यह महत्तर की अनुपस्थिति में सबके द्वारा प्रच्छनीय होता था तथा इसका स्थान भी प्रथम होता था।
३. ललितासनिक—इसका अशन और आसन ललित होता था, इसे मनोज्ञ आहार का दुगुना भाग दिया जाता। भोजन परोसने के लिए उस स्त्री की नियुक्ति की जाती, जो उसे अभीष्ट होती थी।
४. कटुक—यह गोष्ठी के अपराधी सदस्य के दंड का परिच्छेद (निर्धारण) करता था।
५. दंडपति—यह उस दंड को वहन करवाता था।

गोष्ठीपुरुष शय्यातर की अनुज्ञाविधि

.....अणुणवणा,एक्को पढमं।
जेट्ठादिअणुणवणा, पाहुणए जं विहिग्गहणं॥
(बृभा ३५७७)

महत्तर आदि पांचों के अधीनस्थ देवकुल, सभाभवन आदि में मुनियों को रहना होता तो यदि वे पांचों एक ही स्थान पर प्राप्त हो जाते, तब उनकी आज्ञा ले ली जाती। यदि वे एकत्र प्राप्त नहीं होते, तो ज्येष्ठमहत्तर की आज्ञा ली जाती। उसके अभाव में अनुमहत्तर के क्रम से आज्ञा ली जाती। यदि वे घर पर नहीं मिलते तो उनके प्राधूर्णक से आज्ञा ले ली जाती — इस प्रकार उपाश्रय का विधिपूर्वक ग्रहण अनुज्ञात है।

चक्रवर्ती—छह खंड वाले भरतक्षेत्र का अधिपति।

चक्रवर्तिप्रभृतिको महर्द्धिकः पृथ्वीपतिः... षट्-
खण्ड-भरतादेः क्षेत्रस्य प्रभुत्वमनुभवति। (बृभा ६६९ की वृ)
अजहन्नमणुक्कोसो... जो आरि— चक्रवर्तीणं ।
(बृभा ६७७)

सब चक्रवर्तियों का एकरूप आधिपत्य (एकछत्र अखंड शासन) होता है, अतः उनसे सम्बन्धित अवग्रह (प्रभुत्वक्षेत्र) न जघन्य होता है, न उत्कृष्ट—अजघन्योत्कृष्ट होता है। (शेष राजाओं का नगररोध आदि के समय नगर मात्र जघन्य अवग्रह भी रह जाता है।)

.....लोगच्छेरयभूया, जह चक्कीणं महाणिहयो ॥

लोकाश्चर्यभूताः महानिधयः नैसर्पप्रभृतयः चक्रिणां
भरतादीनां प्रातिहार्याणि कुर्वन्ति। (बृभा ४२१८ वृ)

लोक में आश्चर्य उत्पन्न करने वाले नैसर्प, पांडुक आदि नौ महानिधि भरत आदि चक्रवर्तियों के शासन में प्रातिहार्य—यथाभिलषित वस्तुएं प्रस्तुत करते हैं।

(चक्रवर्ती के अपने राज्य के लिए उपयोगी सभी वस्तुओं की प्राप्ति नौ निधियों से होती है, इसलिए इन्हें नव निधान के रूप में गिनाया जाता है। प्रचलित परम्परा के अनुसार ये निधियां देवकृत और देवाधिष्ठित मानी जाती हैं। परन्तु वास्तव में ये सभी आकर ग्रन्थ हैं, जिनसे सभ्यता और संस्कृति तथा राज्य-संचालन की अनेक विधियों का उद्भव हुआ है। इनमें तत्-तत् विषयों का सर्वांगीण ज्ञान भरा था, इसलिए इन्हें निधि के रूप में माना गया। हम इन नौ निधियों को ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में इस प्रकार बांट सकते हैं—

१. नैसर्प निधि—वास्तुशास्त्र।

२. पांडुक निधि—गणितशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र।
३. पिंगल निधि—मंडनशास्त्र।
४. सर्वरत्न निधि—लक्षणशास्त्र।
५. महापद्म निधि—वस्त्र-उत्पत्तिशास्त्र।
६. काल निधि—कालविज्ञान, शिल्पविज्ञान और कर्मविज्ञान का प्रतिपादक महाग्रन्थ।
७. महाकाल निधि—धातुवाद।
८. माणवक निधि—राजनीति व दण्डनीति शास्त्र।
९. शंख निधि—नाट्यशास्त्र व वाद्यशास्त्र।

—स्था ९/२२ का टि)

- * छह खंड द्र लोक
- * चक्रवर्ती : क्षेत्र-काल-अवग्रह द्र अवग्रह
- * चक्रवर्ती : कल्याण आहार द्र ब्रह्मचर्य
- * चक्रवर्ती : चौदह रत्न... द्र श्रीआको १ चक्रवर्ती

चरन्ती दिशा—प्रशस्त दिशा—तीर्थकर, आचार्य आदि की विहरण दिशा। द्र आलोचना

चारित्र—महाव्रत आदि का आचरण। सामायिक की साधना।

१. चारित्र (संयम) का वर्गीकरण
२. वृद्धि-हानि की अपेक्षा चारित्र के विकल्प
३. शैक्षभूमि : सामायिक चारित्र की कालमर्यादा
४. शैक्षभूमि की प्राचीन परम्परा
५. उपस्थापना : तीन आदेश
६. देश-सर्व-उपस्थापना के विकल्प
 - * चारित्र : स्थित-अस्थितकल्प द्र कल्पस्थिति
 - * प्रव्राजना-उपस्थापना]
 - * उपस्थापना कल्पिक] द्र दीक्षा
 - * स्थविरकल्पी और चारित्र द्र स्थविरकल्प
 - * परिहारविशुद्धि चारित्र]
 - * सामायिक.....संयमस्थान] द्र परिहारविशुद्धि
 - * जिनकल्पी और चारित्र द्र जिनकल्प
७. कषाय से चारित्र समाप्त
८. मूल-उत्तरगुण भंग से चारित्र भंग
 - * मूलगुण-उत्तरगुण-संख्या

* अचौर्य महाव्रत की सूक्ष्मता	द्र महाव्रत
* अतिचार : चारित्र और भाव	द्र आचार
१. चारित्र से संबंधित शबल दोष	
१०. शबल और उसका सीमानिर्धारण	
११. शबल दोष से विराधना : घट दृष्टांत	
१२. प्रथम पांच शबल : गुरु प्रायश्चित्त	
१३. बारहवें शबल का स्वरूप	
१४. दर्शन-ज्ञान-शबल	
१५. छेदाहं प्रायश्चित्त तक शबल	
१६. चारित्र बिना निर्वाण नहीं	
१७. चारित्र की विशुद्धि आज भी है	
१८. चारित्र कब तक ?	
१९. चारित्र से तीर्थ की अवस्थिति	
* चारित्र और प्रायश्चित्त.....	द्र प्रायश्चित्त
* चारित्र उपसम्पदा] द्र उपसम्पदा
* चारित्र में फलधता के स्थान	
* प्रतिसेवना और सचारित्र तीर्थ	

१. चारित्र (संयम) के वर्गीकरण

एगबिहो पुण सो संजमो ति अञ्जत्थ-बाहिरो य दुहा ।
मण-वयण-काय तिविहो, चउव्विहो चाउजामो उ ॥
पंच य महव्वयाइं, तु पंचहा राइभोयणे छट्ठा ।
शीलांगसहस्साणि य, आयारस्सप्यवीभागा ॥
(आनि ३१३, ३१४)

संयम के विभिन्न वर्गीकरण हैं—

एकविध संयम — अविरति की निवृत्ति ।

दो प्रकार का संयम — अध्यात्म तथा बाह्य ।

तीन प्रकार का संयम — मनःसंयम, वचनसंयम, कायसंयम ।

चार प्रकार का संयम — चार याम ।

पांच प्रकार का संयम — पांच महाव्रत ।

छह प्रकार का संयम — पांच महाव्रत तथा रात्रिभोजनविरमण व्रत ।

इस प्रकार आचार-संयम विभक्त होता हुआ अठारह हजार शीलांग परिमाण वाला हो जाता है ।

* अठारह हजार शीलांग यंत्र द्र श्रीआको १ चारित्र

२. वृद्धि-हानि की अपेक्षा चारित्र के विकल्प
वड्ढति हायति उभयं, अवड्ढियं च चरणं भवे चउहा ।
खड्ढियं तहोवसमियं, मिस्समहक्खाय खेतं च ॥
कामं आसवदारेसु वड्ढियं पलवितं बहुविधं च ।
लोगविरुद्धा य पदा, लोउत्तरिया य आइण्णा ॥
न य बंधहेउविगलत्तणेण कम्मस्स उवचयो होति ।“
(बृभा ६२२५-६२२७)

वृद्धि आदि की अपेक्षा से चारित्र के चार विकल्प हैं—

१. वृद्धि—क्षपकश्रेणि में क्षायिक चारित्र वर्धमान होता है ।
२. हानि—उपशमश्रेणि से गिरते समय औपशमिक चारित्र की हानि होती है ।
३. वृद्धि-हानि—क्षायोपशमिक चारित्र की राग-द्वेष के उत्कर्ष-अपकर्ष से हानि और वृद्धि दोनों होती है ।
४. अवस्थित—राग-द्वेष के उदय के सर्वथा अभाव के कारण यथाख्यात चारित्र की न हानि होती है और न वृद्धि ।
५. क्षिप्तचित्त साधु परवशता से सारी प्रवृत्तियां करता है अतः उसका चारित्र भी अवस्थित है । यद्यपि यह सही है कि उसने चिरकाल तक आश्रवों का सेवन किया है, बहुत प्रकार से असमंजस प्रलाप किया है तथा लोक व लोकोत्तर विरुद्ध आचरण किया है, फिर भी क्षिप्तचित्तता के कारण वह बंध हेतुओं से विकल है इसलिए उसके कर्म का सधन उपचय नहीं होता ।

३. शैक्षभूमि : सामायिक चारित्र की कालमर्यादा

तओ सेहभूमीओ षण्णत्ताओ, तं जहा—जहण्णा
मज्झिमा उक्कोसा । सत्तराईदिया जहण्णा, चाउम्मासिया
मज्झिमा, छम्मासिया उक्कोसा । (व्य १०/२०)

तीन शैक्षभूमियां हैं—१. जघन्य सात अहोरात्र की ।

२. मध्यम चार महीनों की । ३. उत्कृष्ट छह महीनों की ।

(जो अचिर प्रव्रजित है, सामायिक चारित्र की काल-मर्यादा में स्थित है, छेदोपस्थापनीय चारित्र में अनारोपित है, वह शैक्ष है ।

जो ग्रहणशिक्षा और आसवेन शिक्षा ग्रहण करता है, वह शैक्ष है ।—तभा ९/२४

भिक्षु सीखता है, इसलिए शैक्ष कहलाता है । शील-

संबंधी, चित्तसंबंधी और प्रज्ञासंबंधी शिक्षा ग्रहण करता है, इसलिए वह शैक्ष कहलाता है।—अंतिम भाग १ पृ २२८)

४. शैक्षभूमि की प्राचीन परम्परा

पुत्रोवदुपुराणे, करणजयट्टा जहणिया भूमि।
उक्कोसा दुम्मेहं, पडुच्च अस्सइहाणं च॥
एमेव य मज्झमिया, अणहिज्जंते असइहंते य।
भावियमेहाविस्स वि, करणजयट्टाय मज्झमिया॥
(व्यभा ४६०५, ४६०६)

१. जघन्य शैक्षभूमि—कोई मुनि उत्प्रव्रजित होकर पुनः प्रव्रजित होता है, वह पूर्व विस्मृत सामाचारी की स्मृति और इन्द्रियजय का अभ्यास एक सप्ताह में कर लेता है, अतः उसे सातवें दिन उपस्थापित कर देना चाहिए। यह जघन्य भूमि है।

२. उत्कृष्ट शैक्षभूमि—कोई व्यक्ति प्रथम बार प्रव्रजित होता है, वह बुद्धि और श्रद्धा—दोनों से मंद है, उसे सामाचारी और इन्द्रियविजय का अभ्यास छह मास तक कराना चाहिए।

३. मध्यम शैक्षभूमि—इसी प्रकार मंद बुद्धि और श्रद्धा वाले को सामाचारी व इन्द्रियजय का अभ्यास चार मास तक कराना चाहिए। अथवा कोई भावनाशील, श्रद्धासम्पन्न मेधावी व्यक्ति प्रव्रजित हो तो उसे भी सामाचारी व इन्द्रियविजय का अभ्यास चार मास तक कराना चाहिए। यह शैक्ष की मध्यम भूमि है।

५. उपस्थापना : तीन आदेश

सा जेसि उवट्टवणा, जेहि य ठाणेहिं पुरिम-चरिमाणं।
पंचायामे धम्मे, आदेसतिगं च मे सुणसु॥
तओ पारंचिया वुत्ता, अणवट्टा य तिण्णि उ।
दंसणम्मि य वंतम्मि, चरित्तम्मि य केवले॥
अदुवा चियत्तकिच्चे, जीवकाए समारभे।
सेहे दसमे वुत्ते, जस्स उवट्टावणा भणिया॥
जे य पारंचिया वुत्ता, अणवट्टाप्या य जे विदू।
दंसणम्मि य वंतम्मि, चरित्तम्मि य केवले॥
अदुवा चियत्तकिच्चे, जीवकाए समारभे।
सेहे छट्ठे वुत्ते, जस्स उवट्टावणा भणिया॥
दंसणम्मि य वंतम्मि, चरित्तम्मि य केवले।
चियत्तकिच्चे सेहे य, उवट्टाप्या य आहिया॥
(बृभा ६४०९-६४१४)

प्रथम और चरम तीर्थंकर के शासन में पंचायाम धर्म के जिन अपराधपदों में जिन साधुओं की उपस्थापना होती है, उनके प्रसंग में तीन आदेश हैं—

१. दसविध—तीन प्रकार के पारंचिक—१. दुष्ट, २. प्रमत्त और ३. अन्योन्यक्रियाकारी। तीन प्रकार के अनवस्थाप्य—
४. साधर्मिकस्तेन, ५. अन्यधार्मिकस्तेन, ६. मारक प्रहार करने वाला तथा ७. सर्वदर्शनभ्रष्ट, ८. सर्वचारित्रभ्रष्ट, ९. आकुट्टि या दर्ष से सम्पूर्ण संयमव्यापार का परित्याग कर छह जीविकाय का समारंभ करने वाला और १०. शैक्ष (अभिनव दीक्षित)—इनको उपस्थापित किया जाता है।

२. षड्विध—१. पारंचित, २. अनवस्थाप्य, ३. सम्पूर्ण दर्शनभ्रष्ट, ४. सर्वचारित्रभ्रष्ट, ५. संयम त्यागकर जीविकाय की हिंसा करने वाला और शैक्ष—इनकी उपस्थापना होती है।

३. चतुर्विध—१. दर्शनभ्रष्ट, २. चारित्रभ्रष्ट, ३. षट्काय-विराधक और ४. शैक्ष को उपस्थापनायोग्य कहा गया है।

६. देश-सर्व-उपस्थापना के विकल्प

केवलगहणा कसिणं, जति वसती दंसणं चरित्तं वा।
तो तस्स उवट्टवणा, देसे वंतम्मि भयणा तु॥
एमेव य किंचि पदं, सुयं व असुयं व अप्पदोसेणं।
अविकोवितो कहितो, चोदिय आउट्ट सुद्धो तु॥
अणाभोएण मिच्छत्तं, सम्पत्तं पुणारागते।
तमेव तस्स पच्छित्तं, जं मग्गं पडिवज्जई॥
आभोगेण मिच्छत्तं, सम्पत्तं पुणारागते।
जिण-थेराण आणाए, मूलच्छेज्जं तु कारए॥
छणहं जीविकायाणं, अणप्पज्झो तु विराहओ।
आलोइय-पडिवकंतो, सुद्धो हवति संजओ॥
छणहं जीविकायाणं, अप्पज्झो उ विराहतो।
आलोइय-पडिवकंतो, मूलच्छेज्जं तु कारए॥
(बृभा ६४१५-६४२०)

जो सम्पूर्णरूप से दर्शन और चारित्र से च्युत हो गया है, उसको छेदोपस्थापनीय चारित्र दिया जाता है।

दर्शन-चारित्र के देशभंग में उपस्थापना की भजना है—

कोई अभिनिवेश से मुक्त अगीतार्थ दूसरों के सामने जीव आदि से संबंधित या सूत्र से संबंधित श्रुत-अश्रुत-पदों

का अन्यथा प्रतिपादन करता है और आचार्य आदि के द्वारा निषेध किए जाने पर पुनः सम्यक् प्रवृत्त होता है, वह उपस्थापना के योग्य नहीं है। 'मिच्छा मि दुक्कडं' के कथनमात्र से उसकी शुद्धि हो जाती है।

कोई श्रावक अनजान में निह्वों के पास दीक्षित हो जाता है, सही ज्ञानकारी मिलने पर 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहकर मिथ्यात्व से निवृत्त हो पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर शुद्ध साधुओं के पास उपसम्पन्न होता है—सही मार्ग की प्रतिपत्ति ही उसका प्रायश्चित्त है और वही व्रतपर्याय है, उसकी पुनः उपस्थापना नहीं होती।

जो ज्ञानबूझकर सन्मार्ग छोड़कर मिथ्यामार्ग को स्वीकार करता है और दूसरों के द्वारा प्रज्ञापित होकर पुनः सम्यक्त्वी बन दीक्षित होता है, उसे अर्हत् और आचार्य की आज्ञा से मूलच्छेद्य प्रायश्चित्त दिया जाता है—मूलतः उपस्थापित किया जाता है।

जो साधु परवशता के कारण षट्जीवनिकाय की विराधना करता है, वह आलोचना-प्रतिक्रमण से शुद्ध हो जाता है। जो स्वच्छन्दता से छहजीवनिकाय की विराधना करता है, वह आलोचना-प्रतिक्रमणपूर्वक मूलतः ही उपस्थापनीय है।

७. कषाय से चारित्र समाप्त

अकसायं खु चरित्तं, कसायसहितो न संजओ होइ ।
जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए ।
तं पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण ॥
(बृभा २७१२, २७१५)

चारित्र की निष्पत्ति अकषाय अवस्था में ही होती है। निश्चयनय के अनुसार जो कषायसहित है, वह साधु ही नहीं है।

देशोन कोटिपूर्व तक की गई चारित्र की आराधना कषाय के उदयमात्र से मुहूर्त्त भर में समाप्त हो जाती है।

८. मूल-उत्तरगुण भंग से चारित्र भंग : दृष्टांत

मूलगुणदतिय-सगडे, उत्तरगुणमंडवे सरिसवादी ।
छक्कायरक्खण्डा, दोसु वि सुद्धे चरणसुद्धी ॥

एकव्रतभंगे सर्वव्रतभंग इति, एतन्निश्चयनयमतं,
व्यवहारतः पुनरेकव्रतभंगे तदेवैकं भग्नं प्रतिपत्तव्यं,

शेषाणां तु भंगः क्रमेण, यदि प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नानु-
सन्धत्ते इति। अन्ये पुनराहुः—चतुर्थमहाव्रतप्रतिसेवनेन
तत्कालमेव सकलचारित्रभ्रंशः, शेषेषु पुनर्महाव्रतेष्वभीक्ष्णं
प्रतिसेवनेनया महत्यतिचरणे वा वेदितव्यः। उत्तरगुणप्रति-
सेवनायां पुनः कालेन चरणभ्रंशो, यदि पुनः प्रायश्चित्त-
प्रतिपत्त्या नोञ्ज्वालयति। (व्यभा ४६९ वृ)

० दृतिदृष्टांत—पांच द्वार (छिद्र) वाली जल से भरी मशक का एक द्वार भी खुला रह जाये तो वह तत्काल खाली हो जाती है। इसी प्रकार एक महाव्रत के अतिचरित होने पर तत्काल समस्त चारित्र नष्ट हो जाता है।

एक मूलगुण की घात से सर्वमूलगुणों की घात होती है—यह निश्चय नय का मत है। व्यवहारनय के अनुसार एक व्रत भंग होने पर वही एक व्रत भंग होता है। यदि प्रायश्चित्त से शुद्धि नहीं की जाती है तो शेष व्रतों का क्रमशः भंग होता है।

(अन्य आचार्य कहते हैं—चतुर्थ महाव्रतप्रतिसेवना से तत्काल ही सकल चारित्र-भ्रंश होता है। शेष महाव्रतों का बार-बार प्रतिसेवना से या बड़ा दोष होने पर भंग होता है। यदि प्रायश्चित्त से शुद्धि नहीं की जाती है तो उत्तरगुण-प्रतिसेवना से क्रमशः चारित्र भग्न होता है।

० शकट दृष्टांत—गाड़ी के चक्के आदि मूल अंग भग्न होने पर वह भारवहन में सक्षम नहीं होती। कील, लोहपट्ट आदि उत्तर अंग भग्न होने पर कुछ काल तक गाड़ी भारवहन कर सकती है। इसी प्रकार एक मूलगुण का नाश होने पर चारित्र तत्काल नष्ट हो जाता है। उत्तरगुणों के नाश से वह कालक्रम से नष्ट होता है।

० मंडप-सर्षप दृष्टांत—एरंड आदि का मंडप थोड़े से सरसों या तिल-तंदुल से ध्वस्त नहीं होता। शिलाप्रक्षेप से वह तत्क्षण ध्वस्त हो जाता है। चारित्र मंडप भी एक, दो, तीन आदि उत्तरगुणों के अतिचरण से भग्न नहीं होता। अत्यधिक उत्तरगुणप्रतिसेवना होने पर वह कालक्रम से भग्न होता है। शिला सदृश एक मूलगुण अतिचरण से भी वह तत्काल भग्न होता है। छह-जीवनिकायसंयम से मूलगुण और उत्तरगुण निरतिचार (शुद्ध) होते हैं। इन दोनों की शुद्धि से चारित्रशुद्धि होती है।

९. चारित्र से संबंधित शबल दोष

.....एककवीस सबला पण्णात्ता, तं जहा—

१. हत्थकम्मं करेमाणे सबले ।
२. मेहुणं पडिसेवमाणे सबले ।
३. रातीभोयणं भुंजमाणे सबले ।
४. आहाकम्मं भुंजमाणे सबले ।
५. रायपिंडं भुंजमाणे सबले ।
६. कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसिद्धं आहडु दिज्जमाणं भुंजमाणे सबले ।
७. अभिक्खणं पडियाइक्खित्ताणं भुंजमाणे सबले ।
८. अंतो छण्हं मासाणं गणातो गणं संकममाणे सबले ।
९. अंतो मासस्स तओ दगलेवे करेमाणे सबले ।
१०. अंतो मासस्स ततो माइट्ठाणे करेमाणे सबले ।
११. सागारियपिंडं भुंजमाणे सबले ।
१२. आउट्टियाए पाणाइवायं करेमाणे सबले ।
१३. आउट्टियाए मुसावायं वदमाणे सबले ।
१४. आउट्टियाए अदिन्नादाणं गिण्हमाणे सबले ।
१५. आउट्टियाए अणंतरहियाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेतमाणे सबले ।
१६. आउट्टियाए ससणिद्धाए पुढवीए ससरक्खाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेतमाणे सबले ।
१७. आउट्टियाए चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्टिए सअंडे सपाणे सबीए सहरिए सउस्से सउत्तिंग-पणग-दगमट्टी-मक्कंडासंताणए ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेतमाणे सबले ।
१८. आउट्टियाए मूलभोयणं वा कंदभोयणं वा खंधभोयणं वा तथाभोयणं वा पवालभोयणं वा पत्तभोयणं वा पुप्फभोयणं वा फलभोयणं वा बीयभोयणं वा हरियभोयणं वा भुंजमाणे सबले ।
१९. अंतो संवच्छरस्स दस दगलेवे करेमाणे सबले ।
२०. अंतो संवच्छरस्स दस माइट्ठाणाइं करेमाणे सबले ।
२१. आउट्टियाए सीतोदगवग्घारिएण हत्थेण वा मत्तेण वा दब्बीए भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता भुंजमाणे सबले ।” (दशा २/३)

शबल इक्कीस हैं, जैसे—

१. हस्तकर्म करने वाला ।
२. मैथुन का प्रतिसेवन करने वाला ।
३. रात्रिभोजन करने वाला ।
४. आधाकर्म आहार करने वाला ।
५. राजपिंड खाने वाला ।
६. क्रीत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और सामने लाकर दिया गया भोजन करने वाला ।
७. बार-बार अशन आदि का प्रत्याख्यान कर उसे खाने वाला ।
८. छह माह में एक गच्छ से दूसरे गच्छ में संक्रमण करने वाला ।
९. एक महीने में तीन उदक-लेप लगाने वाला (नाभिप्रमाण जल का अवगाहन करने वाला) ।
१०. एक महीने में तीन माया-स्थान का सेवन करने वाला ।
११. शय्यातरपिंड खाने वाला ।
१२. अभिमुखतापूर्वक (जानकर) प्राणातिपात करने वाला ।
१३. अभिमुखतापूर्वक मृषावाद बोलने वाला ।
१४. अभिमुखतापूर्वक अदत्तादान लेने वाला ।
१५. अभिमुखतापूर्वक अव्यवहित (बिछौने के द्वारा व्यवधान डाले बिना) पृथ्वी पर स्थान या निषद्या करने वाला ।
१६. अभिमुखतापूर्वक जल-स्निग्ध तथा सचित्त रज से संश्लिष्ट पृथ्वी पर स्थान या निषद्या करने वाला ।
१७. अभिमुखतापूर्वक सचित्त पृथ्वी, सचित्त शिला, सचित्त प्रस्तरखंड, चुण-काष्ठ (तथा इसी प्रकार से अन्य) जीव-प्रतिष्ठित, अंडों सहित, प्राण सहित, बीज सहित, हरित सहित, चींटियों के बिल, फफुंदी, कीचड़ और मकड़ी के जाल वाले आश्रय में स्थान या निषद्या करने वाला ।
१८. अभिमुखतापूर्वक मूलभोजन, कंदभोजन, स्कंधभोजन, त्वक्भोजन, प्रवालभोजन, पत्रभोजन, पुष्पभोजन, फलभोजन, बीजभोजन और हरितभोजन करने वाला ।
१९. एक वर्ष में दस उदकलेप लगाने वाला ।
२०. एक वर्ष में दस मायास्थान का सेवन करने वाला ।
२१. बार-बार सचित्त जल से लिप्त हाथ, पात्र, दर्वी या भाजन से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य को ग्रहण कर भोगने वाला ।

(शय्यातरपिण्ड पांचवां और राजपिण्ड ग्यारहवां शबल है। जिस आचरण से चारित्र धब्बों वाला होता है, उस आचरण अथवा आचरणकर्ता को 'शबल' कहा जाता है।

—सम २१/१)

१०. शबल और उसका सीमानिर्धारण

दब्बे चित्तलगोणादि, एसु भावसबलो खुतायारो।

वतिक्कमे अइक्कमे अतियारे भावसबलो उ ॥

खुतं भिण्णमित्यर्थः, न सर्वशः ईषत् ।एक्के अवराहपदे मूलगुणवज्जेसु आहाकम्मादिसु अतिक्कमे वइक्कमे अतियारे अणायारे य सव्वेसु सबलो भवति । मूलगुणेसु आदिमेसु तिसु भंगेसु सबलो भवति । चउत्थभंगे सव्वभंगो । (दशानि १२ चू)

शबल का अर्थ है चित्तकबरा।

द्रव्य शबल—चित्तकबरी गाय आदि।

भाव शबल—साध्याचार में ईषत् भेद करने वाला।

मूलगुणों में अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार तक की सीमा में शबल दोष होता है। अनाचार होने पर चारित्र पूर्णतः भंग हो जाता है।

मूलगुणवर्जित आधाकर्म आदि में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार होने पर शबल दोष होता है।

११. शबल दोष से विराधना : घट दृष्टांत

बाले राई दाली, खंडो बोडे खुते य भिन्ने य।

कम्मासपट्टसबले, सव्वा वि विराहणा भणिया ॥

(दशानि १४)

शबल दोषों से होने वाली देश (आंशिक) विराधना और सर्व-विराधना को घट के दृष्टांत से बताया गया है—खंडित घट के अनेक रूप हैं—बाल जितने छिद्र वाला। छोटी सी दरार वाला। बड़ी दरार वाला। एक भाग खंडित। बिना छोर (किनारी) वाला। छिद्रों वाला। बड़े छिद्रों वाला फूटा हुआ घट।

इन घटों से पानी क्रमशः अधिक, अधिकतर झरता है अतः ये दोषपूर्ण हैं। इसी प्रकार शबल दोषों से देश और सर्व विराधना होती है।

कम्मासपट्ट—जैसे सूती वस्त्र पर छोटा या बड़ा धब्बा हो तो

वस्त्र मलिन ही कहा जाता है। उसी प्रकार चारित्र में भी छोटी-बड़ी खलना से शबल दोष लगता है।

१२. प्रथम पांच शबल : गुरु प्रायश्चित्त

हत्थकम्मादारब्भ जाव रायपिंडं ताव कालगा अणुग्घातिया अवराधपदा ।...सयं परेण वा मेहुणं दिव्व-माणुसतिरिक्खजोणिय-अतिक्कम-वतिक्कम-अतियारे तिवि, अणायारे सव्वभंग एव । (दशा २/३ की चू)

हस्तकर्म यावत् राजपिंड—इन पांच शबल दोषों में कालतः गुरु प्रायश्चित्त आता है। दिव्य, मनुष्य या तिर्यच संबंधी मैथुन में अतिक्रम, व्यतिक्रम या अतिचार का स्वयं सेवन करता है अथवा दूसरों से करवाता है, वह शबल दोष है। अनाचार होने पर चारित्र का सर्वभंग हो जाता है।

१३. बारहवें शबल का स्वरूप

आउट्टियाए पाणातिपातं करेमाणे सबले—आउट्टिया णाम जाणंतो...दव्वादिसु जं करेति । जधा...पुढविक्काय-मक्खित्तेण वा हत्थमत्तेणं भिक्खं गिण्हइ, ...उदउल्ल-ससिणिद्धेहिं वा हत्थमत्तेहिं अपरिणाएहिं भिक्खं गिण्हइ । ते अनिक्खित्तं गिण्हइ दितावेइ वा, ...कंदाइ गिण्हइ, संघट्टेणं वा भिक्खं गिण्हइ, बेइदिएहिं पंथो संसत्तो तेण वच्चति, आहारं वा संसत्तं गिण्हति । एवं तेइंदिय-चउरिंदिय-घंघें-दिया मंडुक्कलियाइं पंथे ववरोवेज्जा । (दशा २/३ की चू)

जानबूझकर द्रव्य आदि से संबंधित प्राणातिपात आदि करना शबल दोष है। जैसे—

० पृथ्वीकाय से प्रक्षित हाथ या पात्र से भिक्षा लेना। जल से आर्द्र-स्निग्ध हाथ या पात्र से भिक्षा लेना। अग्नि पर रखी वस्तु ग्रहण करना—करवाना। कंद आदि ग्रहण करना, उनसे स्पृष्ट भिक्षा लेना।

० द्वीन्द्रिय जीवों से संकुल मार्ग से जाना, इन जीवों से संसक्त आहार लेना।

० मार्ग में त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—मंडूकी आदि जीवों का उपघात करना—ये सब शबल हैं।

१४. दर्शन-ज्ञान-शबल

दरिसणं प्रति संकादि । णाणे काले विणए... ।

(दशा २/३ की चू)

शंका, कांक्षा आदि दर्शन के शबल हैं। काल, विनय आदि ज्ञानाचारों का अतिक्रमण ज्ञान के शबल हैं।

१५. छेदारहं प्रायश्चित्त तक शबल

अवराधम्मि घतणुए, जेण उ मूलं न वच्चए साहू।
सबलेइ तं चरित्तं, तम्हा सबलत्तणं बेति ॥
(दशानि १३)

जिससे मूल प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होता, वैसा छोटा अपराध चारित्र को चितकबरा बना देता है, अतः उसको शबल की संज्ञा दी गई है।

१६. चारित्र बिना निर्वाण नहीं

अचरित्ताय तित्थस्स, निव्वानाम्मि न गच्छति ।...
(व्यभा ४२१६)

चारित्रविहीन तीर्थ में साधु का निर्वाण नहीं होता।

१७. चारित्र की विशुद्धि आज भी है

धीरपुरिसपरिहाणी, नाऊणं मंदधम्मिया केई।
हीलंति विहरमाणं, संविग्गजणं अबुद्धीतो ॥
केवल-मणोहि-चोदस-दस-णवपुव्वीहि विरहिए एण्हि।
सुद्धमसुद्धं चरणं, को जाणति कस्स भावं च ॥
बाहिरकरणेण समं, अरिंभतरयं करंति अमुणेता।
णेगंता तं च भवे, विवञ्जओ दिस्सते जेणं ॥
सव्वेसि एगचरणं, सरणं मोयावगं दुहसयाणं।
मा रागदोसवसगा, अप्पणो सरणं पलीवेह ॥
संतगुणासणा खलु, परपरिवाओ य होति अलियं च।
धम्मे य अबहुमाणो, साहुपदोसे य संसारो ॥
खय उवसम मीसं पि य, जिणकाले वि ति विहं भवे चरणं।
मिस्सातो च्चिय यावति, खयउवसमं च णऽण्णत्तो ॥
अइयारो वि हु चरणे, टितस्स मिस्से ण दोसु इतरेसु।
वत्थातुरदिट्ठंता, पच्छित्तेणं स तु विसुद्धो ॥
सुद्धमसुद्धं चरणं, जहा उ जाणति ओहिणाणादी।
आगारेहि मणं पि व, जाणंति तहेतरा भावं ॥
...ण य एगंतेण बाहिरकरणजुत्तो अभ्यंतर-करण-
युक्तो भवति ।...जहा उदायिमारयस्स पसण्णचंदस्स य।
बाहिर अविमुद्धो वि भरहो विसुद्धो चेव ।...

(निभा ५४२३-५४२५, ५४२८-५४३१, ५४३३ च्)

कुछ असंविग्न साधु अपनी अल्पबुद्धि के कारण विहरमाण संविग्नजनों की अवहेलना करते हैं। वे मानते हैं कि वर्तमान में केवली, मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दसपूर्वी और नवपूर्वी नहीं हैं। इन धीरपुरुषों के अभाव में कौन किसके भावों को जानता है? कौन चारित्र की शुद्धि या अशुद्धि को जानता है?

जो बाह्यकरण से युक्त हैं, वे आभ्यंतरकरण से भी युक्त हैं—यह एकांततः नहीं कहा जा सकता। इनमें विपर्यास भी देखा जाता है। जैसे उदायिमारक और प्रसन्नचन्द्र।

बाह्यकरण से अविशुद्ध भरत चक्रवर्ती आभ्यंतरकरण से विशुद्ध ही थे।

सब भवसिद्धिक जीवों के लिए एकमात्र चारित्र ही शरण है। वह सैंकड़ों दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला है।

'तुम राग-द्वेष के वशवर्ती होकर सदोष चारित्र वालों को ऐसा मत कहो कि चारित्र नहीं है। जहां रहते हो, उसी आश्रय को मत जलाओ।'

सम्प्रति चारित्र नहीं है—ऐसा कहने वाले साधु विद्यमान चरणगुणों का नाश करते हैं। वे प्रवचन का परिभव करते हैं, असत्य बोलते हैं। इससे चारित्रधर्म का अबहुमान होता है। साधुओं से प्रद्वेष होता है, इससे संसार (जन्म-मरण) की वृद्धि होती है।

तीर्थकर के समय में भी त्रिविध—क्षायिक, औप-शमिक और क्षायोपशमिक चारित्र होता था। क्षायोपशमिक चारित्र से ही औपशमिक या क्षायिक चारित्र प्राप्त होता, अन्य से नहीं।

क्षायोपशमिक भाव में चारित्र के विविध स्तर होते हैं, मिश्र चारित्र वालों के दोष भी लगते हैं। जैसे क्षार आदि से वस्त्रों की शुद्धि होती है, विरेचन और औषधप्रयोग से रोगी स्वस्थ होता है, वैसे ही प्रायश्चित्त से चारित्रविशोधि होती है। औपशमिक चारित्र और क्षायिक चारित्र अतिचारसेवन नहीं करते।

जैसे अवधिज्ञानी आदि प्रत्यक्षज्ञानी दूसरों के शुद्ध या अशुद्ध चारित्र को यथार्थ रूप में जानते हैं, जैसे बाह्य आकारों से मनोगत भाव जाने जाते हैं, वैसे ही परोक्षज्ञानी मुनि आलोचना को सुनकर, आचरणों को देखकर दूसरों के चारित्र की शुद्धाशुद्धि को जान लेते हैं।

१८. चारित्र कब तक ?

बउसपडिसेवगा खलु, इत्तरि छेदा य संजता दोन्नि ।
जा तित्थऽणुसज्जती अत्थि हु तेणं तु पच्छित्तं ॥
(व्यभा ४१९३)

जब तक तीर्थ का अस्तित्व रहेगा, तब तक बकुश एवं प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ तथा इत्वरिक सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र—इन सबका अस्तित्व रहेगा। अतः प्रायश्चित्त भी रहेंगे।

१९. चारित्र से तीर्थ की अवस्थिति

“जं पि य दंसणनाणेहि, जाति तित्थं ति तं सुणसु ॥
एवं तु भणंतेणं, सेणियमादी वि थाविया समणा ।
समणस्स य जुत्तस्स य, नत्थी नरएसु उववाओ ॥
जं पि य हु एक्कवीसं, वाससहस्साणि होहिती तित्थं ।
ते मिच्छासिद्धी वी, सव्वगतीसुं व होज्जाहि ॥
पायच्छित्ते असंतम्मि, चरित्तं पि न वट्ठति ।
चरित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे नो सचरित्तया ॥
अचरित्ताय तित्थस्स, निव्वाणम्मि न गच्छति ।
निव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा निरत्थया ॥
न विणा तित्थं नियंटेहिं, नियंठा व अतित्थया ।
छक्कायसंजमो जाव, तावऽणुसज्जणा दोणहं ॥
सव्वण्णहिं पस्सुविय, छक्काय-महव्वया य समितीओ ।
सच्चेव य पण्णवणा, संपयकाले वि साधूणं ॥

ये चानुत्तरोपपातिनो देवास्ते नियमतस्तद्भव-
सिद्धिगामिनो भवेयुः, तेषामनुत्तरज्ञानदर्शनोपेतत्वात्— न
चैतदिष्टं तस्मादिदमागतं यावच्चारित्रं तावत्तीर्थम् ।

(व्यभा ४२१२-४२१८ वृ)

शिष्य ने कहा—ज्ञान-दर्शन से तीर्थ चलता है। इसका
प्रतिवाद करते हुए आचार्य ने कहा—

प्रवचन श्रमणप्रतिष्ठित होता है। ज्ञान-दर्शन से तीर्थ
की अवस्थिति हो तो तुम्हारी दृष्टि में श्रेणिक आदि भी
श्रमण हो गए, क्योंकि ज्ञान-दर्शन तो उनमें भी था किन्तु ऐसा
नहीं है। श्रमणगुणयुक्त श्रमण का नरक में उपपात नहीं
होता। श्रेणिक वहां उपपन्न है।

आगमसूत्रों के अनुसार यह तीर्थ (श्रमण महावीर का
शासन) इक्कीस हजार वर्ष तक प्रवर्तित होगा। तुम्हारे अनुसार
तो यह कथन मिथ्या हो जाएगा। (छहों अरों में ज्ञान दर्शन
होने से तीर्थ भी चिरकाल तक रहना चाहिए।)

दूसरी बात, सब गतियों में सिद्धिगमन का प्रसंग
आयेगा, क्योंकि सम्यग् दर्शन-ज्ञान युक्त तथा चारित्ररहित
जीव सब गतियों में होते हैं।

तीसरी बात, अनुत्तरोपपातिक देव अनुत्तर ज्ञानदर्शन
सम्पन्न होते हैं, तब वे तो नियमतः ही तद्भव सिद्धिगामी
होने चाहिए।—यह सब इष्ट नहीं है। फलितार्थ यह रहा कि
जब तक चारित्र है, तब तक तीर्थ है।

प्रायश्चित्त के अभाव में चारित्र की शुद्धि नहीं होती।
शुद्धि के अभाव में तीर्थ नहीं रहता। अचारित्र तीर्थ में साधु का
निर्वाण नहीं होता। निर्वाण के अभाव में दीक्षा निरर्थक है।

संयत-निर्ग्रन्थ के बिना तीर्थ और तीर्थ के बिना संयत-
निर्ग्रन्थ—दोनों नहीं होते।

अर्हतों ने छहजीवनिकाय संयम, पांच महाव्रत, पांच
समिति और तीन गुप्ति का प्रज्ञापन किया। सब साधु
आज भी उसी की प्रज्ञप्ति करते हैं और उसकी सम्यग्
आराधना भी करते हैं।

चिकित्सा—रोग, रोग के कारण और उसके उपशमन के
उपाय। जीवन के उपक्रम और संरक्षण की
प्रक्रिया।

१. धन्वन्तरिकृत वैद्यकशास्त्र
२. चिकित्सा के चरण, चिकित्सक के गुण
३. रोग और व्याधि के प्रकार
४. चर्मरोग (कुष्ठ) के प्रकार और बचने के उपाय
५. कृमिकुष्ठ में रत्नकंबल उपयोगी
६. चर्मरोग में गृहधूम का उपयोग
७. व्रण के प्रकार
८. व्रणालेप के प्रकार
९. व्रणचिकित्सा के विविध साधन
१०. युद्ध और वैद्य : पुराने घृत से व्रणसंरोहण
११. पादतल पर लेप

१२. अतिवमन-विरेचन से वल्गुली-कोड
* चींटीयुक्त भोजन : वमन..... द्र आहार
१३. नाक का अर्श होने का एक कारण
१४. कटिरोग का एक कारण
१५. वात-पित्त-प्रकोप
१६. उत्पल आदि से पित्तप्रकोप आदि का शमन
○ पित्त आदि की उग्रता : मधुर द्रव्य आदि...
१७. अजीर्ण रोग के कारण
१८. जलोदर का कारण
१९. मिट्टीभक्षण से पांडुरोग
२०. वेगनिरोध और रोग
○ वेगनिरोध से मृत्यु
२१. पैरधूलि से चक्षु उपहत
○ पैर का परिकर्म चक्षु उपकारक
२२. कंटकविद्ध की चिकित्सा
२३. चंक्रमण से स्वस्थता
२४. अगद (विषशामक औषधि), तैल आदि
२५. विष की औषध विष
○ विष के प्रकार
○ वंजुलवृक्ष से विष अपनयन
○ स्वर्ण विषघाती
○ गोबर विषघाती
२६. वमन-विरेचन आदि से चिकित्सा
२७. अतिश्रम से बुद्धिक्षीणता
२८. क्षेत्र आदि की स्निग्धता : आयु-मेधा-वृद्धि
○ ब्राह्मी आदि का सेवन : वाक्याटव, मेधा.....
* अवस्था-आहार-बल द्र वीर्य
* विरुद्ध द्रव्यों का मेल अहितकर द्र आहार
२९. उपवास से रोगचिकित्सा तथा पारणविधि
३०. वैद्य के पास जाने की विधि एवं योग्यता
○ वैद्य को रोगी की अवगति
३१. निदानतुल्य औषधिवर्जन
३२. लघुव्याधि की चिकित्सा से पूर्व.....की चिकित्सा
३३. रोग की उपेक्षा से हानि : वृक्ष और ऋण दृष्टांत
* गीतार्थ-अगीतार्थ चिकित्सा
* मुनि और वैद्य द्र वैयावृत्य
* साधु-साध्वी चिकित्सा : विद्याप्रयोग... द्र विद्या

* जिनकल्प...चिकित्सा-निषेध	द्र स्थविरकल्प
* मंत्र से चिकित्सा : मुरुण्ड दृष्टांत	द्र मंत्रविद्या
* क्षिप्त-दीप्तचित्त-चिकित्सा	द्र चित्तचिकित्सा
* औषधि और वीर्य	द्र वीर्य
* प्रायश्चित्त औषध तुल्य	द्र प्रायश्चित्त

१. धन्वन्तरिकृत वैद्यकशास्त्र

.....जोगीव जहा महावेरजो ॥

योगी—धन्वन्तरिः, तेन च विभंगज्ञानबलेनाऽऽ-
गाभिनि काले प्राचुर्येण रोगसंभवं दृष्ट्वा अष्टाङ्गायु-
वैदरूपं वैद्यकशास्त्रं चक्रे, तच्च यथाभ्यायं येनाधीतं स
महावैद्य उच्यते। स च आयुर्वेदप्रामाण्येन क्रियां कुर्वाणो
योगीव धन्वन्तरिरिव न दूषणभाग् भवति, यथोक्तक्रिया-
कारिणश्च तस्य तत् चिकित्साकर्म सिध्यति।

(बृभा ९५९ वृ)

योगी—धन्वन्तरि ने अपने विभंगज्ञान के बल से
'भविष्य में प्रचुर रोगों की उत्पत्ति होगी'—यह जानकर अष्टांग
आयुर्वेद रूप वैद्यकशास्त्र का निर्माण किया। गुरुपरम्परा से
उस शास्त्र का अध्ययन करने वाला महावैद्य कहलाता है।

वह महावैद्य आयुर्वेद के प्रामाण्य के आधार पर क्रिया
करता हुआ धन्वन्तरि की भांति निर्दोष होता है। शास्त्रानुसार
क्रिया करने से उसका चिकित्साकार्य सफल होता है।

(आयुर्वेद का अर्थ है—जीवन के उपक्रम और संरक्षण

का ज्ञान, चिकित्साशास्त्र। वह आठ प्रकार का है—

१. कौमारभृत्य—बाल-चिकित्साशास्त्र। इसमें बालकों के पोषण और दूध सम्बन्धी दोषों का संशोधन तथा अन्य दोषजनित व्याधियों के उपशमन के उपाय निर्दिष्ट होते हैं।
२. कायचिकित्सा—इसमें मध्य-अंग-समाश्रित ज्वर, अतिसार ...कुष्ठ आदि रोगों के शमन के उपाय निर्दिष्ट होते हैं।
३. शालाक्य—मुंह के ऊपर के अंगों में व्याप्त रोगों के उपशमन का उपाय बताने वाला शास्त्र।
४. शाल्यहृत्य—शरीर के भीतर रहे हुए तुण, काष्ठ, पाषाण, ...नख आदि द्रव्यों के उद्धरण का उपाय बताने वाला शास्त्र।
५. जंगोली—सर्प आदि विषैले जीवों से डसे जाने पर उसकी चिकित्सा का निर्देश करने वाला शास्त्र। इसे विष-विघातक शास्त्र या अगदतंत्र भी कहते हैं।

६. भूतविद्या—भूत आदि के निग्रह के लिए विद्यातंत्र। देव, असुर, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग आदि से आविष्ट चित्त वाले व्यक्तियों के उपद्रव को मिटाने के लिए शांतिकर्म, बलिकर्म आदि का विधान तथा ग्रहों की शांति का निर्देश करने वाला शास्त्र।

७. क्षारतंत्र—वीर्यपुष्टि के उपाय बताने वाला शास्त्र। सुश्रुत आदि ग्रंथों में इसे वाजीकरणतंत्र कहा जाता है।

८. रसायन—इसका शाब्दिक अर्थ है—अमृततुल्य रस की प्राप्ति। वय को स्थायित्व देने, आयुष्य को बढ़ाने, बुद्धि को वृद्धिगत करने तथा रोगों का अपहरण करने में समर्थ रसायनों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र।—स्था ८/२६ का टि

आयुर्वेद के आठ अंग हैं—१. कायचिकित्सा, २. शालाक्य,

३. शल्यतंत्र, ४. अगदतंत्र, ५. भूतविद्या, ६. कौमारभृत्य, ७. रसायन, ८. वाजीकरण।—च सूत्रस्थान ३०/२८)

२. चिकित्सा के चरण, चिकित्सक के गुण

.....चउपादा तेइच्छा..... ॥

गिलाणो, पडियरगा, वेज्जो भेसज्जाणि य।

(निभा ३०३६ वृ)

चिकित्सा के चार घाट हैं—रोगी, परिचारक, वैद्य और औषधि।

अम्मापितीहि जणियस्स, तस्स आतंकपउरदोसेहिं।

विज्जा देति समार्धिं, जहिं कता आगमा होति ॥

(व्यभा ९४९)

जो वैद्यकशास्त्रों के ज्ञाता हैं, उनके अभ्यासी हैं तथा माता-पिता से संक्रान्त दोषों अथवा अन्य रोगजनित प्रचुर दोषों का शमन कर आरोग्य प्रदान करते हैं, वे वैद्य हैं।

(धातुओं की विषमता को रोग कहा जाता है। धातु-साम्य के लिए उत्तम वैद्य आदि चिकित्सा के चार घाटों की जो प्रवृत्ति होती है, उसे चिकित्सा कहा जाता है। प्रत्येक के चार-चार गुण हैं—

१. वैद्य के गुण—चिकित्साशास्त्र का विज्ञाता। अनेक बार रोगी और औषध प्रयोग का प्रत्यक्ष द्रष्टा। दक्ष और पवित्र।

२. औषधि के गुण—औषधियों का अधिक रूप में प्राप्त होना। व्याधिनाश में समर्थ होना। एक ही औषधि में चूर्ण,

वटी, अवलेह आदि अनेकविध कल्पना की योग्यता होना। औषधियों का अपने रस, गुण, वीर्य आदि से युक्त होना।

३. परिचारक के गुण—सेवा-परिचर्या का पूर्णज्ञान। चातुर्य। रोगी के प्रति अनुराग। पवित्रता।

४. रोगी के गुण—स्मरणशक्ति। वैद्य के निर्देश-पालन की प्रवृत्ति। निर्भयता। रोग के विषय में अपनी स्थिति का पूर्णरूप से प्रज्ञापन करने की क्षमता।—च सूत्रस्थान ९/३-९)

३. रोग और व्याधि के प्रकार

गंडी-कोढ-खयाई, रोगो कासाइगो उ आथंको।

दीहरुया वा रोगो, आतंको आसुघाती उ ॥

गण्डी—गण्डमालादिकः, कुष्ठं—पाण्डुरोगो गल-त्कोष्ठं वा, क्षयः—राजयक्ष्मा, आदिशब्दात् श्लीपद-श्वयथु-गुल्मादिकः सर्वोऽपि रोग इति व्यपदिश्यते। कासादिकस्तु आतंकः, आदिग्रहणेन श्वास-शूल-हिक्का-ज्वरातीसारादिपरिग्रहः। (बृभा १०२४ वृ)

गंडमाल, कुष्ठ—पांडुरोग अथवा स्थन्दमान कोढ, राजयक्ष्मा, श्लीपद, श्वयथु, गुल्म आदि रोग कहलाते हैं।

कास, श्वास, हिक्का, ज्वर, अतिसार आदि को आतंक या व्याधि कहा जाता है।

अथवा जो दीर्घकालस्थायी है, वह रोग है और विसूचिका आदि जो सद्योघाती है, वह आतंक है।

.....सोलसविहो उ रोगो, वाही पुण होइ अट्टुविहो ॥

वेवग्गि पंगु वडभं, णिम्मणिमलसं च सक्करपमेहं।

बहिरंधकुंटवडभं, गंडी कोटीक्खते सूई ॥

जर-सास-कास डाहे, अतिसार भगंदरे च सूले य।

तत्तो अजीरघातग, आसु विरेचा हि रोगविही ॥

(निभा ३६४५-३६४७)

रोग के सोलह प्रकार ये हैं—

१. कम्पनरोग २. भस्मकरोग ३. पंगुता ४. बौनापन ५. णिम्मणि ६. अलसक ७. मधुमेह ८. प्रमेह ९. बहरापन १०. अंधापन ११. लूलापन १२. कुबड़ापन १३. गण्डमाला १४. कोढ १५. क्षय १६. शोथ/श्लीपद

(सोलह रोगों में पांचवां प्रकार है—णिम्मणि, जो विमर्शनीय है। इसके दो रूप हो सकते हैं—१. निर्मणि—

लिंगसंबंधी रोग । २. निर्ब्रणि—नेत्ररोग । माधवनिदान में बताया गया है—अभिष्यन्द के कारण नेत्र के कृष्णमण्डल में व्रणरहित शुक्र हो जाता है, जो बीच से कटा हुआ, मांस से ढका हुआ, अपना स्थान बदलने वाला, सूक्ष्म सिराओं से व्याप्त, दर्शनशक्ति को नष्ट करने वाला, दो पटलों में विभक्त तथा सब ओर से लाल होता है ।—मानि नेत्ररोगनिदान ।

यदि णिम्वणि के स्थान पर मम्मणि शब्द पढ़ा जाए तो उसका अर्थ होना चाहिये—मन्मनी—अस्पष्ट भाषी अथवा मूक । अथवा णिम्वणि—अपस्मार/मृगी ?

० रोग का छठा प्रकार है—अलसक । जिस रोगी की कुक्षि में आनाह (आमाशय से मलाशय पर्यंत अवयव की गति में रुकावट) हो जाए, ...अपानवायु रुक कर आमाशय की ओर दौड़े, अधोवायु और पुरीष सर्वथा रुक जाए और प्यास लगे एवं डकारें आए, उस रोगी को 'अलसक' नामक रोग का रोगी जानो । इस रोग में पाचक अवयव अलस या आलसी हो जाते हैं ।—मानि अग्निमांद्ररोगनिदान)

व्याधि (आतंक) के आठ प्रकार हैं—

- | | |
|----------|------------------------|
| १. ज्वर | ५. अतिसार |
| २. श्वास | ६. भगंदर |
| ३. कास | ७. शूल (कुक्षिशूल आदि) |
| ४. दाह | ८. घातक अजीर्ण |

सर्वगात्रहीनं वामनं, पृष्ठतोऽग्रतो वा विनिर्गतसरीरं वडभं, सर्वगात्रमेगपार्श्वहीनं कुब्जं गंतुमसमर्थः, पाद-जंघाहीनः पंगुः, हीनहस्तः कुंटः, एकाक्षः काणः ।

(निभा ३७०९ की चू)

वामन—सर्वगात्रहीन ।

वडभ—जिसके शरीर के पीछे का अथवा आगे का भाग उभरा हुआ हो ।

कुब्ज—एक पार्श्व से हीन गात्र वाला, चलने में असमर्थ ।

पंगु—पादजंघा से हीन ।

कुंट—हाथ से विकल ।

काणक—एक आंख वाला ।

(कुब्ज शब्द के दो अर्थ हैं—पृष्ठग्रंथि का बाहर निकलना और टिगना । संस्थानप्रकरण में कुब्ज संस्थान का वामन अर्थ प्राप्त

होता है—पैर, हाथ, मस्तक और ग्रीवा—ये अधस्तनकाय हैं । ये अवयव शास्त्रोक्त शरीरलक्षणों के प्रमाण के अनुसार नहीं होते तथा शेष अवयव प्रमाणोपेत होते हैं, उसे 'कुब्ज' कहा जाता है । वडभत्व का अर्थ है—पृष्ठग्रंथि का बाहर निकलना ।—आ २/५४ का भाष्य)

श्लीपदनाम्ना रोगेण यस्य पादौ शूनौ—शिला-वद् महाप्रमाणौ भवतः स एवंविधः श्लीपदी ।

(बृभा ११४८ की वृ)

श्लीपद नामक रोग से जिसके पैर शून—शिला की भांति स्थूल और भारी हो जाते हैं, वह रोगी श्लीपदी कहलाता है ।

(आ ६/८ में सोलह रोगों अथवा रोगियों का नामानुक्रम इस प्रकार है—

१. गण्डी—गंडमाला रोग से ग्रस्त ।
 २. कुष्ठी—कोढ रोग से ग्रस्त ।
 ३. राजयक्ष्मी—क्षय रोग से ग्रस्त ।
 ४. अपस्मारिक—मृगी या मूर्च्छा से ग्रस्त ।
 ५. काणक—काणत्व से ग्रस्त ।
 ६. जड—शरीर के अवयवों की जड़ता से ग्रस्त ।
 ७. कुणि—हाथ या पैर की विकलता से ग्रस्त ।
 ८. कुब्ज—कुबड़ेपन से ग्रस्त ।
 ९. उदरी—उदररोग से ग्रस्त ।
 १०. मूक—मूकता से ग्रस्त ।
 ११. शूनिक—सूजन से ग्रस्त ।
 १२. ग्रासिनी—भस्मकव्याधि से ग्रस्त ।
 १३. वेपकी—कम्पनरोग से ग्रस्त ।
 १४. पीठसर्पी—पंगुता से ग्रस्त ।
 १५. श्लीपदी—हाथीपगा रोग से ग्रस्त ।
 १६. मधुमेहनी—मधुमेहरोग से ग्रस्त ।
- ० गर्भ में वात-प्रकोप अथवा माता के दोहद की पूर्ति न होने पर शिशु कुब्ज, कुणि, पंगु, मूक और मन्मन होता है ।
- ० मूक और मन्मनभाषी गर्भदोष के कारण होता है अथवा जन्म के पश्चात् भी हो सकता है ।
- ० मुख के पैसठ रोग हैं, जो सात आयतनों में होते हैं—

ओष्ठ के आठ, दंतमूल के पन्द्रह, दांत के आठ, जिह्वा के पांच, तालु के नौ, कंठ के सतरह, सर्व आयतनों के तीन।

० अग्नि—ग्रासिनी, भस्मकव्याधि, जो वात-पित्त की उत्कटता तथा श्लेष्म की न्यूनता से होती है।

० मधुमेह—यह वस्तिरोग है। इसमें मधुतुल्य प्रस्रवण होता है।

० प्रमेह—इसके बीस भेद होते हैं—कफ प्रकोप से दस, पित्त-प्रकोप से छह, वात-प्रकोप से चार—ये बीसों भेद असाध्य अवस्था में मधुमेह के रूप में परिणत हो जाते हैं।

—आ ६/८ की वृ)

४. चर्मरोग (कुष्ठ) के प्रकार और बचने के उपाय
संदंतमसंदंतं, अस्संदण चित्त मंडलपसुत्ती।

किमिपूयं लसिगा वा, पस्संदति तत्थिमा जतणा ॥

.....पासवण-फास-लाला, पस्सेए..... ॥

पासवण अन्नअसती, भूतीए लक्खि मा हु दूसियं मोयं।

चरणतलेसु कमेज्जा, एमेव य निक्खमपवेसो ॥

णिंती वि सो काउ तली कमेसुं, संधारओ दूर अदंसणे वि।

मा फासदोसेण कमेज्ज तेसिं, तत्थेवकवत्थादि व परिहरंति ॥

न य भुजंतेगट्ठा, लालादोसेण संकमति वाही।

सेओ से वप्पिज्जति, जल्लपडलंतरकप्पो य ॥

एतेहि कमति वाही, एत्थं खलु सेउएण दिट्ठतो।

कुट्टक्खय कच्छुयऽसिवं, नयणामयकामलादीया ॥

अगलंत न वक्खारो, लालासेयादिवज्जण तथेव।

उस्सास-भास-सयणासणादीहि होति संकंती ॥

.....सीते व दाउ कप्पं, उवरिमधोतं परिहरंति ॥

(व्यधा २७८३, २७८८-२७९२, २७९५, २७९६)

त्वग्दोष (कुष्ठ) के दो प्रकार हैं—

१. स्यन्दमान—वह चर्मरोग, जिसमें शरीर से कृमि, कच्चा मवाद, मवाद (रसी) आदि झरते हैं।

२. अस्यन्दमान—यह अस्त्रावी चर्मरोग है। इसके दो रूप हैं—

० चित्रप्रसुप्ति—शरीर पर श्वेत, काले आदि विचित्र धब्बे हो जाते हैं।

० मण्डलप्रसुप्ति—कोढ़ विशेष, जिसमें गोल चकते हो जाते हैं।

चर्मरोगी के प्रस्रवण, स्वेद और शरीर के स्पर्श से, उसके साथ एक पात्र में भोजन करने पर उसकी लार से तथा उसके द्वारा परिभुक्त पीठ-फलक-वस्त्र आदि का परिभोग

करने से चर्मरोग के कीटाणु नीरोग व्यक्ति में संक्रान्त हो जाते हैं।

संक्रान्ति से बचने के उपाय—स्यन्दमान चर्मरोगी को प्रस्रवण-भूमि और निष्क्रमण-प्रवेश स्थान पृथक् होना चाहिए। यदि पृथक् भूमि संभव न हो तो उस एक ही भूमि में रोगी के योग्य स्थान को राख आदि से रेखांकित कर देना चाहिए, जिससे कि अन्य व्यक्तियों के द्वारा उस स्थान का परिहार किया जा सके। रोगी के दूषित प्रस्रवण पर स्वस्थ पैर रखने से पैरों में व्याधि संक्रान्त हो सकती है। स्यन्दमान रोगी को पैरों में उपानद् पहनकर निर्गमन-प्रवेश करना चाहिए। अस्यन्दमान रोगी को प्रस्रवणभूमि पृथक् होनी चाहिए, प्रवेश-निर्गम स्थान एक हो सकता है।

चर्मरोगी का संस्तरक भी कुछ दूरी पर करना चाहिए, जिससे स्पर्शदोष के कारण व्याधि संक्रान्त न हो। रोगी द्वारा स्पृष्ट वस्त्र का भी उपयोग नहीं करना चाहिए।

व्याधिसंक्रमण से बचने के लिए रोगी के साथ एक पात्र में भोजन नहीं करना चाहिए। उसके स्वेद-प्रस्वेद, जल्ल (शरीर मैल) तथा पात्रपटल और अन्तर्बस्त्र का भी परिहार करना चाहिए। अन्यथा व्याधि संक्रान्त हो जाती है, जैसे सेटुक के परिवार में हुई थी।

(सेटुक ब्राह्मण लोलुपतावश पुनः-पुनः वमन कर भोजन करता, अतः उसे कुष्ठ रोग हो गया। परिवार ने उसका अपमान किया। प्रतिशोध की भावना से वह एक बकरा लाया। उसने तृणों को कुष्ठरस से क्लिन्न कर बकरे को खिलाया। फिर बकरे का मांस पुत्रों आदि को खिलाया। वे सब कुष्ठ रोग से ग्रस्त हो गए। सेटुक रात्रि में घर से निकल गया। वह जंगलों में औषधिमूल के धावन जल को पीने से स्वस्थ हो गया।—उप्रा प ११, १२)

कुष्ठ, क्षय, खुजली, चेचक, नेत्ररोग, कामल आदि संक्रामक बीमारियां हैं।

अस्यन्दमान त्वचारोगी को अलग कक्ष में नहीं रखना चाहिए किन्तु उसके लार, स्वेद, उच्छ्वास, भाषा, शयन अग्नि का वर्जन करना चाहिए (उनसे दूर रहना चाहिए) शीतसुरक्षा आदि के लिए रोगी दूसरों के वस्त्र ओढ़े तो उन्हें धोकर ही पुनः काम में लेना चाहिए।

(कुष्ठ के अठारह प्रकार हैं—१. कपाल, २. उदुम्बर, ३. मण्डल, ४. ऋष्यजिह्व, ५. पुण्डरीक, ६. सिध्म, ७. काकणक (ये सात महाकुष्ठ हैं), ८. एककुष्ठ, ९. चर्माख्य, १०. किटिभ, ११. विपादिका, १२. अलसक, १३. दद्रु, १४. चर्मदल, १५. पामा, १६. विस्फोटक, १७. शतारु, १८. विचर्चिका (ये ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ हैं)

मण्डलकुष्ठ—सफेद एवं लालवर्ण का, स्थिर, स्त्यान, स्निग्ध और जो कुष्ठ का मण्डल (घेरा) बना हो वह कुछ उन्नत हो तथा परस्पर एक से दूसरा मण्डल सटा हुआ हो तो उसे मण्डलकुष्ठ कहा जाता है।

सिध्मकुष्ठ—जो कुछ श्वेत वर्ण का या ताम्र वर्ण का हो, पतला और रगड़ने से जिससे धूलि के समान चूर्ण निकलता हो और जो लौकी के फूल के समान हो, उसे सिध्मकुष्ठ कहते हैं। यह कुष्ठ प्रायः वक्षस्थल में होता है।

—च चिकित्सास्थान ७/१३-१९

श्यामत्व का अर्थ है कोढ़ और शबलत्व का अर्थ है सफेद कोढ़—शिवत्रलक्षण।—आ २/५४ की चू, वृ)

५. कृमिकुष्ठ में रत्नकंबल उपयोगी

.....गेलण्ण कोट्टु कंबल, अहिमाइ पडेण ओमज्जे ॥
(निभा ५०००)

कृमिकुष्ठ आदि रोगों में रत्नकंबल का उपयोग तथा सर्प आदि के काटने पर अखंड वस्त्र से अपमार्जन किया जाता है।

६. चर्मरोग में गृहधूम का उपयोग

घरधूमोसहकज्जे, दहु किडिभेदकच्छुअगतादी।.....
(निभा ७९८)

गृहधूम (रसोईघर की दीवार पर या छत के नीचे चूल्हे के जमे धुएं) से दाद, किटिभ (क्षुद्र कोढ़), खुजली आदि चर्म रोगों की चिकित्सा की जाती है।

अंगुलिमंतरा य कुहिया कोह्वपलालधूमेण रज्जति।
(निभा १४९९ की चू)

कुथित (सड़ी हुई) अंगुलि को कोद्रव-पलाल-धूम से रंजित किया जाता है।

७. व्रण के प्रकार

दुविधो कायम्मि वणो, तदुब्भवागंतुगो तु घातव्वो।
तहोसो व तदुब्भवो, सत्थादागंतुओ भणिओ ॥
(निभा १५०१)

कायव्रण के दो प्रकार हैं—

- ० तदुद्भव—शरीर के दोष से शरीर पर होने वाला व्रण। यथा—कुष्ठ, किटिभ, दाद, खुजली, फोड़ा आदि।
- ० आगंतुक—शस्त्र, कंटक आदि से होने वाला व्रण, सर्प आदि के काटने से होने वाला व्रण, शिरावेध आदि।

८. व्रणलेप के प्रकार

सो पुण लेवो चउहा, समणो पायी विरेग संरोही।
वडछल्लितुवरमादी ॥
(निभा ४२०१)

व्रण पर किए जाने वाले लेप के चार प्रकार हैं—

१. शमन—जो वेदना का उपशमन करता है।
२. पाकी—जो व्रण को पकाता है।
३. विरेचन—जो रक्त आदि के विकार को नष्ट करता है।
४. संरोहण—जो व्रण को भरता है।

बड़ की छाल, तुवर आदि व्रण-वेदना-शामक होते हैं।

९. व्रणचिकित्सा के विविध साधन

व्रणसंरोहकानि तैलानि व्रणतैलानि, तथातिजीर्ण घृतं ब्रव्यौषधानि च यैरौषधैः संयोजितैस्तैलं घृतं वाति-पच्यते।
(व्यभा २४०५ की वृ)

व्रणसंरोहण के लिए अनेक प्रकार के तैल, बहुत पुराना घी और द्रव्यौषधियां काम में ली जाती हैं। औषधियों को संयोजित कर तैल या घी पकाया जाता है।

.....वणभेसज्जे स सप्पि-महु पट्टे।.....
(बृभा ३०९५)

व्रण पर घी या मधु से मिश्रित भैषज्य लगाकर उसे पट्टे से बांधा जाता है।

१०. पुराने घृत आदि से व्रणसंरोहण

उवट्टितम्मि संगामे, रण्णो बलसमागमो।
एगो वेज्जोत्थ वारेती, न तुब्भे जुद्धकोविया ॥

घेष्यंतु ओसधाइं, वणपट्टा मक्खणाणि विविहाणि ।
 सो बेतऽमंगलाइं, मा कुणह अणागतं चेव ॥
 किं घेतव्वं रणे, जोगं पुच्छन्ता इतरेण ते ।
 भणंति वणतिल्लाइं, घतदव्वोसहाणि य ॥
 भग्गसिक्खित संसित्ता, वणा वेज्जेहि जस्स उ ।
 सो पारगो उ संगामे, पडिवक्खो विवज्जते ॥
 (व्यभा २४०३-२४०६)

दो राजाओं में युद्ध छिड़ गया। एक राजा के पास कुछ वैद्य उपस्थित हुए और साथ में रहने की प्रार्थना की। राजा ने कहा—तुम युद्धविद्या में कुशल नहीं हो। वे वैद्य बोले—राजन्! यद्यपि हम युद्धविद्या में कुशल नहीं हैं फिर भी युद्ध में घायल हुए सैनिकों के लिए हमारी वैद्यक्रिया अत्यन्त उपयोगी है। आप अनेक प्रकार की औषधियां, व्रणपट्ट तथा विविध तैल और लेप साथ में ले लें। यह कहने पर राजा ने कहा—आप अनागत अमंगल की भावना न करें।

दूसरे राजा के पास भी वैद्य गए। राजा ने उन्हें पूछा—संग्राम के लिए क्या-क्या उपयोगी द्रव्य आवश्यक होंगे? यह पूछने पर वैद्यों ने कहा—'व्रण-संरोहण तैल, अत्यन्त पुराना घी तथा औषधियां मंगाएं। उनमें तैल और घी को पकाया जा सकेगा। व्रण संरोहण चूर्ण तथा व्रणलेप वाली औषधियां साथ में लें।' राजा ने अपने सेवकों से सारी सामग्री एकत्रित करने के लिए कहा।

दोनों राजाओं में युद्ध छिड़ा। जिस राजा के साथ वैद्य थे, उन वैद्यों ने मुद्गर आदि से आहत भयों को औषधियों से स्वस्थ कर दिया तथा जो भट घायल हुए थे, उनके व्रणों को सीकर औषधियों का लेप कर दिया। इस प्रकार व्रणित और प्रहारित सभी योद्धा दूसरे दिन युद्ध के लिए तैयार हो गए। वैद्यों ने दूसरे और तीसरे दिन भी उपचार किया। वह राजा वैद्यों के परामर्श से अपने भयों को स्वस्थ करता हुआ युद्ध में विजयी बना। दूसरा राजा पराजित हो गया।

(घृत मधुर रस, सौम्य, मृदु, शीतवीर्य, अल्प अभि-
 ष्यन्दि होता है, गुदावर्त, उन्माद, अपस्मार, शूल, ज्वर,
 आनाह और वात-पित्त को शांत करता है। यह अग्निदीपक,
 स्मृति, मति, मेधा, कांति, स्वर, ओज, तेज, बल को
 बढ़ाता है, आयुवर्धक और पवित्र होता है।

दस वर्ष का पुराना घृत विरेचक, कटु-विपाकी, त्रिदोषनाशक, मूर्च्छा, मद, उन्माद, ज्वर, गर, योनिशूल, कर्णशूल, नेत्रशूल और शिरशूल को नष्ट करता है, नस्य में हितकारी है।

१११ वर्ष पुराना घृत राक्षस, प्रेत, बाघ आदि के भय को दूर करता है। यह वायु-कफनाशक, बलकारक, मेधावर्धक और नेत्ररोगनाशक है। इस पुराने घी को कुभसर्पि और महाघृत भी कहा जाता है। सु सूत्रस्थान ४५/९६-११०)

११. पादतल पर लेप

वेज्जोवदेसेण पायतलरोगिणो मगदंतियातिलेवेण
 अण्णेण वा रंगो कायव्वो । (निभा १४९९ की चू)

वैद्य के निर्देशानुसार पादतलरोगी अपने पैर पर मगदंतिका आदि से लेप करता है अथवा अन्य रंग से रंगता है।

१२. अतिवमन-विरेचन से वल्गुली-कोढ

सो अमच्चो दिणे दिणे जेमणवेलाए ज्जिमितो वा
 तं संभरिता उड्ढं करेत्ति । एवं तस्स वग्गुली वाही जातो,
 विण्णो य । (निभा २९३७ की चू)

एक अमात्य पूर्वदृष्ट वमन की घटना को याद कर कभी भोजनवेला में तथा कभी भोजन करने के पश्चात् वमन करता। इससे उसे वल्गुलि व्याधि उत्पन्न हुई और वह दिवंगत हो गया।

अतीव वमणे मरेज्ज, अतिविरेयणे वा मरेज्ज ।
 अह उभयं धरेत्ति तो उड्ढनिरोहे कोढो, वच्चनिरोहे मरणं ।
 (निभा ४३३२ की चू)

अति वमन और अति विरेचन से मृत्यु होती है। वमन-निरोध से कोढ और मल-निरोध से मृत्यु होती है।

१३. नाक का अर्श होने का एक कारण

रुधिरगन्धेन नासार्शस्युपजायन्ते ।
 (व्यभा १०१७ की वृ)

रुधिर की दुर्गंध से नाक में अर्श हो सकता है।

१४. कटिरोग का एक कारण

भारेण वेयणाए हिंडंते उच्चनीयसासो वा ।
 बाहुकडिवायगहणं, ॥
 (व्यभा २५७४)

अत्यधिक भार को उठाने से वेदना होती है। उस भार की वेदना के साथ ऊंचे-नीचे स्थानों में घूमने से श्वास का प्रकोप बढ़ता है, बाहु और कटिभाग वायु से ग्रस्त हो जाता है।

१५. वात-पित्त-प्रकोप

अडतो...वातप्रकोपो भवति तथा अत्युष्णपरि-
तापात् पित्तमुद्रिकती भवति। (व्यभा २५७३ की वृ)

अधिक घूमने से वायुप्रकोप तथा अधिक उष्ण परिताप से पित्तप्रकोप होता है।

१६. उत्पल आदि से पित्तप्रकोप आदि का शमन
पउमुप्लमाउलिंगे, एरंडे चेष निंबपते य।
पित्तुदय सन्निवाते, वातप्रकोवे य सिंभे य॥
(निभा ४८९१)

रोग	औषध
पित्तप्रकोप	उत्पल पत्र
सन्निपात	बिजौरा
वातप्रकोप	एरंडपत्र
कफप्रकोप	नीम के पत्ते

० पित्त आदि की उग्रता : मधुर द्रव्य आदि.....

पित्तोदये मधुराभिलाषः.....श्लेष्मोदयादम्ला-
भिलाषः.....पित्तश्लेष्मोदये मञ्जिकाभिलाषः।
(बृभा ८३१ की वृ)

० पित्तोदय होने पर मधुर द्रव्यों की अधिलाषा होती है।
० कफ की उग्रता होने पर अम्ल वस्तु की इच्छा होती है।
० पित्त और कफ—दोनों की उग्रता होने पर मञ्जिका की अधिलाषा होती है। (मंजिआ—तुलसी।—दे ६/११६)

१७. अजीर्ण रोग के कारण

..... जग्गणे अजिण्णादी ।.....
(व्यभा ६४७)

सीतलवसहीए भत्तं ण जीरति, ततो गेलण्णं
जायति। (निभा ६३६ की चू)

एगपडोयारस्स वा उल्लस्स णिच्चपरिभोगेण
अजीरंते गेलण्णं भवति। (निभा ३२३३ की चू)

० अतिजागरण से अजीर्ण रोग होता है।

० नमीयुक्त मकान में निवास करने से भोजन का पाचन नहीं होता, इससे अजीर्ण रोग हो जाता है।

० गीले वस्त्र के नित्य परिभोग से अजीर्ण रोग होता है।

.....खद्धादियणगिलाणे ॥

अच्चुणहताविए उ, खद्ध-दवादियाण छडुणादीया ।...
(व्यभा २५३३, २५७५)

प्रवाते स्वपतोऽजीर्णमुपजायते।

(व्यभा ३३८५ की वृ)

अत्यधिक तृषा से पीड़ित होकर एक साथ बहुत पानी पीने पर अजीर्ण का रोग होता है, वमन आदि होने लग जाता है।

बहुत पवन वाले स्थान में अथवा पवनरहित स्थान में सोने से अजीर्ण रोग उत्पन्न होता है।

१८. जलोदर का कारण

.....परिभोग छप्पति, डउरे ॥

छप्पदादिसु यऽन्नादिपडियखद्धासु दगोदरं भवति
—जलोदरमित्यर्थः (निभा ३२३३ चू)

आहार के साथ जू खाने पर जलोदर होता है।

१९. मिट्टीभक्षण से पांडुरोग

पुढवादि आहारे त्ति पंडुरोगादिसंभवे।

(निभा ४०३४ की चू)

मिट्टी खाने से पांडु (पीलिया) रोग हो सकता है।

२०. वेगनिरोध और रोग

मुत्तनिरोहे चक्खुं, वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ।

उड्डनिरोहे कोट्टं, गेलन्नं वा भवे तिसु वि॥

(बृभा ४३८०)

मूत्र का निरोध होने पर चक्षु का हनन होता है। मल का निरोध होने पर जीवन नष्ट होता है। वमन का निरोध होने पर कुष्ठ रोग होता है। मूत्र, पुरीष और वमन—तीनों का सामान्यतः निरोध करने पर भी रोग होता है।

० वेगनिरोध से मृत्यु

काइयं सण्णं वा वायकम्मस्स वा णिरोहं करेज्ज,
तत्थ गाढतरं गेलण्णं हवेज्ज, मुच्छा वा से हवेज्ज, णिरोहेण

वा मरेज्ज, असमाधाणं वा से हवेज्ज ।

(निभा १६७५ की चू)

मल-मूत्र और वायु का निरोध करने से तीव्र रोग हो जाता है, मूर्च्छा आने लगती है, असमाधि उत्पन्न होती है। वेगनिरोध से मृत्यु तक हो जाती है।

२१. पैरधूलि से चक्षु उपहत

पायणहेसु दीहेसु अंतरंतरे रेणु चिद्धति, तीए चक्खू उवहम्मति ।
(निभा १५१९ की चू)

पैरों के लम्बे नखों में रजकण रहते हैं, तो उनसे आंख उपहत होती है।

० पैर का परिकर्म चक्षु-उपकारक

जो चक्खुसा दुब्बलो सो वेज्जोवएसेण कपेसु कमणीओ पिणद्धि । जं पाएसु अब्भंगणोवाणहाइ-परि-कम्मं कज्जति तं चक्खूवगारं भवति । जओ उत्तं—

दंतानामञ्जनं श्रेष्ठं, कर्णानां दन्तधावनम् ।

शिरोऽभ्यंगश्च पादानां, पादाभ्यङ्गश्च चक्षुषाम् ॥

(निभा ९३३ की चू)

जिसकी आंखें कमजोर होती हैं, वह वैद्य के निर्देशानुसार पैरों में जूते/चप्पल पहनता है।

पैरों का अभ्यंजन करना, उपानद् पहनना—यह सारा परिकर्म चक्षु के लिए उपकारक होता है। कहा गया है—

दांतों के लिए अंजन, कानों के लिए दन्तधावन, पैरों के लिए सिर की मालिश और आंखों के लिए पैर-अभ्यंग श्रेष्ठ होता है।

मुह-नयण-दंत-पायादिधोव्वणे

अग्गि-मत्ति-वाणिपडुया, होत्ति अणोत्तप्यया चेव ॥

(व्यभा २६८३)

मुख, दांत आदि को धोने से जठराग्नि की प्रबलता होती है, आंख, पैर आदि धोने से बुद्धि और वाणी की पटुता बढ़ती है तथा शरीर का सौन्दर्य भी बढ़ता है।

२२. कंटकविद्ध की चिकित्सा

.....परिमहण दंतमलादी..... ॥

कण्टकादिवेधस्थानानामंगुष्ठादिना परिमर्दनम् ।
तदनन्तरं दन्तमलादिना आदिशब्दात्कर्णमलादिपरिग्रहः
पूरणं कण्टकादिवेधानाम् । (व्यभा ६६३ वृ)

पैर आदि में कांटा आदि चुभने पर उसे निकालकर वेधस्थान को अंगूठे आदि से मसला जाता है, फिर उसमें दांत या कान का मैल डालने से वह भर जाता है।

२३. चंक्रमण से स्वस्थता

वायाई सट्टाणं, वयंति कुविया उ सन्निर्रोहेणं ।

लाघवमग्गिपडुत्तं, परिस्समजतो उ चंक्रमतो ॥

(बृभा ४४५६)

चंक्रमण से चार लाभ होते हैं—

१. लम्बे समय तक एक स्थान पर बैठे रहने से वायु आदि धातुएं कुपित (अपने स्थान से चलित) हो जाती हैं। चंक्रमण करने से वे धातुएं पुनः अपने स्थान में स्थित हो जाती हैं।
२. शरीर में लाघव (हल्केपन)का अनुभव होता है।
३. जठराग्नि प्रदीप्त होती है।
४. परिश्रम से होने वाली थकान दूर हो जाती है।

२४. अगद (विषनाशक औषधि), तैल आदि

.....अगतोसहादिदव्वं कल्लाणग-हंसतेल्लादी ॥

अगतं नकुलाद्यादि, औषधं एलाद्यचूर्णागादि, कल्लाणगं च घृतं, 'हंसतेल्लं' हंसो पक्खी भण्णति, सो फाडेऊण मुत्तपुरीसाणि णीहरिज्जति, ताहे सो हंसो दव्वाण भरिज्जति, ताहे पुणरवि सो सीविज्जति, तेण तदवत्थेण तेल्लं पच्चति, तं हंसतेल्लं भण्णति । आदि सद्दातो सतपाग-सहस्सपाग य तेल्ला घेप्पति । (निभा ३४८ चू)

चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली कुछ वस्तुएं ये हैं—

- ० अगद—नकुलाद्य आदि।
- ० औषध—एलाद्य चूर्ण आदि।
- ० कल्याणक—घृतविशेष।
- ० हंसतैल, शतपाक तैल, सहस्रपाक तैल आदि।
- ० हंसतैल-निर्माणविधि—हंस पक्षी के शरीर को चीर कर उससे मलमूत्र बाहर निकालकर, अन्य द्रव्यों से भरकर उसकी सिलाई की जाती है। फिर उस अवस्था में उसे तैल में

पकाया जाता है, वह हंसतैल कहलाता है।

(अगद अनेक प्रकार के होते हैं—

१. महागद—जो विषवेग को नष्ट करने में अद्वितीय है।
२. अजित अगद ३. ताक्षर्य अगद ४. संजीवन अगद ५. ऋषभ अगद—यह जटामांसी, हरेणु, त्रिफला, इलायची, दालचीनी, सुपारी, तुलसी के फूल आदि का बारीक चूर्ण करके सूअर, गोह या नेवले के पित्त और मधु के साथ मिलाकर कुछ दिनों तक गाय के सींग में रखा जाता है। जिस घर में यह अगद होता है, वहां सर्प आदि विष नहीं छोड़ते और इस अगद से लिप्त नगाड़े बजाने पर उसकी ध्वनि से विष निष्प्रभावी हो जाता है। इस अगद से लिप्त पताका को देखकर विष से पीड़ित मनुष्य स्वस्थ हो जाता है।

हल्दी, गृहधूम, तगर, कूठ, ढाक के बीज आदि से बना अगद गलगोलिका के विष को नष्ट करता है।

—सु कल्पस्थान ५/६३-७५ ; ८/४८

० शतपाक तैल

१. सौ औषधिव्वाथ के द्वारा पकाया हुआ।
२. सौ औषधियों के साथ पकाया गया।
३. सौ बार पकाया गया।
४. सौ रूप्यों के मूल्य से पकाया गया।

० सहस्रपाक तैल

१. सहस्र औषधिव्वाथ के द्वारा पकाया हुआ।
२. सहस्र औषधियों के साथ पकाया गया।
३. सहस्र बार पकाया गया।
४. सहस्र रूप्यों के मूल्य से पकाया गया।

—स्था ३/८७ का टि)

२५. विष की औषध विष

विसस्स विसमेवेह, ओसधं अग्गिमग्गिणो।

मंतस्स षडिमंतो उ, दुज्जणस्स विवज्जणा ॥

(व्यभा ११५९)

विष की औषध विष ही है। अग्नि की औषध अग्नि, मंत्र की औषध प्रतिमंत्र और दुर्जन की औषध विवर्जना है (उस गांव या नगर के परित्याग से वह दुर्जन परित्यक्त हो जाता है)।

० विष के प्रकार

दव्वविसं खलु दुविधं, सहजं संजोइमं च तं बहुहा ।”

सहजं सिंगियमादी, संजोइम घतमहुं च समभागं ।”

(व्यभा ३०२८, ३०२९)

विष के दो प्रकार हैं—

सहजविष—शृंगिक आदि।

संयोगिम—समभाग में घृत और मधु का संयोग।

प्रत्येक विष के अनेक प्रकार हैं।

० वंजुल वृक्ष से विषअपनयन

सीतघरं पिव दाहं, वंजुलरुक्खो व जह उ उरगविसं।

कुद्धस्स तथा कोहं, पविणेती उसवमेति ति ॥

(व्यभा ४१५२)

शीतगृह (जलयंत्रगृह) दाह का और वंजुल वृक्ष सर्प-विष का अपनयन करता है। गुरु क्रोधी-शिष्य के क्रोध-विष का अपनयन—उपशमन करते हैं।

(वंजुल वृक्ष—जलवेतस साधारण ऊंचा और सुन्दर होता है। इसकी छाल कृष्णाभ, तंतुमय, कषाय तथा कुछ सुगंधित होती है। पत्ते तीन से छह इंच लम्बे, पत्रोदर हरा, पत्रपृष्ठ सफेद, पत्रवृत्त लाल, पुष्प सफेदी लिए पीले और मंजरियां सुगंधित होती हैं। इसके फल लगभग पांच इंच लम्बे होते हैं। इसकी छाल एवं पत्तों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।—भावप्रकाशनिघण्टु, गुडूच्यादिवर्ग)

० स्वर्ण विषघाती

.....विसघाई खलु कणगं,जोणीपाहुडे..... ॥

(व्यभा २३९२)

स्वर्ण विषघाती होता है। स्वर्ण निर्माण की विधि योनिप्राभृत में प्रतिपादित है।

(विषनाशक, रसायन, मांगलिक, लचीला, दक्षिणा-वर्त्त, गुरुक, न जलने वाला और कुथित न होने वाला स्वर्ण असली स्वर्ण है। वह कष, छेद, ताप और ताडन—इन चार कारणों से परिशुद्ध होता है।—दनि ३२६, ३२७)

० गोमय (गोबर) विषघाती

.....गोमयं.....कार्यसि वणं आलिंषेज्ज..... ॥

अभिणववोसिद्धासति, इतरे उवओग काउ गहणं तु।
माहिस असती गव्वं, अण्णातवत्थं च विसयाती ॥
(नि १२/३६ भा ४१९९)

शरीर में व्रण पर गोबर का लेप किया जाता है। तत्काल विसर्जित गोबर अधिक गुणकारी होता है। उसके न होने पर चिरकाल व्युत्सृष्ट गोबर का उपयोग किया जाता है।

छाया में स्थित तत्काल का भैंस का गोबर विषघातक होता है। उसके अभाव में गाय का गोबर काम में लिया जाता है। धूप में रखे हुए गोबर का रस सूख जाता है, अतः वह गुणकारी नहीं होता।

२६. वमन, विरेचन आदि से चिकित्सा

वमणं विरेयणं वा, अब्भंगोच्छ्रेलणं सिणाणं वा।
नेहादितप्यण रसायणं व नत्थि च वत्थि वा ॥
वण्ण-सर-रूव-मेहा, वंगवलीपलित-णासणद्धु वा।
दीहाउ तट्टुता वा, थूल-किसद्धु व तं कुज्जा ॥
वयत्थंभणं एगमणेगदव्वेहिं रसायणं, णासा-
रसादिरोगणासणत्थं णासकरणं णत्थं, कडिवाय-अरि-
सविणासणत्थं च अपाणहारेण वत्थिणा तेल्लादिप्यदाणं
वत्थिकम्मं। (निभा ४३३०, ४३३१ चू)

वमन, विरेचन, गात्र-अभ्यंग (तैल आदि से मालिश), उत्क्षालन (देशस्नान), स्नान आदि से शरीर को स्वस्थ रखा जाता है।

वर्ण, स्वर, रूप, मेधा आदि को उत्कृष्ट बनाने के लिए घृत आदि का तर्पण (स्नेहपान) किया जाता है।

एक-अनेक द्रव्यों से बने रसायनों (जरा-व्याधिविनाशक भेषज) के सेवन से वयस्तंभन (स्थिरयौवन) होता है।

नस्य—नाक के अर्श को मिटाने लिए नस्यकरण (नाक से घी आदि सूंघना) किया जाता है।

वस्तिकम्म—कटिवात, अर्श आदि मिटाने के लिए अपानद्वार से तेल आदि चढ़ाया जाता है।

मुंह आदि के दाग, शरीर की झुर्रियां आदि मिटाने, दीर्घायु बनने, कृश से स्थूल और स्थूल से कृश होने के लिए विविध द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

(जो स्वस्थ व्यक्ति को ऊर्जस्वल और अस्वस्थ व्यक्ति

को स्वस्थ बनाता है, वह रसायन है। रसायन भेषज का सेवन करने से दीर्घायु, स्मरणशक्ति, मेधा, आरोग्य, तारुण्य, प्रभा, वर्ण और स्वर का औदार्य, देह और इन्द्रियों की शक्तिसंपन्नता, वाक्सिद्धि, प्रणति, कांति आदि गुण निष्पन्न होते हैं।

—च चिकित्सास्थान १/५-८

शरीर की शोभा-विभूषा के लिए वमन, विरेचन आदि क्रियाएं मुनि के लिए निषिद्ध हैं, क्योंकि इनसे ब्रह्मचर्य की साधना में बाधा आती है।)

वमण-विरेगादीहिं, अब्भंतर-योगगलाण अवहारो।
तेल्लुव्वट्टण-जल-पुप्फ-चुण्णमादीहि बज्झाणं ॥
(निभा २३१७)

वमन, विरेचन आदि द्वारा शरीर के भीतरी दूषित पित्त-श्लेष्म आदि का अपहार किया जाता है। तैलमर्दन, उबटन, जल, पुष्प-चूर्ण आदि द्वारा शरीर के बाहरी अशुचिभूत पीब, रक्त आदि का शोधन किया जाता है।

२७. अतिश्रम से बुद्धिक्षीणता

परिश्रमेण बुद्धेः संव्यापादनात्।

(व्यभा २५९९ की वृ)

अतिश्रम से चित्तविक्षेप—बुद्धि-विनाश होता है।

२८. क्षेत्र आदि की स्निग्धता से आयु-मेधा-वृद्धि

णिद्धमधुरेहि आउं, पुस्सति देहिं दिपाडवं मेहा ।.....
यथा देवकुरोत्तरासु क्षेत्रस्य स्निग्धगुणत्वादायुषो
दीर्घत्वं, सुसमसुसमायां च कालस्य स्निग्धत्वादीर्घत्व-
मायुषः, तथेहापि स्निग्धमधुराहारत्वात् पुष्टिगयुषो भवति,
सा च न पुद्गलवृद्धेः, किन्तु युक्तग्रासग्रहणात् क्रमेण भोग
इत्यर्थः। देहस्य च पुष्टिरिन्द्रियाणां च पटुत्वं भवति, मेधा
च खीरादिणा भवति। (निभा ३५४१ चू)

जैसे देवकुरु-उत्तरकुरु में क्षेत्र की स्निग्धता के कारण तथा सुषमसुषमा अर में काल की स्निग्धता के कारण आयु दीर्घ होती है, वैसे यहां (भरतक्षेत्र में) भी स्निग्ध-मधुर आहार से आयु पुष्ट होती है। वह पुष्टि आयु की पुद्गलवृद्धि रूप नहीं होती। पुष्टि से तात्पर्य है युक्त आहार-विहार से आयु का क्रमपूर्वक भोग होता है। देह की पुष्टि और इन्द्रियों का पाटव बढ़ता है। क्षीर आदि से मेधा बढ़ती है।

० ब्राह्मी आदि का सेवन : वाक्याटव, मेधा.....

ब्राह्मयाद्यौषधोपयोगतो वाक्याटवं, शरीरजाड्या-
पहार्यौषधाभ्यवहारतः शरीरलघुता, दुग्धप्रणीताहारा-
ऽभ्यवहारतो मेधाविशिष्टं च धारणाबलं, सर्पिः- सम्मिश्र-
भोजनभुक्तित ऊर्जा, घृतेन पाटवम् । (व्यभा ७५७ की वृ)

० वाक्याटव—ब्राह्मी आदि औषधियों के सेवन से वाणी की
घटुता, बुद्धि का विकास ।

० शरीरलाघव—शारीरिक जड़तानाशक औषधियों के सेवन से
शरीर का हल्कापन ।

० मेधा-धारणाबल—दुग्धपान और प्रणीत आहार से मेधाविशिष्ट
धारणा शक्ति का विकास ।

० ऊर्जा—घी-संमिश्रित भोजन से ऊर्जा की वृद्धि ।

० पाटव—घृतसेवन से दक्षता का संवर्द्धन ।

२९. उपवास से रोगचिकित्सा तथा पारणविधि

किह उष्यण गिलाणो, अट्टमउण्होदगातिया वुड्डी ।

किंचि बहुभागमद्धे, ओमे जुत्तं परिहरंतो ॥

जाव ण मुक्को तावऽणसणं तु असहुस्स अट्ट छट्ठं वा ।

मुक्के वि अभत्तट्ठो, णाऊण रुयं तु जं जोगं ॥

एवं पि कीरमाणे, वेज्जं पुच्छंतऽठायमाणे वा ।.....

विसेसेण रोगस्स जं पत्थं तं कीरेति, जहा वायुस्स
घतादिपाणं, अवभेयगे वा घवपूरभक्खणं । असहू रोगेण
अमुक्को जता पारेति तदा इमो कम्मो—

उसिणोदए कूरसित्था णिच्छुब्भिउं ईसिं मलेउं
पारेति, एवं सत्तदिणे.....उसिणोदगे महुरोल्लणं थोवं
छुब्भति तेण उदगेण पारेति, एएण वि सत्तदिणे...ततिय-
सत्तगे किंचि मत्तातो बहुयरं महुरोल्लणं उसिणोदगे
छुब्भति, एतेण वि सत्तगं ।

‘भागे’ त्ति तिभागो मधुरोल्लणस्स दो भागा
उसिणोदगे, एतेण वि सत्तगं ।

‘अद्धं’ त्ति अद्धं महुरोल्लणस्स अद्धं उसिणो-
दगस्स, एतेण वि सत्तगं । ततो परं तिभागो उसिणो-
दगस्स महुरोल्लणस्स दो भागा, एवं पि सत्तगं । ततो ऊणो
तिभागो उसिणोदगस्स समहिगा दो भागा महुरोल्लणस्स,
एवं पि सत्तगं । ततो किंचिमेत्तं उसिणोदगं सेसं महुरोल्लणं,

एवं वि सत्तगं । ततो एतेण कमेण महुरोल्लणं अंबकुसणेण
भिंदति । (निभा ३००५-३००७ चू)

रोग उत्पन्न होने पर तेले (तीन दिन का उपवास)
आदि के तप तथा उष्णोदक-पान की क्रमशः वृद्धि से उपचार
किया जाता है ।

विशेष रूप से अजीर्ण, ज्वर आदि रोगों के असाध्य
हो जाने पर रोगी तब तक उपवास करता है, जब तक वह
रोग से मुक्त नहीं होता । जो सहिष्णु/समर्थ है, वह रोगमुक्त
होने के पश्चात् भी उपवास करता है ।

जो रोगी असमर्थ है, वह दो दिन का उपवास या
तीन दिन का उपवास करता है । अथवा रोग को जानकर
उसके अनुकूल पथ्य सेवन करता है । यथा—वायुरोग में घृत
आदि का पान, अवभेदक रोग में घृतपूर का भक्षण ।

(अर्धावभेदक, सूर्यावर्त, अनन्तवात आदि रोगों में
वात-पित्तनाशक आहार दिया जाता है । यथा—घृत, क्षीरान्न,
संयाव (लपसी), घृतपूर आदि ।—सु उत्तरतंत्र अ २६)

रोगी के पारण-विधि का क्रम इस प्रकार है—

० प्रथम सप्ताह—सात दिन उष्णोदक में चावल के सिक्ख
डालकर उन्हें किंचित् मलकर पारण करता है ।

० द्वितीय सप्ताह—फिर सात दिन उष्णोदक में अल्पमात्रा में
मधुर उल्वण (तक्र से आर्द्र ओदन) डालकर उस उदक से
पारण करता है ।

(...तक्कोल्लणं...—तक्राख्यम्, ‘उल्लणं’ येनौदन-
माद्रीकृत्योपयुज्यते ।—पिनि ६२४ वृ

‘देशीशब्दकोश’ में ‘ओल्लणी’ शब्द का अर्थ किया
गया है—मार्जित, इलायची, दालचीनी आदि से संस्कृत दधि ।)

० तृतीय सप्ताह—तीसरे सप्ताक में कुछ अधिक मात्रा में मधुर
उल्वण उष्णोदक में डालता है ।

० चतुर्थ सप्ताह—तीन भाग मधुर उल्वण, दो भाग उष्णोदक ।

० पंचम सप्ताह—आधा भाग मधुर उल्वण, आधा भाग
उष्णोदक ।

० षष्ठ सप्ताह—तीन भाग उष्णोदक, दो भाग उल्वण ।

० सप्तम सप्ताह—सातवें सप्तक में न्यून त्रिभाग उष्णोदक,
समधिक दो भाग मधुर उल्वण ।

० अष्टम सप्ताह—किंचित् मात्र उष्णोदक, शेष मधुर उल्वण ।

तत्पश्चात् इस क्रम से आम्ल करम्बे के साथ मधुर उल्बण और अन्य यूषों का प्रयोग करता है। इतना प्रयोग करने पर भी रोग उपशांत न हो तो वैद्य से परामर्श करता है।

(मोयप्रतिमा पालन करने के पश्चात् आहार-ग्रहण की विधि का उल्लिखित विधि से प्रायः साम्य है। उसमें प्रथम सप्ताह में गर्म पानी के साथ चावल, दूसरे सप्ताह में यूषमांड यावत् आठवें सप्ताह में मधुर दही अथवा यूषों के साथ चावल।—द्र प्रतिमा

दही कपाय, अनुरस, स्निग्ध, प्राणकारक और पवित्र होता है। यह विषम ज्वर, अतिसार, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र और कृशता को दूर करता है। चावल मधुर, शीतवीर्य, लघुपाकी, ज्वरहर, बलकारक तथा पित्तनाशक होते हैं।

—सु सूत्रस्थान ४५/६५; ४६/५-७)

३०. वैद्य के पास जाने की विधि एवं योग्यता

एककग दुगं चउक्कं, दंडो दूया तहेव नीहारी।....

(बृभा १९२१)

प्राचीन परंपरा के अनुसार वैद्य के पास एक, दो या चार मुनि नहीं जाते थे। क्योंकि एक मुनि जाने से वैद्य उसे यमदण्ड की दृष्टि से देखता है, दो मुनियों को यमदूत मानता है। चार मुनियों के साथ जाने से वह कहता है—शव को कंधा देने वाले आए हैं। अतः तीन मुनि जाते थे।

उगहधारणकुसले, दक्खे परिणामए य पियधम्मे।

कालण्णू देसण्णू तस्साणुमए य पेसेज्जा॥

साडडुभंगण उवल्लण, लोयछारुक्कुरडेय छिंद-भिंदंते।

सुह आसण रोगविही, उवदेसो वा वि आगमणं॥

(निभा ३०१६, ३०२२)

आचार्य रोगी के बारे में पूछने के लिए वैद्य के पास जिसको भेजे, वह निम्न गुणों से युक्त हो—

- ० अवग्रहण-धारण कुशल—वैद्य के कथन को ग्रहण और धारण करने में समर्थ।
- ० दक्ष—कार्य को शीघ्र संपादित करने वाला।
- ० परिणामक—उत्सर्ग-अपवाद को जानने वाला।
- ० प्रियधर्मा—श्रुत-चारित्रधर्म में श्रद्धावान्।
- ० कालज्ञ—चिकित्सक के पास जाने के समय को अथवा

अवसर को जानने वाला।

० देशज्ञ—वैद्य के अवकाश के क्षणों को अथवा उसके उपवेशन-स्थान को जानने वाला।

० अनुमत—जो ग्लान अथवा वैद्य द्वारा मान्य है। वह वैद्य के पास जाकर पूछताछ करे, किन्तु उस समय यदि वैद्य एक शाटक हो, तैल आदि से प्रक्षण या कल्क आदि से लिप्त हो, मुंडन करा रहा हो, राख, कचवरपुंज आदि के समीप स्थित हो, काष्ठ आदि का छेदन कर रहा हो अथवा किसी के दूषित अंग या शिरा का छेदन-भेदन कर रहा हो—इन अप्रशस्त योगों में उससे कुछ न पूछे। यदि रोगी के छेदन-भेदन कराना हो तो पूछा जा सकता है।

वह सुखासन में आसीन हो, प्रसन्न मुद्रा में वैद्यक-शास्त्र पढ़ रहा हो अथवा किसी की चिकित्सा कर रहा हो, उस समय उससे पूछने पर वह रोगी की अवस्था को सुनकर उपाय बता देता है या स्वयं रोगी के पास आ जाता है।

(जो रोगी के निमित्त चिकित्सक को बुलाने जाता है वह दूत कहलाता है। जो दूत निन्दा करते हुए, गधे या ऊंट की सवारी पर चढ़कर या एक-दूसरे के पीछे पंक्ति बनाकर वैद्य के समीप आते हैं, वे अप्रशस्त हैं। रूक्ष, निष्ठुर एवं अमंगल वचन बोलते हुए दूत अप्रशस्त हैं।

जो वैद्य दक्षिण दिशा में मुख किए हुए, अपवित्र स्थान में, जलती अग्नि के समीप बैठे हुए, नग्नावस्था में भूमि पर शयन करते हुए, अपवित्र, विमुक्त केश की अवस्था में तैल अभ्यंग करते हुए मिले, वह अप्रशस्त है।

कृत्तिका, आर्द्रा, मघा आदि नक्षत्र, चतुर्थी, नवमी आदि तिथियां और संध्याकाल दूतगमन के लिए वर्जनीय है।

सफेद वस्त्र धारण किए हुए, प्रसन्नचित्त, पैदल चलकर आए हुए, स्मृतियुक्त, विधि और काल के ज्ञाता, मंगलकारी दूत कार्य को सफल करने वाले होते हैं।—सु सूत्रस्थान अ २९)

० वैद्य को रोगी की अवगति

वाहि नियाण विकारं, देसं कालं वयं च धातुं च।

आहार अग्गि-धिइवल्ल, समुइं च कहिति जा जस्स॥

(बृभा १९२७)

परिचारक वैद्य के पास जाकर रोग और रोगी की पूर्ण

जानकारी देता है। वह उन्हें बताता है—

व्याधि—जो व्याधि हो, उसका नामोल्लेख।

निदान—रोगोत्पत्ति का कारण।

चिकार—प्रवर्धमान रोग की स्थिति।

देश—रोगोत्पत्ति का कारण प्रवात अथवा निवात प्रदेश।

काल—रोगवृद्धि का समय पूर्वाह्न आदि।

वय—रोगी की उम्र।

धातु—वात-पित्तप्रकोप है या कफप्रकोप ?

आहार—आहार आदि की मात्रा न्यून या अधिक ?

अग्निबल—जठराग्नि मंद है या प्रबल ?

धृतिबल—धृतिबल मजबूत है या कमजोर ?

आयु—उत्तर, विषय, अर्थ

३१. निदानतुल्य औषधिवर्जन

....दोसोदए य समणं, ण होइ न निदानतुल्लं वा ॥

रोगाणामुदये औषधं न दीयते, यतश्च निदाना-
दुत्थितो व्याधिः तत्तुल्यं—तत्सदृशमपि वस्तु रोगवृद्धि-
भयान्न दीयते; यद्वा दोषोदये दीयमानं शमनं न निदान-
तुल्यं भवति, किन्तु भवत्येव, ततो न दातव्यम्।

(बृभा ५२०२ वृ)

रोगों का उदय होने पर वह वस्तु औषध रूप में नहीं दी जाती, जिस वस्तु के कारण रोग उत्पन्न हुआ है, क्योंकि उससे रोग की वृद्धि का भय रहता है। अथवा रोगों के उदय में दी जाने वाली औषधि रोगोत्पत्ति के कारणभूत द्रव्य की भांति नहीं होती, ऐसा नहीं है, वह होती ही है इसलिए उसको नहीं देना चाहिए।

३२. लघु व्याधि से पूर्व की चिकित्सा

वणकिरियाए जा होति, वावडा जर-धणुग्गहादीया।

काउमुवह्वकिरियं, समेति तो तं वणं वेज्जा ॥

(व्यभा ७००)

किसी रोगी की व्रणचिकित्सा प्रारम्भ करने पर यदि बीच में ही उसके ज्वर या धनुग्रह (वायुविशेष) जैसी किसी बड़ी व्याधि का उपद्रव उत्पन्न हो जाये तो चिकित्सक पहले उस बड़ी व्याधि का शमन करते हैं, तत्पश्चात् उस व्रण का उपचार करते हैं।

३३. रोग की उपेक्षा से हानि : वृक्ष आदि दृष्टान्त
.....णहछेज्जरिणेहि दिदंतो ॥

उवेकिखतो वाही दुच्छेज्जो भवति, जहा रुक्खो
अंकुरावत्थाए णहछेज्जो भवति, विवड्ढितो पुण जायमूलो
महाखंधो कुहाडेण वि दुच्छेज्जो। रिणं पि अवड्ढिअं
अप्पत्तणओ सुच्छेज्जं, विवड्ढियं दुगुणचउगुणं दुच्छेज्जं।
(निभा ४३३८ चू)

व्याधि की उपेक्षा करने से वह दुःसाध्य हो जाती है।

० वृक्ष दृष्टान्त—वृक्ष जब अंकुर अवस्था में होता है, तब उसका नख से भी छेदन किया जा सकता है। जिस वृक्ष की जड़ें जम जाती हैं, स्कंध बड़ा हो जाता है, उस वृक्ष को कुल्हाड़ी से काटना भी कठिन होता है।

० ऋण दृष्टान्त—जब तक ऋण बढ़ता नहीं है, थोड़ा होता है, वह सरलता से चुकाया जा सकता है। बढ़े हुए दुग्ने-चारगुने कर्ज को चुकाना बहुत कठिन है।

चित्तचिकित्सा—चित्त विक्षेपहरणी क्रिया।

१. द्रव्यचित्त-भावचित्त

* समाधिस्थ चित्त

द्र चित्तसमाधि

२. असमाधिस्थ चित्त के प्रकार और कारण

३. रागजन्य क्षिप्तता : मृत्युदर्शन बोध

० भयजन्य क्षिप्तता : अभय का प्रदर्शन

० वातजन्य क्षिप्तता और चिकित्सा

० उपसर्गजन्य क्षिप्तता : तप-जप प्रयोग

४. क्षिप्तचित्त-संरक्षण : संघ द्वारा वैयावृत्य

५. क्षिप्तचित्त की परवशता

० क्षिप्तचित्त : प्रायश्चित्त संबंधी आदेश

६. दृप्तचित्त और क्षिप्तचित्त में अंतर

० शातवाहन दृष्टान्त

७. दीप्तचित्तता के कारण एवं निवारण

८. यक्षाविष्ट व क्षिप्त-दीप्त में अंतर

९. यक्षावेश के कारण

१०. उन्माद के हेतु

* भाव विशोधि से मोहचिकित्सा

द्र लेश्या

११. वात-पित्तजन्य उन्माद की चिकित्सा

१२. उन्माद और उपसर्ग

१. द्रव्यचित्त-भावचित्त

जीवो उ द्रव्यचित्तं, जेहिं च द्रव्येहिं जम्मि वा द्रव्ये ।
नाणादिसु सुसमाही, ध्रुवजोगी भावओ चित्तं ॥
अकुसलजोगनिरोहो, कुसलाणं उदीरणं च जोगाणं ।
एयं तु भावचित्तं.... ॥

द्रव्यचित्तं जीव एव, चित्तं न जीवद्रव्यादन्यत्वे
वर्तते, न वा चित्तात् जीवोऽर्थान्तरभूतः । अथवा जीवो
हि द्रव्यं सचेतनाभिसंबन्धाद् गुणपर्यायोपगमादनुपयो
गाद्वा द्रव्यचित्तं । भावचित्तं ज्ञानाद्युपयोगः । नाणं मण-
वइकातसहगतं । एवं दरिसणंपि, चरित्तंपि ।

(दशानि ३३, ३३/१ चू)

जीव द्रव्यचित्त है । चित्तोत्पादक द्रव्य अथवा जिन
द्रव्यों में चित्त उत्पन्न होता है, वे भी द्रव्यचित्त हैं । ज्ञान
आदि में सुसमाधि तथा ध्रुवयोग भावचित्त है ।

अकुशल योगों का निरोध और कुशल योगों की
उदीरणा भावचित्त है ।

द्रव्यचित्त जीव ही है । चित्त जीवद्रव्य से अन्य नहीं
है । जीव चित्त से अन्य नहीं है । अथवा जीव ही द्रव्यचित्त
है, उसके तीन कारण हैं—

१. सचेतन अभिसंबंध २. गुणपर्याययुक्तता ३. अनुपयोग
ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपयोग में मन-वचन-काय-
योग से समन्वित चित्त भावचित्त है ।

(स्थूल शरीर के साथ कार्य करने वाली चेतना चित्त
है । मति-श्रुतज्ञान से सम्पन्न आत्मा चित्त है । चित्त के तीन
रूप हैं— भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्तन । मनोवर्गणा से उपरंजित
चित्त ही मन है ।—श्रीआको १ आत्मा)

मणसंकप्पो त्ति वा अङ्गवसाणं ति वा चित्तं ति
वा एगड्ढं । (निभा २८९३ की चू)

मनसंकल्प, अध्यवसान और चित्त—ये तीनों पर्याय-
वाची नाम हैं । (चित्त की मुख्य दो अवस्थाएं हैं—समाधिस्थ
(स्वस्थ) चित्त और असमाधिस्थ चित्त ।)

२. असमाधिस्थ चित्त के प्रकार और कारण

रागेण वा भएण व, अधवा अवमाणितो नरिंदेणं ।
एतेहिं खित्तचित्तो, वणिग्यादि परुविया लोणे ॥

भयतो सोमिलबडुओ, सहसोत्थरितो व संजुगादीसु ।
धणहरणेण पहूण व, विमाणितो लोइया खित्तो ॥
जड्हादी तेरिच्छे, सत्थे अगणी य थणियविज्जू य ।...

(व्यभा १०७८, १०७९, १०८६)

असमाधिस्थचित्त (अस्वस्थचित्त) के तीन प्रकार
हैं—क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त तथा उन्मत्तचित्त ।)

चित्त की विक्षिप्तता के मुख्य कारण तीन हैं—अनुराग,
भय और राजा आदि के द्वारा किया गया अपमान ।

० अनुराग—प्रिय व्यक्ति के अनिष्ट, वियोग, मरण आदि से
होने वाले चित्तविप्लव का हेतु राग है । एक वणिग्भार्या अकस्मात्
अपने पति की मृत्यु का संवाद सुन विक्षिप्त हो गई ।

० भय—गजसुकुमालमारक सोमिल ब्राह्मण कृष्ण के भय से
क्षिप्त-चित्त हो गया । युद्ध आदि का तथा अतर्कित आक्रमण
का भय भी विक्षिप्तता का हेतु है ।

० अपमान—राजा आदि के द्वारा सारी सम्पत्ति छीन लिए जाने
पर, अपमानित होने पर व्यक्ति क्षिप्तचित्त हो जाता है ।

० हाथी आदि जानवरों को, शस्त्रों को तथा आगजनी को
देखकर, मेघ की गर्जना और बिजली के कड़कने की आवाज
सुनकर व्यक्ति क्षिप्तचित्त हो जाता है ।

(आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भय के कुछ
कारण ये हैं—ऊंचे स्थान, खुले स्थान और बंद स्थान का भय,
पीड़ा का भय, तूफान, बिजली एवं गर्जन से भय, स्त्रियों से
भय, रक्त, जल, अग्नि और कीटाणुओं से भय, अकेलेपन से
भय, शव से भय, अंधेरे और भीड़ से भय, जानवरों से भय, रोग-
संक्रमण से भय । यह सब असंगत भय है, असामान्य चित्त
की अवस्था है ।—आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, पृ. २५३)

३. रागजन्य क्षिप्तता : मृत्युदर्शनबोध

तेलोक्कदेवमहिता, तित्थगरा नीरया गता सिद्धिं ।
थेरा वि गता केई, चरणगुणपभावगा धीरा ॥
न हु होति सोइयव्वो, जो कालगतो दढो चरित्तम्मि ।
सो होति सोइयव्वो, जो संजमदुब्बलो विहरे ॥

(व्यभा १०८३, १०८४)

कोई राग के कारण क्षिप्तचित्त हो तो उसे मृत्यु की
अनिवार्यता का दर्शन समझाना चाहिए—

त्रिभुवनवर्ती देवों द्वारा पूजित तीर्थंकर भी नीरज (कर्मरज से रहित) हो सिद्ध हो गये। गौतमस्वामी जैसे चरणगुणप्रभावक, महासत्त्वसम्पन्न स्थविर महर्षि भी मुक्त हो गये (तो शेष प्राणियों की तो बात ही क्या? संसार की असारता और जीवन की क्षणभंगुरता का बोध करो, शोक मत करो।) वह शोचनीय नहीं है, जो दृढ़ता से चारित्र्य का पालन कर कालकवलित हुआ है। शोचनीय वह है जो संयम में दुर्बल होकर विहरण करता है।

० भयजन्य क्षिप्तता : अभय का प्रदर्शन

कण्णम्मि एस सीहो, गहितो अध धाडितो य सो हत्थी ।
खुडुलतरगेण तु मे, ते वि य गमिया पुरा पाला ॥
सत्थग्गिं थंभेउं, पणोल्लणं..... ॥
(व्यभा १०८८, १०८९)

कोई शिष्य हाथी या सिंह के भय से विक्षिप्त हुआ हो तो गुरु पहले एकांत में हस्तिपाल या सिंहपाल को सारी स्थिति बता देते हैं, फिर क्षिप्तचित्त को वहां ले जाते हैं। सबसे पहले छोटा बालक निर्भयता से सिंह के कान पकड़ता है और दूसरा बालक हाथी की सूंड, कान आदि का स्पर्श करता है तब गुरु कहते हैं—देखो, यह बालक भी हाथी के साथ क्रीड़ा कर रहा है। सिंह और हाथी को भी प्रेरित कर रहा है, तो तुम व्यर्थ में ही क्यों डरते हो? ऐसा देखकर वह स्वस्थ हो जाता है।

यदि कोई शस्त्र या अग्नि को देखकर क्षिप्तचित्त हुआ हो तो विद्या-बल से शस्त्र और अग्नि का स्तंभन कर क्षिप्तचित्त व्यक्ति के देखते-देखते उस शस्त्र और अग्नि को पैरों तले रौंदकर दिखाते हैं।

० वातजन्य क्षिप्तता और चिकित्सा

निद्ध म्हुं च भत्तं, करीससेज्जा य णो जहा वातो ।...
शय्या च करीषमयी.....सोष्णा भवति, उष्णो च
वातश्लेष्मापहारः ।
(वृभा ६२१६ वृ)

वायुरोग से उत्पन्न विक्षिप्तता स्निग्ध-मधुर भोजन और करीष की शय्या के प्रयोग से दूर की जा सकती है। करीषमयी शय्या उष्ण होती है। उष्णता से वात और श्लेष्म

का नाश होता है। जिससे वायु को अवकाश न मिले, वैसा उपाय करना चाहिए।

० उपसर्गजन्य क्षिप्तता : तप-जप प्रयोग

...देविय धाउक्खोभे, णातुस्सग्गो ततो किरिया ॥
.....यदि दैविक इति कथितं तथा प्रासुकैषणीयेन
तस्या उपचारः, शेषसाध्वीनां तपोवृद्धिः, तदुपशमनाय
च मन्त्रादिस्मरणम् ।
(वृभा ६२१६ वृ)

अमुक साधु/साध्वी भूत-प्रेत आदि देवकृत उपद्रव से विक्षिप्त है या धातुक्षोभ से? यह जानने के लिए देवाराधना हेतु कायोत्सर्ग किया जाता है और उस आर्कषित देवता के कथन के अनुसार उपचार किया जाता है।

यदि देवकृत उपसर्ग के कारण विक्षिप्तता हो तो प्रासुक-एषणीय द्रव्यों से उसका उपचार किया जाता है। शेष साधु-साध्वियां अपने तप में वृद्धि करते हैं तथा मंत्र आदि के स्मरण द्वारा उपद्रव का शमन करते हैं।

४. क्षिप्तचित्त-संरक्षण : संघ द्वारा वैयावृत्य

मिउब्धेहि तथा णं, जमेति जह सो सयं तु उट्टेति ।
उव्वरगसत्थरहिते, बाहि कुड्ढे असुण्णं च ॥
छम्मासे पडियरिउं, अणिच्छमाणेसु भुज्जतरगो वा ।
कुल-गण-संघसमाए, पुव्वगमेणं निवेदेज्जा ॥
आहार-उवहि-सेज्जा, उग्गम-उप्पायणादिसु जतंता ।...
(व्यभा १०९६, ११००, ११०४)

क्षिप्तचित्त को मृदु बंधन से बांध देते हैं, जिससे वह स्वयं उठ-बैठ सके। उसे उस कक्ष में रखा जाता है, जिसमें शस्त्र आदि न हो और बाहर से द्वार को वंशजालिका, डोरी आदि से बंद कर दिया जाता है। उसे एकाकी नहीं छोड़ा जाता, बारी-बारी से एक-एक व्यक्ति को उसकी सेवा में नियुक्त किया जाता है।

उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से शुद्ध आहार, उपधि, शय्या आदि के द्वारा छह मास तक उसकी सेवा-परिचर्या की जाती है, फिर भी वह स्वस्थ नहीं होता है और अत्यधिक सेवा के कारण परिचारक साधु परिश्रंत हो जाने पर अब सेवा करना नहीं चाहते हैं तो कुल, गण और संघ को

एकत्रित कर उसकी परिचर्या के लिए निवेदन किया जाता है, फिर कुल आदि यथाक्रम से उसकी सेवा करते हैं।

५. क्षिप्तचित्त की परवशता

पासंतो वि य काये, अपच्वलो अप्पगं विधारेउं।

जह पेल्लितो अदोसो, एमेव इमं पि पासामो ॥

यथा धरेण प्रेरित आत्मानं विधारयितुं...असमर्थः
सन् पश्यन्नपि कायान् पृथिवीकायिकादीन् विराधयन्
अन्निकापुत्राचार्य इव...निर्दोषः। (व्यभा १११६ वृ)

किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा प्रेरित होने पर अपने को रोकने में असमर्थ व्यक्ति पृथ्वीकाय आदि को देखता हुआ भी उसकी विराधना करता है, पर वह अन्निकापुत्राचार्य की भांति निर्दोष होता है। यही स्थिति क्षिप्तचित्त की है।

(एक बार अर्णिकापुत्र आचार्य गंगा के उस पार जाने के लिए नौका में चढ़े। नौका के जिस भाग में वे बैठे, वह भाग पानी में डूबने लगा, तब वे नौका के ठीक मध्य में बैठ गये। अब तो पूरी नौका ही डूबने लगी। तत्काल लोगों ने सूरि को जल में फेंक दिया और एक व्यंतरी ने पूर्व वैर का प्रतिशोध लेने के लिए उन्हें शूल में पिरो दिया। अर्णिकापुत्राचार्य परमकोटि की समता से संवलित करुणा-नौका में आरूढ़ हो सोचने लगे—हा! मेरी रक्तधारा से जलकायिक जीवों की हिंसा हो रही है—इस परम शुक्ल भावधारा से उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।—उप्रा भाग १ पृ. १८, १९)

० क्षिप्तचित्त : प्रायश्चित्त संबंधी आदेश

...तेगिच्छम्मि कयम्मि य, आदेसा तिन्नि सुद्धो वा ॥

...परिसाए मञ्जम्मी, पट्टवणा होति पच्छित्ते ॥

(व्यभा ११०५, ११०६)

चिकित्सा द्वारा क्षिप्तचित्त मुनि के स्वस्थ होने पर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, उसके संबंध में तीन आदेश हैं—

१. कुछ आचार्य मानते हैं—उसे गुरु प्रायश्चित्त में स्थापित करना चाहिए।

२. एक मत है—लघु प्रायश्चित्त देना चाहिए।

३. अन्य मत है—लघुस्वक देना चाहिए।

तीसरा आदेश व्यवहार सूत्र (२/६) में प्रतिपादित

होने से प्रमाण है। अथवा परवशता के कारण वह शुद्ध ही है, किंतु अगीतार्थ को प्रतीति दिलाने के लिए परिषद् के मध्य उसे लघुस्वक (निर्विकृतिक तप रूप) प्रायश्चित्त प्रदान करना चाहिए।

६. दृप्त और क्षिप्त में अंतर

.....जो होइ दित्तचित्तो, सो पलवतिऽनिच्छियव्वाइं ॥

इति एस असम्माणो, खित्तोऽसम्माणतो भवे दित्तो।

अग्गी व इंधणोहिं, दिप्पति चित्तं इमेहिं तु ॥

लाभमदेण व मत्तो, अधवा जेऊण दुज्जए सत्तू।

दित्तम्मि सातवाहण।

(व्यभा ११२३-११२५)

जो दृप्तचित्त होता है, वह असंबद्ध प्रलाप करता है। क्षिप्तचित्त अपहृतचित्तता के कारण मौन भी रहता है।

क्षिप्तचित्त का कारण असम्मान और दृप्तचित्त का कारण विशिष्ट सम्मानसम्प्राप्ति तथा लाभ का गर्व है। ईधन से अग्नि की भांति हर्षातिरेक से व्यक्ति उद्दीप्त हो जाता है। दुर्जेय शत्रुओं को जीतकर भी व्यक्ति दृप्तचित्त हो जाता है। यहां शातवाहन की दृप्तता उदाहरणीय है।

० शातवाहन दृष्टांत

मथुरा दंडाऽऽणत्ती.....।.....दो वि पाडेउं ॥

सुतजम्म महुरपाडण, निहिलंभनिवेयणा जुगव दित्तो।

सयणिज्जखंभकुड्डे, कुड्डेइ इमाइ पलवंतो ॥

.....कुसलेण अमच्चवेणं, खरगेणं सो उवाएणं ॥

विह्वितं केणं ति य, तुब्भेहिं पायतालणा खरण्णं।

कत्थ त्ति मारितो सो, दुट्ठ त्ति य दंसणे भोगा ॥

(व्यभा ११२६, ११२७, ११३०, ११३१)

गोदावरी नदी के तट पर प्रतिष्ठान नगर। शातवाहन राजा। खरक अमात्य। दण्डनायक ने सूचना दी—राजन्! हमने उत्तर मथुरा और दक्षिण मथुरा पर अधिकार कर लिया है।

अंतःपुर से एक दूती ने आकर कहा—देव! पट्टदेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया है। एक अन्य व्यक्ति ने आकर कहा—राजन्! अमुक प्रदेश में विपुल निधि प्रकट हुई हैं। इस प्रकार एक साथ तीन शुभ संवाद सुनकर राजा अति हर्ष के

कारण दीप्तचित्त हो गया। वह शय्या को पीटने लगा, खंभों और दीवारों को तोड़ने लगा और असमंजस-अनर्गल प्रलाप करने लगा। कुशल मंत्री खरक ने असंबद्ध प्रलापी राजा को स्वस्थ करने के लिए उपाय खोजा। उसने सब खंभों-दीवारों को तुड़वा दिया। ये किसने विनष्ट किये? राजा के पूछने पर खरक मंत्री ने निष्चुरता से कहा—आपने। कुपित राजा ने मंत्री को पैरों से रौंदा। तत्काल पूर्व संकेतित पुरुषों ने मंत्री को उठाकर छिपा दिया। राजा ने पूछा—मंत्री कहां है? 'वह आपके द्वारा ही मारा गया है।' यह सुनकर वह विलाप करने लगा। उसके स्वस्थ होने पर मंत्री को प्रस्तुत किया गया। समग्र वृत्तान्त सुन राजा प्रसन्न हुआ और मंत्री को विपुल भोग-सामग्री प्रदान की।

७. दीप्तचित्तता के कारण और निवारण

महञ्जयण भक्त खीर, कंबलग-पडिगह फल ग सङ्गे।
पासादे कप्पट्टे, वादं कारुण वा दित्तो॥
पुंडरियमादियं खलु, अञ्जयणं कङ्कुरुण दिवसेणं।
हरिसेण दित्तचित्तो, एवं होज्जाहि कोई उ॥
दिवसेण पोरिसीय व, तुमए ठवियं इमेण अद्धेण।
एतस्स नत्थि गव्वो, दुम्मेधतरस्स को तुञ्जं॥
तहव्वस्स दुगुण्ण, दिट्ठतो भावणा असरिसेणं।
चरगादि पण्णवेउं, पुव्वं तस्स पुरतो जिणावेति।
ओमतरागेण ततो, पगुणति ओभामितो एवं॥
(व्यभा ११३२, ११३३, ११३५, ११३६, ११३९)

'पुण्डरीक' जैसे महान् अध्ययन को मैंने एक दिन या एक प्रहर में ही पढ़ लिया है—इस अहं से मुनि दीप्तचित्त हो सकता है। आचार्य कहते हैं—देखो—अमुक शिष्य ने आधे प्रहर में ही इस अध्ययन को पढ़ लिया है। फिर भी इसे गर्व नहीं है। तुम्हें अपनी दुर्मैधा का गर्व क्यों? इस प्रज्ञापन से दीप्तचित्त को अपनी बुद्धि की अल्पता का अनुभव होता है और वह स्वस्थ हो जाता है।

उत्कृष्ट आहार, रत्नकंबल आदि बहुमूल्य उपधि, चम्पक, तिनिशपट्ट आदि फलक, दातार श्रावक, प्रासाद आदि उपाश्रय, रूपलावण्यसम्पन्न-प्रज्ञानिधान शिष्य और शास्त्रार्थ में विजय—इन सब की उपलब्धि के गर्व से, अतिहर्ष से

व्यक्ति दीप्तचित्त हो जाता है।

इस दीप्तता-निवारण के लिए उसके द्वारा आनीत आहार आदि दुर्लभ द्रव्यों की उसके समक्ष जुगुप्सा करनी चाहिये—यह वस्तु अच्छी नहीं है, इसमें अमुक दोष है। अथवा अदृश्य-दृष्टांत से भावना करनी चाहिए—देखो, अमुक व्यक्ति तुम्हारे से शतभाग या सहस्र भाग हीन है, फिर भी उत्कृष्ट वस्तु लेकर आया है। इस अपभ्राजना से वह स्वस्थचित्त हो जाता है।

विजित होने के कारण जिसका चित्त दीप्त हुआ हो, उसके समक्ष पूर्व प्रज्ञापित चरक आदि प्रचण्ड वादी को प्रस्तुत कर किसी छोटे साधु के द्वारा उसे पराजित किया जाता है। इस अपभ्राजना से वह दीप्तचित्त मुनि स्वस्थ हो जाता है।

८. यक्षाविष्ट व क्षिप्त-दीप्त में अन्तर

योग्गलअमुभसमूदओ, एस अणागंतुको दुवेण्हं पि।
जक्खावेसेणं पुण, नियमा आगंतुगो होति॥
अहवा भय सोगजुतो, चिंतहण्णो व अतिहरिसितो वा।
(व्यभा ११४०, ११४१)

यक्षाविष्ट व्यक्ति पीड़ित होता है। उस पीड़ा का हेतुभूत अशुभ पुद्गलसमूह नियमतः आगंतुक होता है।

भय-शोकातुर और चिंतातुर क्षिप्तचित्त तथा अतिहर्षित दृप्तचित्त में पीड़ा के हेतुभूत अशुभ पुद्गल अनागंतुक (स्वशरीर संभवी) होते हैं।

९. यक्षावेश के कारण : दो दृष्टांत

पुव्वभवियवेरेणं, अहवा रागेण रंगितो संतो।
एतेहि जक्खविट्ठो, सेट्ठी सञ्जिलग वेसादी॥
सेट्ठिस्स दोन्नि महिला, पिया य वेस्सा य वंतरी जाता।
सामन्नम्मि पमत्तं, छलेति तं पुव्ववेरेणं॥
जेट्टुगभाउगमहिला, अञ्जोवण्णाउ होति खुडुलए।
धरमाण मारितम्पी, पडिसेहे वंतरी जाया॥
(व्यभा ११४२-११४४)

पूर्वभविक वैर अथवा रागरंजित होने के कारण व्यक्ति यक्षाविष्ट होता है।

श्रेष्ठी दृष्टांत—एक सेठ के दो पत्नियां थीं। एक प्रिय, दूसरी अप्रिय। अप्रिया अकामनिर्जरा के कारण मरकर व्यंतरी बनी।

श्रेष्ठी श्रमण बना। एक बार उस श्रमण को प्रमत्त देखकर व्यंतरी ने पूर्वभव के वैर के कारण उसे ठग लिया।

भ्राता दृष्टांत—दो भाई थे। बड़े भाई की पत्नी छोटे भाई में अनुरक्त थी। अपनी कामेच्छापूर्ति के लिए उसने अपने पति को विषमिश्रित भोजन खिलाकर मार डाला। छोटे भाई को यह ज्ञात हुआ तो वह विरक्त हो प्रव्रजित हो गया। देवर के प्रतिषेध से संतप्त वह मरकर व्यंतरी बनी। अर्वाधज्ञान से व्यंतरी ने जब श्रमण (देवर) को प्रमत्त देखा तो छल लिया। पूर्वराग वृत्तात् द्वेष में परिवर्तित हो गया।

१०. उन्माद के हेतु : मोह आदि

उम्माओ खलु दुविधो, जक्खावेसो य मोहणिज्जो य ।
रूवंगिं ददूणं, उम्मादो अहव पित्तमुच्छाए ।
(व्यभा ११४७, ११४८)

उन्माद दो प्रकार का होता है—यक्षावेशहेतुक और मोहकर्मोदयहेतुक।

कोई रूपवती स्त्री को देखकर उन्मत्त हो जाता है। पित्तप्रकोप और वातौद्रेक भी उन्माद का हेतु बनता है।

११. वात-पित्त जन्य उन्माद की चिकित्सा

वाते अब्भंगसिणोहपज्जणादी तथा निवाते य ।
सक्करखीरादीहि य, पित्ततिगिच्छा उ कातव्वा ॥
(व्यभा ११५२)

वातज (वायुजन्य) उन्माद में तैल आदि से शरीर की मालिश की जाती है। घृत पिलाया जाता है। रोगी को निवात में रखा जाता है। पित्तमूर्च्छा से उन्मत्त व्यक्ति की शर्करा, क्षीर आदि से चिकित्सा की जाती है।

१२. उन्माद और उपसर्ग

मोहेण पित्ततो वा, आयासंचेयओ समक्खातो ।
एसो उ उवस्सग्गो, इमो तु अण्णो परसमुत्थो ॥
तिविहे य उवस्सग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य ।
(व्यभा ११५३, ११५४)

मोहोदय या पित्तोदय से उन्मत्त आत्मा संचेतक होती है (स्वयं के द्वारा स्वयं का दुःख उत्पन्न करती है।) उपसर्ग के चार प्रकार हैं—आत्मा के द्वारा ही आत्मा

का दुःखोत्पादन—यह आत्मसंचेतनीय उपसर्ग है। त्रिविध देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यचकृत उपसर्ग परसमुत्थ हैं।

* उपसर्ग चतुष्टयी के हेतु द्र श्रीआको १ उपसर्ग
चित्तसमाधिस्थान—चैतसिक समाधान के हेतु।

चित्तसमाधिप्राप्ति की अर्हता

अज्जो ! इति समणे भगवं महावीरे समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—इह खलु अज्जो ! निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इरियासमिताणं भासासमिताणं एसणासमिताणं आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिताणं उच्चारपासवणाखेलसिंघाणजल्लपारिद्धावणितासमिताणं मणसमिताणं वइसमिताणं कायसमिताणं मणगुत्ताणं वइगुत्ताणं कायगुत्ताणं गुत्ताणं गुत्तिदियाणं गुत्तबंभयारीणं आयट्ठीणं आयहिताणं आयजोगीणं आयपरक्कमाणं पक्खियपोसहिएसु समाधिपत्ताणं झियायमाणं इमाइं दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं असमुप्पन्नपुव्वाइं समुप्पज्जिज्जा । (दशा ५/७)

आर्यो ! श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण-निर्ग्रथों और निर्ग्रथियों को आमंत्रित कर इस प्रकार कहा—

आर्यो ! जो निर्ग्रथ-निर्ग्रथी ईर्यासमित, भाषासमित, एषणा समित, आदानभांड-अमत्र-निक्षेपसमित, उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष-सिंघाण-जल्ल-पारिष्ठापनिकासमित, मनसमित, वचनसमित, कायसमित, मनोगुप्त, वचनगुप्त, कायगुप्त, गुप्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्तब्रह्मचारी, आत्मार्थी, आत्मा का हित करने वाले, आत्मयोगी, आत्मा के लिए पराक्रम करने वाले, पाक्षिक पौषध करने वाले, सुसमाहित होकर ध्यान करने वाले होते हैं, उनके अभूतपूर्व दस-चित्तसमाधि-स्थान उत्पन्न होते हैं।

चित्तसमाधि के प्रकार

.....दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं षण्णत्ताइं.....तं जहा—

१. धम्मचिंता वा से असमुप्पन्नपुव्वा समुप्पज्जेज्जा सव्वं धम्मं जाणित्तए । २. सण्णिणाणे वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहं सरामि । ३. सुमिणदंसणे वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहातच्चं सुमिणं पासित्तए ।

४. देवदंसणे वा से असमुप्यन्नपुव्वे समुप्यज्जेज्जा दिव्वं देवद्विं दिव्वं देवजुं दिव्वं देवाणुभावं पासित्तए । ५. ओहि-
नाणे वा से असमुप्यन्नपुव्वे समुप्यज्जेज्जा ओहिणा लोयं
जाणित्तए । ६. ओहिदंसणे वा से असमुप्यन्नपुव्वे
समुप्यज्जेज्जा ओहिणा लोयं पासित्तए । ७. मणपज्जवनाणे
वा से असमुप्यन्नपुव्वे समुप्यज्जेज्जा अंतो मणुस्स खेत्ते
अह्वातिज्जेसु दीवसमुद्देसु सण्णीणं पंचेदियाणं पज्जत्तगाणं
मणोगते भावे जाणित्तए । ८. केवलनाणे वा से
असमुप्यन्नपुव्वे समुप्यज्जेज्जा केवलकप्पं लोयालोयं
जाणित्तए । ९. केवलदंसणे वा से असमुप्यन्नपुव्वे
समुप्यज्जेज्जा केवलकप्पं लोयालोयं पासित्तए । १०.
केवलमरणे वा से असमुप्यन्नपुव्वे समुप्यज्जेज्जा सव्व-
दुक्खपहीणाए । (दशा ५/३, ७)

चित्त की समाधि के दस स्थान (हेतु) हैं, जैसे—

१. धर्मचिन्ता—किसी को अभूतपूर्व धर्मचिन्ता उत्पन्न होती है, उसमें वह सब धर्मों (वस्तु-स्वभावों) को जानकर चैतसिक समाधान को प्राप्त होता है।
२. संज्ञीज्ञान—किसी को अभूतपूर्व संज्ञीज्ञान (जातिस्मृति) उत्पन्न होता है। उससे वह जान लेता है कि पूर्वभव में मैं अमुक था।
३. स्वप्नदर्शन—किसी को अभूतपूर्व स्वप्न-दर्शन होता है। वह यथार्थ स्वप्न देखकर चैतसिक समाधान को प्राप्त होता है।
४. देवदर्शन—किसी को अभूतपूर्व देव-दर्शन होता है, उससे वह दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव को देखकर चैतसिक समाधान को प्राप्त होता है।
५. अवधिज्ञान—किसी को अभूतपूर्व अवधिज्ञान प्राप्त होता है। उससे वह लोक को जानकर चैतसिक समाधान को प्राप्त होता है।
६. अवधिदर्शन—किसी को अभूतपूर्व अवधिदर्शन प्राप्त होता है। उससे वह लोक को देखकर चैतसिक समाधान को प्राप्त होता है।
७. मनःपर्यवज्ञान—किसी को अभूतपूर्व मनःपर्यवज्ञान प्राप्त होता है। उससे वह अढ़ाई द्वीप और समुद्र—मनुष्यलोक में विद्यमान समनस्क पर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत

- भावों को जानकर चैतसिक समाधान को प्राप्त होता है।
८. केवलज्ञान—किसी को अभूतपूर्व केवलज्ञान प्राप्त होता है। उससे वह सम्पूर्ण लोक-अलोक को जानकर चैतसिक समाधान को प्राप्त होता है।
९. केवलदर्शन—किसी को अभूतपूर्व केवलदर्शन प्राप्त होता है। उससे वह सम्पूर्ण लोक-अलोक को देखकर चैतसिक प्रसन्नता को प्राप्त होता है।
१०. केवलमरण—समस्त दुःखों को क्षीण करने के लिए केवलीमरण को प्राप्त करने वाला चैतसिक समाधान को प्राप्त होता है।

(समाधि शब्द के अनेक अर्थ हैं—हित, सुख और स्वास्थ्य...गुणों का स्थिरीकरण या स्थापन। चित्त की समाधि का अर्थ है—मन का समाधान, मन की प्रशान्तता। स्थान शब्द के दो अर्थ हैं—आश्रय और भेद।

समवायांग में दस चित्तसमाधिस्थानों का उल्लेख है। वहां स्वप्न दर्शन दूसरा और संज्ञीज्ञान तीसरा स्थान है। दस स्थानों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. धर्मचिन्ता—पदार्थों के स्वभाव की अनुप्रेक्षा। जो अनादि-अतीत काल में कभी उत्पन्न नहीं हुई, वैसी धर्मचिन्ता के उत्पन्न होने पर अर्द्धपुद्गलपरावर्त काल की सीमा से उस व्यक्ति का मोक्ष अवश्यंभावी हो जाता है। ऐसी धर्मचिन्ता से व्यक्ति का मन समाहित हो जाता है और वह जीव आदि के यथार्थ स्वरूप को जानकर, परिहरणीय कर्म का परिहार कर अपना कल्याण साध लेता है।
२. स्वप्नदर्शन—जैसे भगवान् महावीर को अस्थिकग्राम में स्वप्न दर्शन हुआ। दस स्वप्न देखे। ये दसों स्वप्न यथार्थ थे, भावी कल्याण के सूचक थे। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को यथार्थ स्वप्न दर्शन होता है, वह भावी कल्याण की रेखाएं जानकर चित्तसमाधि को प्राप्त हो जाता है।
३. संज्ञीज्ञान—जातिस्मृति से पूर्वभवों का ज्ञान होने पर व्यक्ति में संवेग की वृद्धि हो सकती है और उससे उसे चित्तसमाधि प्राप्त होती है।
४. देवदर्शन—देव अमुक-अमुक साधक के गुणों से आकृष्ट होकर उसे दर्शन देते हैं—उसके सामने प्रकट होते हैं। वे अपनी दिव्य देवऋद्धि—मुख्य देव परिवार आदि को, दिव्य

देवद्युति—विशिष्ट शरीर तथा आभूषणों आदि की दीप्ति को तथा दिव्य देवानुभाव—उत्कृष्ट वैक्रिय आदि करने के सामर्थ्य को उस साधक को दिखाने के लिए प्रकट होते हैं, उन देवों की ऋद्धि, द्युति और अनुभाव को देखकर साधक के मन में आगमों के प्रति दृढ़ श्रद्धा पैदा होती है और धर्म के प्रति बहुमान—आन्तरिक अनुराग उत्पन्न होता है। इससे चित्त को समाधान प्राप्त होता है।

५-७. इसी प्रकार विशिष्ट अवधिज्ञान, अवधिदर्शन और मनः पर्यवज्ञान उत्पन्न होने पर चित्त समाहित और शांत हो जाता है, विकल्प नष्ट हो जाते हैं।

८, ९. केवलज्ञान और केवलदर्शन—यहां केवली के चित्त का अर्थ है—चैतन्य। केवलज्ञान इन्द्रिय और मानसिक ज्ञान से अतीत होता है। वह चैतन्य का सम्पूर्ण जागरण है, वही चित्तसमाधि है। यहां कार्य में कारण का उपचार कर केवलज्ञान-केवलदर्शन को चित्तसमाधि का हेतु माना है।

१०. केवलमरण—यह सर्वोत्तम समाधि का स्थान है। केवलमरण मरने वाला सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वृत हो जाता है।—सम १०/२ टिप्पण)

समाधि प्राप्ति के हेतु और परिणाम

ओयं चित्तं समादाय, ज्ञाणं समणुपस्सति।
धम्मं ठिओ अविमणो, निव्वाणमभिगच्छइ ॥
ण इमं चित्तं समादाए, भुज्जो लोयंसि जायति।
अप्यणो उत्तमं ठाणं, सण्णीनाणेण जाणइ ॥
अहातच्चं तु सुविणं, खिण्यं पासइ संवुडे।
सव्वं च ओहं तरती, दुक्खतो य विमुच्चइ ॥
पंताइ भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं।
अप्याहारस्स दंतस्स, देवा दंसंति तातिणो ॥
सव्वकामविरत्तस्स, खमतो भयभेरवं।
तओ से तोधी भवति, संजतस्स तवस्सिणो ॥
तवसा अवहट्टुलेसस्स, दंसणं परिसुद्धति।
उड्डमहेतिरियं च, सव्वं समणुपस्सति ॥
सुसमाहडलेसस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, आया जाणति पज्जवे ॥
जदा से गाणावरणं, सव्वं होति खयं गयं।
तदा लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली ॥

जदा से दंसणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं।
तदा लोगमलोगं च, जिणो पासइ केवली ॥
चिच्चा ओरालियं बोदिं, नामगोत्तं च केवली।
आउयं वेयणिज्जं च, च्छित्ता भवति नीरओ ॥
(दशा ५/७ गा १-९, १६)

जो रागद्वेष-मुक्त चित्त को धारण कर ध्यान में वस्तु के स्वभावों की प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा करता है, आत्मस्वभाव में स्थित और मध्यस्थ है, वह निर्वाण को प्राप्त होता है।

चित्तसमाधि को धारण कर आत्मा पुनः-पुनः लोक में उत्पन्न नहीं होता। अपने उत्तम स्थान को संज्ञीज्ञान से जान लेता है।

(संज्ञीज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्ववर्ती संख्येय भवों को जाना जा सकता है।—श्रीआको १ जातिस्मृति)

संवृत आत्मा यथातथ्य स्वप्न को देखकर शीघ्र ही संसार रूपी समुद्र से पार हो जाता है तथा शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।

अल्पाहारी, अन्तप्रान्तभोजी, विविक्तशयन-आसन सेवी, इन्द्रियों का दमन करने वाले और षट्कायिक जीवों के रक्षक संयत साधु को देव-दर्शन होते हैं।

सर्व कामभोगों से विरक्त और भीम-भैरव उपसर्गों को सहन करने वाले तपस्वी संयत को अवधिज्ञान होता है।

जिसने तप के द्वारा अशुभ लेश्याओं को दूर कर दिया, उसका अवधिदर्शन अति विशुद्ध हो जाता है। वह सर्व ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक को देखने लग जाता है।

सुसमाहित लेश्या वाला, वितर्क से रहित, भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाला, सर्व प्रकार के संयोगों से मुक्त साधु मनःपर्यवज्ञानी हो जाता है।

जब जीव का समस्त ज्ञानावरण कर्म क्षीण होता है, तब वह केवली-जिन होकर लोक-अलोक को जानता है।

जब जीव का समस्त दर्शनावरण कर्म क्षीण हो जाता है, तब वह केवली-जिन लोक-अलोक को देखता है।

केवली औदारिक शरीर को छोड़कर, नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय—इन चारों कर्मों का क्षय कर नीरज—सर्वथा कर्ममुक्त हो जाता है।

चूला—अग्र, शिखर।

तिविधा य दव्वचूला, सचिन्ता मीसिगा य अचिन्ता।
 कुक्कुडसिह मोरसिहा, चूलामणि अग्गकुंतादी ॥
 अह-तिरिय-उड्डुलोगाण, चूलिया होंतिमा उ खेत्तंमि।
 सीमंत-मंदरे वि य, ईसीपळभारणामा य ॥
 अहिमासओ उ काले, भावे चूला तु होइमा चेव।
 चूला विभूषणं ति य, सिहरं ति य होंति एगड्डा ॥
 (निभा ६४-६६)

चूला के चार निक्षेप हैं—

१. द्रव्यचूला—इसके तीन प्रकार हैं। १. सचित्त—कुक्कुट की चूला (मांसपेशी)। २. मिश्र—मयूरशिखा (रोमयुक्त मांसपेशी)। ३. अचित्त—चूडामणि कुंताग्र आदि।
२. क्षेत्रचूला—अधोलोकचूला—सीमंतक—रत्नप्रभा पृथ्वी का प्रथम नरक। तिर्यक्लोकचूला—मंदर पर्वत अथवा उसके ऊपर की चवालीस योजन की चूला। ऊर्ध्वलोकचूला—सर्वार्थसिद्धविमान के ऊपर बारह योजन वाली ईषत्प्रागभारा पृथ्वी।
३. कालचूला—अधिक मास वाला अभिवर्धित वर्ष। अथवा कालचक्र का अंतिम भाग। यथा—अवसर्पिणी का छठा अर—दुःषमदुःषमा काल।

४. भावचूला—प्रकल्पाध्ययन (निशीथ) द्र छेदसूत्र

चूला, विभूषण और शिखर—ये एकार्थक हैं।

चूला का अर्थ है—मूलग्रंथ का उत्तरग्रंथ। द्र आगम

छेदप्रायश्चित्त—प्रायश्चित्त का एक प्रकार। अपराधों का उपचय और शासनविरुद्ध समाचरण होने पर तथा तप के योग्य प्रायश्चित्त का अतिक्रमण होने पर प्रव्रज्या के पांच दिन आदि का छेद करना। द्र प्रायश्चित्त

छेदसूत्र—मुनि आचार के विधि-निषेधों के प्रतिपादक ग्रंथ।

चारित्रविशोधिकारक ग्रंथ, प्रायश्चित्त सूत्र।

१. छेदसूत्र-निर्यूहण का प्रयोजन

२. छेदसूत्र बलवान् क्यों ?

* छेदसूत्र और दृष्टिवाद उत्तम श्रुत द्र आगम

३. छेदश्रुतज्ञाता अरहस्यधारक

४. छेदसूत्र किस अनुयोग में ?

५. छेदसूत्र के योग्य

○ छेदसूत्र की अर्थवाचना के अयोग्य

○ प्रकीर्णप्रश्न-प्रकीर्णविद्य

○ गुरुनिह्वी : परिव्राजक दृष्टांत

६. साध्वी को छेदसूत्र की वाचना कब तक ?

* छेदसूत्र और गीतार्थ

द्र गीतार्थ

* छेदसूत्रज्ञ श्रुतव्यवहारी

द्र व्यवहार

* छेदसूत्र और मुनिपर्याय

द्र श्रुतज्ञान

७. निशीथ (आचारप्रकल्प) का उद्गम

○ निशीथ निर्युक्ति का अस्तित्व

८. निशीथ के पर्यायवाची नाम

९. अप्रकाश्य निशीथ के निक्षेप

○ निर्वचन और प्रतिपाद्य

* आचारांग-आचारचूला-निशीथचूला

द्र आगम

१०. निशीथ : पांचवीं चूला

* निशीथ : भावचूला

द्र चूला

११. निशीथ के चार कल्प

१२. प्रकल्पधर : प्रायश्चित्तदान का अधिकारी

१३. चतुर्विध अनुयोग : उद्देशकों की विषयवस्तु

१४. निशीथ में चतुर्विध प्रायश्चित्त

१५. प्रायश्चित्त सूत्रों का परिमाण

१६. निशीथवाचना के अयोग्य-योग्य

१७. निशीथपीठिका के अयोग्य-योग्य

१८. गणधारण में निशीथ की भूमिका

१९. निशीथविस्मृति के हेतु : वैद्य दृष्टांत

२०. निशीथ की विस्मृति : गणदायित्व का निषेध

○ स्थविर के लिए निषेध नहीं

○ विस्मृतश्रुता को जानने की प्रक्रिया

२१. दशा-कल्प-व्यवहार के निर्यूहणकर्ता

२२. कल्प-व्यवहार का प्रणयन क्यों ?

२३. दशा-कल्प-व्यवहार का उद्गम

२४. दशाश्रुतस्कंध का निर्यूहण

○ दशा : छेदसूत्रों में प्रमुखभूत

२५. कल्प शब्द के अर्थ

२६. कल्प और व्यवहार

२७. कल्पाध्ययन और व्यवहार का विषय-भेद

○ कल्प-व्यवहार का विस्तार पूर्वाचार्यकृत

२८. कल्प-व्यवहार की अर्हता
 २९. कल्प, प्रकल्प आदि के प्रकृत
 ३०. व्यवहार के अर्थाधिकार
 ३१. भद्रबाहु-प्रदत्त व्यवहार : द्वादशांग का नवनीत

१. छेदसूत्र-निर्यहण का प्रयोजन

.....निज्जूढाओ अणुग्गहद्वाए।.....

ओसप्पिणि समणाणं परिहायंताण आयुग्गबलेसु
 होहंतुवग्गहकरा पुव्वगतम्मि पहीणम्मि ओसप्पिणीए अणंतेहिं
 वण्णादिपज्जवेहिं परिहायमाणीए समणाणं ओग्गहधारणा
 परिहायंति बलधितिविरुच्छाहसत्तसंधयणं च । सरीरबल-
 विरियस्स अभावा पढिउंसद्धा नत्थि, संघयणाभावा उच्छाहो
 न भवति, अतो तेण भगवता पराणुकंपएण...मा वोच्छि-
 ज्जिस्संति एते सुत्तत्थपदा अतो अणुग्गहत्थं, ण आहरुवधि-
 सेज्जादिकित्तिसद्दनिमित्तं वा निज्जूढा । (दशानि ६ च्)

अवसर्पिणी काल में श्रमणों की आयु और शक्ति क्षीण होती जाएगी, तब संयम में उपकारक पूर्ण का ज्ञान भी क्षीण हो जाएगा। इस काल में शरीर के वर्ण आदि पर्यायों की अनंतगुण हानि होने से श्रमणों की अवग्रहण-धारणा शक्ति भी क्षीण होगी। बल, धृति, वीर्य, उत्साह, सत्त्व और संहनन—इन सबकी हानि होगी। शारीरिक बल-वीर्य के अभाव में अध्ययन की इच्छा समाप्त हो जाती है। संहनन दृढ़ न हो तो उत्साह क्षीण हो जाता है।

सूत्रार्थपदों की विच्छित्ति न हो जाए—इस उद्देश्य से पराणुकंपी भगवान् भद्रबाहु ने शिष्यों पर अनुग्रह कर छेदसूत्रों का निर्यहण किया। आहार, उपधि और शय्या की उपलब्धि के लिए अथवा कीर्ति-यश के लिए निर्यहण नहीं किया।

(छेदसूत्र : एक विमर्श—सबसे पहले छेदसूत्र का प्रयोग आवश्यक-निर्युक्ति में मिलता है। फिर विशेषावश्यक भाष्य, निशीथ भाष्य आदि ग्रंथों में यह प्रयुक्त होता रहा है। छेदसूत्र का वर्ग स्थापित क्यों किया गया अथवा निशीथ आदि प्रायश्चित्त सूत्रों का 'छेदसूत्र' नाम क्यों रखा गया—इस प्रश्न का समाधान स्पष्ट भाषा में प्राप्त नहीं है। वर्तमान में जिन्हें हम छेदसूत्र का नाम देते हैं, वे मूलतः प्रायश्चित्त सूत्र हैं। व्यवहार, आलोचना, शोधि और प्रायश्चित्त—ये चार

पर्यायवाची शब्द माने गये हैं। इनके आधार पर इन्हें व्यवहार सूत्र, आलोचना सूत्र, शोधि सूत्र और प्रायश्चित्त सूत्र कहा जा सकता है।

छेदसूत्रों के लिए छेद नाम का चुनाव क्यों किया गया, इसके समाधान के लिए कुछ अनुमान प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

० सामायिक चारित्र अल्पकालीन होता है। जीवनपर्यन्त होने वाला चारित्र केवल छेदोपस्थापनीय है। प्रायश्चित्त का समूचा प्रकरण इसी चारित्र से संबंधित है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि इस चारित्र के आधार पर प्रायश्चित्त सूत्रों को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई।

० पदविभाग और छेद दोनों समानार्थक हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि छेदशब्द पदविभाग सामाचारी के अर्थ में प्रयुक्त किया गया।

० छेदसूत्रों का पौर्वापर्य का संबंध नहीं है। सूत्रों की स्वतंत्र स्थिति है। उनकी व्याख्या विभागदृष्टि या छेददृष्टि से की जाती है, इसलिए पदविभाग सामाचारी के सूत्रों को छेदसूत्रों की संज्ञा दी गई है।

० दशाश्रुतस्कंध, निशीथ, व्यवहार और कल्प—ये चारों नौवें पूर्व से उद्धृत हैं—उससे छिन्न—पृथक् किये गये हैं। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर इस आगम वर्ग को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई।

छेदपिण्ड ग्रंथ में प्रायश्चित्त के आठ पर्यायवाची नाम हैं—१. प्रायश्चित्त २. छेद ३. मलहरण ४. पापनाशन ५. शोधि ६. पुण्य ७. पवित्र और ८. पावन। छेदशास्त्र में भी प्रायश्चित्त और छेद पर्यायवाची बतलाए गए हैं। इन दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि 'छेद' प्रायश्चित्त का ही एक नाम है। छेदसूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त सूत्र।

प्रायश्चित्त सूत्रों की रचना भद्रबाहु ने की थी। नन्दी की रचना तक प्रायश्चित्त सूत्र अंगबाह्य आगम-वर्ग के अन्तर्गत रहे। निर्युक्ति रचना के समय में उन्हें छेदसूत्र का स्वतंत्र स्थान प्राप्त हो गया था।

दशाश्रुतस्कंध वर्तमान आकार में प्रायश्चित्त सूत्र नहीं है। छेदसूत्रों में उसकी गणना मुख्यरूप से की गई है—यही एक ऐसा हेतु है, जो छेदसूत्र के अर्थान्तर के अनुसन्धान की

ओर प्रवृत्त करता है। यदि इस हेतु को गौण कर दिया जाए तो छेदसूत्र का अर्थ प्रायश्चित्त सूत्र होने में कोई बाधक प्रमाण प्राप्त नहीं है।

समयसुन्दरगणी ने छेदसूत्रों की संख्या छह बतलाई है—१. दशाश्रुतस्कंध २. व्यवहार ३. बृहत्कल्प ४. निशीथ ५. महानिशीथ ६. जीतकल्प। इनमें से प्रथम पांच छेदसूत्रों का नन्दी में उल्लेख मिलता है।

छेदसूत्र जैनसंघ की न्यायसंहिता है। छेदसूत्रों के मौलिक निषेध अहिंसा एवं अपरिग्रह की सूक्ष्म विचारणा से समुत्पन्न हैं। कुछ निषेध अन्यान्य भिक्षुसंघ में प्रचलित प्रवृत्तियों के परिणामों से संबंधित हैं।

आचार्य तुलसी-मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ)—
निशीहज्जयणं की भूमिका, पृ १३-१६, २७)

२. छेदश्रुतार्थ बलवान् क्यों ?

जम्हा उ होति सोधी, छेदसुयत्थेण खलितचरणस्स।
तम्हा छेदसुयत्थो, बलवं मोत्तूण पुच्चगतं॥
(व्यभा १८२९)

छेदश्रुत के सूत्र और अर्थ के आधार पर चारित्र के अतिचारों की विशोधि होती है, इसलिए पूर्वगत श्रुत के अतिरिक्त शेष समग्र श्रुतार्थ से छेदसूत्र का अर्थ बलवत्तर है। (द्र सूत्र)

३. छेदश्रुतज्ञाता अरहस्यधारक

नास्त्यपरं रहस्यान्तरं यस्मात् तद् अरहस्यम्, अतीव-
रहस्यच्छेदशास्त्रार्थतत्त्वमित्यर्थः, तद् यो धारयति—अपात्रे-
भ्यो न ग्रयच्छति सोऽरहस्यधारकः। (बृभा ६४९० की वृ)

जिसके अतिरिक्त दूसरा रहस्यपूर्ण ग्रंथ नहीं है, वह अरहस्य अर्थात् छेदश्रुत का अर्थतत्त्व है। जो छेदशास्त्रों के अत्यंत रहस्यपूर्ण अर्थ को धारण करता है—अपात्र के समक्ष उसका प्रज्ञापन नहीं करता, वह अरहस्यधारक है।

४. छेदसूत्र किस अनुयोग में ?

जं च महाकल्पसुयं, जाणि य सेसाइं छेदसुत्ताइं।
चरणकरणाणुयोगी, त्ति कालियछेओवगयाणि य॥
(निभा ६१९०)

महाकल्पश्रुत और शेष सारे छेदसूत्र (निशीथ,

व्यवहार और दशा) चरणकरणानुयोग के अन्तर्गत हैं।

महाकल्पश्रुत उत्कालिक और शेष छेदसूत्र कालिक विभाग के अन्तर्गत हैं। (द्र श्रीआको १ अंगबाह्य)

५. छेदसूत्र के योग्य

आधारिय सुत्तथो, सविसेसो दिज्जए परिणयस्स।
सुपरिच्छित्ता य सुनिच्छियस्स इच्छागए पच्छा॥
(बृभा ८०५)

कृतनिश्चयी परिणामक शिष्य की परीक्षा कर उसे वह सारा सूत्रार्थ दिया जाता है, जो सूत्रार्थ अपने गुरु के पास अपवादसहित ग्रहण किया है। अपरिणामक या अतिपरिणामक शिष्य की केवल उत्सर्ग या केवल अपवाद लक्षण वाली इच्छा जब समाप्त हो जाती है, तब उसे छेदसूत्र दिया जा सकता है।

० छेदसूत्र की अर्थवाचना के अयोग्य

तिंतिणिणए चलचित्ते, गाणंगणिणए अ दुब्बलचरित्ते।
आयरियपारिभासी, वामावट्टे य पिसुणे य॥
आदीअदिट्ठभावे, अकडसमायारि तरुणधम्मे य।
गक्खिय षड्ढण निणहइ, छेअसुए वज्जए अत्थं॥
(बृभा ७६२, ७६३)

तेरह प्रकार के शिष्यों को छेदसूत्रों के अर्थ की वाचना नहीं देनी चाहिए—

- ० तिंतिणिणक—अनुकूल आहार, उपधि और शय्या की प्राप्ति न होने पर प्रलाप बड़बड़ाने वाला, करने वाला।
- ० चलचित्त—अनेक आगमों का पल्लवग्राही ज्ञान करने वाला।
- ० गाणंगणिक—छह मास पूर्ण किए बिना ही एक गण से दूसरे गण में संक्रमण करने वाला।
- ० दुर्बलचारित्र—ज्ञान-दर्शन-चारित्र के पुष्ट आलम्बन के बिना दोषों का सेवन करने वाला, धृति और बल से परिहीन, अपवादों में ही रुचि रखने वाला, मंदधर्मी।
- ० परिभाषी—आचार्य की निंदा और परिभव करने वाला वाला।
- ० वामावर्त—गुरु-निर्देश के प्रतिकूल आचरण करने वाला।
- ० पिशुन—दूसरों के दोषों का उद्भावन कर प्रीति को समाप्त करने वाला।
- ० आदिम-अदृष्टभाव—आवश्यक से सूत्रकृतांगपर्यंत आगमग्रंथों के अधिधेय को आदिमभाव कहा जाता है, उसको नहीं जानने वाला।

- कृतसामाचारीक—उपसम्पदा और मण्डली—इन दोनों प्रकार की सामाचारियों का समाचरण नहीं करने वाला।
- तरुणधर्मा—मुनिपर्याय के तीन वर्ष पूर्ण होने से पूर्व छेदश्रुत का अध्ययन करने वाला।
- गर्वित—थोड़ा सा अध्ययन कर गर्व से अविनीत होने वाला।
- प्रकीर्ण—छेदसूत्रों के रहस्य को अपरिणामक के समक्ष लेश रूप में बताने वाला।
- गुरुनिह्ववी—जिस गुरु के पास श्रुत-अध्ययन किया है, उस गुरु के नाम का अपलाप करने वाला।

◦ प्रकीर्णप्रश्न-प्रकीर्णविद्य

सोउं अणभिंगताणं, कहेइ अमुगं कहिज्जइ इत्थं ।
 एस उ पइण्णपण्णो, पइण्णविज्जो उ सव्वं पि ॥
 अण्णच्चओ अकित्ती, जिणाण ओहाव मइलणा चेव ।
 दुल्लहबोहीअत्तं, पावंति पइण्णवागरणा ॥
 (बृभा ७८४, ७८५)

जो अर्थ मण्डली में रहस्यपूर्ण ग्रंथों के अर्थ सुनकर वहां से उठता है और अपरिणतों को लेशमात्र बता देता है। जैसे इस सूत्र में प्रलम्ब ग्रहण करने की विधि है। लेशमात्र बताने वाला प्रकीर्णप्रज्ञ होता है। यहां प्रज्ञा का अर्थ है—छेदसूत्रों की रहस्यमयी वचनपद्धति।

जो अपरिणतों के पूछने पर छेदसूत्रों के अन्तः पाती रहस्य को प्रकीर्ण रूप में प्रकट करता है, वह प्रकीर्णप्रश्न है।

जो छेदसूत्रों को उत्सर्ग और अपवादसहित जान कर अपरिणतों को समग्रता से बताता है, वह प्रकीर्णविद्य है।

अपरिणामी-अतिपरिणामी शिष्य रहस्यपूर्ण पदों को सुन लेते हैं, तो उनमें अविश्वास पैदा हो सकता है, क्योंकि वे विवक्षा या अपेक्षाभेद को नहीं जानते। वे अर्हतों का अपयश करते हैं। वे उत्पन्नजित भी हो सकते हैं या अपवाद पद सुनकर शंकाओं से ग्रसित हो ज्ञान-दर्शन-चारित्र को मलिन बना सकते हैं, दुर्लभबोधि भी बन सकते हैं।

◦ गुरुनिह्ववी : परिव्राजक दृष्टांत

सुत्त-उत्थ-तदुभयाइं, जो घेत्तुं निणहवे तमायरियं ।
 लहुया गुरुया अत्थे, गेरुयनायं अबोही य ॥
 (बृभा ७८६)

जो शिष्य आचार्य के पास सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ पढ़कर उस आचार्य के नाम का अपलाप करता है, वह गुरुनिह्ववी है। सूत्राचार्य और अर्थाचार्य का अपलाप करने वाला क्रमशः चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है तथा अबोधि को प्राप्त करता है। इसमें गेरुक अर्थात् परिव्राजक का दृष्टांत इस प्रकार है—

एक नापित की क्षुरपेटिका विद्याबल से आकाश में उठर जाती। एक परिव्राजक ने उस नापित की आराधना कर उससे वह विद्या प्राप्त की। अन्यत्र जाकर उसने अपने त्रिदण्ड को आकाश में प्रतिष्ठित किया। एक दिन राजा ने पूछा—यह तुम्हारी विद्या का अतिशय है या तप का अतिशय है? परिव्राजक ने कहा—विद्या का अतिशय है। राजा ने पुनः पूछा—यह विद्या कहां से प्राप्त की? उसने कहा—हिमवान् पर्वत पर 'फलाहार' नामक महर्षि से.....। इतना कहते ही त्रिदण्ड तत्काल गिर पड़ा।

६. साध्वी को छेदसूत्र की वाचना कब तक ?

तो जाव अज्जरक्खित, आगमववहारतो वियाणेत्ता ।
 न भविस्सति दोसो ती, तो वायंती उ छेदसुत्तं ॥
 आरेणागमरहिया, मा विद्वाहिंति तो न वाएंति ।
 तेण कधं कुव्वंतं, सोधिं तु अयाणमाणीओ ॥
 तो जाव अज्जरक्खिय, सट्ठण पणासयंसु बतिणीओ ।
 असतीय विवक्खम्मि वि, एमेव य होति समणा वि ॥
 (व्यभा २३६५-२३६७)

आर्यरक्षित अंतिम आगमव्यवहारी थे (आगमव्यवहारी का न्यूनतम श्रुत है नौ पूर्व)। वे आगमबल से जान लेते थे कि अमुक साध्वी को छेदसूत्र की वाचना देने में दोष नहीं है तो उसको वाचना देते थे।

आर्यरक्षित के पश्चात् आगमव्यवहारी मुनि नहीं रहे तब आगमरहित अर्थात् श्रुतव्यवहारी साधुओं ने सोचा कि साध्वियां इनके अध्ययन से अपना अनिष्ट न कर लें, इस भय से उन्हें छेदसूत्रों की वाचना देना बंद कर दिया।

आर्यरक्षित के समय तक साध्वी छेदश्रुतसम्पन्न साध्वी के पास आलोचना करती थी। गीतार्थ साध्वी के अभाव में गीतार्थ श्रमण के पास आलोचना की जाती थी। इसी प्रकार

श्रमण भी श्रमण के पास और गीतार्थ श्रमण का योग न होने पर गीतार्थ साध्वी के पास आलोचना करते थे। आर्यरक्षित के पश्चात् श्रमण-श्रमणियों द्वारा श्रमणों के समीप ही आलोचना की जाने लगी।

७. निशीथ (आचारप्रकल्प) का उद्गम

निसीथ नवमा पुष्पा, पच्चक्खाणस्स ततियवत्थूओ।
आयारनामधेज्जा, वीसतिमे पाहुडच्छेदा ॥
(व्यभा ४३५)

चौदहपूर्वों में नौवां पूर्व है 'प्रत्याख्यान पूर्व'। उसमें बीस वस्तु (अर्थाधिकार) हैं। तीसरे वस्तु का नाम है 'आचार वस्तु'। उसमें बीस प्राभृतछेद (उपविभाग) हैं। निशीथ बीसवें प्राभृतछेद से निर्युद्ध है।

० निशीथ निर्युक्ति का अस्तित्व

आयारस्स भगवतो, चउत्थचूलाइ एस निज्जुत्ती।
पंचमचूलनिसीहं, तस्स य उवरिं भणीहामि ॥
(आनि ३६६)

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने कहा—आचारांग की चतुर्थ (विमुक्ति) चूला की यह निर्युक्ति है। उसकी पांचवीं चूला है—निशीथ। उसकी निर्युक्ति आगे कहूंगा।

भणिया विमुत्तिचूला, अहुणावसरो णिसीहचूलाए १०००
(निचू १ पृ १)

निशीथ चूर्णिकार ने अपने मंगलाचरण की गाथा में लिखा है—विमुक्तिचूला की चूर्णि लिखी जा चुकी है, अब निशीथचूला की चूर्णि का अवसर है।

इदानीं उद्देशकस्स उद्देशकेन सह संबंधं वक्तुकामो
आचार्यः भद्रबाहुस्वामी निर्युक्तिगाथामाह—परिहार-
तवकिलंतो०००० (निभा १८९५ की चू)

निशीथ के चतुर्थ उद्देशक के साथ पंचम उद्देशक की संबंध-योजना के लिए भद्रबाहुस्वामी ने निर्युक्तिगाथा कही है। (उल्लिखित निर्युक्तिकार की प्रतिज्ञा और चूर्णिकार के उल्लेख से निशीथनिर्युक्ति का अस्तित्व सहज सिद्ध है।)

८. निशीथ के पर्यायवाची नाम

आयारपकप्पस्स उ, इमाइं गोण्णाइं णामधिज्जाइं।
आयारमाइआइं, पायच्छित्तेणऽहीगारो ॥
आयारो अगं चिय, पकप्प तह चूलिया णिसीहं ति १०००
(निभा २, ३)

निशीथ के गुणनिष्पन्न नाम पांच हैं—

- ० आचार—प्रायश्चित्त सूत्र चरणकरणानुयोग (आचार सूत्र) के अंतर्गत है, अतः यह आचार है।
- ० अग्र—चार आचारचूलाएं आचारांग के चार अग्र हैं और निशीथ पांचवां अग्र है।
- ० प्रकल्प—नौवें पूर्व में इसकी प्रकल्पना—रचना की गई है, अतः यह प्रकल्प है। अथवा यह प्रकल्पन—अतिचारों का छेदन करने वाला है, इसलिए प्रकल्प है।
- ० चूलिका—चूला और अग्र समानार्थक हैं। (द्र आगम)
- ० निशीथ—रात्रि यानी एकांत में पठनीय है, गोपनीय है, अतः निशीथ है। निशीथ प्रायश्चित्त सूत्र है, इसमें प्रायश्चित्तसहित आचार की मीमांसा की गई है।

९. अप्रकाश्य निशीथ के निक्षेप

द्व्वणिसीहं कतगादिएसु खेतं तु कण्ह-तमु-णिरया।
कालंमि होति रत्ती, भाव णिसीधं तिमं चेव ॥
जं होति अप्पगासं, तं तु णिसीहं ति लोगसंसिद्धं।
जं अप्पगासधम्मं, अण्णं पि तयं निसीधं ति ॥
(निभा ६८, ६९)

(निशीथ शब्द का शाब्दिक अर्थ है अर्धरात्रि, जो अंधकार या अप्रकाश की सूचक है। द्रव्य आदि निक्षेपों से निशीथ की व्याख्या की गई है।)

- ० द्रव्यनिशीथ—कलुषतायुक्त वस्तु। जैसे अशुद्ध जल में कतक-फल का चूर्ण डालने से उसका मैल नीचे जम जाता है।
- ० क्षेत्रनिशीथ—अंधकारपूर्ण क्षेत्र। जैसे कृष्णराजि, तमस्काय, सीमंतक आदि नरक।
- ० कालनिशीथ—रात्रि।
- ० भावनिशीथ—निशीथ सूत्र (प्रकल्पाध्ययन), क्योंकि यह सूत्र—अर्थ की दृष्टि से अप्रकाश्य है, रहस्यमय है, अपवादबहुल है, अनाधिकारी के सम्मुख प्रकाश्य नहीं है। जो अप्रकाशधर्मा

हैं, वे लोक में भी निशीथ नाम से प्रसिद्ध हैं। लौकिक रहस्यसूत्र (विद्या, मंत्र आदि) भी अपरिपक्व बुद्धि वालों के समक्ष प्रकाशनीय नहीं होते।

० निर्वचन और प्रतिपाद्य

अद्भुविह कम्म-पंको, गिसीयते जेण तं गिसीधं ति।
अविसेसे वि विसेसो, सुइं पि जं षोइ अण्णोसिं॥
आयारे चउसु य, चूलियासु उवएस वितहकारिस्स।
पच्छित्तमिहज्झयणे, भणियं अण्णोसु य पदेसु॥
(निभा ७०, ७१)

जिससे ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मपंक क्षीण होता है, वह निशीथ है। यद्यपि सभी अध्ययन कर्मक्षीण करने में समर्थ हैं किन्तु निशीथ अध्ययन की अपनी विशेषता है। यह अपवाद बहुल है। अतः अगोतार्थ, अतिपरिणामक और अपरिणामक शिक्षों के लिए इसका श्रवण भी निषिद्ध है।

आचारांग तथा उसकी प्रथम चार चूलाओं (आचारचूला के पिण्डैषणा से विमुक्ति पर्यंत सोलह अध्ययनों) में मुनि को आचारविधि का निर्देश है। उन निर्देशों का अतिक्रमण या विपरीत आचरण होने पर जो प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, उसका प्रतिपादन निशीथ अध्ययन में तथा कल्प, व्यवहार आदि में भी है।

शिष्य ने पूछा—क्या अनाचार का ही प्रायश्चित्त है अथवा अन्य पदों का भी? आचार्य कहते हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम तथा अतिचार का भी प्रायश्चित्त है।

शिष्य ने फिर पूछा—क्या आचार और आचारचूला में निर्दिष्ट तथ्यों के अतिक्रमण का ही प्रायश्चित्त कहा गया है? आचार्य ने कहा—नहीं, ऐसी बात नहीं है। अन्यान्य सूत्रों (सूत्रकृतांग आदि) में भी विहित अनुष्ठानों के विपरीत आचरण में प्रायश्चित्त का विधान है।

.....दिट्ठा निसीधनामे सब्बे वि तहा अणायारा॥
(व्यभा ३५१)

निशीथ अध्ययन में प्रायश्चित्त के सब भेद तथा सभी अनाचार, अतिचार, अतिक्रम आदि प्रतिपादित हैं।

विहिसुत्ते जो उ गमो, पढमुद्देसम्मि आदिओ सुत्ते।
सो चेव णिरवसेसो, दसमुद्देसम्मि वासासु॥
(निभा ३१२३)

सारा ही आचार विधिसूत्र (आचारचूला) में है। आचारचूला के 'ईर्या' नामक तृतीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में जो विधि निर्दिष्ट है, वही सम्पूर्ण विधि निशीथ के दसवें उद्देशक के 'प्रथम प्रावृद्' सूत्र में वक्तव्य है।

१०. निशीथ : पांचवीं चूला

.....पडिसेहो अणुण्णा, कारणं विसेसोवलंभो वा॥
(निभा ५२०१)

.....चतुर्थचूलात्मके आचारे यत्प्रतिषिद्धं तं सेवंतस्स पच्छित्तं भवति...जे भिक्खू हत्थकम्मं करेति, करेत्तं वा सातिज्जति एवमादीणि सुत्ताणि, एस पडिसेहो। अश्लेषेण कारणं प्राप्य तमेवणुजानाति। तं जयणाए पडिसेवंतो सुद्धो। अजयणाए स पावच्छित्ती। कारणमणुण्णा जुगवं गता। विसेसोवलंभो इमो। आइल्लाओ चत्तारिचूलाओ कमेणेव अहिज्जति, पंचमी चूला आचारपकप्पेति-वास-परियागस्स अरेण ण दिज्जति, ति-वास-परियागस्स वि अपरिणामगस्स अतिपरिणामगस्स वा न दिज्जति, आचार-पकप्पो पुण परिणामगस्स दिज्जति। (निभा १ की चू)

निशीथ में चार बाते प्रतिपादित हैं—प्रतिषेध, अनुज्ञा, कारण और विशेष उपलंभ।

१. प्रतिषेध—आचारांग की प्रथम चार चूलाओं में जिन आचरणों का निषेध है, उनका सेवन करने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है। यथा—'जे भिक्खू हत्थकम्मं करेति...।'

(नि १/१) इत्यादि।

२, ३. अनुज्ञा-कारण—कारण होने पर अर्थतः उन्हीं निषेधों की अनुज्ञा है। यतना से प्रतिसेवना करने वाला शुद्ध है। अयतनाशील प्रतिसेवी प्रायश्चित्तार्ह है।

४. विशेष उपलंभ—प्रथम चार चूलाएं क्रमशः पढ़ी जाती हैं। आचारप्रकल्प (निशीथ) नामक पांचवीं चूला मुनिपर्याय के तीन वर्ष से पूर्व नहीं पढ़ी जाती। त्रिवर्षपर्याय वाला अपरिणामक या अतिपरिणामक मुनि भी इसका अध्ययन नहीं कर सकता, परिणामक ही इसके योग्य है।

११. निशीथ के चार कल्प

चउहा गिसीहकप्पो, सहहणा आयरण गहण सोही।
सहहण बहुविहा पुण, ओहणिसीहे विभागे य॥

ओहणिशीहं पुण होति पेढिया सुत्तमो विभाओ उ ।
उस्सग्गो वा ओहो, अववाओ होति उ विभागो ॥
जे भणिता उ पकप्पे, पुब्बावरवाहता भवे सुत्ता ।
सो तह समायरंतो, सव्वो सो आयरणकप्पो ॥
उस्सग्गे अववायं, आयरमाणो विराहओ होति ।
अववाए पुण पत्ते, उस्सग्गनिसेवओ भइओ ॥
सुत्तत्थतदुभयाणं, गहणं बहुमाणविणायमच्छेरं ।
उक्कुडु-णिसेज्ज-अंजलि-गहितागहियम्मि य पणामो ॥
कामं जिणपुव्वधरा, करिसु सोधिं तहा वि खलु एण्हं ।
चोदसपुव्वणिबद्धो, गणपरियट्ठी पकप्पधरो ॥

(निभा ६६६६, ६६६७, ६६७१-६६७४)

निशीथ के चार कल्प हैं—

१. श्रद्धानकल्प—सूत्रनिबद्ध में श्रद्धा करना श्रद्धानकल्प है ।
यह बहुविध है । इसके मुख्य दो भेद हैं—

० ओष निशीथ—निशीथपीठिका ।

० विभाग निशीथ—बीस उद्देशकों में वर्णित सूत्रसंग्रह और
उनका अर्थ । अथवा सूत्रों में दर्शित उत्सर्ग विधि ओष और
अपवाद विधि विभाग है ।

२. आचरणकल्प—प्रकल्प (निशीथ) के उन्नीस उद्देशकों में
जो पूर्वापर (उत्सर्ग-अपवाद) वाहक सूत्र और अर्थ हैं,
उनका यथाविधि आचरण करना आचरणकल्प है ।

जो उत्सर्गस्थानों में अपवादस्थानों का आचरण करता
है, वह विराधक होता है । धृति और संहनन से सम्पन्न मुनि
अपवादसेवन की स्थिति उत्पन्न होने पर भी उत्सर्गविधि का
प्रयोग करता है, वह आराधक है । अपवादस्थान की स्थिति
में उत्सर्गस्थान का सेवन करने वाला धृति-संहननहीन मुनि
विराधना-स्थान को भी प्राप्त हो सकता है ।

३. ग्रहणकल्प—अध्येता मुनि सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ के
ग्रहणकाल में श्रुतदाता का विनय करता है—भक्ति-बहुमान
करता है । वह अध्ययनकाल में आनन्दानुभूति के साथ आश्चर्य
प्रकट करता है—अहो ! इन सूत्रपदों और अर्थपदों से कैसे-
कैसे अपूर्व और गहन तत्त्वों का बोध होता है ।

शिष्य वाचनाचार्य के लिए निषद्या की रचना करता
है । स्वयं उत्कुटुक (उकडू) आसन अथवा निषद्या पर स्थित

हो बद्धांजलि सूत्र-अर्थपदों को सुनता है । वह करबद्ध हो
प्रणतिपूर्वक प्रश्न पूछता है । अपूर्व अर्थों का अवधारण कर
पुनः प्रणाम करता है ।

४. शोधिकल्प—तीर्थकर, चौदहपूर्वी आदि प्रत्यक्षज्ञानी पुरुष
अपराधी की प्रायश्चित्तदान द्वारा शोधि करते हैं । प्रकल्पधारी
आचार्य भी शोधिकरण का अधिकारी है क्योंकि यह प्रकल्प
अध्ययन चौदहपूर्वी द्वारा निबद्ध है ।

१२. प्रकल्पधर : प्रायश्चित्तदान का अधिकारी
तिविहो य पकप्पधरो, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
सुत्तधरवज्जियाणं, तिगदुगपरियट्ठणा गच्छे ॥
(निभा ६६७६)

आचारप्रकल्पधर के तीन प्रकार हैं—सूत्रधर, अर्थधर,
सूत्रार्थधर । सूत्रधर प्रायश्चित्त देने का अधिकारी नहीं है ।
जो सूत्र और अर्थ—दोनों को धारण करता है, वह प्रायश्चित्त
देने के लिए अधिकृत है । उसके अभाव में अर्थधर भी
गच्छ में प्रायश्चित्त का प्रवर्तन कर सकता है ।

१३. चतुर्विध अनुयोग : उद्देशकों की विषयवस्तु
पडिसेहो अववाओ, अणुणजतणा य होइ णायव्वा ।
सुत्ते सुत्ते चउहा, अणुओगविही समक्खाया ॥
पडिसेहो जा आणा, मिच्छणवत्थो विराहणाऽवातो ।
बितियपदं च अणुण्णा, जयणा अण्णाबहूणं च ॥
अवराहपदा सव्वे, वज्जेयव्वा य णिच्छओ एस ।
पुरिसादिपंचगं पुण, पडुच्चणुण्णा उ केसिंचि ॥
पडिसेविताणि पुव्वं, जो ताणि करेति एत्थ सुत्तं तु ।
हत्थादिवायणंतं, दाणं पुण तस्स चरिमम्मि ॥

(निभा ६६८४, ६६८५, ६६८७, ६६९२)

निशीथ के प्रत्येक सूत्र की अनुयोगविधि के चार
अंग हैं—प्रतिषेध, अपवाद, अनुज्ञा और यतना ।

१. प्रतिषेध—आज्ञा, उत्सर्ग-अपवादस्थानीय सूत्र ।

२. अपवाद—दोष, दोषस्थानों की प्रतिसेवना से मिथ्यात्व,
अनवस्था, आत्म-संयम-विराधना आदि ।

३. अनुज्ञा—अपवादपद ।

४. यतना—अपवाद की स्थिति आने पर बहुतर दोषस्थानों का
वर्जन, अल्पतर दोषस्थान का सेवन ।

इस प्रकार से सब सूत्रों में अर्थ प्रतिपादित है। सूत्र और अर्थ में भाषित सर्व अपराधपद वर्जनीय हैं—यह नैश्चयिक दृष्टिकोण है। आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लक—इस पुरुषपंचक (अथवा प्रवर्तिनी, साध्वी आदि पंचक) की अपेक्षा से कहीं-कहीं विशेष अनुज्ञा है।

० बीस उद्देशकों की विषयवस्तु—आचारांग आदि में भिक्षु के लिए जिन कार्यों का निषेध है, उन प्रतिषिद्ध कार्यों का आचरण निशीथ के प्रथम उन्नीस उद्देशकों में प्रतिपादित है।
यथा—

जे भिक्खू हत्थकम्मं करेति..... । (नि १/१)

जे भिक्खू संसत्तं वाएति..... । (नि १९/३६)

इन प्रायश्चित्त योग्य कार्यों के लिए प्रायश्चित्त का विधान प्रत्येक उद्देशक के अंतिम सूत्र में किया गया है। बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्तदान की प्रक्रिया प्रतिपादित है।

१४. निशीथ में चतुर्विध प्रायश्चित्त

उग्घायमणुग्घाया, मासचउम्मासिया उ पच्छित्ता ।

पुव्वगते च्चिय एते, णिज्जूढ्ढा जे पकप्पम्मि ॥

(निभा ६६/७५)

मासिक उद्घात (मासलघु), मासिक अनुद्घात (मासगुरु), चतुर्मासिक उद्घात, चतुर्मासिक अनुद्घात—पूर्वगतश्रुत में प्रायश्चित्त के ये ही चार प्रकार प्रतिपादित हैं, जिनका निशीथ में निर्यूहण किया गया है।

(स्था ५/१४८ में मासिक उद्घातिक, मासिक अनुद्घातिक, चातुर्मासिक उद्घातिक, चातुर्मासिक अनुद्घातिक और आरोपणा—इन पांच विकल्पों को आचार प्रकल्प कहा गया है। इन्हीं विकल्पों के आधार पर निशीथ के बीस उद्देशकों का विभाजन किया गया है।

वस्तुतः प्रायश्चित्त के दो ही प्रकार हैं—मासिक और चातुर्मासिक। द्विमासिक, त्रिमासिक, पंचमासिक और षण्मासिक—ये प्रायश्चित्त आरोपणा से बनते हैं। बीसवें उद्देशक का मुख्य विषय आरोपणा है। आरोपणा के अनेक प्रकार हैं।—द्र प्रायश्चित्त)

१५. प्रायश्चित्त सूत्रों का परिमाण

अणुघातियमासाणं, दो चेव सता हवंति बावण्णा ।
त्तिण्णिण सया बत्तीसा होंति य उग्घातियाणं पि ॥

पंचसता चुलसीता, सव्वेसिं मासियाण बोधव्वा ।
छच्चसता चोयाला चाउम्मासाण होंतण्णुग्घाया ।
सत्त सया चउवीसा चाउम्मासाण उग्घाता ॥
तेरससतअट्टसट्ठा, चाउम्मासाण होंति सव्वेसिं ।
नवयसता य सहस्सं, ठाणाणं पडिबत्तिओ ।
बावण्णा ठाणाइं, सत्तरिं आरोवणा कसिणा ॥
(व्यभा ४०५-४०९)

निशीथ के प्रथम उद्देशक में अभिहित अनुद्घातिक (गुरु) मासों को एकत्र करने पर दो सौ बावन (२५२) भेद होते हैं। द्वितीय यावत् पंचम उद्देशक में प्रतिपादित उद्घातिक (लघु) मास एकत्र करने पर उसके तीन सौ बत्तीस (३३२) भेद होते हैं। गुरु और लघु मासों को एकत्र मिलाने पर कुल प्रायश्चित्त मास पांच सौ चौरासी (५८४) स्थान होते हैं। निशीथ के छठे से ग्यारहवें उद्देशक तक गुरु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त अभिहित हैं। उनको मिलाने पर छह सौ चवालीस (६४४) होते स्थान हैं।

बारहवें से उन्नीसवें उद्देशक पर्यंत निरूपित लघु चतुर्मासों को मिलाने पर सात सौ चौबीस (७२४) होते हैं। लघु और गुरु चतुर्मास मिलाने पर १३६८ स्थान होते हैं।

लघु-गुरु मासिक और लघु-गुरु चातुर्मासिक—सबको मिलाने पर १९५२ स्थान होते हैं। कृत्स्न आरोपणा के सत्तर स्थान हैं।

१६. निशीथवाचना के अयोग्य-योग्य

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा अवज्जणजायस्स आयारपकप्पं नाम अज्झयणं उद्दिस्सिए ॥

कप्पइ..... वज्जणजायस्स आयारपकप्पं नाम अज्झयणं उद्दिस्सिए ॥ (व्य १०/२३, २४)

निर्ग्रथ अथवा निर्ग्रथी, क्षुल्लक अथवा क्षुल्लिका, जो अव्यंजनजात—उपस्थरोमराजि से रहित हो, उसे आचारप्रकल्प अध्ययन नहीं पढ़ाया जा सकता, व्यंजनजात को पढ़ाया जा सकता है।

भिण्णरहस्से व नरे, निस्साकरए व मुक्कजोगी वा ।
छव्विहगतिगुविलम्मी, सो संसारे भमइ दीहे ॥

अइरहस्सधारणं पारए य असढकरणे तुल्लोवमे समिते ।
कप्पाणुपालणा दीवणा य आराहणा छिण्णसंसारे ॥
(निभा ६७०२, ६७०३)

त्रिविध व्यक्ति निशीथवाचना के अयोग्य होते हैं—

- ० भिन्नरहस्य—जो अपवादपदों को अगीतार्थ को बताता है ।
- ० निश्चाकारक—जो निशीथ की निश्चा में अपवाद सेवन के लिए दूसरों को भी प्रेरित करता रहता है ।
- ० मुक्तयोगी—जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-नियम-संयम संबंधी योगों में प्रवृत्त नहीं होता ।

ऐसा शिष्य तथा उसको वाचना देने वाले गुरु—दोनों षड्विध गतियों (छह जीवनिकायों) से गहन संसार में चिरकाल तक परिभ्रमण करते हैं ।

इससे विपरीत, जो शिष्य गहन रहस्यों को जीवन-पर्यंत धारण करने में समर्थ है, जो किसी भी क्रिया में माया का प्रयोग नहीं करता, जो तुलासम (निष्पक्ष) और पांच समितियों से समित है—ऐसा शिष्य तथा ऐसे शिष्य को निशीथ की वाचना देने वाले आचार्य भी अपने कल्प (आचार-मर्यादा) का अनुपालन करते हैं, जिनशासन को संज्वलित करते हैं, मोक्ष की आराधना करते हैं और संसार-शृंखला को छिन्न कर डालते हैं ।

१७. निशीथपीठिका के अयोग्य-योग्य

अबहुस्सुते च पुरिसे, भिण्णरहस्से षड्णविविज्जते ।
णीसाणपेहेए वा, असंविग्गे दुब्बलचरित्ते ॥
एतारिसंमि देंतो, षवयणघातं च दुल्लभं बोहिं ।
जो दाहिंति पाविहिंती, तप्पडिपक्खे तु दातव्वो ॥
(निभा ४९५, ४९६)

सात प्रकार के व्यक्ति निशीथ-पीठिका की वाचना के अयोग्य हैं—

- ० अबहुश्रुत—जिसने प्रकल्पाध्ययन नहीं पढ़ा अथवा जिसने निशीथ के पूर्ववर्ती सूत्रों को नहीं सुना हो ।
- ० पुरुष—जो अपरिणामी या अतिपरिणामी हो ।
- ० भिन्नरहस्य—जो रहस्यों को धारण करने में समर्थ न हो—अगीतार्थ के समक्ष अपवादपदों की चर्चा करता हो ।
- ० प्रकीर्णविद्य—जो अदृष्टभावों को जिस किसी को (श्रावकों को भी) बता देता हो ।

- ० निश्चाप्रेक्षी—जो निष्कारण अपवादों का सेवन करता हो ।
- ० असंविग्ग—जो संविग्ग न हो, पार्श्वस्थ आदि हो ।
- ० दुर्बलचारित्र—जो निष्कारण मूलगुण-उत्तरगुणप्रतिसेवी हो ।

इस प्रकार के शिष्य को वाचना देने वाला प्रवचन की हानि करता है । उसके लिए बोधि दुर्लभ होती है ।

जो बहुश्रुत, परिणामक, रहस्यधारक, अप्रकीर्णविद्य, अनिश्चाप्रेक्षी, संविग्ग और दृढ़चारित्र है, वह पीठिका की वाचना लेने योग्य है ।

१८. गणधारण में निशीथ की भूमिका

सुत्ते अणित लहुगा, अत्थे अणित धरेत्ति चउगुरुगा ।
सुत्तेण वायणा अत्थे, सोही तो दो वडणुणुणाया ॥
अवि य विणा सुत्तेणं, ववहारे तू अपच्चओ होत्ति ।
तेणं उभयधरो ऊ, गणधारी सो अणुणुणातो ॥
असती कडजोगी पुण, अत्थे एतम्मि कप्पति धरेउं ।
जुण्णमहल्लो सुत्तं, न तरत्ति पच्चज्जयारेउं ॥
(व्यभा २३३३-२३३५)

जो औत्सर्गिक-आपवादिक सूत्र और उनके अर्थ को नहीं जानता हुआ गणधारण करता है, वह क्रमशः चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है । ऐसा क्यों ?

गणधारक सूत्र ज्ञात होने पर वाचना देता है, अर्थ ज्ञात होने पर प्रायश्चित्त द्वारा शोध करता है । सूत्र के बिना व्यवहार करने पर अविश्वास उत्पन्न होता है । अतः सूत्र और अर्थ—उभयज्ञाता ही गणधारण के लिए अनुज्ञात है ।

सूत्रार्थयुक्त निशीथधारी के अभाव में कृतयोगी गणधारण कर सकता है । जो पहले उभयधर था किन्तु अब जिसे केवल अर्थ ज्ञात है, सूत्र याद नहीं है, वह कृतयोगी है ।

जो शरीर और वय से जीर्ण है, उसके लिए पुनः सूत्रों का स्मरण-संधारण शक्य नहीं है ।

१९. निशीथविस्मृति के हेतु : वैद्य दृष्टान्त

धम्मकहनिमित्तादी, तु पमादो तत्थ होत्ति नायव्वो ।
मलयवत्ति-मगधसेणा, तरंगवइयाइ धम्मकहा ॥
गह-चरिय-विज्ज-मंता, चुण्ण-निमित्तादिणा पमादेणं ।
नट्टम्मी संधयती, असंधयंती व सा न लभे ॥
जदि से सत्थं नट्टं, पेच्छह से सत्थकोसगं गंतुं ।
हीरति कलंकितेसुं, भोगो जूतादिदप्पेणं ॥

एवं दप्पपणासित, न वि देंति गणं पकप्पमञ्जयणे ।
गेलणणे असिखे वा, ओमोयरियाय रायदुट्टे य ।
एतेहि नासियम्मी, संधेमाणीय देंति गणं ॥
एमेव य साधुणं, वाकरणानिमित्तं कथमादी ।

(व्यभा २३२०, २३२१, २३२४, २३२७-२३२९)

धर्मकथा—मलयवती, मगधसेना, तरंगवती, वसुदेवहिण्डी आदि कथा-उपन्यासों को पढ़ना, निमित्त—ज्योतिष्क—अतीत-अनागत भावों को बताना, विद्या, मंत्र, योगचूर्ण आदि का प्रयोग करना, कुहुकशास्त्र पढ़ना आदि—इन कारणों से साध्वी के आचारप्रकल्प विस्मृत हो जाता है। वह उसे पुनः सीखे या न सीखे, जीवनभर गण धारण नहीं कर सकती।

वैद्य दृष्टांत—एक वैद्य राजा के यहाँ नियुक्त था। वह घृत, विषय आदि प्रमादों के कारण अपनी विद्या भूल गया। एक बार राजा ने चिकित्सा हेतु बुलाया। वह चिकित्सा कर नहीं सका। उसने कहा—मेरे वैद्यकशास्त्र चोरों ने चुरा लिए हैं। राजाज्ञा से शास्त्रकोश वहाँ लाया गया। राजा ने देखा—कोश के जंग लग गया है, पुस्तकें कीड़ों द्वारा खाई हुई हैं। राजा ने प्रमाद के कारण वैद्य को राजवैद्य के पद से मुक्त कर दिया। वह अन्यत्र गया, विद्या सीख कर आया। नियुक्ति की याचना की। राजा ने पुनः नियुक्ति नहीं की।

इसी प्रकार प्रमाद से प्रकल्पाध्ययन विस्मृत होने पर गण नहीं दिया जाता। रोग, रोगी का वैयावृत्य, अशिव, दुर्भिक्ष, राज्य-प्रद्वेष आदि कारणों से निशीथ विस्मृत होने पर और उसका पुनः संधारण करने पर गण (आचार्य आदि का पद) दिया जा सकता है।

इसी प्रकार साधु व्याकरण, निमित्त, छन्दशास्त्र, धर्मकथा आदि के अध्ययन के कारण निशीथ को भूल जाता है, तो उसे भी गण नहीं दिया जाता।

२०. निशीथ की विस्मृति : गणदायित्व का निषेध

निगमंशीए नवडहरतरुणियाए आचारपकप्पे नामं अञ्जयणे परिब्भट्टे सिया । सा य पुच्छियव्वा—केण ते अञ्जे! कारणेणं आचारपकप्पे नामं अञ्जयणे परिब्भट्टे ? किं आबाहेणं उदाहु पमाएणं ? सा य वएज्जा—नो आबाहेणं, पमाएणं । जावज्जीवं तीसे तप्पत्तियं नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए

वा । सा य वएज्जा—आबाहेणं, नो पमाएणं । सा य संठवेस्सामी ति संठवेज्जा, एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं । सा य संठवेस्सामी ति नो संठवेज्जा, एवं से नो कप्पइ पवत्तिणित्तं ॥

निगमंथस्स नवडहरतरुणस्स आचारपकप्पे नामं अञ्जयणे परिब्भट्टे सिया । जावज्जीवं तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ (व्य ५/१५, १६)

नवदीक्षिता (तीन वर्ष की दीक्षिता), डहरिका (अठारह वर्ष तक की वय वाली) और तरुणी (चालीस वर्ष तक की अवस्था वाली) निर्ग्रथी निशीथ अध्ययन सीख कर भूल जाती है तो उससे पूछना चाहिए—आर्ये! किस कारण से निशीथ भूल गई हो—आबाधा (रोग आदि के कारण) से या प्रमाद से ?

साध्वी कहे—प्रमाद से यह अध्ययन विस्मृत हो गया है, आबाधा से नहीं तो उसे जीवनपर्यंत प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिका पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता, वह उसे धारण नहीं कर सकती।

यदि वह कहे—प्रमाद से नहीं, आबाधा से विस्मृत हुआ है। अब मैं इसे पुनः संस्थापित कर लूंगी, तो संस्थापित करने पर उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिका का पद दिया जा सकता है, वह उसे धारण कर सकती है।

निर्ग्रथ के लिए भी यही विधि है। प्रमाद से निशीथ की विस्मृति होने पर वह जीवनपर्यंत आचार्य यावत् गणावच्छेदक नहीं बन सकता।

० स्थविर के लिए निषेध नहीं

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आचारपकप्पे नामं अञ्जयणे परिब्भट्टेसिया । कप्पइ तेसिं संठवेमाणण वा असंठवेमा-णाण वा आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आचारपकप्पे नामं अञ्जयणे परिब्भट्टे सिया । कप्पइ तेसिं सन्निसण्णाण वा संतुयट्ठण वा उत्ताणयाण वा पासिल्लनयाण वा आचारपकप्पं नामं अञ्जयणं दोच्चं पि तच्चं पि पडिच्छित्तए वा पडिसारेत्तए वा ॥ (व्य ५/१७, १८)

स्थविरभूमि को प्राप्त स्थविरों के आचारप्रकल्प

अध्ययन विस्मृत हो गया हो, वे उसे पुनः कण्ठस्थ करते हैं या नहीं भी करते हैं, उन्हें आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद दिया जा सकता है, वे उसे धारण कर सकते हैं।

यदि स्थविरभूमि को प्राप्त स्थविर निशीथ अध्ययन को भूल जाते हैं तो बैठे हुए, लेटे हुए, उत्तानशयन या पार्श्वशयन करते हुए अवमरालिक से दो बार, तीन बार सूत्र-अर्थ का श्रवण और पृच्छा कर सकते हैं, परावर्तन कर सकते हैं।

० विस्मृतश्रुता को जानने की प्रक्रिया

दंडग्गहनिकखेवे, आवसियाए निसीहियाऽकरणे ।
गुरुणं च अप्पणामे, य भणसु आरोवणा का उ ॥

(व्यभा २३१८)

अमुक साध्वी को निशीथ याद है या नहीं? यह जानने के लिए आचार्य पूछते हैं—आर्ये! प्रतिलेखन-प्रमार्जन किए बिना दण्डक का ग्रहण-निक्षेपण करने पर, आवसियकी-नैषेधिकी न करने पर और वसति में प्रवेश करते हुए गुरु को प्रणाम न करने पर क्या प्रायश्चित्त प्राप्त होता है?

इन प्रश्नों का यथावस्थित उत्तर न देने पर ज्ञात हो जाता है कि वह निशीथ अध्ययन भूल चुकी है।

२१. दशा-कल्प-व्यवहार के निर्यूहणकर्त्ता

वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसयलसुयनाणिं ।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ॥
भद्दबाहुनामेणं पाईणो गोत्तेण चरिमो—अपच्छिमो
सगत्ताइं चोहसपुव्वाइं । (दशानि १ चू)

प्राचीनगौत्रीय अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु को मैं वंदना करता हूँ। उन्होंने दशाश्रुतस्कंध, कल्प और व्यवहार—इन तीन सूत्रों का प्रणयन किया।

२२. कल्प-व्यवहार का प्रणयन क्यों?

पूर्वेषु यद् नवमं प्रत्याख्याननामकं पूर्वं तस्य यत् तृतीयमाचाराख्यं वस्तु तस्मिन् विंशतितमे प्राभृते मूलगुणे-षुत्तरगुणेषु चापराधेषु दशविधमालोचनादिकं प्रायश्चित्त-मुपवर्णितम्, कालक्रमेण च दुःषमानुभावतो धृति-बल-वीर्य-बुद्ध्याऽऽयुःप्रभृतिषु परिहीयमानेषु पूर्वाणि दुरवगाहानि

जातानि, ततो मा भूत् प्रायश्चित्तव्यवच्छेदः—इति साधूनाम-नुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहारसूत्रं चाकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः ।

(बृभाक् पृ २)

प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु है—आचार। उसके बीसवें प्राभृत में मूलगुणों और उत्तरगुणों में अपराध होने पर आलोचना आदि दस प्रकार के प्रायश्चित्त का वर्णन है।

कालक्रम से दुःषम अर के प्रभाव से मनुष्य की धृति, बल, वीर्य, बुद्धि, आयुष्य आदि की परिहानि हो जाने पर पूर्वों का अवगाहन कष्टसाध्य हो गया है, इसलिए प्रायश्चित्त विधि का व्यवच्छेद न हो जाए—यह सोचकर चौदहपूर्वी भगवान भद्रबाहु ने साधुओं के अनुग्रह के लिए कल्प और व्यवहार सूत्र तथा दोनों की ही सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति का प्रणयन किया।

२३. दशा-कल्प-व्यवहार का उद्गम

.....भद्दबाहुस्स ओसप्पिणीए पुरिसाणं आयुबल-परिहाणिं जाणिरुणं चिंता समुप्पन्ना । पुव्वगते वोच्छिन्ने मा साहु विसोधिं ण याणिसंतित्ति काउं अतो दसाकप्प-ववहारा निज्जूढा पच्चक्खाणपुव्वातो । (दशाचू प ५)

इस अवसर्पिणी कालखंड में पुरुषों का आयुष्य और बल क्षीण हो रहा है—यह जानकर भद्रबाहु को चिंता उत्पन्न हुई। पूर्वगत की विशाल ज्ञानराशि विच्छिन्न होने पर साधु विशेषी को नहीं जान पायेंगे—यह सोचकर उन्होंने प्रत्याख्यान-पूर्व से दशाश्रुतस्कंध, कल्प और व्यवहार—इन तीन सूत्रों का निर्यूहण किया।

२४. दशाश्रुतस्कंध का निर्यूहण

डहरीओ तु इमाओ, अज्झयणोसु महईओ अंगेसु ।
छसु णायादीएसुं, वत्थविभूसावसाणमिव ॥
डहरीओ तु इमाओ, निज्जूढाओ अणुगहद्वाए ।
शेरेहिं तु दसाओ ॥
दिट्ठिवायातो नवमातो पुव्वातो असमाधिद्वाणपाहु-
डातो असमाधिद्वाणं, एवं सेसाओवि सरिसनामेहिं पाहुडेहिं

निज्जूढाओ ।.....भद्रबाहुहिं । (दशानि ५, ६ चू)

अध्ययनदशा के दो प्रकार हैं—छोटी और बड़ी। बड़ी अध्ययनदशाएं हैं छह अंग आगम—ज्ञातधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकृद्दशा, प्रश्नव्याकरण तथा विपाकश्रुत। जिस प्रकार वस्त्र की विभूषा के लिए उसकी दशा—किनारी होती है, वैसे ही ये दशाएं हैं।

स्थविर—आचार्य भद्रबाहु ने शिष्यों पर अनुग्रह कर नौवें पूर्व से इन छोटी अध्ययनदशाओं का निर्व्यूहण किया।

दशाश्रुतस्कंध की प्रथम दशा 'असमाधिस्थान' दृष्टि-वाद के नौवें पूर्व (प्रत्याख्यानपूर्व) के असमाधि-स्थानप्राभृत से निर्व्यूढ है। शेष नौ दशाएं अपने-अपने सदृश नाम वाले प्राभृत्तों से निर्व्यूढ हैं। निर्व्यूहणकर्त्ता श्रुतकेवली स्थविर (आचार्य) भद्रबाहु हैं।

० दशा : छेदसूत्रों में प्रमुखभूत

दसाओ.....इमं पुण छेयसुत्तपमहभूतं ।

(दशाचू प २)

दशाश्रुतस्कंध छेदसूत्रों में प्रमुखभूत है।

२५. कल्प शब्द के अर्थ

सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा।

औपम्ये चाऽधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः ॥

सामर्थ्ये तावदेवम्—कल्पाध्ययनमधीत्यातीचार-मलिनस्य साधोः समर्थः प्रायश्चित्तेन विशोधिमापादयितुम्। वर्णनेऽपि—यावन्तः प्रायश्चित्तप्रकारास्तान् वर्णयती-दमध्ययनम्; अथवा मूलगुणान् उत्तरगुणांश्च कल्पयति वर्णयतीति कल्पः। छेदनेऽपि—तपःशोधिमतिक्रान्तस्य पञ्चकादिच्छेदनेन पर्यायं छिनत्ति। करणेऽपि—यद् दत्तं प्रायश्चित्तं तत्र तथा प्रयत्नं करोति कल्पाध्ययनवेत्ता यथा यत् पारं नयति; अथवा कल्पयति जनयत्याचार्यकमिति कल्पः।.....औपम्येऽपि—.....कल्पाध्ययनेऽधीते भवति पूर्वधरसदृशः प्रायश्चित्तविधावाचार्यः। अधिवासेऽपि—कल्पाध्ययनवेत्ता कल्पे मासकल्पे वर्षाकल्पे वा कारण-मन्तरेण परिपूर्णं कारणवशात् ऊनमतिरिक्तं वा अधिवसतीति कल्पः। (बृभा २ की वृ)

कल्प शब्द के छह अर्थ हैं—

१. सामर्थ्य—कल्पाध्ययन का अतिचार से मलिन मुनि की प्रायश्चित्त के द्वारा विशोधि करने में समर्थ होता है।
२. वर्णन—प्रायश्चित्त के जितने प्रकार हैं, उन सबका अथवा मूलगुणों और उत्तरगुणों का इस सूत्र में वर्णन है।
३. छेदन—तप प्रायश्चित्त अतिक्रान्त होने पर इस अध्ययन के द्वारा पांच दिन अथवा अधिक दिन के मुनि-पर्याय का छेदन किया जाता है।
४. करण—कल्पाध्ययनवेत्ता वैसा प्रयत्न करता है, जिससे मुनि प्राप्त प्रायश्चित्त की सम्यक् अनुपालना कर सके। अथवा कल्पविद् प्रायश्चित्त देने में आचार्य के सदृश होता है।
५. औपम्य—कल्पअध्ययन षड् लेने से प्रायश्चित्त विधि में आचार्य पूर्वधर के सदृश हो जाता है।
६. अधिवास—कल्पाध्ययनवेत्ता मासकल्प और वर्षाकल्प में एकस्थान पर परिपूर्ण अधिवास करता है तथा प्रयोजन होने पर न्यून या अधिक समय तक भी रहता है।

२६. कल्प और व्यवहार

कप्पम्मि वि पच्छित्तं, ववहारम्मि वि तमेव पच्छित्तं।
कप्पव्ववहाराणां, को णु विसेसो त्ति चोदेति ॥
जो अखितहववहारी, सो नियमा वट्टते तु कप्पम्मि।
इति वि हु नत्थि विसेसो, अञ्जयणाणां दुवेण्हं पि ॥
कप्पम्मि कप्पिय्या खलु, मूलगुणा चेव उत्तरगुणा य।
ववहारे ववहरिया, पायच्छित्ताऽऽभवन्ते य ॥
अविसेसियं च कप्पे, इहइं तु विसेसितं इमं चउत्था।
पडिसेवण संजोयण, आरोवण कुंच्चियं चेव ॥
(व्यभा १५१-१५४)

शिष्य ने पूछा—भंते! कल्पाध्ययन में भी प्रायश्चित्त का प्रतिपादन है और व्यवहार में भी उसी का प्रतिपादन है, फिर कल्प और व्यवहार में अंतर क्या है?

गुरु ने कहा—जो अखितथ व्यवहारी होता है, वह नियमतः कल्प में प्रवृत्त होता है और जो कल्प में प्रवृत्त होता है, वह अखितथ व्यवहारी होता है (कल्प, आचार और व्यवहार एकार्थक हैं)—इस दृष्टि से कल्प और व्यवहार—दोनों अध्ययनों में कोई भेद नहीं है।

कल्पाध्ययन में मूलगुण-उत्तरगुण अपराध संबंधी आभवत् व्यवहार एवं प्रायश्चित्त का प्ररूपण है, व्यवहार में उसकी दानविधि भी प्रतिपादित है। जो आभवत् व्यवहार और प्रायश्चित्त कल्प में नहीं हैं, उनका भी व्यवहार में निरूपण है।

कल्पाध्ययन में सामान्य रूप से प्रायश्चित्त का वर्णन है। व्यवहार में विशेष रूप से प्रायश्चित्त का वर्णन है—प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और प्रतिकुंचना—इन चार भेदों का निरूपण है।

२७. कल्पाध्ययन और व्यवहार का विषय-भेद

.....कप्यारोवण, इहइ भणिता पुरिसजाया ॥
.....मासियसोही उ वणिता कप्ये ।
तस्स पुण इमं दाणं, भणियं आलोयणाविधी य ॥
(व्यभा १४९, १८४)

कल्पाध्ययन में प्रायश्चित्तार्ह पुरुषों के प्रकार प्ररूपित नहीं हैं, वे व्यवहार में हैं।

कल्प में मासिक आदि प्रायश्चित्त उपवर्णित है। व्यवहारसूत्र में उसकी दानविधि और आलोचनाविधि प्ररूपित है।

० कल्प-व्यवहार का विस्तार पूर्वाचार्यकृत

कप्यव्ववहाराणं, भासं मोत्तूण वित्थरं सव्वं ।
पुव्वायरिहि कयं, सीसाण हितोवदेसत्थं ॥
(व्यभा ४६९३)

कल्प और व्यवहार के भाष्य को छोड़कर उनका शेष सारा विस्तार पूर्वाचार्यकृत है। यह शिष्यों के हितोपदेश के लिए किया गया है।

२८. कल्प-व्यवहार की अर्हता

बहुस्सुए चिरपव्वइए, कप्पिए य अचंचले ।
अवट्टिए य मेहावी, अपरिस्सावी य जे विऊ ॥
पत्ते य अणुण्णाते, भावतो परिणामगे ।
एयारिसे महाभागे, अणुओगं सोउमरिहइ ॥
(बृभा ४००, ४०१)

जो बहुश्रुत, चिरप्रव्रजित, कल्पिक, अचपल,

अवस्थित, मेधावी, अपरिश्रावी और विद्वान् है, जिसमें पात्रता है, जिसे गुरु की अनुज्ञा प्राप्त है और जो भावतः परिणामक है—ऐसा महाभाग शिष्य कल्प और व्यवहार की व्याख्या सुनने के योग्य है।

२९. कल्प, प्रकल्प आदि के प्रकृत

कप्यमि दोन्नि पगता, पलंबसुत्तं च मासकप्ये य ।
दो चेव य ववहारे, पढमे दसमे य जे भणिता ॥
पेढियाओ य सव्वाओ, चूलियाओ तधेव य ।
निज्जुत्ती कप्यनामस्स, ववहारस्स तधेव य ॥
(व्यभा २६६२, २६६३)

कल्प के दो प्रकृत (संदर्भ/प्रस्तुत-प्रसंग) हैं—प्रलम्ब-सूत्र और मासकल्पसूत्र।

व्यवहार के दो प्रकृत हैं—प्रथम उद्देशक में आरोपणा-सूत्र तथा दसवें उद्देशक में पंचविध व्यवहारसूत्र।

कल्प-व्यवहार में अन्य संदर्भ भी प्रस्तुत हैं। यथा—कल्प, प्रकल्प (निशीथ) आदि की पीठिका, सब चूलिकाएं, कल्प, व्यवहार, दशवैकालिक आदि की निर्युक्तियां।

३०. व्यवहार के अर्थाधिकार

अर्थाधिकारः स चेह दानप्रायश्चित्तमाभवत्-
प्रायश्चित्तमालोचनाविधिश्च । (व्यभाषी प ३)

व्यवहार के तीन अर्थाधिकार हैं—१. दानप्रायश्चित्त
२. आभवत् प्रायश्चित्त और ३. आलोचनाविधि।

३१. भद्रबाहु-प्रदत्त व्यवहार : द्वादशांग का नवनीत
किं पुण गुणोवदेसो, ववहारस्स तु विदुप्पसत्थस्स ।
.....दुवालसंगस्स णवणीतं ॥
व्यवहारसूत्रस्य.....चतुर्दशपूर्वधरभद्रबाहुस्वामिना
दत्तस्य.... । (व्यभा ४५५२ वृ)

व्यवहारसूत्र का जो समुचित और प्रशस्त गुणोपदेश (गुणोत्पादन के निमित्त उपदेश) है, वह द्वादशांग का नवनीत है, वह चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु स्वामी द्वारा प्रदत्त है।

छेदोपस्थापनीयचारित्र—महाव्रतों का विस्तारपूर्वक आरोपण। पारंगित आदि प्रायश्चित्तयोग्य दोष सेवन करने पर पुनः चारित्र में उपस्थापन। द्व चारित्र

जातिस्मृति—पूर्वजन्मों का ज्ञान ।

जातिस्मृति के प्रकार

.....जाइस्मरणाईओ, सनिमित्तमनिमित्तओ वा वि ॥

.....जातिस्मरणादिकः सनिमित्तकोऽनिमित्तको वा द्रष्टव्यः । तत्र यद् बाह्यं निमित्तमुद्दिश्य जातिस्मरणमुपजायते तत् सनिमित्तकम्, यथा वल्कलचीरि-प्रभृतीनाम् । यत् पुनरेवमेव तदावारककर्मणां क्षयोपशमे-नोत्पद्यते तदनिमित्तकम्, यथा स्वयम्बुद्धकपिलादीनाम् ।
(बृभा ११३३ वृ)

जातिस्मृति के दो प्रकार हैं—

१. सनिमित्तक—किसी बाह्य निमित्त को पाकर होने वाली पूर्वजन्म की स्मृति । जैसे—वल्कलचीरी आदि ।
२. अनिमित्तक—बिना किसी निमित्त के केवल ऐसे ही जातिस्मृति आवारक कर्मों के क्षयोपशम से होने वाली पूर्वजन्म की स्मृति । जैसे—स्वयंबुद्ध कपिल आदि ।

(वल्कलचीरी—राजा सोमचन्द्र और रानी धारिणी ने दिशाप्रोक्षित तापस के रूप में दीक्षा ग्रहण की । वे एक आश्रम में रहने लगे । दीक्षित होते समय रानी गर्भवती थी । समय पूरा होने पर रानी ने एक बालक को जन्म दिया । उसे वल्कल में रखने के कारण बालक का नाम वल्कलचीरी रखा ।

कुछ वर्ष बीते । एक दिन कुमार वल्कलचीरी उटज में यह देखने के लिए गया कि राजर्षि पिता के उपकरण किस स्थिति में हैं ? वहां वह अपने उत्तरीय के पल्ले से उनकी प्रतिलेखना करने लगा । अन्यान्य उपकरणों की प्रतिलेखना कर चुकने के बाद ज्योंही वह पात्र-केसरिका की प्रतिलेखना करने लगा तो प्रतिलेखना करते-करते उसने सोचा—'मैंने ऐसी क्रियाएं पहले भी की हैं ।' वह विधि का अनुस्मरण करने लगा । तदावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होने पर उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे देवभव, मनुष्यभव तथा पूर्वाचरित श्रामण्य की स्मृति हो आई । इस स्मृति से उसका वैराग्य बढ़ा । धर्मध्यान से अतीत हो, विशुद्ध परिणामों में बढ़ता हुआ, शुक्लध्यान की दूसरी भूमिका का अतिक्रमण कर, विकारों, आवरणों और अवरोधों को नष्ट कर वह केवली

हो गया ।—आवचू १ पृ ४५५-४६०

० कपिल—कपिल काश्यप ब्राह्मण का पुत्र था । उसे दो माशा सोने की जरूरत थी । सोना प्राप्ति की आशा से वह रात्रि को घर से निकला । नगर-आरक्षकों ने उसे चोर समझकर पकड़ लिया और राजा के सामने प्रस्तुत किया । राजा के पूछने पर कपिल ने सरलता से सारी बात बता दी । राजा ने प्रसन्न होकर कहा—जो चाहो, मांग लो । कपिल ने सोचने का अवसर मांगा । आज्ञा लेकर वह अशोक वनिका में गया । चिंतन किया—क्या मांगूं ? दो माशा सोने से लेकर करोड़ तक मांगने का चिंतन किया, परन्तु मन नहीं भरा । संतोष के बिना शांति कहां ? मन आंदोलित हुआ । तत्क्षण समाधान मिल गया । मन वैराग्य से भर गया । चिंतन का प्रवाह मुड़ा, जातिस्मरण ज्ञान हो गया, स्वयंबुद्ध बन गया, मुनि बन गया । —उशावृ प २८७, २९९)

२. जातिस्मृति से आत्मबोध

ण इमं चित्तं आदाय गृहीत्वा कतरं जातिस्मरणादि भुज्जो पुणो लोगंसि संसारे जायति उप्पज्जति, आत्मनः उत्तमं.....जोऽहं परभवे आसि, अहवा उत्तमो संजमो मोक्खो वा यत्र तमो अन्नाणं कम्मं वा ण विज्जति, अथवा श्रेष्ठं निर्वाहकं हितं वा आत्मनः तज्जानीते ।

(दशा ५/७/२ की चू)

जीव जातिस्मृति से पुनः-पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होता, कर्मशृंखला को छिन्न कर देता है ।

० वह पूर्वजन्म को जान लेता है ।

० उसका उत्तम स्थान संयम और मोक्ष है, जहां अंधकार नहीं है, अज्ञान नहीं है, कर्म नहीं है—वह इसे जान लेता है ।

० अमुक आचरण आत्मा के लिए हितकारी है, इसे भी वह जान लेता है ।

* जातिस्मृति : चित्तसमाधि का हेतु द्र चित्तसमाधिस्थान ये स्वयम्भूरमणसमुद्रे मत्स्यास्ते प्रतिमासंस्थितान् मत्स्यान् उत्पलानि वा दृष्ट्वेहा-ऽपोहादि कुर्वन्तो जातिस्मरणतः सम्यक्त्वमासादयन्ति । (बृभा १२५ की वृ)

जो स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्य हैं, वे प्रतिमा-संस्थान से संस्थित मत्स्यों अथवा उत्पलों को देखकर ईहा-

अपोह-मार्गणा करते हुए जातिस्मृति ज्ञान प्राप्त कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं।

* जातिस्मृति की प्रक्रिया आदि द्र श्रीआको १ जातिस्मृति

जिनकल्प—विशिष्ट श्रुत-संहनन-धृति-सम्पन्न मुनि द्वारा संघ से विधिपूर्वक निर्गमन कर आजीवन किया जाने वाला साधना का विशेष प्रयोग। जिन की भांति विहरण।

१. भावी जिनकल्पी : प्रव्रज्या आदि पद
२. अभ्युद्यत विहार : जिनकल्प आदि
 - जिनकल्प प्रतिपत्ति से पूर्व धर्मजागरिका
 - इत्वरिक गणनिक्षेप : गणपालन दुष्कर
३. जिनकल्प के अधिकारी कौन ?
४. जिनकल्प की पांच भावनाएं
 - तपोभावना से इन्द्रिययोगाचार्य : सिंह दृष्टांत
 - सत्त्वभावना : पांच प्रतिमाएं
 - सूत्रभावना : श्रुतपरावर्तन से कालज्ञान
 - एकत्वभावना : ममत्वविसर्जन
 - पुष्पचूल दृष्टांत
 - बलभावना : शरीरबल-धृतिबल
५. परिकर्म और अभिग्रह (पिंडैषणा)
 - उपधि का विवेक
 - इन्द्रियविजय का अभ्यास
 - उत्कुटुकासन का अभ्यास
 - परिणाम आदि की विशुद्धि
६. जिनकल्प का स्वीकरण
७. जिनकल्प-प्रतिपत्ता द्वारा क्षमायाचना
८. क्षमायाचना की निष्पत्ति
९. स्थापित आचार्य और शिष्यों को शिक्षा
१०. गण-निष्क्रमण विधि
११. जिनकल्पी की सामाचारी
 - पशु-पक्षी निवारण की मर्यादा
१२. जिनकल्प-साधना के सत्ताईस द्वार
 - श्रुत, संहनन, वेदना (ध्रुवलोच)
 - * जिनकल्पी और केशलोच द्र पर्युषणाकल्प
 - वसतिकतिजन
 - भिक्षाचर्यामासकल्प
१३. जिनकल्प : मासकल्प और पर्युषणाकल्प

१४. जिनकल्प-स्थिति के उनीस स्थान
 - * जिनकल्प और अवग्रह द्र अवग्रह
 - जन्म और सद्भाव की अपेक्षा क्षेत्र-काल
 - चारित्रवेद
 - * जिनकल्प कल्पस्थिति द्र कल्पस्थिति
 - कल्पप्रायश्चित्त
 - कारण (निरपवाद), निष्प्रतिकर्मकायोत्सर्ग
 - * जिनकल्पी के प्रतिलेखना काल
 - * चिकित्सा संबंधी निषेध द्र स्थविरकल्प
१५. जिनकल्पी की उपधि के प्रकार
 - उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्य उपधि
१६. जिनकल्पी की उपधि के विकल्प
 - * औघिक-औपग्रहिक उपधि द्र उपधि
१७. प्रावरण
१८. जिनकल्पी-स्थविरकल्पी का संस्तारक
 - उत्कुटुकासन : निद्रा-जागरण
 - * कौन महर्द्धिक : संघ या जिनकल्प द्र संघ
 - * जिनकल्पी : संघ-कार्य से बाह्य द्र कृतिकर्म

१. भावी जिनकल्पी : प्रव्रज्या आदि पद
 पव्वज्जा सिक्खापयमत्थग्गहणं च अनियओ वासो।
 निष्फत्ती य विहारो, सामायारी तिईं चेव॥
 (बृभा ११३२)

- प्रव्रज्या—भावी जिनकल्पी तीर्थकर आदि से धर्मप्रवण कर अथवा स्वयंसम्बुद्ध होकर प्रव्रजित होते हैं।
- शिक्षापद—प्रव्रजित हो ग्रहणशिक्षा और आसेवनशिक्षा का सम्यक् अभ्यास करते हैं।
- अर्थग्रहण—बारह वर्ष तक सूत्र-ग्रहणशिक्षा के पश्चात् अधीत सूत्रों का बारह वर्ष अर्थबोध करते हैं। द्र श्रुतज्ञान
- अनियतवास—नाना प्रदेशों में पदयात्रा करते हुए संघ की प्रभावना करते हैं। शास्त्रों के अभ्यास का तथा विविध देशीभाषाओं का प्रत्यक्षीकरण करते हैं।
- निष्पत्ति—शिष्यों को सूत्र-अर्थ, सामाचारी आदि में निष्पन्न करते हैं।
- विहार—जिनकल्प को स्वीकार करने का निश्चय करते हैं।

- ० सामाचारी—चक्रवाल आदि सामाचारी का अभ्यास करते हैं।
- ० स्थिति—जिनकल्प की अवस्थिति वक्तव्य है।

२. अभ्युद्यत विहार : जिनकल्प आदि

जिण सुद्ध अहालंदे, तिविहो अब्भुज्जओ अह विहारो।

अब्भुज्जयमरणं पुण, पाओवग-इंगिणि-परिन्ना ॥

(बृभा १२८३)

अभ्युद्यतविहार के तीन प्रकार हैं—जिनकल्प, शुद्ध-परिहारकल्प और यथालन्दकल्प।

अभ्युद्यतमरण के तीन प्रकार हैं—प्रायोपगमन, इंगिनी-मरण और परिज्ञा—भक्तप्रत्याख्यान।

- ० जिनकल्प प्रतिपत्ति से पूर्व धर्मजागरिका अणुपालिओ य दीहो, परियाओ वायणा वि मे दिन्ना। निप्फाइया य सीसा, सेयं खु महऽप्पणो काउं ॥ किन्नु विहारेणाऽब्भुज्जएण विहरामऽणुत्तरगुणेणं। आओ अब्भुज्जयसासणेण विहिणा अणुमरामि ॥ सयमेव आउकालं, नाउं पोच्छित्तु वा बहुं सेसं। सुबहुगुणालाभकंखी, विहारमब्भुज्जयं भजइ ॥

आचार्येण सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तिं कृत्वा पर्यन्ते—पूर्वापररात्रकालसमये धर्मजागरिकां जाग्रतेत्थं चिन्तनीयम्, यथा.....तदेवं कृता तीर्थस्याव्यवच्छित्तिः, तत्करणेन विहितमात्मनः ऋणमोक्षणम्..... अनु—पश्चात् संलेखद्युत्तरकालं मरणं प्रतिपद्येऽहम्?.....स्याद् बुद्धिः—द्वे अप्येते अभ्युद्यतरूपतया श्रेयसी, अतः कतरदनयोः प्रतिपत्तयम्?.....इह चायं विधिः—यदि स्तोकमेवायुरवशिष्यते ततः पादपोपगमादीनामेकतरमभ्युद्यतमरणं प्रतिपद्यते, अथ प्रचुरमायुः परं जंघाबलपरिक्षीणस्ततो वृद्धावासमध्यास्ते, अथाऽऽयुर्दीर्घं न च जंघाबलपरिक्षीणस्तदाऽभ्युद्यतविहारं प्रतिपद्यत इति। (बृभा १२८१, १२८२, १२८४ वृ)

सूत्र और अर्थ की अव्यवच्छित्ति करने के पश्चात् आचार्य पूर्वरात्र-अपररात्र/मध्यरात्रि में धर्मजागरिका करते हुए इस प्रकार सोचते हैं—मैंने दीर्घकाल तक संयम जीवन का पालन किया है, प्रतीच्छक आदि शिष्यों के लिए उचित वाचना भी दी है, तीर्थ की अव्यवच्छित्ति के लिए अनेक

शिष्यों का निष्पादन किया है—ऐसा करके मैं ऋणमुक्त हो गया हूँ, अब मेरे लिए आत्महित ही श्रेयस्कर है।

(पूर्वरात्र और अपररात्र—ये दो पद हैं।.....जयाचार्य के अनुसार इन दोनों पदों से 'मध्यरात्रि' का अर्थ फलित होता है। पूर्वरात्रि का अन्तिम भाग और पश्चिम रात्रि का पूर्वभाग—यह अर्धरात्रि का समय है।.....अनयोगद्वारचूर्णि में चिन्तन का समय रात्रि का दूसरा प्रहर फलित होता है। इससे मध्यरात्रि के अर्थ की पुष्टि होती है।.....'पूर्वरात्र अपररात्र' इसकी दो अर्थपरम्पराएं प्राप्त हैं—

१. रात्रि का प्रथम भाग और पश्चिम भाग।
२. मध्यरात्रि।—भ २/६६ का भाष्य)

मध्यरात्रि में आचार्य पुनः आत्मचिन्तन करते हैं—अब मैं अनुत्तर गुणों वाला अभ्युद्यतविहार (जिनकल्प आदि) स्वीकार करूँ? अथवा जिनशासन में विहित विधि से अभ्युद्यतमरण से मृत्यु का वरण करूँ—संलेखनापूर्वक अनशन को स्वीकार करूँ?

विहार और मरण—ये दोनों अभ्युद्यत होने के कारण श्रेयस्कर हैं, अतः इन दोनों में से कौन सा पथ मुझे स्वीकार करना चाहिए?

विपुल गुणोपलब्धि का आकांक्षी मुनि स्वयं अपने से अथवा अतिशय श्रुतज्ञानी आदि से अपने अवशिष्ट दीर्घ आयुष्य को जानकर अभ्युद्यत विहार (जिनकल्प) को स्वीकार करता है।

इसमें विशेष विधि के तीन विकल्प हैं—

१. यदि आयुष्य थोड़ा है, तो अनशन स्वीकार करे।
२. यदि आयुष्य दीर्घ किन्तु जंघाबल क्षीण है, तो वृद्धावास (स्थिरवास) में रहे।
३. यदि आयु दीर्घ और जंघाबल सुदृढ़ है, तो अभ्युद्यतविहार स्वीकार करे।

० इत्वरिक गण निक्षेप : गणपालन दुष्कर

गणनिकखेवित्तरिओ, गणिस्स जो व ठविओ जहिं ठाणे।... आह किमर्थमसावित्तरं गणादिनिक्षेपं विदधाति? न यावज्जीविकम्? उच्यते—इह चक्राष्टकविवरगाभिना शिलीमुखेन वामलोचने पुत्रिकाया वेधनमिव दुष्करं गणाद्यनुपालनम्, अतः पश्यामस्तावत्—एतेऽभि-

नवाचार्यप्रभृतयः किमस्य गणादेरनुपालनं कर्तुं यथावदीशते वा ? न वा ? यदि नेशते ततो मया न प्रति-पत्तव्यो जिनकल्पः, यतो जिनकल्पानुपालनादपि श्रेष्ठतर- मितरस्य तथाविधस्याभावे सूत्रोक्तनीत्या गणाद्यनुपालनम्, बहुतरनिर्जसालाभकारणत्वात्। (बृभा १२८५ वृ)

जो जिनकल्प स्वीकार करना चाहते हैं, वे यदि आचार्य हैं तो परिमित काल के लिए अपने योग्य शिष्य को आचार्य पद पर स्थापित करते हैं। यदि उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि हैं तो अपने तुल्य गुणों वाले साधु को अल्पकालिक उपाध्याय आदि पद पर स्थापित करते हैं।

शिष्य ने पूछा—गण आदि का निक्षेप इत्वरिक क्यों किया जाता है, यावज्जीवन के लिए क्यों नहीं किया जाता ?

आचार्य ने कहा—चक्राष्टकविवरगामी बाण के द्वारा पुतली की बाईं आंख को बाँधने की भाँति गण की अनुपालना दुष्कर कार्य है, इसलिए हम देखते हैं कि ये नवनियुक्त आचार्य आदि गण का भार वहन करने में सक्षम हैं या नहीं ? यदि सक्षम नहीं हैं तो हमें जिनकल्प स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि पदयोग्य शिष्य के अभाव में आगम-विहित विधि से गण का अनुपालन करना जिनकल्प की अनुपालना से श्रेष्ठतर है। गण का योगक्षेमवहन (संरक्षण-संवर्धन) करने से महान् निर्जरा होती है।

३. जिनकल्प के अधिकारी कौन ?

पञ्चानाम्—आचार्योपाध्याय-प्रवर्तक-स्थविर-गणावच्छेदकानां तुलना भवति—इह चैत एव प्रायोऽभ्यु-द्यतविहारस्याधिकारिण इति कृत्वा पञ्चेति संख्यानियमः कृतः। (बृभा १२८४ वृ)

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणावच्छेदक—ये पांच प्रकार के व्यक्ति जिनकल्प-प्रतिपत्ति के विषय में अपनी क्षमता को तोलते हैं, विमर्श करते हैं, क्योंकि ये ही प्रायः अभ्युद्यतविहार (जिनकल्प) के लिए अधिकृत होते हैं, अतः पांच की संख्या का निर्देश किया गया है।

४. जिनकल्प की पांच भावनाएं

तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण बलेण च।
तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ॥
(बृभा १३२८)

जिनकल्प प्रतिपत्ता के लिए पांच तुलनाएं (भावनाएं) प्रतिपादित हैं—तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल।

० तपोभावना से इन्द्रिययोगाचार्य : सिंह दृष्टांत जो जेण अण्णत्थो, पौरिसिमाई तवो उ तं तिगुणं। कुणइ छुहाविजयट्टा, गिरिनइसीहेण दिट्ठतो॥ एक्केक्कं ताव तवं, करेइ जह तेण कीरमाणेणं। हाणी न होइ जइआ, वि होज्ज छम्मासुवस्सग्गो॥ अप्पाहारस्स न इंदियाई विसएसु संपवत्तंति। नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जे एयावि॥ तवभावणाइ पंचिंदियाणि दंताणि जस्स वसमिंति। इंदियजोगायरिओ, समाहिकरणाई कारयए॥ (बृभा १३२९-१३३२)

जो पौरुषी आदि तप का अभ्यासी नहीं है, वह तीन बार उस तप का आसेवन करता है। जैसे—सर्वप्रथम पौरुषी तप का तीन बार आसेवन कर उसमें सात्मीभाव को प्राप्त करता है, तत्पश्चात् पुरिमड्ड, एकाशन आदि तपोयोगों के साथ सात्मीकरण करता है। यह उपक्रम क्षुधा परीषह पर विजय पाने के लिए किया जाता है।

गिरिनदी-सिंह दृष्टांत—एक सिंह भरी हुई पहाड़ी नदी में तैरता हुआ मन ही मन यह निश्चित कर लेता है कि दूसरे तट पर वृक्ष आदि से उपलक्षित अमुक प्रदेश में मुझे जाना है। पानी के वेगपूर्ण प्रवाह में वह विपरीत दिशा में बह जाता है, तब लौटकर स्वस्थ होकर पुनः नदी में तैरता है। तीव्र प्रवाह उसे बहाकर ले जाता है। सिंह अपने इस अभ्यास को तब तक चालू रखता है, जब तक वह नदी को तैरकर तट पर नहीं पहुंच जाता। इसी प्रकार तपोयोग में संलग्न साधक तब तक तपोयोग का अभ्यास करता रहता है, जब तक विवक्षित तप आत्मसात् नहीं हो जाता।

एक-एक तपोयोग का उतना अभ्यास करता है, जितना करने से विहित (पूर्व स्वीकृत) अनुष्ठान की हानि न हो। वह इतना अभ्यस्त हो जाता है कि यदि कभी छह मास पर्यंत उपसर्ग होता रहे—कोई देव आदि आहार को अनेषणीय करता रहे, तब भी वह छह मास तक निरन्तर उपवास कर लेता है, किन्तु अनेषणीय आहार ग्रहण नहीं करता।

० आहार न करने से या अल्पाहार से इन्द्रियां विषयों में सम्प्रवृत्त नहीं होतीं।

० वह दीर्घकालिक तपस्या में भी क्लान्ति का अनुभव नहीं करता और न ही स्निग्ध-मधुर रसों में आसक्त होता है।

० तपोभावना से दमित पांचों इन्द्रियां जिसके अधीन हो जाती हैं, वह इन्द्रिययोगाचार्य बन जाता है और उन्हें समाधिकारक बना देता है—इन्द्रियों का प्रयोग उस रूप में करता है, जिससे ज्ञान आदि में समाधि उत्पन्न हो।

० सत्त्वभावना : पांच प्रतिमाएं

जे वि य पुर्व्विं निसि निग्गमेसु विसहिंसु साहस-भयाइं ।
अहि-तक्कर-गोवाई, विसिंसु घोरे य संगामे ॥
यासुत्ताण तुयट्टं, सोयव्वं जं च तीसु जामेसु ।
थोवं थोवं जिणइ उ, भयं च जं संभवइ जत्थ ॥
पढमा उवस्सयमी, बिइया बाहिं तइया चउक्कम्मि ।
सुन्नघरम्मि चउत्थी, तह पंचमिया सुसाणम्मि ॥
भोगजढे गंभीरे, उव्वरण कोट्टुए अलिंदे वा ।
तणुसाइ जागरो वा, झाणट्टाए भयं जिणइ ॥
छिक्कस्स व खइयस्स व, मूसिगमाईहिं वा निसिचरेहिं ।
जह सहसा न वि जायइ, रोमंचुब्भेय चाडो वा ॥
सविसेसतरा बाहिं, तक्कर-आरक्खि-सावयाईया ।
सुण्णघर-सुसाणेसु य, सविसेसतरा भवे तिविहा ॥
देवेहिं भेसिओ वि य, दिया व रातो व भीमरूवेहिं ।
तो सत्तभावणाए, वहइ भरं निब्भओ सयलं ॥

(बृभा १३३३-१३३९)

जो राजा, अमात्य, ग्रामरक्षक आदि गृहवास में रहते हुए नगरवृत्तान्त को जानने के लिए अथवा नगररक्षा के लिए रात्रि में घूमते थे, अहेतुक अथवा सर्प, तस्कर, गोप आदि का सहेतुक भय सहन करते थे और जो घोर संग्राम में वीरता से प्रवेश करते थे, वैसे व्यक्ति भी यदि जिनकल्प को स्वीकार करना चाहते हैं तो उन्हें भी सत्त्वभावना का अवश्य अभ्यास करना होता है।

स्थविरकल्पी मुनि पार्श्वशयन अथवा उत्तानशयन करता है, रोग आदि कारणों से रात्रि में तीन प्रहर तक सो सकता है और उत्सर्ग विधि के अनुसार वह रात्रि के तीसरे प्रहर में

सोता है। वह यदि जिनकल्पी होना चाहे तो शनैः-शनैः अभ्यास कर निद्रा पर विजय प्राप्त करे। वह उपाश्रय आदि में जीव-जन्तुओं से होने वाले भय को भी जीते।

पांच प्रतिमाएं—

१ प्रथम प्रतिमा—यह उपाश्रय में की जाती है। सत्त्वभावना का अभ्यास करने वाला शेष सब साधुओं के सो जाने पर उपाश्रय के किसी अपरिभोग्य सघन अंधकार वाले अपवरक, कोष्ठक या अलिन्दक में कायोत्सर्गस्थित होकर भय पर विजय प्राप्त करता है, जिससे प्रशस्त ध्यान में स्थिरता बढ़ सके। इस अभ्यासकाल में वह बहुत कम नींद लेता है या नहीं भी लेता। वह सत्त्वभावना से अपने आपको इतना भावित कर लेता है कि मूषक, मार्जार आदि के द्वारा स्पृष्ट होने पर या खाए जाने पर भी भय से उद्वेलित नहीं होता। निशाचरों की लीलाओं को देखकर उसके सहसा भयोद्रेकजनित रोमांच नहीं होता और न वह वहां से पलायन करता है।

२. द्वितीय प्रतिमा—इसका अभ्यास उपाश्रय के बाहर स्थित होकर करना होता है। उपाश्रय में साधना करने वाले प्रथम प्रतिमा स्थित मुनि के जो भयस्थान होते हैं, वे उपाश्रय के बाहर साधना करने वाले के लिए प्रगुणित हो जाते हैं। उसे तस्कर, आरक्षक, श्वापद आदि के भय सहन करने पड़ते हैं। ३-५. तृतीय यावत् पंचमी प्रतिमा—इनका अभ्यास क्रमशः चतुष्पथ (चौराहे) पर, शून्यगृह और श्मशान में किया जाता है। वहां देव, मनुष्य और तिर्यचकृत उपसर्गरूप भय होते हैं। वह उन सब पर विजय प्राप्त करता है।

सत्त्वभावना का परिणाम—सत्त्वभावना का अभ्यासी साधक दिन या रात में देवों के द्वारा भयंकर रूपों से डराये जाने पर भी जिनकल्प के समग्र भार को निर्भयता से वहन करता है।

० सूत्रभावना : श्रुतपरावर्तन से कालज्ञान

जइ वि य सनाममिव परिचियंसुअं अणहिय-अहीणवनाइं ।
कालपरिमाणहेउं, तहा वि खलु तज्जयं कुणइ ॥
उस्सासाओ पाणू, तओ य थोवो तओ वि य मुहुत्तो ।
मुहुत्तेहिं पोरिसीओ, जाणेइ निसा य दिवसा य ॥
मेहाईछन्नेसु वि, उभओकालमहवा उवस्सग्गे ।
पेहाइ भिक्ख पंथे, नाहिइ कालं विणा छायं ॥

एगगया सुमह निज्जरा य नेव मिणणम्मि पलिमंथो ।
न पराहीणं नाणं, काले जह मंसचक्खूणं ॥
सुयभावणाएँ नाणं, दंसण तवसंजमं च परिणमइ ।
तो उवओगपरिण्णो, सुयमव्वहितो समाणेइ ॥
(बृभा १३४०-१३४४)

यद्यपि उनका श्रुत अपने नाम की भांति सुपरिचित होता है, हीनाक्षर-अधिकाक्षर आदि दोषों से रहित होता है, फिर भी कालपरिमाण का ज्ञान करने के लिए वे श्रुत का अभ्यास करते हैं ।

श्रुतपरावर्तना के आधार पर वे उच्छ्वास का परिमाण जान लेते हैं । उच्छ्वास से प्राण (उच्छ्वास-निःश्वासात्मक), प्राण से स्तोक (सात प्राण परिमाण), स्तोक से मुहूर्त्त (घटिकाद्वय-परिमाण), मुहूर्त्त से पौरुषी और पौरुषी से दिन-रात के परिमाण को जान लेते हैं ।

आकाश के मेघ आदि से आच्छादित हो जाने पर भी जिस क्रिया का जो प्रारम्भ काल और परिसमाप्तिकाल है, उसे वे छाया-मापन के बिना स्वयं ही जान लेते हैं ।

अथवा उनका श्रुताभ्यास इतना पुष्ट हो जाता है कि वे उपसर्ग—देव आदि द्वारा दिन-रात का व्यत्यय किए जाने पर भी उपकरण-प्रत्युपेक्षा, आवश्यककरण, भिक्षा, विहार—इन सबके उपयुक्त काल को छाया-मापन के बिना स्वयं ही जान लेते हैं ।

सूत्रभावना की निष्पत्ति—

- ० एकाग्रता—श्रुतपरावर्तना से चित्त एकाग्र होता है ।
- ० महानिर्जरा—स्वाध्यायप्रत्यया महान् निर्जरा होती है ।
- ० अषरिमंथ—कालज्ञान के लिए सूर्यछाया का मापन नहीं करना पड़ता, अतः सूत्र-अर्थ का व्याघात नहीं होता ।
- ० स्वायत्तता—जैसे छद्मस्थ साधु का ज्ञान सूर्यछाया के अधीन होता है, वैसे सूत्रभावना से भावित साधु का पौरुषी आदि कालविषयक ज्ञान पराधीन नहीं होता ।

श्रुतभावना से अपने आपको भावित करता हुआ मुनि ज्ञान, दर्शन और तपःप्रधान संयम को सम्यक् परिणत करता है । इस प्रकार श्रुत के उपयोग मात्र से ही काल को जानने वाला अव्यथित रहता हुआ श्रुतभावना से भावित हो जाता है ।

० एकत्व भावना : ममत्वविसर्जन

जइ वि य पुव्वममत्तं, छिन्नं साहूहिं दारमाईसु ।
आयरियाइममत्तं, तहा वि संजायए पच्छा ॥
दिट्ठिनिवायाऽऽलावे, अवरोप्परकारियं सपडिपुच्छं ।
परिहास मिहो य कहा, पुव्वपवत्ता परिहवेइ ॥
तणुईकयम्मि पुव्वं, बाहिरपेम्मे सहायमाईसु ।
आहारे उवहिम्मि य, देहे य न सज्जए पच्छा ॥
पुठिं व छिन्नममत्तो, उत्तरकालं वविज्जमाणो वि ।
साभाविय इअरे वा, खुब्भइ ददुं न संगइए ॥
(बृभा १३४५-१३४८)

यद्यपि साधुओं का कलत्र, पुत्र आदि के प्रति ममत्व पहले ही छिन्न हो जाता है किन्तु प्रब्रज्यापर्याय में आचार्य आदि के साथ ममत्व जुड़ जाता है ।

गुरु आदि के प्रति सस्नेह अवलोकन, उनके साथ आलाप-संलाप, भक्तपान-दान-ग्रहण रूप पारस्परिक उपकार, सूत्र-अर्थ आदि की प्रतिपृच्छा युक्त हास-परिहास, परस्पर वार्ता—पूर्व प्रवृत्त इन सब प्रवृत्तियों का वह परिहार कर देता है । आचार्य और सहवर्ती साधुओं के प्रति बाह्य प्रेम को कृश कर, तत्पश्चात् आहार, उपधि और देह के ममत्व का विसर्जन करता है ।

सभी जीव अनन्त बार सब जीवों के साथ स्वजनभाव और शत्रुभाव का अनुभव कर चुके हैं, इसलिए कौन अपना ? कौन पराया ?—इस एकत्व भावना से वह प्रेम बन्धन को छिन्न कर देता है ।

जिनकल्पप्रतिपत्ति के पश्चात् वह वास्तविक और देव आदि द्वारा वैक्रियशक्ति से निष्पादित स्वजनों को मारे जाते हुए देखकर भी क्षुब्ध नहीं होता ।

० पुष्पचूल दृष्टांत

पुष्पपुर पुष्पकेऊ, पुष्पवई देवि जुयलयं पसवे ।
पुत्तं च पुष्पचूलं, धूअं य सनामिअं तस्स ॥
सहवड्ढियाऽणुरागो, रायत्तं चेव पुष्पचूलस्स ।
घरजामाउगदाणं, मिलइ निसिं केवलं तेणं ॥
पव्वज्जा य नरिंदे, अणुपव्वयणं च भावणेगत्ते ।
वीमंसा उवसग्गे, विडेहिं समुहिं च कंदणया ॥

एगत्तभावणाए , न कामभोगे गणे सरीरे वा ।
सज्जइ वेरग्गओ, फासेइ अणुत्तरं करणं ॥
(बृभा १३४९-१३५२)

पुष्पपुर नगर में पुष्पकेतु महाराजा की महारानी पुष्पवती ने एक बार एक युगल का प्रसव किया। पुत्र का नाम पुष्पचूल और पुत्री का नाम पुष्पचूला रखा। दोनों साथ-साथ बड़े हुए। दोनों में गहरा अनुराग था। पुष्पचूल राजा बना। उसने पुष्पचूला का पाणिग्रहण ऐसे व्यक्ति से किया जो गृहदामाद (घरजंबाई) रह सके। वह भर्ता से केवल रात्रि में ही मिलती, दिनभर भाई के साथ रहती। भाई पुष्पचूल प्रव्रजित हुआ तो वह भी अनुराग के कारण प्रव्रजित हो गई। कालान्तर में मुनि जिनकल्प साधना स्वीकार करने के लिए एकत्व भावना से अपने आपको भावित कर रहे थे। एक देव ने परीक्षा करने के बहाने आर्या पुष्पचूला का रूप बनाया। कई धूर्त व्यक्ति पुष्पचूला के साथ बलात्कार करने का प्रयत्न करने लगे। उस समय मुनि पुष्पचूल उधर से जा रहे थे। उन्हें देखकर पुष्पचूला आर्या चिल्ला उठी—ज्येष्ठार्थ! मुझे बचाओ। मुनि प्रेमबन्धन से मुक्त हो चुके थे। 'एगो हं नत्थि मे कौवि, नाहमन्नस्स कस्सइ'—इस एकत्व भावना को गुणगुनाते हुए वे अपने स्थान पर चले गए।

एकत्वभावना से भावित मुनि कामभोग, गण और शरीर में आसक्त नहीं होता। वह वैराग्य के कारण अनुत्तर जिनकल्प की आराधना करता है।

० बलभावना : शरीरबल-धृतिबल

भावो उ अभिस्संगो, सो उ पसत्थो व अप्पसत्थो वा ।
नेह-गुणओ उ रागो, अपसत्थ पसत्थओ चेव ॥
कामं तु सरीरबलं, हायइ तव-नाणभांवणजुअस्स ।
देहावचाए वि सती, जह होइ धिई तहा जयइ ॥
कसिणा परीसहचमू , जइ उट्टिज्जाहि सोवसग्गा वि ।
दुद्धरपहकरवेगा, भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥
धिइधणियबद्धकच्छो, जोहेइ अणाउलो तमव्वहिओ ।
बलभावणाएँ धीरो, संपुण्णमणोरहो होइ ॥
धिइ-बलपुरस्सराओ, हवंति सव्वा वि भावणा एता ।
तं तु न विज्जइ सज्झं, जं धिइमंतो न साहेइ ॥

(बृभा १३५३-१३५७)

बल के दो प्रकार हैं—शारीरिक बल और भावबल।

भाव का अर्थ है अभिभ्रंग। वह दो प्रकार का है—

१. अप्रशस्त राग—पुत्र, कलत्र आदि में स्नेहजनित राग।
२. प्रशस्त राग—आचार्य आदि में गुणबहुमान प्रत्ययिक राग।

(बलभावना का अभ्यासी मुनि इस द्विविध राग का धृति से विसर्जन कर देता है। यह भावबल है। जिनकल्पाहं मुनि का शारीरिक बल भी अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा विशिष्ट होता है।)

यह सही है कि तपोभावना, ज्ञानभावना आदि से उसका शरीरबल कृशतर हो जाता है। देह का अपचय होने पर भी जिससे उसकी धृति निश्चल होती है, वैसा प्रयत्न करता है, धृतिबल से आत्मा को सम्यग् भावित करता है।

जो मोक्षमार्ग को दुर्वह बनाने वाली है, देव आदि कृत उपसर्ग जिसके सहायक हैं, कायर पुरुषों में जो भय पैदा करने वाली है, ऐसी सम्पूर्ण परीषहों की सेना यदि सज्जित होकर पराभूत करने के लिए उस मुनि के सामने खड़ी हो जाए तो अत्यंत बद्धकक्ष वह जिनकल्पी अनाकुलत और निष्प्रकम्प मानस से उस सेना के साथ युद्ध करता है। इस प्रकार बल भावना से भावित सत्त्वसंपन्न धीर मुनि अपने मनोरथ को पूर्ण करता है।

तप आदि ये सभी भावनाएं धृति-बल से युक्त होती हैं। ऐसा कोई साध्य नहीं है, जिसे धृतिसम्पन्न पुरुष न साध सके। (यह प्रसिद्ध वचन है—'सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्।')

५. परिकर्म और अभिग्रह (पिंडैषणा)

जिणकप्पियपडिरूवी, गच्छे वसमाण दुविह परिकम्मं ।
ततियं भिक्खायरिया, पंतं लूहं अभिगहीया ॥
पाणी पडिग्गहेण व, सच्चेल निचेलओ जहा भविया ।
सो तेण पगारेणं, भावेइ अणागयं चेव ॥
आहारे उवहिम्मि य, अहवा दुविहं तु होइ परिकम्मं ।
पंचसु अ दोसु अग्गह, अभिग्गहो अन्नयरियाए ॥
(बृभा १३५८, १३६१, १३६२)

पांचों भावनाओं से भावित मुनि जिनकल्पिक का प्रतिरूपी बनकर जिनकल्प स्वीकार करने से पूर्व गच्छ में रहता हुआ दो प्रकार का परिकर्म करता है। तीसरे प्रहर में गोचरी करता है। रूक्ष और प्रान्त आहार ग्रहण करता है। अभिग्रहपूर्वक आहार की एषणा करता है।

परिकर्म के दो प्रकार हैं—पाणि परिकर्म और पात्र परिकर्म।

- ० अथवा सचेल परिकर्म और अचेल परिकर्म।
- ० अथवा आहार और उपधि विषयक परिकर्म।

भविष्य में जिनकल्पिक जिस रूप में रहना चाहता है, उसी रूप में परिकर्म का अभ्यास कर अपने आपको भावित करता है।

अभिग्रह—सात प्रकार की पिण्डैषणाओं में प्रथम दो को सर्वथा छोड़कर शेष पांच (उद्धृता, अल्पलेपा, अवगृहीता, प्रगृहीता, उज्झितधर्मा) में से किन्हीं दो के द्वारा एक से आहार और दूसरी से पानक ग्रहण करता है, शेष तीन से उस दिन आहार-पानी ग्रहण नहीं करता।

* पिण्डैषणा-पाणैषणा-विवरण त्र पिण्डैषणा
.....उवहिं च अहागडयं, गिण्हइ जावऽन्नणुप्याए ॥
(बृभा १२८५)

जब तक जिनकल्पप्रायोग्य, शुद्धैषणायुक्त और प्रमाणोपेत वस्त्र आदि प्राप्त नहीं होते, तब तक वह यथाकृत उपधि ग्रहण करता है। अपने कल्पप्रायोग्य उपकरण प्राप्त होने पर पुराने उपकरण को त्याग देता है।

० इंद्रिय-विजय का अभ्यास
इंदिय-कसाय-जोगा, विणियमिया जइ वि सव्वसाह्विं ।
तह वि जओ कायव्वो, तज्जयसिद्धिं गणिंतेणं ॥
(बृभा १२८६)

यद्यपि सभी साधु इंद्रिय, कषाय और योग पर विजय प्राप्त करते हैं फिर भी जिनकल्पप्रतिपत्ता को अपने कल्प की सफलता के लिए, इंद्रियजय से होने वाली सिद्धि की प्राप्ति के लिए उन पर अवश्य विजय प्राप्त करनी चाहिए (जिससे इष्ट-अनिष्ट विषयों का योग-वियोग होने पर राग-द्वेष की उत्पत्ति न हो, दुर्वचन सुनकर भी कषाय का उदय न हो, चित्त दुष्प्रणिधान से मलिन न हो)।

० उत्कुटुक आसन का अभ्यास
उक्कुडुयासणसमुइं, करेइ पुढवीसिलाइसुववेसे ।
पडिवन्नो पुण नियमा, उक्कुडुओ केइ उ भयंति ॥

तं तु न जुज्जइ जम्हा, अणंतरो नत्थि भूमिपरिभोगो ।
तम्मि य हु तस्स काले, ओवग्गहितोवही नत्थि ॥
(बृभा १३६४, १३६५)

वे उत्कुटुक आसन का अभ्यास करते हैं अथवा पृथ्वी शिलापट्ट आदि यथासंस्तृत स्थानों पर बैठते हैं। जिनकल्प प्रतिपन्न मुनि नियमतः उत्कुटुक आसन में ही बैठते हैं। कुछेक आचार्य इसमें बैठने का विकल्प भी मानते हैं, किन्तु वह संभव नहीं है। क्योंकि मुनि अव्यवहित भूमि (मुंडभूतल) पर बैठ नहीं सकते और उनके पास औपग्रहिक उपधि (निषद्या आदि) नहीं होती। अतः वे उत्कुटुक आसन में ही रहते हैं।

० परिणाम आदि की विशुद्धि
परिणाम-जोगसोही, उवहिविवेगो य गणविवेगो य ।
सिज्जा-संधारविसोहणं च विगईविवेगो य ॥
तो पच्छिमम्मि काले, सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं ।
पच्छा निच्छयपत्थं, उवेइ जिणकप्पियविहारं ॥
(बृभा १३५९, १३६०)

जिनकल्प प्रतिपत्ता मुनि गुरु आदि के प्रति अपने ममत्व भाव का विच्छेद कर परिणामों की विशुद्धि करे तथा आवश्यक प्रवृत्तियों को यथासमय संपादित कर योगों की विशुद्धि करे। वह पुरानी उपधि का परिहार करे, गण का परित्याग करे, शय्या और संस्तारक का विशोधन करे तथा विकृति का परिहार करे।

शिष्य-निष्पादन द्वारा तीर्थ की अव्यवच्छिन्ति करने के पश्चात् वह सत्पुरुषों द्वारा आराधित, अत्यन्त दुरनुचर, भविष्य में एकान्त हितकारी जिनकल्पविहार को स्वीकार करे।

६. जिनकल्प का स्वीकरण
दव्वाई अणुकूले, संधं असती गणं समाहूय ।
जिण गणहरे य चउदस, अभिन्न असती य वडमाई ॥
(बृभा १३६६)

जिनकल्प को स्वीकार करने वाला मुनि सभी प्रकार से अपने आपको परिकर्मित कर लेने के पश्चात् अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में समस्त संघ को एकत्रित

करे। यह संभव न हो तो अपने गण को अवश्य बुलाए। फिर वह तीर्थकर के पास जिनकल्प स्वीकार करे। उनके अभाव में गणधर, चतुर्दशपूर्वी या अभिन्नदशपूर्वी के पास जिनकल्प स्वीकार करे। यदि इनमें से किसी की भी उपलब्धि न हो तो (अपने गण के समक्ष) वटवृक्ष, अशोक या अश्वत्थ वृक्ष के नीचे जिनकल्प स्वीकार करे।

७. जिनकल्प प्रतिपत्ता द्वारा क्षमायाचना

गणि गणहरं ठवित्ता, खामे अगणी उ केवलं खामे।
सव्वं च बाल-वुड्ढं, पुव्वविरुद्धे विसेसेणं ॥
जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु भे वट्ठियं मए पुव्वि।
तं भे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ अ ॥
आणंदअंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा।
खामिंति जहरिहं खलु, जहारिहं खामिता तेणं ॥
(बृभा १३६७-१३६९)

गच्छाधिपति यदि जिनकल्प स्वीकार करना चाहे तो वह अपने शिष्य को गणाचार्य के रूप में स्थापित कर श्रमणसंघ से, अपने गच्छ के आबाल-वृद्ध सभी मुनियों से क्षमायाचना करता है और विशेष रूप से उनसे क्षमा मांगता है, जिनकी उसने किसी प्रकार से विराधना की हो। वह उनसे कहता है—'मुनिवरो! प्रमादवश मैंने यदि आपके प्रति उचित व्यवहार न किया हो तो मैं निःशल्य और निष्कषाय होकर क्षमा मांगता हूँ।' आचार्य द्वारा क्षमायाचना करने के पश्चात् सभी मुनि पृथ्वी पर सिर टिकाकर, आनन्द के अश्रुओं से परिपूर्ण नेत्रों से रत्नाधिक के क्रम से क्षमायाचना करते हैं। आचार्य भी पर्यायज्येष्ठ के क्रम से ही क्षमायाचना करते हैं।

जिनकल्प स्वीकार करने वाला यदि गणी नहीं है, सामान्य साधु है तो वह किसी की नियुक्ति नहीं करता, केवल समूचे गण से क्षमायाचना करता है।

८. क्षमायाचना की निष्पत्ति

खामिंत्तस्स गुणा खलु, निस्सल्लय विणय दीवणा मग्गे।
लाघवियं एगत्तं, अप्पडिबंथो अ जिणकप्पे ॥

(बृभा १३७०)

जिनकल्प की साधना स्वीकार करने वाला जब मुनियों

से क्षमायाचना करता है, तब उसमें छह गुण निष्पन्न होते हैं—

१. निःशल्यता—वह शल्यरहित हो जाता है।
२. विनय—विनय की प्रतिपत्ति होती है।
३. मार्गदीपन—क्षमायाचना का मार्ग उद्दीप्त होता है।
४. लाघव—अपराध-भार से मुक्ति मिल जाती है।
५. एकत्व—'मैं अकेला हूँ'—ऐसा भाव पुष्ट होता है।
६. अप्रतिबंध—ममत्व के छेदन से शिष्य-प्रतिबंध नहीं रहता।

९. स्थापित आचार्य और शिष्यों को शिक्षा

अह ते सब्बाल-वुड्ढो, गच्छे साइज्ज णं अपरितंतो।
एसो हु परंपरतो, तुमं पि अंते कुणसु एवं ॥
पुव्वपवित्तं विणयं, मा हु पमाएहिं विणयजोगेसु।
जो जेण पगारेणं, उव्वज्जइ तं च जाणाहिं ॥
ओमो समराइणिओ, अप्पतरसुओ अ मा य णं तुब्भे।
परिभवह तुम्ह एसो, विसेसओ संपयं पुज्जे ॥

(बृभा १३७१-१३७३)

आयुष्मन्! तुम खेदरहित होकर सबाल-वृद्ध इस गच्छ का स्मरणा और वारणा के द्वारा सम्यग्पालन करना। शिष्य आचार्य का यही क्रम है कि वह अव्यवच्छित्तिकारक शिष्य का निष्पादन कर शक्ति रहते जिनकल्प स्वीकार करे। तुम भी अंत समय में शिष्य-निष्पादन का कार्य पूर्ण हो जाने पर जिनकल्प स्वीकार कर लेना।

जो बहुश्रुत और पर्यायज्येष्ठ मुनि हैं, उनके प्रति यथोचित विनय करने में प्रमाद मत करना। तप, स्वाध्याय, वैयावृत्य आदि विभिन्न कार्यों में से जो साधु जिस कार्य में रुचि रखता है, उसे जानकर उसी कार्य में योजित करना।

शिष्यो! ये आचार्य हमारे से छोटे हैं। हम समान पर्याय वाले हैं। हमारी अपेक्षा ये अल्पश्रुतज्ञानी हैं, तब हम क्यों इनके आज्ञा और निर्देश का पालन करें? इस प्रकार तुम लोग आचार्य की अवज्ञा मत करना। वर्तमान में ये धैरे स्थानीय हैं, गुरुतर गुणों से युक्त हैं, इसलिए तुम सब के लिए विशेष रूप से पूजनीय हैं।

१०. गण-निष्क्रमण विधि

धक्खीव पत्तसहिओ, सभंडग्गे वच्चए निरवयक्खो।
एगंतं जा तइया, तीएँ विहारो सँ नऽन्नासु ॥

सीहम्मि व मंदरकंदराओ, नीहम्मिए तओ तम्मि ।
 चक्खुविसयं अईए, अयंति आणंदिआ साहू ॥
 आभोएउं खेत्तं, निव्वाघाएण मासनिव्वाहिं ।
 गंतूण तत्थ विहरइ, एस विहारो समासेणं ॥
 (बृभा १३७४, १३७५, १३७७)

जिस प्रकार पक्षी अपने पंखों के साथ पूर्वस्थान से निरपेक्ष होकर दूसरे स्थान पर चला जाता है, वैसे ही जिनकल्प को स्वीकार करने वाला मुनि अपने पात्रों के साथ गण से निरपेक्ष होकर मासकल्प प्रायोग्य क्षेत्र की ओर प्रस्थान कर देता है। वह तीसरे प्रहर के प्रारंभ से समाप्ति तक चलता है क्योंकि जिनकल्प के विहार का समय केवल तीसरा प्रहर ही निर्दिष्ट है, शेष प्रहर नहीं। जहां चौथा प्रहर प्रारम्भ होता है, वहां उसे ठहरना ही पड़ता है।

पर्वत की कन्दरा से निकलते हुए सिंह की तरह गच्छ से निष्क्रमण करने वाले आचार्य या मुनि का साधु कुछ दूरी तक अनुगमन करें। उसके बाद जब वे आंखों से अदृश्य हो जाएं तब आनन्दित होकर अपने स्थान पर आ जाएं। सभी हृष्ट-तुष्ट होकर यह भावना करें कि अहो! ये आचार्य सुखसेवनीय स्थविरकल्प को छोड़कर अति दुष्कर अभ्युद्यत विहार—जिनकल्प को स्वीकार कर रहे हैं।

वे जिनकल्प प्रतिपत्ता मुनि मास-निर्वहण योग्य क्षेत्र को निर्व्याघात समझकर वहां रहते हैं और अपने आचार का परिपालन करते हैं।

११. जिनकल्पी की सामाचारी

आवसि निसीहि मिच्छा, आपुच्छुवसंपदं च गिहिएसु ।
 अन्ना सामाचारी, न होति से सेसिया पंच ॥
 आवासियं निसीहियं, मोत्तुं उवसंपयं च गिहिएसु ।
 सेसा सामाचारी, न होति जिणकप्पिए सत्त ॥
 (बृभा १३७९, १३८०)

जिनकल्पी पांच प्रकार की सामाचारी का प्रयोग करते हैं—१. आवश्यकी २. नैषेधिकी ३. मिथ्याकार ४. आपुच्छा ५. उपसम्पदा (गृहस्थविषयक)। इच्छाकार आदि पांच सामाचारी उनके नहीं होतीं।

अथवा उनके आवश्यकी, नैषेधिकी तथा गृहस्थ विषयक उपसंपदा—इन तीनों के अतिरिक्त शेष मिथ्याकार आदि सात समाचारियां नहीं होतीं।

० पशु-पक्षी निवारण की मर्यादा

गिहिणोऽवरञ्जमाणे, सुण-मज्जारदि अप्पणो वा वि ।
 वारेऊण न कप्पति, जिणाण थेराण तु गिहीणं ॥
 (निभा ३८३)

श्वान, मार्जार आदि जीवजन्तु गृहस्थ को बाधा पहुंचा रहे हों या अपने ही आहार आदि की क्षति कर रहे हों तो जिनकल्पी मुनि उन अपराधियों का निवारण नहीं करते।

स्थविरकल्पी पशु-पक्षियों से अपने आहार आदि की रक्षा कर सकते हैं किन्तु गृहस्थ की वस्तु को कोई हानि पहुंचा रहा हो तो गच्छवासी उसका निवारण नहीं कर सकते।

१२. जिनकल्प-साधना के सत्ताईस द्वार

सुय संघयणुवसग्गे, आतंके वेदणा कइ जणा य ।
 थंडिल्ल वसहि केच्चिर, उच्चारे घेव पासवणे ॥
 ओवासे तणफलए, सारवखणया य संठवणया य ।
 पाहुडि अग्गी दीवे, ओहाण वसे कइ जणा य ॥
 भिक्खायरिया पाणग, लेवालेवे तहा अलेवे य ।
 आर्यबिल पडिमाओ, जिणकप्पे मासकप्पे य ॥
 (बृभा १३८२-१३८४)

जिनकल्प की साधना के सत्ताईस बिन्दु हैं—

- | | | |
|-------------|----------------|-----------------|
| १. श्रुत | १०. उच्चार | १९. अवधान |
| २. संहनन | ११. प्रस्रवण | २०. कतिजन-पृच्छ |
| ३. उपसर्ग | १२. अवकाश | २१. भिक्षाचर्या |
| ४. आतंक | १३. तृणफलक | २२. पानक |
| ५. वेदना | १४. संरक्षणता | २३. लेपालेप |
| ६. कितने? | १५. संस्थापनता | २४. अलेप |
| ७. स्थण्डिल | १६. प्राभृतिका | २५. आचाम्ल |
| ८. वसति | १७. अग्नि | २६. प्रतिमा |
| ९. कब तक? | १८. दीप | २७. मासकल्प |

० श्रुत, संहनन... वेदना (धुवल्लोच...) ...

आयारवत्थुतइयं, जहन्नयं होइ नवमपुव्वस्स ।
 तहियं कालण्णाणं, दस उवकोसेण भिन्नाइं ॥

पढमिल्लुगसंघयणा, धिईएँ पुण वज्जकुडुसामाणा ।
जइ वि य उप्पज्जंते, सम्मं विसहंति ते उ उवसग्गे ।
रोगातंका चेवं, भइआ जइ होंति विसहंति ॥
अब्भोवगमा ओवक्कमा य तेसि वियणा भवे दुविहा ।
धुवलोआई पढमा, जरा-विवागाइ विइएक्को ॥
उच्चारे पासवणे, उस्सग्गं कुणइ थंडिले पढमे ।
तत्थेव य परिजुणणे, कयकिच्चो उज्झइ वत्थे ॥
अप्पमभिन्नं वच्चं, अप्पं लूहं च भोयणं भणियं ।
दीहे वि उ उवसग्गे, उभयमवि अथंडिले न करे ॥

(बृभा १३८५-१३९०)

सम्पूर्णदशपूर्वधरः पुनरमोधवचनतया प्रवचन-
प्रभावनापरोपकारादिद्वारेणैव बहुतरं निर्जरालाभमासाद-
यति अतो नासौ जिनकल्पं प्रतिपद्यते । (बृभा १३८५ की वृ)

१. श्रुत—जिनकल्पी का जघन्य श्रुत प्रत्याख्यान नामक नवम
पूर्व की तीसरी 'आचार' नामक वस्तु है। इसका अध्ययन
कर लेने से कालज्ञान हो जाता है। जिसका ज्ञान इससे न्यून
होता है, वह जिनकल्प स्वीकार नहीं कर सकता। उत्कृष्टतः
उसका श्रुतपरिमाण है—कुछ कम दश पूर्व।

संपूर्ण दशपूर्वी अमोधवचन वाले होते हैं। वे प्रवचन
प्रभावना के द्वारा बहुतर निर्जरा का लाभ प्राप्त कर लेते हैं,
अतः वे जिनकल्प साधना स्वीकार नहीं करते।

२. संहनन—उनके प्रथम (वज्रऋषभनाराच) संहनन होता है।
उनकी मनःप्रणिधान रूप धृति स्वीकृत साधना के निर्वहन में
वज्रकुड्य के समान होती है।

३, ४. उपसर्ग-आतंक—जिनकल्पी के उपसर्ग, रोग और
आतंक होते हैं, ऐसा एकान्ततः नियम नहीं है। यदि होते हैं
तो वे उनको समभाव से सहन करते हैं।

५. वेदना—उनके दो प्रकार की वेदना होती है—

० आभ्युपगमिकी—प्रतिदिनभावी लुंचन, आतापना, तपस्या
आदि से उत्पन्न वेदना।

० औपक्रमिकी—बुढ़ाया तथा कर्मविपाक जनित वेदना।

६. कितने?—वे अकेले ही साधना के लिए प्रस्थित होते हैं।

७. स्थण्डिल—वे उच्चार-प्रस्रवण का उत्सर्ग प्रथम (अनापात
और असंतोक) स्थण्डिल में करते हैं। प्रयोजन पूर्ण होने

पर वस्त्र का परिष्ठापन भी वहीं करते हैं।

वे शौचक्रिया से निवृत्त होकर आचमन नहीं लेते
क्योंकि उनका मल अत्यल्प और अभिन्न होता है। इसका
कारण है—अल्पमात्रा में रूक्ष भोजन करना। आचमन न
लेना उनका कल्प भी है। दीर्घकालीन उपसर्ग होने पर भी
वे उच्चार तथा प्रस्रवण का विसर्जन अस्थंडिल में नहीं
करते।

० वसति कतिजन ?

अममत्त अपरिक्कमा, नियमा जिणकप्पियाण वसहीओ ।
बिलेन ढक्कंति न खज्जमाणिं, गोणाई वारिंति न भज्जमाणिं ।
दारे न ढक्कंति न वग्गलिंति, ॥

किच्चिरकालं वसिहिह, इत्थ य उच्चारमाइए कुणसु ।

इह अच्छसु मा य इहं, तण-फलए गिण्हमे मा य ॥

सारक्खह गोणाई, मा य पडिंति उविवक्खहउ भंते! ।

अन्नं वा अभिओगं, नेच्छंतऽचियत्तपरिहारी ॥

पाहुडिय दीवओ वा, अगिग पगासो व जत्थ न संति ।

जत्थ य भणांति ठंते, ओहाणं देह गेहे वि ॥

(बृभा १३९१-१३९५)

८. वसति—जिनकल्पी ममत्वरहित होते हैं। उनकी वसति
नियमतः परिकर्मरहित होती है (उनके लिए वसति का
उपलेपन आदि परिकर्म नहीं किया जाता)। वे वसति की
चिंता से मुक्त रहते हैं, बिलों को धूलि आदि से नहीं ढकते,
पशुओं के द्वारा खाए जाने या तोड़े जाने पर भी वसति की रक्षा
के लिए पशुओं का निवारण नहीं करते, द्वार बंद नहीं करते,
अर्गला नहीं लगाते।

जब वसति की याचना करते हैं और गृहस्वामी
वसतिविषयक कुछेक नियंत्रण की बातें कहता है तो वे वैसी
वसति का परिहार कर देते हैं। यथा—

९. आप यहां कितने समय तक रहेंगे? १०, ११. इस स्थान
में आप मल-मूत्र का विसर्जन करें, उसमें नहीं। १२. आप
यहां बैठें, यहां नहीं। १३. अमुक तृणफलक आप काम में
लें, अमुक नहीं। १४. गाय-बैल आदि से वसति की रक्षा
करें। १५. वसति की टूट-फूट की उपेक्षा न करें।

१६-२०. प्राभृतिका आदि—जिस वसति में बलि दी जाती

हो, दीपक जलाया जाता हो, अग्नि आदि का जहां प्रकाश रहता हो, जहां गृहस्वामी यह कहे कि आप हमारे घर का भी ध्यान रखें और अनुज्ञा लेते समय यह पूछे कि आप कितने मुनि यहां रहेंगे—ऐसी वसति का जिनकल्पी परिहार करते हैं क्योंकि वे किसी के मन में सूक्ष्मता भी अप्रीति उत्पन्न नहीं करते।

० भिक्षाचर्या मासकल्प

तइयाइ भिक्खुचरिया, पग्गहिया एसणा य पुव्वुत्ता ।
 एमेव पाणगस्स वि, गिण्हइ अ अलेवडे दो वि ॥
 आर्यंबिलं न गिण्हइ, जं च अणार्यंबिलं पि लेवाडं ।
 न य पडिमा पडिवज्जइ, मासाई जा य सेसाओ ॥
 कप्पे सुत्त-उत्थविसारयस्स संघघण-विरियजुत्तस्स ।
 जिणकप्पियस्स कप्पइ, अभिगहिया एसणा निच्चं ॥
 छव्वीहीओ गामं, काउं एविकक्कियं तु सो अडइ ।
 वज्जेउं होइ सुहं, अनिययवित्तिस्स कम्पाई ॥
 एक्काए वसहीए, उक्कोसेणं वसति सत्त जणा ।
 अवरोप्परसंभासं, चयंति अन्नोन्नवीहिं च ॥

(बृभा १३९७-१४००, १४१२)

.....जहिं गहियं, तहि भुंजणे ।
 (निभा ४१४७)

२१, २२. भिक्षाचर्या-पानक—वे तीसरे प्रहर में भिक्षाचर्या करते हैं। उनकी एषणा अभिग्रहयुक्त होती है—सात पिण्डैषणाओं में से प्रथम दो को छोड़कर शेष पांच में से किसी एक के द्वारा आहार और दूसरी के द्वारा पानक ग्रहण करते हैं, शेष तीन का उस दिन प्रयोग नहीं करते।

जिनकल्पी जिस प्रहर में आहार ग्रहण करते हैं, उसी प्रहर में उसका परिभाग करते हैं।

२३, २४. लेपालेप-अलेप—जिनकल्पक लेपकृत ग्रहण करते हैं अथवा अलेपकृत ? वे आहार और पानक अलेपकृत (वल्ल, चने, सौवीर आदि) ग्रहण करते हैं, लेपकृत नहीं।

२५. आचाम्ल—वे आचाम्ल (खट्टा पानक) ग्रहण नहीं करते और लेपकृत अनाचाम्ल भी ग्रहण नहीं करते। (आचाम्ल से मलभेद आदि दोष उत्पन्न होते हैं।)

२६. प्रतिमा—वे मासिकी आदि भिक्षुप्रतिमा तथा भद्रा, महाभद्रा, आदि प्रतिमायें स्वीकार नहीं करते। (अपनी कल्पस्थिति का प्रतिपालन ही उनका विशेष अभिग्रह होता है।)

२७. मासकल्प—जिनकल्पी सूत्र और अर्थ में विशारद, संहनन और धृति से युक्त होते हैं इसलिए वे जिनकल्प से संबंधित अभिग्रहयुक्त एषणा में समर्थ होते हैं। साभिग्रह एषणा मासकल्पस्थिति अनुपालक के सम्भव है।

वे जिस ग्राम में मासकल्प करते हैं, उस ग्राम को छह वीथियों (भागों) में विभक्त कर प्रतिदिन एक-एक वीथि में भिक्षा के लिए जाते हैं। वे अनियतवृत्ति होते हैं, उनके उपर्युक्त विधि से एषणा करने से आधाकर्म आदि दोषों का परिहार सहजता से हो जाता है।

एक वसति में सात जिनकल्पी से अधिक नहीं रहते। वे एक साथ रहते हुए भी परस्पर सम्भाषण नहीं करते। भिक्षा के लिए एक वीथि में दो नहीं जाते।

१३. जिनकल्प : मासकल्प और पर्युषणाकल्प

दुविहो य मासकप्पो, जिणकप्पे शेरकप्पे य ।.....

.....एमेव जिणाणं पि य, कप्पो टितमड्डितो होति ॥

.....जिणाण नियमऽट्ट चउरो य ॥

.....जिणकप्पिया वि एवं, एमेव महाविदेहेसु ॥

मध्यमसाधूनां मासकल्पोऽस्थितः, पूर्वपश्चिमानां तु स्थितः ।.....प्रथमचरमतीर्थकरसत्कजिनकल्पिकानामृत-बद्धे नियमादष्टौ मासकल्पा वर्षासु चत्वारो मासा अन्यूनधिक्काः स्थितकल्पतथा मन्तव्याः, निरपवादानुष्ठान-परत्वादेशाम् ।.....महाविदेहेषु ये स्थविरकल्पिका जिन-कल्पिकाश्च तेऽप्यस्थितकल्पिकाः प्रतिपत्तव्याः ।

(बृभा ६४३१, ६४३२, ६४३४, ६४३६ वृ)

मासकल्प के दो प्रकार हैं—जिनकल्प और स्थविरकल्प। स्थविरकल्पी की भांति जिनकल्पी का मासकल्प भी स्थित और अस्थित—दोनों प्रकार का होता है। मध्यवर्ती साधुओं का मासकल्प-पर्युषणाकल्प अस्थित और प्रथम-चरम तीर्थवर्ती साधुओं का वह स्थित होता है।

प्रथम और चरम तीर्थकर के समय जिनकल्पी ऋतुबद्ध काल में नियमतः आठ मासकल्प करते हैं और वर्षाकाल में

पूरे चार मास—न न्यून न अधिक—एक स्थान पर रहते हैं। क्योंकि जिनकल्पी निरपवाद अनुष्ठानपरायण होते हैं। जो महाविदेह में स्थविरकल्पी—जिनकल्पी हैं, उनका मासकल्प—पर्युषणाकल्प मध्यवर्ती साधुओं की तरह अस्थित होता है।

१४. जिनकल्प-स्थिति के उन्नीस स्थान

खेत्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य॥
पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवने वि से अणुग्घाया।
कारण निष्पडिकम्मे, भत्तं पंथो य तइयाए॥
(बृभा १४१३, १४१४)

जिनकल्प की स्थिति (विद्यमानता) के उन्नीस बिन्दु हैं—१. क्षेत्र २. काल ३. चारित्र ४. तीर्थ ५. पर्याय ६. आगम ७. वेद ८. कल्प ९. लिंग १०. लेश्या ११. ध्यान १२. गणना (इन द्वारों की स्थिति वक्तव्य है) १३. अभिग्रह १४. प्रजाजना १५. मुण्डापना १६. मानसिक अपराध में भी चतुर्गुरु प्रायश्चित्त १७. कारण १८. निष्प्रतिकर्म १९. भिक्षा और विहार तृतीय पौरुषी में।

० जन्म और सद्भाव की अपेक्षा क्षेत्र-काल

जम्मण-संतीभावेसु होज्ज सव्वासु कम्मभूमिसु।
साहरणे पुण भइयं, कम्मे व अकम्मभूमे वा॥
ओसप्पिणीइ दोसुं, जम्मणतो तीसु संतिभावेणं।
उस्सप्पिणि विवरीया, जम्मणतो संतिभावे य॥
नोसप्पिणिउस्सप्पे, भवंति पलिभागतो चउत्थम्मि।
काले पलिभागेसु य, साहरणे होति सव्वेसु॥
(बृभा १४१५-१४१७)

१. क्षेत्र—जन्म और सद्भाव की अपेक्षा जिनकल्पी सब कर्मभूमियों में होते हैं। देव आदि के द्वारा संहरण होने पर उनका सद्भाव कर्मभूमि में भी हो सकता है, अकर्मभूमि में भी हो सकता है।

२. काल—अवसर्पिणी काल में उत्पन्न हों तो उनका जन्म तीसरे-चौथे अर में होता है। सद्भाव की अपेक्षा से जिनकल्पी तीसरे, चौथे और पांचवें अर में भी हो सकते हैं। यदि उत्सर्पिणीकाल में उत्पन्न हों तो दूसरे, तीसरे, चौथे अर में

जन्म लेते हैं। जिनकल्प का स्वीकार तीसरे और चौथे अर में ही करते हैं, क्योंकि दूसरे अर में तीर्थ नहीं होता।

जहां काल अवस्थित है—न उत्सर्पिणी काल है और न अवसर्पिणीकाल है, वैसे चार प्रतिभाग हैं, सात क्षेत्र हैं—

१. सुषम-सुषमा प्रतिभाग — देवकुरु और उत्तरकुरु में।
२. सुषमा प्रतिभाग — हरिवर्ष और रम्यकवर्ष में।
३. सुषम-दुःषमा प्रतिभाग — हैमवत और ऐरण्यवत में।
४. दुःषम-सुषमा प्रतिभाग — महाविदेह में।

जन्म और सद्भाव से जिनकल्पी चतुर्थ प्रतिभाग में होते हैं, प्रथम तीन में नहीं। महाविदेह में उत्पन्न जिनकल्पी सुषम-सुषमा आदि छहों कालविभागों में संहरण की अपेक्षा से हो सकते हैं। भरत-ऐरवत और महाविदेह में संभूत जिनकल्पी संहरण की अपेक्षा से देवकुरु से संबंधित आदि सभी प्रतिभागों में हो सकते हैं।

.....जिणकाले सो उ केवलीणं वा ।.....

जिनकल्पको नियमाद् जिनस्य—तीर्थकरस्य काले वा स्याद् अपरेषां वा गणधरादीनां केवलानां काले।

(बृभा ११७२ वृ)

जिनकल्पिक नियमतः तीर्थकर के समय में अथवा गणधर आदि केवलियों के समय में होते हैं।

० चारित्र वेद

घट्टमे वा बीये वा, पडिवज्जइ संजमम्मि जिणकप्पं।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरे संजमे होज्जा॥
नियमा होइ सतित्थे, गिहिपरियाए जहन्न गुणतीसा।
जइपरियाए वीसा, दोसु वि उक्कोस देसुणा॥
न करिति आगमं ते, इत्थीवज्जो उ वेदो इक्कतरो।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा॥

(बृभा १४१८-१४२०)

३. चारित्र—प्रथम और अंतिम तीर्थकर के समय में छेदो-पस्थापनीय चारित्र में तथा मध्यवर्ती तीर्थकरों के समय में सामायिक चारित्र में जिनकल्प स्वीकार करते हैं। स्वीकार के पश्चात् उपशमश्रेणी में वर्तमान के सूक्ष्मसंपराय चारित्र तथा यथाख्यातचारित्र भी हो सकता है।

(निर्ग्रथ के छह भेद हैं—पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना-कुशील, कषायकुशील, निर्ग्रथ और स्नातक। जिनकल्पी में बकुश, प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील—ये तीनों प्रकार हो सकते हैं। शेष तीन नहीं।—भ २५/३००-३०३)

४, ५. तीर्थ और पर्याय—जिनकल्पी नियमतः तीर्थ में होते हैं (तीर्थ का विच्छेद होने पर या अनुत्पन्न तीर्थ में नहीं होते)। जिनकल्पग्रहण के समय उनका जन्मपर्याय जघन्यतः उनतीस वर्ष का और उसमें भी मुनिपर्याय जघन्यतः बीस वर्ष का होता है। उत्कृष्टतः जन्मपर्याय और मुनिपर्याय देशोन पूर्वकोटि हो सकता है।

६. आगम—जिनकल्प स्वीकार करने के पश्चात् वे नए श्रुत का अध्ययन नहीं करते, किन्तु चित्तविक्षेप से बचने के लिए पूर्व अधीत श्रुत का सम्यक् अनुस्मरण करते हैं।

७. वेद—प्रतिपत्तिकाल में स्त्रीवेदवर्जित पुरुषवेद या असंक्लिष्ट नपुंसकवेद होता है। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा वह सवेद भी होता है और अवेद भी।

जिनकल्पी उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु उपशमश्रेणी में वेद के उपशांत होने पर वह अवेद होता है—

उवसमसेढीए खलु, वेदे उवसामियम्मि उ अवेदो।

न उ खविए तज्जम्मे, केवलपडिसेहभावाओ॥

पञ्चवस्तु गाथा १४९८)

० कल्प प्रायश्चित्त

ठियमट्टियम्मि कप्पे, लिंगे भयणा उ दव्वलिंगेण।

तिहि सुद्धाहि पढमया, अपढमया होज्ज सव्वासु॥

धम्मणेण उ पडिवज्जइ, इअेसु वि होज्ज इत्थ ज्ञाणेसु।

पडिवत्ति सयपुहुत्तं, सहसपुहुत्तं च पडिवन्ने॥

भिवक्खायरियाईया, अभिग्गहा नेव सो उ पव्वावे।

उवदेसं पुण कुणती, धुवपव्वाविं वियाणित्ता॥

मनसाऽपि सूक्ष्ममतीचारमापन्नस्यास्य सर्वजघन्यं

चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम्। (बृभा १४२१-१४२३ वृ)

८. कल्प—प्रथम और अंतिम तीर्थकर के समय में जिनकल्पी स्थितकल्प वाले, मध्यम तीर्थकरों के समय तथा महाविदेह में अस्थितकल्प वाले होते हैं।

९. लिंग—जिनकल्प स्वीकार करते समय द्रव्य और भाव—दोनों लिंग होते हैं। स्वीकार के बाद भाव लिंग निश्चित होता है। द्रव्यलिंग कभी जीर्णता आदि कारणों से नहीं भी होता।

१०. लेश्या—प्रतिपत्तिकाल में तीन प्रशस्त लेश्यायें होती हैं। पूर्वप्रतिपन्न जिनकल्पी सभी लेश्याओं—शुद्ध-अशुद्ध में वर्तमान होता है। केवल अशुद्ध लेश्याओं में वर्तमान होते हैं। मुनि न अत्यंत संक्लिष्ट लेश्याओं में होता है और न लंबे समय तक उनमें रहता है।

११. ध्यान—वे प्रवर्धमान धर्म्यध्यान में जिनकल्प स्वीकार करते हैं। पूर्वप्रतिपन्न मुनियों में कर्म की विचित्रता के कारण आर्तध्यान और रौद्रध्यान भी हो सकता है। उनमें कुशल परिणामों की तीव्रता होने से आर्तध्यान और रौद्रध्यान प्रायः निरनुबन्ध होते हैं।

१२. गणना—एक समय में जिनकल्प को स्वीकार करने वालों की संख्या शतपृथक्त्व (२०० से ९००) और पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा यह संख्या सहस्रपृथक्त्व (२००० से ९०००) हो सकती है।

प्रतिपद्यमान जघन्यतः एक, दो, तीन आदि भी हो सकते हैं किन्तु पूर्वप्रतिपन्न तो जघन्यतः भी सहस्रपृथक्त्व ही होते हैं, क्योंकि पांच महाविदेह में सदा इतने ही रहते हैं। १३. अभिग्रह—वे पेटा, अर्धपेटा आदि गोचरचर्या संबंधी या अन्य इत्वरिक अभिग्रह स्वीकार नहीं करते। जिनकल्प की साधना ही उनका यावत्कथिक अभिग्रह होता है। उनके गोचरचर्या आदि सारे उपक्रम प्रतिनियत और निरपवाद होते हैं। उनका पालन ही उनके लिए परम विशुद्धिस्थान है।

१४, १५. प्रब्राजना—मुण्डापना—वे किसी को प्रब्रजित और मुण्डित नहीं करते—यह उनकी कल्पमर्यादा है। यदि यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक व्यक्ति अवश्य प्रब्रजित होगा तो उसे उपदेश देते हैं और संविग्न गीतार्थ के पास भेज देते हैं।

१६. प्रायश्चित्त—मानसिक सूक्ष्म अतिचार के लिए भी उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

(जिनकल्पी को निरपेक्ष प्रायश्चित्त—द्र प्रायश्चित्त)

० कारण (निरपवाद), निष्प्रतिकर्म कायोत्सर्ग निष्पडिकम्मसरीरा, न कारणं अत्थि किंचि नाणाई। जंघाबलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि नाऽऽवज्जे॥

अमी भगवन्तो नाक्षिमलादिकमप्यपनयन्ति, न वा चिकित्सादिकं कारयन्ति। न च तेषां कारणं.....विद्यते यद्बलात् ते द्वितीयपदासेवनं विदध्युः।.....तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाकालो विहारकालश्चास्य भवति, शेषासु तु पौरुषीषु प्रायः कायोत्सर्गेणाऽऽस्ते। (बृभा १४२४ वृ)

१७. कारण—ज्ञान आदि का पुष्ट आलम्बन नहीं होने के कारण वे अपवाद का सेवन नहीं करते।

१८. निष्प्रतिकर्म—वे अपने शरीर का परिकर्म नहीं करते। आंख आदि के मल का अपनयन भी नहीं करते। रोग होने पर चिकित्सा नहीं करवाते।

१९. आहार-विहार—उनका भिक्षाकाल और विहारकाल है— तीसरी पौरुषी। शेष पौरुषी में वे प्रायः कायोत्सर्ग करते हैं। जंघाबल क्षीण होने पर वे विहार नहीं करते हुए भी किसी प्रकार का दोष-सेवन नहीं करते।

(जिनकल्पी के पैरों में यदि कांटा चुभ जाए या आंखों में धूलि गिर जाए तो भी वे अपने हाथों से न कांटा निकालते हैं और न धूल ही पोंछते हैं। यदि कोई दूसरा व्यक्ति वैसा करता है तो वे मौन रहते हैं।

जिनकल्पी अकेले रहते हैं और धर्म्य-शुक्ल ध्यान में लीन रहते हैं। वे सम्पूर्ण कषाय के त्यागी, मौनव्रती और कन्दरावासी होते हैं। ग्रन्थियों से रहित, निस्नेह, निस्पृह और वाग्गुप्त होते हैं। वे सदा जिन भगवान् की भांति विहरण करते रहते हैं।—भावसंग्रह १२०, १२२, १२३

जिनकल्पिक प्रायः अपवाद का सेवन नहीं करते। जंघाबल की परिक्षीणता के कारण वे विहरण नहीं करते हुए भी आराधक हैं।—विभावृ पृ ७)

१५. जिनकल्पी की उपधि के प्रकार

पत्तं पत्ताबंधो, पायदुवणं च पायकेसरिया।
पडलाइँ रइत्ताणं, च गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चव होइ मुहपोत्ती।
एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाणं तु ॥
(बृभा ३९६२, ३९६३)

जिनकल्पी के बारह प्रकार की उपधि होती है—

१. पात्र—प्रतिग्रह।

२. पात्रबंध—चोकोर वस्त्र, जिसमें पात्र रखा जाता है।
३. पात्रस्थापन—पात्र रखने का कंबलमय उपकरण।
४. पात्रकेसरिका—पात्र-प्रतिलेखन का वस्त्र।
५. पटलक—भिक्षाचर्या के समय पात्र को ढांकने का वस्त्र।
६. रजस्त्राण—पात्र-वेष्टक।
७. गोच्छक—पात्र के ऊपर देने का कंबलमय उपकरण।
ये सात उपकरण पात्र के निर्योग—परिकरभूत हैं।
- ८, ९. दो सौत्रिक प्रावरण। ११. रजोहरण।
१०. ऊर्णामय प्रावरण। १२. मुखपोतिका।

० उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्य उपधि

चत्तारि य उक्कोसा, मज्झिमग-जहन्मगा वि चत्तारि।
कप्पाणं तु पमाणं, संडासो दो य रयणीओ ॥
(बृभा ३९६६)

जिनकल्पिक के चार उपकरण उत्कृष्ट होते हैं—तीन कल्प और एक पात्र। चार उपकरण मध्यम होते हैं—पटल, रजस्त्राण, रजोहरण और पात्रबन्ध चार उपकरण जघन्य होते हैं—मुखवस्त्र, पात्रकेसरिका, पात्रस्थापन और गोच्छक।

उनका प्रत्येक कल्प (प्रावरण) निर्मुष्टिक दो हाथ लंबा तथा डेढ़ हाथ चौड़ा होता है—यह उनके कल्प का प्रमाण है।

.....जं खंडियं दढं तं, छम्मासे दुब्बलं इयरं ॥
(निभा ५७९२)

वे वैसा मजबूत खंडित (एक पार्श्व से छिन्न) वस्त्र ग्रहण करते हैं, जिसे छह मास तक धारण किया जा सके, जीर्ण वस्त्र ग्रहण नहीं करते।

१६. उपधि के विकल्प

ओघोवधी

जिणाणं.....।

जिणकप्पिया उदुविधा, पाणीपात्ता पडिग्गहधरा य।
पाउरणमपाउरणा, एक्केक्का ते भवे दुविधा ॥
दुग-तिग-चउक्क-पणं, णव-दस-एक्कसव बाससंगं।
एते अट्ट विकप्पा, जिणकप्पे होंति उवहिस्स ॥
अहवा दुगं य णवगं, उवकरणे होंति दुणिण तु विकप्पा।
पाउरणं वज्जित्ताण विसुद्धजिणकप्पियाणं तु ॥
(निभा १३८९-१३९२)

जिनकल्पी के दो प्रकार हैं—पाणिपात्र और पात्रधारी। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—सप्रावरण और अप्रावरण। उनके केवल औधिक उपधि होती है, उसके आठ विकल्प हैं—

१. दो—रजोहरण और मुखवस्त्र। यह अप्रावरण पाणिपात्र की जघन्य उपधि है। सप्रावरण पाणिपात्र के तीन विकल्प हैं—
२. तीन—रजोहरण, मुखपोतिका, एकसौत्रिक प्रावरण।
३. चार—रजोहरण, मुखपोतिका, सूती कम्बल, ऊनी कम्बल।
४. पांच—रजोहरण, मुखपोतिका, दो सूती कम्बल, एक ऊनी कम्बल।
५. नौ—रजोहरण, मुखपोतिका तथा पात्रसंबंधी सात उपकरण—ये अप्रावरण पात्रधारी जिनकल्पी के होते हैं।

सप्रावरण पात्रधारी के तीन विकल्प हैं—

६. दस—उपर्युक्त नौ तथा एक सूत्रमय कल्प।
७. ग्यारह—उपर्युक्त नौ तथा दो सौत्रिककल्प।
८. बारह—उपर्युक्त नौ तथा तीन सौत्रिक कल्प।

अथवा अप्रावरण जिनकल्पी की उपधि के दो विकल्प हैं—दो और नौ। प्रावरणवर्जित को विशुद्ध जिनकल्पी कहा गया है।

१७. प्रावरण-विधि

.....संडासो सस्थिए..... ।.....

संडासछिद्देण हिमादि एति, गुता वऽगुता वि य तस्स सेज्जा ।
हत्थेहि सो सोत्थिकडेहि घेत्तुं, वत्थस्स कोणे सुवई व झाती ॥

जिनकल्पिकस्योत्कुटुकनिविष्टस्य जानुसंदंश-कादारभ्य पुतौ पृष्ठं च छादयित्वा स्कन्धोपरि यावता प्राप्यते एतावत् तदीयकल्पस्य दैर्घ्यप्रमाणम्, अयं च संदंशक उच्यते। तथा तस्यैव कल्पस्य द्वावपि पृथुत्वकर्णौ हस्ताभ्यां गृहीत्वा द्वे अपि बाहुशीर्षे यावत् प्राप्यते, तद्यथा—दक्षिणेन हस्तेन वामं बाहुशीर्षं वामेन दक्षिणम्, एष द्वयोरपि कलाचिकयोर्हृदये यो विन्यासविशेषः स स्वस्तिकाकार इति कृत्वा स्वस्तिक उच्यते, एतत् पृथुत्वप्रमाणमवसात-व्यम्। (बृभा ३९६७, ३९६८ वृ)

जिनकल्पिक के प्रावरण के दो रूप हैं—संदंशक तथा स्वस्तिक। जो कल्प उत्कुटुक आसन में बैठे हुए मुनि के जानु संदंश से प्रारम्भ होकर नितंब और पीठ को आच्छादित करते हुए

कंधे के ऊपर आ जाता है, इसे संदंशक कहा जाता है। यह कल्प की लम्बाई का प्रमाण है। उसी कल्प पृथुत्व के दोनों छोरों को हाथों से पकड़कर भुजाओं के ऊपर तक लेने से— दाएं हाथ से वाम बाहुशीर्ष और वाम हाथ से दाएं बाहुशीर्ष को प्राप्त करने से हृदय पर जो विन्यास विशेष होता है, वह स्वस्तिकाकार होने से स्वस्तिक कहलाता है। यह कल्प की चौड़ाई का प्रमाण है।

जिनकल्पिक मुनि की वसति कपाटयुक्त अथवा खुली भी हो सकती है, अतः संदंशक-छिद्र से शीतवायु आदि का प्रवेश हो सकता है। उससे रक्षा के लिए वह स्वस्तिककृत हाथों से वस्त्र के दोनों कोणों से ग्रहण कर उत्कुटुकासन में ही सोता है अथवा ध्यान करता है।

१८. जिनकल्पी-स्थविरकल्पी का संस्तारक

अंगुटु पोरमेत्ता, जिणाण थेराण होति संडासो ।.....
संथारुत्तरपट्टो, पकप्प कप्पो तु अत्थुरणवज्जो ।
तिप्पमितिं च विकप्पो, णिव्कारणतो य तणभोगो ॥
पदेसिणीए अंगुटुपोरट्टिताए जे घेप्पंति तत्तिथा
जिणकप्पियाण घेप्पंति । पदेसिणिअंगुटुअग्गमिलिएसु
संडासो । थेराण संडासमेत्ता घेप्पंति ।.....जिणकप्पियाण
अत्थुरणवज्जो कप्पो, ते ण सुवंति । उक्कुडुया चेव
अच्छंति । (निभा १२२७, १२३० चू)

जिनकल्पी अंगुष्ठ के पर्व पर प्रतिष्ठित प्रदेशिनी (तर्जनी) का जितना अपांतराल है, उतने प्रमाण में तृण ग्रहण करते हैं।

प्रदेशिनी और अंगुष्ठ का अग्र भाग मिलने पर संडास (संदंश) कहलाता है। स्थविरकल्पी संडास मात्र तृण ग्रहण करते हैं।

जिनकल्पी के आस्तरणवर्जित कल्प होता है, क्योंकि वे सोते नहीं हैं, उत्कुटुकासन में ही रहते हैं।

स्थविरकल्पी संस्तारक पर उत्तरपट्ट बिछाकर सोते हैं—यह प्रकल्प है। वे तीन आस्तरण करते हैं या निष्कारण तृणभोग करते हैं—यह विकल्प है।

० उत्कुटुकासन : निद्रा-जागरण

सो पुण उक्कुडुतो चेव अच्छइ प्रायो जग्गति य ।

केइ भणंति—उक्कुडुओ चेष णिहाइओ सुवइ ईसिमेत्तं
ततियजामे । (निभा ५७९३ की चू)

जिनकल्पी उकडू आसन में ही रहते हैं और प्रायः धर्मजागरिका से जागृत रहते हैं। एक अभिमत के अनुसार वे नींद आने पर रात्रि के तृतीय प्रहर में थोड़े समय के लिए उकडू आसन में ही नींद लेते हैं।

जिनशासन— निर्ग्रथ-प्रवचन।

“इणमेव निगग्घे पावयणे सच्चे अणुत्तरे पडिपुण्णे केवले संसुद्धे णेआउए सल्लागतणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे निज्जाणमग्गे निव्वाणमग्गे अविताहमविसंधी सव्व दुक्ख-प्पहीणमग्गे । इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेति ।” (दशा १०/३२)

यह निर्ग्रथ प्रवचन—जिनशासन सत्य, अनुत्तर, प्रतिपूर्ण, अद्वितीय, पवित्र, मोक्ष तक पहुंचाने वाला एवं अंतःशून्य को काटने वाला है, सिद्धि का मार्ग, मुक्ति का मार्ग, निर्वाण का मार्ग और निर्वाण का मार्ग है। अविताह, अविच्छिन्न और सब दुःखों के क्षय का मार्ग है। इस निर्ग्रथ प्रवचन में स्थित जीव सिद्ध हो जाते हैं, प्रशांत हो जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं और सब दुःखों का अंत कर देते हैं।

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणयं ॥
(बुभा ४५८४)

जैसा तुम अपने लिए चाहते हो, वैसा दूसरों के लिए चाहो। जिसे तुम अपने लिए नहीं चाहते, उसे दूसरों के लिए भी मत चाहो—इतना ही जिनशासन है।

जिणवयणमप्पमेयं, मधुरं कण्णाहुत्तिं सुणेंताणं ।
सक्का हु साहुमज्जे, संसारमहोदधिं तरिउं ॥
(व्यभा ४३५१)

जिनवचनों का माधुर्य अपरिमित होता है, वे अग्नि में घृताहुति की भांति कानों को तृप्त करते हैं। जो साधुओं के पास उन वचनों को सुनते हैं, वे संसारसमुद्र तर सकते हैं।

(जो जिनवचन में अनुरक्त हैं तथा जिनवचनों का

भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असंक्लिष्ट होकर परीत-संसारी हो जाते हैं।—उ ३६/२६०

जिनवचन—जिनशासन अमृत तुल्य औषध है। उससे विषयसुख का विरेचन, जरा-मरण और व्याधि का हरण तथा सब दुःखों का क्षय होता है।—मूला २/९५)

जीत व्यवहार—आगम में अनिर्दिष्ट प्रायश्चित्त का प्रयोजनवश संविग्न गीतार्थ द्वारा प्रवर्तन और बहुतों के द्वारा अनेक बार उसका अनुवर्तन। द्र व्यवहार

जीवनिकाय—पृथ्वीकाय आदि जीवों के छह वर्ग।

१. छह जीवनिकाय

* छहजीवनिकाय-निरूपक

द्र तीर्थकर

२. पृथ्वी आदि की संवेदनशीलता

३. पृथ्वी आदि का शरीरपरिमाण

४. स्नेह (अपकाय)-वर्षण का काल

० कृष्णराजि-तमस्काय

० जल में वनस्पति की नियमा

५. अग्नि के लक्षण

६. अग्नि में वायु की नियमा

७. अग्निप्रज्वालक बहुकर्मी

८. वायुकाय का शस्त्र

९. वायुकायिक हिंसा के स्थान

१०. वनस्पति आदि की सजीवता

० वनस्पति के प्रकार : प्रत्येक, साधारण (अनंत)

० अनंत वनस्पति के लक्षण

० प्रत्येक वनस्पति के लक्षण

११. वृक्ष के प्रकार

० वृक्ष के दस अंग

१२. बीज : परीत-अनंत

० मूल-अग्र-प्रलम्ब

१३. आहार में वनस्पति की प्रधानता

* उत्पल आदि से पित्त आदि का शमन

* ब्राह्मी से मेधा-विकास

द्र चिकित्सा

१४. आम के प्रकार : पक्व-अपक्व-मीमांस

१५. पृथ्वी आदि के अचित्त होने के हेतु

१६. सच्चित्त-अचित्त जल के विकल्प
 १७. उत्पल आदि के अचित्त होने का कालमान
 १८. शालि आदि का योनिविध्वंस
 १९. सूक्ष्म जीवों के आठ प्रकार
 ○ प्राणसूक्ष्म यावत् पुष्यसूक्ष्म
 ○ अण्डसूक्ष्म-लयनसूक्ष्म-स्नेहसूक्ष्म
 २०. त्रस के चार प्रकार
 २१. छहकाय : संयम और तीर्थ
 * छहकायविराधना और प्रायश्चित्त द्र प्रायश्चित्त

१. छह जीवनिकाय

....छज्जीवनिकायाइं.....तं जहा—पुढविकाए,
 आउकाए, तेउकाए, वाउकाए, वणस्सइकाए, तसकाए।
 (आचूला १५/४२)

पुढवि-दग-अगणि-मारुय-वणस्सति-तसेसु होति सच्चित्ते।
 (व्यभा ४०११)

छह जीवनिकाय हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय,
 वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय।

* पृथ्वीकाय आदि की परिभाषा, प्रकार, आयुस्थिति,
 जीवत्वसिद्धि आदि द्र श्रीआको १ जीवनिकाय

२. पृथ्वी आदि की संवेदनशीलता

थेरुवमा अक्कंते, मत्ते सुत्ते व जारिसं दुक्खं।
 एमेव य अव्यत्ता, वियणा एगिंदियाणं तु॥
 भोयणे वा रुक्खेते वा जहा णेहो तणुत्थितो।
 पाबल्लं नेहकज्जेसु कारेंतुं जे अपच्चलो॥
 कोहाई परिणामा, तहा एगिंदियाण जंतूणं।
 पाबल्लं तेसु कज्जेसु कारेंतुं जे अपच्चला॥
 (निभा ४२६३-४२६५)

एक जराजीर्ण शतायु स्थविर को बलवान् तरुण अपनी
 पूरी शक्ति के साथ दोनों हाथों से आक्रांत करता है, उस समय
 स्थविर को जैसी वेदना होती है, पृथ्वीकाय आदि को संघट्टन
 के समय उससे भी अधिक वेदना होती है।

उन्मत्त और सुप्त पुरुष के अव्यक्त सुखदुःखानुभव
 की तरह एकेन्द्रिय जीवों में अव्यक्त चेतना होती है।

जैसे रूक्ष भोजन में भी सूक्ष्म स्नेह गुण होता है, जो

अव्यक्तता के कारण लक्षित नहीं होता, किन्तु उस आहार से
 शरीर उपचिंत होता है। वैसे ही पृथ्वी में सूक्ष्म स्नेह गुण
 होता है, जो अत्यंत स्वल्प मात्रा में होता है। उससे प्रचुर
 स्नेह-सापेक्ष कार्य (शरीर का भक्षण आदि) शक्य नहीं है।

एकेन्द्रिय के क्रोध आदि के परिणाम, साकार-अनाकार
 उपयोग, सात-असात वेदना—ये सब भाव सूक्ष्मता के कारण
 उपलक्षित नहीं होते, अतिशयज्ञानी ही इन्हें जान सकता है।

जैसे संज्ञी पर्याप्त व्यक्ति क्रोधोदय होने पर आक्रोश
 करता है, ललाट पर त्रिवली करता है, भृकुटि चढ़ाता है,
 एकेन्द्रिय वैसा प्रचण्ड क्रोध आदि करने में असमर्थ है।

* ज्ञानविकास का क्रम : पृथ्वी आदि द्र ज्ञान
 (पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव अमनस्क होते हैं। इन
 जीवों में मन का ज्ञान नहीं होता, फिर भी संवेदन होता है। ये
 जीव छह स्थानों का अनुभव या संवेदन करते हैं—

- | | |
|-----------------------|------------------------------|
| १. इष्ट-अनिष्ट स्पर्श | ५. इष्ट-अनिष्ट यशःकीर्ति |
| २. इष्ट-अनिष्ट गति | ६. इष्ट-अनिष्ट उत्थान, कर्म, |
| ३. इष्ट-अनिष्ट स्थिति | बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम |
| ४. इष्ट-अनिष्ट लावण्य | — भ १४/६३ |

इनमें भूख, भय, क्रोध, लोभ आदि संवेगों से उत्पन्न
 संवेदन होता है।—श्रीआको १ संज्ञा

पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायु-
 कायिक और वनस्पतिकायिक—ये एक इन्द्रिय वाले जीव
 हैं। ये जीव भी आन, अपान तथा उच्छ्वास और निःश्वास
 करते हैं। ये जीव द्रव्य की अपेक्षा से अनंतप्रदेशी, क्षेत्र की
 अपेक्षा से असंख्येयप्रदेशावगाढ, काल की अपेक्षा से किसी
 भी स्थिति वाले और भाव की अपेक्षा से वर्ण-गंध-रस-
 स्पर्श-युक्त पुद्गल द्रव्यों का श्वासोच्छ्वास लेते हैं, व्याघात
 न हो तो छहों दिशाओं में और व्याघात हो तो तीन, चार या
 पांच दिशाओं में श्वासोच्छ्वास करते हैं। वायुकायिक जीव
 वायुकाय का ही उच्छ्वास और निःश्वास करते हैं।

वनस्पति के जीव श्वास लेते हैं—इसकी स्वीकृति
 वैज्ञानिक जगत् में भी है। शेष पृथ्वी आदि का जीवत्व भी
 सम्मत नहीं है, फिर श्वास लेने का प्रश्न ही नहीं उठता।

भगवान महावीर ने एकेन्द्रिय जीवों द्वारा श्वास लेने
 के सिद्धांत की स्थापना ही नहीं की है, किन्तु उसका पूरा

विवरण दिया है। श्वास के पुद्गलों की एक स्वतंत्र वर्गणा है। उसके पुद्गल ही श्वास के काम में आते हैं।

सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है—वायुकायिक जीव जो श्वास लेते हैं, वह वायुकाय है। क्या वायुकाय भी वायुकाय का श्वास लेता है? यदि एक वायुकाय का जीव दूसरे वायुकाय का श्वास लेगा, दूसरा तीसरे का, इस शृंखला में अंतिम वायुकाय का जीव किसका श्वास लेगा? इस प्रकार अनवस्था नामक तर्क दोष आ जाएगा।.....

वायुकाय शब्द का प्रयोग दो अर्थों में मिलता है—

१. वायु के जीवों का निकाय।

२. उच्छ्वास और निःश्वास।

वायुकाय सचेतन है और श्वासवायु अचेतन है। पुद्गल की आठ वर्गणाओं में श्वासोच्छ्वास वर्गणा का स्वतंत्र अस्तित्व है। उसका वायुकाय के जीवों से कोई संबंध नहीं है। वायुकाय के जीव श्वास में श्वासवर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण करते हैं, किसी दूसरे वायुकाय जीव का ग्रहण नहीं करते, इसलिए यहां अनवस्था दोष का कोई प्रसंग नहीं है। श्वासवर्गणा के पुद्गलों के सूक्ष्म होने के कारण उन्हें वायु कहा जाता है, किन्तु वास्तव में वे वायुकाय के जीव नहीं हैं।—भ २/२-८ भाष्य)

३. पृथ्वी आदि का शरीरपरिमाण

.....कलमेत्तं पुण जायइ, वणवज्जाणं असंखेहिं॥

वणस्सइकायमेत्तं वज्जित्ता सेसेगेदियकायाणं असंखेज्जाणं जीवसरीराणं समुदयसमितिसमागमेणं, कलमेत्तं लब्भति। (निभा ४०३५ चू)

वनस्पतिकाय को छोड़कर शेष एकेन्द्रियकायों के असंख्येय जीवशरीरों के समुदयसमितिसमागम से मात्र चने जितना शरीर बनता है।

(समुदय—समूह। समिति—अव्यवहित मिलना। समागम—परस्पर संबद्धता। समूह बनने के बाद भी उसमें बिखराव हो सकता है, इसलिए उनका अव्यवहित सम्पर्क बताने के लिए समिति शब्द की सार्थकता है। अव्यवहित सम्पर्क में भी निरपेक्षता संभव है। परस्पर संबद्ध होने के बाद उनकी विशिष्ट परिणति अर्थात् एकात्मकता बनती है।—अनु ७२ का टि

औदारिक शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल का

असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट अवगाहना सातिरेक हजार योजन है। पृथ्वीकाय यावत् वायुकाय की उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग तथा वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट अवगाहना सातिरेक हजार योजन है। द्वीन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन, त्रीन्द्रिय की तीन गव्यूत, चतुरिन्द्रिय की चार गव्यूत, पंचेन्द्रियतिर्यंच की हजार योजन और मनुष्य की तीन गव्यूत है।—प्रज्ञा २१/३८-४८

औदारिक शरीर रचना के अनेक प्रकार हैं—

जीव	शरीर
○ एकेन्द्रिय	○ औदारिक शरीर
○ द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय	○ अस्थि-मांस-शोणितबद्ध औदारिक शरीर।
○ पंचेन्द्रिय	○ अस्थि-मांस-शोणित-स्नायु-शिराबद्ध औदारिक शरीर।
	—स्था २/१५५-१६०)

* देव आदि का शरीर और लक्षण द्र शरीर

४. स्नेह (अप्काय) वर्षण का काल

पढमचरिमाउ सिसिरे, गिम्हे अद्धं.....।.....

स्नेहः—अवश्यायः आदिशब्दाद् महिका-हिम-वर्षादिपरिग्रहः।.....शिशिरकाले कालस्य स्निग्धतया प्रथमायां चरमायां च पौरुष्यामवश्यायादिपतनभावतः... उष्णकाले तु प्रथमायाः पौरुष्या अर्थे चरमायास्तु पौरुष्याः पश्चिमेऽर्द्धे...कालस्य रूक्षतया तत ऊर्ध्वं पश्चाच्चावश्यायादिसम्भवात्। (बृभा ५२१ वृ)

स्नेह—ओस कोहरा, हिमवर्षा आदि जल के प्रकार हैं। शिशिरकाल में काल की स्निग्धता के कारण प्रथम और अंतिम प्रहर में तथा ग्रीष्मकाल में काल की रूक्षता के कारण प्रथम और अंतिम प्रहर के क्रमशः प्रथम और अंतिम आधे-आधे भाग में स्नेह का गिरना संभव है।

(सूक्ष्म स्नेहकाय ऊंचे, नीचे और तिरछे—तीनों लोकों में सदा संगठित रूप में गिरता है और वह शीघ्र ही विध्वंस को प्राप्त हो जाता है। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वह तमस्काय से गिरता है और पूरे वातावरण में व्याप्त हो जाता है।—भ १/३१४-३१६ का भाष्य)

० कृष्णराजि-तमस्काय

खेत्तनिसीहं...कणहरातीओ। ता अणेण भगवई-सुत्ताणुसारेण णेया। तमुक्काओ। सो य दव्वओ आउ-क्काओ...भगवतीसुत्ताणुसारेण णेओ। कणह-तमु-णिरता अप्पगासित्ता खेत्त-णिसीहं भवति। (निभा ६८ की चू)

कृष्णराजि, तमस्काय और सीमंतक आदि नरक—ये अप्रकाशधर्मा होने से क्षेत्रनिशीथ हैं। कृष्णराजि और तमस्काय भगवती सूत्र में विवेचित हैं। तमस्काय द्रव्यतः अप्काय है।

(तमस्काय जल का परिणमन है। जम्बूद्वीप से बाहर तिरछी दिशा में असंख्य द्वीप-समुद्रों को पार करने पर अरुणवर द्वीप के बहिर्वर्ती वेदिका के छोर से आगे जो अरुणोदय समुद्र है, उसमें बयालीस हजार योजन अवगाहन करने पर जल के ऊपर के सिरे से एक प्रदेश वाली श्रेणी निकली है। यहां से तमस्काय उठता है। वह सतरह सौ इक्कीस योजन ऊपर जाता है। उसके पश्चात् तिरछा फैलता हुआ सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र—इन चारों स्वर्गलोकों को घेरकर ऊपर ब्रह्मलोक कल्प के रिष्ट विमान के प्रस्तट तक पहुंच जाता है। यहां तमस्काय समाप्त होता है।

तमस्काय का नीचे से शराव के तल का तथा ऊपर मुर्गे के पिंजरे का संस्थान है। तमस्काय दो प्रकार का है—संख्यात योजन विस्तृत और असंख्यात योजन विस्तृत।

- ० तमस्काय में घर, दुकानें, गांव और सन्निवेश नहीं हैं।
 - ० वहां बड़े मेघ बरसते हैं। वह वर्षण देव भी करता है, असुर भी करता है और नाग भी करता है।
 - ० वहां स्थूल गर्जन का शब्द है, बादर विद्युत् है।
 - ० वहां बादर पृथ्वीकाय और बादर अग्निकाय नहीं हैं।
 - ० वहां चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप नहीं हैं। उसके परिपार्श्व में चन्द्रमा आदि पांचों हैं। चन्द्र और सूर्य की प्रभा तमस्काय में आकर धुंधली बन जाती है।
 - ० तमस्काय के तेरह नाम हैं—तम, अंधकार, महान्धकार, लोकांधकार, देवान्धकार, अरुणोदक समुद्र आदि।
 - ० तमस्काय पृथ्वी का परिणमन नहीं है, जल का परिणमन भी है, जीव का परिणमन भी है, पुद्गल का परिणमन भी है।
- कृष्णराजि—सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प से ऊपर ब्रह्मलोक

कल्प में रिष्ट विमान प्रस्तट के समानान्तर आखाटक के आकार वाली समचतुरस्र संस्थान से संस्थित आठ कृष्णराजियां हैं—दो पूर्व में, दो पश्चिम में, दो दक्षिण में और दो उत्तर में। उनकी लम्बाई असंख्येय हजार योजन, चौड़ाई संख्येय हजार योजन और परिधि असंख्येय हजार योजन है।

- ० वहां घर, दुकानें और गांव नहीं हैं।
- ० वहां वर्षण, गर्जन और विद्युत् केवल कोई देव करता है, असुर और नाग नहीं करते।
- ० बादर अप्काय-अग्निकाय-वनस्पतिकाय नहीं हैं।
- ० चन्द्र-सूर्य की आभा नहीं है।
- ० कृष्णराजि के आठ नाम हैं—मेघराजि, मघा, माघवती आदि।
- ० कृष्णराजियां पृथ्वी के परिणमन हैं, जीव और पुद्गल के परिणमन भी हैं।—भ ६/७०-१०५

तमस्काय-कृष्णराजि की कृष्ण चिक्कर (Black hole) के साथ तुलना आदि के लिए द्र भ ६/७०-११८ का भाष्य)

० जल में वनस्पति की नियमा

आउक्काए णियमा वणस्सती अत्थि।

(निभा ४२४० की चू)

जल में वनस्पति नियमतः होती है।

५. अग्नि के लक्षण

.....इहणादीणेगलक्खणो अग्गी।
नामोदयपच्चइयं, दिप्पइ देहं समासज्ज ॥
(बृभा २१४६)

अग्नि उष्णस्पर्श आदि नामकर्म के उदय से इन्धन प्राप्त कर दीप्त होती है। दहन, पचन और प्रकाशन—ये इसके लक्षण हैं।

६. अग्नि में वायु की नियमा

अग्नी नियमाद्.....वायुः सम्भवति।

(बृभा ९१२ की चू)

यत्राग्निस्तत्र वायुरवश्यं भवति।

(बृभा २७३७ की वृ)

जहां अग्नि है, वहां वायु अवश्य होती है।

७. अग्निप्रज्वालक बहुकर्मी

उज्जालझंपगा णं, उज्जालो वण्णओ हु बहु कम्मो ।
कम्मर इव पउत्तो, बहुदोसयरो ण भंजंतो ॥
(निभा २१९)

भगवती सूत्र में अग्नि बुझाने वाले की अपेक्षा अग्नि जलाने वाले पुरुष को बहुकर्मा—बहुतर दोष वाला कहा गया है। जैसे शस्त्रनिर्माण करने वाला लोहकार बहुतर दोष वाला है, शस्त्र को तोड़ने वाला पुरुष अल्पतर दोष वाला है।

(जो पुरुष अग्निकाय को प्रज्वलित करता है, वह पुरुष महत्तर आश्रव और महत्तर वेदना वाला होता है, क्योंकि वह बहुतर पृथ्वीकाय-अपकाय का समारंभ करता है, अल्पतर तेजस्काय का समारंभ करता है, बहुतर वायुकाय-वनस्पतिकाय-त्रसकाय का समारंभ करता है।

जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है, वह अल्पतर आश्रव और अल्पतर वेदना वाला होता है, क्योंकि वह पुरुष अल्पतर पृथ्वीकाय-अपकाय-वायुकाय-वनस्पति-काय-त्रसकाय का समारंभ करता है, बहुतर तेजस्काय का समारंभ करता है।—भ ७/२२८)

८. वायुकाय का शस्त्र

वास-सिसिरेसु वातो, बहिया सीतो गिहेसु य स उम्हो ।
विवरीओ पुण गिम्हे, दिव-राती सत्थमण्णोण्णं ॥
एमेव देहवातो, बाहिरवातस्स होति सत्थं तु ।
वियणादिसमुत्थो वि य, सउपत्तो सत्थमण्णस्स ॥
(निभा २४१, २४२)

वर्षाकाल और शीतकाल में घर के बाहर की वायु ठंडी और घर के भीतर की वायु गर्म होती है। ग्रीष्मकाल में इसके विपरीत—घर के भीतर की वायु ठंडी और बाहर की वायु गर्म होती है। तीनों ऋतुओं में दिन में भी और रात्रि में भी वायु का यही लक्षण घटित होता है। अथवा दिन में वायु गर्म और रात्रि में वायु ठंडी होती है।

घर के भीतर की वायु बाहरी वायु का और बाहर की वायु भीतरी वायु का परस्पर शस्त्र है—एक-दूसरे के विनाश का कारण है। दिवसवायु रात्रिवायु का और रात्रिवायु दिवसवायु

का शस्त्र है। इसी प्रकार छींक आदि के समय अथवा शंखधमन और मशकपूरण के समय उत्पन्न देहवायु बाहरी वायु का शस्त्र है। वीजन—तालवृन्त आदि से अपने-अपने प्रकार से उत्पन्न वायु एक-दूसरे का शस्त्र है।

९. वायुकायिक हिंसा के स्थान

गिग्गच्छति वाहरती.....फूमे य ।.....
सुप्पे य तालवेण्टे, हत्थे मत्ते य चेलकण्णे य ।
अच्छिफूमे पव्वए, णालिया चव पत्ते य ॥
संखे सिंगे करतल, वत्थी दतिए..... ।.....
घम्महितो अण्णतरमंगं फूमति, भत्तपाणमुण्हं वा ।
छीतंकासियं ऊससिअं नीससिअं, एते छीयादी अविहीए
करेति त्ति । (निभा २३५-२३७ चू)

जो गर्मी से अभिभूत हो नित्य से बाहर निकलता है, हवा के संकल्प से दूसरों को भीतर से बुलाता है—आओ-आओ, बाहर ठंडी हवा चल रही है, तप्त होकर शरीर के किसी अवयव पर अथवा उष्ण भोजन-पानी पर फूंक देता है। छींक, खांसी, उच्छ्वास-निःश्वास अविधि से करता है, शूर्प, तालवृन्त, हाथ, पात्र अथवा वस्त्र के कोण से हवा करता है, दूसरे की आंख में फूंक देता है, बांस और मुरली बजाता है, पद्मिनीपत्र आदि से हवा करता है, शंख या सींग बजाता है, करतल से वाद्य की ध्वनि करता है, चर्ममय वस्ति और मशक में हवा भरता है, वह वायुकाय की हिंसा करता है।

१०. वनस्पति आदि की सजीवता

पत्तंति पुप्पंति फल्लं ददंती, कालं विधाणंति तर्धिदियत्थे ।
जाती य वुड्डी य जरा य जेसिं, कहं न जीवा उ भवन्ति ते उ ॥
पुद्धविकाईया । पवाल-लोणा, उवलगिरीणं च पस्विड्डी ॥
कललंडरसादीया, जह जीवा तथेव आउजीवा वि ।
जोतिंगण जरिए वा, जहुण्ह तह तेउजीवा वि ॥
.....वाऊ जीवा सि ताहें सीसंति ।.....
(व्यभा ४६२५-२६२८)

० वनस्पतिकाय—जो पत्रित, पुष्पित और फलित होते हैं, पत्र-पुष्प-फल-निमित्तक काल को जानते हैं, शब्द आदि इन्द्रियविषयों को जानते हैं, (बकुल आदि वनस्पतियां मृदु

स्पर्श से, गीतश्रवण से प्रफुल्लित होती हैं), जो मनुष्य की तरह जन्म, वृद्धि और वृद्धत्व से युक्त हैं, वे वनस्पतिकायिक जीव हैं। उनका जीवत्व असंदिग्ध है।

० पृथ्वीकाय—प्रवाल, लवण, उपल, पर्वत आदि में समान-जातीय अंकुर पैदा होते हैं, उनकी परिवृद्धि होती है, अतः पृथ्वीकाय सजीव है।

० अप्काय—अण्डे का प्रवाही रस सजीव होता है। गर्भकाल के प्रारंभ में मनुष्य तरल होता है, वैसे ही पानी तरल है। अनुपहत अप्काय कलल की तरह द्रव होने से सजीव है।

० तेजस्काय—जुगनु का प्रकाश और मनुष्य के शरीर में ज्वरावस्था में होने वाला ताप जीवसंयोगी है, वैसे ही अग्नि का प्रकाश और ताप जीवसंयोगी है। तेजस्काय उष्णधर्मा है।

० वायुकाय—वायु में अनियमित स्वप्रेरित गति होती है, अतः वह सचेतन है।

० वनस्पति के प्रकार : प्रत्येक, साधारण (अनंत)

पत्तंगे साधारण, ।.....
(निभा २५४)

वनस्पति के दो प्रकार हैं—

१. प्रत्येकशरीर—परीतकायिक, जिसके एक शरीर में एक जीव होता है।

२. साधारणशरीर—अनंतकायिक, जिसके एक शरीर में अनंत जीव होते हैं।

(प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिक के वृक्ष, गुल्म आदि बारह भेद हैं, जिनके अनेक नामों का तथा साधारण-शरीरबादर-वनस्पतिकायिक वर्ग में इकसठ नामों का उल्लेख प्रज्ञापना सूत्र १/३३-४८ में है।

एक शरीर में अनंत जीवों के साथ रहने की प्रवृत्ति को परिभाषित करते हुए उस शरीर को निगोद तथा उन जीवों को निगोदजीव कहा जाता है।.....वे जीव एक साथ ही जन्म लेते हैं, एक साथ ही मरते हैं, एक साथ ही श्वास-उच्छ्वास व आहार लेते हैं। ऐसा व्यवहार अन्य किसी भी जीव का नहीं है। यह अभिन्नता औदारिक शरीर की अपेक्षा से बतलाई गई है। आत्म-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से इनके तैजस और कर्मण शरीर व्यक्तिगत होते हैं।

ये जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं। अतः यह जान लेना आवश्यक है कि ये वनस्पति के जीव स्थूल वनस्पति से नितांत भिन्न हैं। ये सूक्ष्म निगोद के जीव जैन विज्ञान की दृष्टि से जब अव्यवहार राशि से उत्क्रमण या उद्वर्तन करते हैं, तो वे स्थूल वनस्पति में विकास करते हैं। यह परिवर्तन ऐसी स्थिति में होता है, जब लोक में किसी प्रकार के संतुलन में परिवर्तन होता है। जब कोई जीव मोक्ष प्राप्त करता है, तो संसार के जीवों के संतुलन-हेतु अव्यवहार राशि के जीव उत्क्रमण करते हैं। जितने जीव मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आ जाते हैं।

इस उद्वर्तन के सहयोगी कारण ये हैं—१. चेतना के परिणामों की भिन्नता। २. लेश्याओं का परिवर्तन होना। ३. काललब्धि।

पारिभाषिक शब्दावलि में अनादिनिगोद, नित्यनिगोद या अनादिवनस्पति को अव्यवहारराशि कहा जाता है। निगोद के दो प्रकार होते हैं—सूक्ष्मनिगोद और बादरनिगोद।

जो जीव एक बार अव्यवहारराशि से व्यवहारराशि में आ जाता है, फिर उसकी राशि में परिवर्तन नहीं होता। वह सूक्ष्म निगोद में जाने पर भी व्यवहारराशि में ही रहता है। जो जीव अव्यवहारराशि से व्यवहारराशि में आकर अनंत काल तक संसार में परिभ्रमण करता है, वह प्रत्येक योनि में अनंत बार पैदा हो चुका है। जो जीव अव्यवहारराशि से निकलकर शीघ्र मुक्त हो जाता है, उसके लिए असकृत् (अनेक बार) का नियम है। वह एकाधिक बार जन्म लेकर मुक्त हो जाता है। जैसे मरुदेवी माता के संबंध में उल्लेख है कि उन्होंने सूक्ष्म निगोद से निकल कर दूसरे जन्म में ही मोक्ष पा लिया।—भ २/६ का भाष्य)

० अनंत वनस्पति के लक्षण

गूढछिरागं पत्तं, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं।
जं पि य पणट्टसंधिं, अणंतजीवं वियाणाहि॥
चक्कागं भञ्जमाणस्स, गंठी चुण्णघणो भवे।
पुढविसरिसेण भेएणं, अणंतजीवं वियाणाहि॥
जस्स मूलस्स भग्गस्स, समो भंगो पदीसई।
अणंतजीवे उ से मूले, जे याऽवऽन्ने तहाविहे॥

जस्स मूलस्स कट्ठातो छल्ली बहलतरी भवे ।
अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवऽन्ना तहाविहा ॥
“यथा शतावर्थाः, अनन्तजीवा तु सा छल्ली ।”
काष्ठमपि तस्यानन्तजीवं द्रष्टव्यम् ।

(बृभा ९६७-९६९, ९७१ वृ)

जो क्षीरयुक्त या क्षीररहित पत्ता गूढ—अनुपलक्षित शिराओं वाला होता है, जिसके पत्रार्धद्वय का संधिभाग सर्वथा अनुपलक्ष्यमाण होता है, उसे अनंतकायिक पत्ता जानो । जिसको तोड़ने पर चक्राकार भंग—सम टुकड़े होते हैं, जिसके पर्वस्थान में चूर्णघन होता है, भेदन के समय ग्रंथिभाग में सघन चूर्ण उड़ता हुआ दिखाई देता है अथवा पृथ्वी (केदार आदि की उपरिवर्ती शुष्क पपड़ी या श्लक्ष्ण खटिका) के भेदन के समान जिसका सम भेद होता है, उसे अनंतकायिक वनस्पति जानो ।

जिस भज्यमान मूल का सम भंग होता है, वह अनंतकायिक मूल है । इसी प्रकार स्कंध आदि भी सम खंडों में विभक्त होते हैं । जिस मूल के काष्ठ से त्वचा मोटी होती है, वह अनंतकायिक त्वचा है । जैसे—शतावरी की छाल, वैसी अन्य छाल भी अनंतकायिक है । उसका काष्ठ भी अनंतजीव है ।

(मूल से बीजपर्यंत वनस्पति के दस प्रकार हैं । मूल आदि का भेदन करने पर जिनके सम भंग होते हैं, वे अनंतजीवी मूल यावत् अनंतजीवी बीज हैं । जिसकी छाल मूल, कंद, स्कंध और शाखा के काष्ठ से मोटी होती है, वह अनंतजीवी छाल है ।—प्रज्ञा १/४८/१०-१९, ३०-३३)

० प्रत्येक वनस्पति के लक्षण

जस्स मूलस्स भग्गस्स, हीरो भंगे पदिस्सए ।
परित्तजीवे उ से मूले, जे याऽवऽन्ने तहाविहे ॥
जस्स मूलस्स कट्ठातो, छल्ली तणुयतरी भवे ।
परित्तजीवा तु सा छल्ली, याऽवऽण्णा तहाविहा ॥
(बृभा ९७०, ९७२)

जिस वनस्पति के मूल, स्कंध आदि के विषम भंग होते हैं, वह प्रत्येक वनस्पति है । जिस मूल के काष्ठ से त्वचा पतली होती है, वह प्रत्येक वनस्पति की त्वचा है; यथा सहकार आदि की छाल ।

(जिस भज्यमान मूल यावत् बीज के विषम भंग होते हैं, वह प्रत्येकजीवी मूल यावत् प्रत्येकजीवी बीज है । जिसकी छाल मूल, कंद, स्कंध और शाखा के काष्ठ से पतली होती है, वह प्रत्येकजीवी छाल है ।—प्रज्ञा १/४८/२०-२९, ३४-३७)

११. वृक्ष के प्रकार

संखेज्जजीविता खलु, असंखजीवा अणंतजीवा य ।
तिविहा हवंति रुक्खा..... ॥
(निभा ४०३९)

वृक्ष के तीन प्रकार हैं—

संख्येय जीव—ताड़, तमाल, पूगफल, खर्जूर, नालिकेर आदि ।
असंख्येय जीव—आम्र आदि ।
अनंत जीव—थूहर, शृंगबेर आदि । (वृक्ष के ये तीन प्रकार अनेक नामों के साथ भ ८/२१६-२२१ में प्रतिपादित हैं ।)

“एगट्टिय ।..... बहुबीए ॥.....”

“एगट्टि त्ति एगबीयं जहा अंबगो ।

(निभा २५६ चू)

असंख्येयजीविक वृक्ष के दो प्रकार हैं—

१. एकास्थिक—एक बीज वाले फलों के वृक्ष । जैसे—आम्र, नीम, बकुल, पलाश, धातकी, श्रीपर्णी, अशोक आदि ।
२. बहुबीजक—कपित्थ, आम्रातक, न्यग्रोध, नन्दिवृक्ष आदि ।
(आम्र, कपित्थ आदि वृक्षों के मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा और प्रवाल असंख्येयजीविक, पत्ते प्रत्येकजीविक तथा पुष्प अनेकजीविक होते हैं ।—प्रज्ञा १/३४-३६)

० वृक्ष के दस अंग

मूले कंदे खंधे, तथा य साले पवाल पत्ते य ।
पुप्फे फले य बीए.....दस भेया ॥
(बृभा ८५४ की वृ)

वृक्ष के दस अंग हैं—१. मूल २. कंद ३. स्कंध ४. त्वचा ५. शाखा ६. प्रवाल ७. पत्र ८. पुष्प ९. फल १०. बीज ।
(वनस्पतिकायिक जीव प्रावृत् और वर्षाऋतु में सबसे अधिक आहार करते हैं, ग्रीष्म ऋतु में सबसे अल्प आहार करते हैं । मूल मूल के जीव से स्पृष्ट और पृथ्वी के जीव से प्रतिबद्ध होता है, इसलिए वह भूमि से अपना आहार खींच

लेता है। कंद कंद के जीव से स्पृष्ट और मूल के जीव से प्रतिबद्ध होता है, वह मूल के आहार में से अपना आहार ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार स्कंध कंद से, त्वचा स्कंध से, शाखा त्वचा से, प्रवाल शाखा से, पत्र प्रवाल से, पुष्प पत्र से, फल पुष्प से और बीज फल से अपना आहार ग्रहण करता है।—भ ७/६२, ६५)

१२. बीज : परीत-अनंत

.....जोणिगघाते व हतं, तदादि वा होइ वणकाओ ॥

बीजं वनस्पतीनां योनिः—उत्पत्तिस्थानम्—तद्—
बीजमादिर्यस्य स तदादिः, सर्वेषामपि वनस्पतीनां तत एव
प्रसूतेः। (बृभा १३३ वृ)

बीया.....परित्तणंतकाए य।.....
(निभा २४८)

जीवउत्पत्तिद्वयं जोणी भवति। परित्ता जोणी जस्स
पलंबस्स तं भण्णति परित्तजोणी, परित्तं अणंतं णा
भवति। (निभा २५६ की चू)

वनस्पतिकाय की योनि है बीज। वह वनस्पतिजगत्
में आदिभूत है, क्योंकि सर्व वनस्पति की उसीसे उत्पत्ति
होती है, इसलिए बीज उपहत होने पर निरपेक्ष रूप से
मूल आदि भी उपहत होते हैं।

जीव के उत्पत्तिस्थान को योनि कहा जाता है। जिस
प्रलंब की योनि परीत होती है, वह परीतयोनि प्रलंब कहलाता
है। बीज प्रत्येक और अनंत—दोनों प्रकार के होते हैं। जो
प्रत्येकशरीरी है, वह अनंतकायिक नहीं होता।

(योनिभूत—योनि अवस्था को प्राप्त बीज में जो जीव
उत्पन्न होता है, वह पूर्व बीज-जीव भी हो सकता है अथवा
अन्य जीव भी हो सकता है। जो जीव मूल-जड़रूप में परिणत
होता है, वही प्रथम पत्ते के रूप में परिणत होता है।

उगते हुए सभी किसलय अनंतकायिक होते हैं, फिर
वृद्धिगत होते हुए वे प्रत्येकशरीरी भी हो सकते हैं, अनंतकायिक
भी हो सकते हैं।—प्रज्ञा १/४८/५१, ५२)

० मूल-अग्र प्रलम्ब

झिञ्झरि-सुरभिपलंबे, तालपलंबे अ सल्लइपलंबे।
एतं मूलपलंबं, नेयव्वं आणुपुव्वीए ॥

तल नालिएर लउए, कविट्ट अंबाड अंबए चेव।
एअं अग्गपलंबं, नेयव्वं आणुपुव्वीए ॥
.....तेणऽग्गपलंबेणं, तु सूइया सेसगपलंबा ॥

(बृभा ८५१, ८५२, ८५५)

० मूलप्रलम्ब—वल्लीपलाशक, सिग्गुक, ताल, सल्लकी—
इनके मूल। इनके अतिरिक्त अन्य मूलप्रलंब भी हैं, जो खाने
के उपयोग में आते हैं।

० अग्रप्रलम्ब—तलफल, नालिकेरफल, लकुचफल, कपित्थफल,
आम्रातकफल, आम्रफल, कदलीफल, बीजपूर आदि के अग्र।

मूल और अग्र प्रलंब के ग्रहण से शेष कंद आदि
प्रलंब भी सूचित किए गए हैं। इस प्रकार मूल आदि के भेद
से प्रलंब के दस प्रकार हैं।

१३. आहार में वनस्पति की प्रधानता

छहि णिप्पज्जति सो उ,.....।
पाहण्णं बहुयत्तं, णिप्फज्जति सुहं च..... ॥
(निभा ४८३७)

यद्यपि आहार षड्जीवनिकाय-त्यक्त शरीर से निष्पन्न
होता है, फिर भी उसमें वनस्पति की प्रधानता और प्रचुरता
रहती है। जैसा वनस्पतिकाय से आहार सहजता से निष्पन्न
होता है, वैसा अन्य जीवनिकाय से शक्य नहीं है।

१४. आम के प्रकार : पक्व-अपक्व-मीमांसा

.....उस्सेइम संसेइम, उवक्खडं चेव पलियामं ॥
उस्सेइम पिट्ठाई, तिलाइ संसेइमं तु णोगविहं।
कंकडुयाइ उवक्खड, अविपक्करसं तु पलियामं ॥
इंधण धूमे गंधे, वच्छप्पलियामए अ आमविही।
कोह्वपलालमाई, धूमेणं तिंदुगाइ पच्चंते।
मज्झाऽगडाऽगणि पेरेत तिंदुया छिहधूमेणं ॥
अंबग-चिम्भिडमाई, गंधेणं जं च उवरि रुक्खस्स।
कालप्पत्त न पच्चइ, वत्थप्पलियामगं तं तु ॥
उग्गमदोसाईया, भावतो अस्संजमो अ आमविही।
अन्नो वि य आएसो, जो वरिससयं न पूरेइ ॥
(बृभा ८३९-८४३, ८४६)

आम अर्थात् अपक्व के चार प्रकार हैं—

१. उत्स्वेदिमं—पिष्ट आदि को वस्त्र में डालकर अधःस्थित

गर्म पानी की भाप से पकाना उत्स्वेदिम है। उसमें जो अपक्व रह जाता है, वह उत्स्वेदिम आम है।

२. संस्वेदिम—तिल आदि। बटलोई आदि में पानी को गर्म करके, पिठरिका में प्रक्षिप्त तिलों को उस गर्म पानी से सींचा जाता है। इस विधि से वे तिल पकते हैं। उन संस्विन्न तिलों में जो अपक्व रह जाते हैं, वह संस्वेदिम आम है।

३. उपस्कृत—उपस्कृत चना, मूंग आदि में जो कंकटुक (कोरडू) आदि अपक्व रह जाते हैं, वे उपस्कृत आम हैं।

४. पर्यायाम—अपक्व फल आदि इसके चार प्रकार हैं—१. ईधन पर्यायाम—कोद्रवपलाल, शालिपलाल आदि को ईधन कहा जाता है। आम आदि फलों को इस पलाल से वेष्टित कर पकाया जाता है। उसमें भी जो फल अपक्व रह जाते हैं, वे ईधन पर्यायाम कहलाते हैं।

२. धूम पर्यायाम—तिन्दुक आदि फलों को धूम में पकाया जाता है। उसकी विधि यह है—एक गढ़ा खोदा जाता है। उसमें उपल रखे जाते हैं। उसके दोनों ओर दो गढ़े खोदे जाते हैं। उनमें तिन्दुक आदि फल भर दिए जाते हैं। मध्य वाले गढ़े में, जिसमें उपल हैं, उसमें आग लगाई जाती है। दोनों ओर के दो गढ़ों के पर्यन्तवर्ती छिद्र मध्यवर्ती गर्त के साथ संबद्ध कर दिए जाते हैं। मध्यवर्ती गढ़े से धूम उन दोनों गढ़ों में पहुंचता है, फैलता है और तत्रस्थित फलों को पका देता है। उनमें जो अपक्व रह जाता है, वह धूमपर्यायाम है।

३. गंधपर्यायाम—अपक्व फलों के बीच पके हुए फल डाले जाते हैं। उन पके हुए फलों की गंध से अपक्व फल पक जाते हैं। उनमें भी जो अपक्व रह जाते हैं, वे गंधपर्यायाम हैं।

४. वृक्षपर्यायाम—वृक्ष की शाखाओं पर काल के परिपाक के साथ-साथ कुछेक फल पक जाते हैं और कुछ अपक्व ही रह जाते हैं। वे अपक्व फल वृक्षपर्यायाम हैं।

भावआम का अर्थ है—चारित्र की अपरिपक्वता। उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोष भावआम हैं। (सव्वामगंध परिण्णाय निरामगंधो परिक्वए।—आ २/१०८)

अथवा असंयम भावतः आमविधि है।

भाव आम का अन्य प्रकार भी है—सौ वर्ष की उम्र वाला पुरुष सौ वर्ष पूर्ण किए बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वह भावतः आम आयुष्य है।

१५. पृथ्वी आदि के अचित्त होने के हेतु

जो अणसयं तु गंता, अणहारेणं तु भंडसंकंती।
वाया-ऽगणि-धूमेण य, विद्धत्थं होइ लोणाई॥
हरियाल मणोसिल पिप्पली य खजूर मुहिया अभया।
आइन्नमणाइन्ना, ते वि हु एमेव नायव्वा॥
आरुहणे ओरुहणे, निसियण गोणादिणं च गाउम्हा।
भुम्माहारच्छेदे, उवक्कमेणं च परिणामो॥
(बृथा ९७३-९७५)

नौ कारणों से लवण आदि अचित्त हो जाते हैं—

१. सुदूर नयन—सचित्त लवण आदि अपने स्थान से ले जाए जाते हुए प्रतिदिन बहु-बहुतर के क्रम से विध्वस्त होते हुए सौ योजन से दूर ले जाने पर सर्वथा परिणत—अचित्त हो जाते हैं। क्योंकि उन्हें अपने उत्पत्तिस्थान से दूर होने पर स्वप्रायोग्य आहार की प्राप्ति नहीं होती है।

२. भाण्डसंक्रमण—एक पात्र से दूसरे पात्र में अथवा एक भाण्डशाला से दूसरी भाण्डशाला में संक्रमण होने से।

३-५. हवा से, अग्नि से और रसोई आदि में धुएँ से।

इसी प्रकार हरिताल, मनःशिला, पिप्पली, खजूर, द्राक्षा और हरीतकी भी लवण की भांति अचित्त हो जाते हैं। किन्तु इनमें से पिप्पली, हरीतकी आदि आचीर्ण हैं। खजूर, द्राक्षा आदि अनाचीर्ण होने से मुनि के लिए अकल्पनीय हैं।

६. आरोहण-अवरोहण—शकट, बैल आदि की पीठ पर नमक आदि का बार-बार आरोहण-अवरोहण होने से।

७. निषीदन और ऊष्मा—लवण आदि के बोरों पर मनुष्य बैठते हैं, उनके तथा बैल आदि के शरीर की ऊष्मा से।

८. आहार-विच्छेद—लवण आदि जीवों का जो पृथिवी आदि आहार है, उसका व्यवच्छेद होने से।

९. उपक्रम—शस्त्र से उपहत होने पर। शस्त्र के तीन प्रकार हैं—
० स्वकायशस्त्र, जैसे—मधुर जल का लवण जल, पीली मिट्टी का काली मिट्टी।

० परकायशस्त्र, जैसे—जल का अग्नि और अग्नि का जल।

० तदुभयशस्त्र, जैसे—शुद्ध जल का मिट्टी युक्त जल।

व्युत्क्रांतयोनिः—अशस्त्रोपहता अप्यायुः-
क्षयेणाचिन्तीभूताः। (बृथा ९९८ की वृ)

सचित्त पदार्थ शस्त्र से उपहत नहीं होने पर भी अपनी आयुस्थिति के क्षय होने पर स्वतः अचित्त हो जाते हैं।

१६. सचित्त-अचित्त जल के विकल्प

सीतोदे उसिणोदे, फासुगमप्फासुगे य चउभंगो ।...
धारोदए महासलिलजले संभारिते व्व दव्वेहिं ।...
चउमूल पंचमूलं, तालोदाणं च तावतोयाणं ।...
धारोदकं नाम गिरिनिर्झरजलम्, यथा उज्जयन्तादौ,
आन्तरिक्षं वा धारोदकम् ।....

चतुर्मूलं नाम चतुर्भिः सुरभिमूलैर्भाविताम् । एवं
यत् पञ्चभिः सुरभिमूलैर्भावितां तत् पञ्चमूलम् । तालोद-
कानि यथा तोसलिविषये । तापतोयानि राजगृहादौ ।

(बृथा ३४२०, ३४२२, ३४२९ वृ)

जल के चार विकल्प हैं—

१. प्रासुक शीतोदक—गर्म किया हुआ शीतोद्भूत जल अथवा तंदुल का धोवन आदि ।
२. अप्रासुक शीतोदक—स्वाभाविक शीतल जल ।
३. प्रासुक उष्णोदक—त्रिदण्डउद्वृत्त गर्म जल ।
४. अप्रासुक उष्णोदक—तापोदक आदि ।

सचित्त उदक के अन्य प्रकार भी हैं । यथा—

- ० धारोदक—उज्जयंत आदि पहाड़ी झरनों का जल अथवा अंतरिक्ष का जल ।
- ० महासलिला जल—गंगा, सिन्धु आदि महानदियों का जल ।
- ० संभारित जल—कपूर, गुलाब आदि द्रव्यों से वासित जल ।
- ० चतुर्मूल—चार सुरभि मूलों से भावित जल ।
- ० पंचमूल—पांच सुरभिमूलों से भावित जल ।
- ० तालोदक—तोसलि आदि क्षेत्रों में प्राप्त जल ।
- ० तापोदक—राजगृह आदि में प्राप्त जल ।

१७. उत्पल आदि के अचित्त होने का कालमान

उत्पल पउमाइं पुण, उण्हे दिन्नाइं जाम न धरिंती ।
मोगगरग-जूहियाओ, उण्हे छूढा चिरं होंति ॥
मगदंतियपुप्फाइं, उदए छूढाइं जाम न धरिंती ।
उत्पल-पउमाइं पुण, उदए छूढा चिरं होंति ॥
पत्ताणं पुप्फाणं, सरडुफलाणं तहेव हरियाणं ।
विंटम्मि मिलाणम्पी, नायव्वं जीवविप्पजहं ॥

(बृथा ९७८-९८०)

उत्पल और पद्म धूप में रखने से प्रहर-मात्र समय से पहले ही अचित्त हो जाते हैं । मोगरा और जूही के फूलों की योनि उष्ण होती है । अतः वे फूल धूप में रखने पर चिरकाल तक सचित्त ही रहते हैं ।

मगदन्तिका पुष्प को जल में डालने से वह प्रहरमात्र भी सजीव नहीं रह सकता । जल में क्षिप्त उत्पल और पद्म चिरकाल तक सचित्त रह सकते हैं क्योंकि वे उदकयोनिक हैं ।

पत्र-पुष्प, गुठलीविहीन फल और हरित (बथुआ आदि)—इनके वृत्त (मूलनाल) म्लान होने पर इन्हें जीव-विप्रमुक्त (अचित्त) जानना चाहिए ।

१८. शालि आदि का योनिविध्वंस

तिगसंवच्छर तिग दुग, एगमपोगे य जोगिघाए अ ।...

(बृथा १९५४)

तीन साल के बाद शालि और व्रीहि विध्वंसयोनिक हो जाते हैं, उनकी उत्पादक शक्ति नष्ट हो जाती है ।

तिल, मूंग आदि पांच वर्ष के बाद तथा अतसी, कंगु आदि सात वर्ष के बाद विध्वंसयोनिक हो जाते हैं ।

(शालि, व्रीहि, गेहूं आदि धान्यों को कोठे आदि में डालकर उनके द्वारदेश को लीप देने, मिट्टी से मुद्रित कर देने पर उनकी योनि (उत्पादक शक्ति) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कर्षतः तीन वर्ष तक रहती है । उसके बाद योनि म्लान हो जाती है, बीज अबीज हो जाता है । मटर, मसूर, तिल आदि की योनि पांच वर्ष तक तथा अलसी, कुसुंभ, कोदव आदि की योनि सात वर्ष तक रहती है ।—भ ६/१२९-१३१

ओदन, कुल्माष आदि पूर्व पर्याय-प्रज्ञापन की अपेक्षा से वनस्पतिजीवों के शरीर हैं । अग्निपरिणत होने पर उन्हें अग्निजीवों का शरीर कहा जा सकता है । लोहा, ताम्बा आदि पृथ्वीजीवों के शरीर हैं, अग्निरूप में परिणत होने पर उन्हें अग्निजीवों का शरीर कहा जा सकता है । अस्थि, चर्म, रोम आदि त्रसजीवों के शरीर हैं, अग्निपरिणत होने पर उन्हें अग्निजीवों का शरीर कहा जा सकता है ।—भ ५/५१-५३)

१९. सूक्ष्म जीवों के आठ प्रकार

.....अट्ट सुहुमाइं.....तं जहा — पाणसुहुमं पणगसुहुमं
बीयसुहुमं हरियसुहुमं पुप्फसुहुमं अंडसुहुमं लेणसुहुमं
सिणोहसुहुमं । (दशा ८ परिं सू २६२)

सूक्ष्म जीव आठ प्रकार के हैं—प्राणसूक्ष्म, पनकसूक्ष्म, बीजसूक्ष्म, हरितसूक्ष्म, पुष्पसूक्ष्म, अण्डसूक्ष्म, लयनसूक्ष्म और स्नेहसूक्ष्म।

० प्राणसूक्ष्म यावत् पुष्पसूक्ष्म

.....प्राणसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—किण्हे नीले लोहिए हालिहे सुक्कले। अत्थि कुंथु अणुंधरी नामं जा ठिया अचलमाणा छउमत्थाणं....तो चक्खुफासं हव्व-मागच्छइ, जा अट्टिया चलमाणा छउमत्थाणं चक्खुफासं हव्वमागच्छइ...पण्णसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—किण्हे नीले लोहिए हालिहे सुक्कले। अत्थि पण्णसुहुमे तद्व-समाणवण्णए...बीजसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—किण्हे जाव सुक्कले। अत्थि बीजसुहुमे कणियासमाणवण्णए...हरियसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—किण्हे जाव सुक्कले। अत्थि हरियसुहुमे पुढवीसमाणवण्णए...पुप्फसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—किण्हे जाव सुक्कले। अत्थि पुप्फसुहुमे रुक्खसमाणवण्णए...जे छउमत्थेणं...अभिव्वरणं—अभिव्वरणं जाणियव्वे पासियव्वे...भवति। (दशा ८ परि सू २६३-२६७)

० प्राणसूक्ष्म—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल वर्ण वाले सूक्ष्म। कुंथु, जो चलने पर जाना जाता है, स्थिर अवस्था में छद्मस्थ की आंख का विषय नहीं बनता।

० पनकसूक्ष्म—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल वर्ण वाली काई, जो वर्षा में भूमि, काठ, उपकरण आदि पर उस द्रव्य के समान वर्ण वाली उत्पन्न होती है।

० बीजसूक्ष्म—कृष्ण यावत् शुक्ल वर्ण वाले, कणिका के समान वर्ण वाले।

० हरितसूक्ष्म—कृष्ण यावत् शुक्ल वर्ण वाले। तत्काल उत्पन्न, पृथ्वी के समान वर्ण वाले अंकुर।

० पुष्पसूक्ष्म—कृष्ण यावत् शुक्ल वर्ण वाले। वृक्ष के समान वर्ण वाले दुर्बिभाव्य फूल। (द्र ८/१५ का टि)

० अण्डसूक्ष्म-लयनसूक्ष्म-स्नेहसूक्ष्म

.....अंडसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—उहंसडे उक्कलियंडे पिपीलियंडे हलियंडे हल्लोहलियंडे...।

.....लेणसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—उत्तिंग-

लेणे भिंगुलेणे उज्जुए तालमूलाए संवुक्कावट्टे....।

सिणेहसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—उस्सा हिमए महिया करए हस्तणुए णामं पंचमे....।

(दशा ८ परि सू २६८-२७०)

० अंडसूक्ष्म के पांच प्रकार हैं—मधुमक्खी, मकड़ी, चींटी, ब्राह्मणी और गिरगिट के अंडे।

० लयनसूक्ष्म के पांच प्रकार हैं—कीटिकानगर, भृगुलयन, ऋजुकलयन, तालमूललयन और शम्बूकावर्तलयन—इन आश्रयस्थानों में रहने वाले जीव।

० स्नेहसूक्ष्म के पांच प्रकार हैं—ओस, हिम, कुहासा, ओला और उद्भिद् जलबिंदु।

२०. त्रस के चार प्रकार

चउव्विहा तसा—बेंदिया तेइंदिया चत्तुपंचिंदिया।

(निभा ४२४१ की चू)

त्रसकाय के चार प्रकार हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

* पंचेन्द्रिय—देवों के प्रकार

द्र देव

* द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों का विवरण द्र श्रीआको १ त्रस

(पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक जीव स्पर्शन इन्द्रिय की अपेक्षा से भोगी हैं। द्वीन्द्रिय जीव जिह्वा और स्पर्शन—इन दो इन्द्रियों की अपेक्षा तथा त्रीन्द्रिय जीव घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन—इन तीन इन्द्रियों की अपेक्षा से भोगी हैं। चतुरिन्द्रिय जीव चक्षुइन्द्रिय की अपेक्षा से कामी और घ्राण-जिह्वा-स्पर्शन—इन तीन इन्द्रियों की अपेक्षा से भोगी हैं। पंचेन्द्रिय जीव श्रोत्रेन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय की अपेक्षा से कामी तथा शेष तीन इन्द्रियों की अपेक्षा से भोगी हैं।—ध ७/१३९-१४४)

२१. छहकायसंयम और तीर्थ

न विणा तित्थं नियंटेहि, नियंटा व अतित्थगा।

छक्कायसंजमो जाव, तावऽणुसज्जणा दोण्हं।।

(व्यभा ४२१७)

निर्ग्रथों के बिना तीर्थ नहीं होता। तीर्थ के बिना निर्ग्रथ नहीं होते। जब तक छहजीवनिकाय-संयम है, तब तक निर्ग्रथ और तीर्थ—दोनों रहेंगे।

ज्ञान— ज्ञेय का बोध कराने वाला साधन ।

१. पांच ज्ञान : प्रत्यक्ष परोक्ष	
२. आभिनिबोधिक ज्ञान	
* इन्द्रियावरण-विज्ञानावरण	द्र इन्द्रिय
* अपाचमति : सम्यक्त्व का हेतु	द्र सम्यक्त्व
* जातिस्मृति ज्ञान	द्र जातिस्मृति
* श्रुतज्ञान	द्र श्रुतज्ञान
३. अवधिज्ञान के विषय	
* छद्मस्थ का ज्ञानोपयोग आंतर्माहूर्त्तिक	द्र तीर्थकर
४. मनःपर्यवज्ञान : उत्पत्ति और स्वरूप	
* अतीन्द्रियज्ञान से चित्तसमाधि	द्र चित्तसमाधिस्थान
५. केवलज्ञान : उत्पत्ति और स्वरूप	
* केवलज्ञानी की पहचान कैसे ?	द्र कृतिकर्म
* एकरात्रिकी प्रतिमा से अतीन्द्रियज्ञान	द्र प्रतिमा
६. ज्ञान का प्रयोजन	
७. पहले ज्ञान, फिर आचरण	
८. ज्ञान विकास का क्रम	
* ज्ञानावरणीय कर्म	द्र कर्म
९. ज्ञान का परिमाण : अगुरुलघुपर्यव	
* ज्ञान-दर्शन हेतु उपसम्पदा	द्र उपसम्पदा
* ज्ञान-आचार	द्र आचार
* ज्ञान-भावना	द्र भावना

१. पांच ज्ञान : प्रत्यक्ष-परोक्ष

.....भावमि नाणपणगं, पच्चक्खयरं च तं दुविहं ॥
अपरायत्तं नाणं, पच्चक्खं, तिविहमोहिमाइयं ।
जं परतो आयत्तं, तं पारोक्खं हवइ सव्वं ॥
ओहि मणपज्जवे या, केवलनाणं च होति पच्चक्खं ।
आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं चेष पारोक्खं ॥
(बृभा २४, २९, ३०)

ज्ञान के पांच प्रकार हैं—आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। इस ज्ञानपंचक के दो प्रकार हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में दूसरे का वशवर्ती नहीं है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। जो चाक्षुष आदि विज्ञान अपनी उत्पत्ति में

पर—चक्षु आदि के अधीन है, वह परोक्ष ज्ञान है।

अवधि, मनःपर्यव और केवल—ये तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं।

* ज्ञान के भेद-प्रभेद आदि द्र श्रीआको १ ज्ञान

२. आभिनिबोधिक ज्ञान

पच्चक्ख परोक्खं वा, जं अत्थं ऊहिऊण निहिसइ ।
अत्थाणंतरचारिं, नियत्तं चित्तं तिकालविसयं तु ।
अत्थे य षडुप्पणे, विणियोगं इदियं लहइ ॥
(बृभा ३९, ४०)

जो प्रत्यक्ष और परोक्ष विषयों की वितर्कणा कर निर्णयपुरस्सर अर्थाभिमुख (यथार्थ) प्रतिपादन करता है, अनर्थाभिमुख—विपरीत नहीं होता, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है। वह दो प्रकार का है—इन्द्रियनिश्चित और अनिन्द्रिय (मन) निश्चित।

इन्द्रियों और मन का विषय भिन्न है।

मन अर्थानन्तरचारी—इन्द्रिय-व्यापार के पश्चात् प्रवृत्त होता है। वह नियतार्थ विषय वाला होता है—एक काल में अनेक विषयों में व्यापृत नहीं होता तथा वह त्रिकालविषय वाला होता है। इन्द्रियों वर्तमान विषय में प्रवृत्त होती हैं।

* मतिज्ञान का विषय द्र श्रीआको १ आभिनिबोधिकज्ञान

३. अवधिज्ञान के विषय

विवरीयवेसधारी, विज्जंजणसिद्ध देवताए वा ।
छाइय सेवियसेवी, बीयादीओ वि पच्चक्खा ॥
पुढवीइ तरुगिरिया सरीरादिगया य जे भवे दव्वा ।
परमाणू सुहदुक्खादओ य ओहिस्स पच्चक्खा ॥
अच्चंतमणुवलद्धा, वि ओहिनाणस्स होति पच्चक्खा ।
ओहिन्नाण परिगया, दव्वा असमत्तपज्जाया ॥
खित्तमि उ जावइए, यासइ दव्वाइं तं न पासइ या ।
काले नाणं भइयं, को सो दव्वं विणा जम्हा ॥
(बृभा ३१-३४)

अवधिज्ञान के चार प्रकार हैं—

१. द्रव्यतः अवधिज्ञान—यह रूपी द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानता है। कोई व्यक्ति नेपथ्य परिवर्तन से, गुटिका प्रयोग से, स्वर

अथवा वर्ण के परिवर्तन से विपरीत वेष धारण कर लेता है, उसको अवधिज्ञानी जान लेता है। इसी प्रकार जो विद्यासिद्ध, अंजनसिद्ध, देवता द्वारा परिगृहीत या देवताओं द्वारा सेवितसेवी हैं तथा जो बीज आदि अन्नागार में भरे हुए हैं—उन सबको अवधिज्ञानी जान लेता है।

इसी प्रकार वह पृथ्वी, वृक्ष और पर्वतगत सारे द्रव्य शरीरगत द्रव्य, परमाणु तथा इन्द्रिय, मन और शरीर के आधार पर स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य रूप सुख-दुःख भी प्रत्यक्षतः जान लेता है।

अवधिज्ञानी के लिए चक्षु आदि से अत्यन्त अनुपलब्ध पदार्थ भी प्रत्यक्ष होते हैं। वह सभी द्रव्यों को जानता है किन्तु द्रव्य के समस्त पर्यायों को नहीं जानता। समस्त पर्यायों को जान ले तो वह केवली हो जाए।

२. क्षेत्रतः अवधिज्ञान—अवधिज्ञानी क्षेत्रगत जघन्यतः और उत्कृष्टतः जितने द्रव्यों को देखता है, उतने क्षेत्र (आकाश) को नहीं देख सकता, क्योंकि अवधिज्ञान का विषय मूर्त द्रव्य है, क्षेत्र अमूर्त है।

३. कालतः अवधिज्ञान—काल से अवधिज्ञानी की भजना है। काल समयमात्र परिणामी होता है। वह अमूर्त होने के कारण अवधिज्ञानी का विषय नहीं बनता। परन्तु ऐसा कौन-सा काल है, जो द्रव्य का पर्याय न हो? वह द्रव्य का ही एक पर्याय है—'द्वस्स चेष सो पज्जातो' इसलिये वह अवधिज्ञानी के लिए प्रत्यक्ष है। पर्यायों में भी कतिपय पर्याय अवधिज्ञान के विषय बनते हैं।

४. भावतः अवधिज्ञान—भाव से अवधिज्ञानी अनन्त भावों को अर्थात् सर्व भावों के अनन्तवें भाग को जानता है।

* अवधिज्ञान के भेद आदि द्र श्रीआको १ अवधिज्ञान (अवधिज्ञान विचित्र प्रकार का होता है। कोई भावितात्मा अनगार वैक्रिय समुद्घात से समवहत वैक्रिय विमान में बैठकर जाते हुए देव को देखता है, विमान को नहीं देखता। कोई अनगार विमान को देखता है, देव को नहीं देखता। कोई अनगार देव को भी देखता है और विमान को भी देखता है। कोई अनगार न देव को देखता है और न अनगार को देखता है।

कोई भावितात्मा अनगार वृक्ष के अन्तर्वर्ती भाग को

देखता है, बहिर्वर्ती भाग को नहीं देखता। कोई अनगार वृक्ष के बहिर्वर्ती भाग को देखता है, अन्तर्वर्ती भाग को नहीं देखता। कोई अनगार वृक्ष के मूल को देखता है, कंद को नहीं देखता। कोई अनगार वृक्ष के कंद को देखता है, मूल को नहीं देखता। इसी प्रकार बीजपर्यंत अनेक विकल्प हैं। — भ ३/१५४-१६३

१. जो बार-बार स्त्रीकथा, देशकथा, भक्तकथा और राजकथा करते हैं,

२. जो विवेक-व्युत्सर्ग द्वारा आत्मा को भावित नहीं करते,

३. जो पूर्व-अपररात्र में धर्मजागरण नहीं करते,

४. जो स्पर्शुक (अभिलषणीय) एषणीय और उच्छ सामुदानिक भैक्ष की सम्यक् प्रकार से गवेषणा नहीं करते—इन चार कारणों से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के अतिशय ज्ञान और दर्शन तत्काल उत्पन्न होते-होते रुक जाते हैं।

इन चार कारणों से विपरीत आचरण करने वालों के तत्काल उत्पन्न होने वाले अतिशायी ज्ञान और दर्शन उत्पन्न हो जाते हैं। —स्था ४/२५४, २५५)

४. मनःपर्यवज्ञान : उत्पत्ति और स्वरूप
तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स सामाइयं
खाभोवसमियं चरित्तं पडिवन्नस्स मणपज्जवणाणे णामं
णाणे समुप्यन्ने—अद्वाइज्जेहिं दीवेहिं दोहि य समुदेहिं
सण्णीणं पंचेदियाणं पज्जत्ताणं वियत्तमणसाणं मणो-गयाइं
भावाइं जाणेइ। (आचूला १५/३३)

श्रमण भगवान् महावीर ने सामायिक नामक क्षायो-पशमिक चारित्र ग्रहण किया, उसी समय उनके मनः-पर्यवज्ञान समुत्पन्न हुआ, जिससे वे अद्वाइ द्वीपों और दो समुद्रों (जम्बू-धातकीखंड-पुष्करार्ध-द्वीप और लवण-कालोदधि-समुद्र) में वर्तमान पर्याप्त समनस्क व्यक्त मानस वाले पंचेन्द्रिय प्राणियों के मनोगत भावों को मनोद्रव्य के आधार पर जानने लगे, मनोद्रव्य को साक्षात् जानने लगे।

तं मणपज्जवणाणं, जेण विद्याणाइ सन्निजीवाणं।
दद्दुं मणिज्जमाणे, मणदव्वे माणसं भावं॥
जाणइ य पिहुज्जणो वि हु, फुडमागारेहिं माणसं भावं।
एमेव य तस्सुवमा, मणदव्वपगासिए अत्थे॥

(बृभा ३५, ३६)

जो संज्ञी जीवों के मन्यमान (मनन में व्यापृत) मनो-वर्गणा के पुद्गलस्कंधों को देखकर मन के भावों (चिंतित अर्थ) को जानता है, वह मनःपर्यवज्ञान है। जैसे सामान्य व्यक्ति स्फुट आकारों के द्वारा मन के भावों को जानता है, वैसे ही मनःपर्यवज्ञानी मनोद्रव्यगत आकारों को देखकर उन-उन मानस भावों को जानता है।

(“मनःपर्यवज्ञान का विषय मन के द्वारा चिन्त्यमान वस्तु है या चिन्तनप्रवृत्त मनोद्रव्य की अवस्थाएं हैं—इस विषय में मतैक्य नहीं है। निर्युक्ति, तत्त्वार्थसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्रीय व्याख्याओं में पहला पक्ष वर्णित है; जबकि विशेषावश्यक भाष्य में दूसरे पक्ष का समर्थन किया गया है। योगभाष्यकार तथा मञ्जिमनिकायकार स्पष्ट शब्दों में यही कहते हैं कि ऐसे प्रत्यक्ष के द्वारा दूसरों के चित्त का ही साक्षात्कार होता है, चित्त के आलम्बन का नहीं।”

‘परचित्त का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान मनःपर्यवज्ञान है’, यह व्याख्या स्पष्ट नहीं है। ज्ञानात्मक चित्त को जानने की क्षमता मनःपर्यवज्ञान में नहीं है। ज्ञानात्मक चित्त अमूर्त है, जबकि मनःपर्यवज्ञान मूर्त वस्तु को ही जान सकता है। इस विषय में सभी जैन दार्शनिक एकमत हैं। मनःपर्यवज्ञान का विषय है मनोद्रव्य, मनोवर्गणा के पुद्गल स्कन्ध। ये पौद्गलिक मन का निर्माण करते हैं। मनःपर्यवज्ञानी उन पुद्गल स्कंधों का साक्षात्कार करता है। मन के द्वारा चिन्त्यमान वस्तु मनःपर्यवज्ञान का विषय नहीं है। चिन्त्यमान वस्तुओं को मन के पौद्गलिक स्कंधों के आधार पर अनुमान से जाना जाता है। चिन्त्यमान विषय वस्तु को साक्षात् नहीं जानता क्योंकि चिन्तन का विषय मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं। छद्मस्थ मनुष्य अमूर्त का साक्षात्कार नहीं कर सकता इसीलिए मनःपर्यवज्ञानी चिन्त्यमान वस्तु को अनुमान से जानता है। इसलिए मनःपर्यवज्ञान की पश्यता (पणवणा ३०/२) का निर्देश भी है।

सिद्धसेनगणी ने चिन्त्यमान विषय वस्तु को और अधिक स्पष्ट किया है। उनका अभिमत है कि मनःपर्यवज्ञान से चिन्त्यमान अमूर्त वस्तु ही नहीं, स्तम्भ, कुम्भ आदि मूर्त वस्तु भी नहीं जानी जाती। उन्हें अनुमान से ही जाना जा सकता है।

“चिन्तन करना द्रव्य मन का कार्य नहीं है। चिन्तन के क्षण में मनोवर्गणा के पुद्गल स्कंधों की आकृतियां अथवा पर्याय बनते हैं, वे सब पौद्गलिक होते हैं। भावमन ज्ञान है। ज्ञान अमूर्त है। अकेवली (छद्मस्थ मनुष्य) अमूर्त को जान नहीं सकता। वह चिन्तन के क्षण में पौद्गलिक स्कन्ध की विभिन्न आकृतियों का साक्षात्कार करता है। इसलिए मन के पर्यायों को जानने का अर्थ भावमन को जानना नहीं होता किन्तु भावमन के कार्य में निमित्त बनने वाले मनोवर्गणा के पुद्गल स्कंधों के पर्यायों को जानना होता है।”.....—नन्दी २३ का टि

मनःपर्यवज्ञानी के लिए नव अर्हताएं निर्धारित हैं—१. ऋद्धि प्राप्त २. अप्रमत्त संयत ३. संयत ४. सम्यग्दृष्टि ५. पर्याप्तक ६. संख्येयवर्षायुष्क ७. कर्मभूमिज ८. गर्भावक्रांतिक मनुष्य ९. मनुष्य। द्र श्रीआको १ मनःपर्यवज्ञान मनःपर्यवज्ञान आहारक अवस्था में होता है।

—भ ८/१८३)

५. केवलज्ञान की उत्पत्ति और स्वरूप

तओ षं समणस्स भगवओ महावीरस्स.....
झाणकोट्टोवगयस्स, सुक्कञ्जाणंतरियाए वट्टमाणस्स
निव्वाणे, कसिणे, पडिपुण्णे, अब्बाहए, गिरावरणे,
अणंते, अणुत्तरे केवलवरणाणदंसणे समुप्पण्णे ॥

से भगवं अरिहं जिणे जाए केवली सब्बण्णु
सब्बभावदरिसी, सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पज्जाए
जाणइ, तं जहा — आगतिं गतिं ठितिं चयणं उक्वायं भुत्तं
पीयं कडं पडिसेवियं आवीकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं
मणोमाणसियं सब्बलोए सब्बजीवाणं सब्बभावाइं
जाणमाणे पासमाणे, एवं च णं विहरइ।

(आचूला १५/३८, ३९)

शुक्लध्यान की अंतरिका में वर्तमान श्रमण भगवान् महावीर के घात्यकर्मक्षय से शांत-प्रशांत, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, अब्याहत, निरावरण, अनंत, अनुत्तर श्रेष्ठ केवलज्ञान-केवलदर्शन समुत्पन्न हुआ।

अब वे भगवान् अर्हत् जिन केवली हो गए—सर्वज्ञ और सर्वभावदर्शी। वे देव, मनुष्य और असुर सहित समस्त

लोक के पर्यायों को जानते हैं, जैसे—जीवों की आगति, गति, स्थिति, च्यवन और उपपात, उनके द्वारा भुक्त, पीत, कृत और प्रतिसेवित, प्रकट कर्म एवं गुप्त कर्म, उनके द्वारा लपित, कथित और मनोमानसिक, सर्वलोक के सब जीवों के सब भावों को जानते हुए—देखते हुए विहरण करते हैं।

पंकसलिले पसाओ, जह होइ कमेण तह इमो जीवो।
आवरणे झिज्जंते, विसुज्झए केवलं जाव॥
दव्वादिकसिणविसयं, केवलमेगं तु केवलन्नाणं।
अणिवारियवावारं, अणंतमविकप्पियं नियतं॥
(बृभा ३७, ३८)

जैसे कीचड़ से कलुषित जल कतकचूर्ण के योग से स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही जीव अपूर्वकरण गुणस्थान में क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होता है फिर विशुद्ध, विशुद्धतर अध्यवसाय के प्रभाव से आवरण (ज्ञानावरणपंचक, अंतराय-पंचक, दर्शनावरणीय चतुष्क) क्षीण होने पर इतना विशुद्ध हो जाता है कि वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

केवलज्ञान का स्वरूप—

१. समस्त द्रव्य-पर्याय जिसके विषय हैं,
२. केवल—असहाय, मति आदि ज्ञानों से निरपेक्ष,
३. एक—असाधारण, अनन्य सदृश,
४. अनिवारित व्यापार—अविरहित उपयोग,
५. अनन्त—ज्ञेय की अनन्तता के कारण,
६. अविकल्पित—भेद रहित,
७. नियत—सर्वकालभावी।

* केवलज्ञान के प्रकार आदि श्रीआको १ केवलज्ञान (छद्मस्थ मनुष्य केवल संयम, केवल संवर, केवल ब्रह्मचर्यवास और केवल प्रवचनमाता के द्वारा सिद्ध, प्रशांत, मुक्त नहीं हो सकते।.....आश्रव या क्लेश के क्षीण हो जाने पर व्यक्ति वीतराग हो सकता है, मुक्त नहीं हो सकता। संयम आदि मुक्त होने के परम्पर कारण हैं, किन्तु कोई भी जीव केवली हुए बिना मुक्त नहीं हो सकता। सामान्य ज्ञानी की बात ही क्या, परम अवधिज्ञान वाला व्यक्ति भी मुक्त नहीं हो सकता।—भ १/२००-२०८ भाष्य

उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक अर्हत्, जिन और केवली

को अलमस्तु ऐसा कहा जा सकता है। जो ज्ञान की परमकोटि तक पहुंच चुका है, जिसके लिए कोई ज्ञान पाना शेष नहीं है, वह अलमस्तु है।—भ १/२०९ वृ

केवली के दो उपयोग युगपत् नहीं होते।

—श्रीआको १ केवली

छद्मस्थ मनुष्य आरगत—इन्द्रियविषय की सीमा में आने वाले शब्दों को सुनता है, वह पारगत—इन्द्रियविषय की सीमा से परवर्ती शब्द को नहीं सुनता। केवली आरगत अथवा पारगत, अतिदूर, अतिनिकट तथा मध्यवर्ती शब्द को जानता-देखता है। केवली इन्द्रियों से नहीं जानता, वह आत्मा से जानता है। वह शब्द की ध्वनितरंगों को साक्षात् जान लेता है, कान से सुनने की कोई अपेक्षा नहीं होती। केवली सबको, सब ओर से, सब काल में, सब भावों को जानता-देखता है। उसका ज्ञान-दर्शन निरावरण होता है।—भ ५/६५-६७ भाष्य)

६. ज्ञान का प्रयोजन

.....तदद्दु जमिहस्सते णाणं॥
.....दंसणाइ आयारा तेसिं अट्ठो। (निभा ४५ चू)

दर्शन, चारित्र तप और वीर्य आचार की सम्यक् प्रवृत्ति एवं प्रयोग के लिए ज्ञान अभिलक्षणीय है, प्रयोजनीय है।

७. पहले ज्ञान, फिर आचरण

णाणे सुपरिच्छियत्थे, चरण-तव-वीरियं च तत्थेव ।
णज्जति अपणेति णाणं ।.....अत्था, ते य जीवा-
जीव-बंध-पुण्ण-पावासव-संवर-णिज्जरा-मोक्खो य ।
एते जया णाणेण सुदु परिच्छिन्ना भवन्ति तदा चरणतवा
पवत्तन्ति ।.....जं चरणतवायारादिविरहितं णाणं तं
निच्छयणायंगीकरणेण अण्णाणमेव । (निभा ४६ चू)

जिससे जाना जाता है, वह ज्ञान है। ज्ञान से जीव, अजीव, बंध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन तत्त्वों का बोध होता है। सम्यक् तत्त्वबोध होने पर ही दर्शन, चारित्र और तप प्रवर्तित होते हैं—उनकी प्रवृत्ति में पराक्रम प्रस्फुटित होता है।

दर्शन-चारित्र-तप के आचरण से रहित ज्ञान निश्चय नय के अधिमत में अज्ञान ही है।

८. ज्ञान विकास का क्रम

अव्वत्तमक्खरं पुण, पंचणह वि थीणगिद्धिसहिण्णं ।
णाणावरणुदण्णं, बिंदियमाई कमविसोही ॥

तं च सव्वथोवं पुढविकाइयाणं, कस्मात् ? निश्चे-
ष्टत्वात् । ततः क्रमाद् यावद् वनस्पतिकाइयाणं विसुद्ध-
तरं, ततो परं बिंदियमादी कमविसोही जाव अणुत्तरो-
ववाइयाणं, ततो वि चोहसपुव्वीणं विसुद्धतरं सव्वं ।

(बृभा ७५ चू)

पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति—ये पांचों
स्थावरकाय स्त्यानर्द्धि निद्रा से युक्त होते हैं। उनका ज्ञान
ज्ञानावरण-दर्शनावरण के अत्यंत उदय के कारण सुप्त या
मूर्च्छित प्राणी की तरह अव्यक्त होता है, सर्वथा आवृत नहीं
होता ।

पृथ्वीकायिक जीवों का ज्ञान सर्वजघन्य होता है
क्योंकि वे निश्चेष्ट होते हैं। अप्काय यावत् वनस्पति जीवों
का ज्ञान पृथ्वीकाय से विशुद्धतर होता है। उससे आगे द्वीन्द्रिय
आदि से लेकर अनुत्तरोपपातिक देवों तक का ज्ञान क्रमशः
विशुद्धतर होता है। चौदहपूर्वी का ज्ञान विशुद्धतम होता है।

(अनावृत ज्ञानविकास के क्रम का यंत्र—

पृथ्वीकाय	सर्वजघन्य ज्ञानाक्षर
अप्काय	अनंतभाग विशुद्धज्ञान
तेजस्काय	" "
वायुकाय	" "
वनस्पतिकाय	" "
द्वीन्द्रिय	" "
त्रीन्द्रिय	" "
चतुरिन्द्रिय	" "
असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यच	" "
सम्मूर्च्छिम मनुष्य	" "
गर्भज तिर्यच	" "
गर्भज मनुष्य	" "
व्यंतर देव	" "
भवनपति देव	" "
ज्योतिष्क देव	" "

कल्पोपपन्न देव	अनंतभाग विशुद्धज्ञान
नव ग्रैवेयक देव	" "
अनुत्तरोपपातिक देव	" "

—श्रीआको १ ज्ञान)

९. ज्ञान का परिमाण : अगुरुलघुपर्यव

इहैकैक आकाशप्रदेशः खल्वननैरगुरुलघुपर्यायैः
संयुक्तः, ते च सर्वेऽप्यगुरुलघुपर्याया ज्ञानेन ज्ञायन्ते, न च
येन स्वभावेनैको ज्ञायते तेनापरोऽपि, तयोरेकत्वप्रसंगात्,
किन्त्वन्येन स्वभावेन, ततो यावन्तोऽगुरुलघुपर्यायास्ता-
वन्तो ज्ञानस्वभावाः ।

'जावइय पज्जवा ते, तावइया तेसु नाणभेया वि ।'

इति भवति सर्वाकाशप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणम् ।

आह च बृहद्भाष्यम्—

अक्खरमुच्चइ नाणं, तं पुण होज्जाहि किं यमाणं तु ? ।
भण्णइ अणंतगुणियं, सव्वागासप्यएसेहिं ॥
किह होइ अणंतगुणं, सव्वागासप्यदेसरासीतो ? ।
भन्नइ जं एकैक्को, आगासस्सा पदेसो उ ॥
संजुत्तोऽणंतेहिं, अगुरुलघुपज्जवेहिं नियमेण ।
तेण उ अणंतगुणियं, सव्वागासप्यएसेहिं ॥

(बृभा ६४ की वृ)

एक-एक आकाशप्रदेश अनन्त अगुरुलघु पर्यायों से
संयुक्त है। वे सभी अगुरुलघु पर्याय ज्ञान के द्वारा ज्ञेय हैं।
जिस स्वभाव (ज्ञानभेद) से एक पर्याय को जाना जाता है, यदि
उसी स्वभाव से अपर पर्याय को जाना जाये तो एकत्व का प्रसंग
आता है किन्तु ऐसा नहीं होता। भिन्न-भिन्न स्वभाव से भिन्न-
भिन्न पर्यायों को जाना जाता है। जितने अगुरुलघु पर्याय हैं,
उतने ही ज्ञान के स्वभाव (भेद) होते हैं। इसलिए सर्व
आकाश प्रदेश से अनन्तगुण ज्ञान के पर्यव होते हैं।

बृहद्भाष्यकार ने लिखा है— "ज्ञान को अक्षर कहा
जाता है। शिष्य ने पूछा—ज्ञान का परिमाण कितना है? आचार्य
ने कहा—ज्ञान का परिमाण सभी आकाश-प्रदेशों से अनन्त
गुण है। शिष्य ने पुनः पूछा—यह कैसे? आचार्य ने कहा—
नियमतः एक-एक आकाश प्रदेश अनन्त अगुरुलघु पर्यायों से
युक्त है। इसलिए सर्व आकाश-प्रदेशों से अनन्तगुण ज्ञान के
पर्यव हैं।"

तप—कर्मशरीर को तपाने वाला अनुष्ठान।

तप का निर्वचन

तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो।

‘रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्ज-शुक्राण्यनेन तप्यंते।

कर्माणि चाशुभानीत्यतस्तपो नाम नैरुक्तम्॥’

(निभा ४६ की चू)

जिससे पापकर्म तप्त—विनष्ट होता है, वह तप है।

जिससे रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र—ये धातुएं तथा अशुभ कर्म संतप्त—क्षीण होते हैं, वह तप है—यह तप का निर्वचन है।

तप के बारह प्रकार

बारसविहम्मि वि तवे, सडिभतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।

(बृभा ११६९)

अर्हत् द्वारा तप के बारह प्रकार प्राप्त हैं। वे दो भागों में विभक्त हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप।

बाह्य तप के छह प्रकार हैं—

१. अनशन (द्र अनशन)
२. ऊनोदरिका (द्र आहार)
३. भिक्षाचर्या (द्र स्थविरकल्प)
४. रस-परित्याग (द्र स्वाध्याय)
५. कायक्लेश (द्र कायक्लेश)
६. प्रतिसंतीनता (द्र प्रतिमा)

आभ्यन्तर तप के छह प्रकार हैं—

१. प्रायश्चित्त
२. विनय
३. वैयावृत्य
४. स्वाध्याय
५. ध्यान
६. व्युत्सर्ग

—द्र सम्बद्ध नाम

इत्वरिक तप-यावत्कथिक तप

खमणित्ति चउत्थं छट्ठं अट्ठमं दसमं दुवालसमं

अद्धमासखमणं मास-दुमास-तिमास-चउपास-पंचमास-छम्पासा, सव्वं पि इत्तरं। आवकहियं वा।

(निभा २७ की चू)

उपवास, बेला, तेला, चोला, पंचोला (पांच उपवास), अर्धमासक्षण (पखवाड़ा), मासक्षण, दो मास, तीन मास, चार मास, पांच मास और छह मास का तप—ये सब इत्वरिक तप के

भेद हैं। (श्रमण महावीर के शासन में उत्कृष्ट इत्वरिक तप छहमासिक है।—द्र प्रायश्चित्त)

यावज्जीवन के लिए तपःकर्म स्वीकार करना यावत्कथिक तप है।—द्र अनशन

रत्नावलि आदि तप

.....तवो

रयणमादी ॥

तवोकम्मं...रयणावली...कणावली सीहनिक्की-लियं जवमज्झं वडरमज्झं चंदाणयं। (निभा २८७३ चू)

तपोयोग के अनेक प्रकार हैं—रत्नावलि, कनकावलि, सिंहनिष्क्रीडित, यवमध्यचन्द्रप्रतिमा, वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा आदि।

- | | |
|---------------------------------------|--------------------|
| * यवमध्यचन्द्रप्रतिमा, मोयप्रतिमा आदि | द्र प्रतिमा |
| * भिक्षुप्रतिमा और तप | द्र भिक्षुप्रतिमा |
| * परिहारविशुद्धि तप | द्र परिहारविशुद्धि |
| * शुद्धतप और परिहार तप | द्र परिहारतप |
| * तपयोग्य प्रायश्चित्त स्थान | द्र प्रायश्चित्त |
| * तप पारांचिक | द्र पारांचित |
| * तप : आचार का एक भेद | द्र आचार |
| * तप भावना | द्र जिनकल्प |
| * कृतकरण : तप से भावित | द्र कृतयोगी |
| * उपवास से चिकित्सा | द्र चिकित्सा |
| * तपस्वी के गोचरकाल | द्र पिण्डेषणा |
| * वर्षाकालीन तप से बलवृद्धि | द्र पर्युषणाकल्प |
| * तप हेतु चारित्र उपसंपदा | द्र उपसम्पदा |
| * आगाढयोगवहन | द्र स्वाध्याय |
| * श्रेणि-प्रतर आदि तप | द्र श्रीआको १ तप |

(० रत्नावलि तप—रत्नों की पंक्ति रत्नों के हार में होती है इसलिए यह तप हार की कल्पना के अनुसार किया जाता है। हार में ऊपर दोनों ओर दो दाडिमपुष्प होते हैं और नीचे की ओर बीच में एक बड़ा दाडिमपुष्प होता है। उसी कल्पना के अनुसार इस तप की विधि यह है—

काहिलिका के रूप में उपवास, बेला और तेला क्रमशः किया जाता है, फिर दाडिमपुष्प के रूप में ८ बेले किए जाते हैं, उसके नीचे सारिका आती है, उसमें उपवास से लेकर क्रमशः १६ दिन तक का तप किया जाता है। नीचे के बड़े दाडिमपुष्प में ३४ बेले फिर १६ दिन के तप से

क्रमशः उतरते-उतरते उपवास तक आते हैं, फिर दाडिमपुष्प के रूप में ८ बेले किए जाते हैं, फिर काहिलिका के रूप में क्रमशः तेला, बेला और उपवास किया जाता है। इस क्रम से रत्नावलि तप की एक परिपाटी पूर्ण होती है। एक परिपाटी में १ वर्ष ३ मास २२ दिन लगते हैं, जिसमें ३८४ दिन तप के और ८८ दिन पारणा के होते हैं। इस तप की चार आवृत्तियां होती हैं। चारों आवृत्तियों का क्रम यही है, केवल पारणा में अंतर आता है।

साधक पहली परिपाटी के पारणा में सर्व विकृति ले सकता है, दूसरी परिपाटी के पारणा में विकृति नहीं लेता, तीसरी परिपाटी के पारणा में लेप लगने वाली वस्तु का वर्जन करता है, चौथी परिपाटी में पारणा में आचाम्ल करता है। इस प्रकार चार आवृत्तियों में ५ वर्ष २ मास और २८ दिन का समय लगता है। इस तप की आराधना महासती काली ने की थी।

० कनकावलि तप—यह तप रत्नावली तप के समान है, अंतर केवल यही है कि दाडिमपुष्पों में रत्नावली तप में बेले किए जाते हैं और इस तप में तेले किए जाते हैं। इस तप की एक परिपाटी में १ वर्ष ५ मास १२ दिन लगते हैं, जिनमें ४३४ दिन का तप और ८८ दिन पारणा के होते हैं। कुल मिलाकर चार परिपाटी में ५ वर्ष ९ मास १८ दिन लगते हैं।

इस तप की आराधना महासती सुकाली ने की थी।

—जैन साधनापद्धति में तपोयोग, पृष्ठ ३४-३६

० लघु सिंहनिष्क्रीडित तप—यह तप सिंह की चाल से उपमित है। सिंह दो कदम आगे बढ़ता है फिर एक कदम पीछे रखता है, फिर दो कदम आगे बढ़ता है। इसी प्रकार इस तप में भी पूर्व-पूर्व आचरित तप की पुनः आराधना करता हुआ साधक आगे बढ़ता है। इसमें न्यूनतम एक उपवास और अधिकतम नव उपवास का तप किया जाता है। उसका क्रम यह है—

उपवास के पारणा पर बेला, बेला के पारणा पर उपवास। उसके पारणा पर तेला एवं तेला के पारणा पर बेला। इस प्रकार ९ दिन के उपवास तक चढ़ा जाता है और उसी क्रम से पुनः उतरा जाता है। इस तप की एक परिपाटी में ६ मास ७ दिन लगते हैं। चारों परिपाटियों में कुल २ वर्ष २८ दिन लगते हैं। पारणा की विधि रत्नावलि तप की भांति

है। इस तप की आराधना महासती महाकाली ने की थी।

० महासिंहनिष्क्रीडित तप—इस तप की विधि लघुसिंह-निष्क्रीडित तप के समान है, अंतर यह है कि इस तप में १६ दिन के उपवास तक आगे बढ़ा जाता है। इस तप की एक परिपाटी में १ वर्ष ६ मास १८ दिन तथा चार परिपाटियों में ६ वर्ष २ मास और १२ दिन लगते हैं। चारों आवृत्तियों में पारणे की विधि समान है। इस तप की आराधना महासती कृष्णा ने की थी।

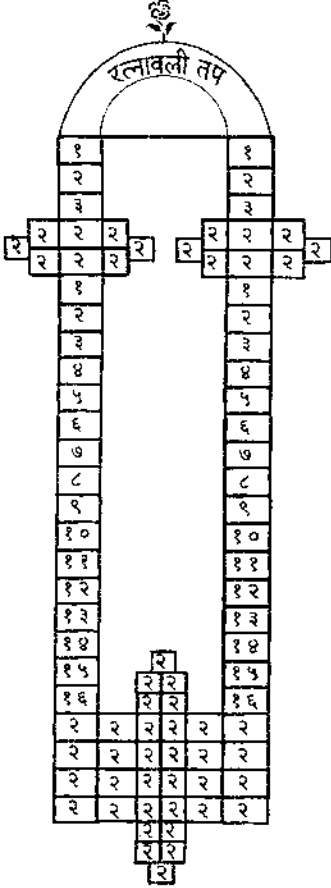
० भद्रोत्तर प्रतिमा—इसमें न्यूनतम पांच दिन का तप और अधिकतम नौ दिन का तप होता है। इस तप में पांच लताएं होती हैं, अतः प्रत्येक तप की पांच बार पुनरावृत्ति होती है। एक आवृत्ति में २०० दिन लगते हैं—१७५ दिन तप और २५ दिन पारण। चार परिपाटियों में कुल दो वर्ष दो मास बीस दिन लगते हैं। आर्या रामकृष्णा ने इस तप की आराधना की थी। द्रष्टव्य यंत्र—

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

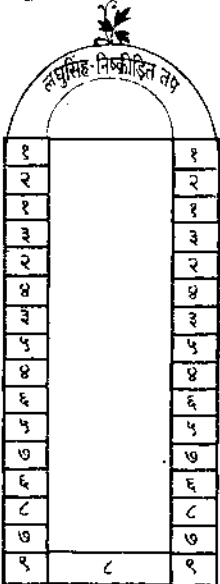
० मुक्तावलि तप—इसमें उपवास से लेकर सोलह दिन तक का तप किया जाता है किन्तु बीच-बीच में उपवास किया जाता है। यथा—उपवास बेला, उपवास तेला—इस क्रम से १६ तक पहुंच कर पुनः इसी क्रम से अवतरण होता है। इसकी चार परिपाटियां तीन वर्ष और दस मास से सम्पन्न होती हैं। साध्वी पितृसेनकृष्णा ने इस तप की आराधना की थी।

० आर्यबिल वर्धमान तप—इसमें एक आर्यबिल (आचाम्ल) से सौ की संख्या तक आरोहण होता है। प्रत्येक आर्यबिल के बाद उपवास किया जाता है। जैसे—आर्यबिल फिर उपवास, दो आर्यबिल फिर उपवास, तीन आर्यबिल फिर उपवास यावत् सौ आर्यबिल फिर उपवास। इस प्रकार इसमें ५०५० आर्यबिल और १०० उपवास किए जाते हैं। कुल समय १४ वर्ष ३ मास और २० दिन। आर्या महासेनकृष्णा ने इस तप की आराधना की थी।—अंतकृतदशा ८/२०-२२, ३०-३३)

रत्नावली तप

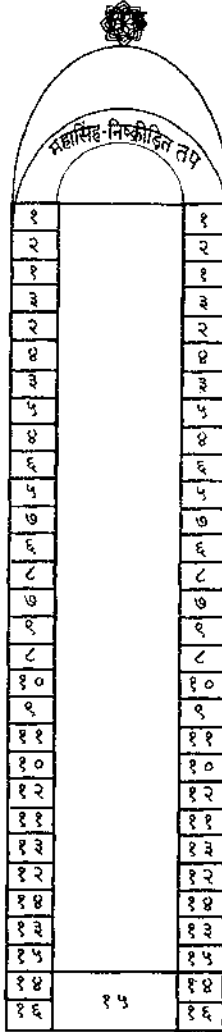


लघुसिंह-निष्क्रीडित तप

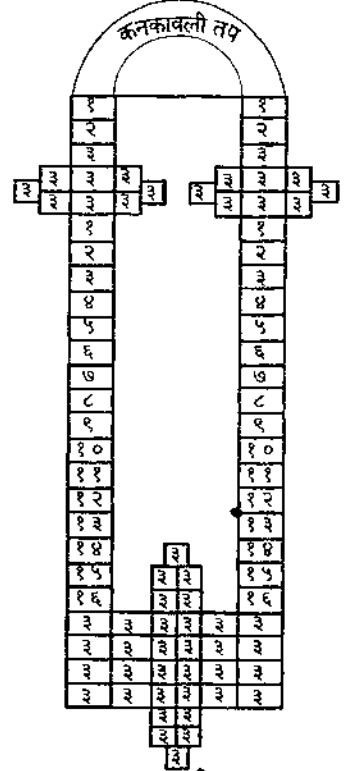


तप यंत्र

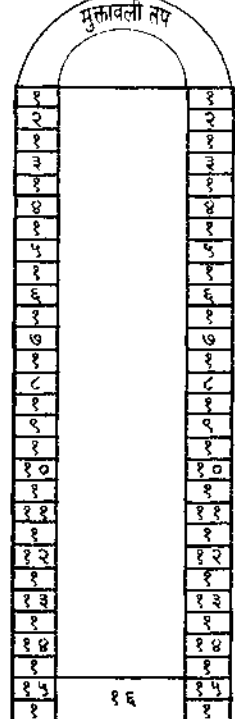
महासिंह-निष्क्रीडित



कनकावली तप



मुक्तावली तप



तिर्यच—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा पशु-पक्षी आदि
पंचेन्द्रिय। द्र जीविकाय

* तिर्यच के भेद... द्र श्रीआको १ तिर्यच

तीर्थकर—परम अर्हतासम्पन्न, प्रवचन—द्वादशांगी के
अर्थोपदेष्टा, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक।

१. अर्हत् ऋषभ के कल्याणक नक्षत्र
२. अर्हत् अरिष्टनेमि के कल्याणक नक्षत्र
 - गण और गणधर
३. पुरुषादानीय पार्श्व के कल्याणक नक्षत्र
 - अभिनिष्क्रमण
 - केवलज्ञान की उत्पत्ति
 - गण और गणधर
४. महावीर के कल्याणक नक्षत्र
५. महावीर का गर्भ में आगमन
 - च्यवन-संहरणकाल-ज्ञान
 - महावीर का गर्भ-संहरण
६. त्रिशला के स्वप्न और उनका फलित
७. महावीर द्वारा गर्भ में प्रतिज्ञा
 - जन्म
 - नामकरण
 - परिवार
८. महावीर का बाल्यकाल
 - विवाह
९. माता-पिता कालधर्म को प्राप्त
१०. अवधि ज्ञान से अभिनिष्क्रमणकाल-निर्णय
११. तीर्थकर द्वारा वर्षीदान
 - * लोकांतिक देवों द्वारा निवेदन द्र देव
१२. महावीर का अभिनिष्क्रमण
 - देवदूष्यधारी महावीर
 - केशलुंचन
 - सामायिकचारित्र ग्रहण
 - मनःपर्यवज्ञान-उत्पत्ति
१३. महावीर का अभिग्रह
१४. महावीर की अनुत्तर विहारचर्या
 - * कंबल-शबल देव : महावीर उपसर्ग-मुक्त द्र देव

१५. केवलज्ञान की प्राप्ति

* समवसरण रचना द्र समवसरण

१६. महावीर का धर्मोपदेश : जीविकाय-निरूपण

○ तीर्थकर कल्याणक, उपदेश, वचनातिशय

* अर्हत् वचन से कल्याण : रोहिण्येय दृष्टांत द्र देव

१७. महावीर के गण और गणधर

१८. लोहार्य-गौतम द्वारा वीर-भक्ति

* वीर-गौतम-सिंह दृष्टांत द्र वैयावृत्त्य

○ तीर्थकर भिक्षाटन नहीं करते

१९. तीर्थकर के अतिशय अनुधर्मता से मुक्त

२०. तीर्थकरों को भी व्यवहार मान्य : उदायन-प्रब्रज्या

२१. एक क्षेत्र में रहने का काल

२२. महावीर के वर्षावास

२३. महावीर का निर्वाण, सर्व आयु, अंतिम देशना

२४. निर्वाण रात्रि में घटित घटना प्रसंग

* ऋषभ आदि के अंतकृतभूमि..... द्र अंतकृत

१. अर्हत् ऋषभ के कल्याणक नक्षत्र

...उसभे षं अरहा कोसलिए...उत्तरासाढाहिं चुए
चइत्ता गळ्भं वक्कंते। उत्तरासाढाहिं जाए। उत्तरा- साढाहिं...
पव्वइए। उत्तरासाढाहिं...केवलवरणाणदंसणे समुघ्पन्ने।
अभीइणा परिनिव्वुए। (दशा ८ परि सू १६०)

कौशलिक अर्हत् ऋषभ के चार कल्याणक—च्यवन,
जन्म, दीक्षा और कैवल्यप्राप्ति उत्तराषाढा नक्षत्र में हुए। उनका
परिनिर्वाण अभिजित नक्षत्र में हुआ।

* ऋषभ आदि चौबीस तीर्थकर : जीवन परिचय
द्र श्रीआको १ तीर्थकर

२. अर्हत् अरिष्टनेमि के कल्याणक नक्षत्र

...अरहा अरिष्टनेमी पंचचित्ते होत्था...चित्ताहिं
चुए...जाए...पव्वइए...केवलवरणाणदंसणे समुघ्पन्ने...
परिनिव्वुए। वासाणं पढमे मासे...सावणसुद्धस्स पंचमी...
दारयं पयाया। (दशा ८ परि सू १२६, १२८)

अर्हत् अरिष्टनेमि के पांच कल्याणक चित्रा नक्षत्र में
हुए—१. च्यवन २. जन्म ३. दीक्षा ४. कैवल्यप्राप्ति ५. परि-
निर्वाण। वर्षा ऋतु के प्रथम मास—श्रावण शुक्ला पंचमी को
उनका जन्म हुआ।

० गण और गणधर

अरहओ णं अरिदुनेमिस्स अट्टारस गणा अट्टारस
गणहरा होत्था ॥ (दशा ८ परि सू १३१)

अर्हत् अरिष्टनेमि के अठारह गण, अठारह गणधर थे।

३. पुरुषादानीय पार्श्व के कल्याणक नक्षत्र

“पासे अरहा पुरिसादाणीए पंचविसाहे होत्था, तं
जहा—विसाहाहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते—जाए—
पव्वइए—केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने विसाहाहिं
परिनिव्वुए ॥ (दशा ८ परि सू १०८)

पुरुषादानीय (लोकमान्य) अर्हत् पार्श्व के पांच कल्याण
विशाखा नक्षत्र में हुए—च्यवन, जन्म, प्रव्रज्या, कैवल्यप्राप्ति
और परिनिर्वाण।

“पासे अरहा पुरिसादाणीए जैसे हेमंताणं दोच्चे
मासे—घोसबहुलस्स दसमी-पक्खेणं नवणहं मासाणं
बहुपडिपुण्णाणं अट्टमाणं राइंदियाणं विइक्कंताणं
पुव्वरत्तावरत्त-कालसमयंसि—दारयं पयाया ॥”

(दशा ८ परि सू १११)

हेमन्त ऋतु का दूसरा महीना, पौष के कृष्ण पक्ष की
दशमी, बहुप्रतिपूर्णा नौ मास साढ़े सात दिन-रात व्यतीत होने
पर मध्यरात्रि में अर्हत् पार्श्व का जन्म हुआ।

० अभिनिष्क्रमण

“पासस्स अरहओ पुरिसादाणीयस्स—हेमंताणं दोच्चे
मासे तच्चे पक्खे—घोसबहुलस्स एक्कारसी-पक्खेणं
पुव्वण्हकालसमयंसि विसालाए सिवियाए सदेवमणुयासुराए
परिसाए—वाणारसिं नगरिं—आसमपाए उज्जाणे—असोगवर-
पायवस्स अहे—सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयति—
सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ—अट्टमेणं भत्तेणं अपाणाएणं
विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं एणं देवदूसमायाय
तिहिं पुरिससएहिं सद्धिं मुंडे भवित्ता अगारओ अणगारियं
पव्वइए ॥ (दशा ८ परि सू ११३)

पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व ने हेमन्त के द्वितीय मास,
तृतीय पक्ष, पौष कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन, पूर्वाह्न काल
में, विशाला शिविका में बैठकर देव, मानव और असुरों की
परिषद् के साथ अभिनिष्क्रमण किया। वाराणसी नामक नगरी

से निष्क्रमण कर आश्रमपद नामक उद्यान में अशोकवृक्ष के
नीचे—स्वयं आभूषण, मालाएं और अलंकार उतारकर स्वयं
ही पंचमुष्टि लोच किया। तीन दिन का निर्जल उपवास,
विशाखा नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग, एक देवदूष्य वस्त्र को
धारण कर तीन सौ पुरुषों के साथ मुण्ड हो, अगार से
अनगारता में प्रव्रजित हुए।

० केवलज्ञान की उत्पत्ति

तए णं पासे अरहा पुरिसादाणीए—अप्याणं भावे-
माणस्स तेसीइं राइंदियाइं विइक्कंताइं चउरासीइमस्स
राइंदियस्स अंतरा वट्टमाणस्स जैसे गिम्हाणं पढमे मासे
पढमे पक्खे—चित्तबहुले, तस्स णं चित्तबहुलस्स चउथी-
पक्खेणं पुव्वण्हकालसमयंसि धायइपायवस्स अहे छट्ठेणं
भत्तेणं अपाणाएणं विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं
झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते—केवलवरनाणदंसणे
समुप्पन्ने— ॥ (दशा ८ परि सू ११५)

अनुत्तर संयम आदि से अपने आपको भावित करते हुए
अर्हत् पार्श्व के तैयासी अहोरात्र व्यतीत हो गए। चौरासीवां
दिन। ग्रीष्म ऋतु का प्रथम महीना, प्रथम पक्ष, चैत्र कृष्ण
चतुर्थी, पूर्वाह्न का समय, धातकी वृक्ष के नीचे, दो दिन का
निर्जल उपवास, विशाखा नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग,
शुक्लध्यान की अन्तरिका में वर्तमान अर्हत् पार्श्व को अनन्त
प्रवर केवलज्ञान और दर्शन समुत्पन्न हुए।

० गण और गणधर

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अट्ट गणा अट्ट
गणहरा होत्था, तं जहा—

सुंभे य अरुज्जघोसे य, वसिड्ढे बंधयारि य।
सोमे सिरिहरे चेष, वीरभडे जसे वि य ॥
(दशा ८ परि सू ११६)

पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व के आठ गण, आठ गणधर
थे—

- | | |
|---------------|------------|
| १. शुंभ | ५. सोम |
| २. आर्यघोष | ६. श्रीधर |
| ३. वशिष्ठ | ७. वीरभद्र |
| ४. ब्रह्मचारी | ८. यश |

४. महावीर के कल्याणक नक्षत्र

“समणे भगवं महावीरं पंचहत्थुत्तरे यावि होत्था—

१. हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते २. हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए ३. हत्थुत्तराहिं जाए ४. हत्थुत्तराहिं सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए ५. हत्थुत्तराहिं“अणुत्तरे केवलवरनाणदंसणे समुप्यण्णे । साइणा भगवं परिनिव्वुए ॥ (आचूला १५/१, २)

श्रमण भगवान महावीर के पांच कल्याण हस्तोत्तर (उत्तराफाल्गुनी) नक्षत्र में हुए—१. हस्तोत्तर नक्षत्र में च्युत हुए, च्युत होकर गर्भ में अवक्रांत हुए, २. देवानंदा के गर्भ से त्रिशला के गर्भ में संहत हुए, ३. जन्मे, ४. सर्वात्मना मुण्डित होकर अगारधर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित हुए, ५. अनुत्तर केवलज्ञानवरदर्शन को सम्प्राप्त हुए ।

स्वाति नक्षत्र में भगवान का परिनिर्वाण हुआ ।

५. महावीर का गर्भ में आगमन

समणे भगवं महावीरं इमाए ओसप्पिणीए“दुसम-सुसमाए समाए बहु वीतिकंताए—पण्हत्तरीए वासेहिं, मासेहिं य अद्धणवमेहिं सेसेहिं, जे से गिग्हाणं चउत्थे मासे, अट्टमे पक्खे—आसाढसुद्धे, तस्स णं आसाढसुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं“महाविजय-सिद्धत्थ-पुप्फुत्तरं“वद्धमाणाओ महाविमाणाओ वीसं सागरोवमाइं आउयं पालइत्ता“चुए चइत्ता इह खलु जंबुहीवे दीवे, भारहे वासे, दाहिणड्ढुभरहे दाहिणमाहणकुंडपुरसन्निवेशंसिं उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणसगोत्ताए सीहोब्भवभूएणं अप्पाणेणं कुच्छिसि गब्भं वक्कंते ॥

(आचूला १५/३)

इस अवसर्पिणी कालखंड में दुःषम-सुषमा अर के बहुत बीत जाने पर, पचहत्तर वर्ष और साढे आठ महीने शेष रहने पर, ग्रीष्म का चौथा महीना, आठवां पक्ष—आषाढ का शुक्ल पक्ष, षष्ठी तिथि को श्रमण भगवान महावीर महाविजय-सिद्धार्थ-पुष्पोत्तरं“वर्धमानक महाविमान में बीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर च्युत हुए, च्युत होकर इसी जम्बूद्वीप द्वीप में, भरतवर्ष के दक्षिणार्ध भरत में, दक्षिण

ब्राह्मण-कुण्डपुर सन्निवेश में कोडालसगोत्र ऋषभदत्त ब्राह्मण की भार्या जालंधरगोत्रीया देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि में सिंह-उद्भव की भांति गर्भ रूप में उत्पन्न हुए ।

० च्यवन-संहरणकाल-ज्ञान

समणे भगवं महावीरं तिणाणोवगए यावि होत्था—चइस्सामित्ति जाणइ, चुएमित्ति जाणइ, चयमाणे न जाणेइ, सुहुमे णं से काले पण्णत्ते ॥

“साहरिज्जिस्सामित्ति जाणइ, साहरिएमित्ति जाणइ, साहरिज्जमाणे वि जाणइ“ ॥

‘चयमाणे ण जाणइ’ त्ति आन्तर्मुहूर्तिकत्वा-च्छदास्थोपयोगस्य, च्यवनकालस्य च सूक्ष्मत्वात् ।

(आचूला १५/४, ७ वृ)

श्रमण भगवान महावीर तीन ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि) से सम्पन्न थे—च्यवन होगा—यह जानते थे, च्यवन हो गया है—यह जानते थे, च्यवन हो रहा है—यह नहीं जानते थे, क्योंकि छदास्थ का उपयोग आंतर्मुहूर्तिक होता है और च्यवन का काल बहुत सूक्ष्म होता है । महावीर ‘मेरा संहरण होगा’—यह जानते थे, संहरण हो गया है—यह जानते थे, संहरण हो रहा है—यह भी जानते थे । (च्यवन एक समय में हो सकता है, स्वतः होता है, अज्ञेय है । संहरण में असंख्यात समय लगते हैं, परकृत है, ज्ञेय है ।)

० महावीर का गर्भ-संहरण

“समणस्स भगवओ महावीरस्स अणुकंपए णं देवे णं ‘जीयमेयं’ त्ति कट्टु जे से वासाणं तच्चे मासे, पंचमे पक्खे—आसोयबहुले, तस्स णं आसोयबहुलस्स तेरसी-पक्खेणं“बासीतिहिं राइंदिएहिं वीइवक्कंतेहिं तेसीइमस्स राइंदियस्स परियाए वट्टमाणे“तिसलाए खत्तियाणीए वासिड्ढ-सगोत्ताए असुभाणं पुग्गलाणं अवहारं करेत्ता, सुभाणं पुग्गलाणं पक्खेव करेत्ता कुच्छिसि गब्भं साहरइ ॥

जे वि य से तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिसि गब्भे, तं पि य“देवाणंदाए“कुच्छिसि साहरइ ॥ (आचूला १५/५, ६)

श्रमण भगवान महावीर के अनुकम्पक देव ने ‘यह जीत आचार है’ ऐसा सोचकर, वर्षाकाल का तीसरा महीना,

पांचवां पक्ष—आश्विन मास का कृष्ण पक्ष, त्रयोदशी तिथि, बयासी रात्रियां बीतने पर तैंयासीवीं मध्यरात्रि में त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि से अशुभ पुद्गलों का अपहार कर, शुभ पुद्गलों का प्रक्षेप कर गर्भ का संहरण किया—प्रवेश कराया।

जो त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भ था, उसे भी देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि में संहृत (स्थापित) किया।

(देवेन्द्र शक्र की आज्ञाप्ति से हरि-नैगमेषी देव ने महावीर का गर्भ-संहरण किया था।—दशा ८ परि सू १४-१७)

शक्र का दूत हरि-नैगमेषी देव...सुखपूर्वक योनि से गर्भ में संहरण करता है। वह स्त्री के गर्भ का नख के अग्रभाग अथवा रोमकूप से संहरण अथवा निर्हरण करने में समर्थ है। ऐसा करते समय वह गर्भ को किंचिद् भी आबाधा-विबाधा उत्पन्न नहीं करता है और न उसका छविच्छेद करता है।—भ ५/७६, ७७

सुलसा ने हरि-नैगमेषी की प्रतिमा बनाकर उसकी आराधना की थी। हरि-नैगमेषी ने सुलसा के मृत पुत्रों को करतल-सम्पुट में उठाकर देवकी के पास और देवकी के पुत्रों को सुलसा के पास रखा था।—अंत ३/३५-४१)

६. त्रिशला के स्वप्न और उनका फलित

“तिसलाए खत्तियाणीए...पुव्वरत्तावरत्तकाल-समयंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी-ओहीरमाणी इमेयारूवे ओराले जाव चोइस महासुमिणे पासित्ताणं पडिबुद्धा, तं जह—

गय वसह सीह अभिसेय दाम ससि दिणयरं झयं कुंभं।

पउमसर सागर विमाणभवण रयणुच्चय सिहिं च ॥

तए णं सा तिसला खत्तियाणी...सिद्धत्थं खत्तियं...एवं वयासी—एवं खलु अहं सामी!...चोइस महा-सुमिणे पासित्ताणं पडिबुद्धा...। तं एतेसिं सामी!...के मन्ने कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सइ?.....

तए णं सिद्धत्थे खत्तिए...सुमिणलक्खणपाढए एवं वयासि...तए णं ते सुमिणलक्खणपाढगा...एवं वयासी...तिसला खत्तियाणी...सुरूवं दारयं पयाहिइ...से वि य णं दारए...जोव्वणगमणुप्यत्ते सूरे...चाउरंतचक्कवट्टी रज्ज-वई राया भविस्सइ, जिणे वा तेलोक्कनायाए धम्मवर-चक्कवट्टी...। (दशा ८ परि सू २०, ३७, ४६, ४७)

त्रिशला क्षत्रियाणी मध्यरात्रि के समय अर्धजागृत अवस्था में बार-बार ऊंघती हुई चौदह महास्वप्न देखकर जाग उठी। यथा—हाथी, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, फूलों की माला, चांद, सूर्य, ध्वजा, कुंभ, पद्मसरोवर, सागर, देवविमान, रत्नराशि और अग्नि।

त्रिशला ने राजा सिद्धार्थ से कहा—स्वामिन्! आज मैं गज, वृषभ आदि चौदह महास्वप्न देखकर जाग उठी। स्वामिन्! क्या मैं मानूं इन उदार चौदह महास्वप्नों का कल्याणकारी विशिष्ट फल होगा?

राजा सिद्धार्थ ने स्वप्नपाठकों को स्वप्न-फल पूछा। स्वप्नपाठकों ने कहा—इन स्वप्नों के अनुसार त्रिशला क्षत्रियाणी एक सुंदर बालक को जन्म देगी। वह बालक युवावस्था को प्राप्त कर पराक्रमी, चातुरन्त चक्रवर्ती राजा बनेगा अथवा त्रिलोकनाथ श्रेष्ठ धर्मचक्रवर्ती जिन होगा।

७. महावीर द्वारा गर्भ में प्रतिज्ञा

“समणे भगवं महावीरे माउअणुकंषणट्टाए निच्चले णिण्फंदे निरेयणे अल्लीणपल्लीणगुत्ते या वि होत्था ॥

तए णं तीसे तिसलाए...चिंतासोगसागरं संपविट्टा...महावीरे माऊए अयमेयारूवं...विजाणित्ता एगदेसेणं एयइ ॥

तए णं सा तिसला खत्तियाणी हट्टुट्टा...तए णं समणे भगवं महावीरे गब्भत्थे चेत इमेयारूवं अभिगहं अभि-गिणहइ—नो खलु मे कय्यइ अम्मापिईहिं जीवंतेहिं मुंडे भवित्ता अगारवासाओ अणगारियं पव्वइत्ताए ॥

(दशा ८ परि सू ५३-५७)

श्रमण भगवान महावीर माता की अनुकंपा के लिए निश्चल, निस्पंद, निष्कंप, आलीन-प्रलीनगुप्त हो गए। इससे त्रिशला चिंताशोकसागर में डूब गई। महावीर ने मां को इस प्रकार देखकर कुछ हलन-चलन किया। माता त्रिशला प्रसन्न हुई। श्रमण भगवान महावीर ने गर्भ में ही अभिग्रह ग्रहण किया कि मैं माता-पिता के जीवित रहते मुंड होकर अगारवास से अनगारता में प्रवर्जित नहीं होऊंगा।

० जन्म

“णवणहं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं, अद्धट्टमाणं राइंदियाणं वीत्तिकंताणं, जे से गिम्हाणं पढमे मासे, दोच्चे

पक्खे—चेतसुद्धे, तस्स णं चेतसुद्धस्स तेरसी-
पक्खेणं””महावीरं अरोया अरोयं पसूया।

””तण्णं रयणं बहवे देवा य देवीओ य एगं महं
अमयवासं च, गंधवासं च, चुण्णवासं च, हिरण्णवासं च,
रयणवासं च वासिंसु ॥ (आचूला १५/८, १०)

बहुप्रतिपूर्ण नौ माह और साढे सात अहोरात्र बीतने
पर, ग्रीष्म का पहला महीना, दूसरा पक्ष—चैत्रमास का
शुक्लपक्ष, त्रयोदशी तिथि को त्रिशला क्षत्रियाणी ने स्वस्थ
अवस्था में स्वस्थ महावीर को जन्म दिया।

उस रात्रि को बहुत से देव-देवियों ने अमृत, गंध,
चूर्ण, हिरण्य और रत्नों की विपुल वर्षा की।

० नामकरण

””तस्स णं इमे तिण्ण णामधेज्जा””१. अम्मा-
पिउसंतिए””वद्धमाणे””२. सह-सम्मइए””समणे””३. ”भीमं
भयभेरवं अचेलयं परिसहं सहइ””त्ति कट्टु देवेहिं से णामं
कयं””समणे भगवं महावीरे ॥” (आचूला १५/१६)

वे इन तीन नामों से संबोधित किए जाते थे, जैसे—

१. उनका माता-पिता के द्वारा प्रदत्त नाम वर्धमान।
२. उन्हें सहज ज्ञान प्राप्त था, इसलिए समण कहलाए।
३. भीम, अति भयंकर अचेल परीषह को सहते हैं—यह
जानकर देवों ने उनका नाम रखा—श्रमण भगवान महावीर।

० महावीर का परिवार

””महावीरस्स पिआ कासवगोत्तेणं। तस्स णं
तिण्ण णामधेज्जा””सिद्धत्थे ति वा, सेज्जंसे ति वा, जसंसे
ति वा ॥””अम्मा””तिण्ण णामधेज्जा””तिसला ति वा,
विदेहदिण्णा ति वा, पियकारिणी ति वा ॥””पित्तियए
सुयासे””जेट्टे भाया णंदिवद्धणे””जेट्टा भइणी सुदंसणा””
महावीरस्स भज्जा जसोया कोडिण्णागोत्तेणं ॥””धूया””
अणोज्जा ति वा, पियदंसणा ति वा ॥””णत्तुई कोसिया-
गोत्तेणं””सेसवती ति वा, जसवती ति वा ॥

(आचूला १५/१७-२४)

महावीर के पिता काश्यपगोत्रीय थे। उनके तीन नाम
थे—१. सिद्धार्थ, २. श्रेयांस, ३. यशस्वी। मां के तीन नाम
थे—१. त्रिशला, २. विदेहदत्ता, ३. प्रियकारिणी।

चाचा सुपाश्व, ज्येष्ठ भ्राता नंदीवर्धन, ज्येष्ठा भगिनी
सुदर्शना, महावीर की पत्नी यशोदा कौडिन्यगोत्रीय थी। पुत्री
के दो नाम थे—अनवद्या, प्रियदर्शना। दौहित्री कौशिकगोत्रीय
थी। उसके दो नाम थे—शेषवती, यशस्वती।

८. महावीर का बाल्यकाल

””महावीरे पंचधातिपरिवुडे, (तं जहा—खीर-
धाईए, मज्जणधाईए, मंडावणधाईए, खेल्लावणधाईए,
अंकधाईए)”” (आचूला १५/१४)

महावीर पांच धातियों से परिकृत थे, (जैसे—क्षीरधात्री,
मज्जनधात्री, मण्डनधात्री, क्रीडनधात्री और अंकधात्री)।

० विवाह

””विणियत्तबाल-भावे अय्युस्सुयाइं उरालाइं माणु-
स्सगाइं पंचलक्खणाइं कामभोगाइं सह-फरिस-रस-रूव-
गंधाइं परियारेमाणे, एवं च णं विहरइ ॥ (आचूला १५/१५)

महावीर बालभाव से विनिवृत्त हुए, मनुष्य संबंधी
पांच प्रकार के—शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध—उदार कामभोगों
का अनुत्सुकता (अनासक्ति) से भोग करते हुए रहने लगे।

९. माता-पिता कालधर्म को प्राप्त

”””महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा
समणोवासणा यावि होत्था। ते णं बहूइं वासाइं समणोवास-
गयरियागं पालइत्ता””कुससंथारं दुरुहित्ता भत्तं पच्च-
क्खाइंति, भत्तं पच्चक्खाइत्ता अपच्छिमाए मारणंतियाए
सरीर-संलेहणाए सोसियसरीरा कालमासे कालं किच्चा
तं सरीरं विष्यजहित्ता अच्चुए कप्ये देवत्ताए उववण्णा। तओ
णं आउक्खएणं””चइत्ता महाविदेहवासे चरिमेणं उस्सा-
सेणं सिज्झिस्संति”” ॥ (आचूला १५/२५)

महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्व की परम्परा के
श्रमणोपासक थे। उन्होंने बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक धर्म का
पालन किया, अंतिम समय में कुश के संस्तारक पर आरूढ हो
भक्तप्रत्याख्यान अनशन किया, आहार का प्रत्याख्यान कर
अपश्चिम मारणांतिक शरीर-संलेखना से शरीर को शोषित
कर मृत्युकाल प्राप्त होने पर मृत्यु को प्राप्त कर उस शरीर को
छोड़कर अच्युत कल्प में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहां से

आयुक्षय होने पर च्यवन कर महाविदेहक्षेत्र में चरम उच्छ्वास में सिद्ध होंगे।

१०. अवधिज्ञान से अभिनिष्क्रमणकाल निर्णय

पुत्रि यि य णं समणस्स भगवओ महावीरस्स माणुस्सगाओ गिहत्थधम्माओ अणुत्तरे आहोहिए अप्पडिवाई नाणदंसणे होत्था। तए णं समणे भगवं महावीर तेणं अणुत्तरेणं आहोहिएणं नाणदंसणेणं अप्पणो निक्खमणकालं आभोएइं । (दशा ८ परि सू ७४)

“विदेहसुमाले तीसं वासाइं विदेहत्ति कडु अगारमञ्जे वसित्ता अम्मापिउरिहिं कालगएहिं देवलोगमणुपत्तेहिं समत्त-पइणणे संवच्छंरं दलइत्ता जे से हेमंताणं पढमे मासे पढमे” मगसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं णक्खत्तेणं जोगेवगएणं अभिणिक्खमणाभिप्पाए यावि होत्था।

(आचूला १५/२६)

श्रमण भगवान् महावीर को पहले से ही मनुष्य-धर्मतायुक्त (केवल मनुष्य को होने वाला) अनुत्तर, अप्रतिपाति आधोवधि ज्ञानदर्शन प्राप्त था। उस ज्ञान से उन्होंने अपने निष्क्रमणकाल को जाना।

विदेहसुकुमार तीस वर्षों तक विदेह रूप में घर में रहे। माता-पिता कालधर्म को प्राप्त कर देवलोक में उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् अपनी प्रतिज्ञा की पूर्णता को जानकर महावीर ने वर्षभर दान दिया। हेमन्त ऋतु के प्रथम मास का पहला पक्ष—मार्गशीर्ष का कृष्ण पक्ष। दशमी तिथि। चन्द्रमा के साथ उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का योग। अभिनिष्क्रमण का निर्णय (संकल्प) किया।

११. तीर्थकर द्वारा वर्षीदान

संवच्छेण होहिति, अभिणिक्खमणं तु जिणवरिदस्स।
तो अत्थ-संपदाणं, पवत्तई पुव्वसूराओ ॥
एगा हिरण्णकोडी, अट्टेव अणूणया सयसहस्सा।
सुरोदयमाईयं, दिज्जइ जा पायरासो त्ति ॥
तिण्णेव च कोडिसया, अट्टासीतिं च होति कोडीओ।
असितिं च सयसहस्सा, एयं संवच्छेरे दिण्णं ॥

(आचूला १५/२६/१-३)

तीर्थकर अभिनिष्क्रमण से एक वर्ष पूर्व, सूर्योदय से

अर्थ और सम्पदा-दान में प्रवृत्त होते हैं। सूर्योदय से प्रातराश—प्रभातकालीन भोजन के समय तक एक करोड़ और पूरी आठ लाख स्वर्णमुद्राओं का दान करते हैं। पूरे वर्ष में कुल तीन अरब, अठासी करोड़ अस्सी लाख मुद्राएं देते हैं।

१२. महावीर का अभिनिष्क्रमण

“से हेमंताणं पढमे मासे पढमे पक्खे—मगसिर-बहुले, तस्स णं मगसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं, सुव्वएणं दिवसेणं, विजएणं मुहुत्तेणं, हत्थुत्तराहिं णक्खत्तेणं, जोगे-वगएणं, पाईणगामिणीए छायाए, वियत्ताए पोरिसीए, छट्टेणं भत्तेणं अपाणएणं, एगसाडगमायाए, चंदपप्पाए सिवियाए सहस्सवाहिणीए, सदेवमणुयासुराए परिसाए” जेणेव णायसंडे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइं” पुरत्थाभिमुहे सीहासणे णिसीयइ, आभरणालंकारं ओमुयइ। तओ णं वेसमणे देवे जन्नुव्वायपडिए समणस्स भगवओ महा-वीरस्स हंसलक्खणेणं पडेणं आभरणालंकारं पडिच्छइ।

(आचूला १५/२९)

हेमन्त ऋतु के प्रथम मास का प्रथम पक्ष—मार्गशीर्ष का कृष्ण पक्ष। दशमी तिथि, सुव्रत दिवस। विजय मुहूर्त्त। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का योग। पूर्वगामिनी छाया। अंतिम प्रहर का समय। दो दिन का निर्जल उपवास। उन्होंने एक शाटक लेकर सहस्र-वाहिनी चन्द्रप्रभा नामक शिविका में बैठ अभिनिष्क्रमण किया। देव, मनुष्य और असुरों की परिषद् उनके पीछे-पीछे चल रही थी। शिविका जहां ज्ञातखंड उद्यान था, वहां पहुंची। उससे उतरकर महावीर पूर्वाभिमुख सिंहासन पर बैठे, आभरण-अलंकार उतारे। तत्पश्चात् वैश्रवण देव ने घुटनों के बल बैठ श्रमण भगवान् महावीर के आभरण-अलंकारों को एक श्वेत वस्त्रखंड में ग्रहण किया।

० देवदूष्यधारी महावीर

“एणं देवदूसमादाय एगे अबीए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥” महावीर संवच्छंरं साहियं मासं जाव चीवरधारी होत्था, तेण परं अचेले पाणिपडि-ग्गहए ॥ (दशा ८ परि सू ७५, ७६)

महावीर एक देवदूष्य ग्रहण कर, अकेले, अद्वितीय

मुंड होकर अगारता से अनगारता में प्रव्रजित हुए। महावीर तेरह मास तक चीवरधारी रहे, उसके पश्चात् अचेल और पाणिपात्र हो गए।

० केशलुंचन

.....समणे भगवं महावीरे दाहिणेणं दाहिणं वामेणं वामं पंचमुट्टियं लोयं करेइ ॥

ततो णं सक्के देविंदे देवराया समणास्स भगवओ महावीरस्स जन्नुव्वायपडिए वयरामएणं थालेणं केसाइं पडिच्छइ, पडिच्छिता 'अणुजाणेसि भंते' ति कट्टु खीरो-यसायरं साहरइ ॥ (आचूला १५/३०, ३१)

दीक्षा के समय श्रमण भगवान महावीर ने दाहिने हाथ से दाहिनी ओर का एवं बायें हाथ से बायीं ओर का पंचमुष्टि केश-लुंचन किया।

तब देवेन्द्र देवराज शक्र ने घुटनों के बल बैठ श्रमण भगवान महावीर की केशराशि को वज्ररत्नमय थाल में ग्रहण किया, ग्रहण कर "भंते! आपकी आज्ञा है"—ऐसा कह उस केशराशि को क्षीरोद सागर में प्रवाहित कर दिया।

० सामायिक चारित्र ग्रहण

.....लोयं करेत्ता सिद्धाणं णमोक्कारं करेइ, करेत्ता, "सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं" ति कट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ..... । (आचूला १५/३२)

महावीर ने केश-लुंचन कर सिद्धों को नमस्कार किया, नमस्कार कर "(आज से) मेरे लिए सब पापकर्म अकरणीय हैं"—इस संकल्प के साथ सामायिकचारित्र स्वीकार किया।

० मनःपर्यवज्ञान-उत्पत्ति

.....महावीरस्स सामाइयं खाओवसमियं चरित्तं पडिवन्नस्स मणपज्जवणाणे णामं णाणे समुप्यन्ने..... । (आचूला १५/३३)

क्षायोपशमिक सामायिक चारित्र प्रतिपन्न महावीर को मनःपर्यवज्ञान समुत्पन्न हुआ।

१३. महावीर का अभिग्रह

.....महावीरे पव्वइते समाणे.....अभिग्रहं अभि-

गिण्हइ—'बारसवासाइं वोसट्टुकाए चत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति...दिव्वा वा माणुसा वा तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्यण्णे समाणे अणाइले अव्वहिए अहीण-माणसे तिविहमणवयणकायगुत्ते सम्मं सहिस्सामि' ॥

(आचूला १५/३४)

महावीर ने प्रव्रजित होकर यह अभिग्रह ग्रहण किया—'मैं बारह वर्ष पर्यंत शरीर का व्युत्सर्ग और देह का त्याग करूंगा—शरीर की सार-संभाल नहीं करूंगा। इस अवधि में देव, मनुष्य और तिर्यच संबंधी जो भी उपसर्ग उत्पन्न होंगे, उन्हें मैं अनाकुल, अव्यथित और अदीनभाव से मन, वचन और काया—इन तीनों से गुप्त रहकर सम्यक् प्रकार से सहन करूंगा।'

१४. महावीर की अनुत्तर विहारचर्या

.....समणे भगवं महावीरे वोसट्टुचत्तदेहे अणुत्तरेणं आलएणं, अणुत्तरेणं विहारेणं, अणुत्तरेणं संजमेणं, अणुत्तरेणं पगहेणं, अणुत्तरेणं संवरेणं, अणुत्तरेणं तव्वेणं, अणुत्तरेणं बंधचेरवासेणं, अणुत्तराए खंतीए, अणुत्तराए मोत्तीए, अणुत्तराए तुट्ठीए, अणुत्तराए समितीए, अणुत्तराए गुत्तीए, अणुत्तरेणं ठाणेणं, अणुत्तरेणं कम्मेणं, अणुत्तरेणं सुचरियफल-णिव्वाणमुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ (आचूला १५/३६)

श्रमण भगवान महावीर शरीर का व्युत्सर्ग कर, देहाध्यास से मुक्त होकर अनुत्तर आलय, अनुत्तर विहार, अनुत्तर संयम, अनुत्तर प्रग्रह (निग्रह), अनुत्तर संवर, अनुत्तर तप, अनुत्तर ब्रह्मचर्यवास, अनुत्तर क्षांति, अनुत्तर मुक्ति (निलोभता), अनुत्तर संतुष्टि (संतुष्टि), अनुत्तर समिति, अनुत्तर गुप्ति, अनुत्तर स्थान (कायोत्सर्ग), अनुत्तर कर्म और अनुत्तर उपशम सार वाले श्रमण्य तथा मुक्तिमार्ग—ज्ञान-दर्शन-चारित्र से अपने आपको भावित करते हुए विहरण करने लगे।

(परमावधि ज्ञान की प्राप्ति—साधना का छठा वर्ष। वानमंतरी कटपूतना द्वारा भयंकर उपसर्ग की स्थिति उत्पन्न किये जाने पर भी भगवान् महावीर ध्यान में अविचल रहे। उस समय उन्हें विशिष्ट अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे वे सम्पूर्ण लोक को देखने लगे।—३ श्रीआको १ तीर्थकर)

१५. केवलज्ञान की उत्पत्ति

तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स बारसवासा विइक्कंता, तेरस-मस्स य वासस्स परिआए वट्टमाणस्स जे से गिम्हाणं दोच्चे मासे चउत्थे पक्खे—वइसाहसुद्धे, तस्स णं वइसाहसुद्धस्स दसमीपक्खेणं, सुव्वएणं दिवसेणं, विजएणं मुहुत्तेणं, हत्थुत्तराहिं णक्खत्तेणं जोगोवगतेणं, पाईणगामिणीए छायाए, वियत्ताए पोरिसीए, जंभिय-गामस्स णगरस्स बहिया णईए उज्जुवालियाए उत्तरे कूले, सामागस्स गाहावइस्स कट्टकरणांसि, वेयावत्तस्स चेइ-यस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, सालरुक्खस्स अदूर-सामंते, उक्कुडुयस्स, गोदोहियाए आयावणाए आया-वेमाणस्स, छट्टेणं भत्तेणं अपाणएणं, उड्डंजाणु-अहोसिरस्स, धम्मज्झाणोवगयस्स, झाणकोट्टोवगयस्स, सुक्कज्झाणंतरीयाए वट्टमाणस्स णिव्वाणे, कसिणे, पडि-पुण्णे“केवलवरणाणदंसणे समुप्पण्णे। (आचूला १५/३८)

श्रमण भगवान महावीर को इस प्रकार विहरण करते हुए बारह वर्ष बीत गए। तेरहवां वर्ष चल रहा था। ग्रीष्म का दूसरा मास, चौथा पक्ष, वैशाख शुक्ल पक्ष, उस वैशाख शुक्ल पक्ष की दशमी, सुव्रत दिवस, विजय मुहूर्त। चन्द्रमा के साथ उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का योग। पूर्वगामिनी छाया। व्यक्त (चतुर्थ) प्रहर। जृम्भिकग्राम नगर के बाहर। ऋजुवालिका नदी का उत्तरी तट। श्यामाक गृहपति का खेत। व्यावृत्त चैत्य का ईशानकोण। शालवृक्ष से न अति दूर न अति निकट। महावीर पहले उत्कुटुक आसन में, फिर गोदोहिका मुद्रा में सूर्य की आतापना ले रहे थे। दो दिन का निर्जल उपवास। ऊर्ध्वजानु-अधःशिर। धर्म्यध्यान में लीन। ध्यान-कोष्ठक में प्रविष्ट। शुक्लध्यान की अंतरिका में वर्तमान भगवान् महावीर को निर्वाणदायी/ शांत-प्रशांत, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, अनुत्तर केवलज्ञान और दर्शन समुत्पन्न हुए।

* केवलज्ञान का स्वरूप

द्र ज्ञान

१६. महावीर का धर्मोपदेश : जीवनिकाय-निरूपण

.....समणे भगवं महावीरे उप्पण्णाणणदंसणधरे अप्पाणं च लोगं च अभिसमेक्ख पुक्वं देवाणं धम्म-माइक्खति, तओ पच्छा मणुस्साणं ॥

“महावीरे”गोयमाईणं समणाणं णिगंगंधाणं पंच महव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवनिकायाइं आइक्खइं” ॥

(आचूला १५/४१, ४२)

प्रवर केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक श्रमण भगवान महावीर ने अपने आपको और जगत् को भलीभांति देखकर-जानकर पहले (समवसरण में) देवों को धर्म का उपदेश दिया, तत्पश्चात् (दूसरे समवसरण में) मनुष्यों को धर्म का उपदेश दिया। महावीर ने गौतम आदि श्रमण-निर्ग्रन्थों के मध्य पांच महाव्रतों, उनकी पचीस भावनाओं तथा छह जीवनिकाय का आख्यान किया।

(आचार्य सिद्धसेन ने द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका (१/१३) में लिखा है—

य एव षड्जीवनिकायविस्तरः, परैरनालीढपथस्त्वयोदितः।

अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः ॥

प्रभो! तुमने दूसरे दार्शनिकों के द्वारा अनास्वादित (अज्ञात-अनुक्त-अक्षुण्ण) पथ—छहजीवनिकाय का सूक्ष्मरूप से विशद निरूपण किया है—इस नवीन मौलिक स्थापना से अनुगृहीत सर्वज्ञ-परीक्षा-प्रवीण पुरुष आनन्दोदय-उत्सव के साथ तुम्हारे चरणों में प्रणत हैं।)

० तीर्थकर-कल्याणक, उपदेश, वचनान्तिशय

जम्मण-णिक्खमणेषु य, तित्थकराणं करंति महिमाओ।

भवणवति- वाणमंतर- जोतिस- वेमाणिया देवा ॥

उप्पण्णे णाणवरे, तम्मि अणंते पहीणकम्माणो।

तो उवदिसंति धम्मं, जगजीवहियाय तित्थगरा ॥

लोगच्छेरयभूयं, उप्पयणं निवयणं च देवाणं।

संसयवागरणाणि य, पुच्छंति तहिं जिणवरिंदे ॥

(निभा ५७३५-५७३७)

आर्यजनपदों में भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव तीर्थकरों के जन्मकल्याण, अभिनिष्क्रमण कल्याण आदि उत्सव करते हैं।

तीर्थकर घातिकर्मों के क्षीण होने पर, प्रवर अनंत (केवल) ज्ञान उत्पन्न होने पर जगत् के जीवों के कल्याण के लिए धर्म का उपदेश देते हैं।

समवसरण में देवों के उत्पत्तन-निपत्तन (आवाजाही) को देखकर लोग आश्चर्य से अभिभूत हो जाते हैं। श्रोता एक साथ अनेक प्रश्न उपस्थित करते हैं और अर्हत् एक साथ अनेक संशयों को छिन्न करने वाला समाधान देते हैं।

१७. महावीर के गण और गणधर

“समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा एक्कारस गणहरा होत्था। जेट्ठे इंदभूई अणगारे गोयमे गोत्तेणं पंच समणसयाइं वाएइ। मञ्जिमे अग्गिभूई अणगारे गोयमे गोत्तेणं कणीयसे वाउभूई अणगारे गोयमे गोत्तेणं थैरे अज्जवियत्ते भारहाए गोत्तेणं थैरे अज्जसुहम्मे अग्गि-वेसायणे गोत्तेणं पंच समणसयाइं वाएइ। थैरे मंडियपुत्ते वासिट्ठे गोत्तेणं थैरे मोरियपुत्ते कासवे गोत्तेणं अद्धुट्ठाइं समणसयाइं थैरे अकंपिए गोयमे गोत्तेणं, थैरे अयलभाया हारियायणे गोत्तेणं—ते दुन्नि वि थैरा। थैरे मेयज्जे, थैरे य पभासे—एए दोन्नि वि थैरा कोडिन्ना गोत्तेणं तिन्नि-तिन्नि समणसयाइं वाएंति।

“एक्कारस वि गणहरा दुवालसंगिणो चोइस-पुव्विणो समत्तगणिपिडगधरा रायगिहे नगरे मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं कालगया जाव सव्वदुक्खप्पहीणा। थैरे इंदभूई, थैरे अज्जसुहम्मे सिद्धिं गए महावीर पच्छा दोन्नि वि परि-निव्वुया। (दशा ८ रि सू १८२-१८४)

श्रमण भगवान महावीर के नौ गण और ग्यारह गणधर थे। ज्येष्ठ इन्द्रभूति नामक गौतमगोत्रीय अनगार पांच सौ श्रमणों को वाचना देते थे। मध्यम अग्निभूति नामक गौतमगोत्रीय अनगार, कनिष्ठ वायुभूति गौतम-गोत्रीय अनगार, शिष्य स्थविर आर्य व्यक्त भारद्वाजगोत्रीय, स्थविर आर्य सुधर्मा अग्निवैश्यायनगोत्रीय—इनमें से प्रत्येक गणधर पांच सौ-पांच सौ श्रमणों को वाचना देते थे। स्थविर मण्डितपुत्र वाशिष्ठगोत्रीय तीन सौ पचास श्रमणों को तथा स्थविर मौर्यपुत्र काश्यपगोत्रीय तीन सौ पचास श्रमणों को वाचना देते थे।

स्थविर अकंपित गौतमगोत्रीय और स्थविर अचलभ्राता हरितायनगोत्रीय—ये दोनों स्थविर तीन सौ-तीन सौ श्रमणों को तथा स्थविर मेतार्य और स्थविर प्रभास कौडिन्यगोत्रीय—ये दोनों स्थविर तीन सौ-तीन सौ श्रमणों को वाचना देते थे।

ग्यारह ही गणधर द्वादशांग के ज्ञाता थे, चौदह पूर्वों के वेत्ता थे और समग्र गणिपिटक के धारक थे। ये सभी राजगृह नगर में एक मासिक निर्जल अनशन कर कालधर्म को प्राप्त हुए यावत् सर्व दुःखों से मुक्त हुए। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् स्थविर इन्द्रभूति और स्थविर आर्य सुधर्मा परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

* गणधरों का जीवनपरिचय द्र श्रीआको १ गणधर

१८. लोहार्य-गौतम द्वारा वीर-भक्ति

जइ वि य लोहसमाणो, गेण्हति खीणंतराइणो उच्छं।
तह वि य गौतमसामी, पारणाए गिण्हती गुरुणो ॥
धन्तो सो लोहज्जो, खंतिखमोवरलोहसरिस वन्तो।
जस्स जिणो पत्तातो, इच्छइ पाणीहिं भोत्तुं जे ॥
(व्यभा २६७१ वृ)

स्वर्णाभ शरीर वाले लोहार्य श्रमण (आर्य सुधर्मा) क्षीणांतराय भगवान महावीर के लिए एषणीय आहार लाते थे। भगवान महावीर उनके पात्र से अपने हाथ में लेकर आहार करते थे। लोहार्य वीर-वैयावृत्य में नियुक्त थे, गौतम नियुक्त नहीं थे फिर भी वे अपने चारणक (उपवास आदि तप की सम्पन्नता) के दिन भगवान के लिए आहार लाते थे। “धन्य है वह लोहार्य श्रमण, परम सहिष्णु कनक-गौरवर्ण। जिसके पात्र में लाया हुआ आहार भगवान खाते थे अपने हाथों से ॥”

० तीर्थकर भिक्षाटन नहीं करते

देविंदचक्कवट्टी, मंडलिया ईसरा तलवरा य।
अभिगच्छंति जिणं दे, तो गोयरियं न हिंडंति ॥
संखादीया कोडी, सुराण गिच्चं जिणो उवासंति।
संसयवागरणाणि य, मणसा वयसा च पुच्छंति ॥
(व्यभा २५६९, २५७०)

तीर्थकर को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर उनके उपपात में देवेन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, माण्डलिक राजा, युवराज, कोतवाल आदि व्यक्ति आते रहते हैं। अतः कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् वे भिक्षार्थ नहीं घूमते।

असंख्य सुरकोटियां (देव) सदा अर्हत् की उपासना करती हैं। उनसे देव, मनुष्य आदि प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से

मानसिक एवं वाचिक प्रश्नों का समाधान प्राप्त करते हैं।

१९. तीर्थकर के अतिशय अनुधर्मता से मुक्त

.....लोउत्तरिया धम्मा, अणुगुरुणो तेण ते वज्जा ॥
कामं खलु अणुगुरुणो, धम्मा तह वि हु न सब्बसाहम्मा ।
गुरुणो जं तु अइसए, पाहुडियाई समुपजीवे ॥
(बृभा ९९५, ९९६)

यद्यपि यह तथ्य मान्य है कि लोकोत्तर धर्म अनुगुरु हैं—जैसा पूर्वगुरुओं ने आचरण किया है, वैसा ही आचरण पश्चाद्वर्ती गुरु-शिष्यों को करना चाहिए, किन्तु उस आचीर्ण में भी देशसाधर्म्य ही करणीय है, सब प्रकार की समानता करणीय नहीं है। जैसे—तीर्थकर प्राभृतिका—देवकृत समवसरण आदि अतिशयों के उपजीवी होते हैं—यह तीर्थकरों का जीतकल्प है, अतः इस विषय में अनुधर्मता नहीं होती है।

२०. तीर्थकरों को भी व्यवहार मान्य : उदायन-प्रव्रज्या

सगड-दह-समभोमे, अवि य विसेसेण विरहियतरागं ।
तह वि खलु अणाइन्नं, एसणुधम्मो पवयणस्स ॥
वक्कंतज्जोणि थंडिल, अतसा दिन्ना ठिई अवि छुहाए ।
तह वि न गेण्हसु जिणो, मा हु पसंगो असत्थहए ॥
एमेव य निज्जीवे, इहम्मि तसवज्जिए दए दिन्ने ।
समभोमे य अवि ठिती, जिमिता सन्ना न याणुन्ना ॥

....भगवान् श्रीमन्महावीरस्वामी राजगृहनगराद् उदायननरेन्द्रप्रव्राजनाथं सिन्धुसौवीरदेशवतंसं वीतभयं नगरं प्रस्थितः.... तीर्थकरेणापि गृहीतम् इति मदीयमालम्बनं कृत्वा मत्सन्तानवर्त्तिनः शिष्या अशस्त्रोपहतं मा ग्राहिषुः' इति भावात्, व्यवहारनयबलीयस्त्वख्यापनाय भगवता न गृहीता इति हृदयम्, युक्तियुक्तं चैतत् प्रमाणस्थपुरुषाणाम् ।
(बृभा ९९७-९९९ वृ)

भगवान् महावीर ने उदायन नृप को प्रव्रजित करने के लिए राजगृह नगर से सिन्धु-सौवीर देश के अवतंसभूत वीतभयनगर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में जहां भगवान् रुके, वहां तिल से भरे शकट थे, जिनमें बिना शस्त्र-प्रयोग के सहज आयुक्षय से ही तिल अचित्त हो गए थे। वे अचित्त भूमि पर स्थित थे, त्रस जीवों से भी रहित थे, शकट-स्वामी द्वारा अनुज्ञात थे।

इसी प्रकार हृद में सहज अचित्त जल था, हृदस्वामी द्वारा अनुज्ञात था। समभूमि वाली, बिल आदि से रहित सहज अचित्त स्थण्डिलभूमि वहां थी। किन्तु तिल, पानी और स्थण्डिल—ये तीनों ही शस्त्र से उपहत नहीं थे। अनेक साधु भूख-प्यास से तथा अनेक साधु तृतीय पौरुषी में आहार करने के पश्चात् उत्सर्ग की बाधा से पीड़ित हो दिवंगत हो गए। फिर भी अशस्त्रोपहत ग्रहण के प्रसंग को टालने के लिए भगवान् ने उन तीनों कल्पनीय वस्तुओं की भी अनुज्ञा नहीं दी।

भविष्य में होने वाले मुनि कहेंगे कि जब तीर्थकर ने भी ऐसी वस्तुएं ग्रहण की हैं तो हम क्यों नहीं लें—इस भावना से वे अशस्त्रोपहत भी ग्रहण कर लेंगे। व्यवहारनय की बलवत्ता ख्यापित करने के लिए भगवान् ने उस प्रसंग में कुछ भी ग्रहण नहीं किया। प्रमाणस्थ पुरुषों के लिए यह युक्तियुक्त है।

मुनि शस्त्र से अनुपहत वस्तु ग्रहण न करे—यह तीर्थ का अनुधर्म है।

२१. एक क्षेत्र में रहने का काल

.....अट्ट गिम्ह-हेमंतिए मासे गामे एगराइए नगरे
पंचराइए.... (दशा ८ परि सू ८०)

भगवान् महावीर हेमंत और ग्रीष्म के आठ महीनों में ग्राम में एक रात्रि और नगर में पांच रात्रि से अधिक नहीं ठहरते थे।

२२. महावीर के वर्षावास (पावस स्थल)

.....भगवं महावीरे अट्टियगामं नीसाए पढमं अंतरावासं....चंपं च पिट्टिचंपं च नीसाए तओ....वेसालिं नगरिं वाणियगामं च नीसाए दुवालसं....रायगिहं नगरं नालंदं च बाहिरियं नीसाए चोहसं....छ मिहिलाए, दो भदियाए, एगं आलभियाए, एगं सावत्थीए, एगं पणिय-भूमीए एगं पावाए मज्झिमाए....अपच्छिमं अंतरावासं वासावासं उवागाए ।
(दशा ८ परि सू ८३)

भगवान् महावीर ने तेरह स्थानों में कुल बयालीस चातुर्मास किए, उनमें बारह छद्मस्थ अवस्था में और तीस केवली अवस्था में किए थे।

वर्षावास-क्षेत्र	चातुर्मास-संख्या
अस्थिकग्राम (प्रथम वर्षावास)	१
चम्पा और पृष्ठचम्पा	३
वैशाली और वाणिज्यग्राम	१२
राजगृह नगर और नालंदा	१४
मिथिला	६
भद्रिका	२
आलभिका	१
श्रावस्ती	१
वज्रभूमि (अनार्य देश)	१
मध्यम पावा (अंतिम वर्षावास)	१

२३. महावीर का निर्वाण, सर्वआयु, अंतिम देशना तत्थ णं जेसे पावाए मञ्जिमाए हत्थिपालगस्स रण्णे रज्जुगसभाए अपच्छिमं अंतरावासं वासावासं उवागए ।” कत्तियबहुलस्स पन्नरसी-पक्खेणं जासा चरमा रयणी तं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए” चंदे नामं से दोच्चे संवच्छरे, पीतिवद्धणे मासे नंदिवद्धणे पक्खे अगिक्खेसे नामं से दिवसे उवसमेत्ति पवुच्चइ, देवाणंदा नामं सा रयणी निरत्तित्ति पवुच्चइ, अच्छे लवे, मुहुत्ते पाणू, थोवे सिद्धे, नागे करणे, सव्वडुसिद्धे मुहुत्ते, साइणा नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं” ॥

”तीसं वासाइं अगारवासमण्णे वसित्ता, साइरेगाइं दुवालस वासाइं छउमत्थपरियागं”, देसूणाइं तीसं वासाइं केवलपरियागं”, बायालीसं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणित्ता, बावत्तरिं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता, खीणे वेयणिज्जाउयनामगोत्ते इमीसे ओसप्पिणीए दुसमसुसमाए समाए बहुवीइक्कंताए तिहिं वासेहिं अद्धनवमेहिं य मासेहिं सेसेहिं” एगे अबीए छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं” पच्चूसकालसमयंसि संपलियं कनिसन्ने षणपन्नं अञ्जयणाइं कल्लाणफलविवागाइं, षणपन्नं अञ्जयणाइं पावफलविवागाइं, छत्तीसं च अपट्टुवागरणाइं वागरित्ता पधाणं नाम अञ्जयणं विभावेमाणे विभावेमाणे” सिद्धे बुद्धे मुत्ते” ॥ (दशा ८ परि सू ८४, १०६)

श्रमण भगवान महावीर ने अंतिम वर्षावास मध्यम

अपापा नगरी में हस्तिपाल राजा की रज्जुकसभा में किया। कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि के समय श्रमण भगवान महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए। उस समय चन्द्र नाम का दूसरा संवत्सर, प्रीतिवर्द्धन मास, नन्दिवर्धन पक्ष, अग्निवेश दिन—जिसे उपशम कहा जाता है, देवानंदा रात्रि—जिसे निर्ऋति भी कहा जाता है, अर्चि लव, मुहुत्तं भ्राण, स्तोक सिद्ध, नाग करण, सर्वार्थसिद्ध मुहुत्तं और स्वाति नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग था।

श्रमण भगवान महावीर तीस वर्ष गृहवास में, बारह वर्ष से भी अधिक समय छद्मस्थ श्रमण पर्याय में, तीस वर्ष से कुछ कम केवल-पर्याय में रहे, कुल बयालीस वर्ष तक श्रमण-पर्याय का पालनकर, बहत्तर वर्ष की आयु पूर्णकर, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म क्षीण होने पर इस अवसर्पिणीकाल का दुःषम-सुषमा नामक चतुर्थ आरा प्रायः व्यतीत होने पर तथा उस चतुर्थ आरे के तीन वर्ष और साढ़े आठ महीने शेष रहने पर, एकाकी, अद्वितीय, षष्ठ तप (दो दिन के उपवास) में, प्रत्युषकाल के समय पर्यकासन में बैठे हुए, कल्याण-फलविपाक के पचपन अध्ययन और पाप-फल विपाक के पचपन अध्ययन तथा छत्तीस अपृष्ट व्याकरणों को कहकर, प्रधान अध्ययन का निरूपण करते-करते सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

२४. निर्वाण-रात्रि में घटित घटना प्रसंग

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए” तं रयणिं च णं जेटुस्स गोयमस्स इंदभूइस्स अणगरस्स अंतेवासिस्स नायए पेज्जबंधणे वोच्छिन्ने अणंते” केवलवरनाणदंसणे समुप्यन्ने ॥

”तं रयणिं च णं नव मल्लईं नव लिच्छईं कासी-कोसलगा अट्टारस वि गणरायाणो अमावसाए पाराभोयं पोसहोववासं पट्टुविसु गते से भावुज्जोए दव्वुज्जोयं करिस्सामो ॥

”तं रयणिं च णं खुद्दाए भासरासी महग्गहे दोवाससहस्सट्ठिईं समणास्स भगवओ महावीरस्स जम्पन-क्खत्तं संकंते ॥” तप्यभिइं च णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य नो उदिए-उदिए पूयासक्कारे पवत्तति ॥”

भासरासी महग्गहे...महावीरस्स जम्मनक्खत्ताओ वीति-
क्कंते भविस्सई तथा णं...उदिए-उदिए पूयासक्कारे
पवत्तिस्सति ॥

.....कुंथु अणुंधरी नामं समुप्यन्ना, जा ठिया
अचल-माण्णा छउमत्थाणं निग्गंथाणं निग्गंधीण य नो
चक्खुफासं हव्वमागच्छइ, जा अड्डिया चलमाण्णा चक्खु-
फासं हव्वमागच्छइ, जं पासित्ता बहूहिं निग्गंधेहिं निग्गंधीहिं
य भत्ताइं पच्चक्खायाइं ।..... (दशा ८ परि सू ८७-९२)

१. गौतम को कैवल्य-प्राप्ति—जिस रात्रि में श्रमण भगवान्
महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए, उसी रात्रि में उनके ज्येष्ठ
अंतवासी इन्द्रभूति गौतम अनगार का रागबन्धन विच्छिन्न हो
गया। उसे अनन्त, प्रवर केवलज्ञान और दर्शन उत्पन्न हुए।

२. दीपावली पर्व—अमावस्या को नव मल्लवी और नव
लिच्छवि—काशी-कौशल के अठारह गणराजाओं ने प्रतिपूर्ण
पौषध किया। भाव उद्योत चला गया है—यह सोच उन्होंने
द्रव्य-उद्योत करने का संकल्प किया।

३. भस्मराशि महाग्रह—उस रात्रि में क्षुद्र स्वभाव वाला, दो
हजार वर्ष की स्थिति का भस्मराशि नाम का महाग्रह उनके
जन्मनक्षत्र पर संक्रान्त हुआ, तब से श्रमण निर्ग्रथ और निर्ग्रथियों
का उदितोदित रूप से पूजा-सत्कार नहीं रहा। उस महाग्रह
के श्रमण भगवान् महावीर के जन्मनक्षत्र से व्यतिक्रान्त होने
पर पुनः श्रमण निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का उदितोदित रूप में
पूजा-सत्कार होगा।

(पैंतालीस आगमों में एक आगम है—वंकचूलिया।
उसमें उल्लेख है कि शिष्य अग्निदत्त ने जिनशासन के उदय-
अस्त के संदर्भ में जिज्ञासा की, तब श्रुतकेवली यशोभद्र ने
कह—

वीरनिर्वाण से २९१ वर्षों तक शुद्ध प्ररूपणा रहेगी,
फिर राजा सम्प्रति धर्मक्षेत्र का विस्तार करेगा। तत्पश्चात्
१६९९ वर्षों तक दुष्ट लोग हिंसाधर्म की प्ररूपणा करेंगे।
जब भस्मगृह की १० वर्ष की स्थिति शेष रहेगी, तब वीर-
निर्वाण १९९० में संघ और सूत्र की जन्मराशि पर धूमकेतु
ग्रह लगेगा। उसकी ३३३ वर्षों की स्थिति पूर्ण होने पर संघ
और सूत्रमार्ग का उद्योत होगा।)

४. सूक्ष्म जीवराशि की उत्पत्ति, अनेकों द्वारा अनशन—उस
रात्रि में कुंथु नामक सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हुई। जब वे जीव
स्थिर रहते, तब छद्मस्थ साधु-साध्वियों की दृष्टि का विषय
नहीं बनते। जब वे चल होते, तब साधु-साध्वियों की दृष्टि
में आते। इस प्रकार के जीवों की उत्पत्ति देखकर अनेक
साधु-साध्वियों ने अनशन स्वीकार कर लिया।

दशाश्रुतस्कंध—छेदसूत्र वर्ग का एक ग्रंथ, जिसकी
दस दशाओं में भिक्षुप्रतिमा, उपासकप्रतिमा, गणिसम्पदा
आदि का प्रतिपादन है। द्र छेदसूत्र

दिग्बंध—आचार्य-उपाध्याय और प्रवर्तिनी के पद पर
नियुक्त करना।

१. दिग्बंध	
○ पूर्वदिग्	
२. इत्वरिक-यावत्कथिक दिग्बंध	
* मार्गवर्ती उपसम्पदा में इत्वरदिग्बंध	द्र उपसम्पदा
३. दिशा-अनुदिशा	
४. द्विविध-त्रिविध दिशा	
* साधु द्विसंग्रहीत, साध्वी त्रिसंग्रहीत	द्र आचार्य
* दिशादान	द्र दीक्षा
५. दिशापहार का प्रायश्चित्त	

१. दिग्बंध

....कुंज्जा कमसो दिसाबंधो ॥
दिग्बन्धे आचार्यपदे उपाध्यायपदे वा स्थाप्यमाने ।...
(व्यभा १३०३ वृ)

आचार्यपद अथवा उपाध्यायपद पर स्थापित करना
दिग्बंध कहलाता है।

○ पूर्वदिग्

....निष्कण्णा तेसि बंधति दिसाओ ।.....
राइणिया गीतत्था, अलब्धिया धारयन्ति पुव्वदिसं ।.....
....सलक्खण, केवलमेगे दिसाबंधो ॥

....अलब्धिका: ते पूर्वदिशं पूर्वाचार्यप्रदत्तं दिश-
मनुरत्ताधिकत्वलक्षणं धारयन्ति ।.....विशिष्टाचार्य-

लक्षणोपेते दिग्बंध आचार्यपदाध्यायरोपः क्रियते ।

(व्यभा १३२२, १३२५ वृ)

निष्पन्न शिष्यों को आचार्य-उपाध्याय पद पर स्थापित किया जाता है । जो रात्रिक गीतार्थ अलब्धिमान् होते हैं, वे पूर्वदिक्—पूर्वाचार्यप्रदत्त अनुरत्नाधिकत्व आदि रूप दिशा को धारण करते हैं । दिग्बंध केवल सलक्षण गीतार्थ का ही होता है । विशिष्ट आचार्यलक्षणों से युक्त शिष्य में दिग्बंध — आचार्य पद का अध्यारोपण किया जाता है ।

(तेरपंथ धर्मसंघ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने वि. सं. १९१० में सरदारसती को साध्वीप्रमुखा पद पर नियुक्त किया । श्रमण-श्रमणी परिवार उन्हें प्रवर्तिनी साध्वी चंदनबाला की उपमा से अलंकृत करता था ।

—शासन समुद्र भाग ७ पृ. १९९, २०४)

२. इत्वरिक-यावत्कथिक दिग्बंध

.....अब्भुज्जयपरिकम्मे, मोहे रोगे व इत्तरिओ ॥

(व्यभा १३००)

जो आचार्य अभ्युद्यतविहार (जिनकल्प आदि) अथवा अभ्युद्यतमरण (अनशन) स्वीकार करते हैं, वे यावत्कथिक दिग्बंध करते हैं—योग्य गीतार्थ को सम्पूर्ण रूप से आचार्यपद पर नियुक्त करते हैं । मोहचिकित्सा अथवा रोगचिकित्सा करने के इच्छुक आचार्य इत्वर दिग्बंध—अल्पकाल के लिए किसी को आचार्यपद पर नियुक्त करते हैं ।

परिकर्मकाल में अभ्युद्यतविहारी द्वारा इत्वरदिग्बंध भी किया जाता है ।

३. दिशा-अनुदिशा

दिशेति व्यवदेशः । प्रव्राजनकाले उपस्थापनाकाले वा । यो आचार्य उपाध्यायो वा व्यपदिश्यते सा तस्य दिशा इत्यर्थः ।संजतीए पवत्तिणी.... । (नि १०/११ की चू)

प्रव्राजनकाल या उपस्थापनाकाल में आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी के रूप में जिसका व्यपदेश (आदेश-निर्देश में रहने का निर्देश) किया जाता है, वह उसकी दिशा है ।

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पति इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए..... ॥

एकपाक्षिकः प्रव्रज्या श्रुतेन च स्ववर्गस्य भिक्षोः कल्पते इत्तरां कियत्कालभाविनीमित्तरग्रहणमुपलक्षणं यावत्कथिकां च दिशमाचार्यत्वमुपाध्यायत्वं वा अनुदिशं वा आचार्योपाध्यायपदद्वितीयस्थानवर्तित्वम् ।

(व्य २/२६ वृ)

जिसकी प्रव्रज्या और वाचना एक गुरुकुल के अधीन होती है, वह एकपाक्षिक भिक्षु कहलाता है । उसे इत्वरिक—अल्पकालिक अथवा यावत्कथिक दिशा या अनुदिशा के लिए उद्दिष्ट किया जा सकता है । दिशा के दो रूप हैं—आचार्यरूप और उपाध्यायरूप । अनुदिशा का अर्थ है—आचार्य-उपाध्यायपद से द्वितीयस्थानवर्ती ।

४. द्विविध-त्रिविध दिशा

.....दुविहं तिविह दिसाए..... ॥

आयरियोवज्झाया दुविहा दिसा साहूणं । आयरियो-वज्झाया पवत्तिणी य तिविहा संजतीण दिसा ।

(निभा २७५९ चू)

साधुओं के द्विविध दिशा होती है—आचार्य, उपाध्याय । साध्वियों के त्रिविध दिशा होती है—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तिनी ।

५. दिशापहार का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू दिसं अवहरति..... ॥.....तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं अणुघातियं ।।

दिशा.....तस्यापहारी—तं परित्यज्य अन्यमाचार्य उपाध्यायं वा प्रतिपद्यते इत्यर्थः । (नि १०/११, ४१ चू)

जो साधु-साध्वी दीक्षा के समय व्यपदिष्ट आचार्य-उपाध्याय-प्रवर्तिनी को छोड़ अन्य आचार्य आदि को स्वीकार करता है, वह दिशापहारी है । उसे चतुर्गुरुमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है ।

दिशा—ताप दिशा, प्रज्ञापक दिशा आदि ।

- * चरंती आदि प्रशस्त दिशा द्र आलोचना
- * दिशामूढ द्र मूढ
- * महास्थंडिल की दिशा : गुण-दोष द्र महास्थंडिल
- * तापक्षेत्र दिशा आदि द्र श्रीआको १ लोक

दीक्षा—अगारधर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित होना, महाव्रत ग्रहण करना।

१. दीक्षा (प्रव्रज्या) के दो हेतु
२. सर्वप्रथम मुनि दीक्षा का उपदेश
३. दीक्षा के छह प्रस्थान
४. दीक्षाविधि क्रम
 - * शैक्षभूमि : सामायिक की कालावधि द्र चारित्र
५. प्रव्रज्या के पश्चात् उपस्थापना
 - उपस्थापनाकल्पिक : बड़ी दीक्षा विधि
 - उपस्थापना की कालमर्यादा
 - पहले उपस्थापना किसकी ?
६. उपस्थापना के पश्चात् : दिशादान आदि
७. चिरदीक्षित कौन ?
 - * आगमवाचना में संयमपर्याय की सीमा द्र श्रुतज्ञान
८. दीक्षा के अनर्ह कौन ?
९. बाल के प्रकार एवं लक्षण
 - न्यून अष्टवर्षीय बालक दीक्षायोग्य नहीं
 - दीक्षार्ह की न्यूनतम वय
१०. बाल-वृद्ध दीक्षा के अपवाद
११. दस दशाएं, दीक्षा-योग्य बाल-वृद्ध
१२. नपुंसक के प्रवाजन आदि का निषेध
 - नपुंसक को दीक्षा क्यों नहीं ?
 - * दीक्षा के अर्ह-अनर्ह : नपुंसक द्र वेद
१३. दीक्षा के अनर्ह : जडु
 - भावस्तेन : गोविन्द आदि उदाहरण
 - शासक का अपकारी
 - पंचविध मूढ
 - जुंमित
 - * सम्यक्त्व, दीक्षा के अयोग्य द्र सम्यक्त्व
१४. गच्छनिर्गत मुनि के संवेगप्राप्ति के स्थान
 - * नई दीक्षा (मूल प्रायश्चित्त) के स्थान द्र प्रायश्चित्त

१. दीक्षा (प्रव्रज्या) के दो हेतु

सोच्चाऽभिसमेच्चा वा, पव्वज्जा अभिसमागमो तत्थ ।
'श्रुत्वा' तीर्थकर-गणधरादीनां धर्मदेशनां निशाम्य
'अभिसमेत्य वा' सह समत्यादिना स्वयमेवावबुध्य प्रव्रज्या

भवेत् । "अभिसमागमो जातिस्मरणादिकः" आदिग्रहणात्
श्रावकस्य गुणप्रत्ययप्रभवेणावधिज्ञानेन अन्यतीर्थिकस्य
वा विभंगज्ञानेन प्रव्रज्या-प्रतिपत्तिः सम्भवति ।

(बृभा ११३३ वृ)

व्यक्ति दो हेतुओं से प्रव्रजित होता है—

१. श्रुत्वा—तीर्थकर, गणधर आदि से धर्मदेशना सुनकर ।
२. अभिसमेत्य—जातिस्मरण आदि रूप स्वसन्मति से स्वयं संबुद्ध होकर । श्रावक गुणप्रत्यय से उत्पन्न अवधिज्ञान के द्वारा तथा अन्यतीर्थिक विभंगज्ञान के द्वारा तत्त्व को जानकर/प्रतिबुद्ध होकर दीक्षित हो सकता है ।

(प्रव्रज्या के दस हेतु हैं—

१. छन्दा—अपनी या दूसरों की इच्छा से ली जाने वाली ।
२. रोषा—क्रोध से ली जाने वाली ।
३. परिद्यूना—दरिद्रता से ली जाने वाली ।
४. स्वप्ना—स्वप्न के निमित्त या स्वप्न में ली जाने वाली ।
५. प्रतिश्रुता—पहले की हुई प्रतिज्ञा के कारण ली जाने वाली ।
६. स्मारणिका—जन्मान्तरों की स्मृति होने पर ली जाने वाली ।
७. रोगिणिका—रोग का निमित्त मिलने पर ली जाने वाली ।
८. अनादृता—अनादर होने पर ली जाने वाली ।
९. देवसंज्ञप्ति—देव के द्वारा प्रतिबुद्ध होकर ली जाने वाली ।
१०. वत्सानुबन्धिका—दीक्षित होते हुए पुत्र के निमित्त से ली जाने वाली ।—स्था १०/१५)

२. सर्वप्रथम मुनिदीक्षा का उपदेश

जइधम्मं अकहेत्ता, अणु दुविधं सम्म मंसविरइं वा ।
अणुवासए कहिंते, चउजमला कालगा चउरो ॥
जीवा अब्भुद्धिंता, अविहीकहणाइ रंजिया संता ।
अभिसंछूढा होंती, संसारमहन्ववं तेणं ॥
एसेव य नूण कमो, वेरग्गओ न रोयए तं च ।
तित्थाणुसज्जणाए, आयहियाए परं समुद्धरति ।
मग्गप्यभावणाए, जइधम्मकहा अओ पढमं ॥

(बृभा ११३९-११४२)

कोई अनुपासक यदि धर्मश्रवण के लिए आया है, तो उसके समक्ष धर्मकथन का क्रम यह है—सबसे पहले यतिधर्म का कथन करे । यदि वह यतिधर्म स्वीकार करने में असमर्थ

हो, तो मूलगुण-उत्तरगुण रूप द्विविध अणुव्रतधर्म (श्रावक के बारह व्रतों) का उपदेश दे। यदि श्रावकधर्म ग्रहण करने में भी असमर्थ हो, तो सम्यग्दर्शन का उपदेश देकर मद्य-मांस की विरति का कथन करे। तत्पश्चात् मद्य-मांस की विरति से होने वाला ऐहिक और पारलौकिक फल बताए। इस क्रम का अतिक्रमण करने वाला तप और काल—दोनों से गुरु, चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

उपासक के लिए यथारुचि धर्मोपदेश किया जा सकता है।

व्युत्क्रम से उपदेश देने से हानि—प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए तत्पर कोई व्यक्ति मुनि के पास धर्मश्रवण के लिए जाता है। मुनि के अविधिकथन से रंजित होकर वह सोचता है—व्यक्ति श्रावक धर्म का पालन करता हुआ, कामभोग भोगता हुआ भी यदि सुगति को प्राप्त कर सकता है, तो फिर कष्टसाध्य प्रव्रज्या से क्या प्रयोजन? यदि सम्यग्दर्शन मात्र से सुगति प्राप्त हो सकती है, तो फिर व्रतबंधन से लाभ ही क्या है? इस प्रकार विपरिणत होकर वह प्रव्रज्या-ग्रहण नहीं करता, संसारसागर में डूब जाता है।

कभी-कभी परम वैराग्यवान् व्यक्ति धर्मकधी मुनि से मुनिधर्म की बात न सुनकर श्रावकधर्म की बात सुनता है, तो उसे रुचिकर नहीं लगती और वह आर्हत धर्म से विपरिणत होकर अन्यतीर्थिकों के पास प्रव्रजित हो जाता है।

विधि से उपदेश देने के चार लाभ हैं—

- ० तीर्थ की अविच्छिन्नता।
- ० तीर्थ को दीर्घजीवी बनाने से आत्महित।
- ० प्रव्रज्या प्रदान करने से पर-कल्याण, संसार से समुद्धरण।
- ० मोक्षमार्ग की प्रभावना।

अतः यतिधर्मप्रतिपादन को प्राथमिकता दी गई है।

३. दीक्षा के छह प्रस्थान

पच्चाविओ सिय त्ति य, सेसं पणगं अणायरणजोगं ।”

.....तं च इमं मुंडावणं सिक्खावणं उवट्ठावणं संभुं-
जणं संवासे त्ति। (निभा ३७४६ चू)

दीक्षाविधि में क्रमशः छह प्रस्थान हैं—प्रव्रजना, मुंडन, शिक्षण, उपस्थापना, सहभोजन, संवास।

कदाचित् अयोग्य व्यक्ति को प्रव्रजित कर दिया जाए तो उसके लिए शेष मुंडन आदि पांचों प्रस्थान वर्जनीय हैं।

(निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियां पूर्व और उत्तर—इन दो दिशाओं की ओर मुंह कर—मुंडित करें, शिक्षा दें, महाव्रतों में आरोपित करें, भोजन मंडली में सम्मिलित करें, संस्तारक मंडली में सम्मिलित करें ।.....—स्था २/१६८

चार पदों में क्रमव्यवस्था बतलाई गई है—

१. प्रव्रजित—मुनिवेश देना।
२. मुंडित—केशशुंवन करना।
३. शैक्षित—दिनचर्या से संबंधित क्रियाकलाप का ज्ञान कराना।
४. शिक्षित—सूत्र-अर्थ-अध्ययन कराना।—भ २/५२ की वृ)

४. दीक्षाविधि का क्रम

पुच्छा सुद्धे अट्ठा, वा सामाइयं च तिक्खुत्तो।
सयमेव उ कायव्वं, सिक्खा य त्तिं पयत्तेणं॥
गोयरमचित्तभोयणसज्झायऽण्हाणभूमिसेज्जादी।
अब्भुवगय थिरहत्थो, गुरु जहण्णेण तिण्णट्ठा॥
दव्वादी अपसत्थे, मोत्तु पसत्थेसु फासुगाहारं।
लग्गाति व तूरंते, गुरुअणुकूले वऽहाजायं॥
तिगुणपथाहिणपादे, नित्थारो गुरुगुणेहि वट्ठाहि ।”

गोयेरे ति दिणे दिणे भिक्खं हिंडियव्वं । जत्थ जं लब्भइ तं अच्चित्तं घेतव्वं, तं पि एसणादिमुद्धं, आणियं पि बालवुड्ढसेहादिएहिं सह संविभागेण भोत्तव्वं । निच्चं सज्झायज्झाणपरेण होयव्वं । सदा अण्हाणगं, उदुबद्धे सया भूमिसयणं, वासासु फलगादिएसु सोतव्वं । अट्ठारस-सीलंगसहस्सा धरेयव्वा लोयादिया य किलेसा अणेगे कायव्वा । एयं सव्वं जति अब्भुवगच्छति तो पव्वावेयव्वो । एसा पव्वावणिज्जपरिक्खा पव्वावणा भणणति ।

.....सणिसेज्जं रयोहरणं मुहपोत्तिया चोलपट्टो य एयं अहाजातं दातुं वा ।”

वामपासट्टियस्स आयरितो भणाति-इमस्स साधुस्स सामाइयस्स आरुहावणं करेमि काउसगं ।”अन्नत्थू-ससिएणं जाव वोसिरामि त्ति, लोगस्सुज्जोयगरं चिंतित्ता णमोऽरहंताणं ति पारित्ता, लोगस्सुज्जोयगरं कट्ठित्ता पच्छा पव्वावणिज्जेण सह सामाइयसुत्तं तिक्खुत्तो कट्ठित्ति, पच्छा सेहो इच्छामि खमासमणो त्ति वंदति ।

ताहे वंदति, वंदिता णमोवकारमुच्चारंतो पयाहिणं
करेति, पादेसु णिवडति । एवं बितियं ततियं च वारा । ताहे
साधूण णिवेदाविज्जति ।...ते भणन्ति—“निस्तारगपारगो
होहि, आयरियगुणेसु वट्टसु” एसा मुंडावणा ।

(निभा ३७४८-३७५१ चू)

० प्रब्राजना—दीक्षार्थी से गुरु पूछते हैं—तुम कौन हो ? क्यों
प्रव्रजित हो रहे हो ? वैराग्य कैसे हुआ ?

पृच्छा में उत्तीर्ण होने पर वह प्रब्राजनीय है । प्रव्रज्या
से पूर्व उसे साधुवर्या से अवगत कराया जाता है—

साधु जीवन में प्रतिदिन भिक्षा के लिए घूमना होता
है । प्रासुक-एषणीय आहार आदि प्राप्त होने पर स्थान पर
आकर बाल, वृद्ध, शैक्ष आदि के साथ उसे संविभागपूर्वक
खाना होता है । मुनि सदा स्वाध्याय-सद्ध्यन में रत रहता है ।
वह कभी स्नान नहीं करता । ऋतुबद्धकाल में भूमि पर तथा
वर्षाकाल में फलक आदि पर सोता है । वह अठारह हजार
शीलांग को धारण करता है । उसे केशलुंचन आदि अनेक कष्ट
सहने होते हैं—यह सब स्वीकार करने पर उसे प्रव्रजित किया
जा सकता है । दीक्षार्थी की यह परीक्षा प्रब्राजना कहलाती है ।
० मुंडापना—जो स्थिरहस्त समर्थ आचार्य होते हैं, वे प्रव्रजित
शैक्ष का जघन्यतः तीन मुष्टि से सारा लोच करते हैं ।

गुरु अप्रशस्त द्रव्य आदि का वर्जन कर प्रशस्त द्रव्य-
क्षेत्र-काल-भाव में प्रव्रजित करते हैं । प्रशस्त लग्न आदि में
शीघ्र प्रव्रजित करते हैं । केवल गुरु के अनुकूल लग्न आदि में
भी प्रव्रजित किया जा सकता है ।

गुरु शैक्ष को यथाजात—निषद्यासहित रजोहरण, मुख-
वस्त्र और चोलपट्ट देते हैं ।

गुरु अपने बायीं ओर स्थित शैक्ष के लिए कहते हैं—
मैं इस साधु को सामायिक में आरोहण कराने के लिए कायोत्सर्ग
करता हूँ—‘अन्तथ उत्ससिणं...वोसिरामि’—कायोत्सर्गसूत्र के
इतने अंश का उच्चारण कर ‘लोगस्स...’ का ध्यान कर, नम-
स्कारमंत्र से उसको पूरा कर पुनः ‘लोगस्स...’ (उक्कित्तणं)
का उच्चारण कर प्रब्राजनीय के साथ तीन बार ‘सामायिक’
पाठ बोलते हैं ।

तत्पश्चात् शैक्ष ‘इच्छामि खमासमणो !...’ पाठ से

वंदना कर, प्रत्युत्थित हो कहता है—भंते ! आपने मुझे सामायिक
में आरोहण करवाया, अब मैं आपकी अनुशिष्टि चाहता हूँ ।

गुरु कहते हैं—‘स्व-पर का कल्याण करो, श्रुत के
पारगामी बनो और गुरु-गुणों में वर्तन करो ।’

इस अनुशासन को सुन शैक्ष पुनः वंदना कर नमस्कार
का उच्चारण कर तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वरण-वंदना करता
है और फिर सब साधुओं को अनुशिष्टि के लिए निवेदन
करता है, तब साधु कहते हैं—

निस्तारक और पारगामी बनो, आचार्य के अनुशासन
में वर्तन करो—यह मुंडापना है ।

(भगवान् पार्श्व के शासन में केवल सामायिक चारित्र
था और भगवान् महावीर के शासन में सामायिक चारित्र तथा
छेदोपस्थापनीय चारित्र दोनों थे । दीक्षा सामायिक चारित्र के
संकल्प के साथ दी जाती और एक सप्ताह, चार मास अथवा
छह मास के पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र स्वीकृत किया
जाता था । सामायिक चारित्र में केवल सर्व सावद्ययोग का
प्रत्याख्यान होता था । भगवान् महावीर ने दीक्षा के समय “सर्वं
मे अकरणिज्जं पावकम्मं”—इस संकल्प के साथ सामायिक
चारित्र स्वीकार किया था । छेदोपस्थापनीय चारित्र में सावद्ययोग
का प्रत्याख्यान विस्तार के साथ किया जाता था । विस्तार की दो
परम्पराएं प्रस्तुत (भगवती) सूत्र में विद्यमान हैं—

१. पांच महाव्रतों का स्वीकार ।

२. अठारह प्रकार की सावद्य प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान ।

इन दोनों में पहले कौन-सी परम्परा प्रचलित हुई—
यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है । संभावना की जा सकती
है कि पहले अठारह प्रकार की सावद्य प्रवृत्तियों के प्रत्याख्यान
की परम्परा रही हो और उसके पश्चात् उसका संक्षिप्त रूप
पांच महाव्रतों के रूप में हुआ हो । सूत्र संकलन के काल में
दोनों परम्पराओं का एक साथ उल्लेख हुआ है—यह संभावना
की जा सकती है ।—भ २/६८ का भाष्य)

५. प्रव्रज्या के पश्चात् उपस्थापना

फासुयआहारो से, अणहिंडंतो य गाहए सिक्खं ।
ताहे उ उवद्दवणा, छज्जीवणियं तु पत्तस्स ॥
दव्वादिपसत्थवया, एक्केक्क तिगं तु उवरिमं हेट्ठा ।...

ईसिं अवणय अंतो, वामे पासम्मि होति आवलिया।
अभिसरणम्मि य वुड्डी, ओसरणे सो व अण्णो वा ॥
(व्यभा २०३७, २०४५, २०५२)

प्रव्रज्याप्रदान के पश्चात् उसे प्रासुक आहार कराया जाता है। उसे भिक्षा लाने नहीं भेजा जाता। वह ग्रहण और आसेवन शिक्षा प्राप्त करता है।

षड्जीवनिका अध्ययन (दशवैकालिक के प्रथम चार अध्ययन) पर्यंत के सूत्र-अर्थ ग्रहण के पश्चात् उसे उपस्थापित किया जाता है (सात दिन बाद छेदोपस्थापनीय चारित्र दिया जाता है)।

प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में व्रतों का आरोपण किया जाता है—प्रारम्भ से अन्त तक एक-एक व्रत का तीन बार उच्चारण किया जाता है।

उपस्थाप्यमान साधुओं की आवलिका गुरु के वाम पार्श्व में गजदन्त की भांति ईषद् प्रणत हो स्थित होती है। वे उपस्थापित साधु यदि गुरु के पास आगे से अभिसरण करते हैं तो गच्छ की वृद्धि होती है। (अन्य बहुत से व्यक्ति निकट भविष्य में दीक्षा लेते हैं)। यदि गुरु के पीछे से अपसरण करते हैं तो उपस्थाप्यमान या अन्य कोई साधु गच्छ से बहिर्भूत हो जाता है।

० उपस्थापनाकल्पिक : बड़ी दीक्षा विधि

अप्यत्ते अकहेत्ता, अणहियगयऽपरिच्छणे य चउगुरुगा ।
पट्टि ए कहिय अहियगय, परिहर उवठावणाए षो कप्पो ।
(बृभा ४११, ४१४)

अप्यत्तं उ सुतेणं, परियाए उडुवेंते चउगुरुगा ।
सुत्तत्थे अकहेत्ता, जीवाजीवे य पुण्ण पावं च ।
उवट्टाणे चउगुरुगा, ॥

अणभिगयपुण्णपावं, उवट्टुवेंतस्स चउगुरू होंति ।
आणादिणो विराहण, मालाए होति दिट्ठतो ॥
दव्वातिसाहए ता, तहेव..... ।

पुठ्ठि जाहे सत्थपरिण्णा सुत्ततो अधीता ताहे
उवट्टावणापत्तो भन्ति । दसवेयालियमुप्यत्तिकालतो पुण
जाहे छज्जीवणिया अधीता उच्चे ट्टावणा उत् प्राबल्येन
वा ठावणा उट्टावणा ।

.....अणभिग्गाहिता जस्स णो सहहति.....जहा
पंचवण्णसुंगधपुष्फमाला पउमुप्यलोवसोभिथा उद्ध-
सुवकखाणुमालइता ण सोभति तथा पंचमहव्वयमाला
सभावेणोवसोभिथा तस्स न सोभति ।

(निभा ३७५३-३७५५, ३७५९ चू)

.....उवट्टाविज्जमाणे आयरिओ अप्पणो वामपासे
ठवेति । महव्वयकहणा य काउस्सगं करेति, तत्थ
चउवीसत्थयं चिंतेति, णवक्कारेण पारेत्ता चउवीसत्थयं
फुडवियडं वायाते कड्ढित्ता ताहे महव्वयउच्चारणं करेति ।

(निभा ३७५८ की चू)

जो सूत्रार्थ की दृष्टि से अप्राप्त, अकथित, अनभिगत और अपरीक्षित है, उसे उपस्थापित (विभागपूर्वक महाव्रतों में आरोपित) करने वाला चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

० अप्राप्त—षड्जीवनिका सूत्र पढ़े बिना उपस्थापनाकल्पिक नहीं होता। प्राचीनकाल में आचारांग के प्रथम अध्ययन 'शस्त्रपरिज्ञा' को सूत्रतः पढ़ने पर उपस्थापना होती थी। दशवैकालिक की रचना के पश्चात् उसके चतुर्थ अध्ययन 'षड्जीवनिका' को पढ़ने पर उपस्थापनाई माना जाने लगा।

संयम के उच्च स्थान पर स्थापना अथवा प्रबलता से स्थापना उपस्थापना (छेदोपस्थापनीय चारित्र) है।

० अकथयित्वा—सूत्र का अर्थ—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नव पदार्थ भेद-प्रभेद पूर्वक बताये बिना उपस्थापित नहीं किया जाता।

० अनभिगत—जो नव पदार्थों को सुनकर-जानकर उन पर श्रद्धा नहीं करता, उसे उपस्थापित करने पर आज्ञाभंग आदि दोषों का तथा जीवविराधना का प्रसंग आता है।

अभिनव प्रव्रजित को सूत्र पढ़ाकर, अर्थ बताकर परीक्षा की जाती है कि उसने सम्यक् ग्रहण किया या नहीं, उस पर श्रद्धा की या नहीं? तत्पश्चात् उसे छहजीवनिकाय की हिंसा का विभागपूर्वक प्रत्याख्यान कराया जाता है।

माला दृष्ट्यंत—पद्म-उत्पल से शोभित पंचवर्णी सुगंधित पुष्पमाला ऊंचे, शुष्क स्थाणु पर शोभित नहीं होती, वैसे ही सहज सुंदर पंचमहाव्रत-माला अप्रद्वालु के शोभित नहीं होती।

उपस्थापना विधि—आचार्य उपस्थापनीय शिष्य को अपने वामपार्श्व में खड़ा करते हैं, फिर महाव्रतकथन के लिए कायोत्सर्ग में चउवीसत्थव (लोगस्स....) का चिंतन कर नमस्कार मंत्र से उसे पूरा कर पुनः चतुर्विंशतिस्तव का स्पष्टता से वाचिक उच्चारण कर पांच महाव्रतों का उच्चारण करते हैं।

सामायिक की भांति अनुकूल प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-तारा-चन्द्रबल में इस विधि को सम्पन्न किया जाता है।

० उपस्थापना की कालमर्यादा

आयरिय-उवज्झाए सरमाणे परं चउरायाओ पंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ। अत्थियाइं त्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए, नत्थि से केइ छेए वा परि-हारे वा। नत्थियाइं त्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥

आयरिय-उवज्झाए सरमाणे वा असरमाणे वा परं दसरायकप्पाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ। नत्थियाइं त्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए, संवच्छरं तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं उद्दिसित्तए ॥ (व्य ४/१५, १७)

एसादेसो पढमो, बितिए तवसा अदम्ममाणम्मि।

उभयबलदुब्बले वा, संवच्छरमादि साहरणं ॥

(व्यभा २०६०)

आचार्य या उपाध्याय स्मरण रखते हुए, कल्पाक (उपस्थापना योग्य) भिक्षु को चार या पांच अहोरात्र तक उपस्थापित नहीं करते, उस समय यदि नवदीक्षित के कोई पूज्यजन (पिता आदि) भावी कल्पाक हों (उनकी बड़ी दीक्षा में विलम्ब हो), तो आचार्य को छेद या परिहार तप रूप प्रायश्चित्त नहीं आता।

यदि पूज्यजन भावी कल्पाक न हों, तो (दीक्षा के सात दिन बाद आठवीं यावत् बारहवीं रात्रि का उल्लंघन करने पर) स्वांतरकृत छेद या परिहार प्राप्त होता है।

आचार्य-उपाध्याय स्मृति में रहते हुए (नक्षत्र आदि प्रशस्त न होने पर) या (व्याक्षेपों के कारण) स्मृति में न रहते हुए कल्पाक भिक्षु को दस अहोरात्र के पश्चात् भी (७+१०=१७ वीं रात्रि पर्यंत) उपस्थापित न करे तथा कोई पूज्य भावी कल्पाक भी न हो, तो वे तत्प्रत्ययिक प्रायश्चित्त स्वरूप एक

वर्ष पर्यंत आचार्य-उपाध्याय पद पर नहीं रह सकते।

सूत्रोक्त विधि से यथासमय उपस्थापना न करने पर आचार्य-उपाध्याय को स्वांतरकृत छेद या परिहार आता है—यह प्रथम आदेश है।

द्वितीय आदेश के अनुसार तप या छेद से अदम्यमान (वहन करने योग्य न) होने पर अथवा धृतिबल और कायबल से दुर्बल होने पर एक वर्ष पर्यंत आचार्य-उपाध्याय पद का त्याग करना होता है।

० पहले उपस्थापना किसकी? दण्डिक दृष्टांत

पिय-पुत्त-खुड्ड-थेरे, खुड्डुगथेरे अपावमाणम्मि।
सिक्खावण पण्णवणा, दिट्ठतो दंडिगादीहिं ॥
राया रायाणो वा, दोण्णि वि समपत्त दोसु ठाणेसु।
ईसर सेट्ठि अमच्चवे, निगम घडा कुल दुवे चवे ॥
समगं तु अणोसेसू, पत्तेसू अणभिओगमावलिाया।
एगतो दुहतो व ठिता, समराइणिाया जहासण्णा ॥

(निभा ३७६४, ३७६८, ३७७०)

पिता और पुत्र—दो व्यक्ति एक साथ प्रव्रजित हुए हैं, एक साथ सूत्र का अध्ययन किया है तो दोनों को एक साथ उपस्थापित किया जाता है।

क्षुल्लक ने सूत्र नहीं सीखा है, स्थविर ने सीख लिया है, तो उसे उपस्थापित किया जाता है। क्षुल्लक ने सूत्र सीख लिया, स्थविर ने सूत्र नहीं सीखा तो उसे प्रयत्नपूर्वक सूत्र सिखाकर दोनों को युगपत् उपस्थापित किया जाता है।

स्थविर की स्वीकृति होने पर क्षुल्लक को पहले भी उपस्थापित किया जा सकता है। स्थविर समय पर सूत्र सीख नहीं पाता है और क्षुल्लक के लिए अनुज्ञा भी नहीं देता है तो उसे समझाने हेतु दृष्टांत का प्रज्ञापन किया जाता है—

० दण्डिक (राजा) दृष्टांत—एक राजा अपने राज्य से परिभ्रष्ट हो गया। पुत्र भी उसके साथ था। वे दोनों एक अन्य राजा की सेवा में नियुक्त हो गए। वह राजा राजपुत्र की सेवा से संतुष्ट हुआ और उसे राजा बनाने का निर्णय किया। क्या पिता राजा उसे अनुमति नहीं देगा? अवश्य देगा।

इसी प्रकार तुम्हारा पुत्र यदि महाव्रत-राज्य को प्राप्त करता है तो क्या तुम इसे मान्य नहीं करोगे?

राजा, युवराज, श्रेष्ठी, मंत्री, वणिक्, गौष्ठिक और महाकुलीन—यदि ये सब दो-दो दीक्षित होते हैं तो सूत्र-अध्ययन समान होने पर एक साथ उपस्थापित कर उन्हें समरालिक रखा जाता है। उपस्थापना के समय ऐसी समानश्रेणी वाले अनेक व्यक्ति हों तो वे सहजरूप से आवलिका में स्थित होते हैं। उन्हें आचार्य के सामीप्य के क्रम से ज्येष्ठ-अनुज्येष्ठ रखा जाता है। जो आचार्य के दोनों पार्श्वों में स्थित होते हैं, उन्हें समरालिक रखा जाता है।

६. उपस्थापना के पश्चात् : दिशादान आदि

....दुविहा तिविहा य दिसा, आयंबिल जस्स वा जं तु ॥

....उवट्टावियस्स साधुस्स आयरियउवज्झाया दुविहा दिसा दिज्जति । इत्थियाए तइया—पवत्तिणीदिसा दिज्जति । जहिवसं उवट्टावितो तहिवसं केसिं चि अभत्तट्ठो भवति, केसिं चि निव्वितियं, केसिं चि आयंबिलं, केसिं चि न किंचि । जस्स वा जं आयरियपरंपरागतं छट्टुट्टमातियं कारविज्जति । एसा उवट्टावणा ।

संभुजणा—जतो मंडलिसंभोगट्टा सत्त आयंबिले कारविज्जति, णिव्वितए वा जस्स वा जं आयरियस्स परंपरागयं । (निभा ३७५९ चू)

अणुवट्टवितेषा सह एगट्टं संवासो ण कप्पति ।

....उवट्टावेउं संभुंजेज्ज संवासेज्ज वा ।

(निभा ३७६३ की चू)

० दिशादान—उपस्थापित साधु को द्विविध दिशा दी जाती है—आचार्य और उपाध्याय (उसे इनकी निश्रा में रहने का निर्देश दिया जाता है।)

साध्वी के त्रिविध दिशा का निर्धारण किया जाता है—आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी ।

जिस दिन उपस्थापित किया जाता है, उस दिन किसी के उपवास, किसी के निर्विकृतिक, किसी के आचाम्ल और किसी के कुछ नहीं होता। अथवा जिसकी जो आचार्य परम्परा होती है, उसके अनुसार षष्ठभक्त-अष्टमभक्त (बेला-तेला) आदि कराया जाता है—यह उपस्थापना है।

० संभोजन—आहारमंडली में भोजन करने के लिए सात आयंबिल या निर्विकृतिक या जो आचार्य परंपरा से प्राप्त है, वह कराया जाता है।

० संवास—अनुपस्थापित के साथ एकत्र संवास नहीं किया जा सकता। बड़ी दीक्षा के पश्चात् संभोजन और संवास होता है।

७. चिरदीक्षित कौन ?

चिरपव्वइओ तिविहो, जहण्णओ मज्झिमो य उक्कोसो ।

तिवरिस पंचग मज्झो, वीसतिवरिसो य उक्कोसो ॥

(बृभा ४०३)

चिरप्रव्रजित के तीन प्रकार हैं—

जघन्य चिरप्रव्रजित — तीन वर्ष का दीक्षित ।

मध्यम चिरप्रव्रजित — पांच वर्ष का दीक्षित ।

उत्कृष्ट चिरप्रव्रजित — बीस वर्ष का दीक्षित ।

८. दीक्षा के अनर्ह कौन ?

जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासगं वा अणुवासगं वा अणलं पव्वावेति, पव्वावेतं वा सातिज्जति ॥....आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं अणुघातियं ॥ (नि ११/८५, ९३)

अट्टारस पुरिसेसुं, वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसु ।

पव्वावण अणरिहा, ॥

बाले वुट्ठे णपुंसे य, जट्ठे कीवे व वाहिए ।

तेणे रायावकारी य उम्मत्ते य अदंसणे ॥

दासे दुट्ठे य मूढे य, अणत्ते जुंगिए इ य ।

उब्बद्धए य भयए, सेहणिएडियाइ य ॥

गुव्विणि बालवच्छा य, पव्वावेउं ण कप्पती ॥....

पंडए वातिए कीवे, कुंभी इस्सालुए त्ति य ।

सउणी तक्कम्मसेवी य, पक्खियापक्खिते ति य ॥

सोगंधिए य आसित्ते..... ॥

(निभा ३५०५-३५०८, ३५६१, ३५६२)

जो भिक्षु अयोग्य स्वजन या अस्वजन, उपासक या अनुपासक को प्रव्रजित करता है, वह चातुर्मासिक गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियां और दस प्रकार के नपुंसक—ये अड़तालीस व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं हैं।

० अठारह प्रकार के पुरुष—बाल, वृद्ध, नपुंसक, स्थूल, क्लीव,

रोगी, स्तेन, राजा के अपकारी, उन्मत्त, अचक्षु, दास, दुष्ट, मूढ, ऋणी, जुंगिक, अवबद्ध (शिल्पकार, ग्वाल आदि), भृतक और शैक्षस्तेन (अभिभावक की आज्ञा अप्राप्त)।

० बीस प्रकार की स्त्रियाँ—बाला, वृद्धा आदि उल्लिखित अठारह प्रकार तथा गर्भवती और बालवत्सा।

० दस प्रकार के नपुंसक—

१. पंडक—स्त्री स्वभाव वाला। स्त्री, पुरुष—दोनों में आसक्त।
२. वातिक—वायुदोष से स्तब्ध वस्ति वाला।
३. क्लीव—कामेच्छा से विकृत सागारिक वाला।
४. कुंभी—वातदोष से शोथयुक्त वस्ति वाला।
५. ईर्ष्यालु—प्रतिसेवना करते देख उत्पन्न कामेच्छा वाला।
६. शकुनि—गृहचटक की भांति अभीक्षण प्रतिसेवना प्रसक्त।
७. तत्कर्मसेवी—निसृष्टबीज को श्वान की भांति चाटने वाला।
८. पाक्षिकपाक्षिक—एक पक्ष (कृष्ण या शुक्ल) में उत्कट मोहोदय, अपर पक्ष में अल्प मोहोदय।
९. सौगंधिक—सागारिक—गंध को सुगंध मानने वाला।
१०. आसिक्त—स्त्रीशरीर में अत्यंत आसक्त।

९. बाल के प्रकार एवं लक्षण

त्तिविहो य होति बालो, उक्कोसो मञ्जिमो जहण्णो य ।
सत्तडुगमुक्कोसो, छप्पणमञ्जो तु जाव तु जहण्णो ।
एवं वयण्णिवत्ती वा ॥
उक्कोसो दट्टुणं, मञ्जिमओ ठाति वारितो संतो ।
जो पुण जहण्णबालो, हत्थे गहितो वि ण वि ठाति ॥
जह भणितो तह चिट्ठइ, पढमो बित्तिण फेडियं ठणं ।
तत्तितो ण ठाति ठाणे ॥
(निभा ३५१०-३५१२, ३५१६)

बाल के तीन प्रकार हैं—

उत्कृष्ट बाल—सात-आठ वर्ष का बालक।

मध्यम बाल—पांच-छह वर्ष का बालक।

जघन्य बाल—एक से चार वर्ष तक का बालक।

यह वयनिष्पन्न बालत्व है अथवा भाव प्रायः वय का अनुवर्तन करते हैं।

उत्कृष्ट बालक वह है, जो गुरु आदि के दृष्टिपात मात्र से अकार्य से निवृत्त हो जाता है। जो निषेध करने पर

अकरणीय से निवृत्त होता है, वह मध्यम बाल है। जघन्य बाल वह है, जो हाथ पकड़कर रोकने पर भी नहीं मानता है। (वह दायें हाथ से फूल तोड़ रहा है। कोई उसके उस हाथ को पकड़ता है तो वह बाएं हाथ से तोड़ने लगता है)।

अथवा पहले को जैसा कहा जाता है, वैसा कर लेता है। दूसरा रोकने पर रुक जाता है। तीसरा निवारण करने पर भी निवृत्त नहीं होता है।

० न्यून अष्टवर्षीय बालक दीक्षायोग्य नहीं

ऊणट्टे णत्थि चरणं, पव्वावेतो वि भस्सते चरणा ।
मूलावरोहिणी खलु, णारभति वाणितो चेदुं ॥

जेण ण भस्सति तं पव्वावेति । (निभा ३५३२ चू)

आठ वर्ष से न्यून वय वाले बालक में चारित्र नहीं होता। जो उसे प्रव्रजित करता है, वह भी चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है। लाभार्थी वणिक् मूल पूंजी-नाशक व्यापार नहीं करता। जिससे चारित्रविनाश की संभावना न हो, तो उसे प्रव्रजित किया जा सकता है।

० दीक्षार्ह की न्यूनतम वय

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुडुगं वा
खुडियं वा साइरेगट्टवासजायं उवट्टावेत्तए वा संभुंजितए
वा ॥
(व्य १०/२२)

ऊणऽट्टए चरित्तं, न चिट्ठए चालणीय उदगं वा ।
काय-वइ-मणोजोगो, हवंति तस्स अणवट्टिया जम्हा ।
(व्यभा ४६४६, ४६४७)

निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी कुछ अधिक आठ वर्ष वाले बालक या बालिका को उपस्थापित कर सकते हैं (बड़ी दीक्षा दे सकते हैं), उनके साथ एक मण्डली में आहार कर सकते हैं।

जो बालक आठ वर्ष से कम उम्र वाला होता है, चालनी में जल की भांति उसमें चारित्र नहीं टिकता। उसके मन, वचन और काया के योग चंचल होते हैं।

१०. बाल-वृद्ध-दीक्षा के अपवाद

पव्वावेत्ति जिणा खलु, चोहसपुव्वी य जो य अइसेसी ।
सत्थाए अइमुत्तो, मणओ सेज्जं भवेण पुव्वविदा ।
पव्वाविओ य वइरो, छम्मासो सीहगिरिणा वि ॥

सत्थाए पुक्खपिता, चोद्दसपुक्खीण जंबुनाम पिता ।
तं मञ्जेणं जणओ, दिक्खिओ रक्खियञ्जेहिं ॥
ओहिमणा उवउज्जिय, परोक्खणाणी णिमित्त घेत्तूणं ।
जति पारगा तो दिक्खा, जुगप्पहाणा व होहिंति ॥
(निभा ३५३५, ३५३६, ३५५६, ३५६०)

तीर्थंकर, चौदहपूर्वी और अतिशयधारी आचार्य बाल तथा वृद्ध को भी प्रव्रजित करते हैं । यथा—

तीर्थंकर श्रमण महावीर ने अतिमुक्तक को तथा चतुर्दशपूर्वी आचार्य शय्यंभव ने मनक को दीक्षित किया । अतिशयज्ञानी सिंहगिरि ने छहमासिक वज्र को दीक्षित किया (योग्य जानकर भिक्षापात्र में ग्रहण किया) ।

भगवान् महावीर ने अपने पूर्व पिता ऋषभदत्त ब्राह्मण को, चतुर्दशपूर्वी सुधर्मा ने जम्बू के पिता ऋषभदत्त को तथा नवपूर्वी आर्यरक्षित ने अपने पिता सोमदेव को प्रव्रजित किया ।

अवधिज्ञानी आदि अपने प्रत्यक्षज्ञान से तथा परोक्षज्ञानी निमित्तज्ञान अथवा अतिशय श्रुतज्ञान से जान लेते हैं कि अमुक बाल या वृद्ध कालिकश्रुत और पूर्वगतश्रुत के पारगामी होंगे अथवा युग-प्रधान होंगे अथवा श्रमणसंघ के आधारभूत होंगे— यह जानकर वे बाल और वृद्ध को भी दीक्षित कर सकते हैं ।

११. दस दशाएं, दीक्षा-योग्य बाल-वृद्ध

तिविहो य होइ वुड्ढो, उक्कोसो मञ्जिमो जहण्णो य ।
दस आउविवागदसा, अट्टमवरिसाइ दिक्खपढमाए ।
सेसासु छसु वि दिक्खा, पब्भाराईसु सा ण भवे ॥
अट्टमि दस उक्कोसो, मञ्जो णवमीइ जहण्ण दसमीए ।
जं तुवरिं तं हेट्ठा, भयणा व बलं समासज्ज ॥
बाला मंदा किड्ढा, पबला पण्णा य हायणी ।
पवंचा पब्भारा या, मुम्मुही सायणी तथा ॥
केसिं चि एवं वाती, वुड्ढो उक्कोसणो उ जा सयरी ।
अट्टमदसा वि मञ्जो, नवमीदसमीसु तु जहन्तो ॥

जं जग्गि काले आउयं उक्कोसं दसथा विभत्तं दस आउविवागदसा भवंति । प्रतिसमयभोगत्वेन आयातीत्यायुः विपचनं विपाकः, आयुषो परिहाणीत्यर्थः । अनुभागेन युक्तो विभागो दशा उच्यते, ततो य दस दसाओ दसवरिस-पमाणातो वरिससयाउसो भवंति.....पढमदसाए अट्ट-

वरिसोवरिं नवमदसमेसुं दिक्खा, आदेसेण वा गब्भट्ट-
मस्स दिक्खा जम्पणओ अट्टमवरिसे ।

(निभा ३५४२-३५४६ चू)

जिस काल में जितनी उत्कृष्ट आयु होती है, उसको दस भागों में विभक्त करने पर दस आयु विपाकदशाएं होती हैं । जो प्रतिसमय उदय में आती है, वह आयु है । उसका विपाक होता है । प्रतिक्रमण आयुष्य की हानि होती है । अनुभाग-युक्त विभाग को दशा कहा जाता है । प्रत्येक दशा दस वर्ष प्रमाण होने से उनका कुल परिमाण सौ वर्ष है ।

दशाएं दस हैं—बाला, मंदा, क्रीडा, प्रबला, प्रज्ञा, हायनी, प्रपंचा, प्राग्भारा, मृन्मुखी, शायनी । (—द्र श्रीआको १ मनुष्य) दशा और दीक्षार्हता—प्रथम बाला दशा में आठ वर्ष से अधिक—नौ-दस वर्षीय बाल दीक्षित किया जा सकता है ।

एक आदेश यह भी है—गर्भसहित आठवां वर्ष यानी जन्म से आठवें वर्ष में दीक्षा हो सकती है ।

(तेरापंथ धर्मसंघ के चतुर्थ आचार्य प्रज्ञापुरुष श्रीमज्ज-याचार्य ने वि. सं. १९०८ फाल्गुन कृष्ण षष्ठी को साधिक अष्टवर्षीया बालिका गुलाब को बीदासर में दीक्षित किया, जिनका जन्म वि. सं. १९०१ कार्तिक के शुक्ल पक्ष में हुआ था । वे आचार्य श्री मधवा की लघु भगिनी थीं । उन्होंने साध्वीप्रमुखा पद को अलंकृत किया ।—शासन समुद्र भाग ९ पृ. २१)

मंदा यावत् प्रपंचा—ये छह दशाएं दीक्षार्ह हैं । सामान्यतः प्राग्भारा, मृन्मुखी और शायनी दशा में दीक्षा अनुज्ञात नहीं है क्योंकि सत्तर वर्ष से अधिक उम्र वृद्ध अवस्था है ।

चेष्टा, बुद्धि आदि की बहुलता की अपेक्षा से आठवीं दशा उत्कृष्ट है, नवमी मध्यम और दसवीं जघन्य है ।

अथवा अल्प वृद्धभाव के कारण आठवीं दशा जघन्य, नौवीं मध्यम और दसवीं उत्कृष्ट है । दसवीं से पुनः बचपन प्रारम्भ हो जाता है ।

बल की अपेक्षा से वृद्धत्व की उत्कृष्टता आदि वैकल्पिक है । आठवीं-नौवीं-दशवीं दशा में जो भिक्षाटन आदि में अशक्त है, वह जघन्य वृद्ध है, मध्यम बल वाला मध्यम और उत्कृष्ट बल वाला उत्कृष्ट वृद्ध है ।

साठ वर्ष के पश्चात् इन्द्रियबल आदि की प्रबल हानि होती है, इसलिए कुछ आचार्यों का अभिमत है कि

सत्तर वर्ष का उत्कृष्ट वृद्ध है। आठवीं दशा मध्यम और नौवीं-दसवीं दशा जघन्य है।

१२. नपुंसक के प्रवाजन आदि का निषेध

तओ नो कप्यंति पव्वावेत्तए..... ॥ मुंडावेत्तए सिक्खावेत्तए उवट्टावेत्तए संभुजित्तए संवासित्तए, तं जहा—पंडए वाइए कीवे ॥ (क ४/४, ५)

नपुंसक, वातिक (तीव्र वात रोगों से पीड़ित) और क्लीब (वीर्यधारण में अशक्त)—ये तीनों प्रकार के व्यक्ति प्रव्रज्या, मुण्डन, शिक्षण, उपस्थापन, संभोज और संवास के अयोग्य होते हैं।

पव्वाविओ सिय त्ति उ, सेसं पणगं अणाचरणज्जोगो ।...

(बृभा ५१९०)

नपुंसक को अनजान में दीक्षा दे दी गई हो तो ज्ञात होने पर मुण्डन आदि पांचों उस के लिए विहित नहीं हैं।

० नपुंसक को दीक्षा क्यों नहीं ?

श्रीपुरिसा जह उदयं, धरेंति झाणोक्वासणियमेणं ।
एवमपुमं पि उदयं, धरेज्जति को तहिं दोसो ॥
श्रीपुरिसा पत्तेयं, वसंति दोसरहितेसु ठाणेसु ।
संवासफासदिट्ठे, इयरे वच्छंब दिट्ठंतो ॥

(निभा ३६०२, ३६०४)

शिष्य ने पूछा—ध्यान, उपवास, नियम आदि में उपयुक्त स्त्री और पुरुष के भी जैसे वेद का उदय रहता है, वैसे ही नपुंसक के वेदोदय रहता है, फिर नपुंसक को प्रव्रजित करने में क्या दोष है ?

आचार्य ने कहा—स्त्री और पुरुष प्रव्रजित होकर निर्दोष स्थानों में रहते हैं—स्त्री स्त्रियों (साध्वियों) के साथ और पुरुष पुरुषों (साधुओं) के साथ।

नपुंसक यदि स्त्रियों या पुरुषों के साथ रहता है तो संवास, स्पर्श और दृष्टिजनित दोषों की संभावना रहती है। वत्स-अंब दृष्टांत—जैसे माता को देखकर वत्स के स्तनाभिलाषा होती है, एक व्यक्ति को आम खाते हुए देखकर दूसरे के मुंह में पानी आ जाता है, वैसे ही नपुंसक को देखकर स्त्री और पुरुष के प्रबल वेदोदय हो सकता है।

१३. दीक्षा के अनर्ह : जडु

तिविहो य होइ जडुो, सरीर-भासाए करणजडुो उ ।
भासाजडुो तिविहो, जल मम्मण एलमूओ य ॥
दंसण-णाण-चरित्ते, तवे य समितीसु करणजोगे य ।
उवदिट्ठं पि ण गेण्हति, जलमूओ एलमूओ य ॥
णाणादट्ठा दिक्खा, भासाजडुो अपच्चलो तस्स ।
सो बहिरो वि णियमा, गाहणउट्टाह अहिकरणं ॥
तिविहो सरीरजडुो, पंथे भिक्खे य होति वंदणए ।
एतेहि कारणेहिं, जडुस्स ण दिज्जती दिक्खा ॥
इरियासमिती भासेसणा य आदाणसमितिगुत्तीसु ।
न वि ठाति चरणकरणे, कम्मदएणं करणजडुो ॥
(निभा ३६२५, ३६२७-३६२९, ३६३३)

जडु (क्रिया, वचन और बुद्धि से हीन) के तीन प्रकार हैं—शरीरजडु, भाषाजडु, करणजडु। ये तीनों प्रकार के जडु दीक्षायोग्य नहीं होते।

० भाषाजडु—इसके तीन प्रकार हैं—

१. जलमूक—जलनिमग्न व्यक्ति की भांति बुडबुड—अव्यक्त भाषण करने वाला।
२. मन्मनमूक—बीच-बीच में स्खलित उच्चारण वाला।
३. एडमूक—मेमने की तरह बुडबुडाने वाला।

जलमूक और एडमूक दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, समिति, करण और योग के स्वरूप को समझाने पर भी नहीं समझते।

दीक्षा का प्रयोजन है ज्ञान आदि की उपलब्धि। भाषाजडु उसे ग्रहण करने में असमर्थ होता है।

जलमूक और एडमूक—दोनों नियमतः बधिर होते हैं। उन्हें जोर से बोलकर समझाने पर उड्डाह होता है और वे सम्यक् ग्रहण नहीं कर पाते हैं तो क्रुद्ध होकर अधिकरण करते हैं। अतः उन्हें दीक्षित नहीं करना चाहिए।

२. शरीरजडु—शरीरभेद के आधार पर नहीं, क्रियाभेद के आधार पर इसके तीन भेद हैं—पंथ, भिक्षा और वंदना।

जिनका शरीर स्थूल होता है, उन्हें पदयात्रा, भिक्षाटन और वंदना करने में कठिनाई होती है, अतः वे दीक्षायोग्य नहीं हैं।

३. करणजडु—जो ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग—पांच समिति, मन-वचन-काय-गुप्ति और चरण

(व्रत, श्रमणधर्म आदि)—इन सबका चारित्रावरण कर्म के उदय के कारण सम्यक् अनुशीलन नहीं कर पाता, वह करणजडु है।

० भाव-स्तेन : गोविंदाय आदि उदाहरण

.....भावम्मि य नाणतेणो तु ॥
गोविंदस्ज्जो णाणे, दंसणसत्थदुहेतुगट्टा वा ।
.....उदायिवहगातिया चरणे ॥
(निभा ३६५३, ३६५६)

जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र का हरण करने के लिए चारित्र ग्रहण करते हैं, वे भाव स्तेन हैं।

ज्ञानस्तेन—गोविंद नाम का एक भिक्षु था। एक आचार्य ने उस भिक्षु को शास्त्रार्थ में अठारह बार पराजित किया। भिक्षु ने सोचा—जब तक मैं इनके सिद्धांत का स्वरूप नहीं जानूंगा, तब तक इन्हें जीत नहीं सकूंगा। अतः उसने ज्ञान के आवरण को हटाने के लिए उन्हीं आचार्य के पास दीक्षा ली, सामायिक आदि आगमों का अध्ययन करते हुए सम्यक्त्व प्राप्त की। तत्पश्चात् उसने गुरु को वन्दन कर व्रत देने को कहा। 'तुम्हें व्रत दे चुका हूँ'—गुरु के ऐसा कहने पर उसने अपनी यथास्थिति बताई, तब गुरु ने व्रत-दीक्षा दी।

उसी गोविंदाय ने एकेन्द्रिय जीवों का अस्तित्व सिद्ध करने वाली 'गोविंदनिर्युक्ति' की रचना की।

दर्शनस्तेन—दर्शनप्रभावक ग्रंथों तथा कर्कटक आदि हेतुओं का अध्ययन करने के लिए निष्क्रमण करने वाला।

चारित्रस्तेन—जैसे राजा के वध के लिए उदायिमारक ने प्रव्रज्या ली।

० शासक का अपकारी

रणो ओरोहात्तिसु, संबंधे तह य दव्वजायम्मि ।
अब्भुट्टितो विणासाय होति रायावकारी तु ॥
सच्चित्ते अच्चित्ते, व मीसए कूडलेहवहकरणे ।
समणाण व समणीण व, ण कप्पती तारिसे दिक्खा ॥
(निभा ३६६३, ३६६४)

श्रमण और श्रमणी जैसे व्यक्ति को दीक्षित नहीं कर सकते, जिसने राजा के अंतःपुर आदि से संबंधित कोई अपराध किया हो, जो रत्न आदि द्रव्यों के विनाश के लिए उद्यत हो,

जिसने राजा के सचित्त-अचित्त-मिश्र (पुत्र, रत्नहार आदि) का अपहरण किया हो, कूटलेख लिखे हों या राजपुत्र आदि को वध-बंधन द्वारा व्यथित किया हो।

० पंच विध मूढ

मोत्तूण वेदमूढं, आदिल्लाणं तु नत्थि पडिसेहो ।
वुग्गाहणमण्णाणे, कसायमूढा तु पडिकुट्टा ॥
(निभा ३७०२)

द्रव्य, दिशा, क्षेत्र, काल, सादृश्य और अभिनव—मूढ के ये सात प्रकार दीक्षा के योग्य हैं। वेद, व्युद्ग्राह्य, अज्ञान, कषाय और मत्त—ये पांच प्रकार के मूढ प्रव्रज्या के लिए प्रतिषिद्ध हैं। मूढ के बारह प्रकार हैं। (द्र मूढ)

० जुंगित

.....ण कप्पती तारिसे दिक्खा ॥
चउरो य जुंगिया खलु, जाती कम्मे य सिप्प सारीरे ।
पोक्कारपाणडोंबा, वरुडा वि य जुंगिता जाती ॥
पोसग-संपर-णड-लंख-वाह-सोगरिग-मच्छिया कम्मे ।
पदकारा य परीसह, रयगा कोसेज्जगा सिप्पे ॥
हत्थे पाए कण्णे, नासा उट्टे विवज्जिया चेव ।
वामणग-वडभ-खुज्जा, पंगूल-कुंटा य काणा य ॥
(निभा ३७०६-३७०९)

घाणा नाम ये ग्रामस्य.....बहिराकाशे वसन्ति तेषां
गृहाणामभावात्। डोम्बा, येषां गृहाणि सन्ति गीतं च
गायन्ति। (व्यभा १४४९ की वृ)

जुंगित (जाति आदि से हीन) को दीक्षा नहीं दी जा सकती। उसके चार प्रकार हैं।

१. जातिजुंगित—जुलाहा, पाण (गांव के बाहर खुले आकाश में रहने वाले), डोंब, (गायक, जिनके घर होते हैं), वरुड (चटाई बनाने वाले) आदि जुगुप्सित जातियां।

२. कर्मजुंगित—स्त्री-मयूर-कुक्कुट-पोषक, संवर (नाई-धोबी अथवा शांबर—जादूगर), नट, लंख (बांस पर चढ़कर खेल दिखाने वाले), शिकारी, कसाई, मच्छीमार।

३. शिल्पजुंगित—चर्मकार, नापित, रजक, कौशेयक (रेशमी वस्त्र बनाने वाले)।

४. शरीरजुंगित—हाथ, पैर, कान, नाक और होठ से रहित,

वामन, वडभ (शरीर का आगे या पीछे का भाग उभरा हुआ हो), कुब्ज, पंगु, हाथ से विकल, एकाक्ष आदि।

१४. गच्छनिर्गत मुनि के संवेगप्राप्ति के स्थान

तिद्गुणे संवेगे, सावेक्ष्यो निवत्त तद्विवससुद्धो।
अज्जेव पाडिपुच्छं, को दाहिति संकियस्स मे उभए।
दंसणे कं उववूहे, किं थिरकरे कस्स वच्छल्लं॥
सरेहिति सीदंतं, चरणे सोहिं च काहिती को मे।
एव नियत्तऽणुलोमं, काउं उवहिं च तं देती॥

(व्यभा ३६५२-३६५४)

अविधि से गच्छनिर्गत मुनि के संवेगप्राप्ति के तीन स्थान हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र।

ज्ञान—वह सोचता है—आज ही सूत्र-अर्थ में शंकित होने पर मुझे कौन समाधान देगा ?

दर्शन—मैं किसका उपबृंहण करूंगा, किसे स्थिर करूंगा, किसके प्रति वत्सलता रखूंगा ?

चारित्र—चारित्र में श्लथ या विषण्ण होने पर कौन मेरी सारणा-वारणा करेगा ? प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर कौन मेरी शोधि करेगा ? इस चिन्तनत्रिपदी से संवेग प्राप्त कर यदि वह पुनः उसी दिन गच्छ में आ जाता है तो शुद्ध है। गच्छ में लौट आने वाले मुनि की अनुलोमना कर उसे उपधि दी जाती है।

(तुम धन्य हो कि तुमने आत्मकृत्य को पहचान लिया और पुनः संयम में आरूढ़ हो गए—इस अनुलोमना से संयम में स्थिरीकरण होता है।)

* दीक्षा : ग्राह्य दिशा आदि द्र श्रीआको १ सामायिक

दृष्टिवाद—विभिन्न दार्शनिकों की दृष्टियों का निरूपण करने वाला, सब नयदृष्टियों से वस्तुसत्य का विमर्श करने वाला आगम। बारहवां अंग। द्र आगम

देव—दिव्यशक्ति से सम्पन्न।

१. देवों के प्रकार

- | | |
|----------------------------|----------------|
| * देवशरीर और लक्षण | द्र शरीर |
| * देवशरीर अचित्त नहीं होता | |
| * दिव्यरूप के प्रकार | |
| * सुखविज्ञप्या आदि देवियां | द्र ब्रह्मचर्य |

२. देवों की पहचान

० अर्हत्-वचन से कल्याण : रोहिण्य दृष्टांत

३. लवसत्तम देव

४. लोकान्तिक देवों द्वारा संबोध

५. वैश्रवण देव

६. गंधर्वनगर : देवकृत

* समवसरण : देवकृत

द्र समवसरण

७. देवों की मनुष्य लोक में आने की प्रक्रिया

८. शक्रेन्द्र-ईशानेन्द्र का प्रभुत्वक्षेत्र

* शक्रेन्द्र-ईशानेन्द्र : क्षेत्रावग्रह और अनुज्ञा

* शक्रेन्द्र का कालावग्रह

द्र अवग्रह

९. अर्धसागरोपम स्थिति वाले देव का सामर्थ्य

* प्रश्न....घण्टिकयक्ष आदि

द्र मंत्र-विद्या

* देवकिल्बिषी आदि भावनाएं

द्र भावना

१०. व्यंतरदेव : माणिभद्र आदि

* कुत्रिकापण निर्माण देवाधीन

* कुत्रिकापण में व्यंतर-विक्रय

द्र कुत्रिकापण

११. कंबल-शबल नागकुमार : महावीर उपसर्गमुक्त

* देवसहयोग : महाशिलाकंटक संग्राम

द्र युद्ध

१२. देवों द्वारा साधु-वैयावृत्य

* सम्यक्त्वी देव के पास आलोचना

द्र आलोचना

* अरुणोपपात....देवों की उपस्थिति

द्र स्वाध्याय

१३. पूर्वतप से देवायुबंध कैसे ?

* देवायुबंध के हेतु

द्र कर्म

* देवभववीर्य

द्र वीर्य

* देवदर्शन से चित्तसमाधि

द्र चित्तसमाधिस्थान

१. देवों के प्रकार

.....भवणवइ-वाणमंतर-जोइसिय-विमाणवासिणो देवा....। (आचूला १५/२७)

देव चार प्रकार के हैं—भवनपति, वानमंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

* भवनपति आदि देवों का स्वरूप द्र श्रीआको १ देव (जन्म के तीन प्रकार हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात। देव उपपातजन्म से उत्पन्न होते हैं। उनके जन्मस्थान को उपपातसभा कहा जाता है। उस सभा में देवशय्या होती है। उस पर एक प्रच्छदपट बिछा होता है। वह शय्या देवदूष्य से

ढकी हुई होती है। सिद्धसेनगणी के अनुसार प्रच्छदपट के ऊपर और देवदूष्य के नीचे इन दोनों के अन्तराल में वर्तमान वैक्रियवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर देव उत्पन्न होता है। वह प्रच्छदपट और देवदूष्य के पुद्गलों से अपने शरीर का निर्माण नहीं करता है और न शुक्र और शोणित से अपने शरीर का निर्माण करता है। उसके जन्म का हेतु उपपात सभा के देवशयनीय क्षेत्र को प्राप्त होना ही है।—भ ३/१७ का भाष्य एक-एक देवनिकाय में दशविध देव होते हैं—

- | | |
|------------------|---------------|
| १. इन्द्र | ६. लोकपाल |
| २. सामानिक | ७. अनीकाधिपति |
| ३. त्रायस्त्रिंश | ८. प्रकीर्णक |
| ४. पारिषद्य | ९. आभियोग्य |
| ५. आत्मरक्ष | १०. किल्बिषिक |

व्यंतर और ज्योतिष्क देवनिकाय में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल नहीं होते।—तसू ४/४, ५)

२. देवों की पहचान

अमितायमल्लदामा, अणिमिसनयणा य नीरजसरीरा ।
चउरंगुलेण भूमिं, न छिवंति सुरा जिणो कहति ॥
(व्यभा १२७८)

एक बार राजगृह की परिषद् में श्रमण महावीर ने कहा—

- ० चतुर्निकायभावी देवों के माल्यदाम म्लान नहीं होते।
- ० वे अनिमिषनयन होते हैं (उनकी पलकें नहीं झपकतीं)।
- ० उनका शरीर निर्मल कांति वाला होता है।
- ० पैर चार अंगुल ऊपर रहते हैं, भूमि का स्पर्श नहीं करते।
- ० अर्हत्-वचन से कल्याण : रोहिणेय दृष्टान्त

.....सुहुमं परिनिव्वंति ।..... ।.....

सूक्ष्मं परिनिर्वापणं.....रोहिणिकचौरस्याभय-
कुमारेण कृतम् । तच्चैवम् —रायगिहं नगरं । तत्थ रोहिणितो
चोरो बाहिं दुग्गट्ठितो । सो सयलं नगरं मुसति । न कोइ तं
घेत्तुं सक्कति । अन्नया वद्धमाणसामी समोसढो । रोहिणितो
भयवतो धम्मं कहंतस्स नातिदूरेणं बोलेइ । सो चलमाणो
मा तित्थगरवयणं सोउं चोरियं न कहामि ति कण्णे ठवेइ

एइ । तस्सेवं बोलमाणस्स कंटकः पादे लग्नो तं जाव
एगेणं हत्थेणं उद्धरइ ताव तित्थगरो इमं गाहत्थं पणणवेइ—
'अमितायमल्लदामा.....सुरा जिणो कहति ॥'

एवं सोउं कंटगं उद्धरित्ता पुणो कण्णे ठवेउं गतो ।
अन्नया.....रत्तिं चोरो ति गहितो.....पिट्ठिउमाढत्तो भण्णइ य
अक्खाहि सव्वं तुमं रोहिणितो न व ति । जइ रोहिणितो
सिया तो मुयामो । एवं सो नीतिसत्थपविट्ठाहिं अट्टारसहिं
कारणेहिं एक्केक्कं काउं पुच्छिज्जइ । सो न कहेइ..... । ताहे
अट्टारसमा सुहुमा कारणा करिउमाढत्ता मज्जं पाइतो मत्तो
निच्चेयणो जातो । ताहे देवलोगभवणसरिसं भवणं काउं
तत्थ महरिहे सयणिज्जे निवज्जावितो । ततो पडिबोहवेलाए
इत्थिनाडए निव्वतिज्जमाणो ताहिं भण्णइ—तुमं देवलोगे
उवन्नो । देवलोए य एसो अणुभावो जो.....पुव्वभवं सम्मं
अक्खाति सो चिरठिती देवति अत्थति, जो न अक्खाति
सो तक्खणं पडति । तो मा अम्हे अणाहा काहिसि..... ।

ततो रोहिणिणएण तित्थयरवयणं संभरित्ता चिंतियं
—अपूतिवयणा तित्थगरा.....इमं च सव्वं वितहं दीसइ ।
ततो कथगं एवं ति भणाइ नाहं रोहिणितो । ततो मुक्को ।
अहो एगस्स वि सामिणो वयणस्स केरिसं माहप्पं । अहं
जीवियसुहआभागी जातो, जइ पुण निग्गंथाण वयणं
सुणेमि तो इहलोए परलोए य सुहिओ भवामि ति चिंति-
ऊण पव्वइतो । (व्यभा १२७७, १२७८ वृ)

रोहिणेय को पकड़ने के लिए अभयकुमार ने सूक्ष्म
निर्वापणा की—मृदु उपाय से उसके मन की बात जानने का
प्रयत्न किया—

राजगृह नगर के बाहर वैभारगिरि की गुफा में लोहखुरो
चोर रहता था। उसकी पत्नी थी रोहिणी, पुत्र था रोहिणेय। पिता
ने अंतिम इच्छा प्रकट की—पुत्र! महावीर नाम के व्यक्ति बहुत
प्रभावशाली हैं। वे चोर को अचोर बना देते हैं, अतः तुम न
उनके पास जाना, न उनकी वाणी सुनना। इस आदेश को
शिरोधार्य कर वह पिता से भी आगे बढ़ गया, राजगृह को
आतंकित कर दिया। उसके पास गगनगामिनी पादुकाएं थीं और
वह रूपपरिवर्तनी विद्या को जानता था। वह नगर में चोरी करता
किन्तु किसी की पकड़ में नहीं आता।

एक बार भगवान् महावीर वहां समवसृत हुए। वे प्रवचन कर रहे थे। रोहिण्य चोरी कर उधर से गुजरा। कुछ लोग उसका पीछा कर रहे थे। भगवान् के वचन कानों में न पड़ जाएं, अन्यथा मेरा चौर्यकर्म छूट जाएगा—ऐसा सोच उसने कानों में अंगुलि डाली। पैर में कांटा चुभ गया। उसने कानों से अंगुलियां हटाकर कांटा निकाला। उस समय भगवान् देवता के बारे में चर्चा कर रहे थे—‘देवों के नयन अनिमिष होते हैं, उनके पैर भूमि से चार अंगुल ऊपर रहते हैं—ये शब्द उसके कानों में पड़ गए। वह फिर कानों में अंगुलियां डालकर दौड़ा।’

एक दिन राजगृह में रात्रि में चोरी करते हुए वह पकड़ा गया किन्तु कोई पहचान नहीं सका कि यह रोहिण्य है या अन्य चोर है। राजपुरुष ने उसकी पिटाई की और पूछा—तुम रोहिण्य हो या नहीं? यदि रोहिण्य हो, तो तुम्हें छोड़ देते हैं।

कूटनीति में सम्मत अठारह प्रकार की कारणाः (यातना) से उसका परीक्षण किया जाने लगा। सतरह कारण पूर्ण हो जाने पर भी उसने नहीं बताया कि मैं रोहिण्य हूँ। तब अठारहवाँ सूक्ष्म कारणाः—परिनिर्वापणा का प्रयोग किया गया। उसे मद्य पिलाया गया। वह अचेत हो गया, तब उसे देवलोक-भवन सदृश भवन में सुकोमल शय्या पर सुलाया गया। जब वह जागा, सचेत हुआ तो अप्सरातुल्य रमणियों ने पूछा—देव! आप देवलोक में उत्पन्न हुए हैं। आप पूर्व भव में क्या थे? अपनी बात सही-सही कहेंगे तो यहां चिर काल तक रह सकेंगे अन्यथा तत्काल गिर जाएंगे—यह यहां की रीति है। अतः आप सही स्थिति बताएं ताकि हम अनाथ न हों।

रोहिण्य तीर्थकर के वचन याद कर सोचने लगा—भगवान् की वाणी यथार्थ होती है। उन्होंने देवों की जो पहचान बताई थी, वह यहां दिखाई नहीं दे रही है—‘इनके नेत्र अनिमिष नहीं हैं, पैर धरती को छू रहे हैं। ये मानवीय युवतियां हैं, अप्सराएं नहीं हैं। यह अभयकुमार की कूटनीति का चक्र है।’ उसने तत्काल उत्तर दिया—मैं रोहिण्य नहीं हूँ। वह वहां से मुक्त हो गया।

उसके चिंतन की धारा बदली—अहो! अर्हत् महावीर के मात्र एक वचन ने ही मुझे जीवन का सुख दे दिया, यदि मैं

सम्पूर्ण निर्ग्रथवचन सुनूं तो मेरा इहभव-परभव—दोनों सफल हो जाएं—यह सोचकर वह भगवान् के समवसरण में पहुंचा, प्रवचन सुना और प्रव्रजित हो गया। हिंसा पर अहिंसा की और भय पर अभय की विजय हुई।

३. लवसप्तम देव

.....आउगपरिहीणा, देवा लवसत्तमा जाता॥
सत्तलवा यदि आउं, पहुप्पमाणं ततो तु सिञ्चंतो॥
तत्तियमेत्त न भूतं, तो ते लवसत्तमा जाता॥
सव्वट्टुसिद्धिनामे, उक्कोसठितीय विजयमादीसु॥
एगावसेसगब्भा, भवंति लवसत्तमा देवा॥
(व्यभा २४३२-२४३४)

कुछ उत्कृष्ट साधु आयुष्य की क्षीणता/अल्पता के कारण सिद्धत्व से वंचित रह जाते हैं और वे लवसप्तम देव बनते हैं। उन्हें लवसप्तम इसलिए कहा जाता है कि यदि उनका आयु सात लव (३४३ श्वासोच्छ्वास/ लगभग ४ मिनट २१ सैकिण्ड) अधिक होता, तो वे उसी जन्म में केवली होकर सिद्ध हो जाते।

जो देव सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमान में उत्पन्न होते हैं और जो विजय, वैजयन्त, जयन्त तथा अपराजित विमानों में उत्कृष्ट स्थिति वाले देव बनते हैं तथा जिनका एक जन्म शेष रहता है (एक भवावतारी/मनुष्य जन्म लेकर मुक्त होने वाले हैं), वे लवसप्तम देव कहलाते हैं।

(जैसे कोई निपुण तरुण पुरुष बिखरी हुई परिपक्व शालि आदि धान्य की नाल को इकट्ठा कर, मुट्टी में पकड़कर सात मुट्टी धान्य को तीक्ष्ण दात्र से अतिशीघ्र सात लव में काट लेता है, वैसे ही लवसप्तम देवों का यदि सात लव आयु शेष होता, तो वे उसी भव में मुक्त हो जाते। इसलिए उन्हें लवसप्तम कहा जाता है।

अनुत्तरोपपातिक देवों के शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श अनुत्तर होते हैं, इसलिए उन्हें अनुत्तरोपपातिक कहा जाता है। एक श्रमण-निर्ग्रथ बेले (दो दिन के उपवास) से जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतने कर्म जिनके अवशेष रहते हैं, वे अनुत्तरोपपातिक देव के रूप में उपपन्न होते हैं।—भ १४/८४-८८)

४. लोकान्तिक देवों द्वारा संबोध

.....देवा लोगंतिया महिद्वीया ।.....
 बोहिति य तित्थयरं, पण्णरससु कम्मभूमीसु ॥
 बंभमि य कप्पमि य, बोद्धव्वा कणहराइणो मज्झे ।
 लोगंतिया विमाणा, अट्टसु बुत्था असंखेज्जा ॥
 एए देवणिक्काया, भगवं बोहिति जिणवरं वीरं ।
 सव्वजगजीवहियं, अरहं तित्थं पव्वत्तेहि ॥
 (आचूला १५/२६/४-६)

वैसमणकुंडलधरा..... ।.....पण्णरससु कम्मभूमीसु ॥
 (आचूला १५/२६/३, ४)

देवेन्द्र शक्र की आज्ञा से कुंडलधर वैश्रवण लोकपाल पन्द्रह कर्मभूमियों में तीर्थकर की प्रव्रज्या से पूर्व वर्षीदान में सहयोग करते हैं।

(वैश्रवण की प्रेरणा से जृंभक देव स्वर्ण, रत्न आदि की व्यवस्था करते हैं।
 द्र श्रीआको १ देव

सौधर्मावतंसक महाविमान के उत्तर भाग में वैश्रवण का वल्लु नाम का महाविमान है। देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वैश्रवण की आज्ञा, उपपात, वचन और निर्देश में रहने वाले देव ये हैं—वैश्रवणकायिक, वैश्रवणदेव-कायिक, सुपर्णकुमार, सुपर्णकुमारियां, द्वीपकुमार, द्वीपकुमारियां, दिक्कुमार, दिक्कुमारियां, वानमन्तर, वानमन्तरियां।

जम्बूद्वीप द्वीप में मेरुपर्वत के दक्षिण भाग में जो ये स्थितियां उत्पन्न होती हैं—लोहे की खान, रंगे की खान, ताम्बे की खान, सीसे की खान, चांदी की खान, सोने की खान, रत्नों की खान, वज्र की खान, वसुधारा, हिरण्यवर्षा, सुवर्णवर्षा...हिरण्यवृष्टि, सुवर्णवृष्टि, रत्नवृष्टि, वज्रवृष्टि, आभरणवृष्टि, पत्रवृष्टि, पुष्पवृष्टि, फलवृष्टि, बीजवृष्टि, माल्यवृष्टि, वर्णवृष्टि, चूर्णवृष्टि, गन्धवृष्टि, वस्त्रवृष्टि, भाजनवृष्टि, क्षीरवृष्टि, सुकाल, दुष्काल, अल्पार्घ्य, महार्घ्य, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्रय-विक्रय, सन्निधि, संनिचय, निधि, निधान हैं—वे चिरपुराण अल्पस्वामित्व वाले हों, उनमें धन का न्यास करने वाले कम रहे हो, उन तक पहुंचने के मार्ग कम हों, वहां धन का न्यास करने वालों का गौत्रगृह कम रहा हो, उनका स्वामित्व उच्छिन्न हो गया हो, उनमें धन का न्यास करने वाले उच्छिन्न हो गए हों... (वहां जो दुराहे, तिराहे, चौराहे, चोक, चारों ओर प्रवेशद्वार वाले स्थान, राजपथ और वीथियों में, नगर के जलनिर्गमन मार्गों में, श्मशानगृहों, गिरिगृहों, कन्दरागृहों, शांतिगृहों, शैलगृहों, उपस्थानगृहों और भवनगृहों में जो निधान निक्षिप्त हैं—वे देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वैश्रवण और वैश्रवणकायिक देवों से अज्ञात, अदृष्ट, अश्रुत, अस्मृत और अविज्ञात नहीं होतीं।—भ ३/२६६-२६८)

महान् ऋद्धि वाले लोकान्तिक देव पन्द्रह कर्मभूमियों में निष्क्रमणाभिमुख तीर्थकरों को संबोधित करते हैं।

ब्रह्मलोक देवलोक के नीचे आठ कृष्णराजियों (काले पुद्गलों की पंक्तियों) के आठ अवकाशान्तरों में असंख्येय योनजकोटाकोटि आयाम वाले आठ लोकान्तिक विमान हैं, उनमें आठ प्रकार के लोकान्तिक देव रहते हैं। उन्होंने अपने जीत—आचार के अनुसार अर्हत् जिनवर भगवान् महावीर को निवेदन किया—भंते! सारे जगत् के जीवों के हित के लिए तीर्थ का प्रवर्तन करें।

(‘ये देव लोकांत—ब्रह्मलोक के अंत—समीप रहने के कारण लोकान्तिक कहलाते हैं। ये सब सम्यग्दृष्टि और थोड़े भवों में मोक्ष जाने वाले होते हैं।’

लोहित, पीत और शुक्ल वर्ण वाले लोकान्तिक विमानों में आठ लोकान्तिक देव निवास करते हैं—

विमान	लोकान्तिक देव
अर्चि	सारस्वत
अर्चिमाली	आदित्य
वैरोचन	वह्नि
प्रभंकर	वरुण
चन्द्राभ	गर्दतोय
सूराभ	तुषित
शुक्लाभ	अव्याबाध
सुप्रतिष्ठाभ	आग्नेय
मध्य में रिष्ठाभ	रिष्ट

—भ ६/१०६, ११० वृ)

५. वैश्रवण देव

.....संवच्छरे

दिण्णं ॥

६. गंधर्वनगर : देवकृत

गंधर्वनगरनियम सादिव्वं..... ।.....

गन्धर्वनगरं नाम यच्चक्रवर्त्यादिनगरस्योत्पात-
सूचनाय सन्ध्यासमये तस्य नगरस्योपरि द्वितीयं नगरं
प्राकारादालकादिसंस्थितं दृश्यते । (व्यभा ३११८ वृ)

चक्रवर्ती आदि के नगर में उत्पात की सूचना के
लिए सन्ध्या के समय उस नगर के ऊपर प्राकार, अट्टालक
आदि से संस्थित जो दूसरा नगर दिखाई देता है, वह गन्धर्व
नगर है। यह नियमतः देवकृत होता है।

(गंधर्वनगर—आकाश में व्यंतरकृत नगराकार-
प्रतिबिम्ब।—भ ३/२५३ की वृ)

७. देवों की मनुष्यलोक में आने की प्रक्रिया

तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अभि-
णिव्खमणाभिप्पायं जाणेत्ता भवणवड्-वाणमंतर-
जोइसिय-विमाण-वासिणो देवा य देवीओ य सएहिं-
सएहिं रूवेहिं, सएहिं-सएहिं णोवत्थेहिं, सएहिं-सएहिं
चिंधेहिं, सव्विड्डीए सव्वजुतीए सव्वबलसमुदएणं सयाइं-
सयाइं जाणविमाण्णाइं दुरुहंति, सयाइं-सयाइं जाण-
विमाण्णाइं दुरुहत्ता अहाबादराइं पोग्गलाइं परिसाडेंति,
अहाबादराइं पोग्गलाइं परिसाडेत्ता अहासुहुमाइं पोग्गलाइं
परियाइंति, अहासुहुमाइं पोग्गलाइं परियाइत्ता उड्डं
उप्पयंति, उड्डं उप्पइत्ता ताए उक्किट्ठाए सिग्घाए चवलाए
तुरियाए दिव्वाए देवगईए अहेणं ओवयमाणा-ओवयमाणा
तिरिएणं असंखेज्जाइं दीवसमुहाइं वीत्तिक्कममाणा-
वीत्तिक्कममाणा जेणेव जंबुद्वीवे दीवे तेणेव उवागच्छंति ।
(आचूला १५/२७)

श्रमण भगवान् महावीर के अभिनिष्क्रमण के निर्णय
को जानकर भवनपति, वानमंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक
देव-देवियां अपने-अपने रूप, नेपथ्य (वेश-भूषा), चिह्न,
सर्वशक्ति, सर्वद्युति और सर्व बलसमुदय के साथ अपने-
अपने यान-विमानों में आरूढ़ होते हैं, अपने-अपने यान-
विमानों में आरूढ़ हो यथास्थूल पुद्गलों का परिशाटन
(पृथक्करण) करते हैं, यथास्थूल पुद्गलों का परिशाटन कर

यथासूक्ष्म पुद्गलों का परिग्रहण करते हैं, यथासूक्ष्म पुद्गलों
को ग्रहण कर ऊर्ध्वगमन (उड़ान) करते हैं, ऊर्ध्वगमन कर
उस उत्कृष्ट, शीघ्र, चपल, त्वरित और दिव्य देवगति से
क्रमशः नीचे उतरते हुए तिरछे लोक के असंख्य द्वीप-समुद्रों
को लांघकर जहां जम्बूद्वीप नामक द्वीप है, वहां आते हैं।

(जब कोई अनेक रूपों का निर्माण करने के लिए
अपनी शक्ति का उपयोग करता है, उस समय आत्मा के
प्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं। उस अवस्था में वह नाना
रूपों का निर्माण करने वाला वैक्रिय समुद्घात से समवहत
होता है। यह वैक्रिय समुद्घात की प्रक्रिया का पहला चरण
है। दूसरा चरण है—दण्ड का निर्माण। उसकी लम्बाई संख्येय
योजन की होती है। उसकी चौड़ाई और मोटाई शरीरप्रमाण
होती है। वह आत्मा के प्रदेश और कर्मपुद्गलों के योग से
निर्मित होता है। तीसरा चरण है—रत्नों के असार पुद्गलों का
परिशोधन कर सारपुद्गलों को ग्रहण करना। चौथे चरण में
वैक्रियकर्ता वांछित रूपनिर्माण के लिए फिर दूसरी बार वैक्रिय
समुद्घात का प्रयोग कर उस रूप का निर्माण करता है। रत्नों
के पुद्गल औदारिक (स्थूल) हैं, फिर उनका वैक्रिय शरीर
के निर्माण में उपयोग कैसे हो सकता है? वैक्रिय कर्ता
वैक्रिय रूप निर्माण के समय औदारिक पुद्गलों को ग्रहण
करता है। तत्पश्चात् वे वैक्रिय के रूप में परिणत हो जाते
हैं।—भ ३/४ का भाष्य

वैमानिक आदि देव जब मनुष्यलोक में आते हैं, तब
मनुष्यलोक के अनुरूप नए शरीर का निर्माण करते हैं। देवों के
दो प्रकार का शरीर होता है—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय।
प्रैवेयक और अनुत्तरविमान के देव उत्तरवैक्रिय नहीं करते...शेष
देवों के दोनों प्रकार का शरीर होता है। उनके नए शरीर का
निर्माण होता है, वह उस शरीर की अपेक्षा उत्तरवैक्रिय शरीर
कहलाता है। देव अपने भवधारणीय शरीर से प्रायः अन्यत्र
नहीं जाते। वे उत्तरवैक्रिय शरीर का अपने स्थान में ही निर्माण
कर लेते हैं, फिर अन्यत्र जाते हैं।—भ ३/११२ का भाष्य

तिर्यक्लोक में जाने के लिए जिस पर्वत से उड़ान भरी
जाती है, उसे उत्पातपर्वत कहा जाता है। इसकी तुलना
वर्तमान की हवाई पट्टी से की जा सकती है। ये संख्या में
अनेक हैं। इन उत्पात पर्वतों पर वैक्रिय शरीर का पुनर्निर्माण

कर देव ऊपर, नीचे या तिरछे लोक में जाने के लिए अपने विमानों के साथ उड़ानें भरते हैं।—भ २/११८ का भाष्य)

८. शक्रेन्द्र-ईशानेन्द्र का प्रभुत्वक्षेत्र

पुष्पावरायया खलु, सेढी लोगस्स मञ्जयारम्मि।
जा कुणइ दुहा लोगं, दाहिण तह उत्तरद्धं च॥
साधारण आवलिया, मञ्जम्मि अवद्धचंदकप्पाणं।
अद्धं च परक्खित्ते, तेसिं अद्धं च सक्खित्ते॥
सेढीइ दाहिणेणं, जा लोगो उड्डु मो सकविमाणा।
हेट्टा वि य लोगंतो, खित्तं सोहम्मरायस्स॥
(बृभा ६७२-६७४)

संपूर्ण लोक के मध्य में मन्दर पर्वत है। उसके ऊपर श्रेणि (एक प्रादेशिकी आकाश प्रदेश यंत्रित) पूर्व से पश्चिम तक आयत है, जो लोक को दो भागों में विभक्त करती है—दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध। दक्षिणार्ध का स्वामी देवेन्द्र शक्र और उत्तरार्ध का स्वामी देवेन्द्र ईशान है।

अर्धचन्द्राकार सौधर्म और ईशानकल्प की मध्यमश्रेणि की पूर्व-पश्चिम दिशा में तेरह प्रस्तटों में आवलिकाप्रविष्ट या पुष्पावकीर्ण जो विमान हैं, उनमें से कुछ पर शक्र का और कुछ पर ईशान का प्रभुत्व है। जो वृत्ताकार विमान हैं, उन सब पर शक्र का और त्रिकोण-चतुष्कोण विमानों में कुछ पर शक्र का तथा कुछ पर ईशान का प्रभुत्व है।

(जे दक्खिणेण इंदा, दाहिणओ आवली भवे तेसिं।
जे पुण उत्तरइंदा, उत्तरओ आवली तेसिं॥
पुव्वेण पच्छिमेण य, जे वट्ठा ते वि दाहिणल्लस्स।
तंस चउरंसगा पुण, सामन्ना हुंति दोणहं पि॥
—देवेन्द्रस्तव गाथा २११, २१३)

मध्यश्रेणिगत आधे विमान अपने-अपने कल्प की सीमा में तथा आधे विमान अपर कल्प की सीमा में स्थित हैं। सौधर्मराज शक्र का श्रेणि की दक्षिण दिशा में तिर्यक्लोक पर्यन्त, ऊर्ध्व दिशा में स्तूप और ध्वजासहित अपने विमानपर्यन्त तथा अधो दिशा में अधस्तन लोकान्तपर्यन्त प्रभुत्व होता है।

(दक्षिणार्धलोक का अधिपति देवेन्द्र शक्र है। वज्रपाणि, पुंरंदर, शतक्रतु, सहस्राक्ष, मघवा, पाकशासन—ये शक्र के पर्याय-वाची नाम हैं। ऐरावण उसका वाहन है।

उत्तरार्धलोक का अधिपति देवेन्द्र ईशान है। वह शूलपाणि है, वृषभ उसका वाहन है।—प्रज्ञा २/५०, ५१

देवराज ईशान को ऐसी दिव्य ऋद्धि कैसे मिली— इस विषय में पांच प्रश्न पूछे गए हैं—१. क्या दिया? २. क्या खाया? ३. क्या किया? ४. क्या आचरण किया? ५. क्या सुना? इन प्रश्नों का उत्तर वृत्तिकार ने दिया है—अशन आदि दिया, रूखा-सूखा आहार खाया, शुभ ध्यान आदि किया और सामाचारी का आचरण किया। इससे पुण्य का उपार्जन कर मनुष्य देव बनता है। तामलि ने तप तपा और वह ईशानेन्द्र बना, यह किंकिच्चा का निदर्शन है। सुबाहुकुमार की ऋद्धि किंदच्चा का निदर्शन है। उसने सुमुख के भव में मुनि को विशुद्ध आहार दिया था। उस दान के कारण उसने मनुष्य-आयु का निबंध किया।—भ ३/३० का भाष्य

वैमानिक देवलोक	इन्द्र	मुकुट-चिह्न
सौधर्म	शक्रेन्द्र	मृग
ईशान	ईशानेन्द्र	महिष
सनत्कुमार	सनत्कुमारेन्द्र	वराह
माहेन्द्र	माहेन्द्र	सिंह
ब्रह्मलोक	ब्रह्मेन्द्र	अज
लांतक	लांतकेन्द्र	दर्दुर
महाशुक्र	महाशुक्रेन्द्र	अश्व
सहस्रार	सहस्रारेन्द्र	गज
आनत	प्राणतेन्द्र	भुजग
प्राणत	प्राणतेन्द्र	भुजग
आरण	अच्युतेन्द्र	गेंडा
अच्युत	अच्युतेन्द्र	गेंडा
प्रैवेयक	अहमिन्द्र	वृषभ
अनुत्तर	अहमिन्द्र	बालमृग

सौधर्म और ईशान—इन दो कल्पों में ही देवियां उत्पन्न होती हैं।—प्रज्ञा २/४९-६३

सौधर्म-ईशानकल्प के देव कायप्रवीचार (शरीर से विषयसुख भोगने वाले) होते हैं। तीसरे-चौथे कल्प के देव देवियों के स्पर्शमात्र से, पांचवें-छठे के रूपदर्शन से, सातवें-आठवें के शब्दश्रवण से तथा नौवें यावत् बारहवें कल्प के देव देवी के मानसिक संकल्पमात्र से कामतृप्ति का अनुभव करते

हैं। इससे आगे के देव सब प्रकार के प्रवीचर से मुक्त होते हैं। कामवासना की अल्पता के आधार पर उनका चित्तसंक्लेश भी अत्यल्प होता है। अप्रवीचर देव उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुख का अनुभव करते हैं। देवियों की पहुँच आठवें स्वर्ग से आगे नहीं है।—तसू ४/८-१०)

९. अर्धसागरोपम स्थिति वाले देव का सामर्थ्य

अन्नतरपमादजुत्तं, छलेज्ज अप्पिड्ढिओ ण पुण जुत्तं ।
अद्दोदहिड्ढिती पुण, छलेज्ज जयणोवउत्तं पि॥
सरागसंजतो सरागतणतो इंदियविसयादि अण्णतरे
पमादजुत्तो हवेज्ज, विसेततो महामहेसु तं पमायजुत्तं
पडिणीयदेवता अप्पिड्ढिया खित्तादि छलणं करेज्ज ।
जयणाजुत्तं पुण साहुं जो अप्पिड्ढितो देवो अद्दोदधीओ
ऊणट्ठिड्ढित्ति सो ण सक्केति छलेउं । अद्दसागरोवमठि-
तितो पुण जयणाजुत्तं पि छलेति, अत्थि से सामत्थं, तंपि
पुव्ववेरसंबंधसरणतो कोत्ति छलेज्ज । (निभा ६०६६ चू)

सरागसंयत सरागता के कारण इन्द्रियविषय आदि किसी न किसी प्रमाद से युक्त हो सकता है। विशेष रूप से पर्व के दिनों में स्वाध्यायसंलग्न प्रमत्त साधु को अल्प ऋद्धि वाले प्रत्यनीक देव छल सकते हैं, चित्त को विक्षिप्त कर सकते हैं।

अर्धसागरोपम से न्यून स्थिति वाला अल्पर्द्धिक देव यतनायुक्त अप्रमत्त साधु को छल नहीं सकता। अर्ध सागरोपम की स्थिति वाले देव में इतना सामर्थ्य होता है कि वह पूर्व-बद्ध वैर का स्मरण कर अप्रमत्त मुनि को भी छल सकता है।

१०. व्यंतर देव : माणिभद्र आदि

कुण्डलमेण्ठनाम्नो वानमन्तरस्य यात्रायां भरुकच्छ-
परिसरवती भूयान् लोकः संखडिं करोति ।

(बृभा ३१५० की वृ)

कुंडलमेंठ नामक वानमंतर देव की यात्रा में भृगुकच्छ के परिसर में बहुत लोग भोज करते थे।

पुण्णभहमाणिभद्दा सव्वाणजक्खवा (सव्वजक्खवाणं) ।

(नि ११/८२ की चू)

पूर्णभद्र और माणिभद्र देव यक्ष-व्यंतरों के इन्द्र हैं।

(व्यंतर-वानमंतर के सोलह भेद हैं, जिनमें से प्रत्येक के दो-दो इन्द्र हैं—

व्यन्तर देव

इन्द्र

पिशाच

काल, महाकाल

भूत

सुरूप, प्रतिरूप

यक्ष

पूर्णभद्र, माणिभद्र

राक्षस

भीम, महाभीम

किन्नर

किन्नर, किंपुरुष

किंपुरुष

सत्पुरुष, महापुरुष

महोरग

अतिकाय, महाकाय

गन्धर्व

गीतरति, गीतयशा

अणपन्न

सन्निहित, सामान्य

पणपन्न

धाता, विधाता

ऋषिवादी

ऋषि, ऋषिपालक

भूतवादी

ईश्वर, महीश्वर

स्कन्दक

सुवत्स, विशाल

महास्कन्दक

हास्य, हास्यरति

कूष्माण्डक

श्वेत, महाश्वेत

पतग

पतग, पतगगति

—स्था २/३६३-३७८)

११. कंबल-शबल नागकुमार : महावीर उपसर्गमुक्त

.....कंबल-सबला य घाडितिनिमित्तं ।

अणुसड्ढा कालगता, णागकुमारेसु उववण्णा ॥

वीरवरस्स भगवतो, नावारूढस्स कासि उवसग्गं ।

मिच्छहिड्ढि परद्दो, कंबल-सबलेहिं तारिओ भगवं ॥

मथुरायां भण्डीरयक्षयात्रायां कम्बल-शबलौ

वृषभौ घाटिकेन—मित्रेण जिनदासस्यानापृच्छया

वाहितौ, तन्निमित्तं सज्जातवैराग्यौ श्रावकेणानुशिष्टौ भक्तं

प्रत्याख्याय कालगतौ नागकुमारेषूपपन्नौ । वीरवरस्य

भगवतो नावारूढस्य सुदाढो नागकुमार उपसर्गमकार्षीत् ।

(बृभा ५६२७, ५६२८ वृ)

मथुरा में जिनदास श्रावक रहता था। कंबल और शबल

नाम वाले दो बैल थे। श्रावक प्रासुक चारे से उनका पोषण

करता। वह प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करता, तो वे भी भूखे रहते। दोनों बैल भद्र और सम्यक्त्वयुक्त थे।

एक बार भंडीरयक्षयात्रा में जिनदास का मित्र उसे बिना पूछे ही दोनों बैलों को ले गया। उनको खूब दौड़ाया। दोनों बैल परिश्रान्त हो गए। उसने दोनों को लाकर श्रावक के घर बांध दिया। उसी दिन से दोनों ने चारा-पानी छोड़ दिया। अंत में श्रावक ने

दोनों बैलों को प्रतिबोध देकर अनशन कराया। फिर उन्हें नमस्कार मंत्र सुनाता रहा। वे मरकर नागकुमार देवयोनियों में उत्पन्न हुए।

नौका में आरूढ़ भगवान् को सुदाढ नामक मिथ्यादृष्टि नागकुमार देव ने उपसर्ग दिए। उसने संबर्तकवायु की विकुर्वणा कर नौका को डुबोना चाहा। इतने में कंबल-शबल देव उपस्थित हुए और उन्होंने भगवान् को उपसर्ग से मुक्त किया।

(दशविध भवनपतिदेवों में दूसरा प्रकार है नागकुमार। प्रज्ञापना (२/३४, ४०) में भवनपति देवों के दो-दो इन्द्र तथा उनके वर्ण और चिह्न प्रतिपादित हैं—

भवनपति	इन्द्र	शरीर-वर्ण	वस्त्र-वर्ण	मुकुट-चिह्न
असुरकुमार	चमर, बलि	कृष्ण	रक्त	चूड़ामणि
नागकुमार	धरण, भूतानन्द	पांडुर	शिली-ध्रुपुष्प	नागफण
सुपर्णकुमार	वेणुदेव, वेणुदालि	कनक	श्वेत	गरुड़
विद्युत्कुमार	हरिकांत, हरिसह	रक्त	नील	वज्र
अग्निकुमार	अग्निशिख, अग्निमाणव	रक्त	नील	पूर्ण कलश
द्वीपकुमार	पूर्ण, विशिष्ट	रक्त	नील	सिंह
उदधिकुमार	जलकान्त, जलप्रभ	पांडुर	शिली-ध्रुपुष्प	अश्व
दिशाकुमार	अमितगति, अमितवाहन	कनक	श्वेत	हस्ता
वायुकुमार	वेलम्ब, प्रभंजन	श्याम	संध्याराग	मकर
स्तनितकुमार	घोष, महाघोष	कनक	श्वेत	वर्धमानक

तत्त्वार्थभाष्य (४/११) के अनुसार उदधिकुमार का चिह्न मकर और वायुकुमार का चिह्न अश्व है। विद्युत्-कुमार, अग्निकुमार और वातकुमार का वर्ण अवदात तथा शेष सबका श्याम वर्ण है।)

१२. देवों द्वारा साधु-वैयावृत्य

जइ तत्थ दिसामूढो, हवेज्ज गच्छो सबाल-वुड्ढो उ।
वणदेवयाएँ ताहे, णियमपगंघं तह करेँति॥
सम्महिद्धी देवा, वेयावच्चं करेँति. साहूणं ।.....

(बृभा ३१०८, ३१०९)

जब अटवी में बाल-वृद्ध सहित सारा गच्छ दिशा भ्रमित हो जाता है, तब मुनि कायोत्सर्ग के द्वारा वन देवता को आकंपित करते हैं। वे आकर उन्हें दिशा बोध करवाते हैं। सम्यादृष्टि देव साधु का वैयावृत्य करते हैं।

भूतार्थनिर्णये तवो त्ति तपस्वी कायोत्सर्गेण देवतामा-
कप्य पृच्छति। (व्यभा १२४३ की वृ)

तपस्वी यथार्थ का निर्णय करने के लिए कायोत्सर्ग के द्वारा देवता को आवर्जित कर उससे पृच्छा करता है।

१३. पूर्वतप से देवायुबंध कैसे ?

.....उववज्जति केण देवेसु ॥

पुव्वतव-संजमा होँति, रागिणो पच्छिमा अरागस्स।
रागो संगो वुत्तो, संगो कम्मं भवे तेणं ॥

यत्र तपः तत्र नियमात् संयमः, यत्र संयमः तत्रापि नियमात् तपः ।.....यथा यत्रात्मा तत्रोपयोगः, यत्रोपयोग-स्तत्रात्मा इति। सामाइयं छेदोवड्ढावणियं परिहारविसुद्धियं सुहुमसंपरागं च एते पुव्वतवसंजमा। एते णियमा रागिणो भवंति। पश्चिमा तव-संजमा अरागिणो भवंति। तं च अहाख्यातचारित्रं इत्यर्थः।

अहवा अणसणादीया जाव सुक्कज्झाणस्स आदिमा दो भेया, पुहुत्तवितक्कसवियारं एगत्तवियक्कअवियारं च, एते पुव्वतवा ।.....सुहमकिरियानियट्ठी वोच्छिन्नकिरिय-मप्पडिवाई च एते पच्छिमा तवा, अहक्खायचारित्तं पच्छिमसंजमो...एतेहिं पुव्वतवसंजमेहिं देवेहिं उववज्जति सरागित्वात्। (निभा ३३३१, ३३३२ चू)

शिष्य ने पूछा—जीव देवगति में किस हेतु से उपपन्न होता है? आचार्य ने कहा—पूर्व तप-संयम—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय चारित्र रागी के तथा पश्चिम तप-संयम—यथाख्यात चारित्र अरागी के होता है। जहां तप है, वहां संयम है और जहां संयम है, वहां तप है, जैसे—जहां आत्मा है, वहां उपयोग है और जहां उपयोग है, वहां आत्मा है।

अथवा पूर्व तप का अर्थ है—निर्जरा के भेद—अनशन से लेकर शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद—पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार पर्यंत। पूर्व संयम का अर्थ है—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय चारित्र। इस पूर्व तप-संयम के कारण सरागसंयमी देवलोक में उपपन्न होता है। राग और संग एकार्थक हैं।

पश्चिम तप है—शुक्लध्यान के अंतिम दो भेद—सूक्ष्म-क्रियाअनिवृत्ति और समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति। पश्चिम संयम है—यथाख्यात चारित्र। पश्चिम तप-संयम वीतराग के होता है, इसलिए उससे देवायु का बंध नहीं होता।

(कालिकपुत्र नामक स्थविर ने श्रमणोपासकों से कहा—आर्यों! पूर्वकृत तप से देव देवलोक में उपपन्न होते हैं। मेहिल नामक स्थविर ने कहा—पूर्वकृत संयम से देव देवलोक में उपपन्न होते हैं। आनन्दरक्षित नामक स्थविर ने कहा—कर्म की सत्ता से देव देवलोक में उपपन्न होते हैं। काश्यप नामक स्थविर ने कहा—आसक्ति के कारण देव देवलोक में उपपन्न होते हैं।

धर्म के दो तत्त्व हैं—संयम और व्यवदान। संयम के द्वारा कर्म का निरोध होता है और व्यवदान के द्वारा कर्म की निर्जरा होती है। ये दोनों स्वर्गोत्पत्ति के कारण नहीं हैं, फिर कोई जीव स्वर्ग में कैसे उपपन्न होता है? उसका कोई कारण

है या निष्कारण ही पैदा होता है? इस प्रश्न के समाधान में चार स्थविरों ने चार उत्तर दिए हैं—

पूर्व तप, पूर्व संयम, कर्मिता और संगिता—इन चारों में एक संगति है। चारों के समवाय से एक उत्तर बनता है। पूर्व तप का अर्थ है—सराग अवस्था में होने वाला तप और पूर्व संयम का अर्थ है—सराग अवस्था में होने वाला संयम। इन दो उत्तरों का तात्पर्यार्थ यह है कि वीतराग संयम और वीतराग तप की अवस्था में स्वर्गोत्पत्ति के हेतुभूत आयुष्य का बंध नहीं होता, वह सराग संयम और सराग तप की अवस्था में होता है, छठे, सातवें गुणस्थान में होता है। इसलिए तप और संयम के साथ 'पूर्व' शब्द को जोड़ा गया है। मुख्यतया स्वर्गोत्पत्ति के दो हेतु हैं—कर्मिता और संगिता। तप से कर्म की निर्जरा होती है और संयम से कर्म का निरोध होता है। इन दोनों से आयुष्य कर्म का बंध नहीं होता। उसके बंध के दो कारण हैं—कर्म का अस्तित्व और संग (राग) का अस्तित्व।

प्रश्न पूछा गया—देव के आयुष्य का बंध किस कर्म के उदय से होता है? उत्तर दिया गया—यह शरीरप्रयोग नामकर्म के उदय से होता है। कर्म बंध का मूल कारण है—शरीरप्रयोग नामकर्म का उदय। इसके अतिरिक्त देवगति योग्य कर्म बंधने के हेतु चार बतलाये गये हैं—१. सराग संयम २. संयमासंयम ३. बालतप ४. अकाम निर्जरा। ये चारों देवगति के आयुष्य बंध के हेतु हैं। उसके बंध का कारण (साधकतम साधन या साक्षात् कारण) है—शरीरप्रयोग नामकर्म का उदय।

आयुष्य का बंध संग या राग के अस्तित्व में ही होता है; इसलिए वह भी देवत्व-प्राप्ति का एक हेतु बतलाया गया है। तात्पर्य की भाषा में निर्जरा के साथ पुण्य का बंध होता है, इसलिए संयम और निर्जरा की साधना देवगति का हेतु बनती है।—भ २/१०२ भाष्य)

द्रव्य—गुण और पर्याय का आश्रय।

१. द्रव्यस्कंध और समय-स्थिति
२. गुरुलघु-अगुरुलघु द्रव्य

० परमाणु भी गुरुलघु	
३. निश्चय-व्यवहारनय : गुरु-लघु-अगुरुलघु	
४. मूर्त्त-अमूर्त्त द्रव्य : पर्यायों का अल्पबहुत्व	
* ज्ञान का परिमाण : अगुरुलघु पर्यव	द्र ज्ञान
५. जीवादिषट्क का अल्पबहुत्व	
* द्रव्य के परिणामन : शीत-उष्ण	द्र आहार
* द्रव्य अवग्रह	द्र अवग्रह

१. द्रव्यस्कंध और समय-स्थिति

दु-पएसिओ ति-पएसिओ चउ-पंच-छ-सत्त-ट्ट-णव-दस-पएसिओ एवं जावऽण्ताणंतपएसितो खंधो ततो परं अण्णो बृहत्तरो ण भवति सो खंधो दव्वगं । एगसमय-ठितियं दव्वं दुसमयठितियं जाव असंखेज्जसमयठितियं ततो परं अण्णं उक्कोसतरठितिजुत्तं ण भवति परमाणुसु एग-समयादारब्भ जाव असंखकालठिती जातो परमाणु-ठितीतो परं अण्णो परमाणु उक्कोसतरठितिओ ण भवति ।

(निभा ५४ की चू)

द्रव्य के स्कंध अनेक प्रकार के होते हैं—द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, चार-पांच-छह-सात-आठ-नौ-दस प्रदेशी यावत् अनंतानंतप्रदेशी । अनंतानंतप्रदेशी पुद्गलस्कंध से बृहत्तर अन्य स्कंध नहीं है, अतः यह द्रव्याग्र है ।

द्रव्य एक समय की स्थिति वाला, दो समय की स्थिति वाला यावत् असंख्य समय की स्थिति वाला होता है । द्रव्य की उत्कृष्टतर स्थिति असंख्य काल से अधिक नहीं होती । इसी प्रकार परमाणुओं में भी एक समय से लेकर उत्कृष्टतर असंख्य काल की स्थिति वाले परमाणु होते हैं ।

* द्रव्य के गुण, पर्याय, प्रकार आदि द्र श्रीआको १ द्रव्य

२. गुरुलघु-अगुरुलघु द्रव्य

णिच्छयतो सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा ण विज्जते दव्वं । व्यवहारतो तु जुज्जति, बादरखंधेसु णऽण्णोसु ॥

गुरु द्रव्यं यथा—अयस्पिण्डः, लघु यथा—अर्कतूलम् गुरुलघु यथा—वायुः, अगुरुलघु परमाण्वादि । निश्चयतः पुनरेवं द्विविधद्रव्यभावना—परमाण्वादिराभ्य संख्यात-प्रदेशात्मकोऽसंख्यातप्रदेशात्मको यश्चानन्तप्रदेशात्मकः

सूक्ष्मस्कन्धः कार्मणप्रभृतिक एते अगुरुलघवः, बादरः स्कन्धा औदारिकवैक्रिया-ऽऽहारक-तैजसरूपा गुरुलघवः ।

(बृभा ६५ वृ)

निश्चयनय के अनुसार द्रव्य एकान्ततः गुरु अथवा एकान्ततः लघु नहीं होता । व्यवहारनय के अनुसार द्रव्य अर्थात् बादर स्कंध एकान्ततः गुरु अथवा एकान्ततः लघु होता है, जैसे—गुरु—लोहपिंड । लघु—अर्कतूल । गुरुलघु—वायु । अगुरुलघु—परमाणु आदि । जो सूक्ष्म परिणाम में परिणत हो जाते हैं, वे द्रव्य एकान्ततः गुरु या लघु नहीं होते ।

निश्चयनय के अनुसार द्रव्य दो प्रकार के हैं—परमाणु से प्रारम्भ कर संख्येय-प्रदेशात्मक, असंख्येय-प्रदेशात्मक अथवा अनन्तप्रदेशात्मक सूक्ष्म स्कन्ध—कार्मण शरीर आदि अगुरुलघु होते हैं तथा औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस—ये बादर स्कंध गुरुलघु होते हैं ।

(नैरयिक वैक्रिय और तैजस की अपेक्षा से गुरुलघु हैं, जीव और कार्मण की अपेक्षा से अगुरुलघु हैं ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय—न गुरु हैं, न लघु हैं, न गुरुलघु हैं, अगुरुलघु हैं । पुद्गलास्तिकाय गुरुलघु भी है, अगुरुलघु भी है । गुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा से वह गुरुलघु है । अगुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा से वह अगुरुलघु है ।

समय अगुरुलघु हैं । कर्म अगुरुलघु हैं ।

कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या न गुरु हैं, न लघु हैं, गुरुलघु भी हैं, अगुरुलघु भी हैं । द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से वे गुरुलघु हैं, भावलेश्या की अपेक्षा से अगुरुलघु हैं ।

दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, अज्ञान और संज्ञा अगुरुलघु हैं ।

प्रथम चार शरीर गुरुलघु और कार्मणशरीर अगुरुलघु हैं ।

मनयोग और वचनयोग अगुरुलघु हैं, काययोग गुरुलघु है ।

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—भारयुक्त और भारहीन ।

भार का संबंध स्पर्श से है । वह पुद्गल द्रव्य का एक गुण है । शेष सब द्रव्य भारहीन अगुरुलघु होते हैं । पुद्गल द्रव्य भारयुक्त और भारहीन दोनों प्रकार का होता है । जिनभद्रगणी के अनुसार गुरु, लघु, गुरुलघु और अगुरुलघु—ये चार विकल्प व्यवहारनय के अनुसार होते हैं । निश्चय नय के

अनुसार सर्वथा गुरु और सर्वथा लघु कुछ भी नहीं होता। इसमें केवल दो ही विकल्प मान्य हैं—गुरुलघु और अगुरुलघु।.....

सामान्य धारणा है—गुरु वस्तु नीचे जाती है और लघु वस्तु ऊपर जाती है। पत्थर नीचे जाता है और धुआं ऊपर जाता है। जिनभद्रगणी ने इस प्रश्न की तर्कपूर्ण समीक्षा की है। उनके मतानुसार गुरुता और लघुता गति के नियामक तत्त्व नहीं हैं। गति के नियामक तत्त्व हैं—गति-परिणाम और वीर्यपरिणाम। इसलिए सर्वथा गुरु और सर्वथा लघु होने का अस्वीकार गति-नियम में बाधक नहीं बनता।—भ १/३९८-४१३ भाष्य

भावतः लोक में अनन्त वर्णपर्यव, अनन्त गन्धपर्यव, अनन्त रसपर्यव, अनन्त स्पर्शपर्यव, अनन्त संस्थानपर्यव, अनन्त गुरुलघुपर्यव और अनन्त अगुरुलघुपर्यव हैं।

पर्यव दो प्रकार के होते हैं—स्वभावपर्यव और विभाव-पर्यव। जीव और पुद्गल में दोनों प्रकार के पर्यव रहते हैं, शेष द्रव्यों में स्वभाव पर्यव होता है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये पुद्गल के स्वभाव पर्यव हैं। एक परमाणु या स्कंध एक गुण काले रंग वाला यावत् अनन्त गुण काले रंग वाला हो जाता है। इसी प्रकार गंध, रस और स्पर्श में भी स्वाभाविक परिणमन होता रहता है। गुरुलघु पर्यव पुद्गल और पुद्गल युक्त जीव में होता है। इसका संबंध स्पर्श से है। अगुरुलघु पर्यव एक विशेष गुण या शक्ति है। इस शक्ति से द्रव्य का द्रव्यत्व बना रहता है। चेतन अचेतन नहीं होता और अचेतन चेतन नहीं होता—इस नियम का आधार अगुरुलघु पर्यव ही है। इसी शक्ति के कारण द्रव्य के गुणों में प्रतिसमय षट्स्थानपतित हानि और वृद्धि होती रहती है। इस शक्ति को सूक्ष्म वाणी से अगोचर, प्रतिक्षण वर्तमान और आगम-प्रमाण से स्वीकरणीय बतलाया गया है। अगुरुलघु पर्यव को स्वभाव-पर्याय और अर्थपर्याय भी कहा जाता है। अगुरुलघु का दूसरा अर्थ है भारहीन। नामकर्म की एक प्रकृति का नाम भी अगुरुलघु नाम कर्म है। उसका संबंध भी भारहीनता से है।

अनादि पारिणामिक अगुरुलघु शक्ति प्रत्येक द्रव्य में होती है। वह यहां विवक्षित नहीं है। अगुरुलघु नाम कर्म भी

यहां विवक्षित नहीं है। यहां गुरुलघु की नियामक शक्ति के रूप में अगुरुलघु विवक्षित है। यह शक्ति स्वयं भारहीन है, साथ-साथ गुरुलघु की नियामक भी है। यह शक्ति सिद्ध जीवों में पाई जाती है। सिद्ध जीव गुरुलघु नहीं हैं। यह निषेध पक्ष है। उसका विधिपक्ष है कि वे अगुरुलघु हैं। यह सिद्धों में पाया जाने वाला अगुरुलघु गुरुलघु का अभाव नहीं है, किन्तु यह एक विधायक शक्ति है। इसीलिए उसके अनन्त पर्यव होते हैं और इसी के द्वारा वे न नीचे आते हैं और न इधर-उधर परिभ्रमण करते हैं। यह अगुरुलघु-शक्ति अणु, सूक्ष्म स्कंध और अमूर्त द्रव्यों में पाई जाती है। संसारी जीव में गुरुलघु और अगुरुलघु दोनों पर्यवों का अस्तित्व होता है। औदारिक आदि शरीरों के कारण गुरुलघु पर्यवों का अस्तित्व होता है और कर्मण आदि पुद्गल द्रव्यों की अपेक्षा से तथा जीव की अपेक्षा से अगुरुलघु पर्यवों का अस्तित्व होता है। सिद्धजीव अशरीरी होते हैं; इसलिए उनमें केवल अगुरुलघु पर्यव होते हैं।—भ २/४५ भाष्य)

० परमाणु भी गुरुलघु

निश्चयात्तु गुरु-लघवः सर्वे पुद्गलाः, यस्मात् परमाणोरपि गुरु-लघुभावो विद्यते। कथम्? यदि तस्यैकान्तेन गुरुभावो न स्यात् ततोऽनन्तपरमाणु-समवायेऽपि गुरुत्वं न स्यात्, ततश्चासत्कार्यप्रसंगः, असत्कार्ये च वैशेषिकादिसिद्धांतप्रसंगः, यस्मादपी दोषास्तस्मात् परमाणौ गुरुत्वं विद्यते। एवं लघुत्वमपि। अगुरुलघवश्च सर्वेऽमूर्तास्तिकायाः। अतो आवेक्षिता पसिद्धी एतेसिं। (बृभा ६५ की चू)

निश्चयनय के अनुसार सभी पुद्गल गुरु-लघु स्वभाव वाले होते हैं अतः परमाणु में भी गुरु और लघु भाव होता है। यह क्यों? यदि परमाणु में गुरुभाव न हो तो अनन्त परमाणुओं के समवाय में भी गुरुत्व नहीं होगा। इस स्थिति में असत्कार्यवाद, वैशेषिक आदि मतों का प्रसंग भी आएगा, जो सदोष है, अतः परमाणु में गुरुत्व और लघुत्व भी है। सभी अमूर्त अस्तिकाय अगुरुलघु होते हैं। अतः यह सारा आपेक्षिक प्ररूपण है।

३. निश्चय-व्यवहार नय : गुरु-लघु-अगुरुलघु
 गुरुयं लहुर्यं मीसं, पडिसेहो चेष उभयपक्खे वि ।
 तत्थ पुण पढमबिइया, पया उ सव्वत्थ पडिसिद्धा ॥
 जा तेयगं सरीरं, गुरुलहु दव्वाणि कायजोगो य ।
 मण-भासा अगुरुलहु, अरूविदव्वा य सव्वे वि ॥
 अहवा बायरबोदी, कलेवरा गुरुलहु भवे सव्वे ।
 सुहुमाणंतपदेसा, अगुरुलहु जाव परमाणू ॥
 व्यवहारनयं पप्प उ, गुरुया लहुरया य मीसगा चेष ।
 लेट्टुग पदीव मारुय, एवं जीवाण कम्माइं ॥
 (बृभा २६८५-२६८८)

व्यवहारनय के अनुसार द्रव्य के चार प्रकार हैं—गुरु, लघु, गुरुलघु, अगुरुलघु। निश्चयनय के अनुसार कोई भी द्रव्य एकान्ततः गुरु अथवा एकान्ततः लघु नहीं होता। अतः वस्तु की परिभाषा यह होगी—जगत् में जो बादर वस्तु है, वह सब गुरुलघु है और शेष सारा अगुरुलघु है।

निश्चयनय की अपेक्षा से औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस शरीर के पुद्गल द्रव्य तथा इन शरीरों से संबंधित काय योग—ये सब गुरुलघु होते हैं। मन, भाषा, श्वासोच्छ्वास और कार्मण वर्गणा के प्रायोग्य द्रव्य तथा इनके अन्तरालवर्ती द्रव्य अगुरुलघु होते हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और जीव—ये अरूपी द्रव्य भी अगुरुलघु होते हैं।

बादरनामकर्मोदयवर्ती जीवों के शरीर तथा बादर परिणत पृथ्वी, षहाड़, इन्द्रधनुष आदि सारे पदार्थ गुरुलघु हैं। सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्ती जीवों के शरीर तथा सूक्ष्मपरिणाम-परिणत अनन्त प्रदेशी स्कन्ध यावत् परमाणु पुद्गल अगुरुलघु होते हैं।

व्यवहारनय की अपेक्षा से द्रव्य के तीन प्रकार हैं—

१. गुरु—ऊपर फेंकने पर भी जिसका स्वभाव नीचे जाने का होता है, जैसे—लेष्टु आदि।

२. लघु—ऊर्ध्वगति स्वभाव वाले पदार्थ, जैसे दीपकलिका।

३. गुरुलघु—तिर्यग् गति स्वभाव वाले पदार्थ, जैसे वायु।

इसी प्रकार जीवों के कर्म तीन प्रकार के हैं—गुरु, लघु, अगुरुलघु। जो कर्म जीव को अधोगति में ले जाते हैं, वे गुरु,

जो ऊर्ध्वगति में ले जाते हैं, वे लघु तथा जो मनुष्यगति-तिर्यग्ज्वगति में ले जाते हैं, वे गुरुलघु हैं।

४. मूर्त्त-अमूर्त्त द्रव्य : गुरुलघु-अगुरुलघु पर्यव
 इय पोग्गलकायमी, सव्वत्थोवा उ गुरुलहु दव्वा ।
 उभयपडिसेहिया पुण, अणंतकप्पा बहुवियप्पा ॥
 ते गुरुलहुपज्जाया, पण्णाछेदेण वोक्सिन्ताणं ।
 जा बायरो जहण्णो, अणंतहाणीए हायंत ॥
 (बृभा ६७, ६८)

पुद्गलास्तिकाय में गुरुलघु द्रव्य सबसे थोड़े हैं और अगुरुलघु द्रव्य के अनन्त भेद हैं। गुरुलघु द्रव्यों में भी बहुत विकल्प हैं।

द्रव्य के गुरुलघुपर्यायों से अगुरुलघुपर्यायों का प्रज्ञाच्छेदन—बुद्धि विकल्पित पृथक्करण करने पर जघन्य बादर स्कंध के गुरुलघु पर्याय सर्वस्तोक होते हैं—उत्कृष्ट बादर स्कंध की अपेक्षा अनंतगुणहानि से हीयमान होते हैं, अगुरुलघुपर्याय क्रमशः अनंतगुणवृद्धि से प्रवर्धमान होते हैं।

* बादर-सूक्ष्म स्कंध : अनंत वर्गणाएं द्र श्रीआको १ वर्गणा
 केण हवेज्ज विरोहो, अगुरुलहुपज्जवाण उ अमुत्ते ।
 अच्चंतमसंजोगो, जहियं पुण तव्विवक्खस्स ॥
 एवं तु अणंतहिं, अगुरुलहुपज्जवेहिं संजुत्तं ।
 होइ अमुत्तं दव्वं, अरूविकायाण उ चउण्हं ॥
 (बृभा ६९, ७०)

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन अमूर्त्त द्रव्यों में गुरुलघु पर्यायों का अत्यन्त असंयोग है, किन्तु उनमें अगुरुलघु पर्यायों का कौन विनाश कर सकता है? इनका प्रतिप्रदेश सदैव अनन्त अगुरुलघु पर्यायों वाला है। ऐसा होने पर चारों अरूपी अस्तिकायों का अमूर्त्त द्रव्य अनन्त अगुरुलघु पर्यवों से संयुक्त होता है।

५. जीवादिषट्क का अल्पबहुत्व

....जीवादिषट्कए पुण, बहुयगं पज्जवा होंति ॥
 जीवा पोग्गलसमया, दव्वपएसा य पज्जवा चेष ।
 थोवाणंताणंता, विसेसहिया दुवेणंता ॥
 (निभा ५५, ५६)

जीव, पुद्गल, समय, द्रव्य, प्रदेश और पर्याय—यह एक षट्क है। इस षट्क में जीव सबसे अल्प हैं। पुद्गल जीवों से अनंतगुना अधिक हैं। समय पुद्गलों से अनंतगुना हैं। द्रव्य समयों से विशेषाधिक हैं। प्रदेश द्रव्यों से अनंतगुना हैं। पर्याय प्रदेशों से अनंतगुना हैं।

धारणा—निर्णयात्मक ज्ञान की अविच्युति। मतिज्ञान का एक भेद। द्र गणिसम्पदा

धारणा व्यवहार—आचार्य के द्वारा प्रायश्चित्त आदि के लिए प्रयुक्त विधि को याद रखकर वैसी परिस्थिति में उस विधि का प्रयोग करना। द्र व्यवहार

ध्यान—चित्त की एकाग्रता। योगनिरोध।

१. ध्यान क्या है ?

२. ध्यान के प्रकार : कायिक आदि

* कायोत्सर्ग : कौन-सा ध्यान द्र कायोत्सर्ग

३. महाप्राणध्यान का काल

○ महापान की व्युत्पत्ति

* महाप्राणध्यान से विशिष्ट उपलब्धि द्र आचार्य

* एकरात्रिकी अनिमेष-प्रेक्षा द्र भिक्षुप्रतिमा

* जिनकल्पी में ध्यान द्र जिनकल्प

४. ध्यान और चिन्ता में अन्तर

○ ध्यानान्तरिका

○ ध्यानकोष्ठक

५. चंचलता का हेतु : मोह का उदय

१. ध्यान क्या है ?

.....अञ्जवसाओ उ दढो, झाणं असुभो सुभो वा वि ॥

(बृभा १६४०)

दृढ़ (निश्चल) अध्यवसाय ध्यान है। वह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है।

* ध्यान के चार प्रकार आदि द्र श्रीआको १ ध्यान

२. ध्यान के प्रकार : कायिक आदि

कायादि तिहिविककं, चित्तं तिव्व मउयं च मज्झं च।

जह सीहस्स गतीओ, मंदा य पुता दुया चेव ॥

कायिकं नाम यत् कायव्यापारेण व्याक्षेपान्तरं परिहरन्नुपयुक्तो भंगकचारणिकां करोति, कूर्मवद्वा संली-नांगोपांगस्तिष्ठति। वाचिकं तु मयेदृशी निरवद्या भाषा भाषितव्या, नेदृशी सावद्या इति विमर्शपुरस्सरं यद् भाषते, यद्वा विकथादिव्युदासेन श्रुतपरावर्तनादिकमुपयुक्तः करोति तद् वाचिकम्। मानसं त्वेकस्मिन् वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता।

(बृभा १६४२ वृ)

ध्यान के तीन प्रकार हैं—

१. कायिक ध्यान—अन्य व्याक्षेपों का परिहार करते हुए एकाग्रता से कायिक व्यापार (अंगुलि आदि) द्वारा विकल्प रचना करना। अथवा कछुए की भांति अंग-उपांगों को निश्चल रखना।

२. वाचिक ध्यान—मुझे इस प्रकार निरवद्य भाषा ही बोलनी चाहिए, सावद्य भाषा नहीं—इस प्रकार विमर्शपूर्वक बोलना अथवा विकथा आदि से रहित श्रुतपरावर्तन में उपयुक्त होना।

३. मानसिक ध्यान—आलम्बनभूत वस्तु में चित्त की स्थिरता।

जिस प्रकार सिंह की गति तीन प्रकार की होती है—मंद, प्लुत और द्रुत, वैसे ही त्रिविध ध्यान के तीन-तीन प्रकार हैं—मृदु (मंद), मध्य और तीव्र।

३. महाप्राण ध्यान का काल

बारसवासा भरधाधिवस्स, छच्चेव वासुदेवाणं।
तिण्णिण य मंडलियस्सा, छम्मासा पागयजणस्स ॥

(व्यभा २७०१)

महाप्राणध्यान की साधना का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का है। भरतक्षेत्र के अधिपति (चक्रवर्ती) ऐसा कर सकते हैं। वासुदेव-बलदेव के वह काल छह वर्ष का, मांडलिक राजाओं के तीन वर्ष का और सामान्य लोगों के छह मास का होता है।

○ महापान की व्युत्पत्ति

इय पुव्वगताधीते, बाहु सनामेव तं मिणे पच्छा।

पियति त्ति व अत्थपदे, मिणति त्ति व दो वि अविरुद्धा ॥

पिबति अर्थपदानि यत्रस्थितस्तत्पानं, महच्च तत्पानं च महापानम्।

(व्यभा २७०३ वृ)

जिस ध्यान में पूर्वगत श्रुत के अर्थपदों का पान/ज्ञान/मनन

किया जाता है, वह महापान है। पिबति और मिनोति—दोनों धातुपद एकार्थक हैं।

आचार्य भद्रबाहु ने चौदह पूर्वों का अध्ययन कर महापान—महाप्राण ध्यान की साधना की थी।

(चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु ने नेपाल देश में महाप्राण ध्यान की साधना की थी। जब महाप्राण ध्यान सम्पन्न हो जाता है, उस अवस्था में प्रयोजन उत्पन्न होने पर अंतर्मुहूर्त में चौदह पूर्वों की अनुप्रेक्षा की जा सकती है। उनका अनुलोम-विलोम पद्धति अथवा पूर्वानुपूर्वी-पश्चानुपूर्वी से परावर्तन किया जा सकता है।—श्रीआको १ आगम पूर्व)

४. ध्यान और चिन्ता में अन्तर

ज्ञाणं नियमा चिन्ता, चिन्ता भइया उ तीसु ठाणेसु।
ज्ञाणे तदंतरम्मि उ, तत्त्विवरीया व जा काइ॥
(बृभा १६४१)

ध्यान नियमतः चिन्ता है। चिन्ता के तीन स्थान विकल्पित हैं—

१. ध्यान में दृढ़ अध्यवसाय रूप चिन्ता होती है।
२. ध्यानान्तरिका में जो चिन्तन किया जाता है, वह चिन्ता है।
३. ध्यान या ध्यानान्तरिका के अतिरिक्त चित्तचेष्टा भी चिन्ता है।

दृढ़ अध्यवसाय रूप ध्यान में जो चिन्तन किया जाता है, वहां ध्यान और चिन्ता में अभेद है। अन्यत्र ध्यान और चिन्ता में भेद है।

० ध्यानान्तरिका

अन्तरज्ञाणऽतीतो, बिइयं ज्ञाणं तु सो असंपत्तो।
ज्ञाणांतरम्मि वड्डइ, बिपहे व विक्कुंचियमईओ॥
(बृभा १६४३)

ध्याता द्रव्य आदि किसी भी वस्तुविषयक एक ध्यान को सम्पन्न कर जब तक दूसरा ध्यान प्रारम्भ नहीं करता है और यह विमर्श करता है कि अब मुझे कौन सा ध्यान करना है—यह ध्यानान्तर—दो ध्यानों के बीच का समय ही ध्यानान्तरिका है। जैसे पथ से गुजरते हुए व्यक्ति के सामने जब दो मार्गों वाला पथ आ जाता है, तब वह विमर्श करता है कि मुझे

किस मार्ग से जाना चाहिए। दोनों मार्गों के मध्य जो विमर्श का क्षण है, उसके तुल्य ध्यानान्तरिका है।

० ध्यानकोष्ठक

.....भगवओ महावीरस्स.....ज्ञाणकोट्टोवगयस्स,
सुक्कञ्जाणंतरियाए वट्टमाणस्स.....केवलवरणाणदंसणे
समुप्यण्णे॥ (आचूला १५/३८)

ध्यानकोष्ठ में लीन शुक्लध्यानान्तरिका में वर्तमान भगवान् महावीर को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुए।

(‘ध्यानकोष्ठक’ पद एकाग्रता का सूचक है। कोठे में डाला हुआ अनाज इधर-उधर नहीं बिखरता, वैसे ही एकाग्रता की साधना के द्वारा इन्द्रियां, मन और वृत्तियां इधर-उधर नहीं दौड़तीं, किन्तु एक ध्येय पर ही स्थिर हो जाती हैं। कोष्ठ का तात्पर्य है ध्येय। जब ध्यान अपने ध्येय में लीन हो जाता है, उस अवस्था में चित्त की ‘ध्यानकोष्ठ’ अवस्था का निर्माण होता है। पतञ्जलि ने इसे ‘देशबन्ध’ या ‘प्रत्ययैकतानता’ कहा है।

‘कोष्ठ’ का एक अर्थ आन्तरिक अंग या अवयव है। इस आधार पर ध्यानकोष्ठ का अर्थ—ध्यान के लिए उपयुक्त शरीरवर्ती चैतन्यकेन्द्र नाभि, कण्ठ, हृदय आदि किया जा सकता है। व्यासभाष्य में ‘देशबन्ध’ के लिए बाह्यदेश का गौणरूप में और शरीर के अंगों का मुख्य रूप में निर्देश मिलता है।—भ १/९ का भाष्य)

५. चंचलता का हेतु : मोह का उदय

परिणामाणवत्थाणं सति मोहे उ देहिणं।
तस्सेव उ अभावेणं जायते एगभावया॥
जधाऽवचिज्जते मोहो, सुद्धलेसस्स ज्ञाइणो।
तहेव परिणामो वि, विसुद्धो परिवड्ढते॥
जधा य कम्मिणो कम्मं, मोहणिज्जं उदिज्जति।
तधेव संकिलिड्डो से, परिणामो विवड्ढती॥
(व्यभा २७५९-२७६१)

मोह के कारण प्राणियों के मनःपरिणाम चंचल होते हैं। मोह के अभाव में मनःपरिणामों की एकरूपता/ एकाग्रता होती है।

शुद्ध लेश्या वाले ध्याता (धर्मध्यानी-शुक्लध्यानी) का मोह जैसे-जैसे क्षीण होता है, वैसे-वैसे उसके परिणामों की विशुद्धि बढ़ती है।

जैसे-जैसे अशुभलेश्यी ध्याता (आर्त-रौद्रध्यानी) के मोहनीय कर्म का उदय होता है, वैसे-वैसे उसके संकिलप्त परिणामों में वृद्धि होती है।

निदान—पौद्गलिक सुखसमृद्धि की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला संकल्प अथवा कोई भी आकांक्षात्मक संकल्प।

- | | |
|--|------------|
| १. निदान का अर्थ | |
| ○ निदान के पर्याय | |
| २. कामभोगों का निदान और फलश्रुति | |
| ३. देवीभोग का निदान..... | |
| ४. सहज दिव्यभोगों का निदान..... | |
| ५. श्रमणोपासक होने का निदान..... | |
| ६. दरिद्रकुलोत्पत्ति का निदान | |
| ○ दरिद्रता का निदान : रत्नविक्रय दृष्टान्त | |
| * निदान : मोक्षमार्ग का परिमंथ | द्र परिमंथ |
| ७. निदान : कर्मबंध का हेतु | |
| ८. श्रमण की आज्ञाति का हेतु : निदान | |
| * श्रमण और देवायुबंध | द्र देव |
| ९. अनिदानता सर्वत्र श्रेयस्करी | |

१. निदान का अर्थ

निदानकरण—देवेन्द्र-चक्रवर्त्यादिविभूतिप्रार्थनं...
सम्यग्दर्शनादिरूपस्य परिमन्थुः, आर्तध्यानचतुर्थ-
भेदरूपत्वात्। (क ६/१९ की वृ)

देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव की आशांसा करना निदान है। यह सम्यग्दर्शन आदि का विघ्न है। निदानकरण आर्तध्यान का चौथा भेद है। (द्र श्रीआको १ ध्यान)

○ निदान के पर्याय

...संदाण निदाणं ति य, पव्वो ति य होंति एगद्धा ॥

एगद्धिया—संताणंति वा निदाणंति वा बंधोति वा।

(दशानि १३७ चू)

बंधो ति णियाणं ति य, आसंसजोगो य होंति एगद्धा ॥
(बृथा ६३४७)

संदान, निदान, पर्व (ग्रंथि), बंध, आशंसायोग—ये निदान के पर्यायवाची नाम हैं।

२. कामभोगों का निदान और फलश्रुति

...जइ इमस्स सुचरियस्स तव-नियम-बंधेरेवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमिस्साइं इमाइं एयारूवाइं ओरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरामि...निदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणा-लोइयप्पडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णत्तेरेसु देव-लोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति ॥...से णं ताओ देवलोगातो...चयं चइत्ता से जे इमे भवंति उगगपुत्त...। तस्स णिदाणस्स इमेतारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएति केवलियण्णत्तं धम्मं पडिसुणेत्तए। (दशा १०/२४)

मानुषिक भोगसामग्री में लुब्ध होकर कोई तपस्वी यह संकल्प करता है—यदि मेरे द्वारा आर्चीर्ण इस तप-नियम और ब्रह्मचर्यवास का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी अगले जन्म में औदारिक मानुषिक भोगों का उपभोग करूं। ऐसा निदान कर वह उस स्थान की आलोचना-प्रतिक्रमण किए बिना कालमास में कालधर्म को प्राप्तकर किसी देवलोक में देव रूप में उत्पन्न होता है। वहां से च्यवन कर उग्र, भोज आदि कुलों में उत्पन्न होता है।

उस निदान के पापकारी फलस्वरूप वह केवलप्रज्ञप्त धर्म को नहीं सुन सकता।

(मुनि तपस्या से पूजा पाने की अभिलाषा न करे। शब्दों और रूपों में आसक्त न हो और सभी कामों—इन्द्रिय-विषयों की लालसा को त्यागे।

परं लोकाधिकं धाम, तपःश्रुतमिति द्वयम्।
तदेवार्थित्वनिर्लुप्तसारं तृणलवायते ॥

लोक में दो उत्तम स्थान हैं—तप और श्रुत। ये दो ही श्रेष्ठ स्थान की प्राप्ति के हेतु हैं। यदि इनसे पौद्गलिक सुख की आकांक्षा की जाती है तो ये तृण के टुकड़े की भांति निस्सार हो जाते हैं।—सू १/७/२७ वृ

३. देवीभोग का निदान....

....जति इमस्स सुचरियस्स तव-नियमबंभ-
चेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि तं अहमवि
आगमेस्साइं इमाइं एतारूवाइं दिव्वाइं भोग-भोगाइं
भुंजमाणे विहरामि ।...तस्स निदाणस्स इमेतारूवे पावए
फलविवागे, जं णो संचाएति केवल्लिपण्णत्तं धम्मं
सहहित्तए.... । (दशा १०/२८)

कोई तपस्वी देवी परिचाराणा से आकृष्ट हो यह संकल्प करता है—यदि मेरे द्वारा आचीर्ण इस सुचरित तप-नियम-ब्रह्मचर्यवास का कल्याणकारी सुफल हो तो मैं भी अगले जन्म में इस प्रकार के दिव्य भोगों का परिभोग करूँ।

उस निदान का पापकारी परिणाम यह होता है कि वह व्यक्ति अगले जन्म में केवल्लि-प्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा नहीं कर सकता।

४. सहज दिव्यभोगों का निदान....

जइ इमस्स सुचरियस्स तव-नियम-बंभचेरवासस्स
कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमेस्साइं
इमाइं एतारूवाइं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरामि ।
....तस्स निदाणस्स इमेतारूवे पावए फलविवागे जं णो
संचाएति सील-व्वत-गुण-वेरमण-पच्चक्खण-
पोसहोववासइं पडिबज्जित्तए । (दशा १०/३०)

कोई तपस्वी दिव्य कामभोगों को देखकर यह संकल्प करता है कि यदि मेरे द्वारा सुचरित इस तप-नियम-ब्रह्मचर्यवास का कल्याणदायी फल हो तो मैं भी भविष्य में इस प्रकार के दिव्य कामभोगों का भोग करता हुआ विहरण करूँ।

उस निदान का पापकारी परिणाम यह होता है कि वह आगमी मनुष्य भव में शीलव्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान और पौषधोपवास स्वीकार नहीं कर सकता।

५. श्रमणोपासक होने का निदान....

....माणुस्सगा कामभोगा अधुवा...दिव्वावि खल्लु
कामभोगा अधुवा...जइ इमस्स सुचरियस्स तव-नियम-
बंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं
अहमवि आगमेस्साणं...समणोवासए भविस्सामि...तस्स

निदाणस्स इमेतारूवे पावए फलविवागे, जं णो संचाएति
सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं
पव्वइत्तए । (दशा १०/३१)

मनुष्यसंबंधी कामभोग अधुव हैं, दिव्य कामभोग भी अधुव हैं। इसलिए कोई तपस्वी श्रमणोपासक को देखकर यह संकल्प करता है—यदि मेरे द्वारा आचीर्ण इस तप-नियम-ब्रह्मचर्यवास का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी अगले जन्म में श्रमणोपासक बनूँ।

उस निदान का पापकारी परिणाम यह होता है कि वह अगले जन्म में सर्वतः सर्वात्मना मुण्ड होकर अगार से अनगारता में प्रव्रजित नहीं हो सकता।

६. दरिद्रकुलोत्पत्ति का निदान

जइ इमस्स सुचरियस्स तव-नियम-बंभचेरवासस्स
कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमेस्साणं
जाइं इमाइं अंतकुलाणि वा पंतकुलाणि वा...एतेसि णं
अण्णतरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चाइस्सामि । एस मे आता
परियाए सुणीहडे भविस्सति ।...तस्स निदाणस्स इमेतारूवे
पावए फलविवागे, जं णो संचाएति तेणेव भवग्गहणेणं
सिज्झित्तए जाव सव्वदुक्खणमंतं करित्तए । (दशा १०/३२)

कोई तपस्वी किसी दरिद्र कुल में उत्पन्न धार्मिक को देखकर निदान करता है—यदि मेरे द्वारा सुचरित इस तप-नियम-ब्रह्मचर्यवास का कल्याणकारी फल हो तो मैं भी अगले जन्म में अंत-प्रांत कुलों में पुरुष रूप में उत्पन्न होऊँ, जिससे मैं आसानी से मुनि बन सकूँ।

इस निदान के पापकारी फलविपाक के कारण वह अगले जन्म में प्रव्रजित होकर भी सिद्ध नहीं हो सकता यावत् सब दुःखों का अंत नहीं कर सकता।

० दरिद्रता का निदान : रत्तविक्रय दृष्टांत

एवं सुनीहरो मे, होहिति अप्प त्ति तं परिहरंति ।
हंदि! हु णेच्छंति भवं, भववोच्छित्तिं विमग्गंता ॥
जो रयणमणग्घेयं, विक्कज्जप्पेण तत्थ किं साहू ।
दुग्गयभवमिच्छंते, एसो च्चिय होति दिट्ठंते ॥

(बृथा ६३४४, ६३४५)

(भोगों के लिए किया गया निदान तीव्र विपाकी होता है, वह अकरणीय है, लेकिन मैं राजकुल में उत्पन्न न होकर दरिद्र कुल में उत्पन्न होऊँ, जिससे भोगों में अनासक्त रहकर प्रव्रज्या को स्वीकार कर सकूँ। ऐसे निदान में क्या दोष है?)

गुरु ने शिष्य को समाधान देते हुए कहा—दरिद्र कुल में उत्पन्न होने से मेरी आत्मा असंयम से सुगमता से निकल जाएगी—ऐसा जो निदान है, साधु उसका भी परिहार करते हैं क्योंकि निदान से भववृद्धि होती है। प्रव्रज्या का सारा प्रयत्न भव-व्यवच्छिन्ति के लिए होता है। मुनि भव-व्यवच्छिन्ति के उपायों की मार्गणा करता है। वह भव-प्राप्ति की इच्छा नहीं करता।

कोई व्यक्ति इन्द्रनील, मरकत आदि अमूल्य रत्नों को अल्पमूल्य में बेच देता है, क्या यह शोभनीय है? जो दरिद्रकुल में उत्पन्न होने का निदान करता है, वह अमूल्य चारित्ररत्न को बेचकर दरिद्रकुल रूपी काच के टुकड़े को प्राप्त करता है।

६. निदान : कर्मबंध का हेतु

संगं अणिच्छमाणो, इह-परलोए य मुच्चति अवस्सं।
एसेव तस्स संगो, आसंसति तुच्छतं जं तु॥
बंधो त्ति णियाणं ति य, आससजोगो य होति एग्गु।
ते पुण ण बोहिहेऊ, बंधावचया भवे बोही॥
(बृभा ६३४६, ६३४७)

जो ऐहिक-पारलौकिक संग की इच्छा (भोगांशांसा) नहीं करता, वह अवश्य मुक्त हो जाता है।

जो मोक्षदायी महान् तप के द्वारा (प्रतिदान में) तुच्छ फल की आशंसा करता है, यही उसका संग (मुक्ति पद का प्रतिपक्षभूत अभिष्वंग) है।

बंध, निदान और आशंसायोग—ये पर्यायवाची नाम हैं। ये बोधि—ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति के हेतु नहीं हैं। अनिदानता आदि गुण कर्मबंध के अपचय के हेतु हैं। उनसे बोधिलाभ होता है।

८. श्रमण की आज्ञा का हेतु : निदान

कामं असंजतस्सा, नत्थि हु मोक्खे धुवमेव आज्ञाई।
केण विसेसेण पुणो, पावइ समणो अणायाइं॥
मूलगुण-उत्तरगुणे, अप्पडिसेवी इहं अपडिबद्धो।
भत्तोवहि-सयणासणविवित्तसेवी सया पयओ॥

तित्थगर-गुरु-साहूसु, भत्तिमं हत्थ-पायसंलीणो।
पंचसमिओ कलह-झंझ-पिसुण-ओहाणविरओ य॥
पाएण एरिसो सिञ्जइ त्ति कोइ पुण आगमेस्साए।
केण हु दोसेण पुणो, पावइ समणो वि आयाइं॥
जाणि भणियाणि सुत्ते, तहागएसुं नव य निदाणाणि।

(दशानि १३३-१३७)

एकांत रूप से असंयत का मोक्ष नहीं होता, निश्चित ही उसकी आज्ञाति (जन्म) होती है। किस विशेषता से श्रमण अनाज्ञाति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है?

जो श्रमण मूलगुणों और उत्तरगुणों का अप्रतिसेवी होता है, उनका नाश नहीं करता, इहलोक के प्रति प्रतिबद्ध नहीं होता, सदा निर्दोष भक्त-पान, उपधि और विविक्त शयन-आसन का सेवन करता है, प्रयत्नवान—अग्रमत्त होता है, तीर्थकर, गुरु और साधुओं के प्रति भक्तिमान् होता है, हस्त-पाद से प्रतिसंलीन, पांच समितियों से समित, कलह, झंझा और पैशुन्य से विरत तथा अवधावनविरत—स्थिर संयमवाला होता है, वह प्रायः उसी भव में सिद्ध हो जाता है। कोई-कोई श्रमण भविष्यत् काल में सिद्ध होता है। किस दोष के कारण श्रमण आज्ञाति को प्राप्त होता है?

तथागत—तीर्थकर ने दशाश्रुतस्कंध (दशा १०/२४-३२) में जो नौ निदानस्थान बतलाए हैं, उनका सेवन करने वाला श्रमण—श्रमणीवर्ग आज्ञाति को प्राप्त होता है।

नेच्छंति भवं समणा, सो पुण तेसिं भवो इमेहिं तु।
पुव्वतवसंजमेहिं, कम्मं तं चावि संगेणं॥

पूर्व.....सरागावस्थाभाविना तपसा साधवो
देवलोकेषूत्पद्यन्ते.....पूर्वसंयमेन—सरागेण सामायिकादि-
चारित्रेण साधूनां देवत्वं भवति।.....पूर्वतपःसंयमावस्थायां
हि देवायुर्देवगतिप्रभृत्तिकं कर्म बध्यते ततो भवति
देवेषूपपातः।.....तदापि कर्म 'संगेन' संज्वलनक्रोधादि-
रूपेण बध्यते। (बृभा ६३४८ वृ)

साधु भवश्रमण नहीं चाहते, फिर वे देवलोको में उत्पन्न कैसे होते हैं? उनका भव इन कारणों से होता है—पूर्वतप-संयम—सरागअवस्था में आचरित तप और सामायिक आदि चारित्र के कारण साधु देव होते हैं। (वीतरागअवस्था से पहले होने के कारण सरागअवस्था पूर्व अवस्था है।)

पूर्वतप-संयम की अवस्था में ही देवायु, देवगति आदि कर्मों का बंध होता है, उससे देवों में उपपात होता है। उस कर्मबंध का हेतु है संग—संज्वलन क्रोध आदि।

* पूर्व तप से देवायुबंध कैसे ? द्र देव

१. अनिदानता सर्वत्र श्रेयस्करी

.....सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था ॥

(क ६/१९)

भगवान् ने अनिदानता को सर्वत्र प्रशस्त कहा है।

अनियाणं निव्वाणं, काऊणमुवट्ठितो भवे लहुओ।
पावति धुवमायातिं, तम्हा अणियाणया सेया ॥
इह- परलोगनिमित्तं, अवि तित्थकरत्तचरिमदेहत्तं।
सव्वत्थेसु भगवता, अणियाणत्तं पसत्थं तु ॥
(बृभा ६३३३, ६३३४)

अनिदानता से निर्वाण होता है। निदान करके जो पुनः निदान नहीं करने का संकल्प स्वीकार करता है, उसे भी मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो निदान करता है, वह यद्यपि उसी भव में सिद्धि गति को प्राप्त करना चाहता है, फिर भी वह अवश्य पुनर्जन्म को प्राप्त करता है। इसलिए अनिदानता ही श्रेयस्करी है।

इहलोक संबंधी चक्रवर्ती आदि के भोगों के निदान तथा परलोक संबंधी इन्द्र, सामानिक आदि महर्द्धिक देवों के भोगों के निदान का तो प्रतिषेध है ही, भवांतर में तीर्थकरत्व युक्त चरम देह की प्राप्ति की आशंसा का भी निषेध है। अर्हंतों ने अभिष्वंगविषयक सब प्रयोजनों में अनिदानत्व को प्रशस्त कहा है।

(सनिदान के चारित्र नहीं होता, क्योंकि निदान के साथ हिंसा की अनुमोदना जुड़ी हुई है।.....निदानकृत कर्म अवश्य उदय में आता है।—श्रीआको १ निदान)

निर्ग्रंथ—कर्मोपादान के हेतुभूत ग्रंथों—बाह्याभ्यन्तर आकर्षणों-आसक्तियों से मुक्त।

सावज्जेण विमुक्का, सडिंभतर-बाहिरेण गंधेण।
निग्गहपरमा य विद्दु, तेणेव य होति निग्गंथा ॥

जे वि अ न सव्वगंधेहिं निग्गया होति केइ निग्गंथा।
ते वि य निग्गहपरमा, हवंति तेसिं खउज्जुत्ता ॥
कलुसफलेण न जुज्जइ, किं चित्तं तत्थ जं विगयसग्गे।
संते वि जो कसाए, निग्गिण्हई सो वि तत्तुल्लो ॥
जइ अडिंभतरमुक्का, बाहिरेण मुक्कया किह णु।
गिण्हंता उवगरणं, जम्हा अममत्तया तेसु ॥

(बृभा ८३२, ८३६-८३८)

निर्ग्रंथ वे हैं, जो सपाप बाह्य और आभ्यन्तर ग्रंथ से मुक्त हैं। जो आभ्यन्तर ग्रंथ से सर्वथा मुक्त नहीं हैं, किन्तु क्रोध आदि दोषों को जानते हैं और उन पर विजय पाने का प्रयत्न करते हैं, वे भी निर्ग्रंथ हैं।

सर्वग्रंथ से मुक्त न होने पर भी कुछ निर्ग्रंथ कर्मक्षय (उदयनिरोध और उदयप्राप्त के विफलीकरण) के लिए उद्यत तथा निग्रहप्रधान होते हैं, वे निर्ग्रंथ कहलाते हैं।

वीतराग कषायमुक्त होते हैं अतः कषायफल (परुष भाषण, नयनविकार, मुखविकार आदि) के साथ उनका कोई संबंध न हो तो उसमें क्या आश्चर्य? कषाय विद्यमान होने पर भी जो उसके निग्रह का प्रयास करते हैं, वे सरागसंयत भी निर्ग्रंथ हैं, वीतरागतुल्य हैं।

निर्ग्रंथ आभ्यन्तर ग्रन्थ से मुक्त होते हैं पर वे भी वस्त्र आदि उपकरण रखते हैं। ऐसी स्थिति में वे बाह्य ग्रन्थ से मुक्त कैसे? इसका हेतु देते हुए आचार्य कहते हैं—वस्त्र आदि के प्रति अमूर्च्छा ही निर्ग्रन्थता का मूल है।

.....इरियासमिए से णिग्गंथे.....मणं परिजाणइ से णिग्गंथे, जे य मणे अपावए त्ति.....जे वइ परिजाणइ से णिग्गंथे, जा य वई अपावियत्ति.....आयाणभंड-मत्तणिक्खेवणासमिए से णिग्गंथे.....आलोइयपाण-भोयणभोई से णिग्गंथे.....अणुवीइ-भासी से णिग्गंथे.....कोहं परिजाणइ से निग्गंथे.....लोभं परिजाणइ से णिग्गंथे.....भयं परिजाणइ से णिग्गंथे.....हासं परिजाणइ से णिग्गंथे ॥

(आचूला १५/४४-४८, ५१-५५)

- निर्ग्रंथ वह है, जो ईर्यासमित है।
- मनपरिज्ञा से सम्पन्न—निष्पाप मन वाला है।
- वचनपरिज्ञा से सम्पन्न—निष्पाप निरवद्य वचन बोलने वाला है।

- विवेकपूर्वक वस्त्र-पात्र आदि को लेता और रखता है।
- आलोकित पानभोजनभोजी है।
- अनुवीचिभाषी—विचारपूर्वक बोलता है।
- क्रोधपरिज्ञा—क्रोधप्रत्याख्यान करता है।
- लोभपरिज्ञा—लोभप्रत्याख्यान करता है।
- भयपरिज्ञा—भयप्रत्याख्यान करता है।
- हास्यपरिज्ञा—हास्यप्रत्याख्यान करता है।

जैन श्रमण को निर्ग्रन्थ कहा जाता है।—द्र श्रमण

निर्जरा—तप के द्वारा कर्मविलय से होने वाली आत्मा की उज्ज्वलता। इसके बारह भेद हैं। द्र तप

निर्यापक—अनशनकर्त्ता की समाधि में योगभूत मुनि।
द्र अनशन

निशीथ—छेदसूत्रवर्ग का एक ग्रंथ, जिसमें प्रायश्चित्त का विधान और प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया निर्दिष्ट है।
द्र छेदसूत्र

निषद्या—अभिशय्या, स्वाध्याय भूमि। द्र स्वाध्याय

नैरयिक—नरकगति में रहने वाले, स्वकृत प्रकृष्ट पापजन्य दुःखों का वेदन करने वाले जीव। नैरयिक सुख का वेदन भी करते हैं। (द्र सम्यक्त्व)

* नरकायुबंध के हेतु द्र कर्म

* नैरयिक की आयुस्थिति... द्र श्रीआको १ नरक

नैषदिका—निषद्या, बैठकर किए जाने वाले आसन।
द्र कायक्लेश

नैषेधिकी—सूत्रार्थ-प्रायोग्य स्थान, जहां स्वाध्याय-व्यतिरिक्त शेष सब प्रवृत्तियों का निषेध होता है।
द्र स्वाध्याय

दशविध सामाचारी का एक भेद, मुनि द्वारा कार्य से निवृत्त होकर आने पर 'निसीहिया' नैषेधिकी—मैं निवृत्त हो चुका हूं, ऐसा कहना।
द्र सामाचारी

नौका—जलयान। जलसंतरण का साधन।

१. जलसंतरण के साधन : सामुद्रिक नौका आदि

२. जलसंतरण के मार्ग : संक्रम, संघट्ट आदि

३. अन्य मार्ग के अभाव में जलमार्ग-गमन

४. मुनि की नौका-विहार-विधि

* महावीर और नौकाविहार

द्र देव

५. महानदी-संतरण की सीमा

१. जलसंतरण के साधन : सामुद्रिक नौका आदि
णावातारिम चतुरो, एग समुद्दमि तिण्णि य जलंमि।
ओयाणे उज्जाणे, तिरिच्छसंपातिमे चेव ॥
.....कुंभे दतिए तुंबे, उडुपे पण्णी य एमेव ॥
(निभा १८३, १८५)

नौका के चार प्रकार हैं—

१. सामुद्रिक नौका—यथा—तेयालगपतन (वेराबल) से द्वाखती जाने वाली। समुद्रगामिनी के अतिरिक्त अन्यत्र जलयानी के तीन प्रकार हैं—

२. अबयानी—अनुस्रोतगामिनी नौका।

३. उद्यानी—प्रतिस्त्रोतगामिनी नौका।

४. तिर्यक् सम्पातिम—एक कूल से दूसरे कूल तक सीधी जाने वाली तिर्यक्संतरिणी नौका।

उदक-संतरण के पांच अन्य साधन भी हैं—

○ कुम्भ—चतुःकाष्ठी के कोनों में घड़े बांधकर, उनका अवलम्बन लेकर जलसंतरण करना।

○ दृति—वायु से भरी हुई मशक से तैरना।

○ तुम्ब—जाल में तुंबे भरकर उन पर आरूढ़ हो संतरण करना।

○ उडुप—कोट्टिंब (लकड़ियों को बांधकर बनाई हुई नौका) से संतरण करना।

○ पर्णी—पर्ण या पर्णलताओं को यमल रूप में बांधकर उनके सहारे संतरण करना।

णावाए.....ऊद्धं कसणं उक्कसणं समुद्वातेणं।

(आचूला ३/१७ की चू)

समुद्री वायु के कारण नौका का उत्कर्षण किया जाता है—उसे ऊपर की ओर खींचा जाता है।

(वायु के चार प्रकार हैं—१. पुरोवात—पूर्वी वायु ।
२. पश्चाद्वात—पश्चिमी वायु । ३. मन्दवात—मन्दगति से चलने वाली वायु । ४. महावात—तेज चलने वाली वायु ।

द्वीपों और समुद्रों में चारों प्रकार की वायु होती है । किन्तु उन दोनों में एक साथ एक प्रकार की वायु नहीं चलती । द्वीप में यदि मंदवात चलता है तो समुद्र में महावात चलेगा । द्वीप में यदि महावात चलता है तो समुद्र में मंदवात चलेगा । इस विपरीत गति के कारण ही लवण समुद्र बेला का अतिक्रमण नहीं करता ।—भ ५/३१, ३६-३९)

२. जलसंतरण के मार्ग : संक्रम, संघट्ट आदि

संकम थले य णोथल..... ॥.....
एगंगिय चल थिर पारिसाडि सालंबवज्जिए सभए ।
पडिपक्खेसु य गमणं, तज्जातिथरे व संडेवा ॥
नदिकोप्पर वरणेण व, थलमुदयं णोथलं तु तं चउहा ।
उवलजल वालुगजलं, सुद्धमही पंकमुदगं च ॥
लत्तगपहे य खुलाए, तहऽद्धजंघाएँ जाणुउवरिं च ।
लेवे य लेवउवरिं, ॥
(बृभा ५६४०, ५६४२-५६४४)

जंघद्धा संघट्टो, णाभी लेवो परेण लेवुवरिं ।
(निभा १९५)

नदीसमुत्तरण के तीन पथ हैं—

१. संक्रम—एक या अनेक फलक आदि से निर्मित सेतु । अनेकांगिक, चल, परिशाटि, निरालम्ब और भययुक्त संक्रम पथ से नहीं जाना चाहिये । जो संक्रम एकांगिक, स्थिर, अपरिशाटि, सालम्ब और भयमुक्त हो, उसी से नदी आदि को पार करना चाहिये । संक्रम का ही एक भेद है—

० संडेवक—इसके दो भेद हैं—तज्जात (वहीं प्राप्त व्यवस्थित निक्षिप्त शिला आदि) और अतज्जात (अन्य स्थान से लाकर स्थापित की गई ईंटें आदि) ।

२. स्थल—नदीकूर्पर या वरण से जल का परिहार करते हुए गमन करना । आकुष्ठित कूर्पर के आकार का चलन कूर्पर तथा जल पर कपाट डालकर किया गया पालिबंध वरण कहलाता है ।

३. नोस्थल—इसके चार प्रकार हैं—

- ० उपलजल—नीचे पत्थर, ऊपर जल ।
- ० वालुकाजल—नीचे बालू, ऊपर जल ।
- ० शुद्धोदक—नीचे शुद्ध पृथ्वी, ऊपर जल ।
- ० पंकोदक—नीचे कर्दम, ऊपर जल ।

पंकोदक के अनेक प्रकार हैं—

- ० लत्तक पथ—जितनी मात्रा में अलत्तक से पैर रंगा जाता है, पथ में उतना मात्र कर्दम ।
- ० खुलकमात्र—पैर के टखने प्रमाण जल ।
- ० जंघार्ध/संघट्ट—अर्ध जंघाप्रमाण जल ।
- ० जानूपरि—जानुमात्र जल ।
- ० लेप—नाभिप्रमाण जल ।
- ० लेपोपरि—नाभि से ऊर्ध्ववर्ती जल ।

पूर्व स्थलेन गन्तव्यम्, तदभावे संक्रमेण, तदभावे नोस्थलेनापि ।
(बृभा ५६४६ की वृ)

पहले स्थलमार्ग (तीव्र वेगवती नदी, भयंकर जलजंतु आदि अपायों से रहित पथ) से, उसके अभाव में संक्रम से और संक्रम के अभाव में नोस्थल से भी जाया जा सकता है ।

३. अन्य मार्ग के अभाव में जलमार्ग गमन

जत्थ अचित्ता पुढवी..... । जोणिपरित्त-थिरेहिं..... ॥
.....अक्कंत-थिरसरीरे, णिरच्चएहिं तु गंतव्वं ॥
तेऊ-वाउविहू णा, ।.....

.....आउक्काए णियमा वणस्सती अत्थि तप्हा तेण मा गच्छतु । वणस्सतिणा गच्छतु । तत्थ वि परित्तजोणि-एण थिरसंघयणेण... । तेउ-वाउसु गमणस्सासंभवो । वणस्सतितसेसु वि.....पुव्वं तसेसु थिरादिसु गंतव्वं, जतो वणे वि णियमा तसा अत्थि ।

.....पुढवि-आउ-वणस्सति-तसेसु.....चउक्कसंभवे कतरेण गंतव्वं ? पुव्वं अचित्तपुढवीए, तओ विरलतसेसु, तओ सचित्तपुढवीए, तओ वणस्सतिणा, तओ आउणा ।

(निभा ४२४०-४२४२ चृ)

मुनि को जहां अचित्त पृथ्वी हो, उसी पथ से जाना चाहिये । दो मार्ग हों—जलमार्ग और वनस्पति मार्ग । जलमार्ग

से नहीं जाना चाहिये, क्योंकि जल में वनस्पति नियमतः होती है। अतः वनस्पति मार्ग से जाना चाहिये। उसमें भी प्रत्येक वनस्पति पथ से जाए, साधारण वनस्पति से नहीं। प्रत्येक वनस्पति का अपेक्षाकृत स्थिर संहनन होता है।

दो मार्ग हों—जलजीवयुक्त पथ और त्रसजीवयुक्त पथ। जलपथ से नहीं, त्रसाकुल पथ से जाए। पहले स्थिरशरीरी जीवयुक्त, क्षुण्ण और निर्बाध पथ से जाए।

अग्निपथ और वायुपथ पर गमन असंभव है।

दो पथ हों—वनस्पति और त्रस। त्रस स्थिरसंहननी होते हैं, अतः विरल त्रसपथ से जाए, क्योंकि वनस्पति में नियमतः त्रस होते हैं। चार पथ हों—पृथ्वी, जल, वनस्पति और त्रस, तो किस पथ से जाए? इनका क्रम इस प्रकार है—पहले अचित्त पृथ्वी, फिर विरल त्रसमार्ग, फिर वनस्पति—ये सब न हों तो जलमार्ग से जाए।

४ मुनि की नौका-विहार-विधि

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्ज-माणे अंतरा से णावासंतरारिमे उदए सिया। सेज्जं पुण णावं जाणेज्जा—अस्संजाए भिक्खु-पडियाए किणेज्ज वा, पामिच्चेज्ज वा, णावाए वा णाव-परिणामं कट्टु थलाओ वा णावं जलंसि ओगाहेज्जा, जलाओ वा णावं थलंसि उक्कसेज्जा, पुण्णं वा णावं उरिसिच्चेज्जा, सण्णं वा णावं उष्णीलावेज्जा। तहप्यगारं णावं उड्डुगामिणिं वा, अहेगा-मिणिं वा, तिरियगामिणिं वा, परं जोयणमेराए अद्ध-जोयणमेराए वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा णो दुरुहेज्ज गमणाए ॥

.....पुव्वामेव तिरिच्छ-संपातिम णावं जाणेज्जा, जाणेत्ता से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा.....भंडगं पडिले-हेज्जा,.....एगाभोयं भंडगं करेज्जा.....ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जेज्जा, पमज्जेत्ता सागारं भत्तं.....पच्चक्खा-एत्ता एगं पायं जले किच्चा, एगं पायं थले किच्चा, तओ संजयामेव णावं दुरुहेज्जा ॥

.....णो णावाए पुरओ दुरुहेज्जा, णो णावाए मग्गओ दुरुहेज्जा, णो णावाए मज्झतो दुरुहेज्जा, णो बाहाओ पगिञ्झिय-पगिञ्झिय, अंगुलिए उवदंसिय-उवदंसिय, ओणमिय-ओणमिय, उण्णमिय-उण्णमिय णिञ्जाएज्जा ॥

.....परो सहसा बलसा बाहाहिं गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवेज्जा, तं णो सुमणे सिया, णो दुम्मणे सिया, णो उच्चावयं मणं णियच्छेज्जा, णो तेसिं बालाणं घाताए वहाए समुट्टेज्जा..... ॥

....उदगंसि पवमाणे णो हत्थेण हत्थं, पाएण पायं, काएण कायं आसाएज्जा..... ॥

.....णो उम्मग्ग-णिमग्गियं करेज्जा। मामेयं उदगं कण्णेसु वा, अच्छीसु वा. णवकंसि वा, मुहंसि वा परियावज्जेज्जा, तओ संजयामेव उदगंसि पवेज्जा ॥

(आचूला ३/१४-१६, २६-२८)

वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी एक गांव से दूसरे गांव परिव्रजन करे, बीच में नौका से तैरने जितना जल (जलमार्ग) आ जाये। वह भिक्षु नौका को जाने—कोई गृहस्थ भिक्षु के उद्देश्य से नौका को खरीदता है, उधार लेता है, नौका से नौका का परिवर्तन करता है, स्थल से नौका को जल में अवगाहित करता है, जल में से नौका को स्थल की ओर खींचता है, जल में भरी हुई नौका को खाली करता है, जल में निमग्न नौका को ऊपर उठाता है (बाहर निकालता है)। इस प्रकार की ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी अथवा तिर्यग्गामिनी नौका, जो उत्कृष्ट एक योजन अथवा अर्धयोजन की सीमा में चलती है, पार जाने के लिए उस नौका में एक बार या बार-बार न बैठे।

(यदि नौका से पार जाना हो तो) वह सर्वप्रथम तिर्यग्-गामिनी नौका को जाने, जानकर गृहस्थ से उसकी आज्ञा लेकर एकांत में चला जाये, भाण्ड-उपकरणों की प्रतिलेखना करे, उपकरणों को इकट्ठा करे (बांध ले), सिर से पैर तक शरीर का प्रमार्जन करे, प्रमार्जन कर साकार भक्तप्रत्याख्यान (सविकल्प अनशन) करे, प्रत्याख्यान कर एक पैर जल में कर, एक पैर स्थल में रखे, संयमपूर्वक नौका में चढ़े।

न नौका के अग्रभाग में बैठे, न नौका के पृष्ठभाग में बैठे, न नौका के मध्य भाग में बैठे, भुजाओं से (नौका के छोर को) पकड़-पकड़कर, अंगुलि से संकेत कर, नीचे झुक-झुककर, ऊपर उठ-उठकर (जल आदि को) अवधानपूर्वक न देखे।

(यदि) गृहस्थ सहसा बलपूर्वक भुजा से पकड़कर

नौका से जल में गिरा दे, वह न सुमनस्क हो, न दुर्मनस्क हो, मन में समता को धारण करे, मानसिक उतार-चढ़ाव को प्राप्त न हो, उन अज्ञानियों को मारने-पीटने के लिए प्रयत्न न करे। जल में उतरकर हाथ से हाथ का, पैर से पैर का और शरीर (अंगोपंग) से शरीर का स्पर्श न करे (जिससे जलकायिक जीवों को पीड़ा न हो), उन्मज्जन-निमज्जन न करे। यह जल में कान, आंख, नाक अथवा मुंह में न चला जाये (ऐसा न सोचे), संयमपूर्वक जल में प्लवन करे।

.....कुंभे दत्तिए तुंभे, णावा उडुवे य पण्णी य॥

एत्तो एगतरेणं तरियव्वं कारणंमि जातंमि ।.....

णवाणवे विभासा तु, भाविताभाविते ति या ।

तदण्णभाविए च्चेव, उल्लान्णोल्ले य मग्गणा ॥

असती य परियस्स, दुविधा तेणा तु सावए दुविधे ।

संघट्टण लेवुवरिं, दु जोयणा हाणि जा णावा ॥

.....एगो जले थलेगो, णिप्यगलण तीरमुस्सग्गो ॥

अस्सति गिहि णालियाए, आणक्खेतुं पुणो वि परियरणं ।

एगाभोग पडिग्गह, केई सव्वाणि ण य पुरतो ॥

ठाणतियं मोत्तूणं, उवउत्तो ठाति तत्थणाबाहे ।

दत्ति उडुवे तुंभेसु य, एस विही होति संतरणे ॥

एणं पायं जले काउं एणं थले । थलमिहागासं भण्णति

सामग्गसण्णाए ।.....उवउत्तो त्ति णमोक्कारपरायणो

सागारपच्चक्खाणं पच्चक्खाउ य ठाति । जया पुण पत्तो

तीरं तदा णो पुरतो उत्तरेज्जा.....ण य पिट्ठतो.....मज्जे

उत्तरियव्वं । (निभा १९१-१९५, १९८, १९९ चू)

मुनि कारण होने पर (अन्य मार्ग न होने पर) कुंभ से नदी पार करे, उसके अभाव में क्रमशः दृति, तुंब, उडुप, और पर्णी से तथा पर्णी के अभाव में नौका से जलसंतरण करे। कुंभ से नौका पर्यंत सब यान जल से भावित होने चाहिये।

मुनि यथाकृत—सहजरूप से नौका जा रही हो तो उसी से जाए। यथाकृत न हो तो साधु के निमित्त जाने वाली नौका से जाए। पुरानी नौका प्रत्यपायबहुल होती है, अतः नई नौका काम में ले। नौका उसी नदी आदि के जल से भावित होनी चाहिए। अभावित नौका से जलविराधना होती है। अन्य जल से भावित होने पर वह उस जल के लिए शस्त्र बन जाती

है। सूखी नौका में जलाकर्षण का भय रहता है। अतः आई नौका हो तो उसकी मार्गणा करे, उसी का प्रयोग करे।

नौकाउत्तरणस्थान से दो योजन तक स्थल हो तो स्थलपथ से जाए, नौका से नहीं। नदीकूर्पर आदि स्थल परिरय कहलाते हैं। दो योजन तक परिरय हो तो उससे जाए, नौका से नहीं। यदि उस पथ में द्विविध स्तेन (शरीरस्तेन, उपकरणस्तेन) या द्विविध श्वापद (सिंह-ब्याल) का भय हो, तो डेढ़ योजन तक संघट्ट विधि से जाए, नौका से नहीं। उसमें भी कठिनाई हो तो योजन तक लेप से जाए, उसके अभाव में अर्धयोजन तक लेपऊर्ध्व (नाभिप्रमाण जल) से जाए। यदि वह भी सदोष हो या निर्बाध न हो तब नौका से संतरण करे।

० संघट्टयतना—अर्ध जंघा प्रमाण जल में गमन के समय एक पैर जल में रखकर एक पैर स्थल यानी आकाश में रखे। तट पर पहुंचकर, पानी सूख जाने पर (वस्त्र और शरीर से जल बूंदें न गिरने पर) ईर्ष्याधिक कायोत्सर्ग करे।

यदि कोई उत्तरमाण गृहस्थ न हो तो नालिका (चार अंगुल अधिक आत्मप्रमाण दण्ड) ग्रहण कर प्रतिचरण करता हुआ परतीर पर पहुंचे—यह जंघातरण विधि है।

० नौसंतरण विधि—मात्रक और उपकरणों को एकत्र कर बंधन से बांधकर, प्रतिग्रह (पात्र) को पृथक् रखकर—सिक्कग को अधोमुख कर, सिर से पैर तक प्रमार्जन कर नौका पर चढ़े। कुछ आचार्य मानते हैं—मात्रक और पात्र—सब उपकरणों को एक साथ बांधे।

नौका में आगे न चढ़े, पीछे भी न चढ़े, नौका के मध्य में आरोहण करे। नौका में पुरतः देवता स्थान, मध्य में कूपक स्थान और पृष्ठतः तोरण—निर्यामक-स्थान होता है। इन तीनों स्थानों का वर्जन कर अनाबाध स्थान में स्थित हो जाए। नमस्कार मंत्र में उपयुक्त हो साकार (अपवाद सहित) अनशन करे।

जब नौका तट पर पहुंच जाए, तब न सबसे पहले उतरे, न सबसे पीछे उतरे, मध्य में उतरे। जलसंघट्टन न होने पर भी उत्तीर्ण होकर ईर्ष्याधिक कायोत्सर्ग करे।

दृति, उडुप और तुम्ब द्वारा संतरण की भी यही विधि है।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दग्गीरंसि च्चिट्ठिए वा
निसीइत्तए वा तुयट्ठिए वा निहाइत्तए वा पयलाइत्तए
वा.....आहारिएत्तए, उच्चारं वा पासवणं वा.....परिट्ठवेत्तए,
सञ्जायं वा करेत्तए धम्मजागरियं वा जागरित्तए काउस्सग्गं वा
ठाणं ठाइत्तए ॥ (क १/१९)

निर्ग्रथ और निर्ग्रथी नदी आदि के तट पर खड़े रहना, बैठना,
सोना, निद्रा लेना, खड़े-खड़े नौद लेना, आहार करना, मल-
मूत्र-श्लेष्म-सिंघाण का परिष्ठापन आदि क्रियाएं तथा स्वाध्याय,
धर्मजागरिका—ध्यान और कायोत्सर्ग नहीं कर सकते।

५. महानदी-संतरण की सीमा

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ पंच
महण्णवाओ महानइओ.....अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो
वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा, तं जहा—गंगा जउणा सरयू
कोसिया मही ॥.....एरावई कुणालाए जत्थ चक्किवा एगं पायं
जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा एवण्हं कप्पइ अंतो मासस्स
दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा ॥.....

.....उत्तरीतुं वा बाहु-जंघादिना सन्तरीतुं वा नावादिना...
'स्थले' आकाशे.....उत्तरीतुं लंघयितुं 'सन्तरीतुं' भूयः
प्रत्यागन्तुम् ॥..... (क ४/२९, ३० वृ)

एरवइ कुणालाए, वित्थिण्णा अद्धजोअणं वहति।
कप्पति तत्थ अपुण्णे, गंतुं जा वेरिसी अण्णा ॥

(बृभा ५६३९)

निर्ग्रथ और निर्ग्रथियों को इन पांच महार्णव (बहुउदक वाली
अथवा समुद्रपर्यंतगामिनी) महानदियों का महीने में दो बार या
तीन बार बाहु-जंघा आदि से उत्तरण तथा नौका आदि से संतरण
नहीं करना चाहिए, जैसे—गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका, मही।

कुणाला नगरी के निकट बहने वाली अर्ध योजन विस्तीर्ण,
जंघार्ध प्रमाण जल वाली ऐरावती अथवा वैसी अन्य नदी में
ऋतुबद्धकाल में मासकल्प पूर्ण हुए बिना ही दो बार या तीन बार,
एक पैर जल में रखकर, एक पैर स्थल—आकाश में रखकर
गमनागमन किया जा सकता है।

(पांच कारणों से महानदी-संतरण किया जा सकता है—

१. शरीर, उपकरण आदि के अपहरण का भय होने पर, २. दुर्भिक्ष

होने पर, ३. किसी के द्वारा व्यथित या प्रवाहित किए जाने पर, ४. बाढ़
आ जाने पर, ५. अनार्यों द्वारा उपद्रुत किए जाने पर।—स्था ५/९८)

* महीने में तीन उदकलेप लगाने वाला शबल। द्र चारित्र

परिणामक—आगमोक्त विषय में श्रद्धावान्। उत्सर्ग विधि
और अपवाद विधि का ज्ञाता। द्र अंतेवासी

परिमंथ—अवश्यकरणीय कार्य में व्याघात पैदा करने वाला।

- | |
|------------------------------------|
| १. परिमंथु का निर्वचन और पर्याय |
| २. द्रव्य-भाव परिमंथ |
| ३. परिमंथ के प्रकार |
| ४. कौकुचिक आदि परिमंथुओं का स्वरूप |

१. परिमंथु का निर्वचन और पर्याय

साधुसमाचारस्य परिः—सर्वतो मथन्ति—विलोड-
यन्तीति परिमन्थवः, उणादित्वादुप्रत्ययः। पाठान्तरेण परिमन्था
वा, व्याघातका इत्यर्थः। (क ६/१९ की वृ)

जो साधु-सामाचारी का परि—सर्वतः मंथन—विलोडन
(विनाश) करते हैं, वे परिमंथु—व्याघातक हैं। परिमंथु में उणादि
से उ प्रत्यय हुआ है। पाठांतर में परिमंथ शब्द भी है।

.....पलिमंथो.....मंथिज्जति संजमो जेण ॥
(व्यभा ३३९३)

जो संयम को क्षति पहुंचाता है, वह परिमंथ है।

पलिमंथे.....,णामा एगट्ठिया इमे पंच।

पलिमंथो वक्खेवो, वक्खोड विणास विग्घो य ॥

(बृभा ६३१४)

परिमंथ के पांच पर्यायवाची नाम हैं—परिमंथ, व्याक्षेप,
व्याखोट, विनाश और विघ्न।

२. द्रव्य-भाव परिमंथ

करणे अधिकरणम्मि य, कारग कम्मे य दव्वपलिमंथो।

एमेव य भावम्मि वि, चउसु वि ठाणोसु जीवे तु ॥

दव्वम्मि मंथितो खलु, तेणं मंथिज्जए जहा दधियं।

दधितुल्लो खलु कप्पो, मंथिज्जति कोकुआदीहिं ॥

(बृभा ६३१५, ६३१६)

द्रव्य परिमंथ चार स्थानों में होता है—

- ० करण—साधकतम मन्थान आदि से दही आदि मथा जाता है।
- ० अधिकरण—जिस मंथनी में दही मथा जाता है।
- ० कर्ता—जो पुरुष या स्त्री दही का बिलौना करती है।
- ० कर्म—दही-मन्थन से जो नवनीत आदि निकलता है।

इसी प्रकार भावविषयक परिमंथ चार स्थानों में होता है—

- ० करण—जिस चपलता आदि की प्रवृत्ति से संयम मथा जाता है।
- ० अधिकरण—जिस आत्मा में वह मथा जाता है।
- ० कर्ता—जो साधु संयम का विनाश करता है।
- ० कर्म—मध्यमान संयम असंयम में परिणत हो जाता है।

यह परिमंथ जीव से अनन्य होने के कारण जीव ही है।

मन्थान द्रव्यपरिमंथ है। उससे जैसे दही मथा जाता है, वैसे ही कौकुचिक आदि से दधितुल्य साधुसमाचार विनष्ट होता है।

३. परिमंथ के प्रकार

छ कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ता, तं जहा—कोक्कुइए संजमस्स पलिमंथू, मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू, चक्खुलोलुए इरियावहियाए पलिमंथू, तित्तिणए एसणागोयरस्स पलिमंथू, इच्छालोभिए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू, भिज्जानियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू। सव्वत्थ भगवया अणियाणया पसत्था ॥

....मुक्तिः—निष्परिग्रहत्वम् अलोभतेत्यर्थः।.... मोक्ष-मार्गस्य सम्यग्दर्शनादिरूपस्य।.... (क ६/१९ वृ)

साधुसमाचार के छह परिमंथु हैं—

१. कौकुचित—चपलता करने वाला संयम का परिमंथु है।
२. मौखरिक—वाचाल सत्य वचन का परिमंथु है।
३. चक्षुलोलुप—दृष्टिआसक्त ईर्यापथिकी का परिमंथु है।
४. तित्तिणक—यह भिक्षा की एषणा का परिमंथु है।
५. इच्छालोभिक—अतिलोभी मुक्तिमार्ग/निलोभता का परिमंथु है।
६. भिध्यानिदानकरण—आसक्तभाव से किया जाने वाला पौद्गलिक सुखों का संकल्प सम्यग्दर्शन आदि रूप मोक्षमार्ग का परिमंथु है। भगवान् ने अनिदानता को सर्वत्र प्रशस्त कहा है।
४. कौकुचिक आदि परिमंथुओं का स्वरूप ठाणे सरीर भासा, तिविधो पुण कुक्कुओ समासेणं।.... आवडइ खंभकुट्टे, अभिक्खणं भमति जंतए चेव।

कमफंदण आउंटण, ण यावि बद्धासणो ठाणे ॥
छेलिय मुहवाइत्ते, जंपति य तहा जहा परो हसति।
कुणइ य रुए बहुविधे, वग्घाडिय-देसभासाए ॥
मुहरिस्स गोण्णणामं, आवहति अरिं मुहेण भासंतो।....
आलोएंतो वच्चति, थूभादीणि व कहेति वा धम्मं।
परियट्टणाऽणुपेहण, न यावि पंथम्मि उवउत्तो ॥
तित्तिणिएँ पुव्वभणिते, इच्छालोभे य उवहिमतिरेगे।....

(बृभा ६३१९, ६३२१, ६३२४, ६३२७, ६३३०, ६३३२)

१. कौकुचिक परिमंथु—इसके तीन प्रकार हैं—स्थान, शरीर, भाषा।
- ० स्थान कौकुचिक—खंभे या दीवार पर चढ़ना, यन्त्रवत् निरंतर घूमना, पैरों का संकोच-विकोच करना, स्थिरता से नहीं बैठना।
- ० शरीर कौकुचिक—हाथ, गोफणा, धनुष, पैर आदि से फत्थर आदि फेंकना, भौंह, दाढ़ी, पुत आदि अवयवों को नर्तकी की भांति विकम्पित करना शरीर कौकुचिक है।

० भाषा कौकुचिक—सीटी की आवाज करना, मुख से वाद्य की तरह ध्वनि करना, दूसरों को हंसाने वाले वचन बोलना, मयूर, हंस, कोयल आदि की आवाज में बोलना, उपहासकारी ध्वनि करना, मालवी, महाराष्ट्री आदि देशी भाषाओं में इस लहजे से बोलना कि श्रोता हास्यरस में डूब जाएं—यह सब भाषा कौकुचिक है।

२. मौखरिक—यह गुणनिष्पन्न नाम है। अत्यधिक बोलने के दोष से वह शत्रुओं को पैदा कर लेता है। यह सत्यभाषा का परिमंथु है।

३. चक्षुलोल—मार्ग में स्तूप, देवकुल, आराम आदि को देखते हुए या धर्मकथा, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा करते हुए चलना, गतिक्रिया में उपयुक्त नहीं होना।

४. तित्तिणिक—आहार, उपधि आदि के अनुकूल नहीं मिलने पर अपलाप करना। (द्र छेदसूत्र)

५. इच्छालोभ—लोभ से अभिभूत होकर गणना और प्रमाण से अतिरिक्त उपधि रखना।

६. निदानकरण—पौद्गलिक सुखप्राप्ति का संकल्प। (द्र निदान)

परिषद्—जिज्ञासुओं अथवा श्रोताओं का समुदाय।

१. परिषद् के प्रकार : ज्ञ-अज्ञ-दुर्विदग्ध
२. परिषद् के प्रकार : लौकिक-लोकोत्तर
३. लौकिक परिषद् के प्रकार

४. लोकोत्तर परिषद् के प्रकार

५. सिंह-वृषभ-मृग-परिषद्

* यात्रापथ में वृषभ के कर्तव्य

द्र विहार

* चतुर-षट्-अष्टकर्णा परिषद्

द्र आलोचना

६. बाह्य-आभ्यन्तर परिषद्

७. भीतपरिषद्

१. परिषद् के प्रकार : ज्ञ-अज्ञ-दुर्विदग्ध

जाणंति या अजाणंति या य तह दुव्वियड्डिया चेव ।
तिविहा य होइ परिसा, तीसे नाणत्तंगं वोच्छं ॥
गुण-दोसविसेसन्नु, अणभिग्गहिया य कुस्सुडमतेसु ।
सा खलु जाणगपरिसा, गुणतत्तिल्ला अगुणवज्जा ॥
खीरमिव रायहंसा, जे घोडुंति उ गुणे गुणसमिद्धा ।
दोसे वि य छडुंता, ते वसभा धीरपुरिस त्ति ॥
जे होंति पगयमुद्धा, मिगछावग-सीह कुक्कुरगभूया ।
रयणमिव असंठविद्या, सुहसण्णाप्या गुणसमिद्धा ॥
जे खलु अभाविया कुस्सुतीहिं न य ससमए गहियसारा ।
अकिलेसकरा सा खलु, वयरं छक्कोडिसुद्धं वा ॥
किंचिम्मत्तंगाही, पल्लवगाही य तुरियगाही य ।
दुवियड्डगा उ एसा, भणिया परिसा भवे तिविहा ॥
नाऊण किंचि अन्नस्स, जाणियव्वे न देति ओगासं ।
न य निज्जितो वि लज्जइ, इच्छइ य जयं गलरवेण ॥
न य कत्थइ निम्मातो, ण य पुच्छइ परिभवस्स दोसेण ।
वत्थी व वायपुण्णो, फुट्टइ गामिल्लगवियड्डो ॥
दुरहियविज्जो पच्चंतनिवासो, वावदूक कीकाको ।
खलिकरण भोइपुरतो, लोगुत्तर पेढियागीते ॥

(बृभा ३६४-३७२)

परिषद् के तीन प्रकार हैं—

१. ज्ञपरिषद्—गुणों और दोषों को जानने वाली, कुतीर्थिकों के सिद्धांतों से अनभिगृहीत, गुणों में यत्नशील और अगुणों का वर्जन करने वाली परिषद् ज्ञपरिषद् कहलाती है। इसके सदस्य गुणों से समृद्ध तथा दोषों का परित्याग करने वाले होते हैं। जैसे राजहंस क्षीर का आस्वादन करते हैं, वैसे ही जो गुणों का आस्वादन करते हैं, वे गीतार्थ धीरपुरुष अधिकृत अध्ययन के योग्य होते हैं।

२. अज्ञपरिषद्—जो प्रकृति से भद्र हैं अर्थात् जिनमें मृगशावक, सिंहशावक, कुक्कुरशावक जैसा भोलापन है, जो असंस्थापित

रत्नों के तुल्य हैं, जो सुखप्रज्ञापनीय तथा विनय आदि गुणों से समृद्ध हैं, जो कुसिद्धांतों से अभावित हैं और स्व-सिद्धांतों के सार को भी जिन्होंने ग्रहण नहीं किया है, जो अक्लेशकारी हैं तथा षट्कोटिशुद्ध (छहों कोणों से परिशुद्ध) वज्र की तरह गुणों के निधान हैं, वे अज्ञपरिषद् के सदस्य हैं।

३. दुर्विदग्ध परिषद्—इसके तीन प्रकार हैं—

१. किंचित्मात्रग्राही—इस परिषद् का व्यक्ति कुछ जानता है और उसी के आधार पर बोलता है, दूसरों को बोलने का अवकाश नहीं देता। वह पराजय से भी लज्जित नहीं होता और उच्च स्वर से बोलकर विजय चाहता है।

२. पल्लवग्राही—जो किसी भी विषय में परिपूर्ण नहीं है, वह अनेक विषयों के अल्पज्ञान के कारण ग्रामीणों में विद्वान् माना जाता है। पराजित होने के भय से वह किसी को कुछ पूछता नहीं और अपने पांडित्य के गर्व से पवन-पूरित मशक की भांति फूला नहीं समाता। यह पल्लवग्राही परिषद् है।

३. त्वरितग्राही—अवसर पर अंतसंत बोलकर अपना पांडित्य प्रकट करने वाली परिषद्। एक व्यक्ति ने व्याकरण के कुछ सूत्रों को याद कर स्वयं को वैयाकरण के रूप में उपस्थापित कर दिया। एक बार एक पंडित वहां आया। दोनों मिले। ग्रामवासी वैयाकरण ने पूछा—काग को क्या कहा जाता है? उसने कहा—काकः। दुर्विदग्ध पंडित ने कहा—सारे लोग काक ही कहते हैं फिर व्याकरण का क्या प्रयोजन? मैं तो 'क्रीकाक' कहता हूं।

* वाचनायोग्य परिषद्, योग्य-अयोग्य श्रोता द्र श्रीआको १ परिषद्

* बारह प्रकार की परिषद् द्र श्रीआको १ समवसरण

२. परिषद् के प्रकार : लौकिक-लोकोत्तर

पूरंती छत्तंतिय, बुद्धी मंती रहस्सिया चेव ।
पंचविहा खलु परिसा, लोइय लोउत्तरा चेव ॥

(बृभा ३७८)

परिषद् के दो प्रकार हैं—लौकिक परिषद् और लोकोत्तर परिषद्। इन दोनों के पांच-पांच प्रकार हैं—पूरयन्ती, छत्रवती (छत्रांतिका), बुद्धि, मंत्री और राहस्यिकी।

३. लौकिक परिषद् के प्रकार

पूरंतिया महाणो, छत्तविदिन्ना उ ईसरा बितिया ।
समयकुसला उ मंती, लोइय तह रोहिणिज्जा या ॥

नीहम्मियम्मि पूरति, रण्णो परिसा न जा धरमंतीति ।
जे पुण छत्तविदिन्ना, अयंति ते बाहिरं सालं ॥
जे लोग-वेय-समएहिं कोविया तेहिं पत्थिवो सहिओ ।
समयमतीतो परिच्छइ, परप्पवायागमे चेव ॥
जे रायसत्थकुसला, अतक्कुलीया हिता परिणया य ।
माइकुलीया वसिया, मंतेति निवो रहे तेहिं ॥
कुविया तोसेयव्वा, रयस्सला, वारअण्णमासत्ता ।
छण्ण पगासे य रहे, मंतयते रोहिणिज्जेहिं ॥
याऽपि कन्धा यौवनप्राप्ता तामपि राज्ञः कथयन्ति ।

(बृभा ३७९-३८३ वृ)

लौकिक परिषद् के पांच प्रकार हैं—

१. पूरयन्तिका परिषद्—महाजनों की परिषद्। राजा प्रस्थान करता है और जब तक घर नहीं लौटता, तब तक जो महान् जन राजा का अनुगमन करते हैं, वह परिषद्।
२. छत्रान्तिका परिषद्—छत्रप्राप्त श्रेष्ठ पुरुषों की परिषद्। राजा ने जिन्हें छत्र प्रदान किया है, वे राजा तथा योद्धा और भोजिक (ग्राम का मुखिया) बाह्य शाला में साथ-साथ आते हैं, शेष को रोक दिया जाता है, वह परिषद्।
३. बुद्धि परिषद्—जो लौकिक, वैदिक और आगमिक शास्त्रों में निपुण हैं, अवसर आने पर राजा उनको साथ लेकर पर-प्रवादियों के आगमों की परीक्षा करता है, वह बुद्धि परिषद् है।
४. मंत्री परिषद्—जो राजनीति शास्त्र (कौटिल्य आदि) में कुशल हैं, जो राजा के पितृकुल-संबंध सं संबद्ध हैं, जो राज्य के हितचिन्तक हैं, वय से परिणत हैं, मातृकुलीन (राजा के मातृकुल से संबंधित) हैं, राजा के अधीन हैं तथा जिनके साथ राजा एकान्त में मंत्रणा करता है, वह मंत्री परिषद् है।
५. रोहिणीया (राहस्यकी) परिषद्—जो कुपित रानी को संतुष्ट करने के लिए राजा के द्वारा भेजी जाती है, जो ऋतुस्नात रानी के क्रम के विषय में निवेदन करती है, राजकन्या विवाह योग्य है—इसकी सूचना देती है, अमुक रानी अन्य व्यक्ति में आसक्त है—इसकी सूचना देती है, जो गुप्त और प्रकट रतिकार्यों के विषय में राजा के साथ मंत्रणा करती है, वह रोहिणीया परिषद् है।

४. लोकोत्तर परिषद् के प्रकार

आवासगमादी या, सुत्तकड पुरंतिया भवे परिसा ।
दसमादि उवरिमसुया, हवति उ छत्तंतिया परिसा ॥

लोइय-वेइय-सामाइएसु सत्थेसु जे समोगाढा ।
ससमय-परसमयविमारया य कुसला य बुद्धिमती ॥
आसनपतीभत्तं, खेयधरिस्समजतो तहा सत्थे ।
कहमुत्तरं च दाहिसि, अमुगो किर आगतो वादी ॥
पुव्वं पच्छा जेहिं, सिंगणादितविही समणुभूतो ।
लोए वेदे समए, कयागमा मंतिपरिसा उ ॥
गिहवासे अत्थसत्थेहिं कोविया केइ समणभावम्मि ।
कज्जेसु सिंगभूयं, तु सिंगनादिं भवे कज्जं ॥
... भत्तोवहिवोच्छेदे, अभिवायण-बंध-घायादी ॥
वितहं ववहरमाणं, सत्थेण वियाणतो निहोडेइ ।
अम्हं सपक्खदंडो, न चेरिसो दिक्खिए दंडो ॥
सल्लुद्धरणे समणस्स चाउकण्णा रहस्सिया परिसा ।
अज्जाणं चउकण्णा, छक्कण्णा अट्टकण्णा वा ॥
(बृभा ३८४-३९१)

लोकोत्तर परिषद् के पांच प्रकार हैं—

१. पूरयन्तिका परिषद्—आवश्यक सूत्र से सूत्रकृतांग पर्यंत आगमों का अध्ययन करने वाली परिषद्।
२. छत्रान्तिका परिषद्—दशाश्रुतस्कंध आदि उपरितन आगमों का अध्ययन करने वाली परिषद्। पारिणामिक शिष्य ही इसमें प्रवेश पा सकते हैं।
३. बुद्धिमती परिषद्—जिन्होंने लौकिक, वैदिक और सामयिक (आगमिक) शास्त्रों का गहराई से अवगाहन किया है, जो स्वसमय और परसमय में विशारद हैं, कुशल हैं, वह परिषद्।

बुद्धि परिषद् के साथ निरंतर श्रम करने से आसनप्रतिभत्व (तत्काल उत्तर देने का सामर्थ्य) उत्पन्न होता है। शास्त्रों के अभ्यास में जो कष्ट और श्रम होता है, उससे विजय होती है। बुद्धि परिषद् यह सिखाती है—अमुक वादी आ गया तो तुम बाद करते समय उसको उत्तर कैसे दोगे ?

४. मंत्री परिषद्—जिसने गृहवास और श्रमणभाव में श्रृंगनादित विधियों का अनुभव किया है, जो लौकिक, वैदिक और सामयिक शास्त्रों का ज्ञाता है, गृहवास में जो अर्थशास्त्र में कोविद था तथा श्रमणभाव में जो स्वसमय और परसमय में कोविद है, वह परिषद्।

सब कार्यों में जो श्रृंगभूत (प्रधान) कार्य होता है, उसे श्रृंगनादित कार्य कहा जाता है। जैसे—

० मुनियों के आहार और उपधि का व्यवच्छेद होता हो।

० श्रमणविरोधी कहे—ब्राह्मणों का अभिवादन करो, वंदना करो।
० मुनियों को बंधन में बांधे, पीटे, देश से निष्कासित करे अथवा राजा प्रद्विष्ट हो जाए। इन श्रृंगनादित कार्यों में जो मुनि संघ की सुरक्षाविधि का अनुभूत ज्ञाता है, वह मंत्री परिषद् का सदस्य है।

राजा द्वारा असम्यक् व्यवहार किए जाने पर शास्त्रज्ञ मुनि शास्त्रीय प्रमाणों से सरलता से उसे रोक देता है—राजन्! मुनि को संघ द्वारा दंड दिया जाता है। राजा उसे दंडित नहीं कर सकता तथा दीक्षित को इस प्रकार का दंड नहीं दिया जा सकता।

५. राहस्यिकी परिषद्—माया, निदान तथा मिथ्यादर्शन—इन तीनों शक्तियों के उद्घरण अथवा अतिचारों की शुद्धि हेतु आचार्य के पास आलोचना करने वाले श्रमण के लिए राहस्यिकी परिषद् होती है। साधु के लिए वह चतुष्कर्णा तथा साध्वी के लिए चतुष्कर्णा, षट्कर्णा और अष्टकर्णा परिषद् होती है।

५. सिंह-वृषभ-मृग परिषद्

कडजोगि सीहपरिसा, गीयत्थ थिरा य वसभपरिसा उ।
सुत्तकडमगीयत्था, मिगपरिसा होइ नायव्वा ॥

कृतयोगिनो नाम गीतार्थाः परं न तथा समर्थाः.....स्थिराः

बलवन्तः.....परमगीतार्थाः ।

(बृभा २८९६ वृ)

परिषद् के तीन प्रकार हैं—

१. सिंह परिषद्—कृतयोगी—गीतार्थ परन्तु शरीर बल से न्यून।
२. वृषभ परिषद्—समर्थ गीतार्थ।
३. मृग परिषद्—कृतसूत्र—सूत्रों को पढ़ने वाले किन्तु अगीतार्थ।

६. बाह्य-आभ्यन्तर परिषद्

.....बाहिरिया परिसा भवति, तं जहा—दासेति वा पेसेति वा भतएति वा भाइल्लेति वा कम्मरएति वा..... अब्भितरिया परिसा भवति, तं जहा—माताति वा पिताति वा भायाति वा भगिणीति वा भज्जाति वा धूयाति वा सुण्हाति वा ।..... (दशा ६/३)

बाह्य परिषद्—जैसे—दास, प्रेष्य, भूतक, भागीदार, कर्मकर आदि।
आभ्यन्तर परिषद्—माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी, पुत्री, पुत्रवधू।

६. भीतपरिषद्

भीता—चकिता पर्षद् यस्य स भीतपर्षद्, आज्ञैकसारतया यस्य भुकुटिमात्रमपि दृष्ट्वा परिवारः सर्वोऽपि भयेन कम्प-

मानस्तिष्ठति न च क्वचिदन्याये प्रवृत्तिं करोति।

(बृभा २०५८ की वृ)

जिससे परिषद् डरती है—परिवार में जिस व्यक्ति की आज्ञा की अखंड परिपालना होती है, जिसकी भृकुटी मात्र को देखकर सारा ही परिवार भय से कांप उठता है और किसी भी अन्यायपूर्ण कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, वह व्यक्ति भीतपरिषद् है।

परिहारतप—वह प्रायश्चित्त, जिसमें परस्पर आलाप-संलाप आदि दस पदों का परिहार किया जाता है।

१. परिहारतप और पारिहारिक

२. परिहारतप के स्थान

* परिहारस्थान ही प्रायश्चित्त स्थान द्र प्रायश्चित्त

३. परिहारतप के अयोग्य-योग्य

४. परिहारतप की योग्यता के परीक्षण बिन्दु

५. तपवहन का उचित समय

६. परिहार-ग्रहणविधि : आलाप आदि पदों का वर्जन

७. संभोज-वर्जन की अवधि और उसका हेतु

८. कल्पस्थिति और अनुपारिहारिक की सामाचारी

९. परिहारी-अपरिहारी की पात्र-सामाचारी

१०. पारिहारिक के वैयावृत्त्य का विधान

११. परिहारी : आहारवितरण-विकृतिसेवन-अनुज्ञा

१२. पारिहारिक द्वारा गच्छ की सेवा

* संघ-कार्य की प्रधानता

द्र संघ

१३. तपवहन काल में आचार्य द्वारा वैयावृत्त्य

१४. पारिहारिक की क्षमताएं

१५. परिहारतप का निक्षेप-द्रोष

१६. पारिहारिक : मार्ग में रुकने के कारण

१७. वादी पारिहारिक को अल्प प्रायश्चित्त

१८. शुद्धतप और परिहारतप में अन्तर

१९. परिहार और छेद

* अनवस्थाप्य.....परिहारतपवहन

द्र पारांचित्त

१. परिहारतप और पारिहारिक

पञ्चकादिषु भिन्नमासान्तेषु परिहारतपो न भवति, किन्तु मासादिषु।

(व्यभा ५९८ की वृ)

पांच अहोरात्र यावत् भिन्न मास प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना करने पर परिहारतप प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता, किन्तु मास, दो मास आदि स्थानों में वह दिया जाता है।

**प्रायश्चित्तप्रणावण्णो अपरिहारिओ, आवण्णो मासाति-
जाव-छम्मासियं सो परिहारिओ।** (नि ४/११८ की चू)

जो एक मासिक यावत् छहमासिक प्रायश्चित्तसमापन है, वह पारिहारिक है। जिसे प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं है, वह अपारिहारिक है।

२. परिहार तप के स्थान

असरिसपक्खिगठविते, परिहारो।
.....काऊण व तेगिच्छं, सातिज्जियआगते.....॥
अहवा गणस्स अप्यत्तियं तु ठावेति होति परिहारो।.....
(व्यभा १३३४, १३३५)

परिहारतप प्रायश्चित्त प्राप्ति के कुछ स्थान ये हैं—

- ० कुल और श्रुत से असदृश पक्ष वाले मुनि को आचार्य बनाना।
 - ० चिकित्सा काल में मनोज्ञ आहार का आसक्ति से सेवन करना।
 - ० गण के द्वारा असम्मत शिष्य को आचार्य पद पर नियुक्त करना।
- जो गण के लिए अप्रतीतिकर अयोग्य शिष्य को स्वेच्छा से आचार्य बनाता है, वह चतुर्गुरु परिहार तप का भागी होता है।

**निष्कारणपडिसेवी, अजयणकारी व कारणे साहू।
अदुआ चिअत्तकिच्चे, परिहारं पाउणे.....॥**
(बृभा ६०३३)

निष्कारण प्रतिसेवना करने वाला, कारण होने पर अयतना से प्रतिसेवना करने वाला, स्वस्थ हो जाने पर भी ग्रक्षण आदि क्रियाएं उसी रूप में करने वाला परिहारतप को प्राप्त करता है।

३. परिहार तप के अयोग्य-योग्य

**सुद्धतवो अज्जाणं, ऽगीयत्थे दुब्बले असंघयणे।
धिति-बलिते य समन्नागत सब्बेसिं पि परिहारो॥**
(व्यभा ५४५)

परिहारतप प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी जिन्हें परिहारतप नहीं दिया जाता, शुद्ध तप दिया जाता है, वे ये हैं—आर्या,

अगीतार्थ, धृति से दुर्बल और प्रथम तीन संहननों (वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच) से विकल। जो धृतिसम्पन्न, संहननसम्पन्न और गीतार्थता आदि गुणों से सम्पन्न हैं, उन्हें यदि परिहारतप प्राप्त हो तो नियमतः वही देना चाहिए।

४. परिहारतप की योग्यता के परीक्षण बिन्दु

को भन्ते! परियाओ, सुत्तत्थाभिग्गहो तवोकम्मं।...
सगणम्मि नत्थि पुच्छा, अन्नगणा आगतं तु जं जाणे।
अण्णातं पुण पुच्छे, परिहारतवस्स जोग्गट्ठा॥
गीतमगीतो गीतो, अहं ति किं वत्थु कासवसि जोग्गो।
अविगीते ति य भणिते, थिरमथिर तवे य कयजोग्गो॥
गिहिसामन्ने य तहा, परियाओ दुविह होति नायव्वो।
इगुतीसा वीसा वा, जहन्न उक्कोस देसूणा॥
नवमस्स ततियवत्थु, जहन्न उक्कोस ऊणगा दसओ।
सुत्तत्थाभिग्गहा पुण, दव्वादि तवो रयणमादी॥
(व्यभा ५३६-५४०)

जिसे परिहार तप प्रायश्चित्त दिया जाता है, उसका पृच्छा, पर्याय, सूत्रार्थ आदि बिंदुओं से परीक्षण किया जाता है।

- ० पृच्छा—अपने गण का मुनि परिचित ही होता है, इसलिए उससे पृच्छा नहीं की जाती। दूसरे गण से समागत मुनि की गीतार्थता आदि यदि आकार और इंगित से जान ली जाती है, तो उसकी भी पृच्छा नहीं की जाती। जो अपरिचित आंगंतुक साधु है, उससे पूछा जाता है—तुम गीतार्थ हो या अगीतार्थ? वह कहे कि मैं गीतार्थ हूँ तो पूछा जाता है—तुम आचार्य हो अथवा सामान्य साधु? तुम किस तप को करने में समर्थ हो? धृति-संहनन से स्थिर हो या अस्थिर (दुर्बल)? तपस्या में कृतयोग (कर्कश तप से भावित) हो या अकृतयोग? यदि वह कृतयोग हो तो उसे परिहार तप और अकृतयोग हो तो शुद्ध तप देना चाहिए।

० पर्याय—जन्मपर्याय जघन्यतः उनतीस वर्ष तथा श्रमणपर्याय बीस वर्ष, उत्कृष्टतः दोनों ही पर्याय देशोन पूर्वकोटि हो सकते हैं।

० सूत्रार्थ—जघन्यतः नौवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु, उत्कृष्टतः कुछ कम दस पूर्व।

० अभिग्रह—भिक्षाचर्या आदि में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से संबंधित अभिग्रह करने वाला।

० तपःकर्म—रत्नावलि, कनकावलि आदि तपःकर्म से भावित।

५. तपवहन का उचित समय

गिम्हाणं आवण्णो, चउसु वि वासासु देति आयरिया ।.....
गुणा ततो वासो ॥
 वासासू.....बलिओ कालो चिरं च ठायव्वं ।.....
 (व्यभा १३३८-१३४०)

आचार्य ग्रीष्म और शीतकाल में प्राप्त परिहार तप का वहन वर्षाकाल के चारों मासों में करवाते हैं क्योंकि यह काल तपस्या आदि के लिए गुणकारी है। वर्षाऋतु में काल की स्निग्धता तथा एक स्थान पर लम्बे प्रवास के कारण तप का वहन सुखपूर्वक होता है।

६. परिहार-ग्रहणविधि : आलाप आदि षट्ठो का वर्जन

....अगडे नदी य राया, दिट्ठो भयआसत्थो ॥
 निरुवस्सगनिमित्तं, भयजणणट्ठाय सेसगाणं च ।
 तस्सऽप्पणो य गुरुणो, य साहए होति पडिवत्ती ॥
 कप्पट्ठितो अहं ते, अणुपरिहारी य एस ते गीतो ।
 पुट्ठिव कतपरिहारो, तस्सऽसत्तितरो वि दढदेहो ॥
 एस तवं पडिवज्जति, न किंचि आलवति मा य आलवह ।
 अत्तट्ठिचिंतगस्सा, वाघातो भे ण कायव्वो ॥
 आलावण पडिपुच्छण, परियट्ठुट्ठाय वंदणग मत्ते ।
 पडिलेहण संघाडग, भत्तदाण संभुंजणा चेव ॥
 (व्यभा ५४६-५५०)

कदाचित् पारिहारिक भयभीत हो जाए कि मैं इस उग्र तप का वहन कैसे करूंगा, तो गुरु कृप आदि के दृष्टांत से उसे आश्वस्त कर देते हैं। गुरु कहते हैं—कोई कूप में गिर जाता है या नदी में बह जाता है तो तटस्थ व्यक्ति उसे आश्वस्त करते हुए कहते हैं—तुम डरो मत। हम तुम्हें निकाल देंगे। देखो, हम रज्जु ले आए हैं। इस प्रकार आश्वस्त होने पर वह निर्भय हो जाता है। कोई राजा कुपित हो, किसी को मृत्युदंड देता है तो अन्य व्यक्ति आश्वस्त करते हुए कहते हैं—डरो मत। हम राजा से प्रार्थना करेंगे। राजा अन्याय नहीं करेगा। वह अभय हो जाता है।

गुरु पूर्व या उत्तर अथवा चरन्ती दिशा के अभिमुख होते हैं, पारिहारिक शिष्य गुरु के वाम पार्श्व में कुछ पीछे की ओर स्थित होता है। वे दोनों कहते हैं—'परिहार तप स्वीकार कराने (करने) के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ।' कायोत्सर्ग के दो हेतु हैं—

१. परिहारतप की निर्विघ्न समाप्ति के लिए।

२. अन्य साधुओं में भय पैदा करने के लिए। यथा—अमुक साधु ने ऐसी प्रतिसेवना की है, जिससे इसे महाघोर परिहारतप दिया गया है, अतः हमें ऐसे आपत्तिस्थान से प्रयत्नपूर्वक बचना है।

पच्चीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग कर नमस्कारमंत्र से उसे पूरा कर चतुर्विंशतिस्तव का उच्चारण करते हैं। तत्पश्चात् परिहारतप प्रतिपत्ता तथा गुरु के अनुकूल शुभ तिथि-करण-मुहूर्त, शुभ ताराबल और शुभ चन्द्रबल में परिहारतप की प्रतिपत्ति होती है।

गुरु उसे कहते हैं—तुम्हारी कल्पपरिहार-समाप्ति पर्यन्त मैं तुम्हारे लिए कल्पस्थित हूँ (वंदना, वाचना आदि के लिए कल्पभाव में स्थित हूँ, परिहार्य नहीं हूँ, शेष साधु परिहार्य हैं)। यह गीतार्थ साधु तुम्हारा अनुपरिहारी (भिक्षा आदि के लिए परिहारी के पीछे-पीछे जाने वाला) है। यह कृतपरिहार होने से सकल सामाचारी का ज्ञाता है। पूर्व कृतपरिहार के अभाव में अन्य अकृतपरिहार गीतार्थ को अनुपरिहारी के रूप में स्थापित किया जाता है। वह दृढ़ संहनन वाला होता है। तत्पश्चात् आचार्य सबालवृद्ध गच्छ को आमन्त्रित कर आलाप आदि दस वर्जनीय षट्ठो को बताते हैं—

- ० यह साधु परिहारतप स्वीकार कर चुका है। यह किसी से बातचीत नहीं करेगा। तुम लोग भी इसके साथ आलाप-संलाप मत करना। यह आत्मार्थचिन्तक है—अपने लिए ही भिक्षा आदि की चिन्ता करेगा अथवा आत्मशोधन का चिन्तन करेगा। इसकी साधना में किसी प्रकार का व्याघात मत करना।
- ० यह पारिहारिक सूत्र-अर्थ से संबंधित कोई भी प्रश्न तुमसे नहीं पूछेगा और न ही तुम इसे कुछ पूछ सकोगे।
- ० यह तुम्हारे साथ सूत्रार्थ-परिवर्तना नहीं करेगा, तुम भी इसके साथ परिवर्तना नहीं करोगे।
- ० न यह तुम्हें काल-वेला में उठायेगा, न तुम इसे उठाओगे।
- ० न यह तुम्हें वंदना करेगा, न तुम लोग इसे वंदना करोगे।
- ० न यह तुम्हें मात्रक लाकर देगा, न तुम इसे दोगे।
- ० यह तुम्हारे किसी भी उपकरण की प्रतिलेखना नहीं करेगा, तुम भी इसकी नहीं करोगे।
- ० इससे तुम्हारा और तुमसे इसका संघाटक नहीं होगा।
- ० न यह तुम्हें भक्त-पान लाकर देगा, न तुम इसको दोगे।
- ० न यह तुम्हारे साथ खायेगा, न तुम इसके साथ खाओगे।

आलापन, प्रतिपृच्छा, परिवर्तना, उत्थान, वंदन, मात्रकानयन, प्रतिलेखन, संघाटक, भक्तदान और सहभोजन—इन दस स्थानों से गच्छ उसका और वह गच्छ का परिहार करता है।

जे भिक्खू अपरिहारिणं परिहारियं बूया—‘एहि अज्जो! तुमं च अहं च एगओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता तओ पच्छा पत्तेयं-पत्तेयं भोक्खामो वा पाहामो वा’—जे तं एवं वदति……आवज्जइ मासियं परिहारद्वणं उग्घातियं ॥ (नि ४/११८)

जो अपारिहारिक भिक्षु पारिहारिक को कहता है—आओ आर्य! तुम और मैं एक साथ (भिक्षार्थ गमन कर) अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर तत्पश्चात् पृथक्-पृथक् खाएंगे, पीएंगे—इस प्रकार कहने वाले को लघुमास परिहारस्थान प्राप्त होता है।

७. संभोज-वर्जन की अवधि और उसका हेतु

बहवे परिहारिया बहवे अपरिहारिया इच्छेज्जा एगयओ एगमासं वा दुमासं वा तिमासं वा चउमासं वा पंचमासं वा छम्मासं वा वत्थए । ते अण्णमण्णं संभुंजंति, अण्णमण्णं नो संभुंजंति मासं, तओ पच्छा सव्वे वि एगओ संभुंजंति ॥

पणगं पणगं मासे, वज्जेज्जति मास छण्हमासाणं ।” (व्य २/२७ भा १३३९)

अनेक परिहारी और अनेक अपरिहारी भिक्षु एक, दो, तीन, चार, पांच या छह मास पर्यंत एक साथ रहना चाहें तो परिहारी भिक्षु परिहारी और अपरिहारी के साथ आहार नहीं कर सकते। अपरिहारी भिक्षु अपरिहारी के साथ बैठकर आहार कर सकते हैं, परिहारी के साथ नहीं कर सकते।

छह मासिक परिहार तप की पूर्णता के एक मास पश्चात् सब (परिहारी और अपरिहारी) एक साथ आहार कर सकते हैं।

जो एकमासिक परिहारतपसमापन है, वह एक मास तक परस्पर आलाप आदि नहीं करता तथा एक मास और पांच दिन तक एक साथ भोजन नहीं करता। (इन अतिरिक्त पांच दिनों में शेष आलाप आदि सब क्रियाएं कर सकता है।) इसी प्रकार पांच-पांच दिन की क्रमवृद्धि से संभोज वर्जनीय है अर्थात् दो मास परिहारतप वहन करने वाला दो मास और दस दिन एक साथ भोजन नहीं कर

सकता यावत् छह मासिक परिहारी छह मास तीस दिन (सात मास) एक साथ आहार नहीं कर सकता।

मासस्स गोण्णणामं, परिहरणा पूतिनिव्वलणमासो । तत्तो पमोयमासो, भुंजणवज्जण न सेसेहिं ॥ दिज्जति सुहं च वीसुं, तवसोसियस्स य जं बलकरं तु । पुणारवि य होति जोग्गे, अचिरा दुविहस्स वि तवस्स ॥ (व्यभा १३४१, १३४२)

कुथित मद्य आदि से दुर्गन्धित पात्र में जब तक गंध आती है, तब तक उसमें क्षीर आदि नहीं डाला जाता, वैसे ही दुश्चरित की दुर्गन्ध से भावित उसके साथ एक मास तक आहार नहीं किया जाता। इस मास के गुणनिष्पन्न नाम दो हैं—पूतिनिर्वलन (दुर्गन्ध-विनाशक)मास और प्रमोदमास (संभाषण आदि द्वारा प्रमुदित मास)।

पृथक् आहार का एक कारण यह है कि उसका शरीर तप से शोषित हो जाता है। जब तक वह पृथक् भोजन करता है तो सब साधु सलक्ष्य सुखपूर्वक उसे बलवर्धक आहार देते हैं। इससे वह शीघ्र ही पुनः बाह्य तप और आभ्यंतर तप के योग्य हो जाता है।

८. कल्पस्थित और अनुपारिहारिक की सामाचारी

कितिकम्मं च पडिच्छति, परिणण पडिपुच्छणं पि से देति । सो चिय गुरुमुवचिद्वति, उदंतमवि पुच्छितो कहए ॥ उट्टेज्ज निसीएज्जा, भिक्खं हिंडेज्ज भंडगं पेहे । कुवियपियबंधवस्स व, करेति इतरो वि तुसिणीओ ॥ (व्यभा ५५३, ५५४)

जो कल्पस्थित (मुखिया) है, वह पारिहारिक की वंदना स्वीकार करता है, आलोचना सुनता है, प्रत्याख्यान करवाता है, सूत्रार्थ संबंधी प्रश्न पूछने पर उत्तर देता है। पारिहारिक भी जब गुरु बाहर से स्थान पर आते हैं तो उनका अभ्युत्थान आदि के द्वारा विनय करता है। गुरु सुखपृच्छा करते हैं। पारिहारिक अपनी शरीर आदि की स्थिति का निवेदन करता है।

यदि वह उठने-बैठने में असमर्थ हो जाता है और कहता है कि मुझे उठना है या बैठना है तो अनुपारिहारिक उसके कहते ही शीघ्र आकर उसे उठाता है, बिठाता है।

भिक्षा के लिए गया हुआ पारिहारिक भिक्षा लेने में असमर्थ हो तो अनुपारिहारिक भिक्षा ग्रहण करता है। जाने में असमर्थ हो

तो अनुपारिहारिक अकेला ही भिक्षा के लिए जाता है। उसके भण्डोपकरण की प्रतिलेखना में सहयोग करता है। अनुपारिहारिक यह सारा कार्य उसी प्रकार मौनभाव से करता है, जैसे कोई व्यक्ति अपने कुपित प्रिय बंधु के कार्य करता है।

दो साहम्मिया एगओ विहरंति, एगे तत्थ अण्णयरं अकिच्चट्टाणं पडिसेवेत्ता आलोएज्जा, ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥

.....एकत एकस्मिन् स्थाने समुदितौ विहरतः ।.....तत्र यद्यगीतार्थः प्रतिसेवितवान्, ततस्तस्मै शुद्धतपो दातव्यमथ गीतार्थस्तर्हि यदि परिहारतपोयोग्यमापन्नस्ततः परिहारतपो दद्यात् ।.....य आपन्नः स परिहारतपः प्रतिपद्यते । इतरः कल्प-स्थितो भवति । स एव च तस्यानुपारिहारिकः । (व्य २/१ वृ)

दो साधर्मिक मुनि एक साथ विहरण करते हों, उनमें से एक मुनि यदि किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना कर आलोचना करे तो उसे स्थापनीय (परिहारतप) में स्थापित कर दूसरा साधर्मिक उसका वैयावृत्य करे।

आलोचक यदि अगीतार्थ है तो उसे शुद्ध तप रूप प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि वह गीतार्थ है और उसे परिहारतप योग्य प्रायश्चित्त प्राप्त है तो उसे परिहारतप देना चाहिए। वह परिहारतप स्वीकार करता है। दूसरा साधर्मिक कल्पस्थित होता है और वही अनुपारिहारिक होता है।

९. परिहारी-अपरिहारी की पात्र सामाचारी

परिहारकप्पट्टिए भिक्खू सएणं पडिग्गहेणं बहिया अप्पणो वेयावडियाए गच्छेज्जा । थेरा य णं वएज्जा—पडिग्गहेहि णं अज्जो! अहं पि भोक्खामि वा पाहामि वा । एवं से कप्पइ पडिग्गहेत्तए । तत्थ नो कप्पइ अपरिहारियस्स परिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा पाणं वा.....कप्पइ से सयंसि वा पडिग्गहंसि...पाणिंसि वा उद्धट्टु-उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा । एस कप्पो अपरिहारियस्स परिहारियाओ ॥

परिहारकप्पट्टिए भिक्खू थेराणं पडिग्गहेणं बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा । थेरा य णं वएज्जा—पडिग्गहेहि णं अज्जो! तुमं पि भोक्खसि वा पाहिसि वा । एवं से कप्पइ पडिग्गा-हेत्तए । तत्थ नो कप्पइ परिहारियस्स अपरिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा पाणं वा.....भोत्तए वा पायए वा, कप्पइ से सयंसि वा

पडिग्गहंसि...पाणिंसि वा उद्धट्टु-उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा । एस कप्पो परिहारियस्स अपरिहारियाओ ॥ (व्य २/२९, ३०)

सपडिग्गहे परपडिग्गहे, य बहि पुव्व पच्छ तत्थेव ।.....कारणिय दोन्नि थेरा, सो व गुरू अधव केणई असहू । पुव्वं सयं तु गेणहति, पच्छा घेत्तुं च थेराणं ॥सप्पडिग्गहेतरेण व, परिहारी वेयवच्चकरे ॥ दुल्लभदव्वं पडुच्च, व तवखेदितो समं व सति काले ।.....पुव्वं भोत्तुं थेरा, दलंति समगं च भुंजंति ॥ (व्यभा १३५२-१३५६)

परिहारकल्पस्थित को अपना पात्र लेकर अपने वैयावृत्य—भिक्षा लाने के लिए वसति से बाहर जाते हुए देखकर यदि स्थविर (आचार्य) कहें—आर्य! मेरे लिए भी भिक्षा लाना, मैं भी खाऊंगा—पीऊंगा—ऐसा कहने पर वह अपने पात्र में स्थविर के लिए ला सकता है। अपरिहारी परिहारी के पात्र में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य खा-पी नहीं सकता। वह अपने पतद्ग्रह (तुम्बा आदि पात्र) या हाथ में ले-लेकर खा सकता है, पी सकता है। यह अपरिहारी का परिहारी की अपेक्षा से आचार है।

परिहारकल्पस्थित भिक्षु स्थविर का पात्र लेकर स्थविर के वैयावृत्य के लिए उपाश्रय से बाहर जाए, उस समय स्थविर कहें—आर्य! तुम अपने खाने-पीने के लिए भी भिक्षा ग्रहण कर लेना। ऐसा कहने पर वह अपने लिए भी आहार ग्रहण कर सकता है। पारिहारिक अपारिहारिक के पात्र में अशन, पान आदि खा-पी नहीं सकता। वह अपने पात्र या हाथ में ले-लेकर खा सकता है, पी सकता है, पारिहारिक की अपारिहारिक के प्रति यह सामाचारी है।

परिहारी भिक्षु का सामान्य आचार यह है कि वह पहले अपने पात्र में अपने योग्य भिक्षा लाकर फिर स्थविर के पात्र में स्थविर योग्य भिक्षा लाता है। अथवा पहले स्थविर योग्य लाकर फिर अपने योग्य लाता है। कारणवश एक ही पात्र में लाए तो स्थविर के खाने के पश्चात् स्वयं खाता है। कारण ये हो सकते हैं—

० अशिव आदि के कारण अन्य साधुओं को अन्यत्र भेज दिया हो। स्थविर और परिहारी दो ही रह गए हों। स्थविर भिक्षाटन में असमर्थ हो। अथवा परिहारी तप के कारण खेदखिन्न हो।

० द्रव्य दुर्लभ हों। सब घरों में भिक्षा का समय एक हो।

समय कम हो या पानी की अल्पता हो तो पारिहारिक और अपरिहारिक एक ही पात्र में एक साथ खा सकते हैं।

१०. पारिहारिक के वैयावृत्य का विधान

परिहारकण्ड्वियस्स णं भिक्खुस्स कण्णइ आयरिय-उवञ्जाएणं तद्विसं एगगिहंसि पिंडवायं दवावेत्तए, तेण परं नो से कण्णइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा। कण्णइ से अण्णयरं वेयावडियं करेत्तए, तं जहा—उट्टावणं वा निसीयावणं वा तुयट्टावणं वा उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-विगिंचणं वा विसोहणं वा करेत्तए ॥

अह पुण एवं जाणेज्जा—छिन्नावाएसु पंथेसु आउरे झिंझिए पिवासिए तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छेज्ज वा पवडेज्ज वा, एवं से कण्णइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा ॥ (क ४/२७, २८)

आचार्य-उपाध्याय परिहारकल्पस्थित भिक्षु को, जिस दिन वह परिहारकल्प स्वीकार करता है, उस दिन एक घर से आहार दिला सकते हैं। उस दिन के बाद उसे अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य एक बार या बार-बार न दे सकते हैं, न दिला सकते हैं। किन्तु अपेक्षा होने पर उसका किसी भी प्रकार का वैयावृत्य कर सकते हैं। यथा—उठाना, बिठाना, करवट बदलना (सुलाना), मल-मूत्र, श्लेष्म, कफ आदि का परिष्ठापन करना, मल आदि से खरंटित उपकरणों का प्रक्षालन करना।

यदि उन्हें ऐसा ज्ञात हो कि ग्लान और भूख-प्यास से क्लान्त पारिहारिक आवागमन रहित पथों से गुजरता हुआ गांव तक नहीं पहुंच सकता अथवा तपस्या के कारण दुर्बल बना हुआ भिक्षाचर्या करता हुआ मूर्च्छित हो सकता है, गिर सकता है, तो वे उसे अशन आदि लाकर दे सकते हैं, दिला सकते हैं।

परिहारकण्ड्वियं भिक्खुं गिलायमाणं नो कण्णइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जुह्तिए। अगिलाए तस्स करणिज्जं वेया-वडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ (व्य २/६)

गणावच्छेदक ग्लान परिहारकल्पस्थित भिक्षु का निर्यूहण—उसके वैयावृत्य का निषेध नहीं कर सकता। रोग और आतंक से मुक्त होने तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करणीय है। तत्पश्चात् वह यथालघुस्वक (अत्यल्प) प्रायश्चित्त में प्रस्थापनीय है।

११. परिहारी : आहारवितरण-विकृतिसेवन-अनुज्ञा

परिहारकण्ड्वियस्स भिक्खुस्स नो कण्णइ असणं वा

.....दाउं वा अणुप्पदाउं वा। श्वेरा य णं वएज्जा—इमं ता अज्जो! तुमं एएसिं देहि वा अणुप्पदेहि वा। एवं से कण्णइ दाउं वा अणुप्पदाउं वा। कण्णइ से लेवं अणुजाणावेत्तए अणुजाणह भंते! लेवाए? एवं से कण्णइ लेवं समासेवित्तए।

.....अन्यस्मै साक्षात् स्वहस्तेन दातुमनुप्रदातुं वा परम्परकेण प्रदातुम् अनुशब्दस्य परम्परकद्योतकत्वात्। इह यद्दानमनुप्रदानं वा परिभाजनमुच्यते। (व्य २/२८ वृ)

परिहारकल्पस्थित भिक्षु (अपारिहारिक भिक्षु को) अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का दान-अनुप्रदान नहीं कर सकता।

आचार्य कहें—आर्य! इस भोजन को इन भिक्षुओं में वितरित करो—इस प्रकार अनुज्ञा पाकर वह अशन आदि परोस सकता है।

वह गुरु की आज्ञा प्राप्त कर लेप (घृत आदि विगय) ले सकता है। 'भंते! मुझे लेप की अनुज्ञा दें'—इस प्रकार अनुज्ञा प्राप्त कर वह लेप का आसेवन कर सकता है।

दान का अर्थ है—साक्षात् अपने हाथ से अन्य साधु को देना और अनुप्रदान का अर्थ है—परम्पर देना। अथवा दान-अनुप्रदान का अर्थ है—परिभाजन—भोजन का विभाग करना, वितरण करना।

किह तस्स दाउ किज्जति, चोदग! सुत्तं तु होति कारणियं। सो दुब्बलो गिलायति, तस्स उवाएण देंतेवं ॥ तवसोसियस्स मज्झो, ततो व तब्भावितो भवे अथवा। श्वेरा णारुणेवं, वदंति भाएहि तं अज्जो ॥ परिमित असती अण्णो, सो वि य परिभायणम्मि कुसलो उ। उच्चूरपउरलंभे, अगीतवामोहणनिमित्तं ॥ परिभाइयसंसदु, जो हत्थं संलिहावइ परेण। फुसति व कुट्टे छुट्टे, अणणुण्णाए भवे लहुओ ॥ कण्णति य विदिण्णम्मी, चोदगवयणं च सेससूवस्स। एवं कण्णति अप्पायणं च कण्णडिती चेसा ॥

(व्यभा १३४४-१३४८)

परिहारी आहार का विभाग नहीं कर सकता, फिर वह क्यों करता है? गुरु ने कहा—आयुष्मन्! यह कारिणिक सूत्र है—परिहारी का शरीर तप से शोषित है, वह दुर्बल और ग्लान हो रहा है—इस कारण को जानकर ग्लान की अनुकम्पा के लिए आचार्य इस उपाय से उसे विकृति देते हैं।

अथवा आहार परिमित हो, साधु विभागकुशल न हो, परिहारी आहारवितरण में कुशल हो, तब आचार्य उसे आहार-परिवेषण की अनुज्ञा देते हैं। नाना प्रकार का प्रचुर आहार प्राप्त होने पर, अमीतार्थ की व्यामोहनवृत्ति के लिए आचार्य कहते हैं—
आर्य! तुम आहार का संविभाग कर साधुओं को परोसो।

विकृति-अनुज्ञा—आहार वितरण के पश्चात् उसके संसृष्ट हाथ को दूसरा साधु चाटकर साफ करता है या वह उस लिल हाथ को दीवार या काष्ठ से साफ करता है या गुरु की अनुज्ञा बिना स्वयं चाटकर साफ करता है—इन सबमें वह लघुमासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है। वह आचार्य की अनुज्ञा मिलने पर स्वयं हाथ को चाटता है और शेष बचे हुए आहार को अनुज्ञा से ही खाता है। जैसे सूषकार (रसोइया) बचे हुए भोजन का स्वामी की आज्ञा से स्वयं परिभोग करता है। यह परिहारी की आचार-मर्यादा है कि शक्तिसंवर्धन के लिए वह ऐसा कर सकता है।

१२. पारिहारिक द्वारा गच्छ की सेवा

मयण च्छेव विसोमे, देति गणे सो तिरो व अतिरो वा ।

तब्भाणोसु सएसु व..... ॥

छेवकम्—अशिवं—तिरोहितं नाम—स आनीयानुपारि-
हारिकस्य ददाति—कल्पस्थितस्यापि ग्लानत्वेऽतिरोहितं—
स्वयमेव गच्छस्य ददाति। (बृभा ५६१५ वृ)

मदन-कोद्वेव आदि खाने से साधु ग्लान हो गए हों, महामारी से गच्छ ग्रसित हो गया हो अथवा शत्रु के द्वारा विष दे दिया गया हो—ऐसे कारण उत्पन्न होने पर पारिहारिक मुनि गच्छ के लिए आहार-पानी लाकर दे। आहार आदि उनके ही पात्रों में लाए। उनके अभाव में अपने पात्रों का उपयोग करे। आहार आदि लाकर अनुपारिहारिक को अर्पित कर दे, उसके ग्लान होने पर कल्पस्थित को, उसके अभाव में वह स्वयं ही गच्छ को अर्पित करे।

१३. तप वहन काल में आचार्य द्वारा वैयावृत्य

वेयावच्चुज्जमणे गणि-आयरियाण किण्णु पडिसेधो ।

भिक्षुपरिहारिओ वि हु, करेति किमुतायरियमादी ॥

जम्हा आयरियादी निक्खिविरुणं करेति परिहारं ।

तम्हा आयरियादी, वि भिक्षुणो होंति नियमेणं ॥

(व्यभा ६९२, ६९३)

वैयावृत्य का उद्यम करने के प्रसंग में गणी (गच्छाधिपति) और आचार्य (अनुयोगाचार्य-उपाध्याय) का प्रतिषेध क्यों किया गया? संघ का वैयावृत्य पारिहारिक भिक्षु भी करता है तो फिर गणी, आचार्य आदि क्यों नहीं करते? वे करते हैं किन्तु आचार्य आदि अपने पद से मुक्त होकर परिहारतप का वहन करते हैं। उस समय वे भी नियमतः सामान्य भिक्षु होते हैं।

१४. पारिहारिक की क्षमताएं : ...तप का स्थगन

परिहारिओ उ गच्छे, सुत्तत्थविसारओ सलद्धीओ ।

अन्नेसिं गच्छाणं, इमाइ कज्जाइ जायाइ ॥

अकिरिय जीए पिट्टण, संजमबद्धे य भत्तमलभंते ।

भत्तपरिणगिलाणे, संजमऽतीते य वादी य ॥

न वि य समत्थो वन्तो, अहयं गच्छामि निक्खिविय भूमिं ।

सरमाणेहि य भणियं, आयरिया जाणगा तुज्झं ॥

जाणंता माहप्यं, कहेति सो वा सयं परिकथेति ।

तत्थ स वादी हु मए, वादेसु पराजितो बहुसो ॥

अक्रियावादी नास्तिकवादी स राजसमक्षं वादं याचते ।

जीए ति जीविते साधूनां प्राणेषु वा राजा केनापि कारणेन प्रद्विष्टः । दुर्भिक्षे वा समापतिते भक्तमतीव दुर्लभं जातम् ।

(व्यभा ६९४-६९७ वृ)

पारिहारिक साधु सूत्रार्थविशारद तथा लब्धि-सम्पन्न होता है। उसे इन प्रयोजनों से अन्य गच्छों में भेजा जाता है—

- ० कोई नास्तिकवादी राजा के समक्ष वाद करने की याचना करे।
- ० साधुजीवन के प्रति द्वेषभाव रखने वाले राजा आदि के द्वारा किसी साधु के मारण-पिट्टन-बंधन-उत्प्राव्रजन आदि का प्रसंग हो।
- ० दुर्भिक्ष आदि के कारण आहार-प्राप्ति न हो।
- ० किसी साधु ने अनशन किया हो। (पारिहारिक अच्छा निर्यापक होता है।) प्रवचन के आधारभूत आचार्य आदि ग्लान हो गये हों। (पारिहारिक वैद्यकलाकुशल होता है।)
- ० राजा आदि ने किसी मुनि को संयम से उत्प्राव्रजित कर पकड़ लिया हो, उसे छुड़ाना हो।
- ० अन्य मतावलम्बी शास्त्रार्थ करना चाहता हो।

इनमें से किसी भी कारण के उत्पन्न होने पर गच्छवासी अपने संघाटक को भेजते हैं। यह संघाटक आचार्य को निवेदन करता है।

आचार्य पारिहारिक के माहात्म्य को जानते हुए कहते हैं— इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधु इतना समर्थ नहीं है, जो वादी का निग्रह कर सके या अन्य प्रयोजन सिद्ध कर सके। अथवा वह पारिहारिक स्वयं कह देता है—उस वादी को मैंने शास्त्रार्थ में अनेक बार पराजित किया है। यदि गुरुवर्य अनुज्ञा दें तो मैं जाऊं।

यह परिहारतप वहन कर रहा है—इस बात का स्मरण कर गुरु कहते हैं—आर्य! वहां से प्रत्यागमन न हो, तब तक के लिए तुम अपनी परिहारतपोभूमि को छोड़ दो। यदि वह कहे—गुरुदेव! मैं प्रायश्चित्त वहन करता हुआ भी उस प्रयोजन को साध सकता हूं, तो प्रत्युत्तर में गुरु कहते हैं—तुम जहां जा रहे हो, वहां जो आचार्य हैं, वे जैसा कहें, वैसा करना।

१५. परिहारतप का निक्षेप-झोष

निक्खिव न निक्खिवामी, पंथे च्चिय देसमेव वोज्झामि ।
असहू पुण निक्खिवते, झोसंति मुएज्ज तवसेसं ॥
एमेव य सव्वं पि हु, दूरद्धाणम्मि तं भवे नियमा ।
एमेव सव्वदेसे, वाहणझोसा पडिनियत्ते ॥
(व्यभा ७६५, ७६६)

गमनप्रयोजन उपस्थित होने पर गुरु कहते हैं—अधिकृत तप को अभी छोड़ दो। वह कहता है—मैं समर्थ हूं, मार्ग में ही उस अवशिष्ट देशभाग को वहन कर लूंगा। असमर्थ पारिहारिक उसे छोड़ देता है। अथवा आचार्य उसे शेष तप से मुक्त कर देते हैं।

इसी प्रकार जिसने अभी मात्र प्रारंभ किया है, सारा ही तप शेष है, वह समर्थ पारिहारिक कहता है—मार्ग लंबा है, अतः मैं मार्ग में ही सारा वहन कर लूंगा। (सर्वज्ञघन्य परिहारतप मासिक होता है। आनंदपुर से मथुरा तक जिसका गन्तव्य है, वह मार्ग में ही उसे पूरा कर लेता है।) अथवा प्रसादबुद्धि से गुरु उसे सम्पूर्ण तप से ही मुक्त कर देते हैं।

गुरु यदि मुक्त न करें तो प्रयोजन सम्पन्न कर वह पुनः निजी क्षेत्र में आकर, देशभाग का निक्षेप किया था तो देशभाग का और सर्वभाग का निक्षेप किया था तो सर्वभाग का वहन करता है। अथवा अहो! इसने दुष्कर कार्य किया है—इस रूप में परितुष्ट आचार्य उसे देश या सर्व तप से मुक्त कर देते हैं।

१६. पारिहारिक : मार्ग में रुकने के कारण

उभतो गेलण्णे वा, वास नदी सुत्त अत्थ पुच्छ वा ।
विज्जानिमित्तगहणं, करेति आगाढपण्णे वा ॥
(व्यभा ७०६)

पारिहारिक प्रयोजनस्थान (गन्तव्य) तक पहुंचने से पूर्व छह कारणों से कहीं भी रुक सकता है—

१. वह मार्ग में स्वयं ग्लान हो जाये या अन्य किसी ग्लान साधु को देखे या उसके बारे में सुने तो परिचर्या के लिए।
२. वर्षा या नदी का पूर आ जाये।
३. कोई सूत्रार्थ की प्रतिपृच्छा करे तो प्रतिपृच्छा दान के लिए।
४. किसी के पास घरवादिमुखबंधकरणी या मायूरी, नाकुली आदि विद्याएं हों या कोई विशिष्ट निमित्तज्ञ मिल जाये, उससे निमित्त आदि सीखने के लिए।
५. कई साधु आगाढयोगप्रविष्ट हों और उनको वाचना देने वाले आचार्य कालगत हो गए हों, तो उन्हें वाचना देने के लिए।
६. अपान्तराल में कोई ऐसा ग्रंथ उपलब्ध हो जाये, जिसका अध्येता गाढ प्रज्ञावान् बन जाता है, तो 'मैं प्रज्ञ (महाप्रज्ञ) हो जाऊं' इस बुभूषा से वहां ठहर जाता है।

१७. वादी पारिहारिक को अल्प प्रायश्चित्त

.....बहिया थेरारणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, से य आहच्च अइक्कमेज्जा, तं च थेरा जाणोज्जा अप्पणो आगमेणं अण्णोसिं वा अंतिए सोच्चा, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्टवियव्वे सिया ।
(क ५/४०)

परिहारिओ य गच्छे, आसण्णे गच्छ वाइणा कज्जं ।
आगमणं तहिं गमणं, कारण पडिसेवणा वाए ॥
पाया व दंता व सिया उ धोया, वा बुद्धिहेतुं व यणीयभत्तं ।
तं वानिगं वा मइ-सत्तहेउं, सभाजयट्ठा सिचयं व सुवक्कं ॥
नव-दस-चउदस-ओही-मणनाणी केवली य आगमिउं ।
उब्भावियं पवयणं, थोवं ते तेण मा पुणो कासि ।

मतिर्नाम—.....ऊहात्मको ज्ञानविशेषः, सत्त्वं.....आन्तर उत्साहविशेषः । (बृभा ६०३४, ६०३५, ६०३७, ६०४६ वृ)

परिहारकल्पस्थित मुनि आचार्य के वैयावृत्य के लिए बाहर जाता है। वह उस कार्याविधि में कदाचित् नियमों का अतिक्रमण

भी कर लेता है। उसके पुनः आगमन पर आचार्य अपने ज्ञानबल से अथवा दूसरों से सुनकर उसके अतिक्रमण को जान जाते हैं। तत्पश्चात् वे उसे यथालघुस्वक (पांच दिन का निर्विकृतिक तप) प्रायश्चित्त देते हैं।

वादी का निग्रह करना भी वैयावृत्त्य है। किसी नगर में कोई वादी आ पहुंचा। वहां के श्रमणसंघ के पास कोई वादलब्धिसंपन्न मुनि नहीं था। आगंतुक आचार्य के पास परिहारतप वहन करने वाला मुनि वादलब्धि से संपन्न था। नगरस्थ आचार्य ने दो मुनियों के साथ संदेश भेजकर कहलवाया कि वादी का निग्रह करना है, इसलिए वादलब्धिसंपन्न मुनि को भेजें। उन्होंने परिहारतप वहन करने वाले मुनि को वहां भेजा।

वह राजसभा में जाता है। वादी का निग्रह कर प्रवचन की प्रभावना करता है। उस समय प्रवचन की जुगुप्सा न हो, इस दृष्टि से वह पैर धोता है, दांतों का प्रक्षालन करता है, वाक्याटव और मेधापरिवर्धन के लिए प्रणीत आहार करता है, ऊहात्मक मति और आंतरिक उत्साह बढ़ाने के लिए वातिक आदि पदार्थों का सेवन करता है, सभा में विजय प्राप्त करने के लिए शुक्ल वस्त्र धारण करता है—ये प्रतिसेवनाएं करता है। जब वह लौटकर आता है, तब नौ-दसपूर्वी, चतुर्दशपूर्वी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी अथवा केवलज्ञानी अपने ज्ञानबल से स्वयं जानकर अथवा अन्य स्त्रोतों से जानकर उसे कहते हैं—तुमने परवादी का निग्रह कर प्रवचन की प्रभावना की है, अतः अल्प प्रायश्चित्त दिया गया है। आगे से ये प्रतिसेवनाएं मत करना।

१८. शुद्धतप और परिहारतप में अंतर

आलवणादी उ पया, सुद्धतवे तेण कक्खडो न भवे।
इतरम्मि उ ते नत्थी, कक्खडओ तेण सो होति ॥
(व्यभा ५५८)

शुद्ध तप में आलपन, वंदन, सहभोजन आदि दसों पदों का प्रयोग होता है, इसलिए वह कर्कश नहीं है। परिहारतप में इन दसों पदों का परिहार—निषेध कर दिया जाता है, इसलिए वह कठोर है।

काल और तपःकरण की अपेक्षा से दोनों तप तुल्य हैं।

जं मायति तं छुब्भति, सेलमए मंडवे न एण्डे।
उभयबलियम्मि एवं, परिहारो दुब्बले सुद्धो ॥
(व्यभा ५४२)

शिष्य ने पूछा—भंते! किसी को परिहारतप और किसी को शुद्ध तप प्रायश्चित्त देने का आधार क्या है? तब आचार्य ने कहा—पाषाण-मण्डप में जितना समा सके, उतना प्रक्षेप करने पर भी उसके टूटने का भय नहीं रहता। एरण्ड मण्डप में उसकी झेलने की क्षमता के अनुसार ही प्रक्षेप किया जाता है। इसी प्रकार धृति और संहनन से जो बलवान् है, उसे परिहार तप तथा दुर्बल को शुद्ध तप दिया जाता है।

१९. परिहार और छेद

परिहाराच्छेदो गरीयान्। (व्यभा ७१८ की वृ)

परिहारतप से छेद प्रायश्चित्त बड़ा है।

'छेदो' वा पञ्चरात्रिन्दिवादिः 'परिहारो' वा मासलघु-
कादिस्तपोविशेषो भवति। (क २/४ की वृ)

छेद पांच अहोरात्र से छह मास पर्यंत होता है।

परिहार तपविशेष है। वह मासलघु से छह मास पर्यंत होता है।

परिहारविशुद्धि—चारित्र का तीसरा प्रकार, विशिष्ट श्रुत-
सम्पन्न नौ साधुओं द्वारा अठारह मास तक
किया जाने वाला तप का विशेष प्रयोग।

- | | |
|--|----------------|
| १. परिहारकल्प : निर्विशमान-निर्विष्टकाधिक | |
| * निर्विशमान : कल्पस्थिति के भेद | द्र कल्पस्थिति |
| २. परिहारकल्प के अर्थ : श्रुत आदि | |
| ३. परिहारकल्प स्वीकार करने से पूर्व | |
| ४. निर्विशमान-निर्विष्टकाधिक : तपसमाचरण-विधि | |
| ५. शुद्धपरिहार और जिनकल्प में अंतर | |
| ○ क्षेत्र, संहरण आदि | |
| ○ गणना : गण-पुरुष-प्रमाण | |
| ६. परिहारो-अनुपरिहारो : परस्पर व्यवहार | |
| ७. परिहारकल्प-परम्परा की कालावधि | |
| ८. सामायिक : परिहारविशुद्धि के संयमस्थान | |
| ○ संयमस्थान : अविभागपरिच्छेद कण्डक | |

१. परिहारकल्प : निर्विशमान-निर्विष्टकाधिक
परिहारकल्पं.....परिहरन्ति जहा विज्ज।.....
.....विदितपूर्वगतश्रुतरहस्यास्तं कल्पं 'परिहरन्ति' धातू-
नामनेकार्थत्वाद् आसेवन्ते। (बृभा ६४४७ वृ)

“निव्विसमाणकप्पट्टिती, निव्विट्टुकाइयकप्पट्टिती, ॥

निर्विशमानाः—परिहारविशुद्धिकल्पं वहमानास्तेषां कल्पस्थितिः..... निर्विष्टकायिका नाम—यैः परिहारविशुद्धिकं तपो व्यूढम्, निर्विष्टः—आसेवितो विवक्षितचारित्रलक्षणः कायो यैस्ते निर्विष्टकायिकाः, तेषां कल्पस्थितिः ।

(क ६/२० वृ)

पूर्वगतश्रुत के रहस्यों के पारगामी मुनि परिहारविशुद्धि चारित्र की आचार-मर्यादा का परिहार—आसेवन करते हैं, वह परिहारकल्प है । कल्पवहन की पूर्वापरता के आधार पर इसके दो रूप हैं—

१. निर्विशमानकल्पस्थिति—परिहारविशुद्धिकल्प को वहन करने वालों की आचार-मर्यादा ।

२. निर्विष्टकायिककल्पस्थिति—जो परिहारविशुद्धिकल्प की आराधना कर चुके हैं, उनकी आचार-मर्यादा ।

२. परिहारकल्प के अर्थ : श्रुत आदि

सव्वे चरित्तमंतो य, दंसणे परिनिट्टिया ।
णवपुव्विया जहन्नेणं, उक्कोस दसपुव्विया ॥
पंचविहे ववहारे, कप्पे त दुविहम्मि य ।
दसविहे य पच्छन्ते, सव्वे ते परिणिट्टिया ॥

.....उत्कर्षतः 'दशपूर्विणः' किञ्चिद् न्यूनदशपूर्वधरा मन्तव्याः । तथा 'पञ्चविधे व्यवहारे' आगम-श्रुता ऽऽ-ज्ञा-धारणा-जीतलक्षणे 'द्विविधे च कल्पे' अकल्पस्थापना-शैक्षस्थापनाकल्परूपे जिनकल्प-स्थविरकल्परूपे वा..... ।

(बृभा ६४५४, ६४५५ वृ)

परिहारकल्प स्वीकार करने वाले का चारित्र निरतिचार तथा सम्यक्त्व परम विशुद्ध होता है । वह जघन्य नौ पूर्व तथा उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्वा का ज्ञाता होता है ।

आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत—इन पांच व्यवहारों और दो प्रकार के कल्पों—अकल्पस्थापनाकल्प और शैक्षस्थापना-कल्प अथवा जिनकल्प और स्थविरकल्प का वेत्ता तथा आलोचना आदि दस प्रकार की प्रायश्चित्त विधि में पारंगत मुनि ही परिहार-कल्पस्थिति को स्वीकार कर सकता है ।

३. परिहारकल्प स्वीकार करने से पूर्व

अप्पणो आउगं सेसं, जाणित्ता ते महामुणी ।
परक्कमं च बल विरियं, पच्चवाते तहेव य ॥

आपुच्छिऊण अरहंते, मग्गं देसेति ते इमं ।
पमाणाणि य सव्वाइं, अभिग्गहे य बहुविहे ॥
(बृभा ६४५६, ६४५७)

परिहारकल्प स्वीकार से पूर्व मुनि विशिष्ट श्रुत के उपयोग से अपने आयुष्य, शारीरिक सामर्थ्य और जीवनीशक्ति को जानकर, भविष्य में रोग आदि की संभावना नहीं होने पर ही इस कल्प को स्वीकार करते हैं । वे तीर्थंकर की अनुज्ञा लेकर उनके पास ही इस कल्प को स्वीकार करते हैं । तीर्थंकर उनके समक्ष गणप्रमाण, पुरुषप्रमाण, उपधिप्रमाण आदि सामाचारी का प्रतिपादन करते हैं और विविध प्रकार के अभिग्रहों का प्रज्ञापन करते हैं ।

४. निर्विशमान-निर्विष्टकायिक : तपसमाचरण-विधि
बारस दसऽट्ट दस अट्ट छ च्च अट्टेव छ च्च चउरो य ।
उक्कोस-मज्झिम-जहण्णगा उ वासा सिसिर गिम्हे ॥
आयंबिल बारसमं, पत्तेयं परिहारिगा परिहरंति ।
अभिगहितएसणाए, पंचणह वि एगसंभोगो ॥
परिहारिओ वि छम्मासे अणुपरिहारिओ वि छम्मासा ।
कप्पट्टितो वि छम्मासे एते अट्टारस उ मासा ॥
अणुपरिहारिगा चेव, जे य ते परिहारिगा ।
अण्णमण्णेसु ठाणेसु, अविरुद्धा भवंति ते ॥
गएहिं छहिं मासेहिं, निव्विट्टा भवंति ते ।
ततो पच्छा ववहारं, पट्टवंति अणुपरिहारिया ॥
गएहिं छहिं मासेहिं, निव्विट्टा भवंति ते ।
वहइ कप्पट्टितो पच्छा, परिहारं तहाविहं ॥

ये तु चत्वारोऽनुपारिहारिका एकश्च कल्पस्थितः.....ते च प्रतिदिवसमाचाम्लं कुर्वन्ति । यस्तु कल्पस्थितः स स्वयं न हिण्डते, तस्य योग्यं भक्तपानमनुपारिहारिका आनयन्ति ।

(बृभा ६४७२-६४७७ वृ)

शुद्ध पारिहारिक वर्षाकाल में उत्कर्षतः पांच दिन का उपवास कर पारणक में आयंबिल करते हैं । कल्पस्थित और अनुपारिहारिक प्रतिदिन आयंबिल करते हैं । ऋतु के अनुसार तप इस प्रकार है—

तप	वर्षा	शिशिर	ग्रीष्म
उत्कृष्ट	पांच दिन	चार दिन	तीन दिन (तेला)
मध्यम	चार दिन	तीन दिन	दो दिन (बेला)
जघन्य	तीन दिन	दो दिन	एक दिन (उपवास)

पारिहारिक पृथक्-पृथक् आहार करते हैं। वे आहार आदि की दृष्टि से परस्पर साम्भोजिक नहीं होते, कल्पस्थित और चार अनुपारिहारिक—इन पांचों का एक सम्भोज होता है।

शुद्धपारिहारिक अभिगृहीत एषणाओं से आहार-पानी ग्रहण करते हैं। कल्पस्थित स्वयं भिक्षाचर्या नहीं करता, अनुपारिहारिक उसके योग्य भक्त-पान लाते हैं।

पारिहारिक प्रथम छह महीनों में प्रस्तुत तप वहन करते हैं। तत्पश्चात् अनुपारिहारिक छह मास पर्यंत तप करते हैं और पूर्व पारिहारिक उनका अनुपारिहारिकत्व स्वीकार करते हैं। अंतिम छह मास पर्यंत कल्पस्थित परिहारतप करता है और उन आठों में से एक कल्पस्थित (गुरुकल्प) तथा शेष अनुपारिहारिक के रूप में नियुक्त होते हैं।

पारिहारिक और अनुपारिहारिक परस्पर एक-दूसरे का वैया-वृत्य करते हैं, कालभेद के कारण उनमें विरोध नहीं आता।

वे तप-वहन काल में निर्विशमान और छह-छह मास तक तप-वहन के पश्चात् निर्विष्टकायिक कहलाते हैं। इस प्रकार अठारह महीनों में इस परिहारकल्प की साधना सम्पन्न होती है।

* निर्विशमान और निर्विष्टकायिक द्र श्रीआको १ चारित्र
अट्टारसेहिं मासेहिं, कप्यो होति समाणितो।
मूलद्ववणाएँ समं, छम्मासा तु अणूणगा ॥
एवं समाणिणए कप्ये, जे तेसिं जिणकप्यिया।
तमेव कप्यं ऊणा वि, पालए जावजीवियं ॥
अट्टारसेहिं पुण्णेहिं, मासेहिं शेरकप्यिया।
पुणो गच्छं नियच्छंति, एसा तेसिं अहाठिती ॥
(बृभा ६४७८-६४८०)

पारिहारिक प्रथमतः जो तप स्वीकार करते हैं, उनकी अवधि अन्यून छह मास होती है—उसे मूलस्थापना कहा गया है। अनुपारिहारिक और कल्पस्थित का तप मूलस्थापना के तुल्य—छह-छह मास का होता है। इस प्रकार अठारह मास में यह कल्प सम्पन्न होता है।

इस कल्प साधना के सम्पन्न होने पर उनमें जो जिनकल्पिक होते हैं, वे जीवनपर्यंत उसी कल्प की अनुपालना करते हैं। उनकी संख्या न्यून (आठ आदि) भी हो सकती है।

उनमें जो स्थविरकल्पिक होते हैं, वे पुनः अपने गच्छ में

चले जाते हैं—यह उनकी कल्पस्थिति (आचार मर्यादा) है।

५. शुद्धपरिहार और जिनकल्प में अंतर

एसेव कपो नियमा, सुद्धे परिहारिए अहालंदे।
नाणत्ती य जिणेहिं, पडिवज्जइ गच्छ गच्छो य ॥
तवभावणाणाणत्तं, करंति आर्यंबिलेण परिकम्मं।
इत्तिरिय शेरकप्ये, जिणकप्ये आवकहियाओ ॥
पुण्णे जिणकप्यं वा, अइति तं चेव वा पुणो कप्यं।
गच्छं वा इति पुणो, तिन्नि विहाणा सिं अविरुद्धा ॥
इत्तरियाणुवसग्गा, आतंका वेयणा य न भवंति।
आवकहियाण भइया, तहेव छ ग्गामभागा उ ॥
(बृभा १४२५-१४२८)

शुद्धपारिहारिक और यथालन्दिक का प्रव्रज्या, शिक्षा, देशाटन आदि का क्रम जिनकल्पिक के समान ही है। जिनकल्पिक से शुद्धपारिहारिक की सामाचारी में अनेक बातों में भेद है। यथा—
० व्यक्ति—जघन्यतः तीन गच्छ यानी नौ मुनि एक साथ शुद्धपरिहारिक-कल्प स्वीकार करते हैं।

० तपभावना—आर्यबिल का पूर्वाभ्यास करते हैं।

० प्रकार—इनके दो प्रकार हैं—१. इत्वरिक—जो कल्प सम्पन्न होने के बाद स्थविरकल्प स्वीकार कर लेते हैं। २. यावत्कथिक—जो कल्प सम्पन्न होने पर जिनकल्प को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार पारिहारिक के अविरुद्ध तीन प्रकार बन जाते हैं—

१. परिहारकल्प पूर्ण होने पर जिनकल्प स्वीकार करना।

२. अथवा पुनः उसी परिहारविशुद्धि कल्प का पालन करना।

३. अथवा पुनः गच्छ में आना (स्थविरकल्प स्वीकार करना)।

० उपसर्ग—इत्वरिक पारिहारिक के उपसर्ग, आतंक और वेदना—ये नहीं होते—यह उस कल्प का ही प्रभाव है।

यावत्कथिक पारिहारिक के उपसर्ग आदि की भजना है, क्योंकि जिनकल्पस्थिति में ये संभव हैं।

० भिक्षाचर्या—जिनकल्पिक की तरह पारिहारिक भी भिक्षाटन के लिए ग्राम के छह विभाग करते हैं।

० क्षेत्र, संहरण आदि

खेत्ते भरहेरवएसु होति, साहरणवज्जिया नियमा।

ठियकप्यमि उ नियमा, एमेव य दुविह लिंगे वि ॥

काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां वा भवेयुः, न नोअव-
सर्पिण्युत्सर्पिण्यां सुषमसुषमादिषु वा प्रतिभागेषु।

(बृभा १४३१ वृ)

- क्षेत्र — पारिहारिक भरतक्षेत्र और ऐरवत क्षेत्र में होते हैं।
- संहरण—इनका नियमतः संहरण नहीं होता।
- कल्प—प्रथम और चरम तीर्थकर के तीर्थ में होने कारण ये नियमतः स्थितकल्प में होते हैं।
- लिंग—इसी प्रकार इनके नियमतः द्रव्य और भाव दोनों प्रकार का लिंग होता है।
- काल—ये उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में होते हैं, नोअवसर्पिणी-उत्सर्पिणी या सुषमसुषमा आदि प्रतिभागों में नहीं होते।

* वसति, स्थण्डिल आदि द्र जिनकल्प

◦ गणना : गण-पुरुष-प्रमाण

गणओ तिन्नेव गणा, जहन्न पडिवत्ति सयसो उक्कोसा।
उक्कोस जहन्नेणं, सतसो च्चिय पुव्वपडिवन्ना॥
सत्तावीस जहन्ना, सहस्स उक्कोसतो उ पडिवत्ती।
सयसो सहस्ससो वा, पडिवन्ना जहन्न उक्कोसा॥
पडिवज्जमाण भइया, इक्को वि उ होज्ज ऊणपक्खेवे।
पुव्वपडिवन्नया वि उ, भइया इक्को पुहुत्तं वा॥

(बृभा १४३५-१४३७)

- गणप्रमाण—जघन्यतः तीन गण (सत्ताईस मुनि) और उत्कृष्टतः शत-पृथक्त्व (दो सौ से नौ सौ) गण एक साथ इस कल्प को स्वीकार कर सकते हैं। पूर्वप्रतिपन्न उत्कृष्ट और जघन्य शतपृथक्त्व गण होते हैं। (जघन्य पद से उत्कृष्ट पद अधिकतर होता है।)
- पुरुष प्रमाण—जघन्य सत्ताईस व्यक्ति और उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व (दो हजार से नौ हजार) व्यक्ति एक साथ इस कल्प को स्वीकार करते हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा जघन्य शतपृथक्त्व और उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व होते हैं।

इस कल्प को स्वीकार करने वाले पुरुषों में भजना है। अठारह मास की साधना पूर्ण होने के बाद कोई मुनि मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। कोई जिनकल्प को स्वीकार कर लेता है। कोई गच्छ में चला जाता है। शेष मुनि यदि वही साधना करना चाहते हैं, तब उस गण की पूर्ति एक, दो आदि जितने साधुओं से होती है, उतने साधु एक-साथ उस कल्प को स्वीकार करते हैं।

पूर्वप्रतिपन्न की भी भजना है—एक भी हो सकता है, पृथक्त्व भी हो सकते हैं। (अठारह मास पूर्ण होने पर आठ पारिहारिक अन्य कल्प को स्वीकार कर लेते हैं—इस अपेक्षा से एक मुनि तथा दो, तीन आदि उसी कल्प का पालन करते हैं इस अपेक्षा से पृथक्त्व परिमाण है।)

६. परिहारी-अनुपरिहारी..... : परस्पर व्यवहार

पमाणं कप्पट्ठितो तत्थ, ववहारं ववहरित्ताए।
अणुपरिहारियाणं पि, पमाणं होति से विऊ॥
आलोयण कप्पठिते, तवमुज्जाणोवमं परिवहंते।
अणुपरिहारिणं गोवालाए, व णिच्च उज्जुत्तमाउत्ते॥
पडिपुच्छं वायणं चेव, मोत्तूणं णत्थि संकहा।
आलावो अत्तण्णित्तेसो, परिहारिस्स कारणे॥

(बृभा ६४६९-६४७१)

पारिहारिक और अनुपरिहारिक के द्वारा किसी प्रकार की स्खलना होने पर कल्पस्थित ही प्रायश्चित्त देने के लिए प्रमाणपुरुष होता है। पारिहारिक और अनुपरिहारिक मुनि कल्पस्थित के समक्ष आलोचना, प्रत्याख्यान आदि करते हैं। पारिहारिक मुनि तप का वहन करते हुए उद्यानिका के स्वच्छन्द विहारी की भांति सुखानुभूति करते हैं। अनुपरिहारिक भिक्षा आदि में उनके पीछे वैसे ही प्रयत्नशील और आयुक्त रहते हैं, जैसे गाओं के पीछे ग्वाला।

पारिहारिक आदि नवों व्यक्ति सूत्र-अर्थ की वाचना और प्रतिपृच्छा के अतिरिक्त परस्पर आलाप-संलाप नहीं करते। उठने-बैठने आदि में अशक्त होने पर पारिहारिक आत्मनिर्देश रूप आलाप करते हैं, यथा—उत्थास्यामि, उपवेक्ष्यामि, भिक्षां हिण्डिष्ये.....।

७. परिहारकल्प-परम्परा की कालावधि

पुव्वसयसहस्साइं, पुरिमस्स अणुसज्जती।
वीसग्गसो य वासाइं, पच्छिमस्साणुसज्जती॥
पव्वज्ज अट्टुवासस्स, दिट्ठिवातो उ वीसहिं।
इति एकूणतीसाए, सयमूणं तु पच्छिमे॥
पालइत्ता सयं ऊणं, वासाणं ते अपच्छिमे।
काले देसिंति अण्णेसिं, इति ऊणा तु बे सता॥
पडिवन्ना जिणिंदस्स, पादमूलम्मि जे विऊ।
ठावयंति उ ते अण्णे, णो उ ठावित्ठावगा॥

(बृभा ६४५०-६४५३)

प्रथम तीर्थकर के समय देशों (कुछ कम) दो पूर्व कोटि तक यह परम्परा रहती है और अंतिम तीर्थकर के समय कुछ कम दो सौ वर्ष तक यह परम्परा रहती है।

आठ वर्ष की अवस्था में प्रव्रजित मुनि की नौवें वर्ष में उपस्थापना होती है। मुनिपर्याय के उन्नीसवें वर्ष में उसे दृष्टिवाद की वाचना दी जाती है और एक वर्ष में दृष्टिवाद संबंधी योग सम्पन्न होता है। इस प्रकार उनतीस वर्षीय मुनि अर्हत् ऋषभ के पास परिहारतप स्वीकार करते हैं और देशों (उनतीस वर्ष कम) पूर्वकोटि पर्यंत उस कल्प का अनुपालन करते हैं। उनकी आयु के पर्यंत भाग में उनके पास अन्य मुनि परिहारकल्प स्वीकार करते हैं। वे भी देशों पूर्वकोटि तक कल्प का पालन करते हैं। इस प्रकार देशों दो पूर्वकोटि तक परिहारकल्प की परम्परा चलती है। यह कथन पूर्वकोटि आयुष्य वाले मुनियों की अपेक्षा से है।

भगवान महावीर के शासनकाल में कुछ कम दो सौ वर्ष तक परिहारकल्प की परम्परा अनुवर्तित होती है—यह प्रतिपादन सौ वर्ष के आयुष्य वाले मुनियों की अपेक्षा से है।

तीर्थकर के पास परिहारकल्प स्वीकार करने वाले मुनि ही अन्य मुनियों को परिहारकल्प में स्थापित कर सकते हैं। वे स्थापित मुनि अन्य मुनियों को इस कल्प में स्थापित नहीं कर सकते। अतः यह परम्परा दो पूर्वकोटि या दो सौ वर्ष से अधिक नहीं चलती।

८. सामायिक :परिहारविशुद्धि के संयमस्थान

तुल्ल जहन्ना ठाणा, संजमठाणाण पढम-बितियाणं ।
तत्तो असंख लोए, गंतुं परिहारियडुणा ॥
ते वि असंखा लोणा, अवरुद्धा ते वि पढम-बिइयाणं ।
उवरि पि ततो असंखा, संजमठाणा उ दोणहं पि ॥
सट्टाणे पडिवत्ती, अन्नेसु वि होज्ज पुव्वपडिवन्नो ।
अन्नेसु वि वट्ठतो, तीयनयं वुच्चई पप्प ॥

(बृभा १४३२-१४३४)

सामायिक और छेदोपस्थापनीय के जघन्य संयमस्थान तुल्य होते हैं। उसके बाद असंख्येय लोकाकाशप्रदेश-प्रमाण सामायिक-छेदोपस्थापनीय के संयमस्थान व्यतीत होने पर परिहारविशुद्धि के संयमस्थान भी असंख्येय लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। तीनों में विशुद्धि की दृष्टि से साम्य है किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापनीय

तो परिहारविशुद्धि के पश्चात् भी रहेगा। इसलिए इन दोनों के असंख्येय संयमस्थान अधिक हैं।

परिहारकल्प का स्वीकरण परिहारविशुद्धि चारित्र के संयमस्थान में विद्यमान होने पर ही होता है। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से सामायिक आदि के संयमस्थान विशुद्धतर होते हैं।

सामायिक आदि अन्य संयमस्थानों में विद्यमान होने पर भी व्यवहार नय की अपेक्षा वह परिहारविशुद्धिक कहलाता है क्योंकि वह परिहारविशुद्धि संयमस्थानों का अनुभव कर चुका है और व्यवहारनय अतीत अर्थ को भी मान्य करता है। निश्चय नय की अपेक्षा उसे पारिहारिक नहीं कहा जा सकता।

(सामायिकसंयत, छेदोपस्थापनकसंयत और परिहार-विशुद्धिक-संयत—इनके संयमस्थान असंख्य होते हैं। सूक्ष्मसंपराय-संयत के आन्तर्मुहूर्तिक असंख्य संयमस्थान होते हैं। यथाख्यातसंयत के एक संयमस्थान होता है। सामायिकसंयत यावत् यथाख्यातसंयत के चारित्रपर्यव अनंत होते हैं।—भ २५/४८६-४८८, ४९०

परिहारविशुद्धिक स्थितकल्पी, कषायकुशीलनिग्रंथ और अप्रतिसेवी होते हैं। उनकी गति जघन्य सौधर्मकल्प, उत्कृष्ट सहस्तरकल्प है।—भ २५/४६२, ४६५, ४६८, ४८१)

० संयमस्थान : अविभागपरिच्छेद...कण्डक...

अविभागपलिच्छेया, ठाणंतर कंडए य छट्टाणा ।...
अविभागपलिच्छेदं, चरित्तपज्जव-पएस-परमाणु ।...
ते कित्तिया पएस, सव्वागासस्स मग्गणा होइ ।
ते जित्तिया पएस, अविभाग तओ अणंतगुणा ॥

इह संयमस्थानं केवलप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यमानं निरंशतया यदा विभागं न यच्छति तदाऽसावन्तिमो अंशो अविभागपरिच्छेद उच्यते ।...सर्वाकाशप्रदेशेभ्यश्चारित्रस्य अविभागपरिच्छेदा अनन्तगुणाः सर्व-जघन्येऽपि संयमस्थाने प्रतिपत्तव्याः । एषा अविभागपरिच्छेद-प्ररूपणा ।

...प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया द्वितीये संयमस्थाने निर्विभागा भागा अनन्ततमेन भागेनाधिका भवन्तीति । एषा स्थानान्तरप्ररूपणा ।

तस्मादपि यदनन्तरं तृतीयं तत् ततोऽनन्तभागवृद्धम्, एवं पूर्वस्मादुत्तराणि अनन्ततमेन भागेन वृद्धानि निरन्तरं संयमस्थानानि तावद् वक्तव्यानि यावद्भुलमात्रक्षेत्रासंख्येय-

भागगत प्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति। एतावन्ति च समुदितानि स्थानानि कण्डकमित्युच्यते। एषा कण्डकप्ररूपणा।

...पश्चात्कण्डकसत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया कण्डकानन्तरे संयमस्थाने निर्विभागा भागा असंख्येयतमेन भागेनाधिकाः प्राप्यन्ते। ततः पराणि पुनरपि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति, ततः पुनरेकमसंख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितानि असंख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद् वक्तव्यानि यावत् तान्यपि कण्डकप्रमाणानि भवन्ति। ततश्चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात् पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि भवन्ति, ततः परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, ...तत उत्क्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिकसंयमस्थानप्रसंगे संख्येयगुणाधिकमेकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, ...असंख्येयगुणाधिकं... अनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, ...एवमनन्तगुणाधिकानि तावद् वक्तव्यानि यावत् कण्डकमात्राणि भवन्ति। इत्थम्भूतान्यसंख्येयानि कण्डकानि समुदितानि षट्स्थानकं भवति। षट्स्थानकान्यपि तावद् वाच्यानि यावदसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति। इत्थम्भूतानि चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट्स्थानकानि संयमश्रेणिरुच्यते।

(बृभा ४५०९, ४५११, ४५१२ वृ)

अविभागपरिच्छेद, स्थानान्तर, कण्डक, षट्स्थानक आदि प्ररूपणाद्वारों से चारित्रश्रेणि के संयमस्थानों की प्ररूपणा की जाती है।

केवली के प्रज्ञाच्छेदनक से छिद्यमान संयमस्थानों में जो अंतिम निरंश विभाग है, उसका नाम 'अविभाग परिच्छेद' है। चारित्रपर्यव, चारित्रप्रदेश और चारित्रपरमाणु—ये अविभागपरिच्छेद के पर्यायवाची नाम हैं।

० अविभागपरिच्छेद प्ररूपणा—इसमें सर्व लोकाकाश की मार्गणा होती है। सर्वआकाश के जितने प्रदेश हैं, उन सर्वाकाशप्रदेशों से चारित्र के अविभागपरिच्छेद सर्वजघन्य संयमस्थान में भी अनन्तगुण हैं।

० स्थानान्तरप्ररूपणा—सर्वजघन्य प्रथम संयमस्थान की अपेक्षा द्वितीय संयमस्थान के चारित्रपर्यव अनन्ततम भाग अधिक हैं।

० कण्डकप्ररूपणा—दूसरे संयमस्थान से तीसरा संयमस्थान अनन्तभाग अधिक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर निरंतर अनन्ततमभाग से परिवृद्ध संयमस्थान तब तक वक्तव्य हैं, जब तक वे अंगुलमात्रक्षेत्र के असंख्येयभागगत प्रदेशराशि जितने परिमाण में होते हैं। इतने समुदित स्थानों को कण्डक कहा जाता है।

० षट्स्थान प्ररूपणा—पश्चाद्वर्ती कण्डक के चरम संयमस्थानगत निर्विभाग भाग की अपेक्षा कण्डकानन्तर संयमस्थान में निर्विभाग भाग असंख्येयतम भाग अधिक होते हैं। उससे आगे कण्डकमात्र संयमस्थान यथोत्तर अनन्तभाग अधिक होते हैं। उससे आगे पुनः असंख्येय भाग अधिक एक संयमस्थान तथा उससे आगे यथोत्तर अनन्तभागवृद्ध कण्डकमात्र संयमस्थान, तत्पश्चात् पुनः असंख्येय-भाग अधिक एक संयमस्थान—इस प्रकार अनन्तभाग अधिक कण्डकप्रमाण संयमस्थानों से व्यवहित असंख्येय भाग अधिक संयमस्थान वहां तक वक्तव्य हैं, जहां वे भी कण्डकप्रमाण होते हैं।

उस चरम असंख्येय भाग अधिक संयमस्थान से परे यथोत्तर अनन्तभाग अधिक कण्डकमात्र संयमस्थान होते हैं। उससे आगे संख्येय भाग अधिक एक संयमस्थान होता है। उससे आगे पूर्वोक्त से-पुनः कण्डकमात्र स्थान होने पर संख्येयभाग अधिक संयमस्थान के प्रसंग में संख्येयगुण अधिक एक संयमस्थान वक्तव्य है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर पूर्व परिपाटी से असंख्येयगुण अधिक और अनन्तगुण अधिक संयमस्थान कण्डकप्रमाणपर्यंत वक्तव्य हैं।

० षट्स्थानप्ररूपणा—इस प्रकार के असंख्येय कण्डक समुदित होने पर षट्स्थानक भी जब तक असंख्येय लोकाकाशप्रदेशप्रमाण होते हैं, तब तक वाच्य हैं। इस प्रकार के षट्स्थानकों को संयमश्रेणि कहा जाता है।

पर्युषणाकल्प—वर्षाकल्प, पर्युषणा की आचारमर्यादा।

१. पर्युषणा के पर्यायवाची नाम

* पर्युषणाकल्प : स्थित-अस्थित इ कल्पस्थिति

२. पर्युषणा की स्थापना कब ? कैसे ?

० द्रव्य आदि की स्थापना

* वर्षावास-योग्य क्षेत्र इ क्षेत्रप्रतिलेखना

३. वर्षावासक्षेत्र की अनुज्ञापना और प्रवेश

० शय्या-ग्रहण-प्रतिलेखन

० वस्त्र-ग्रहण-निषेध

* वर्षावास में उपाधि-अग्रहण, तीन मात्रक	द्र उपाधि
४. प्रथम प्रावृट् और वर्षावास में विहार-निषेध	
○ विहार से हानि, विहार के अपवाद	
५. पर्युषणाकाल : जघन्य-उत्कृष्ट ज्येष्ठावग्रह	
६. वर्षावास के पश्चात् वहीं रहने का हेतु	
७. पर्युषणा में क्षेत्रगमन-सीमा, भिक्षाचरी-क्षेत्र	
८. वर्षावास में करणीय कार्य	
९. पर्युषणा (संवत्सरी) पर्व दिन	
○ आर्यकालक : चतुर्थी को संवत्सरी	
* पर्युषणा में क्षमायाचना अनिवार्य	द्र अधिकरण
१०. पर्युषण तप की अनिवार्यता	
○ पूर्ण निराहार अथवा योगवृद्धि	
○ वर्षाकालीन तप से बलवृद्धि	
* आज्ञापूर्वक विकृति-ग्रहण और तप	द्र आज्ञा
११. नित्यभोजी और तपस्वी : गोचरकाल	
१२. तप और पानक प्रमाण	
○ विविध पानक : ग्रहणविधि	
१३. पर्युषणा में लोच की अनिवार्यता	
○ जिनकल्पी आदि और लोच	
○ केशलोच क्यों ?	

१. पर्युषणा के पर्यायवाची नाम

पञ्जोसमणाए अक्खराइं होति उ इमाइं गोण्णाइं।
परियायवत्थवणा, पञ्जोसमणा य पागइया॥
परिवसणा पञ्जुसणा, पञ्जोसमणा य वासवासो य।
पढमसमोसरणं ति य, ठवणा जेट्ठोग्गहेगट्ठा॥

.....उडुबद्धिया दव्वखेत्तकालभावपञ्जाया एत्थ
पञ्जोसविज्जति, उज्झिज्जति भणितं होइ, अण्णारिसा
दव्वादिपञ्जाया वासारत्ते आधरिज्जति तम्हा पञ्जोसमणा
भण्णति।.....एगत्थ चत्तारि मासा परिवसंतीति परिवसणा।
सव्वासु दिसासु ण परिब्भमंतीति पञ्जुसणा। वरिसासु चत्तारि
मासा एगत्थ अच्छंतीति वासावासो। निव्वाघातेणं पाउसे चेव
वासपाउगं खित्तं पविसंतीति पढमसमोसरणं।.....उडुबद्धे
एक्केक्कं मासं खेतोग्गहो भवति, वरिसासु चत्तारि मासा एग-
खेतोग्गहो भवति ति जेट्ठोग्गहो। (दशानि ५३, ५४ चू)

.....पञ्जोसवणादिवसे पव्वज्जापरियागो व्यपदिश्यते....

संखा—एत्तिया वरिसा मम उवट्ठावियस्स।.....सव्वलोगप-
सिद्धेण पागताभिधाणेण पञ्जोसवणा भण्णति।.....बहूण
समवातो समोसरणं। ते य दो समोसरणा—एगं वासासु, बितियं
उडुबद्धे। जतो पञ्जोसवणातो वरिसं आढप्पति अतो पढमं
समोसरणं भण्णति।.....वासकप्पमेरा ठविज्जति”।

(निभा ३१३८-३१३९ की चू)

प्रथमसमवसरणं ज्येष्ठावग्रहो वर्षावास इति।.....द्वितीय-
समवसरणम् ऋतुबद्ध इति चैकार्थम्। (बृभा ४२४२ की वृ)

पर्युषणा के गुणनिष्पन्न पर्यायवाची नाम आठ हैं—

- पर्यायव्यवस्थापन—पर्युषणा के दिन प्रव्रज्यापर्याय की संख्या का व्यपदेश किया जाता है—मुझे दीक्षित हुए इतने वर्ष हुए हैं।
- पर्यायवना—इसमें ऋतुबद्धिक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-पर्यायों का परित्याग तथा वर्षाकल्पप्रायोग्य द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है।
- परिवसना—पर्युषणा—मुनि चार मास तक सर्वथा एक स्थान पर रहते हैं, सब दिशाओं में परिभ्रमण का निषेध होता है।
- पर्युपशमना—इसमें कषायों का उपशमन किया जाता है। पूर्व कलह का क्षमायाचना द्वारा सर्वथा उपशमन किया जाता है। इसकी लोकप्रसिद्ध प्राकृत अभिधा है—पञ्जोसवणा।

५. वर्षावास—वर्षा में चार मास एक स्थान में रहना होता है।

६. प्रथम समवसरण—कोई व्याघात न हो तो प्रथम प्रावृट् (आषाढ) में ही वर्षावासप्रायोग्य क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है।

समवसरण का अर्थ है—बहुतों का समवाय। वे दो होते हैं—वर्षाकाल में और ऋतुबद्धकाल में। पर्युषणाकाल से वर्ष का प्रारंभ होता है, इसलिए इसे प्रथम समवसरण कहा जाता है।

प्रथम समवसरण, ज्येष्ठावग्रह और वर्षावास—ये एकार्थक हैं। द्वितीय समवसरण और ऋतुबद्ध—ये एकार्थक हैं।

७. स्थापना—वर्षावास-साम्राचारी की स्थापना की जाती है।

८. ज्येष्ठावग्रह—ऋतुबद्धकाल में एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है, वर्षावास में चार मास का एक क्षेत्रावग्रह होता है।

२. पर्युषणा की स्थापना कब ? कैसे ?

आसाढपुण्णिमाए, वासावासासु होति अतिगमणं।
मग्गसिरबहुलदसमी, उ जाव एक्कम्मि खेतम्मि॥
बाहि ठिया वसभेहिं, खेतं गाहेत्तु वासपाउगं।
कप्पं कथेत्तु ठवणा, सावणाबहुलस्स पंचाहे॥

एत्थ य अणाभिग्गहियं, वीसतिरायं सवीसगं मासं ।
तेण परमभिग्गहियं, गिहिणायं कत्तिओ जाव ॥
असिवाइकारणेहिं, अहवण वासं ण सुद्धु आरब्धं ।
अभिवड्ढियम्मि वीसा, इयरेसु सवीसती मासे ॥
एत्थ उ पणगं पणगं, कारणिगं जा सवीसती मासो ।
सुद्धदसमीठियाण व, आसाढीपुण्णिमोसरणं ॥
(बृभा ४२८०-४२८४)

....सवीसतिराते मासे पुण्णे जति वासखेतं ण लब्धति
तो रुक्खहेट्ठा वि पज्जोसवेयव्वं । तं च पुण्णिमाए पंचमीए
दसमीए एवमादिपव्वेसु...णो अपव्वेसु । (निभा ३१५३ की चू)

वर्षावासक्षेत्र में आषाढी पूर्णिमा को प्रवेश कर कार्तिक
पूर्णिमा तक रहकर, वहां से निर्गमन करना चाहिए। वर्षा आदि
कारणों से मिंगसर कृष्णा दसमी तक भी वहां रहा जा सकता है।

श्रावण की पंचमी को वर्षाकाल की सामाचारी की स्थापना
की जाती है, परन्तु वह स्थान अनवधारित ही रखा जाता है। यदि
गृहस्थ पूछे कि क्या आप यहां वर्षावास के लिए स्थित हो गए? मुनि
निश्चयपूर्वक कुछ न कहे। यदि अभिवर्धित संवत्सर हो तो बीस
दिन-रात तक तथा चान्द्र संवत्सर हो तो एक मास बीस दिन-रात
तक यह अनिश्चितता रह सकती है। इस अवधि के पश्चात् स्थिति
की निश्चितता कर देनी चाहिए। गृहस्थों को भी कह देना चाहिए
कि हम यहां वर्षावास के लिए स्थित हैं।

वर्षावास-स्थिति की निश्चितता में इतना लंबा कालक्षेप
क्यों? आचार्य कहते हैं—महामारी, राजद्वेष आदि कारणों से अथवा
अच्छी वर्षा के अभाव में धान्यनिष्पत्ति न होने पर मुनियों को
अन्यत्र जाना पड़ता है, तब लोगों में अपवाद होता है। इन सबसे
बचने के लिए कालक्षेप आवश्यक होता है।

इस प्रकार पांच-पांच दिन-रात बढ़ाते-बढ़ाते एक मास और
बीस दिन-रात के पश्चात् भी यदि वर्षावास योग्य क्षेत्र प्राप्त न
हो तो भाद्रपद शुक्ला पंचमी को वृक्ष के नीचे ही पर्युषण कर
लेना चाहिये।

आषाढ शुक्ला दशमी को वर्षाक्षेत्र में प्रवेश कर लेने पर
आषाढी पूर्णिमा को पर्युषण करना चाहिये। पर्युषण (वर्षावास में
अवस्थान) पूर्णिमा, पंचमी, दशमी और अमावस्या—इन पर्वतिथियों
में करना चाहिये, अपर्वतिथि में नहीं।

....समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे
विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेइ ॥ (दशा ८ परि सू २२३)

श्रमण भगवान महावीर वर्षाऋतु के पचास दिन बीत जाने
पर वर्षावास के लिए पर्युषित (स्थित) हुए।

(वर्षावास में मुनि पचास दिन तक उपयुक्त वसति की
गवेषणा के लिए इधर-उधर आ-जा सकता है। किन्तु भाद्रपद
शुक्ला पंचमी के दिन उसे जो स्थान प्राप्त हो, उसी में स्थित होना
पड़ता है। इसे पर्युषणा कहते हैं। यदि कोई स्थान न मिले तो वृक्ष
के नीचे ही उसे स्थित हो जाना चाहिए।—सम ७०/१ की वृ)

० द्रव्य आदि की स्थापना

सचित्ते सेहो ण पव्वाविज्जति, अचित्ते वत्थादि ण
घेप्पति ।...खेत्तठवणा सकोसजोयणं... । कालडुवणा चत्तारि
मासा, यच्च तस्मिन् कल्व्यं । भावठवणा कोहादिविवेगो भासा-
समित्तियुत्तेण य होतव्वं । (दशानि ५५-५६ की चू)

द्रव्य आदि के विधि-निषेध की स्थापना की जाती है—
सचित्त द्रव्य स्थापना—पर्युषण में किसी को दीक्षा नहीं देना।
अचित्त द्रव्य स्थापना—वस्त्र आदि ग्रहण नहीं करना।
क्षेत्र स्थापना—भिक्षा हेतु पांच कोश तक जाना-आना।
काल स्थापना—चार मास और उस काल में जो कल्पनीय है।
भाव स्थापना—क्रोध आदि कषायों का विवेक और भाषासमिति
आदि के प्रति विशेष जागरूकता।

मोत्तुं पुराण-भावितसङ्के, संविग्ग सेसपडिसेहो ।
मा होहिति निद्धम्मो, भोयण मोए य उड्डाहो ॥
(दशानि ८७)

परम्परा से पुराना (जिसको पहले दीक्षा दी जा चुकी हो),
श्रद्धा से ओत-प्रोत तथा वैरागी व्यक्ति को छोड़कर शेष व्यक्तियों
को चातुर्मास में प्रव्रजित करने का निषेध है। उनको प्रव्रजित करने
पर वे धर्मशून्य अर्थात् वर्षा आदि में जाने-आने में शंकाशील हो
सकते हैं तथा मंडली में भोजन करने, मात्रक में प्रस्रवण आदि
करने पर उनके के मन में उड्डाह—प्रवचन के प्रति तिरस्कार का
भाव पैदा हो सकता है।

३. वर्षावासक्षेत्र की अनुज्ञापना और प्रवेश

खेत्ताण अणुणवणा, जेट्टामूलस्स सुद्धपाडिवए ।...

जतणाए समणाणं, अणुणवेत्ता वसंति खेत्तबहिं ।
वासावासड्ढाणं, आसाढे सुद्धदसमीए ॥
(व्यभा ३९०१, ३९२३)

ज्येष्ठामूल मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को क्षेत्रों की अनुज्ञापना होती है। श्रावक आदि को यतनापूर्वक अनुज्ञापित कर मुनि क्षेत्र के बाहर रहे और आषाढ शुक्ला दशमी को वर्षावास-स्थान में प्रवेश करे।

० शय्या-ग्रहण-प्रतिलेखन

वासावासं पञ्जोसवियाणं कप्पइ...तओ उवस्सया
गिण्हत्ताए, वेड्व्विया पडिलेहा साइज्जिया पमज्जणा ॥

विउव्विया पडिलेहा—पुणो पुणो पडिलेहिज्जति
संसत्ते, असंसत्ते तिनि वेलाउ पुव्वण्हे भिक्खं गतेसु वेतालियं,
जे अन्ने दो उवस्सया...दिणे दिणे निहालिज्जति...ततिए दिवसे
पादपुंछणेण पमज्जिज्जति । (दशा ८ परि सू २८४ चू)

वर्षावास में स्थित निर्ग्रथ और निर्ग्रथी तीन उपाश्रय ग्रहण कर सकते हैं। वे उपयोग में आने वाले, जीवों से संसक्त उपाश्रय की बार-बार तथा असंसक्त उपाश्रय की दिन में तीन बार—पूर्वाह्न, भिक्षाकाल में और सायंकाल प्रतिलेखना करते हैं। अन्य दो उपाश्रयों की प्रतिदिन प्रतिलेखना और तीसरे दिन पादप्रोक्षण से प्रमार्जना करते हैं।

० वस्त्र-ग्रहण-निषेध

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पढमसमोसर-
णुहेस-यत्ताइं चेलाइं पडिग्गाहित्तए ॥

कप्पइ...दोच्चसमोसरणुहेसयत्ताइं चेलाइं पडिग्गाहित्तए ॥
प्रथमसमवसरणे—वर्षाकाले उद्देशः—क्षेत्रकाल-
विभागस्तं प्राप्तानि...वर्षावासप्रायोग्यं क्षेत्रं प्राप्ताः आषाढपूर्णिमा
च सञ्जाता तत इयन्तं क्षेत्र-कालविभागं प्राप्तानि वस्त्राणि न
कल्पन्ते । (क ३/१६, १७ वृ)

आसाढपुण्णिमाए, ठिया उ दोहिं पि होति पत्ता उ ।
तत्थेव य पडिसिद्धइ, गहणं ॥
(बृभा ४२४८)

निर्ग्रथ और निर्ग्रथी प्रथम समवसरण—वर्षाकाल में उद्देश

प्राप्त—वर्षावासप्रायोग्य क्षेत्र और आषाढपूर्णिमा तिथि—इस क्षेत्र और कालविभाग में प्राप्त वस्त्रग्रहण नहीं कर सकते। वे द्वितीय समवसरण (ऋतुबद्धकाल) में वस्त्र ग्रहण कर सकते हैं।

४. प्रथमप्रावृट् और वर्षावास में विहार-निषेध

जे भिक्खू पढमपाउसंसि गामाणुगामं दूइज्जति... ॥
...वासावासंसि पञ्जोसवियंसि दूइज्जति... ॥

पाउसो आसाढो सावणो य दो मासा । तत्थ आसाढो
पढम पाउसो भण्णति । अहवा छण्हं उतूणं जेण पढमपाउसो
वण्णिज्जति तेण पढमपाउसो भण्णति । (नि १०/३४, ३५ चू)

वह भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है,

० जो प्रथम प्रावृट्—आषाढ में ग्रामानुग्राम विहार करता है।
० जो वर्षावास में पर्युषणाकल्पपूर्वक निवास कर विहार करता है।
आषाढ और श्रावण—ये दो मास प्रावृट् कहलाते हैं। इनमें आषाढ प्रथम प्रावृट् है। अथवा छह ऋतुओं में प्रावृट् ऋतु का वर्णन प्रथम होने से यह प्रथम प्रावृट् है।

(१. प्रथम प्रावृट् में विहार नहीं करना चाहिए।

२. वर्षावास में पर्युषणाकल्पपूर्वक निवास करने पर विहार नहीं करना चाहिए।—यहां दो सूत्रों में बताया गया है कि प्रथम प्रावृट् में और वर्षावास में पर्युषणाकल्प के द्वारा निवास करने पर विहार न किया जाए। प्रथम प्रावृट् में विहार न किया जाए—अर्थात् आषाढ में विहार न किया जाये। प्रावृट् का अर्थ यदि चातुर्मास प्रमाण—वर्षाकाल किया जाये तो प्रथम प्रावृट् में विहार के निषेध का अर्थ यह करना होगा कि पर्युषणाकल्प से पूर्ववर्ती पचास दिनों में विहार न किया जाए। पर्युषणाकल्पपूर्वक निवास करने के बाद विहार न किया जाए— इसका अर्थ है कि भाद्रशुक्ला पंचमी से कार्तिक तक विहार न किया जाए। इन दोनों सूत्रों का संयुक्त अर्थ यह है कि चातुर्मास में विहार न किया जाए। मुनि पर्युषणाकल्पपूर्वक निवास करने के बाद साधारणतः विहार कर ही नहीं सकते। किन्तु पूर्ववर्ती पचास दिनों में उपयुक्त सामग्री के अभाव में विहार कर भी सकते हैं।—स्था ५/९९, १०० टिप्पण)

अब्भुवगाए खलु वासावासे अभिपवुट्ठे, बहवे पाणा
अभिसंभूया, बहवे बीया अहुणुब्भिन्ना, अंतरा से मग्गा
बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया बहुओसा बहुउदया बहुउत्तिंग-

पणम-दग-मड्डिय-मक्कडासंताणगा, अणभिव्कंता पंधा, णो विण्णाया मग्गा, सेवं णच्चा णो गामाणुगामं दूड्ज्जेज्जा, तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिएज्जा ॥ (आचूला ३/१)

वर्षाकाल आने पर वर्षा होती है, बहुत से प्राणी उत्पन्न होते हैं, तत्काल बहुत से बीज अंकुरित होते हैं, मार्ग में प्राणी, बीज, हरित, ओस और उदक की बहुलता हो जाती है, चींटियों के बिल, फफूंदी, दलदल और मकड़ी के जाले बहुत होते हैं, मार्ग अनधिक्रान्त हो जाते हैं, (हरियाली आदि के कारण) मार्ग अच्छी तरह से ज्ञात नहीं होते, इसको जानकर मुनि ग्रामानुग्राम परिव्रजन न करे, एक स्थान में ही संयत होकर वर्षावास बिताये।

.....जओ णं पाएणं अगारीणं अगाराइं कडियाइं उक्कंबियाइं छन्नाइं लिच्छाइं गुत्ताइं घट्टाइं मट्टाइं सम्मट्टाइं संपथूमियाइं खाओदगाइं खातनिद्धमणाइं अप्पणो अट्टाए कयाइं परिभुत्ताइं परिणामियाइं भवन्ति ।..... (दशा ८ परि सू २२४)

.....कटादिभिः समन्ततः पाश्वानामाच्छादनम्.....उपरि कम्बिकानां बन्धनम्.....दर्भादिभिराच्छादनम्.....कुड्यानां..... गोमयेन च लेपप्रदानम्..... । (बृभा ५८३ की वृ)

वर्षाकाल में साधु को एक स्थान पर स्थित हो जाना चाहिये क्योंकि उस समय तक प्रायः गृहस्थों के घरों के सब ओर के पार्श्व भाग चटाइयों से आच्छादित, स्तंभ पर बांस की कम्बिकाओं का बन्धन, घर का उपरि भाग दर्भ से आच्छादित, दीवारों गोबर से लोपी हुई, द्वार कपाटों से संरक्षित, विषम भूमिभाग घर्षण द्वारा सम किये हुए, घर प्रमार्जित, अत्यंत साफ-सुथरे और धूप आदि सुगंधित द्रव्यों से सुवासित होते हैं, भूमि को खोदकर जलाशय और नालियां बनाई जाती हैं—गृहस्थ ये कार्य अपने प्रयोजन से करते हैं, इस प्रकार घर आदि स्थान गृहस्थों द्वारा कृत, परिभुक्त और परिणामित होते हैं।

○ विहार से हानि, विहार के अपवाद

छक्कायाण विराहण, आवडणं विसम-खाणु-कंटेसु।
वुब्भण अभिहण रुक्खोल्ल, सावय तेणे गिलाणे य ॥
(बृभा २७३६)

वर्षावास में यात्रा करने के अनेक दोष हैं—

- छह काय की विराधना होती है।
- विषम या पंकिल भूभाग में वह खलित हो सकता है।

- स्थाणु, कंटक, जलप्रवाह आदि बाधित कर सकते हैं।
- गिरिनदी के तटवर्ती मार्ग से जाने से अभिघात हो सकता है।
- भोग जाने के भय से वह वृक्ष के नीचे जाता है, उस समय वायु के प्रबल वेग से वृक्ष टूट सकता है।
- श्वापद, स्तेन आदि संत्रस्त कर सकते हैं।
- ग्लान—गीले वस्त्र पहनने से अजीर्ण हो सकता है।

असिवे ओमोयरिए, रायहुट्टे भए व गेलन्ने।
नाणादिनिगस्सऽट्टा, वीसुंभण पेसणेणं वा ॥
आऊ तेऊ वाऊ, दुब्बल संकामिए अ ओमाणे।
पाणाइ सप्प कुंथू, उट्टुण तह थंडिलस्सऽसती ॥
(बृभा २७४१, २७४२)

तेरह कारणों से वर्षावास में विहार किया जा सकता है—

- महामारी, दुर्भिक्ष, राजद्विष्ट, स्तेनभय आदि स्थितियां उत्पन्न होने पर उनसे छुटकारा पाने के लिए।
- ग्लान—ग्लान की परिचर्या के लिए।
- ज्ञान—अपूर्व श्रुतस्कंध के ज्ञाता कोई आचार्य अनशन करना चाहते हों, उस श्रुत का व्यवच्छेद न हो जाए इसलिए उसे प्राप्त करने के लिए।
- दर्शन—दर्शन प्रभावक ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए।
- चारित्र—स्त्री और एषणा संबंधी दोषनिवारण के लिए।
- विष्वग्भवन—आचार्य की मृत्यु हो जाने पर तथा गण में दूसरा शिष्य आचार्य-योग्य न होने पर दूसरे गण की उपसम्पदा स्वीकार करने के लिए अथवा अनशन प्रतिपन्न की विशेषी के लिए।
- प्रेषित—तात्कालिक कोई कारण उत्पन्न होने पर आचार्य के द्वारा भेजे जाने पर वह वर्षाकाल में जाता है और कार्य सम्पन्न होने पर तत्काल गुरु के पास आ जाता है।
- जलप्रवाह, अग्नि या तेज हवा से वसति भग्न हो गई हो अथवा गिरने जैसी स्थिति को प्राप्त हो गई हो।
- संक्रामित—श्राद्धकुलों का अन्यत्र संक्रमण हो गया हो।
- अवमान—परतीर्थिकों के आने से भोजन में कमी हो गई हो।
- प्राणी—वसति जीव-जंतुओं से अथवा कुंथु जीवों से संसक्त हो गई हो अथवा उसमें सर्प आदि आकर स्थित हो गए हों।
- उत्थित—ग्राम उजड़ गया हो।
- स्थण्डिल—स्थण्डिलभूमि का अभाव हो गया हो।

(पांच कारणों से प्रथम प्रावृत् (आषाढ) में विहार किया जा सकता है—भय से, दुर्भिक्ष होने पर, ग्राम से निकाल दिए जाने पर, बाढ़ आ जाने पर, अनार्यों द्वारा उपद्रुत किए जाने पर।

पांच कारणों से वर्षावास—पर्युषण में विहार किया जा सकता है—ज्ञानार्थ, दर्शनार्थ, चारित्रार्थ, आचार्य-उपाध्याय-विष्वग्-भवन, आचार्य-उपाध्याय-वैद्यावृत्यकरण।—स्था ५/९९, १००)

५. पर्युषणाकाल : जघन्य-उत्कृष्ट ज्येष्ठावग्रह

इय सत्तरी जहणणा, असीति णउई दसुत्तर सयं च।
जति वासति मग्गसिरे, दस राया तिण्णि उक्कोसा ॥

जे आसाढचाउम्मासियातो सवीसतिराते मासे गते पज्जो-सवेति तेसिं सत्तरीदिवसा जहणणातो जेट्ठोग्गहो भवति । जे भद्वयबहुलस्स दसमीए पज्जोसवेति तेसिं असीति दिवसा जेट्ठोग्गहो, जे सावणापुन्निमाए पज्जोसवेति तेसिं णउतिं दिवसा जेट्ठोग्गहो, जे सावणाबहुलदसमीए ठिता तेसिं दसुत्तरं दिवससत्तं जेट्ठोग्गहो।
(दशानि ६९ चू)

१. जघन्य ज्येष्ठावग्रह—सत्तर दिनों का। आषाढी चातुर्मासिक पक्खी के बाद एक मास बीस दिनों पश्चात् पर्युषणा करने पर वर्षावास के ७० दिन शेष रहते हैं—यह जघन्य ज्येष्ठावग्रह है।

२. मध्यम ज्येष्ठावग्रह—भाद्रपद कृष्णा दसमी को पर्युषणा करने पर ८० दिन का। श्रावणी पूर्णिमा को पर्युषणा करने पर ९० दिन का, श्रावण शुक्ला पंचमी को पर्युषणा करने पर १०० दिन का तथा श्रावण कृष्णा दसमी को पर्युषणा करने पर ११० दिन का।

३. उत्कृष्ट ज्येष्ठावग्रह—आषाढी पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक १२० दिन का उत्कृष्ट वर्षावास। मुनि को कार्तिकी पूर्णिमा को विहार कर देना चाहिए। यदि मृगशिर में प्रचुर वृष्टि हो, तो उत्कृष्ट तीन दशरात्र—मृगशिर की पूर्णिमा तक वहां रहे। उसके पश्चात् भी यदि निरन्तर सघन वर्षा हो रही हो, तब भी अवश्य विहार करे। इस प्रकार पांचमासिक ज्येष्ठावग्रह होता है।

काऊण मासक्कप्पं, तत्थेव ठिताणउतीते मग्गसिरे।
सालंबणाण छम्मासिओ उ जेट्ठोग्गहो होत्ति ॥
(बृभा ४२८६)

जिस क्षेत्र में आषाढमासकल्प किया, वर्षावास प्रायोग्य अन्य क्षेत्र न मिलने पर मासकल्प वाले उसी क्षेत्र में वर्षावास के लिए

स्थित होना पड़ता है। कार्तिकी पूर्णिमा के बाद कर्दम, वर्षा आदि कारणों से मार्गशीर्ष मास भी यदि वहीं बिताना पड़ता है, तो छह महीनों का उत्कृष्ट ज्येष्ठावग्रह होता है।

६. वर्षावास के पश्चात् वहीं रहने का हेतु

.....चत्तारि मासा वासाणं वीइक्कंता, हेमंताण य पंच-दस-रायकप्पे परिवुसिए, अंतरा से मग्गा बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया.....णो जत्थ बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा उवागया उवागभिस्संति य। सेवं णच्चा णो गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥
(आचूला ३/४)

वर्षाकाल के चार मास बीत गए हैं, हेमंत ऋतु के पांच या दस (अथवा पन्द्रह) अहोरात्र तक रह चुका है, (तो मुनि विहार करे, किन्तु) मार्ग में प्राणी, बीज, हरित आदि बहुत हैं, जहां बहुत श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और वनीपक आए हुए नहीं हैं और न आयेंगे—मुनि ऐसा जानकर (मार्गशीर्ष मास पर्यंत) एक गांव से दूसरे गांव परिव्रजन न करे।

७. पर्युषणा में क्षेत्रगमन-सीमा, भिक्षाचरी-क्षेत्र

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गं-थीण वा जाव चत्तारि पंच जोयणाइं गंतुं पडिनियत्तए, अंतरा वि से कप्पइ वत्थए, नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवाइणावित्तए ॥

.....वासकप्पओसधनिमित्तं गिलाणावेज्जनिमित्तं वा.....।
(दशा ८ परि सू २८६ चू)

वर्षावास में पर्युषित निर्ग्रथ अथवा निर्ग्रथी वर्षावासकल्प, औषधि, ग्लान, वैद्य आदि निमित्तों से चार-पांच योजन जा-आ सकते हैं, मार्ग में भी रह सकते हैं, किन्तु वह रात्रि वहां नहीं बिता सकते।

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गं-थीण वा सब्बओ समंता सकोसं जोयणं भिक्खायरियाए गंतुं पडिनियत्तए..... ॥
(दशा ८ परि सू २३२)

वर्षावास में पर्युषित निर्ग्रथ-निर्ग्रथी सक्रोश योजन (पांच कोश) की सीमा में चारों ओर भिक्षार्थियों के लिए जा-आ सकते हैं।

८. वर्षावास में करणीय कार्य

पच्छिन्नं बहुपाणा, कालो बलिओ चिरं च ठायव्वं ।
सञ्जाय-संजम-तवे, धणियं अप्पा णियोत्तव्वो ॥
पुरिमचरिमाण कप्पो, तु मंगलं वद्धमाणतित्थम्मि ।
तो परिकहिया जिणगणहरा य थेरावलिचरित्तं ॥
(निभा ३२०२, ३२०३)

ऋतुबद्धकाल में प्राप्त तप-प्रायश्चित्त का वहन वर्षावास में करना चाहिए क्योंकि उस समय प्राणियों की बहुलता के कारण भिक्षाटन कठिन होता है, दीर्घकालिक प्रवास और तप हेतु काल की अनुकूलता होती है। शीतलता के कारण इन्द्रियां उद्दीप्त हो जाती हैं, उनके निरोध के लिए भी तप आवश्यक है।

वर्षावास में अपने आपको स्वाध्याय, संयम और तप में सघनता से नियोजित करना चाहिए।

वर्षा हो या न हो, वर्षाकाल में पर्युषणा करना प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शिष्यों का आचार है।

वर्धमानस्वामी के तीर्थ में मंगल होता है, मंगल के लिए अर्हत्-चरित्र, गणधर-चरित्र और स्थविरावलि का वाचन होता है।

९. पर्युषणा (संवत्सरी) पर्व दिन

जे भिक्खू पज्जोसवणाए ण पज्जोसवेत्ति.....अपज्जो-
सवणाए पज्जोसवेत्ति.....आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वारं
अणुग्धातियं ॥
(नि १०/३६, ३७, ४१)

जो भिक्षु पर्युषण में पर्युषण नहीं करता या अपर्युषण में पर्युषण करता है, वह गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

.....भद्वयसुद्धपंचमीए युज्जति ।.....सीसो पुच्छति—
“इयाणिं कहं चउत्थीए अपव्वे पज्जोसविज्जति ?”
आयरिओ भणति—“कारणिया चउत्थी अज्जकालगायरिण
पवत्तिया ।”
(निभा ३१५३ की चू)

भाद्रपद शुक्ला पंचमी को संवत्सरी होती है। शिष्य ने पूछा—आजकल अपर्वतिथि—चतुर्थी को संवत्सरी क्यों होती है ? आचार्य ने कहा—चतुर्थी कारणीक तिथि है, जो आचार्य कालक के द्वारा प्रवर्तित है।

० आर्यकालक : चतुर्थी को संवत्सरी

अज्जकालएण सातवाहणो भणितो—भद्वयजोणहस्स

पंचमीए पज्जोसवणा । रन्ना भणितो—तद्विसं मम इंदो
अणुजातव्वो होहिति तो ण पज्जुवासिताणि चेतियाणि साधुणो
वा भविस्संति त्ति कातुं तो छट्ठीए पज्जोसवणा भवतु ।
आयरिण भणितं न वट्ठति अतिक्कामेतुं । रन्ना भणियं—ते
चउत्थीए भवतु । आयरिण भणितं—एवं होउत्ति चउत्थीए कता
पज्जोसवणा । एवं चउत्थीवि जाता कारणिता ।

(दशानि ६८ की चू)

आर्यकालक ने महाराज शातवाहन से कहा—‘भाद्रपद मास में शुक्लपक्ष की पंचमी तिथि को पर्युषणा (संवत्सरी) है।’ राजा ने कहा—आर्य ! उस दिन मेरे इन्द्रमहोत्सव होता है अतः उस दिन चैत्य और साधु पर्युषासित नहीं होंगे। इसलिए पंचमी तिथि के स्थान पर छठ के दिन पर्युषणा हो। आचार्य ने कहा—तिथि का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। राजा ने कहा—यदि ऐसा है तो चतुर्थी के दिन पर्युषणा हो जाए। आचार्य ने कहा—ऐसे ही हो। इस प्रकार चतुर्थी को पर्युषणा की आराधना की गई। इस तिथि का निर्णय कारणवश लिया गया।

(संवत्सरी जैन शासन का सबसे बड़ा पर्व है।इसका महत्त्व सार्वदेशिक और सार्वकालिक है।.....

आगमकालीन व्यवस्था—आगम युग में संवत्सरी जैसा शब्द प्रचलित नहीं था। संवत्सरी का मूल नाम है—पर्युषणा। पर्युषणा के विषय में आगमों में अनेक निर्देश मिलते हैं।.....पर्युषणाकल्प के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर ने वर्षा ऋतु के पचास दिन बीत जाने पर वर्षावास की पर्युषणा की थी। गणधरों, स्थविरों और आधुनिक श्रमण निर्ग्रन्थों ने भी उस परम्परा का अनुसरण किया। इसमें केवल पचास दिन का उल्लेख है।

समवायांग सूत्र में उत्तरवर्ती दिनों का भी उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार श्रमण भगवान् महावीर ने वर्षावास के पचासवें दिन तथा सत्तर दिन शेष रहने पर वर्षावास की पर्युषणा की। प्राचीन परम्परा—भाष्य और चूर्णिकालीन परम्परा पर्युषणा की प्राचीन परम्परा है।.....आषाढ पूर्णिमा के दिन पर्युषणा करना उत्सर्ग मार्ग बतलाया है। अपवाद मार्ग में पांच-पांच दिन बढ़ाने का निर्देश प्राप्त है। इसका नियम यह रहा कि पर्युषणा पर्वतिथि में होनी चाहिए, जैसे—पूर्णिमा, पंचमी और दसमी।

आधुनिक परम्परा—आधुनिक परम्परा में पर्युषणा के स्थान पर

संवत्सरी शब्द का प्रयोग हो रहा है। पर्युषणा शब्द का प्रयोग संवत्सरी के सहायक दिनों के लिए होता है। पर्युषणा का मूल रूप संवत्सरी के नाम से प्रचलित हो गया। प्राचीन काल में पर्युषणा का एक ही दिन था। वर्तमान में अष्टाहिक पर्युषणा मनाई जाती है। संवत्सरी का पर्व आठवें दिन मनाया जाता है।

दिगम्बर परम्परा में संवत्सरी जैसा कोई शब्द उपलब्ध नहीं है। उनकी परम्परा में दस लक्षण पर्व मनाया जाता है। सामान्य विधि के अनुसार उसका प्रथम दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी का दिन होता है। श्वेताम्बर परम्परा में पंचमी से पहले सात दिन जोड़े गए हैं और दिगम्बर परम्परा में नौ दिन उसके बाद जोड़े गए हैं। मूल दिन (पंचमी) में कोई अन्तर नहीं है।

संवत्सरी के सम्बन्ध में मुख्य समस्याएं चार हैं—

१. दो श्रावण मास
२. दो भाद्रपद मास
३. चतुर्थी और पंचमी
४. उदिया तिथि, घड़िया तिथि

जैन ज्योतिष के अनुसार वर्षा ऋतु में अधिक मास नहीं होता। इस दृष्टि से दो श्रावण मास और दो भाद्रपद मास की समस्या ही पैदा नहीं होती। लौकिक ज्योतिष के अनुसार वर्षा ऋतु में अधिक मास हो सकता है। दो श्रावण मास या दो भाद्रपद मास होने पर पर्वाराधना की विधि इस प्रकार है—कृष्णपक्ष के पर्व की आराधना प्रथम मास के कृष्ण पक्ष में और शुक्लपक्ष के पर्व की आराधना अधिमास के शुक्ल पक्ष में।

समस्या अधिक मास की—जैन संप्रदायों में कुछ सम्प्रदाय दो श्रावण होने पर दूसरे श्रावण में पर्युषणा की आराधना करते हैं। भाद्रपद मास दो हों तो प्रथम भाद्रपद में पर्युषणा की आराधना करते हैं। ऐसा करने वालों का तर्क यह है कि संवत्सरी की आराधना पचासवें दिन करनी चाहिए। इस तर्क में सिद्धांत का एक पहलू ठीक है। किन्तु उसका दूसरा पहलू, ७० दिन शेष रहने चाहिए, विघटित हो जाता है। संपूर्ण नियम पहले ५० दिन और बाद में ७० दिन—दोनों पक्षों से सम्बन्धित है।

जो पचासवें दिन को प्रमाण मानकर संवत्सरी करते हैं, उनके शेष में ७० दिनों का प्रमाण भी रहना चाहिए। इसी प्रकार ७० दिन शेष रहने की बात पर दो श्रावण होने पर भाद्रपद में और दो भाद्रपद होने पर दूसरे भाद्रपद में संवत्सरी करने की स्थिति में संवत्सरी से पहले ५० दिन की व्यवस्था विघटित हो जाती है। इसका सीधा-सा समाधान है अधिक मास को मलमास या लूनमास

मानकर संख्यांकित नहीं करना। ऐसा होने से ५० और ७० दोनों की व्यवस्था बैठ सकती है।

वर्तमान में सभी जैन लौकिक पंचांग को आधार मानकर चल रहे हैं। इस दृष्टि से लौकिक ज्योतिष की धारणा को मान्य करके ही पर्व की आराधना करना उचित है। एक ओर आगमोक्त ५० और ७० दिनों का आग्रह, दूसरी ओर लौकिक ज्योतिष का आधार—ये दोनों बातें एक साथ संगत नहीं हो सकतीं। यदि ५० और ७० दिनों का आग्रह हो तो चातुर्मास में मास-वृद्धि अस्वीकार कर देनी चाहिए। यदि चातुर्मास में मास-वृद्धि की बात स्वीकार की जाती है तो लौकिक ज्योतिष के अनुसार पर्वाराधना की दृष्टि से पन्द्रह दिन (कृष्ण पक्ष) प्रथम मास में, पन्द्रह दिन (शुक्ल पक्ष) अधिमास में मान्य होते हैं। इस धारणा के आधार पर दो भाद्रपद मास होने की स्थिति में संवत्सरी पर्व की आराधना द्वितीय भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष में होनी चाहिए।—युवाचार्य महाप्रज्ञ (आचार्य महाप्रज्ञ) द्वारा लिखित लेख—आवश्यक है संवत्सरी की समस्या का समाधान—जैनभारती, अगस्त १९९३)

१०. पर्युषण तप की अनिवार्यता

जे भिक्खू पज्जोसवणाए इत्तरियं पाहारं आहारेति,
आहारेतं वा सातिज्जति ॥ (नि १०/३९)

.....तयभूइ-बिंदुमादी, सो पावति आणमादीणि ॥
उत्तरकरणं एगगया य आलोयचेइवदणया।
मंगलधम्मकहा वि य, पव्वेसुं तवगुणा होति ॥
अट्टम छट्ट चउत्थं, संवच्छर-चाउमास-पक्खे य।
पोसहियतवे भणिणए, बितियं असहू गिलाणे य ॥

इत्तरियं णाम थोवं एगसिस्थमवि...तये त्ति तिलतुसति-
भागमेत्तं। भूतिरिति यत् प्रमाणमंगुष्ठ-प्रदेशनीसंदंसकेन भस्म
गृह्यते, पानके बिंदुमात्रमपि। (निभा ३२१५-३२१७ चू)

जो भिक्षु पर्युषण के दिन एक सिक्थ या तिलतुषत्रिभागमात्र या चिमटीमात्र भस्म जितना आहार करता है, बिंदुमात्र पानक लेता है, वह चतुर्गुरु दण्ड और आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है।

पर्युषण-तप से उत्तरगुण की अनुपालना और एकाग्रता की वृद्धि होती है। वर्षाकाल का आदि मंगल होता है। उस दिन वार्षिक आलोचना, अर्हत् वंदन और धर्मकथा करणीय है।

सांवत्सरिक तेला, चातुर्मासिक बेला और पाक्षिक उपवास अवश्य करना चाहिए। असमर्थ, ग्लान और परिचारक इसके अपवाद हैं। तप को व्रतपुष्टिकारक कहा गया है।

० पूर्ण निराहार अथवा योगवृद्धि

पुष्पाहारोसवणं, जोगविवट्टी य सत्तिउग्गहणं।.....
दव्वट्टवणाए आहारे चत्तारि मासे निराहारे अच्छत्तु, ण तरति तो एगदिवसूणो, एवं जति जोगहाणी भवति तो ताव दिणे दिणे आहारेतुं जोगवुट्टी—जो णमोक्कारेणं पारेतओ सो पोरिसीए पारेतु, पोरिसिइत्तो पुरिमट्टेण, पुरिमट्टइत्तो एक्कासणएण। (दशानि ८१ चू)

वर्षावास में पूर्वाहार का परित्याग करे। अपनी शक्ति के अनुसार योगवृद्धि—प्रत्याख्यान में वृद्धि करे।

द्रव्य स्थापना में आहारविषयक यह निर्देश है—वर्षावास में चार मास तक निराहार रहे। यदि न रह सके तो एक-एक दिन की न्यूनता करता जाए। यदि यह प्रतीत हो कि इससे अवश्यकरणीय योगों की हानि होती है तो आहार करता हुआ भी प्रतिदिन योगवृद्धि करे—नमस्कारसहिता करने वाला पौरुषी करे, पौरुषी करने वाला पुरिमट्ट और पुरिमट्ट करने वाला एकाशन करे।

० वर्षाकालीन तप से बलवृद्धि

वर्षाकालः...स्निग्धतया स कालो बलिको...तपः कुर्वतां बलोपष्टम्भं करोति। (व्यभा १३४० की वृ)

वर्षाकाल स्निग्धता के कारण शक्तिप्रदायक होता है। जो तपस्या करते हैं, उनके लिए यह काल बल का आधारभूत होता है।

११. नित्यभोजी और तपस्वी : गोचरकाल

वासावासं पज्जोसवियस्स निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगं गोयरकालं गाहावड्कुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, नण्णत्थ आयरियवेयावच्चेण वा उवञ्जाय-वेयावच्चेण वा तवस्सि-गिलाण-वेयावच्चेण वा खुड्डुएण वा अवज्जणजायएणं॥ (दशा ८ परि सू २३९)

वर्षावास में स्थित नित्यभोजी भिक्षु के एक गोचरकाल होता है—वह आहार-पानी के लिए गृहपति के घर एक बार गमन-प्रवेश कर सकता है।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी और ग्लान के वैयावृत्य हेतु अथवा अव्यंजनजात बाल शैक्ष हेतु एक से अधिक गोचरकाल हो सकते हैं।

वासावासं पज्जोसवियस्स चउत्थभत्तियस्स भिक्खुस्स..... पाओ निक्खम्म.....कप्पइ से तद्विवसं तेणेव भत्तट्टेणं पज्जोस-वित्तए, से य नो संथरिज्जा एवं से कप्पइ दोच्चं पि गाहावड्-कुलं भत्ताए वा.....॥.....छट्टभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति दो गोयरकाला॥.....अट्टमभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ गोयरकाला॥.....विकिट्टभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति सब्बे वि गोयरकाला.....॥

एगं गोयरकालं सुत्तपोरिसिं कातुं अत्थपोरिसिं कातुं एक्कवारे.....ण चरिमं। (दशा ८ परि सू २४०-२४३ चू)

वर्षावास के लिए स्थित चतुर्थभक्तिक (उपवास करने वाले) भिक्षु के लिए प्रातःकाल का एक गोचरकाल ही विहित है। प्रातःकालगृहीत वह भोजन यदि पर्याप्त न हो तो वह दूसरी बार भी आहार के लिए गृहपतिकुल में जा सकता है।

षष्ठभक्तिक (बेले की तपस्या करने वाले) भिक्षु के लिए दो गोचरकाल, अष्टमभक्तिक (तेले की तपस्या करने वाले) भिक्षु के लिए तीन गोचरकाल तथा विकृष्टभक्तिक करने वाले भिक्षु के लिए सभी गोचरकाल विहित हैं।

एक गोचरकाल अर्थात् सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी सम्पन्न कर एक बार भिक्षाचर्य के लिए जाना, चरमपौरुषी में नहीं जाना।

.....सब्बे गोयरकाला, विगिट्टु छट्टुट्टुमे बि-तिहिं॥ संखुन्ना जेणंता, दुगाइ छट्टादिणं तु तो कालो। भुत्तणुभुत्ते अ बलं, जायइ न य सीयलं होइ॥ 'विकृष्टभक्तिकः' दशम-द्वादशमादिक्षपकः।

(बृभा १६९८, १६९९ वृ)

षष्ठभक्तिक, अष्टमभक्तिक आदि के दो या तीन तथा विकृष्ट तप—लगातार चार उपवास, पांच उपवास आदि तप करने वाले भिक्षु के सभी गोचरकाल विहित हैं। इसका कारण यह है कि बेले आदि की तपस्या से आंतें सिकुड़ जाती हैं, दो या इससे अधिक बार आहार करने से ही उसमें बेले या विकृष्ट तप का सामर्थ्य आता है। एक ही गोचरकाल में पूरा आहार

ग्रहण करने से एक बार खाने के बाद शेष आहार को रख देने से वह ठंडा हो जाता है, वह आहार उसके दुर्बल शरीर के अनुकूल नहीं होता।

१२. तप और पानकप्रमाण

वासावासं पञ्जोसवियस्स निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति सव्वाइं पाणगाइं पडिगाहेत्तए ॥.....चउत्थभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं..... उस्सेइमं संसेइमं चाउलोदगं ॥.....छट्टुभत्तियस्स.....तिलोदए तुसोदए जवोदए ॥.....अट्टुमभत्तियस्स.....आयामए सोवीरए सुद्धवियडे ॥..... विकिट्टुभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगे उसिणवियडे पडिगाहेत्तए, से वि य णं असिथे 'नो वि य णं' ससिथे ॥

(दशा ८ परि सू २४४-२४८)

वर्षावास में स्थित नित्यभोजी भिक्षु सब प्रकार के पानक ग्रहण कर सकता है। चतुर्थभक्त (उपवास) वाला भिक्षु तीन प्रकार के पानक ग्रहण कर सकता है—१. उत्त्वेदिम—आटे का धोवन। २. संसेकिम—उबले हुए केर आदि का धोवन। ३. चाउ-लोदक—चावल का धोवन।

षष्ठभक्त (बेले की तपस्या) वाला भिक्षु तीन प्रकार के पानक ले सकता है—तिलोदक, तुषोदक, यवोदक।

अष्टमभक्त (तेले की तपस्या) वाला भिक्षु त्रिविध पानक ले सकता है—१. आयामक—अवसावण—ओसामन। ३. सौवीरक—कांजी। ३. शुद्धविकट—उष्णोदक।

विकृष्टभक्तक (चोले आदि की तपस्या करने वाला) भिक्षु केवल गर्म जल ले सकता है, वह भी ससिक्थ नहीं, असिक्थ।

० विविध पानक : ग्रहण-विधि

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवाय-पडियाए अणुपविट्ठे समाणे सेज्जं पुण 'पाणग-जायं' जाणेज्जा, तं जहा—उस्सेइमं वा, संसेइमं वा, चाउलोदगं वा—अण्णयरं वा तहप्पगारं पाणग-जायं अहुणा-धोयं, अणंबिलं, अब्बोक्कंतं, अपरिणयं, अविद्धत्थं—अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥.....चिराधोयं, अंबिलं, वुक्कंतं, परिणयं, विद्धत्थं—फासुयं एसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते पडिगाहेज्जा ॥ (आचूला १/१९९, १००)

भिक्षु अथवा भिक्षुणी गृहपति के घर में भिक्षा की प्रतिज्ञा से प्रवेश कर पानक—जात (धोवन) को जाने—आटे का धोवन, उबले हुए केर आदि का धोवन, चावल का धोवन अथवा इस प्रकार का अन्य धोवन, जो अनाम्ल (जिसका स्वाद न बदला) हो, अव्युत्क्रांत (जिसकी गंध न बदली) हो, अपरिणत (जिसका रंग न बदला) हो, विरोधी शस्त्र के द्वारा जिसके जीव ध्वस्त न हुए हों, उस अधुनाधौत—तत्काल के धोवन को अप्रासुक—अनेषणीय मानता हुआ मिलने पर ग्रहण न करे।

यदि भिक्षु ऐसा जाने—पानक चिरधौत (अन्तर्मुहूर्तकाल के बाद का धोवन), आम्ल (स्वाद बदला हुआ), व्युत्क्रांत (गंध बदली हुई), परिणत (रंग बदला हुआ) और विध्वस्त (शस्त्र से उपहत) है, उसे प्रासुक और एषणीय मानता हुआ मिलने पर ग्रहण करे।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइ-कुलं.....अणुपविट्ठे समाणे सेज्जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा, तं जहा—तिलोदगं वा, तुसोदगं वा, जवोदगं वा, आयामं वा, सोवीरं वा, सुद्ध-वियडं वा—अण्णयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो! ति वा भगिणि! ति वा, दाहिसि मे एत्तो अण्णयरं पाणग-जायं ?

से सेवं वदंतं परो वदेज्जा—आउसंतो! समणा! तुमं चेवेदं पाणग-जायं पडिग्गहेण वा उस्सिंचियाणं, ओयत्तियाणं गिण्हाहि—तहप्पगारं पाणग-जायं सयं वा गिण्हेज्जा, परो वा से देज्जा—फासुयं एसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते पडिगाहेज्जा ॥

.....अंब-पाणगं वा, अंबाडग-पाणगं वा, कविट्टु-पाणगं वा, मातुलिंग-पाणगं वा, मुहिया-पाणगं वा, दाडिम-पाणगं वा, खज्जूर-पाणगं वा, णालिएर-पाणगं वा, करीर-पाणगं वा, कोल-पाणगं वा, आमलग-पाणगं वा, चिंचा-पाणगं वा—अण्णयरं वा तहप्पगारं पाणग-जायं सअट्टियं सकणुयं सब्बीयगं अस्संजए भिक्खु-पडियाए छब्बेण वा, दूसेण वा, वालगेण वा, आवीलियाण वा, परिपीलियाण वा, परिस्सा-वियाण आहडुद लएज्जा—तहप्पगारं पाणग-जायं—अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

(आचूला १/१०१, १०४)

भिक्षु गृहपति के घर में प्रवेश कर पानकवर्ग को जाने—तिलोदक, तुषोदक, यवोदक, ओसामन, कांजी, उष्णोदक अथवा इस प्रकार का कोई पानकजात हो तो पहले ही आलोचना करे (कहे)—आयुष्मन्! भगिनि! इनमें से कोई पानकजात मुझे दोगी? उसके ऐसा कहने पर गृहस्थ कहे—आयुष्मन्तो! श्रमणो! तुम ही इस पानकजात को पात्र से उलीचकर, उंडेलकर ग्रहण करो—वैसे पानकजात को स्वयं ग्रहण करे अथवा गृहस्थ दे—उसे प्रासुक और कल्पनीय मानता हुआ मिलने पर ग्रहण करे।

आम्रपानक, आम्रातक पानक, कैथपानक, बिजौरा-पानक, द्राक्षापानक, दाडिमपानक, खर्जूरपानक, नारियलपानक, केरपानक, बेरपानक, आमलक पानक, इमली-पानक—इसी प्रकार का अन्य कोई पानकजात, जो गुठली, छाल और बीजसहित हो, उसे गृहस्थ भिक्षु के उद्देश्य से वंशपिटक, वस्त्र या वालज से एक बार या बार-बार मसलकर, छानकर लाकर दे—वैसे पानकजात को अप्रासुक और अनेषणीय मानता हुआ मिलने पर ग्रहण न करे।

(हरिभद्र ने पानक का अर्थ आरनाल 'कांजी' किया है।प्रवचनसारोद्धार के अनुसार सुरा आदि को 'पान', साधारण जल को 'पानीय' और द्राक्षा, खर्जूर आदि से निष्पन्न जल को 'पानक' कहा जाता है।.....

सुश्रुत के अनुसार गुड़ से बना खट्टा या बिना अम्ल का पानक गुरु और मूत्रल होता है। द्राक्षा से बना पानक श्रम, मूर्च्छा, दाह और तृषा का नाशक है। फालसे से और बेरों से बना पानक हृदय को प्रिय तथा विष्टम्भि होता है।—द ५/४७ का टिप्पण)

१३. पर्युषणा में लोच की अनिवार्यता

वासवावासं पञ्जोसविद्याणं नो कप्यइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परं पञ्जोसवणाओ गोलोमप्यमाणमित्ते वि केसे तं रयणिं उवाइणावित्तए.....छम्मासिए लोए संवच्छरिए वा थेरकप्पे। (दशा ८ परि सू २८१)

वर्षावास में स्थित साधु और साध्वियां पर्युषणा के पश्चात् उस रात्रि का अतिक्रमण कर गोरोम-प्रमाणमात्र भी केश नहीं रख सकतीं। स्थविरकल्प में षाण्मासिक या सांवत्सरिक लोच होता है।

० जिनकल्पी आदि और लोच

धुवलओ य जिणाणं, णिच्चं थेराण वासवासासु।
असहू गिलाणस्स व, तं रयणिं तू णऽतिक्कामे॥
(निभा ३१७३)

जिनकल्पी नित्य नियमतः लोच करते हैं। स्थविरकल्पी के लिए वर्षावास में लोच की अनिवार्यता है। असहिष्णु और ग्लान मुनि भी पर्युषणरात्रि का अतिक्रमण नहीं करते।

० केशलोच क्यों ?

जे भिक्खू पञ्जोसवणाए गोलोममाइं पि वालाइं उवाइणावेति.....॥ (नि १०/३८)

णिसुहंते आउवधो, उल्लेसु य छप्पदीउ मुच्छंति।
ता कंडूय विराहे, कुञ्जा व खयं तु आयाते॥
.....उडु तरुणे चउमासो, खुर-कत्तरि छल्लहू गुरुणा॥
पक्खिय-मासिय-छम्मासिए य थेराण तू भवे कप्यो।
कत्तरि-छुर-लोए वा, बित्तिं असहू गिलाणे य॥

(निभा ३२१२-३२१४)

जो भिक्षु पर्युषणा में गोरोम जितने बाल रखता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। केश न काटने पर उन पर वर्षा की बूंदें टिक जाती हैं, उससे जलकायिक जीवों की विराधना होती है। गीले बालों में यूका आदि पैदा हो जाती हैं। खुजलाने से उनकी तथा चमड़ी क्षत होने पर अपनी विराधना होती है।

ऋतुषड्काल में तरुण और वृद्ध चार माह से लोच करवाते हैं, वृद्ध उत्कृष्टतः छह मास से भी करवा सकते हैं।

क्षुर और कैची से लोच करवाने पर क्रमशः षड्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है।

असहिष्णुता, शिरोरोग, आंख की ज्योति की मंदता आदि आपवादिक स्थितियों में कैची से पाक्षिक तथा क्षुर से मासिक लोच किया जाता है। अपवादरूप में छह मास से भी किया जा सकता है।

पात्र—भाजन। धातु, मिट्टी आदि से निर्मित पात्र। द्र उपधि

पात्रैषणा—मुनि द्वारा ग्राह्य पात्र की गवेषणा। द्र उपधि

पानैषणा—पेय द्रव्य—कांजी आदि की एषणा। द्र पिण्डैषणा

* पानक के विविध प्रकार

द्र पर्युषणाकल्प

पारांचित—दसवां प्रायश्चित्त, अवहेलनापूर्वक पुनः व्रतारोपण।

१. पारांचित के निर्वचन
२. पारांचित के प्रकार और चारित्र की भजना
३. आशातना पारांचित के स्थान

४. प्रतिसेवना पारांचित के प्रकार

५. दुष्ट पारांचिक : सर्वपनाल आदि दृष्टांत

६. प्रमत्त (स्त्यानर्द्धि) पारांचिक : लिंग पारांचिक

० अचारित्री की लिंग-हरण-विधि

० पुनः लिंगापहार कैसे ?

७. क्षेत्र-लिंग-तप-पारांचिक

० दो प्रायश्चित्तों का विच्छेद

८. तपपारांचित-तप अनवस्थाप्य वहन की अर्हता

९. अन्य गण में पारांचित वहन क्यों ?

१०. पारांचिक की जिनकल्पी सदृश चर्या

११. पारांचिक का कालमान

१२. संघ कार्य में पारांचिक की भूमिका

* पारांचित : प्रायश्चित्त का दसवां भेद

* अनवस्थाप्य : प्रायश्चित्त का नौवां भेद द्र प्रायश्चित्त

१३. अनवस्थाप्य के प्रकार

० आशातना अनवस्थाप्य

० प्रतिसेवना अनवस्थाप्य

१४. अनवस्थाप्य-ग्रहणविधि तथा सामाचारी

१५. अनवस्थाप्य का कालमान

१६. प्रायश्चित्त वाहक के प्रति आचार्य का दायित्व

१७. अनवस्थाप्य और पारांचित में भिन्नता

१८. अनवस्थाप्य-पारांचिक गृहीभूत

० गृहस्थवेष क्यों ?

० गृहस्थवेष और उपस्थापना विधि

* अवहेलनापूर्वक प्रायश्चित्त : सावद्य जीत द्र व्यवहार

० अनवस्थाप्य-पारांचिक अगृहीभूत भी

* साध्वी को अनवस्थाप्य-पारांचित नहीं द्र प्रायश्चित्त

१. पारांचित के निर्वचन

अंचु गति-पूयणाम्मि य, पारं पुणऽणुत्तरं बुधा बिंति ।

सोधीय पारमंचइ, ण यावि तदपूतियं होति ॥

.....अपश्चित्तं प्रायश्चित्तम्.....तत् पाराञ्चिकं पाराञ्चितं

वाभिधीयते । तद्योगात् साधुरपि पाराञ्चिकः ।

(बृभा ४९७१ वृ)

० अञ्चु धातु यहां गति और पूजा के अर्थ में ग्राह्य है ।

० साधु जिस प्रायश्चित्त का वहन कर संसार-समुद्र के तीरभूत

अनुत्तर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है, वह पारांचिक है ।

० जो प्रायश्चित्त के पार को प्राप्त है—अंतिम प्रायश्चित्त है ।

० प्रायश्चित्ती साधु जिस तप की पूर्णता से अपूजित नहीं होता, प्रत्युत् श्रमणसंघ की पूजा प्राप्त करता है, वह पारांचिक या पारांचित है । इसके योग से—उपचार से साधु भी पारांचिक कहलाता है ।

(० जो तप के द्वारा अपराध का चार/विशोधन कर पुनः दोक्षित होता है, वह पारांची है ।

० जिसमें लिंग-क्षेत्र-काल-विवेक और तप द्वारा अपराध का पार पाया जाता है, वह पारांचिक है ।—निको पृ १९९)

२. पारांचित के प्रकार और चारित्र की भजना

आसायण पडिसेवी, दुविहो पारंचितो समासेणं ।

एक्केक्कम्मि य भयणा, सचरित्ते चेव अचरित्ते ॥

सव्वचरित्तं भस्सति, केणति पडिसेवितेण तु पदेणं ।

कत्थति चिट्ठति देसो, परिणामऽवराहमासज्ज ॥

(बृभा ४९७२, ४९७३)

पारांचित के दो प्रकार हैं—

१. आशातना पारांचित २. प्रतिसेवना पारांचित ।

इनमें चारित्र की भजना है—ये दोनों ही सचारित्री भी हो सकते हैं, अचारित्री भी हो सकते हैं । किसी-किसी पारांचित प्रायश्चित्त योग्य अपराध में व्यक्ति का पूरा चारित्र ही नष्ट हो जाता है और किसी-किसी के चारित्र का अंश बच जाता है । इसका हेतु है मंद-तीव्र परिणामों से आसेवित जघन्य-उत्कृष्ट अपराध ।

३. आशातना पारांचित के स्थान

तित्थकर पवयण सुते, आयरिए गणहरे महिड्डीए ।

एते आसायंते, पच्छित्ते मग्गणा होइ ॥

पाहुडियं अणुमण्णति, जाणंतो किं व भुंजती भोगे ।

शीतित्थं पि य वुच्चति, अतिकक्खडदेसणा यावि ॥

.....पावति पारंचियं ठाणं ॥

अक्कोस-तज्जणादिसु, संघमहिक्खवति संघपडिणीतो ।

अणो वि अत्थि संघा, सियाल-णंतिकक्क-ढंकाणं ॥

काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमायमप्पमादा य ।

मोक्खाहिकारियाणं, जोतिसविज्जासु किं च पुणो ॥

इड्ढि-रस-सातगुरुगा, परोवदेसुज्जया जहा मंखा ।

अत्तडुपोसणरया, पोसेंति दिया व अय्याणं ॥

अभ्युज्जयं विहारं, देसिंति परेसि सयमुदासीणा ।
उवजीवंति य रिद्धिं, निस्संगा मो त्ति य भणंति ॥
गणधर एव महिद्धी, महातवस्सी व वादिमादी वा ।...
पढम-बितिएसु चरिमं, सेसे एक्केक्क चउगुरू होंति ।
सव्वे आसादिंतो, पावति पारंचियं ठाणं ॥
तित्थयरपढमसिस्सं, एक्कं पाऽऽसादयंतु पारंची ।
अत्थस्सेव जिणिंदो, पभवो सो जेण सुत्तस्स ॥

‘प्राभृतिकां’ सुरविरचितसमवसरण-महाप्रातिहार्यादि-
पूजालक्षणाम् ।... (बृभा ४९७५-४९८४ वृ)

आशातना के छह स्थान हैं— तीर्थकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर और महर्द्धिक मुनि—इनकी आशातना करने वाले के प्रायश्चित्त में मार्गणा होती है ।

१. तीर्थकर-आशातना—तीर्थकर देवों द्वारा रचित समवसरण तथा महाप्रातिहार्य पूजा रूप प्राभृतिका की अनुमोदना करते हैं, यह ठीक नहीं है । वे अतिशय ज्ञान से भव के स्वरूप को जानते हैं, फिर भोगों को क्यों भोगते हैं ? मल्लिनाथ स्त्री थीं, उन्हें तीर्थकर कहना असमीचीन है । सर्वोपायकुशल तीर्थकरों की देशना का आचरण अत्यन्त दुष्कर है, अतः ऐसी देशना भी अयुक्त है—इस प्रकार के वचन प्रयोगों से तीर्थकर की आशातना होती है ।

२. प्रवचन-आशातना—संघप्रत्यनीक व्यक्ति आक्रोश, तर्जना आदि से संघ का तिरस्कार करता है । वह कहता है—शृगाल, नांतिकक, ढंक आदि के अन्य संघ भी हैं ।

३. श्रुत-आशातना—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि में षट्काय, छह व्रत, प्रमाद और अप्रमाद का जो बार-बार वर्णन किया गया है, वह अनुपयुक्त है । आगमों में ज्योतिष विद्या, निमित्त विद्या आदि का विवेचन है । मोक्षार्थी मुनि का उनसे क्या प्रयोजन ?

४. आचार्य-आशातना—आचार्य ऋद्धि-रस-सातप्रधान, मंख की भांति परोपदेश में उद्यत तथा आत्मार्थी पोषण में रत होते हैं । वे द्विज की तरह अपना पोषण करते हैं ।

५. गणधर-आशातना—गौतम आदि गणधर दूसरों को अभ्युद्यत विहार (जिनकल्प आदि) का उपदेश देते हैं पर स्वयं उससे उदासीन रहते हैं । वे अक्षीणमहानस, चारण आदि लब्धियों के उपजीवी होते हैं और ‘हम निस्संग हैं’ ऐसा कहते हैं ।

६. महर्द्धिक-आशातना—सर्वलब्धि सम्पन्न होने से गणधर ही

महर्द्धिक होते हैं अथवा महातपस्वी, वादी आदि महर्द्धिक कहलाते हैं । उनका अवर्णवाद बोलना महर्द्धिक-आशातना है ।

तीर्थकर और संघ की देशतः या सर्वतः आशातना करने पर पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है । श्रुत, आचार्य और महर्द्धिक में से प्रत्येक की देशतः आशातना से चतुर्गुरु तथा सर्व आशातना से पारांचित प्राप्त होता है । तीर्थकर के प्रथम शिष्य—गणधर की आशातना से भी पारांचित प्राप्त होता है । क्योंकि तीर्थकर मात्र अर्थ के प्रणेता होते हैं, सूत्र के प्रणेता गणधर ही होते हैं ।

४. प्रतिसेवना पारांचिक के प्रकार

तओ पारंचिया पण्णत्ता, तं जहा—दुट्ठे पारंचिए, पमत्ते पारंचिए, अण्णमण्णं करेमाणे पारंचिए ॥ (क ४/२)

पडिसेवणपारंची, तिविधो सो होइ आणुपुब्बीए ।... (बृभा ४९८५)

सूत्रोक्त परिपाटी से तीन प्रकार के श्रमण प्रतिसेवना पारांचित (दसवें प्रायश्चित्त) के भागी होते हैं—

१. दुष्ट पारांचिक—कषाय और विषय से दूषित ।
२. प्रमत्त पारांचिक—स्थानार्द्धि निद्रा वाला ।
३. अन्योन्यक्रिया पारांचिक—मैथुन सेवन करने वाला ।

(पांच स्थानों में श्रमण पारांचित का भागी होता है—

१. कुल में भेद डालने वाला, २. गण में भेद डालने वाला, ३. हिंसाप्रेक्षी, ४. छिद्रान्वेषी, ५. बार-बार प्रश्नायतनों का प्रयोग करने वाला ।—स्था ५/४७) ।

५. दुष्ट पारांचिक : सर्षपनाल आदि दृष्टांत

दुविधो य होइ दुट्ठो, कसायदुट्ठो य विसयदुट्ठो य ।...
सासवणाले मुहणंतए य उल्लुगच्छि सिहरिणी चेव ।...
सासवणाले छंदण, गुरु सव्वं भुज्जे एतरे कोवो ।
खामणमणुवसमंते, गणिं ठवेत्तऽण्णहिं परिण्णा ॥
पुच्छंतमणक्खाए, सोच्चऽण्णतो गंतु कत्थ सें सरीरं ।
गुरु पुव्व कहितऽदातण, पडियरणं दंतभंजणत्ता ॥
मुहणंतगस्स गहणे, एमेव य गंतु णिसि गल्लगहणं ।...
अत्थंगए वि सिव्वसि, उल्लुगच्छी! उक्खणामि ते अच्छी ।...
सिहरिणिलंभाऽऽलोयण, छंदिए सव्वाइते अ उगिरणा ।...
(बृभा ४९८६-४९९२)

ईदृशाः स्वपक्षकषायदुष्टा लिंगपाराञ्चिकाः कर्त्तव्याः ।
(बृभा ४९९३ की वृ)

दुष्ट पारांचिक के दो प्रकार हैं—१. कषाय दुष्ट २. विषय दुष्ट । कषाय दुष्ट के चार दृष्टांत हैं—१. सर्षपभर्जिका २. मुखवस्त्रिका ३. उलूकाक्ष ४. शिखरिणी ।

१. सर्षपनाल—एक बार एक साधु को सरसों की भाजी प्राप्त हुई । वह उसमें अत्यन्त आसक्त था । उसने गुरु को दिखाया, निमन्त्रित किया । गुरु ने सारी सब्जी खाई । यह देख शिष्य कुपित हुआ । गुरु को ज्ञात हुआ तो उन्होंने क्षमायाचना की । पर शिष्य का कोप शांत नहीं हुआ । मेरी असमाधिपूर्ण मृत्यु न हो, ऐसा सोच गुरु अपने गण में योग्य शिष्य को गणी के रूप में स्थापित कर स्वयं दूसरे गण में जाकर भक्त-प्रत्याख्यान अनशन में स्थित हो गए । वहां समाधिपूर्ण मृत्यु को प्राप्त हो गए । वह साधु गुरु को खोजता हुआ वहां पहुंचा और गुरु के विषय में पूछा । साधुओं ने कुछ भी नहीं बताया । दूसरों के द्वारा उसे ज्ञात हुआ कि गुरु समाधिमृत्यु को प्राप्त हो गए हैं । उसने पुनः पूछा—गुरु के शरीर का परिष्ठापन कहां किया गया है ? लेकिन गुरु ने पहले ही कह दिया था कि उसको मेरे शरीर की परिष्ठापन-भूमि मत बताना । अतः वे मौन रह गए । वह दूसरों से पूछकर परिष्ठापन भूमि में गया और मृत कलेवर के दांतों को पत्थर से तोड़ा । प्रतिचारक साधुओं ने उसे देखा ।

२. एक शिष्य को अत्यन्त उज्वल मुखवस्त्रिका मिली । उसने गुरु को दिखाई, गुरु ने अपने पास रख ली । उसको आकृष्ट हुआ देख गुरु ने वह मुखवस्त्रिका शिष्य को देनी चाही । शिष्य ने इन्कार कर दिया । गुरु ने अनशन कर लिया । रात्रि में शिष्य ने गला इतने जोर से दबाया कि गुरु का प्राणान्त हो गया ।

३. एक मुनि सूर्यास्त के पश्चात् भी कपड़ा सी रहा था । दूसरे मुनि ने परिहास में कहा—अरे ! उलूकाक्ष ! अभी तक सिलाई कर रहे हो ? यह बात उसे चुभ गई । उसने अनशनपूर्वक कालधर्म को प्राप्त उस मुनि की दोनों आंखें निकालकर प्रतिशोध लिया ।

४. शिष्य को उत्कृष्ट शिखरिणी प्राप्त हुई । गुरु को निमन्त्रित करने पर उन्होंने स्वयं उसका उपभोग कर लिया । शिष्य का मन प्रतिशोध से भर गया । उसने समाधिपूर्वक कालप्राप्त गुरु के शरीर को दंड से पीटा । इस प्रकार के स्वपक्ष के प्रति तीव्रकषायपरिणत मुनि लिंगपारांचिक किए जाते हैं ।

६. प्रमत्त (स्त्यानर्द्धि) पारांचिक : लिंग पारांचिक
.....निद्रा पमाद पंचविधो ।.....तहिगं च इमे उदाहरणा ॥
पोग्गल मोयग फरुसग, दंते वडसालभंजणे सुत्ते ।
एतेहिं पुणो तस्सा, विविंचणा होति जतणाए ॥
स्त्याना—प्रबलदर्शनावरणीयकर्मोदयात् कठिनीभूता ऋद्धिः—चैतन्यशक्तिर्यस्यामवस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः । यथा घृते उदके वा स्त्याने न किञ्चिदुपलभ्यते एवं चैतन्यऋद्धयामपि स्त्यानायां न किञ्चिदुपलभ्यते.....पारांचिकस्य प्रस्तुतत्वात् स्त्यानर्द्धिनिद्रयाधिकारः । (बृभा ५०१६, ५०१७ वृ)

निद्राप्रमाद के पांच भेद हैं—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि । पारांचित में स्त्यानर्द्धि निद्रा का प्रसंग है । जिस अवस्था में प्रबल दर्शनावरणीय कर्म के उदय से चेतनाशक्ति जड़ीभूत हो जाती है, जम जाती है, वह स्त्यानर्द्धि है । जैसे घी या पानी (हिम) के जम जाने पर किंचित् प्राप्त नहीं होता, वैसे ही चेतनाऋद्धि के भी जम जाने पर कुछ उपलब्ध नहीं होता । इस निद्रा के संदर्भ में पांच दृष्टांत हैं—पुद्गल (मांस), मोदक, कुम्भकार, दांत, वटशाखाभंजन । (द्र श्रीआको १ कर्म)

इन दृष्टांतों के माध्यम से स्त्यानर्द्धि निद्रा की पहचान कर प्रतिसेवी का यतनापूर्वक परित्याग किया जाता है—उसे लिंगपारांचित प्रायश्चित्त दिया जाता है ।

० अचारित्री की लिंग-हरण-विधि

केसवअद्धबलं पण्णवेति मय लिंगं णत्थि तुह चरणं ।
णेच्छस्स हरइ संघो, ण वि एक्को मा पदोसं तु ॥
केशवः—वासुदेवस्तस्य बलादर्थबलं स्त्यानर्द्धिमतो भवति.....एतच्च प्रथमसंहननिनमंगीकृत्योक्तम्, इदानीं पुनः सामान्यलोकबलाद् द्विगुणं त्रिगुणं चतुर्गुणं वा बलं भवतीति मन्तव्यम् । (बृभा ५०२३ वृ)

स्त्यानर्द्धि निद्रा वाले व्यक्ति में वासुदेव के बल से आधा बल होता है । यह कथन प्रथम (वज्रऋषभनाराच) संहनन वाले व्यक्ति की अपेक्षा से है । सामान्यतः लोकबल से उसका बल दुगुना, तीन गुना अथवा चार गुना भी हो सकता है । ऐसी निद्रा वाले साधु से कहना चाहिए—मुने ! तुम लिंग छोड़ दो, तुम्हारे में चारित्र नहीं है । इस प्रकार कहे जाने पर यदि वह लिंग छोड़ना न

चाहे तो पूरा संघ मिलकर उसके लिंग का हरण करे, अकेला न करे, ताकि वह उस एक पर द्वेष न करे।

० पुनः लिंगापहार कैसे ?

अवि केवलमुष्याडे, न य लिंगं देति अणतिसेसी से।
देसवत दंसणं वा, गिण्ह अणिच्छे पलायंति ॥

यः पुनरतिशयज्ञानी स जानाति—न भूय एतस्य
स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयो भविष्यति, ततो लिङ्गं ददाति, इतरथा न
ददाति। (बृभा ५०२४ वृ)

स्त्यानर्द्धिनिद्रा वाले के उसी भव में केवली होने की
संभावना हो, फिर भी अनतिशायी ज्ञानी उसे पुनः लिंग नहीं देता।
जो अतिशयज्ञानी है, वह जान लेता है कि अब इसके स्त्यानर्द्धि
निद्रा का उदय नहीं होगा तो वह उसे पुनः लिंग देता है, अन्यथा
नहीं देता है।

लिंगापहार के समय उसे कहा जाता है—तुम अणुव्रतधारी
श्रावक बन जाओ। यह संभव न हो तो दर्शन श्रावक हो जाओ।
यदि इस बात को वह मान्य न करे और लिंग छोड़ना न चाहे तो
रात्रि में उसे सोया हुआ छोड़कर गच्छ अन्यत्र चला जाए।

७. क्षेत्र-लिंग-तप-पारांचिक

.....कुल गण संघे निज्जुहणाएँ पारंचितो होति ॥
बिडओ उवस्सयाई, कीरति पारंचितो न लिंगातो।
अणुवरमं पुण कीरति, सेसा नियमा तु लिंगाओ ॥
इंदिय-पमाददोसा, जो पुण अवराहमुत्तमं पत्तो।
सब्भावसमाउट्टो,

'निश्चयेन भूयोऽहमेवं न करिष्यामि' इति व्यवसितस्तदा
स तपःपारांचिकः क्रियते। (बृभा ५०१२, ५०२७, ५०२८ वृ)

० क्षेत्र-लिंग-पारांची—विषय दुष्ट को उपाश्रय आदि क्षेत्रों से
पारांचिक किया जाता है, लिंग से नहीं। विषयदोष से उपरत नहीं
होने पर लिंग से भी पारांचिक किया जाता है। शेष—कषायदुष्ट,
प्रमत्त और अन्योन्यसेवी को नियमतः लिंगपारांची किया जाता है।

जो कुल के द्वारा बहिष्कृत है, वह कुल पारांचिक, जो गण
और संघ से बाह्यकृत है, वह गणपारांचिक और संघपारांचिक है।

० तपपारांची—जो इन्द्रियदोष अथवा प्रमाददोष के कारण उत्कृष्ट
अपराध कर निश्चयपूर्वक यह कहता है कि मैं पुनः ऐसा अपराध
नहीं करूंगा, उसे तप-पारांचिक किया जाता है।

० दो प्रायश्चित्तों का विच्छेद

प्रथमसंहननचतुर्दशपूर्विणोः समकं व्यवच्छिन्नयोरन-
वस्थाप्यं पारांचितं च व्यवच्छिन्नम्। (व्यभा ४१८१ की वृ)

प्रथम संहनन (वज्रऋषभनाराच) और चतुर्दशपूर्वी—दोनों
का एक साथ विच्छेद हुआ। उनके व्यवच्छिन्न होने पर अनवस्थाप्य
और पारांचित—ये दोनों अंतिम प्रायश्चित्त भी विच्छिन्न हो गए।

(अनवस्थाप्य और पारांचित के चार-चार भेद हैं—लिंग,
क्षेत्र, काल और तप। तप अनवस्थाप्य और तप पारांचित का
चौदहपूर्वी के साथ विच्छेद हो गया। शेष भेद जब तक तीर्थ हैं,
तब तक रहेंगे।—जीतकल्प गाथा ८९, ९७, १०२)

८. तपपारांचित-तपअनवस्थाप्य वहन की अर्हता

संघयण-विरिय-आगम-सुत्त-ऽत्थ-विहीए जो समग्गो तु।
तवसी निग्गहजुत्तो, पवघणसारे अभिगतत्थो ॥
तिलतुसतिभागमित्तो, वि जस्स असुभो ण विज्जती भावो।
निज्जुहणाइ अरिहो, सेसे निज्जुहणा नत्थि ॥
.....एयगुणविप्पमुक्के, तारिसगम्मी भवे मूलं ॥
एयगुणसंपउत्तो, अणवट्टुप्पो य होति नायव्वो ।.....
(बृभा ५०२९-५०३१, ५१३१)

जो वज्रऋषभनाराच संहनन से युक्त हो, जिसकी धृति
वज्रभक्ति की भांति सुदृढ हो, जो कम से कम नौवें पूर्व के तृतीय
आचारवस्तु का ज्ञाता तथा उत्कृष्टतः असम्पूर्ण दशपूर्वी हो, जो
सूत्र और अर्थ—दोनों से परिचित और विधि के समाचरण में
कुशल हो, तपःकर्म से भावित, इन्द्रिय और कषाय का निग्रह करने
वाला तथा प्रवचन के रहस्यों का ज्ञाता हो, गच्छ से निर्यूढ होने पर
भी जिसके मन में तिल-तुष मात्र भी अशुभ भाव न आता हो, वह
निर्यूढणा के योग्य है, शेष नहीं। इन गुणों से रहित होने पर
पारांचित के स्थान पर मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

अनवस्थाप्य वहन की अर्हता पारांचित के समान ही है।

९. अन्य गण में पारांचितवहन क्यों ?

इत्तिरिय णिक्खेवं, काउं अण्णं गणं गमित्ताणं।
दव्वादि सुभे विगडण, निरुवस्सग्गट्ठ उस्सग्गो ॥
अप्यच्चय णिब्भयया, आणाभंगो अजंतणा सगणे।
परगणे न होंति एए, आणाधिरता भयं चेव ॥

(बृभा ५०३३, ५०३४)

प्रायश्चित्ती आचार्य अपने तुल्य शिष्य में अल्पकालिक गण-निक्षेप कर दूसरे गण में चले जाते हैं। प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में दूसरे गण के आचार्य के समक्ष आलोचना करते हैं, फिर निर्विघ्नता के लिए दोनों आचार्य कायोत्सर्ग करते हैं।

अपने गच्छ में पारांचित वहन करने से अगीतार्थ साधुओं के मन में अविश्वास उत्पन्न होता है, गुरु का भय नहीं रहता। भय के अभाव में गुरु की आज्ञा का भंग सहज हो जाता है, शिष्यों के अनुरोध से प्रायश्चित्तवाही आचार्य स्वयं भिक्षाचर्या संबंधी नियंत्रण का पालन नहीं कर पाते। दूसरे गण में इन दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। अर्हत् की आज्ञा की अनुपालना में स्थिरता आती है और आत्मा में पाप के प्रति भय उत्पन्न होता है।

१०. पारांचिक की जिनकल्पी सदृश चर्या

जिणकप्पियपडिरूवी, बाहिं खेत्तस्स सो ठितो संतो।
विहरति बारस वासे, एग्गी ज्ञाणासंजुत्तो ॥

(बृभा ५०३५)

पारांचिक मुनि जिनकल्पिकप्रतिरूपी होता है। अलेपकृत भिक्षा ग्रहण करना, तृतीय पौरुषी में पर्यटन करना इत्यादि चर्या जिनकल्पी के सदृश होती है। वह क्षेत्र से बाहर रहता हुआ अकेला ध्यानसंयुक्त—श्रुतपरावर्तन में एकचित्त होकर बारह वर्ष तक विहरण करता है।

११. पारांचिक का कालमान

आसायणा जहण्णे, छम्मासुक्कोस बारस तु मासे।
वासं बारस वासे, पडिसेवओ कारणे भत्तिओ ॥

(बृभा ५०३२)

पारांचिक	जघन्यकाल	उत्कृष्टकाल
आशातना पारांचिक	छह मास	बारह मास
प्रतिसेवना पारांचिक	एक वर्ष	बारह वर्ष

पारांचिक इतने काल तक गण से बाहर रहता है। संघीय कार्य उपस्थित होने पर अवधि से पूर्व भी गण में प्रवेश कर सकता है।

१२. संघकार्य में पारांचिक की भूमिका

निव्विसउ त्ति य पढ्मो, वित्तिओ मा देह भत्तपाणं से।
तत्तितो उवकरणहारो, जीय चरित्तस्स वा भेतो ॥
जाणंता माहर्षं, सयमेव भणंति एत्थ तं जोग्गो।
अत्थि मम एत्थ विसओ, अजाणए सो व ते बेति ॥

अच्छउ महाणुभागो, जहासुहं गुणसयागरो संघो।
गुरुगं पि इमं कज्जं, मं पप्प भविस्सए लहुयं ॥
अभिहाणहेउकुसलो, बहूसु नीराजितो विउसभासु।
गंतूण रायभवणे, भणाति तं रायदारट्टं ॥
(बृभा ३१२१, ५०४४-५०४६)

कदाचित् राजा ने कुपित होकर संघ को देशनिष्काशन का आदेश दिया हो, आहार-पानी देने का निषेध कर दिया हो, उपकरणों का हरण कर लिया हो अथवा जीवन या चारित्र को विच्छिन्न करने की आज्ञा दी हो—इनमें से किसी भी कार्य के उत्पन्न होने पर; आचार्य यदि उस पारांचिक मुनि के माहात्म्य को जानते हैं तो स्वयं उसे कहते हैं—इस कार्यसिद्धि के लिए तुम योग्य हो, अतः उद्यम करो। यदि वे उसकी शक्ति से परिचित नहीं हैं तो वह पारांचिक स्वयं कहता है—

इस विषय में मेरा प्रवेश है। सैकड़ों गुणों का निधान यह महानुभाग संघ अक्षुण्ण रहे, इसका हित हो। मैं इस महान् संघसुरक्षा के कार्य को सरलता से संपादित कर सकता हूँ।

संघ की अनुज्ञा प्राप्त कर शब्दप्रयोग और हेतुवाद में कुशल तथा अनेक विद्वत्सभाओं में संभांगिता वाला वह पारांचितवाहक राजभवन में जाकर प्रतीहार से कहता है—

पडिहाररूवी! भण रायरूविं, तमिच्छए संजयरूवि दट्टुं।
निवेदयित्ता य स पत्थिवस्स, जहिं निवो तत्थ तयं पवेसे ॥
तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं, पुच्छिसु रायाऽऽगयकोउहल्लो।
पणहे उराले असुए कयाई, स चावि आइक्खइ पत्थिवस्स ॥
जारिसग आयरक्खा, सक्कादीणं न तारिसो एसो।
तुह राय! दारपालो, तं पि य चक्कीण पडिरूवी ॥
समणाणं पडिरूवी, जं पुच्छसि राय! तं कहमहं ति।
निरतीयारा समणा, न तहाऽहं तेण पडिरूवी ॥
निज्जूढो मि नरीसर! खेत्ते वि जईण अच्छिउं न लभे।
अतियारस्स विसोधिं, पकरोमि पमायमूलस्स ॥
कहणाऽऽउट्टुण आगमणपुच्छणं दीवणा य कज्जस्स।
वीसज्जियं ति य मए, हासुस्सलितो भणाति राया ॥
संघो न लभइ कज्जं, लद्धं कज्जं महाणुभाएणं।
तुब्भं ति विसज्जेमिं, सो वि य संघो त्ति पूएति ॥
(बृभा ५०४७-५०५३)

हे प्रतिहाररूपिन्! तुम भीतर जाकर राजरूपी को कहो कि एक श्रमणरूपी आपसे मिलना चाहता है। प्रतिहारी ने राजा को निवेदन किया। जहां राजा था, मुनि ने वहां प्रवेश किया। राजा ने मुनि का अभिवादन किया, शुभ आसन पर बिठाया और कुतूहलवश पूछा—हे मुने! तुम्हारे गम्भीर अर्थ वाले और अश्रुतपूर्व प्रतिहाररूपी, राजरूपी और श्रमणरूपी शब्दों का अर्थ क्या है?

मुनि ने कहा—हे राजन्! शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र के जैसे आत्मरक्षक होते हैं, वैसे आत्मरक्षक आपके नहीं हैं इसलिए मैंने प्रतिहाररूपिन् शब्द का प्रयोग किया। जैसे चक्रवर्ती होता है, वैसे आप नहीं हैं क्योंकि आपके पास चक्ररत्न नहीं है किन्तु शौर्य और न्याय की अनुपालना में आप चक्रवर्ती के प्रतिरूप हैं इसलिए मैंने राजरूपी शब्द का प्रयोग किया है।

राजा ने प्रश्न किया—तुम श्रमणों के प्रतिरूपी कैसे हो? उसने कहा—श्रमण निरतिचार होते हैं, मैं वैसा नहीं हूँ इसलिए मैं श्रमणों का प्रतिरूपी हूँ। हे नरेश! मैं अपने प्रमादजनित अतिचार की विशोधि कर रहा हूँ इसलिए संघ से निष्कासित हूँ। जिस क्षेत्र में श्रमण रहते हैं, मैं उनके साथ नहीं रह सकता इसलिए मैं श्रमण का प्रतिरूपी हूँ।

राजा यदि पूछे—मुने! तुमने कौन-सा अतिचार किया और उसकी विशोधि कैसे कर रहे हो? तब मुनि प्रवचन की प्रभावना के लिए इस प्रश्न के उत्तर के साथ-साथ अन्य प्रासंगिक बातें बताकर राजा को प्रभावित और आकृष्ट करता है। आपके आगमन का प्रयोजन क्या है?—राजा द्वारा यह पूछे जाने पर मुनि अपना प्रयोजन प्रकाशित करता है, तब राजा हर्ष से उल्लसित होकर कहता है—मैंने जो निषेधाज्ञा जारी की थी, उसे विसर्जित करता हूँ।

जिस कार्य को संघ नहीं कर सका, उस कार्य को पारांचिक साधु के अचिन्त्य प्रभाव ने कर दिया। राजा कहता है—हे मुने! तुम्हारे कहने से ही मैं अपनी पूर्व आज्ञा को विसर्जित करता हूँ। पारांचिक भी कहता है—मेरी क्या शक्ति है? संघ महान् है, आचार्य महान् हैं। इसलिए आप संघ को बुलाकर क्षमायाचना कर कहें— 'मैंने संघविषयक सारी आज्ञाएं विसर्जित कर दी हैं', तब राजा संघ की पूजा करता है।

अब्भत्थितो व रण्णा, सयं व संघो विसज्जति तु तुट्ठो।
आदी मज्झिमसंघो, स यावि दोसो धुओ होइ॥

एक्को य दोनि दोनि य, मासा चउवीस होति छब्भागे।
देसं दोण्ह वि एयं, वहेज्ज मुंचेज्ज वा सव्वं॥
अट्टारस छत्तीसा, दिवसा छत्तीसमेव वरिसं च।
बावत्तरिं च दिवसा, दसभाग वहेज्ज बित्तिओ तु।
पारंचीणं दोण्ह वि, जहन्नमुक्कोसयस्स कालस्स।
छब्भागं दसभागं, वहेज्ज सव्वं व झोसिज्जा॥

(बृभा ५०५४-५०५७)

राजा संघ से अभ्यर्थना करता है—इस पारांचिक को प्रायश्चित्त से मुक्त करें। इस प्रकार राजा की प्रार्थना पर अथवा मुनि के कार्य से संतुष्ट होकर संघ स्वयं उसे प्रायश्चित्त से मुक्त कर सकता है।

उसके पारांचित तप का आदि, मध्य या अवसान जो भी हो, जितना वहन करना शेष हो, वह विसर्जित कर दिया जाता है। गुरु और संघ के प्रसाद से प्रायश्चित्त का हेतुभूत अवशिष्ट दोष प्रकम्पित हो क्षीण हो जाता है। आचार्य चाहें तो उसे प्रायश्चित्त का देश (छठा भाग) अथवा देशदेश (दसवां भाग) भी वहन करा सकते हैं, सर्वथा मुक्त भी कर सकते हैं।

आशातना पारांचित में जघन्य देश (छठा भाग) एक मास, उत्कृष्ट दो मास तथा जघन्य देशदेश (दसवां भाग) अठारह दिन, उत्कृष्ट छत्तीस दिन होते हैं। प्रतिसेवना पारांचिक में जघन्य देश दो मास, उत्कृष्ट देश चौबीस मास तथा जघन्य देशदेश छत्तीस दिन, उत्कृष्ट देशदेश बहत्तर दिन होते हैं।

१३. अनवस्थाप्य के प्रकार

आसायण पडिसेवी, अणवट्टप्पो वि होति दुविहो तु।

एक्केक्को वि य दुविहो, सचरित्तो चेव अचरित्तो॥

(बृभा ५०५९)

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के दो प्रकार हैं—आशातना अनवस्थाप्य और प्रतिसेवना अनवस्थाप्य। इन दोनों के दो-दो प्रकार हैं—सचारित्री और अचारित्री।

० आशातना अनवस्थाप्य

तिस्थयर पत्थण सुते, आयरिए गणहरे महिड्डीए।
एते आसादेते, पच्छित्ते मग्गणा होइ॥
पढम-बित्तिएसु णवमं, सेसे एक्केक्क चउगुरू होति।
सव्वे आसादेतो, अणवट्टप्पो उ सो होइ॥

.....तीर्थकर-संघाशातनयोरुपाध्यायस्य.....अनवस्थाप्यं
भवति। (बृभा ५०६०, ५०६१ वृ)

तीर्थकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर और महर्द्धिक की आशातना करने पर प्रायश्चित्त की मार्गणा होती है। तीर्थकर और संघ की आशातना से उपाध्याय को अनवस्थाप्य प्राप्त होता है। शेष श्रुत आदि चारों पदों में एक-एक की आशातना करने पर प्रत्येक का चतुर्गुरु और सबकी आशातना करने से अनवस्थाप्य आता है।

० प्रतिसेवना अनवस्थाप्य

तओ अणवट्टुप्पा पण्णत्ता, तं जहा — साहम्मियाणं तेणियं
करेमाणे, अण्णधम्मियाणं तेणियं करेमाणे, हत्थादालं दल-
माणे ॥

.....अनवस्थाप्याः तत्क्षणादेव व्रतेष्वनवस्थापनीयाः ।
(क ४/३ वृ)

पडिसेवणअणवट्टो, तिविधो सो होइ आणपुव्वीए ।.....
(बृभा ५०६२)

तीन अनवस्थाप्य (नौवें प्रायश्चित्त) के भागी होते हैं—

१. साधर्मिकों की चोरी करने वाला, २. अन्यधर्मिकों की चोरी करने वाला, ३. हस्तताल देने वाला—मारक प्रहार करने वाला।

भाष्य में इन्हें प्रतिसेवनाअनवस्थाप्य कहा गया है।

अनवस्थाप्य का अर्थ है—तत्क्षण ही व्रतों में अनवस्थापनीय।

१४. अनवस्थाप्य-ग्रहणविधि तथा सामाचारी

.....दब्बाइ सुहे वियडण, निरुवस्सग्गट्ट उस्सग्गो ॥
सेहाई वंदंतो, पग्गहियमहातवो जिणो चेव ।
विहरइ बारस वासे, अणवट्टुप्पो गणे चेव ॥
.....संवासो से कप्पइ, सेसा उ पया न कप्पंति ॥
(बृभा ५१३३, ५१३५, ५१३६)

अनवस्थाप्यप्राप्त मुनि गुरु के समक्ष प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में—वटवृक्ष आदि क्षीरवृक्षों के नीचे, इक्षुक्षेत्र में पूर्वाह्निक के समय, प्रशस्त चन्द्रतारा-बल होने पर आलोचना करता है। गुरु अनवस्थाप्य तप की निर्विघ्न सम्पन्नता के लिए कायोत्सर्ग करते हैं।

अनवस्थाप्य मुनि शैक्ष आदि सब मुनियों को वन्दना करता है और जिनकल्पी की भांति महातपस्वी बन जाता है। वह गण में

ही उत्कृष्ट बारह वर्ष विहरण करता है। पर-गण में वह उपाश्रय के शेष साधुओं द्वारा अपरिभोग्य एक पार्श्व में संवास कर सकता है, किन्तु आलाप आदि दस पदों का वर्जन करता है। (दस पद-वर्जन द्र परिहारतप)

१५. अनवस्थाप्य का कालमान

आसायणा जहण्णे, छम्मासुक्कोस बारस उ मासा ।
वासं बारस वासे, पडिसेवओ कारणे भइओ ॥
(बृभा ५१३२)

अनवस्थाप्य	जघन्य	उत्कृष्ट
आशातना	छह मास	बारह मास
प्रतिसेवना	एक वर्ष	बारह वर्ष

संघीय कार्य होने पर प्रतिसेवना अनवस्थाप्य का काल न्यून भी हो सकता है, जिसकी विधि पारांचित की भांति वक्तव्य है।

१६. प्रायश्चित्त वाहक के प्रति आचार्य का दायित्व
ओलोयणं गवेसण, आयरिओ कुणति सव्वकालं पि ।
उप्पण्णे कारणम्मि, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥
जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणई पमादेणं ।
आरोवणा उ तस्सा, कायव्वा पुव्वनिहिट्ठो ॥
आहरति भत्तपाणं, उव्वत्तणमादियं पि से कुणति ।
सयमेव गणाधिवती, अध अगिलाणो सयं कुणति ॥
उभयं पि दाऊण सपाडिपुच्छं, वोहुं सरीरस्स य वट्टुमाणिं ।
आसासइत्ताण तवो किलंतं, तमेव खेत्तं समुवेत्ति थेरा ॥
गेलण्णेण व पुट्टो, अभिणवमुक्को ततो व रोगातो ।
कालम्मि दुव्वले वा, 'कज्जे अण्णे' व वाघातो ॥
पेसेति उवज्झायं, अन्नं गीतं व जो तहिं जोग्गो ।
पुट्टो व अपुट्टो वा, स वावि दीवेत्ति तं कज्जं ॥
(व्यभा १२११-१२१६)

भिक्षु आचार्य के पास अनवस्थाप्य या पारांचित प्रायश्चित्त वहन करता है। वे आचार्य प्रायश्चित्त वहन के पूरे काल में प्रतिदिन उसका अवलोकन तथा गवेषणा (सुखपृच्छा) करते हैं और यदि वह बीमार हो जाता है तो स्वयं आचार्य सम्पूर्ण प्रयत्नों से उसकी सेवा करते हैं—आहार-पानी लाकर देते हैं, उद्वर्तन-परिवर्तन (करवट बदलना आदि) करते हैं।

किसी प्रमादवश आचार्य उसकी उपेक्षा करते हैं, तो वे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। भिक्षु स्वस्थ होने पर पुनः सब कार्य स्वयं करता है।

आचार्य अपने शिष्यों और प्रतीच्छकों को सूत्र-अर्थ संबंधी पृच्छा-प्रतिपृच्छा देकर उस प्रायश्चित्त वाहक के पास जाते हैं, उसके शरीर की वर्तमान स्थिति के बारे में पूछते हैं। यदि वह तप से क्लान्त होता है तो आचार्य उसे आश्वस्त कर उसी क्षेत्र में आ जाते हैं, जहां गच्छ है।

आचार्य स्वयं ग्लान हो गये हों या तत्काल रोगमुक्त हुए हों, ज्येष्ठ-आषाढ का समय हो अथवा किसी अन्य कार्य से व्याघात उत्पन्न हो गया हो, तो वे उपाध्याय को या वहां जाने योग्य गीतार्थ को भेजते हैं। गीतार्थ के वहां जाने पर भिक्षु कुछ पूछे या न पूछे, तब भी गीतार्थ उसे बता दे कि अमुक प्रयोजन से आचार्य नहीं आये हैं।

१७. अनवस्थाप्य और पारांचित में भिन्नता

वूढे पायच्छित्ते , ठविज्जई जेण तेण नव होंति ।
जं वसइ खित्तबाहिं, चरिमं तम्हा दस हवंति ॥

...तदेव परिहारतपःप्रायश्चित्तं वहमानः सनेकाकी सक्रोशयोजनप्रमाणक्षेत्राद् बहिर्वसति तदेतावतांशोनान-वस्थ्याप्यात् चरमं पारांचित्तं विभिन्नम् । (बृभा ७१२ वृ)

गण में रहते हुए बारह वर्ष पर्यंत परिहारतप प्रायश्चित्त वहन करने के पश्चात् अनवस्थाप्य मुनि को व्रतों में उपस्थापित किया जाता है, अतः मूल प्रायश्चित्त से अनवस्थाप्य भिन्न है। अनवस्थाप्य के प्रक्षेप से प्रायश्चित्त के नौ भेद होते हैं। पारांचित्त में परिहारतप प्रायश्चित्त को वहन करता हुआ मुनि सक्रोश योजन प्रमाण क्षेत्र से बाहर अकेला रहता है। इस दृष्टि से अनवस्थाप्य से पारांचित्त भिन्न होने से प्रायश्चित्त के दस भेद होते हैं।

* परिहारतपवहन विधि

द्र परिहारतप

१८. अनवस्थाप्य-पारांचित्त गृहीभूत

अणवदुप्यं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्यइ ॥ गिहिभूयं कप्यइ ॥ पारांचियं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्यइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए ॥ गिहिभूयं कप्यइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए ॥ (व्य २/१८-२१)

अनवस्थाप्य और पारांचित्त प्रायश्चित्त वाहक भिक्षु को गृहस्थ वेश धारण कराये बिना गणावच्छेदक उसे पुनः संयम में उपस्थापित नहीं कर सकता। उसके गृहीभूत होने पर (गृहस्थ वेश धारण करने पर) गणावच्छेदक उसे उपस्थापित कर सकता है।

स च बहिर्यावत्तिष्ठति तावन्न गृहस्थः क्रियते किन्त्वागतः..... । (व्यभा १२१० की वृ)

वह जब तक बाहर रहता है, तब तक उसे गृहस्थ नहीं किया जाता। वसति में आने पर उसे गृहिलिंग दिया जाता है।

० गृहस्थवेश क्यों ?

ओभामितो न कुव्वति, पुणो वि सो तारिसं अतीचारं ।
होति भयं सेसाणं, गिहिरूवे धम्मता चेव ॥
किं वा तस्स न दिज्जति, गिहिलिंगं जेण भावतो लिंगं ।
अजढे वि दव्वलिंगे, सलिंग पडिसेवणा विजढं ॥

(व्यभा १२०८, १२०९)

प्रायश्चित्त के गृहस्थ वेश धारण करने के दो लाभ हैं—

१. पुनः गृहस्थ-अवस्था प्राप्ति का अर्थ है—तिरस्कार। तिरस्कृत भिक्षु पुनः वैसा दोषसेवन नहीं करता।
२. शेष साधुओं में दोषसेवन के प्रति भय उत्पन्न होता है।

उसे गृहिलिंग क्यों नहीं दिया जाये ? दिया जाना ही चाहिये क्योंकि उसने द्रव्यलिंग छोड़े बिना स्वलिंग में ही प्रतिसेवना की है, इससे भावलिंग तो परित्यक्त हो ही गया।

० गृहस्थवेश और उपस्थापना विधि

वरनेवत्थं एगे, पहाणविवज्जमवरे जुगलमेत्तं ।
परिसामज्जे धम्मं, सुणेज्ज कधणा पुणो दिक्खा ॥ (व्यभा १२०७)

कुछ आचार्य कहते हैं—उसे उपस्थापन से पूर्व अच्छी वेशभूषा पहनायी जाती है, स्नान नहीं कराया जाता। दाक्षिणात्य आचार्यों का मत है—उसे मात्र वस्त्रयुगल धारण करवाया जाता है।

उपस्थापनाई भिक्षु परिषद् में खड़ा होकर कहता है—भंते ! मैं धर्मदेशना सुनना चाहता हूँ। इस निवेदन पर आचार्य धर्मकथा करते हैं। धर्मश्रवण कर वह पुनः प्रार्थना करता है—मैं इस निर्ग्रथ-प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। अब मुझे पुनः प्रव्रजित करें। तत्पश्चात् उसे मुनिवेश समर्पित कर दीक्षित किया जाता है।

० अनवस्थाप्य-पारांचित अगृहीभूत भी

अणवदुष्पं भिक्खुं... ॥ पारंचियं भिक्खुं अगिहिभूयं वा गिहिभूयं वा कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्ते, जहा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥

यस्त्वगृहीभूतः सोऽपवादविषयस्तस्योत्सर्गतः प्रतिषिद्धत्वात्।
(व्य २/२२, २३ वृ)

अनवस्थाप्य या पारांचिक भिक्षु अगृहीभूत हो या गृहीभूत, गणावच्छेदक उसे उपस्थापित कर सकता है, यदि उससे गण में प्रतीति उत्पन्न हो (जो उस गण के लिए प्रीतिकर हो)।

प्रायश्चित्ती को गृहलिंग नहीं देना आपवादिक है। अगृहीभूत को पुनः प्रव्रजित नहीं करना—यह उत्सर्ग विधि है।

अगिहिभूतो कीरति, रायणुवत्तिय पदुइ सगणो वा।
परमोयावणइच्छा, दोण्ह गणाणं विवादो वा ॥
(व्यभा १२१०)

पांच कारणों से प्रायश्चित्ती को गृहीभूत नहीं किया जाता—

- ० राजानुवृत्ति—गृहस्थ न बनाने का राजा का आग्रह हो या उस भिक्षु ने किसी राजा को संघ के अनुकूल बनाया हो।
- ० गणप्रद्वेष—स्वगण ने द्वेषवश उसे यह प्रायश्चित्त दिलवाया हो।
- ० परमोचापन—अपने उपकारी को कठोर प्रायश्चित्त वहन करते देख अनेक शिष्य संयम छोड़ने को उद्यत हों।
- ० इच्छा—उस भिक्षु या अनेक शिष्यों का वैसा आग्रह हो।
- ० विवाद—उस प्रायश्चित्त के संबंध में दो गणों में विवाद हो।

पारिहारिक—पापकारी प्रवृत्तियों का वर्जन करने वाला साधु।

से भिक्खुं... णो... परिहारिओ अपरिहारिण वा सद्धिं गाहावइ-कुलं पिंडवाय-पडियाए पविसेज्ज... ।

पारिहारिकः—पिण्डदोषपरिहरणादुद्युक्तविहारी साधु-रित्यर्थः... 'अपरिहारिकेण' पार्श्वस्थावसनकुशीलसंसक्त-यथाच्छन्दरूपेण... ।
(आचूला १/८ वृ)

पारिहारिक अपारिहारिक के साथ गृहपति के घर में पिंडपात की प्रतिज्ञा से (आहार प्राप्ति के लिए) प्रवेश न करे।

पारिहारिक का अर्थ है आहार संबंधी उद्गम आदि दोषों

का वर्जन करने वाला उद्यतविहारी साधु। पार्श्वस्थ, अवसन, कुशील, संसक्त और यथाच्छंद श्रमण अपारिहारिक हैं।

पारिहारिओ मूलुत्तरदोसे परिहरति। अहवा मूलुत्तरगुणे धरेति आचरतीत्यर्थः।... अपरिहारी ते य अण्णत्तिथिय-गिहत्था।
(नि २/३९ की चू)

आधाकम्मादी णिकाए सावज्जजोगकरणं च।
परिहारित्त परिहरं, अपरिहरंतो अपरिहारी ॥
(निभा १०८१)

जो मूलगुण-उत्तरगुण संबंधी दोषों का वर्जन करता है अथवा मूलगुणों और उत्तरगुणों को धारण करता है—उनका आचरण करता है, वह पारिहारिक है। अन्यतीर्थिक और गृहस्थ अपारिहारिक हैं।

जो आधाकर्म आदि दोषों, छहजीवनिकायअसंयम तथा पापकारी प्रवृत्तियों का तीन करण (मनसा, वाचा, कर्मणा), तीन योग (कृत-कारित-अनुमति) से परिहार करता है, वह परिहारी है और जो इनका परिहार नहीं करता, वह अपरिहारी है।

...लोउत्तरपरिहारो, दुविहो परिभोग धरणे य ॥

... आवण्णसुद्धपरिहारे । ...

परिभोगे परिभुंजति पाउण्णज्जतीत्यर्थः। धारणपरिहारो नाम जं संगोविज्जति पडिलेहिज्जति य, ण य परिभुंजति।...

...सुद्धपरिहारो जो वि सुच्चा पंचयामं अणुत्तरं धम्मं परिहरइ—करोतीत्यर्थः। विसुद्धपरिहारकप्पो वा घेप्पइ। आवण्णपरिहारो पुण जो मासियं वा जाव छम्मासियं वा पायच्छित्तं आवण्णो तेण सो सपच्छित्ती असुद्धो अ विसुद्ध-चरणेहिं साहूहिं परिहरिज्जति। (निभा ६२९४, ६२९५ चू)

लोकोत्तर परिहार के दो रूप हैं—परिभोग और धारण।

परिभोग—उपयोग या प्रयोग करना।

धारण—संगोपन और प्रतिलेखन करना, किन्तु परिभोग नहीं करना।

परिहारी के दो प्रकार हैं—१. शुद्धपरिहारी—जो पंचयाम रूप अनुत्तर धर्म को सुनकर उसका आचरण करता है। अथवा जो परिहारविशुद्धि चारित्र की आराधना करता है।

२. आपनपरिहारी—जो मासिक यावत् षाण्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त है। सप्रायश्चित्त होने से वह अशुद्ध है, इसलिए विशुद्ध चारित्र

वाले साधुओं द्वारा परित्यक्त है—परस्पर आलाप-संलाप आदि पदों द्वारा परिहरणीय है। (द्र परिहारतप)

पारिहारिककुल—स्थापनाकुल।

गुरु-गिलाण-बाल-वुड्ड-आदेसमादियाण जत्थ पाउग्गं लभति ते परिहारिककुले। (निभा २७७७ की चू)

जहां गुरु, ग्लान, बाल, वुड्ड, अतिथि आदि के प्रायोग्य द्रव्य प्राप्त हों, वह पारिहारिक कुल है। (द्र स्थापनाकुल)

पार्श्व—तेईसवें अर्हत्। द्र तीर्थकर

पार्श्वस्थ—वह मुनि जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप में सम्यक् प्रयत्नवान् नहीं है। द्र श्रमण

पिण्डैषणा—कल्पनीय आहार की गवेषणा, ग्रहण और परिभोग का उपक्रम।

१. पिण्डकल्पिक कौन ?
२. पिण्डैषणा-पानैषणा-प्रतिमा
 - उपहृत-अवगृहीत-प्रतिमा
 - * विविध पानक द्र पर्युषणाकल्प
 - * जिनकल्पी और पिण्डैषणा द्र जिनकल्प
३. एषणा (उद्गम) के दोष : औद्देशिक, क्रीत.....
४. औद्देशिक के भेद-प्रभेद : यावंतिका, उद्देश.....
 - * स्थित-अस्थितकल्प : औद्देशिक-राजपिंड द्र कल्पस्थिति
५. आधाकर्मिक आहार-निषेध
६. चार उपाश्रय : ग्राह्य-अग्राह्य आधाकर्म
७. उद्गम का एक दोष : पूतिकर्म
 - पूतिदोष के भेद : आहार-उपधि-शय्या
 - स्थापित और रचित दोष
८. उत्पादन के दोष : धात्रीपिंड.....अंतर्धानपिंड
 - * अंतर्धानपिंड आदि के दृष्टांत द्र मंत्र-विद्या
९. पूर्वसंस्तव-पश्चात्संस्तव-निषेध
१०. एषणा का एक दोष : शंकित
११. पुराकर्मकृत दोष
 - संसृष्ट के अठारह प्रकार : पुराकर्म आदि
१२. नित्यपिंड और अभिहृतपिंड का वर्जन

- अभिहृत और नियतपिंड
- नित्य अग्रपिण्ड वर्जित
- १३. कालातिक्रांत-क्षेत्रातिक्रांत आहार-निषेध
 - कालातिक्रांत : जिनकल्पी-स्थविरकल्पी
 - * आज्ञापूर्वक भिक्षाटन द्र आज्ञा
 - * दूर भिक्षा के लाभ द्र स्थविरकल्प
- १४. भिक्षागमन-विधि
 - * वर्षा आदि में भिक्षाटन निषिद्ध द्र स्थविरकल्प
- १५. गमनमार्ग, अवस्थान और याचनाविधि
- १६. पूर्व-पश्चात्-संस्तुत : भिक्षाकाल में भिक्षा
 - * स्थाप्य कुल : आहार-ग्रहण सामाचारी द्र स्थापनाकुल
- १७. अर्गाहित कुलों से भिक्षा
 - * शय्यातरपिंड निषिद्ध द्र शय्यातर
- १८. दानफल बताकर लेना निषिद्ध : सप्तविध दानविधि
- १९. इन्द्रमह, मृत्युभोज आदि में भिक्षा अग्राह्य
- २०. सचित्त लशुन आदि अकल्पनीय
- २१. प्राप्त भिक्षाविषयक पृच्छा
 - * परिभोगैषणा विवेक, आहारविधि द्र आहार
- २२. अतिरिक्त आहार-ग्रहण संबंधी निर्देश
- २३. अचित्त-अनेषणीय संबंधी विधि
- २४. अग्रासुक आहार-परिष्ठापन विधि
- २५. कसैले पानक के परिष्ठापन का निषेध
- २६. सचित्त जल-व्युत्सर्ग विधि

१. पिण्डकल्पिक कौन ?

पढिए य कहिय अहिगय, परिहरती पिंडकल्पितो एसो।
तिविहं तीहिं विसुद्धं, परिहरनवगेण भेदेषं॥

पिण्डैषणाध्ययने पठिते तस्यार्थे कथिते तेन चाधिगते
.....सम्यक् श्रद्धिते च यः 'त्रिविधम्' उद्गमशुद्धमुत्पादना-
शुद्धमेषणाशुद्धं.....एष पिण्डकल्पिकः। (वृभा ५३२ वृ)

जो पिण्डैषणा अध्ययन (आचारचूला का प्रथम अध्ययन अथवा दशवैकालिक का पांचवां अध्ययन) पढ़ लेता है, गुरु द्वारा कथित उसके अर्थ का अवधारण कर उस पर श्रद्धा करता है, मन-वचन-काया से विशुद्ध रहकर, उद्गम, उत्पादन और एषणा से शुद्ध कल्पनीय आहार ग्रहण करता है, मनसा-वाचा-कर्मणा और कृत-कारित-अनुमति—इन परिहरणीय नौ भेदों से अग्राह्य को

ग्रहण नहीं करता है, वह पिण्डकल्पिक—भिक्षाटन के योग्य है।

* उद्गम आदि के दोष द्र श्रीआको १ एषणासमिति

२. पिण्डैषणा-पानैषणा-प्रतिमा

.....सत्त पिंडेसणाओ, सत्त पाणेसणाओ..... ॥.....पढमा पिंडेसणा—असंसद्वे हत्थे असंसद्वे मत्ते—तहप्यगारेण असंसद्वेण हत्थेण वा, मत्तेण वा असणं वा.....परो वा से देज्जा—फासुयं एसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते पडिगाहेज्जा..... ॥

अहावरा दोच्चा पिंडेसणा—संसद्वे हत्थे संसद्वे मत्ते..... ॥ अहावरा तच्चा पिंडेसणा.....अण्णतरेसु विरूवकूवेसु भायण-जाएसु उवणिक्खत्तपुव्वे सिया, तं जहा—थालंसि वा, पिढरंसि वा.....असंसद्वेण हत्थेण संसद्वेण मत्तेण, संसद्वेण वा हत्थेण असंसद्वेण मत्तेण, अंसिंस पडिगाहगंसि वा पाणिंसि वा णिहट्टु उवित्तु दलयाहि।.....

.....चउत्था पिंडेसणा.....मंथुं वा, चाउलं वा, चाउल-पलंबं वा। अंसिंस खलु पडिगाहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे अप्पे पज्ज-वजाए..... ॥.....पंचमा पिंडेसणा.....उवहितमेव भोयणजायं..... ॥..... छट्ठा पिंडेसणा.....पग्गहियमेव भोयण-जायं.....सयट्टाए पग्गहियं, जं च परट्टाए पग्गहियं, तं पाय-परियावन्नं, तं पाणि-परियावणं ॥.....सत्तमा पिंडेसणा.....बहुउज्झिय-धम्मियं भोयण-जायं जाणेज्जा—जं चणो बहवे दुपय-चउप्यय-समण-माहण-अतिहि-क्विण-वणीमगा णावकंखंति..... ॥

.....पढमा पाणेसणा—असंसद्वे हत्थे असंसद्वे मत्ते ॥..... दोच्चा पाणेसणा—संसद्वे हत्थे संसद्वे मत्ते ॥.....तच्चा पाणेसणा उवणिक्खत्तपुव्वे..... ॥.....चउत्था पाणेसणा.....पाणग-जायं..... तिलोदगं वा, तुसोदगं वा..... ॥.....पंचमा पाणेसणा.....उवहितमेव पाणग-जायं ॥.....छट्ठा पाणेसणा.....पग्गहियमेव पाणगजायं ॥.....सत्तमा पाणेसणा.....बहुउज्झियधम्मियं पाणग-जायं..... ॥

इच्छेयासिं सत्तण्हं पिंडेसणाणं, सत्तण्हं पाणेसणाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे णो एवं वएज्जा—मिच्छा पडिवन्ना खलु एते भयंतारो, अहमेगे सम्मं पडिवन्ने।.....सव्वे वेते उ जिणाणाए उवट्टिया..... ॥ (आचूला १/१४०-१५५)

पिण्डैषणा के सात प्रकार हैं—

१. प्रथम पिंडैषणा—असंसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र—देय वस्तु से

अल्पित हाथ या पात्र से गृहस्थ अशन आदि दे—उसे प्रासुक और एषणीय मानता हुआ मिलने पर ग्रहण करे।

२. द्वितीय पिंडैषणा—संसृष्ट हाथ और संसृष्ट पात्र।

३. तृतीय पिंडैषणा—उपनिक्षिप्तपूर्वा (उद्धृता)—किसी पात्र से (परोसने के लिए) पहले से ही निकाला हुआ हो, जैसे थाल में, पिठर में। असंसृष्ट हाथ संसृष्ट पात्र से अथवा संसृष्ट हाथ असंसृष्ट पात्र से पात्र या हाथ में निकालकर लाकर दे, उसे लेना।

४. चौथी पिंडैषणा—अल्पलेपा—बेर का चूर्ण, चावल या चावल का आटा आदि रूखा आहार लेना। उनके ग्रहण करने पर पश्चात्कर्म दोष नहीं लगता तथा तुष आदि पर्यव परिष्ठापनीय नहीं होते।

५. पांचवीं पिंडैषणा—उपहत भोजनजात (अवगृहीता)—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

६. छठी पिंडैषणा—प्रगृहीत भोजनजात (प्रगृहीता), जो स्वयं के लिए प्रगृहीत है, दूसरों के लिए प्रगृहीत है, वह भोजन पात्र में स्थित है अथवा हाथ में रखा हुआ है, उसे लेना।

७. सातवीं पिंडैषणा—उज्झितधर्मा—बहुउज्झितधर्मिक भोजनजात को जाने—जिसे अन्य बहुत द्विपद (दास), चतुष्पद (पशु), श्रमण, माहन, अतिथि, कृपण और वनीपक नहीं चाहते, उसे लेना।

पानैषणा के सात प्रकार हैं—

१. प्रथम पानैषणा—असंसृष्ट हाथ असंसृष्ट पात्र से पानक लेना।

२. द्वितीय पानैषणा—संसृष्ट हाथ संसृष्ट पात्र।

३. तृतीय पानैषणा—उद्धृता (उपनिक्षिप्तपूर्वा)।

४. चतुर्थ पानैषणा—अल्पलेपा—तिलोदक, तुषोदक आदि पानक। (द्र पर्युषणाकल्प)

५. पांचवीं पानैषणा—अवगृहीता—उपहत पानकजात।

६. छठी पानैषणा—प्रगृहीता—प्रगृहीत पानकजात।

७. सातवीं पानैषणा—उज्झितधर्मा—बहुउज्झितधर्मिक पानकजात।

इन सात पिंडैषणाओं और सात पानैषणाओं में से किसी प्रतिमा (अभिग्रह) को स्वीकार कर ऐसा न कहे—ये भगवान् (साधु) मिथ्याप्रतिपन्न हैं, केवल मैं सम्यक्प्रतिपन्न हूँ। मैं और ये सब अर्हत् की आज्ञा में उपस्थित हैं।

(अलेष, अल्पलेष आदि द्रव्य—

० अलेष—ओदन, मण्डक, सत्तू, कुल्माष, चवला, चना आदि।

० अल्पलेष—बथुए आदि का शाक, यवामू, कोद्रव, तक्र—उल्लण, सूप, कांजी, तीमन आदि।

- ० बहुलेप—दूध, दही, क्षीरपेया, कट्टर (कढी में डाला हुआ घी का बड़ा), फाणित आदि।—पिनि ६२३-६२५
- ० लेपकृत पानक—इक्षुरस, द्राक्षापानक, दाडिमपानक आदि।
- ० अलेपकृत पानक—तिलोदक, तुषोदक, यवोदक, कांजी, ओसामन, गर्म जल, चावलों का धोवन आदि।—आचूला १/१०४, १५१)
- ० उपहत-अवगृहीत-प्रतिमा

तिविहे उवहडे पण्णत्ते, तं जहा—सुद्धोवहडे फलिओ-वहडे संसद्दोवहडे ॥

तिविहे ओग्गहिए पण्णत्ते, तं जहा—जं च ओगिणहइ, जं च साहरइ, जं च आसगंसि पविखवइ... ॥ (व्य ९/४४, ४५)

उपहत भोजन तीन प्रकार का होता है—

१. शुद्धोपहत—खाने के लिए साथ में लाया हुआ लेप रहित भोजन—अल्पलेपा नाम की चौथी पिण्डैषणा।
२. फलिकोपहत—खाने के लिए थाली आदि में परोसा हुआ भोजन—अवगृहीता नाम की पांचवीं पिण्डैषणा।
३. संस्पृष्टोपहत—खाने के लिए हाथ में उठाया हुआ भोजन।

अवगृहीत भोजन तीन प्रकार का होता है—१. परोसने के लिए उठाया हुआ, २. परोसा हुआ, ३. पुनः पाकपात्र में डाला हुआ।

(उपहत-अवगृहीत—ये अभिग्रहधारियों की भिक्षाविधि के प्रकार हैं। कोई अभिग्रहधारी उठाया हुआ लेता है, कोई परोसा हुआ लेता है और कोई पुनः पाकपात्र में डाला हुआ लेता है।)

* पिण्डैषणाप्रतिमा : भिक्षाचरी का अंग द्र श्रीआको १ भिक्षाचर्या

३. एषणा (उद्गम) के दोष : औद्देशिक, क्रीत....

से भिक्खू...जाणेज्जा—असणं वा पाणं वा...अस्सि-पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स, पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पाभिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहंडं आहुट्टु चेएइ। तं तहप्पगारं असणं वा...पुरिसंतरकडं वा अपुरिसंतरकडं वा, बहिया णीहंडं वा अणीहंडं वा, अत्तट्ठियं वा अणत्तट्ठियं वा, परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा, आसेवियं वा अणासेवियं वा—अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥ (आचूला १/१२)

भिक्षु (गृहपति के घर में प्रवेश कर) जाने—यह अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य देने की प्रतिज्ञा से मेरे एक साधर्मिक के उद्देश्य

से प्राण, भूत, जीव और सर्वों का समारम्भ कर, उन्हें पीड़ित कर किया गया है अथवा उसी के उद्देश्य से खरीदा गया, उधार लिया गया, छीना गया, भागीदार द्वारा अननुमत, सामने लाया गया अथवा साधु के पास आकर देता है—इस प्रकार का अशन-पान पुरुषान्तरकृत हो या अपुरुषान्तरकृत, (पात्र से) बाहर निकाला हुआ हो या नहीं निकाला हुआ, (दाता के द्वारा) स्वीकृत हो या अस्वीकृत, परिभुक्त हो या अपरिभुक्त, आसेवित हो या अनासेवित—उसे अप्रासुक और अकल्पनीय मानता हुआ मिलने पर ग्रहण न करे।

४. औद्देशिक के भेद-प्रभेद : यावन्तिका, उद्देश....

जावंतिया पगणिया..... ।.....
आचंडाला पढमा, बितिया पासंड-जाति-णामेसु ॥...
जावंतियमुद्देशो, पासंडाणां भवे समुद्देशो ।
समण्णण तु आदेसो, निग्गंथाणां समादेसो ॥
(निभा १४७२, १४७३, २०२०)

औद्देशिकं द्विविधम्—ओघेन विभागेन च; तत्र विभागतो द्वादशविधम्, तद्यथा—उद्दिष्टं कृतं कर्म च; उद्दिष्टं चतुर्विधम्—औद्देशिकं समुद्देशिकमादेशिकं समादेशिकं च; कृतमपि चतुर्विधम्, तद्यथा—उद्देशकृतं समुद्देशकृतमादेशकृतं समादेशकृतं च; कर्मापि चतुःप्रकारम्, तद्यथा—उद्देशकर्म समुद्देशकर्म आदेशकर्म समादेशकर्म च। (बृभा ५३३ की वृ) यावन्तिका—कार्पटिक आदि से लेकर चंडाल पर्यन्त समस्त भिक्षुओं के उद्देश्य से बना हुआ भोजन।

प्रगणितो—शाक्य, परिव्राजक आदि की जाति या नाम से गणना करके दी जाने वाली भिक्षा।

औद्देशिक के दो प्रकार हैं—

१. ओघ—समुच्चय रूप में देने के लिए बनाया गया भोजन।
२. विभाग—श्रमण, माहण आदि का विभाग करके पकाया गया भोजन। उद्दिष्ट, कृत और कर्म के भेद से विभाग औद्देशिक के बारह प्रकार हैं—

उद्दिष्ट के चार प्रकार—औद्देशिक, समुद्देशिक, आदेशिक, समादेशिक। कृत के चार प्रकार हैं—उद्देशकृत, समुद्देशकृत, आदेशकृत, समादेशकृत। कर्म के चार प्रकार हैं—उद्देशकर्म, समुद्देशकर्म, आदेशकर्म, समादेशकर्म।

- ० उद्देश—भिक्षाचरों के उद्देश्य से निष्पन्न आहार।
- ० समुद्देश—पाखंडियों के उद्देश्य से निष्पन्न आहार।
- ० आदेश—श्रमणों के उद्देश्य से निष्पन्न आहार।
- ० समादेश—निर्ग्रथों के उद्देश्य से निष्पन्न आहार।

५. आधाकर्मिक आहार-निषेध

“परो आहाकम्मियं असणं वा पाणं वा” उवक्खडेत्ता
आहट्टु दलएज्जा। तहप्यगारं असणं अफासुयं अपोसणिज्जं
ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

(आचूला १/१२३)

गृहस्थ आधाकर्मिक अशन-पान तैयार कर, संस्कारित कर
लाकर दे, उसे अप्रासुक (अनभिलषणीय) अनेषणीय मानता हुआ
मिलने पर भी ग्रहण न करे।

(आधाकर्म-भोजी श्रमण निर्ग्रथ आयुष्य कर्म को छोड़कर
शेष संत कर्मों की शिथिल बंधनबद्ध प्रकृतियों को गाढ बन्धनबद्ध
करता है। आधाकर्म का अर्थ साधु को मन में रखकर उसके
निमित्त किया जाने वाला आहार है। जर्मन विद्वान् डॉ. लायमान
ने आहाकम्म का अर्थ याथाकाम्य किया है। याथाकाम्य आहार
खाने वाला सभी जीवनिकायों के प्रति निरनुकम्प होता है। याथाकाम्य
आहार का अर्थ है—गृहस्थ अपनी इच्छा के अनुसार मुनि के लिए
कोई वस्तु बनाना चाहता है और मुनि उसके लिए अपनी स्वीकृति
दे देता है अथवा मुनि अपने इच्छानुकूल भोजन के लिए गृहस्थ को
प्रेरित करता है।—भ १/४३६, ४३७ भाष्य)

६. चार उपाश्रय : ग्राह्य-अग्राह्य आधाकर्म

संघस्स पुरिम-पच्छिम-समणाणं चैव होइ समणीणं।
चउण्हं उवस्सयाणं, कायव्व परूवणा होति ॥
संघं समुद्दिसित्ता, पढमो बित्तिओ य समण-समणीणं।
तत्तिओ उवस्सए खलु, चउत्थओ एगपुरिसं तु ॥
जदि सव्वं उद्दिसित्तं, संघं तु करेति दोण्ह वि ण कप्पे।
अहवा सव्वे समणा, समणी वा तत्थ वि तहेव ॥
जइ पुण पुरिमं संघं, उद्दिसती मज्झिमस्स तो कप्पे।
मज्झिम उद्दिट्ठे पुण, दोण्हं पि अकप्पियं होइ ॥
एमेव समणवग्गे, समणीवग्गे य पुव्वणिद्दिट्ठे।
मज्झिमगाणं कप्पे, तेसि कडं दोण्ह वि ण कप्पे ॥

पुरिसाणं एगस्स वि, कयं तु सव्वेसि पुरिम-चरिमाणं।
ण वि कप्पे ठवणा मेत्तगं तु गहणं तहिं णत्थि ॥
एवमुवस्सयपुरिमे, उद्दिट्ठं तं ण पच्छिमा भुंजे।
मज्झिमतव्वज्जाणं, कप्पे उद्दिट्ठसमपुव्वा ॥
पंचयामसमणाण एगो, समणीण बित्तिओ, एवं
चाउज्जामियाण वि दो, एवं चउरो। (निभा २६६७-२६७३ चू)

चार उपाश्रय हैं—१. पंचयाम श्रमण और २. श्रमणी—
प्रथम-चरम तीर्थवर्ती। ३. चतुर्याम श्रमण और ४. श्रमणी—मध्यम
बाईस तीर्थकर-शासनवर्ती। आधाकर्मकारी व्यक्ति सामान्यतः चार
विकल्पों का संकल्प कर आहार आदि तैयार करता है—

१. संघ के उद्देश्य से
 २. श्रमण-श्रमणी के उद्देश्य से
 ३. उपाश्रय के उद्देश्य से
 ४. एक पुरुष के उद्देश्य से
- ० ओघ औद्देशिक—सर्वसंघ या सर्व श्रमण-श्रमणी के उद्देश्य से
कृत वस्तु चतुर्याम और पंचयाम—दोनों ही नहीं ले सकते।
० विभाग औद्देशिक—प्रथम (ऋषभकालीन) संघ के उद्देश्य से
कृत आहार आदि मध्यम (बाईस तीर्थकरकालीन) संघ के लिए
कल्पनीय है। प्रथम और चरम संघ के लिए वह अकल्प्य है।
मध्यम संघ के लिए निर्मित आहार आदि प्रथम-चरम और मध्यम—
सबके लिए अग्राह्य है। चरम संघ के उद्देश्य से कृत वस्तु प्रथम-
चरम के लिए अकल्प्य तथा मध्यम संघ के लिए कल्प्य है।

इसी प्रकार ऋषभस्वामी के तीर्थ के साधु-साध्वियों के
लिए कृत वस्तु मध्यम के लिए ग्राह्य और मध्यम के लिए कृत
वस्तु दोनों के लिए अग्राह्य है।

प्रथम तीर्थकर के शासन में एक पुरुष के उद्देश्य से कृत
प्रथम और चरम संघ में सबके लिए अग्राह्य है। चरम में एक के
लिए कृत वस्तु प्रथम और चरम में सबके लिए अग्राह्य है। प्रथम
और चरम संघ में काल का प्रलम्ब अंतराल होने के कारण परस्पर
ग्रहण संभव नहीं है, अतः यह विकल्प प्रज्ञापन मात्र है।

मध्यम संघ में इतना विशेष है कि सामान्य रूप से एक के
लिए कृत वस्तु किसी एक के ग्रहण करने पर शेष सबके लिए
ग्राह्य है किन्तु विशेष रूप से किसी एक पुरुष के उद्देश्य से कृत
वस्तु उस एक के लिए अग्राह्य, शेष सबके लिए ग्राह्य है। पूर्व और
पश्चिम तीर्थ में वह सबके लिए अग्राह्य है।

पूर्व उपाश्रय के लिए कृत पूर्व-पश्चिम—दोनों के लिए
अग्राह्य है, मध्यम के लिए ग्राह्य है। मध्यम उपाश्रय में जिसके

उद्देश्य से कृत है, मात्र उसके लिए ही अग्राह्य है, शेष सबके लिए ग्राह्य है। मध्यम श्रमणवर्ग के लिए कृत वस्तु श्रमणीवर्ग के लिए ग्राह्य है। शेष सबके लिए अग्राह्य है। चरम में श्रमणवर्ग के लिए कृत चरम श्रमण-श्रमणी वर्ग के लिए अग्राह्य तथा मध्यम के लिए ग्राह्य है।

७. उद्गम का एक दोष : पूतिकर्म

जे भिक्खू पूतिकम्मं भुंजति, भुंजंतं वा सातिज्जति—तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्टाणं अणुघातियं ॥

वावण्णं विणट्टं कुहितं पूति भण्णति। इह पुण समए विसुद्धं आहाराति अविशोधि कोटी दोसजुएणं सम्मिस्सं पूतितं भण्णति। (निभा १/५६ चू)

पूती कुहितं, कम्ममिति आहाकम्मं, समए तस्यानिष्टत्वात्, तत् पूति, तदपि तेन संसृष्टं तदपि पूति, इह तु संसृष्टं परिगृह्यते। (निभा ८०४ की चू)

जो भिक्षु पूतिकर्म युक्त आहार करता है और करने वाले दूसरे का अनुमोदन करता है, वह गुरुमास प्रायश्चित्त प्राप्त करता है। पूति का अर्थ है—व्यावर्ण, विनष्ट या कुथित। जिनशासन में विशुद्ध आहार आदि अविशोधि कोटि के दोष से युक्त वस्तु के साथ मिश्रित होने पर पूति कहलाता है।

पूति और कर्म—पूति यानी कुथित और कर्म यानी आधाकर्म। सिद्धांत में आधाकर्म को भी अग्राह्य होने से पूति कहा गया है। आधाकर्म से संसृष्ट को भी पूति कहा जाता है, उसी का यहां प्रसंग है।

० पूति दोष के भेद : आहार-उपधि-शय्या

इंधणधूमे गंधे, अवयवमादी य सुहुमपूइयं।
जेसिं तु एत वज्जं, सोधी पुण विज्जते तेसिं ॥
बादरपूतीयं पुण, आहारे उवधि वसधिमादीसु।
आहारपूइयं पुण, चउव्विहं होति असणादी ॥
अहवाऽऽहारे पूती, दुविधं तु समासतो मुणेयव्वं।
उवकरण पूति पढमं, बीयं पुण होति आहारे ॥
चुल्लुक्खलियं डोए, दव्वी छूढे य मीसियं पूति।
डाए लोणे हिंगू, संकामण फोड संधूमे ॥
.....जावतियं फासते पूतिं ॥
उवही य पूतियं पुण, वत्थे पादे य होति नायव्वं।.....
वसधी य पूतियं पुण, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।.....

ण केवलं आहाकम्मेण पुट्टं पूतितं, पूतिएण वि पुट्टं पूइं।.....वत्थे आहाकम्मकडेण सुत्तेण सिव्वति थिग्गलं वा देति, पाए वि सीवति थिग्गलं वा देति। (निभा ८०५-८११ चू)

पूति दोष के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और बादर।

० सूक्ष्मपूति—आधाकर्म आहार पकाते समय ईंधन से धुआं उठता है, उस धुएँ से जो वस्तु स्पृष्ट होती है, वह पूतियुक्त है।

इसी प्रकार आधाकर्म आहार आदि के गंध-पुद्गलों अथवा अन्य सूक्ष्म अवयवों से स्पृष्ट वस्तु भी पूतिदोषयुक्त है। जो सूक्ष्म पूति वर्ज्य है, उसका प्रायश्चित्त विहित है।

० बादरपूति—इसके तीन प्रकार हैं—आहार, उपधि, शय्या।

१. आहारपूति—अशन आदि चार भेद। अथवा इसके दो भेद हैं—

० उपकरण पूति—जो वस्तु पकाने आदि में उपकारक है, वह उपकरणपूति है। यथा—आधाकर्मिक चुल्ली, थाली आदि में पकाई गई या रखी हुई वस्तु पूति है। किसी ने साधु के निमित्त डोय या दर्वी बनवाई, वह आधाकर्मिक है। एक नई दर्वी अपने लिए बनवाई, जिसमें आधाकर्मिक दर्वी का कोई अवयव लगा दिया और उसे शुद्ध आहार में डाल दिया—इस मिश्रण से, उपकरणपूति के कारण वह आहार कल्पनीय नहीं है।

० आहारपूति—गृहस्थ ने साधु के निमित्त यत्रशाक किया, नगक और होंग को पीसा या पकाया। इन आधाकर्मों द्रव्यों को अपने लिए पकाये जाने वाले भोजन में थोड़ा-थोड़ा डाल दिया—वह आहारपूति है। जहां आधाकर्म द्रव्य पकाया, उसको बाहर निकालकर उसी में अपने लिए भोजन पकाया, आधाकर्मिक राई आदि से संस्कारित और अग्नि आदि से धूपित द्रव्य में अपने लिए कोई द्रव्य डाल दिया—यह सब आहारपूति है।

केवल आधाकर्म से मिश्रित शुद्ध आहार ही पूति दोष युक्त नहीं होता, पूति आहार से संस्पृष्ट शुद्ध आहार भी पूति है।

२. उपधिपूति—आधाकर्मिक धागे से शुद्ध वस्त्र और पात्र की सिलाई करना, थैगली लगाना—यह उपधिपूति है।

३. शय्यापूति—निर्दोष शय्या में मूल-उत्तरकरण संबंधी आधाकर्मिक बांस, काष्ठ आदि का उपयोग करना शय्यापूति है।

(श्रद्धालु गृहस्थ ने आगन्तुक भिक्षुओं के लिए भोजन निष्पादित किया। उस (आधाकर्म) भोजन से दूसरा भोजन मिश्रित हो गया। वह पूतिकर्म भोजन यदि भिक्षु हजार घरों के अंतरित हो

जाने पर भी लेता है, खाता है, वह प्रव्रजित होने पर भी भोजन के निमित्त गृहस्थ जैसा आचरण करता है।—सू १/१/६०)

० स्थापित और रचित दोष

स्थापितं यत्संयतार्थं स्वस्थाने परस्थाने वा स्थापितम् ।
रचितं नाम संयतनिमित्तं कांस्यपात्रादौ मध्ये भक्तं निवेश्य
पार्श्वेषु व्यञ्जनानि बहुविधानि स्थाप्यन्ते ।

(व्यभा १५२० की वृ)

१. स्थापित—जो आहार साधु के उद्देश्य से स्वस्थान या परस्थान में स्थापित है ।

२. रचित—साधु के निमित्त कांस्यपात्र आदि के मध्य में आहार रखकर उसके पार्श्व भागों में नाना प्रकार के व्यंजन स्थापित किए जाते हैं । ये दोनों उद्गम के दोष हैं ।

* उद्गम-उत्पादन आदि दोष द्र श्रीआको १ एषणासमिति

८. उत्पादन के दोष : धात्रीपिंडं.....अंतर्धानपिंडं

जे भिक्खू धाड़पिंडं.....दूतिपिंडं.....णिमित्तपिंडं.....
आजीवियपिंडं.....वणीमगपिंडं.....तिगिच्छापिंडं.....कोहपिंडं
.....माणपिंडं.....मायापिंडं.....लोभपिंडं.....विज्जापिंडं.....मंतपिंडं
.....जोगपिंडं.....चुण्णपिंडं.....अंतद्धाणपिंडं भुंजति.....चाउम्मासियं
परिहारद्वाणं उग्घातियं ॥ (नि १३/६१-७५)

उत्पादन-दोष के पन्द्रह प्रकार हैं—

- | | | |
|----------------|-----------------|------------------|
| १. धात्रीपिंड | ६. चिकित्सापिंड | ११. विद्यापिंड |
| २. दूतीपिंड | ७. क्रोधपिंड | १२. मंत्रपिंड |
| ३. निमित्तपिंड | ८. मानपिंड | १३. योगपिंड |
| ४. आजीवपिंड | ९. मायापिंड | १४. चूर्णपिंड |
| ५. वनीपकपिंड | १०. लोभपिंड | १५. अंतर्धानपिंड |

इनका भोग करने वाला चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त करता है ।
(पिंडनिर्युक्ति में उत्पादन के सोलह दोष निरूपित हैं, जिनमें ग्यारहवां संस्तव और सोलहवां मूलकर्म है । वहां अंतर्धानपिंड का उल्लेख नहीं है । चूर्णपिंड में इसका समावेश किया जा सकता है । नि २/३७ में पूर्व-पश्चात्-संस्तव दोष का उल्लेख है ।)

९. पूर्वसंस्तव-पश्चात्संस्तव-निषेध

जे भिक्खू पुरेसंथवं वा पच्छासंथवं वा करेति..... ॥.....
मासियं परिहारद्वाणं उग्घातियं ॥ (नि २/३७, ५६)

गुणसंश्रवेण पुच्छिं, संतासंतेण जो थुणेज्जाहि ।
दातारमदिण्णम्मी, सो पुच्छो संथवो होति ॥
गुणसंश्रवेण पच्छा, संतासंतेण जो थुणिज्जाहि ।
दातारं दिण्णम्मी, सो पच्छासंथवो होति ॥
(निभा १०४६, १०४८)

जो भिक्षु गृहपति के भिक्षादान से पहले और भिक्षादान के पश्चात् उसमें विद्यमान-अविद्यमान गुणों की स्तुति करता है—इस पूर्वसंस्तव तथा पश्चात्संस्तव के कारण वह मासलघु प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

१०. एषणा का एक दोष : शंकित

से भिक्खू.....असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा
एसणिज्जे सिया, अणेसणिज्जे सिया—विचिगिच्छसमावण्णेणं
अघ्याणेणं असमाहडाए लेस्साए, तहप्यगारं असणं.....णो
पडिगाहेज्जा ॥ (आचूला १/३६)

भिक्षु अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य एषणीय है या अनेषणीय—इस विचिकित्सासमापन्न चित्त से, अविशुद्ध लेस्या से जैसे अशन आदि को न ले ।

११. पुराकर्मकृत दोष

.....परो हत्थं वा, मत्तं वा, दंठिं वा, भायणं वा
सीओदगवियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेत्ता
पहोइत्ता आहट्टु दलाएज्जा—तहप्यगारेण पुरेकम्मकएण हत्थेण
वा मत्तेण वा दंठ्ठीए वा भायणेण वा असणं वा.....अफासुयं
अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

(आचूला १/६३)

गृहस्थ हाथ, पात्र, कड़ड़ी या भाजन को शीतोदक या उष्णोदक से धोकर, बार-बार धोकर, (उससे आहार आदि) लाकर दे—वैसा पुराकर्मकृत हाथ, पात्र, कड़ड़ी या भाजन से दिया जाने वाला अशन आदि अप्राप्त और अनेषणीय है—ऐसा मानता हुआ प्राप्त होने पर भी उसे न ले ।

० संसृष्ट के अठारह प्रकार : पुराकर्म आदि

.....ससरक्खादी गणो.....पुरेकम्मे, पच्छाकम्मे, उदउल्ले,
ससिणिज्जे, ससरक्खे, मट्टिआ-ऊसे, हरियाले, हिंगुले,

मणोसिला, अंजणे, लोणे, गेरुय, वणिणाय, सेडिय, सोरडिय, पिट्ट, कुकुस, उक्कुडे चेव। एते अट्टारस कायणिष्णणा पिंडेसणाए भणिया हत्था...ससिणिद्धं। दुहा कम्मं ति पुरेकम्मं, पच्छाकम्मं। उदउल्लं...एते आउक्कायहत्था। रोट्टो... उक्कुट्टो...कुकुसा...एते वणस्सतिकायहत्था।...सेसा सव्वे उ पत्थिव्वा पुढविकायहत्थ त्ति...ससरक्खादि...जाव सोरडिय त्ति एक्कारस हत्था। (निभा १४७ की चू)

संसृष्ट के अठारह प्रकार हैं— १. पुराकर्म, २. पश्चात् कर्म, ३. उदकार्द्र, ४. सस्निग्ध, ५. सचित्त रज-कण, ६. मृत्तिका-क्षार, ७. हरिताल, ८. हिंगुल, ९. मैनशिल, १०. अंजन, ११. नमक, १२. गैरिक, १३. वर्णिका, १४. श्वेतिका, १५. सौराष्ट्रिका, १६. पिष्ट, १७. कुक्कुस और १८. उत्कृष्ट।

इनमें पुराकर्म, पश्चात्कर्म, उदकार्द्र और सस्निग्ध—ये अप्काय से संबंधित हैं। पिष्ट, कुक्कुस और उत्कृष्ट—ये वनस्पतिकाय से संबंधित हैं। शेष ग्यारह प्रकार पृथ्वीकाय से संबंधित हैं। (आचूला १/६३-८० में पश्चात् कर्म के अतिरिक्त शेष सबका उल्लेख है। वहां मृत्तिका और क्षार—ये दो पृथक् पद हैं।)

१२. नित्यपिंड और अभिहतपिंड का वर्जन

जे भिक्खू नितियं पिंडं भुंजति... ॥...तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्टाणं उग्घातियं ॥

जे भिक्खू गाहावइकुलं पिंडवाय-पडियाए अणुपविट्टे समाणे परं ति-घरंतराओ असणं...साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेति... ॥ (नि २/३२, ५६ ; ३/१५)

जो भिक्षु नित्यपिंड आहार करता है और जो भिक्षु गृहपति के घर में भिक्षा की प्रतिज्ञा से प्रवेश कर तीन घरों से आगे से लाकर दिए जाने वाले अभिहत दोष से दूषित अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य को ग्रहण करता है, वह मासलघु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

० अभिहत और नियतपिंड

आइण्णमणाइण्णं, निसीधऽभिहडं च णोनिसीहं च। साभावियं च नियतं, निकायण निमंतणा लहुगो ॥

...तत्राचीर्णमुपयोगसम्भवे गृहत्रयमध्ये, ततः पर-मनाचीर्णमुपयोगसम्भवात्। अनाचीर्णमपि द्विविधं निशीथाभ्याहृतं नोनिशीथाभ्याहृतं च। तत्र यत् साधोर-

विदितमभ्याहृतं तन्निशीथाभ्याहृतमितरत् साधोर्विदितमानीतं नोनिशीथाभ्याहृतं...नियतं त्रिविधम्, तद्यथा स्वाभाविकं, निकाचितं, निमन्त्रितं च। तत्र यन्न संयतार्थमेव किन्तु य एव श्रमणोऽन्यो वा प्रथममागच्छति तस्मै यदग्रपिण्डादि दीयते, तत्स्वाभाविकम्। यत्पुनर्भूतिकर्मादिकरणतश्चतुर्मासादिकं कालं यावत् प्रतिदिवसं निकाचितं निबद्धीकृतं गृह्यते तन्नि-काचितम्। यत्तु दायकेन निमन्त्रणापुरस्सरं प्रतिदिवसं नियतं दीयते तन्निमन्त्रितम्। (व्यभा ८५७ वृ)

अभिहत और नियत—ये भिक्षासंबंधी दोष हैं।

अभिहत—इसके दो प्रकार हैं—

१. आचीर्ण—गृहस्थ तीन घरों के मध्य से सम्मुख जाकर भिक्षा दे—इसमें उपयोग सम्भव है।

२. अनाचीर्ण—तीन घरों से आगे से लाने में उपयोग संभव नहीं है। अनाचीर्ण के भी दो प्रकार हैं—

१. निशीथ—वह अभिहत भिक्षा, जो साधु को ज्ञात न हो।

२. नोनिशीथ—जिस आनीत आहार की साधु को जानकारी हो।

० नियत के तीन प्रकार हैं—

१. स्वाभाविक—जो केवल साधु के लिए ही नहीं है, साधु या अन्य, जो भी सर्वप्रथम आता है, उसे अग्रपिंड आदि जो दिया जाता है, वह स्वाभाविक नियत पिण्ड है।

२. निकाचित—चतुर्मास आदि काल में भूतिकर्म आदि के कारण जो प्रतिदिन निकाचित रूप से—निबद्धीकृत लिया जाता है।

३. निमन्त्रित—जो दायक के द्वारा निमन्त्रणापूर्वक नियत रूप से प्रतिदिन दिया जाता है, वह निमन्त्रित नियत पिण्ड है।

जो इन्हें ग्रहण करता है, वह मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

० नित्य अग्रपिण्ड वर्जित

जे भिक्खू नितियं अग्रपिंडं भुंजति, भुजंतं वा सातिज्जति ॥

‘णितियं’ धुवं सासयमित्यर्थः ‘अग्रं’ वरं प्रधानं।

अहवा जं पढमं दिज्जति।

(नि २/३१ चू)

णितिए उ अग्रपिंडे, णिमंतणोवीलणा य परिमाणे। साभाविए य एत्तो, तिण्ण ण कप्पति तु कमेणं ॥

साभावि णितिय कप्पति, अणिमंतणोवील अपरिमाणे य।

जं वा वि सामुदाणी, तं भिक्खं दिज्ज साधूणं ॥

निष्णणो वि सअट्टा, उग्गमदोसा उ ठवितगादिया।

उप्पज्जंते जम्हा, तम्हा सो वज्जणिज्जो उ ॥

ओसक्कण अहिसक्कण, अञ्जोचरणे तहेव पोक्कंती ।
अण्णत्थ भोयणम्मि य, कीते पामिच्चकम्मे य ॥
(निभा ९९९, १००४-१००६)

जो भिक्षु नित्य अग्रपिण्ड—प्रधानपिण्ड या प्रथम दिया जाने वाला पिण्ड खाता है, खाते हुए दूसरे का अनुमोदन करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

गृहस्थ नित्य अग्रपिण्ड ग्रहण के लिए साधु को निमंत्रित करता है । साधु निमंत्रण स्वीकार करता हुआ कहता है—घर जाने पर तुम दोगे या नहीं दोगे—इस रूप में उसे उत्पीड़ित करता है और कितना दोगे ? इस रूप में वस्तु का परिमाण निर्धारित करवाता है, इस प्रकार निमंत्रण, उत्पीड़न और परिमाणकरण—ये तीनों भंग कल्पनीय नहीं हैं । जो स्वाभाविक है—गृहस्थ के अपने लिए कृत है, अनिमंत्रित, अनुत्पीड़ित, अपरिमाणकृत और सामुदानिक है, वह साधु के लिए प्रतिदिन कल्पनीय है ।

यद्यपि निमंत्रित भिक्षा गृहस्थ के लिए निष्पन्न है, फिर भी वह स्थापित आदि उद्गमदोषों से युक्त है—'मैं अवश्य दूंगा'—यह सोचकर गृहस्थ अलग पात्र में उसे स्थापित करता है, अतः वह वर्जनीय है ।

गृहस्थ अवश्य दातव्य आहार में से साधु को पूरा न पकने पर भी उसमें से निकाल कर देता है, विवक्षित काल से पहले-पीछे पकाता है, पच्यमान वस्तु में साधु के निमित्त अधिक डाल देता है । अन्यत्र निमंत्रित होने पर भी 'मैं अमुक वस्तु अवश्य दूंगा'—यह सोचकर साधु के लिए खरीदकर या उधार लाकर देता है अथवा आधाकर्म आहार निष्पन्न करता है—यह सब कल्पनीय नहीं है ।

१३. कालातिक्रांत-क्षेत्रातिक्रांत आहार-निषेध

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंशीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहिता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावेत्ते । से य आहच्च उवाइणाविए सिया, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा नो अण्णोसिं अणुप्पदेज्जा... ॥

नो कप्पइ...असणं वा...अद्धजोयणमेराए उवाइणा-वेत्ते । से य आहच्च उवाइणाविए सिया, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा नो अण्णोसिं अणुप्पदेज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहिता पमज्जिता परिट्टुवेयव्वे सिया । तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णोसिं

वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वाणं उग्घाइयं ॥
(क ४/१२, १३)

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी प्रथम पौरुषी में गृहीत अशन, पान, खाद्य तथा स्वाद्य को चतुर्थ पौरुषी में नहीं रख सकते । कदाचित् रह जाए तो उसे न स्वयं खाए, न दूसरों को खाने के लिए दे ।

वे अशन आदि को दो कोस की सीमा से आगे नहीं ले जा सकते । कदाचित् ले जाए तो न स्वयं खाए, न औरों को दे ।

एकांत में बहुप्रासुक स्थण्डिल का प्रतिलेखन-प्रमार्जन कर उस (गृहीत या आनीत आहार) का परिष्ठापन करे । उसे स्वयं खाने वाला या दूसरों को देने वाला चतुर्लघु प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है ।

० कालातिक्रांत : जिनकल्पी-स्थविरकल्पी

णिससंचया उ समणा, संचयी गिही तु होति धारेता ।...
तम्हा उ जहिं गहियं, तहि भुंजणे वज्जिया भवे दोसा ।...
एवं ता जिणकप्पे, गच्छम्मि चउत्थियाए जे दोसा ।...
मोक्खपसाहणहेउं, गाणादी तप्पसाहणे देहो ।
देहड्ढा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो ॥
काले उ अणुण्णाते, जइ वि हु लग्गेज्ज तेहि दोसेहिं ।
सुद्धो उवात्तिणित्तो, लग्गति उ विवज्जए परेणं ॥

(निभा ४१४४, ४१४७, ४१४८, ४१५९, ४१६०)

श्रमण संचय नहीं करते । संचय करने वाले श्रमण गृहस्थ की तरह हो जाते हैं । इसलिए जिस प्रहर में आहार ग्रहण किया, उसी प्रहर में खाने से संचय आदि दोष स्वतः परिहृत हो जाते हैं—यह जिनकल्पी साधु का आचार है । स्थविरकल्पी प्रथम प्रहर में ग्रहण कर चतुर्थ प्रहर में रखते हैं या खाते हैं तो संचय आदि सब दोष संभव हैं । (जो निर्ग्रन्थ अभिलषणीय और एषणीय अशन आदि का प्रथम प्रहर में प्रतिग्रहण कर अंतिम प्रहर आने पर आहार करता है, यह कालातिक्रांत आहार है ।—द्र भ ७/३४)

ज्ञान, दर्शन और चारित्र मोक्षप्रसाधन के हेतु हैं । ज्ञान आदि की साधना के लिए शरीर अपेक्षित है । शरीर-धारण के लिए आहार आवश्यक है, अतः आहार के ग्रहण-धारण का काल अनुज्ञात है—दिन के प्रथम तीन प्रहर या अंतिम तीन प्रहर । अनुज्ञात काल में संचय आदि दोष लगते हों, तब भी शुद्ध है । अनुज्ञात-काल का अतिक्रमण करने पर कोई दोष न भी लगे, तब भी प्रायश्चित्त आता है ।

१४. भिक्षागमन-विधि

से भिक्खूसव्वं भंडगमायाए गाहावइ-कुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा ॥

...गाहावइकुलस्स दुवार-बाहं कंटक-बोदियाए परि-पिहियं पेहाए, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणगुण्णविय अपडिलेहिय अयमज्जिय णो अवंगुणज्ज..... ॥ (आचूला १/३७, ५४)

भििक्षु सब उपकरणों को साथ लेकर भिक्षा की प्रतिज्ञा से गृहपति-कुल में प्रवेश और निष्क्रमण करे। गृहपतिकुल के द्वारभाग को कंटकशाखा से ढका हुआ देखकर गृहस्थों से अवग्रह की आज्ञा लिए बिना, प्रतिलेखन और प्रभाजन किए बिना द्वार को न खोले।

१५. गमनमार्ग, अवस्थान और याचनाविधि

.....रसेसिणो बहवे पाणा घासेसणाए संथडे सण्णिवइए पेहाए, तं जहा—कुक्कुडजाइयं वा, सूयरजाइयं वा, अग्गपिंडसि वा वायसा संथडा सण्णिवइया पेहाए—सइ परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, नो उज्जुयं गच्छेज्जा ॥

से भिक्खू...नो गाहावइ-कुलस्स दुवार-साहं अवलंबिय-अवलंबिय...गाहावइ-कुलस्स दगच्छडुणमत्ताए...चंदणिययए...सिणाणास्स वा, वच्चस्स वा, संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा। णो गाहावइ-कुलस्स आलोयं वा, थिग्गलं वा, संधिं वा, दगभवणं वा बाहाओ पगिञ्चिय-पगिञ्चिय, अंगुलियाए वा उहिसिय-उहिसिय, ओणमिय-ओणमिय, उण्णमिय-उण्णमिय णिञ्जा-एज्जा। णो गाहावइ अंगुलियाए उहिसिय-उहिसिय...चालिय-चालिय...तज्जिय-तज्जिय...उक्खलुंपिय-उक्खलुंपिय...वंदिय-वंदिय जाएज्जा। णो व णं फरुसं वएज्जा ॥

(आचूला १/६१, ६२)

मार्ग में रस की एषणा करने वाले बहुत से प्राणियों को ग्रास की एषणा (भोजन) के लिए सघनता से एकत्रित देखे, जैसे—कुक्कुटजाति, शूकरजाति, अग्रपिण्ड के लिए कौए एकत्रित बैठे हुए देखकर, दूसरा मार्ग होने पर संयमपूर्वक उस मार्ग से जाए, सीधे मार्ग से न जाए।

मुनि गृहपति के घर के द्वारभाग का सहारा लेकर खड़ा न हो, गृह की नाली और आचमन-स्थान के पास तथा स्नानगृह और वचोगृह के सामने खड़ा न हो, जहां से गृहस्थ दीखता हो।

गृहपति-गृह के गवाक्ष, थिग्गल, संधि और जलगृह की ओर भुजाओं को बार-बार फैलाकर, अंगुलि से निर्देशकर, पुनः-पुनः झुककर अथवा ऊंचा होकर उन स्थानों को न देखे। गृहपति को अंगुलि से निर्देश कर, चालित कर, तर्जित कर, शरीर को खुजला कर, स्तुति कर याचना न करे। (न देने पर) कठोर वचन न बोले।

१६. पूर्व-पश्चात्-संस्तुत : भिक्षाकाल में भिक्षा

...भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा, पच्छासंथुया वा परिवसंति...तहप्पगाराइं कुलाइं णो पुव्वामेव भत्ताए वा, पाणाए वा णिक्खमेज्ज वा, पविसेज्ज वा ॥...पुरा पेहाए तस्स परो अट्ठाए असणं...उवकरेज्ज वा, उवक्खडेज्ज वा ॥...एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमेत्ता अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा। से तत्थ कालेणं अणुपविसेज्जा, अणुपविसेत्ता तत्थियेयेरहिं कुलेहिं सामु-दाणियं, एसियं, वेसियं पिंडवायं एसित्ता आहारं आहारेज्जा ॥ (आचूला १/१२२, १२३)

भििक्षु के पूर्वसंस्तुत (माता, पिता आदि) अथवा पश्चात्-संस्तुत (श्वसुर आदि ग्राम आदि में) रहते हैं। उनके घरों में भिक्षाकाल से पूर्व आहार-पानी के लिए न जाए, न प्रवेश करे।

गृहस्थ भिक्षु को अपने सामने समागत देखकर उसके लिए अशन आदि तैयार कर सकता है, उपस्कृत कर सकता है। (इसलिए वह वहां सामने खड़ा न रहे, एकान्त में चला जाए, एकान्त में जाकर अनापात और असंलोक स्थान में खड़ा रहे। भिक्षाकाल होने पर ग्राम में प्रवेश कर इतर-इतर कुलों में सामुदायिक, एषणीय और वैशिक (केवल साधुवेश से लब्ध) भिक्षा को प्राप्त कर आहार करे।

१७. अगर्हित कुलों से भिक्षा

...कुलेसु अदुगुण्णिएसु अग्रहिएसु असणं...फासुयं एसणिज्जं ति मण्णमाणे...पडिगाहेज्जा ॥ (आचूला १/२३)

भििक्षु अजुगुप्पित और अगर्हित कुलों में अशन आदि को प्रासुक और कल्पनीय मानता हुआ मिलने पर ग्रहण करे।

१८. दानफल बताकर लेना निषिद्ध : सप्तविध दानविधि जे भिक्खू लव-गविसियं पडिग्गहं धरेति, धरेंतं वा सातिज्जति ॥ (नि २/३०)

दानफलं लवितूणं, लावावेतु गिहिअण्णतिथीहिं। जो पादं उप्पाए, लव-गविट्ठं तु तं होति ॥

लोइय लोउत्तरियं, दाणफलं तु दुविधं समासेणं ।
लोइयणेगविधं पुण, लोउत्तरियं इमं तत्थ ॥
अण्णे पाणे भेसज्ज-पत्त-वत्थे य सेज्ज संथारे ।
भोज्जविधी पाणारोगे, भायण भूसा गिहा सयणा ॥
अधवा वि समासेणं, साधूणं पीतिकारओ पुरिसो ।
इह य परत्थ य पावति, पीतीओ पीवरतरीओ ॥

(निभा ९९३-९९६)

भिक्षु स्वयं दान का फल बताकर अथवा गृहस्थ और अन्यतीर्थिक द्वारा दानफल कहलवाकर पात्र का उत्पादन करता है—यह लव-गवेषित है और भिक्षु के लिए ऐसा करना विहित नहीं है। दान के दो प्रकार हैं—

- ० लौकिक दान—गोदान, भूमिदान, भोजनदान आदि।
- ० लोकोत्तर दान—अन्न आदि।

सप्तविध दान की सात परिणतियां हैं—

दान	विधिप्रवर्तन
अन्नदान	भोज्यविधि
पानदान	पानकविधि
भेषजदान	आरोग्यविधि
पात्रदान	भाजनविधि
वस्त्रदान	विभूषाविधि
शय्यादान	विविध गृह
संस्तारकदान	शय्याविधान

जो भक्तपान आदि के द्वारा साधुओं में प्रीति उत्पन्न करता है, वह इहलोक और परलोक में सर्वाधिक प्रीति प्राप्त करता है।

१९. इन्द्रमह, मृत्युभोज आदि में भिक्षा अग्राह्य

से भिक्खू असणं...सपवा-एसु वा, पिंड-णियरेसु वा,
इंद-महेसु वा, खंद-महेसु वा...विरूवरूवेसु महामहेसु
वट्टमाणेसु, बहवे समण-माहण-अतिहि-किविण-वणीमए...
परिएसिज्जमाणे पेहाए...नो पडिगाहेज्जा ॥

अह पुण एवं जाणेज्जा—दिण्णं जं तेसिं दायव्वं ।.....

...पुरे-संखडिं वा, पच्छा-संखडिं वा, संखडिं संखडि-
पडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए ॥

(आचूला १/२४, २५, २९)

भिक्षु अशन आदि को गोष्ठी, मृत्युभोज, इन्द्रमह, स्कन्दमह

आदि विविध महोत्सवों के समय गृहस्वामी द्वारा बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और वनीपकों को परोसते हुए देखकर उसे ग्रहण न करे।

यदि ऐसा जाने—उन अतिथि, कृपण आदि के लिए जो दातव्य था, वह दे दिया गया है, तत्पश्चात् मिलने पर ग्रहण करे।

मुनि पूर्वसंखडी (विवाहभोज आदि) या पश्चात्संखडी (मृत्युभोज) में संखडी की प्रतिज्ञा से जाने के लिए पर्यालोचन न करे।

२०. सच्चित्त लशुन आदि अकल्पनीय

...लसुणं वा, लसुण-पत्तं वा, लसुण-नालं वा, लसुण-
कंदं वा, लसुण-चोयगं वा—अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं
असत्थपरिणयं—अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे
संते णो पडिगाहेज्जा ॥...कणं वा, कण-कुंडगं वा, कण-पूयलियं
वा, चाउलं वा, चाउल-पिण्डं वा, तिलं वा, तिल-पिण्डं वा,
तिल-पप्पडगं वा अण्णतरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं...
णो पडिगाहेज्जा ॥ (आचूला १/११७, ११९)

लसुन (लहसुन), लसुन-पत्र, लसुन-नाल, लसुन-कंद, लसुन की छाल अथवा अन्य इस प्रकार की अपक्व और शस्त्र से अपरिणत वनस्पति...शालि आदि की कणिका, चावलों की भूसी (कुक्कुस), कणिका मिश्रित पूपलिका, चावल, चावल का पिष्ट, तिल, तिल का पिष्ट, तिलपपड़ी अथवा इस प्रकार का अन्य कण आदि अपक्व और शस्त्र से अपरिणत हो, भिक्षु उसे अप्रासुक और अनेषणीय मानता हुआ मिलने पर भी न ले।

२१. प्राप्त भिक्षा विषयक पृच्छा

से एगइओ साहारणं वा पिंडवायं पडिगाहेत्ता, ते
साहम्मिए अणापुच्छित्ता जस्स-जस्स इच्छइ तस्स-तस्स खद्धं-
खद्धं दलाति । माइड्डाणं संफासे, णो एवं करेज्जा । से त्तमायाए
तत्थ गच्छेज्जा, गच्छेत्ता वएज्जा—आउसंतो ! समणा ! संति मम
पुरे-संथुया वा, पच्छा-संथुया वा, तं जहा—आयरिए वा,
उवज्जाए वा...अविद्याइं एएसिं खद्धं-खद्धं दाहामि । 'से णेवं'
वयंतं परो वएज्जा—कामं खलु आउसो ! अहापज्जत्तं
णिसिराहि । जावइयं-जावइयं परो वयइ, तावइयं-तावइयं
णिसिरेज्जा । सव्वमेयं परो वयइ, सव्वमेयं णिसिरेज्जा ।

(आचूला १/१३०)

कोई भिक्षु सामान्य रूप से भिक्षा लेकर आता है, उन साधर्मिकों को पूछे बिना जिस-जिसको देना चाहता है, उस-उसको प्रचुर-प्रचुर दे देता है, वह मायास्थान का आचरण करता है, उसे इस प्रकार नहीं करना चाहिए। वह एषणीय भिक्षा लेकर आचार्य आदि के पास जाए, वहां जाकर कहे—आयुष्मन्! श्रमणो! यहां मेरे पूर्वपरिचित (दीक्षाचार्य आदि), पश्चात् परिचित (वाचनाचार्य आदि) हैं, जैसे आचार्य, उपाध्याय...—इनको प्रचुर-प्रचुर दूंगा। उसके ऐसा कहने पर गुरु कहे—आयुष्मन्! अपनी इच्छानुसार यथापर्याप्त दो। गुरु जितना-जितना कहे, उतना-उतना दे। गुरु सारा देने के लिए कहे तो वह सारा आहार दे दे।

२२. अतिरिक्त आहार-ग्रहण संबंधी निर्देश

.....बहुपरियावणं भोयणजायं पडिगाहेत्ता साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया। तेसिं अणालोइया अणामंतिया परिट्टवेइ। माइट्टाणं संफासे, णो एवं करेज्जा। (आचूला १/१२७)

भिक्षु प्रमाण से अधिक आहार ग्रहण कर लिए जाने पर (अतिरिक्त आहार-परिष्ठापन की स्थिति उत्पन्न होने पर) यदि वहां पास में रहने वाले समनुज्ञ साम्भोजिक अपरिहारिक साधुओं को बिना पूछे, बिना आमंत्रित किए उस आहार का व्युत्सर्ग करता है, तो वह मायास्थान का संस्पर्श करता है। वह ऐसा न करे।

जावतियं उवयुज्जति, तत्तियमेत्ते तु भोयणे गहणं। अतिरेगमणट्टाए, गहणे आणादिणो दोसा॥ आयरिए य गिलाणे, पाहुणाए दुल्लभे सहसदाणे। पुव्वगहिते व पच्छा, अभत्तछंदो भवेज्जाहि॥ एतेहिं कारणेहिं, अतिरेगं होज्ज पज्जयावणं।..... बाला वुट्ठा सेहा, खमग-गिलाणा महोदरा एसा। सव्वे वि परिच्चत्ता, परिट्टवेत्तेण णाणुच्छा॥ भुंजंतु मा व समणा, आतविसुद्धीए णिज्जरा विउला। तम्हा छउमत्थेणं, णेयं अतिसेसिए भयणा॥

बाला वुट्ठाऽभिकखल्लुहा पुणो वि जेमेज्ज...खमगो वा पारणगे पुणो जेमेज्ज, गिलाणस्स वा तं पाउग्गं, महोदरा वा मंडलीएण उवउट्ठा जेमेज्जा, आदेसा वा तेहि आगता होज्ज, अद्धानिखिन्ना वा ण जिमिता पुणो जेमेज्ज।

(निभा ११२३, ११२६-११२८, ११३१ चू)

मुनि आहार उतना ही ग्रहण करे, जितना उपयोगी या अपेक्षित है। निष्कारण प्रमाण से अतिरिक्त आहार ग्रहण करने पर संचय, परिष्ठापन, आज्ञाभंग आदि दोषों का प्रसंग आता है।

अतिरिक्त पर्याप्त आहार-ग्रहण के अनेक कारण हैं—

- ० जहां स्थापनाकुल नहीं होते, वहां प्रत्येक संघाटक आचार्य, ग्लान और अतिथि साधु के लिए आहार ले आता है।
- ० कोई दाता दुर्लभ द्रव्यों से सहसा मुनि के भिक्षापत्र भर देता है।
- ० भिक्षाग्रहण के पश्चात् उपवास की इच्छा हो जाती है।

इन कारणों से अतिरिक्त पर्याप्त आहार आ जाने पर जो मुनि अन्य मुनियों को आमंत्रित किए बिना उसका परिष्ठापन करता है, वह दोषों का भागी होता है। जिन्हें बार-बार भूख लगती है, वे बाल-वृद्ध-शैक्ष पुनः खा सकते हैं, तपस्वी पारणक में दुबारा खा सकता है, ग्लान प्रायोग्य द्रव्य ग्लान के काम आ सकता है, महोदर मंडलीभोजन के पश्चात् भी खा सकता है, अतिथि साधु मार्ग की थकान दूर होने पर पुनः खा सकता है, इसलिए बाल, वृद्ध, शैक्ष, तपस्वी, ग्लान और महोदर (अधिक खुराक वाले) को पूछे बिना आहार-व्युत्सर्ग करने वाले के द्वारा ये सब परित्यक्त—उपेक्षित होते हैं।

अतिरिक्त आहार को कोई साधु न खाए, तब भी जो साधु आत्मशुद्धि की भावना से अतिरिक्त आहार लाता है, वह विपुल निर्जरा का भागी होता है, अतः छद्मस्थ मुनि को अतिरिक्त आहार लाना चाहिये। अतिशयज्ञानी के लिए यह विधि वैकल्पिक है—कोई खाता है तो वह अतिरिक्त लाता है, अन्यथा नहीं लाता। (अभिग्रहधारी भिक्षु के ऐसा संकल्प होता है—मैं अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय तथा अपने लिए लाए हुए अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य से निर्जरा के उद्देश्य से उन साधर्मिकों की सेवा करूंगा—पारस्परिक उपकार की दृष्टि से।—आ ८/१२०)

२३. अचित्त अनेषणीय संबंधी विधि

.....गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्टेणं अणणयरे अचित्ते अणेसणिज्जे पाण-भोयणे पडिगाहिए सिया, अत्थि या इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्टावियए, कप्पइ से तस्स दाउं वा अणुप्पदाउं वा।.....अणुवट्टावियए, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा नो अणणेसिं दावए, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहिता यमज्जित्ता परिट्टवेयव्वे सिया॥ (क ४/१४)

गृहपति के घर में आहार के लिए अनुप्रविष्ट निर्ग्रन्थ द्वारा कोई अचित्त अनेषणीय (आधाकर्मिक आदि) पान-भोजन का ग्रहण हो जाए और वहां कोई अनुपस्थापित शैक्ष हो तो उसे वह पान-भोजन दिया जा सकता है। अनुपस्थापित शैक्ष न हो तो स्वयं उसे न खाए, न दूसरों को दिलाए। एकांत में बहुप्रासुक स्थंडिल का प्रतिलेखन-प्रमार्जन कर परिष्ठापन करे।

२४. अप्रासुक आहार परिष्ठापन विधि

से य आहच्च पडिग्गाहिण सिया, से तं आयाय एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमेत्ता—अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयांसि वा...अप्प-पाणे...विगिंघिय-विगिंघिय, उम्मिस्सं विसोहिय-विसोहिय तओ संजयामेव भुंजेज्ज वा पीएज्ज वा ॥

जं च णो संचाएज्जा भोत्तए वा पायए वा, से तमायायएगंतमवक्कमेत्ता—अहे झाम-थंडिलंसि वा...तुस-रासिंसि वा, गोमय-रासिंसि वा, अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय-पडिलेहिय पमज्जिय-पमज्जिय तओ संजयामेव परिदुवेज्जा ॥ (आचूला १/२, ३)

मुनि ने कदाचित् अप्रासुक और अनेषणीय आहार ग्रहण कर लिया हो, उसे लेकर वह एकांत में चला जाए। एकांत में जाकर उद्यान या उपाश्रय, जहां जीवजंतु न हों, वहां उस आहार का विवेक (पृथक्करण) कर उन्मिश्र आहार का विशोधन कर संयमपूर्वक उसे खाए या पीए। जिस आहार का (विवेक और विशोधन कर) खाना-पीना शक्य न हो, उसे लेकर वह एकांत में जाकर जली हुई भूमि, तुष के ढेर, उपल अथवा राख के ढेर या इसी प्रकार की अन्य अचित्त भूमि को देखकर उसका प्रतिलेखन-प्रमार्जन कर संयमपूर्वक उस आहार का परिष्ठापन करे।

२५. कसैले पानक के परिष्ठापन का निषेध

...अण्णतरं भोयण-जायं पडिगाहेत्ता सुब्भिं-सुब्भिं भोच्चा दुब्भिं-दुब्भिं परिदुवेइ... ॥...अण्णतरं वा पाणग-जायं पडिगाहेत्ता पुप्फं-पुप्फं आविइत्ता कसायं-कसायं परिदुवेइ। माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा। पुप्फं पुप्फं ति वा, कसायं कसाए त्ति वा सव्वमेयं भुंजेज्जा, णो किंचि वि परिदुवेज्जा ॥ (आचूला १/१२५, १२६)

भिक्षु किसी प्रकार के भोजनजात को प्राप्त कर सुर्गधित-

सुर्गधित खाकर दुर्गधित-दुर्गधित का परिष्ठापन करता है। इसी प्रकार विविध पानक प्राप्त कर अच्छे-अच्छे (वर्ण-गंधयुक्त) पानक को पीकर कसैले-कसैले (दुर्बर्ण-दुर्गंध युक्त) पानक का परिष्ठापन करता है, वह मायास्थान का संस्पर्श करता है। वह ऐसा न करे। मधुर को मधुर और कसैले को कसैला जानकर सार पानक को पी ले, थोड़ा भी परिष्ठापित न करे।

तम्मि य गिद्धो अण्णं, पोच्छे अलभंतो एसणं पेल्ले। परिठावित्ते य कूडं, तसाण संगामदिट्ठो ॥

...कलुसे परिदुविए मच्चियाओ लग्गंति, तेसिं घरकोइला धावति, तीए वि मज्जारी, मज्जारीए सुणगो, सुणगस्स वि अण्णो सुणगो, सुणगणिमित्तं सुणगसामिणो कलहेत्ति। एवं पक्खापक्खीए संगामो भवति। (निभा ११०७ चू)

जो मधुर मनोज्ञ पानक में गूढ़ होता है, वह कसैले पानक को पीना नहीं चाहता, अतः उसका विसर्जन कर मधुर पानक की अन्वेषणा करता है, इससे सूत्र-अर्थ पौरुषी की हानि होती है। इच्छित पानक न मिलने पर एषणा संबंधी दोषों का भी सेवन कर लेता है। कटु पानक के परिष्ठापन में कूट दोष संभव है—जैसे जाल में प्राणी फंस जाते हैं, वैसे ही उस व्युत्सृष्ट पानक में मक्खियां, चींटियां आदि जंतु फंस जाते हैं। इस प्रकार त्रस जीवों के उपघात का प्रसंग आता है।

मक्खियों के लिए गृहकोकिला और गृहकोकिला के लिए कुत्ता, कुत्ते के पीछे दूसरा कुत्ता दौड़ता है, तब कुत्ते के निमित्त दोनों कुत्तों के स्वामियों में कलह हो जाता है। इस प्रकार अपने-अपने पक्ष की सुरक्षा के लिए संग्राम शुरू हो जाता है।

२६. सचित्त जल-व्युत्सर्ग विधि

से य आहच्च पडिग्गाहिण सिया खिप्पामेव उदगंसि साहरेज्जा, सपडिग्गहमायाए पाणं परिदुवेज्जा, ससणिद्धाए वा णं भूमीए णियमेज्जा ॥...उदउल्लं वा, ससणिद्धं वा पडिग्गहं णो आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, संलिहेज्ज वा, णिल्लिहेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा, उवट्टेज्ज वा, आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा ॥ (आचूला ६/४७, ४८)

मुनि कदाचित् सचित्त जल ग्रहण कर ले, तो तत्काल उसे दाता के जलपात्र में डाल दे, (वैसा न हो सके तो) पात्र को लेकर

(एकांत में) स्निग्ध भूमि में पानी का परिष्ठापन करे और स्निग्ध पात्र का नियमन करे (स्थिर रख दे)। वह उदक से आर्द्र अथवा स्निग्ध पात्र का न आमार्जन-प्रमार्जन करे (न एक बार साफ करे, न बार-बार साफ करे) न पोंछे, न घिसे, न उपलेपन करे, न उद्वर्तन करे और न आतापन-प्रतापन करे।

पुस्तक—ताड़पत्र, भोजपत्र आदि पर लिखित ग्रंथ।

गंडी कच्छवि मुट्टी, संपुट फलए तहा छिवाडी य।^१...

दीहो बाहल्लपुहत्तेण तुल्लो चउरंसो गंडीपोत्थगो। अंते तणुओ, मज्जे पिहुलो, अप्पबाहल्लो कच्छवि। चउरंगुलदीहो वृत्ताकृती मुट्टीपोत्थगो। अहवा—चउरंगुलदीहो चउरस्सो मुट्टिपोत्थगो। दुगमाइफलगसंपुडं। दीहो हस्सो वा पिहुलो अप्पबाहल्लो छेवाडी। अहवा—तणुपत्तेहिं उस्सिओ छेवाडी।
(निभा ४००० चू)

पुस्तकें पांच प्रकार की होती थीं—

१. गंडी—मोटाई और चौड़ाई में तुल्य तथा चोकोर पुस्तक।
२. कच्छपी—अन्त में पतली और मध्य में विस्तीर्ण तथा कम मोटाई वाली पुस्तक।
३. मुष्टि—चार अंगुल लंबी और वृत्ताकार अथवा चार अंगुल लंबी और चतुष्कोण पुस्तक।
४. संपुटफलक—दोनों ओर जिल्द बंधी पुस्तक।
५. छिवाडी—लंबी या छोटी, विस्तीर्ण और कम मोटाई वाली पुस्तक अथवा पतले पत्रे वाली ऊंची पुस्तक।

(बाहल्ल-पुहत्तेहिं, गंडीपोत्थो उ तुल्लगो दीहो।
कच्छवि अंते तणुओ, मज्जे पिहुलो मुणेयव्वो॥
चउरंगुलदीहो वा, वट्टागिइ मुट्टिपुत्थगो अहवा।
चउरंगुलदीहो च्विय, चउरंसो होइ विन्नेओ॥
संपुडगो दुगमाई, फलगा वोच्छं छिवाडिमिताहे।
तणुपत्तूसियरूवो, होइ छिवाडी बुहा बेति॥
दीहो वा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो।
तं मुणियसमयसारा, छिवाडिपोत्थं भणंतीह॥

—प्रसा १ गा ६६५-६६८

भाषाशास्त्रीय दृष्टि से 'पुस्त' शब्द पहलवी भाषा का है। इसका अर्थ है चमड़ा। चमड़े में चित्र आदि बनाए जाते थे। उसमें ग्रन्थ भी लिखे जाते थे इसलिए उसका नाम पुस्तक हो गया।

पुस्तक शब्द जब से संस्कृत और प्राकृत में व्यवहृत होने लगा, उसका अर्थ बदल गया। हरिभद्र सूरि ने पुस्तकर्म का अर्थ वस्त्रनिर्मित पुतली, वर्तिका से लिखित पुस्तक तथा ताड़पत्रीय प्रति किया है।—अनु १/१० का टि)

पुस्तकलेखन के दोष

संघंस अपडिलेहा, भारो अहिकरणमेव अविदिण्णं।

संकामण पलिमंथो, पमाय परिकम्मणा लिहणा॥

.....तीर्थकरैरदत्तश्चायमुपधिः। स्थानान्तरे च पुस्तकं संकामयतः पलिमन्थः। 'प्रमादो नाम' पुस्तके लिखितमस्तीति कृत्वा न गुणयति, अगुणनाच्च सूत्रनाशादयो दोषाः। परिकर्मणायां च सूत्रार्थपरिमन्थो भवति। अक्षरलेखनं च कुर्वतः कुन्थुप्रभृतित्रसप्राणव्यपरोपणेन कृकाटिकादिबाधया च संयमात्मविराधना।
(बृभा ३८२६ वृ)

- ० ग्रामान्तर गमन के समय पुस्तकें कंधों पर वहन की जाती हैं। उनके घर्षण से कंधे छिल सकते हैं, व्रण हो सकता है।
- ० पुस्तकें शुषिर होने से उनकी पूरी प्रतिलेखना नहीं हो पाती।
- ० विहार में कंधों पर भार अधिक हो जाता है।
- ० कुंथु, पनक आदि प्राणी संसक्त हो जाने से उनकी हिंसा हो सकती है अथवा पुस्तकें चोरों द्वारा चुरा ली जाए तो अधिकरण हो सकता है। यह उपधि तीर्थकर द्वारा प्रदत्त नहीं है।
- ० पुस्तक को स्थानान्तरित करने में स्वाध्याय में बाधा आती है।
- ० ज्ञान पुस्तक में लिखा हुआ है—ऐसा सोचकर परिवर्तना नहीं की जाती है तो सीखा हुआ ज्ञान विस्मृत हो जाता है। इससे सूत्र के विनष्ट होने का प्रसंग भी आ सकता है।
- ० पुस्तक का परिकर्म सूत्र-अर्थ का विघ्न है।
- ० अक्षर-लेखन कार्य से कुंथु आदि जीवों की हिंसा हो सकती है, गर्दन आदि अवयव अकड़ सकते हैं, इस प्रकार संयमविराधना तथा आत्मविराधना होती है।

पुस्तक की उपयोगिता

.....धेष्यति पोत्थगणगं, कालियणिज्जुत्तिकोसट्टा॥

मति-मेधादिपरिहाणिं विज्ञाय कालिकश्रुतस्य.....

उत्कालिकश्रुतस्य वा निर्युक्तीनां चाऽऽवश्यकादिप्रतिबद्धानां दान-ग्रहणादौ कोश इव—भाण्डागारमिवेदं भविष्यतीत्येवमर्थं पुस्तकपञ्चकमपि गृह्णाते।
(बृभा ३८४३ वृ)

मति-मेधा आदि की हानि हो रही है—इस स्थिति को जानकर कालिक-उत्कालिक-श्रुत और आवश्यक आदि से प्रतिबद्ध निर्युक्तियों के आदान-प्रदान में पुस्तकें भाण्डागार की भांति सारभूत होंगी—इस प्रयोजन से पुस्तक-पंचक का ग्रहण किया जाता है।

पूतिकर्म—आधाकर्म से मिश्रित आहार आदि। उद्गम का एक दोष। द्र पिण्डैषणा

पूर्वगत—दृष्टिवाद का अन्तरालवर्ती ग्रन्थ-समूह। द्र आगम

ग्रहस्थान—धर्मसंघमान्य पद। लोकमान्य पद। द्र राज्य

प्रतिक्रमण—प्रमादवश परस्थान (असंयम) में चले जाने पर पुनः स्वस्थान (संयम) में आना। क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में चले जाने पर पुनः क्षायोपशमिक भाव में लौट आना। प्रायश्चित्त का एक भेद। द्र प्रायश्चित्त

प्रतिमा—साधना का विशिष्ट प्रयोग। अभिग्रह। प्रतिज्ञा।

० आहारग्रहण-विधि

४. सप्तसप्तमिका आदि भिक्षुप्रतिमाएं

० सप्तसप्तमिका : दत्तिप्रमाण में सिंहविक्रम-उपमा

० दत्ति परिमाण की करण गाथा, दत्ति-स्वरूप

५. मोकप्रतिमा के प्रकार

० मोकप्रतिमाप्रतिपत्ति की विधि

० मोक (पेय प्रस्त्रवण) का स्वरूप

० मोकप्रतिमा की द्रव्य आदि से मार्गणा

० मोकप्रतिमा और संहनन

० मोकप्रतिमासिद्धि की निष्पत्ति

० मोकप्रतिमा पूर्ण होने पर आहारविधि

६. भद्रा-महाभद्रा-प्रतिमा

* बारह भिक्षुप्रतिमा

द्र भिक्षुप्रतिमा

* ग्यारह उपासक प्रतिमा

द्र उपासकप्रतिमा

* द्रव्य आदि संबंधी अभिग्रह

द्र भिक्षाचर्या

* जिनकल्पी प्रतिमा

द्र जिनकल्प

प्रतिमा का अर्थ एवं प्रकार

प्रतिपत्ति: प्रतिमाणां वा पडिमा। (दशा ६/८ की चू)

प्रतिमाभिः अभिग्रहविशेषभूताभिः।

(आचूला २/६२ की वृ)

प्रतिमा का अर्थ है—प्रतिपत्ति, प्रतिमान अथवा अभिग्रह।

(० प्रतिमा—एकरात्रिकी आदि प्रतिमाओं में प्रतिमा की भांति कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थित रहना।—स्था ५/४२ की वृ

० द्रव्य, क्षेत्र आदि द्वारा जिस साधना के प्रकार का प्रतिमान किया जाता है, उसे प्रतिमा कहा जाता है।—जैसिदी ६/२५)

समाधिओवहाणे य, विवेकपडिमाडया।

पडिसंलीणा य तहा, एगविहारे य पंचमिया॥

(दशानि ४६)

प्रतिमा के पांच प्रकार हैं—१. समाधिप्रतिमा—श्रुत-स्वाध्याय का विशेष संकल्प तथा समता का विशेष अभ्यास करना।

२. उपधानप्रतिमा—तप का विशेष प्रयोग करना।

३. विवेकप्रतिमा—इस प्रतिमा के अभ्यासकाल में आत्मा और अनात्मा की भिन्नता का अनुचिंतन किया जाता है।

४. प्रतिसंलीनताप्रतिमा—वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने का अभ्यास।

५. एकलविहारप्रतिमा—साधना का विशेष प्रयोग—एकाकीविहार।

१. प्रतिमा का अर्थ एवं प्रकार

० समाधिप्रतिमा के इकहत्तर भेद

० उपधान, विवेक आदि प्रतिमाओं के प्रकार

२. एकलविहार-प्रतिमा-प्रतिपत्ति से पूर्व

० प्रतिमा-प्रतिपत्ता की अर्हता

० पांच भावनाओं द्वारा परिकर्म

० अपरिक्र्मित अयोग्य : शावक दृष्टांत

० अव्यक्त मुनि : अक्षिप्रत्यारोपण दृष्टांत

० अशुभ संकल्पमात्र से प्रायश्चित्त

० प्रतिमाप्रतिपत्ता का पर्याय-श्रुत-संहनन

० एकलविहारप्रतिमा की अनुज्ञा-याचना

० प्रतिमाप्रतिपत्ता का आचार्य द्वारा परीक्षण

० प्रतिमाप्रतिपत्ति की विधि

० एकलविहारप्रतिमा और चारित्र

० प्रतिमा-साधना : पिंडैषणा, उपधि.....

० प्रतिमा-समापनविधि : ससम्मान गण-प्रवेश

३. चन्द्रप्रतिमा के प्रकार

० यवमध्य-वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा का स्वरूप

० चन्द्रप्रतिमा-प्रतिपत्ता की अर्हता

० चन्द्रप्रतिमाप्रतिपत्ति उपसर्ग-परीषहजयी

० समाधिप्रतिमा के इकहत्तर भेद

आयारे बायाला, पडिमा सोलस य वणिणया ठाणे ।
चत्तारि य ववहारे, मोए दो चंदपडिमाओ ॥
एवं तु सुयसमाधिपडिमा, छावड्डिया य पणत्ता ।
सामाइयमाईया, चारित्तसमाहिपडिमाओ ॥

समाधिपडिमा द्विविधा—सुतसमाधिपडिमा चरित्त-
समाधि-पडिमा य, दर्शनं तदन्तर्गतमेव ।.....आयारग्गेहिं
सत्ततीसं, बंधचैरेहिं पंच एवं बातालीसं आयारे ।.....ववहारे
चत्तारि, दो मोयपडिमातो खुड्डिगा महल्लिगा य मोयपडिमा,
दो चंद-पडिमा—जवमज्झा वडरमज्झा य ।

(दशानि ४७, ४८ चू)

समाधिप्रतिमा के दो प्रकार हैं—१. श्रुतसमाधिप्रतिमा २.
चारित्र-समाधिप्रतिमा । दर्शनप्रतिमा इनके अन्तर्गत ही है ।

श्रुतसमाधिप्रतिमा के छसठ भेद इस प्रकार हैं—

० आचारांग (८/११६-१२०) में पांच प्रतिमाएं हैं—

१. मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य लाकर दूंगा
और उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा ।

२. मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन आदि लाकर दूंगा, किन्तु उनके
द्वारा लाया हुआ स्वीकार नहीं करूंगा ।

३. मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन आदि लाकर नहीं दूंगा, किन्तु
उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा ।

४. मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन आदि लाकर न दूंगा और न
उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा ।

५. मैं अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी कल्प-मर्यादा के
अनुसार ग्रहणीय तथा अपने लिए लाए हुए अशन आदि से निर्जरा
के उद्देश्य से उन साधर्मिकों की सेवा करूंगा ।

(अथवा आचारांग के छठे धुताध्ययन के पांच धुत पांच
प्रतिमा के रूप में निर्दिष्ट किए जा सकते हैं—निजकधुत, कर्मधुत,
शरीर-उपकरणधुत, गौरवधुत, उपसर्गधुत ।

धुतवाद कर्मनिर्जरा का सिद्धांत है, ममत्वविसर्जन की
प्रक्रिया है । इसे व्युत्सर्गप्रतिमा का प्रतिरूप माना जा सकता है ।

विशुद्धिमार्ग में तेरह धुतांग बतलाए गए हैं—पांशुकूलिकांग,
त्रैचीवरिकांग, पिंडपातिकांग, सापदानचारिकांग, एकासनिकांग,
पात्रपिंडिकांग, खलुपच्छाभक्तिकांग, आरण्यकांग, वृक्षमूलिकांग,

अभ्यवकाशिकांग, श्मशानिकांग, यथासंस्तरिकांग, नेसज्जिकांग ।)

० आचारचूला में सैंतीस प्रतिमाएं हैं—

सात पिंडैषणा-सात पानैषणा प्रतिमा (द्र पिण्डैषणा)

चार संस्तरकप्रतिमा (द्र शय्या)

चार वस्त्रप्रतिमा (द्र उपधि)

चार पात्रप्रतिमा (द्र उपधि)

सात अवग्रहप्रतिमा (द्र अवग्रह)

चार स्थानप्रतिमा (द्र कायोत्सर्ग)

० स्थानांग में सोलह प्रतिमाएं हैं, जो चार-चार के भेद से निर्दिष्ट
हैं—१. समाधिप्रतिमा २. उपधानप्रतिमा ३. विवेकप्रतिमा
४. व्युत्सर्गप्रतिमा ।

१. भद्रा २. सुभद्रा ३. महाभद्रा ४. सर्वतोभद्रा ।

(स्था ५/१८ में भद्रोत्तर प्रतिमा का उल्लेख भी है ।)

१. क्षुल्लकप्रश्रवण २. महत्प्रश्रवणप्रतिमा ३. यवमध्या ४. वज्रमध्या ।

१. शय्याप्रतिमा २. वस्त्रप्रतिमा ३. पात्रप्रतिमा ४. स्थानप्रतिमा ।

—स्था ४/९६-९८, ४८७-४९०

० व्यवहार में दत्ति तप की चार प्रतिमाएं हैं—१. सप्तसप्तमिका

२. अष्टअष्टमिका ३. नवनवमिका ४. दसदसमिका ।

० दो मोकप्रतिमा—१. क्षुल्लकमोकप्रतिमा २. महत्मोकप्रतिमा ।

—व्य ९/३५-४१

० दो चन्द्रप्रतिमा—१. यवमध्या २. वज्रमध्या । —व्य १०/१-५

यद्यपि ये चारित्रप्रतिमाएं हैं, किन्तु ये विशिष्ट श्रुतवान् मुनि
के होती हैं, इसलिए इन्हें श्रुतप्रतिमा कहा गया है, ऐसा संभव है ।)

चारित्रसमाधिप्रतिमा के पांच प्रकार हैं—सामायिक, छेदो-
पस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात प्रतिमा ।

इस प्रकार समाधिप्रतिमा के कुल ६६+५=७१ भेद हैं ।

० उपधान, विवेक आदि प्रतिमाओं के प्रकार

भिक्षूणां उवहाणे, उवासगाणां च वणिणया सुत्ते ।

गणकोवाइविवेगे, सब्भित्तरबाहिरो दुविहो ॥

सोत्तिदियमादीया, पडिसंलीणा चउत्थिया दुविहा ।

अट्टगुणसमग्गस्स य, एगविहारिस्स पंचमिया ॥

विवेगपडिमा.....अब्भित्तरिया कोधादीणां ।.....बाहिरिया
गणसरीरभत्तपाणस्स य अणेसणिज्जं ।.....एवं छण्णउत्तिं
सव्वग्गेण भावपडिमा । (दशानि ४९, ५० चू)

० उपधानप्रतिमा—भिक्षु के विशिष्टतम तप संबंधी बारह प्रतिमाएं तथा उपासक की ग्यारह प्रतिमाएं दशाश्रुतस्कंध सूत्र में वर्णित हैं।

० विवेकप्रतिमा—क्रोध आदि का विवेक। इसके दो भेद हैं—

१. आभ्यंतरविवेक—क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म और संसार का विवेचन—पृथक्करण। इनकी भिन्नता का अनुभव करना।

२. बाह्यविवेक—गण, शरीर और अनेषणीय आहार का विवेक।

० प्रतिसंलीनता प्रतिमा चौथी प्रतिमा है। उसमें श्रोत्रेन्द्रिय आदि पांचों इंद्रियों का विषय-निरोध होता है। उसके दो प्रकार हैं—इन्द्रियप्रतिसंलीनता प्रतिमा और नोइन्द्रियप्रतिसंलीनता प्रतिमा।

० आठ गुणों से युक्त एकलविहारी भिक्षु की पांचवीं प्रतिमा है।

समाधिप्रतिमा ६६+५=७१ विवेकप्रतिमा १

उपधानप्रतिमा १२+११=२३ प्रतिसंलीनताप्रतिमा १

इस प्रकार प्रतिमाओं का कुल योग छियानवे (९६) है।

(एकलविहारप्रतिमा भिक्षुप्रतिमा के अंतर्गत गिनी गई है। इस

गणना में कुछ प्रतिमाओं का दो-दो बार उल्लेख हुआ है। यथा—

शय्या आदि प्रतिमाएं आचारचूला में भी हैं, स्थानांग में भी हैं।

यवमध्यचन्द्रप्रतिमा आदि स्थानांग में भी हैं, व्यवहार में भी हैं।

साधना के जितने संकल्पबद्ध विशिष्ट प्रयोग हैं, वे सब प्रतिमा की कोटि में आ सकते हैं। जिनकल्प, यथालंद आदि भी साधना के विशिष्ट उपक्रम हैं, किन्तु उन्हें यहाँ नहीं गिनाया गया है। यह सब विवक्षासापेक्ष है।

एकाकीसाधना के संदर्भ में त्रिविध प्रतिमा का उल्लेख है—

१. एकाकीविहारप्रतिमा २. जिनकल्पप्रतिमा ३. मासिकीआदि भिक्षुप्रतिमाएं।—स्था ८/१ की वृ

समवायांग में दूसरों के वैयावृत्यकर्म की इक्यानवे प्रतिमाएं निर्दिष्ट हैं। इन प्रतिमाओं के नाम अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं। वृत्तिकार ने संभावित रूप में इक्यानवे प्रतिमाओं का उल्लेख किया है—दर्शनगुण से विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति दस प्रकार का शुश्रूषा विनय होता है—सत्कार, अभ्युत्थान, सम्मान, आसनाभिग्रह, आसन-अनुप्रदान, कृतिकर्म, अंजलिप्रग्रह, अभिमुखगमन, स्थिरवास वालों की पर्युपासना करना और पहुंचाने जाना।

अनाशातना विनय साठ प्रकार का है—तीर्थकर, धर्म, आचार्य, वाचक, स्थविर, कुल, गण, संघ, सांभोजिक, क्रिया, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान—इन पन्द्रह

की अनाशातना, भक्ति, बहुमान और वर्णवाद करना।

औपचारिक विनय के सात प्रकार हैं। (द्र विनय)

वैयावृत्य चौदह प्रकार का है—प्रवाजनाचार्य, दिगाचार्य, उद्देशाचार्य, समुद्देशाचार्य, वाचनाचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, साधर्मिक, कुल, गण और संघ का वैयावृत्य।

इस प्रकार विनय के कुल प्रकार—१०+६०+७+१४=९१ होते हैं।—सम ९१/१ वृ)

२. एकलविहारप्रतिमा-प्रतिपत्ति से पूर्व

पव्वज्जा सिक्खावय, अत्थग्गहणं च अणियतो वासो।

निष्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिती चेव॥

पव्वज्जा सिक्खावय, अत्थग्गहणं तु सेसए भयणा।

सामायारिविसेसो, नवरं वुत्तो उ पडिमाए॥

प्रथमतस्तावत्प्रव्रज्या भवति, सा च द्विधा धर्मश्रवणतो-
ऽभिसमागमतश्च। तत्र या आचार्यादिभ्यो धर्मदेशानामाकर्ण्य
संसारद्विरन्य प्रतिपद्यते सा धर्मश्रवणतः। या पुनर्जातिस्मरणादिना
सा अभिसमागमतः, प्रव्रजितस्य शिक्षापदं भवति। शिक्षा च
द्विधा—ग्रहणशिक्षा आसेवनाशिक्षा च। तत्र ग्रहणशिक्षा सूत्राव-
गाहनलक्षणा। आसेवनाशिक्षा सामाचार्यभ्यसनम्। शिक्षा-
पदमनन्तरं चार्थग्रहणं भवति, अर्थग्रहणकरणानन्तरं चानियतो
वासो नानादेशपरिभ्रमणं कर्तव्यम्। तदन्तरेण नानादेशीय-
शब्दाकौशलेन नानादेशीभाषात्मकस्य सूत्रस्य परिस्फुटरूपार्थ-
निर्णयकारित्वानुपपत्तेः, तदनन्तरं वाचनाप्रदानादिना गच्छस्य
निष्पत्तिर्निष्पादनं कर्तव्यम्। तदनन्तरं विहारोऽभ्युद्यतो विहारो
.....करणीयः।.....प्रव्रज्या.....सामाचारीति सप्त द्वाराणि प्रतिमा-
यामुपयोगीनि.....अनियतवासनिष्पत्तिलक्षणद्वारद्विके भजना.....
आचार्यपदाहस्तस्य नियमादिदं द्वारद्वयमस्ति, शेषस्य तु नास्तीत्यर्थः।
विहारः पुनः प्रतिमाप्रतिपत्ति-लक्षणोऽस्त्येव सामाचार्या अपि
जिनकल्पिकसामाचारीतो विशेषोऽस्ति.....दशाश्रुतस्कन्धे भिक्षु-
प्रतिमाध्ययने प्रतिपादितः॥ (व्यभा ७७४/१, २ वृ)

० प्रव्रज्या—आचार्य आदि से धर्मश्रवण कर अथवा जातिस्मरण आदि से अभिसमागत (संबुद्ध-विरक्त) हो दीक्षित होना।

० शिक्षापद—सूत्रअवगाहन रूप ग्रहण शिक्षा और सामाचारी अभ्यासरूप आसेवन शिक्षा।

० अर्थग्रहण—सूत्रों का अर्थपरिज्ञान।

० अनियतवास—नाना देशों में भ्रमण। देशाटन से नानादेशीय

शब्दों का परिज्ञान होता है, जिससे नानादेशीभाषात्मक सूत्र का परिस्फुट अर्थनिर्णय किया जा सकता है।

- ० निष्पत्ति—वाचना आदि द्वारा शिष्यों का निष्पादन।
- ० विहार—प्रतिमा स्वीकार रूप अभ्युद्यत विहार।
- ० सामाचारी—एकलविहारप्रतिमा की सामाचारी का परिज्ञान।

उल्लिखित सातों द्वार प्रतिमा-साधना में उपयोगी हैं। प्रव्रज्या, शिक्षापद और अर्थग्रहण—ये तीनों प्रतिमा-प्रतिपत्ता के नियमतः होते हैं, शेष में भजना है। अनियतवास और निष्पत्ति—ये दो द्वार आचार्य पद योग्य शिष्य के अवश्य होते हैं, शेष के नहीं होते।

प्रतिमाप्रतिपत्ति अभ्युद्यत विहार है ही। इस प्रतिमा की सामाचारी जिनकल्प की सामाचारी से भिन्न है। वह दशाश्रुतस्कंध की भिक्षुप्रतिमा नामक सातवीं दशा में प्रतिपादित है।

(द्र भिक्षुप्रतिमा)

- ० प्रतिमा-प्रतिपत्ता की अर्हता

दृढसम्पत्तचरित्ते, मेधावि बहुस्सुए य अयले य।
अरइइसहे दविए, खंता भयभेरवाणं च॥

(दशानि ५१)

प्रतिमाप्रतिपत्ता आठ गुणों से युक्त होता है—सम्यक्त्व और चारित्र में दृढ रहने वाला, मेधावी, बहुश्रुत, अचल, अरति-रति को सहन करने वाला, राग-द्वेष-रहित और अत्यंत भयोत्पादक दूर्यों को सहन करने वाला।

(आठ स्थानों से सम्पन्न अनगार एकलविहारप्रतिमा—संघमुक्त साधना को स्वीकार कर विहार कर सकता है—

१. श्रद्धावान् २. सत्यवादी ३. मेधावी ४. बहुश्रुत ५. शक्तिमान् ६. कलहमुक्त ७. धृतिमान् ८. वीर्यवान्। —स्था ८/१

भगवान् महावीर ने दो प्रकार की मुनिचर्या का प्रतिपादन किया है—गणचर्या और एकाकीचर्या। अगीतार्थ मुनि के लिए गणचर्या ही सम्मत है। गीतार्थ मुनि बहुश्रुत गुरु की आज्ञा से एकाकीचर्या भी स्वीकार करते हैं। —आ ६/५२ का भाष्य)

- ० पांच भावनाओं द्वारा परिकर्म (योग्यता प्राप्ति)

तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पंचधा वुत्ता पडिमं पडिवज्जतो॥

……लंखग-मल्ले उवमा, आसकिसोरे व्व जोग्गविते॥

(व्यभा ७७७, ७८३)

जो एकाकीविहारप्रतिमा स्वीकार करना चाहता है, वह तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल—इन पांच भावनाओं के अभ्यास से अपने को परिकर्मित करता है। (भावना-परिकर्म द्र जिनकल्प)

जैसे लंख (नट) अभ्यास से रज्जु पर भी नृत्य कर सकता है। मल्ल व्यायाम आदि से शरीर को परिकर्मित कर प्रतिमल्ल को पराजित करता है। अश्वकिशोर हाथी आदि की निकटता के अभ्यास से युद्ध में भयभीत नहीं होता, वैसे ही तप आदि भावनाओं के पुनः पुनः अभ्यास से प्रतिमाप्रतिपत्ति की योग्यता प्राप्त होती है।

गणहरगुणेहि जुत्तो, जदि अन्नो गणाहरो गणे अत्थि।
नीति गणातो इहरा, कुणाति गणे चेव परिकम्मं॥

(व्यभा ७७५)

यदि गण में गणधरगुणों से युक्त अन्य गणधर हो तो प्रतिमा-प्रतिपित्सु आचार्य गण से बाहर रहकर परिकर्म करता है, अन्यथा गण में रहता हुआ ही परिकर्म करता है।

परिचियसुओ उ मग्गसिरमादि जा जेट्ठ कुणाति परिकम्मं।
एसो च्चिय सो कालो, पुणरेति गणं उवग्गम्मि॥
जो जति मासे काहित्ति, पडिमं सो तत्तिए जहणणेण।
कुणाति मुणी परिकम्मं, उक्कोसं भावितो जाव॥
तव्वरिसे कासिंची, पडिवत्ती अन्नाहिं उवरिमाणं।
आइग्गणपतिण्णस्स तु, इच्छाए भावणा सेसे॥

(व्यभा ८००-८०२)

मुनि श्रुत का अत्यंत अभ्यास हो जाने पर मार्गशीर्ष मास से ज्येष्ठ मास पर्यंत परिकर्म करता है। जघन्यतः जो मुनि जितनी मासिकी प्रतिमा करना चाहता है, वह उतने ही मास तक परिकर्म करता है। जघन्य पद में इतना ही काल है। उत्कृष्ट पद में जितने काल में वह आगमोक्त विधि से पूर्ण भावित होता है, उतना उत्कृष्ट काल है। आषाढ मास समीप होने से वह वर्षाकाल प्रायोग्य उपधिग्रहण के लिए पुनः गण में आता है।

एकमासिकी यावत् चातुर्मासिकी प्रतिमा की प्रतिपत्ति उसी वर्ष में होती है, जिस वर्ष में उसका परिकर्म होता है।

पंच, षट् और सप्तमासिकी प्रतिमा का परिकर्म अन्य वर्ष में और प्रतिपत्ति अन्य वर्ष में होती है।

जो प्रतिमा की साधना कर चुका है, वह पुनः उस प्रतिमा की साधना करे तो उसके लिए भावना—परिकर्म ऐच्छिक है, किन्तु अनाचीर्ण प्रतिमा वाले के लिए परिकर्म अनिवार्य है।

० अपरिकर्मित अयोग्य : शावक दृष्टांत

वासगगतं तु पोसति, चंचूपूरेहि सउणिया छावं ।
वारेति तमुडुंतं, जाव समत्थं न जातं तु ॥
एमेव वणे सीही, सा रक्खति छावपोयगं गहणे ।
खीरमिउपिसियचव्विय, जा खायइ अट्टियाइं पि ॥
...पडिवक्खेण उवमिमो, सउणिग-सीहादिछावेहिं ॥
(व्यभा ७७१, ७७२, ७७४)

शकुनिका अपने शावक का नीड़ में ही चंचुपूर द्वारा पोषण करती है, उड़ते हुए शिशु को तब तक रोकती है, जब तक वह समर्थ नहीं हो जाता। इसी प्रकार गहन वन में स्थित सिंहनी अति लघु शावक की व्याघ्र आदि से रक्षा करती है। वह अपने दूध और मृदु-चर्वित मांस से आत्मीय शिशु का तब तक पोषण करती है, जब तक कि वह अस्थिरां खाने नहीं लग जाता।

अकृतपरिकर्मा एकलविहारी नीड़ से निर्गत असंजातपक्ष पक्षीशावक और गुफा से निर्गत क्षीराहार सिंहशावक की भांति विनष्ट हो जाता है।

(जो भिक्षु अव्यक्त (अपरिपक्व) अवस्था में अकेला ग्रामानुग्राम विहार करता है, उसकी यात्रा दुर्यात्रा होती है और उसका पराक्रम दुष्पराक्रम होता है। अपरिपक्व भिक्षु थोड़े से प्रतिकूल वचन सुनकर कुपित हो जाता है, थोड़ी-सी प्रशंसा सुनकर महान् मोह से मूढ़ हो जाता है। अज्ञानी और अद्रष्टा भिक्षु बार-बार आने वाली बहुत सारी बाधाओं का पार नहीं पा सकता। 'मैं अव्यक्त अवस्था में अकेला विहार करूँ'—यह तुम्हारे मन में भी न हो। यह महावीर का दर्शन है।—आ ५/६२-६७)

० अव्यक्त मुनि : अक्षिप्रत्यारोपण दृष्टांत

परिकम्पणाय खवगो, सेह बलामोडि सो वि तथ ठाति ।
पाभातिय उवसग्गे, कतम्मि पारेति सो सेहो ॥
पारेहि तं पि भंते! देवयअच्छी चवेडपाडणया ।
काउस्सगाऽऽकंपण, एलगस्स सप्पदेसनिव्वत्ती ॥
(व्यभा ७९५, ७९६)

एक क्षपक एकलविहार प्रतिमा के परिकर्म हेतु प्रतिमा में स्थित हो सूत्र-अर्थ का परावर्तन कर रहा था। एक शैक्ष मुनि भी गुरु आज्ञा की अवज्ञा कर हठपूर्वक उस क्षपक के पास ही प्रतिमा

में स्थित हो गया। इसने आज्ञा का अतिक्रमण किया है—यह सोच देवता ने उपसर्ग किया—अर्धरात्रि में ही उसे प्रभात का आभास करा दिया। शैक्ष प्रतिमा सम्पन्न कर बोला—क्षपक! प्रभात हो गया है, प्रतिमा सम्पन्न करो। तब देवता ने उसके एक चपेटा मारा, दोनों आंखें बाहर आ गिरी। तपस्वी ने सधन कायोत्सर्ग किया। आकंपित हो देव ने पूछा—क्षपक! कहो, मेरे लिए क्या आदेश है? क्षपक ने कहा—शैक्ष की आंखें पूर्ववत् करो। देव ने कहा—अब इसकी आंखें आत्मप्रदेशों से शून्य हो गई हैं। क्षपक बोला—कैसे भी करो, यह कार्य तो करना ही है। देवता ने तत्काल मारित एडक की आंखें, जो आत्मप्रदेशों से युक्त थीं, लाकर उस मुनि के लगा दीं।

० अशुभ संकल्पमात्र से प्रायश्चित्त

पत्थरमणसंकप्पे, मग्गण दिट्ठे य गहित खित्ते य ।
पडित परितावित मएँ, पच्छित्तं होति तिण्हं पि ॥
मासो लहुओ गुरुगो, चउरो लहुगा य होति गुरुगा य ।
छम्मासा लहु गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च ॥
(व्यभा ८१७, ८१८)

अकृतपरिकर्म मुनि आचार्य के निषेध करने पर भी प्रतिमा स्वीकार कर शून्यगृह में रहता है, रात्रि में मार्जार, श्वापद आदि से भयभीत हो (उन पर प्रहार करने के लिए) प्रस्तर आदि ग्रहण करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

अशुभ प्रवृत्ति	प्रायश्चित्त
प्रस्तरग्रहण का मानसिक संकल्प	लघु मास
प्रस्तर की मार्गणा	गुरुमास
ग्रहण बुद्धि से अवलोकन	चतुर्लघु
प्रस्तर ग्रहण	चतुर्गुरु
श्वापद आदि पर प्रक्षेप	षड्लघु
प्राणी पर प्रस्तर गिरना	षड्गुरु
गाढ परिताप	छेद
प्राणी की मृत्यु	मूल

गणावच्छेदी का प्रायश्चित्त गुरुमास से प्रारंभ होकर अनवस्थाप्य में और आचार्य का प्रायश्चित्त चतुर्लघु से प्रारंभ होकर पारांचित में निश्चित होता है।

बहुपुत्त पुरिसमेहे, उदयग्गी जडु सप्प चउलहुगा ।.....

उदगभएण पलायति, पवति व रुक्खं व रोहए सहसा ।
एमेव सेसएसु वि, भएसु पडिकार मो कुणति ॥
(व्यभा ८१९, ८२२)

जो प्रतिमाप्रतिपन्न अव्यक्त मुनि देवता द्वारा विकुर्वित रोते हुए बच्चों को देखकर विचलित होता है, पुरुषयज्ञ, जलप्रवाह, आगजनी, सम्मुख आते हुए हाथी और सर्प से भयभीत होता है, जलप्रवाह के भय से पलायन अथवा उसमें प्लवन करता है या वृक्षारोहण करता है अथवा किसी प्रकार का प्रतिकार करता है, वह चतुर्लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसी प्रकार शेष स्थितियों में भयभीत होने पर भी यही प्रायश्चित्त है।

एवं सुभपरिणामं, पुणो वि गच्छम्मि तं पडिनियत्तं ।
जे हीलति खिंसति वा, पावति गुरुए चउम्मासे ॥
(व्यभा ८३२)

प्रतिमाप्रतिपन्न अव्यक्त मुनि शुभ परिणाम-अध्यवसाय आने पर अपूर्ण प्रतिमा सम्पन्न कर गण में आ जाता है, तब जो मुनि असूया से उस प्रतिनिवृत्त मुनि की हीलना-खिंसना करते हैं—‘धिव्कार है इस भ्रष्टप्रतिज्ञ को’—इस प्रकार निंदा करते हैं, वे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

० प्रतिमाप्रतिपत्ता का पर्याय-श्रुत-संहनन
एगुणतीसवीसा, कोडी आयारवत्थु दसमं च ।
संघयणं पुण आदिल्लगाण तिण्हं तु अन्नतरं ॥
(व्यभा ७९०)

० पर्याय—जन्म पर्याय जघन्यतः उनतीस वर्ष। दीक्षा पर्याय जघन्यतः बीस वर्ष (जो गर्भ सहित आठ वर्ष का प्रव्रजित होता है, दीक्षा पर्याय के बीस वर्ष होने पर एक वर्ष में दृष्टिवाद की योगवाहिता सम्पन्न करता है—इस प्रकार कुल योग उनतीस वर्ष होता है। उत्कृष्ट जन्मपर्याय या दीक्षा पर्याय देशोन पूर्वकोटी है—यह पूर्वकोटि आयुष्य वाले की अपेक्षा से है।

० श्रुत—जघन्यतः नौवें प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व की तृतीय आचार वस्तु का ज्ञाता, उत्कृष्ट भिन्न (कुछ कम) दस पूर्वी।

० संहनन—तीन (वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच) में से किसी एक संहनन से सम्पन्न।

० एकलविहारप्रतिमा की अनुज्ञा-याचना
तो विण्णवेति धीरा, आयरिए एगविहरणमतीया ।
परियागसुतसररी कतकरणा तिव्वसद्धागा ॥
यथा—‘भगवन्! कृतपरिकर्माहमिच्छामि युष्माभिरनुज्ञात
एकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपत्तुमिति, यः पुनराचार्यः स स्वग-
च्छाय कथयति ।
(व्यभा ७८९ वृ)

जो एकाकीविहारप्रतिमा ग्रहण करने का अभिलाषी है, वह महासत्त्व सम्पन्न शिष्य आचार्यचरणों में निवेदन करता है—भंते! मैं आपकी अनुज्ञा से एकाकिविहारप्रतिमा को स्वीकार करना चाहता हूँ। प्रतिमाप्रतिपत्ता यदि आचार्य हों तो वे अपने गच्छ के समक्ष यह विज्ञप्ति करते हैं।

० प्रतिमाप्रतिपत्ता का आचार्य द्वारा परीक्षण
न किलम्मति दीघेण वि, तवेण न वि तासितो वि बीहेति ।
छण्णे वि ठितो वेलं, साहति पुट्टो अवितथं तु ॥
पुरपच्छसंश्रुतेहिं, न सज्जती दिट्ठिरागमादीहिं ।
दिट्ठी-मुहवण्णेहि य, अज्झत्थबलं समूहति ॥
‘‘किसदढो, ‘‘‘‘‘‘ ‘दोहि वि दढो य ॥‘‘‘‘
(व्यभा ७८५-७८७)

जो दीर्घ तप से क्लान्त नहीं होता, वह तपपरिकर्मित और जो डराने पर भी नहीं डरता, वह सत्त्वपरिकर्मित है।

आकाश मेघाच्छन्न है या वह मुनि उपाश्रय में स्थित है, फिर भी पूछने पर सही समय बता देता है, वह सूत्र परिकर्मित है।

पूर्व-पश्चात्-संस्तुत (माता-पिता, श्वसुर आदि) व्यक्तियों के वंदना आदि के लिए उपस्थित होने पर जो दृष्टिराग आदि से रंजित नहीं होता, उसकी दृष्टि और मुख की कांति से आचार्य उसके इस अध्यात्मबल को जान लेते हैं कि वह एकत्वभावना से भावित है। जो देह से कृश किन्तु धृति से सुदृढ़ है अथवा देह और धृति दोनों से सुदृढ़ है, वह बलभावना भावित है।

० प्रतिमाप्रतिपत्ति की विधि
‘‘‘‘आपुच्छणा विसज्जण, पडिवज्जण गच्छसमवायं ॥
परिकम्मितो वि वुच्चति, किमुत अपरिकम्म मंदपरिकम्मा ।
आतपरोभयदोसेसु, होति दुक्खं खु वेरगं ॥
पढम-बितियादलाभे, रोमे यण्णादिगा य आताए ।
सीउण्हादी उ परे, निसीहियादी उ उभए वि ॥

....दव्वादि सुभे य पडिवत्ती ॥
 निरुवस्सग्गनिमित्तं, उस्सग्गं वंदिऊण आयरिए ।
 आवस्सियं तु काउं, निरवेक्खो वच्चए भगवं ॥
 वैराग्यं रागनिग्रहणमुपलक्षणमेतदद्वेषनिग्रहणम् ।

(व्यभा ७९१-७९३, ७९७, ७९८ वृ)

शिष्य द्वारा अनुज्ञा मांगने पर आचार्य कहते हैं—यद्यपि तुम परिकर्मित हो, फिर भी पुनः आपृच्छा की जाती है—तुम सत्परिकर्मा हो या मन्दपरिकर्मा हो या अकृतपरिकर्मा हो ? क्योंकि साधनाकाल में स्व-पर-उभय-समुत्थ परीषह उत्पन्न हो सकते हैं—

- ० आत्मसमुत्थ—क्षुधा, पिपासा, अलाभ, रोग, प्रज्ञा आदि परीषह ।
- ० परसमुत्थ—शीत, उष्ण, दंशमशक आदि ।
- ० उभयसमुत्थ—नैर्घधिकी, चर्या आदि । इन परीषहों के समुत्थित होने पर वैराग्य भावना— राग-द्वेष-निग्रह करना बहुत कठिन है ।

‘यह सम्यक् परिकर्मित है’—आपृच्छा से यह ज्ञात होने पर उसे गच्छविसर्जन की अनुज्ञा दी जाती है । तब वह प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में समग्र गच्छ के समक्ष एकलविहारप्रतिमा स्वीकार करता है । प्रतिमा-प्रतिपत्ति से पूर्व वह सम्पूर्ण गच्छ से रत्नाधिक क्रम से क्षमायाचना करता है, फिर संघसमन्वित आचार्य के साथ निर्बाध प्रतिमा साधना के लिए कायोत्सर्ग करता है । तत्पश्चात् आचार्य को वन्दन और आवश्यकी का उच्चारण कर गच्छगुफा से सिंह की भांति निरपेक्ष हो निष्क्रमण करता है ।

एमेव गणायरिए, गणनिक्खवणम्मि नवरि नागतं ।
 पुव्वोवहिस्स अहवा, निक्खवणमपुव्वगहणं तु ॥
 (व्यभा ८०७)

प्रतिमाप्रतिपत्ति में भिक्षु की जो विधि प्रतिपादित है, वही विधि आचार्य आदि के लिए है । विशेष यह है—गणावच्छेदी गणावच्छेदित्व से मुक्त होकर तथा आचार्य अन्य को आचार्य स्थापित कर एकलविहारप्रतिमा स्वीकार करे ।

अथवा गणावच्छेदी और आचार्य पूर्वगृहीत उपधि का निक्षेप कर अन्य प्रायोग्य उपधि का उत्पादन कर प्रतिमा स्वीकार करे ।

- ० एकलविहारप्रतिमा और चारित्र

....संजम पढमे व ब्रितिए वा ॥
 प्रथमे संयमे मध्यम-तीर्थकरतीर्थेषु विदेहतीर्थकरतीर्थेषु

च, द्वितीये भरतादिप्रथम-पश्चिमतीर्थकरतीर्थेषु । एतच्च प्रतिपद्यमानकानधिकृत्योक्तं.... । पूर्वप्रतिपन्नाः पुनः पञ्चानां संयमानामन्यतमस्मिन् संयमे भवेयुः ॥ (व्यभा ८०३ वृ)

मुनि प्रतिमा-प्रतिपत्ति के समय प्रथम चारित्र—सामायिक संयम अथवा द्वितीय चारित्र—छेदोपस्थापनीय संयम में वर्तमान होता है । मध्यम बाईस तीर्थकरों के तथा विदेह क्षेत्रवर्ती तीर्थकरों के तीर्थों में प्रथम संयम होता है । भरत-ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अंतिम तीर्थकर के तीर्थ में द्वितीय संयम होता है । यह कथन प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से है । पूर्वप्रतिपन्न मुनि पांचों चारित्रों में से किसी में भी हो सकते हैं ।

- ० प्रतिमा-साधना : पिंडैषणा, उपधि.....

पगगहियमलेवकडं, भत्त जहणणेण नवविधो उवही ।
 पाउरणवज्जियस्स उ, इयरस्स दसादि जा बारा ॥
 वसहीए निग्गमणं, हिंडंतो सव्वभंडमादाय ।
 न य निक्खवति जलादिसु, जत्थ से सूरु वयति अत्थं ॥
 मणसा वि अणुग्घाया, सच्चित्ते यावि कुणति उवदेसं ।
 अच्चित्तजोग्गहणं, भत्तं यंथो य ततियाए ॥

सप्तसु पिण्डैषणासु मध्ये उपरितनीनां चतसृणामन्यत-
 मस्याः पिण्डैषणाया अभिग्रहः । आद्यानां तिसृणां पिण्डैषणानां प्रतिषेधः । एतच्च चूर्णिकारोपदेशात्... । (व्यभा ८०४-८०६ वृ)

० भिक्षाचर्या—वह मुनि सात पिण्डैषणाओं में से अंतिम चार में से किसी एक से अलेपकृत आहार और पानक ग्रहण करता है । प्रथम तीन पिण्डैषणाएं उसके लिए प्रतिषिद्ध हैं—यह चूर्णिकार की व्याख्या है । (सात पिण्डैषणा द्र पिण्डैषणा)

० उपधि—वह जघन्यतः नवविध उपधि रखता है—पात्र, पात्रबंध, पात्रस्थापना, पात्रकेसरिका, पटल, रजस्त्राण, गोच्छक, मुखवस्त्रिका और रजोहरण । जिसके प्रावरण-परिहार का अभिग्रह नहीं होता, वह दस (दसवां एक सूती कल्प), ग्यारह (दो सूती कम्बल) और बारह (तीन सूती कम्बल) उपधि भी रख सकता है ।

० उपकरणनिक्षेप—अपनी वसति (उपाश्रय) से बाहर जाता है, तब सर्व भण्डोपकरण साथ में लेकर घूमता है, वसति में नहीं छोड़ता ।

० विहरण करते हुए यदि सूर्यास्त हो जाए तो वह जल में (खुले आकाश में—द्र भिक्षुप्रतिमा), स्थल में या जहां भी है, वहीं

कायोत्सर्ग में स्थित हो जाता है, एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता।

- प्रायश्चित्त—मानसिक दोष में भी गुरु प्रायश्चित्त आता है।
- लाभ— 'यह व्यक्ति निश्चित ही प्रव्रजित होगा'—ऐसा ज्ञात होने पर प्रतिमाधारी उसे उपदेश ही दे सकता है, दीक्षा नहीं दे सकता। वह कल्पनीय अचित्त वस्तु ग्रहण करता है।
- गमन—वह भिक्षाचर्या और विहार तृतीय पौरुषी में करता है।

○ प्रतिमा-समापनविधि : ससम्मान गण-प्रवेश
तीरियमुब्भाम णियोग दरिसणं साधु सण्णि वप्याहे ।
दंडिग भोइग असती, सावगसंघो व सक्कारं॥
उब्भावणा पवयणो, सद्धाजणणं तहेव बहुमाणो ।
ओहावणा कुत्तिथे, जीतं तह तिथ्यवुड्डी य॥
(व्यभा ८०८, ८०९)

प्रतिमाकाल सम्पन्न होने पर प्रतिमाप्रतिपन्न मुनि, जिस प्रत्यासन गांव में बहुत भिक्षाचर और साधु आते हैं, वहां अपने आपको प्रकट करता है, फिर साधु या श्रावक के साथ गुरु को संदेश भेजता है। गुरु राजा को सूचित करता है। राजा सत्कारपूर्वक उसे संघ में प्रवेश करवाता है। राजा के अभाव में भोजिक (ग्राममुखिया), उसके अभाव में श्रावकवर्ग और उसके अभाव में संघ उसे सम्मानपूर्वक लाता है।

सत्कारपूर्वक प्रवेश से प्रवचन की प्रभावना होती है, इस तप को करने की श्रद्धा पैदा होती है, संघ के प्रति बहुमान बढ़ता है तथा कुतीर्थ की हीलना होती है।

प्रतिमा अनुष्ठान सम्पन्न होने पर सत्कार किया जाता है—यह जीतकल्प (जीतव्यवहार) है। इस दृश्य को देख अनेक व्यक्ति विरक्त हो प्रव्रज्या लेते हैं—इससे तीर्थ की वृद्धि होती है।

३. चन्द्रप्रतिमा के प्रकार

दो पडिमाओ पणत्ताओ, तं जहा—जवमञ्जा य
चंदपडिमा, वइरमञ्जा य चंदपडिमा॥ (व्य १०/१)

प्रतिमा के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—यवमध्यचन्द्रप्रतिमा और वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा।

○ यवमध्य-वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा का स्वरूप

जवमञ्जणं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स सुक्क-
पक्खस्स पाडिवए कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए,

एगा पाणस्स...बिइजाए से कप्पइ दोण्णि दत्तीओ...।
पन्नरसमीए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ...।

बहुलपक्खस्स पाडिवए कप्पंति चोइस दत्तीओ भोयणस्स
पडिगाहेत्तए, चोइस पाणस्स। बितियाए कप्पइ तेरस दत्तीओ
...चउदसीए कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा
पाणस्स। अमावासाए से य अभत्तट्टे भवइ ॥...

वइरमञ्जणं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स बहुल-
पक्खस्स पाडिवए कप्पइ पण्णरस दत्तीओ भोयणस्स
पडिगाहेत्तए, पण्णरस पाणस्स। बितियाए से कप्पइ चउइस
दत्तीओ...एवं एगुत्तरियाए हाणीए जाव पण्णरसीए एगा
दत्ती...। सुक्कपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ दो दत्तीओ ...।
एवं एगुत्तरियाए वड्डीए जाव चोइसीए पण्णरस दत्तीओ...।
पुण्णिमाए अभत्तट्टे भवइ।... (व्य १०/३, ५)

उवमा जवेण चंदेण, वावि जवमञ्ज चंदपडिमाए।
एमेव य बितियाए, वइरं वज्जं ति एगट्टं॥
पण्णरसे व उ काउं, भागे ससिणं तु सुक्कपक्खस्स।
जा वड्ढयते दत्ती, हावति ता चेव कालेण॥
(व्यभा ३८३३, ३८३४).

यव (जौ) और वज्र की उपमा से उपमित चन्द्राकार प्रतिमाएं यवमध्य तथा वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा कहलाती हैं।

○ यवमध्यचन्द्रप्रतिमा—इस चन्द्रप्रतिमा में मध्यभाग यव की तरह स्थूल तथा आदि-अंत भाग तनु होता है।

जैसे शुक्ल पक्ष में पन्द्रह भागों में विभक्त चन्द्रमा की कलाओं में से प्रतिपदा को एक कला दिखाई देती है। द्वितीया को दो, तृतीया को तीन—इस प्रकार एक-एक की वृद्धि से पूर्णिमा को पन्द्रह कलाएं पूर्ण हो जाती हैं। वैसे ही यवमध्यचन्द्रप्रतिमाप्रतिपन्न मुनि प्रतिपदा को आहार-पानी की एक-एक दत्ती ग्रहण करता है और प्रतिदिन एक-एक दत्ती बढ़ाता हुआ पूर्णिमा के दिन आहार-पानी की पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियां ग्रहण करता है।

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को चन्द्रमा की चौदह कलाएं दृष्टिगोचर होती हैं। प्रतिदिन एक-एक कला घटती है। चतुर्दशी को एक कला दृष्टिगत होती है, अमावस्या को एक भी नहीं। वैसे ही प्रतिमाप्रतिपन्न मुनि कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को चौदह दत्तियां लेता है और प्रतिदिन एक-एक दत्ती कम करते-करते अमावस्या को उपवास करता है।

इस प्रकार यवमध्यचन्द्रप्रतिमा मास के आदि में तनु, मध्य में स्थूल तथा अंत में पुनः तनु हो जाती है।

० वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा—इस चन्द्राकार प्रतिमा में मध्यभाग वज्रमध्य की तरह कृश तथा आदि-अंत भाग स्थूल होता है।

यह प्रतिमा कृष्णपक्ष में प्रारंभ की जाती है। इसमें भिक्षु प्रतिपदा को पन्द्रह दत्तियां ग्रहण करता है। प्रतिदिन एक-एक दत्ती घटाता हुआ अमावस्या को एक दत्ती ग्रहण करता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को दो दत्ती से प्रारंभ कर प्रतिदिन एक-एक दत्ती बढ़ाता हुआ चतुर्दशी को आहार-पानी की पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियां ग्रहण करता है। पूर्णिमा को उपवास करता है।

० चन्द्रप्रतिमाप्रतिपत्ता की अर्हता

संघयणे परियाए, सुत्ते अत्थे य जो भवे बलिओ ।
सो पडिमं पडिवज्जति, जवमज्झं वडुरमज्झं च ॥
(व्यभा ३८३६)

यवमध्य और वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमाप्रतिपत्ता की संहनन, पर्याय और श्रुत संबंधी अर्हता एकलविहारी की भांति ज्ञातव्य है।

० चन्द्रप्रतिमाप्रतिपन्न उपसर्ग-परीषहजयी

जवमज्झणं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स मासं निच्चं वोसडुकाए चत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति, तं जहा—दिव्वा वा माणुसा वा तिरिक्खजोणिया वा, अणुलोमा ताव वंदेज्जा वा नमंसेज्जा वा सक्कारेज्जा वा सम्माणेज्जा वा कत्त्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा, तत्थ पडिलोमा अणायरेणं दंडेण वा कसेण वा काए आउडेज्जा—ते सब्बे उप्पण्णे सम्मं सहेज्जा ॥

वडुरमज्झणं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स मासं निच्चं वोसडुकाए चत्तदेहे ॥ (व्य १०/२, ४)

वातिय-पित्तिय-सिंभियरोगातंकेहि तत्थ पुट्ठो वि ।
न कुणति परिकम्मं सो, किंचि वि वोसडुदेहो उ ॥
बंधेज्ज व रुंभेज्ज व, कोई व हणेज्ज अधव मारेज्ज ।
वारेति न सो भगवं, चियत्तदेहो अपडिबद्धो ॥
वासीचंदणकप्पो, जह रुक्खो इय सुहदुक्खसमो उ ।
रागहोसविमुक्को, सहती अणुलोमपडिलोमे ॥

(व्यभा ३८३९, ३८४१, ३८५१)

यवमध्य-वज्रमध्य-चन्द्रप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार एक मास पर्यंत नित्य व्युत्सृष्टकाय और त्यक्तदेह रहता है।

० व्युत्सृष्टकाय—वह वातिक, पैतिक और श्लैष्मिक रोग-आतंकों से स्पृष्ट होने पर भी शरीर का किञ्चित् भी परिकर्म नहीं करता।

० त्यक्तदेह—वह शरीर की प्रतिबद्धता से मुक्त होता है। कोई उसे बांधता है, निरुद्ध और आहत करता है अथवा मारता है, वह उसका निवारण नहीं करता। वह उत्पन्न दिव्य, मानुषिक और तिर्यच्योनिक उपसर्गों को समभाव से सहन करता है।

० अनुकूल-परीषह—कोई उसको वन्दना-नमस्कार करे, सत्कार-सम्मान करे, कोई उसके कल्याण-मंगल-देव-ज्ञानरूप की पर्युपासना करे—वह इनमें गर्व नहीं करता।

० प्रतिकूल परीषह—किसी दण्ड, चाबुक आदि से शरीर पर प्रहार करने पर वह उन सबको सम्यक् सहन करता है।

जैसे वृक्ष वसूले से काटने पर और चन्दन का लेप करने पर सम होता है, वैसे ही रागद्वेषमुक्त मुनि सुख-दुःख में सम रहता है, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों को सम्यक् सहन करता है।

* उपसर्ग-परीषह

द्र श्रीआको १ परीषह

० आहारग्रहण-विधि, अभिग्रह

.....अण्णायउंछं सुद्धोवहडं निज्जुहिता बहवे समण-
माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा, कप्पइ से एगस्स भुंज-
माणस्स पडिगाहेत्तए, नो दोण्हं नो तिण्हं नो चउण्हं नो
पंचण्हं, नो गुत्विणीए नो बालवच्छाए नो दारगं पेज्जमाणीए,
नो अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहडु दलमाणीए नो बाहिं
एलुयस्स दो वि पाए साहडु दलमाणीए। एगं पायं अंतो
किच्चा एगं पायं बाहिं किच्चा एलुयं विक्खंभइत्ता एवं
दलयइ, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ (व्य १०/३)

पडिमापडिवण्ण एस, भगवं अज्ज किर एत्तिया दत्ती ।
आदियति त्ति न नज्जाति, अण्णाउंछं तवो भणितो ॥
दव्वादभिग्गहो खलु, दव्वे सुद्धंछ मे त्ति या दत्ती ।
एलुगमेत्तं खेत्ते, गेण्हति ततियाए कालम्मि ॥
अण्णाउंछं च सुद्धं, पंच काऊण अग्गहं ।
दिणे दिणे अभिगेण्हे, तासिमन्नतरी य तु ॥

(व्यभा ३८५४, ३८५५, ३८५७)

प्रतिमाप्रतिपन्न अनगार शुद्धोपहत (एक व्यक्ति के लिए

उपनीत अलेपकृत) अज्ञात उँछ (भिक्षा) ग्रहण करता है। बहुत से श्रमण, माहन, अतिथि, कृपण और वनीपकों के लौट जाने पर, भोजन करते हुए एक व्यक्ति के भोजन में से भिक्षा लेता है, दो, तीन, चार या पांच के भोजन में से नहीं।

वह गर्भवती स्त्री, बालवत्सा और बच्चे को दूध पिलाती स्त्री से भिक्षा नहीं ले सकता। दाता के दोनों पैर देहली के भीतर या बाहर न हों, एक पैर भीतर और एक पैर बाहर रखकर देहली को आक्रांत कर भिक्षा दे, तो ले सकता है।

प्रतिमाप्रतिपन्न आज इतनी दत्तियां ग्रहण करेंगे—यह ज्ञात नहीं होता, अतः वह अज्ञातोञ्च है। उसके चार अभिग्रह हैं—

१. द्रव्य अभिग्रह—सात पिण्डैषणाओं में से प्रथम पांच से ग्रहण नहीं करता। अंतिम दो में से एक दिन में किसी एक से अलेपकृत भिक्षा ग्रहण करता है। आज मेरे लिए इतनी दत्तियां ग्राह्य हैं—यह द्रव्य अभिग्रह है।

२. क्षेत्रअभिग्रह—देहली विष्कम्भमात्र क्षेत्र में भिक्षा लेना।

३. काल अभिग्रह—दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षाटन करना।

४. भाव अभिग्रह—अमुक अवस्था में भिक्षा लेना।

पुव्वं व चरति तेसिं, नियट्टुचारेसु वा अडति पच्छा।

जत्थ भवे दोण्णि काला, चरती तत्थ अतिच्छित्ते ॥

नवमासगुव्विणिं खलु, गच्छे वज्जति इतरो सव्वा उ।

खीराहारं गच्छो, वज्जेतितरो तु सव्वं पि ॥

(व्यभा ३८६१, ३८६३)

जहां तीन भिक्षाकाल हों, वहां मुनि श्रमणों से पूर्व अथवा श्रमणों के लौट जाने के पश्चात् भिक्षा के लिए जाता है। जहां दो भिक्षाकाल हों, वहां श्रमणों के चले जाने पर भिक्षा करता है। (प्रतिमाधारी सर्वत्र दायक व ग्राहक के प्रति अप्रीति का वर्जन करते हैं।) गच्छवासी मुनि नवमास वाली गर्भवती स्त्री से भिक्षा नहीं लेते। प्रतिमाधारी मुनि किसी भी गर्भवती से भिक्षा नहीं लेते। गच्छवासी क्षीराहार बालक का और प्रतिमाधारी मुनि बालकमात्र का वर्जन करते हैं (उनसे भिक्षा नहीं लेते)।

४. सप्तसप्तमिका आदि भिक्षुप्रतिमाएं

सत्तसत्तमिया णं भिक्खुपडिमा एगुणपण्णाए राइंदिएहिं
एगेण छन्नउएणं भिक्खासएणं अहासुत्तं अहाकप्यं अहामग्गं
अहातच्चं सम्मं काएण फासिया पालिया सोहिया तीरिया
किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥

अट्टअट्टमिया णं भिक्खुपडिमा चउसट्टीए राइंदिएहिं
दोहिं य अट्टासीएहिं भिक्खासएहिं...अणुपालिया भवइ ॥

नवनवमिया णं भिक्खुपडिमा एगासीए राइंदिएहिं
चउहिं य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं...अणुपालिया भवइ ॥

दसदसमिया णं भिक्खुपडिमा एगेणं राइंदियसएणं
अद्धछट्टेहिं य भिक्खासएहिं...अणुपालिया भवइ ॥

(व्य ९/३५-३८)

सप्तसप्तमिका (७×७) भिक्षुप्रतिमा उनचास (४९) दिन-रात की अवधि में एक सौ छियानवे (१९६) भिक्षादत्तियों से यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग और यथातत्त्व (सूत्र, कल्प, मार्ग और तत्त्व के अनुसार) सम्यक् प्रकार से काया से आचीर्ण, पालित, शोधित, पूरित, कीर्तित और जिन आज्ञा से अनुपालित की जाती है।

अष्टअष्टमिका भिक्षुप्रतिमा चौसठ (८×८=६४) अहोरात्र की अवधि में २८८ भिक्षादत्तियों द्वारा अनुपालित होती है।

नवनवमिका भिक्षुप्रतिमा इक्यासी (९×९=८१) अहोरात्र में ४०५ भिक्षादत्तियों से और दसदसमिका भिक्षुप्रतिमा सौ (१०×१०=१००) अहोरात्र में ५५० भिक्षादत्तियों से आराधित होती है।

० सप्तसप्तमिका : दत्तिपरिमाण में सिंहविक्रम-उपमा

पढमा सत्तिगा सत्त, पढमे तत्थ सत्तए।

एक्केक्कं गेणहती भिक्खं, बित्तिए दोण्णि दोण्णि उ ॥

एवमेक्केक्कयं भिक्खं, छुब्भेज्जेक्केक्क सत्तगे।

गिणहती अंतिमे जाव, सत्त सत्त दिणे दिणे ॥

अहवेक्केक्कयं दत्ती, जा सत्तेक्केक्कसत्तए।

आदेसो अत्थि एसो वि, सीहविककमसन्निभो ॥

(व्यभा ३७८२-३७८४)

प्रथम (सप्तसप्तमिका) प्रतिमा में सात सप्तक (७×७=४९ दिन) होते हैं। भिक्षु प्रथम सप्तक में प्रतिदिन एक-एक भिक्षादत्ति ग्रहण करता है। दूसरे सप्तक में प्रतिदिन दो-दो तथा तीसरे आदि सप्तक में क्रमशः एक-एक की वृद्धि करते हुए सातवें सप्तक में सात-सात भिक्षादत्तियां ग्रहण करता है।

अथवा भिक्षादत्तियों की वृद्धि में दूसरा आदेश भी है—प्रत्येक सप्तक के प्रथम दिन से आरंभ कर क्रमशः एक-एक की वृद्धि के क्रम से सातवें दिन सात भिक्षादत्तियां ग्रहण करता है।

यह आदेश सिंहविक्रम सदृश है। जैसे सिंह चलते-चलते

पुनः-पुनः पीछे की ओर देखता है, वैसे ही प्रत्येक सप्तक में भिक्षादत्तियां परावर्तित होती हैं।

० दत्तिपरिमाण की करणगाथा, दत्ति-स्वरूप

उद्दिष्टवर्गदिवसा, य मूलदिणसंजुया दुहा छिन्ना।
मूलेणं संगुणिया, माणं दत्तीण पडिमासु॥

(व्यभा ३७८६)

उद्दिष्ट वर्गदिवसों को मूल दिनों से संयुक्त कर, तदनन्तर उन्हें द्विधा छिन्न कर मूल दिनों से संगुणित करने पर प्रतिमाओं की भिक्षादत्तियों का परिमाण निकल आता है। यथा—

सप्तसप्तमिकवर्गदिवस ४९ हैं। इनमें मूल सात दिवस जोड़ने पर ५६ तथा इन्हें आधा करने पर २८ होते हैं। २८ को मूल सप्तक से गुणन करने पर $२८ \times ७ = १९६$ भिक्षादत्तियां होती हैं।

संख्यादत्तियस्स णं भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स जावइयं-
जावइयं केइ अंतो पडिग्गहंसि उवित्ता दलएज्जा तावइयाओ
ताओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया, तत्थ से केइ छव्वेण वा दूसाएण
वा वालएण वा अंतो पडिग्गहंसि उवित्ता दलएज्जा, सव्वा
वि णं सा एगा दत्ती...तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं
पिंडं अंतो पडिग्गहंसि उवित्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा
एगा दत्ती...॥

(व्य ९/४२)

हत्थेण व मत्तेण व, भिक्खा होति समुज्जता।
दत्तिओ जत्तिए वारे, खिर्वन्ति होन्ति तत्तिया॥
अव्वोच्छिन्ननिवाताओ, दत्ती होति उ वेतरा।
एगाणेगासु चत्तारि, विभागा भिक्खदत्तिसु॥
एगा भिक्खा एगा, दत्ति एग भिक्खऽणोग दत्ती उ।
णेगातो वि य एगा, णेगाओ चेव णेगाओ॥

(व्यभा ३८११-३८१३)

संख्यादत्तिक (दत्तियों की संख्या का अभिग्रह करने वाले) पात्रधारी भिक्षु को कोई गृहस्थ जितनी बार झुकाकर पात्र में भिक्षा देता है, उतनी दत्तियां होती हैं। कोई दाता भिक्षुपात्र में टोकरी, वस्त्र या बालों से बनाए हुए साधन से एक बार में एक साथ जितनी भिक्षा देता है, वह सारी एक दत्ति होती है।

खाने वाले व्यक्ति बहुत हैं, वे अपने-अपने भोजन में से निकालकर इकट्ठा कर एक बार में एक साथ जितना पिंड देते हैं, वह सब एक दत्ति है।

हाथ में या पात्र में प्राप्त भोजन भिक्षा है। वही भिक्षा विच्छिन्न रूप में जितनी बार में दी जाती है, उतनी दत्तियां होती हैं।

अव्यवच्छिन्न रूप से एक साथ एक बार में एक धार से जितना आहार या जल दिया जाता है, वह एक दत्ति है। इससे इतर भिक्षा कहलाती है।

भिक्षा और दत्ति के चार विकल्प हैं—

१. एक भिक्षा एक दत्ति—अव्यवच्छिन्न रूप में प्रदत्त भिक्षा।
२. एक भिक्षा अनेक दत्तियां—व्यवच्छिन्न रूप में प्रदत्त भिक्षा।
३. अनेक भिक्षा एक दत्ति—अनेक व्यक्तियों के भोजन को एकत्र मिलाकर अव्यवच्छिन्न रूप में दी जाने वाली भिक्षा।
४. अनेक भिक्षा अनेक दत्तियां—अनेक व्यक्तियों के भोजन को एकत्र मिलाकर व्यवच्छिन्न रूप में दी जाने वाली भिक्षा।

५. मोयप्रतिमा के प्रकार एवं स्वरूप

दो पडिमाओ पणणाओ, तं जहा—खुड्डिया चेव
मोयपडिमा महल्लिया चेव मोयपडिमा॥

खुड्डियणं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ
से पढमसरदकालसमयंसि वा चरिमनिदाहकालसमयंसि वा
बहिया गामस्स वा जाव सन्निवेशस्स वा वणांसि वा वण-
विदुगांसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुगांसि वा। भोच्चा आरुभइ
चोदसमेणं पारेइ। अभोच्चा आरुभइ सोलसमेणं पारेइ॥

महल्लियणं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स.....
भोच्चा आरुभइ सोलसमेणं पारेइ। अभोच्चा आरुभइ अट्टार-
समेणं पारेइ॥

(व्य ९/३९-४१)

मोयप्रतिमा के दो प्रकार हैं—क्षुल्लिकामोयप्रतिमा (लघु प्रस्रवणप्रतिमा) और महती मोयप्रतिमा।

क्षुल्लिकामोयप्रतिमाप्रतिपन्न अनगर प्रथम शरदकाल अथवा चरम निदाघकाल में गांव यावत् सन्निवेश के बाहर, वन, वनविदुर्ग, पर्वत या पर्वतविदुर्ग में रहता है। यह प्रतिमा खाकर प्रारंभ की जाती है तो छह दिन के उपवास से और न खाकर की जाती है तो सात दिन के उपवास से पूर्ण होती है।

महती प्रस्रवणप्रतिमा की विधि क्षुल्लिकाप्रस्रवण प्रतिमा के समान ही है। केवल इतना अन्तर है कि जब वह खाकर आरंभ की जाती है, तब सात दिन के उपवास से, अन्यथा आठ दिन के उपवास से पूर्ण होती है।

सञ्जाओ पडिमाओ, साधुं मोयंति पावकम्पेहिं ।
एतेण मोयपडिमा, अधिगारो इह तु मोएणं ॥
मोकापरित्यागप्रधाना प्रतिमा मोकप्रतिमा ।

(व्यभा ३७९० वृ)

यद्यपि सब प्रतिमाएं साधु को पापकर्म से मुक्त करती हैं, अतः मोचा—मोका हैं, किन्तु मोक (कायिकी) पान की प्रधानता के कारण इसे मोय/मोकप्रतिमा कहा गया है ।

० मोयप्रतिमा प्रतिपत्ति की विधि

निसज्जं चोलपट्टं, कप्पं घेत्तूण मत्तगं चेव ।
एगंते पडिवज्जति, काऊण दिसाण वालोयं ॥

(व्यभा ३७९२)

मोयप्रतिमा स्वीकार करने वाला भिक्षु निषद्या, चोलपट्ट, कल्प और कायिकीमात्रक लेकर गांव आदि के बाहर जाता है । वहां जाकर एकांत में प्रतिमा स्वीकार करता है । मात्रक में प्रस्रवण का व्युत्सर्ग कर दिशा का अवलोकन करता है, अनापात और असंलोक स्थान में प्रस्रवणपान करता है । यद्यपि वह अपने ज्ञानातिशय (अतिशयज्ञान) से जान लेता है कि यहां कोई गृहस्थ है या नहीं, फिर भी सामाचारी पालन के लिए दिशावलोकन करता है ।

० मोय (पेय प्रस्रवण) का स्वरूप

.....जाए मोए आईयव्वे, दिया आगच्छइ आईयव्वे, राइं
आगच्छइ नो आईयव्वे,.....अप्पाणेअबीए.....अससणिद्धे
.....अससरव्वे आगच्छइ आईयव्वे । जाए मोए आईयव्वे, तं
जहा—अप्ये वा बहुए वा ॥.....

(व्य ९/४०)

साभावियं च मोयं, जाणति जं वावि होति विवरीयं ।
पाण-बीय ससणिद्धं, सरक्खाधिराय न पिएज्जा ॥
किमिकुट्टे सिया पाणा, ते य उण्हाभिताविया ।
मोएण सद्धि एज्जणहु, निसिरेते तु छाहिए ॥
बीयं तु पोगला सुक्का, ससणिद्धा तु चिक्कणा ।
पडंति सिथिले देहे, खमणुण्हाभिताविया ॥
पपेहकणियाओ य, सरक्खं पाहु सूरयो ।
सो उ दोसकरो वुत्तो, तं च कज्जं न साधए ॥
बहुगी होति मत्ताओ, आइल्लेसु दिणेसु तु ।

कमेण हायमाणी तु, अंतिमे होति वा न वा ॥
पडिणीयऽणुकंपा वा, मोयं वद्धंति गुज्जगा केई ।
बीजादिजुतं जं वा, विवरीयं उज्जए सव्वं ॥

(व्यभा ३७९४-३७९९)

मोयप्रतिमाप्रतिपन्न भिक्षु स्वाभाविक और अस्वाभाविक प्रस्रवण को जानता है । वह दिन में समागत, प्राण, बीज (वीर्य), सस्निग्ध और सरजस्क से रहित स्वाभाविक प्रस्रवण पीता है, इसके विपरीत नहीं पीता । अल्प या बहुत, दिन में जितनी बार जितना प्रस्रवण होता है, उतना सब पीता है ।

० प्राण—कृमिसंकुल उदर में कृमिरूप प्राणी होते हैं । वे कृमि उष्णता से अभितप्त हो कायिकी के साथ बाहर आ जायें तो छाया में उनका विसर्जन करे ।

० बीज-सस्निग्ध—शुष्क शुक्र पुद्गल बीज और चिकने शुक्र पुद्गल सस्निग्ध कहलाते हैं । शरीर के शिथिल होने पर, तपस्या और उष्णता से संतप्त होने पर शुक्र पुद्गल गिरने लगते हैं । सबीज प्रस्रवण पेय नहीं होता ।

० सरजस्क—प्रमेहकणों को आचार्यों ने सरजस्काधिराज कहा है । उसका पान दोषकारक होता है, उससे रोगमुक्ति नहीं होती ।

प्रतिमा के प्रारम्भिक दिनों में प्रस्रवण की मात्रा अधिक होती है । वह क्रमशः कम होती हुई अंतिम दिन में होती भी है या नहीं भी होती । कभी कोई प्रत्यनीक या अनुकम्पक गुहाक देव प्रस्रवण की मात्रा को बढ़ा देता है अथवा बीज आदि से संसक्त कर देता है । वह प्रस्रवण स्वाभाविक नहीं होता, अतः त्याज्य है ।

० मोयप्रतिमा की द्रव्य आदि से मार्गणा

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य होति सा चउविगप्पा ।
दव्वे तु होति मोयं, खेत्ते गामाइयाण बहिं ॥
काले दिया व रातो, भावे साभावियं व इतरं वा ॥.....

(व्यभा ३८००, ३८०१)

मोयप्रतिमा के चार विकल्प हैं—

द्रव्यतः—प्रस्रवण । क्षेत्रतः—गांव आदि के बाहर । कालतः—दिन और रात्रि । भावतः—स्वाभाविक और विकृत ।

० मोयप्रतिमा और संहनन

.....न हु रोगि बलिस्स वा एसा ॥

.....संघयणधित्तीजुत्तो, फासयती दो वि एयाओ ॥

आद्यसंहननत्रयोऽन्यतमसंहननयुक्तो धृत्या च वज्रकुड्य-
समानः । (व्यभा ३८०८, ३८०९ वृ)

प्रतिमासाधक रोगी नहीं होता। अथवा बलवान् ही इन्हें ग्रहण करता है। वज्रत्रयभनाराच, ऋषभनाराच अथवा नाराच संहनन वाला और वज्रकुड्य के समान धृति वाला भिक्षु ही इन दोनों प्रसवणप्रतिमाओं को स्वीकार कर सकता है।

० मोयप्रतिमासिद्धि की निष्पत्ति

.....सिद्धाए पडिमाए, कम्मविमुक्को हवति सिद्धो ॥
देवो महिद्धिओ वावि, रोगातोऽहव मुच्चती।
जायती कणगवणो उ, ॥
(व्यभा ३८०९, ३८०२)

मोयप्रतिमा सिद्ध होने पर वह कर्ममुक्त होकर सिद्ध हो जाता है। अथवा मृत्यु के बाद महर्द्धिक देव बनता है। अथवा वह रोग से मुक्त हो जाता है। उसका शरीर कनकवर्ण हो जाता है।

० मोयप्रतिमा पूर्ण होने पर आहारविधि

ओदणं उसिणोदेणं, दिणे सत्त उ भुजिउं।
जूसमंडेण वा अन्ने, दिणे जावेति सत्त उ ॥
मधुरोल्लेण शोवेण, मीसे तइय सत्तए।
तिभागद्धजुतं चेव, तिभागो शोवमीसियं ॥
मधुरेण य सत्तन्ने, भावेत्ता उल्लणादिणा।
दधिगादीण भावेत्ता, ताहे वा सत्त सत्तए ॥
(व्यभा ३८०४-३८०६)

भिक्षु मोयप्रतिमा पालन के पश्चात् उपाश्रय में आ जाता है।

उसकी आहार-ग्रहण की प्रक्रिया इस प्रकार निर्दिष्ट है—

- ० प्रथम सप्ताह में गर्म पानी के साथ चावल।
- ० दूसरे सप्ताह में यूष-मांड।
- ० तीसरे सप्ताह में त्रिभाग उष्णोदक और थोड़े से मधुर दही के साथ चावल।
- ० चतुर्थ सप्ताह में दो भाग उष्णोदक और तीन भाग मधुर दही के साथ चावल।
- ० पांचवें सप्ताह में अर्ध भाग उष्णोदक और अर्ध भाग मधुर दही के साथ चावल।
- ० छठे सप्ताह में त्रिभाग उष्णोदक और दो भाग मधुर दही के साथ चावल।

० सातवें सप्ताह में मधुर दही में थोड़ा सा उष्णोदक मिलाकर उसके साथ चावल।

० आठवें सप्ताह में मधुर दही अथवा अन्य जूषों के साथ चावल।
अन्य सात सप्ताह तक रोग के प्रतिकूल न हो, वैसा भोजन दही के साथ किया जा सकता है।

६. भद्रा-महाभद्रा-प्रतिमा

.....पडिमा.....मासाई जा य सेसाओ ॥

'शेषाः' भद्र-महाभद्रादिकाः प्रतिमाः । (वृभा १३९८ वृ)

प्रतिमा के अनेक प्रकार हैं—भिक्षु की मासिकी आदि प्रतिमा, भद्र-प्रतिमा, महाभद्र-प्रतिमा आदि।

० भिक्षुप्रतिमा, उपासकप्रतिमा द संबद्ध नाम
(भगवान् महावीर ने भद्रा, महाभद्रा और सर्वतोभद्रा प्रतिमा की साधना की थी।—श्रीआको १ तीर्थकर)

प्रतिलेखना—वस्त्र, पात्र, स्थान आदि का यथासमय विधिपूर्वक अवलोकन करना।

(शरीर, उपकरण, स्थण्डिल और मार्ग प्रतिलेखनीय हैं।
वस्त्रप्रतिलेखना के पच्चीस प्रकार हैं, आठ विकल्प हैं, आरभटा आदि छह दोष हैं।—श्रीआको १ प्रतिलेखना)

- * प्रतिलेखना काल द स्थविरकल्प
- * कालप्रतिलेखना द स्वाध्याय
- * क्षेत्रप्रतिलेखना द क्षेत्रप्रतिलेखना

प्रतिसेवना—दोषाचरण, अकल्पनीय का समाचरण।

१. प्रतिसेवना का स्वरूप
२. प्रतिसेवना के दो प्रकार, तीन रूप
३. मूलगुण-उत्तरगुण-प्रतिसेवना : अतिक्रम.....संरंभ
४. प्रतिसेवना के चार प्रकार
५. कल्प प्रतिसेवना के स्थान : अपवादपद
* अपवादसेवन का नियामक तत्त्व द सूत्र
६. दर्प और कल्प प्रतिसेवना के प्रकार
७. परिग्रह दर्पिका-कल्पिका प्रतिसेवना
८. मिश्र प्रतिसेवना और उसके प्रकार
९. दर्पिका और कल्पिका में अन्तर
१०. आज्ञा व्यवहार : गूढपदों में प्रतिसेवना-प्रायश्चित्त-कथन

११. शठ-अशठ भाव से प्रतिसेवना	
१२. विराधना या प्रतिसेवना का हेतु	
१३. प्रतिसेवना और कर्म	
० अप्रतिसेवी दृढ़धर्मी	
१४. कल्पिका प्रतिसेवना भी सावद्य	
* अतिचार : ज्ञान-चारित्र और भाव	द्र आचार
१५. बकुश-प्रतिसेवना और सचारित्र तीर्थ	
* प्रतिसेवना : आरोपणा का एक भेद	द्र प्रायश्चित्त
* प्रतिसेवना पारंगित के प्रकार	द्र पारंगित
* निरंतर प्रतिसेवी और कृतिकर्म	द्र कृतिकर्म

१. प्रतिसेवना का स्वरूप

पडिसेवणा तु भावो, सो पुण कुसलो व होज्जकुसलो वा।
कुसलेण होति कप्पो, अकुसलपरिणामतो दप्पो ॥

(व्यभा ३९)

प्रतिसेवना जीव का परिणाम है। वह परिणाम कुशल (ज्ञान आदि) और अकुशल (अविरति आदि) दोनों प्रकार का हो सकता है। कुशल परिणाम से की गई प्रतिसेवना कल्पिका और अकुशल परिणाम से की गई प्रतिसेवना दर्पिका कहलाती है।

२. प्रतिसेवना के दो प्रकार, तीन रूप

दप्पे सकारणंमि य, दुविधा पडिसेवणा समासेणं।
एक्केक्का वि य दुविधा, मूलगुणे उत्तरगुणे य ॥
(निभा ८८)

प्रतिसेवना के दो प्रकार हैं—

१. दर्प प्रतिसेवना—राग-द्वेष की प्रेरणा से निष्कारण की जाने वाली।
२. कल्प प्रतिसेवना—विशेष परिस्थितिवश की जाने वाली।

प्रत्येक के दो प्रकार हैं—मूलगुण और उत्तरगुण प्रतिसेवना।

जेण मुसावाएण अभिहिण्ण पारंगियं भवति एस
उक्कोसो मुसावाओ, जेण पुण दसराइंदियाति जाव अणवट्ठं
एस मज्झिमो, जेण पंचराइंदियाणि एस जहण्णो।

(निभा ८९ की चू)

मूलगुण प्रतिसेवना के तीन रूप हैं—

- ० उत्कृष्ट—यथा—जिस मृषावाद से पारंगित प्रायश्चित्त प्राप्त हो।
- ० मध्यम—जिससे दस अहोरात्रिक यावत् अनवस्थाप्य प्राप्त हो।
- ० जघन्य—जिस प्रतिसेवना से पांच अहोरात्र का प्रायश्चित्त प्राप्त हो।

३. मूलगुण-उत्तरगुण-प्रतिसेवना : अतिक्रम-संरंभ-मूलगुण-उत्तरगुणे, दुविहा पडिसेवणा समासेणं।
मूलगुणे पंचविहा, पिंडविसोहादिया इयर ॥
सा पुण अइक्कम वइक्कमे य अतियार तह अणायारे।
संरंभ समारंभे, आरंभे रागदोसादी ॥
आधाकम्मनिमंतण, पडिसुणमाणे अतिक्कमो होति।
पदभेदादि वतिक्कम, गहिते ततिएतरो गिलिए ॥
संकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो।
आरंभो उद्वतो, ॥

उत्तरगुणप्रतिसेवना अतिक्रमादिभेदतश्चतुःप्रकार, मूलगुणप्रतिसेवना-संरंभादिभेदतस्त्रिप्रकारा।

(व्यभा ४१-४३, ४६ वृ)

संक्षेप में प्रतिसेवना दो प्रकार की है—मूलगुण विषयक प्रतिसेवना और उत्तरगुणविषयक प्रतिसेवना। मूलगुण विषयक प्रतिसेवना पांच प्रकार की है—प्राणातिपात आदि। पिंडविशोधि आदि उत्तरगुणविषयक प्रतिसेवना है, जो अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार के भेद से चार प्रकार की है।

आधाकर्म आहार का निमंत्रण स्वीकार करना अतिक्रम है। उसके लिए प्रस्थान करना (यावत् घर में प्रवेश कर पात्र फैलाना) व्यतिक्रम है। उसे ग्रहण करना (यावत् मुंह में डालना) अतिचार और निगल जाना अनाचार है।

मूलगुण प्रतिसेवना के तीन प्रकार हैं—संरंभ, समारंभ और आरंभ। संरंभ आदि के हेतु हैं—राग-द्वेष और अज्ञान।

प्राणातिपात आदि का संकल्प संरंभ, दूसरे को परितप्त करने वाला व्यापार समारंभ और प्राणव्यपरोपण करना आरंभ है।

४. प्रतिसेवना के चार प्रकार

दप्पे कप्प-पमत्ताणाभोग आहच्चतो य चरिमा तु।.....
एसेव चतुह पडिसेवणा तु संखेवतो भवे दुविधा।
दप्पो तु जो पमादो, कप्पो पुण अप्पमत्तस्स ॥
ण य सव्वो वि पमत्तो, आवज्जति तथ वि सो भवे वधओ।
जह अप्पमादसहिओ, आवण्णो वी अवहओ उ ॥
.....सा तु अणाभोगेणं, सहसक्कारेण वा होज्जा ॥
अण्णतरपमादेणं, असंपउत्तस्स णोवउत्तस्स।
रीयादिसु भूतत्थेसु अवट्ठतो होतणाभोगो ॥

पुव्वं अपासिऊणं, छूढे पादमि जं पुणो पासे ।
ण य तरति णियत्तेउं पादं सहसाकरणमेतं ॥
पंचसमितस्स मुणिणो, आसज्ज विराहणा जदि हवेज्जा ।
रीयंतस्स गुणवओ, सुव्वत्तमबंधओ सो उ ॥
कसाय-विकहा-वियडे, इंदिय-णिह-पमायपंचविहे ।”

जा सा अपमत्तपडिसेवा सा दुविहा—अणाभोगा
आहच्चओ य । चरिमा णाम अप्पमत्तपडिसेवा ।”अतिवात-
लक्खणो दप्पो । अनुपयोगलक्खणो प्रमादः ।”कारणावेक्ख
अकप्पसेवणा कप्पो । उवओगपुव्वकरणक्रियालक्खणो
अप्रमादः ।”अणाभोगो णाम अत्यंतविस्मृतिः ।”भूयत्थो
णाम विआर-विहार-संथार-भिकखादि संजमसाहिका किरिया ।
(निभा ९०-९२, ९५-९७, १०३, १०४ चू)

प्रतिसेवना के चार प्रकार हैं—दर्पप्रतिसेवना, कल्पप्रतिसेवना,
प्रमत्तप्रतिसेवना और अप्रमत्तप्रतिसेवना ।

अप्रमत्त प्रतिसेवना के दो प्रकार हैं—

० अनाभोग प्रतिसेवना—जो कषाय, विकथा आदि किसी भी
प्रकार के प्रमाद में सम्प्रयुक्त नहीं है तथा भूतार्थ—विचारभूमिगमन,
विहार, संस्तरक, भिक्षा आदि संयमसाधिका क्रियाओं को करता
हुआ प्राणातिपात नहीं करता है किन्तु ईर्ष्या आदि समितियों में
अत्यंत विस्मृति के कारण उपयुक्त नहीं है—यह अनाभोग
प्रतिसेवना है । यद्यपि इसमें प्राणातिपात नहीं होता, फिर भी
अनुपयुक्तभाव के कारण यह प्रतिसेवना है ।

० सहसाकार प्रतिसेवना—मुनि ने पहले चक्षु से स्थान की प्रतिलेखना
की, उस समय वहां कोई प्राणी नहीं था । पैर रखते समय पूर्व
प्रतिलेखित स्थान पर प्राणी को देखता है किन्तु वह पैर को ऊपर
रखने में असमर्थ है, तब वह जानता हुआ भी परवशता के कारण
उस प्राणी पर पैर रख देता है—यह सहसाकार प्रतिसेवना है ।

संक्षेप में प्रतिसेवना के दो ही भेद हैं—

१. प्रमत्त की दर्पप्रतिसेवना । २. अप्रमत्त की कल्पप्रतिसेवना

दर्प का लक्षण है—निष्कारण सावद्य प्रवृत्ति । कल्प का
लक्षण है—सकारण सावद्य प्रवृत्ति । प्रमाद का लक्षण अनुपयोगयुक्त
प्रवृत्ति और अप्रमाद का लक्षण उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति है ।

जैसे अप्रमत्त मुनि द्वारा प्राणवध होने पर भी वह अप्रमाद
के कारण अवधक होता है, वैसे ही प्रमत्त मुनि द्वारा प्राणातिपात न

होने पर भी प्रमाद के कारण वह वधक होता है ।

पांच समितियों से समित गुणसम्पन्न मुनि जब कायिक
प्रवृत्ति करता है, तब विस्मृति से या सहसा उसके द्वारा यदि प्राणी
की विराधना हो जाती है, तो भी वह स्पष्टतः अबंधक है ।

प्रमाद प्रतिसेवना के पांच प्रकार हैं—कषाय, विकथा, मद्य,
इन्द्रिय और निद्रा प्रमाद ।

५. कल्प प्रतिसेवना के स्थान : अपवादपद

जे सुत्ते अवराहा, पडिकुट्टा ओहओ य सुत्तत्थे ।
कप्पंति कप्पियपदे, मूलगुणे उत्तरगुणे य ॥
हत्थादिवातणंतं, सुत्तं ओहो तु पेढिया होति ।
विधिसुत्तं वा ओहो, जं वा ओहे समोतरति ॥

”ओहो निसीहपेढिया, तत्थ जे गाहासुत्तेण वा अत्थेण
वा अत्था पडिसेधिता ।”सामातियादिविधिसुत्तं भण्णति, तत्थ
जे अत्था पडिसिद्धा ।”उस्सग्गो ओहो ति वुत्तं भवति । तत्थ
सव्वं कालियसुत्तं ओयरति ।”एयम्मि ओहे जे अत्था”
णिवारिया ते ‘कप्पंति’ कप्पियाए, ते अववायपदेत्थर्थः ।

(निभा ४६१, ४६२ चू)

निशीथ के प्रथम उन्नीस उद्देशकों के हस्तकर्म (नि १/१)
से वाचनापर्यंत (नि ११/३७) सूत्रों में, निशीथपीठिका के गाथासूत्रों
या अर्थों में, सामायिक आदि विधिसूत्रों में तथा ओघसूत्रों—
उत्सर्गविधिप्ररूपक कालिकसूत्रों में जिन अपराधपदों का प्रतिषेध
किया गया है, उनका प्रशस्त आलंबनपूर्वक आचरण करना कल्प-
प्रतिसेवना है और वह अपवादमार्ग है । अपवादपद मूलगुणों और
उत्तरगुणों से संबंधित हैं ।

६. दर्प और कल्प प्रतिसेवना के प्रकार

दप्प अकप्प निरालंब, चियत्ते अप्पसत्थ वीसत्थे ।
अपरिच्छ अकडजोगी, अणाणुतावी य णिस्संको ॥
दंसण-नाण-चरित्ते, तव-पवयण-समिति-गुत्तिहेउं वा ।
साहम्मियवच्छल्लेण वावि कुलतो गणस्सेव ॥
संघस्सायरियस्स य, असहुस्स गिलाण-बालबुड्डस्स ।
उदयगि-चोर-सावय, भय-कंतारावती वसणे ॥
एयन्तरागाढे, सदंसणे नाण-चरण-सालंबो ।
पडिसेविउं कयाई, होति समत्थो पसत्थेसु ॥

(व्यभा ४४६२, ४४६४-४४६६)

वायामवगणादी, णिक्कारणधावणं तु दप्यो तु ।
 कायापरिणयगहणं, अकप्यो जं वा अगीतेणं ॥
 णिक्कारणपडिसेवा, अपसत्थालंबणा य जा सेवा ।.....
 जं सेवितं तु बित्तिं, गेलण्णाइसु असंथरंतेणं ।
 हट्ठो वि पुणो तं, चिय चियत्तकिच्चो णिसेवंतो ॥
जो अविस्सुद्धं, णिसेवते वण्णमादट्ठो ॥
परपक्खे सपक्खे वा वीसत्था सेवगमलज्जे ॥
 अपरिक्खिउमायवए, णिसेवमाणो तु होति अपरिच्छं ।
 तिगुणं जोगमकातुं बित्तियासेवी अकडजोगी ॥

(निभा ४६४, ४६७-४७१)

.....पवयणे, विणहुस्स विउळ्वणा चेव ॥

जहा विणहुअणगारो, तेण रुसिएण लक्खजोयणप्प-
 माणं विगुच्चियं रूवं । (निभा ४८७ चू)

० दर्प प्रतिसेवना—इसके दस प्रकार हैं—

१. दर्प—निष्कारण व्यायाम, वल्गन, धावन आदि करना ।
२. अकल्प—सचित्त पृथ्वी आदि का ग्रहण, अगीतार्थ द्वारा आनीत उपधि, आहार आदि का उपभोग ।
३. निरालंब—निष्कारण और अप्रशस्त आलंबन से प्रतिसेवना करना ।
४. त्यक्तकृत्य—ग्लान आदि अवस्था में अपेक्षा होने पर जिसका सेवन किया, स्वस्थ होने के बाद भी उसका सेवन करना ।
५. अप्रशस्त—बल, वर्ण आदि के निमित्त प्रतिसेवना करना ।
६. विश्वस्त—अकृत्य कर स्वपक्ष-परपक्ष से लज्जित नहीं होना ।
७. अपरीक्ष्य—लाभ-हानि की परीक्षा किए बिना प्रतिसेवना करना ।
८. अकृतयोगी—तीन बार गवेषणा किए बिना, प्रथम बार या दूसरी बार में ही अनेषणीय का ग्रहण करना ।
९. अननुतापी—दोषाचरण करके भी पश्चात्ताप न करना ।
१०. निःशंक—निर्भय होकर प्रतिसेवना करना ।

० कल्पप्रतिसेवना—इसके चौबीस प्रकार हैं—

१. दर्शन—दर्शनप्रभावक ग्रंथों का अध्ययन करते समय अपेक्षा होने पर प्रतिसेवना करना ।
२. ज्ञान—सूत्र-अर्थ का अध्ययन करते समय प्रतिसेवना करना ।
३. चारित्र—अनेषणा आदि दोषों से चारित्र की रक्षा के लिए अन्यत्र गमन-काल में की जाने वाली प्रतिसेवना ।

४. तप—विकृष्टतप हेतु घृतपान आदि करना ।

५. प्रवचन—शासन रक्षा हित प्रतिसेवना करना । जैसे विष्णु अनगर ने एक लाख योजन की विक्रिया की ।

६. समिति—ईयांसमिति आदि की रक्षा के लिए आंख की सावद्य चिकित्सा करवाना आदि ।

७. गुप्ति—मनोगुप्ति आदि की रक्षा हेतु अकल्प्य सेवन ।

८-१६. साधर्मिक वात्सल्य, कुलकार्य, गणकार्य, संघकार्य तथा आचार्य, असहिष्णु, ग्लान, बालदीक्षित एवं वृद्धदीक्षित की समाधि—इन निमित्तों से वशीकरण, मंत्र, निमित्त आदि का प्रयोग करना ।

१७-२४. जल, अग्नि, चोर, रवापद, म्लेच्छभय, अटवीमार्ग, विपदा (द्रव्य आदि का अभाव), व्यसन—इन कारणों से बचने के लिए यतना से प्रतिसेवना करना ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र के आलम्बन से, आगाढ कारण उत्पन्न होने पर अकल्प की प्रतिसेवना करने वाला कदाचित् प्रशस्त प्रयोजन सम्पादित करने में समर्थ हो जाता है, इस कारण से यह कल्पिका प्रतिसेवना है ।

७. परिग्रह दर्पिका-कल्पिका प्रतिसेवना

सुहुमो य बादरो य, दुविहो लोउत्तरो समासेणं ।
 कागादि साण गोणे, कप्पटुग रक्खण ममत्ते ॥
 सेहादी पडिकुट्टो, सच्चित्ते अणेसणादि अच्चित्ते ।
 ओरालिए हिरण्णे, छक्काय परिग्गहे जं च ॥
वत्थादिगतं ण उ गणेति ॥
 ओगासे संथारो, उवस्सय-कुल-गाम-णगर-देस-रज्जे य ।.....
 कालादीते काले, कालविवच्चास कालतो अकाले ।.....
 भावंमि रागदोसा, उवधीमादी ममत्त णिक्खित्ते ।.....

(निभा ३८०, ३८१, ३८५-३८८)

परिग्रह दर्पिका प्रतिसेवना के दो प्रकार हैं—

१. सूक्ष्म परिग्रह—ईषद् ममत्वभाव ।
२. बाद परिग्रह—तीव्र ममत्वभाव ।

अथवा परिग्रहप्रतिसेवना के चार प्रकार हैं—

द्रव्य परिग्रह—आहार आदि के पास आने पर या स्वयं को काटने पर कौओं, कुत्तों, शृगाल, बैल आदि को हटाना । बच्चों की रखवाली करना, स्वजन आदि पर ममत्व करना ।

प्रतिषिद्ध अयोग्य व्यक्ति को प्रव्रजित करना, अनाभाव्य (अनधिकृत) व्यक्ति को दीक्षित करना, अनेषणीय अचित्त वस्तु ग्रहण करना, सोने के आभूषण या सोना आदि लेना, छह जीविकाय ग्रहण करना परिग्रह है। वस्त्र आदि धर्मोपकरण परिग्रह नहीं माने जाते। महामूल्यवान् और मर्यादा से अतिरिक्त ग्रहण करना तथा मूर्च्छा से उनका परिभोग करना परिग्रह है।

- ० क्षेत्र परिग्रह—उपाश्रय, उसका रमणीय एवं वायुप्रधान भाग, संस्तारक भूमि, कुल, ग्राम, नगर, देश (सिंधु, सौराष्ट्र आदि), राज्य—इन क्षेत्रों में ममत्व करना।
- ० काल परिग्रह—मर्यादा से अधिक समय तक एक स्थान में रहना, काल-विपर्यास करना (दिन में विहार नहीं करना, रात्रि में करना), काल से अकाल (वर्षाकाल) में विहार करना।
- ० भाव परिग्रह—उपधि आदि पर ममत्व करना, चोर के भय से उपधि को छिपाकर रखना। राग-द्वेष से भाव परिग्रह होता है।

अणभोगा अतिरिक्तं, वसेज्ज अतरंतो तप्पडियरा वा।.....

सप्पडियरो परिण्णी, वास तदद्दा व गम्भते वासे।.....

(निभा ४०४, ४०६)

परिग्रह कल्पिका प्रतिसेवना के अनेक कारण हैं, जैसे—

- ० अनाभोग—अत्यंत विस्मृति या अनुपयोग के कारण एक स्थान पर सीमा से अधिक रहना।
- ० ग्लान—ग्लान में विहार करने का सामर्थ्य न होना। रोगी के परिचारकों का अतिरिक्त रहना आदि।
- ० उत्तमार्थ—अनशनधारी और उसका वैयावृत्य करने वाले एक स्थान पर अतिरिक्त काल तक रह सकते हैं अथवा उसकी परिचर्या हेतु वर्षाकाल में भी अन्यत्र जा सकते हैं।

८. मिश्र प्रतिसेवना और उसके प्रकार

सालंबो सावज्जं, णिसेवते णाणुत्तप्पते पच्छा।
जं वा पमादसहिओ, एसा मीसा तु पडिसेवा॥
दप्पपमादाणाभोगा आतुरे आवतीसु य।
तित्तिणे सहसक्कारे, भयप्पदोसा य वीमंसा॥

(निभा ४७५, ४७७)

ज्ञान आदि का प्रशस्त आलम्बन लेकर जो सावद्य आचरण करता है, किन्तु उसका पश्चात्ताप नहीं करता—यह मिश्र प्रतिसेवना

है। इसमें सालंब पद शुद्ध और अननुतापी पद अशुद्ध है।

किसी प्रमाद से जो प्रतिसेवना की जाती है, वह अशुद्ध है और उसका अनुताप कर लिया जाता है, वह शुद्ध है। इस प्रकार पश्चात्तापयुक्त प्रमादप्रतिसेवना भी मिश्र प्रतिसेवना है।

मिश्र प्रतिसेवना के दस प्रकार हैं—दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आतुर, आपद्, तित्तिण, सहसाकार, भय, प्रद्वेष और विमर्श (परीक्षा)।

- ० दर्प—निष्कारण प्रतिसेवना करना।
- ० प्रमाद और अनाभोग के कारण प्रतिसेवना करना।
- ० आतुर—क्षुधा-पिपासा-परीषह से अथवा ज्वर, श्वास आदि से बाधित होने पर की जाने वाली प्रतिसेवना।
- ० आपद्—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव संबंधी आपदा में शुद्ध द्रव्य आदि के प्राप्त न होने पर की जाने वाली प्रतिसेवना।
- ० तित्तिण—पदार्थ की अप्राप्ति पर असंतोष व्यक्त करने के लिए तिनतिनाहट कर की जाने वाली प्रतिसेवना।
- ० सहसाकार—सहसा अयतना से होने वाली प्रतिसेवना।
- ० भय—राजा के भय से निषिद्ध कार्य करना। सिंह आदि के भय से वृक्ष पर चढ़ जाना आदि।
- ० प्रद्वेष—कषायों के वशीभूत होकर की जाने वाली प्रतिसेवना।
- ० विमर्श—परीक्षा के निमित्त की जाने वाली प्रतिसेवना।

इसमें जो पश्चात्तापरहित सालंब प्रतिसेवना है या पश्चात्ताप-सहित प्रमाद प्रतिसेवना है, वह मिश्र प्रतिसेवना है।

९. दर्पिका और कल्पिका में अन्तर

रागदोसाणुगता तु, दप्पिया कप्पिया तु तदभावा।

आराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पेणं॥

(निभा ३६३)

- ० दर्पिका—यह प्रतिसेवना राग-द्वेष से अनुगत है, निष्कारण की जाती है। इसका प्रतिसेवी विराधक (आचारविनाशक) होता है।
- ० कल्पिका—इस प्रतिसेवना में राग-द्वेष का अभाव होता है। यह सप्रयोजन की जाती है। इसका प्रतिसेवी आराधक होता है।

कज्जाकज्ज जताजत, अविजाणंतो अगीतो जं सेवे।

सो होति तस्स दप्पो, गीते दप्पाज्जते दोसा॥

(व्यभा १७१)

अगीतार्थ कार्य-अकार्य तथा यतना-अयतना को नहीं जानता

हुआ जो प्रतिसेवना करता है, वह उसकी दर्पिका प्रतिसेवना है। गीतार्थ भी दर्पिका अथवा अयतना से कल्पिका प्रतिसेवना करता है तो वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है।

१०. गूढ पदों में प्रतिसेवना-प्रायश्चित्त-कथन

पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवितं होज्जा ।
पढमे छक्के अड्ढिभतरं तु पढमं भवे ठाणं ॥
बितियस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवियं होज्जा ।
पढमे छक्के अड्ढिभतरं तु पढमं भवे ठाणं ॥
पढमं कज्जं नामं, निक्कारणादप्यतो पढमं पदं ।
पढमे छक्के पढमं, पाणऽइवाओ मुणोयव्वो ॥
एवं तु मुसावाओ, अदिन्न-मेहुण-परिग्गहे चेव ।
बिति छक्के पुढवादी, तति छक्के होयऽकप्पादी ॥
पढमस्स य कज्जस्सा, दसविहमालोयणं निसामेत्ता ।
नक्खत्ते भे पीला, सुक्के मासं तवं कुणसु ॥
एवं ता उग्घाए, अणुघाते ताणि चेव किण्हमि ।
मासे चउमास-छमासियाणि..... ॥

(व्यभा ४४६८, ४४७५, ४४८१, ४४८२, ४४९०, ४४९३)

प्रतिसेवना संबंधी गूढ पद—यहां प्रथम कार्य से तात्पर्य है—दर्प प्रतिसेवना और प्रथम पद का अर्थ है—निष्कारण दर्प (दशविध दर्पप्रतिसेवना का प्रथम भेद) से सेवित। द्वितीय कार्य का अर्थ है—कल्पप्रतिसेवना और उसके प्रथम पद का अर्थ है—दर्शन (कल्पिका के चौबीस प्रकारों में प्रथम प्रकार) के निमित्त प्रतिसेवित।

दोषसेवन के तीन षट्क—अठारह स्थान हैं—

० प्रथम षट्क का अर्थ है—व्रतषट्क—प्राणातिपात विरमण से रात्रिभोजनविरमण पर्यंत। इनमें प्रथम स्थान है—प्राणातिपात।

० द्वितीय षट्क का अर्थ है—कायषट्क—पृथ्वीकाय आदि।

० तृतीय षट्क का अर्थ है—अठारह में अंतिम छह स्थान (अकल्प, गृहिपात्र, पर्यक, निषद्या, स्नान और शोभा)।

गूढ पदों में प्रायश्चित्त—आलोचनाहर्ह आचार्य प्रथम कार्य (दर्प) संबंधी दशविध (दर्पप्रतिसेवना के दर्प आदि दस भेद) आलोचना को सुनकर शिष्य से कहते हैं—नक्षत्र (मास) जितने प्रायश्चित्त से शुद्धि हो सके, उतनी व्रत की पीड़ा हुई है (दोष सेवन किया है), अतः तुम शुक्ल (लघु) मासिक तप करो। इसी प्रकार प्रतिसेवना

के अनुरूप कृष्ण (गुरु) मासिक, चातुर्मासिक या षण्मासिक तप करो—यह उद्घात-अनुद्घात (लघु-गुरु) प्रायश्चित्त है।

११. शठ-अशठ भाव से प्रतिसेवना

कप्पम्मि अकप्पम्मि य, जो पुण अविणिच्छित्तो अकज्जं पि ।
कज्जमिति सेवमाणो, अदोसवं सो असढभावो ॥
जं वा दोसमजाणंतो, हेहंभूतो निसेवती ।
होज्ज निदोसवं केण, विजाणंतो तमाघरं ॥
(व्यभा १७४, १७५)

जो निश्चय नहीं कर पाता कि यह कल्प्य है या अकल्प्य, वह अकल्प्य का कल्पिक बुद्धि से सेवन करता हुआ भी दोष का भागी नहीं होता। इसका हेतु है उसका अशठभाव।

(.....समियं ति षण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा, समिया होइ उवेहाए।—आयारो ५/९६

व्यवहार वास्तव में सम्यग् हो या असम्यग्, किन्तु सम्यग् मानने वाले के मध्यस्थ भाव के कारण वह सम्यग् होता है।)

जिसे गुण और दोष का विवेक नहीं है, वह दोष को नहीं जानता हुआ अशठभाव से प्रतिसेवना करता है, वह निर्दोष है। किन्तु जो जानता हुआ भी उस दोष का सेवन करता है, वह निर्दोष कैसे हो सकता है? जानता हुआ व्यक्ति अध्यवसाय की मलिनता के कारण ही दोष का सेवन करता है, वह निर्दोष नहीं हो सकता।

१२. विराधना या प्रतिसेवना का हेतु

किध भिक्खू जयमाणो, आवज्जति मासियं तु परिहारं ।
कंटगपहे व छलणा, भिक्खू वि तहा विहरमाणो ॥
तिक्खम्मि उदगवेगे, विसमम्मि व विज्जलम्मि वच्चंतो ।
कुणमाणो वि पयत्तं, अवसो जह पावए पडणं ॥
तह समण-सुविहियाणं, सव्वपयत्तेण वी जतंताणं ।
कम्मोदयपच्चइया, विराहणा कस्सइ हवेज्जा ॥
(व्यभा २२२-२२४)

शिष्य ने पूछा—भते! यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला भिक्षु मासिक आदि प्रायश्चित्त क्यों प्राप्त करता है?

आचार्य ने कहा—जैसे कंटकाकीर्ण पथ में सावधानीपूर्वक चलने वाले पथिक के पैर भी कांटों से बिंध जाते हैं, तीव्र जलप्रवाह, विषम-दुर्गम, मार्ग या पंकिलमार्ग में प्रयत्नपूर्वक चलने

वाला व्यक्ति भी फिसल जाता है—यह उसकी विवशता है। वैसे ही सर्वप्रयत्न से यतनाशील सुविहित श्रमण भी कर्मोदयप्रत्यधिक विराधना कर लेता है। इसलिए वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है।

असिधे ओमोदरिण्, रायदुद्रे भये य गेलण्णे।
अद्धाणरोधे वा, कप्पिया तीसु वी जतणा॥
(निभा ४५८)

अशिव (देवकृत उपद्रव या महामारी प्रकोप), दुर्भिक्ष, प्रशासन की प्रतिकूलता, चोर आदि का भय, रुग्णता, बीहड़ मार्ग, नगररोध (नगरबंद)—इन स्थितियों में निर्दोष आहार न मिलने पर यतनापूर्वक सदोष को भी ग्रहण कर लिया जाता है।

१३. प्रतिसेवना और कर्म

अन्ना वि हु पडिसेवा, सा तु न कम्मोदण जा जयतो।
सा कम्मक्खयकरणी, दप्पाज्जत कम्मजणणी उ॥
पडिसेवणा उ कम्मोदण कम्ममवि तं निमित्तागं।
अण्णोण्णहेउसिद्धी, तेसिं बीयंकुराणं व॥
(व्यभा २२५, २२६)

एक अन्य प्रतिसेवना भी है, जो कर्मोदयहेतुक नहीं होती। कारण उपस्थित होने पर यतनापूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना कर्मक्षय करने वाली होती है। दर्पिका प्रतिसेवना और अयतना से की जाने वाली कल्पिका प्रतिसेवना भी कर्मबंध का हेतु है।

कर्मोदय से प्रतिसेवना होती है और प्रतिसेवना से कर्मबंध होता है अतः प्रतिसेवना और कर्म में बीज और अंकुर की तरह परस्पर हेतु-हेतुमद्भाव स्वतः सिद्ध है।

१४. कल्पिका प्रतिसेवना भी सावद्य

मूलगुणउत्तरगुणोसु पुव्वं पडिसेहो भणितो ततो पच्छा
कारणे पडिसेहस्सेव अणुण्णा भणिता। तो जा सा अणुण्णा
किमेगंतेण सेवणिज्जा उत षोति? आयरियाह—

कारणपडिसेवा वि य, सावज्जा णिच्छए अकरणिज्जा।
बहुसो विचारइत्ता अधारणिज्जेसु अत्थेसु॥
.....अकर्त्तव्या येऽर्थाः ते अवहारणीया.....जइ अण्णो
णत्थि णाणातिसंधणोवाओ तो वियारेऊण अप्पबहुत्तं
अधारणिज्जेसु अत्थेसु प्रवर्त्तितव्यमित्यर्थः। (निभा ४५९ चू)

मूलगुण-उत्तरगुण संबंधी जिन दोषों का पहले प्रतिषेध

किया गया है, तत्पश्चात् प्रयोजन होने पर उसी प्रतिषेध की अनुज्ञा दी गई है, तो जो वह अनुज्ञा है, क्या वह एकांत रूप से सेवनीय है अथवा नहीं है?

आचार्य ने कहा—प्रयोजनवश जिस प्रतिसेवना की अनुज्ञा दी गई है, वह सावद्य—बंधन का कारण है, अतः परमार्थ दृष्टि से वह अकरणीय ही है। अकरणीय कृत्य परिहरणीय हैं। कारण उत्पन्न होने पर यदि यह निश्चय हो जाए कि ज्ञान आदि के संधान का दूसरा कोई उपाय नहीं है, तब पुनः-पुनः विचारणा कर, दोषसेवन और हानि-लाभ के अल्पबहुत्व का गहराई से विमर्श कर अकरणीय कृत्यों में प्रवृत्त होना चाहिए।

० अप्रतिसेवी दृढधर्मी

जति वि य समणुण्णाता, तह वि य दोसो ण वज्जणे दिट्ठो।
दढधम्मता हु एवं, णाभिक्खणिसेव-णिहयता॥
(निभा ४६०)

यद्यपि कल्पिका प्रतिसेवना अपवादरूप में अनुज्ञात है, फिर भी उसका वर्जन करने में आज्ञाभंग आदि कोई भी दोष दृष्ट नहीं हैं, प्रत्युत् इससे अप्रतिसेवी की दृढधर्मिता परिलक्षित होती है। वह बार-बार होने वाले प्रतिसेवना के दोषों से बच जाता है और जीवों के प्रति उसका निर्दयतापूर्ण व्यवहार नहीं होता। अतः कल्पिका प्रतिसेवना का प्रयोग भी सहसा नहीं करना चाहिए।

१५. बकुश प्रतिसेवना और सचारित्र तीर्थ

मूलगुण उत्तरगुणा, जम्हा भंसंति चरणसेठीतो।
तम्हा जिणेहि दोण्णि वि, पडिसिद्धा सव्वसाहूणं॥
अग्गघातो हणे मूलं, मूलघातो य अग्गयं।
तम्हा खलु मूलगुणा, न संति न य उत्तरगुणा उ॥
चोदग छक्कायाणं, तु संजमो जाऽणुधावते ताव।
मूलगुण उत्तरगुणा, दोण्णि वि अणुधावते ताव॥
इत्तरिसामाइय छेद संजम तह दुवे नियंठा य।
बउस-पडिसेवगाओ, अणुसज्जंते य जा तित्थं॥
(व्यभा ४६५-४६८)

जहा तालदुमस्स अग्गसूतीए हताए मूलो हतो च्चेव, मूले
वि हते अग्गसूती हता। (निभा ६५३१ की चू)

मूलगुण और उत्तरगुण पृथक्-पृथक् या युगपद् अतिचरित

होने पर वे साधुओं को संयमश्रेणि से भ्रष्ट करते हैं, इसलिए अर्हतों ने दोनों के अतिचारों का निषेध किया है।

मूलगुणों के नष्ट होने पर मूलगुण और उत्तरगुण तथा उत्तरगुणों के विनष्ट होने पर मूलगुण भी विनष्ट होते हैं। जैसे तालद्रुम के अग्र पर किया गया आघात मूल का और मूल पर किया गया आघात अग्र का विनाश कर देता है।

भंते! किसी एक गुण की प्रतिसेवना से मूल और उत्तर—दोनों गुणों का अभाव होने से संयम का ही अभाव हो जाएगा और तब क्या तीर्थ चारित्रविहीन नहीं हो जाएगा? गुरु ने कहा—शिष्य! जब तक छहजीवनिकाय के प्रति संयम का अनुवर्तन होता है, तब तक मूल और उत्तर दोनों गुण प्रवर्तित होते हैं।

मूलगुण-उत्तरगुण होने पर इत्वरिक सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र—दोनों होते हैं और जब तक तीर्थ है, तब तक बकुश (उत्तरगुणप्रतिसेवी) और प्रतिसेवक (मूलगुणप्रतिसेवी) निर्ग्रन्थ होते हैं, इससे तीर्थ अचारित्र नहीं होता।

प्रवचन—जिनशासन, द्वादशांग—

.....दुवाल्संगं पवचणं तु॥ (व्यभा २६२९)

पवचणं चाउवण्णो समणसंघो । साहु-साहुणि-सावग-साविगा.....। (निभा ४३४१ की चू)

साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—यह चतुर्विध श्रमणसंघ प्रवचन कहलाता है। (द्र श्रीआको १ प्रवचन/तीर्थ)

* प्रवचन-स्थिरीकरण सूत्र द्र जिनशासन

प्रातिहारिक—लौटाने योग्य वस्तु, मुनि द्वारा गृहीत वह वस्तु जिसका गृहस्थ को प्रत्यर्पण किया जा सके।

जम्मि कुले गहितो संशारयो तस्स पच्चप्पिणंत्स म्मि जं धारणं सो पाडिहारितो.....। (निभा १३०० की चू)

जिस घर से संस्तारक ग्रहण किया है, मासकल्प आदि कालावधि पूर्ण होने पर उसी घर में उसे लौटाना है—इस अवधारणा के साथ जो वस्तु ली जाती है, वह प्रातिहारिक कहलाती है।

गिहिसंतिं उवकरणं पडिहरणीयं पाडिहारितं। (निभा ३३४ की चू)

गृहस्थ का वह उपकरण (प्रयोजनविशेष या अस्थायी रूप

से गृहीत पट्ट, फलक, पुस्तक आदि), जो प्रयोजन पूर्ण होने पर मुनि द्वारा प्रतिहरणीय/प्रत्यर्पणीय है, प्रातिहारिक कहलाता है।

* संस्तारक-प्रत्यर्पणविधि द्र शय्या
अपाडिहारियं श्रावरं। (निभा ६९३ की चू)
स्थायी रूप से गृहीत वस्तु अप्रातिहारिक है।

प्रायश्चित्त—दोष-विशुद्धि के लिए किया जाने वाला प्रयत्न।

१. प्रायश्चित्त के निर्वचन, एकार्थक
२. परिहारस्थान ही प्रायश्चित्तस्थान
३. प्रायश्चित्त राशि की उत्पत्ति : असंख्य असंयमस्थान
४. प्रतिसेवना ही प्रायश्चित्त
५. प्रायश्चित्त के दस प्रकार
 - * आलोचना प्रायश्चित्त के स्थान द्र आलोचना
६. प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त के स्थान
 - ० तदुभय प्रायश्चित्त के स्थान
७. विवेकाई प्रायश्चित्त
८. व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त के स्थान
९. तपयोग्य प्रायश्चित्त
 - ० प्रतिक्रमण और तप प्रायश्चित्त कब ?
 - ० तप और छेद के योग्य प्रायश्चित्तस्थान
 - ० तप और छेद के स्थान तुल्य
 - * बिना आज्ञा भिक्षाटन से प्रायश्चित्त द्र आज्ञा
१०. देशछेद-सर्वछेद : प्रायश्चित्त के सात प्रकार
 - * परिहार और छेद द्र परिहारतप
११. मूल प्रायश्चित्त (नई दीक्षा) के स्थान
 - ० छेद व मूल में अंतर : प्रायश्चित्त के आठ प्रकार
 - * अनवस्थाप्य और पारांचित : मूल से विलक्षण द्र पारांचित
१२. साध्वी को अनवस्थाप्य-पारांचित नहीं
१३. त्रिविध प्रायश्चित्त : दान आदि
 - ० दान प्रायश्चित्त : तीन आदेश
 - ० काल और तप प्रायश्चित्त : गुरु भी लघु
१४. उद्घातिक-अनुद्घातिक (लघु-गुरु) प्रायश्चित्त
 - ० अनुद्घात के स्थान
 - ० उद्घात-अनुद्घात के स्तर
 - ० गुरु-लघु प्रायश्चित्त के दो हेतु
 - * निशीथ में चतुर्विध प्रायश्चित्त

* प्रायश्चित्तसूत्रों का परिमाण	द्र छेदसूत्र
१५. स्थविरकल्पी : अनाचारजन्य तप प्रायश्चित्त	
* सापेक्ष-निरपेक्ष के प्रायश्चित्त में अंतर	द्र स्थविरकल्प
○ अतिक्रम चतुष्क : मासगुरु आदि	
○ सूक्ष्म-द्वादर प्रायश्चित्त	
○ विषयराग से गुरु प्रायश्चित्त	
* प्रथम पांच शबल : गुरु प्रायश्चित्त	द्र चारित्र
१६. राग-द्वेष की वृद्धि से प्रायश्चित्त-वृद्धि	
१७. प्रायश्चित्तवृद्धि के प्रकार : स्वस्थान-परस्थान	
○ स्थान के आधार पर प्रायश्चित्तवृद्धि	
१८. मासलघु आदि : प्रतीकाक्षर	
१९. प्रायश्चित्त व्यवहार के चार प्रकार	
○ पृथ्वीकायविराधना और प्रायश्चित्त	
२०. प्रायश्चित्त (व्यवहार) : गुरु-लघु-लघुस्वक	
२१. प्रायश्चित्त के भेद : प्रतिसेवना आदि	
* प्रतिसेवना का स्वरूप	द्र प्रतिसेवना
२२. संयोजना प्रायश्चित्त	
२३. आरोपणा प्रायश्चित्त : स्वरूप और प्रकार	
○ स्थापना-आरोपणा क्या ? क्यों ?	
○ आरोपणा छह मास की क्यों ? धान्यपिटक दृष्टांत	
○ विषम प्रायश्चित्त : तुल्य विशोधि	
○ शासनभेद और उत्कृष्ट प्रायश्चित्त	
○ उत्कृष्ट प्रायश्चित्त : जीत व्यवहार	
○ गीतार्थ के प्रायश्चित्त में स्थापना-आरोपणा नहीं	
○ वणिक्-मरुक और निधि दृष्टांत	
○ कृत्न आरोपणा के छह प्रकार	
○ अनुग्रह कृत्न और निरनुग्रह कृत्न प्रायश्चित्त	
○ दुर्बल को प्रायश्चित्त कम क्यों ?	
२४. प्रतिकुचना प्रायश्चित्त	
○ ऋजुता से आलोचना : न्यून प्रायश्चित्त	
२५. प्रायश्चित्तदान के अधिकारी	
* ...प्रायश्चित्तदान की समानता	द्र व्यवहार
* आज्ञा-व्यवहार : गूढपदों में प्रायश्चित्त	द्र प्रतिसेवना
२६. दोष स्वीकृति के बिना प्रायश्चित्त नहीं	
२७. दोषों के एकत्व के हेतु	
* आगमव्यवहारी : आलोचना श्रवण.....	द्र आलोचना
○ जिन : घृतकुट दृष्टांत	

○ पूर्वधर : नालिका दृष्टांत	
२८. प्रायश्चित्त में नानात्व और विशोधि : घट-पट दृष्टांत	
२९. न्यूनाधिक प्रायश्चित्त : रत्नवणिक् दृष्टांत	
३०. सदृश अपराध में विसदृश दंड : कुमार दृष्टांत	
३१. पुरुषभेद से प्रायश्चित्त में भेद	
३२. प्रायश्चित्तवाहक के प्रकार : कृतकरण आदि	
○ निर्गत-वर्तमान, आत्मतरक-परतरक	
३३. छोटी त्रुटि की उपेक्षा : सारणि आदि दृष्टांत	
* प्रमादनवारण हेतु सारणा-वारणा	द्र आचार्य
३४. अप्रमत्त भी प्रायश्चित्तभागी	
३५. निर्ग्रथ-संयत : कितने प्रायश्चित्त ?	
३६. कर्मबंध हेतुक प्रवृत्ति और प्रायश्चित्त	
३७. पूर्व-उत्तर प्रायश्चित्त, उपस्थापना आदि में अंतर	
३८. प्रायश्चित्त का प्रयोजन : चारित्र संरक्षण आदि	
३९. अपराध रोग : प्रायश्चित्त औषध	
४०. सापेक्ष-निरपेक्ष प्रायश्चित्त से तीर्थ-अव्यवच्छिति	
४१. कल्याणक प्रायश्चित्त के सापेक्ष विकल्प	
* कल्याणक प्रायश्चित्त की द्विरूपता	द्र कल्याणक
४२. प्रायश्चित्त एवं चारित्र कब तक ?	
○ वर्धकिरल और धनिक दृष्टांत	
* उत्सारण और प्रायश्चित्त	द्र उत्सारकल्प
* क्षिप्तचित्त : प्रायश्चित्त संबंधी आदेश	द्र चित्तचिकित्सा
* दिशापहार का प्रायश्चित्त	द्र दिग्बंध
* अशुभ संकल्पमात्र से प्रायश्चित्त	द्र प्रतिमा
* अविधि से सूत्रग्रहण और प्रायश्चित्त	द्र वाचना
* असामाचारीनिष्यन्न प्रायश्चित्त	द्र सामाचारी

१. प्रायश्चित्त के निर्वचन, एकार्थक

पावं छिंदति जम्हा, पायच्छित्तं तु भण्णते तेण ।
पाएण वा वि चित्तं, विसोहए तेण पच्छित्तं ॥
(व्यभा ३५)

जिससे संचित पापकर्म नष्ट होता है, वह प्रायश्चित्त है ।
जो चित्त का प्रायः विशोधन करता है, वह प्रायश्चित्त है ।
(प्रायो नाम तपः प्रोक्तं, चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपो निश्चयसंयोगात्, प्रायश्चित्तमितीर्यते ॥—आप्टे
'प्रायः' तपस्या का वाचक तथा 'चित्त' निश्चय अर्थात्

जीव का वाचक है। निश्चय का संयोग होने पर 'तप' प्रायश्चित्त कहलाता है।)

ववहारो आलोयण, सोही पच्छित्तमेव एगद्दा ।।.....

(व्यभा १०६४)

व्यवहार, आलोचना, शोध और प्रायश्चित्त—ये एकार्थक हैं।

२. परिहारस्थान ही प्रायश्चित्त स्थान

परिहारद्वाणं—परिहारो वज्जणं ति वुत्तं भवति। अहवा—परिहारो वहणं ति वुत्तं भवति, तं प्रायश्चित्तं ।।...इह प्रायश्चित्तमेव ठाणं। (नि २०/१ की चू)

परिहार का अर्थ है वर्जन अथवा वहन। वहन करने योग्य होता है प्रायश्चित्त, अतः प्रायश्चित्त ही परिहारस्थान है।

३. प्रायश्चित्तराशि की उत्पत्ति : असंख्य असंयमस्थान

असमाहीठाणा खलु, सबला य परीसहा य मोहम्मि। पलितोवम-सागरोवम, परमाणु ततो असंखेज्जा ॥

प्रायश्चित्तराशिः कुत उत्पन्नः ?.....असंख्यातानि देश-कालपुरुषभेदतोऽसमाधिस्थानानि.....एतेभ्योऽसंयमस्थानेभ्य एष प्रायश्चित्तराशिरुत्पद्यते,.....पल्योपमे सागरोपमे यावन्ति वालाग्राणि तावन्ति न भवन्ति, किन्तु व्यावहारिकपरमाणु-मात्राणि यानि वालाग्राणां खण्डानि तेभ्योऽसंख्येयानि ।।.....असंयमस्थानानि चोत्कर्षतोप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेश-प्रमाणानि। (व्यभा ४०१ वृ)

प्रायश्चित्तराशि कहां से उत्पन्न होती है? आचार्य कहते हैं—बोस असमाधिस्थान हैं, किन्तु देश, काल और पुरुष के भेद से वे असंख्य हो जाते हैं। इसी प्रकार इक्कीस शबल, बाईस परीषह, तीस मोहनीयस्थान—इन सभी असंयमस्थानों से प्रायश्चित्तराशि उत्पन्न होती है।

वे असंयमस्थान कितने हैं? आचार्य कहते हैं—पल्योपम और सागरोपम में जितने बालाग्र होते हैं, उतने ही असंयम स्थान नहीं हैं, किन्तु वे व्यावहारिक परमाणु जितने खंड वाले बालाग्रों से भी असंख्येय गुण अधिक हैं। उत्कृष्ट असंयमस्थान असंख्येय लोकाकाशप्रदेशप्रमाण हैं।

४. प्रतिसेवना ही प्रायश्चित्त

पडिसेवियम्मि दिज्जति, पच्छित्तं इहरहा उ पडिसेहे।

तेण पडिसेवणच्चिय, पच्छित्तं वा इमं दसहा ॥

'प्रतिसेविते' प्रतिषिद्धे सेविते...प्रतिसेवना प्रायश्चित्तस्य निमित्तमिति कारणे कार्योपचारात्...प्रतिसेवनारूपं प्रायश्चित्तमिदं दशधा। (व्यभा ५२ वृ)

प्रतिसेवना—प्रतिषिद्ध का आचरण करने पर प्रायश्चित्त दिया जाता है। अन्यथा प्रायश्चित्त का प्रतिषेध है। प्रतिसेवना प्रायश्चित्त का निमित्त है, इसलिए कारण में कार्य का उपचार कर प्रतिसेवना को ही प्रायश्चित्त कहा गया है।

प्रतिसेवनारूप प्रायश्चित्त के आलोचना आदि दस प्रकार हैं।

५. प्रायश्चित्त के दस प्रकार

आलोयण पडिकमणे, मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे।

तव-छेय-मूल-अणवडुया य पारंघिए चेव ॥

(व्यभा ५३)

प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं—

१. आलोचना—अपने दोषों का निवेदन। (द्र आलोचना)
२. प्रतिक्रमण—मिथ्या में दुष्कृतं—इसका उच्चारण।
३. तदुभय—दोनों—आलोचना और प्रतिक्रमण।
४. विवेक—अशुद्ध आहार आदि का परिष्ठापन।
५. व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग।
६. तप—अनशन आदि तप अथवा मासिक, चातुर्मासिक तप।
७. छेद—दीक्षापर्याय का छेदन।
८. मूल—पुनर्दीक्षा।
९. अनवस्थाप्य—तपस्यापूर्वक पुनर्दीक्षा। (द्र पारंघित)
१०. पारंघित—भर्त्सना एवं अवहेलनापूर्वक पुनर्दीक्षा।

* प्रायश्चित्त के स्थान, परिणाम.....द्र श्रीआको १ प्रायश्चित्त

(जीव के परिणाम असंख्येय लोकाकाशप्रदेशपरिमाण होते हैं। जितने परिणाम होते हैं, उतने ही अपराध होते हैं और जितने अपराध होते हैं, उतने ही उनके प्रायश्चित्त होने चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। प्रायश्चित्त के जो प्रकार निर्दिष्ट हैं, वे व्यवहार-नय की दृष्टि से पिंडरूप में निर्दिष्ट हैं। —तवा ९/२२)

६. प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त के स्थान

जो जत्थ उ करणिज्जो, उट्टाणादी उ अकरणे तस्स।

होति पडिक्कमियव्वं, एमेव य वाय-माणसिए ॥

अवराह अतिक्कमणे, वइक्कमे चेव तह अणाभोगे ।
भयमाणे उ अकिच्चं, पायच्छित्तं पडिक्कमणं ॥
अपराधे उत्तरगुणप्रतिसेवनरूपे.....अकृत्यमपि मूलोत्तर-
गुणप्रतिसेवनालक्षणं भजमाने । (व्यभा ९७, ९८ वृ)

मुनि आचार्य आदि के प्रति अभ्युत्थान आदि करणीय क्रियाएं नहीं करता है, तो उसे प्रतिक्रमण (मिच्छा मि दुक्कडं) प्रायश्चित्त करना होता है। इसी प्रकार मन और वचन संबंधी करणीय क्रियाओं को न करने पर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त आता है।

उत्तरगुणप्रतिसेवना रूप अपराध में अतिक्रम और व्यतिक्रम होने पर तथा अनजान में मूलगुण-उत्तरगुणप्रतिसेवना रूप अतिक्रमण होने पर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

० तदुभय प्रायश्चित्त के स्थान

संकिए सहसक्कारे भयाउरे आवतीसु य।
महव्वयातिथारे य, छण्हं ठाणाण बज्झतो ॥

इह केषाञ्चिद् अनवस्थितपारांचिते प्रायश्चित्ते द्वे अपि
एकं प्रायश्चित्तमिति प्रतिषत्तिः तन्मतेन नवथा प्रायश्चित्तम् ।
तत्र चाद्ये द्वे प्रायश्चित्ते मुक्त्वा शेषाणि सप्त प्रायश्चित्तानि,
तेषां च सप्तानां प्रायश्चित्तानां यदाद्यं प्रायश्चित्तं तद् उपरित-
नानां षण्णां बाह्ये नाभ्यन्तरमिति,यच्च तदुभयं तच्चेवं.....
प्रथमं गुरुणां पुरत आलोचनं, तदनन्तरं गुरुसमादेशेन मिथ्या-
दुष्कृतदानम् । (व्यभा ९९ वृ)

मैंने प्राणातिपात किया या नहीं? मैं असत्य बोला या नहीं?—इस प्रकार शंकित होने पर, सहसा दोष सेवन होने पर, भय, रोग तथा आपदाओं के समय दोष सेवन होने पर, महाव्रतों में सहसा अतिक्रम, व्यतिक्रम तथा अतिचार होने पर अथवा आशंका होने पर—इनमें तदुभय (आलोचना और प्रतिक्रमण) प्रायश्चित्त आता है। यह अंतिम छह प्रायश्चित्तों के भीतर नहीं है, बाह्य है।

कुछ आचार्य अनवस्थाप्य और पारांचित्त को एक मानकर प्रायश्चित्त के नौ भेद मानते हैं। प्रथम दो को छोड़कर शेष सात में प्रथम प्रायश्चित्त—'तदुभय' है। वह शेष छह से बाह्य है। तदुभय से आशय है—पहले गुरु के पास आलोचना करना, फिर गुरु के आदेश से 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहना।

७. विवेकाई प्रायश्चित्त

कडजोगिणा तु गहियं, सेज्जा-संधार-भत्त-पाणं वा ।
अफासु-अणोसणिज्जं, नाउ विवेगो उ पच्छित्तं ॥
(व्यभा १०८)

गीतार्थ मुनि शय्या-संस्तारक या आहार-पानी ग्रहण करता है और तत्पश्चात् किसी तरह से उसे ज्ञात हो जाता है कि ये वस्तुएं अप्रासुक और अनेषणीय हैं, तो उसे विवेक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (सदोष शय्या आदि का त्याग करना 'विवेक' है।)

....वसहि त्ति य कता, ठिएसु अतिसेसिय विवेगो ॥

अशठभावेन गिरिराहुमेधमहिकारजःसमावृते सवितरि
उद्गतबुद्ध्या अनस्तमितबुद्ध्या वा गृहीतमशनादिकं पश्चात्
ज्ञातमनुद्गते अस्तमिते वा सूर्ये गृहीतं तथा प्रथमपौरुष्यां
गृहीत्वा—चतुर्थामपि पौरुषीं यावत् धृतमशनादि शठ-
भावेनाऽशठभावेन वा अर्द्धयोजनातिक्रमेण नीतमानीतं वाश-
नादि तत्र विवेक एव प्रायश्चित्तम् । (व्यभा १०९ वृ)

विवेक प्रायश्चित्त के कुछ स्थान ये हैं—

० आधाकर्मिक वसति में ठहरने पर और कुछ दिन बाद ज्ञात होने पर उस वसति को छोड़ना होता है।

० पर्वत, राहु, बादल, कुहासा और रज से सूर्य आवृत हो जाता है। ऐसी स्थिति में यदि मुनि अशठभाव से सूर्य उग गया है या सूर्य अस्त नहीं हुआ है—इस बुद्धि से अशन आदि ग्रहण कर लेता है, किन्तु बाद में उसे ज्ञात हो जाए कि सूर्योदय से पूर्व या सूर्यास्त के पश्चात् अशन आदि ग्रहण किया है तो उस गृहीत अशन आदि का त्याग करना होता है।

० प्रथम पौरुषी में गृहीत अशन आदि को चतुर्थ पौरुषी तक रखने वाला मुनि विवेक प्रायश्चित्तार्ह है।

० शठ या अशठभाव से आधे योजन का अतिक्रमण कर ले जाया गया या लाया गया अशन आदि विवेक प्रायश्चित्त के योग्य है।

८. व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) प्रायश्चित्त के स्थान

गमणागमण-विद्यारे, सुत्ते वा सुमिण-दंसणे राओ ।
नावा नदिसंतारे, पायच्छित्तं विउस्सग्गो ॥
(व्यभा ११०)

कार्यवश उपाश्रय से बाहर जाने-आने पर ऐयांपथिकी

प्रतिक्रमणपूर्वक कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। इसी प्रकार अविधि से उच्चार आदि के परिष्ठापन तथा सूत्र विषयक परिवर्तना आदि करने पर, रात्री में सावद्य अथवा अनिष्टसूचक स्वप्न देखने पर, प्रयोजनवश समुद्र अथवा नदी को पार करने के लिए नौका का प्रयोग करने पर तथा यतनापूर्वक पैरों से चलकर नदी-संतरण करने पर व्युत्सर्ग अथवा कायोत्सर्गात्मक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

* कायोत्सर्ग में उच्छ्वास परिमाण द्र श्रीआको १ कायोत्सर्ग

९. तपयोग्य प्रायश्चित्त

सञ्जायस्स अकरणे, काउस्सग्गे तहा य पडिलेहा।

पोसहिय-तवे य तथा, अबंदणा..... ॥

चउ-छट्टुऽट्टमऽकरणे, अट्टमि-पक्ख-चउमास-वरिसे य।

लहु-गुरु-लहुगा, गुरुगा..... ॥

(व्यभा १२९, १३३)

यथाविधि यथासमय स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और प्रतिलेखना न करने पर तथा अष्टमी आदि पर्वतिथियों में पौषध युक्त तप और अन्य बस्ती में स्थित साधुओं को वन्दना न करने पर मासलघु प्रायश्चित्त आता है।

अष्टमी को उपवास न करने पर मासलघु, पाक्षिक उपवास न करने पर मासगुरु, चातुर्मासिक बेला न करने पर चतुर्लघु और सांवत्सरिक तैला न करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है।

० प्रतिक्रमण और तप प्रायश्चित्त कब ?

गुत्तीसु य समितीसु य, पडिरूवजोगे तहा पसत्थे य।

वतिक्कमे अणाभोगे, पायच्छित्तं पडिक्कमणं ॥

केवलमेव अगुत्तो, सहसाणाभोगतो व ण य हिंसा।

तहियं तु पडिक्कमणं, आउट्टि तवो न वाऽदाणं ॥

(व्यभा ६०, ६१)

गुप्तियों, समितियों, प्रतिरूप आदि विनय के प्रकारों तथा इच्छाकार आदि प्रशस्त योगों को सम्पादित न करने पर, उत्तरगुणों में अतिक्रम-व्यतिक्रम होने पर तथा अनजान में अकृत्य करने पर प्रतिक्रमण (मिच्छा मि दुक्कडं) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

जो केवल अगुप्त है या केवल असमित है, किन्तु जिसने सहसा या विस्मृति के कारण हिंसा नहीं की है, उसे प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त आता है। हिंसा होने पर उसे तप प्रायश्चित्त आता है।

अथवा मानसिक स्तर पर असमित या अगुप्त स्थविरकल्पिक मुनि को तप प्रायश्चित्त नहीं आता।

० तप और छेद योग्य प्रायश्चित्त स्थान

दंडग्गहनिक्खेवे, आवस्सियाय निसीहियाए य।

गुरुणं च अप्यणामे, पंचराइंदिया होंति ॥

वेटियगहनिक्खेवे, निट्टीवण आतवा उ छांयं च।

थंडिल्लकणहभोगे, गामे राइंदिया पंच ॥

एतेसिं अण्णतरं, निरंतरं अतिचरेज्ज तिक्खुत्तो।

निक्कारणमगिलाणे, पंच उ राइंदिया छेदो ॥

(व्यभा १२५-१२७)

पांच अहोरात्रिक तप प्रायश्चित्त के कुछ स्थान ये हैं—

- ० दंड ग्रहण-निक्षेप के समय प्रतिलेखन-प्रमार्जन न करने पर।
- ० आवश्यकी-नैषेधिकी सामाचारी का प्रयोग (उच्चारण) न करने पर।
- ० गुरु को प्रणाम न करने पर।
- ० संस्तारक को अयतनापूर्वक लेने-रखने पर।
- ० अविधि से थूकने पर।
- ० उपकरण को अविधि से, धूप से छाया में, छाया से धूप में रखने पर।
- ० अविधि से स्थण्डिल से अस्थण्डिल में या अस्थण्डिल से स्थण्डिल में अथवा कृष्ण भूमि (सचित्त काली मिट्टी) से नीली (हरित) भूमि में या नीली भूमि से कृष्ण भूमि में जाने पर।
- ० यात्रापथ से ग्राम में प्रवेश करते समय पैरों की प्रत्युपेक्षा-प्रमार्जना न करने पर।

कोई स्वस्थ मुनि निष्कारण ही इनमें से किसी स्थान का निरन्तर तीन बार अतिक्रमण कर लेता है, तो उसके पांच अहोरात्र के संयमपर्याय का छेद किया जाता है।

.....आगाढम्मि य कज्जे, दप्पेण वि ते भवे छेदो ॥

(व्यभा ७१९)

जो आगाढ संधीय प्रयोजन उपस्थित होने पर दर्प से संघ-कार्य नहीं करता है, वह छेद प्रायश्चित्त का भागी होता है।

० तप और छेद के स्थान तुल्य

तुल्ला चेव उ ठाणा, तव-छेयाणं हव्वंति दोण्हं पि।

यणगाइ यणगवुट्टी, दोण्ह वि छम्मास निट्टवणा ॥

(बृभा ७०७)

तप और छेद—दोनों के स्थान तुल्य ही होते हैं। दोनों में ही आदि स्थान पांच अहोरात्र है, फिर पांच-पांच की वृद्धि से अंतिम स्थान छह मास है। (पांच अहोरात्र से कम और छह मास से अधिक अवधि वाले तप और छेद प्रायश्चित्त नहीं होते।)

१०. देशछेद-सर्वछेद : प्रायश्चित्त के सात प्रकार

दुविहो अ होइ छेदो, देसच्छेदो अ सव्वछेदो अ।

मूला-ऽणवट्ट-चरिमा, सव्वच्छेओ अतो सत्त ॥

(बृभा ७१०)

छेद के दो प्रकार हैं—१. देशछेद और २. सर्वछेद।

पांच अहोरात्र से लेकर छह मास पर्यंत का प्रायश्चित्त देशछेद है। मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित—इन तीनों का समावेश सर्वछेद के अन्तर्गत किया गया है। क्योंकि ये श्रमणपर्याय का युगपद् छेद करते हैं। इस प्रकार अंतिम तीन प्रायश्चित्तों का सर्वछेद में समावेश होने से प्रायश्चित्त के सात प्रकार होते हैं।

११. मूल प्रायश्चित्त (नई दीक्षा) के स्थान

तवऽतीतमसहहिए, तवबलिए च्वेव होति परियामे।

दुब्बल अपरीणामे, अत्थिर अबहुस्सुते मूलं ॥

(व्यभा ५०२)

आठ प्रकार से मुनि मूल प्रायश्चित्त के भागी होते हैं—

- ० तप-अतीत—छह मास पर्यंत तप करने पर भी शुद्धि न हो।
- ० अश्रद्धा—तप से पाप की शुद्धि नहीं होती—ऐसा सोचने वाला।
- ० तपोबली—जो महान् तप से क्लान्त नहीं होता और 'मैं तप करूंगा' ऐसा गर्व कर प्रतिसेवना करता है अथवा छहमासिक तप देने पर जो कहता है—'मैं अन्य तप करने में भी समर्थ हूँ।
- ० पर्याय—छेद प्रायश्चित्त से शोधि न होने पर अथवा मैं रत्नाधिक हूँ, छेद देने पर भी मेरा पर्याय दीर्घ है, ऐसा कहने वाला।
- ० दुर्बल—जिसे बहुत तप प्रायश्चित्त प्राप्त है किन्तु वह उसे वहन करने में असमर्थ है।
- ० अपरिणामी—इस छहमासिक प्रायश्चित्त से मेरी शुद्धि नहीं होगी—ऐसा कहने वाला।
- ० अस्थिर—अधृति के कारण पुनः-पुनः प्रतिसेवना करने वाला।
- ० अबहुश्रुत—अगीतार्थ, जिसे अनवस्थाप्य या पारांचित भी प्राप्त है, किन्तु अबहुश्रुतता के कारण उसे मूल दिया जाता है।

० छेद व मूल में अंतर : प्रायश्चित्त के आठ प्रकार छिज्जंते वि न पावेज्ज कोइ मूलं अओ भवे अट्ट। चिरघाई वा छेओ, मूलं पुण सज्जघाई उ ॥ (बृभा ७११)

जो चिरप्रव्रजित है, उसके दीक्षापर्याय का यदि छह मास से अधिक छेद किया जाता है तो वह मूल के अंतर्गत है, छेद से विलक्षण है, अतः प्रायश्चित्त के आठ प्रकार हो जाते हैं।

छेद चिरघाती है, क्योंकि इसमें चिरकाल तक दीक्षा पर्याय का छेद होता है। मूल सद्योघाती है, क्योंकि यह शीघ्र ही दीक्षा पर्याय को समाप्त कर देता है।

* अनवस्थाप्य और पारांचित

त्र पारांचित

१२. साध्वी को अनवस्थाप्य-पारांचित नहीं

एसेव गमो नियमा, समणीणं दुगविवज्जितो होति । १२३

(व्यभा ६२३)

जो प्रायश्चित्तविधि श्रमण के लिए अभिहित है, वही नियमतः श्रमणी के लिए है। इतना विशेष है कि अनवस्थाप्य और पारांचित—ये दो प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी श्रमणी को नहीं दिए जाते। उसको परिहार तप भी नहीं दिया जाता।

१३. त्रिविध प्रायश्चित्त : दान आदि

गुरु-लघुविशेषविस्तरपरिज्ञानार्थमाचार्यस्त्रिविधं प्रायश्चित्तं दर्शयति, तद्यथा—दानप्रायश्चित्तं तपःप्रायश्चित्तं काल - प्रायश्चित्तं च। तत्र दानप्रायश्चित्तं गुरुकं लघुकं च। एवं तपः- कालप्रायश्चित्ते अपि गुरु-लघुके ॥

(बृभा २९९ की वृ)

गुरु-लघु प्रायश्चित्त को विशेष विस्तार से जानने के लिए आचार्यों ने तीन प्रकार के प्रायश्चित्तों का प्रतिपादन किया है—

१. दान प्रायश्चित्त २. तप प्रायश्चित्त ३. काल प्रायश्चित्त।

इनमें से प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—गुरु और लघु।

० दान प्रायश्चित्त : तीन आदेश

अहवा वातो तिविहो, एगिंदियमादी जाव पंचिंदी। पंचणह चउत्थाइं, अहवा एक्कादि कल्लाणं ॥ छक्काय चउसु लहुगा, परिंत लहुगा य गुरुग साधारे। संघट्टण परितावण, लहुगुरु अतिवायणे मूलं ॥

“एए दो आदेसा । दाणपच्छित्तं भणितं । अहवा दो एए । इमो ततिओ आवत्ति पच्छित्तेण भणणति । (निभा ११६, ११७ चू)
 ० एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय जीवों का व्यापादन होने पर क्रमशः उपवास से द्वादश भक्त तक का प्रायश्चित्त । यह एक आदेश है ।
 ० द्वितीय आदेश—एक कल्याणक यावत् पांच कल्याणक ।
 ० तृतीय आदेश—पृथ्वी, अप, तेजस् और वायुकाय—इन चार जीविकायों तथा परित्त वनस्पति का संघट्टन होने पर लघु, परितापन में गुरु तथा अपद्रावण में चतुर्लघु । शेष क्रम इस प्रकार है—

	संघट्टन	परितापन	अपद्रावण
साधारण वनस्पति	मासगुरु	चतुर्लघु	चतुर्गुरु
द्वीन्द्रिय	चतुर्लघु	चतुर्गुरु	षड्लघु
त्रीन्द्रिय	चतुर्गुरु	षड्लघु	षड्गुरु
चतुरिन्द्रिय	षड्लघु	षड्गुरु	छेद
पंचेन्द्रिय	षड्गुरु	छेद	मूल

सुयस्स अवण्णं.....सुत्तस्स देसे चउलहुगा अत्थस्स देसे चउगुरुगा । सव्वसुयस्स अवण्णे भिक्खुणो मूलं । अभिसेयस्स अणवट्ठो । गुरुणो चरिमं । एयं दाणपच्छित्तं ।

(निभा ३३०१ की चू)

श्रुत का देशतः अवर्णवाद करने पर चतुर्लघु और अर्थ का देशतः अवर्णवाद करने पर चतुर्गुरु तथा सर्वश्रुत का अवर्णवाद करने पर भिक्षु को मूल, उपाध्याय को अनवस्थाप्य और आचार्य को पारांचित प्राप्त होता है—यह दान प्रायश्चित्त है ।

उवदेसो उ अगीते, दिज्जति बित्तिओ उ सोधिक्खवहारो ।”

इह द्विविधः साधुः गीतार्थोऽगीतार्थश्च । तत्र यो गीतार्थः सः गीतार्थत्वादानाभाव्यं न गृह्णातीति न तस्योपदेशः । यः पुनरगीतार्थस्तस्यानाभाव्यं गृह्यत उपदेशो दीयते, यथा न युक्तं तवानाभवत् गृहीतुं यदि पुनरनाभवत् ग्रहीष्यसि, ततस्तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं भविष्यतीत्युपदेशदानं, तत एवमुपदेशे दत्ते सति दानप्रायश्चित्तं दीयते । (व्यभा ३३ वृ)

साधु के दो प्रकार हैं—गीतार्थ और अगीतार्थ । गीतार्थ साधु गीतार्थता के कारण अनाभाव्य (अकल्पनीय) का ग्रहण नहीं करता, इसलिए उसे उपदेश नहीं दिया जाता । जो अगीतार्थ है, वह अनाभाव्य का ग्रहण करता है, इसलिए उसे उपदेश दिया जाता है ।

यथा—‘अनाभवत् ग्रहण करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है । यदि अनाभवत् ग्रहण करोगे तो प्रायश्चित्त लेना होगा’—इस प्रकार उपदेश देने के पश्चात् दान प्रायश्चित्त दिया जाता है ।

० दान, काल और तप प्रायश्चित्त : गुरु भी लघु
 जं तु निरंतरदाणं, जस्स व तस्स व तवस्स तं गुरुगं ।
 जं पुण संतरदाणं, गुरु वि सो खलु भवे लहुओ ॥
 काल-तवे आसज्ज व, गुरु वि होइ लहुओ लहु गुरुगो ।
 कालो गिम्हो उ गुरु , अट्टाइ तवो लहु सेसो ॥
 (बृभा ३००, ३०१)

जिस किसी को अष्टमभक्त आदि गुरु प्रायश्चित्त अथवा निर्विकृति आदि लघु प्रायश्चित्त निरन्तर दिया जाता है, वह गुरु दान प्रायश्चित्त है । यदि गुरु प्रायश्चित्त अन्तर से दिया जाता है, तो वह गुरु भी लघु हो जाता है ।

काल और तप की अपेक्षा से गुरु प्रायश्चित्त भी लघु हो जाता है और लघु भी गुरु हो जाता है । काल की दृष्टि से ग्रीष्मऋतु कालगुरु है और तप की दृष्टि से अष्टमभक्त (तेला) आदि तपोगुरु हैं । शेषकाल—वर्षा व हेमंत ऋतु काललघु हैं और तप—निर्विकृतिक से षष्ठभक्त पर्यन्त तपोलघु हैं ।

.....लहुगा चतु जमलपदा, ॥

जमलपदं पाम तवकाला । तेहिं विसेसिया कज्जंति ।
 पढमपए दोहिं लहुं, बित्तिपदे कालगुरुं, तत्तिपदे तवगुरुं,
 चउत्थे दोहिं पि गुरुं । (निभा १३१ चू)

तप और काल के आधार पर गुरु-लघु के चार विकल्प हैं—

१. तप से लघु काल से लघु
३. तप से गुरु काल से लघु
२. तप से लघु काल से गुरु
४. तप से गुरु काल से गुरु ।

१४. उद्घातिक-अनुद्घातिक (लघु-गुरु) प्रायश्चित्त
 गुरुकमिति वा अनुद्घातीति वा कालकमिति वा गुरुकस्य नामानि । लघुकमिति वा उद्घातितमिति वा शुक्ल-मिति वा लघुकस्य नामानि । (बृभा २९९ की वृ)

गुरुक, अनुद्घातिक और कालक—ये गुरु प्रायश्चित्त के तथा लघुक, उद्घातिक और शुक्ल—ये लघु प्रायश्चित्त के पर्यायवाची नाम हैं ।

उग्घायमणुग्घाया, दव्वम्मि हलिहराम्-किमिरागा ।
खेत्तम्मि कण्हभूमी, पत्थरभूमी य हलमादी ॥
कालम्मि संतर णिरंतरं तु समयो य होतऽणुग्घातो ।
भव्वस्स अट्ट पयडी, उग्घातिम एतरा इयरे ॥
जेण खवणं करिस्सति, कम्माणं तारिओ अभव्वस्स ।
ण य उप्पज्जइ भावो, इति भावो तस्सऽणुग्घातो ॥

कालत उद्घातिकं सान्तरं प्रायश्चित्तस्य दानम्,
अनुद्घातिकं निरन्तरदानम् । तुशब्दाद् लघुमासादिकमुद्-
घातिकम्, गुरुमासादिकमनुद्घातिकम् ।

(बृभा ४८९१-४८९३ वृ)

भागपातः सान्तरदानं वा उद्घातः, स विद्यते येषु ते
उद्घातिकाः तद्विपरीता अनुद्घातिकाः । (क ४/१ की वृ)

उद्घातिक-अनुद्घातिक के चार निक्षेप हैं—

० द्रव्यतः—हल्दी का रंग आसानी से दूर हो जाता है, अतः यह
उद्घातिक द्रव्य है । कुमिराग अनुद्घातिक है ।

० क्षेत्रतः—कृष्णभूमि उद्घातिक है । इसमें हल आदि आसानी से
चलाया जा सकता है । प्रस्तरभूमि अनुद्घातिक है ।

० कालतः—समय अविभागी होने से अनुद्घातिक है । आवलिका
आदि उद्घातिक है । प्रायश्चित्त, जो सांतर है, जिसका भाग किया
जा सकता है, वह उद्घातिक है । जो निरंतर दान है, जिसमें भाग
नहीं किया जाता, वह अनुद्घातिक है । अथवा लघुमासिक आदि
उद्घातिक और गुरुमासिक आदि अनुद्घातिक हैं ।

० भावतः—भव्य प्राणी की आठ कर्मप्रकृतियां उद्घातिक और
अभव्य की अनुद्घातिक हैं । जिन शुभ अध्यवसायों से कर्मों का
क्षय किया जा सके, वैसे शुभ अध्यवसाय अभव्य के उत्पन्न ही
नहीं होते, इसलिए उसके कर्म अनुद्घातिक हैं ।

० अनुद्घात के स्थान

तओ अणुग्घाइया पण्णत्ता, तं जहा—हत्थकम्मं करेमाणे,
मेहुणं पडिसेवमाणे, राईभोचणं भुंजमाणे ॥ (क ४/१)

तीन अनुद्घात्य (गुरु) प्रायश्चित्त के भागी होते हैं—१.
हस्तकर्म करने वाला, २. मैथुन-सेवन करने वाला और ३. रात्रिभोजन
करने वाला । (शय्यातरपिंड और राजपिंड का भोजन करने वाला
भी अनुद्घातिक होता है ।—स्था ५/१०१)

० उद्घात-अनुद्घात के स्तर

उग्घातियं वहंते, आवण्णुग्घायहेउगे होति ।
उग्घातिय-संकप्पिय, सुद्धे परिहारियतवे य ॥
अणुग्घातियं वहंते, आवण्णुग्घातहेउगं होति ।
अणुग्घातिय-संकप्पिय, सुद्धे परिहारिय तवे य ॥

उग्घातियं ति पायच्छित्तं वहंतस्स—पायच्छित्तमापण्णस्स
जाव मणालोइयं ताव हेउं भण्णति, आलोइए “अमुग्घदिणे
तुज्जेयं पच्छित्तं दिज्जिहिति” त्ति संकप्पियं भनति । एयं पुण
दुविधं पि दुविहं वहति—सुद्धतवेण वा परिहारतवेण वा । हेऊ
वि सुद्धस्स तवस्स वा परिहारतवस्स वा । संकप्पियं पि
सुद्धतवेण वा परिहारतवेण वा । (निभा २८६८, २८६९ चू)

उद्घात के तीन स्तर हैं—उद्घात, उद्घात हेतु और उद्घात
संकल्प । उद्घातिक प्रायश्चित्त का वहन करने वाला जब तक
आलोचना नहीं करता, तब तक वह उद्घात हेतु कहलाता है ।
आलोचना के पश्चात् ‘अमुक दिन तुम्हें यह प्रायश्चित्त दिया
जाएगा’—यह उद्घात संकल्प कहलाता है ।

उद्घातिक, हेतु और संकल्प का दो-दो प्रकार से वहन
किया जाता है—शुद्ध तप से, परिहार तप से । इसी प्रकार अनुद्घात
के तीन रूप हैं—अनुद्घातिक, हेतु और संकल्प ।

० गुरु-लघु प्रायश्चित्त के दो हेतु

तेसिं पच्चयहेउं, ।
भयहेउ सेसगाण य, इमा उ आरोवणारयणा ॥
(बृभा ६०३८)

अपरिणामक मुनियों में यह विश्वास पैदा करने के लिए कि
प्रायश्चित्त के द्वारा यहां विशुद्धि कराई जाती है तथा अतिपरिणामक
मुनियों में प्रतिसेवना के प्रति भय पैदा करने के लिए लघु, लघुतर,
गुरु, गुरुतर आदि प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है ।

१५. स्थविरकल्पी : अनाचारजन्य तप प्रायश्चित्त

अतिक्कमे वतिकक्कमे चेव अतियारे तह अणाचारे ।
गुरुओ य अतीधारो, गुरुगतरो उ अणायारो ॥
सव्वे वि य पच्छित्ता, जे सुत्ते ते पडुच्चऽणायारं ।
थेराण भवे कप्पे, जिणकप्पे चतुसु वि पदेसु ॥
थेरकप्पियाण.....जति पडिस्सुते पदभेदातो णियत्तति

गहियं वा परिद्वेति तहावि सुञ्जति, अह भुञ्जति तो अणाचारे
वदंतस्स पच्छित्तं भवति। (निभा ६४९७, ६४९९ चू)

स्वीकृत व्रतों में लगाने वाले दोषों के चार स्तर हैं—

अतिक्रम—दोषसेवन के लिए मानसिक संकल्प।

व्यतिक्रम—दोषसेवन के लिए प्रस्थान।

अतिचार—दोषसेवन के लिए सामग्री जुटाना।

अनाचार—दोष का सेवन करना।

इनमें अतिचार गुरु और अनाचार गुरुतर है। इनका प्रायश्चित्त भी क्रमशः गुरु, गुरुतर होता है।

निशीथ सूत्र में निर्दिष्ट सारे प्रायश्चित्त स्थविरकल्पी के लिए अनाचार सेवन की अपेक्षा से हैं। स्थविरकल्पी को अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार के लिए तप प्रायश्चित्त नहीं आता, मिथ्यादुष्कृत के उच्चारण आदि से उनकी शुद्धि हो जाती है। यथा—कोई मुनि आधाकर्म आहार-ग्रहण की स्वीकृति दे देता है किन्तु उसके लिए प्रस्थान नहीं करता है अथवा प्रस्थान कर उस आहार को ग्रहण कर लेता है, किन्तु परिभोग नहीं करता, उसका परिष्ठापन कर देता है तो वह शुद्ध है। उसे खाने वाला अनाचार-जन्य प्रायश्चित्त का भागी होता है। जिनकल्पी को अतिक्रम आदि चारों पदों में प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

० अतिक्रम चतुष्क : मासगुरु आदि

तिन्नि य गुरुगा मासा, विसेसिया तिण्ह व अह गुरुअंते।
एते च्चव उ लहुया, विसोधिकोडीय पच्छित्ता॥

त्रयाणामतिक्रमव्यतिक्रमातिचारणां त्रयो गुरुका मासाः
...एते च त्रयोऽपि यथोत्तरं तपःकालविशेषिताः अथ अन्ते
अनाचारलक्षणे दोषे चतुर्गुरु चतुर्मासगुरुप्रायश्चित्तं...
शोधिकोट्या त्वेत एव मासादयो लघुका प्रायश्चित्तानि...
अनाचारे चतुर्मासलघु। (व्यभा ४४ वृ)

अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार—इन तीनों में तप और काल से विशेषित गुरुमास प्रायश्चित्त आता है। अनाचार दोष का प्रायश्चित्त चतुर्गुरु है। (यह विधान अविशोधि कोटि के लिए है।) विशोधि कोटि वाले अतिचार आदि का प्रायश्चित्त लघुमास है।

० सूक्ष्म-बादर प्रायश्चित्त

...लहुगुरुमासो सुहुमो, लहुमादी बादरे होति॥ (निभा ३०१)

सुहुमं स्वल्पं, बादरं पाम बहुगं। पायच्छित्त-विहाणणे
वा सुहुमबादरविकप्पो भवति। जत्थ पणगं तं सुहुमं, सेसं
बादरं। (निभा ३३० की चू)

सूक्ष्म मृषावाद में मासलघु या मासगुरु तथा बादर मृषावाद में चतुर्लघु आदि प्रायश्चित्त आता है।

सूक्ष्म का अर्थ है स्वल्प, बादर का अर्थ है बहुत। प्रायश्चित्त विधान में सूक्ष्म और बादर का विकल्प होता है। जिसमें पांच अहोरात्र का प्रायश्चित्त हो, वह सूक्ष्म है, शेष बादर है।

० विषयराग से गुरु प्रायश्चित्त

रागेतर गुरुलहुगा, सद्दे रूवे रसे य फासे च।
गुरुगो लहुगो गंधे, जं वा आवज्जती जुत्तो॥
(निभा १३२)

शब्द, रूप, रस और स्पर्श—इन चार इन्द्रियविषयों में राग करने पर चतुर्गुरु तथा द्वेष करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है। गंधराग से मासगुरु तथा गंधद्वेष से मासलघु प्राप्त होता है।

१६. राग-द्वेष की वृद्धि से प्रायश्चित्त-वृद्धि

जध मन्ने दसमं सेविऊण, निग्गच्छते तु दसमेण।
तध मन्ने दसमं सेविऊण एणेण निग्गच्छे॥
(व्यभा ५०९)

पारांचित (दशम प्रायश्चित्त) जितनी प्रतिसेवना करने पर पारांचित प्रायश्चित्त से शुद्धि होती है। कदाचित् पारांचित जितनी प्रतिसेवना करने पर उसकी अनवस्थाप्य से भी शुद्धि होती है। इसी प्रकार कभी मूल, छेद, छह मास यावत् एक मास या भिन्न मास, बीस, पन्द्रह दस या पांच अहोरात्र, दशमभक्त (चोला) अट्टमभक्त (तेला), छट्ठभक्त, चतुर्थभक्त, आचाम्ल, एकाशन, पुरिमड्ड (दो प्रहर) और निर्विकृतिक के द्वारा भी दशम प्रायश्चित्त स्थान की शुद्धि हो जाती है। नौवें (अनवस्थाप्य) प्रायश्चित्त स्थान का सेवन करने वाला आठवें (मूल) से भी शुद्ध हो सकता है।

प्रायश्चित्त के इस हानि के क्रम की भांति वृद्धि का क्रम भी है। निर्विकृतिक से शोधि हो सके, उतनी प्रतिसेवना करने वाले को निर्विकृतिक यावत् पारांचित प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है। इसका हेतु है—अध्यवसाय (राग-द्वेष) की मंदता और तीव्रता।

मणपरमोधिजिणाणं, चउदसदसपुव्वियं च नवपुव्विं ।
थेरेव समासेज्जा, ऊणऽब्भहिया च पडुवणा ॥
हा दुट्ठु कतं हा दुट्ठु कारितं दुट्ठु अणुमयं मे त्ति ।
अंतो अंतो डङ्गति, पच्छातावेण वेवंतो ॥
जिणपण्णत्ते भावे, असहहंतस्स तस्स पच्छित्तं ।
हरिसमिव वेदयंतो, तथा तथा वड्ढते उवरिं ॥

(व्यभा ५१४-५१६)

मनःपर्यवजिन, परमावधिजिन, केवली, चौदहपूर्वी, दसपूर्वी
और नवपूर्वी—ये प्रत्यक्षज्ञानी होते हैं, अपराधी के अध्यक्षियों की
हानि-वृद्धि को साक्षात् जानकर तुल्य अपराध पद में भी राग-द्वेष
की मात्रा के अनुरूप न्यूनाधिक प्रायश्चित्त देते हैं।

परोक्षज्ञानी आचार्य आदि अपराधी को पश्चात्ताप आदि बाह्य
चिह्नों से जान लेते हैं। यथा—हा ! मैंने गलत किया, गलत करवाया,
गलत अनुमोदन किया—इस प्रकार पश्चात्ताप की अग्नि में जलते
हुए अपराधी के प्रकम्पित चित्त से उसकी रागद्वेष की हानि को
जानकर तदनुरूप स्वल्प प्रायश्चित्त देते हैं।

जो जिनप्रज्ञप्त भावों में अश्रद्धा करता है, आलोचना-काल में
हर्षित होता है, उसे उत्तरोत्तर अधिक प्रायश्चित्त दिया जाता है।

१७. प्रायश्चित्तवृद्धि के प्रकार : स्वस्थान-परस्थान
पच्छित्तस्स विवड्ढी, सरिसट्ठाणातो विसरिसे तमेव ।
तप्पभित्ती अविसुद्धमादी संभुंजतो गुरुगा ॥
(निभा २०८१)

प्रायश्चित्त की वृद्धि के दो प्रकार हैं—

१. स्वस्थान वृद्धि—सदृश स्थानों में वृद्धि। यथा—तीन बार मासलघु
प्रायश्चित्त प्राप्त हुआ तो चौथी बार वृद्धि होने पर वही मासगुरु हो
जाता है। इसी प्रकार चतुर्लघु से चतुर्गुरु, षड्लघु से षड्गुरु।

२. परस्थान वृद्धि—विसदृश स्थानों में वृद्धि। यथा—मासलघु से
दो मासिक, दो मास से त्रैमासिक—यह सारी परस्थान वृद्धि है।

तीन बार से अधिक वही प्रतिसेवना करने वाला नियमतः
मायी और अविशुद्ध होता है। उसके साथ सम्भोज करने वाला
चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

० स्थान के आधार पर प्रायश्चित्तवृद्धि
.....गुरूहिं वसभेहि कुल गणे संघे ।
आरोवण कायव्वा, ॥

.....चतुर्गुरुवः । अथ नावृत्ताः किन्तु गुरुवचनातिक्रमं
कुर्वन्ति.....ततः षड्गुरुकाः.....छेदः.....मूलम्.....अनवस्थाप्यम्.....
पाराञ्चिकम् । (बृभा २८५९ वृ)

चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्ति जितना दोषसेवन कर आवृत्त न
होने पर और गुरु के वचन का अतिक्रमण करने पर स्थान के
आधार पर प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है, यथा—

- ० गुरु के वचन का अतिक्रमण करने से—षड्गुरु
- ० वृषभ के वचन का अतिक्रमण करने से—छेद
- ० कुलस्थविर के वचन का अतिक्रमण करने से—मूल
- ० गणस्थविर के वचन का अतिक्रमण करने से—अनवस्थाप्य
- ० संघस्थविर के वचन का अतिक्रमण करने से—पारांचित ।

१८. मासलघु आदि के प्रतीकाक्षर

चउगुरु चउलहु सुद्धो, छल्लहु चउगुरुग अंतिमो सुद्धो ।
छग्गुरु चउगुरु लहुओ ॥
ङ्का, ङ्क, सु, फ्रं, ङ्का, सु, फ्रां, ङ्का, ० । (निभा ६६३६ चू)
दि(ल).....दी(गु)..... । (निभा १६१ की चू)

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में अंक या प्रायश्चित्त संबंधी
कुछ सांकेतिक संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। जैसे—

- ० चतुर्लघु = ङ्क । ० चतुर्गुरु = ङ्का ।
- ० षड्लघु = फ्रं । षड्गुरु = फ्रां ।
- ० लघु मास = ० । ० शुद्ध = सु ।
- ० लघु = दि या ल । ० गुरु = दी या गु ।
-नक्खत्ते भे घीला, सुक्के मासं तवं कुणसु ॥
एवं ता उग्घाए, अणुघाते ताणि चेव किण्हमि ।.....
नक्षत्रशब्देनात्र मासः सूचितः ।..... शुक्ले इति सांकेतिकी
संज्ञेति उद्घातं मासं..... । (व्यभा ४४९०, ४४९३ वृ)

नक्षत्र, शुक्ल और कृष्ण—ये तीन सांकेतिक पद क्रमशः
मास, लघुमास और गुरुमास के सूचक हैं।

संख्या के सांकेतिक पद

.....चउविधो दसविधो ।
ङ्क(ई = ४) लृ(१०)..... । (निभा ४ चू)
ङ्क पद चार का तथा लृ पद दस का प्रतीक है।

(अंक)	प्रतीकाक्षर	अंक	प्रतीकाक्षर
४	ण्का	१३	लृ ३
५	तृ	१४	लृण्का
६	फ्र	१५	लृ तृ
७	ग्रा	१६	लृ फ्र
८	ह	१७	लृ ग्रा
९	ॐ	१८	लृ ह
१०	लृ	१९	लृ ॐ
११	लृ १	२०	लृलृ
१२	लृ २	२५	लृलृलृ

—दअचू पृ २५०, २५१)

१९. प्रायश्चित्त व्यवहार के चार प्रकार

सो पुण चउत्विहो दव्व-खेत्त-काले य होति भावे य ।
सच्चित्ते अच्चित्ते, दुविधो पुण होति दव्वम्मि ॥
पुढवि-दग-अगणि-मारुय-वणस्सति-तसेसु होति सच्चित्ते ।
अचित्ते पिंड उवधी, दस पन्नरसेव सोलसगं ॥
संघट्टण परितावण-उहवणा वज्जणा य सट्टाणं ।
दाणं तु चउत्थादी, तत्तियमित्ता व कल्लाणे ॥
अथवा अट्टारसगं, पुरिसे इत्थीसु वज्जिया वीसा ।
दसगं च नपुंसेसुं, आरोवण वण्णिणया तत्थ ॥
जणवयऽद्धानरोधर्हं, भग्गादीए य होति खेत्तम्मि ।
दुब्बिक्खे य सुभिक्खे, दिया व रातो व कालम्मि ॥
जोगतिए करणतिए, दप्य-पमायपुरिसे य भावम्मि ।.....

पृथिव्यादीनां संघट्टनादौ प्रत्येकं यथापत्तिप्रायश्चित्तं
तत् स्वस्थानमित्युच्यते,....द्वीन्द्रियमपद्रावयतः षष्ठं त्रीन्द्रिय-
मपद्रावयतोऽष्टमं चतुरिन्द्रिये दशमं, पञ्चेन्द्रिये द्वादशमम्,....
अथवा यस्य यावन्ति इन्द्रियाणि तस्य तावन्ति कल्याणानि
प्रायश्चित्तं,....वर्जना नाम प्रव्राजनायां निषेधः....अथवा
आरोपणाप्रायश्चित्तं प्राक् कल्याध्ययने सप्रपञ्चमभिहित-
मिति । (व्यभा ४०१०-४०१४, ४०१७ वृ)

प्रायश्चित्त व्यवहार के चार प्रकार हैं—

१. द्रव्यविषयक—इसके दो प्रकार हैं—सचित्त और अचित्त ।

सचित्त का प्रायश्चित्त दो प्रकार से आता है—

० जीवों की विराधना होने पर—एकेन्द्रिय—पृथ्वी, पानी, अग्नि,
वायु और वनस्पति का अपद्रावण (प्राणवियोजन) होने पर उपवास ।

द्वीन्द्रिय जीवों का अपद्रावण होने पर बेला । त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय
और पंचेन्द्रिय जीवों का अपद्रावण होने पर क्रमशः बेला (दो दिन
का उपवास), तेला, चोला और पंचोत्ता आता है ।

एकेन्द्रिय आदि जीवों का संघट्टन और परिताप होने पर
जीत व्यवहार के आधार पर निर्विकृतिक आदि तप प्रायश्चित्त
दिया जाता है (द्रव्यव्यवहार) । अथवा जिनके जितनी इन्द्रियाँ हैं,
उतने कल्याणक का प्रायश्चित्त आता है । (द्रव्यकल्याणक)

० निषिद्ध व्यक्तियों को दीक्षित करने पर—पुरुषों में अठारह,
स्त्रियों में बीस तथा नपुंसक में दस प्रकार के व्यक्ति दीक्षा के
अयोग्य माने गए हैं । इनको दीक्षित करने वाला प्रायश्चित्त का
भाग्य होता है । (द्रव्यदीक्षा) अथवा आरोपणा प्रायश्चित्त निशीथ
और कल्पाध्ययन में अभिहित है ।

० अचित्त का प्रायश्चित्त—दस एषणा दोष, पन्द्रह उद्गम दोष
(अध्यवपूक का मिश्र में अन्तर्भाव) तथा सोलह उत्पादन के दोषों
से युक्त भक्त-पान और उपधि ग्रहण करने पर ।

२. क्षेत्र विषयक—जनपद, मार्ग, सेना का अवरोध, मार्गातीत
(क्षेत्रातिक्रान्त आहार आदि ग्रहण करना)—इनमें अविधि से आचरण
करने पर प्राप्त प्रायश्चित्त ।

३. काल विषयक—दुर्भिक्ष, सुभिक्ष, दिन में या रात में अयतना
में या विधि-विपरीत आचरण करने से प्राप्त प्रायश्चित्त ।

४. भाव विषयक—योगात्रिक (मन, वचन, काय) और करणात्रिक
(कृत-कारित-अनुमति) की अशुभ प्रवृत्ति, दर्पिका प्रतिसेवना
(निष्कारण अकल्प्य सेवन) तथा प्रमाद से संबंधित प्रायश्चित्त ।
इसमें पुरुषों के आधार पर भी प्रायश्चित्त दिया जाता है ।

० पृथ्वीकाय-विराधना और प्रायश्चित्त

चतुरंगुलप्यमाणा, चउरो दो चेव जाव चतुवीसा ।

अंगुलमादी वुड्डी, पमाण करणे य अट्टे व ॥

उवरिं तु अप्पजीवा, पुढवी सीताऽऽत्तवाऽणिलाऽभिहता ।

चउरंगुलपरिवुड्डी, तेणुवरिं अहे दुअंगुलिया ॥

(निभा १५६, १५७)

पृथ्वीकाय-खनन संबंधी प्रायश्चित्त इस प्रकार है—

पृथ्वी को चार अंगुल प्रमाण खोदने पर चतुर्गुल, पांच से
आठ अंगुल तक खोदने पर चतुर्गुरु, नौ से बारह और तेरह से

सोलह अंगुल तक खोदने पर क्रमशः षड्लघु और षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। सतरह-अठारह अंगुल में छेद, उन्नीस-बीस में मूल, इक्कीस-बाईस में अनवस्थाप्य और तेईस-चौबीस अंगुल में पारांचित प्राप्त होता है। इस प्रकार अभीक्ष्ण खनन करने पर आठवीं बार में पारांचित आता है।

पहले चार-चार अंगुल और फिर दो-दो अंगुलपरिमाण से प्रायश्चित्त वृद्धि का कारण यह है कि पृथ्वी के नीचे उपरि भागों में अल्प जीव होते हैं, बहुत जीव शीत, आतप, हवा आदि से अभिहत हो जाते हैं। पृथ्वी के निम्न, निम्नतर भागों में जीवपरिमाण की अधिकता के कारण जीवविराधना भी अधिक होती है, अतः प्रायश्चित्त में वृद्धि हो जाती है।

.....आहारद्वय व ऽहे बलिया ॥

.....मूलप्रलंबणिमित्तं खणेज्जा ।.....वातातवमादीहिं असोसिया सरसा य अहे बलिया..... (निभा १६६ चू)

आहारहेतु भी पृथ्वी का खनन किया जाता है। मूलप्रलंब आदि वनस्पति पृथ्वी के अधोभागों में सरस और बलिक होती है, बाहरी धूप-हवा से उसका रस अवशोषित नहीं होता।

२०. प्रायश्चित्त (व्यवहार) : गुरु-लघु-लघुस्वक

गुरुओ गुरुअतराओ, अहागुरुओ य होइ ववहारो ।
लहुओ लहुयतराओ, अहालहू होइ ववहारो ॥
लहुसो लहुसतराओ, अहालहूसो अ होइ ववहारो ।
एतेसिं पच्छित्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥
गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरागो भवे चउम्मासो ।
अहगुरुगो छम्मासो, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती ॥
तीसा य पण्णवीसा, वीसा वि य होइ लहुयपक्खम्मि ।
पन्नरस दस य पंच य, अहालहुसगम्मि सुद्धो वा ॥
गुरुगं च अट्टमं खलु, गुरुगतरागं च होति दसमं तु ।
अहगुरुग दुवालसमं, गुरुगे पक्खम्मि पडिवत्ती ॥
छट्ठं च चउत्थं वा, आर्यंबिल-एगठाण-पुरिमह्ठं ।
निव्वीयं दायव्वं, अहालहुसगम्मि सुद्धो वा ॥

(बृभा ६०३९-६०४४)

व्यवहार के तीन प्रकार हैं—गुरु, लघु और लघुस्वक। इन तीनों के तीन-तीन प्रकार हैं—

१. गुरुक, गुरुतरक यथागुरुक।
२. लघुक, लघुतरक, यथालघुक।
३. लघुस्वक, लघुस्वतरक, यथालघुस्वक।

गुरुक आदि नौ व्यवहारों का प्रायश्चित्त परिमाण एक मास आदि है, जो तेले आदि के तप से पूर्ण होता है। देखें यंत्र—

	व्यवहार	प्रायश्चित्त परिमाण	तप
१.	गुरुक	एकमास	तेला
२.	गुरुतरक	चार मास	चोला
३.	यथागुरुक	छह मास	पंचोला
४.	लघुक	तीस दिन	बेला
५.	लघुतरक	पच्चीस दिन	उपवास
६.	यथालघुक	बीस दिन	आचाम्ल
७.	लघुस्वक	पन्द्रह दिन	एकस्थान
८.	लघुस्वतरक	दस दिन	पूर्वाह्न
९.	यथालघुस्वक	पांच दिन	निर्विकृतिक

अथवा जिसे यथालघुस्वक व्यवहार प्राप्त है, वह शुद्ध है— प्रायश्चित्तभागी नहीं है। परिहारतपप्रायश्चित्तप्रतिपन्न उस मुनि को आलोचनाप्रदानमात्र से शुद्ध किया जाता है।

(निशीथ टब्बा तथा जयाचार्यकृत झीणी चरचा, तात्त्विक

ढाल ७ के आधार पर प्रायश्चित्तविधि का यंत्र—

प्रायश्चित्त	प्रत्याख्यान	तप	छेद
भिन्नमास	निर्विकृतिक	२५	उपवास २५ दिन २५
लघुमास	पूर्वाह्न	२७	२७ ,, २७
गुरुमास	एकासन	३०	३० ,, ३०
लघुचौमासी	आर्यंबिल	४	१०५ ,, १०५
गुरुचौमासी	उपवास	४	१२० ,, १२०
लघु छहमासी	बेला	६	१६५ ,, १६५
गुरु छहमासी	तेला	६	१८० ,, १८०

महानिशीथ के दूसरे अध्ययन तथा झीणी चरचा, तात्त्विक ढाल ८ के आधार पर उपवास आदि के अन्य मानदंडों की तालिका इस प्रकार है—

१. १२०० गाथाओं का स्वाध्याय या] एक उपवास
१६०० नवकार का जाप या	
२००० गाथाओं का वाचन	

२. ४५ नवकारसी	एक उपवास
२४ प्रहर	"
१२ पुरिमङ्ग (दो प्रहर)	"
१० अपार्थ (तीन प्रहर)	"
६ निर्विगय	"
४ एकासन	"
२ आर्यबिल	"

३. आगम की आठ गाथाओं का ध्यान में अर्थ सहित चिन्तन करना।

४. आगम की १३ गाथाओं का अर्थ सहित चिन्तन	दो उपवास
" " २० " " " " "	एक बेला
" " ४० " " " " "	एक तेला
" " ६० " " " " "	एक चोला
" " ८० " " " " "	एक पंचोला
" " १०० " " " " "	छह का थोकड़ा

इसी प्रकार बीस गाथाओं के ध्यान को बढ़ाते हुए तत्फलस्वरूप एक-एक थोकड़ा आगे बढ़ाना चाहिए।

५. पोष या माघ महीने में पछेवड़ी को बिना ओढ़े आगम की १३ गाथाओं का ध्यान करे तो प्रायश्चित्तस्वरूप प्राप्त एक उपवास, २५ गाथाओं का दो उपवास, ५० गाथाओं का चार उपवास और १०० गाथाओं का ध्यान करे तो दस उपवास उतरते हैं।

६. पोष तथा माघ महीने में रात्रि में आठ हाथ का वस्त्र पहने तथा ओढ़े तो प्रायश्चित्त रूप में प्राप्त एक तेला, तेईस हाथ ओढ़े-पहने तो एक बेला, अड़तीस हाथ ओढ़े-पहने तो एक उपवास उतरता है।

७. वैशाख तथा ज्येष्ठ महीने में एक प्रहर तक आतापना ले तो एक तेला उतरता है।

२१. प्रायश्चित्त के भेद : प्रतिसेवना आदि

पडिसेवणा य संजोयणा य आरोषणा य क्रोधव्वा ।
 पलिउंचणा चउत्थी, पायच्छित्तं चउद्धा उ ॥
 प्रतिषिद्धस्य सेवना प्रतिसेवना, अकल्प्यसमाचरणम्.....
 संयोजना शय्यातरराजपिण्डादिभेदभिन्नाऽपराधजनित-
 प्रायश्चित्तानां संकलनाकरणं,.....आरोपणा प्रायश्चित्तानामु-
 पर्युपर्यारोपणं, परिकुञ्चना गुरुदोषस्य मायया लघुदोषस्य
 कथनम् । (व्यभा ३६ वृ)

प्रायश्चित्त के चार भेद हैं—

१. प्रतिसेवना—निषिद्ध—अकल्प्य आचार का समाचरण।
 २. संयोजना—शय्यातरपिंड, राजपिंड आदि भिन्न-भिन्न अपराधजन्य प्रायश्चित्तों की संकलना।
 ३. आरोपणा—एक दोष से प्राप्त प्रायश्चित्त में दूसरे दोष के आसेवन से प्राप्त प्रायश्चित्त का आरोपण करना।
 ४. परिकुञ्चना—बड़े दोष को माया से छोटे दोष के रूप में बताना।
- * प्रतिसेवना का स्वरूप इ प्रतिसेवना

२२. संयोजना प्रायश्चित्त

सेज्जायरपिंडे या, उदउल्ले खलु तहा अभिहडे य ।
 आहाकम्मे य तहा, सत्त उ सागारिए मासा ॥
 रण्णो आधाकम्मे, उदउल्ले खलु तहा अभिहडे य ।
 दसमास रायपिंडे, उग्गमदोसादिणा चेव ॥
 एतेषां चैकाधिकारिकाणामपि नान्नात्वं न तु शय्यातर-
 पिण्डे एव शेषाण्यन्तर्भवन्ति, ततः सर्वाण्यपि पृथगालोचनी-
 यानि.....शय्यातरपिण्डे मासलघु उदकारैपि मासलघु
 स्वग्रामाहतेपि मासलघु आधाकर्मिके चत्वारो गुरुमासाः.....
 एवं शय्यातरपिण्डे अधिकृते संयोजनाप्रायश्चित्तं सप्त-
 मासाः ॥ (व्यभा १३८, १३९ वृ)

जो मुनि एक साथ शय्यातरपिंड, उदकार, अभिहत और आधाकर्म—इन चारों दोषों का सेवन करता है तो उसे इन सबकी पृथक्-पृथक् आलोचना करनी होती है, एक शय्यातरपिंड में सबका अन्तर्भाव नहीं होता।

शय्यातरपिंड, उदकार और अभिहत—इनमें से प्रत्येक का मासलघु तथा आधाकर्म का चातुर्मासिक गुरु—इस प्रकार अधिकृत शय्यातरपिंड में सप्तमासिक संयोजना प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

एक मुनि पहले राजपिंड का उभोग कर लेता है, उसकी आलोचना किए बिना ही आधाकर्म, उदकार, अभिहत आदि का उभोग करता है—ये सब पृथक्-पृथक् आलोचनीय हैं। राजपिंड में उद्गम, उत्पाद आदि दोषों की संयोजना होने पर दस मास का प्रायश्चित्त आता है।

२३. आरोपणा प्रायश्चित्त : स्वरूप और प्रकार

.....वीसे दाणाऽऽरोषणा, मासादी जाव छम्मासा ॥
 णो पणागादिभिण्णमासंता । (निभा ६२७२ चू)

निशीथ के बीसवें उद्देशक में दान आरोपणा निरूपित है। पांच अहोरात्र से भिन्न मास तक का आरोपणा प्रायश्चित्त नहीं होता। वह एक मास से छह मास पर्यंत होता है।

(किसी मुनि ने ज्ञान आदि आचार के विषय में कोई अपराध किया। उसे अमुक प्रायश्चित्त दिया गया। तदन्तर उसी मुनि ने कोई दूसरा अपराध भी कर डाला, तब उस मुनि को पहले दिए गए प्रायश्चित्त में वृद्धि कर एक महीने तक वहन करने योग्य प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसे 'मासिकी आरोपणा' कहते हैं।

पांच दिन के प्रायश्चित्त से शुद्ध होने वाला तथा एक मास के प्रायश्चित्त से शुद्ध होने वाला—ऐसे दो अपराध हो जाने पर, उस मुनि के पूर्व प्रायश्चित्त में एक मास और पांच दिन के प्रायश्चित्त की आरोपणा करना 'एक मास और पांच दिन की आरोपणा' कही जाती है। इसी प्रकार चार मास और पच्चीस दिनों की आरोपणा की जाती है।—सम २८/१ टि)

पट्टविता ठविता या कसिणाकसिणा तहेव हाडहडा।
आरोवण पंचविहा, पायच्छित्तं पुरिसजाते ॥
पट्टविता य वहंते, वेयावच्छट्टिता ठवितगा उ।
कसिणा झोसविरहिता, जहिं झोसो सा अकसिणा उ ॥
उग्घातमणुग्घातं, मासादितवो उ दिज्जते सज्जं।
मासादी निक्खित्ते, जं सेसं तं अणुग्घातं ॥
छम्मासादि वहंते, अंतरे आवण्ण जा तु आरुवणा।
सा होति अणुग्घाता तिन्नि विगप्या उ चरिमाए ॥
सा पुण जहन-उक्कोस-मज्झिमा होति तिन्नि तु विगप्या।
मासो छम्मासा वा, अजहन्नुक्कोस जे मज्झो ॥

(व्यभा ५९९-६०३)

प्रायश्चित्त पुरुष की क्षमता आदि के आधार पर दिया जाता है। इस प्रसंग में आरोपणा के पांच प्रकार हैं—

१. प्रस्थापिता—आरोपित प्रायश्चित्त को वहन करना।
२. स्थापिता—वैयावृत्यकाल में प्राप्त प्रायश्चित्त को वैयावृत्य समाप्ति तक स्थापित (स्थगित) करना।
३. कृत्स्ना—आरोपित प्रायश्चित्त में झोष (न्यूनता) न करना, उसे पूर्ण रूप से वहन करना। (वर्तमान शासन में तप की उत्कृष्ट अवधि छह मास की है। जिसे इस अवधि से अधिक तप प्राप्त न हो, उसकी आरोपणा को अपनी अवधि में परिपूर्ण होने के कारण कृत्स्ना आरोपणा कहा जाता है।)

४. अकृत्स्ना—आरोपित प्रायश्चित्त को कुछ कम कर देना। (जिसे छह मास से अधिक तप प्राप्त हो, उसकी आरोपणा अपनी अवधि में पूर्ण नहीं होती। छह मास से अधिक तप नहीं दिया जाता। उसे उसी अवधि में समाहित करना होता है। इसलिए उसे अपूर्ण होने के कारण अकृत्स्ना आरोपणा कहा जाता है। आरोपणा के द्वारा प्रायश्चित्त का समीकरण दिया जाता है।)

५. हाडहडा—प्राप्त प्रायश्चित्त को शीघ्र ही दे देना। इसके तीन प्रकार हैं—

० सद्योरूपा हाडहडा—लघु या गुरु मासिक आदि तप, जो भी प्रायश्चित्त प्राप्त है, उसे तत्काल देना, कालक्षेप न करना।

० स्थापिता हाडहडा—प्राप्त प्रायश्चित्त को वैयावृत्यकरणकाल में स्थापित करना तथा उस काल में अन्य लघु, गुरु जो भी प्राप्त हो, प्रमादनिवारण के लिए उसे सारा गुरु प्रायश्चित्त ही देना।

० प्रस्थापिता हाडहडा—तप वहन काल में अन्य लघु-गुरु प्राप्त हो तो उसे गुरु प्रायश्चित्त ही देना। इसके तीन विकल्प हैं—जघन्य—गुरु मास। उत्कृष्ट—छह गुरु मास। अजघन्योत्कृष्ट—दो यावत् पांच गुरु मास।

० स्थापना-आरोपणा क्या? क्यों?

बहुपडिसेवी सो वि य, गीतोऽगीतो वि अपरिणामो य।
अहवा अतिपरिणामो, तप्यच्चयकारणा ठवणा ॥

यावन्तो मासा दिवसा वा प्रतिसेवितास्तावन्तः सर्वे एकत्र स्थाप्यन्ते...यत् संक्षेपाहं विशिकादिकं प्रतिसेवितं तत् स्थाप्यते, एषा स्थापना। तदनन्तरं येऽन्ये मासाः प्रतिसेवितास्ते सफली-कर्त्तव्या इत्यकैकस्मात् मासात् प्रतिसेवनापरिमाणानुरूपं स्तोकान् स्तोकतरान् समान् विषमान् वा दिवसान् गृहीत्वा एकत्र रोपयति एषा आरोपणा, एषा चोत्कर्षतस्तावत् कर्त्तव्या, यावत्त्या स्थापनया सह संकलद्यमानाः षण्मासाः पूर्यन्ते नाधिकाः। ततः स्थापनारोपणयोर्यदेकत्र संकलनमेषः संचयः, अयं स्थापनारोपणासंचयानां परस्परप्रतिभक्तोऽर्थः।

(व्यभा ३५२ वृ)

ठवणा होति जहन्ना, वीसं राइंदियाणि पुण्णाइं।
पण्णइं चेव सयं, ठवणा उक्कोसिया होति ॥
आरोवणा जहन्ना, पन्नराइंदियाइ पुण्णाइं।
उक्कोसं सद्विसंतं, दोसु वि पक्खेवगो पंच ॥

पंचणहं परिवृद्धी, ।.....
तीसं ठवणाठाणा, तीसं आरोवणाय ठाणाइं ।.....
(व्यभा ३५८-३६०, ३६३)

प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले ये पुरुष होते हैं—गीतार्थ, अगीतार्थ, अपरिणामक और अतिपरिणामक। जो बहुत मासिकस्थानों का प्रतिसेवा है, वह यदि अगीतार्थ, अपरिणामक या अतिपरिणामी है तो उसके प्रत्यय के लिए स्थापना-आरोपणा की जाती है।

जितने मास या दिवस की प्रतिसेवना की है, उन सबको एकत्र स्थापित किया जाता है, उन्हें स्थापित कर बीस दिन आदि की संक्षेपार्ह प्रतिसेवना को स्थापित किया जाता है—यह स्थापना है। तत्पश्चात् जो अन्य प्रतिसेवित मास हैं, उन सबका प्रायश्चित्त वहन करना है—यह सोचकर एक-एक मास से प्रतिसेवना-परिमाण के अनुरूप अल्प-अल्पतर सम या विषम दिनों को ग्रहण कर एकत्र रोपित किया जाता है—यह आरोपणा है।

स्थापना के साथ संकलित करने पर जब तक छह मास पूर्ण न हों, तब तक आरोपणा करनी चाहिए। स्थापना और आरोपणा का जो एकत्र संकलन है, वह संचय कहलाता है। स्थापना, आरोपणा और संचय का अर्थ परस्पर प्रतिभक्त/अविभक्त है।

स्थापना-आरोपणा स्थान—तीस स्थापनास्थान और तीस आरोपणास्थान हैं। प्रथम स्थापनास्थान में जघन्य स्थापना परिपूर्ण बीस अहोरात्र, मध्यम स्थानों में उत्तरोत्तर पांच-पांच की वृद्धि होती है। यथा—पञ्चीस, तीस आदि। अंतिम तीसवें स्थापना स्थान में उत्कृष्ट एक सौ पैंसठ अहोरात्र स्थापनीय हैं।

यही क्रम आरोपणा का है, विशेष इतना है कि स्थापना स्थान में जघन्य आरोपणा पन्द्रह अहोरात्र और उत्कृष्ट आरोपणा एक सौ साठ अहोरात्र होती है।

० आरोपणा छह मास की क्यों ? धान्यपिटक दृष्टांत

पंचादी आरोवण, नेयव्वा जाव हॉति छम्मासा।
तेण पणगादियाणं, छणहुवरिं झोसणं कुज्जा॥
किं कारणं न दिज्जति, छम्मासाण परतो उ आरुवणा।
भणति गुरु पुण इणमो, र्जं कारणं झोसिया सेसा॥
आरोवणानिप्फणणं, छउमत्थे जं जिणेहिं उक्कोसं।
तं तस्स उ तित्थम्मी, ववहरणं धन्नपिडगं वा॥

जो जया पत्थिवो होति, सो तदा धन्नपत्थगं।
ठावित्तेऽन्नं पुरिल्लेणं, ववहरंते य दंडए॥
(व्यभा १४०-१४३)

पूर्व प्राप्त प्रायश्चित्त में पांच अहोरात्र से लेकर छह मास पर्यंत आरोपणा प्रायश्चित्त जानना चाहिए। छह मास से पांच अहोरात्र आदि अधिक हों तो वे सब त्याज्य हैं।

शिष्य ने पूछा—भंते! छह मास से अधिक की आरोपणा क्यों नहीं दी जाती? गुरु ने कहा—जो तीर्थकर छद्मस्थ काल में जितना उत्कृष्ट तप करते हैं, उनके तीर्थ में उतने ही प्रमाण में आरोपणा-निष्पन्न तपःकर्म का व्यवहार होता है, उससे अधिक नहीं।

राजा अपने शासनकाल में जिस धान्यप्रस्थक को स्थापित करता है, उस काल में धान्यमापन के लिए वही प्रस्थक मान्य होता है। जो व्यक्ति पुराने अथवा स्वबुद्धिकल्पित प्रस्थक का व्यवहार करता है, वह दंडित होता है।

० विषम प्रायश्चित्त : तुल्य विशोधि

पुणारवि चोएति ततो, पुरिमा चरमा य विसमसोहीया।
किह सुज्झंती ते ऊ, चोदग! इणमो सुणसु वोच्छं॥
कालस्स निद्धयाए, देहबलं धित्तिबलं च जं पुरिमे।
तदणंतभागहीणं, कमेण जा पच्छिमा अरिहा॥
संवच्छरेणावि न तेसि आसी, जोगाण हाणी दुविहे बलम्मि।
जे यावि धिज्जादि अणोववेया, तद्धम्मया सोधयते त एव॥
पत्थगा जे पुरा आसी, हीणमाणा उ तेऽधुणा।
माणभंडाणि धन्नाणं, सोधिं जाणे तहेव उ॥
(व्यभा १४५-१४८)

शिष्य ने पूछा—भंते! तब तो प्रथम तीर्थकर, मध्यवर्ती तीर्थकरों तथा चरम तीर्थकर के शिष्यों का प्रायश्चित्त विषम होगा और शोधि भी विषम होगी। वे पूर्ण रूप से शुद्ध कैसे होंगे?

गुरु ने कहा—वत्स! प्रथम तीर्थकर के काल में काल की स्निग्धता के कारण साधकों का जो शारीरिक बल और धृतिबल था, चरम तीर्थकर के काल में वह बल क्रमशः हीन होता हुआ अनंत भाग हीन हो गया। शरीरबल और धृतिबल की विषमता के कारण विषम प्रायश्चित्त का विधान है।

प्रथम तीर्थकर के काल में दोनों प्रकार के बलों—शारीरिक बल और धृतिबल के उपचय के कारण बारह मास तक निरंतर तप करने पर भी साधुओं के संयमयोगों की हानि नहीं होती थी। शेष तीर्थकरों के काल में कालदोष के कारण साधु धृतिबल आदि से संपन्न नहीं रहे, किन्तु वे तद्धर्मता—प्रथम अर्हत् के साधुओं की तरह अशठता, बीर्य का अनिगूहन आदि के कारण उनके समान ही शोधि को प्राप्त कर लेते हैं।

प्राचीन काल में धान्य का प्रमाण करने वाले जो मानभांड—प्रस्थक थे, वे अब हीन-हीनतर मान वाले हो गए। फिर भी धान्य का परिमाण उन्हीं से होता है क्योंकि संख्या व्यवहार (एक, दो, तीन, चार आदि) सदा समान रहता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त की विषमता होने पर भी अशठभाव से किया जाने वाला तपःकर्म सभी (प्राचीन और अर्वाचीन) मुनियों की शोधि का कारण बनता है।

० शासनभेद और उत्कृष्ट प्रायश्चित्त

बारस अट्टग छक्कग, माणं भणितं जिणेहि सोधिकरं।॥॥

(व्यभा ४०२)

प्रायश्चित्त का उत्कृष्ट कालमान तीन प्रकार का है—

- ० प्रथम तीर्थकर ऋषभ के शासन में बारह मास का।
- ० मध्यम बाईस तीर्थकरों के शासन में आठ मास का।
- ० चौबीसवें तीर्थकर महावीर के शासन में छह मास का।
- ० उत्कृष्ट प्रायश्चित्त : जीत व्यवहार

इह जीतकल्पोऽयं, यस्य तीर्थकरस्य यावत्प्रमाण-
मुत्कृष्टं तपःकरणं, तस्य तीर्थे तावदेव शेषसाधूनामुत्कृष्टं
प्रायश्चित्तदानम्। (व्यभा ३२४ की वृ)

जिस तीर्थकर का जितना उत्कृष्ट तप होता है, उसके शासन में शेष साधुओं को उत्कृष्ट प्रायश्चित्त उतना ही दिया जाता है—यह जीतकल्प है।

० गीतार्थ के प्रायश्चित्त में स्थापना-आरोपणा नहीं

एगम्मि णेगदाणे, णेगेसु य एगदाणमेगेगं।
जं दिज्जति तं गिण्हति गीतमगीतो य परिणामी॥
बहुएसु एगदाणे, सोच्छिय सुद्धो न सेसगा मासा।
माऽपरिणामे, संका, सफला मासा कता तेणं॥
ठवणामेत्तं आरोवण ति इति नाउमतिपरीणामो।
कुज्जा व अतिपसंगं, बहुए सेवित्तु मा विगडे॥
(व्यभा ३५३-३५५)

जो गीतार्थ है या परिणामी अगीतार्थ है, उसे यदि एक मासिकी प्रतिसेवना में (उत्तरोत्तर राग-द्वेष की वृद्धि के कारण) अनेक मास, अनेक मासिकी प्रतिसेवना में (अध्यवसाय की मंदता के कारण) एक मास अथवा एक मासिकी प्रतिसेवना में एक मास का प्रायश्चित्त दिया जाता है (अथवा सात-आठ-मासिकी प्रतिसेवना में छह, पांच या चार मास का प्रायश्चित्त दिया जाता है), तो वह उसे सम्यक् ग्रहण करता है, शुद्धि में श्रद्धा करता है, अतः वहां स्थापना-आरोपणा विधि से प्रायश्चित्त दान का प्रयोजन नहीं है।

बहुमासिक प्रतिसेवना में एकमासिक प्रायश्चित्त मिलने पर अपरिणामी सोचता है कि जिस एक मास का मुझे प्रायश्चित्त दिया है, वह एक मास ही शुद्ध हुआ है, शेष मास नहीं—इस आशंका से बचने के लिए स्थापना-आरोपणा की विधि से प्रायश्चित्त देकर अपरिणामी के सब मास सफल किए जाते हैं।

बहुमासिक प्रतिसेवना में एक मासिक प्रायश्चित्त देने पर अतिपरिणामी कहता है—आगम में जो आरोपणा प्रायश्चित्त है, वह स्थापनामात्र है—ऐसा जानकर वह अतिप्रसंग करता है—पुनः-पुनः अकरणिय में प्रवृत्त होता है। बहुमासिक प्रतिसेवना करके भी आलोचना नहीं करता। अतः अतिपरिणामी की स्थापना-आरोपणा के प्रकार से प्रायश्चित्त दिया जाता है।

सुबहूहि वि मासेहिं, छम्मासाणं परं न दातव्वं।
अविकोवितस्स एवं, विकोविए अन्नहा होति॥
गीतो विकोविदो खलु, कतपच्छित्तो सिया अगीतो वि।
छम्मासिय षट्ठवणाय तस्स सेसाण पक्खेवो॥
(व्यभा ४५९, ४६१)

बहुत अधिक मासार्ह प्रतिसेवना करने पर भी छह मास से अधिक प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता।

अपरिणामी या अतिपरिणामी अकोविद को स्थापना-आरोपणा विधि से अतिरिक्त सब मासों को सफल कर षण्मासिक तप दिया जाता है। विकोविद को प्रायश्चित्त अन्यथा दिया जाता है—सुबहुमासिक प्रतिसेवना करने पर भी शेष सब मासों को छोड़कर छहमासिक तप दिया जाता है, यहां स्थापना-आरोपणा विधि का प्रयोग नहीं किया जाता।

जो कृतप्रायश्चित्त गीतार्थ है, वह विकोविद है। जो अगीतार्थ है, प्रथम बार प्रायश्चित्त स्वीकार करता है या कहने पर भी जो सम्यक् परिणत नहीं होता, वह अविकोविद है।

यदि कोविद षण्मासिक तप आरंभ कर अंतरालकाल में मासिक आदि प्रतिसेवना करता है तो छह मास के जो शेष मास या दिवस हैं, उन्हीं में पुनः मासिक आदि प्रायश्चित्त का प्रक्षेप कर दिया जाता है, छह मास पूर्ण होने पर तद्विषयक भिन्न प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता।

० वणिक्-मरुक और निधि दृष्टान्त

वणिक्मरुगनिही य पुणो, दिद्वंता तत्थ होंति कायव्वा ।
गीतत्थमगीताण य, उवणयणं तेहि कायव्वं ॥
वीसं वीसं भंडी, वणिमरुसव्वा य तुल्लभंडीओ ।
वीसतिभागं सुकं, मरुगसरिच्छो इहमगीतो ॥
अहवा वणिमरुगेण य, निहिलंभञ्जनिवेदिते वणियदंडो ।
मरुए पूयविसज्जण, इय कज्जमकज्ज जतमज्जते ॥
(व्यभा ४५४-४५६)

० एक वणिक् और एक मरुक—दोनों व्यापार करने निकले। दोनों ने बीस-बीस शकट माल से भर कर एक साथ प्रस्थान किया। सभी शकटों में समान माल था और सभी समान वजन वाले थे। मार्ग में शुल्कपाल ने प्रत्येक शकट से बीसवां-बीसवां भाग शुल्करूप में मांगा। वणिक् चतुर था। उसने सोचा, प्रत्येक शकट से बीसवां भाग देने से माल को उतारने-चढ़ाने में श्रम होगा, इसलिए उसने बीस शकटों में से एक शकट का माल शुल्कपाल को दे दिया, जो प्रत्येक शकट का बीसवां भाग था। मरुक ने प्रत्येक शकट से बीसवां भाग दिया। उसे अत्यंत श्रम करना पड़ा।

वणिक् सदृश गीतार्थ स्थापना-आरोपणा के बिना ही प्रायश्चित्त को स्वीकार कर लेता है। अगीतार्थ मरुक सदृश होता है। उसे स्थापना-आरोपणा के विधान से प्रायश्चित्त देना होता है।

० निधि दृष्टान्त—एक वणिक् को नींव खोदते समय निधि प्राप्त हुई। उसने राजा को निवेदन नहीं किया। राजा ने वणिक् को दंडित किया और निधि का भी हरण कर लिया। मरुक को भी निधि प्राप्त हुई। उसने सारा वृत्तान्त बता दिया। राजा ने मरुक की प्रशंसा की और निधि भी उसको दक्षिणा के रूप में दे दी।

जो कार्य के प्रति यत्नवान् होता है, वह मरुक की भांति लाभान्वित होता है। जो कार्य के प्रति अयत्नवान् और अकार्य के प्रति यत्नवान् होता है, वह वणिक् की भांति हानि में रहता है।

० कृत्स्न आरोपणा के छह प्रकार

यडिसेवणा य संचय, आरुवणाअणुगुहे य बोधव्वे ।
अणुघातनिरवसेसं, कसिणं पुण छव्विहं होति ॥
पारंचि सतमसीतं छम्मासारुवणछद्दिणगतेहिं ।
कालगुरुनिरंतरं व, अणूणमधियं भवे छट्टं ॥
(व्यभा ५७२, ५७३)

कृत्स्न (निरवशेष) के छह प्रकार हैं—

१. प्रतिसेवना कृत्स्न—पारांचित।
२. संचय कृत्स्न—एक सौ अस्सी मास।
३. आरोपणा कृत्स्न—छहमासिक।
४. अनुग्रह कृत्स्न—छहमासिक तप के छह दिन बीतने पर अन्य छहमासिक तप पुनः प्राप्त होने पर पूर्व के पांच मास चौबीस दिन झोषित-परित्यक्त हो जाते हैं।
५. अनुद्घात कृत्स्न—काल गुरु आदि। अथवा निरन्तर प्रायश्चित्त दान।
६. निरवशेष कृत्स्न—अन्यूनाधिक।

० अनुग्रह कृत्स्न और निरनुग्रह कृत्स्न प्रायश्चित्त

छहि दिवसेहि गतेहिं, छण्हं मासाण होंति पक्खेवो ।
छहि चेव य सेसेहिं छण्हं मासाण पक्खेवो ॥

ये ते प्रस्थापिताः षण्मासास्तेषां षड् दिवसा व्यूढास्तदनन्तरमन्यान् षण्मासानापन्नास्ततः पूर्वं प्रस्थापित-षण्मासानां पञ्चमासाश्चतुर्विंशतिदिनाश्च झोष्यन्ते। झोष-यित्वा च तत्र पाश्चात्याः षण्मासाः प्रक्षिप्यन्ते।.....एवं पाश्चात्यानामपि षण्मासानां षड् दिवसा झोषिता इति। एतद् धृत्ति-संहननाभ्यां दुर्बलमपेक्ष्यानुग्रहकृत्स्नमेषः मित्रवाचकक्षमा-श्रमणानामादेशः। साधुरक्षितगणिकक्षमाश्रमणाः पुनरेवं ब्रुवते,तेषां षण्णां मासानां षट् दिवसाः प्रायश्चित्तं, शेषं समस्तमपि झोषितं, पूर्व-प्रस्थापितषण्मासानामपि षट् दिवसाः झोषिताः। एतद् धृत्ति-संहननदुर्बलमपेक्ष्यानुग्रहकृत्स्नम्। (व्यभा ४९२ वृ)

प्रस्थापित छहमासिक प्रायश्चित्त के छह दिन बीतने पर यदि किसी दोष के प्रायश्चित्त के रूप में पुनः छहमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तो पूर्व प्रायश्चित्त के पांच मास और चौबीस दिन की झोषणा (परित्याग) कर पश्चात्पूर्वी छह मास का पूर्ववर्ती में प्रक्षेप कर दिया जाता है। जो धृत्ति-संहनन से दुर्बल है, उसके

लिए यह अनुग्रह कृत्स्न प्रायश्चित्त है—ऐसा मित्रवाचक क्षमाश्रमण का आदेश (कथन) है।

साधु रक्षितगणि क्षमाश्रमण कहते हैं—छह मासिक प्रायश्चित्त का वहन कर लिया हो, केवल छह दिन शेष रह गए हों और उसी बीच अन्य छह मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त हो जाए तो वे छह मास उन छह दिनों में प्रक्षिप्त कर दिये जाते हैं तथा पूर्व प्रस्थापित के छह दिन झोषित होते हैं। इस प्रकार बारह मास का प्रायश्चित्त छह मास में ही वहन कर लिया जाता है—यह अनुग्रह कृत्स्न प्रायश्चित्त धृति-संहनन से दुर्बल व्यक्ति की अपेक्षा से है।

एवं बारसमासा, छद्दिवसूणा तु जेट्टपट्टवणा।....

पाश्चात्यं षण्मासिकं परिपूर्णं दीयते। धृतिसंहनन-बलिष्ठत्वात्, एवं च षण्मासाः षड्भिर्दिवसैर्न्यूनाः पूर्वस्थापिताः पाश्चात्याः परिपूर्णाः षण्मासाः ततः सर्वसंकलनया द्वादशमासाः षड्भिर्दिवसैर्न्यूना भवन्ति। एषा ज्येष्ठा प्रस्थापना—दानम्। (व्यभा ४९३ वृ)

कोई मुनि छहमासिक तप प्रायश्चित्त का वहन कर रहा है, केवल छह दिन शेष हैं, अन्य समस्त दिन वहन कर चुका है, इसी मध्य अन्य छहमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त हो गया हो तो अवशिष्ट छह दिन झोषित (परित्यक्त) हो जाते हैं। धृति-संहनन की सबलता के कारण पश्चाद्वर्ती छहमासिक प्रायश्चित्त परिपूर्ण दिया जाता है। पूर्वप्रस्थापित छह दिन न्यून छहमास और पश्चात् आगत परिपूर्ण छह मास—इस प्रकार कुल मिलाकर छह दिन कम बारह मास हो जाते हैं। यह ज्येष्ठ प्रस्थापना—दान है—यह निरनुग्रह कृत्स्न प्रायश्चित्त है।

० दुर्बल को प्रायश्चित्त कम क्यों ?

चोदेति रागदोसे, दुब्बलबलिते य.....।
भिण्णे खंधग्गिम्मि य, मासचउम्मासिए चेडे ॥
(व्यभा ४९४)

शिष्य ने जिज्ञासा की—भंते! दुर्बल व्यक्ति पश्चात् प्राप्त छहमासिक प्रायश्चित्त का पूर्वप्रस्थापित के शेष रहे छह दिनों में ही वहन कर लेता है, इससे तो आपका दुर्बल के प्रति राग और बलिष्ठ के प्रति द्वेष परिलक्षित हो रहा है।

गुरु ने कहा—शिष्य! भिन्न—अरणिघर्षण से उत्पन्न आग

बड़े काष्ठ को नहीं जला सकती और शीघ्र बुझ जाती है। वही श्लक्ष्ण काष्ठ या छगण आदि के चूर्ण में डालने से क्रमशः प्रबल हो जाती है। इसी प्रकार धृति-संहनन से दुर्बल व्यक्ति पुनः पुनः छहमासिक तप करता हुआ विषाद को प्राप्त होता है।

स्कन्धाग्नि—बड़े काष्ठ की आग बड़े काष्ठ को जलाने में समर्थ होती है। इसी प्रकार धृति-संहनन से सुदृढ़ व्यक्ति छह मास की पुनः पुनः आरोपणा से विषण्ण नहीं होता।

एक माह के शिशु को चार माह के शिशु का आहार देने पर वह अजीर्ण रोग से ग्रस्त हो जाता है। चार माह के शिशु को एक माह के शिशु का आहार देने पर वह दुर्बल हो जाता है।

एक माह के शिशु को अल्प और चार माह के शिशु को प्रचुर आहार देने वाला पक्षपात के दोष से दूषित नहीं होता। दुर्बल और सबल को शास्त्रोक्त विधि से प्रायश्चित्त देने वाला राग-द्वेष के आरोप से मुक्त होता है।

तं दिज्जउ पच्छित्तं, जं तरती सा य कीरती मेरा।
जा तीरति परिहरिउं, मोसादि अपच्चओ इहरा॥
जो जत्तिएण सुज्झति, अवराधो तस्स तत्तियं देति।.....

(व्यभा ६६०, ६६१)

प्रायश्चित्तार्ह को उतना प्रायश्चित्त देना चाहिए, जितना वह वहन कर सके। मर्यादा वैसी करनी चाहिए, जिसका पालन किया जा सके। मात्रा से अधिक प्रायश्चित्त देने से गुरु को मृषा दोष तथा आशातना दोष लगता है। शिष्य में आचार्य के प्रति अविश्वास पैदा हो जाता है। अतः देश, काल और शारीरिक शक्ति को ध्यान में रखकर आचार्य, जितने प्रायश्चित्त से अपराध की विशोधि होती है, उतना ही प्रायश्चित्त देते हैं।

२४. प्रतिकुंचना प्रायश्चित्त

दव्वे खेत्ते काले, भावे पलितंचणा चउविगप्पा।.....
सच्चित्ते अच्चित्तं, जणवयपडिसेवितं तु अद्धाणे।
सुम्भिकखम्मि दुभिकखे, हट्टेण तथा गिलाणेणं॥
अन्यथा प्रतिसेवितमन्यथा कथ्यते, यया सा प्रति-
कुञ्चना।
(व्यभा १४९, १५० वृ)

दोषसेवन कर उसे अन्यथा कहना परिकुंचना है। उसके चार विकल्प हैं—

१. द्रव्य प्रतिकुंचना—सचित्त की प्रतिसेवना कर साधु कहे कि मैंने अचित्त की प्रतिसेवना की है—यह द्रव्यसंबंधी माया है।
२. क्षेत्र प्रतिकुंचना—जनपद में प्रतिसेवना कर इस रूप में कहे कि मैंने मार्ग में प्रतिसेवना की है।
३. काल प्रतिकुंचना—सुभिक्ष में प्रतिसेवना कर कहे कि मैंने दुर्भिक्ष में प्रतिसेवना की है।
४. भाव प्रतिकुंचना—स्वस्थ अवस्था में प्रतिसेवना कर इस रूप में आलोचना करे कि मैंने ग्लान अवस्था में प्रतिसेवना की है।

० ऋजुता से आलोचना : न्यून प्रायश्चित्त

जे भिक्खू मासियं परिहारदुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचियं आलोए-माणस्स दोमासियं ॥
(नि २०/१ चू)

जो भिक्षु मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना कर ऋजुता से आलोचना करता है, वह मासिक प्रायश्चित्त तथा जो मायापूर्वक आलोचना करता है, वह दोमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

केनापि गीतार्थेन कारणे अयतनया त्रीन् वारान् बहून् वारान् वा मासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेवितमालोचनाकाले चाप्रति-कुञ्चनयालोचितं तस्मै एकमेव मासिकं प्रायश्चित्तं...कारण-प्रतिसेवनायाः कृतत्वात्। अथ प्रतिकुञ्चनयालोचयति, ततो द्वितीयमासो मायानिष्पन्नो गुरुदीयते। (व्यभा ३२४ की वृ)

कोई गीतार्थ सकारण अयतना से तीन बार या बहुत बार मासिक परिहारस्थान प्रतिसेवना कर आलोचना काल में ऋजुता से आलोचना करता है तो उसे एकमासिक और जो माया से आलोचना करता है, उसे द्वैमासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। दूसरा मास गुरुमास होता है।

जो जं काउ समत्थो, सो तेण विसुज्जते असदभावो।
गूहितबलो न सुज्जति, ॥
(व्यभा ५५७)

जो जिस तप को करने में समर्थ है, वह उसे ऋजुभाव से करता है तो शुद्ध हो जाता है। अपने वीर्य का गोपन करने वाला शुद्ध नहीं होता।

२५. प्रायश्चित्तदान के अधिकारी

केवल-मणपज्जवनाणिणो य ततो य ओहिनाणजिणा।
चोहस-दस-नवपुव्वी, कप्पधर पकप्पधारी य॥

घेषंति च सहेणं, निज्जुत्ती-सुत्त-पेटियधरा य।
आणा-धारण-जीते य होति पभुणो उ पच्छित्ते ॥

....नवमस्य पूर्वस्य यत् तृतीयमाचारनामकं वस्तु तावन्मात्रधारिणोऽपि नवपूर्विणः, तथा कल्पधराः कल्प-व्यवहारधारिणः प्रकल्पो निशीथाध्ययनं तद्धारिणः...निर्युक्तिर्या भद्रबाहुस्वामिकृता, सूत्रपीठिका निशीथकल्पव्यवहारप्रथम-पीठिका गाथारूपाः तथा आज्ञायां धारणे जीते च य व्यव-हारिणः...एते प्रायश्चित्तदाने प्रभवः। (व्यभा ४०३, ४०४ वृ)

प्रायश्चित्त देने के लिए अधिकृत हैं—केवलज्ञानी, मनः-पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दसपूर्वी, नौपूर्वी—नौवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु के धारक भी नौपूर्वी हैं तथा कल्प, व्यवहार और निशीथ के ज्ञाता, भद्रबाहुस्वामीकृत निर्युक्ति के धारक, निशीथ, कल्प और व्यवहार सूत्रों की पीठिका के धारक, आज्ञाव्यवहारी, धारणाव्यवहारी और जीतव्यवहारी।

* प्रकल्पधर प्रायश्चित्तदानार्ह इ छेदसूत्र
जो जत्तिएण रोगो, पसमति तं देति भेसजं वेज्जो।
एवागम-सुतनाणी, सुज्जति जेणं तयं देति ॥
अवि य हु सुत्ते भणियं, सुत्तं विसमं ति मा भणसु एवं।
संभवति न सो हेऊ, अत्ता जेणातियं बूया ॥
(व्यभा ३२६, ३२८)

जो रोग पुरुष की प्रकृति के अनुसार औषध की जितनी मात्रा से उपशांत होता है, वैद्य रोगी को उतनी ही मात्रा में औषध देता है। इसी प्रकार आगम-श्रुतज्ञानी गीतार्थ-अगीतार्थ को उतनी मात्रा में प्रायश्चित्त देते हैं, जितनी मात्रा से उनकी शोधि होती है।

सूत्रों में विषम प्रतिसेवनाओं के लिए भी तुल्य प्रायश्चित्त प्रतिपादित है। कोई कहे कि सूत्र ही विषम है तो यह कथन ठीक नहीं है। सूत्र के अर्थकर्ता अर्हत् हैं, वीतराग हैं। उनमें ऐसा कोई कारण संभव नहीं है, जिससे वे असत्य कहें। विषम भाषण के तीन कारण हैं—राग, द्वेष और मोह। अर्हत् इनसे अतीत होते हैं—

रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात्? ॥
दोसविभवाणुरूवो, लोए दंडो वि किमुत् उत्तरिए।
तित्थुच्छेदो इहरा, निराणुकंपा न य विसोही ॥

(व्यभा १७२)

लोक में भी दोष और विभव (धन अथवा सामर्थ्य) के अनुरूप दण्ड दिया जाता है तो लोकोत्तर की तो बात ही क्या? अन्यथा तीर्थ का उच्छेद हो जाता है। प्रायश्चित्तदाता निष्करुण हो तो अपराधी की विशोधि भी नहीं होती।

२६. दोष-स्वीकृति के बिना प्रायश्चित्त नहीं

पम्हुट्टे षडिसारण, अप्यडिवज्जंतयं न खलु सारे।

जइ षडिवज्जति सारे, दुविहउतियारं पि पच्चक्खी ॥

(व्यभा ३१९)

कोई साधु मूलगुण-उत्तरगुण संबंधी अतिचारों की आलोचना करते हुए कुछ आलोचनीय को भूल जाता है तो आगमव्यवहारी उसे वह आलोचनीय बात याद दिला देते हैं। यदि वह स्वीकार कर लेता है तो ठीक है, अन्यथा उसे प्रतिस्मरणा नहीं करवाते।

(वे जान लेते हैं कि यह स्वीकार नहीं करेगा, इसलिए उसे निष्फल स्मरणा नहीं करवाते। आगमव्यवहारी अमूढलक्ष्य होते हैं। आलोचक के अस्वीकार करने पर उसे प्रायश्चित्त नहीं देते।)

२७. दोषों के एकत्व के हेतु

जिणचोइसजातीए, आलोयणदुब्बले य आयरिए।

एतेण कारणेणं दोसा एगत्तमावन्ना ॥

घतकुडुगो उ जिणस्सा, चोइसपुव्विस्स नालिया होति।

दव्वे एगमणोगे, निसज्ज एगा अणोगा य ॥

मास-चउमासिएहिं, बहुहि वेगं तु दिज्जते सरिसं। ॥

जातिद्विधा—प्रायश्चित्तकजातिर्द्रव्यजातिश्च। तत्र प्रायश्चित्तकजातिमधिकृत्येदमुच्यते, “बहुषु लघुमासिकेषु प्रतिसेवितमासानामपि सादृश्यत्वात् आलोचनायामपि सर्वेषामशठभावेनैकवेलायामालोचितत्वात् एकं लघुमासिकं दातव्यं, एवं बहुषु गुरुमासिकेषु प्रतिसेवितेष्वेकं गुरुकम्।

(व्यभा ४३७, ४३८, ४४५ वृ)

विभिन्न दोषों के एकत्व में छह हेतु बनते हैं—

- | | |
|-------------------|------------------|
| १. जिन | ४. आलोचना |
| २. चौदहपूर्वी आदि | ५. दुर्बल अपराधी |
| ३. एकजातीय दोष | ६. आचार्य |

जिन के लिए घृतकुटक तथा चौदहपूर्वी के लिए नालिका दृष्टांत निरूपित है। एकजातीय में एक-अनेक द्रव्यविषयक तथा आलोचना में एक-अनेक निषद्या विषयक कथन है।

० जाति के दो प्रकार हैं—प्रायश्चित्तकजाति तथा द्रव्यजाति। यहां प्रायश्चित्तकजाति गृहीत है। मास, चतुर्मास आदि प्रायश्चित्त की अनेक जातियां—प्रकार हैं। उनको पिंडित कर प्रायश्चित्त का कथन किया जाता है। जैसे—किसी ने बहुत लघुमासिक प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवनाएं मंद अनुभावों से की हैं, उन सबकी आलोचना एक साथ एक समय में करता है, ऋजुभावों से आलोचना करता है और प्रतिसेवित मासों की सदृशता है तो उसे उन सब एकजातीय प्रतिसेवनाओं का एक लघुमासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसी प्रकार बहुत गुरुमासिक प्रतिसेवनाओं का एक गुरुमासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है।

० एक आलोचना एक निषद्या—गुरु जितनी बार आलोचना देते हैं, उतनी बार निषद्या करनी होती है। सभी अपराधों की एक साथ आलोचना देने पर एक ही निषद्या करनी होती है।

० जिन : घृतकुट दृष्टांत

उप्यत्ती रोगाणं, तस्समणे ओसधे य विब्भंगी।

नाउं तिविधामयिणं, देति तथा ओसधगणं तु ॥

एक्केणेक्को छिज्जति, एगेण अणेग णोगेहिं एक्को।

णोगेहिं पि अणेगे, षडिसेवा एव मासेहिं ॥

एक्कोसहेण छिज्जंति, केइ कुविता य तिणिण वातादी।

बहुएहिं छिज्जंती, बहुहि एक्केक्कतो वा वि ॥

विब्भंगी व जिणा खलु, रोगी साहू य रोग अवराहा।

सोधी य ओसहाइं, तीए जिणा उ वि सोहंति ॥

एसेव य दिट्ठंतो, विब्भंगिकतेहिं वेज्जसत्थेहिं।

भिसजा करंति किरियं, सोहंति तधेव पुव्वधरा ॥

मिथ्यादृष्टिरुत्पन्नाऽवधिर्विभंगी...क्वचिदेकेन घृतकुटेन एको वातादिको रोगः छिद्यते, एष प्रथमो भंगः क्वचिदेकेन-घृतकुटेन अनेके त्रयोपि वातादयो दोषाः छिद्यन्ते, एष द्वितीयः तथा क्वचिदनेकैर्घृतकुटैरेकोऽत्यंतमवगाढो रोगो वातादि-कश्छेदमुपयाति एष तृतीयः, क्वचिदनेकैर्घृतकुटैरेके वातादयो दोषा उपशाम्यन्ति, एष चतुर्थो भंगः...विभंगज्ञानिनः सर्वरोगाणां निदानमेकानेकौषधसामर्थ्यं चावबुध्यमाना उपसम्पन्नानां रोगिणां घृताद्यौषधगणं प्रयुज्जन्ते। (व्यभा ४३९-४४३ वृ)

चिकित्साकाल में एक विभंगज्ञानी—मिथ्यादृष्टि अवधिज्ञानी रोगों की उत्पत्ति (निदान) और उन रोगों की शामक औषधि को

जानकर तीन प्रकार के रोगियों (वात-पित्त-कफ-ग्रस्त) को वैसी औषधि देता है, जिससे उनका रोग उपशांत हो जाता है।

घृतकुट के चार विकल्प—

१. एक घृतकुट से एक रोग का शमन।
२. एक घृतकुट से अनेक रोगों का शमन।
३. अनेक घृतकुटों से एक असाध्य रोग का शमन।
४. अनेक घृतकुटों से अनेक रोगों का शमन।

इसी प्रकार एकमासिकी और अनेकमासिकी प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त भी एकमासिक अथवा अनेकमासिक होता है।

औषधप्रदान के भी चार विकल्प हैं—

१. एक औषध से एक रोग का शमन।
२. एक औषध से वात-पित्त-कफजनित त्रिविध रोगों का शमन।
३. बहुत औषधियों से एक रोग का शमन।
४. बहुत औषधियों से बहुत रोगों का शमन।

विभंगज्ञानी रोगों के निदान और औषधसामर्थ्य को जानकर औषध देते हैं। धन्वन्तरि तुल्य हैं—जिन। रोगीतुल्य है—साधु। रोगतुल्य है अपराध। औषधतुल्य है प्रायश्चित्त।

जैसे वैद्य विभंगज्ञानीकृत वैद्यशास्त्रों के माध्यम से विभंगज्ञानी की भांति घृत या औषध के चारों विकल्पों से रोगापनयन क्रिया करते हैं, वैसे ही पूर्वधर जिनोपदिष्ट शास्त्रों के माध्यम से प्रायश्चित्त देकर 'जिन' की भांति अपराधी की शोधि करते हैं।

० पूर्वधर : नालिका दृष्टांत

नालीय परूवणता, जह तीय गतो उ नञ्जते कालो।
तह पुव्वधरा भाव, जाणांति विसुञ्जए जेणं ॥

नालिका नाम घटिका, तस्याः पूर्वं प्ररूपणा कर्त्तव्या,
यथा पादलिप्तकृतविवरणे कालज्ञाने सा चैवं—

“दाडिमपुष्पागारा, लोहमयी नालिका उ कायव्वा।
तीसे तलंमि छिद्दं, छिद्दपमाणं च मे सुणह ॥
छन्नउयमूलबालेहिं, तिवस्सजायाए गयकुमारीए।
उज्जुकयपिंडिएहिं, कायव्वं नालियाछिद्दं ॥
अहवा दुवस्सजायाए गयकुमारीए पुच्छबालेहिं।
विविहगुणेहिं तेहिं, कायव्वं नालियाछिद्दं ॥
अहवा सुवण्णमासेहिं, चउहिं चउरंगुला कया सूई।
नालियतलंमि तीए, कायव्वं नालियाछिद्दं ॥”

(व्यभा ४४४ वृ)

नालिका से जलसंगलन द्वारा अहोरात्र का अतीत या अवशिष्ट काल जान लिया जाता है। इसी प्रकार पूर्वधर आगमबल से आलोचक के अभिप्राय को सम्यक् रूप से जानकर उसके अनुरूप प्रायश्चित्त देते हैं, जिससे उसकी शुद्धि हो जाती है।

नालिका का अर्थ है घटिका। सर्वप्रथम उसकी प्ररूपणा करनी चाहिए। पादलिप्तकृत विवरण में कालज्ञान के प्रसंग में उसके छिद्र का परिमाण इस प्रकार प्रतिपादित है—

दाडिम के फूल की आकृति वाली एक लोहमयी नालिका का निर्माण कर उसके तल में एक छिद्र किया जाता है। उस छिद्र का परिमाण सुनो—एक तीन वर्ष की गजबालिका के मूल के छियानवें बालों को समश्रेणी में पिण्डीभूत कर उनसे नालिका के छिद्र का परिमाण किया जाता है। अथवा दो वर्ष की गजबालिका के पूंछ के बालों से अथवा चार स्वर्णमाषों से निर्मित चार अंगुल की सूचिका से नालिका के छिद्र का परिमाण किया जाता है।

२८. प्रायश्चित्त में नानात्व और विशोधि : घट-पट दृष्टांत
जिणनिल्लेणवकुडए, मासें अपलिकुंचमाणे सट्टाणं।
मासेण विसुञ्जिहिती, तो देति गुरुवदेसेणं ॥
एगुत्तरिया घडछक्कएण, छेदादि हांति निग्गमणं।
एतेहि दोसवुड्डी, उप्पत्ती रागदोसेहिं ॥
अप्पमलो होति सुची, कोइ पडो जलकुडेण एगेण।
मलपरिवुड्डीय भवे, कुडपरिवुड्डीय जा छ त्तू ॥
तेण परं सरितादी, गंतुं सोधेति बहुतरमलं तु।
मलनाणत्तेण भवे, आदं चण-जत्त-नाणत्तं ॥
बहुएहिं जलकुडेहिं, बहूणि वत्थाणि काणि वि विसुञ्जे।
अप्पमलाणि बहूणि वि, काणिइ सुञ्जंति एगेणं ॥

(व्यभा ५०४-५०८)

जिन आदि आगम-व्यवहारी अपराधी की प्रतिसेवना को अतिशायी ज्ञान से जानकर जितने प्रायश्चित्त से उसकी विशोधि होती है, उतना प्रायश्चित्त देते हैं। श्रुतव्यवहारी गुरु के उपदेश के आधार पर यथोचित प्रायश्चित्त देते हैं। कोई मासिक प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना कर ऋजुता से आलोचना करता है तो उसे स्वस्थान (मासिक) प्रायश्चित्त दिया जाता है।

जलकुंभ और वस्त्र की चतुर्भंगी—

० एक वस्त्र एक जलकुंभ से स्वच्छ होता है।

० एक वस्त्र अनेक जलकुंभों से स्वच्छ होता है।

- ० अनेक वस्त्र एक जलकुंभ से स्वच्छ होते हैं।
- ० अनेक वस्त्र अनेक जलकुंभों से स्वच्छ होते हैं।

अल्प मल वाला वस्त्र एक जलकुट से स्वच्छ हो जाता है। मलवृद्धि से जलकुटों की वृद्धि होती है। छह जलकुटों की वृद्धि तक तो घर में ही वस्त्र को प्रक्षालित किया जाता है। इससे अधिक जल की अपेक्षा वाले, बहुतर मल वाले पट को नदी आदि के तट पर जाकर क्षार, गोमूत्र आदि का प्रयोग कर काष्ठपट्टिका से पीट-पीट कर नाना प्रयत्नों से उसे स्वच्छ किया जाता है।

इसी प्रकार थोड़े अपराध की शुद्धि मासिक या वृत्तमासिक तप से तथा गुरुतर अपराध की शुद्धि छेद आदि प्रायश्चित्तों से होती है। रागद्वेषवृद्धि से दोषवृद्धि तथा प्रायश्चित्तवृद्धि होती है।

२९. न्यूनाधिक प्रायश्चित्त : रत्नवणिक् दृष्टान्त

जं जह मोल्लं रयणं, तं जाणति रयणवाणिओ निउणो।
थोवं तु महल्लस्स वि, कासति अप्पस्स वि बहुं तु॥
अधवा कायमणिस्स उ, सुमहल्लस्स वि उ कागिणीमोल्लं।
वडरस्स उ अप्पस्स वि, मोल्लं होती सयसहस्सं॥
इय मासाण बहूण वि, रागदोसऽप्पयाय थोवं तु।
रागदोसोवचया, पणगे वि जिणा बहुं देति॥

(व्यभा ४०४३-४०४५)

निपुण रत्नवणिक् रत्नों का यथार्थ मूल्य जानता है। वह गुणविहीन बड़े रत्न का भी कम और गुणोपेत छोटे रत्न का भी बहुत मूल्य आंकता है। अथवा वह बड़ी काचमणि का काकिणी जितना ही मूल्य देता है तथा छोटे वज्र रत्न का भी एक लाख मुद्रा का मूल्य दे देता है।

इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष राग-द्वेष के अपचय-उपचय के आधार पर कम या ज्यादा प्रायश्चित्त देते हैं।

३०. सदृश अपराध में विसदृश दंड : कुमार-दृष्टान्त

.....पुच्छा य कुमारदिट्ठतो॥
सरिसावराहदंडो, जुगरण्णो भोगहरण बंधादी।
मज्झिमे बंधवहादी, अव्वत्ते कण्णादि खिंसा य॥
अप्पच्चय वीसत्थत्तणं च लोगगरहा य दुरभिगमो।
आणाए य परिभवो, णेव भयं तो तिहा दंडो॥

(निभा २८०९, २८१४, २८१५)

शिष्य ने पूछा—सदृश अपराध में विसदृश दण्ड क्यों दिया जाता है? गुरु ने कुमारदृष्टान्त दिया—

एक राजा के तीन पुत्रों ने परस्पर मिलकर मंत्रणा की—हम पिता को मारकर राज्य को तीन भागों में बांट लेते हैं। यह बात राजा को ज्ञात हो गई। 'यह युवराज है, प्रधान वस्तु (पुरुष) है—ऐसा सोचकर राजा ने ज्येष्ठ पुत्र का भोगहरण किया, बंधन, ताड़न, तिरस्कार आदि सब प्रकारों से उसे दण्डित किया।

मध्यम पुत्र भ्रमित किया हुआ है, अप्रधान है—यह सोचकर राजा ने उसका भोगहरण नहीं किया, बंधन-वध आदि उपायों को काम में लिया। कनिष्ठ पुत्र अव्यक्त है, ठगा गया है—यह सोचकर उसके कान पर एक चपेटा दिया और खिंसना की।

लोक-लोकोत्तर में सर्वत्र वस्तुसदृश दंड दिया जाता है। प्रधान प्रमाणपुरुष के अपराध करने पर अनेक दोष उत्पन्न होते हैं—

आचार्य और उनके उपदेश में अप्रत्यय पैदा होता है। साधु क्रोध आदि करने में विश्वस्त हो जाते हैं। लोक-गर्हा होती है। क्रोधो गुरु के लिए शिष्य दुर्लभ होते हैं। शिष्य उनसे डरते नहीं और उनकी आज्ञा को अवमानना करते हैं। अतः पुरुष की प्रधानता-अप्रधानता के आधार पर दंड भी विसदृश होते हैं।

तुल्लम्मि वि अवराहे, तुल्लमतुल्लं व दिज्जे दोण्हं।
पारांचिके वि नवमं, गणिस्स गुरुणो उ तं चेव॥
अहवा अभिक्खसेवी, अण्वरमं पावई गणी नवमं।
पावंति मूलमेव उ, अभिक्खपडिसेविणो सेसा॥
पाराञ्चिकापत्तियोग्येऽप्यपराधपदे सेविते 'गणिनः'
उपाध्यायस्य नवमम्.....'गुरोः' आचार्यस्य पुनः तदेव पाराञ्चिकं
दीयते। (बृभा ५१२६, ५१२७ वृ)

अपराध समान होने पर भी पुरुष-विशेष के आधार पर प्रायश्चित्त का विधान है। पारांचित योग्य अपराध करने पर आचार्य को पारांचित प्रायश्चित्त ही दिया जाएगा और उपाध्याय को अनवस्थाप्य दिया जाएगा। अथवा पुनः-पुनः प्रतिसेवना कर, उससे उपरत नहीं होने पर उपाध्याय को अनवस्थाप्य और शेष साधुओं को मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

३१. पुरुषभेद से प्रायश्चित्त में भेद

गुरुमादीया पुरिसा, तुल्लवराहे वि तेसि नाणत्तं।
परिणामगादिया वा, इड्ढिमनिक्खंत असहू वा॥

पुमं बाला थिरा चेव, कयजोग्गा य सेतरा।
अधवा दुविहा पुरिसा, होति दारुण-भद्गा ॥
(व्यभा ४०२५, ४०२६)

पुरुषों के अनेक प्रकार हैं—गुरु आदि पुरुष अथवा परिणामक, अपरिणामक और अतिपरिणामक पुरुष अथवा ऋद्धिमान प्रव्रजित-ऋद्धिविहीन प्रव्रजित, असह-ससह, पुरुष, स्त्री, नपुंसक, बाल-वृद्ध, स्थिर-अस्थिर, कृतयोगी-अकृतयोगी—इन सबके तुल्य अपराध होने पर भी प्रायश्चित्त में भिन्नता रहती है। अथवा स्वभावतः पुरुष दो प्रकार के होते हैं—दारुण और भद्र—तुल्य अपराध होने पर भी इनके प्रायश्चित्त में भेद रहता है।

३२. प्रायश्चित्तवाहक के प्रकार : कृतकरण आदि कृतकरणा इतरे वा, सावेक्खा खलु तहेव निरवेक्खा। निरवेक्खा जिणमादी, सावेक्खा आयरियमादी ॥ अकृतकरणा वि दुविहा, अणभिगता अभिगता य बोधव्वा। जं सेवेति अभिगते, अणभिगते अत्थिरे इच्छा ॥ अहवा सावेक्खितरे, निरवेक्खा सव्वसो उ कयकरणा। इतरे कयाऽकया वा, थिराऽथिरा होति गीतत्था ॥ छट्ठुऽदुमादिहिं, कयकरणा ते उ उभयपरियाए। अभिगतकयकरणत्तं, जोगायतगारिहा केई ॥
(व्यभा १५९-१६२)

तप के आधार पर प्रायश्चित्त वाहक पुरुषों के दो भेद हैं—कृतकरण और अकृतकरण। कृतकरण के दो भेद हैं—

१. सापेक्ष — गच्छवासी। जैसे आचार्य, उपाध्याय, साधु।

२. निरपेक्ष — संघमुक्त। जैसे जिनकल्पिक आदि।

अकृतकरण भिक्षु दो प्रकार के होते हैं—अगीतार्थ और गीतार्थ। इनके दो-दो भेद हैं—

१. स्थिर—धृति-संहनन-संपन्न, २. अस्थिर—धृति-संहनन-हीन।

स्थिर गीतार्थ जितनी मात्रा में प्रायश्चित्त स्थान का सेवन करता है, उतनी मात्रा में उसे परिपूर्ण प्रायश्चित्त दिया जाता है।

अस्थिर अगीतार्थ को गुरु उसकी सामर्थ्य के आधार पर कम या पूर्ण प्रायश्चित्त देते हैं।

अथवा पुरुषों के दो प्रकार हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष। निरपेक्ष सर्वथा कृतकरण, गीतार्थ और स्थिर होते हैं। सापेक्ष दोनों प्रकार के

होते हैं—कृतकरण और अकृतकरण, स्थिर और अस्थिर, गीतार्थ और अगीतार्थ।

कृतकरण वे हैं, जो गृहस्थपर्याय और मुनिपर्याय में बेले, तेले आदि की विशिष्ट तपस्या से अपने आपको परिकर्मित कर चुके हैं। कुछ आचार्यों का अभिमत है कि गीतार्थ नियमतः कृतकरण होते हैं। क्योंकि महाकल्पश्रुत आदि आगमों के अध्ययनकाल में वे दीर्घकाल तक योगवहन कर योगार्ह हो जाते हैं।

० निर्गत-वर्तमान, आत्मतरक-परतरक

निग्गयवट्टंता वि य, संचइता खलु तहा असंचइता। एक्केक्काए दुविधा, उग्घात तहा अणुग्घाता ॥ छेदादी आवण्णा, उ निग्गता ते तवा उ बोधव्वा। जे पुण वट्टंति तवे, ते वट्टंता मुणोयव्वा ॥ मासादी आवण्णे, जा छम्मासा असंचयं होति। छम्मासाउ परेणं, संचइयं तं मुणोयव्वं ॥
(व्यभा ४७२-४७४)

प्रायश्चित्त वहन करने वाले पुरुष के दो प्रकार हैं—

१. निर्गत—तपोयोग्य प्रायश्चित्त को अतिक्रान्त कर छेद आदि प्रायश्चित्त प्राप्त।

२. वर्तमान—तपोयोग्य प्रायश्चित्त में वर्तमान अथवा तपपर्यंत प्रथम छह प्रायश्चित्तों में स्थित।

वर्तमान के दो प्रकार हैं—१. संचयिता—छह मास से अधिक (उत्कृष्ट १८० मास) प्रायश्चित्त प्राप्त।

२. असंचयिता—मासिक यावत् छहमासिक प्रायश्चित्त में वर्तमान। इन दोनों के दो-दो प्रकार हैं—उद्घात और अनुद्घात।

पच्छित्तस्स उ अरहा, इमे उ पुरिसा चउव्विहा होति। उभयतर आततरगा, परतरगा अण्णतरगा य ॥ आततर-परतरे या, आततरे अभिमुहे य निक्खित्ते। ॥.....
(व्यभा ४७९, ४८०)

प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

१. उभयतरक—उत्कृष्ट छहमासिक तप करने पर भी जो अग्लान भाव से आचार्य आदि का वैयावृत्त्य करते हैं। वे स्वयं और आचार्य—दोनों के उपग्रहकारी होते हैं।

२. आत्मतरक—जो तपोबलिष्ठ हैं किन्तु वैयावृत्त्यलाब्धिसम्पन्न नहीं हैं। वे तप के द्वारा स्वयं पर ही अनुग्रह करते हैं।

३. परतरक—जो तपोबल से हीन हैं, केवल वैयावृत्य करते हैं।
 ४. अन्यतरक—जो तप और वैयावृत्य दोनों में समर्थ हैं किन्तु एक समय में एक ही कार्य कर सकते हैं।

उभयतरक और आत्मतरक—ये दोनों प्रायश्चित्त के अभिमुख होते हैं। परतरक और अन्यतरक जब तक वैयावृत्य करते हैं, तब तक उनका प्रायश्चित्त निष्कृष्ट रहता है।

३३. छोटी त्रुटि की उपेक्षा : सारणि आदि दृष्टान्त

अवसो व रायदंडो, न एवमेवं तु होति पच्छित्तं ।
 संकर-सरिसव-सगडे, मंडववत्थेण दिट्ठंता ॥

राजदण्डोऽवश्यमवशेनाप्युह्यते, यदि पुनर्नेति नोह्यते ततः
 शरीरविनाशो भवति । प्रायश्चित्तमप्यवश्यं भवति बोढव्यं,
 तद्गहनाभावे चारित्रशरीरविनाशापत्तेः । संकरस्तृणाद्यवकरः
 यथा सारण्या क्षेत्रे पाय्यमाने सारणिस्त्रोतसि तृणशूकमेकं
 तिर्यग् लग्नं तैर्नापनीतं तन्निश्रया अन्यान्यपि तृणशूकानि
 लग्नानि तन्निश्रया प्रभूतः पंको लग्नः । तत एवं तस्मिन्
 स्त्रोतसि रुद्धे क्षेत्रे समस्तमपि शुष्कम् । एकः पाषाणः शकटे
 प्रक्षिप्तः स नापनीतः अन्यः प्रक्षिप्तः कोऽपि गरीयान् पाषाणो
 यस्मिन् प्रक्षिप्ते तच्छकटं भक्ष्यति । एरण्डमण्डपे एकः
 सर्षपः प्रक्षिप्तः स नापनीतः अन्यः प्रक्षिप्तः सोऽपि नापनीतः ।
 एरण्ड-मण्डपे भक्ष्यते । शुद्धे वस्त्रे कर्दमबिन्दुः पतितः, स
 न प्रक्षालितः, अन्यः पतितः सर्वं तद्गुणं कर्दमवर्णं संजातम्
 एवं तु शुद्धचारित्रं स्तोकायां स्तोकायामापतितायामापत्तौ
 प्रायश्चित्तेनाशोध्यमानायां कालक्रमेणाचारित्रं सर्वथा भवति ।

(व्यभा ५५५ वृ)

मुनि को चारित्र की विशुद्धि के लिए स्वेच्छा से प्रायश्चित्त वहन करना चाहिए, न कि राजदण्ड की तरह विवश होकर। राजदण्ड वहन न करने पर शरीर का नाश तथा प्रायश्चित्त वहन न करने पर चारित्र का विनाश होता है।

० सारणि—एक सारणि से खेत की सिंचाई की जाती थी। उसमें एक तृणशूक फंस गया। उसे निकाला नहीं गया, फिर दूसरा फंस गया। कालांतर में धीरे-धीरे वह सारणि कचरे से भर गई। पानी का आगे बढ़ना बंद हो गया। खेत सूख गया।

० शकट—एक गाड़ी में पत्थर भरे जाने लगे। एक काष्ठ टूटा।

उसकी उपेक्षा की गई। भरते-भरते एक बड़ा पत्थर गाड़ी में डाला गया और पूरी गाड़ी ही टूट गई।

० मण्डप—एरण्डमण्डप पर प्रतिदिन सरसों के दाने फेंके जाने लगे। एक दिन उनके अत्यधिक भार से मंडप भग्न हो गया।

० वस्त्र—स्वच्छ वस्त्र पर कीचड़ की एक बूंद गिरी, उसे साफ नहीं किया गया। पुनः-पुनः बूंदें गिरने से एक दिन वह वस्त्र कर्दमवर्ण वाला हो गया।

इसी प्रकार छोटे-छोटे अपराधों की उपेक्षा कर प्रायश्चित्त से शुद्धि न करने पर एक दिन चारित्र अचारित्र हो जाता है।

३४. अप्रमत्त भी प्रायश्चित्त भागी

.....परीषहाणामसहनेन श्रोत्रेन्द्रियादिविषयेष्विष्टानिष्टेषु
 रागद्वेषाभिगमनतो वा.....प्रायश्चित्तस्थानापत्त्या..... ।

(व्यभा ६२६ की वृ)

आवरिता वि रणमुहे, जधा छलिज्जंति अप्यमत्ता वि ।.....

मूलगुण-उत्तरगुणे, जयमाणा वि हु तथा छलिज्जंति ।.....

(व्यभा ६२७, ६२८)

अप्रमत्त मुनि प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसके मुख्य हेतु दो हैं—१. परीषहों को सहन न कर पाना।

२. इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियविषयों में राग-द्वेष करना।

जैसे रणभूमि में प्रविष्ट कवचधारी योद्धा भी शत्रुओं से छले जाते हैं, वैसे ही मूलगुण-उत्तरगुणों में जागरूक श्रमण भी परीषह और उपसर्गों से छले जाते हैं।

३५. निर्ग्रथ-संयत : कितने प्रायश्चित्त ?

पंचेव नियंठा खलु, पुलाग-बकुसा कुसील-निगंथा ।

तह य सिणाया तेसिं, पच्छित्त जधक्कमं वोच्छं ॥

आलोयण पडिकमणे, मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे ।

तत्तो तवे य छट्ठे, पच्छित्त पुलाग छप्पेत्ते ॥

बकुसपडिसेवगाणां, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि ।

थेराण भवे कप्पे, जिणकप्पे अट्ठहा होत्ति ॥

आलोयणा विवेगे य, नियंठस्स दुवे भवे ।

विवेगे य सिणातस्स, एमेया पडिवत्तिओ ॥

पंचेव संजता खलु, नातसुतेणं कथिय जिणवरेणं ।.....

सामाइसंजताणं, पच्छित्ता छेदमूलरहितऽट्ठा ।

थेराण जिणाणं पुण, तवमंतं छव्विधं होत्ति ॥

छेदोवद्वावणिए, पायच्छित्ता हवन्ति सव्वे वि।
 थेराण जिणाणं पुण, मूलंतं अट्टहा होति॥
 परिहारविसुद्धीए, मूलता अट्ट होति पच्छित्ता।
 थेराण जिणाणं पुण, छव्विध छेदादिवज्जं वा॥
 आलोयणा विवेगे य, तइयं तु न विज्जती।
 सुहुमे य संपराए, अधक्खाए तथेव य॥
 (व्यभा ४१८४-४१९२)

निर्ग्रथ और प्रायश्चित्त—आचारविशुद्धि की तरतमता के आधार पर निर्ग्रथ के पांच प्रकार हैं—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रथ और स्नातक। इनके प्रायश्चित्त का क्रम इस प्रकार है—

० पुलाक निर्ग्रथ को प्रथम छह प्रायश्चित्त दिए जाते हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग और तप।
 ० बकुश और प्रतिसेवनाकुशील—ये दोनों स्थविरकल्प में होते हैं। इन दोनों प्रकार के निर्ग्रथों के दस तथा यथालंदकल्पी और जिनकल्पी के लिए प्रथम आठ प्रायश्चित्त विहित हैं।

० निर्ग्रथ (वीतराग) के लिए आलोचना और विवेक तथा स्नातक (केवली) के लिए केवल विवेक प्रायश्चित्त का विधान है।

संयत और प्रायश्चित्त—संयत के पांच प्रकार हैं—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात।

० स्थविरकल्पी सामायिक संयत के छेद और मूल को छोड़कर आठ तथा छेदोपस्थापनीयसंयत के दस प्रायश्चित्त होते हैं।

० जिनकल्पी सामायिक संयत के तपपर्यंत छह तथा छेदोपस्थापनीय संयत के मूलपर्यंत आठ प्रायश्चित्त होते हैं।

० परिहारविशुद्धि स्थविरकल्पी के लिए प्रथम आठ तथा जिनकल्पी के लिए छेद आदि वर्जित प्रथम छह प्रायश्चित्तों का विधान है।

० सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्री के लिए आलोचना और विवेक—ये दो प्रायश्चित्त विहित हैं।

३६. कर्मबंध हेतुक प्रवृत्ति और प्रायश्चित्त

ता जेहि पगारेहिं, बज्झंती णाणणिण्हादीहिं।
 णिक्कारणम्मि तेसू, वट्ठंते होति पच्छित्तं॥
 कामं आउयवज्जा, णिच्चं बज्झंति सव्वपगडीतो।
 जो बादरो सरागो, तिव्वासु तासु पच्छित्तं॥
 अहिकिच्च उ असुभातो, उत्तरपगडीतो होति पच्छित्तं।
 अनियाणेण सुभासु, न होति सट्ठाणपच्छित्तं॥
 (निभा ३३२२-३३२४)

ज्ञाननिहवन आदि कर्मबंध की हेतुभूत प्रवृत्तियों में निष्कारण प्रवृत्त होने पर प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यद्यपि आयुष्य को छोड़कर शेष सब कर्मप्रकृतियों का बादरसंपराय (नौवें गुणस्थान)पर्यंत नित्य बंध होता है—यह सही है, किन्तु तीव्र हेतुओं में प्रवृत्त होने पर ही प्रायश्चित्त आता है, मंद में नहीं।

आठ मूल प्रकृतियों की ज्ञानप्रदेष आदि अशुभ उत्तर प्रकृतियों का प्रायश्चित्त होता है। अनिदानपूर्वक की गई तीर्थंकर नाम-गोत्र आदि शुभ प्रकृतियों का प्रायश्चित्त नहीं होता।

३७. पूर्व-उत्तर प्रायश्चित्त, उपस्थापना आदि में अंतर
 आयारपकप्पे ऊ, नवमे पुव्वम्मि आसि सोधी च।
 तत्तो च्चिय निज्जूढो, इधाणितो एण्ह किं न भवे?॥
 तालुग्धाडिणि ओसावणादि विज्जाहि तेणगा आसि।
 एण्हं ताउ न संती, तधावि किं तेणगा न खलु॥
 पुव्वि चोद्दसपुव्वी, एण्ह जहण्णो पंक्कप्पधारी उ।
 मज्झिमगक्कप्पधारी, कह सो उ न होति गीतत्थो॥
 पुव्विं सत्थपरिण्णा, अधीत-पढिताइ होउवट्ठवणा।
 एण्ह छज्जीवणिया, किं सा उ न होउवट्ठवणा॥
 बितियम्मि बंधचरे, पंचमउद्देस आमगंधम्मि।
 सुत्तम्मि पिंडकप्पी, इह पुण पिंडेसणा एसो॥
 आयारस्स उ उवरिं, उत्तरझयणाणि आसि पुठ्वि तु।
 दसवेयालिय उवरिं, इयाणिं किं ते न होति उ॥
 मत्तंगादी तरुवर, न संति एण्हं न होति किं रुक्खा।
 महजूहाहिव दप्पिय, पुठ्वि वसभाण पुण एण्हं॥
 पुठ्वि कोडीबद्धा, जूहाओ नंदगोवमादीणं।
 एण्हं न संति ताइं, किं जूहाइ न होंती उ॥
 साहस्सी मल्ला खलु, महपाणा पुठ्वि आसि जोहाओ।
 ते तुल्ला नत्थेण्हं, किं ते जोधा न होंती उ॥
 पुठ्विं छम्मासेहिं, परिहारेणं व आसि सोधी तु।
 सुद्धतवेणं निव्वितियादी एण्हं वि सोधी तु॥
 किध पुण एवं सोधी, जह पुव्विल्लासु पच्छिमासु च।
 पुक्खरिणीसु वत्थादियाणि सुज्झंति तथ सोधी॥
 एवं आयरियादी, चोद्दसपुव्वादि यासि पुठ्वि तु।
 एण्हं जुगाणुरूवा, आयरिया होंति नायव्वा॥
 (व्यभा १५२८-१५३९)

प्राचीनकाल में नौवें पूर्व में आचारप्रकल्प था, उससे शोधि की जाती थी—उसके आधार पर प्रायश्चित्त दिया जाता था। वर्तमान में उसी पूर्व से निर्युद्ध आचारप्रकल्प (निशीथ) के आधार पर प्रायश्चित्त दिया जाता है, शुद्धि होती है।

पहले विजय, प्रभव आदि चोर तालोद्घाटिनी, अवस्वापिनी आदि विद्याओं को जानते थे, अब वे विद्याएं नहीं हैं, फिर भी क्या आज चोर नहीं हैं ?

पूर्वकाल में चौदहपूर्वी गीतार्थ होते थे। वर्तमान में आचार-प्रकल्पधर जघन्य और कल्प व्यवहारधर मध्यम गीतार्थ होता है। वह गीतार्थ तो है ही।

प्राचीनकाल में शस्त्रपरिज्ञा (आचारांग के प्रथम अध्ययन) का अर्थतः अध्ययन करने पर, सूत्रतः पढ़ने पर उपस्थापना होती थी। वर्तमान में षड्जीवनिका (दशवैकालिक के चौथे अध्ययन) के अध्ययन-पठन से उपस्थापना होती है।

पहले मुनि आचारांग के लोकविजय नामक दूसरे अध्ययन के पांचवें 'ब्रह्मचर्य' उद्देशक के आमर्गाधि सूत्र पर्यंत (सव्वामगंधं परिण्णाय, णिरमगंधो परिव्वए। २/१०८) सूत्रतः और अर्थतः पढ़ लेने पर पिण्डकल्पी होता था। वर्तमान में दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन 'पिण्डैषणा' को पढ़ लेने पर वह पिण्डकल्पी हो जाता है।

पहले आचारांग के पश्चात् उत्तराध्ययन पढ़ा जाता था। अब दशवैकालिक के पश्चात् उत्तराध्ययन पढ़ा जाता है।

सुषमसुधमा आदि कालखण्डों में मत्तंग आदि दशविध कल्पवृक्ष होते थे। अब वे वृक्ष नहीं हैं किन्तु आम्र आदि के वृक्ष तो हैं ही।

पहले वृषभों के दर्पित महायूथाधिप होते थे। अब वैसे वृषभ नहीं हैं। पहले नन्दगोप आदि के पास करोड़ों गायों के यूथ थे। अब उतने नहीं हैं। पांच-दस आदि वृषभों और गायों के यूथ तो हैं ही।

पहले महाप्राणवान् साहसिकमल्ल (हजार व्यक्तियों को हराने की क्षमता वाले) योद्धा होते थे। आज उनके तुल्य योद्धा नहीं हैं, किन्तु शक्ति से अनंतभाग हीन योद्धा हैं ही।

पहले छहमासिक तप अथवा परिहारतप से शोधि होती थी। अब निर्विकृतिक आदि शुद्ध तप से शोधि हो जाती है।

पहले महान् तप से और अब अल्प तप से शोधि हो जाती है। ऐसा क्यों ? इस जिज्ञासा पर आचार्य कहते हैं—पहले महान्

पुष्करणियों में वस्त्र साफ किये जाते थे। अब छोटे जलाशयों में भी वस्त्रशुद्धि होती है। इसी प्रकार शोधि होती है।

पहले चौदहपूर्वी आदि आचार्य होते थे। अब युगानुरूप दशा-कल्प-व्यवहारधर आचार्य होते हैं। यह सब ज्ञातव्य है।

३८. प्रायश्चित्त का प्रयोजन : चारित्रसंरक्षण आदि

पच्छित्तेण विसोही, पमायबहुयस्स होइ जीवस्स ।
तेण तदंकुसभूतं, चरित्तिणो चरणरक्खद्वा ॥
पायच्छित्ते असंतम्मि, चरित्तं पि ण चिड्ढती ।
चरित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे नो संचरित्तया ॥
चरित्तम्मि असंतम्मि, निव्वाणं पि ण गच्छती ।
निव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा निरत्थया ॥
(निभा ६६७७-६६७९)

प्रमादबहुल प्राणी प्रायश्चित्त से विशोधि प्राप्त करता है। चारित्री के चारित्र की रक्षा के लिए प्रायश्चित्त अंकुश के समान है। प्रायश्चित्त के अभाव में चारित्र भी नहीं रहता। चारित्र के अभाव में तीर्थ सचारित्र नहीं रहता। चारित्र के अभाव में मुनि निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। निर्वाण के अभाव में दीक्षा निरर्थक है।

(प्रायश्चित्त के निम्न निर्दिष्ट प्रयोजन हैं—१ प्रमादजनित दोषों का निराकरण, २. भावों की प्रसन्नता, ३. शल्य रहित होना, ४. अव्यवस्था का निवारण, ५. मर्यादा का पालन, ६. संयम की दृढ़ता और ७. आराधना। —तवा ९/२२)

३९. अपराध रोग : प्रायश्चित्त औषध

धण्णंतरितुल्लो जिणो, णायव्वो आतुरोवमो साहू ।
रोगा इव अवराहा, ओसहसरिसा च पच्छित्ता ॥
(निभा ६५०७)

धन्वंतरितुल्य हैं तीर्थकर, रोगितुल्य है अपराधी साधु, रोगितुल्य है अपराध और औषधितुल्य है प्रायश्चित्त। (प्रायश्चित्त एक प्रकार की चिकित्सा है। चिकित्सा रोगी को कष्ट देने के लिए नहीं दी जाती, किन्तु रोगनिवारण के लिए दी जाती है, इसी प्रकार प्रायश्चित्त भी अपराधों के उपशमन के लिए दिया जाता है।)

४०. सापेक्ष-निरपेक्ष प्रायश्चित्त से तीर्थ-अव्यवच्छित्त संघयण-धित्तीहीणा, असंतविभवेहि होति तुल्ला तु ।
निरवेक्खो जदि तेसिं, देति ततो ते विणस्संति ॥

सावेकखो पवयणम्मि, अणवत्थपसंगवारणाकुसलो ।
चारित्तरक्खणट्ठं, अब्बोच्छितीय तु विसुञ्जो ॥
.....जं जो उ तरति तं तस्स, देंत असहुस्स भासेंती ॥
एवं सदयं दिज्जति, जेणं सो संजमे धिरो होति ।
न य सब्बहा न दिज्जति, अणवत्थपसंगदोसाओ ॥
दिट्ठंतो तेणाएण, पसंगदोसेण जध वहं पत्तो ।
पावंति अणंताइं, मरणाइ अवारियपसंगा ॥

(व्यभा ४२०२, ४२०४, ४२०७-४२०९)

जो शिष्य धृति और संहनन से हीन होते हैं, उनके प्रति यदि आचार्य निरपेक्ष होकर पूरा प्रायश्चित्त देते हैं तो उससे वे विनष्ट हो जाते हैं। प्रवचन में सापेक्ष आचार्य चारित्र की रक्षा के लिए अनवस्था-दोषनिवारण में कुशल होते हैं और उपाय से तीर्थ-परम्परा को अविच्छिन्न रखते हैं। वे प्रायश्चित्त प्राप्त शिष्य के प्रति सापेक्ष होकर, वह अपने सामर्थ्य से एक साथ जितना प्रायश्चित्त वहन कर सकता है, उसकी अनुमति देते हैं। वे प्रायश्चित्त के अनेक विकल्प प्रस्तुत कर उसे इच्छानुसार विकल्प ग्रहण करने की बात कहते हैं।

आचार्य प्रायश्चित्तवाही मुनि के प्रति सानुकंप होते हैं, जो जितना कर सकता है, उसे उतना प्रायश्चित्त देते हैं। इस विधि से वह शिष्य संयम में स्थिर हो जाता है। यदि आचार्य दोष-सेवन पर प्रायश्चित्त दे ही नहीं तो फिर अनवस्थादोष का प्रसंग आता है। अनिवारित प्रसंग दोष के कारण मुनि अनन्त जन्ममरण करता है। तिल-दृष्टंत—एक बालक स्नान कर, खेलता हुआ तिलों के एक ढेर में घुस गया। शरीर गीला था। सारे शरीर पर तिल चिपक गए। वह दौड़ा-दौड़ा घर आया। माता ने बालक के शरीर से तिल झाड़कर एकत्रित कर लिए। वह प्रतिदिन स्नान कर जाता और तिल चुरा कर लाता। धीरे-धीरे वह चोरी करने में निपुण हो गया। एक बार वह पकड़ा गया और मारा गया। मां के कारण यह बालक चोर हुआ, यह जान कर राजपुरुषों ने माता के स्तन काट डाले। दूसरा बालक भी स्नान कर तिलराशि पर गया। शरीर पर चिपके तिल देखकर मां ने डांटा और उन तिलों को इकट्ठा कर पुनः तिलराशि में डाल दिया। बालक चोरी की आदत से बच गया।

४१. कल्याणक प्रायश्चित्त के सापेक्ष विकल्प

कल्लाणगमावन्ने, अतरंत जहक्कमेण काउं जो ।
दस कारेंति चउत्थे, तब्बिगुणायंबिलतवे व ॥

एक्कासणपुरिमड्ढा, निच्चिगती चेव बिगुणबिगुणा य ।
पत्तेयाऽसहु दाउं, कारेंति य सन्निगासं तु ॥
चउ-तिग-दुगकल्लाणं, एगं कल्लाणगं च कारेती ।.....

पञ्च अभक्तार्थाः पञ्च आचाम्नानि पञ्च एकाशनकानि पञ्चपूर्वार्धानि पञ्च निर्विकृतिकानि एतत् पञ्चकल्याणं तत् ज्येष्ठं यथाक्रमेण च कर्तुमशक्नुवन्तस्तान् दश चतुर्थान् कारयन्ति तथाप्यशक्नुवन्तस्तद्विगुणाचाम्नतपः कारयन्ति विंशतिमायामाम्लं कारयन्तीत्यर्थः... (व्यभा ४२०५-४२०७ वृ)

जिस मुनि को अपराध के प्रायश्चित्त स्वरूप पांच कल्याणक प्राप्त हैं और वह उन्हें ज्येष्ठानुक्रम से वहन करने में असमर्थ है, तो आचार्य उसके लिए अनेक विकल्पों का निर्देश करते हैं।

पांच उपवास, पांच आचाम्ल (आर्यबिल), पांच एकाशन, पांच पूर्वार्ध और पांच निर्विकृतिक—इन पच्चीस दिनों का उपवास आदि के क्रम से प्रत्याख्यान करने पर पांच कल्याणक प्रायश्चित्त का निर्वहन होता है। जो इस रूप में वहन नहीं कर सकता है, आचार्य उसे सानुग्रह देस उपवास का निर्देश देते हैं। यह भी संभव न हो तो इस प्रायश्चित्त के अनुपात से दुगुने-दुगुने के क्रम से वहन करवाते हैं—बीस आचाम्ल या चालीस एकाशन या अस्सी पूर्वार्ध या एक सौ साठ निर्विकृतिक करवाते हैं। अथवा पांच कल्याणक क्रमशः न कर सके तो दूसरा, तीसरा आदि क्रमशः करवाकर शेष कल्याणकों को विच्छिन्न क्रम से करवाते हैं।

यथाक्रम या विच्छिन्न क्रम से करने में भी असमर्थ हो तो चार, तीन, दो अथवा एक कल्याणक भी करवाते हैं।

४२. प्रायश्चित्त एवं चारित्र कब तक ?

एवं भणिते भणती, ते वोच्छिन्ना व संपयं इहइं ।
तेसु य वोच्छिन्नेसुं, नत्थि विसुद्धी चरित्तस्स ॥
देंता वि न दीसंती, न वि य करेंता तु संपयं केई ।
तित्थं च नाण-दंसण, निज्जवगा चेव वोच्छिन्ना ॥
चोहसपुव्वधराणं, वोच्छेदो केवलीण वुच्छेदे ।
केसिंची आदेसो, पायच्छित्तं पि वोच्छिन्नं ॥
जं जत्तिएण सुज्जति, पावं तस्स तध देंति पच्छित्तं ।
जिणचोहसपुव्वधरा, तच्चिवरीता जहिच्छाए ॥
सव्वं पि य पच्छित्तं, पच्चक्खाणस्स ततियवत्थुम्मि ।
तत्तो च्चिय निज्जूढं, पक्कप्पकप्पो य ववहारो ॥

सपदपरूवण अणुसज्जणा य दस चोहसऽट्टु दुप्पसभे।
 दस ता अणुसज्जन्ती, जा चोहसपुव्वि षडमसंघयणं।
 तेण परेणऽट्टुविधं, जा तित्थं ताव बोधव्वं॥
 (व्यभा ४१६३-४१६६, ४१७३, ४१७४, ४१८१)

शिष्य ने पूछा—वर्तमान में आगमव्यवहारी का विच्छेद हो चुका है, अतः यथार्थ शुद्धिदायक के अभाव में चारित्रशुद्धि का भी अभाव हो गया है। मासिक, चातुर्मासिक आदि प्रायश्चित्त के दाता और कर्ता भी दृष्टिगत नहीं हो रहे हैं। ज्ञानदर्शनात्मक तीर्थ का अनुवर्तन हो रहा है। चारित्र के निर्यापक ही विच्छिन्न हो गए हैं।

केवलीविच्छेद के थोड़े समय पश्चात् चतुर्दशपूर्वधरों का भी विच्छेद हो गया। कुछ आचार्यों का यह अभिमत है कि शोधिदाता के अभाव में प्रायश्चित्त भी व्यवच्छिन्न हो गये हैं।

दूसरी बात, जिन और चौदहपूर्वों उतना प्रायश्चित्त देते हैं, जितने प्रायश्चित्त से पाप की शुद्धि होती है। किन्तु कल्प-व्यवहार-निशीथधारक आगमव्यवहार के अभाव में मनचाहा प्रायश्चित्त दे सकते हैं।

आचार्य ने कहा—सब प्रायश्चित्तों का विधान प्रत्याख्यान-प्रवाद नामक नौवें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु में है। वहीं से निशीथ, कल्प और व्यवहार का निर्यूहण किया गया है।

वर्तमान में चारित्र के प्रवर्तक, प्रायश्चित्त के प्रज्ञापक, निर्यापक और प्रायश्चित्तवाहक विद्यमान हैं। प्रायश्चित्त की प्ररूपणा व व्यवहार उनका निजी स्थान/दायित्व है।

चतुर्दशपूर्वों के काल तक दसों प्रायश्चित्तों का अस्तित्व रहता है। चौदहपूर्वों और प्रथम संहनन का एक साथ विच्छेद होता है। उनके व्यवच्छिन्न होने पर अनवस्थाप्य और पारांचित—इन दोनों अंतिम प्रायश्चित्तों का भी विच्छेद हो गया। तत्पश्चात् प्रथम आठ प्रायश्चित्त तब तक रहेंगे, जब तक तीर्थ चलेगा। तीर्थव्यवच्छेद काल में दुःप्रसभ आचार्य के कालगत होने पर तीर्थ और चारित्र का व्यवच्छेद हो जाएगा।

० वर्धकिरत्न और धनिक दृष्टांत

भुंजति चक्की भोए, पासाए सिप्पिरयणनिम्मविते।
 किंच न कारेति तथ, पासाए पागयज्जणो वि॥
 जदि अत्थि न दीसंती, केइ करेतत्थ धणियदिट्ठो।
 संतमसंते विहिणा, मोयंता दो वि मुच्चंति॥

संतविभवो तु जाधे, मग्गति ताहे य देति तं सव्वं।
 जो पुण असंतविभवो, तत्थ विसेसो इमो होति॥
 निरवेक्खो तिण्णि चयति, अप्पाण धणागमं च धारणमं।
 सावेक्खो पुण रक्खति, अप्पाण धणं च धारणमं॥
 (व्यभा ४१७७, ४१९४-४१९६)

आज ज्ञानी प्रायश्चित्तदाता और प्रायश्चित्तवाहक यदि विद्यमान हैं, तो वे दिखाई क्यों नहीं देते? गुरु शिष्य की इस जिज्ञासा को दो दृष्टांतों से समाहित करते हैं—

० वर्धकिरत्न—चक्रवर्ती शिल्पीरत्न—वर्धकिरत्न द्वारा निष्पादित भव्य प्रासाद में रहता हुआ भोग भोगता है। उस प्रासाद को देखकर अन्यान्य राजा या सामान्य जन भी अपने-अपने वर्धकियों से प्रासाद बनवाते हैं। इसी प्रकार परोक्षज्ञानी भी आगमव्यवहारी के अनुरूप व्यवहार करते हैं।

० धनिक दृष्टांत—साहूकार दो प्रकार के होते हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष। ऋण लेने वाले भी दो प्रकार के होते हैं—

० सद्बिभव—मांगने पर तत्काल सर्वस्व लौटाने वाले।

० असद्बिभव—पास में पर्याप्त धन नहीं होने के कारण ऋण नहीं चुकाने वाले।

ऐसे व्यक्तियों के प्रति जो निरपेक्ष होकर कठोर व्यवहार करता है, उसके तीन हानियां होती हैं—स्वयं की हानि-परेशानी, प्राप्तव्य धन की अप्राप्ति और ऋणी की ऋणवृद्धि।

जो धनिक सापेक्ष होकर उपाय द्वारा (ऋणी को प्रतिमास ब्याज देने की प्रेरणा देकर, अपने गृहकार्य में व्यापृत कर) सारा ऋण वसूल कर लेता है, वह अपनी, धन की और ऋणी की रक्षा करता है। इस प्रकार सापेक्ष धनिक उपायपूर्वक दोनों प्रकार के कर्जदारों को मुक्त कर देता है।

सापेक्ष आचार्य अपने उपायकौशल से अपराधी मुनि को प्रायश्चित्त-वहन करवाकर चारित्र और तीर्थ की सुरक्षा करते हैं।

बहुश्रुत—विविध श्रुतग्रंथों का ज्ञाता। द्र गीतार्थ

बहुश्रुत बारह अंगों का ज्ञाता होता है। शंख, सूर्य, शक्रेन्द्र आदि सोलह उपमाओं से उसके वैशिष्ट्य का निरूपण किया गया है।
 द्र श्रीआको १ बहुश्रुत

ब्रह्मचर्य—मैथुनविरति, इन्द्रिय-मन-संयम। आत्मरमण।

१. द्रव्य-भाव ब्रह्मचर्य	
* ब्रह्मचर्य : चतुर्थ महाव्रत	द्र महाव्रत
२. द्रव्य-भाव मैथुन	
३. भाव मैथुन (अब्रह्मचर्य) के प्रकार	
४. संवास के प्रकार	
५. दिव्य रूप के प्रकार, दिव्य प्रतिमा	
○ परिगृहीत प्रतिमा और उसके प्रकार	
○ देवियों के दृष्टांत	
६. देवशरीर अचिन्त नहीं होता	
७. मनुष्य-स्त्री : सुखविज्ञप्त्या आदि	
८. तिर्यचस्त्री के प्रकार	
○ तिर्यच में मैथुन संज्ञा : सिंहनी दृष्टांत	
९. कामवेग के दस प्रकार	
○ कामरागवृद्धि के प्रकार	
१०. अब्रह्मचर्य की उत्पत्ति के कारण	
११. मोहोदय : शब्द आदि तुल्य-अतुल्य	
○ सजातीय का आकर्षण, विजातीय का विकर्षण	
१२. मुनि के भी वेदोदय	
१३. वेदोदय का हेतु : कर्म या सहायक सामग्री ?	
* तीन वेद : त्रिविध अग्नि से तुलना	
* वेदोदय में अवस्था प्रमाण नहीं	द्र वेद
१४. सहेतुक-अहेतुक मोहोदय	
१५. मोहचिकित्सा के विविध उपाय	
१६. एकांत स्थान : सागारिक शय्यानिषेध	
○ सदोष वसति : यंत्रप्रतिमा दृष्टांत	
* सचित्र उपाश्रय में रहने का निषेध	द्र शय्या
१७. कामकथा-वर्जन	
○ मां के साथ धर्मकथा का वर्जन	
१८. ब्रह्मचर्य का विघ्न : दृष्टिराग	
○ शब्दराग-रूपराग-वर्जन	
१९. अब्रह्मचर्य दुःखशय्या	
२०. विषय-विराग ही ब्रह्मचर्य	
२१. ब्रह्मरक्षा हेतु सूत्रों में वैविध्य	
* ब्रह्मरक्षा हेतु भावना	द्र महाव्रत
२२. मैथुनधर्म का अपवाद नहीं	
२३. ब्रह्मचर्य की तेजस्विता : यक्ष दृष्टांत	

१. द्रव्य-भाव ब्रह्मचर्य

द्रव्यबंधं तं दुविहं—आगमओ नो आगमओ य। आगमओ जाणाए, अणुवउत्ते। नोआगमओ जाव वइरित्तं। अण्णाणीणं जो वत्थिसंजमो, जाओ यं अकामिआओ रंडकुरंडाओ बंधं धरेति तं सव्वं दव्वबंधं। भावबंधं दुविहं—आगमओ णोआगमओ य। आगमओ जाणाए उवउत्ते। णोआगमओ साहूणं वत्थिसंजमो। वत्थिसंजमोत्ति मेहुणाओ विरती—अहवा सत्तरसविहो संजमो भावबंधं भवति। (निभा १ की चू)

द्रव्य ब्रह्मचर्य के दो प्रकार हैं—

आगमतः—ब्रह्मचर्य का ज्ञाता, किन्तु अनुपयुक्त।

नोआगमतः—इसके तीन भेद हैं—ज्ञ, भव्य और व्यतिरिक्त।

अज्ञानी का वस्तिसंयम तथा विधवा आदि द्वारा अकाम-भाव से ब्रह्मपालन द्रव्य ब्रह्मचर्य है।

भाव ब्रह्मचर्य के दो प्रकार हैं—

आगमतः—ब्रह्मचर्य का ज्ञाता और उसमें उपयुक्त।

नोआगमतः—साधुओं का वस्तिसंयम—मैथुन से विरति। अथवा पृथ्वीकायसंयम आदि सतरह प्रकार का संयम भाव ब्रह्मचर्य है।

२. द्रव्य-भाव मैथुन

रूवं आभरणविही, वत्थालंकारभोयणे गंधे।
आओज्ज णट्ट णाडग, गीए सयणे य दव्वम्मि॥
जं कट्टकम्ममादिसु, रूवं सट्टाणे तं भवे दव्वं।
जं वा जीवविमुक्कं, विसरिसरूवं तु भावम्मि॥
(निभा ५०९९, ५१००)

मैथुन के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य मैथुन—रूप, आभरणविधि, वस्त्र, अलंकार, भोजन, गंध, आतोद्य, नृत्य, नाटक, गीत और शयनीय—ये द्रव्य मैथुन हैं।

काष्ठकर्म, चित्रकर्म अथवा लेप्यकर्म में निर्मित पुरुषरूप और स्त्रीरूप स्वस्थान में (पुरुष के लिए पुरुषरूप और स्त्री के लिए स्त्रीरूप) द्रव्य मैथुन है।

२. भाव मैथुन—जीवविप्रमुक्त विसदृश रूप भाव मैथुन है अर्थात् पुरुष शरीर पुरुष के लिए द्रव्य मैथुन है तथा स्त्री के लिए भाव मैथुन है। इसी प्रकार जीवमुक्त स्त्री का शरीर स्त्री के लिए द्रव्य मैथुन और पुरुष के लिए भाव मैथुन है।

३. भाव मैथुन (अब्रह्मचर्य) के प्रकार

अद्वारसविहऽबंभं, भावउ ओरात्तियं च दिव्वं च।
मण-वयस-कायगच्छण, भावम्मि य रूवसंजुत्तं ॥
अहव अबंभं जत्तो, भावो रूवाउ सहगयाओ वा।
भूसण-जीवजुयं वा, सहगय तव्वज्जियं रूवं ॥
(बृभा २४६५, २४६६)

अब्रह्मचर्य के मूल भेद दो हैं—औदारिक और दिव्य। मन, वचन-काय और कृत-कारित-अनुमति के भेद से प्रत्येक के नौ-नौ भेद होने से अब्रह्मचर्य के कुल अठारह भेद होते हैं। यह अठारह प्रकार का अब्रह्मचर्य भाव सागारिक है।

अथवा अब्रह्मभाव की उत्पत्ति का हेतु होने के कारण रूप और रूपसहगत भी भाव सागारिक है।
रूप—आभूषणरहित जीववियुक्त स्त्रीशरीर।
रूपसहगत—अलंकृत अथवा अनलंकृत जीवयुक्त स्त्रीशरीर।

४. संवास के प्रकार

चउधा खलु संवासो, देवाऽसुर रक्खसे मणुस्से य।
अण्णोण्णकामणेण य, संजोगा सोलस हवन्ति ॥
अधवण देव-छवीणं, संवासे एत्थ होति चउभंगो ।.....

अत्र देवशब्देन वैमानिको ज्योतिष्को वा, असुरशब्देन भवनवासी, राक्षसशब्देन तु सामान्यतो व्यन्तरः परिगृह्यते ।.....
अत्र देवशब्देन सामान्यतो भवनपत्यादिनिकायचतुष्टयाभ्यन्तर-वर्ती गृह्यते, छविमांश्च मनुष्य उच्यते।

(बृभा ४१९२, ४१९३ वृ)

संवास—मैथुन चार प्रकार का होता है—

१. देवताओं का २. असुरों का ३. राक्षसों का ४. मनुष्यों का।
परस्पर कामना से संवास के सोलह संयोग होते हैं—
१. देव का देवी के साथ ९. राक्षस का देवी के साथ
२. देव का असुरी के साथ १०. राक्षस का असुरी के साथ
३. देव का मानुषी के साथ ११. राक्षस का मानुषी के साथ
४. देव का राक्षसी के साथ १२. राक्षस का राक्षसी के साथ
५. असुर का देवी के साथ १३. मनुष्य का देवी के साथ
६. असुर का असुरी के साथ १४. मनुष्य का असुरी के साथ
७. असुर का मानुषी के साथ १५. मनुष्य का राक्षसी के साथ
८. असुर का राक्षसी के साथ १६. मनुष्य का मानुषी के साथ

इस संदर्भ में देव शब्द से वैमानिक और ज्योतिष्क देवों का, असुर शब्द से भवनपति देवों का तथा राक्षस शब्द से व्यन्तरदेवों का परिग्रहण किया गया है।

- अथवा देव और छवी (मनुष्य) संबंधी संवास के चार विकल्प हैं—
१. देव देवी के साथ संवास करता है।
 २. देव छविमती के साथ संवास करता है।
 ३. छविमान् देवी के साथ संवास करता है।
 ४. छविमान् छविमती के साथ संवास करता है।

यहां देव शब्द चतुर्विध देवनिकाय का और छविमान् शब्द मनुष्य का वाचक है।

५. दिव्य रूप के प्रकार, दिव्यप्रतिमा

वाणंतरिय जहनं, भवणवई जोइसं च मज्झिमगं।
वेमाणिय उक्कोसं, पगयं पुण ताण पडिमासु ॥
कट्टे पुत्थे चित्ते, जहनयं मज्झिमं च दंतम्मि।
सेलम्मि य उक्कोसं, जं वा रूवाउ निप्फनं ॥
(बृभा २४६८, २४६९)

दिव्य रूप के तीन प्रकार हैं—

- जघन्य — व्यन्तरदेवों का रूप।
मध्यम — भवनपति तथा ज्योतिष्क देवों का रूप।
उत्कृष्ट — वैमानिक देवों का रूप।

यहां दिव्य प्रतिमाओं का प्रसंग है।

दिव्य प्रतिमा के तीन प्रकार हैं—

- जघन्य — काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदि में कृत दिव्यप्रतिमा।
मध्यम — हस्तिदन्त में कृत दिव्यप्रतिमा।
उत्कृष्ट — शैल, मणि आदि में की गई दिव्य प्रतिमा।

० परिगृहीत प्रतिमा और उसके प्रकार

कट्टे पुत्थे चित्ते, दंतकम्मे य सेलकम्मे य।
दिट्ठिप्पत्ते रूवे, वि खित्तचित्तस्स भंसणया ॥
सुहविन्नवणा सुहमोयणा य सुहविन्नवणा य होति दुहमोया।
दुहविन्नप्या य सुहा, दुहविन्नप्या य दुहमोया ॥
(बृभा २५०४, २५०५)

देवियों की प्रतिमाएं पांच प्रकार की होती थीं—

१. काष्ठमयी—काष्ठ से निर्मित।
२. पुस्तकमयी—मिट्टी, धातु आदि से निर्मित।

३. चित्रमयी—भित्ति आदि पर चित्रित।
४. दन्तकर्ममयी—हाथी-दांत आदि से निर्मित।
५. शैलकर्ममयी—प्रस्तरखंड से निर्मित।

ये प्रतिमाएं इतनी सुन्दर बनाई जाती थीं कि दृष्टिगत होते ही क्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति इनमें आसक्त होकर भ्रष्ट हो जाता था। ये प्रतिमाएं देवियों द्वारा सन्निहित-परिगृहीत होती थीं।

सन्निहित देवता (परिगृहीत प्रतिमा) के चार प्रकार हैं—

१. सुखविज्ञप्प्या सुखमोचा—जिसके साथ सरलता से प्रतिसेवना की जा सके तथा जिसे सरलता से छोड़ा जा सके।
२. सुखविज्ञप्प्या दुःखमोचा—जिसके साथ सरलता से प्रतिसेवना की जा सके, परन्तु जिसको छोड़ना कठिन हो।
३. दुःखविज्ञप्प्या सुखमोचा—जिसको मनाना कष्टप्रद हो परन्तु छोड़ना सरल हो।
४. दुःखविज्ञप्प्या दुःखमोचा—जिसके पास काम-प्रार्थना या प्रतिसेवना कठिन हो तथा जिससे विरत होना भी कठिन हो।

० देवियों के दृष्टांत

सोपारयम्मि नगरे, रन्ना किर मरिगतो उ निगमकरो।
अकरो त्ति मरणधम्मा, बालतवे धुत्तसंजोगो॥
पंच सय भोइ अगणी, अपरिग्गहि सालिभंजि सिंदूरे।
तुह मज्झ धुत्त पुत्तादि अवन्ने विज्जखीलणया॥
विइयम्मि रयणदेवय, तइए भंगम्मि सुइगविज्जाओ।
गोरी-गंधाराइ, दुहविण्णप्पा य दुहमोया॥
(बृथा २५०६-२५०८)

१. सुखविज्ञप्प्या-सुखमोचा—सोपारक नगर में राजा ने पांच सौ व्यापारियों से कर मांगा। उन्होंने स्वीकार नहीं किया। राजा ने कहा—या तो कर दो या अग्नि में प्रवेश करो। उन्होंने मरना स्वीकार कर लिया। उनकी पांच सौ पत्नियों ने उनके साथ अग्नि में प्रवेश कर जीवनलीला समाप्त कर दी। वे मरकर बालतप के कारण अपरिगृहीत वानव्यंतर देवियों के रूप में उत्पन्न हुईं। उन देवियों ने 'सिंदूर' (देवकुल) की पांच सौ शालभंजिकाओं को परिगृहीत कर लिया। अल्पऋद्धिक देव भी उनको नहीं चाहता था, तब वे धूर्तों के साथ संयुक्त हो गईं। 'यह तेरी नहीं है, यह मेरी है'—इस प्रकार धूर्त परस्पर कलह करने लगे। देवियों से पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर धूर्त परस्पर कहने लगे—अरे! यह तो

अमुक है। यह तुम्हारी माता है। यह उसकी बहिन है। अभी अमुक के साथ संप्रलग्न है। वे किसी एक के साथ प्रतिबंधित न होकर, जो मनोज्ञ लगता है, उसी के साथ रहती हैं। यह सुनकर उन देवियों के पूर्वभक्तिक पुत्रों आदि ने 'हमारा अपयश होगा' यह सोचकर विद्या-प्रयोग से उन देवियों को कीलित कर डाला।

२. सुखविज्ञप्प्या दुःखमोचा—इस दूसरे विकल्प का निदर्शन है—रयणादेवी (रत्नदेवता)। अल्पऋद्धि और कामातुरता के कारण वह सुखविज्ञप्प्या थी। वह सर्वसुख सम्पादन करने में दक्ष थी, इसलिए उसका परित्याग कठिन होता था। वह दुःखमोचा थी।

३. दुःखविज्ञप्प्या सुखमोचा—इस तृतीय विकल्प का निदर्शन है शुचि और महर्द्धिक विद्यादेवियां। महान् ऋद्धि के कारण वे दुःखविज्ञप्प्या होती हैं (नित्य अत्यन्त अप्रमत्त होकर सघनता से उनकी आराधना करनी होती है, तभी वे प्रसन्न होती हैं) और अपाययुक्त होने के कारण सुखमोचा होती हैं।

४. दुःखविज्ञप्प्या दुःखमोचा—गौरी, गांधारी आदि मातंगविद्यादेवियां साधनकाल में लोकगर्हितता के कारण दुःखविज्ञप्प्या तथा इच्छानुरूप काम की सम्प्रापकता के कारण दुःखमोचा हैं।

६. देवशरीर अचित्त नहीं होता

पण्णवणमेत्तमिदं, जं देहजुतं अचेतणं दिव्वं।
तं पुण जीवविमुक्कं, भिज्जति स तथा जह य दीवो॥
(निभा २१९८)

देहयुत देवता के दो प्रकार हैं—सचेतन और अचेतन। इनमें अचेतन का प्रकार प्रज्ञापनमात्र है। वस्तुतः देवशरीर अचित्त नहीं होता क्योंकि वह जीवच्युत होते ही प्रदीपशिखा की भांति तत्काल नष्ट हो जाता है।

७. मनुष्य-स्त्री : सुखविज्ञप्प्या आदि

माणुस्सं पि य तिविहं, जहन्नगं मज्झिमं च उक्कोसं।
पायावच्छ-कुडुंबिय-दंडियपारिग्गहं चेष॥
उक्कोस माउ-भज्जा, मज्झं पुण भगिणि-धूतमादीयं।
खरियादी य जहन्नं, पगयं सजितेत्तरे देहे॥
सुहविन्नप्पा सुहमोइगा य सुहविन्नप्पा य हाति दुहमोया।
दुहविन्नप्पा य सुहा, दुहविन्नप्पा य दुहमोया॥
खरिया महिड्डिगणिया, अंतपुुरिया य रायमाया य।
उभय सुहविन्नवणा, सुमोय दोहिं पि य दुमोया॥
(बृथा २५१६, २५१७, २५२७, २५२८)

मनुष्यरूप के तीन प्रकार हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं—प्राजापत्य (सामान्यजन)-परिगृहीत, कौटुम्बिक-परिगृहीत और दण्डिक-परिगृहीत ।

मनुष्य रूप में उत्कृष्ट हैं—माता और पत्नी, क्योंकि वे किसी को नहीं दी जाती हैं । मध्यम रूप है—भगिनी, पुत्री, पौत्री आदि—जो इनको चाहता है, उनको दी जाती हैं । जघन्य रूप है—दासी आदि स्त्रियां । ये सब रूप दो प्रकार के हो सकते हैं—प्रतिमायुत और देहयुत । मैथुन के सन्दर्भ में सजीव और निर्जीव देहयुत का प्रसंग है ।

देहयुत मनुष्यस्त्री के चार प्रकार हैं—

१. सुखविज्ञप्त्या सुखमोच्या—दासी आदि ।
२. सुखविज्ञप्त्या दुःखमोच्या—महान् ऋद्धि वाली गणिका साधारण स्त्री होने के कारण सुखविज्ञप्त्या और यौवन, रूप, विभ्रम आदि के कारण दुःखमोच्या होती है ।
३. दुःखविज्ञप्त्या सुखमोच्या—राजा के अन्तःपुर की स्त्रियां । रक्षपालक की सुरक्षा में रहने के कारण कठिनाई से प्राप्त होती हैं, इसलिए दुःखविज्ञप्त्या होती हैं । उनका संपर्क आपत्तिबहुल होने के कारण वे सुखमोच्या होती हैं ।
४. दुःखविज्ञप्त्या दुःखमोच्या—राजमाता गुरुस्थान में पूजनीय होती है । उसकी सुरक्षा-व्यवस्था भी बहुत होती है, अतः वह दुःखविज्ञप्त्या है । वह सौख्यसंपत्तिकारिणी तथा प्रत्यपायों से बचाने वाली होती है, अतः दुःखमोच्या है ।

८. तिर्यचस्त्री के प्रकार

अइय अमिला जहन्ना, खरि महिसी मज्झिमा वलवमादी ।
गोणि करेणुक्कोसा, पगयं सजितेते देहे ॥
अमिलाई उभयसुहा, अरहणगमाइमक्कडि दुमोया ।
गोणाइ तइयभंगे, उभयदुहा सीहि-वग्घीओ ॥
(बृभा २५३५, २५४५)

तिर्यचस्त्री के तीन प्रकार हैं—१. जघन्य—बकरी, भेड़ आदि । २. मध्यम—गर्दभी, महिषी, वडवा आदि । ३. उत्कृष्ट—गौ, हथिनी आदि ।

यहां सजीव और अजीव देहयुत का प्रसंग है । देहयुत तिर्यचस्त्री रूप के चार प्रकार हैं—

१. सुखविज्ञप्त्या सुखमोच्या—भेड़, बकरी, गर्दभी आदि उभयसुखा हैं । ये निष्प्रत्यपाय होने के कारण सुखविज्ञप्त्या तथा तुच्छ सुखास्वादमात्र का हेतु होने के कारण सुखमोच्या हैं ।
२. सुखविज्ञप्त्या दुःखमोच्या—मर्कटी (बन्दरी) आदि । अर्हन्नक की भाभी उसके प्रति अनुराग के कारण मरकर मर्कटी बनी । माना जाता है कि मर्कटी आदि ऋतुकाल में कामातुर होती हैं, उस समय वे सुखविज्ञप्त्या होती हैं । परन्तु जब वे अत्यन्त अनुरक्त हो जाती हैं, तब उनसे छुटकारा पाना कठिन होता है ।
३. दुःखविज्ञप्त्या सुखमोच्या—गाय, महिषी आदि स्वपक्ष के साथ भी कठिनाई से संगम करती हैं तो परपक्ष (मनुष्य) के साथ की तो बात ही क्या ? ये दुःखविज्ञप्त्या हैं । इनका संगम लोकजुगुप्सित माना जाता है, अतः ये सुखमोच्या हैं ।
४. दुःखविज्ञप्त्या दुःखमोच्या—सिंही, व्याघ्री—ये उभयदुःखा हैं—मृत्यु का कारण बनती हैं, अतः दुःखविज्ञप्त्या हैं तथा अनुरक्त होने पर प्रतिबद्धता के कारण ये दुःखमोच्या होती हैं ।

जह हास-खेडु-आगार-विब्भमा होंति मणुयइत्थीसु ।
आलावा य बहुविधा, तह नत्थि तिरिक्खइत्थीसु ॥
(बृभा २५४३)

जैसे मनुष्य-स्त्री में हास्य, क्रीड़ा, आकार, विभ्रम तथा अनेक प्रकार के आलाप होते हैं, वैसे तिर्यच-स्त्रियों में नहीं होते । (फिर भी मनुष्य इतना कामी है कि वह तिर्यच-स्त्रियों के साथ भी मैथुन सेवन की प्रवृत्ति करता है ।)

० तिर्यच में मैथुन संज्ञा : सिंहनी दृष्टांत

जइ ता सणप्फईसुं, मेहुणभावं तु पावए पुरिसो ।
जीवियदोच्चा जहियं, किं पुण सेसासु जाईसु ॥

एक्का सीही रिउकाले मेहुणत्थी सजाइपुरिसं अलभ-
माणी सत्थे वहंते इक्कं पुरिसं धित्तुं गुहं पविट्ठा चाटुं काउ-
माठत्ता । सा य तेण पडिसेविता । तत्थ तेसिं दोणह वि
संसाराणुभावतो अणुरागो जातो । गुहापडियस्स तस्स सा
दिणे दिणे पोग्गलं आपोउं देइ । सो वि तं पडिसेवइ ।

(बृभा २५४६)

जिसके साथ रहने में प्राणों को भी खतरा है, उस सनखपदी—

सिंहनी के साथ भी पुरुष मैथुन सेवन कर लेता है, फिर शेष जातियों की तो बात ही क्या ?

एक बार एक सिंहनी की कामवासना उदीप्त हो गई। उसे सिंह का योग नहीं मिला तो वह किसी सार्थ में से एक पुरुष को उठाकर ले आई। गुफा में प्रविष्ट हुई और उसे चाटने लगी। व्यक्ति ने उसके साथ प्रतिसेवना की। उनमें परस्पर सहज अनुराग हो गया। वह प्रतिदिन उसे मांस लाकर देती। वह भी उसके साथ प्रतिसेवना करता।

९. कामवेग के दस प्रकार

चिंता य ददुमिच्छइ, दीहं नीससइ तह जरो दाहो।
भक्तअरोयग मुच्छा, उम्मत्तो न याणई मरणं॥
पढमे सोयइ वेगे, ददुं तं इच्छई बिइयवेगे।
नीससइ तइयवेगे, आरुहइ जरो चउत्थम्मि॥
डण्डइ पंचमवेगे, छट्टे भत्तं न रोयए वेगे।
सत्तमगम्मि य मुच्छा, अट्टमए होइ उम्मत्तो॥
नवमे न याणइ किंघो, दसमे पाणेहिं मुच्चइ मणूसो।.....
(बृभा २२५८-२२६१)

स्त्रीदर्शन से मोहजन्य वेग (आवेग-आवेश) उत्पन्न होते हैं। वे दस हैं—

चिन्ता—प्रथम वेग में प्राप्ति की चिन्ता रहती है।

दिदृक्षा—दूसरे वेग में वह उसे देखना चाहता है।

दीर्घश्वास—तीसरे वेग में दीर्घ निःश्वास छोड़ता है।

ज्वर—चतुर्थ वेग में ज्वर से पीड़ित हो जाता है।

दाह—पंचम वेग में सारे अंग जलने लग जाते हैं।

अरुचि—षष्ठ वेग में भोजन से अरुचि हो जाती है।

मूर्च्छा—सप्तम वेग में मूर्च्छित हो जाता है।

उन्मत्तता—अष्टम वेग में उन्मत्त हो जाता है।

जड़ता—नवम वेग में वह निश्चेष्ट हो जाता है।

मरण—दशम वेग में वह प्राणों को छोड़ देता है।

० कामराग-वृद्धि के प्रकार

संदंसणेण पीई, पीईउ रई रईउ वीसंभो।

वीसंभाओ पणओ, पंचविहं वड्डए पिमं॥

(बृभा २२६८)

पारस्परिक संदर्शन से पहले प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति से रति (चित्तविश्रान्ति) पैदा होती है। रति से विश्वास बढ़ता है। विश्वास से परस्पर कथा करते हुए अप्रशस्त राग उत्पन्न हो जाता है। इन पांच प्रकारों से राग बढ़ता है।

१०. अब्रह्मचर्य की उत्पत्ति के कारण

कोहाति समभिभूओ, जो तु अबंभं णिसेवति मणुस्सो।

चउ अण्णातरा मुलुप्पत्ती तु सव्वत्थ पुण लोभो॥

(निभा ३५६)

क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों में से किसी भी कारण से अभिभूत—आर्त व्यक्ति में मैथुन की उत्पत्ति हो सकती है। लोभ की उपस्थिति सर्वत्र रहती ही है।

११. मोहोदय : शब्द आदि तुल्य-अतुल्य

नत्थि अनिदाणओ होइ उब्भवो तेण परिहर निदाणं।

ते पुण तुल्ला-उतुल्ला, मोहनिदाणा दुपक्खे वि॥

रस-गंधा तहिं तुल्ला, सद्दई सेस भय दुपक्खे वि।

सरिसे वि होइ दोसो, किं पुण ता विसम वत्थुम्मि॥

(बृभा १०४९, १०५०)

मोह का उद्भव निदान (कारण) के बिना नहीं होता। इसलिए निदान (इष्ट शब्द, रूप आदि) का परिहार करो।

मोह के निदानभूत शब्द आदि स्त्रीवर्ग और पुरुषवर्ग—दोनों पक्षों में मोह की उत्पत्ति में तुल्य भी हैं, अतुल्य भी हैं।

स्त्री और पुरुष के मोहोद्भव में रस और गंध की समान भूमिका है। पुरुषसम्बन्धी शब्द, रूप और स्पर्श में पुरुष का मोहोदय हो भी सकता है, नहीं भी होता। यदि होता है तो उतना तीव्र नहीं होता। स्त्रीसंबन्धी शब्द आदि में पुरुष का मोहोदय प्रायः होता ही है और तीव्र होना है।

स्त्री के स्त्रीसंबन्धी और पुरुषसंबन्धी विषयों में भी यही क्रम है। सदृश स्पर्श आदि में भी मोहोदय हो जाता है, तो विसदृश वस्तु में तो वह होता ही है।

० सजातीय का आकर्षण, विजातीय का विकर्षण

तत्थउन्नतमो मुक्को, सजाइमेव परिधावई पुरिसो।

पासगाए वि विवक्खे, चरइ सपक्खं अवेक्खंतो॥

निष्कथया य सिणोहो, वीसत्थत्तं परोप्पर निरोहो ।
दाणकरणं पि जुज्जइ, लग्गइ तत्तं च तत्तं च ॥
(बृभा २१६९, २१७२)

अश्व, गौ आदि पशु बन्धन से मुक्त होने पर विजातीय वर्ग को छोड़कर सजातीय वर्ग का ही अनुसरण करते हैं। अत्यन्त पार्श्व में गौ आदि के होने पर भी अश्व अत्यन्त दूरस्थ सजातीय वडवा की ओर ही दौड़ता है।

संयत और संयती एक-दूसरे से निर्भय होते हैं। स्वपक्ष के कारण दोनों में स्नेहभाव होता है। गोपनीय विषय में दोनों एक-दूसरे से विश्वस्त होते हैं। दोनों ही वस्ति का निग्रह करने वाले होते हैं, वस्त्र-पात्र आदि का परस्पर आदान-प्रदान करते हैं। जैसे तपाये हुए लोहे के दो टुकड़े आपस में संबद्ध हो जाते हैं, वैसे ही निरोध से संतप्त श्रमण-श्रमणी एकान्त को पाकर जुड़ जाते हैं।

१२. मुनि के भी वेदोदय

लुक्खमरसुण्हमनिकामभोइणं देहभूसविरयाणं ।
सञ्जाय-पेहमादिसु, वावारेसुं कओ मोहो ॥
पहरण-जाणसमग्गो, सावरणो वि हु छलिज्जइ जोहो ।
वालेण य न छलिज्जइ, ओसहहत्थो वि किं गाहो ॥
उदगघडे वि करगए, किमोगमादीवितं न उज्जलइ ।
अइइद्धो वि न सक्कइ, विनिव्ववेउं कुडजलेणं ॥
(बृभा २१५४, २१६०, २१६१)

मुनि रूक्ष, अरस, टण्डा और परिमित आहार करते हैं, देह-विभूषा से विरत होते हैं, स्वाध्याय, प्रत्युपेक्षणा आदि कार्यों में व्यापृत रहते हैं, फिर उनके मोह का उदय कैसे संभव है ?

गुरु ने कहा—जो योद्धा खड्ग आदि शस्त्रों, हस्ती, रथ आदि यान-वाहनों तथा अन्य युद्ध सामग्री से युक्त है, कवच से सन्नद्ध है और युद्धकला का पारगामी है, वह भी युद्ध के मोर्चे पर पराक्रम से लड़ता हुआ अन्य योद्धा के द्वारा छल से मारा जाता है।

गारुडिक के हाथ में औषध होने पर भी क्या वह दुष्ट सर्प के द्वारा नहीं छला जाता ? छला जाता है। जलकुम्भ हाथ में होने पर भी क्या प्रज्वलित होता हुआ घर नहीं जल जाता ? अत्यन्त प्रदीप्त आग को घटमात्र जल से नहीं बुझाया जा सकता। उसी प्रकार मोहोदयरूप अग्नि से प्रज्वलित चारित्रगृह जल जाता है,

घटजलतुल्य ज्ञान आदि की प्रवृत्तियां उसे बुझा नहीं सकतीं।

१३. वेदोदय का हेतु : कर्म या सहायक सामग्री ?

....लब्धीय कूलवालो, गुणमगुणं किं व सगडाली ॥
कस्सइ विवित्तवासे, विराहणा दुन्नए अभेदो वा ।
जह सगडालि मणो वा, तह बिइओ किं न रुंभिंसु ॥
होञ्ज न वा वि पभुत्तं, दोसाययणोसु वट्टमाणस्स ।
चूयफलदोसदरिसी, चूयच्छायं पि वज्जेइ ॥

न चात्रारण्यं जनाकुलं वा प्रमाणम्, यतः कूलवालको-
ऽटव्यामपि वसन् कं गुणं लब्धवान् ? 'शाकटालिः' स्थूल-
भद्रस्वामी स जनमध्ये गणिकाया गृहेऽपि तिष्ठन् कमगुणं
लब्धवान् ? न कमपीति भावः । 'दुर्नये' स्व्यादिसंसक्ताप्रतिश्रय-
वासेऽपि वेदमोहनीयक्षयोपशमप्रबलत्वेन 'अभेदः' न ब्रह्मचर्य-
विलोपो भवति....यद्येवं तर्हि कर्मोदय-क्षय-क्षयोपशमादिरेव
प्रमाणं न स्त्रीसंसर्गादि, नैवम् कर्मणामुदय-क्षय-क्षयोपशमा-
दयोऽपि प्रायस्तथाविधद्रव्यक्षेत्रादिसहकारिकारणसाचिव्यादेव
तथा तथा समुपजायन्ते नान्यथा। यथा वा 'शाकटालिः'
स्थूलभद्रस्वामी स्वीकृत्य मनः स्त्रीसंसर्गोऽपि निरुद्धवान् तथा
'द्वितीयः' सिंहगुफावासी किं न निरुद्धवान् ?

(बृभा २१६४-२१६६ वृ)

कोई मुनि एकान्त स्थान में निवास करता है, किंतु प्रबल वेद का उदय होने से वह ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जाता है। इसमें अरण्य या जनाकुल स्थान प्रमाण नहीं है, क्योंकि कूलवालक ने जंगल में रहते हुए भी कौन सा गुण प्राप्त किया ? स्थूलभद्रस्वामी को जनमध्य गणिका के घर में रहते हुए भी कौन सी हानि हुई ? कुछ भी हानि नहीं हुई। कोई मुनि स्त्रियों से संसक्त वसति में रहता है, किन्तु वेद मोहनीय के क्षयोपशम की प्रबलता के कारण ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट नहीं होता।

'ब्रह्मचर्य के लोप-अलोप में कर्मों का उदय, क्षय और क्षयोपशम ही प्रमुख कारण है, स्त्री आदि का संसर्ग नहीं'—यह कथन उपयुक्त नहीं है क्योंकि कर्मों का उदय, क्षय, क्षयोपशम भी प्रायः तथाविध द्रव्य, क्षेत्र आदि सहकारी कारणों के सहयोग से ही होता है, अन्यथा नहीं।

अथवा जैसे स्थूलभद्र स्वामी ने कोशावेश्या के प्रति अपने मन

का निग्रह किया, वैसे ही क्या सिंहगुफावासी यति ने अपने मन का निरोध नहीं किया? निरोध करने पर भी वह सहायक सामग्री के प्रभाव में आकर मार्गच्युत हो गया था।

कोई मुनि ब्रह्मचर्य की विराधना करने वाले स्थानों में अपने मन को नियंत्रित करने में सक्षम हो या न हो, फिर भी उसे उन स्थानों का वर्जन करना चाहिए। जैसे आम्रफल के खाने में दोष देखने वाले को आम्रवृक्ष की छाया का भी वर्जन करना चाहिए।

१४. सहेतुक-अहेतुक मोहोदय

कामं कम्मणिमित्तं, उदयो णत्थि उदओ उ तव्वज्जो ।
तह्वि य बाहिरवत्थुं, होति निमित्तं तिमं तिविधं ॥
सद्दं वा सोऊणं, दद्दुं सरित्तुं व पुव्वभुत्ताइं ।
सणिमित्तं ऽणिमित्तं पुण, उदयाहारे सरीरे य ॥
दिट्ठीपडिसंहारो, दिट्ठे सरणे विरग्गभावणा भणित्ता ।
जतणा सणिमित्तम्पी, होतं ऽणिमित्ते इमा जतणा ॥
छायस्स पिवासस्स व, सहाव गेलण्णतो वि किसस्स ।
बाहिरणिमित्तवज्जो, अणिमित्तुदओ हवति मोहे ॥
आहारउब्भवो पुण, पणीतमाहारभोयणा होति । १०००
मंसोवचया मेदो, मेदाओ अट्ठि-मिंज-सुक्का णं ।
सुक्कोवचया उदओ, सरीरचयसंभवो मोहे ॥

(निभा ५१५, ५१६, ५७०-५७३)

संक्लिष्ट भाव का उदय कर्म के निमित्त से होता है, यह सही है। कर्मोदय के बिना संक्लिष्ट कर्म नहीं होता। बाह्य वस्तु कर्मोदय में निमित्त बनती है। बाह्य निमित्त के तीन प्रकार हैं— शब्दश्रवण, रूपदर्शन, भुक्तभोगस्मरण।

विकारयुक्त स्थानों पर दृष्टि पड़ते ही उसको वहां से हटा लेना चाहिए। वासनोत्तेजक शब्द सुनाई देने पर या पूर्वभुक्त भोगों की स्मृति होने पर वैराग्य भावना से अपने आपको भावित करना चाहिए।

बाह्य निमित्तों के बिना आंतरिक कारणों से जो वासना का उदय होता है, उसे अनिमित्तक कहा गया है। उसके तीन प्रकार हैं—

१. कर्मप्रत्ययिक उदय—जो भूख-प्यास से पीड़ित है, जिसका शरीर स्वभाव से या रुग्णता के कारण कुश है, उसके जो मोहोदय होता है, वह शब्द आदि बाह्य निमित्त के बिना ही हो जाता है।

२, ३. आहार एवं शरीर प्रत्ययिक उदय—प्रणीत आहार करने से

मोह का उद्भव होता है। आहार से रस का उपचय, रसेपचय से रक्त का उपचय, रक्तोपचय से मांसोपचय तथा इसी क्रम से वसा, हड्डी, मज्जा और शुक्र का उपचय होता है। शुक्रोपचय से वायुप्रकोप और वायुप्रकोप से प्रजनन अंग स्तब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार आहार एवं शरीरोपचय से मोहोदय होता है।

० कल्याण आहार

.....वाईकरणाऽऽहरणं, कल्लाणपुरोध उज्जाणे ॥

पणीयाहारो वाजीकरणं दप्पकारकेत्यर्थः । १००० कपिल्लपुरं
णारं । ब्रह्मदत्तो राजा । तस्स कल्लाणगं णाम आहारो । सो
वरिसेण णिफिज्जति । तं च इत्थिरयणं चक्की य भुंजति ।
तव्वइरित्तो अण्णो जइ भुंजति, तो उम्माओ भवति । पुरोहिओ
य तमाहारमभिलसति । १००० राइणा रूसिएण भणिओ—कल्लं
णातिथिवग्गसहिओ णिमत्तिओ सि । राइणा उज्जाणे जेमाविओ ।
तेहिं मोहुदओ गोधम्मो समाचरितो । एवं पणीयाहारेण मोहुदओ
भवति । (निभा ५७२ चू)

प्रणीत आहार दर्पकारक—उन्माद पैदा करने वाला होता है, जिसका उदाहरण है—कल्याण आहार।

काम्पिल्यपुर में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती 'कल्याणक' आहार करता था। कल्याणक आहार एक वर्ष में निष्पन्न होता है। उसे चक्रवर्ती और स्त्रीरत्न ही पचा सकते हैं। अन्य कोई भी व्यक्ति इसे खाता है तो वह उन्मत्त हो जाता है। एक दिन पुरोहित ने उस आहार की याचना की। राजा ने निषेध कर दिया। पुरोहित के अत्याधिक अनुरोध करने पर राजा ने रुष्ट होकर कहा—कल उद्यान में तुम अपने ज्ञातिजनों के साथ आ जाना। दूसरे दिन पुरोहित अपने ज्ञातिजनों के साथ उद्यान में आ पहुंचा। राजा ने सभी को भोजन कराया और पुरोहित को स्वयं के भोजन में से कुछ हिस्सा दिया। पुरोहित ने वह भोजन किया और वह इतना उन्मत्त हो गया कि वासना के तीव्र उद्रेक से अपनी बहिन-बेटियों के साथ भी कुकर्म कर बैठा। इस प्रकार प्रणीत आहार से मोहोदय होता है।

१५. मोहचिकित्सा के विविध उपाय

निव्विति ओम तव वेय, वेयावच्चे तधेव ठाणे य ।
आहिंडणा य मंडलि, ॥

(व्यभा १६०१)

कामवासना का उदय होने पर निम्न उपायों से कामासक्ति की चिकित्सा की जा सकती है—

- ० निर्विकृतिक, अवमौदर्य, उपवास आदि तप। इनसे कामेच्छा का उपशमन न हो तो सेवाकार्य में नियोजन।
- ० खड़े-खड़े कायोत्सर्ग का प्रयोग।
- ० देशाटन करने वालों के साथ सहयोगी के रूप में नियुक्ति तथा बहुश्रुत हो तो सूत्र-अर्थमंडली का दायित्व सौंपना, जिससे वह सतत कार्य में व्यापृत रहे।

नोदक आह—जति तावागीयत्थस्स निव्वीयादि तव-विसेसा उवसमो ण भवति तो गीयत्थस्स कंहं सीयच्छायादि-ठियस्स उवसमो भविस्सति ?... कप्पड्डियाहरणं' ति—

एगस्स कुडुंबिगस्स धूया णिक्कम्मवावारा सुहास-णत्था अच्छति। तस्स य अब्भंगुव्वड्डणह्णविलेवणादि-परायणाए मोहुब्भवो। अम्मधातिं भणति। तीए अम्म-धातीए माउए से कहियं। तीए वि पिउणो। पिउणा वाहरित्ता भणिया—युत्तिए! एताओ दासीओ सव्वधणादि अवर-हंति, तुमं कोठायारं पडियरसु, तह ति पडिवन्नं, सा जाव अण्णस्स भत्तयं देति, अण्णस्स वित्तिं, अण्णस्स तंदुला, अण्णस्स आयं देक्खती, अण्णस्स वयं, एव-मादिकिरियासु वावडाए दिवसो गतो। सा अतीव खिण्णा रयणीए णिवण्णा अम्मधातीते भणित्ता—आणेमि ते पुरिसं? सा भणेति—ण मे पुरिसेण कज्जं, णिहं लहामि। एवं गीयत्थस्स वि सुत्तपोरिसिं देंतस्स अतीव सुत्तत्थेसु वावडस्स कामसंकप्पो ण जायइ। (निभा ५७४ की चू)

कन्या दृष्टांत—शिष्य ने पूछा—अगीतार्थ का निर्विकृति आदि तप विशेष से भी मोहशमन नहीं होता है तो गीतार्थ का शीतछाया आदि में बैठने मात्र से मोह शान्त कैसे होगा?

आचार्य ने कहा—एक कुटुम्बी की कन्या सदा निठल्ली सुखासन में बैठी रहती थी। अभ्यंग-उबटन-स्नान-विलेपन में लगी रहने के कारण उसमें कामवासना जाग गई। वह धाय से बोली—मेरे लिए एक पुरुष लाओ। बात माता-पिता तक पहुंची। पिता ने बुलाकर कहा—बेटी! ये दासियां धन-धान्य को चुरा रही हैं, अतः कोष्ठागार को अब तुम संभालो। पुत्री ने स्वीकृति दी। अब वह किसी को भत्ता देती है, किसी को वृत्ति, किसी को

चावल देती है और किसी के आय-व्यय का लेखा-जोखा देखती है। इन कार्यों में उसका दिन बीत गया। वह अत्यंत श्रांत होकर जब रात को सोने लगी तो धायमाता ने पूछा—तेरे लिए पुरुष लाऊं? वह बोली—पुरुष से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मुझे तो नींद लेने दो।

इसी प्रकार मंडली में उपविष्ट गीतार्थ सूत्र-अर्थ की वाचना देने में इतनी सघनता से व्यापृत हो जाता है कि उसके चित्त में काम का संकल्प ही नहीं जागता।

१६. एकांत स्थान : सागारिकशय्या-निषेध

जे भिक्खू सागारियं सेज्जं अणुपविसति अणुपविसंतं वा सातिज्जति ।... आवज्जइ चाउम्भासियं परिहारद्वणं उग्घातियं ॥

(नि १६/१, ५१)

सन्नासुत्तं सागरियं ति जहा मेहुणुब्भवो होइ। जत्थित्थी पुरिसा वा, वसंति सुत्तं तु सट्टाणे ॥

(निभा ५०९६)

जो भिक्षु सागारिका वसति में रहता है अथवा रहने का अनुमोदन करता है, वह चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

'सागारिक' (अगारी सहित)—यह सामयिकी संज्ञा है। जिस वसति में रहने से मैथुन संज्ञा का उद्भव होता है अथवा जहां स्त्री-पुरुष रहते हैं, वह सागारिका है। निर्ग्रथ स्त्रीसागारिका वसति में और निर्ग्रथी पुरुषसागारिका वसति में नहीं रह सकती।

णिच्चं पि दव्वकरणं, अवहितहिययस्स गीयसहेसु। पडिलेहण सज्जाए, आवासग भुंज वेरत्ती ॥ ते सीदिउमारद्धा, संजमजोगेहि वसहिदोसेणं। गलति जतुं तप्पंतं, एव चरित्तं मुणेयव्वं ॥

(निभा ५१०९, ५११०)

सागारिक वसति में गीत, वाद्य आदि के शब्द सुनाई देते रहते हैं, मुनि का चित्त सदा उन्हीं में लगा रहता है। इससे उसकी प्रतिलेखना, स्वाध्याय, आवश्यक आदि समस्त संयमयोग की क्रियाएं द्रव्य क्रियाएं होती हैं (संयमयोगों में उसका मन स्थिर नहीं रहता)।

जैसे अग्नि के ताप से लाख का गोला पिघल जाता है, वैसे ही सदोष वसति में रहने से संयम-योगों में उसका मन विषण्ण रहता है, इससे चारित्र्य की हानि होती है।

वडपादव उम्मूलण, तिक्खम्मि व विज्जलम्मि वच्चंतो ।
कुणमाणो वि पयत्तं, अवसो जह पावती पडुणं ॥
तह समणसुविहिताणं, सब्बपयत्तेण वी जंतंताणं ।
कम्मोदयपच्चइया, विराधणा कासति हवेज्जा ॥

(बृभा ४९२९, ४९३०)

जैसे वटवृक्ष का मूल अनेक शाखाओं से प्रतिबद्ध होता है किन्तु पहाड़ी नदी के जल का तीव्र वेग उसे उखाड़ देता है। कोई व्यक्ति कीचड़ संकुल मार्ग का प्रयत्नपूर्वक वर्जन करता हुआ भी अवश होकर गिर जाता है। उसी प्रकार सर्वप्रयत्नों से यतमान सुविहित श्रमणों के भी मोह का उदय हो जाता है। किसी मुनि के वेदमोहनीयकर्म के उदय के कारण चारित्र की विराधना हो जाती है।

० सदोष वसति : यंत्र प्रतिमा दृष्टांत

दुविहो वसहीदोसो, वित्थरदोसो य रूवदोसो य ।
दुविहो य रूवदोसो, इत्थिगत णपुंसतो चेव ॥
एक्केक्को सो दुविहो, सच्चित्तो खलु तहेव अच्चित्तो ।
अच्चित्तो वि य दुविहो, तत्थगताऽऽगंतुओ चेव ॥
कट्टे पुत्ते चित्ते, दंतोवल मट्टियं व तत्थगतं ।
एमेव य आगंतुं, पालित्तय बेट्टिया जवणे ॥

अत्र पादलिप्ताचार्यकृता 'बेट्टिक' त्ति राजकन्यका दृष्टान्तः । स चायम्—पालित्तायरिहं रनो भगिणीसरिसिया जंतपडिमा कया । चंक्रमणुम्मेस-निमेषमयी तालविंटहत्था आयरियाणं पुरतो चिड्डु । राया वि अईव पालित्तगस्स सिणेहं करेइ । धिज्जाइएहिं पउट्टेहिं रनो कहियं—भगिणी ते समण-एणं अभिओगिया । राया न पत्तियति...पासित्ता...रुट्टो पच्चो-सरिओ य । तओ सा आयरिहं चड त्ति विगरणी कया ।... एवमागन्तुका अपि स्त्रीप्रतिमा भवन्ति । 'जवणे' त्ति यवन-विषये ईदृशानि स्त्रीरूपाणि प्राचुर्येण क्रियन्ते ।

(बृभा ४९१३-४९१५ वृ)

वसति संबंधी दोषों के दो प्रकार हैं—

१. विस्तर दोष—विस्तीर्ण वसति (घंघशाला आदि) ।
२. रूपदोष—इसके दो प्रकार हैं—स्त्रीरूपगत और नपुंसकरूपगत । इन दोनों के दो-दो प्रकार हैं—सचित्त और अचित्त । अचित्त के दो

प्रकार हैं—१. तत्रगत—जिस वसति में पहले से ही काष्ठकर्म, पुस्तकर्म या चित्रकर्म में निर्वर्तित स्त्रीप्रतिमा अथवा दंतमय, उपलमय या मृत्तिकामय स्त्रीरूप विद्यमान हैं, उनसे होने वाले दोष ।

२. आगंतुक—आगंतुक प्रतिमा से होने वाले दोष ।

स्त्रीप्रतिमा दृष्टांत—पादलिप्त आचार्य ने राजा की बहिन के सदृश एक यन्त्र प्रतिमा बनाई । उस प्रतिमा में चंक्रमण और उन्मेष-निमेष की क्षमता थी । उसके हाथ में तालवृन्त का पंखा था । वह आचार्य के सामने प्रस्थापित थी । राजा भी पादलिप्त आचार्य से स्नेह करता था । एक दिन द्वेषवश एक ब्राह्मण ने राजा से कहा—आपकी बहिन आचार्य द्वारा अभिमंत्रित है । राजा को विश्वास नहीं हुआ । ब्राह्मण राजा को अपने साथ ले गया और आचार्य के सम्मुख प्रस्थापित यन्त्रमयी प्रतिमा दिखाई । राजा रुष्ट होकर वहां से लौट आया । तब आचार्य ने तत्काल उस प्रतिमा को विसर्जित कर दिया । राजा का संदेह दूर हो गया । यवन देश में ऐसी प्रतिमाएं प्रचुरता से निर्मित की जाती थीं ।

१७. कामकथा-वर्जन

सिंगाररसुत्तुइया, मोहमई फुंफुका हसहसेति ।
जं सुणमाणस्स कहं, समणेण न सा कहेयव्वा ॥
समणेण कहेयव्वा, तव-णियमकहा विरागसंजुत्ता ।
जं सोऊण मणूसो, वच्चइ संवेग-णिव्वेयं ॥
(बृभा ४५८८, ४५८९)

श्रमण को वैसी कथा नहीं कहनी चाहिये, जिसको सुनकर श्रोता का शृंगाररस उत्तेजित हो जाए और उस उत्तेजना से मोहमयी करीषाग्नि प्रज्वलित हो उठे ।

श्रमण को वैराग्यमयी तप-नियम-कथा करनी चाहिए, जिसको सुनकर मनुष्य संवेग-निर्वेद को प्राप्त हो ।

० मां के साथ धर्मकथा का वर्जन

अवि मायरं पि सद्धिं, कथा तु एगागियस्स पडिसिद्धा ।
किं पुण अणारियादी, तरुणित्थीहिं सह गयस्स ॥
(निभा २३४४)

अकेला साधु अपनी एकाकी मां, बहिन आदि (अगम्य स्त्रियों) के साथ भी धर्मकथा नहीं कर सकता, तब अन्य तरुणियों के साथ अनार्य (काम) कथा कैसे कर सकता है ?

१८. ब्रह्मचर्य का विघ्न : दृष्टिराग

जह वा सहीणरयणे, भवणे कासइ पमाय-दप्येणं ।
 डज्झति समादित्ते, अणिच्छमाणस्स वि वसूणि ॥
 इय संदंसण-संभासणेहिं संदीविओ मयणवणही ।
 बंभादीगुणरयणे, डहइ अणिच्छस्स वि पमाया ॥
 सुक्खिधण-वाउबलाऽभिदीवितो दिप्पतेऽहियं वणही ।
 दिट्ठिधण-रागानिलसमीरितो ईय भावगी ॥
 (बृभा २१५१-२१५३)

पद्मराग आदि बहुरत्नों से कलित भवन किसी के प्रमाद या दर्प के कारण प्रज्वलित हो जाने पर, श्रेष्ठी के नहीं चाहने पर भी वे रत्न जल जाते हैं। उसी प्रकार साधु-साध्वी के पारस्परिक अवलोकन और संभाषण से कामाग्नि प्रज्वलित होती है। उस प्रदीप्त कामाग्नि से साधु-साध्वी नहीं चाहते हुए भी अपने ब्रह्मचर्य, तप और संयम रूप गुणरत्नों को जला देते हैं।

शुष्क ईधन अथवा वायुबल से अभिप्रेरित अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित होती है। उसी प्रकार दृष्टि रूप ईधन और राग रूप हवा से प्रेरित होकर भावाग्नि अत्यधिक उदीप्त हो जाती है।

० शब्दराग-रूपराग-वर्जन

से भिक्खू.....णो इहलोइएहिं सदेहिं, णो परलोइएहिं सदेहिं, णो सुएहिं सदेहिं, णो असुएहिं सदेहिं, णो दिट्ठेहिं सदेहिं, णो अदिट्ठेहिं सदेहिं, णो इट्ठेहिं सदेहिं, णो कंतेहिं सदेहिं सज्जेज्जा । णो इहलोइएहिं रूवेहिं, णो परलोइएहिं रूवेहिं, णो सुएहिं रूवेहिं, णो असुएहिं रूवेहिं, णो दिट्ठेहिं रूवेहिं, णो अदिट्ठेहिं रूवेहिं, णो इट्ठेहिं रूवेहिं, णो कंतेहिं रूवेहिं सज्जेज्जा..... ॥
 (आचूला ११/१९ ; १२/१६)

भिक्षु इहलौकिक (मनुष्यकृत) और पारलौकिक (तिर्य्यच आदि कृत) शब्दों में, श्रुत-अश्रुत और दृष्ट-अदृष्ट शब्दों में, इष्ट और कांत शब्दों में आसक्त न हो।

भिक्षु ऐहिक-पारलौकिक, श्रुत-अश्रुत, दृष्ट-अदृष्ट और इष्ट-कांत रूपों में आसक्त न हो।

१९. अब्रह्मचर्य दुःखशय्या

सितेहिं भिक्खू असिते परिव्वए, असज्जमिथीसु चाएज्ज पूअणं ।
 अणिसिअलोगमिणं तहा परं, ण मिज्जति कामगुणेहिं पंडिए ॥

से हु प्परिण्णा समयंमि वट्ठइ, णिराससे उवरय-मेहुणे चरे ।
 भुजंगमे जुण्णतयं जहा जहे, विमुच्चइ से दुहसेज्ज माहणे ॥
 (आचूला १६/७, ९)

मुनि नाना प्रकार की आसक्तियों और मतवादों से बंधे हुए लोगों के बीच में अप्रतिबद्ध रहता हुआ परिव्रजन करे। स्त्रियों में आसक्त न हो, पूजा-सत्कार की चाह छोड़ दे। ऐहिक और पारलौकिक विषयों से अनिश्चित रहने वाला पंडित भिक्षु कामगुणों में आसक्त न हो।

परिज्ञासम्पन्न, समता में वर्तमान और अभिलाषामुक्त भिक्षु मैथुन से उपरत हो विहरण करे। जैसे सांप अपने शरीर की जीर्ण केंचुली को छोड़ देता है, वैसे ही माहन (अहिंसक भिक्षु) दुःखशय्या को छोड़ दे। (भोगाशंसा एक दुःखशय्या है। द्र.स्था ४/४५०)

२०. विषय-विराग ही ब्रह्मचर्य

ण सक्का ण सोउं सद्दा, सोयविसयमागता ।
 रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिव्वज्जए ॥
 णो सक्का रूवमदट्ठुं, चक्खुविसयमागयं ।
 रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिव्वज्जए ॥
 णो सक्का ण गंधमग्घाउं, णासाविसयमागयं ।
 रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिव्वज्जए ॥
 णो सक्का रसमणासाउं, जीहाविसयमागयं ।
 रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिव्वज्जए ॥
 णो सक्का ण संवेदेउं, फासविसयमागयं ।
 रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिव्वज्जए ॥
 (आचूला १५/७२-७६)

श्रोत्रेन्द्रिय में आने वाले शब्द न सुने, यह शक्य नहीं है। किन्तु उनमें राग-द्वेष न करे, यह शक्य है। अतः संयमी पुरुष उनके प्रति होने वाले राग-द्वेष का वर्जन करे।

चक्षुइन्द्रिय के सामने आने वाले रूप न देखे, यह शक्य नहीं है। किन्तु उनमें राग-द्वेष न करे, यह शक्य है। अतः संयमी पुरुष उनके प्रति होने वाले राग-द्वेष का वर्जन करे।

घ्राणेन्द्रिय में आने वाली गंध का आघ्राण न करे, यह शक्य नहीं है। किन्तु उसमें राग-द्वेष न करे, यह शक्य है। अतः संयमी पुरुष उसके प्रति होने वाले राग-द्वेष का वर्जन करे।

रसनेन्द्रिय द्वारा चखे जाने वाले रस का आस्वाद न ले, यह शक्य नहीं है। किन्तु उसमें राग-द्वेष न करे, यह शक्य है। अतः संयमी पुरुष उसके प्रति होने वाले राग-द्वेष का वर्जन करे।

स्पर्शनेन्द्रिय से स्पृष्ट होने वाली वस्तु का संस्पर्श न करे, यह शक्य नहीं है। किन्तु उसमें राग-द्वेष न करे, यह शक्य है। अतः संयमी पुरुष उसके प्रति होने वाले राग-द्वेष का वर्जन करे।

२१. ब्रह्म-रक्षा हेतु सूत्रों में वैविध्य

नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए..... ॥.....अपाइयाए..... ॥
वोसडुकाइयाए होत्तए ॥ नो.....बहिया गामस्स.....आयावणाए
आयावेत्तए ॥ (क ५/१६-१९)

(निर्ग्रथ और निर्ग्रथी की आचारसंहिता के कुछ सूत्रों में भिन्नता है—एक सूत्र निर्ग्रथ के लिए जिसका विधान करता है, दूसरा सूत्र निर्ग्रथी के लिए उसका निषेध करता है। यथा—)

- निर्ग्रथी अचेल और अपात्र नहीं रह सकती।
- वह (अभिग्रहपूर्वक) व्युत्सृष्टकायिक—कायोत्सर्गप्रतिमा में स्थित नहीं हो सकती।
- वह गांव के बाहर सूर्य का आतप नहीं ले सकती।

कप्पइ निग्गंथाणं पक्के तालपलंबे भिन्ने वा अभिन्ने वा पडिगाहित्तए ॥ नो कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं अहिद्वित्तए ॥ कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं..... ॥ (क १/३, ४ ; ३/३, ४)

- निर्ग्रथ भिन्न या अभिन्न पक्व तालप्रलंब ग्रहण कर सकता है।
- निर्ग्रथी अभिन्न पक्व तालप्रलंब ग्रहण नहीं कर सकती।
- निर्ग्रथियों के लिए सरोम चर्म का उपयोग विहित नहीं है।
- निर्ग्रथ रोमसहित चर्म का उपयोग कर सकते हैं।

अभिण्णे महव्वय पुच्छा..... ॥.....
ण वि छम्महव्वता णेव दुगुणिता जह उ भिक्खुणीवग्गे ॥
.....बंधवयरक्खणट्ठा, वीसुं वीसुं कता सुत्ता ॥

जहा तच्चणियाणं भिक्खुयाणं किल अट्ठाइज्जा सिक्खापदं सता, भिक्खुणीणं पंचसिक्खापदं सता।

(निभा ४९०८, ४९०९, ४९११ चू)

साध्वी अभिन्न तालप्रलंब नहीं ले सकती, साधु भिन्न और अभिन्न दोनों ले सकता है—इस द्विरूपता को देख शिष्य पूछता है—क्या इस सूत्रार्थभेद की तरह साधु-साध्वियों के महाव्रतों में भी भेद है? गुरु कहते हैं—जैसे बौद्ध मत में भिक्षु के लिए ढाई सौ शिक्षापद और भिक्षुणी के लिए पांच सौ शिक्षापद प्ररूपित हैं, वैसे जिनशासन में नहीं हैं—साध्वीवर्ग के लिए न छह महाव्रत हैं और न साधुवर्ग से दुगुने (दस) महाव्रत हैं। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए दोनों वर्गों के सूत्र-निर्माण में भिन्नता है।

२२. मैथुनधर्म का अपवाद नहीं

कामं सव्वपदेसु विउत्सग्गववातधम्मता जुत्ता।
मोत्तुं मेहुण-धम्मं ण विणा सौ रागदोसेहि ॥
(निभा ३६४)

मूलगुण-उत्तरगुण संबंधी सब पदों में उत्सर्गधर्म और अपवादधर्म प्रतिपादित है, किन्तु ब्रह्मचर्य में कोई अपवाद नहीं है। मैथुनभाव में कल्पिका प्रतिसेवना का अभाव है, क्योंकि राग-द्वेष के बिना मैथुन सेवन नहीं हो सकता।

२३. ब्रह्मचर्य की तेजस्विता : यक्ष दृष्टांत

.....पव्वज्जाभिमुहंतर, गुञ्जाग उरुभामिया वासो ॥
बित्थियणिसाए पुच्छा, एत्थ जती आसि तेण मि न आतो।
जतिवेसोऽयं चोरो, जो अज्ज तुहं वसति दारे ॥
अत्र कल्पे यतिरासीत् तेन कारणेन अहमत्र नायातः,
अपि च साधुसम्बन्धिना तेजसैव तमुल्लंघ्य गन्तुं न शक्यते।
सा प्राह—किमेवं मृषा भाषसे?.....यक्षः प्राह—एष चारित्रं
प्रति विपरिणतश्चौर्यं कर्तुकामः, अतो यतिवेषेण चौरौऽयं
मन्तव्यः। (बृभा ४१९३, ४१९४ वृ)

प्रब्रज्या ग्रहण करने की भावना से एक युवक गुरु के पास जा रहा था। उसने मार्ग में एक कुशीला स्त्री के घर में रात्रि बितायी। वहां एक यक्ष निरंतर आता था, किन्तु उस रात वह नहीं आया। दूसरी रात्रि में स्त्री ने यक्ष से पूछा—तुम कल रात को क्यों नहीं आये? यक्ष ने कहा—कल यहां यति था, इसलिए मैं नहीं आया। साधु ब्रह्मचर्य के तेज से प्रदीप्त होते हैं, उस तेज का अतिक्रमण कर भीतर आना संभव नहीं है।

स्त्री ने कहा—झूठ क्यों बोल रहे हो? आज भी तो कोई साधु द्वार के पास सो रहा है, उसे लांघ कर कैसे आ गए?

यक्ष ने कहा—जो आज तुम्हारे द्वार पर सो रहा है, वह यतिवेश में चोर है—चारित्र्य से भ्रष्ट हो चोरी करना चाहता है।

* ब्रह्मचर्य के दस समाधिस्थान आदि द्र श्रीआको १ ब्रह्मचर्य
भावना—लक्ष्य के अनुरूप होने का पुनः-पुनः अभ्यास।
चित्त को भावित/वासित करने का उपाय।

१. भावना के प्रकार

२. द्रव्य-भाव भावना : स्वरवेध आदि दृष्टांत

३. अप्रशस्त भावना : हिंसा आदि

४. प्रशस्त भावना : दर्शन आदि

० दर्शन भावना-ज्ञान भावना

० चारित्र्य भावना-तप्य भावना

० वैराग्य भावना : अनित्य आदि भावनाएं

५. अनित्य भावना : आचार्य द्वारा प्रतिबोध

* एकत्व भावना : पुष्यचूल दृष्टांत

द्र जिनकल्प

० अन्यत्व भावना

६. देवसंबंधी संक्लिष्ट भावना

० कांदर्पी भावना का स्वरूप

० दैवकित्वधिकी भावना का स्वरूप

० आभियोगी भावना : प्रश्न, प्रश्नाप्रश्न.....

० आसुरी भावना का स्वरूप

० साम्मोही भावना का स्वरूप

७. संक्लिष्ट भावना की निष्पत्ति

८. असंक्लिष्ट भावना की निष्पत्ति

* पांच असंक्लिष्ट भावनाएं

द्र जिनकल्प

* महाव्रतों की पचीस भावनाएं

द्र महाव्रत

१. भावना के प्रकार

दब्बं गंधंग-तिलाइएसु, सीउण्ह-विसहणादीसु।

भावम्मि होइ दुविहा, पसत्थ तह अप्पसत्था य॥

(आनि ३४९)

भावना के दो प्रकार हैं—द्रव्यभावना और भावभावना।

जातिकुसुम आदि सुगंधित द्रव्यों के द्वारा तिल आदि को वासित करना द्रव्यभावना है। इसी प्रकार शीत से भावित शीतसहिष्णु,

उष्ण से भावित उष्णसहिष्णु, व्यायाम से पुष्ट देह व्यायामसहिष्णु आदि द्रव्यभावना है।

भावभावना के दो प्रकार हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त।

२. द्रव्य-भाव भावना : स्वरवेध आदि दृष्टांत

सरवेह-आस-हत्थी-पवगाईया उ भावणा दब्बे।

अब्भास भावणा त्ति य, एगट्टं तत्तिश्चमा भावे॥

दुविहाओ भावणाओ, असंकिलिट्ठा य संकिलिट्ठा य।

मुत्तूण संकिलिट्ठा, असंकिलिट्ठाहि भावन्ति॥

(बृभा १२९०, १२९१)

अभ्यास और भावना एकार्थक हैं। भावना के दो प्रकार हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्यतः भावना के दृष्टांत—

० स्वरवेध—धनुर्विद्या का अभ्यास करने वाला पहले स्थूल-द्रव्य को, फिर केश से बंधी कपर्दिका को बंधता है और अभ्यास करते-करते वह स्वर से भी लक्ष्य का वेधन कर शब्दवेधी बन जाता है।

० अश्व—अश्व प्रशिक्षित होने पर पैरों से भूमि का स्पर्श न करता हुआ बड़े-बड़े नदी-नालों को लांघ जाता है।

० हाथी—प्रशिक्षणकाल में हाथी को पहले अपनी सूंड से काष्ठ के टुकड़े उठाने का अभ्यास कराया जाता है। फिर कंकर, फिर गोलिका, फिर बेर। वह अपने अभ्यास से अन्त में सरसों के दाने भी उठा लेता है।

० प्लवक—एक तैराक पहले बांस के सहारे तैरता है, फिर अभ्यस्त हो जाने पर बिना किसी आलम्बन के भी तैरने लगता है। अथवा एक नट पहले बांस, रस्सी आदि के सहारे, फिर अभ्यास होने पर अधर रहकर भी नाना करतब दिखाता है। एक चित्रकार अभ्यास की निरन्तरता से जीवन्त चित्र बनाने लगता है।

भावतः भावना के दो प्रकार हैं—असंक्लिष्ट भावना और संक्लिष्ट भावना। जिनकल्प स्वीकार करने के इच्छुक मुनि संक्लिष्ट भावना को छोड़कर असंक्लिष्ट भावना से अपने आपको भावित करते हैं।

३. अप्रशस्त भावभावना : हिंसा आदि

पाणवह-मुसावाए, अदत्त-मेहुण-परिग्गहे चेव।

कोहे माणे माया, लोभे य हवन्ति अपसत्था॥

(आनि ३५०)

प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ—ये अप्रशस्त भावभावनाएं हैं।

४. प्रशस्त भावना : दर्शन आदि

दंसण-नाण-चरित्ते, तव-वेरग्गे य होइ उ पसत्था ।.....
(आनि ३५१)

प्रशस्त भावनाएं हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वैराग्य।

० दर्शन भावना-ज्ञान भावना

तित्थगराण भगवओ, पवयण-पावयणि अइसइड्डीणं ।
अभिगमण गमिय दरिसण, कित्तण संपूयणा थुणणा ॥
गणियं णिमित्त जुत्ती, संदिट्ठी अवितहं इमं नाणं ।
इय एगंतमुवगया, गुणपच्चइया इमे अत्था ॥
गुणमाहण्यं इसिनाभकित्तणं सुर-नरिंदपूया य ।
.....इति एसा दंसणे होति ॥
तत्तं जीवाजीवा, नायव्वा जाणणा इहं दिट्ठा ।
इह कज्ज-करण-कारगसिद्धी इह बंधमोक्खे य ॥
बद्धो य बंधहेऊ, बंधण-बंधप्फलं सुकहियं तु ।
संसारपवंचो वि य, इहयं कहिओ जिणवरेहिं ॥
नाणं भविस्सई एवमाइगा वायणाइयाओ य ।
सज्जाए आउत्तो, गुरुकुलवासे य इति नाणो ॥
(आनि ३५२, ३५५-३५९)

दर्शन भावना—तीर्थंकर भगवान का प्रवचन, प्रावचनिक—युगप्रधान आचार्य आदि, अतिशायी और ऋद्धिधारी मुनि—इनके अभिमुख जाना, जाकर दर्शन, कीर्तन, संपूजन तथा स्तवन करना निरंतर भाव्यमान दर्शन भावना से दर्शनशुद्धि होती है।

प्रावचनिक के ये गुणप्रत्ययिक विषय हैं—गणितज्ञता, निमित्तज्ञता, युक्तिमत्ता, अविचल सम्यग्दर्शन, ज्ञान की अविचलता—इनकी प्रशंसा करना, आचार्य आदि के अन्यान्य गुणों का माहात्म्य प्रकट करना, ऋषियों का नामोत्कीर्तन करना, उनकी पूजा करने वाले देवता तथा राजाओं के विषय में बताना—यह प्रशस्त दर्शन भावना है।

ज्ञान भावना—तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव, दोनों को जानना चाहिए। यह परिज्ञान जिनशासन में ही उपलब्ध है। जिनप्रवचन में कार्य—लक्ष्य, करण—साधन (सम्यग् ज्ञान आदि), कारक—मुनि और

सिद्धि—मोक्ष—इनका पूर्ण विवेचन है। यहां कर्मबंध तथा उससे मुक्ति का उपाय भी निर्दिष्ट है।

बंध, बंधहेतु, बंधन तथा बंधन-फल—इनका समुचित विवेचन जिनप्रवचन में है। जैन शासन में संसार के प्रपंच का भी तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया है। 'मुझे विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होगा'—यह ज्ञानभावना करनी चाहिए। ज्ञान से एकाग्रचित्तता आदि गुण भी प्राप्त होते हैं। वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय के प्रकारों में उपयुक्त रहना भी ज्ञानभावना है। ज्ञानभावना की वृद्धि के लिए सदा गुरुकुलवास में रहना भी ज्ञानभावना है।

० चारित्र भावना-तप भावना

साधु अहिंसाधम्मो, सच्चमदत्तविरई य बंधं च ।
साहु परिग्गहविरई, साहु तवो बारसंगे य ॥
वेरग्गमप्यमाओ, एग्गे भावणा य परिसंगं ।
इति चरणमणुगयाओ ॥
किह मे होज्ज अवंडो, दिवसो ? किं वा पभू तवं काउं ।
को इह दव्वे जोगो, खेत्ते काले समय-भावे ॥
उच्छाहपालणाए, इई तवे संजमे य संघयणे ।.....
(आनि ३६०-३६३)

अहिंसा धर्म अच्छा है। सत्य, अदत्तविरति, ब्रह्मचर्य, परिग्रहविरति तथा बारहविध तप—ये सब शोभन हैं। वैराग्य भावना, अप्रमाद भावना, एकत्व भावना—ये ऋषित्व के परम अंग हैं। ये सारी भावनाएं चारित्र के आश्रित हैं।

मेरा दिन तपस्या से अवंध्य कैसे हो ? मैं कौन-सी तपस्या करने में समर्थ हूँ ? मैं किस द्रव्य के योग से कौन-सा तप कर सकता हूँ ? मैं कैसे क्षेत्र और काल में तथा किस आत्मभाव में तप कर सकता हूँ ? (मैं अग्लानभाव से कौन सा तप करने में समर्थ हूँ ?) गृहीत तप के परिपालन में उत्साह रखना चाहिए। इसी प्रकार संयम और संहनन (जो तप का निर्वहन कर सके) की भावना करनी चाहिए। यह तप भावना है।

० वैराग्य भावना : अनित्य भावना आदि

..... वेरग्गे णिच्चादी ॥
(आनि ३६३)

अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएं वैराग्य भावना है।

५. अनित्य भावना : आचार्य द्वारा प्रतिबोध

तेलोककदेवमहिया, तित्थयरा नीरया गया सिद्धि।
थेरा वि गया केई, चरणगुणपभावया धीरा॥
बंधी य सुंदरी या, अन्ना वि य जाउ लोणजेट्टाओ।
ताओ वि य कालगया, किं घुण सेसाउ अज्जाउ॥
न हु होइ सोइयव्वो, जो कालगओ दढो चरित्तम्मि।
सो होइ सोतियव्वो, जो संजमदुब्बलो विहरे॥
(बृभा ३७३७-३७३९)

(साध्वी के संबंधीजन कालगत होने पर आचार्य साध्वियों के उपाश्रय में अनुशिष्टि हेतु जा सकते हैं। आचार्य उसे सांत्वना देते हुए अनित्य अनुप्रेक्षा को समझाते हुए कहते हैं—) तीन लोक के देवों द्वारा पूजित, कर्मरज से रहित तीर्थंकर मुक्त हो गए। कई चरणगुणप्रभावक धीर स्थविर (आचार्य आदि) भी मुक्त हो गए—कालगत हो गए, तो शेष जनों के मरण का क्या आश्चर्य?

लोकज्येष्ठा ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दनबाला, मृगावती आदि साध्वियां भी कालगत हो गईं तो शेष साध्वियों की क्या बात?

यदि चारित्र में दृढ़ पुरुष कालगत होता है, तो वह शोचनीय नहीं है। शोचनीय वह है, जो संयम में शिथिल होकर विहरण करता है।

० अन्यत्व भावना

जह नाम असी कोसे, अण्णो कोसे असी वि खलु अण्णे।
इय मे अन्नो देहो, अन्नो जीवो त्ति मण्णंति॥
(व्यभा ४३९९)

'जैसे कोश (म्यान) में निक्षिप्त तलवार भिन्न है, कोश भिन्न है, वैसे ही मेरा शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है'—इस प्रकार अनुचिन्तन करना अन्यत्व भावना है।

* अनित्य आदि भावनाएं द्र श्रीआको १ अनुप्रेक्षा, भावना (तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षाओं तथा मैत्री आदि चार भावनाओं का स्वरूप इस प्रकार है—

१. अनित्य अनुप्रेक्षा—शय्या, आसन, वस्त्र, परिवार आदि का संयोग अनित्य है, यह शरीर अनित्य है, इसका उपचय-अपचय होता है। जिसका संयोग होता है, उसका वियोग निश्चित है—इस

प्रकार परिणमन की अनित्यता का अनुचिन्तन करने वाला वस्तु का वियोग होने पर दुःखी नहीं होता। उसका पदार्थ के प्रति स्नेहप्रतिबंध छिन्न हो जाता है।

२. अशरण अनुप्रेक्षा—जैसे सिंह से आहत मृगशिशु के लिए कहीं शरण नहीं है, वैसे ही जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु, प्रियवियोग, अप्रियसंप्रयोग आदि से समुत्थित दुःखों से आहत प्राणी के लिए संसार में शरण नहीं है। ऐसा चिंतन करने वाला निर्विण्ण होकर अर्हत् प्रज्ञप्त धर्म की शरण स्वीकार करता है।

३. संसार अनुप्रेक्षा—अनादिकाल से जीव नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवयोनि में कृतकर्मों के अनुसार चक्र की तरह परिभ्रमण कर रहा है। इस संसार में कोई स्वजन नहीं है, कोई परजन नहीं है अथवा सब स्वजन भी हैं, परजन भी हैं। एक जन्म की मां दूसरे जन्म में भगिनी हो जाती है, भगिनी भार्या हो जाती है, स्वामी दास और दास स्वामी हो जाता है। चौरासी लाख जीवोनियों में भटकता हुआ जीव तीव्र कष्टों का अनुभव करता है—इस अनुचिन्तन से निर्वेद—भवविराग उत्पन्न होता है।

४. एकत्व अनुप्रेक्षा—मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है। मैं अकेला जन्मता हूं, अकेला मरता हूं, अकेला ही अपने कृतकर्मों का फल भोगता हूं।—इस अनुचिन्तन से स्वजनों के प्रति रागानुबंध और परजनों के प्रति द्वेषानुबंध छिन्न हो जाता है। निःसंगता से मुक्तिपथ प्रशस्त होता है—ऐसा अनुचिन्तन करना एकत्व अनुप्रेक्षा है।

५. अन्यत्व अनुप्रेक्षा—शरीर अन्य है, मैं (आत्मा) अन्य हूं। शरीर इन्द्रियग्राह्य है, मैं अतीन्द्रिय हूं। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूं। शरीर जड़ है, मैं चेतन हूं। शरीर अज्ञ है, मैं प्राज्ञ हूं। संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों-लाखों शरीर अतीत हो गए, किन्तु मैं वही यह हूं, उन सबसे भिन्न हूं। इस प्रकार 'आत्मा भिन्न, शरीर भिन्न' का अनुचिन्तन करने से शरीर-ममत्व विच्छिन्न होता है, निःश्रेयस का प्रयत्न सफल होता है।

६. अशुचि अनुप्रेक्षा—यह शरीर अशुचि है, अशुचि का भाजन है, अशुचि से उत्पन्न हुआ है, आहार की परिणति अशुचिमय है। यह सुगंधित द्रव्यों को भी दुर्गंधित कर देता है। अशुचिता की अनुप्रेक्षा से शरीर में निर्वेद उत्पन्न होता है।

७. आश्रव अनुप्रेक्षा—पांच इन्द्रियविषयों में प्रसक्त चित्त से अकुशल का आगम और कुशल का निर्गम होता है। एक इन्द्रिय-विषय की

आसक्ति भी व्यक्ति को विनष्ट कर देती है। जैसे—शलभ रूपासक्ति के कारण दीपक में गिर कर जल जाता है। आसक्ति कर्मबंध का द्वार है। राग से उत्पन्न अनिष्ट परिणामों का चिंतन करना आश्रव-अनुप्रेक्षा है।

८. संवर अनुप्रेक्षा—आश्रवद्वारों को निरुद्ध करने से संवर होता है। व्रत, गुप्ति आदि के परिपालन से निष्पन्न गुणों का अनुचिन्तन करना संवर अनुप्रेक्षा है।

९. निर्जरा अनुप्रेक्षा—वेदना और विपाक निर्जरा के पर्यायवाची हैं। नारक आदि जीवों के कर्मभोग से होने वाली निर्जरा अबुद्धिपूर्वक है—उससे अशुभानुबंध होता है, भवभ्रमण नहीं मिटता। तपस्या और परीषहजय से निष्पन्न निर्जरण शुभानुबंध या निरनुबंध होता है, अतः यह बुद्धिपूर्वक निर्जरा है।

१०. लोक अनुप्रेक्षा—इसमें पंचास्तिकायात्मक लोक के स्वरूप का तथा उसमें होने वाली विचित्र-विविध परिणतियों का अनुचिन्तन किया जाता है। इससे तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है।

११. बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—अनादि काल से संसार में भ्रमण करने वाला प्राणी मिथ्यादर्शन, अज्ञान आदि से अभिभूत होता है। विविध दुःखों से अभिहत प्राणी के लिए सम्यग्दर्शन आदि से विशुद्ध बोधि की प्राप्ति दुर्लभ है। इस अनुचिन्तन से बोधिलाभ होने पर प्रमाद का स्वतः परिहार हो जाता है।

१२. धर्म अनुप्रेक्षा—परमर्षि अर्हत् द्वारा प्रणीत स्वाख्यात धर्म संसार से निस्तार करने वाला है, निःश्रेयस को प्राप्त करने वाला है। सम्यग्दर्शन उसका साधन है। समिति-गुप्ति से उसकी सुरक्षा होती है। इस प्रकार धर्म की अनुप्रेक्षा करने से स्वीकृत मोक्षमार्ग की सम्यक् आराधना होती है।—तभा ९/७

मैत्री आदि चार भावनाएं—

१. मैत्रीभावना—सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव का अनुचिन्तन करना—सब सत्त्वों से मेरी मैत्री है, किसी के साथ वैर नहीं है।

२. प्रमोद भावना—जो गुणों में अपने से अधिक हों, उनके प्रति विनय का प्रयोग करना, उनका गुणोत्कीर्तन करते हुए उत्कुल्ल होकर मानसिक प्रहर्ष प्रकट करना।

३. करुणा भावना—संक्लिष्ट प्राणियों के प्रति करुणा भावना करना, हितोपदेश के द्वारा उन पर अनुग्रह करना।

४. माध्यस्थ भावना—जो शिक्षा को ग्रहण-धारण करने के योग्य

नहीं हैं, हितशिक्षा का आचरण नहीं करते हैं, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखना। यह अनुचिन्तन करना कि जो मृत्पिण्ड या काष्ठ के तुल्य हैं, वे तीर्थंकर के उपदेश को भी निष्फल कर देते हैं, उन पर क्रोध करने से क्या?—तभा ७/६)

६. देवसंबंधी संक्लिष्ट भावना

कंदप्य देवकिव्विस, अभिओगा आसुरा य सम्मोहा।
एसा य संकिलिट्ठा, पंचविहा भावणा भणिया॥

कन्दर्पः—कामस्तत्प्रधानाः विद्वाप्राया देवविशेषाः
कन्दर्पा उच्यन्ते तेषामियं कान्दर्पी। एवं देवानां मध्ये
किल्बिषाः—पाया अत एवास्पृश्यादिधर्माणश्चण्डाल-
प्रायास्तेषामियं दैवकिल्बिषी। किङ्करस्थानीया देवविशेषा-
स्तेषामियमाभियोगी। असुराः—भवनपतिदेवविशेषास्तेषामिय-
मासुरी। सम्मोहाः—मूढात्मानो देवविशेषास्तेषामियं
साम्मोही। (बृभा १२९३ वृ)

देव से संबंधित संक्लिष्ट भावना के पांच प्रकार हैं—
१. कांदर्पी—कामप्रधान कामुकप्राय देवविशेष से संबंधित भावना।
२. दैवकिल्बिषिकी—देवों में जो किल्बिष-अस्पृश्यधर्मा होते हैं, उनसे संबंधित भावना। ३. आभियोगी—किंकरस्थानीय देव आभियोग्य कहलाते हैं, उनसे संबंधित भावना। ४. आसुरी—भवनपति देव असुर कहलाते हैं, उनसे संबंधित भावना। ५. साम्मोही—मूढात्मा देवविशेष सम्मोह कहलाते हैं, उनसे संबंधित भावना।

० कांदर्पी भावना का स्वरूप

कंदप्ये कुक्कुडए, दवसीले यावि हासणकरे य।
विम्हाविंतो य परं, कंदप्यं भावणं कुणइ॥
कहकहकहस्स हसणं, कंदप्यो अनिहुया य संलावा।
कंदप्यकहाकहणं, कंदप्युवएस संसा य॥
भुम-नयण-वयण-दसणच्छदेहिं कर-पाद-कण्णमाईहिं।
तं तं करेइ जह हस्सए चरो अत्तणा अहसं॥
वायाकोक्कुडओ पुण, तं जंपइ जेण हस्सए अन्तो।
नाणाविहजीवरुए, कुव्वइ मुहनूरए चेव॥
भासइ दुयं दुयं गच्छए अ दरिउ व्व गोविसो सरए।
सव्वहुयदुयकारी, फुट्टइ व ठिओ वि दप्येणं॥

वेस-वयणेहिं हासं, जणयंतो अप्पणो परेसिं च ।
अह हासणो त्ति भनइ, घयणो व्व छले नियच्छंतो ॥
सुरजालमाइएहिं, तु विम्हयं कुणइ तव्विहजणस्स ।
तेसु न विम्हयइ सयं, आहइ-कुहेडएहिं च ॥
(बृभा १२९५-१३०१)

जो कन्दर्पवान् और कौत्कुच्यवान् है, जो द्रवशील, हासन-शील तथा परविस्मापक है, वह कान्दर्पी भावना करता है ।

० कन्दर्प—अट्टहास करना, जो अपने अनुरूप हो, उसके साथ परिहास करना, निष्ठुर वक्रोक्ति से गुरु आदि के साथ संलाप करना, काम से सम्बद्ध कथा करना, काम का उपदेश देना तथा काम की प्रशंसा करना—यह सब कन्दर्प कहलाता है ।

० कौत्कुच्य—इसके दो प्रकार हैं—कायिक और वाचिक । कायिक कौत्कुच्य करने वाला स्वयं न हंसता हुआ भ्रू, नयन, वदन, दांत, ओष्ठ, हाथ, पैर, कान आदि अवयवों की ऐसी चेष्टा करता है, जिससे दूसरे लोग हंसने लगें । हास्य प्रधान शब्द बोलना, जिससे दूसरे हंसने लगें, मयूर, मार्जार, कोकिल आदि नाना प्रकार के पशुओं की ध्वनि निकालना, मुख से वाद्य आदि की ध्वनि निकालना—यह वाचिक कौत्कुच्य है ।

० द्रवशील—जो आवेशवश बिना विमर्श किए जल्दी-जल्दी बोलता है, शरदकालीन दर्प से उद्धत बैल की तरह निरंकुश होकर त्वरित गति से चलता है, प्रत्युपेक्षणा आदि सभी क्रियाओं में शीघ्रता करता है, स्वभावस्थ होने पर भी दर्प के कारण अत्यंत चंचल-सालगता है, वह द्रवशील है ।

० हास्यकर—जो भाण्ड की भांति दूसरों के विरूप वेश और भाषा संबंधी विपर्ययों की अन्वेषणा कर उसी प्रकार के वेश और वचनों से स्वयं में और प्रेक्षकों में हास्य पैदा करता है ।

० परविस्मापक—जो इन्द्रजाल, प्रहेलिका, वक्रोक्ति आदि के द्वारा मूर्खप्राय लोगों को विस्मित करता है, उनमें स्वयं विस्मित नहीं होता ।

० दैवकिल्बिषिकी भावना का स्वरूप

नाणस्स केवलीणं, धम्मयारियाण सव्वसाहूणं ।
माई अवन्नवाई, किच्चिसियं भावणं कुणइ ॥
काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमाय अप्पमाया य ।
मोक्खाहिगारिगाणं, जोइसजोणीहिं किं च पुणो ॥

एगंतरमुप्पाए, अन्नोन्नावरणया दुवेण्हं पि ।
केवलदंसण-णाणाणमेगकाले व एगत्तं ॥
जच्चाईहिं अवन्नं, भासइ वडुइ न यावि उववाए ।
अहितो छिहप्पेही, पगासवादी अणणुकूलो ॥
अविसहणाऽतुरियगई, अणाणुवत्ती य अवि गुरूणं पि ।
खणमित्तपीइ-रोसा, गिहिवच्छलकाऽइसंचइआ ॥
गूहइ आयसभावं, घाएइ गुणे परस्स संते वि ।
चोरो व्व सव्वसंकी, गूढायारो वितहभासी ॥
(बृभा १३०२-१३०७)

जो ज्ञान का, केवली, धर्माचार्य और सर्वसाधुओं का अवर्णवाद करता है, जो मायावी है, वह किल्बिषिकी भावना करता है ।

० ज्ञान का अवर्णवाद—कुछ व्यक्ति श्रुत का अवर्णवाद इस रूप में बोलते हैं—आगमों में छहजीवनिकाय का प्ररूपण दशवैकालिक में भी है, आचारांग में भी है । व्रतों का निरूपण भी अनेक अध्ययनों में है । प्रमाद-अप्रमाद का प्ररूपण उत्तराध्ययन, आचारांग आदि में है । इस प्रकार पुनः पुनः प्ररूपण से पुनरुक्त दोष आता है । मोक्ष के अधिकारी साधुओं के लिए ज्योतिषशास्त्र (सूर्यप्रज्ञप्ति आदि), योनिप्राभृत जैसे ग्रन्थों से क्या प्रयोजन ?

० केवली का अवर्णवाद—केवली के ज्ञान-दर्शन-उपयोग यदि क्रमशः माना जाये तो ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग दोनों परस्पर एक-दूसरे के आवारक हो जाएंगे । यदि एक समय में युगपद् उपयोग माने जाएं तो साकारोपयोग और अनाकारोपयोग दोनों में एकत्व हो जाएगा । दो नहीं रहेंगे—केवलज्ञान और केवलदर्शन ।

० धर्माचार्य का अवर्णवाद—जो गुरु की जाति आदि को लेकर अवर्णवाद बोलता है, गुरु के उपपात में नहीं रहता, गुरु के दोषों का अन्वेषण करता है, उन्हें सबके समक्ष प्रकाशित करता है, अनुचित कार्य करता है, गुरु के अनुकूल वर्तन नहीं करता—वह किल्बिषी भावना करता है ।

० साधु का अवर्णवाद—ये साधु किसी का पराभव सहन नहीं करते, लोगों को आकृष्ट करने के लिए मंद-मंद चलते हैं, गुरु का अनुवर्तन नहीं करते, प्रकृति से ही निष्ठुर हैं, क्षणमात्र में तुष्ट होते हैं, क्षणमात्र में रुष्ट होते हैं, गृहिवत्सल हैं, वस्त्र आदि का अति संग्रह करते हैं—इस प्रकार साधुओं का अवर्णवाद करने वाला किल्बिषी भावना करता है ।

० मायी—मायावी अपने स्वभाव (अशुभ परिणामों) को छिपाता है, दूसरों के विद्यमान गुणों का अपने अभिनिवेश के कारण घात करता है (परगुण छिपाता है), प्रच्छन्न पाप करने के कारण चोर की भांति सबके प्रति सशंक रहता है, मायापूर्ण प्रवृत्ति करता है, असत्यभाषी होता है, वह किल्बिषी भावना करता है।

० आभियोगी भावना : प्रश्न, प्रश्नाप्रश्न आदि

कोउअ भूर्इ पसिणे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।
इड्ढि-रस-सायगुरुतो, अभिओगं भावणं कुणइ ॥
विणहवण-होम-सिरपरिरयाइ खारदहणाइं धूवे य ।
असरिसवेसगहणं, अवयासण-उत्थुभण-बंधा ॥
भूर्इएँ मट्टियाएँ व, सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु ।
वसही- सरीर- भंडगरक्खाअभियोगमाईया ॥
पण्हो उ होइ पसिणं, जं पासइ वा सयं तु तं पसिणं ।
अंगुट्टुच्चिट्टु-पडे, दप्पण-असि-तोय-कुडुइं ॥
पसिणापसिणं सुमिणे, विज्जासिट्ठं कहेइ अन्नस्स ।
अहवा आइंखिणिया, घंटियसिट्ठं परिकहेइ ॥
तिविहं होइ निमित्तं, तीय-पडुप्पन-ऽणागयं चेव ।
तेण न विणा उ नेयं, नज्जइ तेणं निमित्तं तु ॥
एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभियोगियं बंधे ।
बीयं गारवरहिओ, कुव्वं आराहगुच्चं च ॥

.....'अवयासणं' वृक्षादीनामालिङ्गापनम्, अवस्तो-
भनम्—अनिष्टोपशान्तये निष्ठीवनेन श्थुकरणम्, बन्धः—
कण्डकादिबन्धनम्, एतत् सर्वमपि कौतुकमुच्यते ।.....अभि-
योगः—वशीकरणम्, आदिशब्दाद् ज्वरादिस्तम्भन-परिग्रहः ।
'प्रश्नस्तु' देवतादिपृच्छारूपः पसिणं भण्यते, यद्वा यत् 'स्वयम्'
आत्मना तुशब्दादन्येऽपि तत्रस्थाः पश्यन्ति तत् पसिणं
प्राकृतशैल्याऽभिधीयते ।.....'उच्चिट्टु' त्ति कंसारादिभक्ष-
पोनोच्छिष्टे पटे.....विद्यया—विद्याधिष्ठिताया देवतया....
'आइंखिणिया' डोम्बी तस्याः कुलदेवतं घण्टिकयक्षो नाम ।
...कालत्रयवर्त्तिलाभाऽलाभादिपरिज्ञानहेतुश्चूडामणि-
प्रभृतिकः शास्त्रविशेषः.....'विवक्षितशास्त्रविशेषेण विना
'ज्ञेयं' लाभाऽलाभादिकं न ज्ञायत इति लाभाऽलाभादि-
ज्ञाननिमित्तत्वाद् निमित्तमुच्यते ।.....'आभियोगिकं' देवादिप्रेष्य-
कर्मव्यापारफलं कर्म बध्नाति । 'द्वितीयम्' अपवादपदमत्र

भवति—गौरवरहितः सन्नतिशयज्ञाने सति निस्पृहवृत्त्या
प्रवचनप्रभावनार्थमेतानि कौतुकादीनि कुर्वन्नाराधको भवति
उच्चैर्गोत्रं च कर्म बध्नाति, तीर्थोन्नतिकरणाद् ।

(बृभा १३०८-१३१४ वृ)

जो कौतुक, भूतिकर्म, प्रश्न, प्रश्नाप्रश्न और निमित्त से
अपनी आजीविका चलाता है, ऋद्धि, रस और सात का गौरव
करता है, वह आभियोगी भावना करता है ।

० कौतुक—इसके अनेक रूप हैं—

विस्नपन—बालक आदि की रक्षा हेतु अथवा स्त्री के सौभाग्य
संपादन के लिए विशेष रूप से स्नान करवाना ।

होम—शांति आदि के लिए अग्निहवन करना ।

शिरःपरिरय—कर-भ्रमण आदि से अभिमन्त्रित करना ।

क्षारदहन—तथाविध व्याधिशमन के लिए अग्नि में लवण डालना ।

धूप—तथाविध द्रव्ययोगयुक्त धूप करना ।

असदृशवेष—पुरुष होने पर भी स्त्री का वेष करना आदि ।

० अवयासण—वृक्ष आदि का आलिंगन करवाना ।

अवस्तोभन—अनिष्ट की उपशांति के लिए थुथकारा डालना ।

बन्ध—कण्डे आदि बांधना ।

० भूतिकर्म—विद्या से अभिमन्त्रित भस्म, गीली मिट्टी या धागे से
चारों ओर वेष्टन करना भूतिकर्म कहलाता है ।

वसति, शरीर और उपकरण की सुरक्षा तथा ज्वरशमन के
लिए अभियोग—वशीकरण आदि किया जाता है । यह भूतिकर्म है ।

० प्रश्न/पसिण—इसके दो अर्थ हैं—

१. देवता आदि से प्रश्न पूछना ।

२. विभिन्न वस्तुओं में अवतीर्ण देवता आदि को अपने द्वारा तथा
तत्रस्थित दूसरे लोगों द्वारा देखा जाना तथा प्रश्न पूछना ।

अंगुष्ठ, कीटकों द्वारा काटा गया वस्त्र, दर्पण, असि, उदक,
भित्ति, बाहु आदि पर अवतरित देवता आदि को कुछ पूछा जाता है
या देखा जाता है, वह प्रश्न/पसिण है ।

० प्रश्नाप्रश्न—स्वप्न में अवतीर्ण विद्या की अधिष्ठात्री देवी के
द्वारा कही गई बात को पृच्छक को कहना प्रश्नाप्रश्न है । अथवा
डोम्बी का घंटिकयक्ष नामक कुलदेवता कुछ पूछे जाने पर डोम्बी के
कान में कुछ कहता है, उसे वह शुभ-अशुभ के बारे में पूछने वाले
दूसरे व्यक्ति को बता देती है—यह प्रश्नाप्रश्न है ।

० निमित्त—अतीत, वर्तमान और अनागत के भेद से निमित्त तीन प्रकार का है। चूडामणि आदि शास्त्र त्रिकालवर्ती लाभ-अलाभ ज्ञान के हेतु हैं। निमित्तशास्त्र के बिना लाभ-अलाभ का ज्ञान नहीं होता, इसलिए इसे निमित्त कहा जाता है।

० ऋद्धि आदि का गौरव एवं अपवाद—जो ऋद्धि, रस और सात-गौरव के लिए कौतुक आदि का प्रयोग करता है, वह आभियोगिक—देव आदि के प्रेष्यकर्मव्यापार फल वाले कर्म का बंध करता है। जो अतिशयज्ञानी गौरवरहित होकर निस्पृहवृत्ति से प्रवचन की प्रभावना के लिए कौतुक आदि करता है, वह आराधक होता है और तीर्थोन्नति करने के कारण उच्चगोत्र का बंध करता है—यह अपवाद पद है।

० आसुरी भावना का स्वरूप

अणुबद्धविग्रहो चिय, संसक्ततवो निमित्तमाएसी।
निक्कव निराणुकंपो, आसुरियं भावणं कुणइ॥
निच्चं वुग्गहसीलो, काऊण य नाणुतप्पए पच्छा।
न य खामिओ पसीयइ, सपक्ख-परपक्खओ आवि॥
आहार-उवहि-पूयासु, जस्स भावो उ निच्चसंसत्तो।
भावोवहतो कुणइ अ, तवोवहाणं तदट्ठाए॥
तिविह निमित्तं एक्केक्क छव्विहं जं तु वन्नियं पुव्वि।
अभिमाणाभिनिवेशा, वागरियं आसुरं कुणइ॥
चंक्रमणाई सत्तो, सुनिक्कवो श्वावराइसत्तेसु।
काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्कवो होइ॥
जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कट्ठिणभावो।
एसो उ निराणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं॥

(बृभा १३१५-१३२०)

जो अनुबद्धविग्रह है, संसक्ततपस्वी है, निमित्त बताता है, जो दया और अनुकंपा से शून्य है, वह आसुरी भावना करता है।

० अनुबद्धविग्रह—जिसका नित्य कलह करने का स्वभाव है, कलह करने के पश्चात् जो अनुताप नहीं करता है, स्वपक्ष-परपक्ष (साधु-साध्वीवर्ग-गृहस्थवर्ग) के द्वारा क्षमा मांगे जाने पर भी जो प्रसन्न नहीं होता, वह अनुबद्ध-विग्रह कहलाता है।

० संसक्ततप—जिसकी भावधारा आहार, उपधि और पूजा-प्रतिष्ठा में सदा प्रतिबद्ध रहती है, वह रसगौरव आदि भावों से उपहत होकर आहार आदि की प्राप्ति के लिए तप उपधान करता है।

० निमित्तादेशी—निमित्त के तीन प्रकार हैं—अतीतसंबंधी, वर्तमान-संबंधी और भविष्यसंबंधी। इनमें से प्रत्येक के छह भेद हैं—लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण—इनका कथन करने वाला यद्यपि आभियोगिकी भावना करता है, किन्तु प्रबल अहंकार के अभिनिवेश में बताया जाने वाला यह निमित्त आसुरी भावना का जनक होता है, अन्यथा यह आभियोगिकी भावना ही कहलाती है।

० निष्कृप—जो गमन, शयन आदि करते समय स्थावर आदि जीवों के प्रति निर्दयी हो जाता है, उन जीवों पर चंक्रमण आदि करके भी अनुताप नहीं करता, वह निष्कृप होता है।

० निरनुकंप—जो दूसरे को किसी भय से कांपता हुआ देखकर कम्पित नहीं होता, कठोर हृदय बन जाता है। पीड़ित प्राणी के प्रकम्पन के साथ जो कम्पन होता है, वह अनुकम्पन है। यह अनुकम्पन जिसमें नहीं होता, वह निरनुकम्प है।

० साम्मोही भावना का स्वरूप

उम्मग्गदेसणा मग्गदूसणा मग्गविप्पडीवत्ती।
मोहेण य मोहिता, सम्मोहं भावणं कुणइ॥
नाणाइ अदूसिंतो, तव्विवरीयं तु उवदिसइ मग्गं।
उम्मग्गदेसओ एस आय अहिओ परेसिं च॥
नाणादि तिहा मग्गं, दूसयए जे य मग्गपडिवन्ता।
अबुहो पंडियमाणी, समुट्ठितो तस्स घायाए॥
जो पुण तमेव मग्गं, दूसेउमपंडिओ सतक्काए।
उम्मग्गं पडिवज्जइ, अकोविअप्पा जमात्तीव॥
भावोवहयमईओ, मुज्झइ नाण-चरणंतराईसु।
इड्डीओ अ बहुविहा, दट्ठुं परतित्थियाणं तु॥
जो पुण मोहेइ परं, सञ्जावेणं व कइअवेणं वा।
सम्मोहभावणं सो, पकरेइ अबोहिलाभाय॥

‘ज्ञानादीनि’ पारमार्थिकमार्गारूपाण्यदूषयन् ‘तद्विपरीतं’ ज्ञानादिविपरीतमेवोपदिशति ‘मार्गं’ धर्मसम्बन्धिनम्, एष उन्मागदेशकः। ‘त्रिविधं पारमार्थिकं मार्गं स्वमनीषिकाकल्पितैर्जातिदूषणैर्दूषयति’ ‘अकोविदात्मा’ सम्यक् शास्त्रार्थपरिज्ञान-विकलो जमालिवत् यथाऽसौ भगवद्वचनं “क्रियमाणं कृतम्” इति दूषयित्वा “कृतमेव कृतम्” इति प्रतिपन्नवान्। एषा मार्गविप्रतिपत्तिः। ‘ज्ञानान्तराणि नाम ज्ञानविशेषाः तद्विषयो व्यामोहो यथा—यदि नाम परमाणवादिसकलरूपिद्रव्यावसान-

विषयग्राहकत्वेन संख्यातीतरूपाण्यवधिज्ञानानि सन्ति तत् किमपरेण मनःपर्यवज्ञानेन ? इति । चरणान्तरव्यामोहो यथा— यदि सामायिकं सर्वसावद्यविरतिरूपं छेदोपस्थापनीयमप्ये- वंविधमेव तत् को नामानयोर्विशेषः ? आदिशब्दाद् दर्शनान्तर- मतान्तर-वाचनान्तरादिपरिग्रहः । (बृभा १३२१-१३२६ वृ)

जो उन्मार्गदेशना, मार्गदूषणा और मार्गविप्रतिपत्ति करता है, जो स्वयं मूढ होता है और दूसरों को मूढ बनाता है, वह साम्मोही भावना करता है ।

० उन्मार्गदेशना—ज्ञान आदि पारमार्थिक मार्गरूपों को दूषित नहीं करता हुआ उसके विपरीत धर्ममार्ग की देशना देता है, वह उन्मार्गदेशक है । वह स्व और पर—दोनों के लिए अहितकर है ।

० मार्गदूषणा—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र—इस त्रिविध परमार्थ मार्ग को स्वमतिकल्पित जाति दूषणों से दूषित करता है, मार्गप्रतिपन्न साधुओं को दूषित करता है, तत्त्वपरिज्ञान से शून्य होने पर भी अपने को पण्डित मानता है, वह पारमार्थिक पथ के विनाश के लिए समुद्यत होता है । यह मार्गदूषणा है ।

० मार्गविप्रतिपत्ति—जो अतत्त्वज्ञ अपण्डित (सद्बुद्धिरहित) उसी पारमार्थिक मार्ग को असत् दूषणों से दूषित कर निजी मिथ्याविकल्पना से देशतः उन्मार्ग को स्वीकार करता है । जैसे जमाली ने भगवद् वाणी 'क्रियमाणं कृतं' को दूषित कर 'कृतमेव कृतम्' के रूप में स्वीकार किया । यह मार्गविप्रतिपत्ति है ।

० मोह—शंका आदि के परिणामों से जिसकी मति उपहत हो जाती है, वह ज्ञानान्तर, चरणान्तर आदि में तथा परतीर्थिकों की अनेक प्रकार की समृद्धि को देखकर मूढ हो जाता है ।

० ज्ञानान्तर का अर्थ है—ज्ञानविशेष, उस विषयक व्यामोह, यथा—परमाणु आदि समस्त रूपी द्रव्यों का ग्राहक होने से अवधिज्ञान असंख्य प्रकार का है, तब फिर मनःपर्यवज्ञान से क्या प्रयोजन ?

० चरणान्तर—चारित्र विषयक व्यामोह, जैसे—सामायिक चारित्र सर्वसावद्यविरति रूप है और छेदोपस्थापनीय चारित्र भी ऐसा ही है, फिर दोनों में क्या अंतर है ? इसी प्रकार दर्शनान्तर, मतान्तर, वाचनान्तर आदि में भी वह मूढ हो जाता है ।

० परमोहक—जो दूसरे में वास्तविक या काल्पनिक रूप से सन्मार्ग के प्रति चित्तविभ्रम पैदा करता है, वह सम्मोह भावना करता है । यह भावना अबोधफलदायिनी है ।

(भगवती १/१७० में ज्ञानमोह विषयक तेरह अंतरों का उल्लेख किया गया है—ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रवचनी-अन्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणांतर ।

प्रस्तुत तेरह 'अंतरों' में तत्त्वश्रद्धा का प्रश्न नहीं है । यह विभिन्न विचारों के प्रति होने वाली आकांक्षा है । आचार्य भिक्षु के अनुसार तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों में विपरीत श्रद्धा करने से असत्य का दोष लगता है, पर सम्यक्त्व का नाश नहीं होता ।

आचार्य भिक्षु ने 'ज्ञानमोह' शब्द की मीमांसा में लिखा है—ज्ञानमोह से ज्ञान में व्यामोह उत्पन्न होता है, वह ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है, वह निश्चित ही मोहनीय कर्म का उदय नहीं है ।……

जैन धर्म ग्रन्थ-प्रधान नहीं, पुरुष-प्रधान रहा है । इसमें अनेक पुरुषों का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है । प्रामाण्य की पांच श्रेणियां बतलाई गई हैं—केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर और दशपूर्वधर । इन श्रेणियों से भिन्न विशिष्ट आचार्य भी सापेक्ष दृष्टि से अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं । ये सापेक्ष प्रतिपादन एक सामान्य मुनि के लिए कांक्षामोहनीयवेदन के हेतु बन जाते हैं ।

ज्ञानान्तर—ज्ञान के विषय में अनेक भूमिकाएं उपलब्ध थीं । प्रथम भूमिका पांच ज्ञान की है ।……सिद्धसेन दिवाकर ज्ञान के तीन प्रकारों को ही मान्य करते हैं । उनके अनुसार श्रुतज्ञान मतिज्ञान से भिन्न नहीं है और मनःपर्यवज्ञान अवधिज्ञान से भिन्न नहीं है । इस प्रकार देवर्धिगणी के समय तक ज्ञान की पृथक्-पृथक् भूमिकाएं बन गई थीं । इसीलिए ज्ञानान्तर को कांक्षामोहनीय के वेदन का एक हेतु माना गया ।

दर्शनान्तर—दर्शन के चार प्रकार हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन । इस विषय में एक मत यह रहा है कि दर्शन के तीन प्रकार ही पर्याप्त हैं । चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन—इन दोनों में भेदरेखा खींचने का कोई स्पष्ट आधार नहीं मिलता । यह चिन्तन भेद कांक्षामोहनीय के वेदन का हेतु बना है ।

चारित्रान्तर—भगवान् पार्श्व के शासनकाल में चारित्र के तीन प्रकार थे—सामायिक, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात । भगवान् महावीर के शासनकाल में चारित्र के पांच प्रकारों की निरूपणा की गई ।……यह अन्तर भी कांक्षामोह के वेदन का हेतु बना है ।

मतान्तर—यहां मत का अर्थ दृष्टिभेद है। केवली और श्रुतकेवली की परम्परा का विच्छेद होने के पश्चात् मतान्तर का सूत्रपात होता है। आगम-साहित्य में अनेक मतान्तर उपलब्ध हैं। उपाध्याय समयसुन्दर ने आगम-साहित्य में सौ दृष्टि-भेदों का संकलन किया है।……“यद्यपि अनुभवगम्य आध्यात्मिक विषय में आगम में कहीं भी पूर्वापर-विरोध या दृष्टिभेद होना संभव नहीं है, परन्तु सूक्ष्म, दूरस्थ और अंतरित पदार्थों के संबंध में कहीं-कहीं आचार्यों का मतभेद पाया जाता है। प्रत्यक्षज्ञानियों के अभाव में उनका निर्णय दुरन्त होने के कारण ध्वलाकार श्री वीरसेन स्वामी का सर्वत्र यही आदेश है कि दोनों दृष्टियों का यथायोग्य रूप में ग्रहण कर लेना योग्य है।”—भ १/१६९-१७२ भा)

७. संक्लिष्ट भावना की निष्पत्ति

जो संजओ वि एआसु अप्पसत्थासु भावणं कुणइ।
सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणो॥
(बृभा १२९४)

व्यवहार में साधु होने पर भी जो कान्दर्पी आदि अप्रशस्त भावनाओं से अपने को भावित करता है, वह उन भावनाओं के अनुरूप ही कान्दर्पिक आदि देवों की योनि में उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति सर्वथा चारित्रिकल अथवा द्रव्य चारित्र से रहित है, वह इन देवों के अतिरिक्त नरक, तिर्यञ्च और मनुष्ययोनि में भी उत्पन्न हो सकता है।

८. असंक्लिष्ट भावना की निष्पत्ति

खेयविणोओ साहसजओ य लहुया तवो असंगो अ।
सद्धाजणणं च परे, कालन्नाणं च नऽन्नत्तो॥
……धृतिभावनाभावितस्य स्वजनादिषु' असंगः 'निर्ममत्वं भवति।'
(बृभा १२८९ वृ)

साहसं णाम भयं तं ण उप्पज्जति। (बृभा १२८९ की चू)

असंक्लिष्ट भावनाएं पांच हैं—तपोभावना, सत्त्वभावना, एकत्वभावना, श्रुतभावना और धृति (बल) भावना। इन पांच भावनाओं से भावित होने पर निम्न गुण प्रकट होते हैं—

- ० तपोभावना के अभ्यास से खेद का अपनयन होता है—उपवास आदि तप करने पर भी वह भूख से खेदखिन्न नहीं होता।
- ० सत्त्वभावना से भावित मुनि भय पर विजय प्राप्त कर लेता है।

- ० एकत्वभावना से भावित मुनि लाघव को प्राप्त करता है।
- ० श्रुतभावना से भावित मुनि दूसरों में भी स्वाध्याय के प्रति श्रद्धा पैदा करता है। पौरुषी आदि कालज्ञान के लिए उसे दूसरों की अपेक्षा नहीं रहती। वह श्रुतपरावर्तन के आधार पर उच्छ्वास आदि के काल का आकलन कर पौरुषी आदि का प्रमाण जान लेता है।
- ० धृतिबलभावना से भावित मुनि का स्वजन आदि पर ममत्व नहीं होता। (जिसकी आत्मा भावना-योग से शुद्ध है, वह जल में नौका की तरह कहा गया है। वह तट पर पहुंची हुई नौका की भांति सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।—सू १५/५)

भाषा—ध्वन्यात्मक, शब्दात्मक तथा संकेतात्मक प्रयोग।
भाषों की अभिव्यक्ति का माध्यम।

१. भाषा के प्रकार	
२. भाषा का स्वरूप	
३. भाषा द्रव्यजात	
* भाषाद्रव्य अगुरुलघु	द्र द्रव्य
४. भाषा-अभाषा	

१. भाषा के प्रकार

सत्या-मृषा-मिश्रा-ऽसत्यामृषाभेदात् चतस्रो भाषाः। तत्र परेण सह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुनः साधकत्वेन बाधकत्वेन वा प्रमाणान्तरैरबाधिता या भाषा भाष्यते सा सत्या, सैव प्रमाणैर्बाधिता मृषा, सैव बाध्यमानाऽबाध्यमानरूपा मिश्रा। या तु वस्तुसाधकत्वाद्यविवक्षया व्यवहारपतिता स्वरूप-मात्राभिधित्सया प्रोच्यते सा पूर्वोक्तभाषात्रयविलक्षणा असत्यामृषा नाम चतुर्थभाषा भण्यते, सा चामन्त्रण्या-ऽऽज्ञापनीप्रभृतिस्वरूपा। (बृभा ५२३५ की वृ)

भाषा के चार प्रकार हैं—सत्य, मृषा, मिश्र (सत्यामृषा) और असत्यामृषा (व्यवहार)।

- १. सत्यभाषा—जो दूसरे के साथ विप्रतिपत्ति होने पर वस्तु के साधक-बाधक प्रमाणों से अबाधित भाषा बोली जाती है।
- २. मृषाभाषा—प्रमाणों से बाधित भाषा।
- ३. मिश्रभाषा—जो प्रमाणों से बाधित भी है, अबाधित भी है।
- ४. असत्यामृषा भाषा—जिसमें वस्तु को सिद्ध करना आदि विवक्षित नहीं है, जो व्यवहार में उपयोगी है, स्वरूप मात्र को प्रकट करने

की इच्छा से बोली जाती है, पूर्वोक्त तीनों भाषाओं से विलक्षण है, वह असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा है। इसे चतुर्थ भाषा भी कहा जाता है। इसके आमंत्रणी, आज्ञापनी आदि दस भेद हैं।

* चतुर्विध भाषा के ४२ भेद त्र श्रीआको १ भाषा
(० सिद्ध, चतुर्दशगुणस्थानवर्ती जीव, एकेन्द्रिय और सब अपर्याप्तक—ये अभाषक होते हैं। नैरयिक, मनुष्य और देव—ये चारों प्रकार की भाषा बोलते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक—ये न सत्यभाषा बोलते हैं, न मृषा बोलते हैं, न सत्यामृषा बोलते हैं, एक असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा बोलते हैं। इतना विशेष है—प्रशिक्षित अथवा उत्तरगुण लब्धिसम्पन्न पंचेन्द्रियतिर्यच चारों प्रकार की भाषा बोल सकते हैं।—प्रज्ञा ११/३८-४६)

२. भाषा का स्वरूप

.....चत्तारि भासज्जायाइं, तं जहा—सच्चमेगं पढमं भासज्जायं, बीयं मोसं, तइयं सच्चामोसं, जं णोव सच्चं णोव मोसं णोव सच्चामोसं—असच्चामोसं णाम तं चउत्थं भासज्जातं ॥

सव्वाइं च णं एयाणि अचित्ताणि वण्णमंताणि गंधमंताणि रसमंताणि फासमंताणि चयोवचइयाइं विपरिणामधम्माइं भवतीति अक्खायाइं ॥ (आचूला ४/६, ८)

भाषा के चार प्रकार हैं—१. सत्य भाषा, २. मृषा भाषा, ३. सत्यामृषाभाषा, ४. न सत्य, न मृषा, न सत्यामृषा—असत्यामृषा भाषा। ये सारे भाषाद्रव्य अचेतन हैं, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से युक्त हैं, चयोपचयिक तथा विविध परिणमनधर्मा हैं।

(जीव ग्रहणद्रव्य की अपेक्षा से एक वर्ण वाले भी यावत् पांच वर्ण वाले भी और सर्वग्रहण की अपेक्षा से नियमतः पांच वर्ण वाले भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है। दो गंध और पांच रस के संदर्भ में भी यही वक्तव्य है। आठ स्पर्श में से ग्रहण द्रव्य की अपेक्षा से भाषाद्रव्य दो स्पर्श वाले होते हैं यावत् चार स्पर्श वाले भी होते हैं। एक, पांच यावत् आठ स्पर्श वाले नहीं होते। सर्वग्रहण की अपेक्षा से जीव नियमतः चार स्पर्श वाले भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है—शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष।

जीव जिन अणु या बादर भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, वे

स्पृष्ट और अनन्तरावगाढ होते हैं। उनका ग्रहण सांतर भी होता है, निरंतर भी होता है तथा निसर्जन सांतर होता है, निरंतर नहीं। ग्रहण-निसर्जन का काल जघन्य दो समय और उत्कृष्ट असंख्यात समय वाला अंतर्मुहूर्त है। भाषाद्रव्य भिन्न और अभिन्न दोनों रूपों में निसृष्ट होते हैं।—प्रज्ञा ११/५२-७२)

३. भाषाद्रव्यजात

.....उप्पत्तीए तह पज्जवंतरे जायगहणे य ॥
द्रव्यजातं.....चतुर्विधम्, उत्पत्तिजातं पर्यवजातम् अन्तरजातं ग्रहणजातं, तत्रोत्पत्तिजातं नाम यानि द्रव्याणि भाषा-वर्गणान्तःपातीनि काययोगगृहीतानि वाग्द्योगेन निसृष्टानि भाषात्वेनोत्पद्यन्ते तदुत्पत्तिजातं, यद् द्रव्यं भाषात्वेनोत्पन्नमित्यर्थः १। पर्यवजातं तैरेव वाग्निसृष्टभाषाद्रव्यैर्यानि विश्रेणि-स्थानि भाषावर्गणान्तर्गतानि निसृष्टद्रव्यपराघातेन २। यानि त्वन्तराले समश्रेण्यामेव निसृष्टद्रव्यमिश्रितानि भाषा-परिणामं भजन्ते तान्यन्तरजातमित्युच्यन्ते ३। यानि पुनर्द्रव्याणि समश्रेणि-विश्रेणिस्थानि भाषात्वेन परिणतानि कर्णशष्कुलीविवर-प्रविष्टानि गृह्यन्ते तानि चानन्तप्रदेशिकानि द्रव्यतः, क्षेत्रतो-ऽसंख्येप्रदेशावगाढानि, कालत एकद्विव्यादि यावदसंख्येय-समयस्थितिकानि, भावतो वर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति तानि चैवंभूतानि ग्रहणजातमित्युच्यन्ते ४। (आनि ३३६ वृ)

भाषाद्रव्यजात के चार प्रकार हैं—

१. उत्पत्तिजात—भाषावर्गणा के अंतःपाती द्रव्य काययोग से गृहीत होकर वचनयोग से निसृष्ट होने पर भाषा के रूप में उत्पन्न होते हैं। भाषा रूप में उत्पन्न द्रव्य उत्पत्तिजात है।

२. पर्यवजात—उन वाग्निसृष्ट भाषाद्रव्यों के पराघात से भाषा की विश्रेणी में स्थित भाषावर्गणा के द्रव्य भाषा के रूप में उत्पन्न होते हैं, वे पर्यवजात कहलाते हैं।

३. अंतरजात—अन्तराल में समश्रेणि में स्थित भाषावर्गणा के द्रव्य निसृष्ट द्रव्यों से मिश्रित होकर भाषा परिणाम से परिणत होते हैं, वे अंतरजात कहलाते हैं।

४. ग्रहणजात—समश्रेणि अथवा विषमश्रेणि में स्थित भाषा रूप में परिणत द्रव्य श्रोता द्वारा कर्णशष्कुलीविवर से ग्रहण किए जाते हैं। वे द्रव्य की अपेक्षा से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध, क्षेत्र की अपेक्षा से असंख्येयप्रदेशावगाढ, काल की अपेक्षा से एक, दो, तीन यावत्

असंख्येय समय की स्थिति वाले और भाव की अपेक्षा से वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-युक्त होते हैं। वे इस प्रकार के भाषा द्रव्य ग्रहणजात कहलाते हैं।

(भाषा के पुद्गलस्कंध छहों दिशाओं में विद्यमान आकाश-प्रदेश की श्रेणियों से गुजरते हुए प्रथम समय में ही लोकांत तक पहुंच जाते हैं।.....निसृष्ट भाषाद्रव्य तीन, चार अथवा पांच समय में पूरे लोक में व्याप्त हो जाते हैं।—श्रीआको १ भाषा

भाषा का आदि स्रोत है जीव। वह जीव के वाक्प्रयत्न से पैदा होती है। भाषा शरीर से उत्पन्न होती है। वह वज्र संस्थान से संस्थित और लोकान्तपर्यवसित है।—प्रज्ञा ११/३०)

४. भाषा-अभाषा

.....पुव्वं भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा भासा, भासासमयविइक्कंता भासिया भासा अभासा ॥

(आचूला ४/९)

बोलने से पहले भाषा अभाषा है, बोलते समय भाषा भाषा है, बोलने का समय व्यतिक्रान्त होने पर बोली गई भाषा अभाषा है।

* भाषाद्रव्यवर्गणा द्र श्रीआको १ वर्गणा

भाषासमिति—भाषा का सम्यक् प्रयोग। द्र समिति

भिक्षाचर्या—गोचराग्रों, एषणाओं तथा अन्य अभिग्रहों के द्वारा भिक्षावृत्ति को संक्षिप्त करना।

१. भिक्षाचर्या (अभिग्रह) के प्रकार	
२. आठ गोचरभूमियां : ऋज्वी आदि	
* प्रतिमाधारी और भिक्षाचर्या	द्र भिक्षुप्रतिमा
* सात एषणाएं	द्र पिण्डैषणा
* जिनकल्प और एषणा	द्र जिनकल्प

१. भिक्षाचर्या (अभिग्रह) के प्रकार

लेवडमलेवडं वा, अमुगं दव्वं च अज्ज घिच्छामि।
अमुगेण व दव्वेणां, अह दव्वाभिग्गहो नाम ॥
अट्ट उ गोयरभूमी, एलुगविक्खंभमित्तगहणं च।
सगाम परग्गामे, एवइय धरा य खित्तम्मि ॥
काले अभिग्गहो पुण, आई मज्जे तहेव अवसाणे।
अप्यत्ते सइ काले, आई बिइओ अ चरिमम्मि ॥

उक्खित्तमाइचरगा, भावजुया खलु अभिग्गहा होंति।
गायंतो व रुदंतो, जं देइ निसन्नमादी वा ॥
ओसक्कण अहिसक्कण, परम्महाऽलंकिएयरो वा वि।
भावन्यरेण जुओ, अह भावाभिग्गहो नाम ॥

....अभिग्रहो नाम भिक्षाग्रहणादिविषयः प्रतिज्ञाविशेषः।

....एलुकः उदुम्बरस्तस्य विष्कम्भः आक्रमणं तन्मात्रेण मया
ग्रहणं कर्त्तव्यमिति कस्याप्यभिग्रहो भवति, यथा भगवतः
श्रीमन्महावीरस्वामिनः।.....उत्क्षिप्तं—पाकपिठरात् पूर्वमेव
दायकेनोद्धृतं तद् ये चरन्ति—गवेषयन्ति ते उत्क्षिप्तचरकाः,
आदिशब्दाद् निक्षिप्तचरकाः संख्यादत्तिका दृष्टलाभिकाः
पृष्टलाभिका इत्यादयो गृह्यन्ते। त एते गुण-गुणिनोः कथ-
ञ्चिदभेदाद् भावयुताः खल्वभिग्रहा भवन्ति।.....चतुर्विधा अप्य-
भिग्रहास्तीर्थकरैरपि यथायोगमाचीर्णत्वाद् मोहमदाप-
नयनप्रत्यलत्वाच्च गच्छवासिनां तथाविधसहिष्णुपुरुष-
विशेषापेक्षया महत्याः कर्मनिर्जराया निबन्धनं....।

(बृथा १६४८-१६५०, १६५२, १६५३ वृ)

भिक्षाग्रहण आदि विषयक प्रतिज्ञाविशेष का नाम अभिग्रह—
भिक्षाचर्या है। इसके चार प्रकार हैं—

१. द्रव्यअभिग्रह—आज मैं अमुक लेपकृत या अलेपकृत द्रव्य लूंगा, अमुक दर्वी आदि से देने पर ही लूंगा।
२. क्षेत्र अभिग्रह—ऋज्वी आदि आठ प्रकार की गोचरभूमियों में से किसी एक का संकल्प ग्रहण कर भिक्षा लूंगा। स्वग्राम अथवा परग्राम में इतने घरों में भिक्षार्थ प्रवेश करूंगा।

दाता का एक पैर देहली के भीतर और एक पैर बाहर होगा तो भिक्षा लूंगा। भगवान् महावीर ने यह अभिग्रह किया था।

(साधना का बारहवां वर्ष। भगवान् महावीर ने कौशाम्बी में पौष मास के पहले दिन कुछ अभिग्रह ग्रहण किए—

- द्रव्यतः—शूर्प के कोने में उबले हुए उड़द हों।
- क्षेत्रतः—द देने वाली देहली को विष्कंभित—आक्रान्त किए हुए हो—एक पैर देहली के भीतर और एक पैर बाहर हो।
- कालतः—भिक्षा का काल अतिक्रान्त हो चुका हो।
- भावतः—दासी बनी हुई राजकुमारी, हाथ-पैरों में बेड़ियां, मुंडित सिर, आंखों में अश्रुधारा और तीन दिन की भूखी—ऐसी कन्या के हाथ से भिक्षा लूंगा, अन्यथा नहीं। पांच मास पचीस दिन

बीतने पर वे अभिग्रह पूर्ण हुए। चन्दनबाला के हाथ से उड़द के बाकले ग्रहण किये।—आवचू १ पृ ३१६, ३१७)

३. काल अभिग्रह—भिक्षावेला के आदि, मध्य या अवसान में भिक्षा ग्रहण करूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करना।

० आदि—भिक्षाकाल से पहले ही भिक्षा के लिए जाना।

० मध्य—भिक्षाकाल के समय भिक्षा के लिए जाना।

० अवसान—भिक्षा का समय अतिक्रांत होने पर जाना।

४. भाव अभिग्रह—अमुक अवस्था में भिक्षा लूंगा। जैसे—उत्क्षिप्तचरक—दायक के द्वारा पाकभाजन से पहले से ही बाहर निकाले हुए भोजन की गवेषणा करने वाले। निक्षिप्तचरक (पाकभाजन में स्थित भोजन लेने वाले), संख्यादत्तिक (परिमित दत्तियों का भोजन लेने वाले), दृष्टलाभिक (सामने दीखने वाले आहार को लेने वाले), पृष्टलाभिक (क्या भिक्षा लोगे? यह पूछे जाने पर ही भिक्षा लेने वाले) इत्यादि। गुण गुणी से किसी अपेक्षा से अभिन्न होने से भावयुत अभिग्रह ही भावाभिग्रह है।

गाता हुआ, रोता हुआ, बैठा हुआ, खड़ा हुआ, पीछे हटता हुआ, सम्मुख आता हुआ, पराङ्मुख होता हुआ, आभूषणों से अलंकृत अथवा अनलंकृत पुरुष आदि देगा तो भिक्षा लूंगा—इनमें से किसी भी भाव (संकल्प) से युत होना भावाभिग्रह है।

द्रव्य आदि चतुर्विध अभिग्रह तीर्थचरों द्वारा भी यथायोग आचीर्ण हैं तथा मोह और अहंकार का अपनयन करने में समर्थ हैं। इन अभिग्रहों को धारण करने में समर्थ सहिष्णु गच्छवासियों के लिए ये महान् कर्मनिर्जरा के हेतु हैं।

* भिक्षाचर्या के अंग द्र श्रीआको १ भिक्षाचर्या

(भिक्षाचर्या के तीस प्रकार हैं—

१. द्रव्याभिग्रहचरक	१०. संहियमाणचरक
२. क्षेत्राभिग्रहचरक	११. उपनीतचरक
३. कालाभिग्रहचरक	१२. अपनीतचरक
४. भावाभिग्रहचरक	१३. उपनीतअपनीतचरक
५. उत्क्षिप्तचरक	१४. अपनीतउपनीतचरक
६. निक्षिप्तनिक्षिप्तचरक	१५. संसृष्टचरक
७. उत्क्षिप्तचरक	१६. असंसृष्टचरक
८. निक्षिप्तउत्क्षिप्तचरक	१७. तज्जातसंसृष्टचरक
९. परिवेष्यमाणचरक	१८. अज्ञातचरक

१९. मौनचरक	२५. अभिक्षालाभिक
२०. दृष्टलाभिक	२६. अन्नग्लायक
२१. अदृष्टलाभिक	२७. औपनिधिक
२२. पृष्टलाभिक	२८. परिमितपिण्डपातक
२३. अपृष्टलाभिक	२९. शुद्धएषणिक
२४. भिक्षालाभिक	३०. संख्यादत्तिक—औप ३४

वृत्तिसंक्षेप के आठ प्रकार हैं—

१. संसृष्ट—शाक, कुल्माष आदि धान्यों से संसृष्ट आहार।
 २. फलिहा—मध्य में ओदन और उसके चारों ओर शाक रखा हो, ऐसा आहार।
 ३. परिखा—मध्य में अन्न और उसके चारों ओर व्यंजन रखा हो, वैसा आहार।
 ४. पुष्पोपहित—व्यंजनों के मध्य में पुष्पों के समान अन्न की रचना किया हुआ आहार।
 ५. शुद्धोपहित—निष्पाव आदि धान्य से अमिश्रित शाक आदि।
 ६. लेपकृत—हाथ के चिपकने वाला आहार।
 ७. अलेपकृत—हाथ के न चिपकने वाला आहार।
 ८. पानक—द्राक्षा आदि से शोधित पानक, चाहे वह सिक्थ-सहित हो या सिक्थ-रहित।—मूला ३/२२० की वृ)

० आठ गोचरभूमियां

अट्ट उ गोचरभूमी..... ।.....

१. ऋज्वी २. गत्वाप्रत्यागतिका ३. गोमूत्रिका ४. पतंग-वीथिका ५. पेटा ६. अद्धपेटा ७. अभ्यन्तर-शम्बूका ८. बहिः-शम्बूका च। तत्र यस्यामेकां दिशमभिगृह्योपाश्रयाद् निर्गतः प्राञ्जलेनैव पथा समश्रेणिव्यवस्थितगृहपंक्तौ भिक्षां परिभ्रमन् तावद् याति यावत् पंक्तौ चरमगृहम्, ततो भिक्षामगृह्णन्-वापर्याप्तेऽपि प्राञ्जलयैव गत्या प्रतिनिवर्तते सा ऋज्वी। यत्र पुनरेकस्यां गृहपंक्तौ परिपाट्या भिक्षमाणः क्षेत्रपर्यन्तं गत्वा प्रत्यागच्छन् पुनर्द्वितीयस्यां गृहपंक्तौ भिक्षामटति सा गत्वा-प्रत्यागतिका...। यस्यां तु वामगृहाद् दक्षिणगृहे दक्षिणगृहाच्च वामगृहे भिक्षां पर्यटति सा गोः—बलीवर्दस्य मूत्रणं गोमूत्रिका, उपचारात् तदाकारा गोचरभूमिरपि गोमूत्रिका। यस्यां तु त्रिचतुरादीनि गृहाणि विमुच्याग्रतः पर्यटति...पतङ्गो हि गच्छन्तुत्प्लुत्योत्प्लुत्यानिधतया गत्या गच्छति एवं गोचर-भूमिरपि या पतङ्गोडुयनाकारा सा पतंगवीथिका.....।

यस्यां तु साधुः क्षेत्रं पेटावत् चतुरस्रं विभज्य मध्यवर्तीनि च गृहाणि मुक्त्वा चतसृष्वपि दिक्षु समश्रेण्या भिक्षामटति सा

पेटा। अर्द्धपेटाऽप्येवमेव, नवरमर्द्धपेटासदृशसंस्थान-योर्दिग्द्वयसम्बन्धयोगृहश्रेण्योरत्र पर्यटति। शम्बूकः-शंखः तद्द्वयं वा वीथिः सा शम्बूका। सा द्वेधा—अभ्यन्तरशम्बूका बहिःशम्बूका च। यस्यां क्षेत्रमध्यभागात् शंखवद् वृत्तया परिभ्रमणभंग्या भिक्षां गृह्णन् क्षेत्रबहिर्भागात्तच्छति सा अभ्यन्तरशम्बूका। यस्यां तु क्षेत्रबहिर्भागात् तथैव भिक्षामटन् मध्यभागमायाति सा बहिःशम्बूका। (बृभा १६४९ वृ)

गोचरभूमियां (गोचराग्र) आठ हैं—

१. ऋज्वी—किसी एक दिशा में उपाश्रय से प्रस्थान कर सीधे पथ से समश्रेणि में व्यवस्थित गृहपंक्ति में भिक्षाटन करता हुआ उस पंक्ति के अंतिम घर तक जाता है, फिर प्रांजल गति से ही लौटता है, लौटते समय अपर्याप्त होने पर भी भिक्षा ग्रहण नहीं करता।
२. गत्वाप्रत्यागतिका—सीधी गली की एक पंक्ति में क्रमशः भिक्षा करता हुआ क्षेत्र के पर्यंत भाग तक जाता है, लौटते समय दूसरी पंक्ति से भिक्षा करता है।
३. गोमूत्रिका—गोमूत्रिका के आकार वाली गोचरभूमि में बाएं पार्श्व के घर से दाएं पार्श्व के घर में और दाएं पार्श्व से बाएं पार्श्व के घर में भिक्षाटन करता है।
४. पतंगवीथिका—शलभ अनियत गति से उड़ता है। पतंग के उड़ुयन के आकार में तीन, चार आदि घर छोड़-छोड़ कर अक्रम से किसी घर में भिक्षा मिले तो लूं—इस प्रकार के संकल्प से भिक्षाटन करना पतंगवीथिका गोचरभूमि है।
५. पेटा—इसमें साधु क्षेत्र को पेटा की भांति चार कोणों में विभक्त कर मध्यवर्ती घरों को छोड़ कर चारों ही दिशाओं में समश्रेणि में स्थित घरों में भिक्षा करता है।
६. अर्धपेटा—इस अधिग्रह वाला साधु अर्धपेटा सदृश संस्थान से संस्थित दो दिशाओं में स्थित गृहश्रेणि में भिक्षा करता है।
७. आभ्यन्तर शम्बूका—इसमें भिक्षु शंख के नाभिभाग से प्रारंभ हो बाहर आने वाले आवर्त की भांति गांव के भीतरी भाग से भिक्षा ग्रहण करते हुए क्षेत्र के बाहरी भाग में आता है।
८. बहिःशम्बूका—इसमें मुनि क्षेत्र के बाहरी भाग से भिक्षाटन करता हुआ भीतरी भाग में आता है। यह गोचरभूमि बाहर से भीतर जाने वाले शंख के आवर्त की भांति है। (शम्बूकावर्त की एक अन्य व्याख्या भी है—दक्षिणावर्त शंख की भांति दाईं ओर

आवर्त करते हुए 'भिक्षा मिले तो लूं अन्यथा नहीं' इस संकल्प से भिक्षा करना प्रदक्षिणशम्बूकावर्त है। इसी प्रकार वामावर्त शंख की भांति बाईं ओर आवर्त करते हुए भिक्षाटन करना वामशम्बूकावर्त है।—प्रसा ७४९ की वृ

ऋज्वी (आयत) और गत्वाप्रत्यागता को एक मानने पर तथा शम्बूकावर्त के दो भेद नहीं करने पर गोचराग्र के छह भेद होते हैं।—श्रीआको १ भिक्षाचर्या)

भिक्षु—भिक्षाशील, साधु।

द्र श्रमण

भिक्षुप्रतिमा—विशिष्ट श्रुत आदि से सम्पन्न अनगार द्वारा किया जाने वाला साधना का विशेष प्रयोग।

१. बारह भिक्षुप्रतिमा

- * भिक्षुप्रतिमाप्रतिपत्ता : श्रुत-अर्हता, परिकर्म द्र प्रतिमा
- २. प्रथम सात प्रतिमाओं का स्वरूप
- ३. आठवीं से बारहवीं प्रतिमा : तप-आसन-स्थान
 - व्युत्सृष्ट-त्यक्त-देह
 - एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा : अनिमेष प्रेक्षा
- ४. एकरात्रिकी प्रतिमा की निष्पत्ति
 - * प्रतिमाप्रतिपन्न और उपधि द्र उपधि

१. बारह भिक्षुप्रतिमा

.....बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—मासिया भिक्खुपडिमा, दोमासिया भिक्खुपडिमा, तेमासिया भिक्खु-पडिमा, चउमासिया भिक्खुपडिमा, पंचमासिया भिक्खुपडिमा, छम्मासिया भिक्खुपडिमा, सत्तमासिया भिक्खुपडिमा, पढमा सत्तरातिंदिया भिक्खुपडिमा, दोच्चा सत्तरातिंदिया भिक्खुपडिमा, तच्चा सत्तरातिंदिया भिक्खुपडिमा, अहोरातिंदिया भिक्खुपडिमा, एगराइया भिक्खुपडिमा ॥

(दशा ७/३)

भिक्षुप्रतिमा के बारह प्रकार हैं—

१. मासिकी भिक्षुप्रतिमा, २. द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ३. त्रिमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ४. चातुर्मासिकी भिक्षुप्रतिमा, ५. पंचमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ६. छहमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ७. सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ८. प्रथम सप्तरात्रिंदिवा भिक्षुप्रतिमा, ९. द्वितीय सप्तरात्रिंदिवा भिक्षुप्रतिमा, १०. तृतीय सप्तरात्रिंदिवा भिक्षुप्रतिमा,

११. अहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा, १२. एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा ।

* भिक्षुप्रतिमाप्रतिपत्ता की श्रुतअर्हता..... द्र प्रतिमा

२. प्रथम सात प्रतिमाओं का स्वरूप

मासियणं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्टुकाए चत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उववज्जंति, तं जहा— दिव्वा वा माणुस्सा वा तिरिविखजोणिया वा, ते उय्थने सम्मं सहति..... ॥

.....कप्पति एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए एगा पाण- गस्स अण्णाउंछं सुद्धोवहडं निज्जुहिता बहवे दुपय-चउप्यय- समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए, कप्पति से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहेत्तए, नो दोण्हं नो तिण्हं नो चउण्हं नो पंचण्हं, नो गुव्विणीए, नो बालवच्छाए, नो दारगं पिज्जेमाणीए...दलमा- णीए,.....एगं पादं अंतो किच्चा एगं पादं बाहिं किच्चा एलुयं विक्खंभइत्ता एवं दलयति एवं से कप्पति पडिगाहेत्तए।.... तओ गोयरकाला पण्णत्ता, तं जहा—आदिं मज्जे चरिमे।.... छव्विधा गोयरचरिया पण्णत्ता, तं जहा—पेला, अद्धपेला, गोमुत्तिया, पयंगवीहिया, संबुक्कावट्टा, गंतुपच्चागता।.... जत्थ णं केइ जाणइ गामंसि वा.....कप्पति से तत्थ एगरायं वत्थए, जत्थ णं केइ न जाणइ कप्पति से तत्थ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए।....

....कप्पंति चत्तारि भासाओ भासित्तए, तं जहा—जायणी पुच्छणी अणुण्णमणी पुट्टस्स वागरणी।....कप्पंति तओ उवस्सया पडिलेहित्तए..... ॥.....अणुण्णवेत्तए..... ॥.....उवाइ- णित्तए, तं जहा—अहेआरामगिहंसि वा अहेवियडगिहंसि वा अहेरुक्खमूलगिहंसि वा।....कप्पंति तओ संधारगा पडिले- हित्तए.....अणुण्णवेत्तए.....उवाइणित्तए, तं जहा—पुढविसिलं वा कट्टुसिलं वा अहासंधडमेव ॥

....इत्थी उवस्सयं हव्वमागच्छेज्जा, सइत्थिए व पुरिसे, नो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए वा..... ॥

....केइ उवस्सयं अगणिकाएण ज्जामेज्जा णो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए।....केइ बाहाए गहाय आगसेज्जा नो से कप्पति तं अवलंबित्तए, कप्पति से अहारियं रीइत्तए ॥

....पायंसि खाणू वा कंटए वा.....अणुपविसेज्जा..... ॥
.....अच्छिसि.....ए वा परियावज्जेज्जा नो से कप्पति नीहरित्तए

वा विसोहित्तए वा..... ॥.....जत्थेव सूरिए अत्थमेज्जा तत्थेव जलंसि वा थलंसि वा दुग्गंसि वा.....कप्पति से तं रयणिं तत्थेव उवातिणावेत्तए नो से कप्पति पदमपि गमित्तए.....उट्टियम्मि सूरे.....पाईणाभिमुहस्स वा पडीणाभिमुहस्स वा.....अहारियं रीइत्तए ॥.....णो कप्पति अणंतरहिताए पुढवीए निइइत्तए वा पयलाइत्तए वा।....उच्चारपासवणेणं उव्वाहेज्जा नो से कप्पति ओगिण्हित्तए वा, कप्पति से पुव्वपडिलेहिए थंडिले उच्चार- पासवणं परिट्टुवित्तए..... ॥

.....नो कप्पति ससरक्खेणं काएणं गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा..... ॥ नो कप्पति सीओदग- वियडेण वा उंसिणोदगवियडेण वा हत्थाणि वा पादाणि वा दंताणि वा अच्छीणि वा मुहं वा उच्छोलित्तए वा पथोइत्तए वा।णण्णत्थ लेवालेवेण वा भत्तामासेण वा ॥

....नो कप्पति आसस्स वा हत्थिस्स वा.....दुट्टस्स आवद- माणस्स पदमवि पच्चोसक्कित्तए, अदुट्टस्स आवदमाणस्स कप्पति जुगमित्तं पच्चोसक्कित्तए ॥.....नो कप्पति छायातो सीयंति उण्हं एत्तए, उण्हाओ उण्हंति नो छायं एत्तए, जं जत्थ जया सिया तं तत्थ अहियासए। एवं खलु एसा मासिय- भिक्खुपडिमा अहासुत्तं.....पालिया.....भवति ॥

दोमासियणं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स.....सेसं तं चेव, नवरं—दो दत्तीओ, तेमासियं तिण्णिणं.....चउमासियं चत्तारिपंचमासियं पंच.....छम्मासियं छ.....सत्तमासियं सत्त दत्तीओ। जतिमासिया तत्तिया दत्तीओ। (दशा ७/४-२६)

भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न भिक्षु की विहारचर्या इस प्रकार है—

० उपसर्ग—मासिकी भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार व्युत्सृष्टकाय और त्यक्तदेह होता है। उसके जो कोई उपसर्ग होते हैं—देवसंबंधी, मनुष्यसंबंधी और तिर्यचसंबंधी, वह उन उत्पन्न उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से समभाव से सहन करता है।

० दत्ति—वह भोजन और पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण कर सकता है। (दाता द्वारा एक बार में एक धार से जितना दिया जाता है, वह एक दत्ति है। द्र प्रतिमा)

० भिक्षाचर्या—वह अज्ञातकुलों से भिक्षाग्रहण करता है, शुद्धोपहत—खाने के लिए साथ में लाया हुआ लेपरहित भोजन लेता है, अनेक द्विपद, चतुष्पद, श्रमण, माहन, कृपण और वनीपकों के लौट जाने

पर भिक्षा करता है। एक व्यक्ति भोजन कर रहा हो, वहां भिक्षा ग्रहण कर सकता है। दो, तीन, चार या पांच व्यक्ति भोजन कर रहे हों, वहां भिक्षा नहीं ले सकता। गर्भवती, बालवत्सा और स्तनपान कराती हुई स्त्री से भिक्षा नहीं ले सकता। दाता एक पैर देहली के भीतर और एक पैर देहली के बाहर कर देहली को विष्कंभित कर दे तो उससे भिक्षा ले सकता है।

० गोचरकाल—भिक्षाचर्या के तीन काल हैं—आदि (भिक्षावेला से पूर्व), मध्य (वेला) और चरम (भिक्षावेला अतिक्रान्त होने पर)—इनमें से किसी एक काल में भिक्षा करता है।

० गोचराग्र—गोचरचर्या के छह प्रकार हैं—पेटा, अर्धपेटा, गोमूत्रिका, पतंगवीथिका, शम्बूकावर्ती, गत्वाप्रत्यागता—इनमें से किसी एक का संकल्प कर भिक्षा करता है।

* पेटा आदि का स्वरूप

द्र भिक्षाचर्या

० प्रवास—वह जिस गांव में कोई जानता हो, वहां एक रात और कोई नहीं जानता हो, वहां एक या दो रात रह सकता है।

० भाषा—वह चार प्रकार की भाषा बोल सकता है—याचनी, पृच्छनी, अनुज्ञापनी और पृष्टव्याकरणी।

० उपाश्रय—वह आरामगृह में, विवृतगृह (चारों ओर दीवारों से रहित किन्तु ऊपर से आच्छादित घर) में और वृक्ष के नीचे—इन तीन प्रकार के उपाश्रयों—आवासों का प्रतिलेखन (गवेषणा) कर सकता है, अनुज्ञा ले सकता है और उनमें रह सकता है।

० संस्तारक—वह पृथ्वीशिला, काष्ठशिला और यथासंस्तृत (घास आदि) संस्तारक—इन तीन प्रकार के संस्तारकों का प्रतिलेखन कर सकता है, अनुज्ञा ले सकता है, उनका उपयोग कर सकता है।

० स्त्री-पुरुष—उपाश्रय में स्त्री या स्त्रीसहित पुरुष उसकी ओर शीघ्र आ जाए तो वह उनके कारण निष्क्रमण नहीं कर सकता।

० अग्नि—कोई उपाश्रय में आग लगा दे तो वह भिक्षु उससे निष्क्रमण नहीं कर सकता। यदि कोई दूसरा उसके बाहु पकड़कर बाहर निकाले तो उसका आलम्बन नहीं ले सकता किन्तु ईर्यापूर्वक चल सकता है।

० कंटक—मार्ग में चलते हुए उस भिक्षु के पैरों में यदि स्थाणु, कांटा आदि चुभ जाए अथवा आंख में रजकण आदि गिर जाए तो वह उन्हें निकाल नहीं सकता, ईर्यासमितिपूर्वक चल सकता है।

० विहार—वह भिक्षु जहां सूर्यास्त हो जाए, वहीं ठहर जाता है,

एक कदम भी आगे नहीं चल सकता, फिर वह स्थान चाहे जल हो, स्थल हो, दुर्ग हो, वह वहीं रात बिताता है। सूर्योदय होते ही वह पूर्व, पश्चिम आदि किसी भी दिशा में ईर्यापूर्वक गमन कर सकता है। (प्रतिमाप्रतिपन्न के ठहरने के स्थान के संदर्भ में जल का अर्थ है अभावकाश और स्थल का अर्थ है अटवी। अंतरिक्ष से सूक्ष्म अप्काय—जल गिरता है। निर्ग्रथ को यदि ऊपर से आच्छादित गृह न मिले तो वह सूक्ष्म जलकायिक जीवों की रक्षा के लिए सघन निश्छिद्र वृक्ष के नीचे रहता है, खुले आकाश में नहीं। मार्ग में यदि वृक्ष के नीचे भी स्थान न मिले तो अभावकाश में भी रह सकता है।—दशा ७/२० की चू. बृभा ३५०९ की वृ

सूक्ष्म स्नेहकाय...तीनों लोकों में निरंतर गिरता है और शीघ्र ही विध्वस्त हो जाता है।—भ १/३१४-३१६)

० नौद, उत्सर्ग—वह सचित्तभूमी के निकट न नौद ले सकता है और न ऊंच सकता है। वह मल-मूत्र के वेग को नहीं रोकता। पूर्व प्रतिलेखित स्थंडिल में मल-मूत्र का विसर्जन करता है।

० वह सचित्त रजों से स्पृष्ट शरीर से गृहपति के घर भक्त-पान के लिए नहीं जा सकता।

० प्रक्षालन—वह प्रासुक जल अथवा गर्म जल से हाथ, पैर, दांत, आंखें तथा मुंह नहीं धो सकता, किन्तु लेपयुक्त अवयव या आहार से लिप्त मुंह आदि धो सकता है।

० अभय—वह अश्व, हाथी आदि दुष्ट प्राणियों को सामने आते देख एक पैर भी पीछे नहीं हटता। सामने आने वाले तिर्यच यदि अदुष्ट हों तो वह युगमात्र भूमी पीछे हट सकता है।

० धूप-छाया—वह सर्दी अधिक जानकर छाया से धूप में अथवा गर्मी अधिक जानकर धूप से छाया में नहीं जाता। इस प्रकार यह मासिकी भिक्षुप्रतिमा सूत्र के अनुरूप पालित होती है।

द्वैमासिकी भिक्षुप्रतिमा यावत् सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा प्रतिपन्न अनगर की समग्र विहारचर्या मासिकी भिक्षुप्रतिमा की भांति आचरणीय-अनुपालनीय है। केवल दत्ति-परिमाण में अंतर है—द्वैमासिकी में दो दत्ति, त्रैमासिकी में तीन दत्ति, चातुर्मासिकी में चार दत्ति, पंचमासिकी में पांच दत्ति, षण्मासिकी में छह दत्ति, सप्तमासिकी में सात दत्ति—जितने मास, उतनी दत्तियां।

३. आठवीं से बारहवीं प्रतिमा : तप-आसन-स्थान

पढमं सत्तरातिंदियणं भिक्खुपडिडं पडिवनस्स अण-

गारस्स निच्चं वोसट्टुकाए चत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उववज्जंति... सम्मं सहति... ॥ कप्पति से चउत्थेणं भत्तेणं अपाणाएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा उत्ताणगस्स वा पासेल्लगस्स वा नेसज्जयस्स वा ठाणं ठाइत्तए ।.....

एवं दोच्चा सत्तरातिंदियावि भवति, नवरं—दंडायति-यस्स वा लगंडसाइस्स वा उक्कुडुयस्स वा ठाणं ठाइत्तए ।.....

एवं तच्चा सत्तरातिंदियावि, नवरं—गोदोहियाए वा वीरासणियस्स वा अंबखुज्जस्स वा ठाणं ठाइत्तए ।.....

एवं अहोरातियावि, नवरं—छट्टेणं भत्तेणं अपाणाएणं.....ईसिं दोवि पाए साहट्टु, वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए ।.....

एगराइयणं भिक्खुपडिमं षडिवन्नस्स..... ॥ कप्पइ से अट्टमेणं भत्तेणं अपाणाएणं बहिया गामस्स... दोवि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स एगपोगगलनिरुद्धदिट्ठिस्स अणिमिस-नयणास्स ईसिं पब्भारगतेणं काएणं अहापणिहितेहिं गत्तेहिं सत्विदिएहिं गुत्तेहिं ठाणं ठाइत्तए । तत्थ दिव्व-माणुस्स-तिरिच्छजोणिया उवसग्गा समुप्यज्जेज्जा, ते णं...पयालेज्ज वा पवाडेज्ज वा, नो से कप्पति पयलित्तए वा पवडित्तए वा । तत्थ से उच्चारपासवणं उव्वाहेज्जा नो से कप्पति उच्चार-पासवणं ओगिण्हित्तए वा, कप्पति से पुव्वपडिलेहियंसि थंडिलंसि...परिट्टवित्तए, अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए ॥

पढमसत्तरातिंदियादिसु कालकृतो उपधानकृतो य विसेसो, ण दत्तीए परिमाणं, चउत्थपारणाए आर्यबिलं, अपाणां तवोकम्मं सव्वासिं । (दशा ७/२७-३३ चू)

आठवीं से बारहवीं भिक्षुप्रतिमा में पूर्व प्रतिमाओं से जो भेद है, वह कालकृत और उपधानकृत भेद है । इनमें दत्तिपरिमाण नहीं होता ।

प्रथम सात अहोरात्रिकी (आठवीं) भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार कायिक ममत्व का विसर्जन और देहपरिकर्म का त्यागकर उत्पन्न उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करता है, सात दिन तक एकांतर निर्जल उपवास और पारणक में आचाम्ल तप करता है । वह गांव के बाहर उत्तानशयन अथवा पार्श्वशयन अथवा निषद्या आसन की मुद्रा में कायोत्सर्ग करता है । (आसन विवरण द्र कायक्त्तेश)

इसी प्रकार दूसरी सात अहोरात्रिकी (नौवीं) प्रतिमा की आराधना की जाती है, केवल आसन में अंतर है—वह दण्डायतिक, लगंडशयन अथवा उत्कुटुक आसन में स्थित हो कायोत्सर्ग करता है ।

इसी प्रकार तीसरी सात अहोरात्रिकी (दसवीं) प्रतिमा है, केवल आसन में अंतर है—इसमें वह गोदोहिका, वीरासन या आम्रकुब्ज आसन में स्थित हो कायोत्सर्ग करता है ।

इसी प्रकार ग्यारहवीं अहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा की आराधना की जाती है । अंतर केवल इतना है कि इसमें मुनि दो दिन का निर्जल उपवास कर गांव के बाहर दोनों पैरों को सटा, दोनों हाथों को प्रलंबित कर कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थित होता है ।

बारहवीं एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार गांव के बाहर तीन दिन का निर्जल उपवास ग्रहण कर तीसरे दिन पूरी रात कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित रहता है—दोनों पैरों को सटा, दोनों भुजाओं को प्रलंबित कर, एक पुद्गल पर दृष्टि टिका, नेत्रों को अनिमेष बना, शरीर को आगे की ओर कुछ झुका, अवयवों को अपने-अपने स्थान पर सम्यक् नियोजित कर, सब इन्द्रियों को संवृत बना स्थानस्थित होता है । देव, मनुष्य या तिर्यच संबंधी उपसर्ग उत्पन्न हों, वे उसे ध्यान से विचलित या पतित करें तो वह उनसे विचलित या पतित नहीं होता । उस समय मल-मूत्र की बाधा उत्पन्न हो तो वह उसे रोकता नहीं है, पूर्व प्रतिलेखित स्थण्डिल में उच्चार-प्रस्रवण का परिष्ठापन कर पुनः यथाविधि उस स्थान में आकर कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित हो जाता है ।

० व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह

असिणाण भूमिसयणा, अविभूसा कुलवधू पउत्थधवा । रक्खति पतिस्स सेज्जं, अणिकामा दव्ववोसट्टो ॥ वातियपित्तियसिंभियरोगातंकेहि तत्थ पुट्टो वि । न कुणति परिकम्मं सो, किंचि वि वोसट्टुदेहो उ ॥ ब्भेज्ज व रुंभेज्ज व, कोई व हणेज्ज अहव मारेज्ज । वारेति न सो भगवं, चियत्तदेहो अपडिबद्धो ॥

(व्यभा ३८३८, ३८३९, ३८४१)

वोसट्टुं दुविधं—दव्ववोसट्टुं भाववोसट्टुं च । दव्ववोसट्टुं कुलवधुदिट्ठंतो भाववोसट्टुं साधू..... । (दशा ७/४ की चू)

व्युत्सर्ग के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य व्युत्सर्ग—प्रोषितधवा कुलवधू स्नान नहीं करती, भूमि पर सोती है, अनिकामभाव से पति की शय्या की रक्षा करती है, विभूषा नहीं करती, यह उसका द्रव्य व्युत्सर्ग है।

२. भाव व्युत्सर्ग—मुनि वात, पित्त, कफ—इस त्रिदोष से उत्पन्न रोग या आतंक से स्पृष्ट होने पर भी उसका प्रतिकार नहीं करता, शरीर का परिकर्म नहीं करता, यह उसका भाव व्युत्सर्ग है।

जो बंधन, रोधन, हनन और मारण की स्थिति उत्पन्न होने पर भी उसका निवारण या प्रतिकार नहीं करता, वह त्यक्तदेह है, शरीर की प्रतिबद्धता से मुक्त है। (जो शारीरिक चेष्टा और ममत्व का विसर्जन कर शरीर के परिकर्म का त्याग करता है, वह व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह है।—श्रीआको १ कायोत्सर्ग)

० एकरात्रिकी प्रतिमा : अनिमेष प्रेक्षा

.....एगयोगगलनिरुद्धदिद्विस्स अणिमिसनयणस्स..... ॥

.....रूविदव्वे कम्हिवि अचेयणे निवेसिया दिट्ठी.....

उम्मेसादीणिगवि ण करेति, सुहुमुस्सासं च। (दशा ७/३३ चू)

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा की आराधना करने वाला मुनि एक पुद्गल—किसी अचेतन रूपी द्रव्य पर अपनी दृष्टि को निविष्ट करता है, नयनों को अनिमेष बनाता है—श्वास की सूक्ष्म क्रिया के अतिरिक्त उन्मेष-निमेष आदि सभी क्रियाओं का विसर्जन कर आत्मलीन हो जाता है।

(भगवान् महावीर प्रहर-प्रहर तक तिर्यक् भित्ति पर आंखों को स्थिर कर ध्यान करते थे।—आ ९/१/५)

नासाग्र या भृकुटि पर दृष्टि को अनिमेष करना ध्यान का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। आचार्य हेमचन्द्र ने अयोगव्यवच्छेदिका (गाथा २०) में अनिमेष दृष्टि को जिनेन्द्र-मुद्रा का एक लक्षण माना है—

वपुश्च पर्यकशयं श्लथं च, दृशौ च नासानियते स्थिरे च।

न शिक्षितेयं परतीर्थनाथैः, जिनेन्द्र ! मुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥

अनिमेषप्रेक्षा से निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। घेरण्ड-संहिता (१/५३) में इसे त्राटक कहा गया है—

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा, सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।

पतन्ति यावदश्रूणि, त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥)

४. एकरात्रिकी प्रतिमा की निष्पत्ति

एगराइयणं भिक्खुपडिमं अणणपालेमाणस्स इमे तओ

ठाणा अहियाए असुभाए.....तं जहा—उम्मायं वा लभेज्जा, दीहकालियं वा रोयायकं पाउणेज्जा, केवलपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा ॥ एगराइयणं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपाले-माणस्स अणगरस्स इमे तओ ठाणा हियाए सुभाए.....तं जहा—ओहिनाणे वा से समुप्यज्जेज्जा, मणपज्जवनाणे वा से समुप्यज्जेज्जा, केवलनाणे वा से असमुप्यन्नपुव्वे समुप्यज्जेज्जा । एवं खलु एसा एगरातिया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं अहाकय्यं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएण फासिया पालिया..... अणुपालिया यावि भवति ।..... (दशा ७/३४, ३५)

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा की सम्यक् अनुपालना नहीं करने वाले भिक्षु के तीन स्थान अहित और अशुभ के हेतु होते हैं—

१. या तो वह उन्माद को प्राप्त हो जाता है।
२. या दीर्घकालिक रोग और आतंक से ग्रसित हो जाता है।
३. या केवलीप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा की सम्यक् अनुपालना करने वाले भिक्षु के लिए तीन स्थान हित और शुभ के हेतु होते हैं—

१. या तो उसे अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है।
२. या मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हो जाता है।
३. या पूर्वअसमुत्पन्न केवलज्ञान समुत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार यह एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग और यथातत्त्व (विधिसूत्र, मर्यादा-व्यवस्था, पद्धति और प्रतिमा के वास्तविक स्वरूप के अनुरूप), सम्यक् प्रकार से काया से स्पृष्ट, पालित और आज्ञा से अनुपालित होती है।

(भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था के ग्यारह वर्षीय दीक्षापर्याय में सुंसुमारपुर के अशोकषण्ड उद्यान में अशोकवृक्ष के नीचे पृथ्वीशिलापट्ट पर तीन दिन का उपवास ग्रहण कर एकरात्रिकी महाप्रतिमा स्वीकार की थी।—भ ३/१०५)

मुनि गजसुकुमाल ने दीक्षा के प्रथम दिन अर्हत् अरिष्टनेमि से अनुज्ञा प्राप्त कर महाकाल श्मशान में एकरात्रिकी महाप्रतिमा स्वीकार की थी। वे अनिमिषनयन—शुष्क पुद्गल पर दृष्टि निरुद्ध कर खड़े थे, उस संध्या काल में सोमिल ब्राह्मण वहां आया, उसने प्रतिशोध की भावना से उपसर्ग किया—पहले आक्रोशवचन कहे, फिर उसने गजसुकुमाल के मस्तक पर गौली मिट्टी की पाल बांध

उसमें खदिर के जलते अंगारे डाल दिये। मुनि ने विपुल वेदना को समभाव से सहा, मन से भी द्वेष नहीं किया। वे प्रशस्त भावधारा, प्रशस्त अध्यवसायों से कर्मों को क्षीण कर केवली हो गए, तत्परचातु मुक्त हो गए। —अंत ३/८/८८-९२

प्रतिमाप्रतिपन्न अनगार अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते हैं, अतः उनके वेदना महान् होती है। प्रशस्त अध्यवसाय और वेदना में समभाव रखने के कारण उनके महानिर्जरा होती है। अतः वे महावेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं।—भ ६/१६)

प्रतिमा-विवरण-यंत्र

नाम	आहारपरिमाण, तप	साधनास्थल	आसन-ध्यान
१. एकमासिकी भिक्षुप्रतिमा	एक-एक दत्त	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
२. द्वैमासिकी भिक्षुप्रतिमा	दो-दो दत्तियां	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
३. त्रैमासिकी भिक्षुप्रतिमा	तीन-तीन दत्तियां	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
४. चातुर्मासिकी भिक्षुप्रतिमा	चार-चार दत्तियां	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
५. पंचमासिकी भिक्षुप्रतिमा	पांच-पांच दत्तियां	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
६. षण्मासिकी भिक्षुप्रतिमा	छह-छह दत्तियां	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
७. सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा	सात-सात दत्तियां	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	०
८. प्रथम सप्तअहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा	चतुर्थभक्त, पारणक में आचाम्ल	गांव आदि के बाहर	उत्तान, पार्श्वशयन, निषद्या
९. द्वितीय सप्तअहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा	चतुर्थभक्त, पारणक में आचाम्ल	गांव आदि के बाहर	दंडायत, लंगडशयन, उकडू
१०. तृतीय सप्तअहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा	चतुर्थभक्त, पारणक में आचाम्ल	गांव आदि के बाहर	गोदोहिका, वीरासन, आम्रकुब्ज
११. अहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा	षष्ठ भक्त (बेला)	गांव आदि के बाहर	गोदोहिका, वीरासन, आम्रकुब्ज
१२. एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा	अष्टम भक्त (तेला)	गांव आदि के बाहर	कायोत्सर्ग, अनिमेषप्रेक्षा

मंगल—कल्याणकारी। निर्विघ्नता हेतु की जाने वाली क्रिया।

१. मंगल का प्रयोजन : नृप आदि दृष्टान्त
२. स्थापना मंगल और द्रव्य मंगल
 - ० अष्ट मंगल
३. द्रव्य मंगल और भाव मंगल में अंतर
४. प्रस्थान बेला में शकुन-अपशकुन

१. मंगल का प्रयोजन : नृप आदि दृष्टान्त

विग्धोवसमो सद्भा, आयर उवयोग निज्जराऽधिगमो।
भक्ती पभावणा वि य, निवनिहिविज्जाइ आहरणा ॥
(बृभा २०)

मंगल से विघ्नों का उपशम होता है। विघ्नशमन होने पर आचार्य अनुयोग (शास्त्र की व्याख्या) प्रारंभ करते हैं। इससे शिष्य की शास्त्रग्रहण में श्रद्धा पैदा होती है तथा उसके अवधारण में आदर के भाव उत्पन्न होते हैं। आदर के कारण शास्त्र के

विषय में उसका अभीक्षण उपयोग रहता है, यथार्थ ज्ञान उपलब्ध होता है। इससे वह विपुल निर्जरा का भागी बनता है और ज्ञानावरण की निर्जरा के कारण उसका शास्त्रीय ज्ञान स्फुट-स्फुटतर होता चला जाता है। उससे शास्त्र, प्रवचन तथा गुरु के प्रति सहज भक्ति समुल्लसित होती है। उससे प्रभावना होती है—शिष्य के भक्तिभाव को देखकर दूसरों में भी श्रद्धा-आदर के भाव उत्पन्न होते हैं।

० नृप दृष्टान्त—एक व्यक्ति किसी प्रयोजनवश राजा का साक्षात्कार करने हेतु पुष्प, अक्षत आदि मांगलिक द्रव्यों को लेकर उपस्थित होता है। उन द्रव्यों को राजा के चरणों में अर्पित करता है। राजा प्रसन्न होकर उसके प्रयोजन को सिद्ध कर देता है।

० निधि और विद्या—कोई व्यक्ति निधि का उत्खनन करना चाहता है या किसी विद्या को सिद्ध करना चाहता है, उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार उपचार करना होता है। जैसे द्रव्य

से—पुष्प आदि, क्षेत्र से—श्मशान आदि, काल से—कृष्णपक्ष की चतुर्दशी आदि तथा भाव से— अनुलोम-प्रतिलोम उपसर्गों को सहना। इतना करने पर ही वह निधि, विद्या और मंत्र को सिद्ध कर सकता है।

* मंगल के निक्षेप, उत्कृष्ट मंगल*..... द्र श्रीआको १ मंगल

२. स्थापना मंगल और द्रव्य मंगल

.....असम्भावे, मंगलठवणागतो अवस्रो ॥
जे चित्तभित्तिविहिया, उ घडादी ते य हुंति सम्भावे।
तत्थ पुणा आवकहिया, हवंति जे देवलोगेसु ॥
उत्तरगुणनिष्फन्ना, सलक्खणा जे उ होंति कुंभाई।
तं दव्वमंगलं खलु, जह लोए अट्टु मंगलगा ॥
(बृभा ७-९)

चित्रभित्ति पर विहित घट आदि सदभाव स्थापना मंगल हैं।
सद्भूत आकार का अभाव होने से अक्ष, वराटक आदि की मंगल
रूप में स्थापना असदभाव स्थापना मंगल है।

देवलोकों में चित्रभित्ति पर विहित घट आदि यावत्कथिक
(शाश्वत) हैं और मनुष्यलोक में वे इत्वरिक (अशाश्वत) हैं।

मूल गुण—मिट्टी से, उत्तरगुण—चक्र, दंड, सूत्र, उदक
आदि तथा पुरुष के प्रयत्न से निष्पन्न, लक्षणसम्पन्न—निश्चिद्र,
अखंड, जलसंभूत और पद्म-उत्पत्ती से प्रतिच्छन्न कुंभ आदि
द्रव्य मंगल हैं। जैसे—लोक में स्वस्तिक आदि अष्ट मंगल हैं।

० अष्ट मंगल

.....अट्टु मंगलया.....सोवत्थिय-सिरिवच्छ-णंदियावत्त-
वद्धमाणग-भहासण-कलस-मच्छ-दप्पणया ।.....

(दशा १०/१४)

आठ मंगल हैं—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यार्त्त, वर्धमानक,
भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण।

* स्वस्तिक आदि मंगल क्यों? द्र श्रीआको १ मंगल

३. द्रव्य मंगल और भाव मंगल में अंतर

पेगंतियं अणच्चंतियं च दव्वे उ मंगलं होइ।
तव्विवरीयं भावे, तं पि य नंदी भगवती उ ॥

.....न पूर्णकलश एकान्तेन सर्वेषां मङ्गलम्*.....।

‘चोरस्स करिसगस्स य, रिंत्तं कुडयं जणो पसंसेइ।
गेहपवेसे मन्इ, पुन्नो कुंभो पसत्थो उ ॥’

.....नाप्यात्यन्तिकम्, यथा कोऽपि शोभनैर्द्रव्यमङ्गलै-
र्विनिर्गतः, तेन चाग्रे किञ्चिदशोभनं दृष्टम्, येन तानि
सर्वाण्यपि प्राक्तनानि प्रतिहतानि, तत एवमनात्यन्तिकमिति ।...
न तद् भावमङ्गलं कस्यचिद्भवति कस्यचिन्न भवति, किन्तु
सर्वस्याविशेषेण भवतीत्यैकान्तिकम्, न च केनाप्यन्येन प्रति-
हन्यत इत्यात्यन्तिकम् ॥ (बृभा १० वृ)

द्रव्य मंगल ऐकान्तिक मंगल नहीं होता। जैसे—भरा हुआ
घट एकान्तरूप से सबके लिए मंगल नहीं होता। शकुनविद् चोर
और किसान के लिए रिक्त घट को मंगल तथा गृहप्रवेश के समय
भरे हुए घट को मंगल मानते हैं। अतः यह अनैकान्तिक है। द्रव्य
मंगल आत्यन्तिक भी नहीं होता। कोई व्यक्ति शुभ मंगल द्रव्यों
का शकुन लेकर बाहर निकलता है। उसको कुछ दूरी पर अशुभ
शकुन का योग होता है। उससे पहले के सारे शुभ शकुन प्रतिहत
हो जाते हैं। यह अनात्यन्तिक है।

भाव मंगल एकांत रूप से मंगल है। वह किसी के होता
है, किसी के नहीं होता, ऐसा नहीं है। वह सबके समान रूप
से होता है इसलिए ऐकान्तिक है और किसी के द्वारा प्रतिहत
नहीं होता, इसलिए आत्यन्तिक भी है। नन्दी (पांच ज्ञान)
भावमंगल है।

४. प्रस्थान वेला में शकुन-अपशकुन

मइल कुचेले अब्भंगियल्लए साण खुज्ज वडभे य।
एए तु अप्पसत्था, हवंति खित्ताउ णिंतस्स ॥
रत्तपड चरग तावस, रोगिय विगला य आउरा वेज्जा।
कासायवत्थ उद्धूलिया य जत्तं न साहंति ॥
नंदीतूरं पुण्णस्स दंसणं संख-पडहसहो य।
भिंमार-छत्त-चामर-वाहण-जाणा पसत्थाइं ॥
समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दधिं।
मीणं घंटं पडागं च, सिद्धमत्थं वियागरे ॥
(बृभा १५४७-१५५०)

० अपशकुन—मलिन, जीर्णवस्त्रधारी, तैल आदि से चुपड़े हुए
शरीर वाला व्यक्ति, बाईं ओर से दायीं ओर जाता हुआ कुत्ता,

कुब्ज, वामन, रक्तपट, चरक, तापस, रोगी, अवयवहीन, आतुर, वैद्य, कषायवस्त्रधारी, धूलिधूसरदेह—ये व्यक्ति प्रस्थान के समय दिखाई दें तो यात्राकार्य सिद्ध नहीं होता।

० प्रशस्त शकुन—प्रस्थान के समय नन्दी आदि बारह प्रकार के वाद्यों की युगपद् ध्वनि, पूर्णकलश का दर्शन, शंख और पटह का शब्द—श्रवण, भृंगार, छत्र, चमर, वाहन, यान, इन्द्रियदमी संयत श्रमण, पुष्प, मोदक, दधि, मत्स्य, घंटा, पताका आदि का दर्शन—श्रवण होने पर कार्य की सिद्धि होती है।

(प्रस्थान-वेला में जम्बू, चास, मयूर, भारद्वाज और नकुल का दर्शन शुभ शकुन है।—श्रीआको १ शकुन)

मंत्र-विद्या—विशिष्ट प्रकार का वर्णविन्यास। मंत्र विशेष के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाली शक्ति।

१. मंत्र और विद्या

२. अभिचारुक मंत्र

३. मंत्र-चिकित्सा : पादलिप्त आचार्य

४. अवनामनी-उन्नामनी विद्या

५. आभोगिनी, प्रश्न आदि विद्याएं

६. प्रश्नप्रश्न : घण्टिकयक्ष

* आभियोगी भावना : भूतिकर्म, प्रश्न आदि प्र भावना

७. अभियोग, तालोद्घाटिनी—अंतर्धान विद्या

० अंतर्धानपिण्ड : क्षुल्लक-चाणक्य दृष्टांत

८. स्तम्भनी विद्या

९. मानसी विद्या

१०. विद्याचक्रवर्ती

११. दूती आदि विद्याएं : सर्पदशचिकित्सा

० साधु-साध्वी चिकित्सा : विद्याप्रयोग विधि

१२. गर्दभी विद्या : गर्दीभिल्ल नृप

१३. मातंग विद्या : गौरी-गांधारी

१४. योगपिण्ड : तापस और आर्य समित

१५. योनिप्राभुत ग्रंथ : अश्व उत्पादन

१६. विद्यासिद्धि का काल-उपचार आदि

१. मंत्र और विद्या

विद्या स्त्रीदेवताधिष्ठिता पूर्वसेवादिप्रक्रियासाध्या वा...
मन्त्राः पुरुषदेवताधिष्ठिताः पठितसिद्धा वा।

(बृभा १२३५ की वृ)

ससाधना विद्या असाधनो मन्त्रः।...यस्याधिष्ठात्री देवता सा विद्या, यस्य पुरुषः स मन्त्रः। (व्यभा ८७९ की वृ)

जो स्त्रीदेवताधिष्ठित है और जो पूर्वसेवा आदि प्रक्रिया से साध्य है—साधने से सिद्ध होती है, वह विद्या है।

जिसका अधिष्ठाता पुरुषदेवता होता है और जो साधे बिना पठनमात्र से सिद्ध होता है, वह मंत्र है। (जो हीं आदि वर्ण-विन्यासात्मक है, वह मंत्र है।—श्रीआको १ मंत्र-विद्या)

२. अभिचारुक मंत्र

...करणं वा पडिमाए, तत्थ तु भेदो पसमणं च॥

अशिव-पुरोधेदादौ तत्प्रशमनार्थं 'प्रतिमां' पुत्तलकं करोति, तत अभिचारुकमन्त्रं परिजपन् प्रतिमायां भेदं करोति। (बृभा ५१०६ वृ)

अशिव (व्यंतरकृत उपद्रव), नगररोध आदि उपद्रवों को शांत करने के लिए प्रतिमा—पुतले का निर्माण किया जाता है, फिर अभिचारुक मंत्र का उच्चारण करते हुए प्रतिमा के मध्य भाग में भेद किया जाता है, तब उस उपद्रव का शमन हो जाता है।

३. मंत्रचिकित्सा : पादलिप्त आचार्य

जह जह पएसिणिं जाणुयम्मि पालित्ततो भमाडेति।

तह तह सीसे वियणं, षणासति मुकुंडरायस्स॥

(निभा ४४६०)

मुरुण्ड राजा ने पादलिप्त आचार्य को निवेदन किया—मेरे सिर-दर्द को दूर करो। आचार्य ने एकांत में मंत्र का ध्यान करते हुए जैसे जैसे अपने जानु पर प्रदेशिनी अंगुलि को घुमाया, वैसे-वैसे राजा की शिरोवेदना समाप्त हो गई।

४. अवनामनी और उन्नामनी विद्या

हरिएसो...। तस्स य दो विज्जातो अत्थि—ओणामणी उण्णामणी य। ओणामणीए ओणामित्ता गहियाणि पज्जत्त-गाणि। उण्णामणीए उण्णामिआ साहा। (निभा १३ की वृ)

हरिकेश चण्डाल के पास दो विद्याएं थीं—

१. अवनामनी—इस विद्या से उसने उद्यान में आम्रवृक्ष की शाखाओं को झुकाकर पर्याप्त आम्रफल ग्रहण किये।

२. उन्नामनी—इस विद्या से शाखाओं को पुनः ऊंचा कर दिया।

५. आभोगिनी, प्रश्न आदि विद्याएं

आभोगिणीय पसिणेण, देवताए णिमित्तओ वा वि।१००

जा विज्जा जविता माणसं परिच्छेदमुप्यादयति सा
आभोगिणी।१०००अहवा अंगुट्टपसिणा किज्जति, सुविणपसिणा
वा। खवगो वा देवतं आउट्टेउं पुच्छति। अवितहणिमित्तेण वा
जाणांति। (निभा १३६९ चू)

- ० आभोगिनी विद्या—मानसिक निर्णय उत्पन्न कराने वाली विद्या। इस विद्या के जप से मानसिक स्तर पर यह ज्ञान हो जाता है कि अमुक व्यक्ति ने अमुक वस्तु चुराई है आदि-आदि।
- ० प्रश्न विद्या—अंगुष्ठ प्रश्न, स्वप्न प्रश्न आदि।
- ० देव-आवाहन—तपस्वी मुनि देवता को आकृष्ट कर या उसका आवाहन कर अपने ज्ञातव्य विषय में पूछ लेता है।
- ० निमित्त—यथार्थ निमित्तज्ञान से ज्ञातव्य को जाना जा सकता है।

६. प्रश्नप्रश्न, प्रश्न-अप्रश्न : घण्टिकयक्ष

पसिणापसिणं सुमिणे, विज्जासिट्ठं कहेइ अन्नस्स।

अहवा आइंखिणिया, घंटियसिट्ठं परिकहेइ॥

यत् स्वप्नेऽवतीर्णया विद्यया—विद्याधिष्ठात्र्या देवतया
शिष्टं—कथितं सद् 'अन्यस्मै' पृच्छकाय कथयति, अथवा
'आइंखिणिया' डोम्बी तस्याः कुलदैवतं घण्टिकयक्षो नाम
स पृष्टः सन् कर्णे कथयति, सा च तेन शिष्टं...सदन्यस्मै
पृच्छकाय शुभाशुभादि यत् परिकथयति एष प्रश्नप्रश्नः।

(बृभा १३१२ वृ)

विद्या की अधिष्ठात्री देवी द्वारा स्वप्न में अवतरित होकर जो
वात कही जाती है, वह बात प्रश्नकर्ता को बताई जाती है—यह
प्रश्नप्रश्न है। अथवा डोम्बी का घण्टिकयक्ष नाम का कुलदेव कुछ
पूछे जाने पर डोम्बी के कान में जो शुभ, अशुभ आदि का कथन
करता है, वह कथन अन्य पृच्छक को बताया जाता है—यह प्रश्न-
प्रश्न है।

पसिणापसिणं सुविणे, विज्जासिट्ठं तु साहति परस्स।१०००

लाभालाभसुहदुहं, अणुभूय इमं तुमे सुहीहि वा।

जीवित्ता एवइयं, कालं सुहिणो मया तुज्झं॥

.....अहवा विज्जाभिर्मंतिया घंटिया कण्णमूले
चालिज्जति, तत्थ देवता कथिति, कहेंतस्स पसिणापसिणं

भवति, स एव इंखिणी भण्णति॥ पुच्छं भण्णति—अतीतकाले
वट्टमाणे वा इमो ते लाभो लब्धो, अणागते वा इमं भविस्सति।१०००

(निभा ४२९०, ४२९१ चू)

विद्या द्वारा स्वप्न में कथित बात प्रश्नकर्ता को बताना
प्रश्नाप्रश्न है। अथवा विद्या से अभिमंत्रित घंटिका कानों के पास
बजाई जाती है, तब देवता शुभाशुभ का कथन करते हैं—वह
प्रश्नाप्रश्न है। उसी को इंखिनी कहा जाता है।

देवता पृच्छक को कहता है—अतीत या वर्तमान में तुमने
यह लाभ प्राप्त किया है, अनागत में यह लाभ होगा। इसी प्रकार
वह अलाभ और सुख-दुःख का भी निर्देश करता है। तुम्हारे
माता-पिता आदि इतने काल तक जीवित थे, अमुक काल में
उनकी मृत्यु हुई—यह निर्देश भी करता है।

पसिणा एते षण्हवाकरणेसु पुव्वं आसी।

(निभा ४२८९ की चू)

प्राचीनकाल में प्रश्नव्याकरण सूत्र में प्रश्न, प्रश्नाप्रश्न आदि
विद्याएं थीं। (प्रश्नव्याकरण में आदर्श, अंगुष्ठ, बाहु, असि, मणि,
वस्त्र, आदित्य आदि से संबंधित महाप्रश्न, मनःप्रश्न आदि विद्याओं
का आख्यान किया गया है।

० प्रश्न, अप्रश्न—अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न आदि मंत्रविद्याओं की
संज्ञा 'प्रश्न' है। व्यक्ति के अंगूठे को देखकर उसके शुभाशुभ
का निर्देश करना अंगुष्ठ विद्या है। मंत्र की विधि से जाप करने
पर कुछ विद्याएं सिद्ध हो जाती हैं। वे बिना प्रश्न किए ही
व्यक्ति को शुभ-अशुभ का निर्देश कर देती हैं। इन्हें अप्रश्न कहा
जाता है।

० प्रश्नाप्रश्न—जो विद्या अंगुष्ठ आदि के सद्भाव या अभाव में
शुभ-अशुभ का कथन करती है, वह प्रश्न-अप्रश्न विद्या है।

० महाप्रश्न—वाणी के द्वारा पूछने पर ही जो उत्तर देती है।

० मनःप्रश्न—मन में उठने वाले प्रश्नों का उत्तर देने वाली विद्याएं।
इनके अधिष्ठाता देवता होते हैं।—सम प्र सू ९८ वृ, टि)

७. अभियोग, तालोदघाटिनी.....अन्तर्धान-विद्या

.....अभियोग.....ताले, ओसोवण अंतधाणादी॥

अभियोगो वसीकरणं, तं पुण विज्जाचुण्णमंता-
दीहिं.....तालुघोडणीए विज्जाए तालगाणि विहाडेऊण,

ऊसोवणिविज्जाए य ओसोवेउं गेणहंति । जेणंजणविज्जादिणा
अहिस्सो भवति तं अंतद्धानं भण्णति । (निभा ३४७ चू)

विद्या के अनेक प्रकार हैं। यथा—

- ० अभियोग—वशीकरण—विद्या, चूर्ण, मंत्र आदि के प्रयोग द्वारा दूसरे व्यक्ति को अपने वश में करना।
- ० तालोद्घाटिनी—ताले खोलकर इच्छित वस्तु ग्रहण करना।
- ० अवस्वापिनी—दूसरों को निद्रा में सुलाकर वस्तु ग्रहण करना।
- ० अन्तर्धान—अंजनविद्या आदि के द्वारा अदृश्य हो जाना।

० अंतर्धानपिंड : क्षुल्लक-चाणक्य दृष्टांत

जंघाहीणे ओमे, कुसुमपुरे सिस्स जोगरहकरणं ।
खुडुदुगंजणसुणणं, गमणं देसंत ओसरणं ॥
भिक्खे परिहायंते, शेरणं ओमे तेसि देंताणं ।
सहभोज्ज चंदगुत्ते, ओमोयरियाए दोब्बल्लं ॥
चाणक्कपुच्छ इट्टालचुण्ण दारं पिहेउ धूमो य ।
दिस्सा कुच्छ पसंसा, थेरसमीवे उवालंभो ॥

पाडलिपुत्ते णगरे चंदगुत्तो राया, चाणक्को मंती, सुट्टिया
आयरिया । सीसस्स अंतद्धानजोगं रहे एकांते कहेति । सो य
सुतो । सो अंतद्धानजोगो मेलिओ, एगेणं अक्खी अंजिता
वितितो ण पस्सति । दिट्ठा पयपद्धती चुण्णे । चाणक्केणं
णायं—पादचारिणो एते अंजनसिद्धा । ताहे दारं ठवेउं धूमो
कतो, अंसुणा गलंतेण गलितं दिट्ठं खुडुगदुगं ।

चंदगुत्तो पिच्छति—अहमेतेहिं विट्ठालितो । ततो चाण-
क्केण भणियं—एते रिसओ कुमारसमणा, पवित्तं ते एतेहिं सह
भोयणं । तो अप्पसागारियं चाणक्केण णीणिता । शेरण
समीवं चाणक्को गतो—कीस खुडे ण सारवेह ? ततो थेरेहिं
चाणक्को उवालद्धो—तुमं परमो सावगो, एरिसे ओमकाले
साधुवावारं ण वहसि त्ति । तेण भणियं—संता पडिचोदणा,
मिच्छा मे दुक्कडं ति । (निभा ४४६३-४४६५ चू)

पाटलिपुत्र नगर । चन्द्रगुप्त राजा । चाणक्य मंत्री । सुस्थित
आचार्य विहार करने में समर्थ नहीं थे । दुर्भिक्ष का समय था ।
उन्होंने कुछ साधुओं के साथ एक शिष्य को सुभिक्ष-क्षेत्र में भेजना
चाहा और उसे एकांत में अन्तर्धान विद्या सिखाई । दो क्षुल्लकों ने
उस विद्या—अंजनयोग की पूरी पद्धति को सुन लिया ।

क्षुल्लकों ने एक बार तो वहां से प्रस्थान कर दिया किन्तु
आचार्य के प्रति स्नेह के कारण वे कुछ दूर जाकर लौट आये ।

आचार्य भिक्षा में प्राप्त आहार का अधिक भाग क्षुल्लकों
को देते, स्वयं ऊनोदरी करते । शिष्यों ने अदृश्य विद्या का प्रयोग
किया—आंखों में अंजन अंज लिया, जिससे वे किसी दूसरे को
दोख न सकें । वे चन्द्रगुप्त के साथ भोजन कर आते ।

चन्द्रगुप्त राजा अवमोदरिका के कारण दुर्बल हो गया ।
चाणक्य ने पूछा तो राजा ने कहा—मेरे भोजन को कोई अंतर्हित
रहकर खा रहा है । मैं उसे जान नहीं पा रहा हूं ।

चाणक्य ने जानने का उपाय किया । भोजनकक्ष को चारों
ओर से बंद कर दिया, केवल एक द्वार खुला रखा । दरवाजे पर ईंटों
का बारीक चूर्ण बिखेर दिया । राजा कक्ष में अकेला था । क्षुल्लक
आये, कक्ष में प्रविष्ट हुए । चूर्ण पर पदचिह्न अंकित हो गए ।
चाणक्य ने जान लिया कि आगतुक अंजनसिद्ध पादचारी हैं । उसने
द्वार बंद कर धुआं किया । क्षुल्लकों की आंखों से आंसुओं के साथ
अंजन भी बह गया और अब दोनों अदृश्य से दृश्य हो गए । राजा
ने कहा—इन्होंने मुझे अर्पवित्र कर दिया । चाणक्य ने कहा—ये
ऋषिकुमार श्रमण हैं, आप इनके कारण पवित्र हो गए हैं ।

चाणक्य उन्हें आचार्य के पास ले गया और कहा—गुरुदेव !
आपने इनकी सारणा-वारणा क्यों नहीं की ? आचार्य ने उपालंभ
देते हुए चाणक्य से कहा—तुम परम श्रावक हो, तुमने इस दुर्भिक्ष
काल में भी साधुओं की सुखपृच्छा क्यों नहीं की ? चाणक्य ने
अपनी त्रुटि स्वीकार करते हुए 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहा और
तत्पश्चात् साधुओं की तत्परता से सारसंभाल करने लगा ।

८. स्तम्भनी विद्या

उदग-ग्ग-तेण-सावयभएसु शंभणि..... ।
शंभणिविज्जं मंतेऊण शंभेज्ज । (निभा ४९२ चू)

स्तम्भनीविद्या का ज्ञाता व्यक्ति सम्मुख आने वाले जलप्रवाह,
दावानल, चोर, श्वापद (सिंह आदि) और मनुष्यअपहर्ता—इन्हें
स्तम्भनीविद्या से अभिमंत्रित कर स्तम्भित कर देता है ।

९. मानसी विद्या

माणसिविज्जा णाम मणसा चिंतिऊण जं जावं करेति तं
लभति । (निभा ४०९ की चू)

जिस विद्या से मन से चिंतन कर जितना पाने की इच्छा की जाती है, उतना प्राप्त हो जाता है, वह मानसी विद्या है।

१०. विद्याचक्रवर्ती

.....विज्ञानरिं दस्स, जं किंचिदपि भासियं ।
विज्ञा भवति सा चेह, देसे काले य सिञ्जाति ॥
(व्यभा ३०२०)

विद्याचक्रवर्ती जो कुछ भी बोलता है, वह विद्या में परिणत हो जाता है। वह विद्या इस लोक में देशोचित और कालोचित उपचार से सिद्ध होती है।

११. दूती आदि विद्याएं : सर्पदंशचिकित्सा

दूती अद्वाए ता, वत्थे अंतेउरे य दब्भे वा ।
वियणे य तालवंटे, चवेड ओमज्जणा ॥

काचिद् दूतविद्या भवति । तथा च दूतविद्यया यो दूत आगच्छति, तस्य दंशस्थानमपमार्ज्यते । तेनेतरस्य दंशस्थानमुपशाम्यति ।आदर्शविद्या तथा आतुर आदर्श प्रतिबिम्बितो-
ऽपमार्ज्यते, आतुरः प्रगुणो जायते । अन्या विद्या वस्त्रविषया भवति तथा परिजपितेन वस्त्रेण वा प्रमृज्यमान आतुरः प्रगुणो भवति ।यया आतुरस्य नाम गृहीत्वा आत्मनो अंगमपमार्जयति, आतुरश्च प्रगुणो जायते, सा आन्तःपुरिकी ।दर्भविषया भवति विद्या, यया दर्भैरपमृज्यमान आतुरः प्रगुणो भवति ।व्यजनविषया भवति विद्या, यया व्यजनमभिमन्त्र्य तेनातुरोऽपमृज्यामनः स्वस्थो भवति, सा व्यजनविद्या । एवं तालवृन्तविद्यापि भावनीया ।यया अन्यस्य चपेटायां दीयमानायामातुरः स्वस्थो भवति, सा चापेटी । (व्यभा २४३९ वृ)

सर्पदंशचिकित्सा के लिए प्रयुक्त विद्या के अनेक प्रकार हैं—
० दूतीविद्या—जो दूत उपस्थित होता है, उसके दंशस्थान का इस विद्या के द्वारा अपमार्जन किया जाता है, इससे दूसरे का दंशस्थान उपशांत (सांप द्वारा काटा गया अवयव स्वस्थ) हो जाता है।

० आदर्श विद्या—वह विद्या, जिससे दर्पण में प्रतिबिम्बित रोगी के बिम्ब को पोंछने से वह नीरोग हो जाता है।

० वस्त्र विद्या—वह विद्या, जिससे परिजपित वस्त्र से रोगी के अंग को प्रमार्जित कर उसे स्वस्थ कर दिया जाता है।

० आन्तःपुरिकी विद्या—वह विद्या, जिससे रोगी का नाम लेकर

अपने अंग का प्रमार्जन करने पर रोगी स्वस्थ हो जाता है।

० दर्भ विद्या—वह विद्या, जिससे दर्भ के द्वारा प्रमार्जन करने पर रोगी नीरोग हो जाता है।

० व्यजन विद्या—वह विद्या, जिससे व्यजन (पंखे) को अभिमन्त्रित कर उससे रोगी का अपमार्जन करने पर रोगी स्वस्थ हो जाता है।

० तालवृन्त विद्या—वह विद्या, जिससे तालवृन्त को अभिमन्त्रित कर उससे रोगी का अपमार्जन करने से वह स्वस्थ हो जाता है।

० चापेटी विद्या—वह विद्या, जिससे किसी दूसरे के चांटा जड़ने से रोगी स्वस्थ हो जाता है।

(यद्यपि ये विद्याएं साधु के सर्पदंश की चिकित्सा के प्रसंग में निर्दिष्ट हैं। किन्तु प्रतीत होता है कि ये विद्याएं विषाषहार तथा सर्व रोगाषयन के लिए प्रयुक्त होती थीं।)

० साधु-साध्वी-चिकित्सा : विद्याप्रयोग विधि

दूयस्सोमाइज्जइ, असती अद्वाग परिजवित्ताणं ।
परिजवितं वत्थं वा, पाउज्जइ तेण वोमाए ॥
एवं दब्भदीसुं, ओमाएऽसंफुसंत हत्थेणं ।
चावेडीविज्जाएँ व, ओमाए चेडयं दिंतो ॥
एसेव गमो नियमा, निगंशीणं पि होति नायव्वो ।
विज्जादी मोत्तूणं, अकुसलकुसले य करणं च ॥
मंतो हवेज्ज कोई, विज्जा उ ससाहणा न दायव्वा ।
.....पुव्वाधीता य उ करेज्जा ॥
(व्यभा २४४०-२४४३)

(किसी मुनि को सर्प काट खाये और कोई मुनि या गृहस्थ विष को उतारने में कुशल न हो तो साध्वी से उसका अपमार्जन कराया जा सकता है।)

दूती विद्या से आगत दूत के अंग का अपमार्जन किया जाता है, इससे रोगी मुनि स्वस्थ हो जाता है।

इस विद्या के अभाव में आदर्श में संक्रांत रोगी मुनि के प्रतिबिम्ब को पोंछकर उसे स्वस्थ किया जाता है।

आदर्श विद्या के अभाव में वस्त्र-विद्या से परिजपित (अभिमन्त्रित) वस्त्र से रोगी मुनि को प्रावृत किया जाता है, अथवा परिजपित वस्त्र से रोगी का अपमार्जन किया जाता है।

इसी प्रकार दर्भ आदि विद्याओं के द्वारा हाथ से स्पर्श न

करते हुए रोगी मुनि का अपमार्जन किया जाता है। चापेटी विद्या से अन्य के चांटा मारकर अन्य का ही अपमार्जन किया जाता है।

साध्वी के लिए भी विद्याप्रयोग की यही यतनाविधि ज्ञातव्य है। विद्या ससाधन होती है अतः साध्वी को विद्या नहीं देनी चाहिए। मंत्र असाधन होता है, वह कदाचित् दिया जा सकता है। यदि साधु अकुशल हों और साध्वी कुशल हो तो वह पूर्वगृहीत मंत्र या विद्या से साधु के विष का अपनयन करती है।

१२. गर्दभी विद्या : गर्दभिल्ल नृप

.....गर्दभिल्लस्स एक्का विज्जा गद्दहीरूवधारिणी अत्थि। सा य एगम्मि अट्टालगे परबलाभिमुहा ठविया। ताहे परमे आधिकप्ये गद्दभिल्लो राया अट्टमभत्तोववासी तं अवतारेति। ताहे सा गद्दभी महंतेण सहेण णदति, तिरिओ मणुओ वा जो परबलिच्चो सद्दं सुणेति स सव्वो रुहिरं वमंतो भयविहलो णट्टसण्णो धरणितलं णिवडड।

कालगज्जो.....सद्दवेहीण दक्खणं अट्टसतं जोहाण णिरूवेति—'जाहे एस गद्दभी मुहं विडंसेति जाव य सद्दं ण करेति ताव जमगसमगं सराण मुहं पूरेज्जेह।' तेहिं पुरिसेहिं तहेव कयं। ताहे सा वाणमंतरी तस्स गद्दभिल्लस्स उवरिं हदिउं मुत्तेउं व लत्ताहिं य हंतुं गता। सो वि य गद्दभिल्लो अबलो उम्मूलिओ। उहिया उज्जेणी। (निभा २८६० की चू)

उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के पास रासभी का रूप धारण करने वाली गर्दभी विद्या थी। जब शकसामंतों ने अवन्ति पर आक्रमण किया तो उसने एक अट्टालक पर गर्दभी विद्या को स्थापित किया, जिसका मुख शत्रुसेना की ओर था। कालकाचार्य द्वारा शकसामंतों को ज्ञात हुआ कि गर्दभिल्ल अष्टमी-चतुर्दशी को अष्टोत्तर सहस्र जप पूर्वक रासभी विद्या की सिद्धि करता है। वह तीन दिन का उपवास कर गर्दभी का अवतारण करता है। वह तेज आवाज में रेंकती है। शत्रुसेना के तिर्यच और मनुष्य जो भी उसके शब्द को सुनते हैं, वे सब रुधिर का वमन करने लगते हैं, भयविह्वल और संज्ञाशून्य होकर धरती पर गिर पड़ते हैं।

कालकाचार्य के निर्देश के अनुसार शत्रुसेना के शब्दवेधकला में दक्ष एक सौ आठ योद्धाओं ने गर्दभी का मुंह खुलते ही तत्काल एक साथ बाणों से उसका मुंह भर दिया। इससे गर्दभी रूप वानव्यंतरी कुपित हुई और गर्दभिल्ल पर मलमूत्र विसर्जित कर

उसे पादप्रहार से प्रताड़ित कर चली गई। शकों ने निर्बल गर्दभिल्ल का उन्मूलन कर अवन्ति पर अपना अधिकार जमा लिया।

१३. मातंग-विद्या : गौरी-गांधारी

.....गौरी-गंधारीया, दुहविण्णप्या च दुहमोया ॥
गौरि-गंधारीओ मातंगविज्जाओ साहणकाले लोग-गरहियत्तणतो दुहविण्णवणाओ.....। (निभा ५१५८ चू)

गौरी और गांधारी—ये दोनों मातंग-विद्याएं हैं। इन विद्याओं की साधना लोक गर्हित होती है, अतः ये दुःखविज्ञप्या तथा यथेष्ट कामसम्प्रापकता के कारण दुःखमोचा हैं।

* गौरी आदि महाविद्याएं द्र श्रीआको १ मंत्र-विद्या

१४. योगपिण्ड : तापस और आर्य समित

पादलेवादिजोगेहिं आउट्टेउं जो पिंडं उप्पादेति.....।
(नि १३ /७३ की चू)

सूभगदूभग्गरा, जे जोगाऽऽहारिमे य इतरे य। आघंस वास धूवा, पादपलेवाइणो इतरे ॥
णदिकण्हवेण्णदीवे, पंचसया तावसाण णिवसंति। पव्वदिवसेसु कुलवती, पादलेवुत्तारसक्कारो ॥
जण सावगाण खिंसण, समियक्खण मात्तिठाण लेवेणं। सावगपयत्तकरणं, अविणायलोए चलणधोए ॥
पडिलाभित्त वच्चंता, णिबुडु णदिकूलमिलण समिताए। विम्हय पंचसया तावसाण पव्वज्ज साहा य ॥

आभीरविसए कण्हवेण्णा णाम नदी। तस्स कूले बंधदीवो।.....अण्णदा वइरसामीमाउलो समियायरिओ विहरंतो तत्थागतो।.....भणति आयरिया—वेण्णे! कयं देहि ति। ताहे दो वि तडीओ आसण्णं ठित्ताओ कममेत्तवाहिणी जाता। आयरिया एगक्कमेण परतीरं गता, पिडुओ णदी महंती जाता।.....ते य पंचतावससया समियायरियस्स समीवे पव्वतिता। ततो य बंधदीवा साहा संवुत्ता। (निभा ४४६९-४४७२ चू)

आकाशगमन आदि के साधक द्रव्यों का मिश्रण योग है। योग प्रयोग से भिक्षा प्राप्त करना सदोष है। योग दुर्भाग्य को सुभाग्य और सुभाग्य को दुर्भाग्य कर देता है। वह दो प्रकार का है—

० आहार्य—पानी के साथ खाने योग्य चूर्ण आदि ।

२. अनाहार्य—चंदन आदि का घर्षण करना, वस्त्र को सुगंधित द्रव्य से वासित करना, अगरु आदि से धूपित करना, पादतल पर लेप करना, जिससे दूर तक जल के ऊपर चला जा सके ।

० योगसिद्ध आचार्य—आभीर जनपद में कृष्णवेना नदी के तट पर ब्रह्मद्वीप था, वहां पांच सौ तापसों का आश्रम था । तापस-कुलपति पादलेपयोग जानता था । वह अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथियों में पादलेपयोग के प्रभाव से वेना नदी को पार कर वेनातट नगर में पहुंच जाता । वह जल पर ऐसे चलता, जैसे कोई भूमि पर चल रहा हो । उस नगर के सब लोग आकृष्ट होकर भोजन-पानी से उसका सत्कार करते । कुछ लोग श्रावकों की अवहेलना करने लगे—तुम्हारे जिनशासन में ऐसा अतिशय नहीं है ।

एक बार वज्रस्वामी के मातुल समिताचार्य विहार करते हुए वहां आये । श्रावकों ने वहां की स्थिति बताई । आचार्य ने कहा—यह मायावी है, पादलेप के प्रभाव से नदी पार करता है, अतः तुम लोग इसे अपने घर पर निर्मात्रित कर गर्म जल से पैरों का प्रक्षालन करो । श्रावकों ने प्रयत्नपूर्वक यह कार्य किया । तापस नहीं चाहता था, पर श्रावकों ने कहा—आपके भक्त विनयपरिपाटि को नहीं जानते । हम आपका विनय करते हैं, यह कहते हुए उसके पैर धो डाले, फिर उसे भिक्षा दी और पहुंचाने नदी तट पर गए । लेप धुल जाने के कारण तापस डूबने लगा । इतने में आर्य समित आए, द्रव्ययोग का प्रक्षेप कर बोले—वेना ! मुझे मार्ग दो । तत्काल दोनों तट सिमत गए, नदी पदमात्र वाहिनी हो गई । आचार्य उस तट पर पहुंचे, पीछे से नदी पुनः बड़ी हो गई । सब लोग तथा तापस विस्मित हुए । पांच सौ तापस आचार्य के पास प्रव्रजित हो गए, तब से ब्रह्मद्वीप शाखा प्रवर्तित हुई ।

१५. योनिप्राभृतग्रंथ : अश्व उत्पादन

योनिप्राभृतादिना यदेकेन्द्रियादिशरीराणि निर्वर्तयति, यथा सिद्धसेनाचार्येणाश्व उत्पादिताः । (बृभा २६८१ की वृ)

योनिप्राभृत आदि ग्रंथों में ऐसे योग—द्रव्यों के मिश्रण की प्रक्रिया प्रतिपादित है, जिसके प्रयोग से एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय जीवों के शरीर का निर्माण किया जा सकता है । यथा—आचार्य सिद्धसेन ने अश्वों का उत्पादन किया था ।

महिष, सर्प आदि का उत्पादन भी किया गया था । इसे निर्वर्तना अधिकरण कहा गया है ।—द्र अधिकरण

(सूयगडो २/२/१८ में छब्बीस प्रकार की विद्याओं का नामोल्लेख है—१. सुभगाकर—दुर्भाग्य को सुभाग्य करने वाली विद्या । २. दुर्भगाकर—सुभाग्य को दुर्भाग्य करने वाली विद्या । ३. गर्भकर—गर्भाधान की विद्या । ४. मोहनकर—वाजीकरण विद्या । ५. आथर्वणी—अथर्ववेद के मंत्र । ६. पाकशासनी—इन्द्रजाल विद्या । ७. द्रव्यहोम—उच्चाटन आदि के लिए की जाने वाली हवन क्रिया । ८. वैताली—इच्छित देश-काल में दंडे को ऊंचा उठाने वाली विद्या । ९. अर्धवैताली—वैताली की प्रतिपक्षी विद्या । इससे दंडा नीचे आ गिरता है । १०. अव-स्वापिनी—निद्रा दिलाने वाली विद्या । ११. तालोद्घाटिनी—ताले को खोलने वाली विद्या । १२. श्वपाकी—मातंगी विद्या । १३. शाबरी—शबर भाषा में निबद्ध विद्या । १४. द्राविड़ी—तमिल भाषा में निबद्ध विद्या । १५. कालिंगी—कालिंग देश की भाषा में निबद्ध विद्या । १६. गौरी—एक मातंग विद्या । १७. गांधारी—एक मातंग विद्या । १८. अवपतनी—नीचे गिराने वाली विद्या । १९. उत्पतनी—ऊंचा उठाने वाली विद्या । २०. जृम्भणी—उबासी लाने वाली विद्या । २१. स्तम्भनी—स्तम्भित करने वाली विद्या । २२. श्लेषणी—जंघा और ऊरु को आसन से चिपकाने वाली विद्या । २३. आमयकरणी—रोग पैदा करने वाली विद्या । २४. विशल्यकरणी—शल्य को निकालने वाली विद्या, औषधिज्ञान । २५. प्रक्रामणी—भूत दूर करने वाली विद्या । २६. अन्तर्धानी—अदृश्य होने की विद्या ।)

१६. विद्यासिद्धि का काल-उपचार आदि

कालादिउवयारेणं, विज्जा न सिज्जाए विणा देति ।
रंधे व अवद्धंसं, सा वा अण्णा वा से तहिं ॥

कालाद्युपचारेण विना विद्या न सिध्यति, न केवलं न सिध्यति किन्तु कालादिवैगुण्यलक्षणे 'रन्धे' छिद्रे सति साधिकृतविद्याधिष्ठयन्त्या वा क्षुद्रदेवता तत्रावसरे अवध्वंसं ददाति ।
(व्यभा ३०१८ वृ)

कालोचित, देशोचित आदि उपचारों के बिना विद्या सिद्ध नहीं होती । वह सिद्ध तो होती ही नहीं, किन्तु अकाल आदि छिद्र

देखकर अधिकृत विद्या अधिष्ठात्री अथवा अन्य क्षुद्र देवता उस प्रसंग पर विद्यासाधक का अवध्वंस कर सकती है।

निधिमुत्खनितुकामो विद्यां मन्त्रं वा साधयितुकामो यदि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावयुक्तमुपचारं करोति, तद्यथा—द्रव्यतः पुण्यादिषु, क्षेत्रतः श्मशानादिषु, कालतः कृष्णपक्षचतुर्दश्यादिषु, भावतः प्रतिलोमानुलोमोपसर्गसहिते, तदा निधिं विद्यां मन्त्रं वा साधयति। (बृभा २० की वृ)

जो खजाने का उत्खनन करना चाहता है, अथवा विद्या-मंत्र को सिद्ध करना चाहता है, वह यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से संबंधित उपचार करता है, जैसे—पुष्य आदि द्रव्यों, श्मशान आदि क्षेत्रों, कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी आदि तिथियों में तथा भावतः अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग सहन करता है, तो निधि को प्राप्त कर लेता है अथवा विद्या-मंत्र को साध लेता है।

पक्खस्स अट्टमी खलु, मासस्स य पक्खियं मुणेयव्वं।
अण्णं पि होति पव्वं, उवरागो चंदसुराणं॥
चाउद्दसीगहो होति, कोइ अधवावि सोलसिग्गहणं।
मासस्य मध्यं पाक्षिकं तच्च कृष्णचतुर्दशीरूपम् तत्र प्रायो विद्यासाधनोपचारभावात् बहुलादिका मासाः एतेषु च पर्वसु विद्यासाधनप्रवृत्तेः कोऽपि विद्याया ग्रहश्चतुर्दश्यां भवति अथवा षोडश्यां शुक्लपक्षप्रतिपदि विद्याया ग्रहणम्।
(व्यभा २६९८, २६९९ वृ)

पर्वतिथियों में विद्याओं का ग्रहण अथवा परावर्तन किया जाता है। मास और अर्धमास मध्य की तिथियां पर्व कहलाती हैं—पक्ष की मध्यतिथि अष्टमी, मास की मध्य तिथि चतुर्दशी। विद्यासाधना प्रायः कृष्ण पक्ष में होती है।

चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण भी पर्व हैं। इन पर्व दिनों में विद्या साधी जाती है। कोई विद्या का ग्रहण कृष्णा चतुर्दशी को और कोई शुक्ला प्रतिपदा को करता है।

मतिज्ञान—आभिनिबोधिक ज्ञान, इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान।

द्र ज्ञान

* मतिसम्पदा : क्षिप्र अवग्रह आदि द्र गणिसम्पदा

मन—शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करने वाला त्रैकालिक संज्ञान। मनोद्रव्य से उपरंजित चित्त।

१. मन का विषय

२. मनोलब्धि और मनोवर्गणा

३. मन : बन्धन-मुक्ति का हेतु

४. मनपरिणामों की विचित्रता

५. मन की एकाग्रता का हेतु

* मन चंचल क्यों

द्र ध्यान

* मन-विकास का क्रम

द्र ज्ञान

१. मन का विषय

अत्थाणंतरचारिं, नियतं चित्तं तिकालविसयं तु।
अर्थे—शब्दादाविन्द्रियव्यापारादनन्तरं चरति इन्द्रिये

प्रथमं व्यापृते पश्चान्मनो व्याप्रियते नियतार्थविषयं—
नैककालमनेकविषयम् त्रिष्वपि कालेषु यथायोग्यं विषयो
यस्य तत्तथा। (बृभा ४० वृ)

० मन अर्थानंतरचारी है—वह शब्द आदि विषयों में इन्द्रियप्रवृत्ति के पश्चात् प्रवृत्त होता है। (स्वप्न आदि में इन्द्रियव्यापार के अभाव में भी केवल मन की स्वतंत्र रूप से प्रवृत्ति होती है।)

० मन नियतार्थ विषय वाला है—एक काल में अनेक विषय वाला नहीं है। (एक साथ दो क्रियाएं, दो उपयोग नहीं हो सकते।)

० मन त्रिकालवर्ती विषयों को जानता है। (इसके द्वारा अतीत की स्मृति, वर्तमान का चिन्तन और भविष्य को कल्पना—इन तीनों कालखंडों का ज्ञान होता है, अतः इसे कालिकी अथवा दीर्घकालिकी संज्ञा कहा गया है।—श्रीआको १ मन)

२. मनोलब्धि और मनोवर्गणा

खंधेऽणंतपएसे, मणजोगे गिण्ड्ढ गणणतोऽणंते।

तल्लद्धि मणेति तहा, भासादव्वे व भासंते॥

मुच्छित मत्ते, पासुत्ते वावि होइ उवलंभो।

इय होति असन्नीणं, उवलंभो इंदिया जेसिं॥

(बृभा ७९, ८२)

जैसे भाषालब्धिक जीव भाषाद्रव्यों को ग्रहण कर बोलता है, वैसे ही मनोलब्धिसम्पन्न जीव मन के योग्य अनंतप्रदेशी

स्कंधों को ग्रहण कर मनन करता है। वे स्कंध संख्या में अनंत हैं।

असंज्ञी प्राणी मनोद्रव्य के अभाव में मूर्च्छित, उन्मत्त और प्रसुप्त व्यक्ति की तरह अव्यक्त उपयोग वाले होते हैं। उनमें से जिनके जितनी इन्द्रियां होती हैं, उनको उतना स्फुट बोध होता है।

३. मन : बंधन और मुक्ति का हेतु

मणसा उवेति विसए, मणसेव य सन्नियत्तए तेसु।
इति वि हु अञ्जत्थसमो, बंधो विसया न उ पमाणं ॥

(व्यभा १०२९)

व्यक्ति मन से विषयों में आसक्त होता है और मन से ही उनसे विरक्त होता है। इसी प्रकार अध्यात्म—परिणामों के अनुरूप कर्मबंध होता है। अतः कर्मबंध में विषय प्रमाण नहीं हैं।

४. मन-परिणामों की विचित्रता

मणपरिणामो वीई, सुभासुभे कंटएण दिट्ठतो।
खिण्णकरणं जध लंखियव्वं तहियं इमं होति ॥

(व्यभा २७५८)

जैसे सरिता में निरंतर अनेक तरंगें उठती रहती हैं, वैसे ही मन की शुभ-अशुभ परिणतियां होती रहती हैं।

जैसे वृश्चिककंटक कृष्ण आदि रेखाओं के कारण नाना प्रकार का होता है, वैसे ही कालभेद से एक लेश्यास्थान में असंख्येय परिणाम स्थान होते हैं। (द्र लेश्या)

नर्तकी के बांस पर आरोह-अवरोह की भांति मन की शुभ से अशुभ में और अशुभ से शुभ में परिणति होती रहती है।

५. मन की एकाग्रता का हेतु

मणसो एगगन्तं, जणयति.....। काउस्सगगुणा..... ॥
तच्चैकाग्रत्वं परमं ध्यानम्। (व्यभा १२४ वृ)

कायोत्सर्ग से मन की एकाग्रता निष्पन्न होती है और वह एकाग्रता परम ध्यान है।

मनःपर्यवज्ञान—मनोद्रव्य को साक्षात् जानकर उसके आधार पर मनोगत भावों को जानने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान। द्र ज्ञान

* मनःपर्यवज्ञान : चित्तसमाधिस्थान द्र चित्तसमाधिस्थान

* मनःपर्यवज्ञान-विच्छेद कब ? द्र स्थविरावलि

मनुष्य—विकास की सर्वाधिक क्षमता रखने वाला प्राणी।

द्र दीक्षा

* मनुष्य की दस अवस्थाएं

द्र श्रीआको १ मनुष्य

मरण—जीवनकाल को निष्पन्न करने वाले आयुष्यकर्म के परमाणुस्कंधों की समाप्ति।

१. मरण-च्यवन : आयुक्षय.....

२. बालमरण के प्रकार

* अभ्युद्यत (पण्डित) मरण

द्र अनशन

३. मरण और गति

* आराधना से भवसीमा

द्र आराधना

* सशल्यमरण से भवभ्रमण

द्र आलोचना

* अनित्य भावना से शोकापनयन

द्र भावना

* मुनि के शव-परिष्ठापन की विधि

द्र महास्थण्डिल

* आयुष्यकर्मबंध के हेतु

द्र कर्म

१. मरण-च्यवन : आयुक्षय.....

समणे भगवं महावीरे.....महाविमाणाओ वीसं सागरो-
वमाइं आउयं पालइत्ता आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं
चुए.....देवाणंदाए कुच्छिंसि गब्भं वक्कंते ॥ (आचूला १५/३)

श्रमण भगवान् महावीर प्राणत नामक दसवें देवलोक के महाविमान में देवरूप में बीस सागरोपम की आयु पालकर आयुक्षय, भवक्षय और स्थितिक्षय के अनंतर उस देवलोक से च्यवन कर देवानंदा की कुक्षि में अवतरित हुए।

(नैरयिक और भवनवासी देव अधोलोक में रहते हैं। वे मरकर ऊपर आते हैं, इसलिए उनके मरण को उद्वर्तन कहा जाता है। ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव ऊर्ध्व स्थान में रहते हैं। वे आयुष्य पूर्ण कर नीचे आते हैं, इसलिए उनके मरण को च्यवन कहा जाता है।—स्था २/२५१, २५२

० आयुक्षय—आयुष्य कर्म के पुद्गलों का निर्जरण।

० भवक्षय—वर्तमान भव (पर्याय) का सर्वथा विनाश।

० स्थितिक्षय—आयुस्थितिबंध का क्षय।—स्था ८/१० की वृ)

२. बालमरण के प्रकार

.....गिरिपडणाणि वा मरुपडणाणि वा भिगुपडणाणि

वा तरुपडणाणि वा, गिरिपक्खंदणाणि वा मरुपक्खंदणाणि वा भिगुपक्खंदणाणि वा तरुपक्खंदणाणि वा, जलपवेसाणि वा जलणपवेसाणि वा, जलपक्खंदणाणि वा जलणपक्खंदणाणि वा, विसभक्खणाणि वा सत्थोपाडणाणि वा, वलयमरणाणि वा, वसट्टमरणाणि वा, तद्भवमरणाणि वा, अंतोसल्लमरणाणि वा, वेहाणसमरणाणि वा, गिद्धपट्टाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि बालमरणाणि ॥ (नि ११/९३)

बालमरण के २० प्रकार हैं—

१. गिरिपतन	११. जलप्रस्कन्दन
२. मरुपतन	१२. अग्निप्रस्कन्दन
३. भृगुपतन	१३. विषभक्षण
४. तरुपतन	१४. शस्त्रावपाटन
५. गिरिप्रस्कन्दन	१५. वलयमरण
६. मरुप्रस्कन्दन	१६. वशार्त्तमरण
७. भृगुप्रस्कन्दन	१७. तद्भवमरण
८. तरुप्रस्कन्दन	१८. अंतःशल्यमरण
९. जलप्रवेश	१९. वैहायसमरण
१०. अग्निप्रवेश	२०. गृध्रस्पृष्ट

इस प्रकार के बालमरण के अन्य प्रकार भी हैं।

जत्थ पवातो दीसति, सो तु गिरी मरु अदिस्समाणो तु।
नदितडमादी उ भिगू , तरू य अस्सोत्थवडमादी ॥
पडणं तु उप्पत्तिता, पक्खंदण धाविऊण जं पडति। ॥

गिरी.....मरू.....भिगू.....तरू—एतेहितो जो अप्पाणं मुंचड मरणं ववसिउं तं पवडणं भन्इ। एते चउरो वि पडणसामन्नओ एक्को मरणभेदो।..... (निभा ३८०२, ३८०३ चू)

चउरोवि पक्खंदणा पक्खंदणासामन्नओ बिइओ मरण-भेदो। जलजलणपवेसो पवेससामण्णओ तइओ मरणभेदो। जल-जलणपक्खंदणे चउत्थो मरणभेदो। सेसा विसभक्खणाइया वा अट्ट घत्तेयभेदा। (निभा ३८०४ की चू)

जिस पर्वत पर आरूढ होने से प्रपातस्थान दिखाई दे, उसे गिरि और जहां से प्रपात दिखाई न दे, उसे मरु कहा जाता है। नदीतट आदि भृगु तथा अश्वत्थ, वट आदि तरु हैं। मरने का निश्चय कर इनसे गिरकर मरना गिरिपतन आदि मरण हैं। इन

चारों में पतनक्रिया सामान्य होने के कारण यह मरण का एक भेद है।

गिरिप्रस्कन्दन आदि चारों में प्रस्कन्दन सामान्य होने से यह मरण का द्वितीय भेद है। स्थान से ऊपर की ओर उत्पतन कर गिरना पतन और निकट से ही दौड़कर गिरना प्रस्कन्दन है। प्रवेश सामान्य होने से जल और अग्नि में प्रवेश—यह मरण का तीसरा भेद है। मरण का चौथा भेद है—जल और अग्नि में प्रस्कन्दन। शेष विषभक्षण आदि आठ भेद हैं। इस प्रकार बालमरण के बारह भेद होते हैं।

* वलयमरण, वशार्त्तमरण आदि द्र श्रीआको १ मरण

(निशीथ सूत्र में बालमरण के बीस प्रकार और निशीथ चूर्णि में बालमरण के बारह प्रकार प्ररूपित हैं—यह संख्याभेद विवक्षा-सापेक्ष है। भगवती में यह बारह प्रकार का प्रज्ञप्त है—

१. वलयमरण—संयमजीवन से च्युत होकर मरना।
२. वशार्त्तमरण—इन्द्रियों के वशवर्ती होकर मरना।
३. अन्तःशल्यमरण—माया आदि आंतरिक शल्य की दशा में मरना।
४. तद्भवमरण—तिर्यंच या मनुष्यभव में विद्यमान प्राणी पुनः तिर्यंच या मनुष्यभवयोग्य आयुष्य का बंध कर वर्तमान आयु के क्षय होने पर मरता है, उसका मरण तद्भवमरण है।

५. गिरिपतन—पर्वत से गिरकर मरना।
६. तरुपतन—वृक्ष से गिरकर मरना।
७. जलप्रवेश—जल में डूबकर मरना।
८. ज्वलनप्रवेश—अग्नि में प्रवेश कर मरना।
९. विषभक्षण—जहर खाकर मरना।
१०. शस्त्रावपाटन—शस्त्रों से शरीर को विदीर्ण कर मरना।
११. वैहानश—गले में फांसी लगा वृक्षशाखा आदि से लटक कर मरना।

१२. गृध्रस्पृष्ट—गीध आदि द्वारा मांस नोचे जाने पर मरना।

इस द्वादशविध बालमरण से मरता हुआ जीव अनंत भवग्रहण से अपने आपको संयोजित करता है। ॥.....षण्डितमरण से मरता हुआ जीव अनंत भवग्रहण से अपने आपको विसंयोजित करता है। ॥.....—भ २/४९

स्था २/४१३ में बालमरण के अंतिम दो भेद—वैहायस और गृध्रस्पृष्ट विशेष स्थिति में अनुज्ञात हैं। आयारो ८/५८ में

केवल वैहायस का विधान है। गृध्रस्पृष्ट की अर्थपरम्परा आलोच्य है। इसकी प्राचीनता भी संदिग्ध है। द्र भ २/४९ का भाष्य)

३. मरण और गति

मरिऊण अट्टझणो, गच्छे तिरिएसु वणयरेसुं वा।.....
(व्यभा ४२५६)

आर्तध्यानी—कामानुरंजित वेदनामय एकाग्र परिणति वाला प्राणी मरकर तिर्यचगति अथवा वानव्यंतरो में उत्पन्न होता है।

(रौद्रध्यानी नरकगति में और धर्म्यध्यानी वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। शुक्लध्यानी अनुत्तरविमानों में उत्पन्न होता है अथवा उसका परिनिर्वाण होता है।—श्रीआको १ ध्यान)

महाव्रत—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन पापकारी प्रवृत्तियों का पूर्णतः प्रत्याख्यान।

१. पांच महाव्रत

पढमं भंते! महव्वयं—पच्चक्खामि सव्वं पाणाइ-
वायं—से सुहुमं वा बायरं वा, तसं वा थावरं वा—णेव सयं
पाणाइवायं करेज्जा, णेवण्णेहिं पाणाइवायं कारवेज्जा,
णेवण्णं पाणाइवायं करंतं समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए
तिविहं तिविहेणं—मणसा वयसा कायसा, तस्स भंते!
पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥

.....पढमे भंते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं ॥

.....दोच्चे भंते! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं ॥

.....तच्चे भंते! महव्वए अदिण्णादाणाओ वेरमणं ॥

.....चउत्थे भंते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं ॥

.....पंचमे भंते! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं ॥

(आचूला १५/४३, ४९, ५६, ६३, ७०, ७७)

भंते! पहले महाव्रत में मैं सर्व प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ—सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर जो भी प्राणी हैं, उनके प्राणों का अतिपात मैं स्वयं नहीं करूंगा, दूसरों से नहीं कराऊंगा और अतिपात करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से।

भंते! मैं अतीत में कृत प्राणातिपात से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और सपाप आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते! प्रथम महाव्रत में प्राणातिपात की विरति होती है। दूसरे महाव्रत में मृषावाद की विरति होती है। तीसरे महाव्रत में अदत्तादान की विरति होती है। चतुर्थ महाव्रत में मैथुन की विरति होती है। पांचवें महाव्रत में परिग्रह की विरति होती है।

* पांच महाव्रतों का विवरण द्र श्रीआको १ महाव्रत

○ महाव्रत महागुरु

दिसोदिसंणंतजिणेण ताइणा, महव्वया खेमपदा पवेदिता।

महागुरू णिस्ययरा उदीरिया, तमं व तेजो त्तिदिसं पगासय ॥

‘दिशोदिश’ मिति सर्वास्वप्येकेन्द्रियादिषु भावदिक्षु

‘क्षेमपदानि’ रक्षणस्थानानि..... ‘महागुरूणि’ कापुरुषैर्दुर्वहत्वात्।

(आचूला १६/६ वृ)

१. पांच महाव्रत

○ महाव्रत महागुरु

२. द्रव्यतः-भावतः हिंसा-अहिंसा

* सत्य महाव्रत की सूक्ष्मता

द्र समिति

३. अचौर्य महाव्रत की सूक्ष्मता

* साधर्मिक आदि की अनुज्ञा

द्र अवग्रह

४. व्रतविभाग : ब्रह्मचर्य स्वतंत्र व्रत

* व्रत : ऋजुप्राज्ञ आदि

द्र कल्पस्थिति

* मैथुनधर्म का अपवाद नहीं

द्र ब्रह्मचर्य

* परिग्रह : कल्पिका प्रतिसेवना

द्र प्रतिसेवना

५. मूलगुण : पांच महाव्रत

○ उत्तरगुण : समिति आदि

६. रात्रिभोजनविरमण व्रत : छद्म व्रत

○ रात्रि में अशन आदि का अग्रहण, शय्याग्रहण

○ रात्रिभोजन से मूलगुण-विराधना

* मूल-उत्तर-गुणभंग से चारित्रभंग

द्र चारित्र

७. मूलगुण-उत्तरगुण कब तक ?

८. स्वप्न में व्रतभंग : व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त

९. महाव्रतरक्षा हेतु भावना

○ पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएं

महाव्रत भावदिशाओं—एकेन्द्रिय आदि सभी प्राणियों के लिए सुरक्षास्थान हैं—यह अनंतज्ञानी सर्वभूतसंयत अर्हत् द्वारा प्रवेदित है। जो तमस को नष्ट कर ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—इन तीनों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले तैजस की भांति सब प्राणियों के प्रकाशक तथा संरक्षक और कल्याणकारक हैं, उन महाव्रतों को कायरपुरुषों द्वारा दुर्वह होने से महागुरु और कर्मअपनयनकारक होने से निःस्वकर कहा गया है।

२. द्रव्यतः-भावतः हिंसा-अहिंसा

अप्येव सिद्धं तमजाणमाणो, तं हिंसगं भाससि जोगवंतं।
द्व्येण भावेण य संविभक्ता, चत्तारि भंगा खलु हिंसगत्ते॥
आहच्च हिंसा समितस्स जा तू, सा दव्वतो होति ण भावतो उ।
भावेण हिंसा तु असंजतस्सा, जे वा वि सत्ते ण सदा वधेति ॥
संपत्ति तस्सेव जदा भविज्जा, सा दव्वहिंसा खलु भावतो य।
अज्झत्थसुद्धस्स जदा ण होज्जा, वधेण जोगो दुहतो वऽहिंसा ॥

नहि सिद्धान्ते योगमात्रप्रत्ययादेव हिंसोपवर्ण्यते,
अप्रमत्तसंयतादीनां सयोगिकेवलिपर्यन्तानां योगवतामपि
तदभावात्।.....हिंसायां व्याप्रियमाणकाययोगोऽपि भावत
उपयुक्ततया भगवद्भिरहिंसक एवोक्तः।

(बृभा ३९३२-३९३४ वृ)

जो निर्ग्रन्थप्रवचन के रहस्य को नहीं जानते, वे योग-
मात्रप्रत्ययिक हिंसा का निरूपण करते हैं। वस्तुतः सिद्धान्त में ऐसा
निरूपण नहीं है, क्योंकि अप्रमत्तसंयत से सयोगिकेवली पर्यन्त—
सततवै गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थानपर्यन्त जीव सयोगी होते हुए
भी भावतः अहिंसक हैं।

द्रव्य और भाव की अपेक्षा से हिंसा के चार विकल्प हैं—

१. द्रव्यतः हिंसा, भावतः हिंसा नहीं—जो ईर्यासमिति आदि में
उपयुक्त है, उसके कदाचित् द्रव्यहिंसा हो सकती है, भाव हिंसा
नहीं। क्योंकि उसमें प्रमत्त योग का अभाव है। अर्हत् ने उसे
अहिंसक कहा है, जिसका काययोग हिंसा में व्याप्त होने पर भी
जो उपयोगयुक्त है।

२. भावतः हिंसा, द्रव्यतः हिंसा नहीं—जो असंयत है अथवा
संयत होते हुए भी उपयोग उपयुक्त नहीं है, उसके भावतः हिंसा
होती है, द्रव्यतः नहीं, क्योंकि वह सदा प्राणवध नहीं करता।

३. द्रव्यतः हिंसा, भावतः हिंसा—असंयत व्यक्ति जब प्राणवध में
प्रवृत्त होता है, तब उसके द्रव्यतः और भावतः हिंसा होती है।

४. न द्रव्यतः हिंसा, न भावतः हिंसा—जो चित्तप्रणिधान से शुद्ध
है—उपयोग उपयुक्त होकर गमनागमन आदि क्रियाएं करता है,
वह जब प्राणवध में प्रवृत्त नहीं है, तब उसके न द्रव्यतः हिंसा
होती है और न भावतः हिंसा होती है।

३. अचौर्य महाव्रत की सूक्ष्मता

....तण-डगल-च्छर-मल्लग-लेवित्तिरि ए अविदिण्णे ॥

लद्धुं ण णिवेदेती, परिभुज्जति वा णिवेदिनमदिण्णं ।....

....इत्तिरिरो य त्ति पंथं वच्चंतो जत्थ विस्समिउ कामो
तत्थोग्गहं गाणुणवेइ। (निभा ३३०, ३३३ चू)

स्वामी की अनुमति लिए बिना कोई वस्तु ग्रहण करना
अदत्तादान है। यथा—तृण, ढेला, छार, शराव (पात्र विशेष),
लेप (पात्ररंगण) आदि। इत्वरिक—मार्ग में चलते हुए जहां
अल्पकालिक विश्राम करना हो, उस स्थान की अनुमति नहीं लेना
भी अदत्तादान है। कोई साधु भिक्षाचर्या से लौटकर आहार आदि
आचार्य को नहीं दिखाता है, निवेदन किए बिना ही परिभोग
करता है अथवा निवेदन तो करता है पर बिना दिए ही भोग लेता
है—यह सब अदत्तादान है।

(मुनि सूई, कैची आदि प्रातिहारिक वस्तुएं स्वयं के लिए
लाए तो दूसरों को न दे, जिस कार्य के लिए लाए, वही कार्य उनसे
सम्पादित करे, अन्यथा वह दोष का भागी होता है।—द्र उपाधि)

४. व्रतविभाग : ब्रह्मचर्य स्वतंत्र व्रत

आइक्खिउं विभइउं, विण्णाउं चेव सुहतरं होइ।

एतेण कारणेणं, महव्वया पंच पण्णात्ता ॥

(आनि ३१५)

पांच महाव्रतों के रूप में व्यवस्थापित होने से संयमधर्म का
आख्यान—व्याख्या, उसके विभाग का निरूपण (विभज्यवाद की
शैली से कथन) और उसकी उपादेयता का विज्ञान सुगमता से
होता है। इसलिए पांच महाव्रतों का प्रज्ञापन किया गया है।

(चतुर्थीयम धर्म अल्प विभाग वाला प्रतिपादन था। अपरिग्रह
और ब्रह्मचर्य—दोनों एक हैं—यह बात विज्ञ के लिए सहजगम्य

हो सकती है, किन्तु अज्ञ मनुष्य इसे नहीं समझ सकता। इस बुद्धि-क्षमता को ध्यान में रखकर भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह महाव्रत से पृथक् कर दिया। अतः इस विभाग का मुख्य हेतु है बुद्धि की ऋजुता और जड़ता।—द्र कल्पस्थिति

भगवान् महावीर के पहले से ही कुछ श्रमण अब्रह्मचर्य का अनेक दृष्टिकोणों से समर्थन कर रहे थे, जिसका सोदाहरण निरसन किया गया। द्र सू १/३/७०-७८ टि, नि ५१-५३

भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्व के चतुर्याम धर्म का विस्तार कर त्रयोदशांग धर्म की प्रतिष्ठा की। जैसे—१. अहिंसा २. सत्य ३. अचौर्य ४. ब्रह्मचर्य ५. अपरिग्रह ६. ईर्या समिति ७. भाषा समिति ८. एषणा समिति ९. आदाननिक्षेप समिति १०. उत्सर्ग समिति ११. मनोगुप्ति १२. वचनगुप्ति १३. कायगुप्ति—

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः,
पञ्चेर्यादिसमाश्रयः समितयः पञ्चव्रतानीत्यपि ।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परैः,
आचारं परमेष्ठिनो जिनमते वीरान् नमामो वयम् ॥

—पूज्यपादकृत चारित्रभक्ति, श्लोक ७

० ईर्या-एषणा-उत्सर्ग-समिति, कायगुप्ति और मनोगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है—जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा।

० भाषासमिति और वचनगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है—जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा।

० कायगुप्ति और मनोगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है—जीवन में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा।

० कायगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है—जीवन में अपरिग्रह की प्रतिष्ठा।—श्रमण महावीर पृ १२४)

५. मूलगुण ! पांच महाव्रत

पाणवहादिया पंच मूलगुणा । (निभा ६५३३ की चू)

प्राणातिपात विरमण, मृषावाद विरमण, अदत्तादान विरमण, मैथुन विरमण, परिग्रह विरमण—ये पांच महाव्रत मूलगुण हैं।

० उत्तरगुण : समिति आदि

पिंडस्स जा विसोधी, समितीओ भावणा तवो दुविधो ।

पडिमा अभिग्गहा वि य, उत्तरगुण मो वियाणाहि ॥

बायाला अट्टेव य, पणुवीसा बार बारस उ चेव ।
दव्वादि चउरभिग्गह, भेदा खलु उत्तरगुणाणं ॥
(व्यभा ४७०, ४७१)

उत्तरगुणों की संख्या एक सौ तीन है—

पिण्डविशोधि—उद्गम, उत्पादन तथा एषणा के बयालीस भेद ।
समिति—ईर्या आदि पांच समितियां तथा मन समिति, वाक्समिति और काय-समिति। (इन तीनों को गुप्ति भी कहा जाता है।)

भावना—पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएं।

तप—अनशन आदि बारह प्रकार का तप।

प्रतिमा—एकमासिकी आदि बारह भिक्षुप्रतिमाएं।

अभिग्रह—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अभिग्रह।

उत्तरगुण के कुल भेद हैं—४२+८+२५+१२+१२+४=१०३।

६. रात्रिभोजनविरमण व्रत : छठा व्रत

पंच य महव्वयाइं, तु पंचहा राइभोयणे छट्ठा।***

(आनि ३१४)

छह प्रकार का संयम है—पांच महाव्रत तथा छठा व्रत—
रात्रिभोजनविरमणव्रत।

० रात्रि में अशन आदि का अग्रहण, शय्याग्रहण

नो कप्पइ निग्गंथाणं***राओ वा वियाले वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्तए । नन्नत्थ एगेणं पुव्वपडिलेहिणं सेज्जा-संधारणं ॥ नो कप्पइ***राओ वा वियाले वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिग्गाहेत्तए।***
(क १/४२, ४३)

निर्ग्रथ रात्रि या विकालवेला में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण नहीं कर सकते। किन्तु पूर्वप्रतिलेखित शय्या-संस्तारक ग्रहण कर सकते हैं। वे रात्रि या विकाल में वस्त्र, पात्र, कंबल और पादप्रौखन ग्रहण नहीं कर सकते।

* रात्रिभोजन : एक अनाचार द्र श्रीआको १ अनाचार

(अर्हत् पार्श्व ने चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन किया। उसमें स्त्रीत्याग या ब्रह्मचर्य तथा रात्रिभोजनविरति—इन दोनों का स्वतंत्र स्थान नहीं था। श्रमण महावीर ने पांच महाव्रत धर्म का प्रतिपादन

किया। उसके साथ छट्टे रात्रिभोजनविरमण व्रत को जोड़ा—

से वारिया इत्थि सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयदुयाए।
लोगं विदिता अपरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारी ॥

दुःखों को क्षीण करने के लिए तपस्वी ज्ञातपुत्र ने स्त्री और रात्रिभोजन का वर्जन किया। साधारण और विशिष्ट—दोनों प्रकार के लोगों को जानकर सर्ववर्जी प्रभु ने स्त्री, रात्रिभोजन, प्राणातिपात आदि सभी दोषों का वर्जन किया।—सू १/६/२८)

० रात्रिभोजन से मूलगुण-विराधना

जइ वि य फासुगदव्वं, कुंथू-पणगाइ तह वि दुप्पस्सा।
पच्चक्खनाणिणो वि हु, राईभत्तं परिहरंति ॥
(बृभा २८६३)

यद्यपि अवगाहिम (मिठाई) आदि द्रव्य प्रासुक (अभिल-षणीय) हैं किन्तु उन पर लगे हुए कुंथु, पनक आदि आगन्तुक अथवा तद्-उद्भव जीव रात्रि में दुर्दर्श होते हैं। केवली आदि प्रत्यक्षज्ञानी पुरुष आगन्तुक तथा तद्-उद्भव जन्तुरहित आहार को देख सकते हैं, फिर भी वे रात्रिभोजन का परिहार करते हैं, इसलिए कि मूलगुण की विराधना न हो।

(पांच महाव्रत मूलगुण और रात्रिभोजनविरति उत्तरगुण है, किन्तु यह मूलगुणों की रक्षा का हेतु है, इसलिए इसका मूलगुणों के साथ प्रतिपादन किया गया है।—श्रीआको १ रात्रिभोजनविरमण)

७. मूलगुण-उत्तरगुण कब तक ?

मूलगुण उत्तरगुणा, जम्हा भंसंति चरणसेढीओ।
तम्हा जिणेहि दोन्नि वि, पडिसिद्धा सव्वसाहूणं ॥
अग्गघातो हणे मूलं, मूलघातो य अग्गगं।
छक्काय संजमो जाव, तावणुसज्जणा दोण्हं ॥
.....इत्तरिय छेद संजम, नियंठ बकुसा य पडिसेवी ॥
जहा तालदुमस्स अग्गसूतीए हताए मूलो हतो चेव,
मूले वि हते अग्गसूती हता, एवं मूलुत्तरगुणेसु वि उव-
संहारो। (निभा ६५३०-६५३२ चू)

मूलगुणों और उत्तरगुणों की प्रतिसेवना करने वाले मुनि चारित्रश्रेणि से भ्रष्ट होते हैं, इसलिए अर्हत्तों ने सर्व साधुओं के लिए दोनों के अतिक्रमण का निषेध किया है। जैसे ताडवृक्ष का अग्र आहत होने पर मूल और मूल आहत होने पर अग्र नष्ट हो

जाता है, वैसे ही मूलगुणप्रतिसेवना से उत्तरगुण और उत्तरगुण-प्रतिसेवना से मूलगुण नष्ट होते हैं। जब तक छहकाय संयम है, तब तक मूलगुण और उत्तरगुण दोनों विद्यमान हैं। जब तक ये दोनों हैं, तब तक इत्वरिक सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र तथा बकुश निर्ग्रथ और प्रतिसेवना निर्ग्रथ विद्यमान हैं।

८. स्वप्न में व्रतभंग : व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त

पाणवध-मुसावादे, अदत्त-मेहुण-परिग्गहे सुमिणे।
सयमेगं ति अणूणं, ऊसासाणं भवेज्जासि ॥
महव्वयाइं झाएज्जा, सिलोगे पंचवीस वा।
इत्थीविप्परियासे तु, सत्तावीससिलोइओ ॥
(व्यभा ११९, १२०)

मुनि स्वप्न में प्राणिवध, मूषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह का सेवन करने पर पूरे सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करे। अथवा पच्चीस श्लोक प्रमाण महाव्रतों (द ४/११-१५) का ध्यान करे। स्वप्न में स्त्रीविपर्यास होने पर कायोत्सर्ग में सत्ताईस श्लोक (१०८ उच्छ्वास) का ध्यान करे।

९. महाव्रतरक्षा हेतु भावना

तेसिं च रक्खणद्वाय, भावणा पंच पंच एककेक्के।.....
भावयतीति भावना, यथा शिलाजतो आयसं।
(आनि ३१६ चू)

महाव्रतों की सुरक्षा के लिए प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाएं हैं। जो भावित करती हैं, वह भावना है। जैसे लोह रसायन को शिलाजत की भावना दी जाती है।

(महाव्रतों की सुरक्षा के तीन साधनों में एक साधन है भावना—
तेसिं चेव वदाणं, रक्खहुं रादिभोजणियत्ती।
अट्टपवयणमादाओ, भावणाओ य सव्वाओ ॥
भगवती आराधना ६/११७९)

.....समणे भगवं महावीरे उप्पण्णणाणदंसणधरे गोय-
माईणं समणाणं णिग्गंथाणं पंच महव्वयाइं सभावणाइं
छज्जीवनिकायाइं आइक्खइं.....। (आचूला १५/४२)

श्रमण भगवान् महावीर ने केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होने पर गणधर गौतम आदि श्रमण-निर्ग्रथों के लिए भावनाओं सहित पांच महाव्रतों और छहजीवनिकायों का निरूपण किया।

० पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएं

(अहिंसामहव्ययस्स) तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवन्ति । पढमा भावणा—इरियासमिह् ॥ अहावरा दोच्चा भावणा—मणं परिजाणइ ॥ तच्चा भावणा—वइं परिजाणइ ॥ चउत्था भावणा—आयाणभंडमत्त-णिक्खेवणासमिह् ॥ पंचमा भावणा—आलोइय-पाणभोयणभोई ॥

(सच्चमहव्ययस्स) तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवन्ति । पढमा भावणा—अणुवीइभासी ॥ अहावरा दोच्चा भावणा—कोहं परिजाणइ ॥ अहावरा तच्चा भावणा—लोभं परिजाणइ ॥ चउत्था भावणा—भयं परिजाणइ ॥ पंचमा भावणा—हासं परिजाणइ ॥

(अतेणगमहव्ययस्स) पंच भावणाओ भवन्ति । पढमा भावणा—अणुवीइमिओग्गहजाई ॥ दोच्चा भावणा—अणुणवियपाणभोयणभोई ॥ तच्चा भावणा—ओग्गहंसि ओग्गहियंसि एतावताव ओग्गहणसीलए ॥ चउत्था भावणा— अभिक्खणं ओग्गहणसीलए ॥ पंचमा भावणा—अणुवीइमितोग्गहजाई से णिग्गंथे साहम्मिएसु ॥

(बंभचेरमहव्ययस्स) पंच भावणाओ भवन्ति । पढमा

भावणा—णो णिग्गंथे अभिक्खणं—अभिक्खणं इत्थीणं कहं कहइत्तए सिया ॥ अहावरा दोच्चा भावणा—णो णिग्गंथे इत्थीणं मणोहराई इंदियाई आलोएत्तए ॥ अहावरा तच्चा भावणा—णो णिग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाई पुव्वकीलियाई सरित्तए सिया ॥ अहावरा चउत्था भावणा—णाइमत्तपाण-भोयणभोई से णिग्गंथे, णो पणीयरसभोयणभोई ॥ अहावरा पंचमा भावणा—णो णिग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताई सयणासणाई सेवित्तए सिया ॥

(अपरिगहमहव्ययस्स) पंच भावणाओ भवन्ति । तत्थिमा पढमा भावणा— मणुण्णामणुण्णेहिं सदेहिं णो सज्जेज्जा ॥ दोच्चा भावणा— मणुण्णामणुण्णेहिं रूवेहिं णो सज्जेज्जा ॥ तच्चा भावणा— मणुण्णामणुण्णेहिं गंधेहिं णो सज्जेज्जा ॥ चउत्था भावणा—मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं णो सज्जेज्जा ॥ अहावरा पंचमा भावणा— मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं णो सज्जेज्जा ॥

(आचूला १५/४४-४८; ५१-५५; ५८-६२; ६५-६९; ७२-७६)

आचारचूला में पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएं प्रतिपादित हैं। समवायांग (२५) और प्रश्नव्याकरण (संवरद्वार) में कुछ भिन्नता के साथ इनका उल्लेख है। देखें यंत्र—

आचारचूला	समवायांग	प्रश्नव्याकरण
	१. <u>अहिंसा महाव्रत की भावनाएं</u>	
१. ईर्यासमिति	ईर्यासमिति	ईर्यासमिति
२. मनपरिज्ञा	मनोगुप्ति	अपापमन (मनसमिति)
३. वचनपरिज्ञा	वचनगुप्ति	अपापवचन (वचनसमिति)
४. आदानभाण्डअमत्रनिक्षेपणासमिति	आलोक-भाजन-भोजन	एषणासमिति
५. आलोकित पान-भोजन	आदानभाण्डअमत्रनिक्षेपणासमिति	आदाननिक्षेपसमिति
	२. <u>सत्य महाव्रत की भावनाएं</u>	
१. अनुवीचिभाषण	अनुवीचिभाषण	अनुवीचिभाषण
२. क्रोधपरिज्ञा	क्रोधविवेक	क्रोधप्रत्याख्यान
३. लोभपरिज्ञा	लोभविवेक	लोभप्रत्याख्यान
४. भयपरिज्ञा	भयविवेक	अभय (भयप्रत्याख्यान)
५. हास्यपरिज्ञा	हास्यविवेक	हास्यप्रत्याख्यान

३. अचौर्य महाव्रत की भावनाएं

१.	अनुवीचिमितावग्रहयाचन	अवग्रहानुज्ञापना	विविक्त-वास-वसति
२.	अनुज्ञापित पानभोजन	अवग्रहसीमाज्ञान	अभीक्षण-अवग्रहयाचन
३.	अवग्रह का अवधारण	स्वयमेव अवग्रह-अनुग्रहण	शय्यासमिति
४.	अभीक्षण अवग्रहयाचन	साधर्मिकों द्वारा याचित अवग्रह का उनकी अनुज्ञा से परिभोग	साधारण पिंडपात्रलाभ
५.	साधर्मिकों से अनुवीचिमितावग्रहयाचन	साधारण भक्तपान अनुज्ञाप्य परिभोग	विनयप्रयोग

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएं

१.	अभीक्षण स्त्रीकथा-वर्जन	स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का वर्जन	असंसक्त वास वसति
२.	स्त्रियों के इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन	स्त्रीकथा का विवर्जन	स्त्रीजन में कथा-वर्जन
३.	पूर्वभुक्तभोग-पूर्वक्रीड़ा की स्मृति का वर्जन	स्त्रियों की इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन	स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों और चेष्टाओं के अवलोकन का वर्जन
४.	अतिमात्र पानभोजन और प्रणीत रसभोजन का वर्जन	पूर्व भुक्त तथा पूर्वक्रीडित कामभोगों की स्मृति का वर्जन	पूर्व भुक्तभोग की स्मृति का वर्जन
५.	स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयनासन का वर्जन	प्रणीत आहार का विवर्जन	प्रणीत रसभोजन का वर्जन

५. अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएं

१.	मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द में अनासक्त	श्रोत्रेन्द्रिय-राग-उपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव
२.	मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप में अनासक्त	चक्षुरिन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव
३.	मनोज्ञ-अमनोज्ञ गंध में अनासक्त	घ्राणेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ गंध में समभाव
४.	मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस में अनासक्त	रसनेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में समभाव
५.	मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श में अनासक्त	स्पर्शेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव

महास्थंडिल—शवपरिष्ठापनभूमि ।

१. शवपरिष्ठापन हेतु भूमि-प्रतिलेखना
* महास्थंडिल निर्माण की प्रमुखता
२. महास्थंडिल-दिशाप्रेक्षा और लाभ-हानि
३. शव ढांकने योग्य वस्त्र का स्वरूप
४. मृतकनिर्हरणक्रियाविधि, रात्रिजागरण
५. सार्धक्षेत्र आदि नक्षत्रों का अवलोकन

द्र वास्तुविद्या

६. शव-परिष्ठापन दिन में या रात में ?
७. शव-परिष्ठापन के लिए निर्गमन
८. श्मशानभूमि में परिष्ठापन की विधि
o विषम संस्तारक के दोष
९. परिष्ठापन के पश्चात् तप, स्वाध्याय
१०. मृतक के पात्र आदि की विधि
११. मृत शरीर के आधार पर सुभिक्ष-दुर्भिक्ष

१. शवपरिष्ठापन हेतु भूमि-प्रतिलेखना

‘महास्थण्डिलं’ शवपरिष्ठापनभूमिलक्षणं.....।

(बृभा १५०५ की वृ)

पुच्छिं दव्वोलोयण, नियमा गच्छे उवक्कमनिमित्तं।
भत्तपरिण्ण गिलाणे, पुव्वुग्गहो थंडिलस्सेव॥

यत्र साधवो मासकल्पं वर्षावासं वा कर्तुकामास्तत्र
.....। पूर्वमेव महास्थण्डिलस्य वहनकाष्ठादेश्च ‘अवग्रहः’
प्रत्युपेक्षणं विधेयम्। (बृभा ५४९९ वृ)

गच्छवासी (स्थविरकल्पी) साधु जहां मासकल्प अथवा वर्षावास करना चाहते हैं, वहां पहले ही वहनकाष्ठ आदि द्रव्यों का नियमतः अवलोकन करते हैं। क्योंकि भक्तपरिज्ञा अनशन करने वाले अथवा रोगी आदि साधु का उपक्रम—मरण हो सकता है। अतः सर्वप्रथम महास्थण्डिल—शवपरिष्ठापनयोग्य भूमि का प्रत्युपेक्षण करना चाहिये।

आसन्न मञ्ज दूरे, वाघातट्टा तु थंडिले तिन्नि।
खेत्तुदय हरिय-पाणा, णिविदुमादी व वाघाए॥
(बृभा ५५०७)

स्थंडिल के तीन प्रकार हैं—१. गांव के नजदीक २. बीच में ३. गांव से दूर। इन तीनों की अपेक्षा इसलिए है कि एक के अव्यवहार्य होने पर दूसरा स्थंडिल काम में आ सके। संभव है, देखे हुए स्थंडिल को खेत के रूप में परिवर्तित कर दिया गया हो, उस क्षेत्र में पानी का जमाव हो गया हो, हरियाली और त्रस प्राणियों का उद्भव हो गया हो, अथवा नया गांव बसा दिया गया हो अथवा किसी सार्थ ने पड़ाव डाल दिया हो।

गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू य आहच्च वीसंभेज्जा
तं च सरीरगं केइ साहम्मिया पासंज्जा, कप्पइ से तं सरीरगं
‘मा सागारियं’ ति कट्टु थंडिले बहुफासुए पडिलेहिता पमज्जिता
परिद्वेत्ताए।..... (व्य ७/२२)

ग्रामानुग्राम विहरण करता हुआ भिक्षु कदाचित् कालधर्म को प्राप्त हो जाए और उसके शरीर को कोई साधार्मिक मुनि देखे तो वह ‘यहां कोई गृहस्थ नहीं है’—यह जानकर, अत्यंत प्रासुक स्थण्डिल का प्रतिलेखन-प्रमार्जन कर वहां शव का परिष्ठापन कर सकता है।

२. महास्थंडिल-दिशाप्रेक्षा और लाभ-हानि

दिस अवसदक्खिणा दक्खिणा य अवसा य दक्खिणापुव्वा।
अवरुत्तरा य पुव्वा, उत्तर पुव्वुत्तरा चेव॥
पउरन्न-पाण पढमा, बीयाए भत्त-पाण न लहंति।
तइयाइ उवहिमाई, चउत्थी सज्जाय न करंति॥
पंचमियाएँ असंखड, छट्ठीएँ गणास्स भेयणं जाण।
सत्तमिया गेलन्नं, मरणं पुण अट्टमीए उ॥
(बृभा १५०६-१५०८)

दक्षिणपश्चिम दिशा (नैऋती) में महास्थंडिल की प्रत्युपेक्षा सबसे श्रेष्ठ है। उसके अभाव में दक्षिण दिशा, उसके अभाव में पश्चिम दिशा, उसके अभाव में दक्षिण-पूर्व (आग्नेयी), उसके अभाव में पश्चिम उत्तर (वायवी), उसके अभाव में पूर्व, उसके अभाव में उत्तर, उसके अभाव में पूर्व-उत्तर (ईशानी) दिशा में महास्थंडिल की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए।

नैऋती में महास्थंडिल की प्रत्युपेक्षा करने से अन्न-पान का प्रचुर लाभ होता है, इससे समूचे संघ में समाधि होती है। दक्षिण दिशा में प्रत्युपेक्षण करने से अन्न-पान का अभाव और पश्चिम में करने से उपकरणों का अलाभ होता है। आग्नेयी में करने से साधुओं में परस्पर तूं-तूं मैं-मैं होती है। वायवी में करने से साधुओं में परस्पर कलह बढ़ता है। पूर्व में करने से गणभेद होता है। उत्तर में करने से रोग बढ़ता है। ईशानी में महास्थंडिल होने से दूसरा कोई साधु (निकट काल में) मृत्यु को प्राप्त होता है।

३. शव ढांकने योग्य वस्त्र का स्वरूप

विथारा-ऽऽयामेणं, जं वत्थं लब्भती समतिरेगं।
चोक्ख सुतिगं च सेतं, उवक्कमट्टा धरेतव्वं॥
अत्थुरणट्टा एगं, बिइयं छोढुमुवरिं घणं बंधे।
उक्कोसयरं उवरिं, बंधादीछादणट्टाए॥
उज्जाइए अवण्णो, दुविह णियत्ती य मइलवसणाणं।
तम्हा तु अहत कसिणं, धरंति.....॥
(बृभा ५५१०, ५५११, ५५१३)

मृतक को ढाई हाथ लम्बे, सफेद और सुगंधित वस्त्र से ढांकना चाहिए। उसके नीचे भी वैसा ही एक वस्त्र बिछाना

चाहिए। तत्पश्चात् उसको उन वस्त्रों सहित एक डोरी से बांधकर, उस डोरी को ढांकने के लिए तीसरा अति उज्ज्वल वस्त्र ऊपर डाल देना चाहिए। सामान्यतः तीन वस्त्रों का उपयोग अवश्य होना चाहिए और आवश्यकतावश अधिक वस्त्रों का भी उपयोग किया जा सकता है। शव को मलिन वस्त्रों से ढांकने से प्रवचन की अवज्ञा होती है। मलिन वस्त्रों के कारण दो प्रकार की हानि होती है—सम्यक्त्व और प्रब्रज्या ग्रहण करने के इच्छुक व्यक्ति लौट जाते हैं। अतः नवीन और प्रमाणोपेत वस्त्र धारणीय हैं।

४. मृतक-निर्हरणक्रियाविधि, रात्रिजागरण

वातेण अणवकंते, अभिणवमुक्कस्स हत्थ-पादे उ।
कुव्वंतऽहापणिहिते, मुह-णयणाणं च संपुडणं॥
कर-पायंगुट्ठे दोरेण बंधिउं पुत्तीए मुहं छाए।
अक्खयदेहे खणणं, अंगुलिविच्चे ण बाहिरतो॥
अण्णाइट्टसरीरे, पंता वा देवतऽत्थ उट्टेज्जा।
परिणामि डब्बहत्थेण बुज्झ मा गुज्झगा! मुज्झ॥
वित्तासेज्ज रसेज्ज व, भीमं वा अट्टहास मुंचेज्जा।
अभिण्ण सुविहिण्णं, कायव्व विहीय वोसिरणं॥

(बृभा ५५२१, ५५२४-५५२६)

जितणिहुवायकुसला, ओरस्सबली य सत्तजुत्ता य।
कतकरण अप्पमादी, अभीरुगा जागरंति तहिं॥
जागरणट्टाएँ तहिं, अन्नेसिं वा वि तत्थ धम्मकहा।
सुत्तं धम्मकहं वा, मधुरगिरो उच्चसट्टेणं॥

(बृभा ५५२२, ५५२३)

वायु से शरीर अकड़ न जाए, इसलिए साधु के कालगत होते ही उसके हाथ-पैरों को सीधा लम्बा फैलाकर, मुंह तथा आंखों को संपुटित कर दिया जाता है। मृतक के हाथ-पैर के अंगूठों को रस्सी से बांधकर, मुखवस्त्रिका से मुंह को ढांक दिया जाता है। उसके अक्षत देह में अंगुलि के बीच के पर्व का कुछ छेदन किया जाता है। इस प्रकार बंधन-छेदन करने पर भी यदि शरीर व्यंतर अधिष्ठित हो जाए या कोई प्रत्यनीक देव कलेवर में प्रवेश कर उत्थित हो तो मुनि अपने बाएँ हाथ में भूत्र लेकर उसका मिंचन करे और कहे—गुह्यक! सचेत हो, सचेत

हो, मूढ मत हो। अन्यअधिष्ठित कलेवर विकराल रूप दिखाकर डराए, चिल्लाए या भयंकर अट्टहास करे, फिर भी सुविहित मुनि निर्भयता से विधिपूर्वक शव का व्युत्सर्ग करे।

० रात्रिजागरण—प्राचीन विधि के अनुसार जो मुनि निद्राजयी, उपायकुशल, महोपराक्रमी, धैर्यसम्पन्न, कृतकरण (उस विधि के ज्ञाता), अग्रमत्त और अभय होते थे, वे मृतक के पास रहकर रात्रिजागरण करते थे। रात्रि में वे परस्पर धर्मचर्चा करते अथवा उपस्थित श्रावकों को धर्मकथा सुनाते अथवा स्वयं सूत्र या धार्मिक आख्यानक का स्वाध्याय मधुर वाणी में उच्च स्वर से करते थे।

५. सार्धक्षेत्र आदि नक्षत्रों का अवलोकन

दोण्णि य दिवड्डुखेत्ते, दब्भमया पुत्तगऽत्थ कायव्वा।
समखेत्तम्मि य एक्को, अवड्डु अभिण्ण कायव्वो॥

कालगते सति संयते नक्षत्रं विलोक्यते।.....नक्षत्रे विलोकिते यदि सार्द्धक्षेत्रं तदानां नक्षत्रम्, सार्द्धक्षेत्रं नाम—पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तभोग्यं सार्द्धदिनभोग्यमिति यावत्, तदा दर्भमयौ द्वौ पुत्रकौ कर्तव्यौ। यदि न करोति तदाऽपरं साधु-द्वयमाकर्षति। तानि च सार्द्धक्षेत्राणि नक्षत्राणि षड् भवन्ति, तद्यथा—उत्तराफाल्गुन्य उत्तराषाढा उत्तराभद्रपदाः पुनर्वसु रोहिणी विशाखा चेति। अथ समक्षेत्रं—त्रिंशन्मुहूर्त्त भोग्यं यदा नक्षत्रं तत एकः पुत्तलकः कर्तव्यः 'एष ते द्वितीयः' इति च वक्तव्यम्। अकरणेऽपरमेकमाकर्षति। समक्षेत्राणि चामूनि पञ्चदश—अश्विनी कृत्तिका मृगशिरः पुष्यो मघाः पूर्वा-फाल्गुन्यो हस्तश्चित्रा अनुराधा मूलं पूर्वाषाढाः श्रवणो धनिष्ठाः पूर्वभद्रपदा रेवती चेति। अथापार्द्धक्षेत्रं—पञ्च-दशमुहूर्त्तभोग्यं तद् नक्षत्रम् अभीचिर्वा तत एकोऽपि पुत्तलको न कर्तव्यः। अपार्द्धक्षेत्राणि चामूनि षट्—शतभिषग् भरणी आर्द्रा अश्लेषा स्वातिर्ज्येष्ठा चेति। (बृभा ५५२७ वृ)

मुनि के कालगत होने पर नक्षत्र का अवलोकन किया जाता है। सताईस नक्षत्र तीन रूपों में विभक्त हैं—

१. सार्धक्षेत्र नक्षत्र—पैंतालीस मुहूर्त्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले—यानी सार्ध दिन चन्द्रभोग्य नक्षत्र। (तीस मुहूर्त्त का

एक अहोरात्र होता है।) वे छह हैं—उत्तरफल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा। इनमें से किसी नक्षत्र में मुनि के कालगत होने पर दर्भमय दो पुतले बनाने चाहिये। अन्यथा दो अन्य साधु दिवंगत हो सकते हैं।

२. समक्षेत्र नक्षत्र—तीस मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले नक्षत्र। वे पन्द्रह हैं—अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिर, पुष्य, मघा, पूर्वफल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभद्रपदा और रेवती। मृत्यु के समय समक्षेत्र नक्षत्र हो तो एक पुतला बनाकर शव के समक्ष कहना चाहिये—यह तुम्हारा द्वितीय है। पुतला नहीं करने पर वह एक अन्य साधु को आकर्षित करता है।

३. अपार्धक्षेत्र नक्षत्र—चन्द्रमा के साथ पन्द्रह मुहूर्त तक योग करने वाले नक्षत्र। वे छह हैं—शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा, स्वाति और ज्येष्ठा। अपार्धक्षेत्र अथवा अभीचि नक्षत्र में मृत्यु होने पर एक भी पुतला नहीं करना चाहिये।

६. शव-परिष्ठापन दिन में या रात में ?

जं वेलं कालगतो, निष्कारण कारणे भवें निरोधो।
हिम-तेण-सावयभया, पिहिता दारा महाणिणादो वा।
ठवणा नियगा व तहिं, आयरिय महातवस्सी वा॥
णंतक असती राया, वऽतीति संतेपुरो पुरवती तु।
णीति व जणणिवहेणं, दार निरुद्धाणि णिसि तेणं॥

(बृभा ५५१८-५५२०)

साधु जिस समय कालगत हुआ हो, उसका उसी समय निहंरण करना चाहिए, फिर चाहे रात हो या दिन। लेकिन रात्रि में विशेष हिम गिरता हो, चोरों या हिंसक जानवरों का भय हो, नगर के द्वार बन्द हों, अथवा मृतक महाजनों द्वारा ज्ञात हो अथवा किसी ग्राम की ऐसी व्यवस्था हो कि वहाँ रात्रि में शव को बाहर नहीं ले जाया जाता, मृतक के संबंधियों ने पहले से ऐसा कहा हो कि हमको पूछे बिना मृतक को न ले जाया जाए अथवा मृतक मुनि प्रसिद्ध आचार्य हो अथवा अनशन का पालन कर कालगत हुआ हो अथवा महान् तपस्वी हो तो शव को रात्रि के समय नहीं ले जाना चाहिए।

इसी प्रकार यदि सफेद कपड़ों का अभाव हो, नगरनायक

अथवा अंतःपुर सहित राजा जनसमूह के साथ नगर में प्रवेश कर रहा हो अथवा नगर के बाहर जा रहा हो, उस स्थिति में शव का निहंरण दिन में नहीं, रात्रि में करना चाहिए।

भिक्खू य राओ वा वियाले वा आहच्च वीसुंभेज्जा, तं च सरीरगं केइ वेयावच्चकरे इच्छेज्जा एगंते बहुफासुए एएसे परिट्टुवेत्ताए, अत्थि या इत्थ केइ सागारियसंतिए उवगरणजाए अचित्ते परिहरणारिहे, कप्पइ से सागारियकडं गहाय तं सरीरगं एगंते बहुफासुए एएसे परिट्टुवेत्ता तत्थेव उवनिक्खिवियव्वे सिया ॥

'आहच्च' कदाचिद् 'विष्वग् भवेत्' जीवशरीरयोः पृथग्भावमाप्नुयात्, म्रियत इत्यर्थः। 'परिहरणार्हं' परिभोग-योग्यमुपकरणजातम्, वहनकाष्ठमित्यर्थः। 'सागारिक-कृतं' सागारिकस्यैव सत्कामिदं नास्माकम् इत्येवं गृहीत्वा.....।

(क ४/२५ वृ)

रात्रि में अथवा विकाल वेला में कदाचित् भिक्षु मृत्यु को प्राप्त हो जाए, कोई वैयावृत्यकर मुनि एकांत और बहुप्रासुक—कीटिका आदि प्राणियों से सर्वथा रहित प्रदेश में उस शरीर का परिष्ठापन करना चाहे, (उपाश्रय में) गृहस्थ का कोई परिभोगयोग्य अचित्त उपकरण—वहनकाष्ठ उपलब्ध हो तो वह मुनि यह गृहस्थ का है, हमारा नहीं—इस प्रकार वहनकाष्ठ को ग्रहण कर, उस पर शव को वहनकर एकांत बहुप्रासुक प्रदेश में उसको परिष्ठापित कर सकता है। मृत शरीर को परिष्ठापित कर जहाँ से वह वहनकाष्ठ ग्रहण किया है, वहाँ उसे रख देना चाहिये।

७. शव-परिष्ठापन के लिए निर्गमन

सुत्त-ऽत्थतदुभयविऊ, पुरतो घेत्तूण पाणग कुसे य।
गच्छति जइ सागरियं, परिट्टुवेऊण आयमणं॥
जत्तो दिसाएँ गामो, तत्तो सीसं तु होइ कायव्वं।
उट्टेंतरक्खणट्टा, अमंगलं लोगगरिहा य॥

(बृभा ५५३०, ५५३१)

शव को परिष्ठापन के लिए ले जाते समय सूत्र-अर्थ-सूत्रार्थविद् मुनि पात्र में शुद्ध पानक ले तथा एक हाथ चार अंगुल प्रमाण समान रूप से काटे हुए कुश लेकर, पीछे मुड़कर न देखते

हुए, स्थंडिल की ओर गमन करे। यदि वहां कोई गृहस्थ हो तो शव को परिष्ठापित कर आचमन करे।

शव का निर्हरण या परिष्ठापन करते समय उसका सिर गांव की ओर रहे—ऐसा करने से कदाचिद् शव उत्थित हो जाए, तब भी वह उपाश्रय की ओर नहीं आता। गांव की ओर पैर करने से अमंगल होता है और लोक गर्हा करते हैं।

८. श्मशानभूमि में परिष्ठापन की विधि

कुसमुद्विण्ण एक्केणं, अव्वोच्छण्णाएँ तत्थ धाराएँ ।
संधार संधरिज्जा, सव्वत्थ समो य कायव्वो ॥
चिंधट्ठा उवगरणं, दोसा तु भवे अचिंधकरणम्मि ।
मिच्छत्त सो व राया, कुणति गामाण वहकरणं ॥
उट्टाणाई दोसा, हवंति तत्थेव काउसग्गम्मि ।
आगम्मुवस्सयं गुरुसमीव अविहीय उस्सग्गो ॥
जो जहियं सो तत्तो, णियत्तइ पयाहिणं न कायव्वं ।
उट्टाणादी दोसा, विराहणा बालवुट्टाणं ॥
(बृभा ५५३२, ५५३६, ५५३८, ५५३९)

स्थंडिल भूमि में पहुंचकर एक मुनि एक कुशमुष्टि से अव्यवच्छिन्न धारा से सर्वत्र सम संस्तारक तैयार करे। शव को उस पर परिष्ठापित कर और उसके पास रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्टक रखने चाहिए। इन यथाजात चिह्नों के न रखने से कालगत साधु मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है तथा चिह्नों के अभाव में राजा के पास जाकर कोई शिकायत कर सकता है कि एक मृत शव पड़ा है—यह सुनकर राजा कुपित होकर, आसपास के दो-तीन गांवों का उच्छेद भी कर सकता है।

स्थंडिल भूमि में मृतक का व्युत्सर्जन कर मुनि वहीं कायोत्सर्ग न करे किन्तु उपाश्रय में आकर आचार्य के पास, परिष्ठापन में कोई अविधि हुई हो तो उसके लिए कायोत्सर्ग करे। शव का परिष्ठापन कर लौटते समय प्रदक्षिणा न दे। यदि ऐसा करते हैं तो उत्थान आदि दोष होते हैं और बाल-वृद्धों की विराधना होती है।

० विषम संस्तारक के दोष

विसमा जति होज्ज तणा, उवरिं मज्जे तहेव हेट्ठा य ।
भरणं गेलन्नं वा, तिण्हं पि उ णिदिसे तत्थ ॥

उवरिं आयरियाणं, मज्जे वसभाण हेट्ठि भिक्खूणं ।
तिण्हं पि रक्खणट्ठा, सव्वत्थ समा य कायव्वो ॥
(बृभा ५५३३, ५५३४)

शव के लिए कृत तृणसंस्तारक का ऊपरी भाग विषम होने पर आचार्य, मध्य भाग विषम होने पर वृषभ और नीचे का भाग विषम होने पर साधु मरण या ग्लानत्व को प्राप्त करता है। अतः तीनों की सुरक्षा के लिए सर्वत्र सम संस्तारक करना चाहिए।

९. परिष्ठापन के पश्चात् तप, स्वाध्याय

बिइयं वसहिमतित्ते । ॥जोगपरिवुट्ठी ॥
गिण्हइ णामं एगस्स दोण्ह अहवा वि होज्ज सव्वेसिं ।
खिण्णं तु लोयकरणं, परिण्ण गणभेद बारसमं ॥
.....मंगलं-संतिनिमित्तं, थओ तओ अजितसंतीणं ॥
खमणे य असज्जाए, रातिणिय महाणिणाय णितए वा ।
सेसेसु णत्थि खमणं, णेव असज्जाइयं होइ ॥
(बृभा ५५४४, ५५४५, ५५४७, ५५४९, ५५५०)

शव का परिष्ठापन करने के बाद यदि वह व्यंतराधिष्ठित होकर दो-तीन बार उपाश्रय में आ जाए तो मुनि अपने-अपने तपयोग की परिवृद्धि करें—एकाशन करने वाले उपवास, उपवास करने वाले बेला आदि करें। योगवृद्धि करने पर भी गुह्यक आए, एक, दो या उपस्थित सभी श्रमणों के नाम ले तो उन-उन नाम वाले श्रमणों को लुंचन करा लेना चाहिए और पांच दिन का उपवास करना चाहिए। जो इतना तप न कर सकें, उन्हें चार, तीन, दो या एक उपवास करना चाहिए। गण से निष्क्रमण कर विहरण करना चाहिए। उपद्रवनिवारण और शांति के लिए अजितस्तवन और शांतिस्तवन का पाठ करना चाहिए।

यदि सल्लिक—आचार्य आदि अथवा महानिनाद (लोकविश्रुत) मुनि दिवंगत होता है और उसके ज्ञातिजन अत्यंत अधीर हो जाते हैं, तो उस दिन उपवास किया जाता है और अस्वाध्यायिक रहता है। अन्य साधु के कालगत होने पर न उपवास किया जाता है और न ही अस्वाध्यायिक होता है।

१०. मृतक के पात्र आदि की विधि

.....अत्थियाइं त्थ केइ साहम्मियसंतिए उवगरणजाए

परिहरणारिहे, कण्डू से सागारकडं गहाय दोच्चं पि ओगंहं
अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरेत्ता ॥

.....सागारकृतं नाम नात्मना स्वीकरोति आचार्यसत्क-
मेतत् । आचार्य एव एतस्य ज्ञायक एवं गृहीत्वा आचार्याणां
समर्पयेद्विदं आचार्यस्तस्यैव ददाति, ततः स 'मस्तकेन वन्दे'
इति ब्रुवाण आचार्यवचः प्रमाणं करोति—एष द्वितीयो-
ऽवग्रहः..... । (व्य ७/२२ वृ)

मृत साधर्मिक श्रमण का कोई उपकरण परिभोगयोग्य हो,
तो उसे सागारकृत—यह मेरा नहीं, आचार्य का है, आचार्य ही
इसके ज्ञाता हैं—इस भावना से ग्रहण कर आचार्य को समर्पित
करे। (यह प्रथम अवग्रह है) आचार्य वह उपकरण उसे दे तो
वह 'मस्तकेन वन्दे' इसका उच्चारण करता हुआ वन्दन कर
गुरुवचन को प्रमाण माने—यह द्वितीय अवग्रह है, उसे अनुज्ञापित
कर वह उसका ग्रहण-परिभोग कर सकता है।

उच्चार-पासवण-खेलमत्तगा य अत्थरण कुस-पलालादी ।
संधारया बहुविधा, उञ्जंति अणुण्णगेल्ने ॥
अहिगरणं मा होहिति, करेइ संधारगं विकरणं तु ।
सव्वुवहि विगिंअंती, जो छेवइतस्स छित्तो वि ॥
(बृभा ५५५१, ५५५२)

मृत साधु के उच्चारपात्र, प्रश्रवणपात्र, श्लेष्मपात्र तथा आस्तरण
के लिए कृत, कुश, पलाल आदि के बहुविध संस्कारकों का
परिष्ठापन कर देना चाहिए। यदि कोई बीमार मुनि है तो उसके
लिए इनका उपयोग भी किया जाता है।

कोई मुनि महामारी आदि किसी छूत की बीमारी से मरा हो,
जिस संस्कारक से उसे ले जाया जाए, उसके टुकड़े-टुकड़े कर
परिष्ठापन कर देना चाहिए। उसी प्रकार अन्य उपकरण उसके
शरीर से छुए गए हों, उनका भी परिष्ठापन कर देना चाहिए।

(मुनि का परिनिर्वाण होने पर कायोत्सर्ग और उपकरण-
समर्पण विधान है। 'भगवान महावीर के शिष्य स्कन्दक अनगार
को दिवंगत जानकर वहां उपस्थित स्थविर मुनि कायोत्सर्ग करते
हैं, कायोत्सर्ग कर उसके पात्र और चीवरों को लेकर, विपुल पर्वत
से नीचे उतरकर जहां श्रमण भगवान महावीर हैं, वहां आते हैं,

.....वन्दन-नमस्कार कर कहते हैं—देवानुप्रिय का अन्तेवासी
स्कन्दक नाम का अनगार, जो प्रकृति से भद्र और उपशांत था,
उसने देवानुप्रिय की आज्ञा पाकर स्वयं ही पांच महाव्रतों की
आरोहणा की, श्रमण-श्रमणियों से क्षमायाचना की, हमारे साथ
धीरे-धीरे विपुल पर्वत पर चढ़ा यावत् एक मास की संलेखना से
अपने आपको कृश बनाया, अनशन के द्वारा साठ भक्त (भोजन के
समय) का छेदन किया, वह आलोचना और प्रतिक्रमण कर
समाधिपूर्णदशा में क्रमशः दिवंगत हो गया। ये प्रस्तुत हैं उसके
साधुजीवन के उपकरण।'—भ २/७०)

११. मृत शरीर के आधार पर सुभिक्ष, दुर्भिक्ष

जं दिसि विगड्ढितो खलु, देहेणं अक्खुण्ण संचिक्खे ।
तं दिसि सिवं वदंती, सुत्त-ऽत्थविसारया धीरा ॥
जति दिवसे संचिक्खति, तति वरिसे धातगं च खेमं च ।
विवरीए विवरीतं, अकड्ढिए सव्वहिं उदितं ॥
(बृभा ५५५५, ५५५६)

जिस दिशा में मृतक का शरीर शृगाल आदि द्वारा आकर्षित
होता है और अक्षत रहता है, उस दिशा में सुभिक्ष और सुखविहार
होता है—ऐसा सूत्र-अर्थ के पारगामी धीर मुनि कहते हैं। जितने
दिन तक वह कलेवर जिस दिशा में अक्षतरूप में स्थित होता है,
उस दिशा में उतने ही वर्षों तक सुभिक्ष रहता है तथा शत्रु आदि के
उपद्रवों का अभाव रहता है। इसके विपरीत यदि उसका शरीर
क्षत-विक्षत हो जाता है तो उस दिशा में दुर्भिक्ष तथा शत्रु आदि के
उपद्रव उत्पन्न होते हैं। यदि वह मृतक-शरीर उसी स्थान पर
अक्षत रहता है तो सर्वत्र सुभिक्ष और सुखविहार होता है।

मासकल्प—शेषकाल (ऋतुबद्धकाल के आठ महीनों)
में मुनि की एक क्षेत्र में रहने की एक मास की
अवधि। द्र कल्पस्थिति

* यथालंद और मासकल्प द्र यथालन्दकल्प

मिथ्यात्व—अतत्त्व में होने वाली तत्त्वश्रद्धा। द्र सम्यक्त्व

मुद्रा—दीनार आदि सिक्के।

कवडुगमादी तंबे, रुप्ये पीते तहेव केवडिए।.....
ताम्रमयं वा नाणकं यद् व्यवहियते, यथा—दक्षिणापथे

काकिणी। रूपमयं वा नाणकं भवति, यथा—भिल्लमाले
द्रम्मः। पीतं नाम सुवर्णं तन्मयं वा नाणकं भवति, यथा—
पूर्वदेशे दीनारः। केवडिको नाम यथा तत्रैव पूर्वदेशे केतरा-
भिधानो नाणकविशेषः। (बृभा १९६९ वृ)

प्राचीन काल में अनेक प्रकार के सिक्कों का व्यवहार होता
था। जैसे—कौड़ी आदि।

- ० तांबे का सिक्का। जैसे दक्षिणापथ में काकिणी।
- ० चांदी का सिक्का। जैसे भिल्लमाल में द्रम्म।
- ० सोने का सिक्का। जैसे पूर्वदेश में दीनार।

पूर्वदेश में केतर नामक सिक्का भी चलता था।

दो साभरगा दीविच्चगा तु सो उत्तरापथे एक्को।
दो उत्तरापहा पुण, पाडलिपुत्तो हवति एक्को॥
दो दक्खिणावहा तु, कंचीए णेलओ स दुगुणो य।
एगो कुसुमणगरगो.....॥

'द्वीपं नाम' सुराष्ट्राया दक्षिणस्यां दिशि समुद्रमवगाह्य
यद् वत्तते तदीयौ द्वौ.....। काञ्चीपुर्या द्रविडविषयप्रतिबद्धाया
एकः 'नेलकः' रूपको भवति।.....कुसुमपुरं पाटलिपुत्रम-
भिधीयते। (बृभा ३८९१, ३८९२)

- ० सुराष्ट्रा की दक्षिण दिशा में समुद्र को अवगाहित कर जो द्वीप
है, वहां के दो साभरक उत्तरापथ के एक रुपये के बराबर होते थे।
- ० उत्तरापथ के दो रुपयों के तुल्य पाटलिपुत्र का एक रुपया था।
- ० दक्षिणापथ के दो रुपयों के तुल्य द्रविडदेशीय कांचीपुरी का एक
नेलक (रुपया) होता था।
- ० कांचीपुरी के दो रुपये पाटलिपुत्र के एक रुपये के तुल्य थे।

मूढ—कार्य-अकार्य के विवेक से शून्य।

दव्व दिसि खेत्त काले, गणणा सारक्खि अभिभवे वेदे।
वुग्गाहणमण्णाणे, कसायमत्ते य मूढपदा॥
धूमादी बाहिरितो, अंतो धत्तूरगादिणा दव्वे।
जो दव्वं व ण याणति, घडियावोदो व दिट्ठं पि॥
दिसिमूढो पुव्वावर, मण्णाति खेत्ते उ खेत्तवच्चासं।
दियरातिविवच्चासो, काले पिंडारदिट्ठतो॥
ऊणाहियमण्णांतो, उट्टारूढो य गणणतो मूढो।
सारिक्खे थाणपुरिसो॥

अभिभूतो सम्मुञ्जति, सत्थ-ऽग्गी-वादि-सावतादीहिं।
अच्चुदयअणांगरती, वेदम्मि.....॥
पुव्वं वुग्गाहिता केती, नरा पंडितमाणिणो।
णेच्छंति कारणं सोउं॥
अन्नाण कुत्तित्थिमत्ते, कोहमाणातिमत्तेण वि चेतो।
वियडेण व जो मत्तो, ण वेयती एस बारसमो॥
(निभा ३६९४-३६९८, ३७००, ३७०१)

मूढ बारह प्रकार के हैं—१. द्रव्यमूढ २. दिशामूढ ३. क्षेत्र-
मूढ ४. कालमूढ ५. गणनामूढ ६. सादृश्यमूढ ७. अभिभवमूढ
८. वेदमूढ ९. व्युद्ग्राहणामूढ १०. अज्ञानमूढ ११. कषायमूढ और
१२. मत्तमूढ।

१. द्रव्यमूढ—जो बाह्य—धूम आदि द्रव्यों से अथवा आभ्यंतर—
धतूरा आदि खाने से मूर्च्छित होता है। अथवा जो पूर्वदृष्ट द्रव्य को
घटिकावोद की भांति कालांतर में देखने पर भी नहीं जान पाता।
घटिकावोद दृष्टांत—एक अध्यापक की भार्या दुःशीला थी। एक
बार वह अनाथमृतक को घर में डालकर, उसे जलाकर किसी धूर्त
के साथ भाग गई। भर्ता अपनी भार्या के गुणों को याद करता हुआ
उसकी अस्थियों को एक घड़े में डालकर गंगा की ओर प्रस्थित
हुआ। मार्ग में पत्नी ने उसे पहचान लिया। वह बोली—मैं वही
हूँ। मूढ ने कहा—तुम्हारे सब चिह्न उसके सदृश हैं किन्तु उसकी
ये हड्डियां हैं, इसलिए मुझे प्रतीति नहीं है कि तुम वह हो।

२. दिशामूढ—पूर्व को पश्चिम दिशा समझने वाला।
३. क्षेत्रमूढ—क्षेत्रसंबंधी विपर्यास करने वाला।
४. कालमूढ—दिन को रात और रात को दिन मानने वाला।
पिंडार दृष्टांत—एक ग्वाला किसी स्त्री में आसक्त था। वह
नौद से उठा और रात समझकर दिन में ही भैंसों को घर की
ओर संचरित कर स्वयं झाड़ियों के बीच से उस स्त्री के घर
चला गया। लोगों ने कोलाहल किया—यह क्या? वह भ्रांत
हो गया।

५. गणनामूढ—जो गणना करता हुआ कम या अधिक गिनता
है। उष्ट्रपाल के पास इक्कीस ऊंट थे। वह गिनती करता है
तो बीस ऊंट होते हैं। पुनः गिनती की, बीस ही हुए। किसी
अन्य व्यक्ति ने बताया—जिस पर तुम आरूढ हो, वह इक्कीसवां
ऊंट है।

६. सादृश्यमूढ—जो पुरुष को स्थाणु और स्थाणु को पुरुष मानता है।
७. अभिभवमूढ—जो शस्त्र, अग्नि, शास्त्रार्थ, श्वापद आदि से अभिभूत हो उनके भय से मूढ बन जाता है।

८. वेदमूढ—अत्यन्त वेदमोहोदय होने से जो अनंगक्रीड़ा करता है।
९. व्युद्ग्राहणामूढ—कुछ पंडितमानी व्यक्ति पहले से ही व्युद्ग्राहित—मिथ्याभिनिविष्ट होते हैं, बहकावे में आ जाते हैं, फिर वे किंचित् भी कारण सुनना नहीं चाहते, वे व्युद्ग्राहणामूढ हैं।

१०. अज्ञानमूढ—जो कुतीर्थिकमत में मूढ बन जाता है।
११. कषायमूढ—जो कषाय—क्रोध-मान-माया-लोभ के उदय के कारण हित-अहित, कार्य-अकार्य को नहीं जानता।
१२. मत्तमूढ—जो यक्षावेश, मोहोदय अथवा मद्यपान से उन्मत्त हो जाता है और हित-अहित का विवेक नहीं करता।

* मूढ : दीक्षा के अयोग्य द्र दीक्षा
* मूढ : सम्यक्त्व और वाचना के अयोग्य द्र सम्यक्त्व

मेधावी—अवग्रहण-धारण-पटु। मर्यादा-कुशल।

उग्वहण धारणाए, मेराए चेव होइ मेधावी।
तिविहम्मि अहीकारो, मेरासंजुत्तो मेधावी॥

अवग्रहणमेधावी सूत्रार्थग्रहणपटुप्रज्ञावान्। धारणामेधावी पूर्वाधीतयोः प्रभूतयोरपि सूत्रार्थयोश्चिरमवधारणाबुद्धिमान्। मर्यादामेधावी चरणकरणाप्रवणमतिमान्। मर्यादामेधाविनो ग्रहण-धारणामेधाभ्यां सम्पन्नस्यासम्पन्नस्य वा दातव्यम्, मर्यादाविकलयोरितरयोर्न दातव्यम्। (बृभा ७५९ वृ)

मेधावी के तीन प्रकार हैं—१. अवग्रहणमेधावी—सूत्र और अर्थ का ग्रहण करने वाली पटु प्रज्ञा से सम्पन्न।

२. धारणा मेधावी—पूर्व अधीत विपुल सूत्र और अर्थ को चिरकाल तक धारण करने वाली बुद्धि से सम्पन्न।

३. मर्यादा मेधावी—चरण-करण—आचारविषयक मर्यादा में प्रवण मतिमान्। कल्प, व्यवहार आदि ग्रंथों के अध्ययन के लिए तीनों प्रकारों से संयुक्त मेधावी अधिकृत है। मर्यादाविहीन ग्रहण-धारणामेधावी अयोग्य है। मर्यादामेधावी ग्रहण-धारणामेधा से सम्पन्न हो या असम्पन्न, वह सूत्राध्ययन के योग्य है।

जो मेरा—मर्यादा से संयुक्त है, वह मेधावी है।

मेधा अपूर्वापूर्वऊहणोहात्मको (ऊहापोहात्मको) ज्ञान-विशेषः। (व्यभा ७५८ की वृ)

अपूर्व-अपूर्व ऊहा-अपोहात्मक (विमर्श-निर्णयात्मक) ज्ञान-विशेष को मेधा कहा जाता है।

* मेधा और धारणा बल कैसे ? द्र चिकित्सा
.....धारण, उग्वह सीले सामाचारी॥

धारणा दृढस्मृतिः। बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासंदिग्ध-ध्रुवाणां उग्वहं करेति। अक्कोहणादिणा सीलेण जुत्तो सीलवं। चक्कवालसामाचारीए जुत्तो कुसलो वा।

(निभा २६०९ चू)

मेधावी धारणा-अवग्रह-शील-सामाचारी से युक्त होता है।

- ० धारणा—दृढ स्मृति/चिरस्थायी स्मरणशक्ति से सम्पन्न।
- ० अवग्रह—बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव—मतिज्ञान के इन छह प्रकारों से अवग्रहण में कुशल।
- ० शील—शांति, ऋजुता आदि शीलों से युक्त।
- ० सामाचारी—चक्रवालसामाचारी के पालन में निपुण।

मोक्ष—कर्मबंधन से मुक्त अवस्था। अव्याबाध सुख।

सव्वारंभपरिग्गहणिक्खेवो सव्वभूतसमया य।
एक्कग्गमणसमाहाणया य अह एत्तिओ मोक्खो॥
(बृभा ४५८५)

सर्वआरंभ (हिंसा) और सर्वपरिग्रह से संन्यास, सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के प्रति समता तथा एकाग्र मनसमाधानता—यह इतना मोक्ष है। (हिंसाविरति आदि मोक्ष के उपाय हैं, कारण में कार्य का उपचार कर इन्हें मोक्ष कहा गया है।)

अपासत्थाए अकुसीलयाए अकसाय-अप्पमाए य।
अणिदाणयाइ साहू, संसारमहण्णवं तरइं॥
(दशानि १४३)

साधु अपाश्वस्थता (संविग्नविहार), सुशीलता, निष्कषायता, अप्रमत्तता और अनिदानता से संसार-महासागर को तर जाता है।

* मुक्त होने की साधना द्र अंतकृत
* मोक्ष : साध्य-सिद्धि-क्रम द्र श्रीआको १ मोक्ष

यथालंदकल्प—अप्रमाद की साधना का विशिष्ट उपक्रम ।

.....सुयसंघयणादीओ, सो चेव गमो निरवसेसो ॥

(बृभा १४३९, २०१४)

जिनकल्प में तुलना, श्रुत, संहनन आदि संबंधी जो भी मर्यादा (सामाचारी) है, वही यथालन्दिकों की है। केवल सूत्र, भिक्षाचर्या, मासकल्प और प्रमाण में नानात्व है।

३. प्रतिबद्ध-अप्रतिबद्ध और जिन-स्थविर यथालंदिक पडिबद्धा इअरे वि य, इक्कक्का ते जिणा य थेरा य । अत्थस्स उ देसम्मी, असमत्ते तेसि पडिबद्धो ॥ थेराणं नाणत्तं, अतरत्तं अप्पिणंति गच्छस्स । ते वि य सें फासुएणं, करिंति सव्वं तु पडिकम्मं ॥ एक्केक्कपडिग्गहगा, सप्पाउरणा हवन्ति थेराओ । जे पुण सिं जिणकप्पे, भय तेसिं वत्थ-पायाणि ॥

ये प्रस्तुतकल्पपरिसमाप्तौ जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते जिनाः, ये तु स्थविरकल्पं भूयः समाश्रयिष्यन्ते ते स्थविराः ।तदानीं हि लग्न-योग चन्द्रबलादीनि प्रशस्तानि वर्तन्ते, अन्यानि च प्रशस्तलग्नादीनि दूरकालवर्तीनि, न वा तथा-भव्यानि, ततोऽमी अगृहीतेऽप्यर्थदेशे तं कल्पं प्रतिपद्य गुर्वधिष्ठितक्षेत्राद् बहिर्व्यवस्थिता विशिष्टतरानुष्ठाननिरता अगृहीतमर्थशेषं गृह्णन्ति । (बृभा १४४०-१४४२ वृ)

यथालन्दिक के दो प्रकार हैं—गच्छप्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध । इन दोनों के दो-दो प्रकार हैं—जिन और स्थविर ।

जो प्रस्तुत कल्प की परिसमाप्ति पर जिनकल्प को स्वीकार करेंगे, वे जिन और पुनः स्थविरकल्प को स्वीकार करेंगे, वे स्थविर कहलाते हैं । यथालन्द स्वीकार के पश्चात् जब तक सूत्र के अर्थ का एक देश (भाग) भी गुरु से ग्रहण करना अवशिष्ट रहता है, तब तक वे गच्छ से प्रतिबद्ध रहते हैं । कल्प-ग्रहण के समय में जैसे प्रशस्त लग्न, योग, चन्द्रबल आदि का योग हो, वैसा अन्य योग दूरवर्ती हो या उतना उपयुक्त न हो, तो अगृहीत अर्थदेश की स्थिति में ही उस कल्प को स्वीकार कर गुरु-अधिष्ठित क्षेत्र से बाहर रहते हैं, विशिष्ट अनुष्ठान में निरत हो शेष अर्थ देश को गुरु से ग्रहण करते हैं ।

स्थविरकल्पी यथालंदिक साधुओं में से कोई साधु रुग्ण हो जाता है, रोग को सहन नहीं कर पाता है तो उसे गच्छ को सौंप

१. यथालंदिक कौन ?	
२. यथालंदिक की सामाचारी	
* यथालंदिक का श्रुत, संहनन आदि	द्र जिनकल्प
३. प्रतिबद्ध-अप्रतिबद्ध और जिन-स्थविर यथालंदिक	
o भिक्षाचर्या और मासकल्प	
o गण प्रमाण, पुरुष प्रमाण	
* यथालंदिक की उपधि	द्र उपधि
४. यथालंदिक और क्षेत्रप्रतिलेखना	
* अवग्रह के अधिकारी-अनधिकारी	द्र अवग्रह
५. आचार्य द्वारा यथालंदिक को वाचना	
६. यथालंदिक और कृतिकर्म	

१. यथालंदिक कौन ?

लंदो उ होइ कालो, उक्कोसगलंदचारिणो जम्हा ।.....
तिविहं च अहालंदं, जहन्नयं मज्झिमं च उक्कोसं ।
उदउल्लं च जहण्णं, पणगं पुण होइ उक्कोसं ॥

यावता कालेनोदकारः करः शुष्यति तावान् जघन्यः,
उत्कृष्टः पञ्चरात्रिन्दिवानि, जघन्यादूर्ध्वमुत्कृष्टादर्वाक्
सर्वोऽपि मध्यमः ।.....उत्कृष्टं लन्दं—पञ्चरात्ररूपमेकस्यां
वीथ्यां चरणशीला यस्मात् ततोऽमी, उत्कृष्टलन्दानतिक्रमो
यथालन्दम्, तदस्त्येषाम्, इति व्युत्पत्त्या यथालन्दिका उच्यन्ते ।
(बृभा १४३८, ३३०३ वृ)

‘लन्द’ शब्द काल का वाचक है । उसके तीन प्रकार हैं—
o जघन्य—जितने काल में जल से आर्द्र हाथ सूखता है, उतना काल ।
o उत्कृष्ट—पांच अहोरात्र ।
o मध्यम—जघन्य और उत्कृष्ट का अन्तरालवर्ती काल ।

जो पांच अहोरात्र तक एक वीथी में रहते हैं और वहीं भिक्षाचर्या करते हैं, उत्कृष्ट लंद का अतिक्रमण नहीं करते, वे यथालंदचारी यथालंदिक कहलाते हैं ।

२. यथालन्दिक की सामाचारी

ज च्चेव य जिणकप्पे, मेरा सा च्चेव लंदियाणं पि ।
नाणत्तं पुण सुत्ते, भिक्खायरि मासकप्पे य ॥

दिया जाता है। गच्छवासी प्रासुक आहार आदि से उसकी पूरी सेवा करते हैं। जिनकल्पी यथालन्दिक निष्प्रतिकर्म होते हैं। वे ग्लान होने पर भी चिकित्सा नहीं करवाते।

स्थविरकल्पी यथालन्दिक एक-एक पात्र और वस्त्र रखते हैं। जिनयथालन्दिक के वस्त्र-पात्र की भजना है—

जो पाणिपात्रभोजी और प्रावरणरहित जिनकल्पी होंगे, वे वस्त्र-पात्र नहीं रखते, शेष यथोचित वस्त्र-पात्र ग्रहण करते हैं।

० भिक्षाचर्या और मासकल्प

एक्को वा सवियारो, हवंतऽहालंदियाण छ गमा।
मासो विभज्जमाणो, पणगेण उ निद्धिओ होइ॥
सवियारो त्ति वित्थिन्नो। (बृभा २०२२ चू)

यथालन्दिक मुनि गुरु—अधिष्ठित मूल क्षेत्र से बाहर यदि विस्तीर्ण ग्राम होता है तो उसे छह वीथियों में परिकल्पित कर प्रत्येक वीथि में पांच-पांच दिन भिक्षाटन करते हैं और वहीं रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वीथि में अहोरात्रपंचक द्वारा विभज्यमान मास छह अहोरात्रपंचक में संपूर्ण होता है।

यदि ग्राम विस्तीर्ण नहीं होता है तो मूलक्षेत्र के पार्श्ववर्ती छोटे-छोटे छह ग्रामों में से प्रत्येक में पांच-पांच अहोरात्र पर्यंत पर्यटन करते हुए मासकल्प पूर्ण करते हैं।

० गण प्रमाण, पुरुष प्रमाण

गणमाणओ ज्हन्ना, तिन्नि गण सयगसो य उक्कोसा।
पुरिसपमाणो पनरस, सहस्ससो चेव उक्कोसा॥
पडिवज्जमाणगा वा, एक्कादि हवेज्ज ऊणपक्खेवे।
होति जहन्ना एए, सयगसो चेव उक्कोसा॥
पुव्वपडिवन्नगाण वि, उक्कोस-जहन्नसो परीमाणं।
कोडिपुहुत्तं भणियं, होइ अहालंदियाणं तु॥

.....महाविदेहपञ्चके जघन्यपदवर्तिनः कर्मभूमिपञ्च-
दशके चोत्कर्षपदवर्तिनः कोटिपृथक्त्वस्यामीषां प्राप्य-
माणत्वात्। (बृभा १४४३-१४४५ वृ)

जघन्य तीन गण (एक गण में पांच मुनि) तथा उत्कृष्ट शतपृथक्त्व (दो सौ से नौ सौ) गण एक साथ इस कल्प को स्वीकार कर सकते हैं। पुरुष प्रमाण की अपेक्षा जघन्य पन्द्रह पुरुष और उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व (दो हजार से नौ हजार) व्यक्ति एक साथ इस कल्प को स्वीकार करते हैं।

इस कल्प को स्वीकार करने वाले पुरुषों में भजना भी है। ग्लान होने पर सेवा के लिए साधु गच्छ में चले जाते हैं, इनकी संख्या न्यून हो जाती है, तो पंचकगण की पूर्ति के लिए एक, दो आदि साधु भी इस कल्प को स्वीकार करते हैं।

पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट परिमाण कोटि-पृथक्त्व (दो करोड़ से नौ करोड़) है। पांच महाविदेह में ये जघन्यपदवर्ती तथा पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्कृष्ट पदवर्ती होते हैं।

४. यथालन्दिक और क्षेत्रप्रतिलेखना

सुत्तथपोरिसीओ, अपरिहवंता वयंतऽहालंदी।
शंडिल्ले उवओगं, करिंति रत्तिं वसंति जहिं॥
(बृभा १४७८)

जो यथालन्दिक क्षेत्रप्रत्युपेक्षा के लिए जाते हैं, वे सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी करते हुए दिवस के तीसरे प्रहर में भिक्षाचर्या तथा विहार करते हैं। जहां रात्रिवास करते हैं, वहां कालग्रहण आदि के योग्य स्थंडिल की जानकारी कर लेते हैं। गच्छप्रतिबद्ध यथालन्दिक एक दिशा में दो जाते हैं। (द्र क्षेत्रप्रतिलेखना)

५. आचार्य द्वारा यथालन्दिक को वाचना

सुत्तथ सावसेसे, पडिबंधो तेसिमो भवे कप्पो।
आयरिए किइकम्मं, अंतर बहिया व वसहीए॥
दोन्नि वि दाउं गमणं, धारणाकुसलस्स खेत्तबहि देइ।
किइकम्म चोलपट्टे, ओवग्गहिया निसिज्जा य॥
अत्थं दो व अदाउं, वच्चइ वायावए व अन्नेणं।
एवं ता उडुबद्धे, वासासु य काउमुवओगं॥
संघाडो मग्गेणं, भत्तं पाणं च नेइ उ गुरूणं।
अच्चुणहं थेरा वा, तो अंतरपल्लिए एइ॥
(बृभा २०१५, २०१७-२०१९)

जिनकी सूत्रार्थ की वाचना पूर्ण नहीं हुई है, वे यथालन्दिक गच्छ से प्रतिबद्ध रहते हैं। वे केवल आचार्य को ही वन्दना करते हैं, अन्य साधुओं को नहीं—यह उनका आचार है। आचार्य असमर्थ होने पर मूल क्षेत्र में अथवा वसति के बाहर जाकर उन्हें अर्थ की वाचना देते हैं।

आचार्य गच्छवासी को सूत्र और अर्थ पौरुषी देकर यथालन्दिक के पास जाते हैं और अर्थ की वाचना देते हैं। यदि आचार्य अक्षम हैं तो यथालन्दिकों में जो धारणाकुशल है, वह क्षेत्र के बाहर

अन्तरपल्लिका के निकटवर्ती भूभाग में जाता है। आचार्य वहाँ जाकर उसे वाचना देते हैं। चोलपट्टधारी वह आचार्य को वन्दना कर, औपग्रहिकी निषद्या पर बैठकर अर्थ सुनता है।

यदि आचार्य दोनों पौरुषी में वाचना देकर जाने में समर्थ नहीं हैं, तब अन्य शिष्य से अपने शिष्यों को वाचना दिलवाते हैं, स्वयं यथालन्दिक को वाचना देते हैं। यदि आचार्य जाने में असमर्थ हैं, तब ऋतुबद्धकाल में एक यथालन्दिक वाचना के लिए आचार्य के पास आता है। यदि वर्षाकाल है, तब आने से पहले उपयोग लगाता है कि कहीं वर्षा की संभावना तो नहीं है। वर्षा की संभावना होने पर आचार्य के पास नहीं जाता है।

यथालन्दिक के समीप उपगत गुरु के लिए पीछे से एक संघाटक (मुनिद्वय) आहर-पानी ग्रहण कर वहाँ ले जाता है। जिस समय गुरु यथालन्दिक के उपाश्रय में जाते हैं, उस समय यदि अत्यधिक गर्मी होती है अथवा गुरु वृद्ध होते हैं, तो एक धारणासम्पन्न यथालन्दिक अन्तरपल्लिका में आ जाता है, गुरु भी वहाँ जाकर उसको वाचना देकर, संघाटक द्वारा आनीत आहार कर संध्या के समय मूल क्षेत्र में आ जाते हैं।

६. यथालन्दिक और कृतिकर्म

तस्स जइ किइकम्मं, करिंति सो पुण न तेसि पकरेइ।
जा पढइ ताव गुरुणो, करेइ न करेइ उ परेणं॥
(बृभा २०२१)

गच्छवासी यथालन्दिक को वन्दना करते हैं। लेकिन यथालन्दिक पर्यायज्येष्ठ गच्छवासी साधुओं को वन्दना नहीं करता। वह वाचना लेता है, तब तक आचार्य को वन्दना करता है, उसके बाद आचार्य को भी वन्दना नहीं करता—यह उसका आचार है।

युद्ध—संग्राम।

महाशिलाकण्टक और रथमुसल संग्राम

संगामदुगं महसिलरधमुसल चव परूवणा तस्स।
असुरसुरिंदावरणं, चेडग एगो गह सरस्स॥
महसिल कंटे तहियं, वट्टंते कूणिओ उ रधिणं।
रुक्खगविलगेणं, पट्टे पहतो उ कणगेणं॥
उप्फिट्तुं सो कणगो, कवयावरणम्मि तो ततो पडितो।
तो तस्स कूणिणं, छिन्नं सीसं खुरप्पेणं॥
(व्यभा ४३६३-४३६५)

राजा चेटक और कूणिक के बीच दो युद्ध हुए—महाशिलाकण्टक और रथमुसल। इनका निरूपण व्याख्याप्रज्ञप्ति (७/१७३-२१०) में है। असुरेन्द्र चमर और देवेन्द्र शक्र ने दोनों युद्धों में कूणिक का पूर्ण सहयोग किया। शक्र ने उसे वज्रमय कवच प्रदान किया। नृप चेटक अपनी कृत प्रतिज्ञा के कारण युद्ध में एक दिन में एक बाण चलाते थे। महाशिलाकण्टक संग्राम में चेटक के सारथि ने वृक्ष पर चढ़कर कणग (बाण) से कूणिक की पीठ पर प्रहार किया। वह बाण कवच से टकराकर गिर गया। कूणिक ने क्रोधवेश में क्षुरप्र से सारथि का सिर छिन्न कर डाला।

(महाशिलाकण्टक संग्राम—इस संग्राम के पुरोभाग में देवेन्द्र शक्र एक महान् वज्रतुल्य अभेद्य कवच का निर्माण कर उपस्थित है। राजा कूणिक ने महाशिलाकण्टक संग्राम लड़ते हुए नौ मल्ल और नौ लिच्छवी—काशी-कौशल के अठारह गणराजों को हत-प्रहत कर दिया। वहाँ विद्यमान अश्व, हाथी, योद्धा अथवा सारथि पर तृण, काष्ठ, पत्र अथवा कंकर का प्रहार किया जाता, तब वे सब अनुभव करते कि उन पर महाशिला से प्रहार किया जा रहा है। इस संग्राम में चौरासी लाख मनुष्य मारे गए। वे मरकर प्रायः नरक और तिर्यक् योनि में उत्पन्न हुए।

रथमुसल संग्राम—इस संग्राम के पुरोभाग में देवेन्द्र शक्र एक महान् वज्रतुल्य अभेद्य कवच का निर्माण कर उपस्थित है। उसके पृष्ठभाग में असुरेन्द्र चमर एक महान् लोह का तापस-पात्र-तुल्य पात्र निर्मित कर उपस्थित है। राजा कूणिक ने रथमुसल संग्राम लड़ते हुए नौ मल्ल और नौ लिच्छवी—काशी-कौशल के अठारह गणराजों को हत-प्रहत कर दिया। उस समय एक रथ, जिसमें घोड़े जुते हुए नहीं थे, कोई सारथि उसे चला नहीं रहा था, जिसमें कोई योद्धा नहीं बैठा था, उसमें एक मुसल था। उस मुसल से युक्त रथ योद्धाओं का वध करता हुआ, उनके लिए प्रलयपात के समान बना हुआ, युद्धभूमि पर रक्त का कीचड़ फैलाता हुआ चारों तरफ दौड़ रहा था। रथमुसल संग्राम में छियानवे लाख मनुष्य मारे गए। उनमें से दस हजार मनुष्य एक मछली की कुक्षि में उत्पन्न हुए। एक (नागनप्तृक वरुण) देवलोक में उत्पन्न हुआ। एक (नागनप्तृक वरुण का मित्र) अच्छे मनुष्यकुल में उत्पन्न हुआ। शेष सब नरक और तिर्यक् योनि में उत्पन्न हुए।

कार्तिक सेठ की अवस्था में कूणिक का जीव शक्र का मित्र

था। पूरण तापस के जीवनकाल में कूणिक का जीव तापस-पर्याय में था और वह पूरण तापस का मित्र था, इसलिए देवेन्द्र शक्र और असुरेन्द्र चमर ने राजा कूणिक को साहाय्य दिया।

दोनों युद्धों में कुल मिलाकर एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मारे गए।—द्र भ ७/१७३-२१० वृ

चेटक ने अपने देवप्रदत्त बाण से दस दिनों में कोणिक के दस भाइयों को मार डाला। दुःखी कोणिक ने विवश होकर त्रिदिवसीय अनुष्ठान द्वारा सौधर्मेन्द्र और चमरेन्द्र की आराधना की, तब अपना पूर्व साधर्मिक जानकर चमर ने महाशिलाकंटक रण और रथमुसल नामक रण प्रदान किया। महाशिलाकंटक युद्ध में फेंका गया एक कंकर भी शिला जैसा प्रहार करता था और कंटक भी शस्त्र बन जाता था।—उप्रा १ वृ प ३३)

* युद्ध और वैद्य

द्र चिकित्सा

राज्य—राजा/शासक द्वारा शासित क्षेत्र, शासन।

१. राज्य के पांच आधार : राजा, वैद्य.....

२. राजा की अर्हता

० राजा व्यसनमुक्त हो

० राजाओं की ऋद्धि

० राजा के प्रकार

* राजा के प्रकार और राजपिण्ड

द्र कल्पस्थिति

० राजा के चार विकल्प

* राजा का अवग्रह

द्र अवग्रह

* सापेक्ष-निरपेक्ष राजा : मूलदेव दृष्टांत

द्र आचार्य

* वैद्य का स्वरूप

द्र चिकित्सा

० धनवान, नैयतिक, रूपयक्ष

* राजाज्ञा भंग का परिणाम : चन्द्रगुप्त.....

द्र आज्ञा

* राजा सम्प्रति और आर्यक्षेत्र

द्र आर्यक्षेत्र

* संघप्रभावक राजा सम्प्रति

द्र संघ

३. युवराज, महत्तरक, अमात्य

० गुप्तचर के प्रकार

० कुमार

४. प्रग्रहस्थान : राजा आदि, आचार्य आदि

५. आरक्षकवर्ग

० अन्य कर्मकर, दासीवर्ग

६. अंतःपुर और उसके रक्षक

* युद्ध : महाशिलाकण्टक-रथमुसल संग्राम

द्र युद्ध

७. राजा की छह प्रकार की शालाएं

८. विभिन्नभक्त : कान्तारभक्त, ग्लानभक्त आदि

* नानाविध नाणक

द्र मुद्रा

९. राज्यकर

१०. चक्रवर्ती और राजधानियां

० चक्रवर्ती आदि के भवनों की ऊंचाई

११. परिक्षेप के प्रकार : द्रव्य.....भाव

१२. वैराज्य-विरुद्ध राज्य : निर्वचन एवं स्वरूप

* मुनि के लिए वैराज्यगमन निषेध

द्र विहार

१३. वैराज्यगमन-निषेध क्यों ?

० वैराज्यगमन के अपवाद

० राज्यनिर्गमन-वैराज्यप्रवेश-विधि

१४. राज्य में होने वाले उत्सव

* लोकोत्तर पर्व : संवत्सरी

द्र पर्युषणाकल्प

१. राज्य के पांच आधार : राजा, वैद्य.....

तत्थ न कप्पति वासो, आधारा जत्थ नत्थि पंच इमे।
राया वेज्जो धणिमं, नेवइया रूवजक्खा य॥
दविणस्स जीवियस्स व, वाघातो होज्ज जत्थ णत्थेते।
वाघाते चेगतरस्स, दव्वसंघाडणा अफला॥
रण्णा जुवरण्णा वा, महयरग अमच्च तह कुमारेहिं।
एतेहिं परिग्गहितं, वसेज्ज रज्जं गुणविसालं॥
रूपयक्षा धर्मपाठकाः। (व्यभा ९२४-९२६ वृ)

जनता के सुव्यवस्थित जीवन के लिए पांच व्यक्ति आधारभूत होते हैं—राजा, वैद्य, धनवान्, नैयतिक और रूपयक्ष—धर्मपाठक। जहां ये न हों, वहां नहीं रहना चाहिए क्योंकि वहां धन और जीवन की हानि होती है। धन और जीवन में से एक का भी व्याघात होने पर धनोपार्जन व्यर्थ है।

राजा, युवराज, महत्तरक, अमात्य और कुमार—इन पांचों से परिगृहीत और गुणों से विशाल राज्य में वास करना चाहिए।

२. राजा की अर्हता

उभओ जोणीसुद्धो, राया दसभागमेत्तसंतुट्ठो।
लोगे वेदे समए, कतागमो धम्मिओ राया॥

पंचविधे कामगुणे, साहीणे भुंजते निरुव्विग्गे।
वावारविप्पमुक्को, राया एतारिसो होति ॥
(व्यभा ९२७, ९२८)

राजा की सात अर्हताएं हैं—

- ० मातृपक्ष और पितृपक्ष—योनिद्वय से परिशुद्ध।
- ० प्रजा से दसवां हिस्सा कर लेकर संतुष्ट होने वाला।
- ० लौकिक आचार, समस्त धर्मदर्शनों और नीतिशास्त्र का ज्ञाता।
- ० धर्म के प्रति दृढ़ आस्था रखने वाला।
- ० शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श—इन पंचविध स्वाधीन—स्वोपार्जित कामगुणों का उपभोक्ता।
- ० उद्विग्नता से रहित।
- ० राज्यव्यवस्था सुचारु होने के कारण उसकी चिन्ता से मुक्त।
- ० राजा व्यसनमुक्त हो

सत्तण्हं वसणाणं, अन्नयरजुतो न जाणई रज्जं।
अंतेउरे व अच्छइ, कज्जाईं सयं न सीलेइ ॥
इत्थी जूयं मज्जं, मिगव्व वयणे तहा फरुसया य।
दंडफरुसत्तमत्थस्स, दूसणं सत्त वसणाईं ॥
(बृभा ९३९, ९४०)

जो सात व्यसनों में से किसी एक से भी युक्त है, वह राज्यसंचालन नहीं कर सकता। वह अन्तःपुर में रहता है और न्याय आदि कार्यों को स्वयं नहीं देखता। सात व्यसन ये हैं—

१. स्त्री—सदा अंतःपुर की स्त्रियों में आसक्त।
२. द्यूत—अनवरत द्यूत-क्रीड़ा में निमग्न।
३. मद्य—मद्यपान से निरन्तर मूर्च्छित।
४. मृगया—शिकार में रत।
५. वचनपरुषता—कठोर वचन बोलने का आदी।
६. दंडपारुष्य—उग्र दण्ड देने में प्रवर्तित।
७. अर्थदूषण—अर्थोत्पत्ति के उपायों को दूषित करने वाला।

० राजाओं की ऋद्धि

अइयाणं णिज्जाणं, बलवाहणकोसमेव संठाणं (कोठारं) ।.....
.....संठाणं वण्ण नेवत्थं ॥
.....कोसमेव कोट्टुगारं चउत्थो भेओ। केपि एयं
पढंति—कोसमेव संठाणं। (निभा १२८, १२९ चू)

राजाओं की ऋद्धि चार प्रकार की होती थी—

१. अतियान ऋद्धि २. निर्याण ऋद्धि ३. सेना और वाहन ४. कोष और कोष्ठागार की ऋद्धि। कई कोठार के स्थान पर संठाण (संस्थान) शब्द पढ़ते हैं, जिसका अर्थ है—वर्ण और नेपथ्य।

(० अतियानऋद्धि—इसका अर्थ है नगर-प्रवेश के समय की जाने वाली सजावट। जब राजा आदि नगर में आते थे, उस समय नगर के तोरणद्वार सज्जित किए जाते थे, दुकानें सजाई जाती थीं और राजपथ पर हजारों आदमी एकत्रित होते थे।

० निर्याणऋद्धि—इसका अर्थ है नगर से निर्गमन के समय साथ चलने वाला वैभव। जब राजा आदि विशिष्ट व्यक्ति नगर से निर्गमन करते थे, उस समय हाथी, सामन्त, परिवार आदि के लोग उनके साथ चलते थे।—स्था ३/५०३ वृ

राजकथा के चार प्रकार हैं—१. अतियान कथा २. निर्याण कथा ३. सेना-वाहन कथा ४. कोश-कोष्ठागार कथा।—स्था ४/२४५)

० राजा के दो प्रकार, चार विकल्प

अधवा राया दुविधो, आतभिसित्तो पराभिसित्तो य।
आतभिसित्तो भरहो, तस्स उ पुत्तो परेणं तु ॥
बलवाहणकोसा या, बुद्धी उप्पत्तिघाइया।
साधगो उभयोवेत्तो, सेसा तिण्णिण असाधगा ॥
बलवाहणत्थहीणो, बुद्धीहीणो न रक्खते रज्जं ।.....
(व्यभा २४०८-२४१०)

राजा के दो प्रकार हैं—१. आत्माभिषिक्त—जैसे—भरत चक्रवर्ती। २. पराभिषिक्त—जैसे—भरतपुत्र आदित्ययश।

राजा के चार विकल्प हैं—

१. सेना आदि से युक्त, बुद्धिसम्पन्न।
२. सेना आदि से युक्त, बुद्धि से हीन।
३. सेना आदि से रहित, बुद्धिसम्पन्न।
४. सेना आदि से रहित, बुद्धि से हीन।

जो राजा सेना, वाहन, कोश और औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों से सम्पन्न होता है, वह राज्य के लिए कल्याणकारक होता है। बल, वाहन, अर्थ (कोश) और बुद्धि से हीन राजा राज्य की सुरक्षा नहीं कर सकता।

० धनवान, नैयतिक, रूपयक्ष

कोडिगसो हिरण्णं, मणि-मुत्त-सिल-प्यवाल-रयणाइं ।
अञ्जय-पिउ-पञ्जागय, एरिसया होति धणमंता ॥
सणसत्तरमादीणं, धन्नाणं कुंभकोडिकेडीओ ।
जेसिं तु भोयणद्वा, एरिसया होति नेवतिया ॥
भंभीय मासुरुक्खे, माढरकोडिण्णदंडनीतीसु ।
अधऽलंचऽपक्खगाही, एरिसया रूवजक्खा तु ॥

रूपयक्षाः मूर्तिमन्तो धर्मैकनिष्ठा देवा इत्यर्थः ।

(व्यभा ९५०-९५२ वृ)

जिनके पास पिता-दादा-परदादा से प्राप्त कोटि-परिमाण में सोना-चांदी, मणि (चन्द्रकान्त आदि), मुक्ता, शिला, प्रवाल और रत्न (कर्केतन आदि) हों, वे धनवान हैं ।

जिनके घरों में भोजन के लिए सण आदि सतरह प्रकार के धान्यों की कुम्भकोटिकोटियां (विपुल कोष्ठागार) हों, वे नैयतिक हैं । (सत्रह प्रकार के धान्य ये हैं—शालि, यव, कोद्रव, प्रीहि, रालक, तिल, मूंग, उड़द, चवला, चना, तुवरी, मसूर, कुलत्थ, गेहूं, निष्पाव, अतसी और सन ।)

जो भंभी, आसुरुक्ष, माठर और कोण्डिन्य (कौटिल्य) द्वारा प्रणीत दण्डनीतियों में कुशल होते हैं, रिश्वत नहीं लेते, यह मेरा अपना है—ऐसा सोचकर जो पक्षपात नहीं करते, वे रूपयक्ष/धर्म-पाठक/मूर्तिमान् धर्मैकनिष्ठ देव हैं ।

३. युवराज, महत्तरक, अमात्य

आवस्सयाइ काउं, जो पुव्वाइं तु निरवसेसाइं ।
अत्थाणी मज्झगतो, पेच्छति कज्जाइं जुवराया ॥
गंभीरो महवितो, कुसलो जो जातिविणयसंपन्नो ।
जुवरण्णाए सहितो, पेच्छइ कज्जाइ महतरओ ॥
सजणवयं च पुरवरं, चिंतंतो अच्छइं नरवतिं च ।
ववहारनीतिकुसलो, अमच्चो एयारिसो अधवा ॥

“यो राज्ञोऽपि शिक्षां प्रयच्छति । (व्यभा ९२९-९३१ वृ)

जो प्रातः उठकर सर्वप्रथम देहचिन्ता, देवपूजा आदि समस्त आवश्यक कार्यों को सम्पन्न कर आस्थानिका (राज्यसभा) में बैठकर राज्यव्यवस्था सम्बन्धी कार्यों को देखता है, चिन्तन-विमर्श करता है, वह युवराज है ।

जो गम्भीर, मृदु, नीतिविशारद, जातिसम्पन्न और विनय-सम्पन्न होता है तथा युवराज के साथ मिलकर जो राज्यकार्यों को सम्पादित करता है, वह महत्तरक है ।

जो जनपदसहित पुर एवं राजा की चिन्ता करता है, व्यवहार-कुशल और नीतिनिपुण होता है तथा जो समय पर राजा को भी शिक्षा देता है, वह अमात्य (मंत्री) है ।

० गुप्तचर के प्रकार

सूयग तहाणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ।
पुरिसा कतवित्तीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥
सूयिग तहाणुसूयिग, पडिसूयिग सव्वसूयिगा चेव ।
महिला कयवित्तीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥
.....सामंतनगरेसु ॥.....नियगम्मि रज्जम्मि ॥
.....नियगम्मि नगरम्मि ॥.....अंतेउरे रण्णो ॥
(व्यभा ९३८-९४०, ९४२, ९४४, ९४६)

गुप्तचरों में पुरुष और स्त्री दोनों होते थे, जिनकी नियुक्ति अमात्य करता था । उन्हें उचित वेतन मिलता था । वे पड़ौसी राज्य और नगर, अपने राज्य-नगर एवं अन्तःपुर में रहते थे ।

गुप्तचर (चारपुरुष) के चार प्रकार हैं—सूचक, अनुसूचक, प्रतिसूचक और सर्वसूचक । गुप्तचरस्त्री के चार प्रकार हैं—सूचिका, अनुसूचिका, परिसूचिका और सर्वसूचिका ।

१. सूचक पड़ौसी राज्यों में जाकर अन्तःपुरपालक के साथ मैत्री कर वहां के सारे रहस्यों को जान लेते थे ।

२. अनुसूचक नगर के अन्दर की गुप्त बातों को ज्ञात करते थे ।

३. प्रतिसूचक नगरद्वार के समीप अवस्थित होकर पड़ौसी राज्य से आने-जाने वाले शत्रु की घात में रहते थे ।

४. सर्वसूचक अपने नगर में बार-बार आते-जाते रहते थे ।

(इन गुप्तचरों का आपस में गहरा संबंध रहता था । सूचक जो कुछ भी नयी बात सुनते या देखते, वे अनुसूचक को, अनुसूचक प्रतिसूचक को तथा प्रतिसूचक सारे वृत्तान्त के साथ-साथ स्वयं द्वारा गृहीत तथ्य भी सर्वसूचक को बता देते और फिर सर्वसूचक अमात्य तक सारा रहस्य पहुंचा देते ।)

० कुमार

पच्चंते खुब्भंते, दुहंते सव्वतो दमेमाणो ।
संगामनीतिकुसलो, कुमार एतारिसो होति ॥
(व्यभा ९४८)

सीमापर्यंतवर्ती प्रजा को क्षुब्ध करने वाला, दुर्दान्त का दमन करने वाला तथा रणनीति में कुशल—ऐसा होता है कुमार।

४. प्रग्रहस्थान : राजा आदि, आचार्य आदि

पगगह लोइय इतरे, एक्केक्को तत्थ होइ पंचविहो ।
राय-जुवरायऽमच्चे, सेट्टी पुरोहिय लोगम्मि ॥
आयरिय उवज्झाए, पवत्ति-थेरे तहेव गणवच्छे ।
एसो लोगुत्तरिओ, पंचविहो पगगहो होति ॥

प्रकर्षेण प्रधानतया वा गृह्यते उपादीयते इति प्रग्रहः
प्रभूतजनमान्यः प्रधानपुरुषः । (व्यभा २१६, २१७ वृ)

जो प्रकृष्टरूप से अथवा प्रधानरूप से ग्रहण किया जाता है,
जो बहुजनमान्य तथा मुख्य होता है, वह प्रग्रह कहलाता है।

प्रग्रह के दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तर। प्रत्येक के
पांच-पांच प्रकार हैं। लौकिक प्रग्रह के पांच प्रकार हैं—१. राजा।
२. युवराज। ३. अमात्य—राजकार्यचिन्ताकृत्। ४. श्रेष्ठी।
५. पुरोहित—शांति-कर्मकारी।

लोकोत्तरप्रग्रह के पांच प्रकार हैं—१. आचार्य २. उपाध्याय
३. प्रवर्तक ४. स्थविर और ५. गणावच्छेदक।

रायामच्च पुरोहिय, सेट्टी सेणावती य लोगम्मि ।.....
(निभा ६२९९)

पगगहट्टाणं पंचविधं, तं जथा—राया जुवराया सेणा-
वती महत्तरो कुमारऽमच्चो उ । (दशानि १० की चू)

लोक में प्रग्रहस्थान पांच हैं—राजा, अमात्य, पुरोहित,
श्रेष्ठी और सेनापति अथवा राजा, युवराज, सेनापति, महत्तर और
कुमार-अमात्य।

रायाऽमच्चे सेट्टी, पुरोहिते सत्थवाहपुत्ते य ।.....
.....अट्टारसण्ह पगतीणं जो महत्तरो सेट्टी, सपुरजण-
वयस्स रण्णो जो होमजावादिएहिं असिवादि पसमेति सो
पुरोहितो, जो.....सत्थं वाहेति सो सत्थवाहो ।

(निभा १७३५ चू)

राजा, मंत्री, श्रेष्ठी, पुरोहित और सार्थवाहपुत्र महर्द्धिक हैं।

० श्रेष्ठी—अठारह श्रेणियों में महत्तर।

० पुरोहित—पुर-जनपदसहित राजा के अशिव आदि उपद्रवों का
यज्ञ, जप आदि के माध्यम से शमन करने वाला।

० सार्थवाह—सार्थ का नायक। (द्र सार्थवाह)

ईसर-तलवर-माडंबिहिं सेट्टीहिं सत्थवाहेहिं ।.....
ईसरभोइयमादी, तलवरपट्टेण तलवरो होइ ।
वेंटणबद्धो सेट्टी, पच्चंतणिवो तु माडंबी ॥

ऐश्वर्येण युक्तः ईश्वरः, सो य गामभोतियादिपट्टबंधो ।
रायप्रतिमो चामरविरहितो तलवरो भण्णति । जम्मि य पट्टे सिरिया
देवी कज्जति तं वेंटणगं, तं जस्स रण्णा अणुन्नातं सो सेट्टी
भण्णति । (निभा २५०२, २५०३ चू)

मडम्बं नाम यत् 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु छिन्नम् अर्द्ध-
तृतीयगव्यूतमर्यादायामविद्यमानग्रामादिकमिति भावः । अन्ये
तु व्याचक्षते—यस्य पार्श्वतोऽर्द्धतृतीययोजनान्तर्ग्रामादिकं न
प्राप्यते तद् मडम्बम् । (बृभा १०८९ की वृ)

० ईश्वर—ऐश्वर्ययुक्त व्यक्ति। ग्राम का पट्टधारक अधिपति।
० तलवर—तलवरपट्टभूषित। राजा के समान ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्ति,
केवल उसके पास चामर नहीं होता है।

० माडंबिक—मडंब का अधिपति। जो सब दिशाओं में छिन्न हो,
जिसके आसपास ढाई गव्यूत अथवा ढाई योजन तक कोई ग्राम
आदि न हो, वह स्थान मडंब कहलाता है।

श्रेष्ठी—राजा द्वारा जिसे श्रीदेवी के चिह्न से अंकित शिरोवेष्टन की
अनुज्ञा प्राप्त हो।

सार्थवाह—सार्थ का अधिपति।

(० राजा—जो नम्रीभूत अठारह श्रेणियों का अधिपति हो, मुकुट
को धारण करने वाला हो और सेवा करने वालों के लिए कल्पतरु
के समान हो, उसे राजा कहा गया है। अठारह श्रेणियां ये हैं—
घोड़ा, हाथी और रथ के अधिपति, सेनापति, मंत्री, श्रेष्ठी, दण्डपति,
शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, महत्तर, गणराज, अमात्य, तलवर,
पुरोहित, स्वाभिमानी महामात्य और पैदल सेना।—षट्खण्डागम,
धवला १/१, १, १, गा ३६-३८/५७

० सेनापति—हाथी, घोड़ा, रथ और पदाति—इस चतुरंगिणी सेना
का अधिपति।—अनु १९ टि

- ० तलवार—राजा प्रसन्न होकर जिसके सिर पर रत्नखचित सोने का फट्ट बांधता है।—अनु १९ टि
- ० ईश्वर—युवराज। अमात्य। मांडलिक। अणिमा आदि आठ लब्धियों से युक्त।—स्था ९/६२ टि
- ० श्रेष्ठी—वणिक्—ग्राम का महत्तर।—दचूला १/५ वृ)

५. आरक्षकवर्ग

.....रायारक्खियं...।।...णगरारक्खियं...।।...णिगमारक्खियं
...।।...देसारक्खियं...।।...सव्वत्तरक्खियं...।।...सीमारक्खियं.....।।
रायारक्खिओ-सिरोरक्षः.....णगररक्खिओ कोडुपालो।
सव्वपगइओ जो रक्खति णिगमारक्खिओ, सो सेट्ठी।।...
देसारक्खिओ, चोरोद्धरणिक्कः। एताणि सव्वाणि जो रक्खति
सो सव्वारक्खिओ, एतेषु सर्वकार्येषु आपृच्छनीयः स च
महाबलाधिकतेत्यर्थः। (नि ४/२-६, ४१ चू)

.....गोमिया दंडवासिया....। (निभा १५५५ की चू)

आरक्खि दंडवासिओ.....चोरचारियं ति या णाऊणं.....।
(निभा ३०७९ की चू)

राज्य की रक्षा करने वाले आरक्षक सात प्रकार के हैं—

- ० राजा आरक्षक—अंगरक्षक/शिरोरक्ष।
- ० नगर आरक्षक—कोतवाल।
- ० निगम आरक्षक—प्रजा की रक्षा करने वाला महापौर (मेयर)/श्रेष्ठी।
- ० देश आरक्षक—देशरक्षक, चोरों से उद्धार करने वाला।
- ० सर्व आरक्षक—सेनापति। नगर, निगम आदि सबकी रक्षा करने वाला। रक्षा संबंधी सब कार्यों में उससे परामर्श लिया जाता था। सेना में वरिष्ठ होने के कारण उसे महाबलाधिकृत कहा जाता था।
- ० सीमा आरक्षक—राज्यसीमा की रक्षा करने वाला।
- ० आरक्षक—दंडपाशिक, गौल्मिक (कोतवाल), रात्रि में बाहर घूमने वाले चोर, गुप्तचर आदि को पकड़ कर राजा के समक्ष उपस्थित करने वाला।
- ० अन्य कर्मकर, दासीवर्ग

.....सत्थाहाण वा संवाहाण वा अब्भंगाण वा उव्वट्टाण
वा मज्जावयाण वा मंडावयाण वा छत्तग्गहाण वा चामर-
ग्गहाण वा हडप्पग्गहाण वा परियट्टग्गहाण वा दीवियग्ग-

हाण वा असिग्गहाण वा धणुग्गहाण वा सत्तिग्गहाण वा
कोत्तग्गहाण वा ॥ (नि ९/२६७)

राजा के अधीनस्थ अनेक प्रकार के कर्मकर/अधिकारी होते थे। जैसे—शास्त्रवाहक या शास्त्रवाचक—राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि राज्यशास्त्रों का कथन करने वाले, संबाधक—पगचंपी करने वाले, अभ्यंगन—उबटन करने वाले, स्नान कराने वाले, मंडन करने वाले, छत्र-चामर वहन करने वाले, आभरण-मंजूषा रखने वाले, परिवर्तनवस्त्रगृह, दीपिकाग्रह (पिंजरे में तित्तिर रखने वाले), तलवार, धनुष, शक्ति और भाला धारण करने वाले।

.....चिलाइयाण वा.....बब्बरीण वा पउसीण वा जोणि-
याण वा पल्हवियाण वा ईसिणीण वा थारुगिणीण वा
लासीण वा लउसीण वा सिंहलीण वा दमिलीण वा
आरबीण वा पुलिंदीण वा पक्कणीण वा बहलीण वा
मरुंडीण वा सबरीण वा पारसीण वा..... ॥ (नि ९/२९)

प्रस्तुत सूत्र में विभिन्न देशों की दासियों का उल्लेख है—किरातिका (किरात नामक देश में उत्पन्न), बर्बरी, बकुसी, योनिका, पल्हविका (पल्हविक देश की), ईशानिका, थारुकिनिका, ल्हासिका (ल्हासक देश की), लउसिया (लाओसिया/लकुस देश की), सिंहली (सिंहल देश की), द्रविड देश की, आरबी (अरब देश की), पुलिन्दी (पुलिंद देश की), पक्कणी (पक्कण देश की), बहली (बहल देश की), मुरुंडी (मुरुंड देश की), शबरी (शबर देश की), पारसी (पारस देश की)।

६. अंतःपुर और उसके रक्षक

अंतेउरं च तिविधं, जुण्ण णवं चेव कण्णगाणं च।
एक्केक्कं पि य दुविधं, सट्टाणे चेव परठाणे ॥
दंडधरो दंडारक्खिओ उ दोवारिया उ दारिड्ढा।
वरिसधर-बद्ध-चिप्पित्त, कंचुगिपुरिसा तु महतरगा ॥
(निभा २५१३, २५१६)

राजा का अंतःपुर तीन प्रकार का होता था—

१. जीर्ण अंतःपुर—अपरिभोग्या वृद्धा रानियों का अंतःपुर।
२. नव अंतःपुर—परिभोग्या युवा रानियों का अंतःपुर।
३. कन्या अंतःपुर—अप्राप्तयौवना राजकन्याओं का अंतःपुर।

क्षेत्र की दृष्टि से अंतःपुर के दो प्रकार हैं—स्वस्थान—राजभवनस्थित अंतःपुर और घरस्थान—वसंतोत्सव आदि के समय उद्यानिकागत अंतःपुर।

अंतःपुर में पांच प्रकार के रक्षक राजा द्वारा नियुक्त किए जाते थे—

१. दंडरक्षक—हाथ में दण्ड धारण किए हुए अंतःपुर की रक्षा करने वाला। राजा की आज्ञा से स्त्री अथवा पुरुष को अंतःपुर में प्रवेश दिलाने और बाहर लाने का कार्य करने वाला।

२. द्वारपाल—अंतःपुर के द्वार पर स्थित होकर रक्षा करने वाला।

३. वर्षधर (कृतनपुंसकविशेष)। बद्धित और चिपित इसी के दो प्रकार हैं। ये अंतःपुर के भीतर रहकर रक्षा कार्य करते थे।

४. कंचुकी—राजा की आज्ञा को अंतःपुर तक और अंतःपुर की आज्ञा को राजा तक पहुंचाने वाला प्रतिहारी।

५. महत्तरक—इसके कार्य हैं—रानियों को राजा के पास ले जाना, उनके क्रोध को शांत करना और क्रोध के कारणों को राजा को बताना आदि। (महत्तरिका राहस्यिकी परिषद्—३ परिषद्)

७. छह प्रकार की शालाएं

रणणो...इमाइं छद्दोसाययणाइं...तं जहा—कोडागार-सालाणि वा भंडागारसालाणि वा पाणसालाणि वा खीर-सालाणि वा गंजसालाणि वा महाणससालाणि वा। (नि ९/७)

राजकुल में खाद्यसंबंधी छह शालाएं होती थीं—

१. कोष्ठागारशाला—धान्य रखने का स्थान।
२. भांडागारशाला—सोने, चांदी आदि के बर्तनों का स्थान।
३. पानशाला—पानी, सुरा आदि रखने का स्थान।
४. क्षीरशाला—दूध, दही आदि की शाला।
५. गंजशाला—धान्य कूटने का स्थान।
६. महानसशाला—रसोईघर, पाकशाला।

ये स्थान साधु के प्रवेश के लिए दोषायतन हैं।

८. विभिन्न भक्त : कांतारभक्त, ग्लानभक्त आदि

....दोवारियभक्तं वा पसुभक्तं वा भयगभक्तं वा बलभक्तं वा कयगभक्तं वा कंतारभक्तं वा दुम्भिवस्त्रभक्तं वा दमगभक्तं वा गिलाणभक्तं वा बहलियाभक्तं वा पाहुणभक्तं वा....॥

....सत्ताहवद्वले पडंते भक्तं करेति राया, अपुव्वाणं वा

अतिधीण भक्तं करेति राया।.....रणणो कोति पाहुणगो आगतो तस्स भक्तं आदेसभक्तं। आरोग्गसालाए वा विणावि आरोग्ग-सालाए जं गिलाणस्स दिज्जति तं गिलाणभक्तं। (नि ९/६ चू)

राजकुल में अनेक प्रकार के व्यक्तियों के लिए भोजन बनता था। यथा—द्वारपालभक्त, पशुभक्त, भृतकभक्त, बल (सेना) भक्त, दासभक्त, कांतारभक्त, दुर्भिक्षभक्त, द्रमकभक्त, ग्लानभक्त, बार्दलिकाभक्त और प्राधूर्णकभक्त।

० कांतारभक्त—अटवीनिर्गत यात्रियों के लिए बनाया गया भोजन।

० दुर्भिक्षभक्त—भयंकर दुष्काल होने पर राजा तथा अन्य धनाढ्य व्यक्तियों द्वारा बुभुक्षितों के लिए बनाया गया भोजन।

० द्रमकभक्त—दीन-गरीबों के लिए बना भोजन।

० ग्लानभक्त—आरोग्यशाला में अथवा आरोग्यशाला के बिना भी सामान्यतः रोगी को दिया जाने वाला भोजन।

० बार्दलिकाभक्त—सात दिनों तक वर्षा पड़ने पर राजा द्वारा भिक्षुओं के निमित्त बनाया गया भोजन।

० प्राधूर्णकभक्त—आदेशभक्त, अपूर्व अतिथि अथवा राजा के मेहमान के लिए कृत भोजन।

(कान्तारभक्त—अटवी में मुनि के निर्वाह के लिए बनाया गया भोजन। प्राचीनकाल में मुनियों का गमनागमन सार्धवाहों के साथ-साथ होता था। कभी वे अटवी में साधु पर दया लाकर उनके लिए भोजन बना देते थे। इसे कान्तारभक्त कहा जाता है।

बार्दलिकाभक्त—आकाश में बादल छाए हुए हैं। वर्षा गिर रही है। ऐसे समय में भिक्षु भिक्षा के लिए नहीं जा सकते। यह सोचकर गृहस्थ उनके लिए विशेषतः भोजन का निर्माण करता है। यह बार्दलिकाभक्त कहलाता है।—स्था ९/६२ का टिप्पण)

९. राज्यकर

.....वीसतिभागं सुकं॥ (व्यभा ४५५)

....राया दसभागमेत्तसंतुदो।... (व्यभा ९२७)

गम्यः शास्त्रप्रसिद्धानामष्टादशानां करणामिति ग्रामः।... (व्यभा ९३६ की वृ)

नत्थेत्थ करो नगरं।... (वृभा १०८९)

० सामान ले जाने वाले पर बीस प्रतिशत चुंगीकर लगता था।

- ० राजा प्रजा से दस प्रतिशत कर लेकर संतुष्ट हो जाता था।
- ० गांव में १८ प्रकार के कर लगते थे।
- ० नगर कर से मुक्त होता था।

भीताइ करभयस्सा, अंतो बाहिं व होज्ज एगपया।१.....
(व्यभा ३७२१)

अनेक लोग एक साथ मिलकर चुल्ली-कर के भय से एक ही चूल्हे पर अपना खाना पकाते थे।

१०. चक्रवर्ती और राजधानियां

.....वसइ.....रायहाणि जहिं राया।.....
(बृभा १०९१)

जहां राजा वास करता है, वह राजधानी है।

...दस अभिसेयाओ रायहाणीओ...तं जहा—चंपा
महुरा वाराणसी सावत्थी साएयं कंपिल्लं कोसंबी मिहिला
हत्थिणापुरं रायगिहं ॥ (नि ९/२०)

संती कुंथूय अरो, तिणिण वि जिणचक्की एक्कहिं जाया।१...
वारसचक्कीण एया राजहाणीओ। (निभा २५९१ चू)

चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, कांपिल्य, कौशाम्बी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह—ये बारह चक्रवर्तियों की दस अभिषेक राजधानियां थीं। अर्हत् शांति, अर्हत् कुंथु और अर्हत् अर—इन तीनों ही एक ही राजधानी (हस्तिनापुर) थी।

० चक्रवर्ती आदि के भवनों की ऊंचाई

अट्टसतं चक्कीणं, चोवट्टी चेव वासुदेवाणं।
बत्तीसं मंडल्लिए, सोलसहत्था उ पागतिए ॥
भवणुज्जाणादीणं, एसुस्सेहो उ वत्थुविज्जाए।
भणितो सिप्पनिधिम्मि उ, चक्कीमादीण सव्वेसिं ॥
(व्यभा ३७४८, ३७४९)

चक्रवर्ती, वासुदेव, माण्डलिक राजा और सामान्य जन (प्रजा) के प्रासाद क्रमशः एक सौ आठ, चौसठ, बत्तीस और सोलह हाथ ऊंचे होते हैं। वास्तुविद्या—नैसर्ग महानिधि में चक्रवर्ती आदि सभी के भवन, उद्यान आदि की यही ऊंचाई प्रतिपादित है।

११. राज्य में परिक्षेप के प्रकार : द्रव्य.....भाव

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य।
एसो उ परिक्खेवे, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥
सच्चित्तादी दव्वे, सच्चित्तो दुपयमायगो तिविहो।
मीसो देसचियादी, अच्चित्तो होइमो तत्थ ॥
पासाणिट्टग-मट्टिय-खोड-कडग-कंटिगा भवे दव्वे।
खाइय-सर-नइ-गड्डा-पव्वय-दुग्गाणि खेतम्मि ॥
वासारत्ते अइपाणियं ति गिम्हे अपाणियं नच्चा।
कालेण परिक्खत्तं, तेण तमन्ने परिहरंति ॥
नच्चा नरवइणो सत्त-सार-बुद्धी-परक्कमविसेसे।
भावेण परिक्खत्तं, तेण तमन्ने परिहरंति ॥
(बृभा ११२१-११२५)

परिक्षेप (परिधि, परिवेष्टन) के छह प्रकार हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

द्रव्य परिक्षेप के तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त, मिश्र।

सचित्त परिक्षेप के तीन प्रकार हैं—

द्विपद—मनुष्य के द्वारा परिक्षेप।

चतुष्पद—हस्ति, अश्व आदि के द्वारा परिक्षेप।

अपद—वृक्ष के द्वारा परिक्षेप।

मिश्र के भी ये ही तीन भेद होते हैं किन्तु यह एक देश से सचेतन और एक देश से अचेतन होता है।

अचित्त परिक्षेप के छह प्रकार हैं—१. पाषाणमय प्राकार, यथा द्वारिका। २. इष्टकामय प्राकार, यथा नन्दपुर। ३. मृत्तिकामय प्राकार, यथा सुमनोमुख नगर। ४. काष्ठमय प्राकार। ५. वंशमय प्राकार। ६. बबूल आदि कंटिका का प्राकार।

० क्षेत्र परिक्षेप—परिखा, सरोवर, नदी, गर्त, पर्वत, दुर्ग आदि के द्वारा नगर आदि को परिवेष्टित करना।

० काल परिक्षेप—वर्षा में पानी की अधिकता और ग्रीष्म में जलाभाव के कारण अन्य राजों द्वारा उस नगर का परिहार कर देते हैं।

० भाव परिक्षेप—राजा को धैर्यशाली, बाह्यसार—बल-वाहन आदि और आभ्यन्तर सार—रत्न, स्वर्ण आदि से युक्त तथा बुद्धि और पराक्रम से सम्पन्न जानकर अन्य राजा उसका परिहार कर देते हैं।

१२. वैराज्य-विरुद्ध राज्य : निर्वचन एवं स्वरूप
 वेरं जत्थ उ रज्जे, वेरं जायं व वेररज्जं वा।
 जं च विरज्जइ रज्जं, रज्जेणं विगयरायं वा॥
 अणराए जुवराए, तत्तो वेरज्जए अ बेरज्जे।॥१॥
 अणरायं निवमरणे, जुवराया जाव दोच्च णअभिसित्तो।
 वेरज्जं तु परबलं, दाइयकलहो उ बेरज्जं॥
 अवरुद्धा वाणियगा, गमणागमणं च होइ अवरुद्धं।॥
 ...यत्र तु द्वयोरपि राज्ञो राज्ये परस्परं गमनागमनं विरुद्धं
 तद् विरुद्धराज्यमुच्यते।॥...यत्र तु वणिजां शेषजनपदस्य च
 निस्सञ्चारं कृतं—गमनागमननिषेधो विहितस्तद् वैराज्यं
 विरुद्धमुच्यते। (बृभा २७६०, २७६३-२७६५ वृ)

वैराज्य के पांच निर्वचन हैं—

- ० जिस राज्य में पूर्व परम्परागत वैर चल रहा हो।
 - ० जिस राज्य में परम्परागत वैर नहीं किन्तु वर्तमान में वैर हो।
 - ० जो राजा दूसरों के ग्राम, नगर आदि का दहन करवाने में अथवा छोटे-छोटे झगड़े करवाकर विरोध में रस लेता हो, उसका राज्य।
 - ० जिस राज्य के मंत्री आदि प्रधान पुरुष राजा से विरक्त हों।
 - ० जिस देश का राजा मृत्यु को प्राप्त हो गया अथवा राजा प्रवासी हो गया है, वह राज्य अराजक होने से वैराज्य कहलाता है।
- वैराज्य के चार प्रकार हैं—

१. अराजक—पूर्व राजा की मृत्यु के पश्चात् नये राजा और युवराज का अभिषेक न हो, तब तक वह राज्य अराजक कहलाता है।
२. यौवराज्य—वह राज्य, जो पूर्व राजा द्वारा युवराजपद पर अभिषिक्त व्यक्ति से अधिष्ठित है, किन्तु उस युवराज ने अभी तक दूसरे युवराज का अभिषेक नहीं किया है।
३. वैराज्य—जहां शत्रुसेना आकर विप्लव या उत्पात करती है।
४. द्वैराज्य—जहां दो गुटों का राज्य हो। वे दोनों गुट सगोत्रीय भी हो सकते हैं अथवा विरोधी भी हो सकते हैं। दोनों के अपनी-अपनी सेना होती है। दोनों प्रायः कलहरत होते हैं।

जिस वैराज्य में वणिक् परस्पर अवरुद्ध रूप से गमनागमन करते हों, वहां मुनि गमनागमन कर सकता है। विरुद्धराज्य—जहां दोनों ही राजाओं के राज्य में परस्पर गमनागमन विरुद्ध हो, वह विरुद्धराज्य कहलाता है। जहां वणिक् तथा शेष जनपद का गमना-गमन निषिद्ध है, वह वैराज्य विरुद्धराज्य कहलाता है।

१३. मुनि के लिए वैराज्यगमन-निषेध क्यों ?

नो कप्पइ निग्गंथाण...वेरज्जविरुद्धरज्जंसि...
 सज्जं गमणागमणं करेत्तए।॥... (क १/३७)

...दो सीमेऽइक्कमई, जिणसीमं रायसीमं च॥
 बंधं वहं च घोरं, आवज्जइ एरिसे विहरमाणो।॥...
 (बृभा २७८२, २७८३)

निर्ग्रथ वैराज्य-विरुद्धराज्य में सद्यः गमनागमन नहीं कर सकते। वहां जाने से दो सीमाओं का अतिक्रमण होता है—जिनसीमा (अर्हत्-आज्ञा) और राजसीमा। ऐसे निषिद्ध क्षेत्र में विहरण करने वाला घोर बंध और वध को प्राप्त होता है।

० वैराज्य गमन के अपवाद

दंसण नाणे माता, भत्तविसोही गिलाणमायरिए।
 अधिकरण वाद राय कुलसंगते कप्पई गंतुं॥
 सगुरु कुल सदेसे वा, नाणे गहिए सई य सामत्थे।
 वच्चइ उ अन्नदेसे, दंसणजुत्ताइअत्थो वा॥

...तत्रापि ये आसन्नतरा एकवाचनाकाश्चाचार्यास्तेषां
 समीपे...दर्शनविशुद्धिकारणीया गोविन्दनिर्युक्तिः...सन्मति-
 तत्त्वार्थप्रभृतीनि च शास्त्राणि तदर्थः...प्रमाणशास्त्रकुशला-
 नामाचार्याणां समीपे गच्छेत्॥ (बृभा २७८४, २८८० वृ)

निम्न कारणों से मुनि वैराज्य में जा सकता है—

- ० दर्शनशास्त्र और आगमग्रंथों की विशद जानकारी के लिए।
- ० किसी के माता-पिता प्रव्रजित होना चाहते हैं या वे शोकाकुल हैं तो उन्हें समाधान देने के लिए।
- ० अनशनकामी मुनि गीतार्थ के पास आलोचना करने के लिए अथवा गीतार्थ स्थिरवासी अनशनकामी की विशेषधि के लिए।
- ० ग्लान मुनि की परिचर्या या ग्लानप्रायोग्य औषध लाने के लिए।
- ० आचार्य की उपासना या आचार्य के आदेश-पालन के लिए।
- ० कदाचित् किसी मुनि का गृहस्थ के साथ अधिकरण हो गया हो, गृहस्थ उपशांत नहीं हो रहा हो तो प्रज्ञापनालब्धिसंपन्न मुनि उसे उपशांत करने के लिए।
- ० वादलब्धिसम्पन्न मुनि वादी का निग्रह करने के लिए।
- ० साधुओं से रुष्ट-प्रद्विष्ट राजा को उपशांत करने के लिए।
- ० कुल, गण आदि से संबद्ध कार्य के लिए।

० अभिनव श्रुतग्रहण के लिए। अपने गुरु से सम्पूर्ण श्रुत और अर्थ प्राप्त कर लिया, किन्तु श्रुतग्रहण का सामर्थ्य अभी विद्यमान है, तब शिष्य अपने ही देश में साधर्मिक कुल के आचार्य के पास, उसके अभाव में दूसरे कुल के आचार्य के पास जाकर शेष श्रुत को ग्रहण करे। स्वदेश में उस प्रकार के बहुश्रुत आचार्य न होने पर अन्य देश में जाए। उनमें भी पहले निकटस्थ एक वाचना वाले आचार्य के पास जाए। सम्पूर्ण श्रुत के ग्रहण के बाद प्रतिभा का सामर्थ्य होने पर दर्शन-विशुद्धि करने वाले गोविन्दनिर्युक्ति, सन्मतितर्क, तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए प्रमाणशास्त्र में कुशल आचार्यों के पास जाए।

० राज्यनिर्गमन -वैराज्यप्रवेश की विधि

आपुच्छिय आरक्खिय-सेट्टि-सेणावई-अमच्च-राईणं।
अइगमणे निग्गमणे, एस विही होइ नायव्वो॥
आरक्खितो विसज्जइ, अहव भणिज्जा स पुच्छह तु सेट्टि।
जाव निवो ता नेयं, मुद्दा पुरिसो व दूतेणं॥
जत्थ वि य गंतुकामा, तत्थ वि कारिति तेसि नायं तु।
आरक्खियाइ ते वि य, तेणेव कमेण पुच्छंति॥
(बृभा २७८६-२७८८)

वैराज्य में जाने के इच्छुक मुनि को अनुज्ञा लेनी होती है। अनुज्ञा-पृच्छा के लिए पांच व्यक्ति अधिकृत होते हैं— आरक्षिक, नगरसेठ, सेनापति, अमात्य और राजा। गमन हेतु पूछने पर यदि आरक्षिक अनुज्ञा दे देते हैं तो अच्छा है और यदि वे कहें कि नगरसेठ आदि की आज्ञा लें तो वैसा करना होता है। अनुज्ञाप्राप्ति के पश्चात् उनके पास से मुद्रापट्टक अथवा दूत की अन्वेषणा करनी चाहिए, जिससे राज्य के स्थानपालक आदि यह विश्वास कर सकें कि ये मुनि राजा आदि के द्वारा अनुज्ञात हैं। परराज्य में प्रवेश और पूर्व राज्य से निर्गमन की यह विधि है।

जिस राज्य में वे जाना चाहते हैं, वहां यदि साधु पहले से ही विद्यमान हों तो उन्हें लेखप्रेषण या संदेशकप्रेषण द्वारा पहले ही सूचित कर देना चाहिए कि हम वहां आना चाहते हैं। आप आरक्षिक आदि से पूछ लें। उनके द्वारा अनुज्ञा की सूचना मिलने पर मुनि वहां के लिए प्रस्थान करें।

१४. राज्य में होने वाले उत्सव

.....समवाएसु वा पिंडिनियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदम-
हेसु वा रुद्धमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूतमहेसु वा जक्खमहेसु
वा णागमहेसु वा धूममहेसु वा, चेतियमहेसु वा रुक्खमहेसु
वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा, अगडमहेसु वा तडागमहेसु
वा दहमहेसु वा णदिमहेसु वा सरमहेसु वा सागरमहेसु वा
आगरमहेसु वा.....। (नि ८/१४)

मूर्धाभिषिक्त राजा के राज्य में अनेक प्रकार के मह (उत्सव) होते थे। यथा—समवाय (गोष्ठीभक्त), पितृपिण्डदानमह, इन्द्रमह, स्कन्दमह, रुद्रमह, मुकुन्दमह, भूतमह, यक्षमह, नागमह, स्तूपमह, चैत्यमह, वृक्षमह, गिरिमह, दरीमह, कूपमह, तडागमह, द्रहमह, नदीमह, सरोवरमह, सागरमह, आकरमह।

रात्रिभोजनविरमण—रात्रिभोजन का वर्जन।

१. रात्रिभोजन के विकल्प

* रात्रिभोजनविरमण : छठा व्रत

द्र महाव्रत

२. रात्रिभोजन : मूलगुणप्रतिसेवना

* रात्रिभोजन : शबलदोष

द्र चारित्र

३. कालातिक्रान्त रात्रिभोजन

४. उद्गार निगलने का प्रायश्चित्त

० उद्गार और अन्नगंध से व्रतभंग नहीं

१. रात्रिभोजन के विकल्प

जे भिक्खु दिया असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता दिया भुंजति....।।.....दिया असणं वा.....पडिग्गाहेत्ता रत्तिं भुंजति....।।.....रत्तिं असणं वा.....पडिग्गाहेत्ता दिया भुंजति....।।.....रत्तिं असणं वा.....पडिग्गाहेत्ता रत्तिं भुंजति....।।
.....आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वाणं अणुग्घातियं॥

(नि ११/७५-७८, ९३)

रात्रिभोजन के चार विकल्प हैं—

१. जो भिक्षु दिन में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का प्रतिग्रहण कर दिन में (गृहस्थ द्वारा प्रथम दिन सोद्देश्य स्थापित आहार को दूसरे दिन ग्रहण कर) खाता है,

२. दिन में (सूर्यास्त से पहले) अशन आदि का प्रतिग्रहण कर रात्रि में (सूर्यास्त के पश्चात्) खाता है,

३. रात्रि में (सूर्योदय से पहले) अशन आदि का प्रतिग्रहण कर दिन में (सूरज उगने पर) खाता है,

४. रात्रि में अशन आदि का प्रतिग्रहण कर रात्रि में खाता है, वह गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

२. रात्रिभोजन : मूलगुणप्रतिसेवना

मूलगुणो छट्टाणा..... ।.....

मूलगुणा आद्यगुणा प्रधानगुणा इत्यर्थः । तेसु पडिसेवणा जा सा छट्टाणा भवति... पाणातिवाओ, मुसावाओ, अदत्ता-दाणं, मेहुणं, परिग्गहो, रातीभोयणं च । (निभा ८९ च्)

आद्य गुणों—प्रधानगुणों को मूलगुण कहा गया है। उनमें प्रतिसेवना के छह स्थान हैं। वे ये हैं—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन।

३. कालातिक्रान्त रात्रिभोजन

भिक्षू य उग्गयवितीए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए निव्वित्तिगिच्छे असणं वा... पडिग्गहेत्ता आहारमाहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा—अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कपइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अणणेसिं वा दलमाणे राईभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं अणुग्गहइयं ॥ (क ५/६)

सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पहले भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला असंदिग्ध-समर्थ भिक्षु अशन आदि का प्रतिग्रहण कर आहार करता हुआ बाद में जाने कि सूर्योदय नहीं हुआ है या अस्त हो गया है, तो वह जो आहार मुंह में, हाथ में और पात्र में है, उसका व्युत्सर्ग-विशोधन करता हुआ आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता। उस आहार को स्वयं खाता है अथवा दूसरों को देता है तो उसे रात्रिभोजन-प्रतिसेवनाप्रत्ययिक गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४. उद्गार निगलने का प्रायश्चित्त

इह खलु निग्गंथस्स वा निग्गंथीए वा राओ वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जा.....तं

उग्गलित्ता पच्चोगिलमाणे राईभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउ-म्मासियं परिहारट्टाणं अणुग्गहइयं ॥ (क ५/१०)

निर्ग्रथ अथवा निर्ग्रथी को रात्रि में या विकाल (संध्या) में पानी-भोजन सहित उद्गार आये, उसका विसर्जन-विशोधन करता हुआ वह आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता। यदि वह उस उद्गार को पुनः निगलता है तो उसे रात्रिभोजनप्रतिसेवना से प्राप्त होने योग्य गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

० उद्गार और अन्नगंध से व्रतभंग नहीं

.....न अण्णगंधा, हणंति छट्टं जहेव उग्गारा ।..... (बृभा १७३७)

जैसे उद्गार रात्रि में आने पर भी छठे व्रत—रात्रिभोजन-विरमण व्रत का उपहनन नहीं करते, वैसे ही भोजन की गंध छठे व्रत का विनाश नहीं करती।

* रात्रिभोजनवर्जन.....

द्र श्रीआको १ रात्रिभोजनविरमण

रोग—व्याधि।

द्र चिकित्सा

लवसत्तम—एक भवावतारी देव।

द्र देव

लेश्या—तैजस शरीर के साथ कार्य करने वाली चेतना—भावधारा और उसमें हेतुभूत पुद्गल।

१. द्रव्यलेश्या और भावलेश्या

२. परिणामों की विविधता : वीचि आदि उपमाएं

० लेश्या स्थान और परिणामस्थान

३. लेश्या के अनुसार कर्मबंध

४. भावविशोधि से मोह-अपचय

* चंचलता-एकाग्रता का हेतु.....

द्र ध्यान

* जिनकल्पी में लेश्या

द्र जिनकल्प

१. द्रव्यलेश्या और भावलेश्या

वण्ण-रस-गंध-फासा, इट्टाण्णिट्टा विभासिया सुत्ते।

अहिकिच्च दव्वलेसा, ताहि उ साहिज्जई भावो ॥

पत्तेयं पत्तेयं, वण्णाइग्गुणा जहोदिया सुत्ते।

तारिसओ च्चिय भावो, लेस्साकाले वि लेस्सीणं ॥

द्रव्यलेश्या नाम जीवस्य शुभाशुभपरिणामरूपायां भावलेश्यायां परिणामानस्योपष्टम्भजनकानि कृष्णादीनि पुद्गलद्रव्याणि । ताभिश्च द्रव्यलेश्याभिः भावः शुभा-शुभाध्यवसायरूपः साध्यते । (बृभा १६४४, १६४५ वृ)

१. द्रव्यलेश्या—प्रज्ञापनासूत्र (१७) और उत्तराध्ययनसूत्र (३४) में कृष्ण आदि छह लेश्याओं के इष्ट और अनिष्ट वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श वर्णित हैं—ये सब द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से हैं ।

जीव के शुभ-अशुभ परिणाम रूप भावलेश्या के परिणामन में अवलम्बनभूत कृष्ण आदि पुद्गल द्रव्य द्रव्यलेश्या है ।

२. भावलेश्या—शुभ-अशुभ अध्यवसाय भावलेश्या है । जैसी शुभ-अशुभ वर्ण-रस-गंध-स्पर्शमयी द्रव्यलेश्या होती है, वैसी ही लेश्याकाल में लेश्यावान् की भावलेश्या होती है ।

(लेश्या का पौद्गलिक स्वरूप तैजसवर्गणा, प्रवर्तक शक्ति वीर्यलब्धि और घटक शक्ति शरीरनामकर्म है । यह आभामंडल या वर्ण का हेतु है ।—श्रीआको १ लेश्या)

२. परिणामों की विविधता : वीचि आदि उपमाएं

जहा य अंबुनाधम्मि, अणुबद्धपरंपरा ।
वीई उप्पज्जई एवं, परिणामो सुभासुभो ॥
कण्हगोमी जधा चित्ता, कंटयं वा विचित्तयं ।
तधेव परिणामस्स, विचित्ता कालकंडया ॥
लंखिया वा जधा खिप्पं, उप्पत्तिता समोवए ।
परिणामो तहा दुविधो, खिप्पं एति अवेति य ॥

“कृष्ण (कर्ण) शृगाली यथा सा कृष्णादिभी रेखा-भिश्चित्रा विचित्रवर्णा भवति । वृश्चिकस्य महाविषलांगूलं कण्टक उच्यते ।—कालभेदेन कण्डकान्यसंख्येयस्थानात्म-कानि भवन्ति । (व्यभा २७६२-२७६४ वृ)

जैसे समुद्र में एक के बाद एक लहर उठती रहती है, वैसे ही जीव के अनुबद्ध परम्परा वाले शुभ-अशुभ परिणाम उत्पन्न होते रहते हैं ।

जैसे कर्णशृगाली और वृश्चिककंटक (बिच्छू की पूंछ) कृष्ण आदि रेखाओं के कारण विचित्र वर्ण वाले होते हैं, वैसे ही कृष्ण लेश्या आदि के कारण परिणामों की विचित्रता होती है—

कालभेद से संख्यातीत अध्यवसायस्थान होते हैं ।

जैसे नर्तकी त्वरा से बांस पर चढ़ती-उतरती है, वैसे ही शुभ-अशुभ परिणामों में आरोह-अवरोह होता है ।

० लेश्यास्थान और परिणामस्थान

लेस्सद्वाणेसु एक्केक्के, ठाणसंखमत्तिच्छया ।
किलिट्ठेणोत्तरेणं, वा जे तु भावेण खुंदती ॥

“खुंदति आस्कन्दति प्राप्नोतीत्यर्थः ।—कृष्णलेश्या-परिणामानीललेश्यापरिणामो विशुद्धो नीललेश्यापरिणामा-दपि कापोतलेश्यापरिणामो विशुद्धस्तस्मादपि तेजोलेश्या-परिणामो विशुद्धस्तस्मादपि पद्मलेश्यापरिणामो विशुद्धस्त-स्मादपि शुक्ललेश्यापरिणामः । शुक्ललेश्यापरिणामात् पद्मलेश्यापरिणामः क्लिष्टस्तस्मादपि—कृष्णलेश्या-परिणामः । (व्यभा २७६५ वृ)

एक लेश्यास्थान में संख्यातीत परिणामस्थान होते हैं, जिनकी प्राप्ति का कारण है—संक्लिष्ट-असंक्लिष्ट भाव ।

कृष्णलेश्या के परिणामों से नीललेश्या के परिणाम तथा नीललेश्या के परिणामों से भी कापोतलेश्या के परिणाम शुद्ध होते हैं । उससे भी तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के परिणाम क्रमशः शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम होते हैं ।

शुक्ललेश्या के परिणाम से पद्मलेश्या का परिणाम तथा पद्मलेश्या के परिणाम से भी तेजोलेश्या का परिणाम क्लिष्ट होता है, उससे भी कापोतलेश्या, नीललेश्या और कृष्णलेश्या का परिणाम उत्तरोत्तर अधिक संक्लिष्ट होता है ।

३. लेश्या के अनुसार कर्मबंध

जं चिज्जए उ कम्मं, जं लेसं परिणयस्स तस्सुदओ ।
असुभो सुभो व गीतो, अपत्थ-पत्थऽन्न उदओ वा ॥

(बृभा १६४६)

शुभ या अशुभ लेश्या में परिणत जीव के शुभ या अशुभ कर्मों का बन्ध होता है । वे बद्ध कर्म ही उदयावतिका को प्राप्त कर शुभ या अशुभ रूप में उदय में आते हैं । जैसे अपत्थ तथा पत्थ आहार रोग और आरोग्य के रूप में परिणत होता है ।

४. भावविशोधि से मोह-अपचय

विसुञ्जतेण भावेण, मोहो समवचिञ्जति ।
मोहस्सावचए वावि, भावसुद्धी वियाहिया ॥
(व्यभा २७६७)

लेश्यागत विशुद्धयमान भावों से मोह अपचित होता है ।
मोह के अपचय से भावविशोधि होती है ।

लोक—विश्व, जगत् ।

१. लोकमध्य मंदर : द्विधा लोक
२. वैताढ्य.....मंदरगिरि का अवगाहन
३. द्वीप-समुद्र
४. कर्मभूमियां : भरत-ऐरवत-विदेह
 - ० भरतक्षेत्र : छह खंड
 - ० महाविदेह आदि में अवस्थित काल
५. अधोलोकग्राम

१. लोकमध्य मंदर : द्विधा लोक

पुव्वावरायया खलु, सेढी लोगस्स मञ्जयारम्मि ।

जा कुणइ दुहा लोगं, दाहिण तह उत्तरद्धं च ॥

इह सर्वस्यापि लोकस्य.....मध्यभागे मन्दरस्य पर्वत-
स्योपरि 'श्रेणिः' आकाशप्रदेशपंक्तिरेकप्रादेशिकी.....प्रदीर्घा
समस्ति, या श्रेणिलोकमेकरूपमपि द्विधा करोति । तद्यथा—
दक्षिणलोकार्धमुत्तरलोकार्धं च । (बृभा ६७२ वृ)

सम्पूर्ण लोक के मध्यभाग में मंदर पर्वत पर श्रेणि—एक
प्रादेशिकी आकाशप्रदेशपंक्ति पूर्व से पश्चिम तक आयत—प्रदीर्घ
है, जो एक रूपात्मक लोक को दो भागों में विभक्त करती है—
दक्षिणलोकार्ध और उत्तरलोकार्ध ।

* षड्रव्यात्मक लोक द्र श्रीआको १ लोक

(पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व ने लोक को शाश्वत कहा है ।

वह अनादि, अनन्त, परीत, अलोक से परिवृत, निम्नभाग में
विस्तृत, मध्य में संक्षिप्त और ऊपर विशाल है । वह निम्न भाग में
पर्यक के आकार वाला, मध्य में उसकी आकृति श्रेष्ठ वज्र जैसी है
और ऊपर ऊर्ध्वमुख मृदंग के आकार वाला है ।.....—भ ५/२५५

लोकस्थिति आठ प्रकार की है—१. वायु आकाश पर

प्रतिष्ठित है । २. समुद्र वायु पर प्रतिष्ठित है । ३. पृथ्वी समुद्र पर
प्रतिष्ठित है । ४. त्रस-स्थावर प्राणी पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हैं ।
५. अजीव जीव पर प्रतिष्ठित हैं । ६. जीव कर्म से प्रतिष्ठित हैं ।
७. अजीव जीव के द्वारा संगृहीत हैं । ८. जीव कर्म द्वारा संगृहीत हैं ।
आकाश स्व-प्रतिष्ठित है ।.....पृथ्वी उदधि पर प्रतिष्ठित
है, यह सापेक्ष वचन है । ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी आकाश पर प्रतिष्ठित
है । पृथ्वी-प्रतिष्ठित त्रस-स्थावर प्राणी हैं । यह भी सापेक्ष वचन
है । वे आकाश-पर्वत-विमान-प्रतिष्ठित भी हैं ।

जितने दृश्य-परिवर्तन और परिणमन हैं, वे जीव के द्वारा
कृत हैं । जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह या तो जीवच्छरीर है या
जीव-मुक्त शरीर है । इस अपेक्षा से अजीव जीव पर प्रतिष्ठित है ।

जीव के जितने परिवर्तन और विविध रूप हैं, वे सब कर्म
द्वारा निष्पन्न हैं । इस अपेक्षा से जीव कर्म-प्रतिष्ठित है ।

अजीव जीव के द्वारा संगृहीत हैं, उनमें कथञ्चित् एकात्मक
संबंध स्थापित होता है । इसलिए उनमें परिवर्तन घटित होता है ।

कर्म का जीव के साथ संबंध स्थापित होता है; इसलिए
उनके द्वारा जीव में परिवर्तन घटित होता है ।—भ १/३१० वृ)

२. वैताढ्य.....मंदरगिरि का अवगाहन

ओगाहणगग सासतणगाण उस्सतचउत्थभागो उ ।
मंदरविविज्जिताणं, जं वोगाढं तु जावतियं ॥
अंजणग-दहिमुखाणं, कुंडल-रुयगं च मंदराणं च ।
ओगाहो उ सहस्सं, सेसा पादं समोगाढा ॥

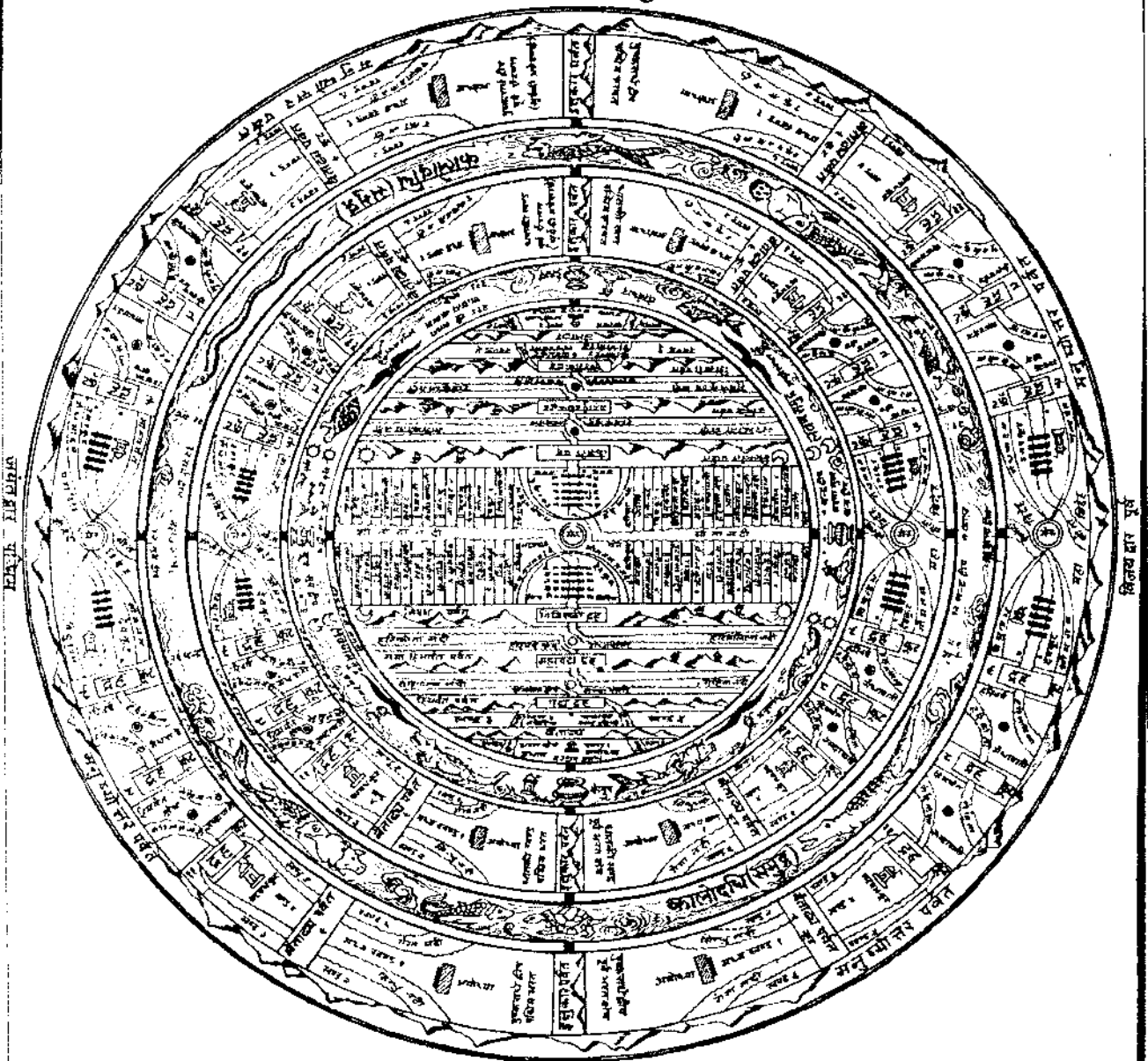
.....अवगाह अधस्तात् प्रवेश इत्यर्थः ।.....पव्वता.....जे
जंबुद्वीवे वेयड्ढाणो ते घेप्पंति, ण सेसदीवेसु ।.....वेयड्ढस्स
पणवीसजोयणाणुस्सओ तेसिं चउत्थभागेण छजोयणाणि
सपादा तस्स चेवावगाहो भवति । (निभा ५१, ५२ चू)

जम्बूद्वीप में मंदरगिरि को छोड़कर शेष वैताढ्य आदि जो
शाश्वत पर्वत हैं, उनका अवगाहन—अधस्तात् प्रवेश उनकी ऊंचाई
का चतुर्थ भाग है । जैसे—पचीस योजन ऊंचा वैताढ्य सवा छह
योजन पृथ्वी के भीतर महरा है । अंजन, दधिमुख, कुण्डल, रुचक
और मंदर पर्वत एक हजार योजन पृथ्वी के भीतर हैं ।

३. द्वीप-समुद्र

दीवा जंबुद्वीवधाततिसंडातिणो । उदही समुद्दा, ते य
लवणाणो । (निभा ६१ की चू)

अ.प. नं. १०७७६



वैजयंते द्वार : पश्चिम
अन्ध्र द्वीप का नक्शा

लोक में जम्बूद्वीप, धातकीखंड, पुष्कर आदि असंख्य द्वीप हैं। लवण, कालोदधि आदि असंख्य समुद्र हैं।

(जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र.....पुष्कर द्वीप, वरुण समुद्रघृत, इक्षुकुण्डलवर, रुचकवर.....आभरण, वस्त्र आदि असंख्य द्वीप समुद्र हैं, जिनमें अंतिम है स्वयंभूरमण समुद्र।—अनु १८५

जम्बूद्वीप सब द्वीपसमुद्रों के मध्य में है। वह सबसे छोटा है। वह तेल के पूडे, रथ के चक्के, कमल की कर्णिका तथा प्रतिपूर्ण चन्द्र के संस्थान जैसा वृत्त है। वह एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा है। उसकी परिधि तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष, साढे तेरह अंगुल कुछ विशेषाधिक है। वह परिधि (जगती) आठ योजन ऊंची, नीचे बारह योजन, मध्य में आठ योजन और ऊपर चार योजन चौड़ी तथा गोपुच्छसंस्थानसंस्थित है।—जम्बू १/७, ८

जम्बूद्वीप में दस क्षेत्र हैं, जैसे—भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, देवकुरु, उत्तरकुरु, पूर्वविदेह और अपरविदेह।—अनु ५५६)

४. कर्मभूमियां : भरत-ऐरवत-विदेह

कर्मभूमिषु भरतपञ्चकैरावतपञ्चकविदेहपञ्चक-लक्षणान्सु.....। (बृभा १४१५ की वृ)

पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह—ये पन्द्रह कर्मभूमियां हैं।

* कर्मभूमि-अकर्मभूमि-अन्तर्द्वीप द्र श्रीआको १ मनुष्य

० भरतक्षेत्र : छह खंड

चक्रवर्तिप्रभृतिको...षट्खण्डभरतादेः क्षेत्रस्य प्रभुत्व-मनुभवति। (बृभा ६६९ की वृ)

भरतक्षेत्र के छह खंड (पांच म्लेच्छ खंड और एक आर्यखंड) हैं, जिन पर चक्रवर्ती आदि का आधिपत्य होता है।

(चुल्लहिमवान् वर्षभर पर्वत के दक्षिण में, दक्षिण लवणसमुद्र के उत्तर में, जम्बूद्वीप द्वीप में भरतक्षेत्र है, जो उत्तर में पर्यक-संस्थानसंस्थित, दक्षिण में धनुषष्ठसंस्थित, तीन ओर से लवण समुद्र से स्पृष्ट तथा गंगा-सिंधु महानदियों और वैताढ्य पर्वत से छह भागों में विभक्त है।—जम्बू १/१८

जम्बूद्वीप में मंदर पर्वत के उत्तर-दक्षिण में दो क्षेत्र हैं—

भरत दक्षिण में, ऐरवत उत्तर में। वे दोनों क्षेत्र प्रमाण की दृष्टि से सर्वथा सदृश हैं। नगर, नदी आदि की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है। कालचक्र के परिवर्तन की दृष्टि से उनमें नानात्व नहीं है। वे लम्बाई, चौड़ाई, संस्थान और परिधि में एक-दूसरे का अतिक्रमण नहीं करते।—स्था २/२६८)

० महाविदेह आदि में अवस्थित काल

नोअवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपे अवस्थितकाले चत्वारः प्रतिभागाः...सुषमसुषमाप्रतिभागः सुषमाप्रतिभागः सुषमदुःषमा-प्रतिभागः दुःषमसुषमाप्रतिभागश्चेति। तत्राद्यो देवकुरूत्तर-कुरुषु, द्वितीयो हरिवर्षरम्यकवर्षयोः, तृतीयो हैमवतैरण्य-वतयोः, चतुर्थस्तु महाविदेहेषु। (बृभा १४१७ की वृ)

जहां अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप कालविभाग नहीं हैं, अवस्थित काल है, वैसे चार प्रतिभाग हैं और चार क्षेत्र हैं—

१. सुषमसुषमा प्रतिभाग—देवकुरु और उत्तरकुरु में।
२. सुषमा प्रतिभाग—हरिवर्ष और रम्यकवर्ष में।
३. सुषमदुःषमा प्रतिभाग—हैमवत और ऐरण्यवत में।
४. दुःषमसुषमा प्रतिभाग—महाविदेह में।

(भरतक्षेत्र में कालखण्ड दो भागों में विभक्त है—अवसर्पिणीकाल और उत्सर्पिणीकाल। प्रत्येक के छह अर (विभाग) हैं। वर्तमान में अवसर्पिणीकाल का दुःषमा नाम का पांचवां अर चल रहा है, जिसका कालमान इक्कीस हजार वर्ष है। इस अर के पश्चिम भाग में गणधर्म, पाषण्डधर्म, राजधर्म और अग्नि—ये चारों विच्छिन्न हो जाएंगे। फिर छठा अर प्रारंभ होगा, जो इक्कीस हजार वर्ष तक चलेगा।

दुःषमदुःषमा काल नामक छठे अर में होने वाली पर्यावरणीय परिस्थिति का जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में रोमांचक विस्तृत विवेचन है, जिसका सारांश इस प्रकार है—

- ० प्रलयकार वायु चलेगी। ० दिशाएं धूमिल हो जाएंगी।
- ० चन्द्रमा से अधिक ठंड निकलेगी। ० सूर्य अधिक तपेगा।
- ० वर्षा वैसी होगी, जिसका पानी व्याधि पैदा करने वाला होगा एवं पीने योग्य नहीं होगा।
- ० वर्षा तूफानी हवा के साथ इतनी तेज बरसेगी, जिससे ग्राम-नगर, पशु-पक्षी तथा वनस्पति-जगत का विध्वंस हो जाएगा।

- ० वैताह्य गिरि को छोड़ शेष पर्वत, डूंगर नष्ट हो जाएंगे।
- ० गंगा-सिन्धु को छोड़ शेष नदियां समतल बनेंगी।
- ० भूमि अंगारे की भांति तप्त, धूलि-बहुल हो जाएगी।
- ० मनुष्य सौन्दर्य, सदाचार और शक्ति से हीन हो जाएगा।
- ० मनुष्य के शरीर की ऊंचाई २४ अंगुल हो जाएगी।
- ० कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) प्रबल हो जाएगा।
- ० भोजन पोषणहीन होगा और रोग बढ़ जाएंगे।
- ० आयुष्य का कालमान १६ से २० वर्ष जितना होगा।
- ० प्राणी मरकर प्रायः नरक और तिर्यच योनि में उत्पन्न होंगे।

इक्कीस हजार वर्ष वाले इस अर के बीतने पर उत्सर्पिणी कालखंड का प्रथम अर प्रारंभ होगा।—जम्बू २/१२९-१३८)

५. अधोलोकग्राम

जम्बूद्वीपापरविदेहवर्तिनलिनावती-वप्राभिधानविजय-युगलसमुद्भवा योजनसहस्रोद्वेधाः समयप्रसिद्धा येऽधोलोक-ग्रामाः.....। (बृभा ६७५ की वृ)

जम्बूद्वीप के पश्चिमविदेहक्षेत्रवर्ती नलिनीवती और वप्रा— इन दो विजयों में समुद्भूत हजार योजन गहरे अधोलोक ग्राम हैं। (इन पर चक्रवर्ती का आधिपत्य होता है। द्र अवग्रह)

वनस्पति—जीवनिकाय का एक भेद। द्र जीवनिकाय

वन्दना—अभिवादन। स्तुति। द्र कृतिकर्म

वर्गणा—सजातीय पुद्गल समूह। द्र द्रव्य

वर्षावास—चातुर्मास। द्र पर्युषणाकल्प

वसति—उपाश्रय। द्र शय्या

वस्त्र—कपास आदि के तंतुओं से निर्मित पट।

१. वस्त्र के प्रकार : जांगिक आदि

* कृत्स्न वस्त्र और सुलक्षण वस्त्र

द्र उपधि

२. चर्ममय प्रावरण के प्रकार

३. महामूल्यवान् वस्त्रों के प्रकार

१. वस्त्र के प्रकार : जांगिक आदि

दव्वे तिविहं एगिंदि-विगल-पंचेंदिहं निष्फन्नं ।.....

(बृभा ६०४)

वस्त्र के तीन प्रकार हैं—१. एकेन्द्रिय निष्पन्न—सूती वस्त्र। २. विकलेन्द्रिय निष्पन्न—रेशमी वस्त्र। ३. पंचेन्द्रिय निष्पन्न—भेड़, ऊंट आदि की ऊन से निष्पन्न वस्त्र।

.....जांगियं वा भंगियं वा साणयं वा पोत्तगं वा खोमियं वा तूलकडं वा तहप्पगारं वत्थं। (आचूला ५/१)

वस्त्र के छह प्रकार हैं—जांगिक, भांगिक, सानक, पोतक, शौमिक और तूलकृत (अर्कतूल से निष्पन्न)।

इनमें प्रथम प्रकार (जांगिक) विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय से निष्पन्न तथा शेष पांच प्रकार एकेन्द्रिय से निष्पन्न हैं।

जंगमजायं जंगिय, तं पुण विगलिनंदियं च पंचेंदी।.....

पट्ट सुवन्ने मलए, अंसुग चीणंसुके च विगलेंदी।

उण्णोद्विय मियलोमे, कुतवे किट्टे त पंचेंदी॥

अतसी-वंसीमादी, उ भंगियं साणियं च सणवक्के।

पोत्तय कप्पासमयं, तिरिडरुक्खा तिरिडपट्टो॥

(बृभा ३६६१-३६६३)

० जांगिक—जंगम (त्रस) जीवों के अवयवों से निष्पन्न वस्त्र।

जांगिक के दो प्रकार हैं—१. विकलेन्द्रियज और २. पंचेन्द्रियज। विकलेन्द्रिय से निष्पन्न—० पट्टसूत्रज—पट्टसूत्र से निष्पन्न।

० सुवर्णसूत्रज—किन्हीं-किन्हीं कृमियों से सुवर्ण वर्ण वाला सूत्र निष्पादित होता है, उससे निष्पन्न वस्त्र।

० मलयज—मलयदेश में उत्पन्न कीड़ों से बना वस्त्र।

० अंशुक—अत्यन्त मृदु सूत्र से निष्पन्न वस्त्र।

० चीनांशुक—'कोशिकार' कृमि से निष्पन्न सूत्र से अथवा चीन देश में उत्पन्न अत्यन्त मृदु रेशमसूत्र से बना वस्त्र।

पंचेन्द्रिय से निष्पन्न—० और्णिक—भेड़ की ऊन से निष्पन्न।

० औष्टिक—ऊंट के केशों से निष्पन्न। ० भृगरोमज—भृगु के रोमों से निष्पन्न। ० कुतव—छाग के रोमों से निष्पन्न। ० किट्ट—ऊर्णारोम आदि के अवयवों से निष्पन्न।

एकेन्द्रिय से निष्पन्न—० भांगिक—अतसी अथवा वंशकरोर के मध्य से निकाले रेशे से निष्पन्न। ० सानक—सन वृक्ष की छाल से निष्पादित। ० पोतक—कपास से बना वस्त्र। ० तिरिडपट्ट—तिरिड वृक्ष की छाल से बना वस्त्र।

(वस्त्र के पांच प्रकार हैं—अंडज, बोंडज, कीटज, बालज और वल्कज। इनका जांगिक आदि में समावेश होता है—

जांगमिक—अंडज, कीटज और बालज ।

भांगिक—सानिक—तिरीटपट्ट—वल्कज

घोतक—बोंडज । (श्रीआको १ सूत्र)

२. चर्ममय प्रावरण के प्रकार

....आईणपाउरणाणि वत्थाणि....उद्दाणि वा, पेसाणि वा, पेसलेसाणि वा, किण्हमिगाईणगाणि वा, पील-मिगाईणगाणि वा, गोरमिगाईणगाणि वा, कणगाणि वा, कणगकताणि वा, कणगपट्टाणि वा, कणगखइयाणि वा, कणगफुसियाणि वा, वग्घाणि वा, विवग्घाणि वा, आभरणाणि वा, आभरणविचिन्ताणि वा.... ।

उद्राः-सिन्धुविषये मत्स्यास्तत्सूक्ष्मचर्मनिष्पन्नानि उद्राणि, पेसाणि त्ति सिन्धुविषये एव सूक्ष्मचर्माणः पशवस्तच्चर्म-निष्पन्नानीति, पेसलाणि त्ति तच्चर्मसूक्ष्मपक्ष्मनिष्पन्नानि.... कनकरसच्छुरितानि....कृतकनकरस-पट्टानि....कनकरसस्तब-काञ्चित्तानि.... । (आचूला ५/१५ वृ)

कणगमुत्तेण फुल्लिया जस्स पाडिया तं कणग-खचितं....चित्तग-चर्मं विवग्घाणि । एत्थ छपत्रिकादि एका-भरणेन मंडिता....चंदलेहिक-स्वस्तिक-घंटिक-मोक्तिकमादीहिं मंडिता आभरणविचिन्ता । (नि ७/१० की चू)

चर्ममय प्रावरण के अनेक प्रकार हैं—

- ० उद्र वस्त्र—सिन्धु देश के मत्स्यों की सूक्ष्म चर्म से निष्पन्न ।
- ० पेश—सिन्धु देश के सूक्ष्म चर्म वाले पशुओं की चर्म से निष्पन्न ।
- ० पेशलेश/पेशल वस्त्र—सिन्धु देश के सूक्ष्म चर्म वाले पशुओं के सूक्ष्म रोओं से निष्पन्न ।
- ० कृष्णमृग, नीलमृग और गौरमृग के चर्म से निष्पन्न वस्त्र ।
- ० स्वर्णिम वस्त्र—स्वर्णरस में लिपटे वस्त्र ।
- ० कनकपट्ट—स्वर्ण रसपट्टियों वाले वस्त्र ।
- ० कनकखचित—स्वर्णसूत्र से अंकित पुष्प वाले ।
- ० कनकस्पृष्ट—स्वर्णचन्द्रिकाओं से स्पृष्ट ।
- ० वैयाघ्र-विवैयाघ्र—व्याघ्रचर्म या चीते के चर्म से निष्पन्न ।
- ० आभरण—एक आभरण से मंडित वस्त्र ।
- ० आभरणविचित्र—स्वस्तिक, घंटिका, मौक्तिक आदि से मंडित ।

३. महामूल्यवान् वस्त्रों के प्रकार

....आजिणगाणि वा, सहिणाणि वा, सहिण-कल्लाणाणि

वा, आयकाणि वा, कायकाणि वा, खोमयाणि वा, दुगुल्लाणि वा, मलयाणि वा, पत्तुण्णाणि वा, अंसुयाणि वा, चीणंसुयाणि वा, देसरागाणि वा, अमिलाणि वा, गज्जलाणि वा, फालियाणि वा, कोयहा (वा ?) णि वा, कंबलगाणि वा, पावाराणि वा... ।।

आजिनानि मूषकादिचर्मनिष्पन्नानि, श्लक्ष्णानि सूक्ष्माणि च तानि वर्णच्छव्यादिभिश्च कल्याणानि—शोभनानि वा सूक्ष्मकल्याणानि, आयाणि त्ति क्वचिद्देशविशेषेऽजाः सूक्ष्मरोमवत्यो भवन्ति तत्पक्ष्मनिष्पन्नानि आजकानि भवन्ति, तथा क्वचिद्देशे इन्द्रनीलवर्णः कर्पासो भवति तेन निष्पन्नानि कायकानि, शौभिकं — सामान्यकार्पासिकं, दुकूलं—गौडविषयविशिष्टकार्पासिकं, पट्टसूत्रनिष्पन्नानि पट्टानि, मलयाणि—मलयजसूत्रोत्पन्नानि, पन्नुनं ति वल्कलतन्तु-निष्पन्नाः । (आचूला ५/१४ वृ)

....आईणाणि वा...तिरीडपट्टाणि वा...कोतवाणि वा... ।।

....सहिणं सूक्ष्मं, कल्लाणं स्निग्धं, लक्षणयुक्तं वा... आद्यं णाम तोसल्लिविसए सीयतलाए अयाणं खुरेसु सेवाल-तरिया लग्गंति, तत्थ वत्था कीरंति । कायाणि कायविसए काकजंधस्स जहिं मणी पडितो तलागे तत्थ रत्ताणि जाणि ताणि कायाणि भण्णंति । पोंडमया खोम्मा, अण्णे भण्णंति—रुक्खेहिंतो निग्गच्छंति ।....दुगुल्लो रुक्खो तस्स वागो घेतुं उदूखले कुट्टिज्जति पाणिएण ताव जाव झूसीभूतो ताहे कज्जति एतेसु दुगुल्लो, तिरीडरुक्खस्स वागो, तस्स तंतु पट्टसरिसो सो तिरीलपट्टो ।....दुगुल्लातो अब्भंतरहिते जं उप्पज्जति तं अंसुयं, सुहुमतं चीणंसुयं भण्णति । चीणविसए वा जं तं चीणंसुयं, जत्थ विसए जा रंगविधी ताए देसे रत्ता देसरागा । रोमेसु कया अमिला ।....गज्जित-समाणसहं करंति ते गज्जला । फडिग-पाहाणनिभा फाडिगा अच्छा इत्यर्थः । कोतवो वरको.... (नि ७/१० वृ)

- ० आजिन—चूहे आदि के चर्म से निर्मित वस्त्र ।
- ० श्लक्ष्ण—सूक्ष्म या मुलायम वस्त्र ।
- ० श्लक्ष्ण कल्याण—सूक्ष्म स्निग्ध अथवा लक्षणयुक्त वस्त्र ।
- वर्ण-छवि आदि से शोभित वस्त्र ।
- ० आयक—आजक—देश विशेष की सूक्ष्मरोमवती अजा के रोमों से निष्पन्न । तोसली देश में शीतल जल वाले तालाब में अजाओं

के खुरों में सेवाल के रेशे लग जाते हैं, उन रेशों से निष्पन्न वस्त्र।
अथवा वनस्पति विशेष से बना वस्त्र।

◦ कायक—काय देश में काकजंधा (तृण वनस्पति विशेष—
घुंघची) की मणि (अग्रभाग) जिस तालाब में गिरती है, उसकी
आभा से रंजित वस्त्र। इन्द्रनीलवर्ण कपास से निर्मित वस्त्र।

◦ क्षौमिक—सामान्य कपास से निर्मित बारीक वस्त्र। अथवा फूलों
या वृक्षों के रेशों से निर्मित।

◦ दुकूल—गौड़ देश में उत्पन्न विशिष्ट कपास से निष्पन्न। दुकूल
वृक्ष की छाल को ऊखल में कूटकर, भूसी जैसी बनाकर, पानी में
भिगोकर, उसके रेशों से वस्त्र बनाया जाता है।

◦ तिरीटपट्ट-पट्ट—तिरीट वृक्ष की छाल के तंतु पट्टसदृश होते हैं,
उन तंतुओं से निष्पन्न। पट्टसूत्रों से निष्पन्न। (द्र श्रीआको १ सूत्र)

◦ मलयज—मलय देश में मलयज सूत्र से निर्मित।

◦ पत्रोन्न—पत्रोर्ण, वल्कल तंतु से निष्पन्न।

◦ अंशुक—दुकूल वृक्ष के आभ्यंतर अवयव से निष्पन्न।

◦ चीनांशुक—दुकूल के सूक्ष्म सूत्र से अथवा चीन देश में निष्पन्न।

◦ देशराग—जिस देश में रंगने की जो विधि हो, उससे रंगा हुआ।

◦ अमिल—रोम देश में सूक्ष्म रोओं से निर्मित वस्त्र।

◦ गज्जल—बिजली के समान कड़कड़ शब्द करने वाला वस्त्र।

◦ स्फटिक—स्फटिक के समान निर्मल कंबल।

◦ कोयव—कोयव देश में निष्पन्न, रजाई। सिल्हक का सूता।

◦ कौतव—चूहे के रोमों से निष्पन्न।

◦ कम्बल और प्रावार।

वस्त्रकल्पिक—'वस्त्रैषणा' अध्ययन का ज्ञाता।

द्र उपधि

वाचना—शिष्यों को आगम पढ़ाना, सूत्रार्थ प्रदान करना।

१. वाचनीय और अवाचनीय

* छेदसूत्र की वाचना के अयोग्य

द्र छेदसूत्र

* अपरिणामी-अतिपरिणामी अयोग्य

द्र शिष्य

◦ अविनीत आदि को वाचना देने से हानि

२. पात्र-अपात्र विवेक : पात्र को भी वाचना नहीं

३. वाचना के अयोग्य : अव्यक्त और अप्राप्त

४. अविधि से श्रुतग्रहण का प्रायश्चित्त

५. ज्ञानहेतु स्थविर भी कृतिकर्म करे

६. स्थविर के प्रति वाचनाचार्य का दायित्व

७. वाचनाचार्य के प्रकार : सिंहानुग आदि

* वाचना संपदा

द्र गणिसम्पदा

८. प्रवाचिका प्रवर्तिनी की अर्हता

* आर्यरक्षित तक साध्वी को छेदसूत्र की वाचना द्र छेदसूत्र

९. सूत्रार्थ मण्डली व्यवस्था

१०. वाचना मण्डली के प्रकार : क्षेत्र आभवाद व्यवहार

◦ पृच्छा और अवग्रह

११. मण्डली में अभ्युत्थान विधि

१२. एकाग्रता से महान् उपलब्धि

१३. उत्क्रम से आगमवाचना का निषेध

* आगम वाचना और संयम पर्याय

* उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा

द्र श्रुतज्ञान

* वाचना परिमाण : ओज-अनोज उद्देशक

* योगवहन और आहार

द्र उत्सारकल्प

* यथालन्दिक को वाचना

द्र यथालंदकल्प

१४. वाचना-स्वाध्याय से लाभ

१. वाचनीय और अवाचनीय

तओ नो कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—अविणीए
विगईपडिबद्धे अविओसविचपाहुडे ॥

तओ कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—विणीए नो
विगईपडिबद्धे विओसविचपाहुडे ॥ (क ४/६, ७)

तीन प्रकार के व्यक्ति वाचना देने के अयोग्य होते हैं—

१. अविनीत, २. रसलोलुप, ३. अव्यवशमित प्राभृत—कलह का
उपशमन नहीं करने वाला।

तीन वाचना के योग्य होते हैं—१. विनीत, २. विकृति में
अप्रतिबद्ध, ३. व्यवशमितप्राभृत।

◦ अविनीत आदि को वाचना देने से हानि

इहरा वि ताव शब्भति, अविणीतो लंभितो किमु सुएण।
मा णडुओ णस्सिहिती, खए व खारावसेओ तु॥
गोजूहस्स षडागा, सयं पयातस्स वडुयति वेगं।
दोसोदए य समणं, ण होइ न निदाणतुल्लं वा॥
विणयाहीया विज्जा, देति फलं इह परे य लोगम्मि।
न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइं॥

गोपालको गवामग्रतो भूत्वा यदा पताकां दर्शयति तदा
ताः शीघ्रतरं गच्छन्तीति श्रुतिः । (बृभा ५२०१-५२०३ वृ)

अविनीत श्रुतप्रदान के बिना भी अहंकारी होता है। श्रुतप्राप्ति के पश्चात् की तो बात ही क्या? घाव पर नमक डालने की भांति वह स्वयं नष्ट होकर दूसरों को नष्ट न करे, इस दृष्टि से वह वाचनीय नहीं है।

वाला गायों के आगे आकर जब पताका दिखाता है, तब उनकी गति में तीव्रता आ जाती है—यह श्रुति है। जैसे पताका स्वयं प्रस्थित गोयूथ के वेग को बढ़ाती है, वैसे ही श्रुतदान अविनीत के अहं को बढ़ाता है।

रोगों के उदय में दी जाने वाली औषधि रोगोत्पत्ति के कारणभूत द्रव्य की भांति नहीं होती, ऐसा नहीं है, वह होती ही है, इसलिए उसको नहीं देना चाहिए। दुर्विनीत के लिए श्रुतऔषध अहितकर है, अतः वह देय नहीं है।

विनय से अधीत श्रुतज्ञान इहलोक और परलोक में फलदायी होता है। अविनय से प्राप्त विद्या वैसे ही फलवती नहीं होती, जैसे जल के बिना धान्य की निष्पत्ति नहीं होती।

सुत्त-ऽन्थे कहयंतो, पारोक्खी सिस्सभावमुवलब्भ ।

अणुकंपाएँ अपत्ते, निज्जूहइ मा विणस्सिज्जा ॥

'निर्यूहयति' अपवदति—न तेभ्यः सूत्रार्थौ कथयति,
श्रुताशातनादिना मा विनश्येयुरितिकृत्वा । (बृभा २१४ वृ)

परोक्षज्ञानी गुरु अपने शिष्यों को सूत्र और अर्थ की वाचना देते समय शिष्यों के अभिप्राय को जानकर, जो शिष्य अपात्र हैं, उन पर अनुकंपा कर, उनको सूत्रार्थ की वाचना नहीं देते। क्योंकि अपात्र को वाचना देने से श्रुत की आशातना होती है और उससे शिष्यों का विनाश होता है।

रसलोलुताइ कोई, विगतिं ण भुयति दढो वि देहेणं ।
अब्भंगेण व सगडं, न चलइ कोई विणा तीए ॥
अतवो न होति जोगो, ण य फलए इच्छियं फलं विज्जा ।
अवि फलति विउलमगुणं, साहणहीणा जहा विज्जा ॥
(बृभा ५२०४, ५२०६)

शरीर से दृढ़ होने पर भी रसलोलुपता के कारण जो विकृति को नहीं छोड़ता है, वह वाचना के अयोग्य है। किन्तु जिस प्रकार

अभ्यंगन के बिना गाड़ी नहीं चलती, उसी प्रकार यदि कोई मुनि विकृति के बिना शरीर का निर्वाह नहीं कर पाता है और वह गुरु की अनुज्ञा से विधिपूर्वक विकृति का सेवन करता है तो उसे वाचना दी जा सकती है।

तपविहीन योग (श्रुत का उद्देशन आदि रूप व्यापार) नहीं होता और तपस्या के बिना गृह्यमाण ज्ञान अभिलषित फल वाला नहीं होता, प्रत्युत विपुल अनर्थकारी होता है। जैसे—साधनहीन विद्या फलित नहीं होती।

.....कलह

देवयच्छलणा ।

परलोगम्मि य अफलं, खित्तम्मि व ऊसरे बीजं ॥

वाइज्जंति अपत्ता, हणुदाणि वयं पि एरिसा होमो ।

इय एस परिच्चातो, इह-परलोगेऽणवत्था य ॥

(बृभा ५२०८, ५२०९)

अविनीत को स्मरणा आदि द्वारा प्रेरित करने पर वह कलह करता है। अपात्र को वाचना देने वाले प्रमत्त साधु को अभद्र स्वभाव वाला देव छल सकता है। वैसे व्यक्ति की सुगति नहीं होती। उसे बोधिलाभ नहीं मिलता। ऊपर भूमि में बोए बीज की भांति उसका सारा श्रम निष्फल होता है। अपात्र को वाचना देते देखकर दूसरे वाचक सोचते हैं—अहो! अब तो हम भी ऐसे ही होंगे—अपात्र को वाचना देंगे। इस प्रकार अपात्र को वाचना देने वाले का इहलोक-परलोक परित्यक्त होता है, अनवस्था का प्रसंग आता है—अविनय की परम्परा आगे बढ़ती है।

* अयोग्य को वाचना देने से हानि द्र श्रीआको १ शिक्षा

२. पात्र-अपात्र विवेक : पात्र को भी वाचना नहीं

जे भिक्खू अपत्तं वाएति..... ॥.....पत्तं ण वाएति..... ॥

(नि १९/१८, १९)

पुरिसम्मि दुव्विणीए, विणयविहाणं ण किंचि आइक्खे ।
न वि दिज्जति आभरणं, पलियत्तियकण्णहत्थस्स ॥
मरेज्ज सह विज्जाए, कालेणं आगते विदू ।
अप्पत्तं च ण वातेज्जा, पत्तं च ण विमाणए ॥
अयसो पवयणहाणी, सुत्तत्थाणं तहेव वोच्छेदो ।
पत्तं तु अवाएते, मच्छरिवाते सपक्खे वा ॥

द्व्वं खेत्तं कालं, भावं पुरिसं जहा समासज्ज।
 एतेहिं कारणेहिं, पत्तमवि विदू ण वाएज्जा॥
 आहारादीणऽसती, अहवा आयंबिलस्स तिविहस्स।
 खेत्ते अद्धाणादी, जत्थ सज्झाओ ण सुज्झेज्जा॥
 असिवोमाईकाले, असुद्धकाले व भावगेलण्णे।
 आतगत परगतं वा, पुरिसो पुण जोगमसमत्थो॥
 (निभा ६२२१, ६२३०, ६२३३-६२३६)

अपात्र (अयोग्य) को वाचना देना और पात्र को वाचना न देना—दोनों प्रायश्चित्तार्ह हैं। दुर्विनीत शिष्य को किंचित् भी वाचना नहीं देनी चाहिए। जिस व्यक्ति के कान, हाथ आदि छिन्न हों, उसे कभी आभूषण नहीं दिए जाते। समय आने पर विशिष्ट विद्याओं को साथ लेकर मरना अच्छा है, किन्तु अपात्र को वाचना देना और पात्र की अवमानना करना अच्छा नहीं है।

पात्र को वाचना न देने से अपयश होता है, सूत्र-अर्थ का विच्छेद और प्रवचन की हानि होती है (आगमशून्य तीर्थ में कोई प्रब्रजित नहीं होता)। ये मात्सर्ययुक्त एवं पक्षपातयुक्त हैं—इस रूप में गुरु की अवज्ञा होती है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पुरुष—इनकी अनुकूलता न हो तो गुरु योग्य शिष्य को भी वाचना न दे—

- द्रव्य—आहार आदि की समुचित व्यवस्था या उपलब्धि न हो। आचाम्ल (आयंबिल) के निर्धारित क्रम में ओदन, कुल्माष और सतु—यह त्रिविध आचाम्ल संबंधी आहार प्राप्त न हो।
- क्षेत्र—मार्गप्रतिपन्न हो। जहां स्वाध्याय-योग्य क्षेत्र न हो।
- काल—अशिव या दुर्भिक्ष हो। अस्वाध्यायिक काल हो।
- भाव—स्वयं या शिष्य ग्लान हो या वैयावृत्य में व्याप्त हो।
- पुरुष—वाचनाभिलाषी योगवहन में असमर्थ हो।

३. वाचना के अयोग्य : अव्यक्त और अप्राप्त

जे भिक्खू अपत्तं वाएति॥अव्वत्तं वाएति.....॥

(नि १९/२०, २२)

परियाएण सुतेण य, वत्तमवत्ते.....।
 आमे घडे निहित्तं, जहा जलं तं घडं विणासेति।
 इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ॥
 सोलसण्हं वरिसाणं आरतो अव्वत्तो, पव्वज्जाए तिण्हं

वरिसाणं पक्कप्पस्स अव्वत्तो। जो वा जस्स सुत्तस्स कालो वुत्तो तं अपावेंतो अव्वत्तो। सुएण आवस्सगे अणधीए दसवेयालिए अव्वत्तो, दसवेयालिए अणधीए उत्तरज्जायणाणं अव्वत्तो।
 (निभा ६२४०, ६२४३ चू)

जिस श्रुताध्ययन का जो काल निश्चित है, उसको अप्राप्त और अव्यक्त—जिसकी अवस्था सोलह वर्ष से कम है, उस शिष्य को वाचना देने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

तीन वर्ष से न्यून दीक्षापर्याय वाला निशीथ के लिए अप्राप्त है। आवश्यक का अनध्येता दशवैकालिक के लिए तथा दशवैकालिक का अनध्येता उत्तराध्ययन के लिए अप्राप्त है।

जो पर्याय से व्यक्त और श्रुत से प्राप्त है, वही वाचनीय है। जैसे कच्चे घड़े में डाला हुआ जल घड़े को ही नष्ट कर देता है, वैसे ही जिसका आधार सुदृढ़ नहीं है, धारणासामर्थ्य नहीं है, उस अव्यक्त-अप्राप्त को बताये गये सिद्धांत (छेदश्रुत आदि) के रहस्य उसे नष्ट कर देते हैं।

(जिसने निशीथ नहीं पढ़ा, वह श्रुत से अव्यक्त है तथा जो सोलह वर्ष से कम है, वह वय से अव्यक्त है।—आभा ५/६२)

४. अविधि से श्रुतग्रहण का प्रायश्चित्त

दूरत्थो वा पुच्छति, अथव निसेज्जाय सन्निसण्णो उ।
 अच्चासण्णानिविदुट्ठित्ते य॥
 अंजलिपणामऽकरणं, विप्पेक्खंते दिसऽहो उड्डमुहं।
 भासंत अणुवउत्ते, व हसंते पुच्छमाणो उ॥
 एतेसु य सव्वेसु वि, सुत्ते लहुओ उ अत्थे गुरुमासो।
 नाभीतोवरि लहुगा, गुरुगमथो कायकंडुणो॥
 तम्हा वज्जंतेणं, ठाणाणेताणि पंजलुक्कुडुणा।
 सोयव्व पयत्तेणं, कितिकम्मं वावि कायव्वं॥

(व्यभा २३४०-२३४३)

जो जिज्ञासु श्रोता दूर खड़ा होकर, निषद्या पर बैठकर, अतिनिकट बैठकर या अतिनिकट खड़े होकर श्रुतप्रदाता से पृच्छता है और सुनता है, जो बड़ांजलि हो नहीं सुनता, पाठ समाप्ति पर वन्दना नहीं करता, दिशाओं को देखता हुआ सुनता है, गुरु के अभिमुख न होकर अधोमुख या ऊर्ध्वमुख हो सुनता है, जिस किसी के साथ बातें करता हुआ या अनुपयुक्त हो सुनता है, हंसता

हुआ पूछता है—इस अविधि से सूत्र और अर्थ ग्रहण करने वाला क्रमशः लघुमास और गुरुमास प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

नाभि के ऊपर के अवयवों को खुजलाता हुआ सूत्र और अर्थ को सुनता है, उसके लिए क्रमशः चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है। नाभि से नीचे के अवयवों को खुजलाता हुआ सूत्रश्रवण करता है, उसको चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

अतः अविनय के इन सब स्थानों का वर्जन कर बद्धांजलि हो, उत्कृष्टक आसन में बैठ प्रयत्नपूर्वक (आदरपूर्वक) सूत्रश्रवण करना चाहिए और कृतिकर्म भी अवश्य करना चाहिए।

उद्धरण-सेज्जा-ऽऽसणमाइएहिं, गुरुस्स जे होंति सयाऽणुकूला ।
नाउं विणीए अह ते गुरु उ, संगिणहई देइ य तेसि सुत्तं ॥
(वृभा ४४३५)

गुरु को आते हुए देखकर खड़ा होना, गुरु का शय्या-संस्कारक सम व सुन्दर स्थान पर करना, उपवेशन योग्य निषद्या करना, गुरु की शय्या और आसन से नीचे स्वयं की शय्या व आसन करना, हाथ जोड़ना—इस विनयपरिपाटी से जो शिष्य सदा गुरु के अनुकूल होते हैं, उनको विनीत जानकर गुरु 'ये मेरे द्वारा सम्यक् पालनीय-रक्षणीय हैं' इस संग्रहबुद्धि से उन्हें स्वीकार करते हैं और वाचना देते हैं।

५. ज्ञान हेतु स्थविर भी कृतिकर्म करे

सुत्तम्मि य चउलहुगा, अत्थम्मि य चउगुरुं च गव्वेणं ।
कितिकम्ममकुव्वंतो, पावति थेरो सति बलम्मि ॥
उवयारहीणमफलं, होति निहाणं करेति वाऽणत्थं ।
इति निज्जराएँ लाभो, न होति विब्भंग कलहो वा ॥
(व्यभा २३३८, २३३९)

स्थविर किसी समरात्मिक या अवमरात्मिक के पास सूत्र या अर्थ का प्रत्युज्वालन (पूछना, सीखना) करता है या नया पाठ ग्रहण करता है, उस समय वह शक्ति होने पर भी ज्ञानदाता के प्रति उचित विनयपरिपाटी का निर्वाह नहीं करता है, अभिमानवश कृतिकर्म-वन्दना नहीं करता है तो प्रायश्चित्त का भागी होता है—सूत्र के संदर्भ में चतुर्लघु और अर्थ के संदर्भ में चतुर्गुरु।

निधान का उत्खनन करने वाला तदनु रूप उपचार नहीं करता है तो उसे निधान प्राप्त नहीं होता। वृश्चिक आदि के

उपद्रव के कारण अनर्थ भी हो जाता है। इसी प्रकार कृतिकर्म आदि उपचार विनय के अभाव में निर्जरा का महान् लाभ प्राप्त नहीं होता, ज्ञान विपरीत हो जाता है। प्रान्त देवता कुपित होकर उससे कलह कर सकता है।

६. स्थविर के प्रति वाचनाचार्य का दायित्व

तेण वि धारेतव्वं, पच्छावि य उद्धितेण मंडलिओ ।
वेदुद्धुनिसण्णस्स व, सारेतव्वं हवति भूओ ॥
अह से रोगो होज्जा, ताहे भासंत एगपासम्मि ।
सन्निसण्णो तुयद्धो, व अच्छते णुग्गहपवत्तो ॥
सो तु गणी अगणी वा, अणुभासंतस्स सुणति पासम्मि ।
न चएति जुण्णदेहो, होउं बद्धासणो सुचिरं ॥
(व्यभा २३४४, २३४५, २३४७)

स्थविर ने सूत्रमंडली या अर्थमंडली में जो कुछ सुना है, उस मंडली से उठने के पश्चात् भी वह उसका धारण-स्मरण करे।

स्थविर बैठे, खड़े या लेटे हुए उस पाठ का स्मरण करता है, इस अंतराल में वह कुछ भूल जाता है तो वाचनाचार्य का कर्तव्य है कि उसे विस्मृत पाठ का पुनः स्मरण कराये।

यदि स्थविर रुग्ण है तो वह व्याख्यामंडली से उठकर भाषक-अनुभाषक (वाचनाचार्य या पुनरावर्तक) के एक पार्श्व में निषद्या पर सम्यग्रूप से स्थित होकर अथवा लेटकर उनके अनुग्रह में प्रवृत्त होता है। वह इस अवस्थिति में पाठ सुन सकता है। यह भाषक का अनुग्रह है। यह अनुग्रह गणी हो या अगणी, सब पर किया जाता है क्योंकि जीर्ण देह वाला लम्बे समय तक एक आसन में नहीं बैठ सकता।

७. वाचनाचार्य के प्रकार : सिंहानुग आदि

..... सीहाणुग-वसभ-कोल्लुगाणू ।

तत्थ जो महंतणिसिज्जाए ठितो सुत्तमत्थं वाएति चिद्धइ वा सो सीहाणुगो । जो एक्कंमि कप्पे ठितो वाएति चिद्धइ वा सो वसहाणुगो । जो रयहरणणिसेज्जाए उवग्गाहियपादपुंछणे वा ठितो वाएति चिद्धति वा सो कोल्लुगाणुगो । (निभा ६६२८ चू)

आचार्य के तीन प्रकार हैं—

सिंहानुग—जो महान् निषद्या पर स्थित हो वाचना देते हैं।

वृषभानुग—जो एक कल्प पर बैठकर वाचना देते हैं।

शृगालानुग—जो रजोहरणनिषद्या या औपग्रहिक पादप्रौढन पर बैठकर वाचना देते हैं।

८. प्रवाचिका प्रवर्तिनी की अर्हता

समा सीस पडिच्छण्णे, चोदणासु अणालसा।
गणिणी गुणसंपन्ना, पसज्जा पुरिसाणुगा ॥
संविग्गा भीयपरिसा, उग्गदंडा य कारणे।
सज्जायझाणजुत्ता य, संगहे य विसारया ॥
विगहा विसोत्तियादिहिं वज्जिता जा य निच्चवसो।
एयग्गुणोववेयाए तीए पासम्मि निक्खिवे ॥
(व्यभा ३०७८-३०८०)

प्रवाचिका प्रवर्तिनी शिष्यों और प्रातीच्छिकों के प्रति समान व्यवहार करती है, शिक्षण-प्रशिक्षण और सारणा-वारणा में उद्यमशील होती है तथा अनभिभवनीय पुरुषों का अनुसरण करती है। वह संविग्न (सामाचारीकुशल) होती है और स्वाध्याय-ध्यान-संलग्न रहती है। उसकी परिषद् उसके भय से कोई भी अकरणीय कार्य नहीं करती। स्वलना होने पर वह उग्र दण्ड देती है। वह संग्रह में विशारद होती है तथा विकथा और विस्त्रोतसिका (चैतसिक चंचलता)का सदा वर्जन करती है। इन गुणों से सम्पन्न साध्वी के पास वाचना की व्यवस्था की जा सकती है।

९. सूत्रार्थमण्डली-व्यवस्था

सुत्तम्मि होइ भयणा, पमाणतो यावि होइ भयणा उ।
अत्थम्मि उ जावइया, सुणिंति श्रेवेसु अन्ने वि ॥
मज्जण निसिज्ज अक्खा, किइक्कम्पुस्सग्ग वंदणग जेट्ठे।
परियाग जाइ सुअ सुणण समत्ते भासई जो उ ॥
(बृभा ७७८, ७७९)

सूत्रमण्डली में निषद्या की भजना है—सूत्रवाचनाचार्य यदि तरुण और स्वस्थ है तथा निषद्याप्रिय नहीं है तो निषद्या नहीं की जाती। यदि वह स्थविर है या रुग्ण तरुण है या निषद्याप्रिय है तो निषद्या की जाती है। प्रमाण से भी भजना है—एक, दो, तीन अथवा जितने कल्पों पर बैठकर सुखपूर्वक वाचना दी जा सके, उतने कल्पों (कंबलों)से निषद्या की रचना करनी चाहिए।

अर्थमण्डली की विधि-व्यवस्था यह है कि जितने साधु

अर्थश्रवण करते हैं, वे सभी अवश्य अपना-अपना कम्बल निषद्याकारक को दे देते हैं और वह उनसे निषद्या की रचना करता है। यदि अनुयोगग्रहीता संख्या में कम हों तो अन्य अनुयोगअश्रोता साधु भी यथावश्यक अपने-अपने कम्बल अर्पित कर देते हैं।

सर्वप्रथम अनुयोगमण्डलीस्थल का प्रमार्जन कर दो निषद्या की जाती है। एक पर गुरु बैठते हैं, दूसरी पर प्रमार्जित अक्षों को स्थापित किया जाता है। फिर कृतिकर्म (गुरुवन्दन) कर अनुयोगस्थापना के लिए आठ उच्छ्वास का कायोत्सर्ग तथा ज्येष्ठ मुनि को वन्दन किया जाता है।

शिष्य ने पूछा—ज्येष्ठ कौन? जो दीक्षापर्याय में बड़ा है या जो जाति-कुल से श्रेष्ठ है या जिसने बहुत श्रुत पढ़ा है या जिसने अनेक परिपाटियों से अर्थश्रवण किया है, क्या वह ज्येष्ठ है? गुरु ने कहा—नहीं। अनुयोग के सन्दर्भ में वह साधु ज्येष्ठ है, जो व्याख्यालब्धिसम्पन्न है, अर्थमंडली के श्रोता जिसके व्याख्यान का समर्थन करते हैं और जो अग्रणी होकर व्याख्या करता है।

* अनुयोगविधि

द्र श्रीआको १ अनुयोग

१०. वाचनामंडली के प्रकार : क्षेत्र आभवद् व्यवहार साधारणद्विताणं, जो भासति तस्स तं भवति खेत्तं। वारग तद्दिण पोरिसि, मुहुत्त भासे उ जो ताहे ॥ आवलिया मंडलिया, घोडगकंडूइतए व भासेज्जा। सुत्तं भासति सामाइयादि जा अट्टसीतिं तु ॥ एमेव मंडलीय वि, पुव्वाहिय नट्ट धम्मकह-वादे। अधव पइण्णग सुत्ते, अधिज्जमाणे बहुसुत्ते वि ॥ छिण्णाछिण्णविसेसो, आवलियाए उ अंतए ठाति। मंडलीय सट्टाणं, सच्चित्तादीसु संकमत्ति ॥ दोणहं तु संजताणं, घोडगकंडूइयं करंताणं। जो जाहे जं पुच्छति, सो ताधि पडिच्छओ तस्स ॥ साधारणद्वितासु, सुत्तथाइं परोप्परं गिण्हे। वारंवारेण तंहिं, जह आसा कंडुयंते वा ॥

....यद् वारंवारेण परस्परं प्रच्छनं तत् घोटकयोः परस्परं कण्डूयितमिव... ।...आवश्यकमधीते आवश्यक-वाचनाचार्यः पुनरावश्यकप्रतिप्रच्छकस्य समीपे दशवै-कालिकमधीते। दशवैकालिकवाचनाचार्यस्याभवति क्षेत्रम्।

.....बहुश्रुतविषये ऽपि मण्डली भवति। तत्राप्या-

भाव्यमावलिकायामिव ।.....एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकं नष्टमुज्ज्वालयति, एषोऽप्यावश्यकवाचनाचार्योऽप्यन्यस्य समीपे दशवैकालिकं, दशवैकालिकवाचनाचार्योऽप्यपरस्य समीपे उत्तराध्ययनानि, उत्तराध्ययनवाचनाचार्योऽप्यन्यस्य समीपे आचाराङ्गम् एवं यावद् विपाकश्रुतवाचनाचार्यः पूर्वाधीतं नष्टमन्यस्य पार्श्वे दृष्टिवादमुज्ज्वालयति, दृष्टिवादवाचना-चार्यस्याभवति ।.....

आवलिकायामुपाध्यायकोऽन्तर्मध्ये विविक्ते प्रदेशे तिष्ठति, मण्डल्यां पुनः स्वस्थानमाभवनं च पाठयितरि संक्रामति.....तत्क्षेत्रगतसचित्तादिविषयम् ।.....यावच्च यः प्रतीच्छ्यस्तावत्स्याभवति, न शेषकालमिति ।

.....यथाहमद्य तव पार्श्वे गृह्णामि । कल्पे त्वं मम पार्श्वे ग्रहीष्यसि । अथवा पौरुषीप्रमाणेन मुहूर्त्तैर्वा वारकं कुर्वन्ति । (व्यभा १८२३, १८२४, १८३०-१८३२, १८५५ वृ)

जो सर्वसाधारण क्षेत्र है, जिसमें अनेक साधुवर्गों का अवग्रह है, वहां जो साधु सूत्र या अर्थ का कथन करता है, वह क्षेत्र उसके अधिकार में होता है। यदि बारी-बारी से कथन किया जाता है तो जो जितने दिन, पौरुषी या मुहूर्त्त तक श्रुत-संभाषण करता है, उतने काल तक उसका अवग्रह है।

सूत्र-अर्थ संभाषण (पाठन/वाचना) के तीन प्रकार हैं—

१. आवलिका—जो मंडली एकान्त—छिन्न प्रदेश में होती है।
२. मंडली—जो अपने ही स्थान—अच्छिन्न प्रदेश में होती है।
३. घोटककण्डूयित—परस्पर घोटक (अश्व) कण्डूयन की तरह जिस मंडली में परस्पर पुनः पुनः पृच्छा-प्रतिपृच्छा होती है।

सूत्रपठन के संदर्भ में सामायिक से लेकर दृष्टिवादगत अट्ठासी सूत्रपर्यंत सूत्रपाठ किया जाता है। आवश्यकवाचनाचार्य आवश्यक-प्रतिपृच्छक के पास दशवैकालिक का पाठ करता है तो वह क्षेत्र दशवैकालिकवाचनाचार्य का होता है।

निम्न स्थानों में मंडली विधि का उपक्रम होता है—

- ० पूर्व अधीत विस्मृत श्रुत का पुनः स्मरण करने के लिए।
- ० धर्मकथा और वादशास्त्रों के स्मरण-अध्ययन के लिए।
- ० प्रकीर्णकश्रुत-अध्ययन के लिए तथा बहुश्रुत के विषय में भी मण्डली होती है।

मण्डली में भी आवलिका जैसा ही क्रम होता है यथा— जहां एक एक के पास पूर्व अधीत किन्तु विस्मृत आवश्यक को उज्ज्वालित करता है (पुनः सीखता है/स्मरण करता है) और आवश्यकवाचनाचार्य पुनः उसके पास दशवैकालिक का पाठ करता है तो वह क्षेत्र दशवैकालिकवाचनाचार्य के अधीन होता है।

एक एक के पास विस्मृत आवश्यक का पारायण करता है, आवश्यकवाचनाचार्य किसी दूसरे के पास दशवैकालिकका, दशवैकालिकवाचनाचार्य किसी तीसरे के पास उत्तराध्ययन का और उत्तराध्ययनवाचनाचार्य किसी अन्य के पास आचारांग का पाठ करता है। इसी क्रम से उत्तरोत्तर यावत् विपाकश्रुतवाचनाचार्य जहां किसी अन्य के पास पूर्व अधीत विनष्ट दृष्टिवाद को उज्ज्वालित करता है तो वह क्षेत्र दृष्टिवादवाचनाचार्य के निश्चित होता है।

० आवलिका एवं मंडली में अंतर—आवलिका एकांत—छिन्न प्रदेश में तथा मंडली स्वस्थान—अच्छिन्न प्रदेश में होती है। आवलिका में उपाध्याय विविक्त क्षेत्र में तथा मंडली में स्वस्थान में स्थित रहता है। उस स्थिति में आभवन पाठयिता में संक्रान्त हो जाता है—उस क्षेत्रगत सचित्त आदि वस्तुएं उसके निश्चित होती हैं।

० घोटककण्डूयित—दो साधुओं में घोटककण्डूयन की तरह परस्पर पृच्छा होती है। जो जब जिसको पूछता है, तब वह उसका प्रतीच्छक होता है। जो जब तक प्रतीच्छ्य—उत्तरदाता होता है, तब तक वह क्षेत्र उसके निश्चित होता है।

जैसे अश्व परस्पर कण्डूयन करते हैं, वैसे ही साधु वारंवार परस्पर सूत्र-अर्थ ग्रहण करते हैं। यथा—आज मैं तुम्हारे पास पढ़ूंगा, कल तुम मेरे पास पढ़ोगे। अथवा इतने प्रहर या मुहूर्त्तों का क्रम निश्चित कर लिया जाता है।

० पृच्छा और अवग्रह

पुच्छा हि तीहि दिवसं, सत्तहि पुच्छाहि मासियं हरति ।.....
(व्यभा २२२७)

तीन पृच्छा में एक दिन का तथा सात पृच्छा में एक महीने का अवग्रह—उस काल में प्राप्त शिष्य आदि उसके होते हैं।

११. मण्डली में अभ्युत्थान विधि

सुत्तस्स मंडलीए, नियमा उट्टेंति आयरियमादी।
मोत्तूण पवायंतं, न उ अत्थे दिक्खण गुरुं पि॥
कथेंतो गोयमो अत्थं, मोत्तुं तित्थगरं सवं।
न वि उट्टेति अन्नस्स, तग्गतं चेव गम्मति॥
काउस्सग्गे वक्खेवया य विकथा विसोत्तिया पयतो।
उवणाय वाउलणादि य, अक्खेवो होति आहरणे॥
आरोवणा परूवण, उग्गह तह निज्जरा य वाउलणा।
एतेहि कारणेहिं, अब्भुट्ठाणं तु षडिकुट्टं॥

(व्यभा २६४४, २६४८, २६५०, २६५१)

सूत्रमण्डली में वाचना देने वाले आचार्य आदि प्राधूर्णक आदि के आने पर नियमतः अभ्युत्थान करते हैं। अर्थमण्डली में उपविष्ट आचार्य अपने प्रवाचक को छोड़कर शेष कोई भी आये, दीक्षागुरु भी आये, तब भी वे खड़े नहीं होते।

गणधर गौतम अनुयोगकाल में केवल अपने धर्माचार्य श्रमण भगवान महावीर को छोड़कर अन्य किसी के आने पर खड़े नहीं होते थे। पूर्व आचीर्ण का ही अब आचरण हो रहा है।

अनुयोगारम्भ के निमित्त कायोत्सर्ग करने के पश्चात् अभ्युत्थानकरण निम्न कारणों से निषिद्ध है—

बार-बार उठने से व्याक्षेप होता है, व्याक्षेप से विकथा, विकथा से इन्द्रिय-मन की विस्रोतसिका (संयमस्थानच्युति) होती है। इसलिए अभ्युत्थान न करते हुए प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिए।

बीच-बीच में बार-बार उठने से चंचलता के कारण नवगृहीत उपनय, निगमन, दृष्टान्त आदि नष्ट हो जाते हैं, प्रारम्भ की हुई पृच्छा विस्मृत हो जाती है। निरन्तर अविच्छिन्न वाचनाश्रवण से शुभ परिणामों की इतनी तीव्रता होती है कि अवधि आदि अतिशायी ज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं।

जैसे आरोपणा प्रायश्चित्त के प्ररूपणाकाल में व्याक्षेप होने पर (भंगगहनता के कारण) उसका सम्यक् अवग्रहण नहीं हो पाता, वैसे ही अभ्युत्थान से श्रुतोपयोग की विच्छिन्नता के कारण ज्ञानावरणीयकर्म की यथेष्ट निर्जरा नहीं हो पाती।

पगतसमत्ते काले, अज्झयणुदेस अंगसुतखंधे।
एतेहि कारणेहिं, अब्भुट्ठाणं तु अणुओगो॥

केवलिमादी चोद्दस-दस-नवपुक्वी य उट्टणिज्जो उ।
जे तेहि ऊणतरगा, समाण अगुरुं न उट्टेंति॥
(व्यभा २६६१-२६६५)

तीन कारणों से अनुयोगकाल में अतिथि साधु के आने पर अभ्युत्थान किया जा सकता है—१. प्राकृत/प्रकरण/विषय की समाप्ति पर। २. स्वाध्यायकाल की संपन्नता पर। ३. अध्ययन-उद्देशक-अंगश्रुतस्कंध की सम्पन्नता पर।

अर्थ की वाचना देते समय केवली, अवधिज्ञानी या मनःपर्यवज्ञानी आ जाये तो अभ्युत्थान करना चाहिए।

अर्थवाचक को अपने से अधिक ज्ञानी के आने पर उठना चाहिए। यथा—चौदहपूर्वी के आने पर दसपूर्वी को, दसपूर्वी के आने पर नवपूर्वी को, पूर्वधर के आने पर कालिक-श्रुतधर को उठना चाहिए। यदि आगन्तुक समान श्रुत वाला हो और गुरु न हो तो नहीं उठना चाहिये।

१२. एकाग्रता से महान् उपलब्धि

भासओ सावगो वावि, तिव्वसंजायमाणसो।
लभंतो ओहिलंभादी, जधा मुडिंबगो मुणी॥
एगग्गो उवगिण्हति, वक्खिण्णतस्स वीसुइं जाति।
इंदपुर इंददत्ते, अज्जुणतेणे य दिट्ठंतो॥

मुडिंबको मुनिस्तथा सुहिडिंबको आचार्यः परम-काष्ठीभूते शुभध्याने प्रवृत्त अवध्यादिलब्धिमलप्यत यदि तस्य पुष्पमित्रेण ध्यानविघ्नो नाकरिष्यत।

इन्द्रपुरे पत्तने इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुताः दृष्टान्तः। तेषां कलां अभ्यस्यतां प्रमादविकथादिव्याक्षेपान्न किमप्यव-गृहीतमभूत्। यद्यपि किञ्चिदवगृहीतं, तदपि विस्मृति-मुपगतमतएव तैः राधावेधो न कर्तुं शक्यः।

...सोऽर्जुनकस्तेनोऽगडदत्तेन सह युध्यमानो न कथ-मप्यगडदत्तेन पराजेतुं शक्यते। ततो निजभार्यातीवरूपवती सर्वालङ्कारभूषिता रथस्य तुण्डे निवेशिता, ततः स्त्रीरूपदर्शन-व्याक्षेपात् युद्धकरणं विस्मृतिमुपगतमिति सोऽगडदत्तेन विनाशितः।
(व्यभा २६५७, २६५९ वृ)

वाचनाचार्य अविच्छिन्नरूप से वाचना देते हैं और श्रावक (श्रोता/शिष्य) तन्मय होकर सुनते हैं तो उत्तरोत्तर विशिष्ट

अर्धअवगाहन से उनमें तीव्र संवेग रस उत्पन्न होता है। उन क्षणों में उन्हें अतिशय परिणाम- विशुद्धिसंयुत एकाग्रता से अवधिज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

० मुडिम्बक दृष्टांत—मुडिम्बक मुनि तथा सुहिडिम्बक आचार्य परम काष्ठीभूत—अत्यंत स्थिरता से शुभध्यान में लीन थे। यदि पुष्यमित्र द्वारा ध्यान में विघ्न उपस्थित नहीं किया जाता तो उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता।

० इन्द्रदत्तसुत दृष्टांत—इन्द्रपुर में इन्द्रदत्तनृप के पुत्रों ने राधावेधकला का अभ्यास किया, पर प्रमाद, विकथा आदि के कारण वे उसे पूर्णतः भूल गये। एकाग्रता से ग्रहण किया हुआ श्रुत भी अभ्युत्थान आदि व्याक्षेपों के कारण विस्मृत हो जाता है।

० अगडदत्त-अर्जुन-दृष्टांत—अगडदत्त रथ पर आरूढ था। अर्जुन चोर उसके साथ युद्ध कर रहा था। अपनी विजय असंभव जानकर अगडदत्त ने अपनी रूपवती अलंकृत भार्या को रथ के अग्र भाग पर बिठाया। अर्जुन रूप-लावण्य को देख मुग्ध हो गया, युद्ध करना भूल गया। अगडदत्त ने उसे विनष्ट कर दिया।

१३. उत्क्रम से आगमवाचना का निषेध

जे भिक्खु हेड्डिल्लाइं समोसरणाइं अवाएत्ता उवरिम-सुयं वाएति... ॥...णव बंभचेराइं अवाएत्ता उत्तमसुयं वाएति... ॥...तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वणं उग्घातियं ॥

(नि १९/१६, १७, ३७)

आवासगमादीयं, सुयण्णणं जाव बिंदुसाराओ।
उक्कमओ वादेतो, पावति आणाइणो दोसा ॥
...तं पुण नियमा अंगं, सुयखंधो अहव अज्जयणं ॥
उवरिसुयमसद्दहणं, हेड्डिल्लेहि य अभावितमत्तिसस ॥
ण य तं भुज्जो गेण्हति, हाणी अण्णेसु वि अवण्णे ॥
णाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुजोगे य।
सुत्तत्थ तदुभए वा, उक्कमओ वा वि वाएज्जा ॥
छेयसुयमुत्तमसुयं, अहवा वी दिट्ठिवाओ भण्णइ उ।...

...दसवेयालिस्सावस्सगं हेड्डिल्लं उत्तरज्जयण्णणं
दसवेयालियं हेड्डिल्लं, एवं णेयं जाव बिंदुसारेति ।...अंगं जहा
आयारो तं अवाएत्ता सुयगडंगं वाएति। सुयक्खंधो—जहा
आवस्सयं तं अवाएत्ता दसवेयालियसुयक्खंधं वाएति।
अज्जयणं जहा सामातितं अवाएत्ता चउवीसत्थयं वाएति,

अहवा सत्थपरिणणं अवाएत्ता लोगविजयं वाएति ।...दोसु
सुअक्खंधेसु जहा बंभचेरे अवाएत्ता आयारगे वाएति ।...

हेड्डिल्ला उस्सगसुता तेहिं अभावितस्स उवरिल्ला
अववादसुया ते ण सद्दहति अतिपरिणामगो भवति, पच्छा वा
उस्सगं न रोचेइ ।...आदिसुत्तवज्जितो उवरिसु अट्टाणेण य
पयत्तेण बहुस्सुतो भण्णति, पुच्छिज्जमाणो य पुच्छं ण
णिव्वहति ।...पियधम्म-दढधम्मस्स, निसगगतो परिणामगस्स,
संविग्गसभावस्स, विणीयस्स, परममेहाविणो—एरिसस्स...
उक्कमेण वि देज्ज ।...सव्वो चरणाणुओगो तं अवाएत्ता उत्तमसुतं
वाएति ।...धम्माणुओगं...गणिणाणुओगं...दवियाणुओगं
वाएति ।... (निभा ६१८०-६१८४ चू)

जो भिक्षु पूर्ववर्ती समवसरण—आगमग्रंथों की वाचना दिए
बिना अग्रिम ग्रंथों की वाचना देता है, नवब्रह्मचर्य (आचारांग) से
पूर्व, उत्तमश्रुत—छेदसूत्र और दृष्टिवाद की वाचना देता है, वह
लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है। आवश्यक से
बिंदुसार पूर्व पर्यंत श्रुत की व्युत्क्रम से वाचना देने वाला आज्ञाभंग
आदि दोषों से दूषित होता है।

श्रुतवाचना का क्रम

० अंग—आचारांग के पश्चात् सूत्रकृतांग।

० श्रुतस्कंध—आवश्यक के पश्चात् दशवैकालिक। अथवा आचारांग
श्रुतस्कंध के पश्चात् आचारचूला श्रुतस्कंध।

० अध्ययन—सामायिक के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव अथवा
शस्त्रपरिज्ञा के पश्चात् लोकविचय।

० उद्देशक—प्रथम उद्देशक के पश्चात् द्वितीय आदि उद्देशक।

इसी प्रकार दशवैकालिक के पश्चात् उत्तराध्ययन, आचारांग
अथवा सर्वचरणानुयोग के पश्चात् छेदसूत्र, धर्मानुयोग, गणितानुयोग
और द्रव्यानुयोग (दृष्टिवाद) पठनीय हैं।

जिसकी मति पूर्ववर्ती उत्सर्गसूत्रों से भावित नहीं है, वह
अग्रिम अपवादसूत्रों में श्रद्धा नहीं करता और अतिपरिणामक बन
जाता है, फिर पूर्ववर्ती श्रुत पढ़ने में उसकी रुचि नहीं रहती,
इससे आदि सूत्रों की हानि होती है। वह आद्य सूत्रों को ग्रहण
किए बिना अनुचित प्रयत्नों से अग्रिम सूत्रों को पढ़कर बहुश्रुत तो
बन जाता है पर पूर्ण जानकारी के अभाव में सब प्रश्नों का सही
समाधान नहीं दे पाता है, इससे लोक में अवर्णवाद होता है।

कालिकश्रुत और पूर्वी का कहीं विच्छेद न हो जाए—इस अपेक्षा से उत्क्रम से भी वाचना दी जा सकती है। किन्तु वाचनाग्राही शिष्य प्रियधर्मा, दृढधर्मा, संविग्नस्वभावी, निसर्गतः परिणामक, विनीत और परम मेधावी होना चाहिए।

० समवसरण : आगमग्रंथ

सुत्तत्थ तदुभयाणं, ओसरणं अहव भावमादीणं ।।।।।
समोसरणं णाम मेलओ, सो य सुत्तत्थाणं, अहवा
जीवादिणवपदत्थभावाणं, अहवा दव्वखेत्तकालभावा, एए
जत्थ समोसडा सव्वे अत्थित्ति वुत्तं भवति, तं समोसरणं
भण्णति । (निभा ६१८१ चू)

समवसरण का अर्थ है सूत्र और अर्थ का मिलन अथवा जिनमें जीव, अजीव आदि नौ पदार्थों के अस्तित्व की सिद्धि आदि का निरूपण हो, अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा निरूपण हो, वे आचारांग आदि ग्रन्थ समवसरण कहलाते हैं।

१४. वाचना-स्वाध्याय से लाभ

वायंतस्स उ पणगं, पणगं च पडिच्छतो भवे सुत्तं ।
एगगं बहुमाणो, कित्ती य गुणा य सज्जाए ।।
संगहुवग्गहनिज्जर, सुत्तयज्जवजायमव्ववच्छित्ती ।
पणगभिणं पुव्वुत्तं, जे चायहितोपलंभादी ।।
(व्यभा १७८४, १७८५)

सूत्र-अर्थ की वाचना देने-लेने से पांच लाभ होते हैं—

- ० संग्रह—श्रुतसम्पन्नता से शिष्यों का संग्रहण सुकर होता है।
- ० उपग्रह—श्रुतज्ञान दान से संघ का उपष्टम्भ होता है।
- ० निर्जरा—ज्ञानावरण आदि कर्मों का निर्जरण होता है।
- ० श्रुतपर्यवजात—श्रुतज्ञान के पर्यवों की वृद्धि होती है।
- ० अव्यवच्छित्ति—तीर्थ परम्परा अविच्छिन्न रहती है।

अथवा पांच गुण ये हैं—आत्महित, परहित और उभयहित की उपलब्धि, एकाग्रता तथा बहुमान।

० एकाग्रता—वाचक और श्रोता की श्रुत में गहरी एकाग्रता से चैतसिक चंचलता का निरोध होता है।

० बहुमान—श्रुत और अर्थ के प्रति बहुमान प्रकट होता है।

स्वाध्याय से आर्यवज्र की भांति विश्वव्यापिनी कीर्ति होती है।

वाद—मत, दर्शन। शास्त्रार्थ, परिचर्चा।

१. वाद किसके साथ ?

२. वादी की अर्हता

३. वाद के अनर्ह : चाणक्य-नलदाम दृष्टांत

१. वाद किसके साथ ?

अज्जेण भव्वेण वियाणएण, धम्मप्यतिण्णेण अलीयभीरुणा ।
सीलंकुलायारसमन्नितेण, तेणं समं वाद समायरेज्जा ।।
(व्यभा ७१२)

वाद (शास्त्रार्थ या परिचर्चा) उसके साथ करना चाहिए,

- ० जो आर्य है—श्रेष्ठ कर्म या अनिन्दनीय कर्म करता है।
- ० जो भव्य है—जिसने वाद की योग्यता संपादित की है।
- ० जो विज्ञ है—वाद का ज्ञाता है।
- ० जो धर्मप्रतिज्ञ है, जिसका न्याय करने का संकल्प है।
- ० जो सत्यवादी है, शीलाचार-कुलाचार से समन्वित है।

२. वादी की अर्हता

वाया पोगगललहुया, मेधा उज्जा य धारणबलं च ।
तेजस्सिता य सत्तं, वायामइयम्मि संगामे ।।
(व्यभा ७५८)

वाङ्मय संग्राम में उपयोगी सामग्री इस प्रकार है—

- ० वाक्पाटव—व्यक्त स्पष्ट अक्षर-वाक्।
- ० पुद्गललघुता—शरीर की जड़ता का अपगम।
- ० मेधा—अपूर्व-अपूर्व ऊहापोहात्मक ज्ञानविशेष।
- ० ऊर्जा—प्रवर्धमान बल, आंतरिक उत्साह विशेष।
- ० धारणाबल—प्रतिवादी के शब्दार्थ अवधारण की शक्ति।
- ० तेजस्विता—शरीर की स्फूर्तिमयी दीप्यमानता।
- ० सत्त्व—प्रतिवादी द्वारा प्राणव्यपरोपिणी विद्या प्रयुक्त होने पर भी उसके मानमर्दन हेतु उपष्टम्भ, अविचल धृति।

* ब्राह्मी का सेवन : मेधा-विकास द्र चिकित्सा

३. वाद के अनर्ह : चाणक्य-नलदाम दृष्टांत

अत्थवतिणा निवतिणा, पक्खवता बलवया पर्यडेण ।
गुरुणा नीएण तवस्सिणा य सह वज्जे वादं ।।

नंदे भोइय खण्णा, आरक्खिय घडण गेरु नलदामे।
मूतिंग गेह डहणा, ठवणा भत्ते सपुत्त सिरा॥
(व्यभा ७१५, ७१६)

आठ प्रकार के व्यक्ति वाद के योग्य नहीं हैं—१. धनाढ्य
२. नृपति ३. पक्षवान् ४. बलवान् ५. प्रचण्ड क्रोधी ६. धर्मगुरु-
विद्यागुरु ७. नीचजातीय व्यक्ति ८. विकृष्ट तपस्वी।

(इनमें से कोई भी व्यक्ति यदि वाद के लिए अत्यंत आग्रह
करे तो चातुर्य से ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे उसकी वाद
करने की मानसिकता पूर्णतः समाप्त हो जाए।)

चाणक्य-नलदाम दृष्टान्त—चाणक्य ने नंद राजा को राज्यच्युत
कर चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक किया और नंद के सामन्तों को
तिरस्कृत कर पदच्युत कर दिया। वे सभी सामन्त चन्द्रगुप्त के
आरक्षकों से सांठ-गांठ कर नगर में संध लगाकर चोरी करने
लगे। चाणक्य ने दूसरे आरक्षकों की नियुक्ति की। वे सामंत
इनसे भी सांठ-गांठ कर पूर्ववत् चोरी करने लगे, तब चाणक्य
प्रतिदिन परिव्राजक का वेश बनाकर नगर के बाहर घूमने लगा।
एक दिन उसने देखा, तंतुवायशाला में नलदाम नामक तंतुवाय
बैठा है। उस समय उसका पुत्र खेल रहा था। वह रोता हुआ
अपने पिता के पास आकर बोला—मकोड़े ने मुझे काट ख़ाया।
नलदाम मकोड़े के बिल के पास गया और जो मकोड़े बिल से
बाहर निकले हुए थे, उन सबको मार डाला। फिर उसने बिल
को खोदा और उसमें जो मकोड़े तथा उनके अंडे थे, उन पर
घास डालकर जला डाला। चाणक्य ने यह सब देखकर पूछा—
तुमने बिल को खोदकर अंदर आग क्यों लगाई? नलदाम बोला—
'अंडों से मकोड़े पैदा होकर कभी और भी काट सकते हैं।'
चाणक्य ने उसे कोतवाल के रूप में नियुक्त कर दिया। नंद-पक्ष
के चोरों को यह ज्ञात हुआ। वे नलदाम के पास आए और
बोले—हम तुम्हें चोरी के धन का बहुत बड़ा भाग देंगे। तुम
हमारी रक्षा करना। नलदाम ने कहा—ठीक है। अब तुम सभी
चोरों को विश्वास दिलाकर मेरे पास ले आओ। एक दिन सभी
चोर नलदाम के पास एकत्रित हुए। नलदाम ने उनका सत्कार-
सम्मान किया और दूसरे दिन सभी चोरों के लिए विशाल भोज
की तैयारी की। सभी चोर अपने-अपने पुत्रों को साथ ले आए।

नलदाम ने तब अवसर देखकर सभी चोरों तथा उनके पुत्रों का
शिरच्छेद करवा डाला।

वास्तुविद्या—गृहनिर्माण विद्या।

ग्राम-संस्थान के प्रकार एवं स्वरूप

.....तत्थ इमे संठाणा, हवंति खलु मल्लगादीया॥
उत्ताणग ओमंथिय, संपुडए खंडमल्लए तिविहे।
भित्ती पडालि वलभी, अक्खाडग रुयग कासवाए॥
मज्झे गामस्सज्जडो, बुद्धिच्छेदा ततो उ रज्जूओ।
निक्खम्म मूलपादे, गिण्हंतीओ वडं पत्ता॥
ओमंथिए वि एवं, देउल रुक्खो व जस्स मज्झमि।
कूवस्सुवरिं रुक्खो, अह संपुडमल्लओ नाम॥
जइ कूवाई पासमि होति तो खंडमल्लओ होइ।
पुव्वावररुक्खेहिं, समसेडीहिं भवे भित्ती॥
पासट्टिए पडाली, वलभी चउकोण ईसि दीहा उ।
चउकोणोसु जइ दुमा, हवंति अक्खाडतो तम्हा॥
वट्टाग्गारटिएहिं, रुयगो पुण वेढिओ तरुवरेहिं।
तिक्कोणो कासवओ, छुरघरगं कासवं बिंती॥
(बृभा ११०२-११०८)

ग्राम-संस्थान के बारह प्रकार हैं—

- | | |
|--------------------------|---------------------|
| १. उत्तानकमल्लकसंस्थित | ७. भित्तिसंस्थित |
| २. अधोमुखमल्लकसंस्थित | ८. पडालिकासंस्थित |
| ३. सम्पुटकमल्लकसंस्थित | ९. वलभीसंस्थित |
| ४. उत्तानखंडमल्लकसंस्थित | १०. अक्षपाटकसंस्थित |
| ५. अधोमुखखंडमल्लकसंस्थित | ११. रुचकसंस्थित |
| ६. सम्पुटखंडमल्लकसंस्थित | १२. काश्यपसंस्थित |

१. उत्तानमल्लकसंस्थान—जिस ग्राम के मध्यभाग में कूप है,
बुद्धि से उसके पूर्व आदि दिशाओं में छेद की परिकल्पना की
जाती है। फिर कूप के अधस्तन तल से बुद्धिकृत छेद के द्वारा
रज्जूओं को दिशा-विदिशाओं में निकालकर घरों के मूलपाद के
ऊपर से ग्रहण करते हुए ग्रामपर्यन्तवर्ती वृत्ति तक तिर्यक् विस्तारित
किया जाता है, फिर ऊपर अभिमुख होकर ऊंचाई में वे हर्म्यतलों
के समीभूत होकर वहां पटहच्छेद से उपरत हो जाती हैं। इस

आकार वाला उत्तानमल्लकसंस्थित ग्राम कहलाता है, ऊर्ध्वाभिमुख शराव (सकौर) का आकार ऐसा ही होता है।

२. अधोमुखमल्लकसंस्थान—यह संस्थान भी ऐसा ही है। विशेष यह है कि जिस गांव के मध्य देवकुल है या बहुत ऊंचा वृक्ष है, उस देवकुल आदि के शिखर से रज्जुओं को उतारकर तिरछे में वृत्ति पर्यंत ले जाया जाता है। वहां से अधोमुख हो घरों के पादमूल तक ग्रहण कर पटहच्छेद से उपरत होने पर यह संस्थान बनता है।

३. सम्पुटकमल्लकसंस्थान—जिस ग्राम के मध्यभाग में कूप है, उसके ऊपर ऊंचा वृक्ष है तो उस कूप के अधस्तल से रज्जु निकालकर घरों के मूल पाद के नीचे-नीचे ले जाकर वृत्ति पर्यंत ले जाया जाता है। फिर ऊर्ध्व अधिमुख होकर हर्म्यतल की समश्रेणीभूत रज्जु को वृक्ष-शिखर से उतारकर वृत्तिपर्यंत ले जाते हैं। फिर अधोमुखी होकर उसे कूपसंबंधी रज्जु के अग्र भाग के साथ संघटित किया जाता है। यह सम्पुटकमल्लकसंस्थान है।

४.-६. उत्तान-अधोमुख-सम्पुटकखंडमल्लकसंस्थान—जिस ग्राम के बाहर एक दिशा में कूप है, उस एक दिशा को छोड़कर शेष सात दिशाओं में रज्जु को निकालकर उसे तिर्यक् वृत्ति तक ले जाकर ऊपर से हर्म्यतल तक लाकर पटहच्छेद से उपरत होने पर उत्तानखंडमल्लकसंस्थान बनता है। अधोमुखखंडमल्लक और सम्पुटकखंडमल्लक संस्थान भी ऐसा ही होता है। इन दोनों में विशेष इतना है कि पहले में एक दिशा में देवकुल या ऊंचा वृक्ष होता है, दूसरे में एक दिशा में कूप और उसके ऊपर वृक्ष होता है।

७. भित्तिसंस्थान—जिस गांव की पूर्व और पश्चिम दिशा में समश्रेणी में व्यवस्थित वृक्ष हों, वह भित्तिसंस्थित ग्राम है।

८. पडालिका संस्थान—जिस गांव की पूर्व और पश्चिम दिशा में वृक्ष समश्रेणि में तथा पार्श्वभाग में वृक्षयुगल समश्रेणी में अवस्थित हों, वह पडालिकासंस्थित ग्राम है।

९. वलभी संस्थान—जिस गांव के चारों कोणों में ईषद् दीर्घ वृक्ष व्यवस्थित हों, वह वलभीसंस्थित ग्राम है।

१०. अक्षवाटकसंस्थान—'अक्षवाट'—मल्लों के युद्ध का अध्यासस्थल जैसे समचतुरस्र होता है, वैसे ही जिस गांव के चारों कोणों में वृक्ष होते हैं, उससे यह चतुर्विदिशावर्ती वृक्षों के द्वारा समचतुरस्र रूप में जाना जाता है, वह अक्षवाटकसंस्थित ग्राम है।

११. रुचकसंस्थान—यद्यपि गांव स्वयं सम नहीं होता, तथापि जो

रुचकवलयपर्वत की भांति वृत्ताकार में व्यवस्थित वृक्षों से वेष्टित है, वह रुचकसंस्थित ग्राम है।

१२. काश्यपसंस्थान—जो गांव त्रिकोण रूप में निविष्ट है, वह काश्यपसंस्थित ग्राम है। अथवा जिस गांव के बाहर एक ओर दो तथा दूसरी ओर एक—इस प्रकार तीन वृक्ष त्रिकोण रूप में स्थित हैं, वह काश्यपसंस्थित ग्राम है। नापित के क्षुरगृह को काश्यप कहा जाता है। वह त्रिकोण होता है।

* प्रशस्त वसति : वृषभ संस्थान..... द्र अनशन

महास्थंडिल-निर्माण की प्रमुखता

....गामस्स व नगरस्स व, सियाणकरणं पढम वत्थुं ॥

ग्राम-नगरादीनां.....निवेश्यमानानां वास्तुविद्यानु-
सारेण प्रथमं श्मशानवास्तु निरूप्य ततः शेषाणि देवकुल-
सभा-सौधादिवास्तुनि निरूप्यन्ते ।..... (बृभा १५०५ वृ)

वास्तुविद्या के अनुसार नये गांव और नगर बसाते समय सर्वप्रथम श्मशानभूमि का, तत्पश्चात् मंदिर, सभा, प्रासाद आदि निर्माणस्थलों का निरीक्षण और निश्चय किया जाता है।

* महास्थंडिल की दिशा : गुणदोषविचारणा द्र महास्थंडिल

विचारकल्पिक—'उच्चारप्रसवणसप्तैकक' नामक अध्ययन
का ज्ञाता। द्र समिति

विद्या—देवी-अधिष्ठित अक्षरपद्धति। द्र मंत्र-विद्या

विनय—विनम्रता। आचार। शिक्षा।

१. विनय के चार प्रकार

२. प्रतिरूप विनय के प्रकार

० उपचार विनय के प्रकार

३. प्रतिरूप विनय : श्वेत काक आदि दृष्टांत

* शिष्य की विनयप्रतिपत्ति के भेद द्र अंतेवासी

४. लोकोत्तर विनय बलवान् : गंगा दृष्टांत

* विनीत को ही सूत्र की वाचना द्र वाचना

१. विनय के चार प्रकार

पडिरूवग्गहणेणं विणओ खलु सूइतो चउविगण्णो ।

नाणे दंसण-चरणे, पडिरूव चउत्थओ होति ॥

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तहा अनिण्हवणे ।
 वंजण-अत्थ-तदुभए, अट्टविधो नाणविणओ उ ॥
 निस्संकिंय निक्कंखिय, निव्वित्तिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
 उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ट ॥
 पणिधानजोगजुत्तो, पंचहि समितीहिं तिहि य गुत्तीहिं ।
 एस उ चरित्तविणओ, अट्टविहो होति नायव्वो ॥
 (व्यभा ६२-६५)

'प्रतिरूप' शब्द के द्वारा चार विकल्प वाला विनय सूचित किया गया है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और प्रतिरूप विनय ।

ज्ञानविनय आठ प्रकार का है—१. काल २. विनय ३. बहुमान ४. उपधान ५. अनिह्वन ६. सूत्र ७. अर्थ ८. सूत्रार्थ ।

दर्शन विनय आठ प्रकार का है—१. निःशंकित २. निष्कांक्षित ३. निर्विचिकित्सा ४. अमूढदृष्टि ५. उपबृंहण ६. स्थिरीकरण ७. वात्सल्य ८. प्रभावना ।

चारित्र विनय आठ प्रकार का है—पांच समिति और तीन गुप्ति—इनके द्वारा प्रणिधानयोगयुक्त होना चारित्र विनय है ।

* काल, विनय आदि आचार और दृष्टांत द्व आचार

२. प्रतिरूप विनय के प्रकार

पडिरूवो खलु विणओ, काय-वइ-मणे तहेव उवथारे ।
 अट्ट चउव्विह दुविहो, सत्तविह परूवणा तस्स ॥
 अब्भुट्ठाणं अंजलि-आसणदाणं अभिग्गह-किती य ।
 सुस्सूसणा य अभिगच्छणा य संसाहणा चेव ॥
 हित-मित-अफरुसभासी, अणुवीइभासि स वाइओ विणओ ।
 वाहिविरुद्धं भुंजति, देहविरुद्धं च आउरो कुणति ।
 आयासऽकालचरियादिवारणं एहियहियं तु ॥
 सामायारी सीदंत चोयणा उज्जमंत संसा य ।
 दारुणसभावयं चिय, वारेति परंस्थहितवादी ॥
 अत्थि पुण काइचिट्ठा, इह-परलोगे य अहियया होति ।
 थद्ध-फरुसत्त-नियडी, अतिलुद्धत्तं व इच्चादी ॥
 तं पुण अणुच्चसहं, वोच्छिण्ण मितं च भासते मउयं ।
 मम्मेसु अदूमंतो, सिया व परियागवयणेणं ॥
 तं पि य अफरुस-मउयं, हिययग्गाहिं सुपेसलं भणइ ।
 नेहंमिव उगिरंतो, नयण-मुहेहिं च विक्संतो ॥

तं पुण ऽविरेहे भासति, न चेव तत्तोऽपभासियं कुणति ।
 जोएति तहा कालं, जह वुत्तं होइ सफलं तु ॥
 अमितं अदेसकाले, भावियमवि भासियं निरुवयारं ।
 आयत्तो वि न गेणहति, किमंग पुण जो पमाणत्थो ॥
 पुव्वं बुद्धीए पासित्ता, ततो वक्कमुदाहरे ।
 अचक्खुओ व्व नेतारं, बुद्धिं अन्नेसए गिरा ॥
 माणसिओ पुण विणओ, दुविहो उ समासतो मुणेयव्वो ।
 अकुसलमणोनिरोहो, कुसलमणउदीरणं चेव ॥
 (व्यभा ६६-७७)

प्रतिरूप विनय के चार भेद हैं—कायविनय, वचनविनय, मनविनय और उपचार विनय । इन चारों के क्रमशः आठ, चार, दो और सात प्रकार हैं—

० कायविनय—इसके आठ प्रकार हैं—गुरु आदि के आने पर खड़े होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, अभिग्रह (गुरु आज्ञा के अनुसार कार्य करने का संकल्प करना), कृतिकर्म करना, शुश्रूषा करना, सामने जाना और पहुंचाने जाना ।

० वचनविनय—इसके चार प्रकार हैं—हितभाषण, मितभाषण, अपरुषभाषण तथा अनुवीचिभाषण (विमर्शपूर्वक बोलना) ।

१. हितभाषी—व्याधिग्रस्त मुनि व्याधिवर्धक आहार करता है, ग्लान मुनि (अनशन आदि) देहविरुद्ध आचरण करता है । एक मुनि शक्तिसीमा का अतिक्रमण कर कोई कार्य करता है, अकालचर्या करता है—जो मुनि इन कार्यों का निषेध करता है, वह इहलोक हितभाषी है । जो सामाचारी के आचरण में विषण्ण मुनि को प्रेरित-प्रोत्साहित करता है, उद्यमशील की प्रशंसा करता है, दारुण स्वभाव का वारण-निवारण करता है, वह परलोकहितभाषी है । स्तब्धता (अनग्रता) आदि कायिकी चेष्टा, परुषता आदि वाचिक चेष्टा, माया आदि मानसिक चेष्टा, अतिलोभता आदि चेष्टाएं इहलोक और परलोक में अहितकारी होती हैं ।

२. मितभाषी—जो मन्दस्वर में बोलता है, स्पष्ट और परिमित बोलता है, मृदु बोलता है, मर्मवेधी वचन नहीं बोलता तथा अन्यापदेश से गुण-दोषों का वर्णन करता है, वह मितभाषी है ।

३. अपरुषभाषी—जो अनिष्टुर, मृदु, हृदयग्राही और मनोज्ञ वचन बोलता है । वह प्रफुल्ल नयन और वदन से बोलता हुआ ऐसा प्रतीत होता है, मानो आंतरिक स्नेह प्रकट हो रहा है ।

४. अनुवीचिभाषी—जो प्रत्यक्ष में हित-मित बोलता है, परोक्ष में अपभाषण नहीं करता तथा वैसा अवसर देखता है, जिसमें कथित वचन सफल होता है। जिनमें प्रभूत अक्षर हैं, जो देशोचित और कालोचित नहीं हैं, ऐसे निरूपकारी वचनों को अधीन व्यक्ति भी सुनना नहीं चाहता, प्रमाणस्थ (मान्य) पुरुष की तो बात ही क्या? इसलिए पहले बुद्धि से पर्यालोचन करना चाहिये, फिर बोलना चाहिए। आचार्य ने कहा—

शिष्य! तेरी वाणी बुद्धि का जैसे अन्वेषण—अनुगमन करे, जैसे अंधा आदमी अपने नेता का अनुगमन करता है।

० मन विनय—यह संक्षेप में दो प्रकार का है—अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की प्रवृत्ति।

० उपचार विनय के प्रकार

अब्भासवत्ति छंदाणुवत्तिया कज्जपडिकिती चेव।
 अत्तगवेसण कालणणुया य सब्बाणुलोमं च॥
 गुरुणो य लाभकंखी, अब्भासे वट्टते सया साधू।
 आगार-इंगिएहिं, संदिट्ठो वत्ति काऊणं॥
 कालसभावाणुमता, आहारुवही उवस्सया चेव।
 नाउं ववहरति तहा, छंदं अणुवत्तमाणो उ॥
 इह-परलोगासंसविमुक्कं कामं वयंति विणयं तु।
 मोक्खाहिगारिएसुं, अविरुद्धो सो दुपक्खे वि॥
 एमेव य अनिदाणं, वेयावच्चं तु होति कायव्वं।
 कयपडिकिती वि जुज्जति, न कुणति सब्बत्थ तं जइ वि॥
 दव्वावदिमादीसुं, अत्तमणत्ते व गवेसणं कुणति।
 आहारदिपयाणं, छंदम्मि उ छट्ठो विणओ॥
 सामायारिपरूवण, निट्ठेसे चेव बहुविहे गुरुणो।
 एमेव त्ति तथ त्ति य, सब्बत्थणुलोमया एसा॥
 (व्यभा ७८-८४)

उपचार विनय के सात प्रकार हैं—

१. अभ्यासवर्तिता—परमार्थ लाभ का आकांक्षी शिष्य गुरु के आकार और इंगित से उनके अभिप्राय को जानकर अथवा गुरु द्वारा संदिष्ट कार्य को करने के लिए सदा गुरु के समीप रहे।

२. छंदोनुवर्तिता—अमुक आहार, उपाधि और उपाश्रय अमुक काल में गुरु की प्रकृति के अनुकूल है—यह जानकर गुरु के अभिप्राय का अनुवर्तन करते हुए उसी रूप में उन वस्तुओं का व्यवहार करना।

३. कार्यहेतुक—कार्य की सिद्धि के लिए अनुकूल वर्तन करना। तीर्थकरों ने इहलोक और परलोक की आशंसा से मुक्त विनय का प्रतिपादन किया है, फिर कार्यहेतुक विनय क्यों? आचार्य कहते हैं—मोक्षार्थी और कार्यहेतुक विनय में परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि उनकी प्रवृत्ति मोक्ष की ही अंगभूत है।

४. कृतप्रतिकृति—कृत उपकार के प्रति अनुकूल वर्तन करना—आचार्य ने मुझे ज्ञान, दर्शन और चारित्र के लाभ से उपकृत किया है इसलिए मुझे उनका विनय करना चाहिए। यद्यपि मुनि सारे कार्य किसी वस्तु की प्राप्ति के संकल्प से मुक्त होकर निर्जरा के लिए करता है परन्तु कहीं-कहीं कृतप्रतिकृति की बुद्धि से भी प्रवृत्ति करता है, वह भी विहित है।

५. आर्त्तगवेषणा—आर्त्त-अनार्त्त मुनि के लिए द्रव्य आदि की गवेषणा करना। उसके चार विकल्प हैं—

- ० द्रव्य आपद्—दुर्लभ द्रव्य की संप्राप्ति का प्रयत्न करना।
- ० क्षेत्र आपद्—कांतार में फंसे मुनि के निस्तारण का प्रयत्न करना।
- ० काल आपद्—दुर्भिक्ष आदि में मुनियों की सेवा करना।
- ० भाव आपद्—गाढ रत्न मुनि की तितिक्षा के साथ और अनार्त्त मुनि की यथाशक्ति सेवा करना।

६. कालज्ञता—आचार्य आदि के अभिप्राय को समझकर कालक्षेप किए बिना उन्हें आहार आदि प्रदान करना।

७. सर्वानुलोमता—गुरु के सामाचारी—प्ररूपण तथा बहुविध निर्देशों को सुनकर 'यह ऐसा ही है', 'यह ठीक है'—ऐसा कहना।

से भिक्खू.....आहारातिणियं दूडुज्जमाणे अंतरा से पाडिपहिया उवागच्छेज्जा। ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा—आउसंतो! समणा! के तुब्भे? कओ वा एह? कहिं वा गच्छिहिह? जे तत्थ सब्बरातिणिए से भासेज्ज वा, वियागरेज्ज वा। रातिणियस्स भासमाणस्स वा, वियागरेमाणस्स वा णो अंतराभासं भासेज्जा.....॥ (आचूला ३/५३)

यथारालिक क्रम से—रत्नाधिक के साथ परिव्रजन करते हुए भिक्षु अथवा भिक्षुणी के मार्ग में प्रातिपथिक आ जाएं, वे इस प्रकार पूछें—आयुष्मन्तो! श्रमणो! आप कौन हैं? कहां से आये हैं? कहां जायेंगे? जो उनमें सर्वरालिक (ज्येष्ठ) हो, वह बोले, उत्तर दे। भाषण या व्याकरण करते हुए रालिक के बीच में कोई न बोले।

३. प्रतिरूप विनय : श्वेत काक आदि दृष्टांत

चउथा वा पडिरूवो, तत्थेगणुलोमवयणसहितत्तं ।
 पडिरूवकायकिरिया, फासणसव्वाणुलोमं च ॥
 अमुगं कीरउ आसं ति, भणति अणुलोमवयणसहितो उ ।
 वयणपसादादीहि य, अभिणंदति तं वइं गुरुणो ॥
 चोदयंते परं श्वेरा, इच्छाणिच्छे य तं वइं ।
 जुत्ता विणयजुत्तस्स, गुरुवक्काणुलोमता ॥
 गुरुवो जं पभासंति, तत्थ खिप्पं समुज्जमे ।
 न ऊ सच्छंदया सेया, लोए किमुत उत्तरे ॥
 जधुत्तं गुरुनिद्देसं, जो वि आदिसती मुणी ।
 तस्सा वि विहिणा जुत्ता, गुरुवक्काणुलोमता ॥
 अद्धानवायणाए, निण्णासणयाए परिकिलंतस्स ।
 सीसादी जा पाया, किरिया पादादऽविणओ तु ॥
 जत्तो व भणाति गुरू, करेति कितिकम्म मो ततो पुव्वं ।
 संफासणविणओ पुण, परिमउयं वा जहा सहति ॥
 वातादी सट्टाणं, वयंति बद्धासणस्स जे खुभिया ।
 खेदजओ तणुथिरया, बलं च अरिसादओ नेवं ॥
 सेतवपू मे कागो, दिट्ठो चउदंतपंडरो वेभो ।
 आमं ति पडिभणंते, सव्वत्थऽणुलोमपडिलोमे ॥
 मिणु गोणसंगुलेहिं, गणेह से दाढवक्कलाइं से ।
 अगंगुलीय वग्घं, तुद डेव गडं भणति आमं ॥
 (व्यभा ८६-९५)

अथवा प्रतिरूप विनय के चार प्रकार हैं—

१. अनुलोम वचनसहितता—शिष्य! अमुक कार्य करो—गुरु के इस निर्देश पर अनुलोम वचन वाला शिष्य स्वीकृतिसूचक 'आम' (हां या तहत्) शब्द का उच्चारण करता है और अपने मुख की प्रसन्नता आदि से गुरु के उस वचन का अभिनंदन करता है।

आचार्य शिष्य को प्रेरणा देते हैं, उस वचन के प्रति इच्छा हो या अनिच्छा, विनयसंपन्न शिष्य के लिए तो गुरुवचन के अनुकूल वर्तन करना ही युक्त है। गुरु जो कहते हैं, उस विषय में शिष्य को शीघ्र उद्यम करना चाहिए। स्वच्छन्दता लोक में भी श्रेयस्करी नहीं है तो लोकोत्तर मार्ग में तो वह श्रेयस्करी ही ही कैसे सकती है? जो कोई भी मुनि यथोक्त गुरुनिर्देश के पालन

का आदेश देता है, उसके भी उस आदेश का सूत्रोक्तविधि से पालन करना गुरुवाक्यानुलोमता विनय है।

२. प्रतिरूप कायक्रिया विनय—मार्ग में चलने, वाचना देने अथवा निरंतर बैठे रहने से गुरु क्लांत-श्रांत हो जाते हैं। उनका सिर से प्रारंभ कर पैर तक मर्दन करना चाहिए। यह विश्रामणा (पगचंपी आदि) प्रतिरूप कायक्रिया विनय है। पैर से प्रारंभ कर सिर तक चांपना अविनय है। अथवा गुरु जिस अंग से प्रारंभ करने का निर्देश दें, उसी से विश्रामणा प्रारंभ करे, कृतिकर्म करे। आज्ञानुरूप होने से यह अविनय नहीं है।

३. संस्पर्शन विनय—गुरु की विश्रामणा मृदुता से करे। वे जितना सहन कर सकें, उस प्रकार से करे। एक आसन में लम्बे समय तक बैठे रहने से वात, पित्त और कफ संक्षुब्ध हो जाते हैं। विश्रामणा से वे पुनः अपने स्थान पर आ जाते हैं, मार्गगमन, वाचना आदि से होने वाली थकान दूर हो जाती है, शरीर सुदृढ़ होता है, बल बढ़ता है तथा अर्श आदि रोग नहीं होते।

४. सर्वत्र अनुलोमता विनय—'मैंने श्वेत रंग वाला कौआ देखा है अथवा मैंने पाण्डुर वर्ण वाला चतुर्दन्त हाथी देखा है'—गुरु के द्वारा इस प्रकार के लोकव्यवहारविरुद्ध प्रतिलोम वचन कहे जाने पर शिष्य कहता है—हां, हां (आपने देखा है)। ऐसा कहने वाला शिष्य सर्वत्र अनुलोमता विनय का प्रयोग करता है। यदि उस विषय में कुछ पूछना हो तो गुरु को एकान्त में पूछे।

गुरु शिष्य को यदि कहे—'वत्स! वह सर्प कितने अंगुल परिमाण का है? उसके कितनी दाढ़ाएं हैं? उसकी पीठ पर बालों के कितने मंडल हैं?—इन सबको गिनकर बताओ। अपनी अंगुलियों के अग्रभाग से व्याघ्र को व्यथित करो। इस कूप को लांघ जाओ।' इस प्रकार गुरु के द्वारा प्राणापहारी वचन कहे जाने पर शिष्य उन आज्ञाओं को 'तहत्' कहकर सहर्ष स्वीकार करता है।

४. लोकोत्तर विनय बलवान् : गंगा दृष्टांत

विणओ उत्तरिओ ति य, बलिओ गंगा कतोमुही वहति ।
 पुव्वमुही अचलंतो, भणति निवं आगितिजुतो वि ॥
 रण्णा पदंसितो एस, वयउ अविणीयदंसणो समणो ।
 पच्चागयउस्सग्गं, काउं आलोयए गुरुणो ॥
 आदिच्च दिसालोयण, तरंगतणमादिया य पुव्वमुही ।
 मा होज्ज दिसामोहो, पुट्ठो वि जणो तहेवाह ॥

वध-बंध-छेद-मारण, निव्विसिय धणावहार लोगम्मि ।
भवदंडो उत्तरिओ, उच्छहमाणस्स तो बलिओ ॥
(व्यभा २५५४-२५५७)

राजा ने पूछा—भंते! लौकिक विनय बलवान् है या लोकोत्तर विनय? आचार्य ने कहा—लोकोत्तर विनय बलवान् है।

राजा ने परीक्षा करने की इच्छा से पहले सुन्दर आकृति वाले व्यक्ति से कहा—जाओ, जानकारी कर बताओ, गंगा किस ओर बहती है? वह वहां से प्रस्थित नहीं हुआ। वहीं खड़े-खड़े उसने कहा—राजन्! यह बात तो सामान्य व्यक्ति भी जानता है कि गंगा पूर्वाभिमुखी बहती है। फिर राजा ने अविनीत दीखने वाले श्रमण को निर्देश दिया। आचार्य ने उसे भेजा। वह आचार्य की आज्ञा लेकर गया, लौटकर उसने कायोत्सर्ग कर गुरु को निवेदन किया—

भंते! मैं आपकी अनुमति लेकर गंगातट पर गया, सूर्य को देखा, क्योंकि सूर्य से सही दिशाबोध हो जाता है। फिर तरंगों के साथ पूर्वाभिमुख बहते तृणों को देखा। दिग्मूढता न हो, इसके लिए दो-तीन व्यक्तियों से भी पूछा। उन्होंने भी यही बताया—गंगा पूर्व दिशा की ओर बहती है।

राजा ने पुनः जिज्ञासा की—गुरुदेव! लोक में जो हमारी आज्ञा का उल्लंघन करता है, उसका वध, बन्धन, छेदन आदि किया जाता है। किसी को मृत्युदण्ड, किसी को देशनिकाला और किसी का धन-अपहरण किया जाता है। फिर भी कई लोग आज्ञा की अवमानना कर देते हैं। आपके यहां ऐसे कठोर दण्डों का भय नहीं है, फिर भी प्रयत्नपूर्वक अक्षरशः आज्ञा की अनुपालना की जाती है। इसका क्या कारण है?

आचार्य ने कहा—श्रमण को भवदण्ड का भय है। वह जानता है कि आचार्य की आज्ञा का भंग करने वाला इहभव और परभव दोनों में दुःखी होता है। अतः वह विनयबली होता है—आंतरिक उत्साह के साथ उद्यम-पराक्रम करता है।

विहार—पदयात्रा, देशाटन ।

१. द्रव्य-भाव विहार और गीतार्थ
२. गीतार्थ : विहारकल्पिक
३. यात्रापथ में वृषभ के कर्त्तव्य

० श्रमणी-रक्षक वृषभ की अर्हता	
* उपकरण सहित विहार	द्र उपधि
४. पादविहारी के प्रकार : उपदेश आहिण्डक.....	
५. भावी आचार्य के लिए देशाटन अनिवार्य	
० देशाटन से लाभ, जनपद-परीक्षा	
* उपसम्पदा.....देशाटन	द्र उपसम्पदा
६. आचार्य के प्रस्थान की विधि	
७. संघाटक (मुनिद्वय) का विहार कब ? कैसे ?	
० संघाटक-विहार की अर्हता	
८. एकाकी विहारण के दोष	
९. मुनि और शुद्ध सार्थ	
* यात्रापथ में उपयोगी सार्थ	द्र सार्थवाह
* पथ में भी शय्यातर	द्र शय्यातर
१०. रात्रि में विहार-निषेध	
११. ऋतुबद्धिक क्षेत्र और मासकल्प विहार	
० नवकल्पी विहार	
* वर्षावास में विहार निषेध, अपवाद	द्र पर्युषणाकल्प
* जिनकल्प-स्थविरकल्प : विहारकाल	द्र स्थविरकल्प
१२. अराज्य-द्विराज्य-वैराज्य-गमन-निषेध	
* आर्यक्षेत्र में विहारण क्यों ?	द्र आर्यक्षेत्र
* आर्यकालक का स्वर्णभूमि में गमन	द्र अनुयोग
* मुनि की नौकाविहार-विधि	द्र नौका

१. द्रव्य-भाव विहार और गीतार्थ

.....विविधपगारेहि रयं, हरती जम्हा विहारो उ ॥
आहारादीणट्ठा, जो य विहारो अगीत-पासत्थे ।
जो यावि अणुवउत्तो, विहरति दब्बे विहारो उ ॥
गीतत्थो तु विहारो, वितिओ गीतत्थनिस्सितो होति ।
एत्तो ततियविहारो नाणुण्णातो जिणवरेहिं ॥
सो पुण होती दुविधो, समत्तकप्पो तथेव असमत्तो ।
तत्थ समत्तो इणामो, जहण्णमुक्कोसतो होति ॥
गीतत्थाणं तिण्हं, समत्तकप्पो जहन्नतो होति ।
बत्तीससहस्साइं, हवंति उक्कोसओ एस ॥

(व्यभा ९९५-९९७, १०१०, १०११)

विहार का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—विविध प्रकारों से कर्मरजों का हरण करने वाला ।

० द्रव्य विहार—आहार, उपधि आदि द्रव्यों की सम्प्राप्ति के लिए अगीतार्थ और पार्श्वस्थ का विहार। अनुपयुक्त (उपयोगशून्य) मुनि का विहार भी द्रव्य विहार है।

० भाव विहार—इसके दो प्रकार हैं—१. गीतार्थ साधुओं का विहार। २. गीतार्थनिश्चित विहार। इनके अतिरिक्त तीसरा विहार अर्हतों द्वारा अनुज्ञात नहीं है। भावविहार के दो अन्य प्रकार हैं—

१. असमाप्तकल्प (जिसके पास पूर्ण सहयोगी न हों)।
२. समाप्तकल्प—इसके दो भेद हैं—जघन्य—तीन गीतार्थ मुनियों का विहार और उत्कृष्ट—बत्तीस हजार मुनियों का विहार।

२. गीतार्थ : विहारकल्पिक

जिनकल्पिओ गीयत्थो, परिहारविसुद्धिओ वि गीयत्थो।
गीयत्थे इड्ढिदुगं, सेसा गीयत्थनीसाए॥
आयरिय गणी इड्ढी, सेसा गीता वि हॉति तनीसा।
गच्छगय निग्गया वा, धाणनिउत्ताऽनिउत्ता वा॥
आयारपकप्पधरा, चउदसपुव्वी अ जे अ तम्मज्जा।
तनीसाए विहारो, सबाल-वुड्ढस्स गच्छस्स॥
(बृभा ६९१-६९३)

जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिक, प्रतिमाप्रतिपन्नक और यथालन्दिक निश्चित रूप से गीतार्थ होते हैं (क्योंकि ये जघन्यतः नौवें पूर्व के अन्तर्गत आचार नामक तृतीय वस्तु के ज्ञाता होते हैं) तथा गच्छ में ऋद्धिद्विक—आचार्य और उपाध्याय—ये नियमतः गीतार्थ होते हैं अतः इनका विहार स्वतंत्र रूप से होता है। शेष मुनि जो गच्छगत हैं अथवा गच्छनिर्गत (अशिव आदि कारणों से एकाकी), प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक आदि षट्ठों पर नियुक्त हैं अथवा सामान्य साधु—ये सब गीतार्थ होने पर भी आचार्य-उपाध्याय की निश्रा में विहार करते हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं।

गीतार्थ के तीन प्रकार हैं—

१. जघन्य गीतार्थ—आचारप्रकल्प (निशीथ) के धारक।
२. मध्यम गीतार्थ—कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध आदि के ज्ञाता।
३. उत्कृष्ट गीतार्थ—चौदहपूर्वी।

इनकी निश्रा में आबाल-वृद्ध साधु विहरण करते हैं।

३. यात्रापथ में वृषभ के कर्त्तव्य

पुरतो वच्चंति भिगा, मज्जे वसभा उ मग्गओ सीहा।
पिड्डुओ वसभऽनेसिं, पडियाऽसहुरक्खगा दोण्हं॥

पुरतो य पासतो पिड्डुतो य वसभा हवंति अद्धाणे।
गणवइपासे वसभा, मिगमज्जे नियम वसभेगो॥
वसभा सीहेसु मिगेसु चेव धामावहारविजढा उ।
जो जत्थ होइ असहू, तस्स तह उवग्गह कुणंति॥
भत्ते पाणे विस्सामणे य उवगरण-देहवहणे य।
धामावहारविजढा, तिन्नि वि उवगिण्हए वसभा॥
सभए सरभेदादी, लिंगविओगं च काउ गीयत्था।
खरकम्मिया व होउं, करंति गुत्तिं उभयवग्गे॥
(बृभा २९०१-२९०४, ३०९७)

मार्ग में चलते समय सबसे आगे मृग परिषद् के मुनि (अगीतार्थ) चलें, मध्य में वृषभ मुनि (समर्थ गीतार्थ) तथा पीछे सिंह परिषद् के मुनि (गीतार्थ) चलें। अन्य आचार्यों का मत है—वृषभ पीछे चलते हैं क्योंकि अगीतार्थ-गीतार्थ या बाल-वृद्ध साधुओं में जो परिश्रान्त अथवा भूख-प्यास से पीड़ित हो जाते हैं तो उनकी रक्षा करने वाले वृषभ पीछे चलते हैं अथवा बाल-वृद्ध मुनियों के आगे, पीछे और पार्श्व में वृषभ चलते हैं। आचार्य के पार्श्व में नियमतः वृषभ होते हैं। मृग परिषद् वाले मुनियों के मध्य भी नियमतः एक वृषभ साधु होता है।

वृषभ साधु अपने बल-वीर्य का गोपन नहीं करते हुए, मृग या सिंह परिषद् का कोई सदस्य मुनि जब जहां असहिष्णु हो जाता है, उसका उसके अनुरूप उपग्रह करते हैं। भूख लगने पर आहार और प्यास लगने पर पानी लाकर देते हैं। मार्ग में थकने पर उनकी विश्रामणा करते हैं। जो साधु अपने उपकरणों या शरीर को वहन करने में असमर्थ है, उसको, उसके उपकरणों को वृषभ साधु वहन करते हैं। इस प्रकार अनिगूहित बल-वीर्य वाले वृषभ मुनि मृग, सिंह और वृषभ—तीनों परिषदों का उपकार करते हैं।

चोर आदि का भय होने पर वृषभ स्वरभेद और वर्णभेद करने वाली गुटिका के द्वारा स्वर और वर्ण भेद करके या वेश बदल कर या आरक्षक होकर साधु-साध्वियों की सुरक्षा करते हैं।

० श्रमणी-रक्षक वृषभ की अर्हता

कयकरणा थिरसत्ता, गीया संबंधिणो थिरसरीरा।
जियनिहिंदिय दक्खा, तब्भूमा परिणयवया य॥
(बृभा २४४५)

श्रमणी-रक्षक की नौ अर्हताएं हैं—१. कृतकरण—सुरक्षाकर्म में अभ्यस्त। २. धृति-सम्पन्न। ३. सूत्रार्थ को जानने वाला। ४. उस श्रमणीवर्ग के भ्राता आदि संबंध वाला। ५. शारीरिक बल से युक्त। ६. निद्रा और इन्द्रियों को जीतने वाला। ७. कुशल। ८. उस भूमि के लोगों से परिचित। ९. मध्यम वयःप्राप्त।

४. पादविहारी के प्रकार : उपदेश आहिण्डक.....

.....दूताऽऽहिंड विहारी, ते वि य ह्येती सपडिवक्खा ॥
दूज्जंता दुविधा, णिव्कारणिगा तहेव कारणिगा।
असिवादी कारणिता, चक्के थूभाईता इतरे ॥
उवदेस अणुवदेसा, दुविहा आहिंडगा मुणेयव्वा।
विहरंता वि य दुविधा, गच्छगता निग्गता चेव ॥

अध्वप्रतिपन्नास्त्रिविधाः—द्रवन्त आहिण्डका विहारि-
णश्च। तत्र द्रवन्तः—ग्रामानुग्रामं गच्छन्तः, आहिण्डकाः—
सततपरिभ्रमणशीलाः, विहारिणः—मासं मासेन विहरन्तः।
.....उपधेर्लेपस्य वा निमित्तं गच्छस्य वा बहुगुणतरमिति कृत्वा,
आचार्यादीनां वा आगाढे कारणे ये द्रवन्ति ते कारणिकाः। ये
पुनरुत्तरापथे धर्मचक्रं मथुरायां देवनिर्मितस्तूपं आदिशब्दात्
कोशलायां जीवन्तस्वामिप्रतिमा तीर्थकृतां वा जन्मादिभूमय
एवमादिदर्शनार्थं द्रवन्तो निष्कारणिकाः। ये सूत्रा-ऽर्थौ गृहीत्वा
भविष्यदाचार्या गुरुणामुपदेशेन विषया-ऽऽचार-भाषो-
पलम्भनिमित्तमाहिण्डन्ते ते उपदेशाहिण्डकाः, ये तु कौतुकेन
देशदर्शनं कुर्वन्ति तेऽनुपदेशाहिण्डकाः। गच्छवासिनः
ऋतुबद्धे मासं मासेन विहरन्ति। गच्छनिर्गता द्विविधाः—
विधिनिर्गता अविधिनिर्गताश्च। विधिनिर्गताश्चतुर्धा—
जिनकल्पिकाः प्रतिमाप्रतिपन्ना यथालन्दिकाः शुद्धपारिहारि-
काश्चेति। अविधिनिर्गताः सारणादिभिस्त्याजिता एकाकी-
भूताः। (बृभा ५८२३-५८२५ वृ)

मार्गप्रतिपन्न मुनि तीन प्रकार के होते हैं—

१. द्रोता—एक गांव से दूसरे गांव जाने वाले मुनि के दो प्रकार हैं—
० कारणिक—अशिव, दुर्भिक्ष, राजद्वेष आदि कारणों से गमन करने वाले। अथवा वस्त्र, पात्र, लेप आदि लाने के लिए, गच्छ का उपकार करने के लिए तथा आचार्य आदि के आगाढ कारण उत्पन्न होने पर गमन करने वाले।

० निष्कारणिक—उत्तरापथ में धर्मचक्र, मथुरा में देवनिर्मित स्तूप, कोशल में जीवन्तस्वामी की प्रतिमा तथा तीर्थकरों की जन्म आदि भूमियां—इन्हें देखने के लिए जाने वाले।

२. आहिण्डक—सतत भ्रमणशील मुनि। इनके दो प्रकार हैं—
० उपदेश आहिण्डक—सूत्र और अर्थ का अध्ययन कर गुरु के निर्देशानुसार नाना देशों के आचार-व्यवहार, भाषा आदि के ज्ञान के लिए देशाटन करने वाले भावी आचार्य।

० अनुपदेश आहिण्डक—कुतूहलवश देश-दर्शन करने वाले मुनि।
३. विहारी—मासकल्पविहारी। इनके दो प्रकार हैं—

० गच्छगत—ऋतुबद्ध काल में मासकल्पविहारी गच्छवासी।
० गच्छनिर्गत—जिनकल्पिक, प्रतिमाप्रतिपन्न, यथालन्दिक और शुद्धपारिहारिक—ये विधिपूर्वक गच्छ से निर्गमन कर अपने-अपने कल्प के अनुसार विहरण करते हैं। जो संघीय सारणा-वारणा से परित्यक्त होकर अविधि से निर्गमन करते हैं, वे एकाकी स्वच्छंदविहारी होते हैं।

उद्दरे सुभिक्षे, खेमे निरुवद्वे सुहविहारे।
जइ पडिवज्जति पंथं, दप्पेण परं न अन्नेणं ॥
(बृभा ३०५३)

जहां पर्याप्त भिक्षा प्राप्त हो, आहार सुलभ हो, शत्रुसेना आदि का भय न हो, महामारि आदि उपद्रव न हों, मासकल्प-विधि से सुखपूर्वक विहरण संभव हो, ऐसे जनपद के होने पर भी यदि मुनि केवल दर्प से (देशदर्शन आदि के निमित्त) पथपरिव्रजन करता है, तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

५. भावी आचार्य के लिए देशाटन अनिवार्य

जइ वि पगासोऽहिगओ, देसीभासाजुओ तहा वि खलु।
उंदुय सिया य वीसुं, एरगमाई य पच्चक्खं ॥
जो वि पगासो बहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो।
जच्चंधस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु ॥
आयरियत्तअभविए, भयणा भविओ परीइ नियमेणं।
अप्पतइओ जहन्ने, उभयं किं चाऽऽरियं खेत्तं ॥

‘उन्दुकम्’ इति स्थानम्। ‘सिय’ ति स्यात् शब्दो भवत्वर्थे
आशंकायां भजनायां वा। ‘वीसुं’ ति विष्वक् पृथगित्यर्थः।
‘एरका’ गुन्द्रा भद्रमुस्तक इत्यर्थः.....पयः पिच्चं नीरमित्यादयश्च

शास्त्रप्रसिद्धाः शब्दास्तेषु तेषु देशेषु लोकेन तथातथा व्यवहिय-
माणा देशदर्शनं कुर्वताः... । (बृभा १२२३-१२२५ वृ)

यद्यपि शिष्य चौबीस वर्षों में सूत्र और उसके अर्थ को सम्यक् रूप से अधिगत कर लेता है, फिर भी देशीभाषा के परिज्ञान के लिए देशदर्शन अवश्य करना चाहिए। इससे शास्त्रों में समागत देशी शब्द प्रत्यक्ष हो जाते हैं। यथा—

उन्दुक—स्थान। सिय—१. भवति। २. आशंका। ३. भजना। वीसुं—
विष्वक्, पृथक्। एक—गुन्द्रा, भद्रमुस्तक। पयः—पिच्छं, नीरं।

जिस अर्थ का अनेक बार अभ्यास किया है, उस अर्थ को प्रत्यक्षतः उपलब्ध न करना वैसा ही है, जैसा कि जात्यन्ध व्यक्ति के लिए स्फुट चन्द्रमा का भी साक्षात् न होना।

जो शिष्य आचार्य पद के योग्य नहीं है, उसके लिए देशदर्शन वैकल्पिक है, किन्तु जो शिष्य आचार्यपद के योग्य है, वह सूत्रार्थग्रहण के अनंतर नियमतः पर्यटन करता है।

वह जघन्यतः आत्मतृतीय होता है (उसके साथ कम से कम दो साधु और होते हैं)। वह देशाटन से वर्षावास और ऋतुबद्धकाल के योग्य क्षेत्रों तथा आर्य-अनार्य क्षेत्रों को जान लेता है।

० देशाटन से लाभ, जनपदपरीक्षा

दंसणसोही थिरकरण देस अइसेस जणवयपरिच्छा ।
जम्पण-निक्खमणोसु य, तित्थयराणं महाणुभावाणं ।
इत्थ किर जिणवराणं, आगाढं दंसणं होइ ॥
संवेगं संविग्गाण जणयए सुविहिओ सुविहियाणं ।
आउत्तो जुत्ताणं, विसुद्धलेसो सुलेस्साणं ॥
नाणादेसीकुसलो, नाणादेसीकयस्स सुत्तस्स ।
अभिलावअत्थकुसलो, होइ तओ णेण गंतव्वं ॥
कहयति अभासियाण वि, अभासिए आवि पच्चयावेइ ।
सव्वे वि तत्थ पीइं, बंधंति सभासिओ णे त्ति ॥
भविद्याइरिओ देसाण दंसणं कुणइ एस इय सोउं ।
अन्ने वि उज्जमंते, विणिक्खमंते य से पासे ॥
सुत्तत्थे अइसेसा, सामाचारी य विज्ज-जोगाई ।
(बृभा १२२६-१२३०, १२३४, १२३५)

देशाटन से मुख्यतः पांच लाभ होते हैं—

१. दर्शनविशुद्धि—मुनि अतिशायी अचिन्त्यप्रभावी अर्हंतों की जन्म,

अभिनिष्क्रमण आदि से संबंधित भूमियों में विहरण करता हुआ जिनवरों की जन्मभूमि आदि को साक्षात् देखता है, तब निःशंकता के कारण उसका सम्यग् दर्शन अतीव विशुद्ध हो जाता है।

२. स्थिरीकरण—विहरणशील भव्य आचार्य को देखकर तत्रस्थ संविग्न मुनियों में संवेग उत्पन्न होता है। वह स्वयं सुविहित, अप्रमत्त तथा विशुद्धलेश्य होने से तत्रस्थ सुविहित, अप्रमत्त तथा विशुद्ध लेश्या वाले मुनियों का स्थिरीकरण करता है।

३. देशीभाषा कौशल—मगध, मालव, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में भिन्न-भिन्न देशी भाषाएं हैं। वहां विहरण करने वाला मुनि उन-उन देशी भाषाओं में निष्णात हो जाता है और तब वह नाना देशीभाषाओं में निबद्ध आगम सूत्रों के उच्चारण तथा अर्थ-कथन में कुशल हो जाता है। वह मुनि अभाषिक (अव्यक्तवर्णविभागभाषी अथवा स्वदेशीयभाषाभाषी) लोगों को उनकी भाषा में धर्म का उपदेश देता है और उन्हें प्रतिबुद्ध कर प्रब्रजित भी कर लेता है। शिष्य सोचते हैं—ये आचार्य हमारी भाषा में बोलते हैं, अतः हमारे हैं। वे आचार्य के प्रति प्रीति से बंध जाते हैं।

४. अतिशय उपलब्धि—पर्यटक मुनि भिन्न-भिन्न विद्याओं के पारगामी आचार्य तथा बहुश्रुत मुनियों से मिलता है। उसे तीन प्रकार के अतिशयों की उपलब्धि होती है—१. सूत्रार्थ अतिशय २. सामाचारी अतिशय तथा ३. विद्या-योग-मंत्र-विषयक अतिशय। भावी आचार्य देशाटन कर रहे हैं—यह सुनकर तथा उनको देखकर अन्यान्य आचार्यों के शिष्य भी सूत्रार्थग्रहण में पराक्रम करने लगते हैं। गृहस्थ भी उनके पास प्रब्रज्या ग्रहण करते हैं।

५. जनपद-परीक्षा—विविध प्रदेशों की सभ्यता-संस्कृति का ज्ञान।
अब्भे नदी तलाए, कूवे अइपूरए य नाव वणी ।
मंस-फल-पुष्पभोगी, वित्थिन्ने खेत्त कप्प विही ॥
सज्जाय-संजमहिए, दाणाइसमाउले सुलभवित्ती ।
कालुभयहिए खेत्ते, जाणइ पडणीयरहिए य ॥
(बृभा १२३९, १२४०)

मुनि देशदर्शन करता हुआ जनपदों की परीक्षा कर लेता है। यथा—लाट देश में वर्षा के पानी से तथा सिन्धु देश में नदी के पानी से धान्य की निष्पत्ति होती है। द्रविड़ में तालाब के पानी से तथा उत्तरापथ में कूप के पानी से सिंचाई होती है।

- ० बन्नास नदी के पूर से भावित भूमि में धान्य बोया जाता है।
- ० काननद्वीप में नौका के द्वारा आनीत धान्य खाया जाता है।
- ० मथुरा देश में व्यापार के द्वारा जीविका चलाई जाती है।
- ० सिन्धु देश में दुर्भिक्ष होने पर मांस के द्वारा निर्वाह किया जाता है।
- ० तोसलि और कोंकण के वासी पुष्प-फलभोगी होते हैं।
- ० वह मुनि विस्तीर्ण और संकीर्ण क्षेत्रों को जान लेता है।
- ० वह जनपद के आचार को जान लेता है। जैसे सिन्धु देश में मांसाहार अगर्हित माना जाता है।
- ० वह जनपद की सामाचारी को जान लेता है। जैसे सिन्धु देश में धोबी और महाराष्ट्र में कल्याणाल सम्भोजी होते हैं।
- ० वह यह भी जान लेता है—अमुक क्षेत्र स्वाध्याय और संयम साधना के लिए हितकारी है। अमुक क्षेत्र दानी श्रावकों से समाकुल है। अमुक क्षेत्र में भिक्षा सुप्राप्य है। अमुक क्षेत्र वर्षाकाल और ऋतुबद्धकाल के योग्य है, उपद्रवकारी नहीं है।

६. आचार्य के प्रस्थान की विधि

तिहि-करणमि पसत्थे, णक्खत्ते अहिर्वईण अणुकूले।
घेत्तूण णिंति वसभा, अवखे सउणे परिवखंता ॥
.....आयरिया मग्गओ ॥
(बृभा १५४५, १५४६)

प्रशस्त तिथि (नन्दा, भद्रा आदि), प्रशस्त करण (बव, बालव आदि) तथा आचार्य के अनुकूल नक्षत्र के आने पर सबसे पहले वृषभ साधु आचार्य की उत्कृष्ट उपधि को लेकर शकुन देखता हुआ निकले। तत्पश्चात् आचार्य प्रस्थान करें।

७. संघाटक (मुनिद्वय) का विहार कब ? कैसे ?

असिवे ओमोदरिए, राया संदेसणे जतंता वा।
अज्जाण गुरुनियोगा, पव्वज्जा णातिवग्ग दुवे ॥
समगं भिक्खग्गहणं, निक्खमण-पवेसणं अणुणवणं ।.....
(व्यभा १०२५, १०२६)

- निम्न कारणों से दो साधु विहार कर सकते हैं—
- ० अशिव (क्षुद्रदेवताकृत उपद्रव), दुर्भिक्ष या राजप्रद्वेष हो।
 - ० संदेशन—आचार्य द्वारा प्रेषण।
 - ० ज्ञान-दर्शन-वर्धक शास्त्राभ्यास हेतु।
 - ० गुरु की अनुज्ञा से आर्या को दूसरे क्षेत्र में ले जाने हेतु।

- ० दीक्षार्थी के स्थिरीकरण के लिए तथा किसी साधु का ज्ञातिवर्ग वन्दापनीय हो तो उसकी वंदना के लिए।

कारणवश दो साधु विहार करते हैं, तो वे दोनों भिक्षा आदि के लिए एक साथ जाते हैं, वसति से निष्क्रमण या पुनः प्रवेश भी एक साथ करते हैं, शय्यातर को अनुज्ञापित भी एक साथ करते हैं।

० संघाटक-विहार की अर्हता

कयकरणिज्जा थेरा, सुत्तथ्विसारया सुतरहस्सा।
जे य समत्था वोदुं, कालगताणं उवहि-देहं ॥
एय गुणसंपउत्ता, कारणजातेण ते दुयग्गा वि।
उउबद्धमि विहारो, एरिसयाणं अणुणणातो ॥
(व्यभा १७४०, १७४१)

प्रयोजन होने पर ऋतुबद्ध काल में दो साधुओं का विहार भी अनुज्ञात है, यदि वे पांच गुणों से सम्पन्न हों—

- ० कृतकरण—जो संघाटक-विहार में अभ्यस्त हों।
- ० स्थविर—जो श्रुत और दीक्षापर्याय से स्थविर हों।
- ० सूत्रार्थविशारद—जो सूत्रार्थ में निपुण हों।
- ० श्रुतरहस्य—जिन्होंने सूत्र के रहस्यों को अनेक बार सुना हो।
- ० समर्थ—जो मार्ग में कदाचित् एक का देहावसान हो जाये तो उसके मृत शरीर और समस्त उपधि को वहन करने में समर्थ हों।

८. एकाकी विहारण के दोष

एगविहारी अ अजायकप्पिओ जो भवे चवणकप्पे।
उवसंपन्नो मंदो, होहिइ वोसट्टुतिट्ठाणो ॥
नाणाई तिट्ठाणा, अहवण चरणप्पओ पवयणं च।
सुत्त-उत्थ-तदुभयाणि व, उग्गम उप्पायणाओ वा ॥
.....'अजातकल्पिकः' अगीतार्थः, तथा च्यवनं—
चारित्रात् प्रतिपतनं तस्य कल्पः—प्रकारश्च्यवनकल्पः,
पार्श्वस्थादिविहार इत्यर्थः। (बृभा ६९४, ६९८ वृ)

जो अगीतार्थ अकेला होकर विहार करता है, वह च्यवनकल्प—चारित्र से च्युत होकर पार्श्वस्थ विहार करता है। वह एकलविहार को स्वीकार कर सद्बुद्धि से विकल हो जाता है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र—इन तीन स्थानों का परित्याग कर देता है। अथवा इन तीन स्थानों का परित्याग कर देता है—

१. षड्कायविराधना से चारित्र का।
 २. प्रचुर आहार के भक्षण से ग्लान होकर आत्मा का।
 ३. अयतना से व्युत्सर्ग आदि करने से प्रवचन का।
- अथवा सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ का।
अथवा उद्गम, उत्पादन और एषणा की शुद्धि का।

अपुव्वस्स अगहणं, न य संकिय पुच्छणा न सारणया।
गुणयंते अ अदद्दुं, सीदइ एगस्स उच्छाहो॥
चरगाई वुग्गाहण, न य वच्छल्लाइ दंसणे संका।
थी सोहि अणुज्जमया, निप्पग्गहया य चरणम्मि॥
सामन्ना जोगाणं, बज्झो गिहिसन्नसंथुओ होइ।
दंसण-नाण-चरित्ताण मइलणं पावई एक्को॥
(बृभा ६९९-७०१ वृ)

अगीतार्थ एकलविहारी अभिनव ज्ञान का ग्रहण नहीं कर पाता, क्योंकि उस ज्ञान को देने वाला कोई नहीं होता। सूत्र और अर्थ विषयक शंका होने पर किसी के पास पृच्छा का अवकाश नहीं होता। सूत्र और अर्थ का परावर्तन करते समय अशुद्धि के लिए सचेत करने वाला कोई नहीं होता। दूसरे मुनियों को परावर्तन करते हुए न देखकर स्वयं का उत्साह भी मंद हो जाता है।

एकाकी अगीतार्थ मुनि को चरक आदि अन्यतीर्थिक अपनी कुयुक्तियों के द्वारा भ्रमित कर सकते हैं। एकाकी होने के कारण वह साधार्मिक मुनियों के प्रति वात्सल्य तथा उनका उपबृंहण, स्थिरीकरण आदि नहीं कर सकता। उसके मन में शंका आदि दोष उत्पन्न होने पर दर्शन परित्यक्त हो जाता है।

एकाकी होने के कारण स्त्री-संबंधी दोष भी उत्पन्न हो सकते हैं। अपराध की शोधि के लिए वह प्रायश्चित्त किससे ले ? प्रायश्चित्त के बिना विशोधि नहीं होती। सारणा के बिना उद्यमशीलता मंद हो जाती है। गुरु की आज्ञा के नियंत्रण से मुक्त होने के कारण उसका चारित्र परित्यक्त हो जाता है।

एकाकी मुनि विनय, वैयावृत्य आदि श्रामण्य योगों से बाह्य हो जाता है। वह गृहस्थों के समाचरण से परिचित हो जाता है। उसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र की मलिनता आ जाती है।

१. मुनि और शुद्ध सार्थ

सिद्धत्थग पुप्फे वा, एवं वुत्तुं.....॥
यथा 'सिद्धार्थाः' सर्षपाश्चम्यकपुष्पाणि वा शिरसि

स्थापितानि काञ्चिदपि पीडां न कुर्वन्ति, एवं यूयमपि मम कमपि भारं न कुरुथ। (बृभा २८९७ वृ)

मुनि सार्थ के साथ प्रस्थान करने से पूर्व सार्थाधिपति से कहते हैं—'यदि आप हमारा योगक्षेम वहन करना स्वीकार करते हैं तो हम आपके साथ चलने के लिए तैयार हैं।' सार्थाधिपति इसे स्वीकार करता है तो वह शुद्ध सार्थ है। वह कहता है—जैसे सिर पर स्थापित सर्षप और चम्पकपुष्प किञ्चित् भी पीड़ाकारी नहीं होते, वैसे ही आप हमारे लिए भारभूत नहीं हैं।

१०. रात्रि में विहार-निषेध

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंशीण वा राओ वा वियाले वा अद्धानगमणं एत्तए॥ (क १/४४)

साधु-साध्वी रात्रि या विकाल में विहार नहीं कर सकते।

११. ऋतुबद्धिक क्षेत्र और मासकल्प विहार

.....णिक्खमणे य पवेसे, पाउस-सरए य वोच्छामि॥
ऊणातिरित्तमासे, अट्ट विहरिऊण गिम्ह-हेमंते।
एगाहं पंचाहं, मासं च जहा समाहीए॥
काऊण मासकप्पं, तत्थेव उवागवाण ऊणा उ।.....
वासाखेत्तालंभे।.....
पडिमापडिवणणाणं, एगाहो पंच होतऽहालंदे।
जिण-सुद्धाणं मासो, णिक्कारणतो य थेराणं॥
ऊणातिरित्तमासा, एवं थेराण अट्ट णायव्वा।
इयरेसु अट्ट रिचित्तुं, णियमा चत्तारि अच्छंति॥
(निभा ३१४३-३१४८)

मुनि ऋतुबद्ध क्षेत्र से प्रावृत् में निष्क्रमण कर वर्षाक्षेत्र में प्रवेश करते हैं तथा वर्षाक्षेत्र से शरद् में निष्क्रमण कर ऋतुबद्ध क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। जिनको जैसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र-समाधि होती है, वे वैसे विहारण कर वर्षाक्षेत्र में जाते हैं।

ऋतुबद्धकाल में प्रतिमाप्रतिपन्न अनगर एक दिन, यथालंदिक पांच दिन तथा जिनकल्पिक, शुद्धपारिहारिक और स्थविरकल्पिक एक मास तक एक स्थान में रहकर विहार करते हैं। इस प्रकार आठ मास (हेमंत के चार मास और ग्रीष्म के चार मास) विहारण करते हैं। इनमें न्यूनाधिकता भी हो सकती है—

जिस क्षेत्र में आषाढ़ मासकल्प किया, उसी क्षेत्र में वर्षावास करने पर न्यून आठ मास और वर्षावासयोग्य क्षेत्र न मिलने पर भाद्रपद शुक्ला पंचमी को पर्युषण करने पर अधिक आठ मास होते हैं। यह न्यूनाधिकता कारणिक स्थविरकल्पी की अपेक्षा से है। जिनकल्पी तथा निष्कारणिक स्थविरकल्पी यथाविधि आठ मास विहार कर नियमतः चार मास वर्षावास करते हैं।

० नौ कल्पी विहार

....समाणे वा, वसमाणे वा गामाणुगामं दूङ्जमाणे.... ॥

‘समानाः’ इति जंघाबलपरिक्षीणतयैकस्मिन्नेव क्षेत्रे तिष्ठन्तः, तथा ‘वसमानाः’ मासकल्पविहारिणः।

(आचूला १/४६ वृ)

समाणो नाम समधीनः अप्रवसितः।...उदुबद्धि ए अट्टुमासे वासावासं च णवमं, एयं णवविहं विहारं विहरंतो वसमाणो भण्णति।

(नि २/३८ की चू)

समाणे वुड्ढुवासी, वसमाणे णवविकप्पविहारी।... ॥

(निभा १०५४)

मुनि दो रूपों में वास करते हैं—

१. समान (सत्)— जंघाबल की क्षीणता के कारण एक ही क्षेत्र में रहने वाले वृद्धवासी भिक्षु।

२. वसमान—मासकल्पविहारी। ऋतुबद्ध काल के आठ मास के आठ विहार और वर्षावास का नौवां विहार—इस प्रकार नौकल्प-विहारी—ग्रामानुग्राम विहरण करने वाले भिक्षु।

* नौकल्पी विहार द्र श्रीआको १ श्रमण

१२. अराज्य-द्विराज्य-वैराज्यगमन-निषेध

से भिक्खू.....गामाणुगामं दूङ्जमाणे अंतरा से अरायाणि वा....दोरेज्जाणि वा, वेरज्जाणि वा, विरुद्धरज्जाणि वा सति लाढे विहाराए, संथरमाणेहिं जणवएहिं, णो विहारवत्तियाए पवज्जेज्ज गमणाए ॥ (आचूला ३/१०)

भिक्षु ग्रामानुग्राम परिव्रजन करे, मार्ग में अराजक—राजा-विहीन क्षेत्र, द्विराज्य वैराज्य या विरुद्धराज्य वाले प्रदेश हों तो मुनि वहां विहार की प्रतिज्ञा से जाने का संकल्प न करे, यदि विहारयोग्य प्रशस्त क्षेत्र हो, अन्य आर्य जनपद विद्यमान हों।

वीर्य—नाम कर्म के उदय तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षय-क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति, सामर्थ्य।

१. वीर्य प्राप्ति का कारण

२. वीर्य के प्रकार

३. अवस्था, आहार और बल

* बालवीर्य...संहनन-धृति और कर्मबंध

द्र कर्म

१. वीर्य प्राप्ति का कारण

वीरियं ति वा बलं ति वा सामर्थ्यं ति वा परक्कमोत्ति वा धामो त्ति वा एगट्ठा।...वीरियं णाम शक्तिः। सा हि वीर्यान्तरायक्षयोपशमाद् भवति। (निभा ४३ की चू)

वीर्य—शक्ति वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। वीर्य, बल, सामर्थ्य, पराक्रम और स्थाम—ये एकार्थक हैं।

(जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बंध करता है। उसका परिणामी कारण प्रमाद और निमित्त कारण योग है। प्रमाद योग से उत्पन्न होता है। योग वीर्य से, वीर्य शरीर से तथा शरीर जीव से उत्पन्न होता है। प्राणी की सारी प्रवृत्तियां जीव और शरीर दोनों के संयोग से होती हैं। वीर्य दो प्रकार का है—क्रियात्मक (सकरण) और अक्रियात्मक (अकरण)। जीव का अपरिस्पन्दात्मक वीर्य केवल जीव से संबद्ध होता है। जीव का परिस्पन्दात्मक वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है। उसी के द्वारा मन, वचन और शरीर की प्रवृत्तियां संचालित होती हैं।—भ १/१४१-१४५ वृ)

२. वीर्य के प्रकार

भववीरियं गुणवीरियं, चरित्तवीरियं समाधिवीरियं च। आयवीरियं पि य तहा, पंचविधं वीरियं अहवा ॥ बालं पंडित उभयं, करणं लद्धिवीरियं च पंचमणं। ण हु वीरियपरिहीणो, पवत्तते णाणमादीसु ॥ भववीरियं णिरयभवादिसु। तत्थ णिरयभववीरियं इमं जंतासिक्कुं भिचक्ककं दुपयण भट्टुसोल्लणसिंबलिसूलादीसु भिज्जमाण्णाणं महंतवेदणोदये वि जं ण विलिज्जंति।... तिरियाण य वसभातीण महाभारुव्वहणसामर्थ्यं, अस्साण धावणं तहा सीय-उण्ह-खुह-पिवासादिविसहणत्तं च। मणुयाण सव्वचरणपडिवत्तिसामर्थ्यं। देवाण वि पंचविहपज्जत्तुप्पत्तणं-

तरमेव जहाभिलसियरूवविउव्वणसामत्थं, वज्जणिवाते वेयणोदीरणे वि अविलयत्तं ।.....

गुणवीरियं जं ओसहीण तित्त-कडुय-कसाय-अंबिल-महुरगुणत्ताए रोगावणयणसामत्थं । एतं गुणवीरियं ।

चरित्तवीरियं णाम असेसकम्मविदारणसामत्थं, खीरा-दिलद्धुप्पादणसामत्थं च । समाहिवीरियं णाम एरिसं मणा-दिसमाहाणमुप्पज्जति जेण केवलमुप्पाडेति सव्वट्टिसिद्धि-देवत्तं वा णिव्वत्तेति, अप्पसत्थमणादिसमाहाणेणं पुण अहे सत्तमणिरयाउयं णिव्वत्तेति ।

आयवीरियं दुविहं विओगायवीरियं च अविओगाय-वीरियं च । विओगायवीरियं जहा संसारावत्थस्स जीवस्स मणमादिजोगा वियोगजा भवन्ति । अविओगायवीरियं पुण उवओगो, असंखेज्जायपएसत्तणं च ।.....

बालं असंजयस्स असंजमवीरियं । पंडितं संजतस्स संजमवीरियं । बालपंडितवीरियं सावगस्स संजमासंजम-वीरियं । करणवीरियं क्रियावीर्यं घटकरणक्रियावीर्यं पटकरणक्रियावीरियं । एवं जत्थ जत्थ उट्टाणकम्मबलसत्ती भवति तत्थ तत्थ करणवीरियं अहवा करणवीरियं मणो-वाक्कायकरणवीरियं । जो संसारीजीवो अप्पज्जत्तगो ठाणा-दिसत्तिसंजुत्तो तस्स तं लद्धिवीरियं भण्णति ।

.....'ण हु वीरियपरिहीणो पवत्तते णाणमादीसु ।' जओ य एवं ततो सव्वेसुऽहीकारो । (निभा ४७, ४८ चू)

वीर्य के पांच प्रकार हैं—भववीर्य, गुणवीर्य, चारित्रवीर्य, समाधिवीर्य और आत्मवीर्य ।

१. भववीर्य—नारक आदि भवों का वीर्य/सामर्थ्य ।
- ० नारकभववीर्य—यंत्र, असि, कुंभी, चक्र, कंदु आदि में पकाने पर, शूल आदि से भेदन करने पर महान वेदना होती है, फिर भी नारक जीव विलीन नहीं होते—यह उनका भववीर्य है ।
- ० तिर्यचभववीर्य—वृषभ में महान् भार वहन का, घोड़े में धावन का तथा शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा सहन करने का सामर्थ्य ।
- ० मनुष्यभववीर्य—मनुष्य में सर्वचारित्र स्वीकार करने का सामर्थ्य ।
- ० देवभववीर्य—देव पांच पर्याप्तियों से पर्याप्त होते ही यथेष्ट रूपों की विक्रिया/विकुर्वणा करने में समर्थ होते हैं । वे वज्रनिपात होने पर भी नष्ट नहीं होते ।

२. गुणवीर्य—औषधियों में तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल या मधुर गुण के कारण रोगअपनयन का सामर्थ्य ।

३. चारित्रवीर्य—अशेष कर्मविदारण का सामर्थ्य और क्षीरास्तव आदि लब्धि उत्पादन का सामर्थ्य ।

४. समाधिवीर्य—मन आदि का ऐसा समाधान उत्पन्न होता है, जिससे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है अथवा सर्वार्थसिद्धविमान में देवत्व प्राप्त होता है । अप्रशस्त मन आदि के समाधान से सातवीं नरक भी प्राप्त हो सकती है ।

५. आत्मवीर्य—इसके दो प्रकार हैं—

० वियोगात्मवीर्य—जैसे संसारी जीव के मन आदि योग वियोगज होते हैं, उनका वीर्य ।

० अवियोगात्मवीर्य—उपयोग (चेतना का व्यापार), असंख्येय आत्मप्रदेशत्व । अथवा वीर्य के पांच प्रकार हैं—

१. बालवीर्य—असंयमी का सामर्थ्य ।
२. पंडितवीर्य—संयमी का सामर्थ्य ।
३. उभयवीर्य—संयतासंयत (श्रावक) का सामर्थ्य ।
४. करणवीर्य—घटकरण, पटकरण आदि क्रियावीर्य ।

जहां-जहां उत्थान, कर्म, बल और शक्ति है, वहां-वहां करणवीर्य होता है । अथवा मन, वचन और काया—इन तीन करणों का वीर्य करणवीर्य है ।

५. लब्धिवीर्य—जो स्थान आदि की शक्ति से संयुक्त, अपर्याप्तक संसारी जीव हैं, उनका वीर्य ।

'वीर्यहीन व्यक्ति ज्ञान आदि किसी भी आचार में प्रवृत्त नहीं हो सकता ।' अतः प्रत्येक आचार में वीर्य का प्रयोजन है ।

(सिद्ध अवीर्य होते हैं । वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है । कर्मशास्त्रीय दृष्टि से अंतराय कर्म का क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव और शरीर नाम कर्म का उदय—इनके योग से वीर्य उत्पन्न होता है । सिद्धों में अंतराय कर्म का क्षायिक भाव है, किन्तु उनके शरीर नहीं है, इसलिए उन्हें अवीर्य कहा गया है । संसारी जीव के शरीर और अंतराय कर्म का क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक भाव—ये दोनों होते हैं, इसलिए वे अवीर्य भी हैं और सवीर्य भी हैं । शैलेशी अवस्था में लब्धिवीर्य होता है, किन्तु करणवीर्य नहीं होता । मनुष्य लब्धिवीर्य से सवीर्य होता है और करणवीर्य से वह सवीर्य और अवीर्य दोनों होता है । लब्धिवीर्य एक क्षमता है,

करणवीर्य क्रियात्मकता या प्रवृत्ति है। जिसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम होता है, वह करणवीर्य की दृष्टि से सवीर्य होता है। जिसमें उत्थान आदि नहीं होते, वह करणवीर्य की दृष्टि से अवीर्य होता है।—भ १/३७६, ३८१ भाष्य

वीर्य के चार प्रकार हैं—

१. द्रव्य वीर्य—इसके तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। सचित्त द्रव्यवीर्य के तीन भेद हैं—

० द्विपद—अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव आदि का वीर्य अथवा स्त्री-रत्न का वीर्य अथवा जिस द्रव्य का जो वीर्य हो, वह।

० चतुष्पद—अश्वरत्न, हस्तिरत्न आदि का वीर्य अथवा सिंह, व्याघ्र, शरभ आदि का वीर्य।

० अपद—गोशीर्षचन्दन आदि का शीत-उष्णकाल में उष्ण-शीत वीर्य परिणाम।

अचित्त द्रव्य वीर्य के तीन प्रकार हैं—

० आहारवीर्य—आहार की शक्ति। जैसे सद्यः बनाए हुए 'घेवर' प्राणकारी, हृद्य तथा कफनाशक होते हैं। औषधियों की शल्योद्धारण, व्रण-संरोहण, विषापनयन, मेधाकरण आदि जो शक्तियाँ हैं, वह रसवीर्य है। चिकित्साशास्त्र आदि में विषाकवीर्य तथा योनिप्राभृत ग्रंथ में नानाविध द्रव्यवीर्य प्रतिपादित है।

० आवरणवीर्य—कवच आदि की शक्ति।

० प्रहरणवीर्य—चक्र आदि शस्त्रों की शक्ति।

२. क्षेत्रवीर्य—क्षेत्रगत शक्ति। जैसे देवकुरु, उत्तरकुरु आदि क्षेत्रों में उत्पन्न सभी द्रव्य उत्कृष्ट शक्ति वाले होते हैं।

३. कालवीर्य—एकान्तसुषमा आदि काल में अथवा विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न द्रव्यों की विशिष्ट शक्ति। अथवा भिन्न-भिन्न पदार्थों में कालहेतुक बल होता है—'वर्षा ऋतु में नमक, शरद् ऋतु में पानी, हेमन्त में गाय का दूध, शिशिर में आंवले का रस, बसन्त में घी और ग्रीष्म में गुड़—ये अमृततुल्य हो जाते हैं।'

ग्रीष्म ऋतु में हरीतकी (हरड़) बराबर गुड़ के साथ, वर्षा ऋतु में सैन्धव नमक के साथ, शरद् ऋतु में बराबर शक्कर के साथ, हेमन्त ऋतु में सौंठ के साथ, शिशिर में पीपल के साथ और बसन्त ऋतु में मधु के साथ सेवन करने से समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।

४. भाववीर्य—वीर्यशक्ति से युक्त जीव में वीर्यविषयक अनेक प्रकार की लब्धियाँ होती हैं। उनके मुख्य तीन प्रकार हैं—

(क) औरस्यबल—शारीरिक बल। इसके अन्तर्गत मनोवीर्य वाग्वीर्य, कायवीर्य तथा आनापान वीर्य का समावेश होता है।

(ख) इन्द्रिय बल—श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों का अपने-अपने विषय के ग्रहण का सामर्थ्य।

(ग) आध्यात्मिक बल—इसके अनेक प्रकार हैं—

० उद्यम—ज्ञान आदि के अनुष्ठान में उत्साह।

० धृति—कष्टों में अक्षुब्धता।

० शौण्डीर्य—त्याग करने का उत्कृष्ट सामर्थ्य। जैसे—चक्रवर्ती का मन अपने षट्खंड राज्य को छोड़ते समय भी प्रकम्पित नहीं होता। अथवा आपदा में अविषण्णता। अथवा कठिन कार्य को करने में भी हर्षानुभूति।

० क्षमा—दूसरों के द्वारा आक्रोश किए जाने पर भी किंचित् भी क्षुब्ध न होने का सामर्थ्य।

० गाम्भीर्य—परीषहों तथा उपसर्गों को सहने में अधृष्यता अथवा अपने चमत्कारी अनुष्ठान में भी अहंकारशून्यता।

० उपयोग—साकार उपयोग तथा अनाकार उपयोग से युक्त।

० योग—मनोवीर्य, वचनवीर्य तथा कायवीर्य से युक्त।

० तप—बारह प्रकार के तपोनुष्ठान को अग्लानभाव से करना।

० संयम—सप्तदशविध संयम में प्रवृत्ति।—सूनि ९१-९७ वृ वीर्य दो प्रकार का है—

१. कर्मवीर्य—कर्मों के उदय से निष्पन्न शक्ति को कर्मवीर्य कहा जाता है। यह बालवीर्य है।

२. अकर्मवीर्य—वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न शक्ति को अकर्मवीर्य कहा जाता है। इसमें कर्म-बंधन नहीं होता और न यह कर्म-बंध में हेतुभूत ही होता है। यह पंडितवीर्य है।

प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा गया है। जो कषाय के बंधन से मुक्त, प्रमाद या हिंसा में प्रवृत्त नहीं होने वाला अकर्मवीर्य होता है, उसी का वीर्य अकर्मवीर्य कहलाता है, इससे कर्म का क्षय होता है।—सू १/८/२, ३, १० चू)

३. अवस्था, आहार और बल

पणपन्नगस्स हाणी, आरेणं जेण तेण वा धरइ।

एग पणगज्जमासं, सट्ठी सुण-मणुव-गोण-हत्थीणं।

(बृभा १५२८, १५३०)

पचपन वर्ष की अवस्था में मनुष्य का बल विशिष्ट आहार

के बिना क्षीण हो जाता है। इससे पूर्व वह जैसे-तैसे आहार से निर्वाह कर लेता है।

क्षीण शरीर वाला कुत्ता एक अहोरात्र में ही आहार से पुष्ट हो जाता है। मनुष्य पांच दिनों में, गाय और वृषभ पन्द्रह दिनों में तथा हाथी साठ दिनों में पौष्टिक आहार प्राप्त करके पुष्ट हो जाता है।

वृद्धवास—स्थविर मुनियों का स्थिरवास। द्र स्थविर

वृषभ—गच्छ की कार्यचिन्ता में नियुक्त। द्र स्थविरकल्प

* वृषभ की चिकित्सा द्र वैयावृत्य

* वृषभ संस्थान द्र अनशन

वेद—मैथुन की संवेदना। संवेदना को उत्पन्न करने वाला मोहकर्म का परमाणुस्कंध।

१. स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद का स्वरूप

२. तीन वेद : त्रिविध अग्नि से तुलना

३. वेदत्रयी का उदय

◦ वेद के उदय में अवस्था प्रमाण नहीं

* वेदोदय का मुख्य-गौण कारण

* जिनकल्पी में वेद

द्र ब्रह्मचर्य

द्र जिनकल्प

४. नपुंसक के सोलह प्रकार

५. पंडक नपुंसक के लक्षण और प्रकार

◦ वेदउपघात-उपकरणउपघात-दृष्टांत

६. क्लीब नपुंसक : स्वरूप और प्रकार

७. वातिक नपुंसक का स्वरूप

८. दीक्षा के अर्ह-अनर्ह : नपुंसक

◦ नपुंसक के दीक्षा-निषेध का हेतु

* नपुंसक के मुण्डापन आदि का निषेध

द्र दीक्षा

९. पंडक आदि की दीक्षा के अपवाद.....

१. स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद का स्वरूप

वेदस्त्रिविधः स्त्री-पुं-नपुंसकभेदात्। तत्र यत् स्त्रियाः

पित्तोदये मधुराभिलाष इव पुंस्यभिलाषो जायते स स्त्रीवेदः, यत् पुनः पुंसः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स्त्रियामभिलाषो भवति स पुंवेदः, यत् पुण्डकस्य पित्त-श्लेष्मोदये मज्जिका-भिलाषवदुभयोरपि स्त्री-पुंसयोरभिलाषः समुदेति स नपुंसक-वेदः। (बृभा ८३१ की वृ)

वेद के तीन प्रकार हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

१. स्त्रीवेद—पित्त की उग्रता होने पर मधुर वस्तु की अभिलाषा होती है। इसी भांति स्त्री की पुरुष के प्रति अभिलाषा होती है।

२. पुरुषवेद—कफ की उग्रता होने पर अम्ल वस्तु की इच्छा होती है। इसी भांति पुरुष की स्त्री के प्रति अभिलाषा होती है।

३. नपुंसकवेद—पित्त और श्लेष्म दोनों की उग्रता होने पर मज्जिका (तुलसी) की अभिलाषा होती है। इसी भांति स्त्री और पुरुष दोनों के प्रति अभिलाषा होना नपुंसकवेद है।

(वेद का अर्थ है—'मैथुन की संवेदना उत्पन्न करने वाला मोहकर्म का परमाणु-स्कंध।' इसका दूसरा अर्थ है—'मैथुन की संवेदना।' इसका तीसरा अर्थ है—'मैथुन-क्रिया में उत्पन्न होने वाला लिंग।'.....संवेदना को भाववेद और अवयव को द्रव्य वेद कहा जाता है।—भ २/७९ का भाष्य)

२. तीन वेद : त्रिविध अग्नि से तुलना

थी पुरिसो अ नपुंसो, वेदो तस्स उ इमे पगारा उ।

फुंफुम-द्वग्गिसरिसो, पुरदाहसमो भवे तइओ ॥

उदयं पत्तो वेदो, भावग्गी होइ तदुवओगेणं।

भावो चरित्तमादी, तं डहई तेण भावग्गी ॥

(बृभा २०९८, २१५०)

त्रिविध वेद के ये तीन प्रकार हैं—

१. स्त्रीवेद करीष की अग्नि के समान है। कंडे की आग भीतर ही भीतर से जलती है, परिस्फुट रूप से प्रज्वलित नहीं होती, न ही बुझती है किन्तु चालित करने पर तत्क्षण ही उद्दीप्त हो जाती है।

२. पुरुषवेद दावाग्नि के समान है। दावाग्नि ईंधन का योग पाकर सहसा प्रज्वलित होकर बुझ भी जाती है।

३. नपुंसकवेद नगरदाह के समान है। यह अग्नि शुष्क में या आर्द्र में सर्वत्र प्रज्वलित हो जाती है। इसी प्रकार नपुंसकवेद स्त्री में, पुरुष में—सर्वत्र उद्दीप्त होता है, उपशांत नहीं होता।

उदय प्राप्त वेद स्त्री-अभिलाषा आदि के कारण भावाग्नि है। वह चारित्र आदि भावों को जलाता है।

३. वेदत्रयी का उदय

.....तिविहम्मि वि वेदम्मि, तियभंगो होइ कायव्वो ॥

(बृभा ५१४७)

तीनों वेदों के तीन-तीन विकल्प करणीय हैं—पुरुष पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसक वेद—इन तीनों वेदों का वेदन करता है। इसी प्रकार स्त्री और नपुंसक के भी तीनों वेदों का उदय होता है।

(एक जीव एक समय में एक ही वेद का वेदन करता है, जैसे—स्त्रीवेद का अथवा पुरुषवेद का।……उदय प्राप्त स्त्रीवेद के कारण स्त्री पुरुष की इच्छा करती है और उदय प्राप्त पुरुषवेद के कारण पुरुष स्त्री की इच्छा करता है।—भ २/८०)

० वेद के उदय में अवस्था प्रमाण नहीं

न वओ इत्थ पमाणं, न तवस्सित्तं सुयं न परियाओ ।
अवि खीणम्मि वि वेदे, धीलिंगं सव्वहा रक्खं ॥
……अत एव स्त्रीकेवली यथोक्तामार्यिकोपकरण-
प्रावरणादियतनां करोति। (बृभा २१०० वृ)

वेद के उदय में न वार्धक्य आदि अवस्था प्रमाण है, न तप, न श्रुत का अवगाहन और न दीर्घ संयमपर्याय ही प्रमाण है। वेद के क्षीण होने पर भी स्त्रीलिंग सर्वथा रक्षणीय है। इसीलिए स्त्रीकेवली साध्वीयोग्य उपकरणों से प्रावृत हो अपनी रक्षा करती है।

(अनुत्तरविमान के देवों में वेदमोह का उदय नहीं होता और वह क्षीण भी नहीं होता, किन्तु उपशांत रहता है।—भ ५/१०७)

ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के देव अप्रवीचार होते हैं। उनमें मोह अल्प होता है, वेदाग्नि मंद होती है, इसलिए वे सहज ही परम सुख से तृप्त होते हैं। उनमें रूप आदि के भोग की आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती।—तभा ४/१० वृ)

४. नपुंसक के सोलह प्रकार

पंडए वाइए कीवे, कुंभी ईसालुए ति य ।
सउणी तक्कम्मसेवी य, पक्खियापक्खिते ति य ॥
सोगंधिए य आसित्ते, वड्डिए चिप्पिए ति य ।
मंतोसहिओवहते, इसिसत्ते देवसत्ते य ॥
(बृभा ५१६६, ५१६७)

नपुंसक के सोलह प्रकार हैं—१. पंडक २. वातिक ३. क्लीब ४. कुंभी—उत्कट मोहोदय से जिसका मेहन महाप्रमाण वाला हो। ५. ईर्ष्यालु—प्रतिसेवना करने वाले को देखकर जिसके मन में मैथुन की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। उसका निरोध करने पर

कालान्तर में जो नपुंसकत्व को प्राप्त हो जाता है।

६. शकुनि—गृहचटक की तरह अभीक्षण प्रतिसेवी।

७. तत्कर्मसेवी—क्षरित वीर्य का सेवन करने वाला।

८. पाक्षिकापाक्षिक—कृष्ण और शुक्ल—इन दोनों में से किसी एक पक्ष में मोह के तीव्र उदय का अनुभव करने वाला।

९. सौगन्धिक—सागारिक की गंध को शुभ मानने वाला।

१०. आसिक्त—स्त्री के शरीर में आसिक्त।

११. वद्धित—बाल्यकाल में जिसके वृषण निकाल दिए हों।

१२. चिप्पित—उत्पन्न होते ही अंगुष्ठ, प्रदेशनी और मध्यमा से मलकर जिसके वृषणद्वय को नष्ट कर दिया गया हो।

१३. मंत्र उपहत—मंत्र से उपहत वेद वाला।

१४. औषधिउपहत—औषधि से उपहत वेद वाला।

१५. ऋषि अभिशप्त—ऋषि के शाप से नपुंसकता को प्राप्त।

१६. देव अभिशप्त—देव के शाप से नपुंसकता को प्राप्त व्यक्ति।

५. पंडक नपुंसक के लक्षण और प्रकार

महिलासहावो सर-वनभेओ, भेण्हं महंतं मउता य वाया ।
ससइगं मुत्तमफेणगं च, एयाणि छ प्पंडगलक्खणाणि ॥
गती भवे पच्चवलोइयं च, मिदुत्तया सीयलगत्तया य ।
धुवं भवे दोक्खरनामधेज्जो, सकारपच्चंतरिओ ढकारो ॥
……पच्छन्न मज्जणाणि य, पच्छन्नयरं व णीहारो ॥
पुरिसेसु भीरु महिलासु संकरो पमयकम्मकरणो य ।……
(बृभा ५१४४-५१४७)

पंडक नपुंसक के छह लक्षण हैं—१. महिला जैसा स्वभाव २, ३. स्वर तथा वर्ण स्त्री और पुरुष से विलक्षण, ४. प्रलंब लिंग, ५. मृदु वाणी, ६. सशब्द और फेनरहित सूत्र।

पण्डक की गति मन्द होती है। वह अपने पार्श्व में और पीछे देखता हुआ चलता है। उसके शरीर की त्वचा कोमल और स्पर्श शीतल होता है। वह 'षष्ठ' इस द्वयक्षर नाम वाला होता है। वह स्नान और नीहार प्रच्छन्न स्थान में करता है, पुरुषों के बीच भयभीत और महिलाओं के बीच निर्भय रहता है तथा पीसना, पकाना, परोसना आदि स्त्रियोचित कार्यों में रस लेता है।

दुविहो उ पंडओ खलु, दूसी-उवघायपंडओ चेव ।
उवघाए वि य दुविहो, वेए य तहेव उवकरणे ॥
आसित्तो ऊसित्तो, दुविहो दूसी उ होइ नायव्वो ।
आसित्तो सावच्चो, अणवच्चो होइ ऊसित्तो ॥

(बृभा ५१४९, ५१५१)

पण्डक के दो प्रकार हैं—दूषी पण्डक और उपघात पण्डक ।

दूषी पण्डक के दो प्रकार हैं—

१. आसिक्त—जिसमें सन्तान उत्पादन का सामर्थ्य है ।
२. उपसिक्त—जो सन्तान उत्पादन के सामर्थ्य से विकल है ।

उपघात पण्डक के दो प्रकार हैं—वेद और उपकरण ।

० वेदउपघात-उपकरणउपघात-दृष्टांत

पुंठिव दुच्चिण्णाणं, कम्माणं असुभफलविवागेणं ।
तो उवहम्मइ वेओ, जीवाणं पावकम्माणं ॥
जह हेमो उ कुमारो, इंदहमहे भूणियानिमित्तेणं ।
मुच्छिय गिद्धो य मओ, वेओ वि य उवहओ तस्स ॥
उवहय उवकरणम्मि, सेज्जायरभूणियानिमित्तेणं ।
तो कविलगस्स वेओ, ततिओ जाओ दुरहियासो ॥

(बृभा ५१५२-५१५४)

० वेदउपघात—जब पापकर्मा जीव के पूर्व अर्जित दुष्कर्म का अशुभ फलदायी उदय होता है, तब उसका वेद उपहत होता है ।

एक बार राजकुमार हेम इन्द्रमह के अवसर पर इन्द्रस्थान में गया । वहां उसने नगर की पांच सौ रूपवती कुलबालिकाओं को देखा और पूछा—ये बालिकाएं क्यों आई हैं ? क्या चाहती हैं ? सेवकों ने बताया—ये इन्द्र से सौभाग्य का वर चाहती हैं । राजकुमार ने कहा—इन्द्र ने वर रूप में मुझे भेजा है, इसलिए इन सबको अन्तःपुर में ले जाओ । सेवक उन्हें अन्तःपुर में ले गया । राजकुमार ने सबके साथ शादी कर ली । वह उनमें अत्यन्त आसक्त था । आसक्ति के कारण उसका सारा वीर्य निर्गलित हो गया, उससे वेद का उपघात हुआ और वह मृत्यु को प्राप्त हो गया ।

० उपकरण उपघात—कपिल मुनि शय्यातर की लड़की में आसक्त हो गया । उसने उसका अपहरण कर लिया । लड़की के पिता ने कपिल को देखा और उसका लिंगच्छेद कर डाला । उसके कारण उसमें नपुंसक वेद का उदय हुआ । वह एक वेश्या के घर चला गया । वहां उसके स्त्रीवेद का भी उदय हो गया ।

६. क्लीब नपुंसक : स्वरूप और प्रकार

क्लीबस्स गोन्न नामं, कम्मदय निरोहं जायती ततिओ ।……

……स च चतुर्धा—दृष्टिक्लीबः शब्दक्लीब आदिग्ध-क्लीबो निमन्त्रणाक्लीबश्चेति । तत्र यस्यानुरागतो विवस्त्रा-द्यवस्थं विपक्षं पश्यतो मेहनं गलति स दृष्टिक्लीबः । यस्य तु सुरतादिशब्दं शृण्वतः स द्वितीयः । यस्तु विपक्षेणोपगूढो निमन्त्रितो वा व्रतं रक्षितुं न शक्नोति स यथाक्रममादिग्ध-क्लीबो निमन्त्रणाक्लीबश्चेति । (बृभा ५१६४ वृ)

क्लीब गुणनिष्पन्न नाम है । मैथुन मात्र के अभिप्राय से तथा मोहोदय से जिसके वीर्य का क्षरण होने लग जाता है, वह क्लीब है । क्षरित होते हुए वीर्य का निरोध करने वाला कालान्तर में नपुंसक हो जाता है । उसके चार प्रकार हैं—

१. दृष्टिक्लीब—अनुराग से अपने विपक्ष को निर्वस्त्र देखते ही जिसका वीर्य स्थलित हो जाता है ।
२. शब्दक्लीब—शब्द सुनने से जिसके वीर्य का क्षरण होता है ।
३. आदिग्धक्लीब—विपक्ष का आलिंगन करने से जिसके वीर्य का क्षरण हो जाता है ।
४. निमन्त्रणाक्लीब—भोग के लिए निमन्त्रित करने पर जो अपने स्वीकृत व्रत का पालन नहीं कर सकता ।

७. वातिक नपुंसक का स्वरूप

उदएण वादियस्सा, सविकारं जा ण तस्स संपत्ती ।……

(बृभा ५१६५)

मोह के उदय से जिसका लिंग विकारग्रस्त हो जाता है और प्रतिसेवना के बिना शांत नहीं होता, वह वेद का निरोध करने पर नपुंसक बन जाता है ।

८. दीक्षा के अर्ह-अनर्ह : नपुंसक

णपुंसगा दुविहा—इत्थीणपुंसगा य पुरिसणपुंसगा य ।
इत्थीणपुंसगा अयव्वावणिज्जा । जे ते पुरिसणपुंसगा अप्पडि-
सेविणो छज्जणा—वद्धिय, चिप्पिय, मंत-ओसहिउवहता,
ईसिसत्तो, देवसत्तो ॥ (निभा ८७ की चू)

नपुंसक के दो भेद हैं—पुरुष नपुंसक और स्त्री नपुंसक ।

स्त्रीनपुंसक अप्रव्राजनीय हैं । छह प्रकार के पुरुष नपुंसक

अप्रतिसेवी हों तो प्रव्राजनीय हैं—वर्धित, चिप्पित, मंत्र उपहत, औषधि उपहत, ऋषिशप्त और देवशप्त।

दससु वि मूलायरिए, वयमाणस्स वि हवंति चउगुरुगा।.....

.....दशापि नपुंसकान् यः प्रव्राजयति।.....वर्द्धितादीनां षण्णामपि प्रतिसेवकानां प्रव्राजने आचार्यस्य.....यो वदति 'प्रव्राजयत' तस्यापि चतुर्गुरुकम्। (बृभा ५१६८ वृ)

पंडक से आसिक्त पर्यन्त दश प्रकार के नपुंसकों को प्रव्रजित करने वाला आचार्य मूल प्रायश्चित्त का तथा वर्द्धित आदि छह प्रकार के प्रतिसेवी नपुंसकों को प्रव्रजित करने वाला आचार्य चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है। इन सबकी प्रव्रज्या का अनुमोदन करने वाला भी चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

० नपुंसक के दीक्षानिषेध का हेतु

थी-पुरिसा जह उदयं, धरेंति ज्ञाणोववास-णियमेहिं।
एवमपुमं पि उदयं, धरिज्ज जति को तहिं दोसो॥
अहवा ततिए दोसो, जायइ इयरेसु किं न सो भवति।
एवं खु नत्थि दिक्खा, सवेययाणं न वा तित्थं॥
थी-पुरिसा पत्तेयं, वसंति दोसरहितेसु ठाणेसु।
संवास फास दिड्डी, इयरे वत्थंबदिट्ठुं तो॥
(बृभा ५१६९-५१७१)

शिष्य ने गुरु से पूछा—जैसे स्त्री और पुरुष ध्यान, उपवास तथा नियमों में उपयुक्त रहकर वेद के उदय को धारण करते हैं, उसी प्रकार नपुंसक भी वेद के उदय को धारण करता है, तब उसे दीक्षा देने में क्या दोष है? यदि आप कहते हैं—नपुंसक वेद के उदय से चारित्र का भेदन होता है, तब स्त्री और पुरुष वेद के उदय से वह दोष क्यों नहीं होगा?

नौवें गुणस्थान पर्यंत संसारी प्राणी सवेदी होते हैं। उनमें दोषदर्शन करने से न दीक्षा होगी और न तीर्थ की परम्परा चलेगी।

आचार्य ने कहा—स्त्री प्रव्रजित होकर स्त्रियों के मध्य रहती है। पुरुष प्रव्रजित होकर पुरुषों के मध्य रहता है। ये दोनों दोषरहित स्थानों में रहते हैं। पंडक यदि स्त्रियों अथवा पुरुषों के मध्य रहता है तो उस संवास में स्पर्श से और दृष्टि से अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं। इस संदर्भ में वत्स और आम्र का दृष्टान्त है—

बालक माता को देखकर स्तनपान की इच्छा करता है। माता

के भी पुत्र को देखने मात्र से दूध का प्रस्रवण होने लगता है। आम्र को देखने मात्र से मुख से लार टपकने लगती है, इसी प्रकार स्त्री-पुरुषों के साथ रहने से नपुंसक के वेद का उदय होता है और उसमें भोग की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। भुक्तभोगी अथवा अभुक्तभोगी मुनि उस नपुंसक की अभिलाषा कर सकते हैं। अतः नपुंसक को दीक्षित करने का निषेध किया गया है।

१. पंडक आदि की दीक्षा के अपवाद.....

असिवे ओमोयरिए, रायहुट्टे भए व आगाढे।
गेलन्न उन्तिमट्टे, नाणे तह दंसणचरित्ते॥
एएहिं कारणेहिं, आगाढेहिं तु जो उ पव्वावे।
पंडाईसोलसगं, कए उ कज्जे विगिंचणया॥
(बृभा ५१७२, ५१७५)

यह पंडक प्रव्रजित होकर अशिव का उपशमन करेगा, दुर्भिक्ष, राजप्रद्वेष, स्तेनभय, रोग, अनशन और ज्ञान-दर्शन-चारित्र में सहयोगी होगा—इन आगाढ कारणों से सोलह प्रकार के नपुंसकों में से किसी को भी दीक्षा जा सकती है किन्तु प्रयोजन समाप्ति पर उसको विसर्जित कर देना चाहिए।

कडिपट्टए य छिहली, कत्तरिया भंड लोय पाढे य।
धम्मकह सन्नि राउल, ववहार विगिंचणा विहिणा॥
वीयार-गोयरे थेरसंजुओ रत्ति दूरे तरुणाणं।
गाहेह ममं पि ततो, थेरा गाहेति जत्तेणं॥
वेरगगकहा विसयाण णिंदणा उट्टु-निसियणे गुत्ता।
चुक्क-खलिएसु बहुसो, सरोसमिव चोदए तरुणा॥
(बृभा ५१७७, ५१८०, ५१८१)

पण्डक को यदि दीक्षा देनी पड़े तो उसे कटिपट्टक धारण करवाना चाहिए। उसके शिर पर शिखा हो। यदि वह शिखा नहीं चाहता हो तो कैची या क्षुर से मुण्डन करना चाहिए अथवा लोच भी किया जा सकता है। उसे परतीर्थिक के ग्रन्थों का अध्ययन करवाना चाहिए। कार्य सम्पन्न होने पर उसके सामने धर्मकथा करनी चाहिए, जिससे वह स्वयं लिंग का परित्याग कर दे। यदि वह लिंग छोड़ने के लिए तैयार न हो तो श्रावकों के द्वारा प्रेरित करवाना चाहिए। फिर भी तैयार न हो तो राजकुल में कहना चाहिए। अंत में न्यायालय में विधिपूर्वक उसका विसर्जन करना चाहिए।

पण्डक की आसेवनशिक्षाविधि—वह विचारभूमि और गोचरी में स्थविर साधु के साथ जाए। रात्रि में तरुण साधुओं से उसे पृथक् रखा जाए। तरुण साधु उसे अध्ययन न करवायें। यदि वह पढ़ना चाहता हो तो स्थविर साधु ही प्रयत्नपूर्वक पढ़ायें। उसे वैराग्यकथा और विषयनिन्दा विषयक सूत्रों का ही अध्ययन कराया जाये। उठते-बैठते समय मुनि सुसंवृत रहें। सामाचारी में विस्मृति अथवा स्खलना होने पर तरुण साधु सरोष वचनों से उसे पुनः पुनः प्रेरित करें, जिससे तरुण साधुओं के साथ उसका अनुबंध न हो।

वैयावृत्य—दूसरों का सहयोग करने के लिए व्यापृत होना। सेवा-शुश्रूषा, अनुशिष्टि, उपग्रह, समाधि।

१. वैयावृत्य के प्रकार : अनुशिष्टि आदि
 - * वैयावृत्य के लिए उपसंपदा द्र उपसम्पदा
२. वैयावृत्य के प्रकार : आचार्य आदि
३. आचार्य आदि के वैयावृत्य से महानिर्जरा
 - वाचना द्वारा महान् वैयावृत्य
४. श्रुतधर वैयावृत्य : निर्जरा का तारतम्य
५. गुणवत्ता और भावधारा के आधार पर निर्जरा
 - वीर-गौतम-कपिलसुत दृष्टांत
६. साधु-साध्वी की परस्पर सेवा-विधि, अर्हता
 - * साधु-साध्वी चिकित्सा : विद्याप्रयोगविधि द्र मंत्र-विद्या
७. वैयावृत्य के अनर्ह-अर्ह
 - भिक्षासंबंधी वैयावृत्य के अनर्ह
८. वैयावृत्य के तेरह स्थान : एकांत निर्जरा स्थान
९. अग्लानभाव से सेवा : गिला-अगिला
१०. सेवानियुक्ति की प्रार्थना
 - आंगंतुक परिचारक : वाचना की व्यवस्था
११. अप्रार्थित वैयावृत्य : महद्भिक दृष्टान्त
१२. सेवा की अनिवार्यता : संघ की प्रभावना
 - वैयावृत्य में तत्परता : उपेक्षा से प्रायश्चित्त
१३. ग्लानप्रायोग्य द्रव्य की गवेषणा
१४. मुनि और वैद्य
 - * वैद्य के पास जाने की योग्यता द्र चिकित्सा
 - वैद्य आने पर अभ्युत्थानविधि.....
१५. वैयावृत्य और परपक्ष
१६. वैयावृत्य के अपवाद

* परिहारिक के वैयावृत्य का विधान	द्र परिहारतप
* उत्सारकल्पी का वैयावृत्य	द्र उत्सारकल्प
* दीप्तचित्त-संरक्षण, संघ द्वारा वैयावृत्य	द्र चित्तचिकित्सा
* वैयावृत्य और सापेक्ष-निरपेक्ष	द्र स्थविरकल्प

१७. वैयावृत्य से गुरु प्रायश्चित्त लघु में परिवर्तित
१८. मुनि की चिकित्सा के हेतु
१९. गीतार्थ-अगीतार्थ-चिकित्सा : गंत्री-नौका दृष्टांत
२०. चिकित्सा की कालावधि : आचार्य, वृषभ...
२१. असाध्य रोगी को अनशन की प्रेरणा

१. वैयावृत्य के प्रकार : अनुशिष्टि आदि

वेयावच्चे तिविधे, अप्पाणम्मि य परे तदुभए य।
अणुसट्ठि उवालंभे, उवग्गहे चेव तिविधम्मि॥
अणुसट्ठीय सुभद्दा, उवलंभम्मि य मिगावती देवी।
आयरिओ दोसु उवग्गहो य सब्बत्थ वायरिओ॥
दंडसुलभम्मि लोए, मा अमतिं कुणसु दंडितो मि त्ति।
एस दुलभो हु दंडो, भवदंडनिवारओ जीव॥
अवि य हु विसोधितो ते, अप्पाणायार मइलितो जीव॥
इति अप्प परे उभए, अणुसट्ठि धुत्तिन्ति एग्गहा॥
तुमए चेव कतमिणं, न सुद्धकारिस्स दिज्जते दंडो।
इह मुक्को वि न मुच्चति, परत्थ अह होउवालंभो॥
दव्वेण य भावेण य, उवग्गहो दव्वे अण्णापाणादी।
भावे पडिपुच्छादी, करेति जं वा गिलाणस्स॥
परिहारणुपरिहारी, दुविहेण उवग्गहेण आयरिओ।
उवग्गेण्हति सब्बं वा, सब्बालवुड्डाउलं गच्छं॥
अधवाणुसट्ठुवालंभुवग्गहे कुणति त्तिन्नि वि गुरू से।
सब्बस्स वि गच्छस्सा, अणुसट्ठादीणि सो कुणति॥

...उपदेशप्रदानम्...स्तुतिकरणं वा अनुशिष्टिः। तत्र यद्

आत्मानमात्मना अनुशास्ति सा आत्मानुशिष्टिः। यत्पुनः परस्य परेण चानुशासनं सा परानुशिष्टिः.....। तथा अनाचारे कृते सति यत् सानुनयोपदेशनमेव उपालम्भः।...मृगावतीदेवी सा हि आर्य-चन्दनया अकालचारिणीति कृत्वा उपालम्भा।...उपग्रहः उपष्टम्भकरणमित्यर्थः। (व्यभा ५६०-५६७ वृ)

वैयावृत्य के तीन प्रकार हैं—१. अनुशिष्टि, २. उपालंभ और ३. उपग्रह। प्रत्येक के तीन भेद हैं—स्व, पर और तदुभय।

१. अनुशिष्टि—स्वयं के द्वारा स्वयं पर अनुशासन करना आत्मानु-शिष्टि है। दण्ड प्राप्त होने पर व्यक्ति स्वयं को संबोधित करता है—‘हे जीव! इस लोक में दण्ड सुलभ है, मैं आचार्य द्वारा दण्डित हुआ हूँ—ऐसा दुश्चिन्तन मत कर। यह दण्ड दुर्लभ है, भवदुःखों का निवारक है। हे जीव! अनाचार से मलिन मेरी आत्मा को अनुष्कृतपरहितकारी आचार्य ने प्रायश्चित्तदान से विशोधित किया है।’ इसी प्रकार पर के द्वारा पर का अनुशासन परानुशिष्टि तथा स्व और पर को अनुशासित करना उभयानुशिष्टि है।

अनुशिष्टि के दो अर्थ हैं—उपदेश देना और स्तुति करना।

चम्पा नगरी में सभी नागरिकों ने शीलवती सुभद्रा की अनुशिष्टि (स्तुति) की—सुभद्रे ! तुम धन्या हो, कृतपुण्या हो।
२. उपालम्भ—अनाचार सेवन करने पर सानुनय उपदेश देना।
आत्मोपालंभ—रे जीव! तुमने स्वयं यह अपराध किया है। यहां निर्दोष को दण्ड नहीं दिया जाता।

रे आत्मन्! इस लोक में आचार्य किसी भी तरह से प्रायश्चित्त से मुक्त भी कर देंगे किन्तु परलोक में इससे नहीं बच पाओगे।

०. परोपालंभ—एक बार साध्वी मृगावती देवी भ्रांति के कारण श्रमण महावीर के समवसरण से अपने स्थान पर विलंब से पहुंची। महासती चन्दनबाला ने कहा—तुम अकालचारिणी हो।

३. उपग्रह—अपना उपष्टम्भ करना आत्मोपग्रह तथा दूसरे का उपकार करना परोपग्रह है। आचार्य अन्न, पान आदि के द्वारा द्रव्यउपग्रह तथा सूत्र-अर्थ संबंधी प्रतिपृच्छा, ग्लान की सुखपृच्छा आदि के द्वारा भावउपग्रह करते हैं। वे परिहारी और अनुपरिहारी दोनों का उपग्रह करते हैं। अथवा आबालवृद्ध समस्त गच्छ का द्रव्य और भाव—दोनों प्रकार से उपग्रह करते हैं।

अथवा आचार्य तीनों कार्य करते हैं—सम्पूर्ण गच्छ को अनुशिष्टि देते हैं, उपालंभ देते हैं और सबका उपग्रह करते हैं।

२. वैयावृत्य के प्रकार : आचार्य आदि

दसबिहे वेयावच्चे पण्णत्ते, तं जहा—आयरियवेया-वच्चे उवज्जायवेयावच्चे शेरवेयावच्चे तवस्सिवेयावच्चे सेहवेयावच्चे गिलाणवेयावच्चे कुलवेयावच्चे गणवेयावच्चे संघवेयावच्चे साहम्मियवेयावच्चे ॥ आयरियवेयावच्चं..... जाव साहम्मियवेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंशे महा-निज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ (व्य १०/४०, ४१)

आयरियग्गहणेणं तित्थयरौ तत्थ होति गहितो तु।
किं व न होयायरिओ, आयारं उवदिसंतो उ॥
निदरिसण जध मेत्थ खंदएण पुट्ठो उ गोतमो भयवं।
केण तु तुब्भं सिट्ठं, धम्मायरिएण पच्चाह ॥
(व्यभा ४६८५, ४६८६)

वैयावृत्य के दस प्रकार हैं—

- | | |
|--------------------------|----------------------------|
| १. आचार्य का वैयावृत्य | ६. ग्लान का वैयावृत्य |
| २. उपाध्याय का वैयावृत्य | ७. कुल का वैयावृत्य |
| ३. स्थविर का वैयावृत्य | ८. गण का वैयावृत्य |
| ४. तपस्वी का वैयावृत्य | ९. संघ का वैयावृत्य |
| ५. शैक्ष का वैयावृत्य | १०. सार्धमिक का वैयावृत्य। |

आचार्य यावत् सार्धमिक का वैयावृत्य करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा (महाकर्मविशुद्धि) तथा महापर्यवसान (जन्म-मरण का आत्यंतिक उच्छेद) करने वाला होता है। प्रस्तुत प्रसंग में तीर्थकर के वैयावृत्य का उल्लेख नहीं है। शिष्य ने पूछा—क्या तीर्थकर का वैयावृत्य करने से निर्जरा नहीं होती?

आचार्य ने कहा—इन दस प्रकारों में आचार्य के ग्रहण से तीर्थकर का ग्रहण कर लिया गया है। तीर्थकर आचार्य क्यों नहीं हैं? आचार्य का अर्थ है—स्वयं आचार का पालन करना तथा दूसरों से उसका पालन करवाना। इस दृष्टि से तीर्थकर स्वयं आचार्य होते हैं, वे दूसरों को आचार का उपदेश देते हैं। इस संदर्भ में एक निदर्शन है—स्कन्दक ने भगवान गौतम से पूछा—आपको यह अनुशासन किसने दिया? गणधर गौतम ने कहा—‘धर्माचार्य ने!’ (द्र भ २/३८)

(तत्त्वार्थ (१/२४) में निर्दिष्ट वैयावृत्य के दस प्रकारों तथा स्थानांग (१०/१७) और व्यवहार (१०/४०) के दस प्रकारों में नामभेद तथा क्रमभेद है। तत्त्वार्थराजवार्तिक के अनुसार उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

वैयावृत्य का अर्थ है—आचार्य, उपाध्याय आदि जब व्याधि, परिषह या मिथ्यात्व से ग्रस्त हों, तब उन दोषों का प्रतिकार करना। रोग आदि की स्थिति में उन्हें प्रासुक औषधि, आहार, स्थान, पीठ, फलक आदि धर्मोपकरण उपलब्ध कराना तथा उन्हें सम्यक्त्व में पुनः स्थापित करना वैयावृत्य है। बाह्य द्रव्यों की प्राप्ति के अभाव में अपने हाथ से कफ, श्लेष्म आदि मलों का अपनयन कर

अनुकूलता पैदा करना वैयावृत्य है। वह दस प्रकार का है—

१. आचार्य-वैयावृत्य—भव्य जीव जिनकी प्रेरणा से ब्रतों का आचरण करते हैं, उनको आचार्य कहा जाता है। उनका वैयावृत्य।
२. उपाध्याय-वैयावृत्य—जो मुनि ब्रत, शील और भावना के आधार हैं, शिष्य उनके पास जाकर विनय से श्रुत का अध्ययन करते हैं, उन्हें उपाध्याय कहा जाता है। उनका वैयावृत्य करना।
३. तपस्वी-वैयावृत्य—मासोपवास आदि तप करने वाला तपस्वी कहलाता है। उसका वैयावृत्य करना।
४. शैक्ष-वैयावृत्य—जो श्रुतज्ञान के शिक्षण में तत्पर और ब्रतों की भावना में निपुण है, उसे शैक्ष कहते हैं। उसका वैयावृत्य करना।
५. ग्लान-वैयावृत्य—रोगी का वैयावृत्य करना।
६. गण-वैयावृत्य—स्थविरसंतति की संस्थिति को गण कहा जाता है। उसका वैयावृत्य करना।
७. कुल-वैयावृत्य—दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य-परम्परा को कुल कहा जाता है। उसका वैयावृत्य करना।
८. संघ-वैयावृत्य—श्रमण-समूह का वैयावृत्य करना।
९. साधु-वैयावृत्य—चिरकाल से प्रब्रजित साधक को साधु कहा जाता है। उसका वैयावृत्य करना।
१०. समनोज्ञ-वैयावृत्य—सांभोजिक का वैयावृत्य करना।

३. आचार्य आदि के वैयावृत्य से महानिर्जरा

पावयणी खलु जम्हा, आयरिओ तेण तस्स कुणमाणो।
महतीय निज्जराए, वट्टति साधू दसविहम्मि॥
(व्यभा २६३२)

आचार्य प्रावचनिक — द्वादशांग की वाचना देने वाले होते हैं, अतः उनका वैयावृत्य करने वाला साधु तथा दशविध वैयावृत्य करने वाला साधु महानिर्जरा करता है।

* वैयावृत्य के परिणाम द्र श्रीआको १ वैयावृत्य

० वाचना द्वारा महान् वैयावृत्य

इदं तु महत्प्रवचनस्य वैयावृत्यं यत् सूत्रार्थप्रदानादि
करोति।
(व्यभा ६९४ की वृ)

जो सूत्र और अर्थ की वाचना देता है, वह जिनप्रवचन का महान् वैयावृत्य करता है।

४. श्रुतधर-वैयावृत्य : निर्जरा का तारतम्य

.....दुवालसंगं पवयणं तु॥

तं तु अहिज्जंताणं, वेयावच्चे उ निज्जरा तेसिं।....

सुत्तावासगमादी, चोहसपुव्वीण तह जिणाणं च।.....

.....दशवैकालिकश्रुतधरवैयावृत्यकरस्तस्यावश्यक-
सूत्रधरवैयावृत्यकरान्.....यथोत्तरं महानिर्जरास्तावदव-
सेयो यावत् त्रयोदशपूर्वधरवैयावृत्यकराच्चतुर्दशपूर्वधर-
वैयावृत्यकरो महानिर्जरः।.....तदुभयचिन्तायां सूत्रवैयावृत्य-
करादर्धवैयावृत्यकरो महर्द्धिको नवरं निशीथकल्प-
व्यवहारार्थधराणां वैयावृत्यकरात् कालिकश्रुतवैयावृत्यकरो
महानिर्जरः।
(व्यभा २६२९-२६३१ वृ)

जो प्रवचन—द्वादशांग (गणिपिटक) का अध्ययन करते हैं, उनका वैयावृत्य करने वालों के महान् कर्मनिर्जरा होती है।

आवश्यकसूत्रधर से चतुर्दशपूर्वपर्यंत का वैयावृत्य करने से उत्तरोत्तर महान् निर्जरा होती है। यथा—आवश्यकसूत्रधर के वैयावृत्य की अपेक्षा दशवैकालिकश्रुतधर के वैयावृत्य से विपुल निर्जरा होती है। त्रयोदशपूर्वी के वैयावृत्य की अपेक्षा चतुर्दशपूर्वी के वैयावृत्य से महान् निर्जरा होती है।

सूत्रधरवैयावृत्यकर से अर्धधरवैयावृत्यकर महर्द्धिक (महान्) है। केवल निशीथ-कल्प-व्यवहार के अर्धधर के वैयावृत्य की अपेक्षा कालिकश्रुतधर के वैयावृत्य से महान् निर्जरा होती है।

श्रुतज्ञानी की अपेक्षा जिन (अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, केवली) के वैयावृत्य से महती निर्जरा होती है।

५. गुणवत्ता और भावधारा के आधार पर निर्जरा

गुणभूइहे दव्वे, जेण य मत्ताहियत्तणं भावे।
इति वत्थूओ इच्छति, ववहारो निज्जरं विउलं॥
सुतवं अतिसयजुत्तो सुहोचितो तथ वि तवगुणुज्जुत्तो।
जो सो मणप्पसादो, जायति सो निज्जरं कुणति॥
निच्छयतो पुण अप्पे, जस्स वि वत्थुम्मि जायते भावो।
तत्तो सो निज्जरगो,.....॥

(व्यभा २६३४, २६३६, २६३७)

जो जितने अधिक गुणों से संपन्न होता है, उसकी सेवा के लिए परिणामधारा भी उतनी ही अधिक विशुद्ध होती है।

व्यवहारनय के अनुसार वस्तु (व्यक्ति) की गुणवत्ता के आधार पर यथाक्रम से विपुल निर्जरा होती है। यह श्रुतवान है, यह अतिशयश्रुतधारी है, यह सुखोचित होने पर भी बाह्य-आभ्यंतर तप में तथा ज्ञान आदि गुणों में उद्यमी है—इस रूप में महान् गुणी के प्रति जिसका जैसा मानसिक प्रसन्नता का भाव होता है, उसके उतनी निर्जरा होती है।

निश्चय नय के अनुसार भावधारा के आधार पर निर्जरा होती है। अल्पगुणी वस्तु में भी जिसकी शुभ भावधारा तीव्रतम होती है, उसके विपुल निर्जरा होती है।

० वीर-गौतम-कपिलसुत दृष्टांत

..... जिण-गौतम-सीहआहरणं ॥
सीहो तिविदु निहतो, भमिउं रायगिह कविलबडुग त्ति।
जिणवीरकहणमणुवसम, गौतमोवसम दिक्खा य ॥
(व्यभा २६३७, २६३८)

श्रमण महावीर ने त्रिपृष्ठ के भव में एक सिंह को मारा। मरते हुए सिंह को इस बात का दुःख हुआ कि मैं एक तुच्छ व्यक्ति द्वारा मारा गया हूँ। गौतम ने (उस भव में सारथि के रूप में) उसे आश्वस्त करते हुए कहा—धैर्य मत खोओ। तुम पशुसिंह हो और नरसिंह (वासुदेव) द्वारा मारे गए हो। इसमें कौन सा पराभव है? वही सिंह संसारभ्रमण करता हुआ राजगृह में कपिल ब्राह्मण के घर में पैदा हुआ।

एक बार वह कपिलपुत्र भगवान महावीर के समवसरण में आया। भगवान को देख वह धम-धम करने लगा। महावीर के कहने से शांत नहीं हुआ, तब महावीर ने गौतम को भेजा। गौतम ने उसे यह कहते हुए शांत कर दिया कि ये महान् आत्मा हैं, तीर्थकर हैं। इनकी आशातना से दुर्गति होती है। फिर वह दीक्षित भी हो गया। महागुणी महावीर की अपेक्षा अल्पगुणी (गौतम) के प्रति उसकी भावधारा अत्यन्त विशुद्ध हो गई और उसे महानिर्जरा हुई।

६. साधु-साध्वी की परस्पर सेवा-विधि

जे निग्गंथा य निग्गंथीओ च संभोइया सिया, नो ण्हं कप्पइ अण्णमण्णस्स वेयावच्चं कारवेत्ताए अत्थियाइं त्थ

केइ वेयावच्चकरे कप्पइ ण्हं वेयावच्चं कारवेत्ताए नत्थियाइं त्थ केइ वेयावच्चकरे एव ण्हं कप्पइ अण्णमण्णस्स वेयावच्चं कारवेत्ताए ॥
(व्य ५/२०)

सांभोजिक साधु-साध्वी परस्पर एक-दूसरे का वैयावृत्य नहीं कर सकते। स्वपक्ष में वैयावृत्यकर हो तो उसी से वैयावृत्य करवाया जाता है। स्वपक्ष में वैयावृत्यकर न हो तो निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी परस्पर वैयावृत्य करवा सकते हैं।

संबंधिणि गीतत्था, ववसायि थिरत्तणे य कतकरणा।
चिरपव्वइया य बहुस्सुता परीणामिया जाव ॥
गंभीरा मद्दविता, मितवादी अप्पकोउहल्ला य।
साधुं गिलाणगं खलु, पडिजग्गति एरिसी अज्जा ॥
ववसायी कायव्वे, थिरा उ जा संजममि होति दढा।
कतकरण जीय बहुसो, वेयावच्चा कया कुसला ॥
चिरपव्वइयसमाणं, तिणहुवरि बहुस्सुया पकप्पधरी।
परिणामिय परिणामं, सा जाणति पोग्गलाणं तु ॥
काउं न उत्तुणई, गंभीरा मद्दविया अविमद्दया।
कज्जे परिमियभासी, मियवादी होइ अज्जा उ ॥
कक्खंतं गुज्जादी, न निरिक्खे अप्पकोउहल्ला य।
एरिसगुणसंपन्ना, साहूकरणे भवे जोग्गा ॥
(व्यभा २३८६-२३९१)

बारह गुणों से सम्पन्न साध्वी साधु-सेवा के योग्य है—

१. संबन्धिनी—ग्लान मुनि की भगिनी आदि।
२. गीतार्थी—एषणीय-अनेषणीय विधि में कुशल।
३. व्यवसायिनी—अध्यवसायिनी/श्रमशीला।
४. स्थिरा—संयम में सुदृढ़।
५. कृतकरणा—अनेक बार अभ्यास के कारण वैयावृत्य में दक्ष।
६. चिरप्रब्रजिता—तीन वर्ष से अधिक दीक्षापर्याय वाली।
७. बहुश्रुता—निशीथधारिणी।
८. परिणामिकी—पुद्गलों की परिणतियों को जानने वाली।
९. गंभीर—कृतसेवा का प्रकाशन नहीं करने वाली।
१०. मृदुशीला—मार्दवसम्पन्न, विस्मित नहीं होने वाली।
११. मितवादिनी—प्रयोजन होने पर परिमितभाषिणी।
१२. अल्पकुतूहल—गुप्तांगों का निरीक्षण न करने वाली।

पियधम्मो दढधम्मो, मियवादी अण्णकोतुहल्लो य।
अज्जं गिलाणियं खल्लु, पडिजग्गति एरिसो साहू॥
सो परिणामविहिण्णू, इंदियदारेहिं संवरियदारो।
जं किंचि दुब्धिगंधं, सयमेव विगिंचणं कुणति॥
गुज्झंग-वदण दहुं।
साहरति ततो दिट्ठिं, न य बंधति दिट्ठिए दिट्ठिं॥
धिइ-बलजुतो वि मुणी, सेज्जातर-सण्णि-सिज्झगादि जुतो।
वसति परपच्चयद्दु, सलाहणद्दु य अवराणं॥
सो निज्जराए वड्ढति, कुणति य आणं अणंतणाणीणं।
स बित्तिज्जओ कहेती, परयिट्ठेगागि वसमाणो॥

(बृभा ३७७४-३७७६, ३७८३, ३७८४)

जो साधु प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, मितभाषी और कुतूहलरहित होता है, वही ग्लान साध्वी की परिचर्या कर सकता है।

शुभ पुद्गल भी अशुभ हो जाते हैं और अशुभ पुद्गल भी संस्कार विशेष से या सहज ही शुभ हो जाते हैं—वह पुद्गलों की इस परिणमनविधि को जानता है तथा अपनी इन्द्रियों का संवरण करता है। वह दुर्गन्धयुक्त उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, कफ आदि का परिष्ठापन करता है, स्त्री के सभू गुप्तांगों से दृष्टि का संहरण करता है तथा स्त्री की दृष्टि से अपनी दृष्टि नहीं मिलाता।

धृति-बलसम्पन्न मुनि भी साध्वी की परिचर्या के लिए उसकी वसति में रहे तो अकेला न रहे। गृहस्थों में प्रतीति उत्पन्न करने के लिए शय्यातर या श्रावक या सहवासी को साथ में रखे। इससे लोग साधुओं की प्रशंसा भी करते हैं—धन्य हैं ये साधु, जिनका ऐसा सुदृष्ट धर्म है।

अकेला न रहता हुआ वह साधु विपुल निर्जरा करता है, तीर्थकर की आज्ञा की आराधना करता है। जो उसके पास दूसरा व्यक्ति है, उसे वह धर्मकथा सुनाता है। यदि अकेला रहता है तो पूरी रात परिवर्तना (गाथाओं की स्वाध्याय) करता है।

७. वैयावृत्य के अनर्ह-अर्ह

अलसं घसिरं सुविरं, खमगं कोह-माण-माय-लोहिल्लं।
कोऊहल पडिबद्धं, वेयावच्चं न कारिज्जा॥
एयद्दोसविमुक्कं, कडजोगिं नायसीलमायारं।
गुरुभत्तिमं विणीयं, वेयावच्चं तु कारिज्जा॥

(बृभा १५९२, १६०१)

दस प्रकार के व्यक्तियों को वैयावृत्य में नियोजित नहीं करना चाहिए—१. आलसी २. बहुभक्षी ३. स्वपनशील ४. तपस्वी ५. क्रोधी ६. अभिमानी ७. मायावी ८. लोभी ९. कुतूहलप्रिय १०. सूत्रार्थ में प्रतिबद्ध। (द्र स्थापनाकुल)

जो आलस्य आदि दोषों से मुक्त, कृतयोगी, शील-सामाचारिसम्पन्न, गुरुभक्ति में तत्पर और विनीत हो, उसे भिक्षाटन आदि रूप वैयावृत्य में नियोजित करना चाहिए।

० भिक्षासंबन्धी वैयावृत्य के अनर्ह

जे भिक्खू अणलेणं वेयावच्चं कारेति कारेतं वा सातिज्जति॥ (नि ११/८७)

वेयावच्चे अणलो, चउच्चिहो होइ आणुपुव्वीए।
सुत्तत्थ अभिगमेण य, परिहरणा एव नायव्वा॥
(निभा ३७७३)

जो भिक्षु अयोग्य से वैयावृत्य करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

चार प्रकार के व्यक्ति (भिक्षा की दृष्टि से) वैयावृत्य के अयोग्य होते हैं—१. सूत्रतः—जिसने दशवैकालिक का पांचवों अध्ययन 'पिण्डैषणा' नहीं पढ़ा।

२. अर्थतः—जिसने पिण्डैषणा का अर्थ नहीं सुना।

३. अभिगम—जिसकी वैयावृत्य में श्रद्धा/रुचि नहीं है।

४. परिहरण—जो अकल्पनीय का वर्जन नहीं करता।

८. वैयावृत्य के तेरह स्थान : एकांत निर्जरा स्थान

.....आयरियउवज्झाए, थेरे य तवस्सि सेहे य॥
अतरंत कुलगणे या, संघे साधम्मिवेयवच्चे य।
एतेसिं तु दसण्हं, कातव्वं तेरसपदेहिं॥
भत्ते पाणे सयणासणे य पडिलेहण पायमच्छिमद्भाणे।
राया तेणं दंडग्गहे य गेलण्ण मत्ते य॥
तीसुत्तरसयमेगं ठाणाणं वण्णिणं तु सुत्तम्मि।
वेयावच्चसुविहितं, नेम्मं निव्वाणमग्गस्स॥
ववहारे दसमए उ, दसविह साहुस्स जुत्तजोगस्स।
एगंतनिज्जरा से, न हु नवरि कयम्मि सज्झाए॥
.....पाए त्ति पादप्रमार्जनेन यदि वा औषधपानेन....
अक्षिरोगिणो भेषजप्रदानेन।.....सुविहितानां प्रापणं निर्वाण-
मार्गस्य। (व्यभा ४६७५-४६७७, ४६८८, ४६८९ वृ)

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, कुल, गण, संघ और साधर्मिक—इन दसों के वैयावृत्य की क्रियान्विति के तेरह स्थान हैं—१. भोजन लाकर देना। २. पानी लाकर देना। ३. शय्या-संस्तारक देना। ४. आसन प्रदान करना। ५. क्षेत्र और उपधि का प्रतिलेखन करना। ६. पादप्रमार्जन करना अथवा औषध पिलाना। ७. अक्षिरोग उत्पन्न होने पर भेषज देना। ८. मार्ग में विहार करते समय उनका भार वहन करना तथा मर्दन आदि करना। ९. राजा के क्रुद्ध होने पर उत्पन्न क्लेश से निस्तार करना। १०. शरीर को हानि पहुंचाने वालों तथा उपधि चुराने वालों से संरक्षण करना। ११. बाहर से आने पर दण्ड ग्रहण कर रखना। १२. ग्लान होने पर उसके योग्य कार्य सम्पादन करना। १३. उच्चार-पात्र, प्रश्रवणपात्र और श्लेष्मपात्र की व्यवस्था करना।

इस प्रकार वैयावृत्य के प्रत्येक प्रकार के तेरह स्थान होने से दशविध वैयावृत्य के एक सौ तीस स्थान होते हैं।

केवल स्वाध्याययोग से ही एकांत निर्जरा नहीं होती, वैयावृत्य करने से भी एकांत निर्जरा होती है—यह तथ्य व्यवहार सूत्र के दसवें उद्देशक में प्रतिपादित है। दशविध वैयावृत्ययोग से युक्त सुविहित मुनि निर्वाण (परम शांति) प्राप्त करता है।

९. अग्लान भाव से सेवा : गिला-अगिला

निर्वेष्टिं च कुण्ठो, जो कुण्ठो एरिसा गिला होति।
पडिलेहुद्ववणादी, वेयावडियं तु पुव्वुत्तं॥
यो नाम नृपवेष्टिं राजवेष्टिमिव कुर्वन् वैयावृत्यं
करोति एतादृशी भवति गिला ग्लानिः। गिलायाः प्रतिषेधोऽ-
गिला तथा करणीयं वैयावृत्यम्। (व्यभा १०५३ वृ)

जो राजवेष्टि (राजा की बेगार) की भांति वैयावृत्य करता है, यह गिला—ग्लानि है।

रोगी के उपकरणों की प्रतिलेखना करना, उसे उठाना आदि सब कार्य सोत्साह अग्लान भाव से करने चाहिए।

.....इच्छां तेषामगिलया निर्जराबुद्ध्या पूर्यति न
परोपरोधाच्चित्तनिरोधेन। (व्यभा २१०७ की वृ)

सेवाभावी सेवा-सहयोग लेने वालों की इच्छा को अगिला—निर्जराबुद्धि से पूर्ण करते हैं। वे किसी पर अनुग्रह करने के लिए या किसी से बाध्य होकर अनिच्छा से सेवा नहीं करते।

१०. सेवानियुक्ति की प्रार्थना

सोऊण वा गिलाणं, तूरतो आगतो दवदवस्स।
संदिसह किं करेमी, कम्मि व अट्ठे निउंजामि॥
पडियरिहामि गिलाणं, गेलण्णे वावडाण वा काहं।
तित्थाणुसज्जणा खलु, भत्ती य कया भवति एवं॥
(निभा २९७५, २९७६)

सेवाभावी मुनि रुग्ण की वार्ता सुनकर तत्काल तीव्र गति से रोगी के पास उपस्थित हो वहां स्थित परिचारक या आचार्य से निवेदन करता है—आज्ञा दें, मैं क्या करूं? किस सेवाकार्य में स्वयं को नियोजित करूं? मैं ग्लान की परिचर्या करूं या परिचारकों की भिक्षाटन आदि द्वारा सेवा करूं, जिससे तीर्थ की अव्युच्छिति और तीर्थकर की भक्ति सहज हो जाए।

(इस निवेदन को सुन पूर्व स्थित मुनि कहते हैं—‘आर्य’ तुम जाओ। हम परिचर्या में समर्थ हैं। यदि वे असमर्थ हों और आगंतुक कुशल हो, तो वे उसे विसर्जित नहीं करते।)

० आगंतुक परिचारक : वाचना की व्यवस्था
संजोगदिद्वपादी, तेणुवलद्धा व दव्वसंजोगा।
सत्थं व तेणऽधीयं, वेज्जो वा सो पुरा आसि॥
अत्थि य सें योगवाही, गेलन्नतिगिच्छणाएँ सो कुसलो।
सीसे वावारेत्ता, तेगिच्छं तेण कायव्वं॥
दाऊणं वा गच्छइ, सीसेण व वायएहि वा वाए।
तत्थऽन्नत्थ व काले, सोहिणँ सव्वुहिसइ हट्ठे॥
(बृभा १८७९-१८८१)

यदि आगंतुक मुनि ने औषध द्रव्य को मिलाने की प्रयोग-विधि से संबंधित चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया है, अथवा जिसको अतिशयज्ञान के द्वारा द्रव्यसंयोग की विधियां उपलब्ध हैं, अथवा जिसने चरक, सुश्रुत आदि शास्त्रों का अध्ययन किया है, अथवा जो पहले वैद्य रह चुका है, ऐसे विज्ञ मुनि को ग्लान की चिकित्सा के लिए रखना चाहिए।

आगंतुक मुनि के गच्छ में योगवाही मुनि हों और वह स्वयं ग्लानचिकित्सा में कुशल हो तो वह शिष्यों को सूत्र और अर्थ पौरुषी देकर अथवा शिष्यों को वाचना, वस्त्र-पात्र उत्पादन आदि कार्यों में यथायोग्य व्यापृत कर ग्लान की सेवा में पहुंच जाए। यदि

ग्लान का उपाश्रय दूर हो तो सूत्रपौरुषी देकर तथा अधिक दूर हो तो सूत्र और अर्थ पौरुषी के लिए अपने शिष्य को नियुक्त कर ग्लान की सेवा करे। वाचना देने वाले शिष्य के अभाव में ग्लान मुनि के आचार्य उन्हें वाचना दें। यदि वे असमर्थ हैं तो अनागाद् योगवाही शिष्यों के योग को स्थगित कर वहां अथवा अन्यत्र स्थित आगाद् योगवाही शिष्यों को कहे—आर्यो! आप काल का शोधन करें। जब वे उचित काल ग्रहण कर चुके हों, जितने दिनों का काल-शोधन किया और रुग्ण मुनि स्वस्थ हो गया हो, उतने दिनों के उद्देशन कालों की उन्हें एक साथ वाचना दे।

११. अप्रार्थित वैयावृत्य : महर्द्धिक दृष्टांत

अभणितो कोइ न इच्छइ, पत्ते थैरेहिं होउवालंभो।
दिहुंतो महिडुईए, सविथरारोवणं कुञ्जा॥
बहुसो पुच्छिञ्जता, इच्छाकारं न ते मम करिंति।
पडिमुंडणा य दुक्खं, दुक्खं च सलाहिउं अप्पा॥
किं काहामि वराओ, अहं खु ओमाणकारओ होहं।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥
उव्वत्त-खेल-संधार-जग्गणे पीस-भाणधरणे य।
तस्स पडिजग्गयाण व, पडिलेहेउं पि सि असत्तो॥
(बृभा १८८३-१८८६)

एक मुनि वैयावृत्य में कुशल था किन्तु दूसरे साधुओं ने उसको सेवा के लिए बुलाया नहीं, वह ग्लान के पास गया नहीं। तब संघ-स्थविर ने उसको महान् प्रायश्चित्त देते हुए उपालम्भ दिया—तुम सेवा करने क्यों नहीं गए?

उसने कहा—मैंने अनेक बार सेवा के लिए पूछा किन्तु उन्होंने मेरी सेवा की इच्छा नहीं की। फिर भी मैं वहां गया। तब उन्होंने कहा—तुम्हारी सेवा रहने दो। इस निषेध से मुझे कष्ट हुआ। 'ग्लान की जैसी सेवा मैं करता हूं, वैसी दूसरा कोई नहीं जानता है'—ऐसी आत्मश्लाघा करना भी मेरे लिए दुष्कर है।

तब स्थविर मुनि ने महर्द्धिक का दृष्टांत सुनाया—

एक राजा कार्तिक पूर्णिमा के दिन ब्राह्मणों को दान देता था। एक ब्राह्मण को उसकी पत्नी ने कहा—तुम राजा के पास जाओ। ब्राह्मण ने कहा—मैं राजा के निमंत्रण के बिना दान लेने

नहीं जाऊंगा। यदि राजा को अपने पूर्वजों का अनुग्रह प्राप्त करना हो तो राजा स्वयं यहां आकर मुझे साथ ले जाए। पत्नी पुनः बोली—पतिवर! राजा के पास तुम्हारे जैसे अनुग्रह करने वाले अनेक ब्राह्मण हैं। यदि तुम्हें धन पाना हो तो वहां जाओ। वह राजा से दान लेने नहीं गया, धन से वंचित रह गया। इसी प्रकार तुम चाहते हो कि वे मुनि तुम्हें सेवा के लिए अभ्यर्थना करें, तो तुम भी निर्जरा के लाभ से वंचित रह जाओगे।

संघस्थविर के पूछने पर यदि कोई मुनि यह कहता है कि मैं तो वराक—सर्वथा अशक्त के सदृश हूं, वहां जाकर क्या करूंगा? वहां अपमान को ही प्राप्त करूंगा। ऐसा कहने वाला मुनि चतुर्गुरु प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है।

स्थविर उसे अनुशासित करते हैं—आर्य! ग्लान को करवट बदलवाना, श्लेष्मपात्र-परिष्ठापन करना, संस्तारक बिछाना, रात्रि-जागरण करना, औषधि का चूर्ण करना, आहार-पानी के पात्र यथास्थान रखना, सेवा करने वालों की उपधि की प्रतिलेखना करना—क्या तुम इन कार्यों को करने में भी असमर्थ हो?

१२. सेवा की अनिवार्यता : संघ की प्रभावना

असिवे ओमोयरिए, रायहुदु भये व गेलन्ने।
एएहिं कारणेहिं, तह वि वहंती न चेव छडुंति।
अहवा वि सो भणेज्जा, छडुउ ममं तु गच्छहा तुब्भे!
होउ त्ति भणिय गुरुगा, इणमन्ना आवई बिइया॥
पच्चंतमिलक्खेसुं, बोहियतेणेसु वा वि पडिएसु।
जणवय-देसविणासे, नगरविणासे य घोरम्मि॥
.....तह वि गिलाण सुविहिया, वच्चंति वहंतगा साहू॥
तारेह ताव भंते! अप्पाणं किं मएल्लयं वहह।
एगालंबणदोसेण मा हु सव्वे विणस्सिहिह॥
एवं च भणियमेत्ते, आयरिया नाण-चरणसंपन्ना।
अचवलमणालिय हितयं, संताणकरिं वइमुदासी॥
सव्वजग्गजीवहियं, साहुं न जहामो एस धम्मो णे।
जति य जहामो साहुं, जीवियमित्तेण किं अम्हं॥
तं वयणं हिय मधुरं, आसासंकुरसमुब्भवं सयणो।
समणवरगंधहत्थी, बेइ गिलाणं परिवहंतो॥
जइ संजमो जइ तवो, दढमित्तित्तं जहुत्तकारित्तं।
जइ बंभं जइ सोयं, एएसु परं न अन्नेसुं॥

“बोधिकस्तेना नाम ये मानुषाणि हरन्ति”। “हितं परिणामपथ्यं ‘मधुरं’ श्रोत्रमनसां प्रह्लादकं”। “गन्धहस्ती गजकलभानां यूथाधिपत्यपदमुद्ग्रहमानो गिरिकन्दरादिविषम-दुर्गेष्वपि पतितो न तत्परित्यागं करोति, एवमयमपि गणधर-पदमनुपालयन् विषमदशायामपि श्रमणवरान् परित्यजतीति श्रमणवरगन्धहस्तीत्युच्यते। “तत इत्थं तदीयवचनं श्रुत्वा समीपवर्तिनामगारिणामित्थं स्थिरीकरणमुपजायते” “यद्योक्तकारित्वं’ भगवद्वाङ्माराधकत्वं” “शौचं’ निरुपलेपता सद्भावसारता वा”। (बृभा २००२-२०११ वृ)

महामारी, दुर्भिक्ष, राजपट्टेय, चोर आदि का भय, स्वयं की रुग्णता—सेवारत मुनि इन आगाढ़ कारणों के उपस्थित होने पर सेवार्थी ग्लान मुनि को यद्यपि यतनापूर्वक विसर्जित कर सकते हैं, तथापि वे विसर्जित नहीं करते हैं, उसे वहन करते हैं।

अथवा वह ग्लान मुनि कहे कि आप मुझे छोड़कर चले जाएं, तब ‘ऐसा ही हो’ इस रूप में स्वीकृति देने वाला मुनि चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भगी होता है।

मार्ग में प्रत्यन्तदेशवासी म्लेच्छ, अपहरणकर्ता आदि के मिलने पर अथवा जनपद-देश-नगर के घोर विनाश का प्रसंग उपस्थित होने पर भी सुविहित मुनि ग्लान को साथ लेकर आगे बढ़ते हैं, उसका परित्याग नहीं करते।

‘भंते! इस आपदा से आप अपनी सुरक्षा करें। मैं तो मृतप्राय हूँ, मुझे क्यों वहन कर रहे हैं। केवल मेरे कारण आप सब विनष्ट न हों।’ ग्लान के इस कथनमात्र पर ज्ञान-चरण सम्पन्न आचार्य अचपल, सत्य, हितकारी और परित्राणकारी वचनों से उसे आश्वस्त करते हैं—

‘हम अभयदान के द्वारा जगत के सब जीवों का हितसम्पादन करने वाले साधु का परित्याग नहीं करते—यह हमारा धर्म है। यदि हम साधु का परित्याग करते हैं तो हमारे प्राणधारणमात्र से क्या प्रयोजन? स्वजन की भांति आचार्य ग्लान का योगक्षेमसंवहन करते हुए इस प्रकार का परिणामसुन्दर, आह्लादकारी और आश्वास-अंकुर को उत्पन्न करने वाला वचन बोलते हैं।’

‘आचार्य श्रमणवरगंधहस्ती कहलाते हैं। जैसे गजकलभों के यूथाधिपत्यपद का परिवहन करता हुआ गंधहस्ती गिरिकन्दरा

आदि विषम मार्गों में जाने पर भी कलभों का परित्याग नहीं करता, वैसे ही गणधरपद का संवहन करते हुए आचार्य विषम अवस्थाओं में भी श्रमणवरों का परित्याग नहीं करते।’

इस प्रकार के गुरुवचनों को सुनकर समीपस्थ गृहस्थों का इस रूप में स्थिरीकरण होता है—यदि कहीं संयम, तप, सुदृढ़ मैत्री, भगवान की आज्ञा की आराधना, ब्रह्मचर्यपालन और शौच—निरुपलेपता या सद्भावसार उपलब्ध है, तो वह इन्हीं साधुओं में उपलब्ध है, अन्यत्र नहीं।

० वैयावृत्य में तत्परता : उपेक्षा से प्रायश्चित्त

सुहिया मो त्ति य भणती, अच्छह वीसत्थया सुहं सव्वे।
एवं तत्थ भणंते, पायच्छित्तं भवे त्तिविहं॥
भत्तादिसंकिलेसो, अवस्स अम्हे वि तत्थ न तरामो।
काहिंति केत्तियाणं, तेणं चिय तेसु अहन्ना॥
अम्हेहिं तहिं गएहिं, ओमाणं उग्गमाइणो दोसा।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुणा॥

“यद्याचार्य एवं ब्रवीति ततश्चतुर्गुरु, उपाध्यायो ब्रवीति चतुर्लघु, भिक्षुर्ब्रवीति मासगुरु। (बृभा १८८७-१८८९ वृ)

मासकल्प के लिए स्थित मुनि अन्यत्र स्थित ग्लान मुनि के बारे में सुनते हैं। वे कहते हैं—हमें सेवा के लिए वहां जाना चाहिए। यह सुनकर कोई मुनि कहता है—मैं यहां सुखी हूँ। आप सभी विश्वस्त होकर सुखपूर्वक यहां रहें। ऐसी बात कहने वाले आचार्य हों तो उन्हें चतुर्गुरु, उपाध्याय को चतुर्लघु और भिक्षु को मासगुरु प्रायश्चित्त आता है।

कुछ मुनि कहते हैं—वहां आहार-पानी की कठिनाई आएगी। हम भी अवश्य अपना निर्वाह नहीं कर सकेंगे। वहां के श्रमण भी सेवाकार्यों में व्यस्त हैं, वे कितने श्रमणों का आतिथ्य करेंगे। हमारे वहां जाने पर आहार की कमी से उद्गम आदि दोषों की संभावना है। ऐसा कहने वालों को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा ण गवेसति”। “उम्मगं वा पडिपहं वा गच्छति, गच्छंतं वा सात्तिज्जति”। “चाउम्मासियं परिहारट्टाणं अणुग्घातियं”। (नि १०/३०, ३१, ४१)

सोऊण वा गिलाणं, पंथे गामे य भिक्खवेलाए ।
जति तुरियं णागच्छति, लग्गति गुरुए सवित्थारं ॥
जह भमर-महुयर-गणा, णिवतंति कुसुमितम्मि वणसंडे ।
तह होति णिवतियव्वं, गेलणणे कतितवजडेणं ॥
साहम्मियवच्छल्लं कयं, अप्पा य णिज्जरादारं णितो-
तिओ भवति । (निभा २९७०, २९७१ चू)

जो भिक्षु किसी श्रमण को बीमार सुनकर उसकी गवेषणा नहीं करता अथवा उन्मार्ग—मूल मार्ग को छोड़कर प्रतिमार्ग—पगडंडी से चला जाता है और जाने वाले का अनुमोदन करता है, वह चातुर्मासिक गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

यदि कोई मुनि मार्ग में जा रहा हो, गांव में प्रवेश कर रहा हो या भिक्षाटन कर रहा हो, उस समय किसी रोगी की सूचना मिलते ही यदि वह तत्काल वहां नहीं पहुंचता है, तो उसे विस्तारयुक्त गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है ।

जैसे गुंजार करते मधुकर कुसुमित वनखंड में पहुंच जाते हैं, वैसे ही धर्मतरुक्षक मुनि निश्छलभाव से ग्लान की सेवा में पहुंच जाते हैं । इसके मुख्य दो फलित हैं—साधर्मिक वात्सल्य का प्रकटीकरण और निर्जराकार्य में आत्मनियोजन ।

१३. ग्लानप्रायोग्य द्रव्य की गवेषणा

जे भिक्खु गिलाणवेयावच्चे अब्भुट्टियस्स सएण लाभेण असंथरमाणस्स, जो तस्स न पडित्तपत्तिं... ॥...गिलाणपाउग्गे दव्वजाए अलब्भमाणे, जो तं न पडियाइक्खति... ॥...चाउम्मा-सियं परिहारद्वानं अणुग्घातियं । (नि १०/३२, ३३, ४१)

जो भिक्षु रुग्ण मुनि की सेवा में उपस्थित हो, उसे पर्याप्त आहार उपलब्ध न हुआ हो, इस स्थिति में वह रुग्ण मुनि को आहार से तृप्त नहीं करता है । रुग्ण मुनि ने कोई द्रव्य मंगवाया, वह द्रव्य उपलब्ध नहीं हुआ, रुग्ण मुनि को पुनः उसकी सूचना नहीं देता है—वह चातुर्मासिक गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

दव्वं तु जाणियव्वं, समाधिकारं तु जस्स जं होति ।
णायम्मि य दव्वम्मि, गवेषणा तस्स कायव्वा ॥
(बृभा ३७७९)

सेवाभावी को सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि इस रोग में

अमुक द्रव्य पथ्य है और इस रोगी के लिए अमुक द्रव्य समाधिकारक है । फिर उस द्रव्य की प्रयत्नपूर्वक गवेषणा करनी चाहिए ।

जायंते उ अपथं, भणंति जायामो तं न लब्भइ णे ।
विणियद्वणा अकाले, जा वेल न बेति उ न देमो ॥
पडिलेह पोरुसीओ, वि अकाउं मग्गणा उ सग्गामे ।...
(बृभा १९०१, १९०३)

ग्लान मुनि यदि अपथ्य द्रव्य की मांग करे तो सेवादायी मुनि (मनोवैज्ञानिक ढंग से बर्ताव करते हुए) कहें—हमने इसकी गवेषणा-याचना की है किन्तु हमें यह पदार्थ प्राप्त नहीं हुआ अथवा ग्लान के सामने पात्र लेकर उपाश्रय के बाहर जाकर लौट आएँ । ग्लान से कहें—अकाल में जाकर याचना करने से वस्तु नहीं मिलती । जब तक भिक्षा का समय नहीं होता है, तुम प्रतीक्षा करो । 'हम अमुक द्रव्य लाकर नहीं देंगे'—ऐसा न कहें ।

ग्लान प्रायोग्य द्रव्य सुलभ होने पर सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी करके तथा द्रव्य दुर्लभ होने पर दोनों ही पौरुषी किए बिना अपने ग्राम में अनवभाषित द्रव्य की गवेषणा करनी चाहिए ।

१४. मुनि और वैद्य

संविग्गमसंविग्गे, दिट्ठत्थे लिंगि सावए सण्णी ।
अस्सण्णि इड्ढि गइरागई य कुसलेण तेगिच्छं ॥
लिंगत्थमाइयाणं, छण्हं वेज्जाणा गम्मऊ मूलं ।
संविग्गमसंविग्गे, उवस्सगं चेव आणेज्जा ॥

'संविग्गः' उद्यतविहारी... 'श्रावकः' प्रतिपन्नाणुवतः 'संज्ञी' अविरतसम्यग्दृष्टिः 'असंज्ञी' मिथ्यादृष्टिः, स च त्रिधा—अनभिगृहीतमिथ्यादृष्टिः अभिगृहीतमिथ्यादृष्टिः परतीर्थिकश्चेति ।...दृष्टार्थो गीतार्थ इत्यर्थः ।...यः संविग्गः स गीतार्थो वा स्यादगीतार्थो वा । एवमसंविग्ग-लिंगस्थ-श्रावक-संज्ञिष्वपि गीतार्थत्वमगीतार्थत्वं...अनभिगृहीतादयस्तु त्रयोऽपि नियमादगीतार्थाः ।...गत्यागतिः' चारणिका... तद्यथा—प्रथमं संविग्गगीतार्थेन चिकित्साकर्म कारयितव्यम्, अथासौ न लभ्यते ततोऽसंविग्गगीतार्थेन...एते च पूर्वमनृद्धिमन्तो गवेषणीयाः न ऋद्धिमन्तः, तदीयगृहेषु दुःप्रवेश-तया बहुदोषसद् भावात् । (बृभा १९११, १९१७ वृ)

मुनि संबंधी वैद्य के आठ प्रकार हैं—

१. संविग्न—उद्यतविहारी। ५. संज्ञी—अविरत सम्यग्दृष्टि।
 २. असंविग्न—अनुद्यतविहारी। ६. अनभिगृहीत मिथ्यादृष्टि।
 ३. लिंगी—वेशधारी साधु। ७. अभिगृहीत मिथ्यादृष्टि।
 ४. श्रावक—अणुव्रतधारी। ८. परतीर्थिक।

इनमें प्रथम पांच गीतार्थ और अगीतार्थ—दोनों प्रकार के होते हैं और शेष तीन नियमतः अगीतार्थ ही होते हैं।

कुशल वैद्य से चिकित्सा करवानी चाहिए। कुशल संविग्न गीतार्थ हो तो उसी से, वह न हो तो असंविग्न गीतार्थ, वह भी न हो तो संविग्न अगीतार्थ आदि से चिकित्सा करवानी चाहिए। इस प्रकार के क्रम-उत्क्रम को ही गति-आगति कहा गया है। इनमें भी अऋद्धिमान की प्राथमिकता है। ऋद्धिमान के पास जाने में अनेक कठिनाइयां आ सकती हैं।

इनमें संविग्न और असंविग्न—इन दो को तो उपाश्रय में लाना चाहिए। शेष छह के घर पर ही ग्लान को ले जाना चाहिए।

० वैद्य आने पर अभ्युत्थानविधि.....

गीयत्थे आणयणं, पुव्वं उट्ठित्तु होति अभिलावो।
 गिलाणस्स दायणं, सोहणं च चुण्णाइगंधे य॥

.....गंडो ति फाडेयव्वं, तम्हि फालिए उसिणोदगादि-
 फासुअं हत्थधोवणं दिज्जति। (निभा ३०३५ चू)

गीतार्थ मुनि वैद्य को लेने जाते हैं और गुरु को वैद्य के आने की पूर्वसूचना देते हैं। आचार्य पहले से ही उठकर चंक्रमण करने लगते हैं और वैद्य के निकट आने पर उससे बातचीत करते हैं।

रोगी को स्वच्छ वस्त्र पहनाकर वैद्य को दिखाते हैं। स्थान मलिन हो तो उसे साफ कर पटवास आदि चूर्ण से वासित किया जाता है। वैद्य रोगी के फोड़े आदि की शल्यक्रिया करे तो उष्णोदक आदि प्रासुक द्रव्य उसे हाथ धोने के लिए दिए जा सकते हैं।

१५. वैयावृत्य और परपक्ष

वेज्जसपक्खण्णाऽसती, गिहि-परतित्थी उ तिविधसंबंधी।
 एमेव असंबंधी, असोयवादेतरा सव्वे ॥
 एतेसिं असतीए, गिहि-भगिणि परतित्थिगी तिविहभेदा।
 एतेसिं असतीए, समणी तिविधा करे जतणा ॥
 अज्जाणं गेलण्णे, संथरमाणे सयं तु कायव्वं।
 वोच्चत्थ मासचउरो, लहु-गुरुगा थेरए तरुणे ॥
 (व्यभा २४३७, २४३८, २४४४)

गच्छ में कुशल वैद्य या वैयावृत्यकर न हो तो निम्न क्रम से गृहस्थ आदि से चिकित्सा करवाई जा सकती है—

- ० गृहस्थ पिता, भ्राता या अन्य संबंधीजन (पहले स्थविर, फिर मध्यम, फिर तरुण) से, संबंधी न हो तो असंबंधी से।
- ० परतीर्थिक पिता आदि संबंधी से, जो स्थविर और अशौचवादी हो। वह न हो तो मध्यम या तरुण अशौचवादी से, उसके अभाव में स्थविर आदि शौचवादी से, संबंधी के अभाव में असंबंधी से।
- ० इनके अभाव में गृहस्थ माता, भगिनी, अन्य संबंधी।
- ० असंबंधी स्थविरा आदि। ० परतीर्थिकी स्थविरा आदि।
- ० श्रमणी—स्थविरा आदि। यह साधु संबंधी परपक्ष है।

साधु समर्थ हो तो स्वयं चिकित्सा करे। साधु-साध्वी के पारस्परिक वैयावृत्यकर स्थविर-स्थविरा हों तो चतुर्लघु और तरुण-तरुणी हों तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त विहित है।

१६. वैयावृत्य के अपवाद

बितियपदं अणवट्ठो, परिहारतवं तहेव य वहंतो।
 अत्तद्वियलाभी वा, सव्वहा वा अलंभंते ॥
 (निभा ३११६)

निम्न व्यक्तियों की सेवा नहीं की जाती—

- ० जो अनवस्थाप्य तप या परिहारतप वहन कर रहा हो।
- ० जो अपनी लब्धि का खाता हो। उसे सर्वथा प्राप्ति न होने पर भी उसकी गवेषणा न करने वाला शुद्ध है।

१७. वैयावृत्य से गुरु प्रायश्चित्त लघु में परिवर्तित

वेयावच्चकराणं, होति अणुगघातियं पि उग्घातं।
 सेसाणमणुग्घाता अप्पच्छंदो ठवंताणं ॥
 (व्यभा ७६७)

जो संघ के वैयावृत्य में प्रवृत्त है, उसे प्राप्त गुरु परिहारस्थान को भी लघु परिहारस्थान में परिवर्तित कर दिया जाता है। जो प्राप्त तप का स्वच्छन्दता से निक्षेप करते हैं तो यदि वे लघु तप का वहन कर रहे हों तो उन्हें गुरु और गुरु तप का वहन कर रहे हों तो उन्हें गुरुतर तप दिया जाता है।

१८. मुनि की चिकित्सा के हेतु

णच्चुप्पतितं दुक्खं, अभिभूतो वेयणाए तिव्वाए।
 अहीणो अब्बहितो, तं दुक्खंऽहियासए सम्मं ॥

अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीयद्धी वा समाहिहेतुं वा ।.....
(निभा १५०३, १५०४)

जब मुनि का शरीर तीव्र वेदना से अधिभूत हो जाए तो वह समुत्पन्न दुःख को जानकर दीन या व्यथित न बने, प्रसन्न मन से समतापूर्वक उस दुःख को सहन करे ।

मुनि चार कारणों से रोग की चिकित्सा कर सकता है—

१. मैं श्रुत की परम्परा को अविच्छिन्न करूंगा ।
२. दीर्घकाल तक संयम जीवन जीऊंगा ।
३. ज्ञान-दर्शन-चारित्र-समाधि की साधना करूंगा ।
४. समाधिमरण से मरूंगा ।

(वैयावृत्य करने के चार प्रयोजन हैं— १. समाधि पैदा करना । २. विचिकित्सा दूर करना, ग्लानि का निवारण करना । ३. प्रवचन-वात्सल्य प्रकट करना । ४. सनाथता—निःसहायता या निराधारता की अनुभूति न होने देना ।—तवा भाग २ पृ ६२४)

१९. गीतार्थ-अगीतार्थ चिकित्सा : गंत्री-नौका दृष्टांत
तिविधे तेगिच्छमी, उज्जुग-वाउलण-साहुणा चेव ।
यण्णवणमणिच्छंते, दिट्ठंतो भंडिपोतेहिं ॥
जा एगदेसे अदढा उ भंडी, सीलण्णए सा तु करेति कज्जं ।
जा दुब्बला संठविद्या वि संती, न तंतु सीलंति विसण्णदारुं ॥
जो एगदेसे अदढो उ पोतो, सीलण्णए सो उ करेति कज्जं ।
जो दुब्बलो संठवितो वि संतो, न तं तु सीलंति विसण्णदारुं ॥
संदेहियमारोगं, पउणो वि न पच्चलो तु जोगाणं ।
इति सेवंतो दप्पे, वड्ढति न य सो तथा गीतो ॥
काहं अछित्तं अदुवा अधीतं, तवोविधाणेसु य उज्जमिस्सं ।
गणं व नीइए य सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेति मोक्खं ॥

“त्रिप्रकारे आचार्योपाध्यायभिक्षुलक्षणे चिकित्स्यमाने
गीतार्थे इति गम्यते” अथ प्रासुकमेषणीयं न लभ्यते” तथाभूते
च दीयमाने स्फुटमेव निवेद्यते, इदमेवंभूतमिति ।.....या भंडी
गत्री” तस्याः परिशीलनं कार्यते ।.....यो ग्लानः सन्नेवमवबुध्यते,
समर्थो भूतः सन् तीर्थाव्यवच्छेदं करिष्यामि ।” अहमध्येष्ये
सूत्रतोऽर्थतश्च” नीत्या सूत्रोक्तया सारयिष्यामि गुणैः प्रवृद्धं
करिष्यामि । (व्यभा १७८; १८०-१८३ वृ)

आचार्य, उपाध्याय और गीतार्थ भिक्षु की चिकित्सा चल

रही हो और उस समय प्रासुक-एषणीय द्रव्य पर्याप्त न मिले, तो व्यापृत साधु को चाहिए कि वह स्पष्ट रूप से बता दे कि यह एषणीय है, यह अनेषणीय है । अगीतार्थ ग्लान भिक्षु यदि कहे कि मैं अकल्पनीय का सेवन नहीं करता तो सेवारत साधु यह प्रज्ञापना करे कि ग्लान यतनापूर्वक अकल्प्य का सेवन कर पश्चात् प्रायश्चित्त से शुद्ध हो सकता है ।

गंत्री दृष्टांत—जिस गाड़ी का एक भाग सुदृढ़ नहीं होता, उस भाग का परिशीलन करने पर वह गाड़ी अपना कार्य करती है । संस्थापित होने पर भी जो दुर्बल है, उस विषण्ण काष्ठ वाली गाड़ी का परिशीलन नहीं किया जाता ।

नौका दृष्टांत—जिस नौका का कोई एक भाग श्लथ होता है, उसका परिशीलन करने पर वह कार्य करती है । उस नौका को संस्थापित करने पर भी यदि वह अपना कार्य करने में अक्षम है तो उसके विषण्ण काष्ठ का परिशीलन नहीं किया जाता है ।

इसी प्रकार जिसको अपने आरोग्य में संदेह है, स्वस्थ होने पर भी स्वाध्याययोग आदि में समर्थ नहीं हो सकूंगा—ऐसा जानता हुआ गीतार्थ मुनि यदि अकल्प्य का सेवन करता है, तो वह दर्प प्रतिसेवना है । गीतार्थ को ऐसा नहीं करना चाहिए ।

जो ग्लान यह चाहता या जानता है कि मैं स्वस्थ होकर

- ० तीर्थ परम्परा को अविच्छिन्न करूंगा ।
- ० द्वादशांग के सूत्र और अर्थ का अध्ययन करूंगा ।
- ० नाना प्रकार के तप उपधान में उद्यम करूंगा ।
- ० सूत्रोक्त नीति से गण की सारणा करूंगा—उसे ज्ञान आदि गुणों से समृद्ध करूंगा ।—इनमें से किसी भी सूत्र का आलंबन लेकर चिकित्सा हेतु अकल्प्य का सेवन करने वाला सालंबसेवी मुनि ऋजुता से प्रायश्चित्त वहन कर मुक्त हो जाता है ।

२०. चिकित्सा की कालावधि : आचार्य, वृषभ.....

छम्मासे आयरिओ, कुलं तु संवच्छराणि तिन्नि भवे ।
संवच्छरं गणो खलु, जावज्जीवं भवे संघो ॥
अथवा बितियादेसो, गुरुवसभे भिक्खुमादि तेगिच्छं ।
गुरुणो जावज्जीवं,तेगिच्छं ।
वसभे वारसवासा, अट्टारस भिक्खुणो मासा ॥
.....यः पुनर्भक्तविवेकं कर्तुं शक्नोति, तेन
प्रथमतोऽष्टादशमासान् चिकित्सा कारयित्वा.....तदनन्तरं

चेत् प्रगुणीभवति ततः सुन्दरमथ न भवति तर्हि भक्तविवेकः
कर्त्तव्यः । (व्यभा २०२१, २०२२, २०३० वृ)

आचार्य छहमास पर्यंत रुग्ण की सेवा करवाते हैं। फिर भी वह स्वस्थ न हो, तब तक क्रमशः तीन वर्ष के लिए कुल को, एक वर्ष के लिए गण को और फिर संघ को सौंप देते हैं। संघ यावज्जीवन उसकी सेवा-चिकित्सा करता है। यह कालावधि उसके लिए है, जो भक्तप्रत्याख्यान (अनशन) करने में असमर्थ है। जो भक्तपरिज्ञा कर सकता है, वह अठारह महीने चिकित्सा करने पर स्वस्थ न हो, तो अनशन करे।

अथवा दूसरा आदेश यह है—सारा गच्छ आचार्य के अधीन होता है तथा आचार्य निरंतर यथाशक्ति सूत्र-अर्थनिर्णय में प्रवृत्त होते हैं, अतः आचार्य की चिकित्सा जीवनपर्यंत करनी चाहिए।

वृषभ बारह वर्ष तक चिकित्सा करवाए ताकि उस काल में समस्त गच्छ का भार उद्वहन करने में समर्थ कोई अन्य वृषभ तैयार हो जाये। फिर शक्ति होने पर अनशन करे।

रुग्ण भिक्षु का चिकित्साकाल अठारह मास है।

२१. असाध्य रोगी को अनशन की प्रेरणा

किरियातीतं णाउं, जं इच्छति एसणाए जं तत्थ।
सद्धावणा परिणणा, पडियरण कहा णमोक्कारो ॥
(बृभा ३७७८)

कोई साधु अथवा साध्वी उपचार करने पर भी स्वस्थ न हो, तो उसके रोग को असाध्य जानकर पूछा जाए कि तुम्हारी समाधि कैसे रहे? वह जिस द्रव्य को चाहे, उसकी एषणा की जाए। वह द्रव्य देकर उसमें अनशन की सधन इच्छा पैदा की जाए। अनशन स्वीकार कर लेने के पश्चात् प्रयत्नपूर्वक उसकी परिचर्या की जाए, धर्मकथा और नमस्कार महामंत्र सुनाया जाये, जिससे वह अनशन की सम्यक् आराधना कर सके।

वैर—शत्रुता।

द्र अधिकरण

व्यवहार—प्रवृत्ति और निवृत्ति की हेतुभूत व्यवस्था।

१. व्यवहार के निर्वचन

* व्यवहार और प्रायश्चित्त एकार्थक

द्र प्रायश्चित्त

२. व्यवहारी-व्यवहार-व्यवहर्त्तव्य

३. द्रव्य-भाव व्यवहारी : कसौटी

४. व्यवहारी (आलोचनार्ह) की अर्हता

५. लौकिक-लोकोत्तर व्यवहर्त्तव्य

० अव्यवहर्त्तव्य : कुंभकार दृष्टांत

६. व्यवहार के पांच प्रकार : प्रधानता-गौणता

० प्रथम चार व्यवहारों के धारक

७. आगम व्यवहार के भेद-प्रभेद

० प्रत्यक्ष-परोक्ष आगम व्यवहारी

८. प्रत्यक्ष-परोक्षज्ञानी : प्रायश्चित्तदान में समानता

० नालीधमक दृष्टांत

९. आगम व्यवहारी का स्वरूप

१०. श्रुतव्यवहारी का स्वरूप

० श्रुतव्यवहार : भद्रबाहु द्वारा निर्यूढ श्रुत

* व्यवहार-पठन की अर्हता

द्र छेदसूत्र

* आलोचनार्ह : आगम-श्रुत-व्यवहारी

द्र आलोचना

११. आज्ञा व्यवहार का स्वरूप : शिष्य की परीक्षा

० आज्ञा व्यवहार की एक अन्य व्याख्या

१२. धारणा व्यवहार का स्वरूप

१३. जीत व्यवहार का स्वरूप

० जीत व्यवहार : श्रुत-उपधान के संदर्भ में

१४. जीत व्यवहार के आधार पर प्रायश्चित्त

१५. सावद्य-निरवद्य जीत व्यवहार

१६. जीत व्यवहार प्रवर्तन : बारह वस्तुओं का विच्छेद

१७. जीत व्यवहार कब तक ?

१८. व्यवहार के भेद : आभवद् और प्रायश्चित्त

* आभवद् व्यवहार : अधिकारी

द्र अवग्रह

० क्षेत्र आभवद्-श्रुत आभवद् व्यवहार

० सुख-दुःख आभवद्-मार्ग आभवद् व्यवहार

* पश्चात्कृत शिष्य : आभवद् व्यवहार

द्र आचार्य

० विनयोपसम्पद् आभवद् व्यवहार

० श्रुत आदि आभवद् व्यवहार का लाभ

१९. गीतार्थ व्यवहर्त्तव्य, गीतार्थ के साथ व्यवहार

२०. सम्यग् निर्णय में मध्यस्थता अनिवार्य

२१. संव्यवहारी आराधक : आठ व्यवहारी शिष्य

१. व्यवहार के निर्वचन

....विविहं वा विहिणा वा, ववणं हरणं च ववहारो ॥

ववणं ति रोवणं ति य, पकिरण परिसाडणा य एगडुं ।
हारो ति य हरणं ति य, एगडुं हीरते व ति ॥
अन्थी पच्चत्थीणं, हाउं एगस्स ववति बितियस्स ।
एतेण उ ववहारो, ॥

...वपनं तपः-प्रभृत्यनुष्ठानविशेषस्य दानं...हरण-
मतिचारदोषजातस्य ...वपनशब्दस्य प्रदानलक्षणोऽर्थः... ।
व्यवहारपरिच्छेद- कुशलो...यस्य यन्नाभवति, तस्मात् तत्
हृत्वा आदाय यस्याभवति तस्मै द्वितीयाय वपति प्रयच्छति...
स स्थेयव्यापारो व्यवहारः...स्थेयपुरुषो विवादनिर्णयाय
एकस्माद्धरति, अन्यस्मै प्रयच्छति, तस्मात्तद्व्यापारो
वपनहरणात्मकत्वात् व्यवहारः । (व्यभा ३-५ वृ)

विविध प्रकार से अथवा अर्हत्भाषित विधि के अनुसार
वपन—तप आदि प्रायश्चित्त देना और हरण—अतिचारों का अपनयन
करना व्यवहार है । वपन, रोपण, प्रकिरण और परिशाटन—ये चारों
एकार्थक हैं । हार, हरण और हियते—ये एकार्थक हैं ।

अर्थी और प्रत्यर्थी (याचक और प्रतियाचक) में विवाद
होने पर व्यवहारपरिच्छेदकुशल (न्यायविशारद) मध्यस्थ पुरुष
एक से वस्तु लेकर जो उसकी नहीं है, दूसरे को देता है जिसकी
वह है । इस प्रकार विवादनिर्णय के लिए एक से वस्तु का हरण—
आदान और दूसरे (मूल स्वामी) को वपन—प्रदान करना, यह
हरणवपनरूप व्यापार व्यवहार है ।

२. व्यवहारी-व्यवहार-व्यवहर्तव्य

जेण य ववहरति मुणी, जं पि य ववहरति सो वि ववहारो ।...
(व्यभा ३८८८)

मुनि जिसके द्वारा व्यवहार का प्रवर्तन करता है, वह
आगम आदि व्यवहार कहलाता है और जिस व्यवहर्तव्य का
व्यवहार करता है, वह भी व्यवहार है ।

व्यवहियते यद् यस्य प्रायश्चित्तमाभवति स तदान-
विषयीक्रियतेऽनेनेति व्यवहारः । (व्यभापी वृ प ३)

ववहारो ववहारी, ववहरियव्वा य जे जहा पुरिसा ।...
ववहारी खलु कत्ता, ववहारो होति करणभूतो उ ।
ववहरियव्वं कज्जं, कुंभादितियस्स जह सिद्धी ॥

...व्यवहारी व्यवहारक्रियाप्रवर्तकः प्रायश्चित्तदायीति

यावत्...व्यवहर्तव्या व्यवहारक्रियाविषयीकर्तव्याः ।...
पंचविधेन व्यवहारेण करणभूतेन व्यवहरन् कर्ता यन्निष्पाद-
यति कार्यं, तद् व्यवहर्तव्यमित्युच्यते ।...व्यवहर्तव्यकार्ययोगात्
पुरुषा अपि व्यवहर्तव्याः । (व्यभा १, २ वृ)

व्यवहारी व्यवहारक्रिया प्रवर्तक है, प्रायश्चित्तदायी है,
अतः वह कर्ता, व्यवहार करणभूत और व्यवहर्तव्य—व्यवहारक्रिया
का विषयीभूत प्रायश्चित्तआदायी कार्यरूप है । जैसे कुंभ कहने से
कुंभत्रिक (कुंभ कार्य, कुंभकार कर्ता और मिट्टी करण) की सिद्धि
होती है, (वैसे ही व्यवहार के कथन से व्यवहार, व्यवहारी और
व्यवहर्तव्य का कथन हो जाता है) ।

जो व्यक्ति जिस प्रायश्चित्त के योग्य है, वह प्रायश्चित्त
जिसके द्वारा दिया जाता है, वह व्यवहार है । पंच प्रकार के
करणभूत व्यवहार से व्यवहार करता हुआ व्यवहारी जो कार्य
निष्पादित करता है, वह व्यवहर्तव्य है । व्यवहर्तव्य कार्य के योग
से पुरुष भी व्यवहर्तव्य है ।

३. द्रव्य-भाव व्यवहारी : कसौटी

दव्वम्मि लोइया खलु, लंचिल्ला भावतो उ मज्झत्था ।
उत्तरदव्व अगीता, गीता वा लंचपक्खेहिं ॥
पियधम्मा ददधम्मा, संविग्गा चेवऽवज्जभीरू य ।
सुत्तत्थ-तदुभयविऊ, अणिस्सियववहारकारी य ॥
पियधम्मे ददधम्मे, य पच्चओ होइ गीतसंविग्गे ।
रागो उ होति निस्सा, उवस्सितो दोससंजुत्तो ॥
अहवा आहारादी, दाहिइ मज्झं तु एस निस्सा उ ।
सीसो पडिच्छिओ वा, होति उवस्सा कुलादी वा ॥
(व्यभा १३-१६)

द्रव्य व्यवहारी के दो प्रकार हैं—

१. लौकिक द्रव्य व्यवहारी—रिश्त लेकर व्यवहार करने वाला ।
२. लोकोत्तर द्रव्य व्यवहारी—अगीतार्थ की अवस्था में व्यवहार
करने वाला अथवा गीतार्थ अवस्था में भी लंचा का उपजीवी
होकर अथवा पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने वाला ।

भाव व्यवहारी के दो प्रकार हैं—

१. लौकिक भाव व्यवहारी—मध्यस्थ भाव से व्यवहार करने वाला ।
२. लोकोत्तर भाव व्यवहारी—अनिश्रित (निष्पक्ष) होकर व्यवहार

करने वाला। वह प्रियधर्मा, दृढधर्मा, संवेग (भवविराग) सम्पन्न, पापभीरु, सूत्रविद्, अर्थविद् और सूत्रार्थविद् होता है।

प्रियधर्मा, दृढधर्मा, गीतार्थ और संविग्न में विश्वास होता है। वह निश्चा-उपश्रा से मुक्त होकर प्रायश्चित्त देता है।

निश्चा का अर्थ है—राग और उपश्रा का अर्थ है—द्वेष अथवा मैं इसका अनुवर्तन करूंगा तो यह मुझे आहार आदि देगा—यह निश्चा है। यह मेरा शिष्य है, यह प्रतीच्छक है, यह मेरे पितृकुल का है—यह उपश्रा है।

केरिसओ ववहारी, आयरियस्स उ जुगप्पहाणस्स।
जेण सगासे गहितं, परिवाडीहिं तिहि असेसं॥
सूयपारायणं पढमं, बित्तियं पदुब्भेदयं।
तइयं च निरवसेसं, जदि सुज्झति गाहगो॥
गाहगआयरिओ ऊ, पुच्छति सो जाणि विसमठाणाणि।
जति निव्वहती तहियं, ति तस्स हिययं ततो सुज्झे॥
अहवा गाहगसीसो, तिहि परिवाडीहि जेण निस्सेसं।
गहितं गुणितं अवधारितं च सो होति ववहारी॥
पारायणे समत्ते, थिरपरिवाडी पुणो उ संविगो।
जो निग्गतो वित्तिण्णो, गुरुहिं सो होति ववहारी॥
(व्यभा १७०८-१७१२)

शिष्य ने पूछा—व्यवहारी कैसा होता है? आचार्य ने कहा—जिसने युगप्रधान आचार्य के पास तीन परिपाटियों में समग्र श्रुत को ग्रहण किया है, वह व्यवहारी है।

प्रथम परिपाटी—पदच्छेदपूर्वक सूत्र का उच्चारण (संहिता)।

द्वितीय परिपाटी—पदविभागपूर्वक पारायण।

तृतीय परिपाटी—चालना-प्रत्यवस्थानात्मक निरवशेष पारायण।

श्रुतग्रहण के पश्चात् ग्राहक आचार्य विषम पदों द्वारा शिष्य की परीक्षा करते हैं। यदि शिष्य प्रश्नों का सही उत्तर देता है, उन पदों का हार्द जानता है, तो वह व्यवहारकरण के योग्य है। अथवा जिस ग्राहक शिष्य ने तीन परिपाटियों से निःशेष श्रुत को गृहीत, अनेक बार अवधारित कर लिया है, वह व्यवहारी है।

व्यवहार आदि ग्रंथों का पारायण सम्पन्न होने पर जो संविग्न के पास अपनी परिपाटी को परिपक्व करता है और गुरु की आज्ञा से विहरण करता है, वह प्रमाणभूत व्यवहारी होता है।

थिरपरिवाडीएहिं, संविगोहिं अणिस्सियकरेहिं।
कज्जेसु जंपियव्वं, अणुयुगिययगंधहत्थीहिं॥
एयगुणसंपउत्तो, ववहरती संघमज्झयारम्मि।
एयगुणविप्पमुक्के, आसायण सुमहती होति॥
.....अनुयोगिकगन्धहस्तिभिरनुयोगधरप्रकाण्डैः.....।

(व्यभा १७२५, १७२६ वृ)

स्थिर सूत्रार्थपरिपाटी वाले, मोक्षाभिलाषी, राग-द्वेष मुक्त होकर व्यवहार करने वाले, अनुयोगधरों में गंधहस्ती के समान प्रधान—इन गुणों से सम्पन्न व्यवहारी ही संघ में व्यवहार के लिए अधिकृत हैं। व्यवहारी के इन गुणों से हीन होने पर सूत्र आदि की महती आशातना होती है।

४. व्यवहारी (आलोचनाह) की अर्हता

अट्टारसेहिं ठाणेहिं, जो होति परिणिट्ठितो।...
अट्टारसेहिं ठाणेहिं, जो होति सुपतिट्ठितो।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥
वयच्छक्ककायच्छक्कं, अकप्प-गिहिभायणे च पलियंको।
गोचरनिसेज्जणहाणे, भूसा अट्टारसट्ठणो॥
परिनिट्ठित परिण्णाय, पतिट्ठिओ जो ठितो उ तेसु भवे।
अविदु सोहिं न याणति, अठितो पुण अन्हा कुज्जा॥
(व्यभा ४०७१, ४०७३-४०७५)

जो अटारह स्थानों में परिनिष्ठित—उनका सम्यक् ज्ञाता और सुप्रतिष्ठित—उनमें सम्यग् वर्तमान होता है, वह व्यवहार का व्यवहार करने योग्य है। अटारह स्थान ये हैं—

व्रतषट्क (प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रिभोजन से विरति), कायषट्क (पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रसकाय का संयम), अकल्प, गृहिभाजन, पर्यक, गोचरनिषद्या, स्नान और विभूषा का वर्जन।

अपरिनिष्ठित मुनि शोधि को नहीं जानता और अप्रतिष्ठित मुनि अन्वथा व्यवहार करता है।

बत्तीसाए ठाणेसु, जो होति परिनिट्ठितो।...
छत्तीसाए ठाणेहिं, जो होति सुपतिट्ठितो।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥
(व्यभा ४०७७, ४१२८)

जो बत्तीस स्थानों तथा छत्तीस गुणों में परिनिष्ठित और सुप्रतिष्ठित होता है, वह व्यवहार का प्रयोग कर सकता है।

० बत्तीस स्थान—आचार्य की आठ सम्पदाएं, प्रत्येक सम्पदा के चार-चार प्रकार। (द्र गणिसम्पदा)

० छत्तीस गुण—अष्ट गणिसम्पदा के बत्तीस भेद तथा विनय-प्रतिपत्ति के चार भेद। (विनयप्रतिपत्ति—द्र आचार्य)

५. लौकिक-लोकोत्तर व्यवहर्तव्य

लोए चोरादीया, दब्बे भावे विसोहिकामा उ।

जाय-मयसूतगादिसु, निज्जूढा पातगहता य॥

फासेऊण अगम्मं, भणाति सुमिणे गतो अगम्मं ति।

एमादि लोगदब्बे, उज्जू पुण होति भावम्मि॥

(व्यभा १७, १८)

० लौकिक द्रव्य व्यवहर्तव्य—चोर, पारदारिक आदि। जन्म सूतक, मृत्यु सूतक आदि में भोजन करने के कारण ब्राह्मणों द्वारा बहिष्कृत व्यक्ति तथा माता-पिता आदि की हत्या कर अपना दोष स्वीकार नहीं करने वाले व्यक्ति भी लौकिक द्रव्य व्यवहर्तव्य हैं।

कोई ब्राह्मण अगम्य (पुत्रवधू, चंडाल-स्त्री आदि) का स्पर्श कर प्रायश्चित्त के समय मायापूर्वक कहता है—'मैंने स्वप्न में अगम्य का स्पर्श किया है', वह भी लौकिक द्रव्य व्यवहर्तव्य है।

० लौकिक भाव व्यवहर्तव्य—जो अपनी विशोधि का अधिलाषी है और ऋजुता से अपना अपराध प्रकट करता है।

परपच्चरण सोही, दव्वुत्तरिओ उ होति एमादी।

गीतो व अगीतो वा, सब्भावउवड्डितो भावे॥

अवंकि अकुडिले यावि, कारणपडिसेवि तह य आहच्च।

पियधम्मे य बहुसुते, बितियं उवदेस पच्छिच्चं॥

अधवा कज्जाकज्जे, जताऽजतो वावि सेवितुं साधू।

सब्भावसमाउट्ठी, ववहरियव्वो हवइ भावे॥

निक्कारण पडिसेवी, कज्जे निद्धंधसो य अणवेक्खो।

देसं वा सव्वं वा, गूहिस्सं दव्वतो एसो॥

(व्यभा १९, २०, २३, २४)

० लोकोत्तर द्रव्य व्यवहर्तव्य—शोधि को परप्रत्ययिक मानने वाला मुनि यह सोचकर शोधि करता है कि मेरे द्वारा आसेवित अनाचार अन्य साधु ने जान लिया है, अतः मुझे आलोचना करनी चाहिए।

० लोकोत्तर भाव व्यवहर्तव्य—जो प्रायश्चित्त के लिए सद्भाव से उपस्थित होता है, फिर चाहे वह गीतार्थ हो या अगीतार्थ।

जो मुनि अवक्र-अकुटिल है, जो कारण समुपस्थित होने पर यतना से अथवा कदाचित् अयतना से प्रतिसेवना करते हैं, यदि वे प्रियधर्मा और बहुश्रुत हैं, तो व्यवहर्तव्य हैं। अगीतार्थ को उपदेशपूर्वक दान प्रायश्चित्त दिया जाता है।

जो मुनि सप्रयोजन या निष्प्रयोजन यतना या अयतना से प्रतिसेवना कर पुनः उस दोष का सेवन न करने के लिए संकल्पित होता है, तो वह भी भाव व्यवहर्तव्य है।

जो निष्कारण प्रतिसेवी होता है, वह तथाविध कार्य समुत्पन्न होने पर करुणाशून्य और निरपेक्ष हो जाता है। प्रतिसेवना कर मैं अपने दोषों को आंशिक रूप से अथवा पूर्णरूप से छिपा लूंगा — ऐसा चिंतन करने वाला द्रव्य व्यवहर्तव्य है।

० अव्यवहर्तव्य : कुंभकार दृष्टान्त

सो वि हु ववहरियव्वो, अणवत्था वारणं तदन्ने य।

घडगारतुल्लसीलो, अणुवरतोसन्नमज्झ त्ति॥

(व्यभा २५)

द्रव्य व्यवहर्तव्य भी व्यवहर्तव्य है क्योंकि उससे अनवस्था (पुनः पुनः अकृत्य के आचरण) का निवारण होता है। उसे देख अन्य साधु भी अकृत्य से निवृत्त हो जाते हैं। जो शिक्षा देने पर भी अकृत्य से उपरत नहीं होता, वह अवसन्न और पुनः पुनः 'मिच्छा मि दुक्कडं' करने वाले कुंभकार के तुल्य स्वभाव वाला है।

एक बार कुंभकार की शाला में मुनि ठहरे। आचार्य ने शिष्यों से कहा—कुंभकार के बर्तन इतस्ततः बिखरे पड़े हैं। सबको अप्रमत्त रहना है। एक शिष्य प्रमादी था। वह कुंभकार के भांडों को तोड़कर 'मिच्छा मि दुक्कडं' का उच्चारण कर लेता। बार-बार ऐसा करने पर कुंभकार ने मुनि के कान पकड़कर स्त्रि पर टकरोर मारा और 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहा। मुनि बोला—तुम मुझ निरपराध को क्यों पीटते हो? कुंभकार ने कहा—तुमने मेरे भाजन तोड़ डाले। मुनि बोला—मैंने 'मिच्छा मि दुक्कडं' कर लिया। कुंभकार बोला—मैंने भी 'मिच्छा मि दुक्कडं' कर लिया।

६. व्यवहार के पांच प्रकार : प्रधानता-गौणता

पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—आगमे सुए आणा

धारणा जीए। जहा से तत्थ आगमे सिया, आगमेणं ववहारं पट्टवेज्जा। नो से तत्थ आगमे सिया, जहा से तत्थ सुए सिया, सुएणं ववहारं पट्टवेज्जा। नो से तत्थ सुए सिया.....आणाए ववहारं पट्टवेज्जा। नो से तत्थ आणा सिया.....धारणाए ववहारं पट्टवेज्जा। नो से तत्थ धारणा सिया.....जीएणं ववहारं पट्टवेज्जा।.....जहा-जहा से आगमे सुए आणा धारणा जीए तथा-तथा ववहारे पट्टवेज्जा।..... (व्य १०/६)

आगमववहारी आगमेण ववहरति सो न अनेणं। न हि सूरस्स पगासं, दीवपगासो विसेसेति॥ (व्यभा ३८८४)

व्यवहार के पांच प्रकार हैं—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। जहां आगम हो, वहां आगम से व्यवहार की प्रस्थापना करे। जहां आगम न हो, श्रुत हो, वहां श्रुत से, जहां श्रुत न हो, वहां आज्ञा से, आज्ञा न हो, वहां धारणा से और धारणा न हो, वहां जीत से व्यवहार की प्रस्थापना करे। जिस समय इन पांचों में से जो प्रधान हो, उसी से व्यवहार का प्रवर्तन करे।

आगमव्यवहारी/आगमपुरुष आगम से व्यवहार का प्रवर्तन करता है, श्रुत आदि से नहीं। क्योंकि श्रुत आगम से हीन है। दीपक का प्रकाश सूर्य के प्रकाश को विशिष्ट नहीं बनाता।

० प्रथम चार व्यवहारों के धारक

केवल-मणपज्जवनाणिणो य तत्तो य ओहिनाणजिणा।
चोहस-दस-नवपुव्वी, आगमववहारिणो धीरा॥
सुत्तेण ववहरंते, कप्यव्ववहारधारिणो धीरा।
अत्थधरववहरंते, आणाए धारणाए य॥
(व्यभा ४५२९, ४५३०)

० आगम व्यवहारी—केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानजिन, चौदहपूर्वी, दसपूर्वी, नौपूर्वी।

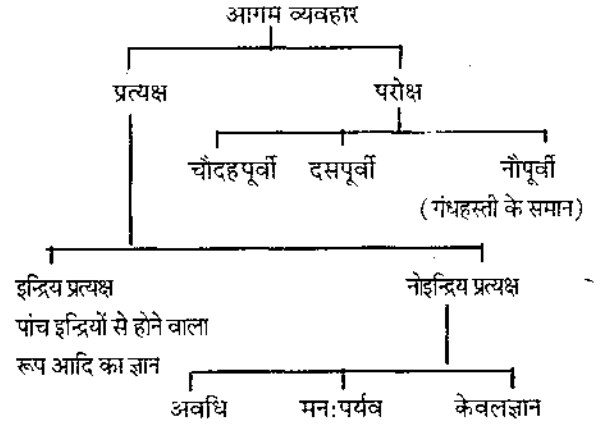
० श्रुत व्यवहारी—कल्प और व्यवहार सूत्र के ज्ञात।

० आज्ञा और धारणा व्यवहारी—छेदसूत्र के अर्थधर।

७. आगम-व्यवहार के भेद-प्रभेद

आगमतो ववहारो, सुणह जहा धीरपुरिसपण्णतो।
पच्चक्खो य परोक्खो, सो वि य दुविहो मुणोयव्वो॥

पच्चक्खो वि य दुविहो, इंदियजो चेव नो व इंदियजो।
इंदियपच्चक्खो वि य, पंचसु विसएसु नेयव्वो॥
नोइंदियपच्चक्खो, ववहारो सो समासतो तिविहो।
ओहि-मणपज्जवे या, केवलनाणे य पच्चक्खे॥
पारोक्खं ववहारं, आगमतो सुतधरा ववहरंति।
चोहस-दसपुव्वधरा, नवपुव्वियगंधहत्थी य॥
(व्यभा ४०२९-४०३१, ४०३७)



० प्रत्यक्ष-परोक्ष आगम व्यवहारी

ओधीगुण-पच्चइए, जे वट्टंते सुयंगवी धीरा।
ओहिविसयनाणत्थे, जाणसु ववहारसोधिकरे॥
उज्जुमती विउलमती, जे वट्टंती सुयंगवी धीरा।
मणपज्जवनाणत्थे, जाणसु ववहारसोहिकरे॥
आदिगरा धम्माणं, चरित्तवर-नाण-दंसण-समग्गा।
सव्वत्तगनाणेणं, ववहारं ववहरंति जिणा॥
पच्चक्खआगमसरिसो, होति परोक्खो वि आगमो जस्स।
चंदमुही विव सो वि हु, आगमववहारवं होति॥
नातं आगमियं ति य, एगट्टं जस्स सो परायत्तो।
सो पारोक्खो वुच्चति, तस्स पदेसा इमे हंति॥
पारोक्खं ववहारं, आगमतो सुतधरा ववहरंति।
चोहस-दसपुव्वधरा, नवपुव्वियगंधहत्थी य॥
किह आगमववहारी, जम्हा जीवादयो पयत्था उ।
उवलद्धा तेहिं तु, सव्वेहिं नयविगप्पेहिं॥
जह केवली वि जाणति, दव्वं खेतं च काल-भावं च।
तह चउलक्खणमेतं, सुयनाणी वी विजाणाति॥

प्रदेशाः प्रतिभागा भेदा इत्यर्थः।...ये श्रुतधराः...
नवपूर्विणो वा गन्धहस्तिनो गन्धहस्तिसमानाः ते आगमतः परोक्षं
व्यवहारं व्यवहरन्ति। (व्यभा ४०३२-४०३९ वृ)

० प्रत्यक्ष आगम व्यवहारी—जो श्रुतांगविद् धीर मुनि गुणप्रत्ययिक
अवधिज्ञानी होते हैं, वे अवधिज्ञान से तथा जो मुनि ऋजुमति या
विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी होते हैं, वे मनःपर्यवज्ञान से व्यवहार-
शोधिकारक होते हैं।

जो धर्म के आदिकर हैं, उत्तम ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य से
सम्पन्न हैं, वे जिन केवलज्ञान से व्यवहार करते हैं।

० परोक्ष आगम व्यवहारी—जैसे चन्द्रसदृश मुख वाली कन्या
चन्द्रमुखी कहलाती है, वैसे ही जिनका परोक्ष आगम प्रत्यक्ष
आगम के सदृश होता है, वे आगमव्यवहारी कहलाते हैं।

ज्ञान और आगम एकार्थक हैं। जिसका आगम परायत है,
वह परोक्ष है। चौदहपूर्वी, दसपूर्वी और गन्धहस्ती के समान
नवपूर्वी—ये श्रुतधर परोक्ष आगम के प्रतिभाग हैं और आगमतः
परोक्ष व्यवहार का प्रयोग करते हैं।

शिष्य ने पूछा—साक्षात् श्रुत से व्यवहार करने वाले आगम
व्यवहारी कैसे? आचार्य ने कहा—चतुर्दशपूर्वी आदि श्रुतधर मुनि
जीव आदि पदार्थों को सर्व नयविकल्पों से जानते हैं। जैसे केवलज्ञानी
सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों को सर्वात्मना जानते हैं, वैसे ही
श्रुतज्ञानी भी श्रुतबल से इन चारों लक्षणों को जान लेते हैं।

८. प्रत्यक्ष-परोक्षज्ञानी : प्रायश्चित्तदान में समानता

पणगं मासविवट्टी, मासिगहाणी य पणगहाणी य।
एगाहे पंचाहं, पंचाहे चैव एगाहं॥
रागदोसविवट्टिं, हाणिं वा णाउ देति पच्चक्खी।
चोइसपुब्बादी वि हु, तह नाउं देति हीणऽहियं॥
(व्यभा ४०४०, ४०४१)

प्रत्यक्ष आगमव्यवहारी प्रतिसेवक की राग-द्वेष की हानि-
वृद्धि के आधार पर न्यून या अधिक प्रायश्चित्त देते हैं।

वे पांच दिन जितनी प्रतिसेवना होने पर पांच दिन या
मासिक प्रायश्चित्त तथा मासिक जितनी प्रतिसेवना होने पर
षट्चीस दिन या पांच दिन का प्रायश्चित्त भी दे सकते हैं।

वे एक उपवास प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना करने वाले

को पांच उपवास तथा पांच उपवास वाले प्रतिसेवक को एक
उपवास या नमस्कारसहिता का प्रायश्चित्त भी दे सकते हैं।

इसी प्रकार चतुर्दशपूर्वी आदि भी आलोचक की राग-द्वेष
की हानि-वृद्धि के आधार पर न्यूनाधिक प्रायश्चित्त देते हैं।

० नालीधमक दृष्टांत

पच्चक्खी पच्चक्खं, पासति पडिसेवगस्स सो भावं।
किह जाणति पारोक्खी, नातमिणं तत्थ धमएणं॥
नालीधमएण जिणा, उवसंहारं करंति पारोक्खे।
जह सो कालं जाणति, सुतेण सोहिं तहा सोउं॥

(व्यभा ४०४६, ४०४७)

प्रत्यक्ष आगमव्यवहारी आलोचक के भावों को साक्षात्
जानते हैं, किन्तु परोक्ष आगमव्यवहारी कैसे जान लेते हैं? इसमें
नालीधमक का दृष्टांत ज्ञातव्य है—जैसे नालिका से गिरते हुए
उदक के परिमाण के आधार पर समय जानकर धमक शंख बजाकर
समय की सूचना देता है, वैसे ही परोक्ष आगमव्यवहारी आलोचना
को सुनकर आलोचक के यथावस्थित भावों को जान लेते हैं।

९. आगमव्यवहारी का स्वरूप

अट्टयारवमादी, वयछक्कादी हवंति अट्टरसा।
दसविधपायच्छित्ते, आलोयण दोसदसहिं वा॥
छहि काएहि वतेहि व, गुणेहि आलोयणाय दसहिं च।
छट्टाणावडितेहिं, छहि चैव तु जे अपारोक्खा॥
संखादीया ठाणा, छहि ठाणेहि पडियाण ठाणाणं।
जे संजया सरागा, सेसा एक्कम्मि ठाणम्मि॥
एयागमववहारी, पण्णात्ता रागदोसणीहूया।
आणाय जिणिंदाणं, जे ववहारं ववहरंति॥
(व्यभा ४१५९-४१६२)

आलोचनार्ह के आचारवान् आदि आठ गुण, व्रतषट्क आदि
अठारह आचारस्थानों संबंधी अपराधों में प्रायश्चित्त, आलोचना
आदि दसविध प्रायश्चित्त, आलोचना के दस दोष, छह जीव
निकाय, छह व्रत, आलोचना के दस गुण, षट्स्थानपतित (अनंतभाग
वृद्धि-हानि आदि) स्थानों में वर्तमान सराग संयतों के असंख्येय
संयम स्थान और वीतराग का एक संयमस्थान (अवस्थित चारित्र्य)—
जो इन सब स्थानों को साक्षात् जानते हैं और राग-द्वेष की प्रवृत्ति से

मुक्त होकर अर्हतों की आज्ञा से व्यवहार का प्रयोग करते हैं, वे आगम व्यवहारी हैं।

१०. श्रुतव्यवहारी का स्वरूप

जो सुतमहिज्जति बहं, सुत्तत्थं च निउणं वियाणाति।
कप्पे ववहारम्मि य, सो उ पमाणं सुतधराणं॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमनिउणस्स।
जो अत्थतो विजाणति, ववहारी सो अणुण्णातो॥

(व्यभा ४४३३, ४४३५)

श्रुतव्यवहारिणोऽवशेषपूर्वधरा एकादशांगधारिकल्प-
व्यवहारादिसूत्रार्थतदुभयविदश्च। (व्यभा ९ की वृ)

जो मुनि कल्प और व्यवहार के सूत्रों को बहुत पढ़ चुका है, सूत्रार्थ को सूक्ष्मता से जानता है तथा अत्यंत सूक्ष्म अर्थों वाले कल्प और व्यवहार की निर्युक्तियों को अर्थतः जानता है, वही श्रुतधरों में प्रमाणभूत श्रुतव्यवहारी हो सकता है। एकपूर्वी यावत् आठपूर्वी, ग्यारह अंगों के धारक, कल्प, व्यवहार आदि के सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ के ज्ञाता श्रुतव्यवहारी कहलाते हैं।

० श्रुतव्यवहार : भद्रबाहु द्वारा निर्यूढ श्रुत

निज्जूढं चोद्दसपुव्विण्णं जं भद्दबाहुणा सुत्तं।
पंचविधो ववहारो, दुवालसंगस्स णवणीतं॥
तं चेवऽणुमज्जते, ववहारविधिं पउंजति जहुत्तं।
एसो सुतववहारी, पण्णत्तो धीरपुरिसेहिं॥
कुलादिकार्येषु व्यवहारे उपस्थिते...भद्रबाहुस्वामिना
कल्पव्यवहारात्मकं सूत्रं निर्यूढम्। (व्यभा ४४३१, ४४३६ वृ)

चौदहपूर्वी भद्रबाहु स्वामी ने द्वादशांग से पंचविध व्यवहार का निर्यूहण किया, जो द्वादशांग का नवनीत/सार है। वह सूत्र ही श्रुत है और उससे होने वाला व्यवहार श्रुतव्यवहार है।

कुल, गण आदि में व्यवहार का प्रसंग उपस्थित होने पर आचार्य भद्रबाहु ने कल्प और व्यवहारसूत्र का निर्यूहण किया। जो इन दोनों सूत्रों में निमज्जन कर, यथोक्त व्यवहारविधि का प्रयोग करता है, उसे धीर पुरुषों ने श्रुतव्यवहारी कहा है।

११. आज्ञा व्यवहार का स्वरूप : शिष्य की परीक्षा

समणस्स उत्तिमट्ठे, सल्लुद्धरणकरणे अभिमुहस्स।
दूरत्था जत्थ भवे, छत्तीसगुणा उ आयरिया॥

अपरक्कमो मि जातो, गंतुं जे कारणं तु उप्पण्णं।
अट्टारसमन्नतरे, वसणगते इच्छिमो आणं॥
अपरक्कमो तवस्सी, गंतुं सो सोधिकारगसमीवं।
आगंतु न चाएती, सो सोहिकरो वि देसातो॥
अध पट्टवेति सीसं, देसंतरगमणनट्टुचेट्टागो।
इच्छामऽज्जो काउं, सोहिं तुब्भं सगासम्मि॥
सो वि अपरक्कमगती, सीसं पेसेति धारणाकुसलं।
एयस्स दाणि पुरतो, करेति सोहिं जहावत्तं॥
अपरक्कमो य सीसं, आणापरिणामगं परिच्छेज्जा।
रुक्खे य बीजकाए, सुत्ते वाऽमोहणाधारिं॥
पदमक्खरमुद्देसं, संधी-सुत्तत्थ-तदुभयं चेव।
अक्खरवंजणसुद्धं, जह भणितं सो परिकहेति॥
एवं परिच्छिऊणं, जोग्गं णाऊण पेसवे तं तु।
वच्चाहि तस्सगासं, सोहिं सोऊणमागच्छ॥
अध सो गतो उ तहियं, तस्स सगासम्मि सो करे सोधिं।
दुग-तिग-चऊविसुद्धं, तिविधे काले विगडभावो॥
दुविहं तु दप्प-कप्पे, तिविहं नाणादिणं तु अट्टाए।
दव्वे खेत्ते काले, भावे य चउव्विधं एयं॥
सोऊण तस्स पडिसेवणं तु आलोयणं कमविधिं व।
आगमपुरिसज्जातं, परियागबलं च खेत्तं च॥
आहारेउं सव्वं, सो गंतूणं पुणो गुरुसगासं।
तेसि निवेदेति तथा, जधाणुपुव्विं गतं सव्वं॥
सो ववहारविहिण्णु, अणुमज्जिता सुतोवदेसेणं।
सीसस्स देति आणं, तस्स इमं देहि पच्छित्तं॥
एवं गंतूण तहिं, जधोवदेसेण देति पच्छित्तं।
आणाय एस भणितो, ववहारो धीरपुरिसेहिं॥
(व्यभा ४४३८-४४४३, ४४५४-४४५७, ४४८७-४४८९, ४५०१)

अनशन में संलग्न, शल्योद्धरण का इच्छुक तपस्वी मुनि या आचार्य दूरस्थित छत्तीस गुणों से युक्त आचार्य के पास आलोचना करना चाहता है किन्तु शोधिकारक के समीप जाने में समर्थ नहीं है और शोधिकारक भी देशांतर से आने में समर्थ नहीं है, तो शोध का इच्छुक आचार्य अपने शिष्य को वहां भेजकर यह कहलवाता है—'आर्य! मैं व्रतषट्क आदि अठारह स्थानों में से किसी भी स्थान के अतिचार की शोध के लिए आपकी आज्ञा चाहता हूँ, आपके पास शोध करना चाहता हूँ।' शिष्य वहां जाता है, आचार्य

को यथोक्त बात कहता है। आलोचनार्ह स्वयं जाने में असमर्थ होने पर अपने धारणाकुशल शिष्य को वहां भेजते हैं यह संदेश देकर कि इसके सामने यथावृत्त शोध करो।

शिष्यप्रेषण से पूर्व वे शिष्य के आज्ञापरिणामकत्व की परीक्षा कर यह परीक्षा भी करते हैं कि वह अवग्रहण-धारण समर्थ है या नहीं, व्यामोहरहित सूत्र-अर्थ का धारक है या नहीं।

० वृक्ष का उदाहरण—गुरु ने शिष्य से कहा—उस ऊंचे वृक्ष पर चढ़ो और नीचे कूद जाओ। अपरिणामी शिष्य ने कहा—साधु के लिए वृक्ष पर चढ़ना कल्पनीय नहीं है। अतिपरिणामी शिष्य ने कहा—मैं अभी वृक्ष से गिरता हूँ। मेरी यही इच्छा थी। गुरु ने कहा—तुम दोनों ने मेरे कथन पर विमर्श नहीं किया। मेरे कथन का आशय यह था कि भवार्णव आपन्न तुम लोग तप-नियम-ज्ञानमय वृक्ष पर आरोहण कर संसारसागरतट के उस पार पहुंच जाओ। परिणामी शिष्य ने सोचा—मेरे गुरु स्थावर जीवों की भी हिंसा की इच्छा नहीं करते, पंचेन्द्रिय जीव-हिंसा का तो प्रश्न ही नहीं है। गुरु के इस आदेश में अवश्य कोई रहस्य है—यह सोचकर वह वृक्ष पर चढ़ने को तत्पर हुआ पर गुरु ने उसे रोक दिया।

० बीज का उदाहरण—गुरु ने कहा—बीज लाओ। अपरिणामक शिष्य ने कहा—साधु बीज ग्रहण नहीं कर सकता। अतिपरिणामक पोटली में बीज बांध कर ले आया। गुरु ने कहा—मैंने उगने में समर्थ सचित्त अम्लिका बीज लाने को नहीं कहा था। परिणामक शिष्य ने पूछा—भंते! कौन से बीज लाऊँ? कितनी मात्रा में बीज लाऊँ? उगने में समर्थ बीज लाऊँ या असमर्थ? गुरु ने कहा—अभी मुझे बीजों से प्रयोजन नहीं है, केवल तुम्हारी परीक्षा कर रहा था। तुम उत्तीर्ण हुए हो।

गुरु शिष्य को पद, अक्षर, उद्देशक, संधि (अध्याय), सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ बताते हैं, अक्षरव्यंजन से शुद्ध पाठ पढ़ाते हैं। फिर ग्रहण-स्मरण की परीक्षा हेतु कहते हैं—उच्चारण करो। यदि वह जैसा ग्रहण किया है, उसी रूप में सारा पाठ सुना देता है, तो उसे ग्रहण-धारण में कुशल मानते हैं।

इस प्रकार गुरु परीक्षा कर, योग्य जानकर उसे भेजते हैं और कहते हैं—जाओ, उन आलोचना-आकांक्षी आचार्य की आलोचना सुनकर लौट आओ।

वह शिष्य वहां जाता है। आलोचक प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-

काल-भाव में त्रिकालवर्ती दर्प-कल्प विषयक ज्ञान-दर्शन-चारित्र के अतिचारों की ऋजुभाव से आलोचना करता है। आगंतुक मुनि आलोचक की प्रतिसेवना को सुनकर, आलोचना की क्रमपरिपाटी का सम्यक् अवधारण कर, उनके आगमज्ञान, तपसामर्थ्य, गृहस्थपर्याय, संयमपर्याय, शारीरिक-मानसिक बल, क्षेत्र आदि के विषय में उनसे जानकर या स्वयं निरीक्षण कर अपने गुरु के पास लौट आता है। उसने जिस क्रम से अवधारण किया था, उसी क्रम से सब तथ्य गुरु को निवेदित करता है।

तत्पश्चात् व्यवहारविधिवेत्ता आलोचनाचार्य छेदसूत्रों के प्रकाश में पौर्वापर्य का पर्यालोचन कर श्रुतोपदेश से शिष्य को आज्ञा देते हैं—‘तुम जाओ और उन आचार्य को यह प्रायश्चित्त निवेदित कर आओ।’ वह शिष्य वहां जाता है और अपने आचार्य द्वारा कथित प्रायश्चित्त देता है। यह आज्ञा व्यवहार है।

० आज्ञा व्यवहार की एक अन्य व्याख्या

आज्ञाव्यवहारो नाम यदा द्वावप्याचार्यावाऽऽसेवित-सूत्रार्थतयातिगीतार्थो क्षीणजंघाबलौ व्यवहारक्रमानुरोधतः प्रकृष्टदेशान्तरनिवासिना च तौ एवान्योन्यस्य समीपं गन्तु-मसमर्थत्वभूतां, तदान्यतरस्मिन् प्रायश्चित्ते समापतिते सति तथाविधयोग्यगीतार्थशिष्याभावे सति धारणाकुशलमगीतार्थ-मपि शिष्यं गूढार्थान्यतिचारासेवनपदानि कथयित्वा प्रेषयति।^१ एवं तेन कथितेन आचार्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंहननधृति-बलादिकं परिभाव्य स्वयं वागमनं करोति शिष्यं वा तथाविधं योग्यं गीतार्थं प्रज्ञाप्य प्रेषयति, तदभावे तस्यैव प्रेषितस्य गूढार्थमतिचारविशुद्धिं कथयति। (व्यभा ९ की वृ)

जो सूत्र-अर्थ के विशिष्ट ज्ञाता एवं प्रयोक्ता होने के कारण महान् गीतार्थ हैं, ऐसे दो आचार्य भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्थित हैं। वे क्षीण जंघाबल के कारण एक-दूसरे के पास जाने में असमर्थ हैं, ऐसी स्थिति में प्रायश्चित्त व्यवहार का प्रसंग उपस्थित होने पर आचार्य योग्य गीतार्थ शिष्य को और उसके अभाव में धारणाकुशल शिष्य को अतिचार-आसेवन स्थानों को गूढ अर्थ वाले पदों में बताकर उनके पास भेज देते हैं।

इस प्रकार आगंतुक शिष्य के निवेदन करने पर आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, संहनन, धृति, बल आदि का विचार कर

स्वयं वहां आ जाते हैं अथवा उस कार्य के योग्य गीतार्थ शिष्य को प्रज्ञापित कर भेजते हैं, वह न हो तो उसी आगंतुक को गूढार्थ वाले पदों में अतिचार-विशुद्धि बताते हैं। यह आज्ञा व्यवहार है।

* गूढ पदों में प्रायश्चित्त द्र प्रतिसेवना
१२. धारणा व्यवहार का स्वरूप

पुरिसस्स उ अइयारं, विधारइत्ताण जस्स जं अरिहं ।
तं देति उ पच्छित्तं, जेणं देती उ तं सुणह ॥
जो धारितो सुतत्थो, अणुयोगविधीय धीरपुरिसेहिं ।
आलीणपलीणेहिं, जतणाजुत्तेहिं दंतेहिं ॥
अहवा जेणउण्णइया, दिट्ठा सोधी परस्स कीरंति ।
तारिसयं चेव पुणो, उप्पन्नं कारणं तस्स ॥
सो तम्मि चेव दब्बे, खेत्ते काले य कारणे पुरिसे ।
तारिसयं चिय भूतो, कुव्वं आराहगो होति ॥
वेयावच्चकरो वा, सीसो वा देसहिंङगो वावि ।
दुम्मेहत्ता न तरति, अवधारेउं बहुं जो तु ॥
तस्स उ उद्धरिऊणं, अत्थपयाइं तु देति आयरिया ।
जेहिं करेति कज्जं, आधारेतो तु सो देसो ॥

(व्यभा ४५११, ४५१२, ४५१५, ४५१७-४५१९)

० ज्ञान आदि में सतत आलीन-प्रलीन, उपशांत, यतनायुक्त और दांत—ऐसे मुनि व्याख्याकाल में जो सूत्रार्थ धारण करते हैं, उसकी स्मृति रखते हुए उसके आधार पर अपराधी के अपराध का विचार कर यथायोग्य प्रायश्चित्त देते हैं—वह धारणा व्यवहार है।

० किसी ने कभी किसी की शोधि करते देखा, वह सारा स्मृति में है। पुनः वैसा कारण उत्पन्न होने पर वैसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में वैसे पुरुष को वैसा ही प्रायश्चित्त देना धारणा व्यवहार है। राग-द्वेष मुक्त होकर वैसा व्यवहार करने वाला आराधक होता है। ० जो मुनि वैयावृत्त्यकर है या सम्मत शिष्य है या जो देशदर्शन में आचार्य का सहयोगी है, वह दुर्मेधा या अल्पमेधा के कारण छेदसूत्रों के सम्पूर्ण अर्थपदों को धारण करने में समर्थ नहीं है। आचार्य उस पर अनुग्रह कर कुछ उद्धृत अर्थपद उसे सिखाते हैं। छेदसूत्र के अर्थ का अंशतः धारक वह मुनि जो प्रायश्चित्त देता है, वह धारणा व्यवहार है।

उद्धारणा विधारण, संधारण संपधारणा चेव ।...
पाबल्लेण उवेच्च व, उद्धियपयधारणा उ उद्धारा ।

विविहेहि पगारेहिं, धारेयऽत्थं विधारो उ ॥
सं एगीभावम्मी, धीय धरणे ताणि एक्कभावेणं ।
धारेयऽत्थपयाणि तु, तम्हा संधारणा होति ॥
जम्हा संपहारेउं, ववहारं पउंजती ।
तम्हा कारणा तेण, नातव्वा संपधारणा ॥
(व्यभा ४५०३-४५०६)

धारणा की क्रमिक अवस्थाओं के द्योतक चार पद हैं—

१. उद्धारणा—छेदसूत्रों में उद्धृत अर्थपदों को प्रबलता से धारण करना।
२. विधारणा—अर्थपदों को विविध प्रकार से धारण करना।
३. संधारणा—धारण किए हुए अर्थपदों को आत्मसात् करना।
४. सम्प्रधारणा—अर्थपदों को सम्यक्तया प्रकर्ष रूप से धारण कर धारणाव्यवहार का प्रयोग करना।

पवयणजसंसि पुरिसे, अणुग्गहविसारए तवस्सिम्मि ।
सुस्सुयबहुस्सुयम्मि य, वि वक्कपरियागसुद्धम्मि ॥
एतेसु धीरपुरिसा, पुरिसज्जातेसु किंचि खलितेसु ।
रहिते वि धारइत्ता, जहारिहं देति पच्छित्तं ॥
रहिते नाम असंते, आइल्लम्मि ववहारतियगम्मि ।
ताहे वि धारइत्ता, वीसंसेऊण जं भणियं ॥

(व्यभा ४५०८-४५१०)

धारणा व्यवहर्तव्य की पांच अर्हताएं हैं—

- ० प्रवचनयशस्वी—जो प्रवचन का यश चाहता है।
- ० अनुग्रहविशारद—जो प्रदत्त प्रायश्चित्त को अनुग्रह मानता है।
- ० तपस्वी—जो विविध तपों में रत है।
- ० सुश्रुतबहुश्रुत—जिसका अच्छी तरह से सुना हुआ विशालश्रुत भी विस्मृत नहीं होता।
- ० वाक्यपरिपाकशुद्ध—जो वचनपरिणाम से शुद्ध है।

उपर्युक्त गुणों से युक्त मुनि को आचार में स्वखलना होने पर प्रथम तीन व्यवहारों (आगम, श्रुत, आज्ञा) के अभाव में कल्प, निशीथ और व्यवहार—तीनों के कुछ अर्थपदों की अवधारणा कर विमर्शपूर्वक यथायोग्य प्रायश्चित्त दिया जाता है।

१३. जीत व्यवहार का स्वरूप

वत्तणुवत्तपवत्तो, बहुसो अणुवत्तिओ महाणेणं ।
एसो उ जीयकप्पो, पंचमओ होति ववहारो ॥

वत्तो णामं एक्कस्सि, अणुवत्तो जो पुणो बित्थिवारे ।
तत्थिव्वार पवत्तो, परिग्गहीओ महाणेणं ॥
अमुगो अमुगत्थ क्तो, जह अमुयस्स अमुएण ववहारो ।
अमुगस्स वि य तह क्तो, अमुगो अमुगेण ववहारो ॥
तं चेवऽणुमज्जंते, ववहारविधिं पउंजति जहुत्तं ।
जीतेण एस भणितो, ववहारो धीरपुरिसेहिं ॥

(व्यभा ४५२१, ४५२२, ४५३४, ४५३५)

० जो व्यवहार एक बार, दो बार या अनेक बार प्रवृत्त होता है, महाजन (आचार्य आदि) के द्वारा अनुवर्तित होता है, वह जीतकल्प नामक पांचवां व्यवहार है ।

० अमुक आचार्य ने अमुक कारण उत्पन्न होने पर अमुक पुरुष को अमुक प्रायश्चित्त दिया, वैसा ही प्रयोग वैसी स्थिति में अन्य आचार्यों ने किया—इस वृत्तानुवृत्त जीत का आश्रय लेकर यथोक्त व्यवहार विधि का प्रयोग करना जीत व्यवहार है ।

....आयरियपरंपराण आगतो जाव जस्स भवे ॥
बहुसो बहुस्सुतेहिं, जो वत्तो न य निवारितो होति ।
वत्तऽणुवत्तपमाणं, जीतेण कयं भवति एयं ॥

(व्यभा ४५४१, ४५४२)

० जो आचार्य परम्परा से प्राप्त व्यवहार है, वह जीत व्यवहार है ।
० जो व्यवहार बहुश्रुतों के द्वारा अनेक बार प्रवर्तित हुआ और किसी अन्य बहुश्रुत के द्वारा जिसका प्रतिषेध नहीं किया गया, वह वृत्तानुवृत्त व्यवहार प्रमाणीकृत जीत व्यवहार है ।

असडेण समाइणं, जं कत्थइ कारणे असावज्जं ।
ण णिवारियमण्णेहिं य, बहुमणुमयमेतमाइणं ॥
(बृभा ४४९९)

कहीं भी प्रयोजन उपस्थित होने पर प्रमाणस्थ पुरुष द्वारा अशठभाव से जो निरवद्य आचरण किया जाता है, गीतार्थवर्ग के द्वारा जिसका निवारण नहीं किया जाता अपितु उसके द्वारा जो सम्मत-अनुमत होता है, वह आचीर्ण है, जीतकल्प है ।

० जीत व्यवहार : श्रुत-उपधान के संदर्भ में
जं जस्स व पच्छिज्जं, आयरियपरंपराएँ अविरुद्धं ।
जोगा य बहुविकप्पा, एसो खलु जीयकप्पो उ ॥

नागिलकुलवंशवर्तिनां साधूनामाचारादारभ्य यावद-
नुत्तरोपपातिकदशाः, तावन्नास्ति आचाम्लं, केवलं निर्विकृति-
केन ते पठन्ति आचार्यानुज्ञाताश्च विधिना कायोत्सर्गं कृत्वा
विकृतीः परिभुञ्जते तथा कल्पव्यवहारयोः चन्द्रप्रज्ञप्तिसूर्य-
प्रज्ञप्त्योश्च केचिदागाढं योगं प्रतिपन्ना अपरे त्वनागाढ-
मिति..... । (व्यभा १२ वृ)

जिस आचार्य के गच्छ में पूर्व आचार्यपरम्परा के अविरुद्ध जो प्रायश्चित्त का विधान है और गच्छभेद के आधार पर योग (श्रुत अध्ययन संबंधी उपधान) के जो अनेक विकल्प हैं, वह जीतकल्प—जीतव्यवहार है ।

नागिलकुलवंशी साधुओं के लिए आचारांग से लेकर अनुत्तरोपपातिकदशा पर्यंत सूत्रों को पढ़ते समय आचाम्ल का विधान नहीं है । वे केवल निर्विकृतिक रहकर उन सूत्रों को पढ़ते हैं और आचार्य की अनुज्ञा से विधिपूर्वक कायोत्सर्ग कर विकृति का सेवन करते हैं । कल्प-व्यवहार सूत्र और चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति के पठनकाल में कुछ आगाढ योग को स्वीकार करते हैं और कुछ अनागाढ योग को—यह जीतकल्प है ।

१४. जीत व्यवहार के आधार पर प्रायश्चित्त

सो जह कालादीणं, अपडिक्कंतस्स निव्विगइयं तु ।
मुहणंत फिडिय पाणगऽसंवरणे एवमादीसु ॥
....पानाहारप्रत्याख्यानकरणे.... । (व्यभा ४५३७ वृ)

स्वाध्यायकाल आदि का प्रतिक्रमण नहीं करने पर, मुखवस्त्र के बिना रहने अथवा बोलने पर, पानकपात्र नहीं ढकने पर, पानाहारप्रत्याख्यान नहीं करने पर तथा इसी प्रकार की स्वलना होने पर निर्विकृतिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है ।

एगिंदिऽणंत वज्जे, घट्टण तावेऽणगाढ गाढे य ।
निव्विगितयमादीयं, जा आयामं तु उद्वणे ॥
विगलिंदऽणंत घट्टण, तावऽणगाढे य गाढ उद्वणे ।
पुरिमड्डादिकमेणं, नातव्वं जाव खमणं तु ॥
पंचिंदि घट्ट-तावणऽणगाढ गाढे तधेव उद्वणे ।
एक्कासण-आयामं, खमणं तह पंचकल्लाणं ॥
एमादीओ एसो, नातव्वो होति जीतववहारो ।.....

(व्यभा ४५३८-४५४१)

अपराध	तप प्रायश्चित्त
एकेन्द्रिय (अनन्तकाय वर्जित)	
० जीवों का संघट्टन	निर्विकृति
० अनागाढ परिताप	पूर्वार्ध
० आगाढ परिताप	एकाशन
० प्राणव्यपरोपण	आचाम्ल
विकलेन्द्रिय तथा अनंत वनस्पति	
० जीवों का संघट्टन	पूर्वार्ध
० अनागाढ परिताप	एकाशन
० आगाढ परिताप	आचाम्ल
० अपद्रावण	उपवास
पञ्चेन्द्रिय	
० संघट्टन	एकाशन
० अनागाढ परिताप	आचाम्ल
० आगाढ परिताप	उपवास
० प्राणव्यपरोपण	पांच कल्याणक

१५. सावद्य-निरवद्य जीतव्यवहार

जं जीतं सावज्जं, न तेण जीतेण होति ववहारो ।
 जं जीतमसावज्जं, तेण उ जीतेण ववहारो ॥
 छार हंडि हडुमाला, षोड्ढेण य रंगणं तु सावज्जं ।
 दसविहपायच्छित्तं, होति असावज्जजीतं तु ॥
 उस्सण्णबहू दोसे, निद्धंस पवयणे य निरवेक्खो ।
 एयारिसम्मि पुरिसे, दिज्जति सावज्जजीयं पि ॥
 संविग्गे पियधम्मे, य अप्पमत्ते अवज्जभीरुम्मि ।
 कम्मिइ पमायखलिए, देयमसावज्जजीतं तु ॥
जं जीतं सोहिकरं, तेण उ जीएण ववहारो ॥
 जं जीतमसोहिकरं, पासत्थ-पमत्त-संजयाचिण्णं ।
 जइ वि महाणाइण्णं, न तेण जीतेण ववहारो ॥
 जं जीतं सोहिकरं, संवेगपरायणेण दंतेणं ।
 एगेण वि आइण्णं, तेण उ जीएण ववहारो ॥
 यत् प्रवचने लोके चापराधविशुद्धये समाचरितं
 क्षारावगुण्डनं, हडौ गुप्तिगृहप्रवेशनं...खरारूढं कृत्वा ग्रामे
 सर्वतः पर्यटनमित्येवमादि सावद्यं जीतं, अपवादतः कदाचित्
 सावद्यमपि जीतं दद्यात् । (व्यभा ४५४३-४५४९ वृ)

जो जीत सावद्य है, उस जीत से व्यवहार नहीं होता । जो जीत निरवद्य है, उस जीत के द्वारा व्यवहार प्रवृत्त होता है ।

१. सावद्य जीत—जिनशासन और लोक में अपराध की विशुद्धि की अवगति कराने के लिए अपराधी के शरीर पर राख लगाना, उसे कारागृह में बंदी बनाना, अस्थिमाला पहनाना, गधे पर बिठाकर नगर में घुमाना आदि व्यवहार करना ।

२. निरवद्य जीत—दशविध (आलोचना आदि) प्रायश्चित्त देना ।

यहां व्यवहार का संबंध निरवद्य जीत से है, सावद्य जीत से नहीं । अषवाद रूप से कभी-कभी अनवस्था प्रसंग (दोषों की पुनरावृत्ति) के निवारण के लिए उस व्यक्ति पर सावद्य जीत का प्रयोग भी किया जाता था, जो प्रायः बहुत दोषों का सेवन करता या सर्वथा निर्दयी और प्रवचन के विषय में निरपेक्ष होता था ।

संविग्ग, प्रियधर्मा, अप्रमत्त और पापभीरु मुनि द्वारा स्वखलना होने पर उसके प्रति निरवद्य जीत से व्यवहार करना चाहिए ।

शोधिकर जीत से व्यवहार करना चाहिए, अशोधिकर जीत से नहीं । जो व्यवहार पार्श्वस्थ प्रमत्तसंयत मुनि द्वारा आचीर्ण है, वह अशोधिकर जीत है । उससे व्यवहार नहीं करना चाहिए, फिर चाहे वह अनेक पुरुषों द्वारा भी आचीर्ण क्यों न हो ।

जो व्यवहार संवेगपरायण और दान्त मुनि द्वारा आचीर्ण है, वह शोधिकर जीत है । उसी से व्यवहार करना चाहिए, फिर चाहे वह एक ही व्यक्ति द्वारा आचीर्ण क्यों न हो ।

१६. जीत व्यवहार-प्रवर्तन : बारह वस्तुओं का विच्छेद
सिद्धिपहे ततियगम्मि पुरिसजुगे ।
 वोच्छिन्ने तिविहे संजमम्मि जीतेण ववहारो ॥
 संघयणं संठाणं, च पढमगं जो य पुव्वउवओगो ।
 ववहारे चउक्कं पि, चोइसपुव्विम्मि वोच्छिन्नं ॥
 आहायरिओ एवं, ववहारचउक्कं जे उ वोच्छिन्नं ।
 चउदसपुव्वधरम्मी, घोसंती तेसण्णुघाता ॥
 मणपरमोहिपुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्ये ।
 संजमत्तिय केवलिसिञ्जणा य जंबुम्मि वोच्छिन्ना ॥
 संघयणं संठाणं, च पढमगं जो य पुव्वउवओगो ।
 एते तिननि वि अत्था, चोइसपुव्विम्मि वोच्छिन्ना ॥

(व्यभा ४५२३-४५२५, ४५२७, ४५२८)

एक परम्परा के अनुसार तीसरे पुरुषयुग (जम्बूस्वामी) के सिद्ध होने पर अंतिम तीन चारित्रों का विच्छेद हो गया, तब जीत से व्यवहार होने लगा।

दूसरी परम्परा के अनुसार चतुर्दशपूर्वी का विच्छेद होने पर प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान, अन्तर्मुहूर्त में चौदह पूर्वों का परावर्तन तथा प्रथम चारों व्यवहारों का विच्छेद हो गया।

इन दोनों मतों का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—जो चतुर्दशपूर्वधर के विच्छेद होने पर व्यवहार-चतुष्क के विच्छेद की घोषणा करते हैं, वे मिथ्यावादी होने के कारण चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के भागी हैं।

आचार्य जम्बूस्वामी के सिद्धिगमन के पश्चात् बारह वस्तुओं का विच्छेद हुआ—मनःपर्यवज्ञान, परमावधि, लब्धिपुलाक, आहारकलब्धि, क्षपकश्रेणि, उपशमश्रेणि, जिनकल्प, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यात चारित्र, केवली, सिद्धि।

चतुर्दशपूर्वी के विच्छिन्न होने पर प्रथम संहनन (वज्रऋषभ-नाराच), प्रथम संस्थान (समचतुरस्र) तथा अन्तर्मुहूर्त में चौदहपूर्वी का उपयोग (अनुप्रेक्षण)—इन तीनों वस्तुओं का विच्छेद हुआ।

जो आगमे य सुत्ते, य सुन्नतो आणधारणाए य।
सो ववहारं जीएण, कुणति वत्ताणुवत्तेण ॥
(व्यभा ४५३३)

जो आगम, श्रुत, आज्ञा और धारणा से रहित होता है, वह परम्परा से प्राप्त जीत के द्वारा व्यवहार करता है।

१७. जीत व्यवहार कब तक ?

यस्मिन् काले गौतमादिभिरिदं सूत्रं कृतं 'ववहारे पंचविहे घनत्ते' इत्यादि तदा आगमो विद्यते ततः किं कारणमाज्ञादयोऽपि सूत्रे निबद्धाः ?। (व्यभा ३८८४ की वृ)

सुत्तमणागयविसर्यं, खेत्तं कालं च पप्प ववहारो।
होहिंति न आइल्ला, जा तित्थं ताव जीतो तु ॥

.....यस्मिन् यस्मिन् काले यो यो व्यवहारो व्यवच्छिन्नो अव्यवच्छिन्नो वा तदा तदा प्रागुक्तेन क्रमेण व्यवहर्त्तव्यं तथा यत्र यत्र क्षेत्रे युगप्रधानैराचार्यैर्या या व्यवस्था व्यवस्थापिता तथा अनिश्रितोपाश्रितं व्यवहर्त्तव्यम्। (व्यभा ३८८५ वृ)

शिष्य ने पूछा—जिस समय गौतमस्वामी आदि ने 'ववहारे

पंचविहे षण्णत्ते.....' इस सूत्र की रचना की, उस समय आगम था, तब श्रुत, आज्ञा आदि को सूत्रित क्यों किया ? गुरु ने कहा—

सूत्र का विषय अनागत काल भी है—भविष्य में ऐसा समय भी आयेगा, जब आगम का व्युच्छेद हो जाएगा। व्यवहार क्षेत्र और काल सापेक्ष होता है। जिस काल में जो व्यवहार व्युच्छिन्न हो तो उस समय अव्युच्छिन्न व्यवहार का यथाक्रम प्रयोग करना चाहिए। जिस क्षेत्र में युगप्रधान आचार्यों द्वारा जो व्यवस्था व्यवस्थापित हो, उसी के अनुसार मध्यस्थभाव से व्यवहार करना चाहिए।

प्रथम चार व्यवहार तीर्थपर्यंत नहीं रहेंगे। अंतिम 'जीत' व्यवहार तब तक रहेगा, जब तक तीर्थ रहेगा।

१८. व्यवहार के भेद : आभवद् और प्रायश्चित्त

आभवन्ते य पच्छित्ते, ववहरियव्वं समासतो दुविहं।

दोसु वि षण्णं षण्णं ॥

खेत्ते सुत-सुहदुक्खे, मग्गे विणए य पंचहा होइ।

सच्चित्ते अच्चित्ते, खेत्ते काले य भावे य ॥

(व्यभा ३८८९, ३८९०)

व्यवहार के दो प्रकार हैं—

१. आभवत् व्यवहार—शिष्य आदि को लेकर होने वाला।

२. प्रायश्चित्त व्यवहार—अपराधी के प्रति होने वाला।

आभवत् व्यवहार पांच प्रकार का है—१. क्षेत्र २. श्रुत ३. सुख-दुःख, ४. मार्ग और ५. विनय संबंधी।

प्रायश्चित्त व्यवहार पांच प्रकार का है—सचित्त, अचित्त, क्षेत्र, काल और भाव संबंधी। (द्र प्रायश्चित्त)

० क्षेत्र आभवद्-श्रुत आभवद् व्यवहार

वाससु निग्गताणं, अट्टसु मासेसु मग्गणा खेत्ते।

आयरियक्कहण साहण, नयणे गुरुणा य सच्चित्ते ॥

आलोएंतो सोउं.....। गताण तेसिं न तं खेत्तं ॥

दुविहा सुतोवसंपय, अभिधारंते तहा पढंते य।

एक्केक्का वि य दुविधा, अणंतर परंपरा चेव ॥

एत्थं सुयं अहीहामि, सुतवं सो वि अन्नाहिं।

वच्चंतो सोऽभिधारंतो, सो वि अन्नत्थमेव व ॥

दोण्हं अणंतरा होति, तिग्गमादी परंपरा।.....

(व्यभा ३८९१, ३८९३, ३९५८-३९६०)

अष्टमासिक ऋतुबद्धकाल में विहरणशील मुनि आचार्य प्रायोग्य वर्षावासक्षेत्र की मार्गणा करते हैं। वे क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा कर आचार्य के पास जाकर उस क्षेत्र के गुण-दोष बताते हैं। गच्छान्तर से समागत मुनि उनकी वार्ता को सुनकर अपने आचार्य के पास जाकर सारी बात बताते हैं, उन्हें उस क्षेत्र में ले जाते हैं, वहां वे सचित आदि ग्रहण करते हैं तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं क्योंकि वह क्षेत्र उनके अवग्रह में नहीं है।

श्रुतउपसम्पदा के दो प्रकार हैं—अभिधारण और पठन।

इन दोनों के दो-दो प्रकार हैं—अनंतर और परम्पर।

दो के मध्य होने वाली श्रुतोपसम्पदा अनंतर और तीन आदि के मध्य होने वाली श्रुतोपसम्पदा परम्पर कहलाती है।

मैं अमुक श्रुतवान् के पास अध्ययन करूंगा—कोई ऐसा निश्चय कर चलता है और वह श्रुतवान् भी किसी अन्य आचार्य को अभिधारित कर अन्यत्र जाता है। अन्यत्र जो है, वह भी अन्यत्र चला जाता है—यह परम्पर अभिधारण श्रुतोपसम्पदा है।

० सुख-दुःख आभवद्-मार्ग आभवद् व्यवहार

अभिधारे उवसंपण्णो, दुविधो सुह-दुक्खितो मुणेयव्वो।^१...
सहायगो तस्स उ नत्थि कोई, सुत्तं च तक्केइ न सो परत्तो।
एगाणिण दोसगणं विदिता, सो गच्छमब्भेति समत्तकप्पं॥
खेत्ते सुहदुक्खी तू, अभिधारेताइं दोण्णि वी लभति।
पुर-पच्छसंशुयाइं, हेट्टिल्लाणं च जो लाभो॥
जह कोई मग्गणू, अनं देसं तु वच्चती साधू।
उवसंपज्जति उ तगं, तत्थउण्णो गंतुकामो उ॥
अम्मा-पितिसंबद्धा, मित्ता य वयंसगा य जे तस्स।
दिट्ठा भट्ठा य तहा, मग्गुवसंपन्नओ लभति॥
(व्यभा ३९८१-३९८३, ३९९५, ३९९९)

सुखदुःखोपसम्पदा के दो प्रकार हैं—अभिधारक और उपसम्पन्न। जिसके कोई सहायक नहीं है और जो दूसरों से सूत्र की अपेक्षा नहीं रखता है, वह एकाकी-विहार के दोषों को जानकर समाप्तकल्प (जहां ५ या ७ साधु हैं या ष्याप्त सहयोगी हैं, उस) गच्छ में चला जाता है। उस परक्षेत्र में सुखदुःखोपसम्पन्न मुनि को अभिधारित कर प्रव्रजित होने वाले उसके पूर्वसंस्तुत-पश्चात्संस्तुत तथा अन्य व्यक्ति भी उसी के निश्चित होते हैं।

कोई मार्गज्ञ मुनि अन्य देश के लिए प्रस्थित है। उसी देश में

जाने का इच्छुक दूसरा मुनि मार्गज्ञ साधु के पास उपसम्पदा ग्रहण करता है। यात्रापथ में जो शिष्य आदि प्राप्त होते हैं, वे सब मार्गोपदेशक के होते हैं। माता-पिता से सम्बद्ध, मित्र, वयस्य, दृष्ट और भाषित—ये सब उपसम्पदा स्वीकार करें तो ये मार्गोपसम्पत्प्रतिपन्न मुनि के होते हैं।

० विनयोपसम्पदा आभवद् व्यवहार

विणओवसंपयाए, पुच्छण साहण अपुच्छ गहणे य।^१...

केचिद् विहरन्तोऽदृष्टपूर्वदेशं गतास्तैर्वास्तव्यानां साम्भोगिकानां समीपे प्रच्छन्नं कर्त्तव्यम्।^१...सचित्तादिकस्य ग्रहणे सति परस्परं निवेदनं कर्त्तव्यं, यथैतत्सचित्तं वा लब्धं यूयं गृह्णीतेति, अनिवेदने असमाचारी। (व्यभा ४००० वृ)

नवागंतुक मुनि साम्भोजिक वास्तव्य मुनियों से मासकल्प प्रायोग्य और वर्षावासप्रायोग्य क्षेत्रों की संपृच्छा करते हैं। पूछे जाने पर वास्तव्य मुनि मौन रहते हैं या आगंतुक मुनि इस विषय की पृच्छा नहीं करते हैं तो वे दोनों प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। सचित्त या अचित्त वस्तु प्राप्त होने पर परस्पर एक-दूसरे को निवेदन करते हैं—आप इसे ग्रहण करें। यह सामाचारी है।

० श्रुत आदि आभवद् व्यवहार का लाभ

सुत-सुह-दुक्खे खेत्ते, मग्गे विणओवसंपयाए य।
बावीसपुव्वसंशुय, वयंसदिट्ठे य भट्ठे य॥
इच्चेयं पंचविधं, जिणाण आणाएँ कुणति सट्ठाणे।
पावति धुवमाराहं, तच्चिवरीए विवच्चासं॥
(व्यभा ४००६, ४००८)

श्रुतोपसंपदा में बाईस का लाभ—छह अमिश्रवल्ली से—माता, पिता, भाई, भगिनी, पुत्र, पुत्री। सोलह मिश्रवल्ली से—माता की माता, पिता, भाई और भगिनी, पिता की माता, पिता, भाई और भगिनी, भाई का पुत्र और पुत्री, भगिनी का पुत्र और पुत्री, पुत्र का पुत्र और पुत्री, पुत्री का पुत्र और पुत्री—इनमें से कोई प्रव्रजित आदि होते हैं, तो वे श्रुतोपसम्पदा में उपसम्पन्नमान मुनि की निश्रा में होते हैं। सुख-दुःख उपसंपदा में पूर्वसंस्तुत माता-पिता से संबंधित तथा वयस्य आदि का लाभ होता है।

क्षेत्र उपसंपदा में वयस्य आदि, मार्ग उपसंपदा में दृष्ट-भाषित, मित्र आदि तथा विनय उपसंपदा में शिष्य, उपधि, शय्या आदि सभी वस्तुएं उपसम्पन्न की निश्रा में होती हैं।

इस प्रकार श्रुत, सुख-दुःख, क्षेत्र, मार्ग और विनयोप-सम्पद्—इस पंचविध आभवद् व्यवहार का जिनाज्ञा के अनुसार यथास्थान प्रयोग करने वाला निश्चितरूप से आराधकपद प्राप्त करता है, तद्विपरीत व्यवहारप्रयोक्ता आराधक नहीं होता।

१९. गीतार्थ व्यवहर्तव्य, गीतार्थ के साथ व्यवहार

अग्गीतेणं सद्धिं, ववहरियव्वं न चव पुरिसेणं।
जम्हा सो ववहारे, कयम्मि सम्मं न सहहति॥
दुविहम्मि वि ववहारे, गीतस्थो षट्ठविज्जती जं तु।
तं सम्मं षडिवज्जति, गीतत्थम्मी गुणा चव॥
सच्चित्तादुप्पण्णो, गीतत्थासति दुवेण्ह गीताणं।
एगतरे उ निउत्ते, सम्मं ववहारसहहणा॥
गीतो यण्णाइयंतो, छिंद तुमं चव छंदितो संतो।
कहमंतरं ठावेति, तित्थगराणंतरं संघं॥
(व्यभा २७-३०)

अगीतार्थ पुरुष व्यवहर्तव्य नहीं होता, क्योंकि वह यथोचित व्यवहार करने पर भी उसमें सम्यक् श्रद्धा नहीं करता।

प्रायश्चित्त व्यवहार और आभवत् व्यवहार—दोनों प्रकार के व्यवहार में गीतार्थ को ही प्रज्ञप्ति दी जाती है। क्योंकि वह सम्यक् रूप में स्वीकार करता है। गीतार्थ में गुण ही होते हैं।

दो गीतार्थ साथ-साथ विहार कर रहे थे। उन्हें सचित्त (शिष्य), वस्त्र आदि की प्राप्ति हुई। तब दोनों में विवाद हो गया—एक कहता है—यह मेरा है और दूसरा कहता है—यह मेरा है। अन्य गीतार्थ समीप में नहीं था, अतः दोनों गीतार्थों में से एक कहता है—‘तुम ही मेरे लिए प्रमाण हो, तुम्हीं इस विवाद को निपटाओ—इस प्रकार निर्मात्रित करने पर नियुक्त गीतार्थ सोचता है—इसने मुझे प्रमाण मानकर तीर्थंकर की अविच्छिन्न संघपरंपरा में स्थापित किया है। मैं संघ को तीर्थंकर से अंतरित (विच्छिन्न) कैसे स्थापित कर सकता हूँ? यह सोचकर उसने कहा—‘मुनिवर्य! यह वस्तु तुम्हारी ही है, मेरी नहीं।’

२०. सम्यग् निर्णय में मध्यस्थता अनिवार्य

परिसा ववहारी या, मज्झत्था रागदोसनीहूया।
जइ होति दो वि षक्खा, ववहरिउं तो सुहं होति॥
ओसन्नचरणकरणे, सच्चव्वववहारया दुसहहिया।
चरणकरणं जहंतो, सच्चव्वववहारयं पि जहे॥

जइया षोणं चत्तं, अप्पणतो नाण-दंसण-चरित्तं।
ताधे तस्स परेसुं, अणुकंपा नत्थि जीवेसु॥
भवसतसहस्सलद्धं, जिणवयणं भावतो जहंतस्स।
जस्स न जातं दुक्खं, न तस्स दुक्खं परे दुहिते।
तित्थगरे भगवंते, जगजीववियाणए तिलोगगुरू।
जो उ करेति पमाणं, सो उ पमाणं सुतधराणं॥

(व्यभा १६७०-१६७३, १६७६)

व्यवहार्य परिषद् के दोनों पक्ष मध्यस्थ होते हैं, राग-द्वेष रहित होते हैं, तो निर्णय सुखपूर्वक होता है।

जो चरण-करण अनुपालन में शिथिल होता है, उसके लिए सत्य व्यवहार दुःश्रद्धेय होता है। वह चरण-करण छोड़ता हुआ सत्य-व्यवहारकारिता को भी छोड़ देता है।

जो अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य को त्याग देता है, उसमें अन्य जीवों के प्रति अनुकम्पा का भाव नहीं रहता। जो लाखों जन्मों के पश्चात् प्राप्त जिनप्रवचन को छोड़ता हुआ दुःखी नहीं होता, वह दूसरों के दुःख में भी दुःखी नहीं होता।

तीर्थंकर भगवान् जगत् की जीवधिनियों के ज्ञाता तथा तीन लोक के नाथ होते हैं। जो उनको, उनके वचनों को प्रमाण मानता है, वही श्रुतधरों के लिए प्रमाणभूत होता है।

पंचविधं उवसंपय, नाऊणं खेत्तकालपव्वज्जं।
तो संघमज्झयारे, ववहरियव्वं अणिस्साए॥
(व्यभा १६९२)

जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और वैयावृत्य—इस पंचविध उपसंपदा को जानता है, क्षेत्र, काल और प्रव्रज्या को जानता है, उसे राग और द्वेष से मुक्त होकर व्यवहार करना चाहिए।

२१. संव्यवहारी आराधक : आठ व्यवहारी शिष्य

.....आगमबलिया समणा निगंथा इच्चेयं पंचविहं
ववहारं जया-जया जहिं-जहिं तया-तया तहिं-तहिं
अणिस्सिओवस्सियं ववहारं ववहरेमाणे समणे निगंथे
आणाए आराहए भवइ॥
(व्य १०/६)

श्रमण-निर्ग्रन्थ आगमबली होते हैं। आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत—इन पांचों व्यवहारों में जब-जब जहां-जहां जो व्यवहार हो, तब-तब वहां-वहां उसका मध्यस्थ भाव से सम्यग् व्यवहार करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आज्ञा का आराधक होता है।

तगराए नगरीए, एगायरियस्स पास निष्कण्णा।
 सोलस सीसा तेसिं, अब्बवहारी उ अड्ड इमे॥
 मा कित्ते कंकडुकं, कुणिमं पक्कुत्तरं च चव्वाइं।
 बहिरं च गुंठसमणं, अंबिलसमणं च निद्धम्मं॥
 तेण न बहुस्सुतो वी, होति पमाणं अणायकारी तु।
 नाएण ववहरंतो, होति पमाणं जहा उ इमे॥
 कित्तेहि पूसमित्तं, वीरं सिवकोट्टुगं व अज्जासं।
 अरहन्नाग धम्मण्णाग, खंडिल गोविंददत्तं च॥
 एते उ कज्जकारी, तगराए आसि तम्मि उ जुगम्मि।
 जेहि कया ववहारा, अवखोभा अण्णरज्जेसु॥
 इहलोगम्मि य कित्ती, परलोगे सोगती धुवा तेसिं।
 आणाएँ जिणिंदाणं, जे ववहारं ववहरंति॥
 (व्यभा १६९४, १६९५, १७०४-१७०७)

तगरा नगरी में एक आचार्य के पास निष्पन्न सोलह शिष्यों में से आठ शिष्य अव्यवहारी थे, जिनके आठ दोष इस प्रकार हैं—

१. कांकटुक—कोरडूधान्य तुल्य दुश्छेद्य व्यवहार।
२. कुणप—शव-मांस तुल्य मलिन व्यवहार।
३. पक्व—पतित पक्व फल जैसा अस्थिर व्यवहार।
४. उत्तर—छेलपूर्वक उत्तर देना।
५. चर्व—निष्फल प्रयत्न का पुनः पुनः चर्वण।
६. बधिर—दोषश्रवण में बधिर तुल्य होना।
७. गुंठ—माया से व्यवहार की समाप्ति।
८. अम्ल—तीखे वचन बोलना।

सदोष व्यवहारछेदक प्रशंसनीय नहीं होता। अन्याय करने वाला बहुश्रुत भी प्रमाण नहीं होता।

न्यायपूर्ण व्यवहार करने वाला प्रमाण होता है, जैसे ये आठ व्यवहारी—पुष्यमित्र, वीर, शिवकोष्ठक, आर्यास, अर्हन्नक, धर्मान्वग, स्कंदिल और गोविंददत्त—ये सब उस युग में तगरा नगरी में प्रशंसनीय व्यवहारी थे, जिनके द्वारा कृत व्यवहार अन्य राज्यों में भी अक्षोभ्य था।

जो जिनेन्द्र की आज्ञा से व्यवहार की प्रस्थापना करते हैं, उनकी इहलोक में कीर्ति और परलोक में सुगति होती है।

व्यवहार— एक प्रायश्चित्त सूत्र।

द्र छेदसूत्र

शय्या— वसति, उपाश्रय। संस्तारक।

१. शय्या के नौ प्रकार

- ० कालातिक्रान्ता और उपस्थाना शय्या
- ० अभिक्रान्ता.....अल्पक्रिया शय्या
- ० पूर्व शय्या उत्तर शय्या से बाधित

२. सर्वथा वर्जनीय शय्या : औद्देशिक आदि

३. सपरिकर्म शय्या-निषेध

- ० मूल-उत्तरकरण शय्या : अविशोधिकोटि.....

४. पुरुषांतरकृत परिकर्मित शय्या कल्पनीय

५. बादर-सूक्ष्म प्राभुतिक शय्या का निषेध

६. उपाश्रय के प्रकार

- * निर्दोष उपाश्रय की गवेषणा द्र क्षेत्रप्रतिलेखना

७. वृषभ क्षेत्र

- ० क्षेत्र अपर्याप्त : कौन रहे ? कौन न रहे ?

८. साध्वी-क्षेत्र और कुलस्थविर : भोजिक दृष्टांत

९. एक द्वार वाले क्षेत्र में रहना निषिद्ध

१०. प्रतिबद्ध शय्या-निषेध : पूपलिकाखाद दृष्टांत

- ० आधाकर्मिक और स्त्रीप्रतिबद्ध शय्या : सापेक्ष दृष्टि

- ० अप्रतिबद्ध शय्या की गवेषणा, प्रतिबद्ध-यतना

- * सागारिक शय्या का निषेध क्यों ? द्र ब्रह्मचर्य

- * शय्यातर कौन ? द्र शय्यातर

११. सदोष शय्या से हानि, निर्दोष शय्या दुर्लभ

१२. विविक्त शय्या की गवेषणा

१३. गृहकार्य का निवेदन, मुनि द्वारा अस्वीकृति

१४. शय्या-प्रवेश-प्रमार्जनविधि

- * शय्या-ग्रहण-प्रतिलेखन द्र पर्युषणाकल्प

- * रात्रि में शय्याग्रहण द्र महाव्रत

१५. चित्रों के आधार पर सदोष-निर्दोष शय्या

१६. विषम शय्या में समता

१७. गृहान्तर-निषेधा-निषेध एवं अपवाद

- ० अंतरगृह में धर्मकथा निषिद्ध

१८. शय्या-संस्तारक का निर्वचन और प्रकार

- ० शय्या और संस्तारक में भेद-अभेद

१९. शय्या-संस्तारककल्पक : ग्रहणाविधि

२०. शय्यासंस्तारक प्रतिमा

- * अवग्रह की सात प्रतिमा द्र अवग्रह

- * जिनकल्पी की शय्या द्र जिनकल्प

२१. यथारालिक क्रम से शय्याग्रहण
 २२. संस्तारक-फलक-ग्रहण क्यों ?
 २३. वृद्धावास आदि के योग्य शय्या-संस्तारक
 २४. प्रातिहारिक संस्तारक-प्रत्यर्पणविधि

१. शय्या के नौ प्रकार

कालातिक्रान्तोवट्टाण अभिकंत अणाभिकंता य।
 वज्जा य महावज्जा, सावज्ज महऽप्यकिरिया य॥

(बृभा ५९३)

शय्या के नौ प्रकार हैं—कालातिक्रान्ता, उपस्थाना, अभिक्रान्ता, अनभिक्रान्ता, वज्जा, महावज्जा, सावज्जा, महासावज्जा, अल्पक्रिया।

० कालातिक्रान्ता और उपस्थाना शय्या

से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्यं उवातिणावित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति, अयमाउसो! कालाइकंत-किरिया वि भवइ ॥

.....उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्यं उवातिणा-वित्ता तं दुगुणा तिगुणेण अपरिहरित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति, अयमाउसो ! उवट्टाणकिरिया वि भवइ ॥

.....शीतोष्णकालयोर्मासकल्पम्.....वर्षासु वा चतुरो मासानतिवाह्य तत्रैव पुनः कारणमन्तरेणासते.....कालातिक्रमदोषः स्व्यादिप्रतिबन्धः स्नेहादुद्गमादिदोषसम्भवो वेत्यतस्तथा स्थानं न कल्पते।.....ये 'भगवन्तः' साधव आगंता-गारादिषु ऋतुबद्धं वर्षा वाऽतिवाह्यान्यत्र मासमेकं स्थित्वा 'द्विगुण-त्रिगुणादिना'.....द्वित्रैर्मासैर्व्यवधानमकृत्वा पुनस्तत्रैव वसन्ति, अयमेवंभूतः प्रतिश्रय उपस्थानक्रियादोषदुष्टो भवति।

(आचूला २/३४, ३५ वृ)

उउ-वासा समतीता, कालातीया उ सा भवे सेज्जा।
 स च्चेव उवट्टाणा, दुगुणा दुगुणं अवज्जेत्ता॥

.....ऋतुबद्धे काले द्वौ मासौ वर्षास्वष्टमासान् अपरि-हृत्य यदि पुनरागच्छति तस्यां.....सा उपस्थाना भवति। उप—सामीप्येन स्थानम्—अवस्थानं चस्यां.....। अन्ये पुनरिद-माचक्षते—यस्यां वसतौ वर्षावास-स्थितास्तस्यां द्वौ वर्षारात्रा-वन्यत्र कृत्वा यदि समागच्छन्ति ततः सा उपस्थाना न भवति अर्वाक् तिष्ठतां पुनरुपस्थाना।

(बृभा ५९५ वृ)

० कालातिक्रान्ता शय्या—साधुओं ने जिन यात्रीगृहों, आरामगृहों, गृहपतिगृहों या मठों में ऋतुबद्धकल्प—शीतकालीन और ग्रीष्मकालीन मासकल्प या वर्षावासकल्प—चातुर्मास बिताया है, उन्हीं स्थानों में वे बिना कारण पुनः रहते हैं, आयुष्मन्! वह शय्या कालातिक्रान्तक्रिया है। उस शय्या में रहना कल्पनीय नहीं है, क्योंकि वहां रहने से स्त्री आदि के प्रति प्रतिबद्धता तथा रागभाव के कारण गृहस्थ द्वारा उद्गम आदि दोषों की संभावना रहती है।

० उपस्थाना शय्या—आचारचूला के अनुसार जिन स्थानों में ऋतुबद्ध कल्प (मासकल्प) या वर्षाकल्प बिताया है, उससे दुगुणा-तिगुणा काल—दो या तीन मास और दो या तीन चातुर्मास अन्यत्र बिताये बिना पुनः उन्हीं स्थानों में आकर रहते हैं, वे स्थान उपस्थानक्रियादोष से युक्त हैं, आयुष्मन्! यह उपस्थानक्रिया है।

बृहत्कल्पभाष्य और उसकी वृत्ति में 'दुगुणा दुगुणं' पाठ है, जिसके अनुसार ऋतुबद्धकाल में दो मास और वर्षाकाल में आठ मास (दो वर्षावास) अन्यत्र बिताये बिना पुनः उस शय्या में रहता है तो वह उपस्थाना शय्या है।

जिसमें उप—समीपता से स्थान-अवस्थान होता है (कालक्षेप नहीं होता), वह उपस्थाना है—यह उपस्थाना का निर्वचन है।

कुछ आचार्य यह कहते हैं कि जिस वसति में वर्षावास बिताया है, उसमें दो वर्षावास अन्यत्र बिताकर यदि पुनः आते हैं तो वह वसति उपस्थाना नहीं होती, उससे पहले आकर रहने वालों के लिए वह उपस्थाना शय्या है।

(.....दुगुणेण अपरिहरित्ता ण वट्ठति, बितियं ततियं च परिहरिऊण चउत्थे होज्जा। —दचूला २/११ की अचू

जहां मासकल्प या चातुर्मासकल्प किया है, दूसरा और तीसरा मास या चातुर्मास छोड़कर चौथा मासकल्प या चातुर्मास वहां किया जा सकता है।

'दुगुणा दुगुणेन' तथा 'दुगुणा तिगुणेण' इनके आधार पर दो वाचनाओं की संभावना की जा सकती है। प्रथम वाचना के अनुसार दो मास या चातुर्मास का वर्जन तथा दूसरी वाचना के अनुसार दो या तीन मास अथवा चातुर्मास का वर्जन किए बिना वहां रहना उपस्थानक्रिया है।

'दुगुणा दुगुणेन' पाठ की अपेक्षा 'दुगुणा तिगुणेण' यह पाठ सूत्र-वाचना की दृष्टि से अधिक सार्थक लगता है। दो या तीन—इस

परम्परा का निर्देश करने के लिए 'द्विगुण-त्रिगुण' इन दोनों पदों का प्रयोग सार्थक है।—आगम सम्पादन की समस्याएं, पृ. ९०)

० अभिक्रान्ता.....अल्पक्रिया शय्या

.....समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स तत्थ-तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवन्ति,.....जे भयंतारो तहप्पगाराइं.....भवणगिहाणि वा तेहिं ओवयमाणेहिं ओवयन्ति, अयमाउसो! अभिक्कंत-किरिया वि भवइ ॥.....तेहिं अणोवयमाणेहिं ओवयन्ति, अयमाउसो! अणभिक्कंत-किरिया... ॥

.....सेज्जाणिमाणि अहं अप्पणो सअट्टाए चेतिताइं भवन्ति,.....सव्वाणि ताणि समणाण णिसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो सअट्टाए चेतिसामो,.....इतरेतरेहिं पाहुडेहिं वडुंति, अयमाउसो! वज्ज-किरिया वि भवइ ॥

.....बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए पंगणिय-पगणिय समुद्दिस्स तत्थ-तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवन्ति.....महावज्ज-किरिया वि भवइ ॥

.....बहवे.....वणीमए समुद्दिस्स.....अगाराइं चेतिताइं भवन्ति,सावज्ज-किरिया वि भवइ ॥.....एगं समणजायं समुद्दिस्स तत्थ-तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवन्ति, इयराइयरेहिं पाहुडेहिं दुपक्खं ते कम्मं सेवन्ति, अयमाउसो! महासावज्ज-किरिया वि भवइ ॥

.....अप्पणो सअट्टाए तत्थ-तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवन्ति.....जे भयंतारो तहप्पगाराइं.....भवणगिहाणि वा उवागच्छन्ति, उवागच्छन्ता इयराइयरेहिं पाहुडेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवन्ति, अयमाउसो! अप्पसावज्ज-किरिया वि भवइ ॥

.....अभिक्रान्तक्रिया.....अल्पदोषा चेयम् ।.....अभिक्रान्त-क्रिया.....अकल्पनीया ।.....वर्ज्यक्रियाभिधाना.....न कल्पते ।.....महावर्ज्याभिधाना.....अकल्प्या चेयं विशुद्धकोटिश्च ।.....सावद्यक्रिया.....अकल्पनीया चेयं विशुद्धकोटिश्च ।.....आधाकर्मिकवसति:.....महासावद्यक्रिया..... ।.....अल्पक्रिया.....अल्पशब्दोऽभाववाची । (आचूला २/३६-४२ वृ)

महावज्जा पासंडाण अट्टाए एसा चेव वत्तव्वया, सावज्जा पंचणहं समणाणं पगणित-पगणित.....महासावज्जा एगं समणस्स जातं समुद्दिस्स..... । (आचूला २/३९-४१ की चू)

जावन्तिया उ सेज्जा, अन्नेहिं निसेविया अभिक्कंता । अन्नेहि अपरिभुत्ता, अनभिक्कंता उ पविसंते ॥ अत्तट्टुकडं दाउं, जतीण अन्नं करंति वज्जा उ । जम्हा तं पुव्वकयं, वज्जंति ततो भवे वज्जा ॥ पःसंडकारणा खलु, आरंभो अभिणवो महावज्जा । समणट्टा सावज्जा, महासावज्जा उ साहूणं ॥ जा खलु जहुत्तदोसेहिं वज्जिया कारिया सअट्टाए । परिकम्मविष्णुमुक्का, सा वसही अप्पकिरिया उ ॥

(बृथा ५९६-५९९)

० अभिक्रान्ता शय्या—श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और वनीपकों के उद्देश्य से गृहस्थों द्वारा गृह बनवाये हुए हैं, उन भवनगृहों में, यावन्तिकी वसति में चरक, पाखंडी या गृहस्थ रह चुकने के पश्चात् साधु रहता है—आयुष्मन्! यह अभिक्रान्तक्रिया है। यह वसति अल्पदोषा है।

० अनभिक्रान्ता शय्या—जो यावन्तिकी वसति गृहस्थ आदि द्वारा अपरिभुक्त है, उसमें यदि साधु प्रवेश करते हैं, तो वह अनभिक्रान्तक्रिया है, अकल्पनीय है।

० वर्ज्या शय्या—हमने जो ये शय्याएं अपने लिए, अपने प्रयोजन से बनवाई हैं, वे सब श्रमणों को दे देंगे, तत्पश्चात् हम अपने लिए दूसरी शय्या बनवा लेंगे—इस प्रकार गृहस्थ अपने लिए निर्मित शय्या साधुओं को देकर, अपने लिए पुनः दूसरी शय्या बनाता है। मुनि भेंट रूप में प्रदत्त उन शय्याओं का उपयोग करता है—आयुष्मन्! यह शय्या वर्ज्य क्रिया है, अतः ग्राह्य नहीं है। गृहस्थ पूर्वकृत बस्ती का वर्जन करता है, इसलिए वह वर्ज्या है।

० महावर्ज्या शय्या—बहुत से श्रमण, ब्राह्मण आदि को गिन-गिन कर उनके उद्देश्य से गृहनिर्माण का अभिनव आरंभ किया जाता है—यह महावर्ज्याक्रिया है। यह अकल्पनीय है और विशोधिकोटि में है। (विशोधिकोटि द्र श्रीआको १ एषणासमिति)

० सावद्य शय्या—बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और वनीपकों के उद्देश्य से निर्मित शय्या में साधु रहते हैं—यह शय्या सावद्यक्रिया है। यह अग्राह्य और विशोधिकोटि में है।

० महासावद्य—निर्ग्रथ श्रमण के उद्देश्य से निर्मित शय्या महासावद्य-क्रिया से युक्त होती है। गृहस्थ द्वारा उपहार रूप में प्रदत्त उन शय्याओं में रहने वाला साधु द्विपक्षकर्म का—साधुवेश से साधुत्व

का और आधाकर्मिक शय्या-प्रवास से गार्हस्थ्य का आचरण करता है। महासावद्या शय्या सर्वथा अग्राह्य है।

आचारांगचूर्ण के अनुसार महावर्ज्या शय्या पाखंडियों—साधु-वेशधारियों के लिए निर्मित होती है—यह वक्तव्यता (गुरु परम्परा) है तथा निर्ग्रथ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीवक—इन पांच प्रकार के श्रमणों के लिए निर्मित की जाने वाली शय्या सावद्या है। मात्र निर्ग्रथ श्रमण के लिए निर्मित शय्या महासावद्या है। बृहत्कल्पभाष्य में भी यही तथ्य प्रतिपादित है।

० अल्पसावद्य (निरवद्य) क्रिया—जो घर गृहस्थों द्वारा अपने लिए सप्रयोजन निर्मित हैं, परिकर्म से सर्वथा मुक्त हैं, कालातिक्रान्त आदि दोषों से रहित हैं, उन भवनगृहों में साधु आते हैं, आकर अन्यान्य प्राभुतों के उपयोग द्वारा एकपक्ष कर्म—साधुत्व का आसेवन करते हैं। यह शय्या अल्पसावद्यक्रिया होती है। यहां अल्प शब्द अभाववाची है।

(आधाकर्म आदि सावद्य क्रियाओं—दोषों से सर्वथा रहित होने से अल्पक्रिया वसति निरवद्य है, निर्दोष है। उसमें साधु कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि निरवद्य क्रियाएं करता है, अतः वह अल्पसावद्यक्रिया—निरवद्यक्रिया शय्या है।)

० पूर्व शय्या उत्तरशय्या से बाधित

हिडिल्ला उवरिल्लाहि बाहिया न उ लभंति पाहनं ।
पुव्वाणुनाऽभिणवं, च चउसु भय पच्छिमाऽभिणवा ॥

नवापि वसतयः क्रमेण स्थाप्यन्ते, तत्राप्यल्पक्रिया निर्दोषेति प्रथमम् । तद्यथा—अल्पक्रिया कालातिक्रान्ता उपस्थाना... । अत्राधस्तनी अल्पक्रिया, अस्यां यद्यतिरिक्तं कालं तिष्ठति ततः सा कालातिक्रान्तया बाध्यते, सा कालातिक्रान्ता भवतीति भावः । कालातिक्रान्तामपि यदि द्विगुणां द्विगुणामपरिहृत्योपागच्छन्ति ततः सा उपस्थानया बाध्यते, ...पूर्वस्याः पूर्वस्या अलाभे उत्तरस्या उत्तरस्या अनुज्ञा वेदितव्या ।अनभिक्रान्तायामपरिभुक्तेति कृत्वा चिरकृतायामप्यभिनव-दोषो भवति, वर्ज्यादिषु पुनर्याः परिभुक्तास्तासु नाभिनव-दोषः, ... महासावद्योपाश्रयः तस्मिन्नभिनवकृते वा चिरकृते वा परिभुक्ते वा अपरिभुक्ते वा अभिनवदोषा भवन्ति, एकपक्षनिर्धारणात् । (बृभा ६०० वृ)

पूर्ववर्ती बस्तियां उत्तरवर्ती बस्तियों से बाधित होती हैं। बाधित होने के कारण उन्हें प्रधानता नहीं दी जा सकती। नौ बस्तियों की क्रमशः स्थापना की जाए तो अल्पक्रिया बस्ती को निर्दोष होने के कारण प्रथम स्थान पर स्थापित किया जाता है, जैसे—अल्पक्रिया, कालातिक्रान्ता, उपस्थाना, अभिक्रान्ता, अनभिक्रान्ता, वर्ज्या, महावर्ज्या, सावद्या और महासावद्या।

मुनि अल्पक्रिया बस्ती में यदि अतिरिक्त काल तक रहता है, तो वह कालातिक्रान्ता बस्ती से बाधित होती है अर्थात् अल्पक्रिया बस्ती कालातिक्रान्ता हो जाती है। कालातिक्रान्ता भी उपस्थाना बस्ती हो जाती है, यदि दुगुना-दुगुना समय (दो मास अथवा दो वर्षावास) अन्यत्र बिताये बिना ही उस बस्ती में आगमन होता है।

नौ बस्तियों में पूर्व बस्ती (अल्पक्रिया) निरवद्य होने से अनुज्ञात है। पूर्व-पूर्व बस्ती की अप्राप्ति होने पर उत्तर-उत्तर बस्ती अनुज्ञात है। अनभिक्रान्ता, वर्ज्या, महावर्ज्या और सावद्या—इन चार बस्तियों में अभिनव दोष (साधु के उद्देश्य से कृत गृहनिर्माण में होने वाले आरंभ दोष) की भजना है—कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता। जैसे—अनभिक्रान्ता बस्ती चिरकृत होने पर भी अपरिभुक्त होने के कारण अभिनव दोष युक्त है। वर्ज्या आदि बस्तियों में जो परिभुक्त हैं, उनमें अभिनव दोष नहीं है। अंतिम महासावद्या बस्ती केवल साधुओं के उद्देश्य से निर्मित होने के कारण अभिनव दोषों से युक्त होती है, चाहे वह अभिनवकृत हो या चिरकृत, परिभुक्त हो या अपरिभुक्त।

२. सर्वथा वर्जनीय शय्या : औद्देशिक आदि

सेज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा—अस्सिपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स... ॥...बहवे साहम्मिया समुद्दिस्स...बहवे समण-माहण-अतिहि-क्विण-वणीमए पगणिय-पगणिय समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ । तहप्पगारे उवस्सए पुरिसंतरकडे वा अपुरिसंतरकडे वा, अत्तट्टिए वा अणत्तट्टिए वा, परिभुत्ते वा अपरिभुत्ते वा, आसेविए वा अणासेविए वा णो ठाणं वा, सेज्जं वा, णिसीहियं वा चेतैज्जा ॥

(आचूला २/३, ४, ७)

....'स्थानं' कायोत्सर्गः 'शय्या' संस्तारकः 'निषीधिका' स्वाध्यायभूमिः.... । (आचूला २/१ की वृ)

भिक्षु उपाश्रय को जाने—यदि वह उपाश्रय साधुओं को देने के उद्देश्य से मेरे एक साधर्मिक के उद्देश्य से, अनेक साधर्मिकों के उद्देश्य से, बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और वनीपकों (याचकों) को गिन-गिन कर उनके उद्देश्य से प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ कर बनाया गया है अथवा उन्हीं के उद्देश्य से खरीदा गया, उधार लिया गया, छीना गया, भागीदार द्वारा अननुमत, अन्यत्र से समानीत (संस्तरक आदि) प्राप्त कर देता है, वैसा उपाश्रय पुरुषान्तरकृत हो या अपुरुषान्तरकृत, स्वीकृत हो या अस्वीकृत, परिभुक्त हो या अपरिभुक्त, आसेवित हो या अनासेवित, उसमें स्थान—कायोत्सर्ग, शय्या—संस्तरक—आसन—शयन और निषद्या—स्वाध्याय न करे।

जे भिक्खू उद्देशियं सेज्जं अणुपविसति” ॥”आवज्जइ मासियं परिहारद्वाणं उग्घातियं ॥ (नि ५/६१, ७८)

जो भिक्षु औद्देशिक शय्या में प्रवेश करता है, वह लघुमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

* औद्देशिक के भेद-प्रभेद द्र पिण्डैषणा

३. सपरिकर्म शय्या-निषेध

जे भिक्खू सपरिकम्मं सेज्जं अणुपविसति” ॥” मासियं परिहारद्वाणं उग्घातियं ॥ (नि ५/६३, ७८)

जो भिक्षु परिकर्मित शय्या में प्रवेश करता है, वह लघुमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

सपरिकम्मा सेज्जा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
एक्केक्का वि य एत्तो, सत्तविहा होइ णायव्वा ॥
(निभा २०४५)

सपरिकर्म शय्या दो प्रकार की है—मूलगुण-परिकर्मयुक्त और उत्तरगुण-परिकर्मयुक्त। इन दोनों के सात-सात प्रकार हैं।

० मूल-उत्तरकरण : अविशोधिकोटि-विशोधिकोटि
पट्टीवंसो दो धारणाउ चत्तारि मूलवेलीतो।
मूलगुणेहिं उवहया, जा सा आहाकडा वसही ॥
वंसग कडणोक्कंचण, छावण लेवण दुवार भूमी य।
सप्परिकम्मा वसही, एसा मूलोत्तरगुणोसु ॥
दूमिय धूविय वासिय, उज्जोविय बलिकडा अवत्ता य।
सित्ता सम्मट्टा वि य, विसोहिकोडी कया वसही ॥

उपरितनस्तिर्यक्पाती पृष्ठवंशः, द्वौ मूलधारणौ ययोरुपरि पृष्ठवंशस्तिर्यग् निपात्यते चतस्रश्च मूलवेलय उभयोर्धारण-योरुभयतो द्विद्विवेलिसम्भवात्। एते वसतेः सप्त मूलभेदाः १” साधून् आधाय—सम्प्रधार्य कृता आधाकृता, सप्तविध-मुत्तरकरणम्। एषा सपरिकर्मा वसतिर्मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च। एषा नियमेनाविशोधिकोटिः १” (बृभा ५८२-५८४ वृ)

० पृष्ठवंश—उपरितन तिर्यक्पाती पृष्ठवंश।

० दो मूल धारण, जिन पर पृष्ठवंश तिरछा डाला जाता है।

० चार मूल वेली—दोनों धारणों के दोनों ओर दो-दो स्तम्भ।

—इन सात मूल गुणों से उपहत बस्ती आधाकर्मिक होती है। मन में साधुओं का सम्प्रधारण कर बनवाई गई बस्ती आधाकृत कहलाती है। उत्तरकरण परिकर्म सात प्रकार से किया जाता है—

० बांस, जिन्हें स्तंभों पर स्थापित किया जाता है।

० कटन—चटाई आदि के द्वारा पार्श्वभागों का आच्छादन।

० उत्कंचन—ऊपर कम्बिकाओं का बंधन।

० छादन—घास आदि से आच्छादन।

० लेपन—दीवार पर कर्दम और गोबर से लेपन।

० द्वार—वसति के दूसरी ओर द्वार का निर्माण।

० भूमि—विषम भूमि का समीकरण।

मूलगुणों और उत्तरगुणों से अशुद्ध यह परिकर्मयुक्त वसति निश्चितरूप से अविशोधिकोटि वाली है।

अन्य भी उत्तरगुण हैं। उनसे परिकर्मित वसति विशोधि-कोटि वाली होती है। वे उत्तरगुण मुख्यतः आठ हैं—

० दूमिता—चूने से धवलीकृत भीत वाली बस्ती।

० धूपिता—अगुरु आदि से धूपित।

० वासिता—पटवास, कुसुम आदि से सुवासित।

० उद्योतिता—अंधकार में दीपक आदि से आलोकित।

० बलिकृता—साधु के निमित्त बलिविधान किया गया हो।

० अवात्ता—उपलिप्त भूमि वाली।

० सिक्ता—जल-आवर्षण से सिंचित।

० सम्मृष्टा—साधु के निमित्त सम्मार्जनी से साफ की हुई।

४. पुरुषान्तरकृत परिकर्मित शय्या कल्पनीय

”.....उक्कसयं”.....अस्संजाए भिक्खुपडियाए कडिए वा,
उक्कंबिए वा, छन्ने वा, लित्ते वा, घट्टे वा, मट्टे वा, संमट्टे वा,

संपधूमिए वा । तहप्यगारे उवस्सए... ॥ पुरिसंतरकडे... णिसीहियं वा चेतैज्जा ॥... खुड्डियाओ दुवारियाओ महल्लियाओ कुज्जा, महल्लियाओ दुवारियाओ खुड्डियाओ कुज्जा, समाओ सिज्जाओ विसमाओ कुज्जा, विसमाओ सिज्जाओ समाओ कुज्जा, पवायाओ सिज्जाओ णिवायाओ कुज्जा, णिवायाओ सिज्जाओ पवायाओ कुज्जा, अंतो वा बहिं वा उवस्सयस्स हरियाणि छिंदिय-छिंदिय, दालिय-दालिय संथारगं संथारेज्जा, बहिया वा णिणणक्खु तहप्यगारे उवस्सए... ॥... पुरिसंतरकडे, अत्तट्टिए... तओ संजयामेव ठाणं वा... चेतैज्जा ॥

अत्र—उत्तरगुणा अभिहिताः, एतदोषदुष्टापि पुरुषान्तर-स्वीकृतादिका कल्पते, मूलगुणदुष्टा तु पुरुषान्तरस्वीकृता-ऽपि न कल्पते । (आचूला २/१०-१३ वृ)

गृहस्थ ने भिक्षु के उद्देश्य से उपाश्रय की भित्तियों को काष्ठ आदि से संस्कृत किया हो, कम्बा से बांधा हो, आच्छादित और लिप्त किया हो, घृष्ट-मृष्ट-सम्मृष्ट और संप्रधूमित किया हो, वैसा उपाश्रय यदि पुरुषांतरकृत हो तो साधु उसमें रहे ।

गृहस्थ साधु की प्रतिज्ञा से उपाश्रय के छोटे द्वार को बड़ा और बड़े द्वार को छोटा करे, सम शय्या को विषम और विषम को सम करे, प्रवात (हवादार) शय्या को निर्वात और निर्वात को प्रवात करे, उपाश्रय के भीतर या बाहर की हरितकाय को छिन्न-विच्छिन्न कर, दीर्घ-विदीर्घ कर संस्तारक बिछाए, हरित आदि वस्तुओं को बाहर निकाले, वैसा उपाश्रय पुरुषांतरकृत, अधिकृत, परिभुक्त और आसेवित हो, तो उसका प्रतिलेखन-प्रमार्जन कर उसमें संयमपूर्वक स्थान, शय्या और निषद्या करे ।

उल्लिखित दोष बस्ती के उत्तरकरण परिकर्म से संबन्धित हैं, अतः इनसे दूषित बस्ती पुरुषांतरकृत होने पर ग्राह्य है । मूलकरण से दूषित बस्ती पुरुषांतरकृत होने पर भी ग्राह्य नहीं है ।

से भिक्खू... उवस्सयं जाणेज्जा — बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स पाणाइं... समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ । तहप्यगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे... णो ठाणं वा... ॥ ... पुरिसंतरकडे, अत्तट्टिए, परिभुत्ते, आसेविए... तओ संजया-मेव ठाणं वा... चेतैज्जा ॥ (आचूला २/८, ९)

भिक्षु उपाश्रय को यदि ऐसा जाने कि वह बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और याचकों के उद्देश्य से प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का समारंभ कर, उन्हें पीड़ित कर बनाया गया है, उनके उद्देश्य से क्रीत, प्रामित्य (उच्छिन्नक), आछिन्न, अनिसृष्ट और अभिहत प्राप्त किया है, वैसा उपाश्रय अपुरुषांतरकृत हो, तो वहां स्थान, शय्या और निषद्या न करे । वह पुरुषांतरकृत (अन्यार्थकृत), आत्मीकृत (स्वीकृत), परिभुक्त और आसेवित है, तो संयमपूर्वक उसमें कायोत्सर्ग आदि करे ।

...सव्वाणुवाइ केई, केइ तक्कालुवट्टाणा ॥ हेमंतकडा गिम्हे, गिम्हकडा सिंसिर-वासे कप्पंति । अत्तट्टित-परिभुत्ता, तद्विसं केइ ण तु केई ॥ (निभा २०५८, २०५९)

शीतकाल के योग्य निर्मित घर ग्रीष्मकाल के अयोग्य होता है, अतः मुनि उस घर में ग्रीष्मऋतु में रह सकता है तथा ग्रीष्मऋतु योग्य निर्मित घर में शीत या वर्षाऋतु में रह सकता है ।

जो घर उत्तरगुणों से दूषित है किन्तु गृहस्थ द्वारा परिभुक्त है, उसमें तत्काल भी रहा जा सकता है ।

एक मत यह है कि वह घर कभी कल्पनीय नहीं हो सकता—यह कथन मूलगुणों से दूषित गृहनिर्माण के संदर्भ में है ।

५. बादर-सूक्ष्म सप्राभृतिक शय्या का निषेध

जे भिक्खू सपाहुडियं सेज्जं अणुपविसति... ॥ जम्मि वसहीए ठियाण कम्मपाहुडं भवति सा सपाहु-डिया छावणलेवणादिकरणमित्थर्थः । (नि ५/६२ चू)

जो भिक्षु प्राभृतिकायुक्त शय्या में प्रवेश करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी है । जिस वसति में रहने पर कर्मप्राभृत होता है, वह सप्राभृतिका शय्या है । प्राभृतिका का अर्थ है—शय्या का छादन, लेपन आदि रूप परिकर्म करना ।

पाहुडिया वि य दुविहा, बायर सुहुमा य होइ नायव्वा । एक्केक्का वि य एत्तो, पंचविहा होइ नायव्वा ॥ विद्धंसण छावण लेवणे य, भूमिकम्मे पडुच्च पाहुडिया । ओसक्कण अहिसक्कण, देसे सव्वे य नायव्वा ॥ संमज्जण आवरिसण, उवलेवण सुहुम दीवए चव ।... ॥

..... 'पडुच्च'..... त्रिशालं गृहं कर्तुकामः साधून् प्रतीत्य चतुःशालं करोति, आत्मीयं वा गृहं साधूनां दत्त्वा आत्मार्थमपरं कारयतीत्यादि। अवष्वक्कणं नाम विवक्षितविध्वंसनादि-कालस्य ह्रासकरणम्, अर्वाक्करणमित्यर्थः। अभिष्वक्कणं—तरयैव विवक्षितकालस्य संवर्द्धनम्, 'सुहुमे' त्ति सूक्ष्माणि समयभाषया पुष्पाण्युच्यन्ते।.....पुष्पाणां प्रकररचनेत्यर्थः।

(बृभा १६७४, १६७५, १६८१ वृ)

प्राभृतिका के दो प्रकार हैं—बादर और सूक्ष्म। इन दोनों के पांच-पांच प्रकार हैं—

बादर प्राभृतिका के पांच प्रकार हैं—

१. विध्वंसन—वसति को तोड़कर नया रूप देना।
२. छादन—दर्भ आदि से आच्छादित करना।
३. लेपन—भित्ति आदि को गोबर आदि से लीपना।
४. भूमिकर्म—सम-विषम भूमि का परिकर्म करना।
५. प्रतीत्यकरण—साधु के निमित्त त्रिशाल से चतुःशाल बनाना, अपना घर साधु को देकर अपने लिए दूसरा घर बनवाना। इन पांचों के भी दो-दो प्रकार हैं—१. अवष्वक्कण—विवक्षित काल से पहले वसति का विध्वंस आदि करना। २. अभिष्वक्कण—निर्माण या ध्वंस के विवक्षित काल को बढ़ा देना। इन दोनों के भी देशतः और सर्वतः भेद से दो-दो प्रकार हैं।

सूक्ष्म प्राभृतिका के पांच प्रकार हैं—

१. सम्मार्जन—प्रमार्जनी आदि से प्रमार्जन करना।
२. आवर्षण—पानी आदि के छींटे देना।
३. उपलेपन—गोबर या मृत्तिका से भूमि का लेपन करना।
४. सूक्ष्म—पुष्पों की प्रकररचना।
५. दीपक—दीपक प्रज्वलित करना।

इन्हें साधु के निमित्त पहले या पीछे करना तथा आंशिक या पूर्ण रूप में करना सूक्ष्म प्राभृतिका है।

६. उपाश्रय के प्रकार

पुष्पावकिण्ण मंडलियावलय उवस्सया भवे तिविधा।.....
(व्यभा १८०६)

उपाश्रय तीन प्रकार के होते हैं—१. पुष्पावकीर्णक, २. मण्ड-लिकाबद्ध और ३. आवलिकास्थित।

७. वृषभक्षेत्र

जहियं व त्तिनि गच्छा, पण्णरसुभया जणा परिवसंति।

एयं वसभक्खेत्तं, ॥

उत्कृष्टं वृषभक्षेत्रं यत्र द्वात्रिंशत्साधुसहस्राणि संस्तरन्ति। यथा ऋषभस्वामिकाले ऋषभशासनस्य (ऋषभसेनस्य) गणधरस्य।.....आचार्य आत्मतृतीयो गणावच्छेदीत्वात्म-चतुर्थः सर्वसंख्यया सप्त, एवं प्रमाणा यत्र च वे गच्छाः संस्तरन्ति एतत् जघन्यं वर्षाकालप्रायोग्यं वृषभक्षेत्रम्। (व्यभा ३९५२ वृ)

जहां ऋतुबद्धकाल में आचार्य और गणावच्छेदक के तीन गच्छ (पन्द्रह मुनि) सुविधा से रह सकते हों तथा वर्षाकाल में आचार्य आदि तीन तथा गणावच्छेदक आदि चार—इस प्रकार कुल सात साधुओं के लिए जो पर्याप्त हो, वह जघन्य वृषभक्षेत्र है।

जो बत्तीस हजार साधुओं के लिए पर्याप्त हो, वह उत्कृष्ट वृषभक्षेत्र है। ऋषभ भगवान के गणधर ऋषभसेन के बत्तीस हजार साधु थे।

० क्षेत्र अपर्याप्त : कौन रहे ? कौन न रहे ?

ते पुण दोण्णी वग्गा, गणि-आयरियाण होज्ज दोण्हं तु।

गणिणं व होज्ज दोण्हं, आयरियाणं व दोण्हं तु॥

अच्छंति संथरे सव्वे, गणी णीति असंथरे।

जत्थ तुल्ला भवे दो वी, तत्थिमा होति मग्गणा॥

निष्फण्णा तरुणा सेहे, ।

एमेव संजतीणं, नवरं वुड्डीसु नाणत्तं॥

(व्यभा ३९१६-३९१८)

अनेक गच्छों के अनेक मुनि एक ही क्षेत्र में आ गए हों और क्षेत्र पर्याप्त न हो तो वहां कौन रहे, इसका क्रम इस प्रकार है—

दो वर्ग हैं—एक वृषभ का, एक आचार्य का। यदि वह क्षेत्र पर्याप्त हो तो दोनों वर्ग वहां रहें। यदि क्षेत्र अपर्याप्त हो तो वृषभ का वर्ग वहां से विहार करे, आचार्य का वर्ग रहे।

दोनों वर्ग तुल्य हों—दोनों गणी या दोनों आचार्य हों तो जिसका शिष्यपरिवार निष्पन्न हो वह विहार करे, अनिष्पन्न वाला वहां रहे। दोनों का परिवार निष्पन्न हो, तो तरुण शिष्य परिवार वाला विहार करे, वृद्ध वाला वहां रहे। तरुण और

वृद्ध—दोनों में शैक्ष परिवार वाला रहे, चिरप्रव्रजित परिवार वाला विहार करे। साध्वियों की भी यही विधि है। अन्तर इतना है कि तरुणी और वृद्धा हों तो वृद्ध साध्वियां विहार करें, तरुणीवर्ग वहां रहे।

८. साध्वीक्षेत्र और कुलस्थविर : भोजिक दृष्टांत

.....थेरा पत्ता, दड्डुं निक्कारणट्टियं तं तु।
भोइयनायं काउं, आउट्टि विसोहि निच्छुभणा॥
एवं ता दप्पेणं, पुट्टो व भणिज्ज कारण ठिओ मि।.....

(बृभा २२०५, २२०६)

एक गांव में एक कुलस्थविर आए। उन्होंने साधुओं को ग्राम के प्रवेशद्वार पर ठहरे हुए देखकर पूछा—आर्य! आप संयतीक्षेत्र में क्यों ठहरे हैं? यदि निष्कारण ही ठहरे हों, तो स्थविर 'भोजिक दृष्टांत' से उनको समझाए और वे विहरण करने के लिए तत्पर हो जाएं तो प्रायश्चित्त देकर उन्हें विहार कराए। स्थविर के पूछने पर यदि वे कहें कि सप्रयोजन यहां ठहरे हैं तो न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और न वहां से विहार करना होता है।

आभीराणं गामो, गामहारे य देउलं रम्मं।
आगमण भोइयस्स य, ठाइ पुणो भोइओं तहियं॥
महिलाजणो य दुहितो, निक्खमण पवेसणं च सिं दुक्खं।
सामत्थणा य तेसिं, गो-माहिससन्निरोधो य॥
.....गामस्स विवच्छाओ, बाहिं ठाविंसु गावीओ॥
वच्छग-गोणीसहेण असुवणं भोइए अहणि पुच्छा।
सम्भावे परिकहिए, अन्नम्मि ठिओ निरुवरोहे॥

(बृभा २१९९, २२००, २२०२, २२०३)

आभीरों के एक गांव में प्रवेश के द्वार के पास रमणीय देवकुल था। एक बार भोजिक (ग्रामस्वामी) का वहां आगमन हुआ, वह वहां ठहरा। लज्जा के कारण महिलाओं का प्रवेश-निर्गम दुष्कर हो गया। उन्हें दुःखी देखकर आभीरों ने पर्यालोचन किया और अपनी गायों-भैंसों को गांव के बाहर तथा बछड़ों को गांव के भीतर रखा और ग्रामद्वार को बंद कर दिया। रातभर वे विस्वर स्वर में एक-दूसरे को पुकारते रहे। भोजिक को नींद नहीं आई। सूर्योदय होने पर उसने जिज्ञासा की तो आभीरों ने सही स्थिति बता दी। भोजिक अन्यत्र निर्बाध स्थान में ठहर गया।

९. एक द्वार वाले क्षेत्र में रहना निषिद्ध

से गामंसि वा जाव रायहाणिसिं वा एगवगडाए
एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए नो कप्पइ निग्गंथाण य
निग्गंथीण य एगयओ वत्थए॥ (क १/१०)

वगडा उ परिकखेवो, पुव्वुत्तो सो उ दव्वमाईओ।
दारं गामस्स मुहं, सो चेव य निग्गम-पवेसो॥
एगवगडेगदारा, एगमणेगा अणेग एगा य।
चरिमो अणेगवगडा, अणेगदारा य भंगो उ॥
एगवगडं पडुच्चा, दोण्ह वि वग्गाण गरहितो वासो।
जइ वसइ जाणओ ऊ, तत्थ उ दोसा.....॥

वगडा-द्वारयोश्चत्वारो भंगा:.....पर्वतादिपरिक्षिप्ते
क्वचिद् ग्रामादौ।.....प्राकारादिपरिक्षिप्ते चतुर्द्वारनगरादौ।.....
पद्मसरःप्रभृतिपरिक्षिप्ते बहुपाटके ग्रामादौ।.....पुष्पाव-
कीर्णगृहे ग्रामादौ। (बृभा २१२७, २१२९, २१३२ वृ)

निर्ग्रथ और निर्ग्रथी एक वगडा (बाड़ का घेरा/परिधि), एक द्वार और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम यावत् राजधानी में एक साथ नहीं रह सकते।

ग्राम के चारों ओर की परिधि वगडा कहलाती है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अनेक प्रकार की है। ग्राम का जो मुख है, वह द्वार कहलाता है। उससे निर्गमन और प्रवेश होता है। वगडा-द्वार के चार विकल्प हैं—१. एक वगडा एक द्वार। यथा—पर्वत से परिक्षिप्त एक द्वार वाला ग्राम।

२. एक वगडा अनेक द्वार। यथा—प्राकार आदि से परिक्षिप्त वह नगर, जिसके चारों दिशाओं में चार द्वार हों।

३. अनेक वगडा एक द्वार। यथा—वह ग्राम, जहां द्वार एक हो, किन्तु पद्मसर आदि से घिरे हुए अनेक पाटक (मुहल्ले) हों।

४. अनेक वगडा अनेक द्वार। यथा—पुष्पावकीर्णगृह वाला ग्राम।

जिस नगर का एक ही द्वार हो, वहां साधु-साध्वियों का एकत्र रहना निन्दनीय है। जानते हुए भी जो वहां निवास करता है, वह अनेक दोषों का सेवन करता है।

१०. प्रतिबद्धशय्यानिषेध : पूषलिकाखाद दृष्टांत

नो कप्पइ निग्गंथाणं पडिबद्धसेज्जाए वत्थए॥.....
कप्पइ निग्गंथीणं.....॥ (क १/३०, ३१)

.....द्व्वम्मि पड्डिवंसो, भावम्मि चउव्विहो भेदो ॥
 पासवण ठाण रूवे, सद्दे चेव य हवंति चत्तारि ।....
 बंभवयस्स अगुत्ती, लज्जानासो य पीडपरिवुड्डी ।
 साहु तवोवणवासो, निवारणं तिस्थपरिहाणी ॥
 (बृभा २५८४, २५८५, २५९७)

निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर से प्रतिबद्ध शय्या में नहीं रह सकता, निर्ग्रन्थी रह सकती है। प्रतिबद्ध शय्या के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य प्रतिबद्ध—जिस उपाश्रय में पृष्ठवंश (बलहरण) गृहस्थ के घर से प्रतिबद्ध होता है।

२. भावप्रतिबद्ध—यह उपाश्रय चार प्रकार का है—

- ० प्रश्रवणप्रतिबद्ध—गृहस्थ और साधु की कायिकीभूमि एक हो।
- ० रूपप्रतिबद्ध—जहां स्त्रियों का रूप दिखाई पड़ता हो।
- ० स्थानप्रतिबद्ध—गृहस्थ और साधु के बैठने का स्थान एक हो।
- ० शब्दप्रतिबद्ध—जहां रहस्य के शब्द सुनाई पड़ते हों।

भाव प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने से ब्रह्मचर्य असुरक्षित हो जाता है, पारस्परिक लज्जा का भाव समाप्त हो जाता है, बार-बार देखने से प्रीति पुष्ट होती है। लोग उपहास करते हैं—अहो! ये साधु लोग तपोवन में रह रहे हैं। अधिकृत व्यक्ति उनके पास दीक्षित होने का निषेध करते हैं, इससे तीर्थ का व्यवच्छेद होता है।

अज्जियमादी भगिणी, जा यऽन्न सगारअब्भरहियाओ ।
 विहवा वसंति सागारियस्स पासे अदूरम्मि ॥
 बिड्ढयपय कारणम्मी, भावे सद्दम्मि पूवलियखाओ ।
 तत्तो ठाणे रूवे, काइय सविकारसद्दे य ॥
 नउई-सवाउगो वा, खट्टामल्लो अजंगमो थेरो ।
 अन्नेण उट्टुविज्जइ, भोइज्जइ सो य अन्नेणं ॥
 एयारिसम्मि रूवे, सद्दे वा संजईण जइऽणुण्णा ।
 समणण किं निमित्तं, पडिसेहो एरिसे भणिओ ॥
 मोहोदएण जइ ता, जीवविउत्ते वि इत्थिदेहम्मि ।
 दिट्ठा दोसपवित्ती, किं पुण सजिए भवे देहे ॥
 (बृभा २६१८, २६२२, २६२३, २६२७, २६२८)

दादी, नानी, भगिनी, भाभी, शय्यातर द्वारा पूजित विधवा आदि स्त्रियां शय्यातर के घर के निकट रहती हों, तो साध्वी उनके द्वारा द्रव्यतः प्रतिबद्ध शय्या में रह सकती है।

साध्वियां अपवाद रूप से कारणवश भावप्रतिबद्ध उपाश्रय में रह सकती हैं। सबसे पहले उन्हें 'पूपलिकाखादक' के शब्द-प्रतिबद्ध में, वह न हो तो क्रमशः उसी के स्थान प्रतिबद्ध, रूपप्रतिबद्ध और सविकार शब्दयुक्त प्रश्रवण प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहना चाहिए।

० पूपलिकाखादक—जो वृद्ध नब्बे या सौ वर्ष का है, जो खट्टवामल्ल है—जर्जरित देह के कारण खाट से स्वयं उठ नहीं सकता, चल नहीं सकता, दूसरे ही उसे खाट से उठाते हैं और भोजन कराते हैं।

शिष्य ने पूछा—यदि साध्वियों को ऐसे पूपलिकाखाद संबंधी शब्द या रूप से प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने की अनुज्ञा है, तो फिर निर्ग्रन्थों के लिए स्थविराप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने का निषेध क्यों? आचार्य ने कहा—मोहोदय के कारण पुरुषों की जीववियुक्त स्त्रीदेह में प्रतिसेवना की प्रवृत्ति देखी जाती है, तो फिर स्थविरा के सजीव देह के प्रति वह क्यों नहीं होगी? अतः प्रतिषेध किया गया है।

० आधाकर्मिक और स्त्रीप्रतिबद्ध शय्या : सापेक्ष दृष्टि
 एगा मूलगुणेहिं, तु अविमुद्धा इत्थि-सारिया बितिया ।
 तुल्लारोवणवसही, कारणे कहिं तत्थ वसितव्वं ॥
 अधवा गुरुस्स दोसा, कम्मे इतरी य होति सव्वेसिं ।
 जइणो तवोवणवासे, वसंति लोए य परिवातो ॥
 अधवा पुरिसाइण्णा, णातायारे य भीयपरिसा य ।
 बालासु य बुड्ढासु य, नातीसु य वज्जइ कम्मं ॥
 तम्हा सव्वाणुण्णा, सव्वनिसेहो य णत्थि समयम्मि ।
 आय-व्वयं तुलेज्जा, लाभाकंखि व्व वाणियओ ॥
 (निभा २०६३, २०६५-२०६७)

एक शय्या आधाकर्म आदि मूलगुणों से अशुद्ध है तथा दूसरी शय्या स्त्रीप्रतिबद्ध है। दोनों ही शय्याओं में रहने से तुल्य (चतुर्गुरु) प्रायश्चित्त आता है, तब हमें किस शय्या में रहना चाहिए?

ऐसा प्रसंग होने पर आधाकर्मिक शय्या में रहना उचित है क्योंकि आधाकर्मिक शय्या में रहने पर केवल गुरु ही प्रायश्चित्त के भागी होते हैं, सब नहीं और स्त्रीप्रतिबद्ध शय्या में रहने वाले सब साधु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। लोक में परिवाद होता है। लोग कह सकते हैं—यतिजन तपोवन में वास करते हैं।

अथवा ऐसी स्त्रीप्रतिबद्ध शय्या में भी रहा जा सकता है, जो पुरुषबहुल हो। वे पुरुष शीलसम्पन्न हों, भीतपरिषद् हों—ऐसे प्रभावशाली पुरुष हों, जिनके कारण परिवार के सदस्य गलत कार्य करने से डरते हों। स्त्रियां शीलसम्पन्न हों। वहां बाल और वृद्ध हों तथा साधु के ज्ञातिवर्ग से सम्बद्ध व्यक्ति हों। ऐसी स्थिति में आधाकर्म शय्या वर्जनीय है।

निर्ग्रन्थप्रवचन में किसी वस्तु की सर्वथा अनुज्ञा और सर्वथा निषेध नहीं है। साधक को लाभ के आकांक्षी वणिक् की भांति आय-व्यय की तुलना/समीक्षा कर जहां अधिकतम गुणसम्प्राप्ति हो, उसी का उपयोग करना चाहिए।

० अप्रतिबद्ध शय्या की गवेषणा, प्रतिबद्ध-यतना
अद्धाणनिग्गयादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो दव्वपडिबद्धे ॥
.....अद्धाण-वास-सावय-तेणेसु व भावपडिबद्धे ॥
पासवण मत्तएणं, ठाणे अन्नत्थ चिलिमिली रूवे।
सञ्जाए ज्ञाणे वा, आवरणे सदकरणे वा ॥
(बृभा २५८९, २६०३, २६११)

मार्ग से गुजरते हुए मुनि पहले तीन बार द्रव्य और भाव से अप्रतिबद्ध उपाश्रय की गवेषणा करें। उसके न मिलने पर गीतार्थ यतना से द्रव्य प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहें।

मार्गवर्ती साधुओं को अन्य वसति की प्राप्ति न हो, निरन्तर वर्षा गिर रही हो, ग्राम के बाहर चोर और श्वापदों का उपद्रव हो, तो भाव प्रतिबद्ध वसति में रहा जा सकता है।

प्रश्रवण प्रतिबद्ध उपाश्रय में मात्रक के माध्यम से प्रश्रवण का परिष्ठापन करे। स्थान प्रतिबद्ध में अन्यत्र जाकर बैठे। रूप प्रतिबद्ध में यवनिका का उपयोग करे। शब्द प्रतिबद्ध उपाश्रय में स्वाध्याय और ध्यान में उपयुक्त रहे, ध्यानलब्धि सम्पन्न न हो तो कानों को अंगुलि आदि से बन्द कर ले। अथवा तीव्र स्वर से उच्चारण करे, जिससे गृहस्थ के शब्द सुनाई न दें।

११. सदोष शय्या से हानि, निर्दोष शय्या दुर्लभ
ते सीदितुमारद्धा, संजमजोगेसु वसहिदोसेणं।
गलइ जत्तुं तप्पंतं, एव चरित्तं मुणेयव्वं ॥
(बृभा २४६२)

साधु दोषपूर्ण वसति के कारण संयमयोगों में विषण्ण हो जाता है। उसका चारित्र राग-रूपी अग्नि से तप्त होने पर उसी प्रकार पिघल जाता है, जैसे अग्नि से तप्त लाक्षा।

सिय णो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे णो य खलु सुद्धे इमेहिं पाहुडेहिं, तं जहा—छायणओ, लेवणओ, संथा-दुवारपिहणओ..... ॥.....

प्रासुकः—आधाकर्मादिरहितः प्रतिश्रयो दुर्लभः, उंछ इति छादनाद्युत्तरगुणदोषरहितः.....मूलोत्तरगुणादोषरहितत्वेनैषणीयो भवति ॥.....
(आचूला २/४४ वृ)

प्रासुक—आधाकर्म आदि दोषों से रहित, उंछ—छादन आदि उत्तरकरण के दोषों से रहित तथा एषणीय—मूलकरण-उत्तरकरण के दोषों से रहित शय्या दुर्लभ है।

प्राभृतों के कारण शय्या अशुद्ध हो जाती है। जैसे—साधु के उद्देश्य से वसति का छादन और लेपन करना, संस्कारक-भूमि को सम करना, द्वार के कपाट लगवाना आदि।

१२. विविक्त शय्या की गवेषणा

...उवस्सयं...सइत्थियं सखुडुं सपसुभत्तपाणं...णो ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेतेज्जा ॥ (आचूला २/२०)

मुनि स्त्री, बाल, पशु और भक्तपान से युक्त उपाश्रय में स्थान, शय्या और निषद्या न करे।

देउलियअणुणवणा, अणुणविए तम्मि जं च पाउग्गं ॥.....

...सा प्रायेण ग्रामादीनां बहिर्भवति, साधुभिश्चोत्सर्गतो बहिः स्थातव्यम्, देवकुलिका च विविक्तावकाशा भवति, अतः प्रथमतस्तस्या अनुज्ञापना कर्त्तव्या। (बृभा १४९६ वृ)

मुनि सामान्यतः गांव के बाहर रहे। देवकुलिका प्रायः गांव के बाहर एकांत स्थान में होती है। अतः मुनि सर्वप्रथम उसकी आज्ञा ले। वह सुलभ न हो तो गांव के भीतर उपाश्रय की अन्वेषणा करे, अनुज्ञा ले और प्रायोग्य स्थान में रहे।

१३. गृहकार्य का निवेदन : मुनि द्वारा अस्वीकृति
जोतिस-णिमित्तमादी, छंदं गणियं व अम्ह साधेत्या।
अक्खरमादी डिंभे, गाधेस्सह अजतणा सुणणे ॥

णवि जोइसं ण गणियं, ण अक्खरेण वि य किंचि रक्खामो ।
अप्पस्सगा असुणगा, भातणखंभोवमा वसिमो ॥
(बृभा ३३३७, ३३६५)

गृहस्थ शय्यागवेषक मुनि से कहता है—आप हमें ज्योतिष, निमित्त, छन्दशास्त्र और गणित का ज्ञान दें तथा हमारे बच्चों को लिपिविज्ञान, व्याकरण आदि पढायें तो यहां रह सकते हैं। अमीतार्थ इन बातों को स्वीकार कर लेते हैं—यह अनुज्ञापना-अयतना है। साधु गृहस्वामी से स्पष्ट कहें—

हम न तो ज्योतिष, गणित या अक्षरविज्ञान सिखायेंगे और न घर आदि की सुरक्षा करेंगे। भाजन, स्तंभ आदि की तरह हम व्यापार से मुक्त होकर रहेंगे। घर में कोई हानिप्रद दृश्य देखते हुए भी अपश्यक की तरह रहेंगे। कोई कहेगा कि शय्यातर को अमुक बात कह देना, उसे सुनते हुए भी हम अश्रोता की तरह रहेंगे।

१४. शय्या-प्रवेश-प्रमार्जन विधि

पडिलेहण संधारग, आयरिए तिन्नि सेस एक्केक्कं ।
विंटियउक्खेवणया, पविसइ ताहे य धम्मकही ॥
उच्चारे पासवणे, लाउअनिल्लेवणे अ अच्छणाए ।
करणं तु अणुन्नाए, अणणुन्नाए भवे लहुओ ॥
(बृभा १५७४, १५७५)

क्षेत्रप्रत्युपेक्षक मुनि सबसे पहले आचार्य के लिए तीन संस्तारकभूमियों (निवात, प्रवात, निवात-प्रवात) की तथा शेष साधुओं के लिए रत्नाधिक के क्रम से एक-एक संस्तारकभूमि की प्रत्युपेक्षा कर उन्हें अर्पित करते हैं। सब अपने-अपने स्थान पर अपने उपकरणों की गठरी स्थापित करते हैं, उसके बाद धर्मकथी मुनि कथा सम्पन्न कर उपाश्रय में प्रवेश करता है। क्षेत्रप्रत्युपेक्षक मुनि शय्यातर के द्वारा अनुज्ञात भूमि निवेदित करते हैं—उच्चार-प्रस्रवण-परिष्ठापन, पात्र-प्रक्षालन, निर्लेपन, स्वाध्याय आदि के लिए अमुक-अमुक भूमि अनुज्ञात है। अनुज्ञात भूमि में कार्य करने से भगवान की आज्ञा की आराधना होती है। अननुज्ञात स्थान में कार्य करने वाला मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।

दोण्णि उ पमज्जणाओ, उदुम्भि वासासु ततियमज्जण्णे ।
वसहि बहुसो पमज्जति, अतिसंघट्टं तहिं गच्छे ॥
(निभा ३१३४)

मुनि वसति का ऋतुबद्धकाल में दो बार—पूर्वाह्न और अपराह्न में तथा वर्षाकाल में तीन बार प्रमार्जन करे। तीसरी बार है मध्याह्न। जीव-संसक्त वसति का बहुत बार प्रमार्जन करे। जीवों का अति संघट्टन हो तो अन्यत्र चले जाना चाहिए।

१५. सचित्र शय्या में रहने का निषेध

“उवस्सयं” आइण्णसंलेक्खं णो पण्णस्स णिक्ख-
मणपवेसाए णो पण्णस्स वायण-पुच्छण-परियट्टणाणुपेह-
धम्माणुओग-चिंताए, तहप्पगारे उवस्साए णो ठाणं वा,
सेज्जं वा, णिसीहियं वा चेतेज्जा ॥ (आचूला २/५६)

जो उपाश्रय स्त्री-पुरुषों से आकीर्ण हो, चित्रकर्मयुक्त हो, वहां प्राज्ञ मुनि निष्क्रमण और प्रवेश न करे। प्राज्ञ के वाचना, प्रच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मानुयोग और धर्मचिंता के लिए वह स्थान उपयुक्त नहीं है, वैसे उपाश्रय में स्थान, शय्या और निषद्या न करे।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सच्चित्तकम्मे
उवस्साए वत्थए ॥ (क १/२०)

साधु-साध्वियां चित्रकर्मयुक्त उपाश्रय में न रहें।

० चित्रों के आधार पर सदोष-निर्दोष स्थान

तरु गिरि नदी समुद्रो, भवणा वल्ली लयावियाणा य ।
निहोस चित्तकम्मं, पुनकलस-सोत्थियाई य ॥
तिरिय-मणुय-देवीणं, जत्थ उ देहा भवति भित्तिकया ।
सविकार निव्विकारा, सदोस चित्तं हवइ एयं ॥
(बृभा २४२९, २४३०)

जिस प्रतिश्रय में वृक्ष, पहाड़, नदी, समुद्र, भवन, वल्लियों और लताओं के निकुंज तथा पूर्ण कलश, स्वस्तिक आदि मंगल वस्तुओं के रूप आलिखित हों, वह प्रतिश्रय निर्दोष है।

जिस उपाश्रय की भित्ति पर देवियों, महिलाओं तथा तिर्यज्व स्त्रियों के विकार पैदा करने वाले या निर्विकार रूप आलेखित हों, वह उपाश्रय सदोष है।

१६. विषम शय्या में समता

“समा वेगया सेज्जा भवेज्जा, विसमा वेगया सेज्जा

भवेज्जा, पवाता...णिवाता वेगया सेज्जा भवेज्जा, ससरक्खा...
अप्पससरक्खा...सदंस-भसगा...अप्पदंसमसगा...सपरिसाडा
...अपरिसाडा...सउवसग्गा...णिरुवसग्गा...तहप्पगाराहिं
सेज्जाहिं संविज्जमाणाहिं पग्गहिततरागं विहारं विहरेज्जा,
णो किंचिवि गिलाएज्जा ॥ (आचूला २/७६)

कभी शय्या (मकान) सम मिलती है, कभी विषम, कभी हवादार और कभी निर्वात, कभी रजों से युक्त और कभी नीरज, कभी डांस-मच्छरों से युक्त और कभी डांस-मच्छरों से रहित, कभी जीर्ण-शीर्ण और कभी सुदृढ़, कभी उपसर्गसहित और कभी निरुपसर्ग—मुनि उस प्रकार की संविद्यमान शय्याओं को ग्रहण कर उनमें समभावपूर्वक रहे, किंचित् भी खेदखिन्न न हो।

.....सज्झायस्सणुवरोहि जइयव्वं ।
समविसमादीएसु य, समणेणं निज्जरट्टाए ॥
(आनि ३२७)

स्वाध्याय में उपरोध—बाधा उत्पन्न न करने वाली शय्या सम हो या विषम, निर्जरार्थी श्रमण को उसमें रहना चाहिये।

१७. गृहान्तर-निषद्या : निषेध एवं अपवाद

नो कप्पइ...अंतरगिहंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्ठित्तए वा निदाइत्तए वा पयलाइत्तए वा, ...आहारमाहारेत्तए, उच्चारं वा पासवणं वा...परिट्टवेत्तए, सज्झायं वा करेत्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउस्सगं वा ठाणं ठाइत्तए ॥...वाहिए जराजुण्णे तवस्सी दुब्बले किलंते...एवं से कप्पइ अंतर-गिहंसि चिट्ठित्तए... ॥ (क ३/२१, २२)

पौसंति ओसहाइं, ओसहदाता व तत्थ असहीणो ।...
वासामु व वासंते, अणुण्णवित्ताण तत्थण्णाबाहे ।
अंतरगिहे गिहे वा, जयणाए दो वि चिट्ठंति ॥
पडिणीय णिवे एंते, तस्स व अंतेउरे गते फिडिए ।
वुग्गह णिव्वहणाती, वाघातो एवमादीसु ॥
(बृभा ४५६०, ४५६२, ४५६३)

निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी (भिक्षाटन करते समय) गृहस्थ के घर में ठहरना, बैठना, सोना, निद्रा लेना, ऊंघ लेना, आहार करना, मल-मूत्र आदि परिष्ठापित करना, स्वाध्याय और ध्यान करना,

कायोत्सर्ग में स्थित होना आदि क्रियाएं नहीं कर सकते।

रुग्ण, जसजीर्ण, तपस्वी, दुर्बल और क्लान्त मुनि गृहांतर में ठहर सकते हैं।

किसी रोगी के लिए औषधि पीसना हो, किसी घर से औषधि लाना हो और औषधिदाता उस समय व्यस्त हो, उसकी प्रतीक्षा करनी हो, वर्षा बरस रही हो—इन कारणों से मुनिद्वय गृहस्थ से आज्ञा लेकर उसके घर या अंतरगृह के निर्बाध स्थान में यतनापूर्वक (विकथा आदि नहीं करते हुए) ठहर सकते हैं।

गृहस्थ के घर गया हुआ मुनि प्रत्यनीक राजा और राजा के अन्तःपुर को आता हुआ देखकर—जब तक ये चले नहीं जाते, तब तक अन्तरगृह में ठहर सकता है। दो व्यक्ति विग्रह करते हुए आ रहे हों, वर-वधू की शोभयात्रा आ रही हो अथवा गायकमंडलियां गीत गाती हुई आ रही हों तो मुनि अन्तरगृह में ठहर सकता है।

० अंतरगृह में धर्मकथा निषिद्ध

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहंसि जाव चउगाहं वा पंचगाहं वा आइक्खित्तए...नण्णात्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा एगगाहाए वा एगसिलोएण वा । से वि य ठिच्चा, नो चेव णं अट्ठिच्चा ॥ (क ३/२३)

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी भिक्षाटन करते समय गृहस्थ के घर में चार या पांच गाथाओं का आख्यान नहीं कर सकते। आवश्यक होने पर केवल एक दृष्टान्त, एक प्रश्नव्याकरण, एक गाथा या एक श्लोक द्वारा खड़े-खड़े धर्मकथा कर सकते हैं, बैठकर नहीं।

१८. शय्या-संस्तारक का निर्वचन और प्रकार

शेरतेऽस्यामिति शय्या—वसतिः, सैव संस्तारकः शय्यासंस्तारकः । (बृभा २९२४ की वृ)

सेज्जासंधारो या, सेज्जा वसही उ थाण संधारो ।...
शय्या—वसतिस्तस्यां यत् स्थानं—शयनयोग्या-
वकाशलक्षणं स शय्यासंस्तारक उच्यते । (बृभा ४३६८ वृ)

सिज्जा संधारो या, परिसाडी अपरिसाडि मो होइ ।...
(बृभा ४५९९)

.....नीहारिमो अणीहारिमो य... ॥
(बृभा ४६१०)

जिसमें शयन किया जाता है, वह शय्या—वसति है और वही संस्तारक है। शय्या में जो शयनयोग्य स्थान—अवकाश है, वह शय्यासंस्तारक कहलाता है।

शय्या अथवा संस्तारक के दो प्रकार हैं—१. परिशाटी—तृण आदि का संस्तारक। २. अपरिशाटी—फलक आदि का संस्तारक।

अथवा संस्तारक के दो प्रकार हैं—

१. निर्हारिम—जिसे अन्यत्र ले जाकर सौंपा जाए।

२. अनिर्हारिम—जिसे अन्यत्र न ले जाया जाए।

० शय्या और संस्तारक में भेद-अभेद

स्ववंगिया उ सेज्जा, बेहत्थद्धं च होति संथारो।

अहसंधडा व सेज्जा.....॥

(निभा १२१७)

शय्या सर्वांगिकी—शरीरप्रमाण होती है, संस्तारक ढाई हाथ का होता है। अथवा जो यथासंस्तृत (पृथ्वीशिला, काष्ठशिला)—अचल है, वह शय्या और जो चल है, वह संस्तारक है।

शय्या सर्वाङ्गिकी संस्तारकोर्धतृतीयहस्तदीर्घहस्त-
चत्वार्यङ्गुलानि विस्तीर्णः। (व्य ८/३ की वृ)

शय्या शरीरप्रमाण तथा संस्तारक ढाई हाथ लम्बा और एक हाथ चार अंगुल चौड़ा होता है।

११. शय्या-संस्तारककल्पिक : ग्रहणविधि

उग्गम-उप्यायण-एसणाहिं सुद्धं गवेसए वसहिं।...

पढिय सुध गुणियमगुणिय, धारमधार उवउत्तो परिहरति।...

(बृभा ६०१, ६०२)

जो उद्गम, उत्पाद और एषणा के दोषों का परिहार कर शुद्ध शय्या की गवेषणा करता है, जिसने आचारचूला के 'शय्या' नामक अध्ययन को पढ़ा हो, सुना हो, वह अध्ययन गुणित (अत्यंत अभ्यास से आत्मसात्) हो या अगुणित, धारित हो या अधारित, फिर भी जो मुनि उसमें उपयुक्त होकर सूत्रोक्त विधि से शय्या का परिभोग करता है, वह शय्याकल्पिक है।

रक्खण गहणे तु तहा, सेज्जाकप्यो उ होइ दुविहो उ।...

तम्हा खलु अब्बाले, अगिलाणे वत्तमप्यमत्ते य।

कप्पइ य वसहिपालो, धिइमं तह वीरियसमत्थो॥

दुविहकरणोवघाया, संसत्ता पच्चवाय सिज्जविही।
जो जाणति परिहरिउं, सो गहणे कप्पितो होति॥
पुढवि दग अगणि हरियग, तसपाण सागरियादि संसत्ता।

बंधवयआदि-दंसणविराहिगा पच्चवाया उ॥

(बृभा ५४२, ५६६, ५८०, ५८८)

शय्याकल्पिक के दो प्रकार हैं—

१. रक्षणकल्पिक—बाल आदि वसति की रक्षा नहीं कर सकते, अतः जो बाल और ग्लान नहीं है, प्रमत्त (निद्रालु और कथाव्यसनी) नहीं है, गीतार्थ, धृतिमान्, वीर्यसम्पन्न और समर्थ है, उसे वसतिपाल के रूप में नियुक्त किया जा सकता है।

२. ग्रहणकल्पिक—जिसमें वसतिग्रहण की योग्यता है। वसति तीन दोषों से दूषित हो सकती है—१. द्विविध करणोपहता—मूलकरण और उत्तरकरण (गृहनिर्माण संबंधी आरंभ) से उपहता। २. संसक्ता—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति, त्रस प्राणी और गृहस्थों से संयुक्त। ३. प्रत्यपाया—ब्रह्मचर्य आदि व्रतों की तथा सम्यक्त्व की विराधना में हेतुभूत।

गहणं च जाणएणं, सेज्जाकप्यो उ जेण समधीतो।

उस्सगगववातेहिं, सो गहणे कप्पिओ होति॥

अणुण्णवणाय जतणा, गहिते जतणा य होति कायव्वा।

अणुण्णवणाएँ लद्धे, बेत्ति पडिहारियं एयं॥

कास पुणउप्येव्वो, बेत्ति ममं जाधे तं भवे सुण्णो।

अमुगस्स सो वि सुन्नो, ताधे घरम्मि ठवेज्जाहि॥

(व्यभा ३४१४, ३४१५, ३४१७)

जिसने शय्याकल्प को सम्यक् रूप से पढ़ लिया है, जो उत्सर्ग-अपवाद मार्ग को जानता है, वह ग्रहणकल्पिक है।

अनुज्ञापना और ग्रहणकाल—दोनों में यतना करनी चाहिए। अनुज्ञा प्राप्त होने पर मुनि गृहस्थ से कहे—हम इस संस्तारक को प्रातिहारिक के रूप में ग्रहण करेंगे (प्रयोजन सम्पन्न होने पर लौटा देंगे)—यह अनुज्ञापना यतना है। मुनि पुनः गृहस्थ से पूछे—कार्य सम्पन्न होने पर इसे किस लौटाना है? वह कहता है—मुझे ही सौंप देना, मेरी अनुपस्थिति में अमुक व्यक्ति को लौटा देना, वह भी न मिले तो घर के अमुक स्थान में रख देना—यह ग्रहण यतना है।

२०. शय्या-संस्तरक प्रतिमा

.....इमाहिं चउहिं पडिमाहिं संधारगं एसित्तए ॥

“पढमा पडिमा—से भिक्खू उदिसिय-उदिसिय संधारगं जाएज्जा, तणं वा, कुसं वा, ॥ अहावरा दोच्चा पडिमा—
“पेहाए संधारगं जाएज्जा” ॥तच्चा पडिमा—“जस्सुवस्साए संवसेज्जा, ते तत्थ अहासमण्णागाए, तं जहा—इक्कडे वा कडिणे वा.....तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा, णेसज्जिए वा विहरेज्जा..... ॥चउत्था पडिमा.....अहा-संधडमेव संधारगं जाएज्जा, तं जहा—पुढविसिलं वा, कडुविसिलं वा.....तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा, णेसज्जिए वा विहरेज्जा..... ॥ (आचूला २/६२-६६)

भिक्षु चार प्रतिमाओं से संस्तरक की एषणा करे—

१. पहली प्रतिमा—भिक्षु नामोल्लेखपूर्वक संस्तरक की याचना करे, जैसे—तृण, कुश आदि का संस्तरक।
२. दूसरी प्रतिमा—संस्तरक को देखकर उसकी याचना करे।
३. तीसरी प्रतिमा—भिक्षु जिस उपाश्रय में रहे, इक्कड, कडिण तृण आदि यथासमन्वागत—वहीं विद्यमान हों, तो स्वामी से आज्ञापूर्वक उन्हें प्राप्त कर उनका उपयोग करे, यदि वहां प्राप्त न हों तो उत्कुटुक या नैषद्यिक आसन में रात्रि बिताए।
४. चतुर्थ प्रतिमा—यथासंस्तृत संस्तरक की याचना करे, जैसे—पृथ्वीशिला, काष्ठशिला। यथासंस्तृत संस्तरक मिले तो ग्रहण करे, न मिले तो उत्कुटुक या नैषद्यिक आसन में रात बिताए।

.....चतसूभिः ‘प्रतिमाभिः’ अभिग्रह-विशेषभूताभिः संस्तरकमन्वेष्टुं, ताश्चेमाः—उद्विष्ट-प्रेक्ष्य-तस्यैव-यथा-संस्तृतरूपाः, तत्रोद्विष्टा फलहकादीनामन्यतमद् ग्रहीष्यामि नेतरदिति प्रथमा, यदेव प्रागुद्विष्टं तदेव द्रक्ष्यामि ततो ग्रहीष्यामि नान्यदिति द्वितीया, तदपि यदि तस्यैव शय्यातरस्य गृहे भवति ततो ग्रहीष्यामि नान्यत आनीय तत्र शयिष्य इति तृतीया, तदपि.....यदि यथासंस्तृतमेवास्ते ततो ग्रहीष्यामि नान्यथेति चतुर्थी प्रतिमा। आसु च प्रतिमास्वाद्ययोः प्रतिम-योगच्छनिर्गतानामग्रहः उत्तरयोरन्यतरस्यामभिग्रहः, गच्छान्त-गंतानां तु चतस्रोऽपि कल्पन्ते.....गच्छान्तर्गतो निर्गतो वा यदि वसतिदातैव संस्तरकं प्रयच्छति ततो गृह्णाति, तदभावे

उत्कुटुको वा निषण्णो वा पद्मासनादिना सर्वरात्रमास्ते.....।

(आचूला २/६२-६६ की वृ)

भिक्षु चार प्रतिमाओं—अभिग्रहविशेषों से संस्तरक का अन्वेषण करे। वे प्रतिमाएं ये हैं—

१. उद्विष्ट—प्रथम प्रतिमा का पालन करने वाला मुनि निश्चय करता है कि मैं उद्विष्ट (नामोल्लेखपूर्वक संकल्पित) फलहक आदि संस्तरक मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।
२. प्रेक्ष्य—इसमें मुनि निश्चय करता है कि मैं उद्विष्ट संस्तरक में दृष्ट को ही ग्रहण करूंगा, अदृष्ट को नहीं।
३. गृहस्थित—मैं उद्विष्ट संस्तरक यदि शय्यातर के घर में होगा तो ग्रहण करूंगा, दूसरे स्थान से लाकर उस पर नहीं सोऊंगा।
४. यथासंस्तृत—मैं उद्विष्ट संस्तरक—शयनयोग्य शिलापट्ट आदि सहज ही बिछा हुआ मिलेगा तो सोऊंगा, अन्यथा नहीं।

गच्छनिर्गत (जिनकल्पी आदि) मुनि प्रथम दो प्रतिमाओं से संस्तरक ग्रहण नहीं करते, अंतिम दो में से एक का अभिग्रह करते हैं। गच्छवासी चारों प्रतिमाओं से ग्रहण कर सकते हैं।

मुनि गच्छवासी हो या गच्छनिर्गत, यदि शय्यादाता संस्तरक देता है तो उसे ग्रहण करता है, अन्यथा पूरी रात उत्कुटुकासन अथवा पद्मासन आदि निषद्याओं में स्थित रहता है।

२१. यथारालिक क्रम से शय्याग्रहण

कप्पइ निगंथाण वा निगंथीण वा अहाराइणियाए सेज्जा-संधारए पडिगाहित्तए ॥ (क ३/१९)

साधु-साध्वियां यथारालिक—बड़े-छोटे के क्रम से शय्यासंस्तरक—स्थान-बिछौना ग्रहण करें।

२२. संस्तरक-फलक-ग्रहण क्यों?

.....तणेसु, देस गिलाणे य उत्तमट्टे य। चिक्खल्ल-पाण-हरिते, फलगाणि वि कारणज्जाते ॥ असिवादिकारणगता, उवधी कुत्थण अजीरगभया वा। अज्जुसिरमसंधिऽबीए, एक्कमुहे..... ॥ गेलण्ण उत्तिमट्टे, उस्सग्गेणं तु वत्थसंधारो।..... वासासु अपरिसाडी, संधारो सो अवस्स घेतत्त्वो।.....

(व्यभा ३३९५, ३३९६, ३३९९, ३४११)

तृणसंस्तारक तथा फलक-ग्रहण के कारण—

० अशिव आदि कारणों से मुनि जब ऐसे प्रदेश में चला जाता है, जहां वर्षारत्र में जल की प्रचुरता रहती है। जलप्लावित व शीतल भूमि के कारण उषधि कुथित हो सकती है, अजीर्ण का भय रहता है, वहां अवश्य तृण ग्रहण करने चाहिये।

० कीचड़, कुंधु आदि प्राणियों से संसक्त भूमि, हरितकाय आदि कारणों से संस्तारक-फलक ग्राह्य हैं।

० ग्लान और अनशनप्रतिषण्न के लिए सामान्यतः वस्त्रमय संस्तारक हो, जिससे कोमलता के कारण उसे समाधि मिल सके। वस्त्रसंस्तारक के अभाव में अङ्गुषिर, संधि व बीजों से रहित तथा एकमुखी कुश, वच्चक आदि तृणों का उपयोग करना चाहिए।

० वर्षा में फलकरूप संस्तारक अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

२३. वृद्धावास आदि के योग्य शय्या-संस्तारक

से अहालहुसगं सेज्जासंधारगं गवेसेज्जा, जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिज्ज जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए, एस मे हेमंतगिम्हासु भविस्सइ ॥...एस मे वासावासासु भविस्सइ ॥...चउयाहं वा पंचाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए, एस मे वुद्धावासासु भविस्सइ ॥ (व्य ८/२-४)

काले जा पंचाहं, परेण वा खेत जाव बत्तीसा।

अप्पडिहारी ॥ (व्यभा ३४७५)

मुनि इतने हल्के शय्यासंस्तारक की गवेषणा करे कि जिसे एक हाथ से उठाकर एक, दो या तीन दिन तक मार्ग में वहन किया जा सके तथा जो हेमन्त-ग्रीष्म और वर्षाकाल के प्रायोग्य हो।

वृद्धावास के लिए ऐसे अप्रातिहार्य शय्यासंस्तारक की गवेषणा करनी चाहिए, जिसे बत्तीस योजन की दूरी से तथा चार, पांच या उससे अधिक दिनों में भी लाया जा सके।

२४. प्रातिहारिक संस्तारक-प्रत्यर्पण विधि

नो कप्पइ...पाडिहारियं सेज्जा-संधारयं आयाए अप्पडिहट्टु संपव्वइत्तए ॥ नो कप्पइ...सागारियसंतियं सेज्जा-संधारयं आयाए अविकरणं कट्टु संपव्वइत्तए ॥

प्रतिहारः—प्रत्यर्पणं तमर्हतीति प्रातिहारिकम् ॥...अवि-

करणं नाम यत् साधुना करणं कृतम्—तृणानां प्रस्तरणं, कम्बिकानां बन्धनं फलकस्य स्थापनम्। (क ३/२५, २६ वृ)

.....विकरण पासुद्धं वा, फलग तणेसुं तु साहरणं ॥
(बृभा ४६१२ वृ)

निर्ग्रन्थ प्रातिहारिक शय्यासंस्तारक को ग्रहण कर कार्य सम्पन्न होने पर उसे उसके स्वामी को सौंपे बिना संप्रव्रजन—ग्रामांतर विहार नहीं कर सकते। जो प्रत्यर्पणीय—लौटाने योग्य वस्तु है, वह प्रातिहारिक कहलाती है।

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी शय्यातर के शय्यासंस्तारक को ग्रहण कर प्रयोजन पूर्ण होने पर उसका विकरण किए बिना विहार नहीं कर सकते। साधु के द्वारा जो कृत है, वह अविकरण है। जैसे—तृणों का प्रस्तरण करना, कम्बिकाओं को बांधना आदि।

जो शय्यासंस्तारक शय्यातर के घर में जहां से जिस प्रकार से लिया था, उसे वहीं उसी प्रकार से रखना, जैसे—फलक को एक पार्श्व में रखना या ऊंचा करके रखना, तृणों को इकट्ठा करना, कम्बिकाओं के बंधन को खोलना—यह विकरण है। (वस्तु को यथावस्थित रूप में सौंपने से गृहस्थ के मन में साधु के प्रति प्रीति और प्रतीति उत्पन्न होती है, भविष्य में उस वस्तु की प्राप्ति सहज होती है और अचौर्य महाव्रत का पालन होता है।)

से भिक्खू...अभिकंखेज्जा संधारगं पच्चप्पिणित्तिए। सेज्जं घुण संधारगं...सअंडं सपाणं सब्बीअं सहरियं...मक्कडासंताणगं तहप्पगारं संधारगं णो पच्चप्पिणेज्जा ॥...अप्पंडं...तहप्पगारं संधारगं पडिलेहिय-पडिलेहिय, पमज्जिअपमज्जिय, आयाविय-आयाविय, विणिद्धुणिय-विणिद्धुणिय तओ संजयामेव पच्चप्पिणेज्जा ॥

(आचूला २/६८, ६९)

भिधु संस्तारक को उसके स्वामी को प्रत्यर्पित करना चाहे और वह संस्तारक यदि अंडे, जीवजन्तु, बीज, हरित और मकड़ी के जालों से युक्त हो तो उस प्रकार के संस्तारक को न लौटाये। यदि वह संस्तारक अंडे आदि से रहित हो तो उसका धीमे-धीमे बार-बार प्रतिलेखन कर, प्रमार्जन कर, धूप में आतापित कर, अच्छी तरह से झाड़कर यतनापूर्वक उसके स्वामी को सौंपे।

शय्यातर—शय्यादाता, वसति या उपाश्रय देने वाला।

१. शय्यातर कौन ?	
२. शय्यातर के पर्यायवाची नाम	
३. शय्यातर का नाम-गोत्र.....	
४. अनेक शय्यातरों में एक का निर्धारण	
५. अवग्रह की अनुज्ञा किससे ?	
* शय्या अवग्रह की सात प्रतिमा	
* शय्यातर का क्षेत्रावग्रह	द्र अवग्रह
६. पथ में भी शय्यातर, चक्षु शय्यातर	
* गोष्ठीपुरुष और शय्यातर.....	द्र गोष्ठी
७. शय्यातर-अशय्यातर कब ? अनादेश-आदेश	
८. शय्यातरपिंड के प्रकार	
○ तृण आदि शय्यातरपिंड नहीं	
* शय्यासंस्तारक प्रतिमा	द्र शय्या
९. शय्यातरपिंड और अतिथि, भागीदार आदि	
१०. शय्यातरपिंड कहीं भी अनुज्ञात क्यों नहीं ?	
* शय्यातरपिंड अवस्थितकल्प	द्र कल्पस्थिति
११. शय्यातर द्वारा पृच्छा : कब ? कितने ?	
१२. शय्यातर की निश्रा-अनिश्रा	
१३. साध्वी के शय्यातर की अर्हता	

१. शय्यातर कौन ?

सेज्जायरो पभू वा, पभुसंदिद्वो व होइ कायव्वो।
एगमणोगे व पभू, पभुसंदिद्वे वि एमेव॥
(बृभा ३५२५)

उपाश्रय का स्वामी अथवा उस स्वामी के द्वारा संदिष्ट व्यक्ति शय्यातर होता है। स्वामी एक भी हो सकता है, अनेक भी हो सकते हैं। इसी प्रकार स्वामी के द्वारा संदिष्ट व्यक्ति भी एक या अनेक हो सकते हैं।

२. शय्यातर के पर्यायवाची नाम

सागारियस्स णामा, एगट्ठा णाणवज्जणा पंच।
सागारिय सेज्जायर, दाता य तरे धरे चेव॥
अगमकरणादगारं, तस्सहजोगेण होइ सागारी।
सेज्जाकरणे सेज्जाकरो उ दाता तु तदाणा॥

गोवाइऊण वसहिं, तत्थ वि ते यावि रक्खिउं तरइ।
तद्दाणेण भवोघं, च तरति सेज्जातरो तम्हा॥
जम्हा धारइ सिज्जं, पडमाणिं छज्ज-लेपमाईहिं।
जं वा तीए धरेती, नरगा आरं धरो तम्हा॥
(बृभा ३५२१-३५२४)

शय्यातर के नाना व्यंजन वाले पांच एकार्थक नाम हैं—

१. सागारिक—अगार (गृह) के साथ जिसका योग होता है। घर अगम—वृक्ष-काष्ठ से निर्मित होने के कारण अगार कहलाता है।
२. शय्याकर—जो शय्या—प्रतिश्रय का निर्माण करता है।
३. शय्यादाता—जो शय्या—वसति देता है।
४. शय्यातर—जो वसति का संरक्षण करने में समर्थ है, अथवा वहां स्थित साधुओं की आपदाओं से रक्षा करने में समर्थ है। अथवा शय्या के दान से संसार-प्रवाह को तर जाता है।
५. शय्याधर—जो जीर्ण-शीर्ण वसति का छादन, लेपन आदि करता है। अथवा शय्यादान द्वारा स्वयं को नरक से बचा लेता है।
(स्थानदान संयम साधना का महान् उपकारी तत्त्व है। इस संदर्भ में एक प्राचीन श्लोक है—

धृतिस्तेन दत्ता मतिस्तेन दत्ता, गतिस्तेन दत्ता सुखं तेन दत्तम्।
गुणश्रीसमालिङ्गितेभ्यो वरेभ्यो, मुनिभ्यो मुदा येन दत्तो निवासः॥
जिसने गुणश्रीसम्पन्न मुनिवरों को प्रसन्नता से निवास स्थान दिया है, उसने उन्हें धृति, मति, गति और सुख दिया है।)

३. शय्यातर का नाम-गोत्र.....

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जस्सुवस्सए संवसेज्जा, तस्स पुव्वामेव णाम-गोयं जाणेज्जा। तओ पच्छा तस्स गिहे णिमंतेमाणस्स अणिमंतेमाणस्स वा असणं वा पाणं वा.....णो पडिगाहेज्जा॥
(आचूला २/४८)

वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी जिसके उपाश्रय में रहे, उस शय्यातर का नाम-गोत्र (और घर) पहले ही जान ले। तत्पश्चात् उसके घर में निर्मात्रित किए जाने पर या न किए जाने पर उसके अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को ग्रहण न करे।

४. अनेक शय्यातरों में एक का निर्धारण

एगे सागारिए पारिहारिए, दो तिण्णि चत्तारि पंच

सागारिया पारिहारिया, एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसे
निच्चिसेज्जा ॥ (क २/१३)

सङ्गेहिं वा वि भणिया, एग ठवेत्ताण णिच्चिसे सेसे ।
गणदेउलमादीसु व..... ॥

गिण्हंति वारएणं, अणुग्गहत्थीसु जह रुई तेसिं ।.....
(बृभा ३५८३, ३५८४)

एक गृहस्वामी पारिहारिक—भिक्षाग्रहण की दृष्टि से परिहर्तव्य होता है। एक सागारिक की तरह दो, तीन, चार या पांच सागारिक पारिहारिक होते हैं। कारणवश या श्रद्धालुओं द्वारा निवेदन किए जाने पर अनेक शय्यातरों में से एक को शय्यातर स्थापित कर शेष घरों में भिक्षार्थ प्रवेश किया जा सकता है।

जब मुनि बहुजनसाधारण देवकुल, सभा आदि में ठहरे, तब एक को शय्यातर स्थापित कर शेष का आहार ग्रहण करे। यदि वे सभी शय्यातर के लाभ को प्राप्त करना चाहते हों, तो उन सबकी रुचि के अनुसार बारी-बारी से उनको शय्यातर स्थापित करे।

५. अवग्रह की अनुज्ञा किससे ?

विहवधूया नातिकुलवासिणी सावि ताव ओग्गहं
अणुण्णवेयव्वा किमंग पुण पिया वा भाया वा पुत्ते वा पहेवि
ओग्गहे ओगेण्हियव्वे ॥ (व्य ७/२५)

आदेस-दास-भइए, तिरिक्क-जामातिए य दिण्णा उ ।
अस्सामि मास लहुओ, सेस पभूणुग्गहेणं वा ॥
गहपति गिहवतिणी वा, अविभक्तसुतो अदिन्नकण्णा वा ।
पभवति निसिद्धविहवा, आदिट्टे वा सयं दाउं ॥
(व्यभा ३३४६, ३३४८)

जो विधवा पुत्री अपने पिता के घर में रहती है, उससे भी अवग्रह की आज्ञा ली जा सकती है, तो फिर पिता, भ्राता और पुत्र की आज्ञा क्यों नहीं ली जा सकती ?

अतिथि, दास, भृतक, पृथक् घर में रहने वाले दामाद को प्रदत्त कन्या—ये सब घर के स्वामी नहीं हैं। इनसे अनुज्ञा ग्रहण करने वाला लघुमास प्रायश्चित्त का भागी होता है।

गृहपति, गृहपत्नी, अविभक्तसुत (जिसने माता-पिता से

पृथक् घर नहीं बसाया है, धन का बंटवारा नहीं किया है), अदत्तकन्या (अथवा गृहजामाता)—ये सब प्रभु हैं, अनुज्ञापनीय हैं।

विधवा दुहिता, जो घर में प्रमाणीकृत है तथा जो व्यक्ति स्वामी द्वारा आदिष्ट है, वह अप्रभु भी अनुज्ञापनीय है।

६. पथ में भी शय्यातर, यक्ष शय्यातर

पहिए वि ओग्गहं अणुण्णवेयव्वे । (व्य ७/२६)

वीसमंता वि छायाए, जं तहिं पढमं टिया ।
चिट्ठंति पुच्छिउं ते वि, पंथिए किं जहिं वसे ॥
वसंति व जहिं रत्तिं, एगाऽणेगपरिग्गहे ।
तत्तिए तु तरे कुज्जा ठावतेगमसंथरे ॥
(व्यभा ३३५२, ३३५३)

पथ में भी अवग्रह अनुज्ञापयितव्य है। वृक्ष की छाया में जो पथिक पहले से ही विश्राम कर रहे हों, उन्हें पूछकर ही वहां ठहरे। जहां वृक्ष के नीचे या अन्यत्र प्रवास करना हो, वहां अवश्य अनुज्ञापना करे। रात्रि में वहां रहना हो तो एक या अनेक, जितने पथिकों से वह स्थान या वृक्ष परिगृहीत है, उन सबको शय्यातर स्थापित करे। यदि यह संभव न हो, अपर्याप्त हो तो किसी एक को शय्यातर माने।

भूयाइपरिग्गहिते, दुमम्मि तमणुण्णवित्तु सज्जायं ।
एणेण अणुण्णविए, सो च्चेव य उग्गहो सेसे ॥
सामी अणुण्णविज्जइ, दुमस्स जस्सोग्गहो व्व असहीणे ।
जक्खो च्चिय होइ तरो, बलिमादीगिण्हणे भवे दोसा ।
सुविणे ओयरिए वा, संखडिकारावणमभिकखं ॥
(बृभा ४७७३, ४७७४, ४७७६)

जो वृक्ष व्यंतर देव द्वारा परिगृहीत है, वहां मुनि उस व्यंतर की अनुज्ञा लेकर स्वाध्याय करे। एक मुनि द्वारा अनुज्ञा प्राप्त वह अवग्रह अन्य मुनियों के लिए भी अनुज्ञात है।

मुनि वृक्ष के स्वामी की अनुज्ञा ले। स्वामी वहां न हो तो 'जिसका स्थान है, उसकी आज्ञा है'—ऐसा कहकर अनुज्ञा ले।

वह वृक्ष जिस यक्ष के द्वारा अधिष्ठित होता है, वह यक्ष ही वहां स्थित साधुओं का शय्यातर होता है। उसके लिए अर्पित बलिभूत आदि नैवेद्य शय्यातरपिण्ड है, उसे ग्रहण करना सदोष है।

अथवा यक्ष वृक्ष के स्वामी को स्वप्न में अवतीर्ण होकर कहे—मेरे उद्देश्य से तुम बार-बार भोज करोगे तो मैं तुम्हें कष्ट नहीं दूंगा।' उस भोज का भोजन शय्यातरपिंड है, अतः वह अग्रह्य है।

७. शय्यातर-अशय्यातर कब ? अनादेश-आदेश

अणुणविय उग्गहंगण, पायोग्गाणुण अतिगते ठविते ।
सज्जाय भिक्ख भुत्ते, णिक्खित्ताऽऽवासए एक्को ॥
पढमे वितिए ततिए, चउत्थ जामे व होज्ज वाघातो ।
निव्वाघाए भयणा, सो वा इतरो व उभयं वा ॥
जइ जग्गंति सुविहिया, करेति आवासगं च अण्णत्थ ।
सेज्जातरो ण होती, सुत्ते व कए व सो होती ॥
अन्नत्थ व सेऊणं, आवासग चरममण्णहिं तु करे ।
दोण्णि वि तरा भवंती, सत्थादिसु इधरथा भयणा ॥
असइ वसहीय वीसुं, वसमाणाणं तरा तु भयितव्वा ।
तत्थऽण्णत्थ व वासे, छत्तच्छयं तु वज्जेति ॥

.....एते सर्वेऽप्यनादेशाः ।.....अनुज्ञापितावग्रहादिषु
निक्षिप्तान्तेषु दिवसत एव व्याघातो भवेत्, व्याघाताच्चान्यां
वसतिमन्यद्वा क्षेत्रं गताः ततः कस्यासौ शय्यातरो भवतु?.... ।
आदेशः पुनरयम्...तत्रैव रात्रावुषितास्ततो भजना कर्त्तव्या ।
लाटाचार्याभिप्रायः...छत्रः—आचार्यस्तस्यच्छायां वर्जयन्ति,
मौलशय्यातरगृहमित्यर्थः । (बृभा ३५२७-३५३१ वृ)

शय्यातर कब होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में पन्द्रह मत-
मतान्तरों का उल्लेख प्राप्त है—

- शय्यातर तब होता है, जब शय्या की अनुज्ञा प्राप्त हो।
- जब मुनि शय्यातर के अवग्रह में प्रविष्ट हो जाते हैं।
- जब मुनि गृहस्वामी के आंगन में प्रविष्ट हो जाते हैं।
- तृण आदि प्रायोग्य वस्तु की आज्ञा प्राप्त कर लेते हैं।
- जब मुनि वसति में प्रविष्ट हो जाते हैं।
- जब उपकरण आदि स्थापित कर दिए जाते हैं अथवा
झनश्राद्ध आदि कुलों की स्थापना कर दी जाती है।
- जब वहां स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया जाता है।
- जब गुरु की आज्ञा से भिक्षा के लिए मुनि चले जाते हैं।
- जब मुनि वहां आहार करना प्रारंभ कर देते हैं।
- जब पात्र आदि वहां रख दिए जाते हैं।

- जब वहां दैवसिक प्रतिक्रमण कर लिया जाता है।
- रात्रि का प्रथम प्रहर बीत जाने पर।
- रात्रि का दूसरा प्रहर बीत जाने पर
- रात्रि का तीसरा प्रहर बीत जाने पर।
- रात्रि का चौथा प्रहर बीत जाने पर।

ये सब मतान्तर अनादेश हैं। क्योंकि अनुज्ञापित क्षेत्र में प्रविष्ट होने पर भी किसी बाधा के उपस्थित होने पर यदि मुनि दूसरी बस्ती में चले जाते हैं तो वह किसका शय्यातर होगा ?

आदेश यह है कि निर्व्याघात शय्या में रातभर रहने पर शय्यातर की भजना है—उस शय्या का स्वामी शय्यातर हो सकता है, अन्य भी हो सकता है या दोनों शय्यातर हो सकते हैं। यथा—

जो सुविहित मुनि रातभर जागते हैं और प्राभातिक आवश्यक-
प्रतिक्रमण अन्यत्र जाकर करते हैं तो मूल उपाश्रय का स्वामी शय्यातर नहीं होता। किंतु रात्रि में वहां सोते हैं अथवा प्राभातिक प्रतिक्रमण वहां करते हैं तो उस उपाश्रय का स्वामी शय्यातर होता है।

जो मुनि किसी एक स्थान में सोता है और दूसरे स्थान में जाकर प्राभातिक प्रतिक्रमण करता है तो दोनों स्थानों के गृहस्वामी शय्यातर होते हैं। यह स्थिति सार्थ आदि के साथ गमनागमन के समय होती है। अन्यथा भजना है। यथा—

बस्ती संकीर्ण होने पर कुछ साधु दूसरे घर में जाकर सोते हैं और दूसरे दिन सूत्रपौरुषी वहीं सम्पन्न कर मूल बस्ती में आते हैं तो दोनों गृहस्वामी शय्यातर हैं। लाटाचार्य के मतानुसार साधु मूल बस्ती में रहें या अन्यत्र रहें, उससे प्रयोजन नहीं है। वे छत्रछाया—आचार्य के शय्यातरगृह का वर्जन करते हैं अर्थात् जहां आचार्य रहते हैं, उस स्थान का स्वामी शय्यातर है।

.....वुत्थे वज्जेज्जऽहोरत्तं ॥ (बृभा ३५३६)

मुनि जिस वसति में रहते हैं और वहां से जिस समय निष्क्रमण करते हैं, उसके पश्चात् अहोरात्र पर्यन्त उस घर से अशन आदि ग्रहण नहीं किया जा सकता। अहोरात्र के पश्चात् उस घर का स्वामी अशय्यातर हो जाता है।

८. शय्यातरपिंड के प्रकार

दुविह चउव्विह छव्विह, अट्टविहो होति बारसविहो य ।
सेज्जातरस्स पिंडो, ॥

आहारोवहि दुविहो, बिदु अण्णे पाण ओहुवग्गहिए ।
असणादिचउर ओहे, उवग्गहे छव्विहो एस ॥
अण्णे पाणे वत्थे, पादे सूयादिया य चउरडु ।
असणादी वत्थादी, सूचादि चउक्कका तिन्नि ॥
(बृभा ३५३२-३५३४)

शय्यातरपिंड दो प्रकार का, चार प्रकार का, छह प्रकार का, आठ प्रकार का तथा बारह प्रकार का होता है ।

- ० दो प्रकार—१. आहार २. उपधि ।
- ० चार प्रकार—१. अन्न २. पान ३. औषिक उपकरण ४. औपग्रहिक उपकरण ।
- ० छह प्रकार—१. अन्न २. पान ३. खाद्य ४. स्वाद्य ५. औषिक उपकरण ६. औपग्रहिक उपकरण ।
- ० आठ प्रकार—१. अन्न २. पान ३. वस्त्र ४. पात्र ५. सूई ६. कैंची ७. नखछेदनी ८. कर्णशोधनी ।
- ० बारह प्रकार—१. अन्न २. पान ३. खाद्य ४. स्वाद्य ५. वस्त्र ६. पात्र ७. कम्बल ८. पादप्रोज्छन ९. सूई १०. कैंची ११. नखछेदनी १२. कर्णशोधनी ।

० तृण आदि शय्यातरपिंड नहीं

तण-डंगल-छार-मल्लग-सेज्जा-संथार-पीढ-लेवादी ।
सेज्जातरपिंडो सो, ण होति सेहो य सोवहिओ ॥
(बृभा ३५३५)

तृण, डेला, राख, मल्लक, शय्या-संस्तारक, पीठ-फलक, लेप आदि शय्यातरपिंड नहीं होते । यदि शय्यातर का पुत्र दीक्षित होता हो, तो उपधि सहित वह शैक्ष शय्यातरपिंड नहीं होता ।

९. शय्यातरपिंड और अतिथि, भागीदार आदि

सागारियस्स आएसे अंतो वगडाए भुंजइ निड्डिए निसडे पाडिहारिए, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥”
अपाडिहारिए, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥
सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अंतो एगययाए””अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ (व्य ९/१, २, ९, १०)

शय्यातर के घर में कोई अतिथि भोजन करता है, घर में निष्पन्न भोजन प्रातिहारिक के रूप में अतिथि को प्रदान किया

जाता है, वह भोजन साधु को दे तो साधु उसे ग्रहण नहीं कर सकता, अप्रातिहारिक आहार अतिथि से ग्रहण कर सकता है ।

शय्यातर का स्वजन उसके घर में एक या पृथक् चूल्हे पर भोजन पकाये और वह शय्यातर का उपजीवी हो तो उसके द्वारा प्रदत्त वह भोजन साधु नहीं ले सकता ।

सागारियस्स चक्कियसाला साहारणावक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥”निस्साहारणावक्कय-पउत्ताकप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ (व्य ९/१७, २०)

शय्यातर और उसके भागीदार अशय्यातर की साधारण अवक्रय प्रयुक्त तैलविक्रयशाला हो—तैलविक्रय से प्राप्त मूल्य में शय्यातर का भी विभाग हो, उस शाला में से साझीदार तैल दे तो साधु उसे नहीं ले सकता । दोनों की पृथक् अवक्रयप्रयुक्त चक्रिकशाला हो तो वहां से साधु तेल ग्रहण कर सकता है या साधु शय्यातर के साझीदार की स्वतंत्र स्वामित्व वाली वस्तु ले सकता है ।

१०. शय्यातरपिंड कहीं भी अनुज्ञात क्यों नहीं ?

तित्थंकरपडिकुट्टो, आणा अण्णाय उग्गमो ण सुद्धे ।
अविमुत्ति अलाघवता, दुल्लभ सेज्जा य वोच्छेदो ॥
पुर-पच्छिमवज्जेहिं, अवि कम्मं जिणवरेहिं लेसेणं ।
भुत्तं विदेहएहि य, ण य सागरियस्स पिंडो उ ॥
(बृभा ३५४०, ३५४१)

तीर्थकरों ने शय्यातरपिंड का निषेध किया है । उसे ग्रहण करने से आज्ञा की आराधना नहीं होती । निकटवर्ती निवास के कारण अज्ञातउच्छ नहीं होता । अन्न-पान आदि के निमित्त से बार-बार उस घर में प्रवेश करने से उद्गम भी शुद्ध नहीं होता । स्वाध्याय-श्रवण से आकृष्ट होकर शय्यातर उसे प्रणीत द्रव्य देता है तो ग्रहण-लोलुपता के कारण निर्लोभता नहीं सधती । विशिष्ट आहार के लाभ से शरीर का लाभ तथा प्रचुर वस्त्र आदि के लाभ से उपकरण का लाभ नहीं रहता । जिसने मुनियों को शय्या दी है, उसे आहार आदि भी देना है, इस भय से गृहस्थ द्वारा शय्या मिलना दुर्लभ हो जाता है अथवा उसका व्यवच्छेद हो जाता है ।

प्रथम तीर्थकर ऋषभ और अंतिम तीर्थकर महावीर के अतिरिक्त शेष बाईस तीर्थकरों तथा विदेहक्षेत्र के तीर्थकरों ने किसी एक अपेक्षा से आधाकर्म आहार की अनुज्ञा दी है (जिस साधु के

लिए आधाकर्म आहार निष्पन्न किया गया है, उसके लिए वह निषिद्ध है, शेष साधुओं के लिए वह अनुज्ञात है) किन्तु शय्यातरपिंड किसी भी तीर्थंकर द्वारा अनुज्ञात नहीं है।

११. शय्यातर द्वारा पृच्छा : कब ? कितने ?

जाव गुरूण य तुब्भ य, केवइया तत्थ सागरेणुवमा ।
केवइ कालेणेहिह, सागार ठवंति अन्ने वि॥
पुव्वहिट्ठेविच्छइ, अहव भणिज्जा हवंतु एवइआ ।
तत्थ न कप्पइ वासो, असई ख्खत्तस्सऽणुन्नाओ ॥
(बृभा १५०१, १५०२)

आप कब तक यहां रहेंगे ? शय्यातर के द्वारा ऐसा पूछे जाने पर मुनि कहते हैं—जब तक आपको और गुरु को अभीष्ट होगा। आप कितने साधु यहां रहेंगे ? यह पूछने पर मुनि कहे—हमारे गुरु सागरतुल्य हैं। (सागर कभी फैलता है, कभी संकुचित होता है। उपसम्पदाग्रहण करने पर आचार्य का शिष्यपरिवार बढ़ जाता है, उनके अन्यत्र चले जाने पर साधुओं की संख्या घट जाती है।)

आप कब आएंगे ? यह पूछने पर मुनि सविकल्प वचन का प्रयोग करते हैं—अन्य दिशाओं में भी क्षेत्रप्रत्युपेक्षक गए हुए हैं। उनके आने के बाद क्षेत्रविमर्श होने पर गुरु को यदि इष्ट होगा और कोई बाधा नहीं होगी तो इतने दिनों के बाद यहां आएंगे।

शय्यातर पूर्व दृष्ट साधुओं को चाहता है अथवा वह कहता है—परिचित या अपरिचित जो भी साधु हों पर वे इतनी संख्या में ही यहां रह सकते हैं—इस प्रकार शय्यातर के द्वारा निर्धारित करने पर मुनि वहां नहीं रह सकते। लेकिन मासकल्प प्रायोग्य दूसरा क्षेत्र नहीं होने पर वहां अनुज्ञा लेकर रह सकते हैं।

१२. शय्यातर की निश्रा-अनिश्रा

नो कप्पइ निग्गंथीणं सागारिय-अनिस्साए वत्थए ॥
कप्पइ निग्गंथाणं सागारिय-निस्साए वा अनिस्साए वा
वत्थए ॥ (क १/२२, २४)

साहू निस्समनिस्सा, कारणि निस्सा अकारणि अनिस्सा ।
निक्कारणाम्मि लहुगा, कारणे गुरुगा अनिस्साए ॥
(बृभा २४४६)

निर्ग्रथी शय्यातर की निश्रा के बिना न रहे। (साध्वीवर! मैं

आपकी सुरक्षा की चिन्ता करूंगा। आप निश्चित रहें—शय्यातर के इस अभ्युपगम को निश्रा कहा जाता है।)

निर्ग्रथ कारण से शय्यातर की निश्रा में और अकारण अनिश्रा में रहे। वह निष्कारण निश्रा में रहता है, तब चतुर्लघु तथा कारण से निश्रा में नहीं रहता है, तब चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है।

१३. साध्वी के शय्यातर की अर्हता

.....भीतपरिस मह्विदे, अज्जा सिज्जायरे भणिए ॥
भीतपर्षद् नाम यद्भयात् तदीयः परिवारो न कमप्य-
नाचारं कर्तुमुत्सहते । (बृभा ३२२५ वृ)

जो भीतपर्षद् है—जिसके भय से उसका परिवार किसी प्रकार के अनाचार-सेवन का साहस नहीं कर सकता और जो मधुरभाषी है, वह साध्वियों का शय्यातर बनने योग्य है।

शरीर — काय। पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति का माध्यम।

१. व्यक्ति के बाह्य-आभ्यन्तर लक्षण	
* द्रव्यबंध : कायप्रयोग	द्र कर्म
२. देव आदि के शरीर में लक्षण	
३. लक्षण और व्यंजन में अंतर	
* शरीरसंपदा : आरोह-परिणाह....	द्र गणिसंपदा
४. मान-उन्मान-प्रमाण पुरुष	
* शरीर और संहनन	द्र संहनन

१. व्यक्ति के बाह्य-आभ्यन्तर लक्षण

दुविहा य लक्खणा खलु, अब्भितरबाहिरा उ देहीणं ।
बहिया सर-वण्णाई, अंतो सम्भावसत्ताई ॥
बत्तीसा अट्टसयं, अट्टसहस्सं च बहुतराईं च ।
देहेसू देहीणं, लक्खणाणि सुहकम्मजणियाणि ॥

पागयमणुयाणं बत्तीसं, अट्टसयं बलदेववासुदेवाणं,
अट्टसहस्सं चक्कवट्ठित्थकराणं । जे पुट्टा हत्थपादादिसु
लक्खिज्जति तेसिं पमाणं भणियं, जे पुण अंतो स्वभावसत्तादी
तेहिं सह बहुतरा भवंति, ते य अण्णजम्मकयसुभणामसरीर-
अंगोवंगकम्मोदयाओ भवंति । (निभा ४२९२, ४२९३ चू)

मनुष्यों के दो प्रकार के शुभ लक्षण होते हैं—

- ० बाह्य लक्षण—गंभीरस्वर, प्रशस्त वर्ण आदि।
- ० आभ्यन्तर लक्षण—स्वभाव, सत्त्व (अदीनता) आदि।

सामान्य मनुष्य के बतीस, बलदेव-वासुदेव के एक सौ आठ और चक्रवर्ती तथा तीर्थकर के एक हजार आठ लक्षण होते हैं—जो शरीर के हाथ-पैर आदि अवयवों पर स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं, उनका यह परिमाण है। आभ्यन्तर लक्षणों के साथ उनकी संख्या और अधिक है। ये लक्षण पूर्वजन्मकृत शुभ शरीर अंगोपांग नामकर्म के उदय से होते हैं।

* औदारिक आदि शरीर द्र श्रीआको १ शरीर

२. देव आदि के शरीर में लक्षण

भवपच्चइया लीणा, तु लक्खणा होंति देवदेहेसु।
भवधारिणिएसु भवे, विउच्चित्तिसुं तु ते वत्ता॥
ओसण्णमलक्खणसंजुयाओ बोदीओ होंति निरएसु।
नामोदयपच्चइया, तिरिएसु य होंति तिविहा उ॥
(निभा ४२९६, ४२९७)

देवों के भवधारणीय शरीर में भवप्रत्ययिक लक्षण अव्यक्त होते हैं, उत्तरवैक्रिय शरीर में वे व्यक्त होते हैं।

नैरयिकों का शरीर एकांततः अलक्षणयुक्त होता है। तिर्यञ्चों में तीनों प्रकार के शरीर होते हैं—लक्षणयुक्त, अलक्षण-युक्त और मिश्र—ये सब नामकर्म के उदय से होते हैं।

३. लक्षण और व्यंजन में अंतर

माणुम्माणपमाणादिलक्खणं वंजणं तु मसगदी।
सहजं च लक्खणं, वंजणं तु पच्छा समुप्पण्णं॥
(निभा ४२९४)

- ० लक्षण—मान-उन्मान-प्रमाण आदि जो सहजात हैं।
- ० व्यंजन—तिल, मस आदि जो पश्चात् समुत्पन्न हैं।

(जिसके हाथ-पैरों में वज्र, शंख आदि चिह्न होते हैं, वह श्रीसम्पन्न होता है।—श्रीआको १ अष्टांगनिमित्त)

४. मान-उन्मान-प्रमाण पुरुष

जलदोगमद्धभारं, समुहाइ समुस्सितो व जा णव तु।
माणुम्माणपमाणं, तिविहं खलु लक्खणं एयं॥
(निभा ४२९५)

लक्षण के तीन प्रकार हैं—

१. मानयुक्त—जलद्रोणिक पुरुष। (द्र श्रीआको १ अंगुल)
२. उन्मानयुक्त—सारपुद्गलों से निर्मित अर्धभार तोल वाला पुरुष। (अर्धभार उन्मान प्रमाण है।—श्रीआको १ प्रमाण)
३. प्रमाणयुक्त—अपने अंगुल से बारह अंगुल का मुख होता है। नौ मुख जितना (१०८ अंगुल वाला) पुरुष।

(~~१०८ अंगुल~~ १०८ अंगुल, मध्यम पुरुष की १०४ अंगुल, अधम पुरुष की ९६ अंगुल।—अनु ३९०)

पदतल से शीर्षपर्यंत प्रामाणिक नाप

- ० चार्षिण—एड़ी से अंगुलि तक लम्बाई १४ अंगुल
- ० पदतल के अग्रभाग की चौड़ाई ६ अंगुल
- ० पैर के अंगूठे की लंबाई २ अंगुल
- ० तर्जनी अंगुलि २ अंगुल
- ० मध्यमा अंगुली से अंगूठे की लम्बाई १/१६ भाग कम
- ० अनामिका मध्यमा से १/२ भाग कम
- ० कनिष्ठिका अनामिका से १/६ भाग कम
- ० टखनों से घुटनों तक (जंघा) की लम्बाई १८ अंगुल
- ० घुटनों से ऊपरी भाग की लम्बाई २१ अंगुल
- ० कटिभाग की लम्बाई १८ अंगुल
- ० नाभि से नाभि तक कटिभाग की परिधि ४६ अंगुल
- ० पुरुष के कटिभाग की अर्द्ध परिधि १८ अंगुल
- ० स्त्री के कटिभाग की अर्द्ध परिधि २४ अंगुल
- ० लिङ्गस्थान से नाभि तक की लम्बाई १२ अंगुल
- ० नाभि से हृदय तक की लम्बाई १२ अंगुल
- ० हृदय से ग्रीवा तक की लम्बाई १२ अंगुल
- ० पृष्ठभाग में अस्थिपुच्छ से ग्रीवा तक की लम्बाई ५६ अंगुल
- ० पुरुष के वक्षः स्थल की अर्द्ध परिधि २४ अंगुल
- ० स्त्री के वक्षः स्थल की अर्द्ध परिधि १८ अंगुल
- ० मणिबंध से मध्यमा अंगुली तक की लम्बाई १२ अंगुल
- ० मणिबंध से कोहनी पर्यंत हाथ की लम्बाई १६ अंगुल
- ० कंधे से कोहनी पर्यंत भुजा की लम्बाई १८ अंगुल
- ० गर्दन की लम्बाई ४ अंगुल
- ० गर्दन की परिधि २४ अंगुल
- ० टुडूँ से ललाट की लम्बाई १२ अंगुल

० नेत्र, मुख, नासिका, कान, ललाट और

ग्रीवा की लम्बाई

४४ अंगुल

उन्मान का नाप व्यक्ति के अपने पर्वांगुल से किया जाता है। मध्यमा अंगुली का मध्य पर्व या अंगुष्ठ का मध्य पर्व अंगुल प्रमाण का मापक माना जाता है। अंगुल का परिमाण—

८ यव = १ अंगुल— $\frac{3}{8}$ इंच। २४ अंगुल = १ हाथ—१८ इंच।

उपर्युक्त अंगुल प्रमाण से एक सौ आठ अंगुल (६ फिट ९ इंच) की ऊंचाई वाला व्यक्ति उत्तम पुरुष, ९६ अंगुल (६ फिट) की ऊंचाई वाला व्यक्ति मध्यम पुरुष और ८४ अंगुल (५ फिट ३ इंच) की ऊंचाई वाला व्यक्ति अधम पुरुष माना गया है।

वर्तमान में आत्मांगुल से १०० अंगुल (६ फिट ३ इंच) की ऊंचाई श्रेष्ठ, ९२ अंगुल (५ फिट ९ इंच) की ऊंचाई मध्यम और ८४ अंगुल (५ फिट ३ इंच) की ऊंचाई निम्न मानी गई है।—अनु ३९० का टिप्पण)

शवपरिष्ठापन—मुनि के शव-परिष्ठापन की विधि।

द्र महास्थंडिल

शिष्य—अनुशासन में रहने वाला।

द्र अंतेवासी

शीतगृह—वातानुकूलित आलय।

वङ्ककीरयणणिम्मियं चक्किणो सीयघरं भवति, वासासु णिवाय-पवातं, सीयकाले सोमं, गिम्हे सीयलं.... सव्वरिउक्खमं। (निभा २७९४ की चू)

शीतघर चक्रवर्ती के वर्धकिरत्न द्वारा निर्मित होता है। वह सब ऋतुओं में अनुकूल—वर्षाऋतु में निवात-प्रवात (बरसाती हवा से अप्रभावित), शीतकाल में गर्म और ग्रीष्मकाल में ठंडा रहता है।

* संघ को शीतघर की उपमा

द्र संघ

शैक्ष—नवदीक्षित।

द्र चारित्र

श्रमण—साधु, मुनि, भिक्षु, निर्ग्रन्थ।

१. सुश्रमण कौन ?

* निर्ग्रन्थ कौन ?

द्र निर्ग्रन्थ

* जिनकल्प, यथालंद, परिहारविशुद्धि

द्र सम्बद्ध नाम

२. भिक्षु कौन ?

* भिक्षाविधि

द्र पिण्डेषणा

* श्रमण की सामाचारी

द्र स्थविरकल्प

३. श्लथ श्रमण के प्रकार : पार्श्वस्थ आदि

० पार्श्वस्थ के प्रकार

० यथाच्छंद का स्वरूप

० पार्श्वस्थ और यथाच्छंद में अंतर

० पार्श्वस्थ आदि श्रमणों का आचार

० कुशील का स्वरूप

० अवसन का स्वरूप एवं प्रकार

० संसक्त का स्वरूप

४. काथिक

० पासणिअ/पश्यक/प्राश्निक

० मामक, संप्रसारक

५. नित्यक श्रमण

६. लिंगधारक श्रेणिबाह्य : शर्कराघट दृष्टांत

* श्रामण्य का सार

द्र अधिकरण

* श्रमण की विहारविधि

द्र विहार

१. सुश्रमण कौन

अणिच्चमावासमुवेत्ति जंतुणो, पलोयए सोच्चमिदं अणुत्तरं।
विऊसिरे विण्णु अगारबंधणं, अभीरु आरंभपरिगहं चए ॥
तहागअं भिक्खुमणंतसजयं, अणेत्तिसं विण्णु चरंतमेसणं।
तुदंति वायाहि अभिह्वं णरा, सरेहि संगामगयं व कुंजरं ॥
तहप्पगारेहि जणेहि हीलिए, ससहफासा फरुसा उदीरिया।
तित्तिक्खए णाणि अदुदुवेयसा, गिरिव्व वाएण ण संपवेक्खए ॥
उवेहमाणे कुसलेहि संवसे, अकंतदुक्खी तसथावरा दुही।
अलूसए सव्वसहे महामुणी, तहा हि से सुस्समणे समाहिए ॥
विदू णते धम्मपयं अणुत्तरं, विणीयतण्हस्स मुणिसस ज्ञायओ।
समाहियस्सग्गिसिहा व तेयसा, तवो य षण्णा य जसो य वड्ढइ ॥

(आचूला १६/१-५)

प्राणी मनुष्य आदि गतियों में जिस आवास—शरीर आदि को प्राप्त होते हैं, वह अनित्य है—इस अनुत्तर अर्हत्-वचन का श्रवण कर विज्ञ और भयमुक्त मुनि पर्यालोचन—अनित्यता की अनुप्रेक्षा करे, गृहपाश का व्युत्सर्ग करे, आरंभ (हिंसा) और परिग्रह का परित्याग करे।

तथागत (अनित्यभावनाभावित और गृहत्यागी), अनंत चारित्रपर्यवों से सम्पन्न, संयत, असाधारण विज्ञ (आगमनिपुण) और शुद्ध आहार की एषणा में निरत भिक्षु को अनार्य मनुष्य असभ्य वचनों से जैसे ही व्यथित करते हैं, लोष्ट-प्रहार आदि से अभिद्रुत करते हैं, जैसे संग्राम में हाथी को बाणों से बौंथा जाता है, अभिद्रुत किया जाता है।

उस प्रकार के अनार्य मनुष्यों द्वारा तिरस्कृत होने पर, उनके द्वारा कठोर शब्दों और प्रतिकूल स्पष्टों (कष्टों) की उदीरणा किए जाने पर ज्ञानी (मुनि) अकल्पित चित्त से उन्हें सहन करे और तीव्र वायु से अप्रकंपित पर्वत की भांति अविचलित रहे।

मध्यस्थ भावना-भावित मुनि कुशल (गीतार्थ) मुनियों के साथ रहे। किसी भी त्रस और स्थावर प्राणी को दुःख प्रिय नहीं है, यह सोचकर वह सभी प्राणियों के प्रति अहिंसक रहे। जो पृथ्वी की भांति सर्वसह होता है, वह समाहित महामुनि सुश्रमण कहलाता है।

विज्ञ मुनि (क्षांति आदि) अनुत्तर धर्मपदों के प्रति समर्पित होता है। उस वितुष्ण, ध्यानलौन, समाहित (भावक्रियाप्रवण) और अग्निशिखा की भांति तेज से दीप्त मुनि के तप, प्रज्ञा और यश बढ़ता है।

“जे इमे भवंति समणा भगवंतो सीलमंता वयमंता गुणमंता संजया संवुडा बंधचारी उवरया मेहुणाओ धम्माओ, णो खलु एएसिं कप्पइ आहाकम्मिए असणे वा पाणे वा”
भोत्तए वा, पायत्तए वा।” (आचूला १/१२१)

जो ये श्रमण भगवान् शीलसम्पन्न, व्रतसम्पन्न, गुणसम्पन्न, संयत, संवृत, ब्रह्मचारी और मैथुन धर्म से उपरत होते हैं, ये आधाकर्मिक अशन-पान खा-पी नहीं सकते।

२. भिक्षु कौन ?

अविहिंस बंधचारी, पोसहिय अमज्जमंसियाऽचोरा।
सति लंभ परिच्चाई, होंति तदक्खा न सेसा उ॥
अधवा एसणासुद्धं, जथा गिष्हंति साधुणो।
भिक्षुं नेव कुलिंगत्था, भिक्षुजीवी वि ते जदि॥
अचित्ता एसणिज्जा, य मित्ता काले परिकिखता।
जहालद्धा विसुद्धा, य एसा वित्ती य भिक्षुणो॥
(व्यभा १९०, १९१, १९३)

कोई कहता है—जब तक मृगों को न देखूं, तब तक अहिंसक हूं, स्त्री न मिले तब तक ब्रह्मचारी हूं। कोई कहता है—आहार न मिले तब तक पौषधिक (उपवास-पौषधव्रती) हूं। मद्य-मांस न मिले तब तक अमद्यमांसभोजी हूं। किसी के घर छिद्र न देख लूं, तब तक अचौर्यव्रतधारी हूं—जो ऐसा कहते हैं, वे भिक्षु की अभिधा से अभिहित नहीं हो सकते।

जो वस्तु का लाभ होने पर भी अग्राह्य-अनेषणीय का परित्याग करते हैं, वे ही अहिंसक भिक्षु कहला सकते हैं।

वेषधारी भिक्षु यद्यपि भिक्षाजीवी हैं किन्तु वे साधु की भांति एषणाशुद्ध भिक्षा ग्रहण नहीं करते।

यथाकाल (दिन में) प्रासुक-एषणीय, परिमित (इकतीस कवल प्रमाण), परीक्षित, यथालब्ध (संयोजना आदि दोषों से रहित) और विशुद्ध (परिभोगकाल में आहार की प्रशंसा आदि दोषों से रहित) आहार करना—यह भिक्षु की वृत्ति है।

* द्रव्यभिक्षु-भावभिक्षु

द्र श्रीआको १ भिक्षु

३. श्लथ श्रमण के प्रकार : पार्श्वस्थ आदि

पासत्थ अहाळंदो, कुशील ओसन्नमेव संसत्तो।”
गच्छम्मि केइ पुरिसा, सउणी जह पंजरंतरनिरुद्धा।
सारण-पंजर-चइया, पासत्थगतादि विहरंति॥
(व्यभा ८३४, ८३५)

शिथिलाचारी और स्वच्छंदविहारी श्रमणों के पांच प्रकार हैं—पार्श्वस्थ, यथाच्छंद, कुशील, अवसन्न और संसक्त।

जैसे पिंजरे में निरुद्ध शकुनिका कष्ट का अनुभव करती है, वैसे ही कुछ मुनि गच्छ में रहते हुए स्मारणा-वारणा द्वारा महान् कष्ट का अनुभव करते हैं, तब वे उस गच्छ को छोड़कर पार्श्वस्थ आदि के रूप में विहार करते हैं।

० पार्श्वस्थ के प्रकार

दुविहो खलु पासत्थो, देसे सव्वे य होति नायव्वो।
सव्वे तिन्नि विकप्पा, देसे सेज्जातरकुलादी॥
दंसण-नाण-चरित्ते, तवे य अत्ताहितो पवयणे य।
तेसिं पासविहारी, पासत्थं तं वियाणाहि॥
दंसण-नाण-चरित्ते, सत्थो अच्छति तहिं न उज्जमति।
एतेण उ पासत्थो, एसो अन्नो वि पज्जाओ॥

पासो त्ति बंधणं ति य, एगट्टं बंधहेतवो पासो।
पासत्थिय पासत्थो, अन्नो वि एस पज्जाओ॥
सेज्जायरकुलनिस्सित ठवणकुलपलोयणा अभिहडे य।
पुठिं व पच्छासंशुत, णित्तियग्गपिंडभोइ य पासत्थो॥
(व्यभा ८५२-८५६)

पाशर्वस्थ के दो प्रकार हैं—देशतः और सर्वतः।

सर्वपाशर्वस्थ—इसके तीन प्रकार हैं—

१. पाशर्वस्थ—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और प्रवचन में सम्यग् आयुक्त नहीं है, जो ज्ञान आदि के पाशर्व—तट पर स्थित है।
२. प्रास्वस्थ—जो ज्ञान आदि में अवस्थित है, अनुद्यमी है।
३. पाशस्थ—पाश और बंधन एकार्थक हैं। जो बंध के हेतुभूत प्रमाद आदि पाशों में स्थित है।

देशपाशर्वस्थ—जो शय्यातरपिंडभोजी है, (जिन्होंने उसके पास सम्यक्त्व ग्रहण किया है, उन) निश्रितकुलों से, स्थापनाकुलों अथवा लोक में गृहीत कुलों से जो भिक्षा प्राप्त करता है, जो जीमनवार की प्रतीक्षा करता रहता है, अभिहृत आहार ग्रहण करता है। जो पूर्व-पश्चात्-संस्तुत—माता-पिता, श्वसुर आदि का उपजीवी है या दान से पहले-पीछे दाता की प्रशंसा करता है, जो नित्यपिंडभोजी और अग्रपिण्डभोजी है।

(पासत्थ का संस्कृत रूप केवल पाशर्वस्थ ही होना चाहिए। इसका मूलस्पर्शी अर्थ होना चाहिए—भगवान पाशर्व की परम्परा में स्थित। अर्हत् पाशर्व के अनेक शिष्य श्रमण महावीर के तीर्थ में प्रव्रजित हो गए। हमारा अनुमान है कि जो शिष्य श्रमण महावीर के शासन में सम्मिलित नहीं हुए, उन्हीं के लिए पाशर्वस्थ शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह स्पष्ट है कि महावीर के आचार की अपेक्षा पाशर्व का आचार मृदु था। जब तक शक्तिशाली आचार्य थे, तब तक दोनों परम्पराओं में सामंजस्य बना रहा। शक्तिशाली आचार्य नहीं रहे, तब पाशर्वनाथ के शिष्यों के प्रति महावीर के शिष्यों में हीन भावना इतनी बढ़ी कि पाशर्वस्थ शब्द शिथिलाचारी के अर्थ में रूढ़ हो गया।—सू १/१/३२ का टि)

० यथाच्छंद का स्वरूप

उस्सुत्तमायरंतो, उस्सुत्तं चेव यण्णवेमाणो।
एसो उ अधाच्छंदो, इच्छाच्छंदो त्ति एगट्टा॥
उस्सुत्तमणुवदिट्ठं, सच्छंदविगप्पियं अणणुवादी।...

सच्छंदमतिविगप्पिय, किंची सुहसायविगतिपडिबद्धो।
तिहि गारवेहि मज्जति, तं जाणाहि य अधाच्छंदं॥
अहच्छंदस्स परूवण, उस्सुत्ता दुविध होति नायव्वा।
चरणेसु गतीसुं जा॥
सागारियादि पलियंक निसेज्जा सेवणा य गिहिमत्ते।
निग्गंथिचिट्ठणादि, पडिसेहो मासकप्पस्स॥
खेत्तं गतो उ अडविं, एक्को संचिकखती तहिं चेव।
तित्थकरो त्ति य पियरो, खेत्तं पुण भावतो सिद्धी॥
जिणवयणसव्वसारं, मूलं संसारदुक्खमोक्खस्स।
सम्पत्तं मइलेत्ता, ते दुग्गतिवड्ढुगा होति॥
(व्यभा ८६०-८६३, ८६७, ८७१, ८७२)

जो स्वयं उत्सूत्र का आचरण करता है और दूसरों के समक्ष उत्सूत्र की ही प्ररूपणा करता है, वह यथाच्छंद या इच्छाच्छंद कहलाता है। जो तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट नहीं है, स्वेच्छाकल्पित है, सिद्धांत के साथ घटित नहीं है, वह उत्सूत्र है।

जो स्वच्छंद मति से विकल्पित का प्रज्ञापन कर लोगों को आकृष्ट कर लेता है, जो सुखस्वादु, विकृति-रसों में प्रतिबद्ध तथा ऋद्धि, रस और साता गौरव से उन्मत्त होता है, वह यथाच्छंद है।

यथाच्छंद की उत्सूत्र प्ररूपणा के दो विषय हैं—

१. चरणसंबंधी—जैसे—शय्यातरपिंड, पर्यक, गृहनिषेधा और गृहिपात्र—इनके सेवन में कोई दोष नहीं है। साध्वी के उपाश्रय में अवस्थिति उचित है। मासकल्प से अधिक रहने में दोष नहीं है।
२. गतिसंबंधी—तीन भाई हैं—एक खेती करता है, एक देशांतर में चला जाता है, एक घर पर ही रहता है। गृहपति पिता की मृत्यु होने पर सम्पत्ति का विभाग तीनों को मिलता है। इसी प्रकार आपके (सुविहित मुनियों के) और हमारे पिता तीर्थकर हैं। आपको मुक्ति मिलेगी तो हमें भी मुक्ति मिल जायेगी, आपकी गति ही हमारी गति है। इस प्रकार प्ररूपणा करने वाले यथाच्छंदक सम्यक्त्व को मलिन कर अपनी दुर्गति बढ़ाने वाले होते हैं। सम्यक्त्व ही जिनवाणी का सार और दुःखमुक्ति का मूल है।

० पाशर्वस्थ और यथाच्छंद में अंतर

सक्कमहादीया पुण, पासत्थे ऊसवा मुणेयव्वा।
अधच्छंद ऊसवो पुण, जीए परिसाय उ कधेति॥
जधि लहुगो तधि लहुगा, जधि लहुगा चउगुरू तधि ठाणे।...

....पासत्थे जं भणियं, अहच्छंद विवद्धियं जाणे ॥

प्रायश्चित्तं....कस्माद् विवर्धितं....प्रतिषिद्धसेवनात्
कुप्ररूपणाया बहुदोषत्वाद्। पार्श्वस्थत्वं त्रयाणामपि सम्भवति,
तद्यथा—भिक्षोर्गणावच्छेदिन आचार्यस्य च। यथाच्छन्दत्वं
पुनर्भिक्षोरेव। (व्यभा ८७३-८७५ वृ)

० उत्सव—पार्श्वस्थ के मान्य उत्सव हैं—इन्द्रमह, स्कन्दमह,
रुद्रमह आदि। यथाच्छंद का उत्सव है उसकी परिषद्, जिसके
समक्ष वह स्वच्छंद विकल्पित कुमत की प्ररूपणा करता है।

० प्रायश्चित्त—पार्श्वस्थ को जिस अपराधपद में जितना प्रायश्चित्त
आता है, उसी अपराधपद में यथाच्छंद का प्रायश्चित्त वृद्धिगत हो
जाता है। यथा—पार्श्वस्थ को मासलघु तो यथाच्छंदक को चतुर्लघु
और पार्श्वस्थ को चतुर्लघु तो यथाच्छंद को चतुर्गुरु।

यथाच्छंद की प्रायश्चित्तवृद्धि का हेतु है—आगमविरुद्ध
आचरण और बहुदोषयुक्त कुमत की प्ररूपणा।

पार्श्वस्थता भिक्षु, गणावच्छेदी और आचार्य—इन तीनों के
संभव है। यथाच्छंद केवल भिक्षु ही हो सकता है।

० पार्श्वस्थ आदि श्रमणों का आचार

ओसन्न खुद्यायारो, सबलायारो य होति पासत्थो।
भिन्नायारकुसीलो, संसत्तो संकिलिट्ठो उ ॥
(व्यभा १५२२)

१. अवसन्न—आवश्यक आदि में अनुद्यमी क्षत (अपूर्ण) आचार
वाला होता है।

२. पार्श्वस्थ—उद्गम आदि दोषयुक्त आहार आदि सेवन करने
वाला शबलाचारी होता है।

३. कुशील—जाति आदि से जीविका चलाने वाला भिन्नाचारी
(खंडित चारित्र वाला) होता है।

४. संसक्त—संसर्गवश स्थापित आदि का भोजी संक्लिष्ट आचार
वाला होता है।

(पार्श्वस्थ आदि तीन श्रेणियों में विभक्त हैं—

१. उत्कृष्ट दूषित—यथाच्छंद। ये उत्सूत्र प्ररूपणा करते हैं।
२. मध्यम दूषित—पार्श्वस्थ आदि। ये महाव्रत-समिति-गुप्तियों
में अनेक दोष लगाते हैं।
३. जघन्य दूषित—काथिक आदि। ये सामान्य स्वलना करते हैं।)

० कुशील का स्वरूप

.....दंसण-नाण-चरित्ते, तिविध कुसीलो मुणेयव्वो ॥
नाणे नाणायारं, जो तु विराधेति कालमादीयं ॥
दंसणे दंसणायारं, चरणकुसीलो इमो होति ॥
कोउगभूतीकम्मे, पसिणाऽपसिणे निमित्तमाजीवी ॥
कक्क-कुरुया य लक्खण, उवजीवति मंत-विज्जादी ॥
जाती कुले गणे या, कम्मे सिण्णे तवे सुते चेव ॥
सत्तविधं आजीवं, उवजीवति जो कुसीलो सो ॥
(व्यभा ८७७-८८०)

कुशील के तीन प्रकार हैं—१. ज्ञानकुशील—काल, विनय
आदि आठ प्रकार के ज्ञानाचार की विराधना करने वाला।

२. दर्शनकुशील—दर्शनाचार का विराधक।

३. चरणकुशील—जो कौतुक (इन्द्रजाल आदि द्वारा आश्चर्य में
डाल देना), भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, आजीव, कल्ककुरुका
(माया अथवा प्रसूति रोग आदि में क्षारपातन), लक्षण, मंत्र, विद्या
आदि से जीवनयापन करता है, वह चरणकुशील है।

* कौतुक, भूतिकर्म आदि : आभियोगी भावना द्र भावना

० आजीव—जो जाति (मातृकी), कुल (पैतृक), गण (मल्ल
गण आदि), कर्म (अनाचार्यक), शिल्प, तप और श्रुत—जीवनयापन
के लिए इन सातों का उपजीवी है, वह चरणकुशील है।

० अवसन्न श्रमण का स्वरूप एवं प्रकार

सामायारिं वितहं, ओसण्णो जं च पावती तत्थ ॥.....

.....जं वा मूलुत्तरगुणातियारं जत्थ किरियाविसेसे
पयट्ठो पावति तं अण्णिंदंतो अणालोयंतो पच्छित्तं अकरंतो
ओसण्णो भवति। (निभा ४३४९ चू)

जो सामाचारी से विपरीत आचरण करता है, मूलगुण-
उत्तरगुणों में लगे अतिचारों की निंदा, आलोचना और प्रायश्चित्त
नहीं करता, वह अवसन्न (बहुतर दोषसेवी) है।

दुविधो खलु ओसण्णे, देसे सव्वे य होति नायव्वो।
देसोसण्णो तहियं, आवासादी इमो होति ॥
आवस्सग-सज्झाए, पडिलेहण-झाण-भिक्ख भत्तट्ठे।
आगमणे निग्गमणे, ठाणे य निसीयण तुयट्ठे ॥

आवस्सगं अणियतं, करेति हीणातिरिक्तविचारीयं।.....
जध उ बइल्लो बलवं, भंजति समिलं तु सो वि एमेव।
गुरुवयणं अकरेतो, वलाति कुणती च उस्सोदुं॥
उउबद्धपीढफलगं, ओसन्नं संजयं वियाणाहि।
ठवियग-रइयगभोई, एमेया पडिवत्तीओ ॥

.....स्थापनादोषदुष्टप्राभृतिकाभोजी, रचितकं नाम
कांस्यपात्रादिषु पटादिषु वा यदशनादि देयबुद्ध्या वैविकत्थे
स्थापितम्....। (व्यभा ८८२-८८६ वृ)

अवसन्न के दो प्रकार हैं—

१. देश अवसन्न—जो आवश्यक आदि क्रियाओं में जागरूक नहीं होता, आवश्यक नियतकाल में नहीं करता अथवा हीन-अतिरिक्त या विपरीत करता है तथा स्वाध्याय, प्रतिलेखना, ध्यान, भिक्षा और मण्डलीभोजन यथाविधि-यथासमय नहीं करता, प्रत्याख्यान और तपस्या नहीं करता। जो उपाश्रय से बाहर जाते समय आवस्सई और लौटते समय निस्सही का उच्चारण नहीं करता, कायोत्सर्ग, उपवेशन और शयन के समय प्रत्युपेक्षा-प्रमार्जना नहीं करता या सम्यक् रूप से नहीं करता।

जैसे बलवान् बैल को प्रेरित करने पर वह अपनी दुःशीलता के कारण समिला को तोड़ देता है। इसी प्रकार अवसन्न मुनि गुरुवचनों को संपादित नहीं करता, सहन नहीं करता, रुष्ट हो अवांछित अनर्गल बोलता है।

२. सर्वअवसन्न—जो हर पक्ष में पीठ-फलक आदि के बंधनों को खोलकर प्रतिलेखना नहीं करता अथवा जो संस्तारक को सदा फैलाये-बिछाये रखता है, जो स्थापितभोजी और रचितभोजी है। ये सारी सर्वअवसन्नविषयक प्रतिपत्तियां हैं।

० स्थापितभोजी—स्थापनादोषदूषित प्राभृतिकाभोजी।

० रचितभोजी—जो आहार देयबुद्धि से कांस्यपात्र, पट आदि में पृथक् स्थापित होता है, उसे खाने वाला।

० संसक्त का स्वरूप

गोभत्तलंदो विव, बहुरूवनडोव्व एल्लगो चेव।
संसत्तो सो दुविधो, असंकिल्लिट्ठो व इत्तो य॥
पासत्थ-अधाछंदे, कुसील-ओसणमेव संसत्ते।
पियधम्मो पियधम्मे, असंकिल्लिट्ठो उ संसत्तो ॥

पंचासवप्पवत्तो, जो खलु तिहि गारवेहि पडिबद्धो।
इत्थि-गिहिसकिल्लिट्ठो, संसत्तो सो य नायव्वो ॥
(व्यभा ८८८-८९०)

जैसे अलिंदक में गोभक्त—कुक्कुस, ओदन, अवश्रावण आदि मिले हुए होते हैं, रंगभूमि में प्रविष्ट नट कथा के अनुसार बहुत से रूप बनाता है, लाक्षारस में निमग्न एडक लोहितवर्ण वाला और गुलिका कुण्ड में निमग्न एडक नीलवर्ण वाला हो जाता है, वैसे ही संसक्त साधु जिसके साथ मिलता है, उसी के सदृश हो जाता है। उसके दो प्रकार हैं—

१. असंकिल्लिट्ठ—जो पार्श्वस्थ में मिलकर पार्श्वस्थ, यथाच्छंद में यथाच्छंद, कुशील में कुशील, अवसन्न में अवसन्न और संसक्त में संसक्त हो जाता है, उनके सदृश आचरण करता है तथा प्रियधर्मियों में मिलकर प्रियधर्मा बन जाता है।

२. संकिल्लिट्ठ—जो हिंसा आदि पांच आश्रवों में प्रवृत्त है, ऋद्धि-रस-सात-गौरव, स्त्री और गृही—इनमें प्रतिबद्ध है।

४. काथिक

आहारादीणऽट्ठा, जसहेउं अहव पूयणनिमित्तं।
तक्कम्मो जो धम्मं, कहेति सो काहिओ होति॥
कामं खलु धम्मकहा, सञ्जायस्सेव पंचमं अंगं।
अव्वोच्छित्तीइ ततो, तित्थस्स पभावणा चेव॥
तह वि य ण सव्वकालं, धम्मकहा जीइ सव्वपरिहाणी।
नाउं व खेतकालं, पुरिसं च पवेदते धम्मं॥
(निभा ४३५३-४३५५)

जो आहार, वस्त्र आदि की प्राप्ति, यश-प्राप्ति और वंदना-पूजा के निमित्त धर्मकथा करता है, सूत्र-अध्ययन आदि को छोड़कर केवल उसी में लगा रहता है, वह काथिक/कथावाचक है।

यह सही है कि धर्मकथा स्वाध्याय का ही पांचवां भेद है। उससे तीर्थ की अव्यवच्छिन्ति और प्रभावना होती है। फिर भी हर समय धर्मकथा नहीं करनी चाहिए क्योंकि जिससे वाचना, प्रतिलेखना, वैयावृत्त्य आदि सब संयमयोगों की परिहानि होती है। क्षेत्र, काल और पुरुष को जानकर यथोचित धर्मकथा करणीय है।

० पासणिअ/पश्यक/प्राश्निक

जणवयववहारेसु णडणट्ठादिसु वा जो पेक्खणं करेति
सो पासणिओ। (नि १३/५८ की चू)

जो लौकिक विवादों में साक्षी होता है अथवा नाटक-नृत्य आदि का प्रेक्षण करता है, वह पासणिअ/प्रेक्षणिक है।

(० पासणिअ—साक्षी—देशीनाममाला ६/४१।

० प्रेक्षणिका—तमाशा देखने की शौकीन स्त्री।—आप्टे)

लोइयववहारेसू, लोए सत्थादिएसु कज्जेसु।
पासणियत्तं कुणती, पासणिओ सो य णायव्वो॥
साधारणे विरेगं।.....
छंदणिरुत्तं सद्धं, अत्थं वा लोइयाण सत्थाणं।
भावत्थाए य साहति, छलियादी उत्तरे सउणे॥
(निभा ४३५६-४३५८)

जो लौकिक व्यवसाय और व्यवहार के संबंध में निर्णय देता है, एक जैसी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का विभाजन तथा दो प्रतियोगियों के विवाद का निपटारा करता है, छंद, निरुक्त, व्याकरण आदि लौकिक शास्त्रों के सूत्र, अर्थ और भावार्थ का प्रतिपादन करता है, अर्थशास्त्र, शृंगारकथा, शकुनशास्त्र आदि की व्याख्या करता है, वह प्राश्निक है।

(प्राश्निक—परीक्षक। निर्णायक। मध्यस्थ।—आप्टे)

० मामक, संप्रसारक

आहार उवहि देहे, वीयार विहार वसहि कुल गामे।
पडिसेहं च ममत्तं, जो कुणति मामतो सो उ॥
....., ममाई निक्कारणोवयति॥
अस्संजयाण भिक्खू, कज्जे अस्संजमप्पवत्तेसु।
जो देती सामत्थं, संपसारओ सो य णायव्वो॥
गिहिणिव्खमणपवेसे, आवाह विवाह विक्कय कए वा।
गुरुलाघवं कहेंते, गिहिणो खलु संपसारीओ॥
(निभा ४३५९-४३६२)

० मामक—जो आहार, उपधि, देह, विचारभूमि, विहारभूमि, शय्या, कुल, ग्राम—इन सब पर ममत्व करता है और दूसरों को इन सबके ग्रहण का निषेध करता है तथा स्थान आदि में आसक्त होकर उनकी निष्कारण प्रशंसा करता है, वह मामक/माप्ताक है।

० संप्रसारक—जो गृहस्थों की असंयममय प्रवृत्तियों का पर्यालोचन करता है, उन्हें समर्थन देता है, उनको परामर्श देता है, यात्रा के लिए घर से निष्क्रमण और पुनः प्रवेश का मुहूर्त बताता है,

आवाह (वरपक्षसंबंधी भोज अथवा नवोढा का श्वसुरगृह में प्रवेश), विवाह आदि का मुहूर्त बताता है, यह द्रव्य बेचो, यह खरीदो, इसमें लाभ होगा, इसमें हानि होगी—ऐसा सावद्य आदेश-निर्देश करता है, वह संप्रसारक है।

५. नित्यक श्रमण

दव्वे खेत्ते काले, भावे णित्थियं चउव्विहं होति।.....
चाउम्मासातीत्तं, वासाणुदुबद्ध मासतीत्तं वा।
बुद्धावासातीत्तं, वसमाणे कालतोऽणित्थिते॥
.....त्तं आलंबणरहितो, सेवतो होति णित्थिओ उ॥
(निभा १०१०, १०१६, ४३५२)

जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव संबंधी सीमा का अतिक्रमण कर शय्या आदि का नित्य परिभोग करता है, वह नित्यक है।

जो वर्षाकाल में चातुर्मासिक कल्प और ऋतुबद्धकाल में मासकल्प की मर्यादा का अतिक्रमण कर निरंतर एक क्षेत्र में रहता है, वह काल नित्यक है। वृद्धवास, वृद्धसेवा आदि कारणों से एक स्थान पर रहने वाला नित्यक नहीं कहलाता। निष्कारण नित्य एक स्थान पर रहने वाले को नित्यक कहा जाता है।

६. लिंगधारक श्रेणिबाह्य : शर्कराघट्ट दृष्टांत

लिंगेण निग्गतो जो, पागडलिंगं धरेइ जो समणो।
किध होइ णिग्गतो त्ति य, दिट्ठंतो सक्करकुडेहिं॥
दाउं हिट्ठा छारं, सव्वत्तो कंटियाहि वेडित्ता।
सकवाडमणाबाधे, पालेति तिसंझमिक्खंतो॥
मुइं अविह्वंतीहिं कीडियाहिं स चालणी चेव।
जज्जरितो कालेणं, पमायकुडए निवे दंडो॥
निवसरिसो आघरित्तो, लिंगं मुहा उ सक्करा चरणं।
पुरिसा य हांति साहू, चरित्तदोसा मुयिंगाओ॥
(बृभा ४५१६-४५१९)

शिष्य ने पूछा—जो श्रमण मुनि-लिंग को छोड़ देता है, वह संयम श्रेणी से बाह्य है। परन्तु जो मुनि-लिंग को धारण किए हुए है, वह श्रेणी से बाह्य कैसे?

आचार्य ने दृष्टांत देते हुए कहा—एक बार एक राजा ने शक्कर से भरे हुए दो घड़ों पर मुद्रा लगाकर उन्हें दो पुरुषों को

सौंपते हुए कहा—इनकी सुरक्षा करना, मांगने पर लौटा देना। एक पुरुष ने उस घट के नीचे राख लगाकर, उसे कंटिकाओं से वेष्टित कर कषाटयुक्त निर्बाध प्रदेश में रख दिया और तीनों संध्याओं में उसकी देखभाल करता रहा। दूसरे पुरुष ने शर्कराघट को कीटिकानगर के पास स्थापित कर दिया। शक्कर की गंध से समागत चींटियों ने मुद्रा को विद्रवित नहीं किया, नीचे से घट को चालनी कर दिया और उस जर्जरित बने घट में से सारी शक्कर खा डाली। कुछ समय पश्चात् राजा ने घड़े मंगवाये। प्रथम पुरुष को पुरस्कृत किया, दूसरे पुरुष को प्रमाद करने के कारण दण्डित किया। इसी प्रकार मुद्रा रूपी मुनि-लिंग होने पर भी प्रमादयुक्त साधु का शक्कर रूपी चारित्र अपराध रूप चींटियों से नष्ट हो जाता है। जो संयमश्रेणी में आरूढ़ होता है, वह यदा-कदा प्रमाद करके भी संभल जाता है।

श्रावक—सम्यग्दृष्टि। व्रती द्र संज्ञी
* प्रतिमाधारी श्रावक द्र उपासकप्रतिमा

श्रुतज्ञान—शब्द, शास्त्र, संकेत, प्रकम्पन आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान।

१. श्रुत के कर्ता कौन ? * श्रुतज्ञान : परोक्षज्ञान	द्र ज्ञान
२. श्रुतज्ञान के हेतु	
३. द्रव्यश्रुत-भावश्रुत	
४. अक्षरश्रुत का एक भेद : संज्ञाक्षर	
५. अक्षर-उपलब्धि-अनुपलब्धि : संज्ञी-असंज्ञी	
६. अक्षर-अनक्षरश्रुत की पूर्वता	
७. सपर्यवसित श्रुत : देवभव में श्रुतग्रंथों की स्मृति * गमिक-अगमिक श्रुत	द्र आगम
८. तित्थोगाली में पूर्व-विच्छेद-विवरण * उत्थानश्रुत आदि का अतिशय * स्वप्नभावना ग्रंथ	द्र स्वाध्याय द्र स्वप्न
९. सूत्रग्रहण-प्रतिबोध : गज-श्लीपदी दृष्ट्यांत	
१०. बारह वर्ष सूत्रग्रहण, बारह वर्ष अर्थग्रहण	
११. सूत्र-अर्थ-कल्पिक : आर्यवज्र दृष्ट्यांत	

१२. आगम-वाचना में संयमपर्याय की कालमर्यादा o संयमपर्याय की कालमर्यादा क्यों ? * उत्कम से आगमवाचना का निषेध * अपरिणामक-वाचना के अयोग्य * छेदसूत्रपठन के योग्य	द्र वाचना द्र अंतेवासी द्र छेदसूत्र
१३. श्रुत का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा-काल * सर्वश्रुत का अनुयोग * आगाढ-अनागाढयोग : स्वाध्यायभूमि * जिनकल्प, परिहारतप, पारांचित, प्रतिमा और स्थविरकल्प में श्रुतअर्हता	द्र अनुयोग द्र स्वाध्याय द्र सम्बद्ध नाम
१४. जीव में श्रुत की भजना o अकेवली भी केवलीतुल्य * गीतार्थ और केवली : प्रज्ञप्ति में तुल्य * चतुर्दशपूर्वी की विलक्षणताएं o श्रुतज्ञान तृतीयनेत्र	द्र गीतार्थ द्र आगम
१५. श्रुत को प्रमाण मानने वाला प्रमाणभूत * श्रुतसम्पदा * आचार्य की अवज्ञा से श्रुत की हानि * श्रुत व्यवहार का स्वरूप	द्र गणिसम्पदा द्र आचार्य द्र व्यवहार
१६. श्रुतग्रहण हेतु वृद्धवास की अनुज्ञा * ज्ञानहेतु उपसम्पदा	द्र उपसम्पदा
१७. श्रुत-स्वाध्याय की निष्पत्ति * श्रुतपरावर्तन से कालज्ञान	द्र जिनकल्प
१८. अप्रमाद से श्रुतज्ञान की वृद्धि	

१. श्रुतज्ञान के कर्ता कौन ?

तं पुण केण कतं तू, सुतनाणं जेण जीवमादीया।
नज्जंति सव्वभावा, केवलनाणीण तं तु कतं॥
(व्यंभा ४०४९)

वह श्रुतज्ञान किसके द्वारा कृत है, जिसके बल पर परोक्षज्ञानी भी प्रत्यक्षज्ञानी की भांति जीव, अजीव आदि सभी भावों को जान लेते हैं? वह केवलज्ञानी द्वारा कृत है।

२. श्रुतज्ञान के हेतु

मतिविसयं मतिनाणं, मतिपुव्वं पुण भवे सुयन्नाणं।
तं पुण समतिसमुत्थं, परोवदेसा व सव्वं पि॥

मतिज्ञानं 'मतिविषयं' मत्यनुसारि, यस्य यादृशी मतिस्तस्य तदनुसारं मतिज्ञानं प्रवर्तते। 'मतिपूर्व' मति-कारणकम्, श्रुतज्ञानं हि वाच्यवाचकभावेन शब्दप्लावित-स्यार्थस्य ग्रहणम्, वाच्यवाचकभावेन च शब्दः प्रवर्तते मत्यवधारितेऽर्थे। 'स्वमतिसमुत्थं प्रत्येकबुद्धानां पदानुसारि-प्रज्ञानां वा, परोपदेशसमुत्थमस्मदादीनाम्। (बृभा ४१ वृ)

मतिज्ञान मतिविषयक-मत्यनुसारी है—जिसकी जैसी मति होती है, उस मति के अनुसार उसका मतिज्ञान प्रवर्तित होता है। श्रुत मतिपूर्वक होता है—मतिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण है। वाच्यवाचक भाव से शब्दप्लावित अर्थ का ग्रहण श्रुतज्ञान है। वाच्य-वाचक संबंध से मति से अवधारित अर्थ में शब्द प्रवृत्त होता है। सम्पूर्ण मूल भेदों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है—

१. स्वमतिसमुत्थ—अपनी मति से उत्पन्न, जैसे—प्रत्येकबुद्धों अथवा पदानुसारी प्रज्ञा वालों का श्रुतज्ञान।
२. परोपदेशसमुत्थ—गुरु आदि के उपदेश से प्राप्त श्रुतज्ञान, जैसे—हमारा श्रुतज्ञान।

३. द्रव्यश्रुत-भावश्रुत

द्वयसुयं पत्तग-पुत्थएसु जं पढइ वा अणुवउत्तो।
आगम-नोआगमओ, भावसुयं होइ दुविहं तु॥
आगमओ सुयनाणी, सुओवउत्तो य होइ भावसुयं।
सो सुयभावाऽणन्तो, सुयमवि उवओगओऽणन्नं॥
जं तं दुसत्तगविहं, तमेव नोआगमो सुयं होइ।
सामित्तासंबद्धं, समिईसहियस्स वा जं तु॥
(बृभा १७५-१७७)

द्रव्यश्रुत—इसके दो रूप हैं—१. पत्र-पुस्तकों में न्यस्त अक्षर। २. उपयोगरहित अवस्था में पढ़ना।

भावश्रुत—इसके दो प्रकार हैं—

१. आगमतः भावश्रुत—श्रुतज्ञान में उपयुक्त श्रुतज्ञानी। श्रुतज्ञानी श्रुतभाव से अनन्य है तथा श्रुत भी उपयोग से अनन्य है।
२. नोआगमतः भावश्रुत—श्रुत के चौदह भेद। वे भेद स्वामित्व से असंबद्ध, स्वतंत्र हैं। अथवा समिति सहित उपयोगवान् व्यक्ति का जो श्रुत है, वह भी नोआगमतः भावश्रुत है।

* श्रुतज्ञान के चौदह भेद

द्र श्रीआको १ श्रुतज्ञान

४. अक्षरश्रुत का एक भेद : संज्ञाक्षर

संठाणमगाराई, अप्पाभिप्पायतो व जं जस्स।.....
(बृभा ४४)

अकार आदि अक्षरों के (लिपिभेद के कारण) विविध संस्थान—आकार (यथा—अर्धचन्द्राकृति टकार, घटाकृति टकार) अथवा स्वाभिप्रायकृत चिह्नविशेष संज्ञाक्षर है।

५. अक्षर-उपलब्धि-अनुपलब्धि : संज्ञी-असंज्ञी

अच्चंता सामन्ना, य विस्सुती होइ अणुवलद्धीओ।
सारिक्ख विवक्खोभय, उवमाऽऽगमतो य उवलद्धी॥
अत्थस्स दरिसणम्मि वि, लद्धी एगंततो न संभवइ।
ददुं पि न याणंते, बोहिय पंडा फणस सनू॥
अत्थस्स उगहम्मि वि, लद्धी एगंततो न संभवति।
सामन्ना बहुमज्जे, मासं पडियं जहा ददुं॥
अत्थस्स वि उवलंभे, अक्खरलद्धी न होइ संव्वस्स।
पुव्वोवलद्धमत्थे, जस्स उ नामं न संभरति॥
सारिक्ख-विवक्खेहि य, लभति परोक्खे वि अक्खरं कोइ।
सबलेर-बाहुलेरा, जह अहि-नउला य अणुमाणे॥
एगत्थे उवलद्धे, कम्मि वि उभयत्थ पच्चओ होइ।
अस्सतरि खर-ऽस्साणं, गुल-दहियाणं सिहरिणीए॥
पुव्वं पि अणुवलद्धो, घिप्पइ अत्थो उ कोइ ओवम्मा।
जह गोरेवं गवयो, किंचिविसेसेण परिहीणो॥
अत्तागमप्यमाणेण अक्खरं किंचि अविसयत्थे वि।
भवियाऽभविया कुरवो, नारग दियलोय मोक्खो य॥
ओसन्नेण असन्नीण अत्थलंभे वि अक्खरं नत्थि।
अत्थो च्चिय सन्नीणं, तु अक्खरं निच्छए भयणा॥
(बृभा ४६-५४)

अक्षर-अनुपलब्धि के तीन प्रकार हैं—

१. अत्यन्त अनुपलब्धि—पदार्थ को देखने पर भी उसके वाचक अक्षरों की उपलब्धि एकान्ततः नहीं होती। जैसे—बोधक (पश्चिमदिग्वासी म्लेच्छ) पनस को और पांडुमथुरावासी सन्तुओं को देखकर भी उनको नहीं जान पाते।

२. सामान्य से अनुपलब्धि—पदार्थ का अवग्रह हो जाने पर भी अन्य पदार्थ की सदृशता के कारण उसकी एकान्ततः उपलब्धि

नहीं होती। जैसे—अनेक धान्यों के मध्य पड़े उड़द को देखकर भी अन्य धान्य के साथ उसकी सदृशता के कारण उसकी एकान्ततः उपलब्धि नहीं होती।

३. विस्मृति से अनुपलब्धि—पहले या पीछे अर्थ की उपलब्धि होने पर भी उसके वाचक नाम की विस्मृति के कारण सम्पूर्ण अर्थ का अक्षरलाभ नहीं होता।

अक्षर-उपलब्धि के पांच प्रकार हैं—

१. सदृशता से—कोई शाबलेय को देखकर परोक्षवर्ती बाहुलेय को सदृशता के कारण जान लेता है।

२. विपक्षता से—सर्प को देखकर नकुल का और नकुल को देखकर सर्प का अनुमान हो जाता है।

३. उभयधर्म दर्शन से—अश्वतर—खच्चर को देखकर गधे और अश्व दोनों का तथा शिखरिणी को प्राप्त कर गुड़ और दही—दोनों का अक्षरलाभ होता है।

४. औपम्य से—कोई वस्तु पूर्व में अनुपलब्ध होने पर भी औपम्य से जान ली जाती है। यथा—गौ की तरह गवय होता है, केवल उसके गलकम्बल नहीं होता—व्यक्ति ऐसा सुनकर कालांतर में प्रथम बार गवय को देखकर भी जान लेता है कि यह गवय है।

५. आगम से—छद्मस्थ के ज्ञान का विषय न होने पर भी आप्तागमप्रामाण्य के कारण उन-उन वस्तुओं का अक्षरलाभ होता है। जैसे—भव्य, अभव्य, देवकुरु, नारक, स्वर्ग, मोक्ष आदि।

असंज्ञी जीवों को पदार्थ का लाभ होने पर भी अक्षर का लाभ निश्चित रूप से नहीं होता (शंख का शब्द सुनने पर भी उन्हें यह लब्धि उत्पन्न नहीं होती कि यह शंख का शब्द है)।

संज्ञी जीवों को अर्थ की उपलब्धि के साथ ही अक्षरलाभ होता है। यह शंख का ही शब्द है—इस प्रकार के निर्णय में भजना है—वह कभी हो भी जाता है, कभी नहीं भी होता।

६. अक्षर-अनक्षरश्रुत की पूर्वता

सुणतीति सुयं तेषां, सवणं पुण अक्खरेयरं चेव।
तेणऽक्खरेयरं वा, सुयणाणे होति पुव्वं तु॥

(बृभा १४७)

प्रतिपत्ता उच्यमान शब्द को सुनता है, इस कारण से वह

श्रुत कहलाता है। श्रवण अक्षर-अनक्षर का होता है, अतः श्रुत के चौदह भेदों में अक्षर-अनक्षर श्रुत को प्रथम स्थान प्राप्त है।

७. सपर्यवसितश्रुत : देवभव में श्रुतग्रंथों की स्मृति

पणगं खलु पडिवाए, तत्थेगो देवभवमासज्ज।
मणुये रोग-पमाया, केवल-मिच्छत्तगमणे वा॥
चउदसपुव्वी मणुओ, देवत्ते तं न संभरइ सव्वं।
देसम्मि होइ भयणा, सट्ठण भवे वि भयणा उ॥

कश्चित् पुनरेकादशस्वप्यंगेषु सर्व स्मरति, कश्चि-
त्तेषामपि देशम्। (बृभा १३७, १३८ वृ)

एक पुरुष की अपेक्षा श्रुत के सपर्यवसित होने के पांच हेतु हैं—१. देवभव में गमन, २. मनुष्यभव में रोगोत्पत्ति, ३. प्रमाद अथवा विस्मृति, ४. केवलज्ञान की उत्पत्ति, ५. मिथ्यादर्शन में गमन।

चतुर्दशपूर्वी मनुष्य को देवत्व की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण श्रुत की स्मृति नहीं रहती। इसका हेतु है—विषयप्रमाद में लीनता के कारण उसमें तथाविध उपयोग का अभाव। देश-श्रुत-स्मरण में भजना है—किसी को एक देश (अंश) की स्मृति रहती है तो किसी को देश के भी देश की और किसी को सम्पूर्ण ग्यारह अंगों की भी स्मृति रह जाती है तो किसी को उनका भी एक देश याद रहता है।

स्वस्थान—मनुष्यभव में भी श्रुतपतन की भजना है—रोग उत्पन्न होने पर तीव्र पीड़ा के कारण स्मृति उपहत हो जाने से सीखा हुआ श्रुत विस्मृत हो जाता है। परिवर्तना के अभाव में प्रमाद से अधीत श्रुत नष्ट हो जाता है।

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर श्रुतज्ञान कृतकृत्य हो जाता है। तत्त्वश्रद्धा के विपरीत होने पर सर्वश्रुत का अभाव हो जाता है।

८. तित्थोगाली में पूर्व-विच्छेद-विवरण

तित्थोगाली एत्थं, वत्तव्वा होति आणुपुव्वीए।
जो जस्स उ अंगस्सा, वुच्छेदो जहि विणिहिट्ठो॥
(व्यभा ४५३२)

तित्थोगाली में जिस अंगआगम का जब विच्छेद हुआ, उसका विवरण है। जो व्यक्ति पूर्वविच्छेद के साथ व्यवहार चतुष्क

(आगम आदि) का लोप मानते हैं, उनके समक्ष उनके प्रत्यय के लिए तित्थोगाली का क्रमशः कथन करना चाहिए।

९. सूत्रग्रहण-प्रतिबोध : गज-श्लीपदी दृष्टांत

पव्वइओऽहं समणो, निक्खित्तपरिग्गहो निरारंभो।
इति दिक्खियमेकमणो, धम्मधुराए दढो होमि॥
समितीसु भावणासु य, गुत्ती-पडिलेह-विणयमाईसु।
लोगाविरुद्धेसु य बहुविहेसु लोगुत्तरेसुं च॥
जुत्त विरयस्स सययं, संजमजोगेसु उज्जयमइस्स।
किं मज्झं पढिएणं, भण्णइ सुण ता इमे नाए॥
जह ष्हाउत्तिण्ण गओ, बहुअतरं रेणुयं छुभइ अंओ।
सुदु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणी मत्तं चिणइ॥
जं सिलिपई निदायति, तं लाएति चलणेहिं भूमीए।
एवमसंजमपंके, चरणसई लाइ अमुणितो॥
भणइ जहा रोगत्तो, पुच्छति वेज्जं न संघियं पढइ।
इय कम्मामयवेज्जे, पुच्छिय तुज्जे करिस्सामि॥
भण्णइ न सो सयं चिय, करेति किरियं अपुच्छिउं रोगी।
नायख्खे अहिगारो, तुमं पि नाउं तहा कुणसु॥
(बृभा ११४४-११५०)

(यदि कोई मुनि प्रव्रजित होकर आसेवन शिक्षा का अभ्यास कर लेता है किन्तु ग्रहण शिक्षा की आराधना नहीं करता और कहता है—) 'मैं प्रव्रजित हूँ, श्रमण हूँ, आरंभ और परिग्रह से मुक्त हूँ। मैं एकाग्रमन होकर धर्मधुरा—धर्मचिन्ता (धर्मध्यान) में निष्कम्प हूँ। समिति, गुप्ति, भावना, प्रत्युपेक्षण, विनय—वैवावृत्त्य आदि में प्रयत्नवान् हूँ। मैं लोकविरुद्ध तथा बहुविध लोकोत्तरविरुद्ध कार्यों से निवृत्त हूँ, संयमयोगों में सतत उद्यमशील हूँ तो फिर मुझे पठन-पाठन (ग्रहण शिक्षा) की आवश्यकता ही क्या है?' तब गुरु ने कहा—सुनो ये दो दृष्टांत—

१. गजस्नान—जिस प्रकार हाथी नदी में स्नान कर बाहर आकर अपनी ही सूंड से बहुत सी धूल उठाकर अपने शरीर पर डाल लेता है, उसी प्रकार अत्यधिक उद्यमशील होने पर भी अज्ञानी जीव कर्मरजों का संचय कर लेता है।

२. श्लीपदी—श्लीपद (फीलपांव) रोग से ग्रस्त व्यक्ति धान्य का निदाण करता है तो धान के दाने उसके भारी पैरों से कुचले जाकर पृथ्वी के लग जाते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी मुनि चारित्ररूपी

शस्य को असंयम के पंक में मर्दित कर देता है।

शिष्य कहता है—भंते! रोग से पीड़ित व्यक्ति वैद्य को ही उसका उपचार पूछता है किन्तु वह स्वयं वैद्य-संहिता (आयुर्वेद) को नहीं पढ़ता। आप भी कर्मरूप रोग के ज्ञाता हैं। मैं आपको पूछकर सब कार्य संपादित कर लूंगा। गुरु कहते हैं—यद्यपि रोगी चिकित्सक को पूछे बिना स्वयं कोई उपचार नहीं करता, किन्तु यदि उसका उपचारक्रिया के परिज्ञान में अधिकार है, तो वैद्य से बार-बार पूछना नहीं पड़ता। उसी प्रकार तुम भी सूत्र पढ़कर तत्त्व को जानो और वैसा करो, जिससे पुनः-पुनः पूछना न पड़े।

* श्रुत-श्रवण-ग्रहणविधि

द्र श्रीआको १ शिक्षा

१०. बारह वर्ष सूत्रग्रहण, बारह वर्ष अर्थग्रहण

.....सुत्तग्गहणं ताहे, करेइ सो बारस समाओ॥

.....बारस चेव समाओ, अत्थं.....॥

(बृभा १२१८, १२२०)

शिष्य गुरु के पास बारह वर्ष पर्यंत सूत्रों का अध्ययन करता है। तत्पश्चात् वह बारह वर्ष उनका अर्थ ग्रहण करता है।

.....अत्थग्गहणामराला, तेहिं चिय पन्नविज्जंति॥

भो भद्राः! निर्दोष-सारवद्-विश्वतोमुखादयः सूत्रस्य गुणा भवन्ति, ते च यथाविधि गुरुमुखादर्थे श्रूयमाण एव प्रकटीभवन्ति। किञ्च यथा द्वासप्ततिकलापण्डितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन्न किञ्चिद् तासां कलानां जानीते एवं सूत्र-मप्यर्थेनाऽबोधितं सुप्तमिव द्रष्टव्यम्। विचित्रार्थनिबद्धानि सोपस्काराणि च सूत्राणि भवन्ति, अतो गुरुसम्प्रदायादेव यथावदवसीयन्ते न यतस्ततः। इत्थं युक्तियुक्तैर्बच्चोभिः प्रज्ञापितास्ते विनेयाः प्रतिपद्यन्ते गुरुणाामुपदेशम्, गृह्णन्ति द्वादश वर्षाणि विधिवदर्थम्। (बृभा १२२२ वृ)

जो अर्थग्रहण में आलसी हैं, उन्हें गुरु प्रज्ञप्ति देते हैं—भद्र शिष्यो! निर्दोष, सारयुक्त, विश्वतोमुख आदि जो सूत्र के गुण हैं, वे गुरुमुख से यथाविधि अर्थ सुनने पर ही प्रकट होते हैं। बहतर कलाओं में प्रवीण पुरुष भी सुप्तावस्था में उनको किंचित् भी नहीं जानता, इसी प्रकार अर्थबोध के बिना सूत्र सुप्त की तरह ही है।

सूत्रों में विभिन्न अर्थ निबद्ध होते हैं। सूत्र परिकर्म सहित होते हैं (द्र श्रीआको १ दृष्टिवाद)। अतः उनका अवबोध गुरुपरम्परा

से ही हो सकता है, यत्र-तत्र नहीं। इस प्रकार युक्तियुक्त वचनों से प्रज्ञापित शिष्य बारह वर्षों तक विधिवत् अर्थग्रहण करते हैं।

सुत्तम्मि य गहियम्मी, दिट्ठतो गोण-सालिकरणेणं ।

उवभोगफला साली, सुत्तं पुण अत्थकरणफलं ॥

(बृभा १२१९)

सूत्रग्रहण के पश्चात् अर्थग्रहण अवश्य हो। सूत्र का फल है अर्थ का ग्रहण। इस विषय में दो दृष्टांत हैं—

१. बलिबर्द—बैल सरस-नीरस चारि को बिना स्वाद लिए ही खा लेता है। वह तुप्त होने के बाद बैठकर उसकी जुगाली करता हुआ स्वाद का अनुभव करता है, उसमें जो कचवर होता है, उसका परित्याग कर सार को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार मुनि गुरु के पास सम्पूर्ण सूत्र को ग्रहण करता है, तत्पश्चात् अर्थ का ग्रहण करता है। बिना अर्थ के सूत्र स्वादरहित भोजन के तुल्य होता है।

२. शालिकरण—कृषक अत्यंत परिश्रम से शालि का उत्पादन करता है। फिर वह उनका लवन, मलन आदि कर उन्हें उपभोग के योग्य बनाकर कोष्ठागार में डाल देता है। जब वह उनका यथायोग्य उपभोग करता है, तब वह संग्रह सफल होता है। इसी प्रकार अर्थग्रहण से सूत्रग्रहण का श्रम सफल होता है।

११. सूत्र-अर्थ-तदुभयकल्पिक : आर्यवज्र दृष्टांत

सुत्तस्स कप्पितो खलु, आवस्सगमादि जाव आयारो ।

तेण पर तिवरिसादी, पकप्पमादी य भावेणं ॥

सुत्तं कुणति परिजितं, तदत्थग्रहणं षड्ढणगाइं वा ।

इति अंगऽञ्जयणेसुं, होति कमो जाहगो नायं ॥

अत्थस्स कप्पितो खलु, आवासगमादि जाव सूयगडं ।

मोत्तूणं छेयसुयं, जं जेणऽहियं तदडुस्स ॥

तदुभयकप्पिय जुत्तो, तिगम्मि एगाहिएसु ठाणेसु ।

पियधम्मऽवज्जभीरू, ओवम्मं अज्जवडरेहिं ॥

पुव्वभवे वि अहीयं, कण्णाहडगं व बालभावम्मि ।

उत्तममेहाविस्स व, दिज्जति सुत्तं पि अत्थो वि ॥

(बृभा ४०६-४१०)

सूत्रकल्पिक—आवश्यक से लेकर आचारांग पर्यंत सूत्रों का ज्ञाता। इनके अध्ययन में प्रव्रज्या-वर्षों की कोई सीमा नहीं है। उसके बाद मुनिपर्याय के तीन वर्ष से बीस वर्ष पर्यंत जिन-जिन सूत्रों का

अध्ययन विहित है, उनको पढ़ लेने पर वह सर्वसूत्रकल्पिक बन जाता है। भाव से परिणत (परिणामी) शिष्य निशीथ तथा अन्यान्य अपवादबहुल अध्ययनों और अरुणोपपात आदि अतिशायी अध्ययनों का ज्ञाता हो जाता है।

शिष्य ने पूछा—प्रव्रज्या के तीन वर्ष पूरे नहीं हुए और मुनि ने आचारांगपर्यंत पढ़ लिया, फिर वह क्या करे? आचार्य ने कहा—वत्स! मुनि पढ़े हुए सूत्रों से और अधिक परिचित हो जाए। अथवा उनका अर्थ ग्रहण करे। अथवा प्रकीर्णकसूत्रों के सूत्रों को तथा अर्थ को धारण करे। इस प्रकार अंगों तथा अतिशायी अध्ययनों का जब तक कल्पिक होता है, तब तक यह क्रम है। इस संदर्भ में जाहक-दृष्टांत है। (द्र श्रीआको १ परिषद्)

अर्थकल्पिक—आवश्यक से लेकर सूत्रकृतांग तक के आगमों के अर्थ का ज्ञाता। सूत्रकृतांग से आगे छेदसूत्रों को छोड़कर जितने सूत्रों का अध्ययन किया है, उतने सूत्रों के समग्र अर्थ का कल्पिक होता है। छेदसूत्रों को पढ़ लेने पर भी जब तक मुनि भावतः परिणत नहीं हो जाता, तब तक वह उनके अर्थ का कल्पिक नहीं हो सकता।

० तदुभयकल्पिक—जो सूत्र और अर्थ को युगपद् ग्रहण करने में समर्थ है। अथवा जिसके द्वारा सूत्र, अर्थ और तदुभय—इन तीनों स्थानों में से एक से दूसरा स्थान अधिक गृहीत हो, वह मुनि। जैसे—सूत्र से अर्थ की अधिकता, अर्थ से तदुभय की अधिकता। तदुभयकल्पिक प्रियधर्मा, दृढधर्मा और पापभीरु होता है।

आर्यवज्र-दृष्टांत—आर्य वज्र ने बचपन में सूत्रश्रवण किया। दीक्षा के पश्चात् उन्हें उसी दिन उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा और दूसरे प्रहर में अर्थ की वाचना दी गई।

तीन प्रकार के मुनियों को सूत्र और अर्थ की युगपद् वाचना दी जा सकती है—१. जिसे पूर्वभव में पढ़े हुए श्रुत की स्मृति हो। २. बचपन में जिसने श्रुतश्रवण किया हो। ३. जिसकी मेधा/श्रुतधारण की क्षमता उत्कृष्ट हो।

* श्रुतग्रहण की प्रक्रिया

द्र श्रीआको १ बुद्धि

१२. आगमवाचना में संयमपर्याय की कालमर्यादा

तिवासपरियायस्स समणस्स निगंथस्स कप्पइ आयार-
पकप्पं नामं अञ्जयणं उद्दिसित्तए ॥ चउवासपरियायस्स...
सूयगडे नामं अंगे ॥ पंचवासपरियायस्स...दसाकप्पववहारे ॥

अद्भुतवासपरियायस्स...ठाण-समवाए नामं अंगे... ॥
दसवासपरियायस्स...वियाहे नामं अंगे उद्दिसित्तए ॥

एक्कारसवासपरियायस्स...खुड्डिया विमाणपविभत्ती
महल्लिया विमाणपविभत्ती अंगचूलिया वग्गचूलिया
वियाहचूलिया नामं अञ्जयणे उद्दिसित्तए ॥ बारसवास-
परियायस्स...अरुणोववाए वरुणोववाए गरुलोववाए धरणो-
ववाए वेसमणोववाए वेलंधरोववाए नामं अञ्जयणे... ॥
तेरसवासपरियायस्स...उट्टाणसुए समुट्टाणसुए देविंदोववाए
नागपरियावणिए नामं अञ्जयणे... ॥ चोइसवास-
परियायस्स...सुविणभावणा नामं अञ्जयणे... ॥ पण्णसवास-
परियायस्स...चारणभावणा नामं अञ्जयणे... ॥ सोलसवास-
परियायस्स...तेयनिसग्गं नामं अञ्जयणे... ॥ सत्तरसवास-
परियायस्स...आसीविसभावणानामं अञ्जयणे... ॥ अट्टार-
सवासपरियायस्स...दिट्ठीविसभावणानामं अञ्जयणे... ॥
एगूणवीसवासपरियायस्स...कप्पइ दिट्ठीवायनामं अंगं
उद्दिसित्तए ॥ वीसवासपरियाए समणे निग्गंथे सब्बसुयाणु-
वाइ भवइ ॥ (व्य १०/२५-३९)

तीन वर्ष के दीक्षापर्याय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को आचार-
प्रकल्प अध्ययन पढ़ाया जा सकता है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग आदि
के पारायण में दीक्षापर्याय की कालसीमा निर्धारित है।

बीस वर्ष का दीक्षित श्रमण निर्ग्रन्थ सर्वश्रुतानुपाती होता है
(सम्पूर्ण श्रुतग्रन्थों की वाचना लेने योग्य हो जाता है)।

संयमपर्याय	श्रुतग्रन्थ
तीन वर्ष	आचारप्रकल्प (निशीथ) अध्ययन
चार वर्ष	सूत्रकृतांग
पांच वर्ष	दशाश्रुतस्कंध, कल्प और व्यवहार
आठ वर्ष	स्थानांग, समवायांग
दस वर्ष	व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती)
ग्यारह वर्ष	लघुविमानप्रविभक्ति, महाविमानप्रवि- भक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका, व्याख्याचूलिका
बारह वर्ष	अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलंधरोपपात

तेरह वर्ष	उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, देवेन्द्रोपपात और नागपरिज्ञापनिका अध्ययन
चौदह वर्ष	स्वप्नभावना अध्ययन
पन्द्रह वर्ष	चारण भावना अध्ययन
सोलह वर्ष	तेजोनिर्गम अध्ययन
सतरह वर्ष	आशीविषभावना अध्ययन
अठारह वर्ष	दृष्टिविषभावना अध्ययन
उन्नीस वर्ष	दृष्टिवाद
बीस वर्ष	सर्वश्रुत

अंगाणमंगचूली, महकप्पसुतस्स वग्गचूलीओ ।
वीयाहचूलिया पुण, पण्णत्तीए मुणोयव्वा ॥
(व्यभा ४६५९)

० अंगचूलिका—उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा,
प्रश्नव्याकरण और विपाकश्रुत—इन पांच अंगों की क्रमशः पांच
चूलिकाएं हैं—निरयावलिका, कल्पावर्तसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका
और वृष्णिदशा।

० वर्गचूलिका—महाकल्पश्रुत की चूलिका।

० व्याख्याचूलिका—व्याख्याप्रज्ञप्ति की चूलिका।

० संयमपर्याय की कालमर्यादा क्यो ?

चउवासो गाढमती, न कुसमएहिं तु हीरते सो उ ।
पंचवरिसो उ जोग्गो, अववायस्स त्ति तो दैति ॥
पंचणहुवरि विगट्ठो, सुतथेरा जेण तेण उ विगट्ठो ।
ठाणं महिड्डियं ति य, तेण दसवासपरियाए ॥
(व्यभा ४६५६, ४६५७)

चार वर्ष के दीक्षित मुनि की धर्म में दृढ़ता हो जाती है।
कुसिद्धान्तों से उसका चित्त अपहृत नहीं होता, अतः उसके लिए
सूत्रकृतांग का उद्देशन अनुज्ञात है। सूत्रकृतांग में तीन सौ तिरसठ
मतवादों का प्ररूपण है। उसके अध्ययन से नवदीक्षित मुनि का
मतिभेद हो सकता है।

पांच वर्ष का दीक्षित मुनि अपवादपदों का ज्ञाता हो जाता
है, अतः वह दशा-कल्प-व्यवहार पढ़ सकता है। पांच वर्ष से
ऊपर का पर्याय 'विकृष्ट' कहलाता है। स्थानधर और समवायधर

मुनि श्रुतस्थविर कहलाता है, अतः स्थानांग-समवायांग अध्ययन के लिए विकृष्ट पर्याय का ग्रहण किया गया है।

स्थानांग और समवायांग समृद्ध ग्रन्थ हैं। उनसे बारह ही अंगों की सूचना मिलती है, अतः उनसे परिकर्मित मति वाला दस वर्ष का दीक्षित मुनि व्याख्याप्रज्ञप्ति के अध्ययन के योग्य हो जाता है।

१३. श्रुत का उद्देश-समुद्देश-अनुज्ञा काल

थवथुतिधम्मकखाणां, पुव्वुद्दिट्ठं तु होति संझाए।
कालियकाले इतरं, पुव्वुद्दिट्ठं विगिट्ठे वि॥
पत्ताण समुद्देशो, अंगसुतक्खंध पुव्वसूरम्मि ।.....
दिवसस्स पच्छिमाए, निसिं तु पढ्माय पच्छिमाए वा।
उद्देशज्झयणुण्णा, न य रत्ति निसीहमादीणां ॥
आदिग्गहणा दसकालिओत्तरज्झयण चुल्लसुतमादी।
एतेसि भइयणुण्णा, पुव्वणहे वावि अवरणहे ॥

अध्ययनमुद्देशं वा पठन्तो यदैव श्रवणं प्राप्ता भवन्ति,
तदैव तस्याध्ययनस्योद्देशस्य वा समुद्देशः क्रियते ।.....'पूर्वसूरे'
उद्घाटायामपि पौरुष्याम्' । (व्यभा ३०३४-३०३७ वृ)

पूर्व उद्दिष्ट स्तव, स्तुति और धर्माख्यान संध्यावेला में भी पठनीय होते हैं। प्रथम पौरुषी में उद्दिष्ट कालिकश्रुत काल (प्रथम एवं चरम पौरुषी) में पठनीय है। प्रथम पौरुषी में उद्दिष्ट उत्कालिक श्रुत व्यतिकृष्ट काल में भी पढ़ा जा सकता है, किन्तु संध्या और अस्वाध्यायिक का वर्जन आवश्यक है।

उद्देशक या अध्ययन का जब भी श्रवण प्राप्त होता है, तभी उसका समुद्देश किया जाता है। अंग अथवा श्रुतस्कंध की पूर्वसूर (उद्घाटा पौरुषी) में अनुज्ञा हो सकती है।

उद्देशक और अध्ययनों की अनुज्ञा दिन की पश्चिम (चरम) पौरुषी तथा रात्रि की प्रथम या पश्चिम पौरुषी में प्रवर्तित होती है। निशीथ आदि आगाह योगों की अनुज्ञा दिन की प्रथम और चरम पौरुषी में प्रवृत्त होती है, रात्रि में नहीं।

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, क्षुल्लककल्पश्रुत, औपपातिक आदि की अनुज्ञा वैकल्पिक है—पूर्वाह्न में भी हो सकती है, अपराह्न में भी हो सकती है।

* ओज-अनोज उद्देशक-काल

द्र उत्सारकल्प

(...प्राचीन काल में अध्ययन के स्रोत थे गुरु। शास्त्र लिखे नहीं जाते थे। उन्हें कण्ठस्थ रखने की परम्परा थी। इस स्थिति में अध्ययन की गुरुगम व्यवस्था का विकास हुआ, उसका प्रतिपादन उद्देश (पढ़ने की आज्ञा), समुद्देश (पठित ज्ञान के स्थिरीकरण का निर्देश), अनुज्ञा (अध्यापन की आज्ञा) और अनुयोग (व्याख्या)— इन चार पदों द्वारा किया गया है। विद्यार्थी शिष्य पहले गुरु की आज्ञा प्राप्त करता। फिर वह परिवर्तना के द्वारा पढ़े हुए ज्ञान को स्थिर रखने का अभ्यास करता। तीसरे चरण में उसे अध्यापन की अनुमति प्राप्त होती। चौथे चरण में उसे व्याख्या करने की स्वीकृति मिलती।.....—अनु सू २ टि)

१४. जीव में श्रुतज्ञान की भजना

नियमा सुयं तु जीवो, जीवे भयणा उ तीसु ठाणोसु।
सुयनाणि सुयअनाणी, केवलनाणी व सो होज्जा ॥
(बृभा १३९)

श्रुतज्ञान नियमतः जीव है। जीव में तीन स्थानों से श्रुतज्ञान की भजना है—वह कभी श्रुतज्ञानी होता है, कभी श्रुतअज्ञानी होता है और कभी केवलज्ञानी होता है।

० अकेवली भी केवलितुल्य

.....गीयत्थो.....अकेवली वि केवलीव भवति। अहवा केवली तिविधो—सुयकेवली अवधिकेवली केवलिकेवली।
(निभा ४८२० की चू)

गीतार्थ—श्रुतज्ञानी अकेवली होते हुए भी केवली के समान होता है। अथवा केवली तीन प्रकार के होते हैं—श्रुतकेवली, अवधिज्ञानकेवली, केवलज्ञानकेवली।

१५. श्रुत को प्रमाण मानने वाला प्रमाणभूत

जो तं जगप्पदीवेहिं पणीयं सव्वभावपण्णवणं।
ण कुणति सुतं पमाणं, ण सो पमाणं पवयणम्मि ॥
(बृभा ३६४१)

जो जगप्रदीप—अर्हत् द्वारा प्रणीत सर्वभावप्रज्ञापक श्रुत को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं करता, वह स्वयं प्रवचन अर्थात् चतुर्विध धर्मसंघ में प्रमाणभूत नहीं होता।

० श्रुतज्ञान तृतीयनेत्र

मा एवमसग्गाहं, गिण्हसु गिण्हसु सुयं तइयचक्खुं।”

.....सूक्ष्म-व्यवहितादिष्वतीन्द्रियार्थेषु तृतीयचक्षुः-
कल्पं श्रुतम्। (बृभा ११५४ वृ)

गुरु ने कहा—शिष्य! तुम श्रुत के अग्रहण का दुराग्रह मत करो। श्रुत सूक्ष्म, व्यवहित आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के लिए तृतीय चक्षु के समान है। तुम उसका अनुशीलन करो।

१६. श्रुतग्रहण हेतु वृद्धवास की अनुज्ञा

.....आयपरे निष्कृती, कुणमाणो वावि अच्छेज्जा।

संवच्छरं च झरणे, बारसवासाइ कालियसुतम्मि।”

.....सोलस उ दिट्ठिवाए, गहणं झरणं दसदुवे य॥

जे गेण्हउं धारइउं च जोग्गा, थेराण ते देंति सहायए तु।

गेण्हंति ते ठाणठिता सुहेणं, किच्चं च थेराण करंति सब्बं ॥

सूत्रार्थतदुभयेन निष्पत्तिं कुर्वन् वा वृद्धवासेन तिष्ठेत्।”

‘झरति’ परावर्तयति।”ग्रहणं झरणं बाधिकृत्य तावन्तं
कालमेकत्रावतिष्ठते। (व्यभा २२९१-२२९३, २२९७ वृ)

कालिकश्रुत ग्रहण में बारह वर्ष तथा दृष्टिवादग्रहण में सोलह वर्ष लगते हैं। इन दोनों के परावर्तन में क्रमशः एक वर्ष और बारह वर्ष लगते हैं। मुनि सूत्रार्थ में स्व-परनिष्पन्नता हेतु कालिकश्रुत के लिए तेरह वर्ष और दृष्टिवाद के लिए अट्ठाईस वर्ष पर्यंत वृद्धवास में रह सकते हैं।

जो सूत्र-अर्थ के ग्रहण और धारण के योग्य होते हैं, उन्हें स्थविरों के पास सहायक के रूप में रखा जाता है, जिससे एक स्थान पर रहकर वे सुखपूर्वक श्रुतग्रहण करते हैं और स्थविरों के सारे कार्य सम्पादित करते हैं।

१७. श्रुत-स्वाध्याय की निष्पत्ति

आयहिय परिण्णा भावसंवरो नवनवो अ संवेगो।

निक्कंपया तवो निज्जरा य परदेसियत्तं च॥

.....नाणी चरित्तगुत्तो, भावेण उ संवरो ह्योइ॥

जह जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं।

तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाओ॥

.....विहरइ विसुज्जमाणो, जावज्जीवं पि निक्कंपो ॥

बारसविहम्मि वि तवे, सन्धिभतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
न वि अत्थि न वि अ होही, सज्जायसमं तवोकम्मं ॥
जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमेत्तेण ॥
आय-परसमुत्तारो, आणा वच्छल्ल दीवणा भत्ती।
होति परदेसियत्ते, अव्वोच्छिती य तित्थस्स ॥
(बृभा ११६२, ११६६-११७१)

श्रुत के अध्ययन से आठ गुण निष्पन्न होते हैं—

१. आत्महित—आत्महित का सम्यक् ज्ञान होता है।
२. परिज्ञा—ज्ञपरिज्ञा-प्रत्याख्यानपरिज्ञा का विकास होता है।
३. भावसंवर—ज्ञानी चारित्रगुप्त होता है—यही भावसंवर है।
४. नव-नव संवेग—मुनि जैसे-जैसे अतिशायी अर्थपदों के रसास्वाद से युक्त अपूर्व श्रुत का अवगाहन करता है, वैसे-वैसे वह अपूर्व-अपूर्व संवेगश्रद्धा—वैराग्यमयी घनीभूत मोक्षाभिलाषा से अपूर्व आनंद का अनुभव करता है।
५. निष्कम्पता—वह कर्ममल से विशुद्ध होता हुआ जीवनपर्यंत संयम में स्थिर चित्तवृत्ति से विहरण करता है।
६. तप—यह भावना पुष्ट होती है कि अर्हत् द्वारा उपदिष्ट द्वादशविध बाह्य और आभ्यंतर तप में स्वाध्याय के तुल्य कोई तपःकर्म न है, न था और न होगा।
७. निर्जरा—अज्ञानी जीव अनेकों कोटि वर्षों में जितने कर्मों का क्षय करता है, उतने कर्मों का क्षय त्रिगुप्त ज्ञानी उच्छ्वास मात्र में कर लेता है।
८. परदेशकत्व—श्रुत का पारगामी मुनि दूसरों को श्रुत पढ़ाता हुआ स्वयं के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है और उनको अज्ञानतमसागर से पार उतारता है। इससे तीर्थंकर की आज्ञा की आराधना, शिष्यों के प्रति उसके वात्सल्य का प्रकटीकरण, प्रवचन की प्रभावना और भक्ति तथा तीर्थ की अव्यवच्छिन्नि होती है।

१८. अप्रमाद से श्रुतज्ञान की वृद्धि

जागरह नरा ! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्डते बुद्धी।
जो सुवत्ति ण सो धण्णो, जो जग्गति सो सया धण्णो ॥
सीतंति सुवंताणं, अत्था पुरिसाण लोणसारत्था।
तम्हा जागरमाणा, विधुणध पोरणयं कम्मं ॥

सुवति सुवंतस्स सुतं, संकित खलियं भवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्स सुतं, थिर-परिचितमप्यमत्तस्स॥
नालस्सेण सपं सुक्खं, न विज्जा सह निहया।
न वेरगं ममत्तेणं, नारंभेण दयालुया॥
जागरिया धम्मीणं, आहम्मीणं च सुत्तया सेया।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणे जयंतीए॥
सुवइ य अयगरभूओ, सुयं च से नासई अमयभूयं।
होहिइ गोणभूओ, नट्टम्मि सुए अमयभूए॥
(बृभा ३३८२-३३८७)

मनुष्यो! सदा जागृत रहो। जो जागता है, (सूत्र-अर्थ की अनुप्रेक्षा आदि से) उसकी बुद्धि बढ़ती है। जो सोता है, वह धन्य नहीं होता। जो जागता है, वह सदा धन्य है।

सोने वाले पुरुषों के लोक में सारभूत अर्थों की हानि होती है। अतः तुम जागृत रहते हुए बद्ध कर्मों को प्रकम्पित करो।

सोने वाले का श्रुत सो जाता है (विस्मृत हो जाता है)। प्रमत्त मुनि—'इस स्थान पर यह आलापक पद है या वह? यह अर्थपद है या अन्य'—इस प्रकार पग-पग पर संदिग्ध और परावर्तन काल में स्खलित हो जाता है। जो जागृत रहता है, अप्रमत्त है, उसके श्रुत स्थिर तथा परिचित हो जाता है।

आलस्य के साथ सुख, नींद के साथ विद्या, ममत्व के साथ वैराग्य और हिंसा के साथ दया नहीं रह सकती।

वत्सा जनपद। कौशांबी नगरी। शतानीक राजा की बहिन जयंती ने श्रमण महावीर से पूछा—भंते! जीवों का जागना अच्छा है या सोना? श्रमण महावीर ने कहा—धार्मिकों की जागरिका श्रेयस्करी है और अधार्मिकों की सुप्तता श्रेयस्करी है। (सुत्तं भंते! साहू? जागरियत्तं साहू?...॥...जयंती! जे इमे जीवा अहम्मिया...एएसि णं जीवाणं सुत्तत्तं साहू।...जे...धम्मिया...एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू।...—भ १२/५३, ५४)

जो अजगर के तुल्य होता है, वह निश्चित होकर सोता है। उसका अमृततुल्य श्रुत नष्ट हो जाता है। अमृतसदृश श्रुत के नष्ट होने पर वह बैलसदृश हो जायेगा।

संग्राम — महाशिलाकंटक आदि संग्राम।

द्र युद्ध

संघ—समान लक्ष्य तथा समान सामाचारी वाले श्रमण-श्रमणियों का संगठन।

१. संघ क्या है?

२. श्रेष्ठ संघ के मानक

३. संघ के पांच आधार

○ आचार्य : अहंत् की अनुकृति, अर्थवाचक

○ उपाध्याय (अभिषेक) : सूत्रवाचक, वृषभ

* वृषभ की चिकित्साकालावधि

द्र वैयावृत्त्य

○ प्रवर्तक : गणचिन्तक

○ स्थविर

○ गीतार्थ (गणावच्छेदक)

* गणावच्छेदक क्षेत्रप्रतिलेखनार्ह

द्र क्षेत्रप्रतिलेखना

४. आचार्य आदि सात पद

○ प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी

* अभिषेका

द्र स्थविरकल्प

○ आचार्य आदि के अभाव में उत्पन्न दोष

* आचार्य, उपाध्याय...गणावच्छेदक

का न्यूनतम दीक्षा पर्याय और श्रुत

द्र आचार्य

* गण अमान्य आचार्य-स्थापन से प्रायश्चित्त

द्र आचार्य

* गणधारण में निशीथ की भूमिका

द्र छेदसूत्र

५. गणिविहीन गण नहीं

६. निरहंकारी : गण में मान्य व्यवहारी

* अनुपशांत की गच्छ में रहने की अवधि

द्र अधिकरण

७. सारणा-वारणाशून्य गच्छ गच्छ नहीं

* सारणा की अनिवार्यता

द्र उपसम्पदा

* सारणा-वारणा का मूल्य

द्र आचार्य

८. गच्छ का परिमाण

* पंचविध गच्छवासी: आचार्य आदि

द्र स्थविरकल्प

* गणपालन दुष्कर

द्र जिनकल्प

९. कौन महर्द्धिक—गच्छ या जिनकल्प?

○ गुफासिंह और महिलाद्वय दृष्टांत

१०. गुरुकुलवास में गुणवृद्धि

११. संघ में संयम-सुरक्षा के स्थान

* चारित्र से तीर्थ की अवस्थिति

द्र चारित्र

१२. संघ प्रभावक राजा सम्प्रति

* पारिहारिक द्वारा गच्छ की सेवा	द्र परिहारतप
* आचार्य आदि की सेवा से महानिर्जरा	द्र वैद्यावृत्य
* संघकार्य में मंत्रीपरिषद् का दायित्व	द्र परिषद्
१३. संघकार्य की प्रधानता : विलंब का प्रयश्चित्त	
१४. गण अयक्रमण के आठ कारण	
* गणान्तर उपसम्पदा क्यों ?	द्र उपसम्पदा

१. संघ क्या है ?

संघो गुणसंघातो, संघायविमोयगो य कम्माणं ।
 रागद्वोसविमुक्को, होति समो सव्वजीवाणं ॥
 परिणामियबुद्धीए, उववेतो होति समणसंघो उ ।
 कज्जे निच्छयकारी, सुपरिच्छयकारगो संघो ॥
 आसासो वीसासो, सीतघरसमो य होति मा भाहि ।
 अम्मापितीसमाणो, संघो सरणं तु सव्वेसिं ॥
 सीसे कुलव्विए व गणव्विय संघव्विए य समदरिसी ।
 ववहारसंथवेसु य, सो सीतघरोवमो संघो ॥
 गिहिसंघातं जहितुं, संजमसंघातगं उवगए णं ।
 गाण-चरण-संघातं, संघायंतो हवति संघो ॥
 नाण-चरणसंघातं, रागद्वोसेहि जो विसंघाए ।
 सो संघाते अबुहो, गिहिसंघातम्मि अप्पाणं ॥

(व्यभा १६७७, १६७८, १६८१, १६८६-१६८८)

संघ गुणों का संघात है, कर्मसंघात का विमोचक है, राग-द्वेष से मुक्त और सब जीवों के प्रति सम है। श्रमणसंघ पारिणामिकी बुद्धि से सम्पन्न होता है और विवादास्पद विषयों में श्रुतबल से सम्यक् निर्णय करता है। संघ सुपरीक्षितकारक होता है।

संघ आश्वास और विश्वास है। संघ शीतघर के समान है। माता-पिता के समान यह संघ सबके लिए शरण है। इसलिए तुम डरो मत। (संघ आश्वास-विश्वास है...अभयदाता है—इस रूप में शब्दावलि की एकरूपता की दृष्टि से मा भाहि (डरो मत) के स्थान पर माभाइ (अभयदान—देशीनाममाला ६/१२९) शब्द अधिक संगत प्रतीत होता है।)

कुल, गण और संघ के किन्हीं शिष्यों में परस्पर विवाद उत्पन्न होने पर या पूर्वसंस्तुत-पश्चात्संस्तुतों का किसी के साथ विवाद होने पर संघ समदर्शी (निष्पक्ष) होता है, इसलिए वह शीतघर की उपमा से उपमित है। जैसे शीतघर अपने आश्रित सब

व्यक्तियों के परिताप का हरण करता है, वैसे ही संघ न्यायार्थ समागत प्रत्येक व्यक्ति को न्याय प्रदान करता है।

गृहिसंघात (माता-पिता आदि) को छोड़कर संयम-संघात में उपस्थित साधक में जो ज्ञान-दर्शन-चरण का संघात (अवस्थिति) करता है, वह संघ है।

जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के संघात को राग-द्वेष से विघटित करता है, अपने को गृहिसंघात (गृहस्थ-गार्हस्थ्य) से योजित करता है, वह अबोध संघ संघ नहीं है।

२. श्रेष्ठ संघ के मानक

बारसविधे तवे तू, इंदिय-नोइंदिए य नियमे उ ।
 संजमसत्तरसविधे, हाणी जहियं तहिं न वसे ॥
 तव-नियम -संजमाणं, एतेसिं चेव तिण्ह तिगवुद्धी ।
 नाणादीण व तिण्हं, तिगसुद्धी उग्गमादीणं ॥
 पासत्थे ओसण्णे, कुसील-संसत्त तह अहाछंदे ।
 एतेहि जो विरहितो, पंचविसुद्धो हवति सो उ ॥
 पंच य महव्वयाइं, अहवा वी नाण-दंसण-चरित्तं ।
 तव-विणओ वि य पंच उ, पंचविधुवसंपदा वावि ॥
 सोभणसिक्खसुसिक्खा, सा पुण आसेवणे य गहणे य ।
 दुविधाए वि न हाणी, जत्थ य तहियं निवासो उ ॥
 एतेसुं ठाणेसुं, सीदंते चोदयंति आयरिया ।
 हावेंति उदासीणा, न तं पसंसंति आयरिया ॥
 (व्यभा १९२६-१९३१)

जहां द्वादशविध तप, इन्द्रिय और मन का निग्रह तथा सतरह प्रकार के संयम की हानि हो, वहां मुनि न रहे।

मुनि वहां रहे, जहां तप, नियम और संयम—इस त्रिक की अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इस त्रिक की वृद्धि हो। जहां उद्गम, उत्पाद और एषणा—इस त्रिक की शुद्धि हो, वहां रहे।

जो संघ पंचविशुद्ध हो—पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाच्छन्द—इस पंचक से रहित हो, वहां रहे।

जो पांच महाव्रतों से अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और विनय—इन पांचों से अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वैद्यावृत्य—इस पंचविध उपसंपदा से युक्त हो, वहां रहे।

आसेवन शिक्षा और ग्रहण शिक्षा—इस द्विविध सुशिक्षा की जहां हानि न हो, वहां रहे।

जो शिष्य उल्लिखित तप, ज्ञान आदि स्थानों में प्रमाद करते हैं, उन्हें आचार्य प्रेरित करते हैं। जहां आचार्य उदासीन होते हैं—शिष्यों के प्रमादस्थानों की उपेक्षा करते हैं, तीर्थंकर उस संघ की प्रशंसा नहीं करते।

३. संघ के पांच आधार

तत्थ न कप्पति वासो, गुणागरा जत्थ नत्थि पंच इमे।
आयरिय-उवज्जाए, पवत्ति-थेरे य गीतत्थे ॥
(व्यभा ९५३)

संघ के पांच आधारस्तंभ हैं—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गीतार्थ (गणावच्छेदी)। ये गुणों के निधान होते हैं। जिस संघ में ये पांचों न हों, वहां मुमुक्षु न रहे।

० आचार्य : अर्हत् की अनुकृति, अर्थवाचक

सुत्तत्थतदुभएहिं, उवउत्ता नाण-दंसण-चरित्ते।
गणतत्तिविप्पमुक्का, एरिसया होति आयरिया ॥
एगगया य झाणे, वुड्डी तित्थगरअणुकिती गुरुया।
आणाथेज्जमिति गुरू, कयरिणमोक्खो न वाएति ॥
(व्यभा ९५४, ९५५)

जो सूत्र-अर्थ-तदुभय के ज्ञाता हैं, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में सतत उपयुक्त हैं, गणचिन्ता से मुक्त हैं, ऐसे होते हैं आचार्य।

केवल व्याख्या के लिए ही उनकी अर्थचिन्तनात्मक ध्यान में एकाग्रता होती है। एकाग्रता के कारण सूक्ष्म अर्थों का उन्मेष होता है, इससे उनके सूत्रार्थ की वृद्धि होती है।

अर्थवाचना देते हुए गणचिन्ता से मुक्त आचार्य तीर्थंकरों की अनुकृति होते हैं। अर्थवाचक आचार्य की लोक में महती गुरुता प्रकट होती है, इससे संघ की प्रभावना और आज्ञा में स्थैर्य—अर्हत्-आज्ञा की अनुपालना होती है। सामान्य साधु अवस्था में वे साधुओं को सूत्र पढ़ा चुके होते हैं, इससे वे सूत्रात्मक ऋण से मुक्त हो जाते हैं, अतः आचार्य सूत्रवाचना नहीं देते।

० उपाध्याय (अभिषेक) : सूत्रवाचक, वृषभ

'अभिषेकः' उपाध्यायः। (बृभा ६११० की वृ)

.....अभिषेकस्तु नियमाद् निष्यन्नो भवति, अन्यथा तत्त्वत आचार्यपदस्थापनायोग्यत्वानुपपत्तेः। (बृभा ४३३८ की वृ)

उपाध्याय को अभिषेक कहा जाता है। अभिषेक नियमतः श्रुतनिष्पन्न होता है, अन्यथा उसमें आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होने की योग्यता ही नहीं होती। (द्र अभिषेक)

.....यः पुनरित्तराभिषेकेणाचार्यपदेऽभिषिक्तः स इहाभिषेकः अथवा गणावच्छेदक इहाभिषेकः।

(बृभा १०७० की वृ)

अभिषेक के दो अर्थ और हैं—१. इत्वरिक अभिषेक से आचार्यपद पर अभिषिक्त। २. गणावच्छेदक।

सुत्तत्थतदुभयविऊ, उज्जुत्ता नाण-दंसण-चरित्ते।
निष्फादग सिस्साणं, एरिसया होंतुवज्जाया ॥
सुत्तत्थेसु थिरत्तं, रिणामोक्खो आयतीयऽपडिबंधो।
पाडिच्छा मोहजओ, तम्हा वाए उवज्जाओ ॥
(व्यभा ९५६, ९५७)

जो सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ के ज्ञाता हैं, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में उद्यत हैं, शिष्यों के निष्पादक हैं, ऐसे होते हैं उपाध्याय। वे सूत्र की वाचना देते हुए स्वयं अर्थ का भी अनुचिन्तन करते हैं, इससे उनकी सूत्र और अर्थ में स्थिरता बढ़ जाती है।

० वे गण के सूत्रात्मक ऋण से मुक्त हो जाते हैं।

० अनागत काल में आचार्य पद से अप्रतिबंधित होने से सूत्र का ही अनुवर्तन कर उसमें अत्यन्त अभ्यस्त हो जाते हैं।

० प्रतीच्छक (अन्य गण से समागत-उपसम्पन्न) साधु उनकी सूत्र-वाचना से अनुगृहीत होते हैं।

० उपाध्याय मोहजयी होते हैं—सूत्रवाचना में संलग्न रहने से उनके विस्मृतसिका का अभाव होता है। इन गुणों से सम्पन्न होने के कारण वे सूत्रवाचना के लिए अधिकृत हैं।

उपाध्यायो वृषभानुग इति कृत्वा वृषभ उच्यते।

(बृभा १०७० की वृ)

उपाध्याय वृषभानुग (वृषभ के समान शक्तिसंपन्न) होने के कारण वृषभ कहलाते हैं। (द्र स्थविरकल्प)

० प्रवर्तक : गणचिन्तक

तव-नियम-विणयगुणनिहि, पवत्तगा नाण-दंसण-चरित्ते।
संगहुवग्गहकुसला, पवत्ति एतारिसा होंति ॥

संजम-तव-नियमेसुं, जो जोग्गो तत्थ तं पवत्तेति ।
असहू य नियत्तेती, गणतत्तिल्ला पवत्तीओ ॥
(व्यभा ९५८, ९५९)

जो तप, नियम (अभिग्रह) और विनय रूप गुणनिधियों के प्रवर्तक, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में सतत उपयोगवान् तथा शिष्यों के संग्रहण-उपग्रहण में कुशल होते हैं, वे प्रवर्तक हैं। वे, जो शिष्य तप, संयम, नियम आदि योगों में से जिस योग के योग्य है, उसका उसमें प्रवर्तन तथा असमर्थ का निवर्तन करते हैं। इस प्रकार प्रवर्तक गणचिन्ता में प्रवृत्त होते हैं।

० स्थविर

संविग्गो मद्दवितो, पियधम्मो नाण-दंसण-चरित्ते ।
जे अट्टे परिहायति, ते सारेंतो हवइ श्थेरो ॥
थिरकरणा पुण श्थेरो, पवत्ति वावारितेसु अत्थेसु ।
जो जत्थ सीदति जती, संतबलो तं पचोदेति ॥
(व्यभा ९६०, ९६१)

स्थविर मुमुक्षु, मृदु और प्रियधर्मा होता है। जो साधु ज्ञान-दर्शन-चारित्र संबंधी किसी अनुष्ठान को छोड़ देता है या प्रवर्तक जिस कार्य में उसे नियुक्त करता है, शक्ति होते हुए भी वह उसे करता हुआ अवसन्न होता है तो उस साधु को स्थविर स्मारणा-प्रेरणा-प्रशिक्षण द्वारा संयमयोगों में स्थिर करता है, इसलिए वह स्थविर कहलाता है।

० गीतार्थ (गणावच्छेदक)

उद्धावणा पधावण, ख्खेत्तोवधिमग्गणासु अविसादी ।
सुत्तत्थतदुभयविऊ, गीयत्था एरिसा होति ॥

एवंविधा गीतार्था गणावच्छेदिनः । (व्यभा ९६२ वृ)

जो उद्धावन-प्रधावन-तत्पर है—कोई संघीय कार्य उत्पन्न होने पर 'यह कार्य मैं करूंगा'—इस प्रकार आचार्य को निवेदन कर आत्मानुग्रहबुद्धि से जो उस कार्य को शीघ्रता से सम्पादित करता है, क्षेत्रप्रत्युपेक्षा, उपधि-उत्पादन आदि कार्यों में जो विषण्ण नहीं होता तथा सूत्र-अर्थ-तदुभय का ज्ञाता होता है, ऐसा गीतार्थ मुनि गणावच्छेदक होता है।

४. आचार्य आदि सात पद

....आयरिए वा उवज्झाए वा पवत्ती वा श्थेरे वा गणी वा गणहरे वा गणावच्छेइए वा ।....

आचार्य अनुयोगधरः । उपाध्यायः अध्यापकः । प्रवर्त्ती यथायोगं वैयावृत्यादौ साधूनां प्रवर्त्तकः । संयमादौ सीदतां साधूनां स्थिरीकरणात्स्थविरः । गच्छाधिपो गणी । यस्त्वाचार्य-देशीयो गुर्वादेशात् साधुगणं गृहीत्वा पृथग् विहरति स गणधरः । गणावच्छेदकस्तु गच्छकार्यचिन्तकः ।

(आचूला १/१३० वृ)

गणधरः संयतीपरिवर्तकः । (क ३/१३ की वृ)

ज्ञानादीनामविराधनां कुर्वन् यो गच्छं परिवर्धयति स गणधरः । (व्यभा १३७५ की वृ)

संघ में सात पद होते हैं—

१. आचार्य—अनुयोगधर—अर्थ की वाचना देने वाला ।
२. उपाध्याय—अध्यापक—सूत्रपाठ की वाचना देने वाला ।
३. प्रवर्त्ती—वैयावृत्य आदि में साधुओं का प्रवर्तक ।
४. स्थविर—संयम में अस्थिर होने वालों को स्थिर करने वाला ।
५. गणी—गच्छाधिपति ।
६. गणधर—जो आचार्य के समान है, आचार्य के आदेश से साधु-संघ को लेकर पृथक् विहरण करता है, साध्वियों की देखभाल करता है तथा ज्ञान आदि की विराधना न करते हुए गण का परिवर्धन करता है, वह गणधर कहलाता है ।
७. गणावच्छेदक—गच्छ के कार्य का चिन्तन (उपधि आदि की व्यवस्था) करने वाला ।

० प्रवर्त्तिनी, गणावच्छेदिनी

मिधोकहा झड्डुर-विड्डुरेहिं, कंदप्पकिड्डा बकुसत्तणेहिं ।
पुव्वावरत्तेसु य निच्चकालं, संगिणहते णं गणिणी सधीणा ॥

.....गुरु-गणि-गणिणी य अज्जं पि ॥

.....झड्डुरविड्डुर नाम तेषु गृहस्थप्रयोजनेषु कुण्टल-विण्टलादिषु वा प्रवर्त्तनं.....बकुशत्वं शरीरोपकरणविभूषा-करणं एताभ्यां च.....तत्प्रवर्त्तिनीसंग्रहोऽपि साध्व्याः

श्रेयान्...आर्यिकामपि गुरुराचार्यो गणी उपाध्यायः गणिनी प्रवर्तिनी रक्षन्ति ।
(व्यभा १५८९, १५९० वृ)

प्रवर्तिनी स्वच्छंदचारिणी साध्वी पर सदा अनुशासन करती है। स्वच्छन्दता के मुख्य बिंदु पांच हैं—

१. स्त्रीकथा आदि करना।
२. गृहस्थ को जादू-टोना, मंत्र-तंत्र का प्रयोग बताना।
३. कामोत्तेजक चेष्टा करना।
४. शरीर और उपकरणों की विभूषा करना।
५. पूर्वरात्र-अपररात्र में स्वाध्याय न करना।

साध्वी के लिए प्रवर्तिनी के आदेश-निर्देश में रहना श्रेयस्कर है। आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी—ये तीनों साध्वी की सुरक्षा करते हैं। साध्वी त्रिसंगृहीत होती है। (द्र आचार्य)

* प्रवर्तिनी : श्रमणीगणसंचालिका द्र स्थविरकल्प
निगंग्थीए...कप्पइ से पवत्तिणीनीसाए चेलं पडिग्गा-
हित्तए। (क ३/१३)

साध्वी प्रवर्तिनी की निश्रा में वस्त्र ग्रहण करे।

...एसा पवत्तिणी भे, जोग्गा गच्छे बहुमता य।।
सा एय गुणोवेता, सुत्तत्थेहिं पकप्पमज्झयणं।...
(व्यभा २३१०, २३१४ वृ)

जो निशीथ के सूत्र और अर्थ को पढ़ चुकी है तथा गच्छ में बहुमान्य है, वह गुणयुक्त साध्वी प्रवर्तिनीपद के योग्य है।

कप्पइ पवत्तिणीए अप्पतइयाए...।।...गणावच्छेइणीए
अप्पचउत्थाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥ कप्पइ पवत्तिणीए
अप्पचउत्थाए...।।...गणावच्छेइणीए अप्पयंचमाए वासा-
वासं वत्थाए ॥ (व्य ५/२, ४, ६, ८)

हेमंत और ग्रीष्मऋतु में प्रवर्तिनी दो साध्वियों के साथ तथा गणावच्छेदिनी तीन के साथ विहरण कर सकती है।

वर्षावास में प्रवर्तिनी तीन साध्वियों के साथ तथा गणावच्छेदिनी चार साध्वियों के साथ रह सकती है।

(गणावच्छेदिनी गणावच्छेदक की भांति साध्वीवर्ग की व्यवस्था का दायित्व-निर्वहन करती है।)

प्रवर्तिन्या गणावच्छेदिन्या वा उत्तगेन संहननेन...
उत्तमया च धृत्या सूत्रमर्थश्च भूयान् गृहीतः।

(व्यभा २३०६ की वृ)

प्रवर्तिनी और गणावच्छेदिनी उत्तम संहनन और उत्तम धृति के कारण विपुल श्रुत ग्रहण कर लेती हैं।

० आचार्य आदि के अभाव में उत्पन्न दोष
...आयरियादीण जत्थ गच्छम्मि।
पंचणहं होतऽसती, एगो च तहिं न वसितव्वं।।
एवं असुभ-गिलाणे, परिण्णकुलकज्जमादि वग्गे उ।
अण्णऽसति ससल्लस्सा, जीवितघाते चरणघातो।।
(व्यभा ९२०, ९२१)

जिस गच्छ में आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक, प्रवर्तक और स्थविर—ये पांचों नहीं होते या इन पांचों में से कोई एक नहीं होता, उस गच्छ में नहीं रहना चाहिए। इनके न होने से मुख्यतः पांच दोष उत्पन्न होते हैं—

- ० अशुभ—मृतक की परिष्ठापनविधि आदि में कठिनाई।
- ० ग्लान की सेवा-व्यवस्था का अभाव।
- ० परिज्ञा—अनशनधारी की समाधि में बाधा।
- ० कुल-संघ-कार्य आदि में बाधा।
- ० आलोचना के अभाव में सशल्य मरण से चरणाश।

५. गणिविहीन गण नहीं

नच्चणहीणा व नडा, नायगहीणा व रूविणी वावि।
चक्कं च तुंबहीणं, न भवति एवं गणो गणिणा।।
(व्यभा २५९५)

जैसे नर्तनहीन नट, नायकविहीन रूपवती स्त्री और तुम्ब-हीन चक्र नहीं होता, वैसे ही गणी के बिना गण नहीं होता।

६. निरहंकारी : गण में मान्य व्यवहारी

गारवरहितेण तहिं, ववहरियव्वं तु संघमज्झम्मि।...
परिवार-इड्ढि-धम्मकहि-वादि-खमगो त्हेव नेमिन्ती।
विज्जा राइणियाए, गारवो त्ति अट्टहा होति।।
...जदि गारवेण जंपेज्ज, अगीतो...।।

न हु गारवेण सक्का, ववहरिउं संघमज्झयारम्मि ।.....

(व्यभा १७१८-१७२०, १७२३)

व्यवहारी को संघ में गौरव (अहंकार) रहित होकर व्यवहार करना चाहिये। गौरव के आठ प्रकार हैं—

- | | |
|-------------------------|---------------------------|
| १. परिवार का गौरव | ५. तपस्वी होने का गौरव |
| २. ऋद्धि का गौरव | ६. नैमित्तिक होने का गौरव |
| ३. धर्मकथी होने का गौरव | ७. विद्यातिशय का गौरव |
| ४. वादी होने का गौरव | ८. रत्नाधिक होने का गौरव |

जो व्यवहारछेदी इन गौरवों के वशीभूत होकर कहता है, 'तुम मुझे ही प्रमाण मानो' वह अगीतार्थ है। संघ में गौरव से व्यवहार करना शक्य नहीं है।

७. सारणा-वारणाशून्य गच्छ गच्छ नहीं

जहिं नत्थि सारणा वारणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि ।

सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीणा मोत्तव्वो ॥

विस्मृते क्वचित् कर्तव्ये 'भवतेदं न कृतम्' इत्येवंरूपा स्मारणा सारणा, अकर्तव्यनिषेधो वारणा, 'अनाभोगादिना अन्यथा कुर्वतः सम्यक्प्रवर्तना प्रेरणा, निवारितस्यापि पुनः पुनः प्रवर्तमानस्य खरपरुषोक्तिभिः शिक्षणं प्रतिनोदना।

(बृभा ४४६४ वृ)

जिसमें सारणा, वारणा, प्रेरणा और प्रतिनोदना नहीं हैं, वह गच्छ गच्छ नहीं है। संयमाभिलाषी के लिए वह त्याज्य है।

० सारणा—कर्तव्य की विस्मृति होने पर 'आपने यह नहीं किया'—इस रूप में स्मारणा करना।

० वारणा—अकरणीय का निषेध करना।

० प्रेरणा—कर्तव्यबोध के अभाव में अन्यथा करते हुए को सम्यक् प्रवृत्त करना।

० प्रतिनोदना—निवारणा करने पर भी पुनः-पुनः उसी कार्य में प्रवर्तमान को खर-परुष वचनों से प्रशिक्षण देना।

८. गच्छ का परिमाण

पणगो व सत्तगो वा, कालदुवे खलु जहण्णतो गच्छो ।

बत्तीसती सहस्सो, उक्कोसो सेसओ मज्झो ॥

ऋषभस्वामिनो ज्येष्ठस्य गणधरस्य पुण्डरीकनाम्नो द्वात्रिंशत्सहस्रो गच्छोऽभूत् । (व्यभा १७३१ वृ)

ऋतुबद्धकाल में जघन्यतः पांच और वर्षाकाल में सात साधुओं का गच्छ होता है। उत्कृष्टतः बत्तीस हजार साधुओं का गच्छ होता है, शेष मध्यम है।

अर्हत् ऋषभप्रभु के ज्येष्ठ गणधर पुण्डरीकस्वामी (ऋषभसेन) के बत्तीस हजार साधुओं का गच्छ था।

९. कौन महर्द्धिक—गच्छ या जिनकल्प ?

गच्छे जिणकप्पम्मि य, दोण्ह वि कयरो भवे महिड्डीओ ।

निष्फायग-निष्फन्ना, दोन्नि वि होंती महिड्डीया ॥

दंसण-नाण-चरित्ते, जम्हा गच्छम्मि होइ परिवुड्डी ।

एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्डीओ ॥

पुरतो व मग्गतो वा, जम्हा कत्तो वि नत्थि पडिबंधो ।

एएण कारणेणं, जिणकप्पीओ महिड्डीओ ॥

दीवा अन्नो दीवो, पइप्पई सो य दिप्पइ तहेव ।

सीसो च्चिय सिक्खंतो, आयरिओ होइ नऽन्ततो ॥

रयणायरो उ गच्छो, निष्फादओ नाण-दंसण-चरित्ते ।

एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्डीओ ॥

(बृभा २१०९-२११२, २१२२)

गच्छ और जिनकल्प—दोनों में महर्द्धिक कौन है? निष्पादक और निष्पन्न—दोनों ही महर्द्धिक हैं। सूत्र और अर्थ से जिनकल्प का निष्पादक होने से गच्छ महर्द्धिक है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-निष्पन्न होने से जिनकल्पी महर्द्धिक है।

गच्छ में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि होने के कारण गच्छ महर्द्धिक है। जिनकल्पी पूर्व विहत और अग्रिम विहरिष्यमाण क्षेत्रों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रतिबद्ध नहीं होते हैं, इसलिए जिनकल्पी महर्द्धिक हैं।

एक दीप से दूसरा दीप प्रज्वलित होता है और वह मूल दीप उसी रूप में दीप्त रहता है। जिनकल्पिकरूपी दीप भी गच्छदीप से ही प्रादुर्भूत होता है और वह गच्छदीप भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र से उसी रूप में प्रदीप्त रहता है। शिष्य ही शिक्षित होता हुआ क्रमशः आचार्य बनता है। स्थविरकल्पिक ही तप आदि भावनाओं से अपने को भावित करता हुआ क्रमशः जिनकल्पी होता है, अन्य प्रकार से नहीं होता। गच्छ रत्नाकर की भांति जिनकल्पिक आदि रत्नों का उत्पत्तिस्थल है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र का निष्पादक है, इसलिए गच्छ महर्द्धिक है।

० गुफासिंह और महिलाद्वय दृष्टांत
 सीहं पालेइ गुहा, अविहाडं तेषा सा महिड्डीया।
 तस्स पुण जोव्वणम्मि, पओअणं किं गिरिगुहाए॥
 आणा-इस्सरियसुहं, एगा अणुभवइ जइ वि बहुतत्ती।
 देहस्स य संठप्पं, भोगसुहं चेव कालम्मि॥
 परवावारविमुक्का, सरीरसक्कारतप्परा निच्चं।
 मंडणए वक्खित्ता, भत्तं पि न चेवई अपया॥
 वेयावच्चे चोयण-वारण-वावारणासु य बहूसु।
 एमादीवक्खेवा, सययं झाणं न गच्छम्मि॥
 (बृथा २११४, २११६-२११८)

गुफासिंह-दृष्टांत—गुफा सिंहशिशु की व्याघ्र आदि वन्य-पशुओं से सुरक्षा करती है इसलिए गुफा महर्द्धिक है। सिंह यौवन प्राप्त होने पर स्वयं अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाता है, तब उसे गुफा से क्या प्रयोजन?

महिलाद्वय-दृष्टांत—सप्रसवा महिला यद्यपि अपने पुत्र के स्नान आदि अनेक कार्यों में व्यापृत रहती है, फिर भी आज्ञा और ऐश्वर्य के सुख का अनुभव करती है तथा समय पर देह को सज्जित कर भोगसुख को भी प्राप्त करती है। अप्रसवा स्त्री अपत्य आदि की चिंता से मुक्त होती है इसलिए वह सदा शरीर संस्कार में तत्पर रहती है, शरीर को विभूषित करने में इतनी व्यस्त रहती है कि उसे भोजन की भी स्मृति नहीं रहती।

स्थविरकल्पिक मुनि सप्रसवा स्त्री की तरह वैयावृत्य, प्रेरणा, वारणा, वस्त्र-पात्र-उत्पादन आदि अनेक कार्यों में व्यापृत रहता है इसलिए निरन्तर आत्मध्यान में लीन नहीं रह सकता। जिनकल्पिक मुनि अप्रसवा स्त्री की तरह वैयावृत्य आदि व्याक्षेपों से मुक्त होता है, इसलिए आत्ममण्डन रूप शुभ ध्यान में निरन्तर लगा रहता है।

१०. गुरुकुलवास में गुणवृद्धि

भीतावासो रती धम्मो अणायतणवज्जणं।
 षिग्गहो य कसायाणं, एयं धीराण सासणं॥
 आयरियादीण भया, पच्छित्तभया ण सेवति अकज्जं।
 वेयावच्चेऽज्जयणोसु सज्जते तदुवयोगेणं॥
कोहादी व उदिण्णे, परिणिव्वावेति से अण्णे॥

णाणस्स होइ भागी, थिरयरतो दंसणे चरित्ते य।
 धण्णा आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति॥
 (निभा ५४५४-५४५७)

भीतावास, धर्मानुराग, अनायतनवर्जन और कषायनिग्रह—यह अर्हत् का शासन (अनुशिष्टि) है। गुरुकुलवास में रहने से मुनि के मुख्यतः चार गुण निष्पन्न होते हैं—

- ० भीतावास—वह आचार्य आदि के भय अथवा प्रायश्चित्त के भय से अकरणीय कार्य नहीं करता है।
- ० धर्मरति—वैयावृत्य, स्वाध्याय आदि धर्मों में अनुरक्त तथा सूत्र-अर्थ के अध्ययन में सतत उपयुक्त रहता है।
- ० अनायतनवर्जन—कुशीलसंसर्ग का वर्जन करता है।
- ० कषायनिग्रह—कषाय की उद्दीरणा होने पर आचार्य या अन्य साधुओं के प्रशिक्षण द्वारा उसका शमन किया जाता है।

गुरुकुलवास में रहने वाला ज्ञान का भागी होता है। दर्शन और चारित्र में वह और अधिक स्थिर बनता है। वे धन्य हैं, जो आजीवन गुरुकुलवास को नहीं छोड़ते।

जइमं साहुसंसग्गि, न विमोक्खसि मोक्खसि।
 उज्जतो व तवे निच्चं, न होहिसि न होहिसि॥
 सच्छंदवत्तिया जेहिं, सग्गुणेहिं जढा जढा।
 अप्पणो ते परेसिं च, निच्चं सुविहिया हिया॥
 जेसिं चाऽयं गणे वासो, सज्जणाणुमओ मओ।
 दुहाऽवाऽऽराहियं तेहिं, निव्विकप्पसुहं सुहं॥
 नवधम्मस्स हि पाएण, धम्मो न रमती मती।
 वहए सो वि संजुत्तो, गोरिवाविधुरं धुरं॥
 एगागिस्स हि चित्ताइं, विचित्ताइं खणे खणे।
 उच्चज्जंति वियंते य, वसेवं सज्जणे जणे॥
 (बृथा ५७१५-५७१९)

गुरु कहते हैं— 'यदि तुम साधुसंसर्ग का परित्याग नहीं करोगे तो मोक्ष-सुख को प्राप्त करोगे। तप आदि में सतत उद्यमशील नहीं बनोगे तो अव्याबाध सुख को प्राप्त नहीं करोगे।'

जो ज्ञान आदि सदगुणों से रहित स्वच्छन्दता का परिहार करते हैं, वे सुविहित मुनि स्व-पर का हित साधते हैं।

जिनकी अर्हत् द्वारा अनुमत गुरुकुलवास में रुचि/प्रीति होती है, उनके द्वारा निरुपम निर्वाणसुख और श्रमणसुख—ये दोनों ही प्रकार सुखपूर्वक आराधित होते हैं।

नवदीक्षित मुनि का मन प्रायः धर्म में रमण नहीं करता है किन्तु वह भी गच्छ में साधुओं के साथ संयुक्त होकर संयमधुरा को वहन कर लेता है। जैसे एक बैल दूसरे बैल के साथ जुड़कर अविषम धुरा को वहन कर लेता है।

अकेले व्यक्ति के चित्त में क्षण-क्षण में शुभ-अशुभ अध्यवसाय-विचार उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं इसलिए सुसाधुओं के समुदाय में रहना चाहिए।

११. संघ में संयमसुरक्षा के स्थान

जइ वि य निगयभावो, तह वि य रक्खिज्जते स अण्णेहिं ।
वंसकडिल्ले छिण्णो, वि वे लुओ पावए न महिं ॥
(व्यभा २६९५)

बांसों के गहन प्रदेश में छिन्न बांस भी अन्य बांसों के कारण पृथ्वी पर नहीं गिरता। इसी प्रकार संयम से निर्गत भावधारा वाला साधु अपने अन्य सहयोगी साधुओं द्वारा सुरक्षित रहता है।

लज्जणिज्जो उ होहामि, लज्जए वा समायरं ।
कुलागमतवस्सी वा, सपक्खपरपक्खतो ॥
असिलोगस्स वा वाया, जोऽतिसंकति कम्मसं ।
तहावि साधु तं जम्हा, जसो वण्णो य संजमो ॥
दाहिति गुरुदंडं तो जइ नाहिति तत्ततो ।
लोए लोउत्तरे चेव, गुरवो मज्झ सम्मता ।
मा हु मज्झावराहेण, होज्ज तेसिं लहुत्तया ॥
माणणिज्जो उ सव्वस्स, न मे कोई न पूयए ।
तणाण लहुतरो होहं, इति वज्जेति पावगं ॥
आयसक्खिधमेवेह, पावगं जो वि वज्जते ।
अप्पेव दुट्टसंकप्पं, रक्खा सा खलु धम्मतो ॥
निसग्गुस्सगकारी य, सव्वतो छिन्नबंधणो ।
एगो वा परिसाए वा, अप्पाणं सोऽभिरक्खति ॥

(व्यभा २७४९, २७५०, २७५२, २७५४-२७५७)

संघ में पापवर्जन के चार कारण हैं—

१. लज्जा—मैं पापाचरण करूंगा तो लज्जित होऊंगा, कुल-गण-

संघ, बहुश्रुत, तपस्वी, श्रावक और परतीर्थिक को अपना मुंह कैसे दिखाऊंगा? इस लज्जा से वह पाप नहीं करता।

२. भय—अवर्णवाद के भय से वह दुष्कृत्य करता हुआ अत्यधिक शंकित होता है। यद्यपि वह अपयश के भय से अशुभ आचरण नहीं करता, फिर भी वह अच्छा है, क्योंकि उसने यश की कामना की है। यश, वर्ण और संयम एकार्थक हैं। तत्त्वतः गुरु को मेरा दुष्कृत ज्ञात हो जाएगा तो वे मुझे उग्र दण्ड देंगे—इस प्रकार गुरुदण्ड के भय से वह पाप नहीं करता।

३. गौरव—मेरे गुरु लौकिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में सम्मान्य-बहुमान्य हैं, मेरे अपराध के कारण उनकी लघुता न हो।

मैं सर्वमान्य हूँ। मैं ऐसा काम न करूँ जिससे अपूज्य बन जाऊँ। यदि मैं पापाचरण करूँगा तो तृण से भी तुच्छ हो जाऊँगा—यह सोचकर वह पाप का वर्जन करता है।

४. धर्मश्रद्धा—जो आत्मसाक्षी से ही पाप का परिवर्जन करता है, उसके दुष्ट संकल्प होता ही नहीं (और कभी हो भी जाता है तो वह उसे विफल कर देता है)—यह आत्मरक्षा धर्मश्रद्धा का परिणाम है।

तीव्र धर्मश्रद्धावान् स्वभावतः उत्सर्गकारी होता है—विधि-विधानों की यथावत् अनुपालना करता है। वह सर्वत्र ममत्व के बंधन से मुक्त होता है, अकेला हो या परिषद् में, सदा पापकर्म से अपनी रक्षा करता है।

१२. संघप्रभावक राजा सम्प्रति

अज्जसुहत्थाऽऽगमणं, दट्ठुं सरणं च पुच्छणा कहणा ।
पावयणम्मि य भत्ती, तो जाता संपतीरण्णो ॥
.....तसजीवपडिक्कमओ पभावओ समणसंघस्स ॥
जीवन्तस्वामिप्रतिमावन्दनार्थमुज्जयिन्यामार्यसुहस्तिन
आगमनम्.....आर्यसुहस्तिगुरून् दृष्ट्वा नृपतेर्जातिस्मरणम् ।
पृच्छा कृता—भगवन्! अव्यक्तस्य सामायिकस्य किं फलम्?
सूरिराह—राज्यादिकम् ।.....ततः सूरय उपयुज्य कथयन्ति—
.....त्वं पूर्वभवे मदीयः शिष्य आसीत् ।

(बृभा ३२७७, ३२७८ वृ)

उज्जयिनी में जीवन्तस्वामी की प्रतिमावन्दना के लिए आर्यसुहस्ती का आगमन। उन्हें देख सम्प्रति को अपने पूर्वजन्म की स्मृति हो गई, तब उसने पूछा—अव्यक्त सामायिक का क्या

फल है ? आचार्य ने कहा—राज्य आदि की प्राप्ति। फिर उपयोग-उपयुक्त होकर कहा—तुम पूर्वभव में मेरे शिष्य थे। तब से राजा सम्प्रति की जिनप्रवचन में श्रद्धा उत्पन्न हो गई। वह श्रावक बन गया और श्रमणसंघ की प्रभावना करने लगा। (द्र आर्यक्षेत्र)

१३. संघकार्य की प्रधानता : विलंब का प्रायश्चित्त

चोएति कहं तुब्भे, परिहारतवं गतं पवणं तु।
निक्खिविंडं पेसेहा, चोदग! सुण कारणमिणं तु॥
तिक्खेसु तिक्खकज्जं, सहमाणेसु य कमेण कायव्वं।
न य नाम न कायव्वं, कायव्वं वा उवादाए॥
वणकिरियाए जा होति, वावडा जर-धणुग्गहादीया।
काउमुवहवकिरियं, समेंति तो तं वणं वेज्जा॥
जह आरोगे पगतं, एमेव इमं पि कम्मखवणेणं।
इहरा उ अवच्छल्लं, ओभावण तित्थहाणी य॥
घुट्टम्मि संघकज्जे, धूलीजंधो वि जो न एज्जाही।
कुल-गण-संघसमाए, लग्गति गुरुगे चउम्मासे॥
(व्यभा ६९८-७०१, १६५५)

शिष्य ने प्रश्न किया—आर्यप्रवर! दुष्कर परिहारतप वहन करने वाले को बीच में ही तप स्थगित कर अन्यत्र भेजते हैं। ऐसा क्यों? गुरु ने कहा—शिष्य! तुम इसका कारण सुनो।

तीक्ष्ण (बड़े और शीघ्र करने योग्य) और तीक्ष्णतर कार्यों के उत्पन्न होने पर जो तीक्ष्णतर (गुरुतर अतिपाति) कार्य है, उसे पहले करना चाहिये। कहा भी है—

‘युगपत्समुपेतानां, कार्याणां यदतिपाति तत्कार्यम्।
अतिपातिष्वपि फलं, फलदेष्वपि धर्मसंयुक्तम्॥’

सहमान कार्यों को क्रमशः करना चाहिये। तीक्ष्णतर कार्य के पश्चात् सहमान (अनतिपाति) कार्य नहीं करना चाहिए—ऐसा नहीं है। यदि दो अतिपाति कार्य एक साथ समुत्पन्न हों तो गुरु-लघु का विमर्श कर जो कार्य प्रवचन या संघ का उपकारी है, उसे सर्वप्रथम करना चाहिए।

व्रण की चिकित्सा प्रारंभ की हुई है, बीच में ही ज्वर या धनुग्रहवात जैसी घातक व्याधि उत्पन्न हो जाये तो कुशल वैद्य पहले उस भयंकर व्याधि की चिकित्सा करते हैं, तत्पश्चात् उस व्रण का शमन करते हैं।

जैसे चिकित्सा के क्षेत्र में आरोग्य का प्रसंग प्रथम है, वैसे ही मुमुक्षु के लिए कर्मक्षयकारी अनुष्ठान प्रथम है। संघकार्य को पहले करना चाहिए अन्यथा संघअवात्सल्य, अपभ्राजना और तीर्थहानिजन्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

संघकार्य की घोषणा को सुनकर प्राधूर्णक मुनि धूलिजंध अवस्था में भी (पैरों की धूलि झाड़े बिना ही) त्वरता से (कार्यस्थल पर) पहुंच जाए। शक्ति होने पर भी जो कुल-गण-संघ-समवाय में उपस्थित नहीं होता है, वह चतुर्गु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

१४. गण-अपक्रमण के आठ कारण

.....अट्टहा पुण, णियमा हि इमं अवक्कमणं॥
अब्भुज्जत ओहाणे, एक्केक्क-दुभेद होज्जऽवक्कमणं।
णाणादिकारणं वा, वुग्गहो वा.....॥
अब्भुज्जयं दुविधं—अब्भुज्जतमरणेण-अब्भुज्जय-
विहारेण वा।ओहाणं दुविधं—विहारोधावणेण लिंगोधावणेण
वा,दंसणचरित्तद्वा य....। (निभा ५५९४, ५५९५ चू)

आठ कारणों से गण से अपक्रमण किया जाता है—

- | | |
|-------------------|------------|
| १. अभ्युद्यतमरण | ५. ज्ञान |
| २. अभ्युद्यतविहार | ६. दर्शन |
| ३. विहार अवधावन | ७. चारित्र |
| ४. लिंग अवधावन | ८. कलह |

(इनमें तीसरा, चौथा और आठवां—ये अप्रशस्त कारण हैं, शेष प्रशस्त कारण हैं। स्थानांग (७/१) के अनुसार सात कारणों से गण से अपक्रमण (दूसरे गण की उपसंपदा को स्वीकार) किया जा सकता है—

- सब धर्मों (श्रुत-चारित्र के प्रकारों) की प्राप्ति हेतु।
- कुछेक धर्मों की विशिष्ट प्राप्ति हेतु।
- सर्वधर्मों के प्रति जो संशय है, उसे दूर करने के लिए।
- देशविचिकित्सा दूर करने के लिए।
- सब धर्मों को दूसरों को देने के लिए।
- कुछेक धर्मों को दूसरों को देने के लिए।
- एकलविहारप्रतिमा प्रतिपत्ति के लिए।)

संज्ञी—अविरतसम्यग्दृष्टि। श्रावक।

‘श्रावकः’ प्रतिपन्नाणुव्रतः, ‘संज्ञी’ अविरतसम्यग्दृष्टिः,
‘असंज्ञी’ मिथ्यादृष्टिः। (बृभा १९११ की वृ)

अणुव्रती को श्रावक, अविरतसम्यग्दृष्टि को संज्ञी और मिथ्यादृष्टि को असंज्ञी कहा गया है।

* सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि द्र सम्यक्त्व
* सम्यग्दृष्टि और संज्ञीश्रुत द्र श्रीआको १ श्रुतज्ञान

सो भविय सुलभबोही, परित्तसंसारिओ पयणुकम्मो।”
सुलभा—सुप्रापा बोधिः—अर्हद्धर्मप्राप्तियस्याऽसौ
सुलभबोधिकः असावपि दीर्घसंसारी स्यादित्याह—परीतः—
परिमितः संसारो यस्य”। (बृभा ७१४ वृ)

भव्य प्राणी भी कदाचित् दुर्लभ-बोधि हो सकता है, इसलिए सुलभबोधि विशेषण का प्रयोग किया जाता है। जिसे अर्हत् धर्म की प्राप्ति सुलभ है, वह सुलभबोधि है। वह भी दीर्घसंसारी हो सकता है, अतः परीतसंसारी—परिमित भवभ्रमण करने वाला, इस विशेषण का प्रयोग हुआ है। परीतसंसारी भारी कर्मों वाला भी हो सकता है। जो प्रतनुकर्मा है, वह शीघ्र मुक्त हो जाता है।

.....सन्नी, दंसणऽहाभद् दाणसद्धे य।”
‘संज्ञी’ गृहीताणुव्रतः.....दर्शनसम्पन्नोऽविरत-सम्यग्दृष्टिः,
‘यथाभद्रकः’ सम्यक्त्वरहितः परं सर्वज्ञशासने साधुषु च
बहुमानवान्, ‘दानश्राद्धः’ दानरुचिः। (बृभा १९२६ वृ)

श्रावक की चार कक्षाएँ हैं—

१. संज्ञी—जिसने अणुव्रतों को स्वीकार किया है।
२. दर्शनसम्पन्न—जो व्रती नहीं है, किन्तु सम्यग्दृष्टि है।
३. यथाभद्रक—जो सम्यक्त्व से रहित है, किन्तु जिनशासन और साधुओं के प्रति बहुमान रखने वाला है।
४. दानश्राद्ध—जो प्रीतिपूर्वक साधु को दान देने वाला है।
(श्रावक की चार भूमिकाएँ हैं—१. सुलभबोधि, २. सम्यग्-
दृष्टि, ३. व्रती, ४. प्रतिमाधारी।

संज्ञी को व्रती, दर्शनसम्पन्न को सम्यग्दृष्टि और यथाभद्र को सुलभबोधि कहा जा सकता है।)

* प्रतिमाधारी श्रावक द्र उपासकप्रतिमा

ते वि य पुरिसा दुविहा, सन्नी अस्सन्निणो य बोधव्वा।
मज्झत्थाऽऽभरणपिया, कंदप्पा काहिया चैव॥
आभरणपिए जाणसु, अलंकरिते उ केसमादीणि।
सइरहसिय-प्पललिया, सरीरकुइणो य कंदप्पा॥
अक्खाइयाउ अक्खाणगाई गीयाई छलियकव्वाइ।
कहयंता य कहाओ, तिसमुत्था काहिया होंति॥
एएसिं तिण्हं पी, जे उ विगाराण बाहिरा पुरिसा।
वेरग्गरुई निहुया, निसग्गहिरिमं तु मज्झत्था॥

.....देवगुरुधर्मतत्त्वानां यथावत् परिज्ञानं वा विद्यते येषां
ते संज्ञिनः, श्रावकाः। (बृभा २५६२-२५६५ वृ)

पुरुष दो प्रकार के हैं—संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञा का अर्थ है—देव, गुरु और धर्मतत्त्व—इस त्रिपदी का यथार्थ परिज्ञान। यह संज्ञा जिसके होती है, वह संज्ञी—श्रावक और जिसके नहीं होती, वह असंज्ञी है। प्रत्येक के चार-चार भेद हैं—

१. आभरणप्रिय—केश आदि को अलंकृत करने वाले।
२. कांदर्पिक—स्वेच्छा से अट्टहासपूर्वक हंसने वाले, द्यूतक्रीडा आदि करने वाले तथा शारीरिक कामचेष्टाएं करने वाले।
३. काथिक—आख्यायिका (तरंगवती, मलयवती आदि), आख्यान (धूर्ताख्यान आदि), गीत, शृंगारकाव्य, कथा (वसुदेवचरित आदि) तथा त्रिसमुत्था (धर्म, काम और अर्थ—इस पुरुषार्थत्रयी की वक्तव्यता वाली) संकीर्ण कथा—इन कथाओं को कहकर अपनी आजीविका चलाने वाले पुरुष।
४. मध्यस्थ—जो आभरण, कंदर्प और कथा—इनसे उत्पन्न विकारों से रहित हैं, वैराग्यरुचि और इन्द्रियप्रतिसंलीन हैं तथा स्वभाव से ही जो लज्जावान् हैं, वे मध्यस्थ पुरुष हैं।

(श्रद्धा और वृत्ति की तरतमता के आधार पर श्रमणोपासक को चार वर्गों में विभक्त किया गया है—

१. माता-पिता के समान—जिनमें श्रमणों के प्रति प्रगाढ़ वत्सलता होती है.....। माता-पिता के समान श्रमणोपासक तत्त्वचर्चा व जीवननिर्वाह—दोनों प्रसंगों में वत्सलता का परिचय देते हैं।
२. भाई के समान—जिनमें श्रमणों के प्रति वत्सलता और उग्रता दोनों होती है। इस कोटि के श्रमणोपासक तत्त्वचर्चा में निष्ठुर वचनों का प्रयोग कर देते हैं, किन्तु जीवननिर्वाह के प्रसंग में उनका हृदय वत्सलता से परिपूर्ण होता है।

३. मित्र के समान—जिन श्रमणोपासकों में सापेक्ष प्रीति होती है और कारणवश प्रीति का नाश होने पर वे आपत्काल में भी उपेक्षा करते हैं, उनकी तुलना मित्र से की गई है। इस कोटि के श्रमणोपासक अनुकूलता में वत्सलता रखते हैं और कुछ प्रतिकूलता होने पर श्रमणों की उपेक्षा करने लग जाते हैं।

४. सौत के समान—कुछ श्रमणोपासक ईर्ष्यावश श्रमणों में दोष ही देखते हैं, किसी भी रूप में उपकारी नहीं होते, उनकी तुलना सपत्नी (सौत) से की गई है।

आन्तरिक योग्यता और अयोग्यता के आधार पर श्रमणोपासक के चार वर्ग किए गए हैं—

१. आदर्श के समान—दर्पण सामने उपस्थित वस्तु का यथार्थ प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार कुछ श्रमणोपासक श्रमण के तत्त्व-निरूपण को यथार्थ रूप में ग्रहण कर लेते हैं।

२. पताका के समान—ध्वजा अनवस्थित होती है। वह जिधर की हवा होती है, उधर ही मुड़ जाती है। इसी प्रकार कुछ श्रमणोपासकों का तत्त्वबोध अनवस्थित होता है।

३. स्थाणु के समान—स्थाणु शुष्क होने के कारण प्राणहीन हो जाता है। उसका लचीलापन चला जाता है। फिर वह झुक नहीं पाता। इसी प्रकार कुछ श्रमणोपासकों में अनाग्रह का रस सूख जाता है। ...फिर वे किसी नये सत्य को स्वीकार नहीं कर पाते।

४. तीखे कांटों के समान—कपड़े में कांटा लग गया। कोई आदमी उसे निकालता है। कांटे की पकड़ इतनी मजबूत है कि वह न केवल उस वस्त्र को ही फाड़ डालता है, अपितु निकालने वाले के हाथ को भी बींध डालता है। कुछ श्रमणोपासक कदाग्रह से ग्रस्त होते हैं। उनका कदाग्रह छुड़ाने के लिए श्रमण उन्हें तत्त्वबोध देते हैं। वे न केवल उस तत्त्वबोध को अस्वीकार करते हैं, किन्तु तत्त्वबोध देने वाले श्रमण को दुर्वचनों से बींध डालते हैं।—स्था ४/४३०, ४३१ टि)

* श्रावक के बारह व्रत..... द्र श्रीआको १ श्रावक

संलेखना—अनशन से पूर्व क्रमिक तप के द्वारा शरीर और कषाय का कृशीकरण। द्र अनशन

संहनन—अस्थि-संरचना। औदारिकशरीर वर्गणा के पुद्गलों से होने वाली शरीर-संरचना।

गाम इति छट्टी मूल-कम्पपगडी। तस्स बायाली-सुत्तरभेदेसु अड्डमो संघयणभेओ गाम। तस्स पुक्खलुदया पुक्खल-सरीरसंघयणं भवति। (निभा ८५ की चू)

आठ मूल कर्मप्रकृतियों में छठी प्रकृति है नाम कर्म, जिसके बयालीस उत्तर भेदों में आठवां भेद है—संहनन नाम कर्म। इस प्रकृति का शुभ रूप में उदय होने पर श्रेष्ठ शरीर संहनन होता है।

* छह संहनन : परिणाम और कर्मबंध द्र कर्म
* छह संहननों का स्वरूप द्र श्रीआको १ संहनन

(० संहनन का अर्थ है—अस्थि-संरचना। किन्तु यह विमर्शनीय है। एकेन्द्रिय जीवों के अस्थिरचना नहीं होती, फिर भी श्वेताम्बर परम्परा में उनके 'शेवार्त' तथा दिगम्बर परम्परा में 'असम्प्राप्त सृपाटिका' संहनन माना गया है। इस आधार पर संहनन की व्याख्या अस्थिरचना से हटकर करने की अपेक्षा है। एकेन्द्रिय के सन्दर्भ को ध्यान में रखकर इसकी व्याख्या यह की जा सकती है—औदारिक शरीरवर्गणा के पुद्गलों से होने वाली शरीर-संरचना का नाम है संहनन। वैक्रिय शरीर में अस्थि, शिरा और स्नायु नहीं होते, इसलिए उसे संहनन शून्य कहा गया है। नैरयिकों के छह संहननों में से कोई संहनन नहीं होता।—भ१/२२४ भाष्य

० नारक और देव असंहननी होते हैं। पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच और सम्मूर्च्छिम मनुष्य—इनके सेवार्त संहनन होता है। गर्भज तिर्यच और गर्भज मनुष्यों के छहों संहनन होते हैं।—समप्र १८६-१९५

* प्रथम संहनन विच्छेद द्र अनशन
* जिनकल्प और पारांचित में संहनन द्र सम्बद्ध नाम
* जिन-स्थविरकल्प : धृति-संहनन द्र स्थविरकल्प

सचित्त—सजीव।

द्र जीवनिकाय

समवसरण—तीर्थकरों का प्रवचनस्थल।

१. समवसरण-रचना : कब ? कैसे ?

० समवसरण : देवकृत

२. समवसरण : लोकत्रयी का आगमन

३. समवसरण : तीर्थकर का प्रवेश

४. समवसरण की मर्यादा-व्यवस्था

* प्रथम-द्वितीय समवसरण

द्र पर्युषणाकल्प

१. समवसरण-रचना : कब ? कैसे ?

जत्थ अपुव्वोसरणं, जत्थ व देवो महिद्धिओ एइ।
वाउदय पुप्फ वहल, पागारतियं च अभिओगा॥
साहारण ओसरणे, एवं जत्थिद्धिमं तु ओसरई।
एक्को च्चिय तं सव्वं, करेइ भयणा उ इयरेसिं॥
(बृभा ११७७, ११८१)

जिस क्षेत्र में समवसरण की रचना पहले कभी नहीं हुई अथवा पहले हो चुकी है, फिर भी यदि महर्द्धिक देव वन्दना के लिए आते हैं तो वहां नियमतः समवसरण की रचना होती है। शक्रेन्द्र आदि के आभियोगिक देव अपने स्वामी का आदेश पाकर वहां योजन परिमण्डल भूमि में संवत्तक वायु की विकुर्बणा करते हैं। उससे रेणु, तृण आदि सारा कचवर बाहर फेंक दिया जाता है। फिर भावी रेणु और संताप की उपशांति के लिए वे उदकबादल की विकुर्बणा कर सुगंधित जल की तथा पुष्पबादल की विकुर्बणा कर जानुपर्यंत अधोन्यस्त वृत्त वाले अचित्त पुष्पों की वृष्टि करते हैं, फिर वे तीन प्रकारों की रचना करते हैं।

अनेक देवेन्द्र वन्दना करने आते हैं, उस समय तो समवसरण की रचना होती ही है। यदि कोई इन्द्र, सामानिक आदि ऋद्धिमान् देव आता है, तब वह अकेला ही समवसरण की रचना करवाता है। यदि इन्द्र, सामानिक आदि महर्द्धिक देव नहीं आते हैं, भवनवासी आदि देव आते हैं, तब समवसरण की रचना वैकल्पिक है।

० समवसरण : देवकृत

अब्धिभतर-मज्झ-बहिं, विमाण-जोइ-भवणाहिवकयाओ।
पायारा तिन्नि भवे, रयणे कणगे य रयए य॥
.....जं चउन्नं करणिज्जं करिंति तं वाणमंतरिया॥
(बृभा ११७८, ११८०)

वैमानिक देव भीतरी रत्नमय परकोटे की रचना करते हैं। ज्योतिष्क देव मध्य में स्वर्णमय और भवनपति देव बाहरी रजतमय परकोटे की रचना करते हैं। शेष करणीय व्यन्तर देव करते हैं।

* प्राकार-रचना, द्वादशविध परिषद् ब्र श्रीआको १ समवसरण

२. समवसरण : लोकत्रयी का आगमन

त्रयो लोकाः संमाहताः, समवसरणे त्रयाणामपि सम्भ-

वात्। तथाहि—समागच्छन्ति भगवतां तीर्थकृतां समवसरणेष्व-
धोलोकवासिनो भवनपतयः, तिर्यग्लोकवासिनो वानमन्तर-
तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-(मनुष्य-)ज्योतिष्काः, ऊर्ध्वलोकवासिनः
कल्पोपपन्नका देवाः। (बृभा १ की वृ)

भगवान् तीर्थकर के समवसरण में अधोलोकवासी भवनपति देव, तिर्यग्लोकवासी व्यन्तरदेव, तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय प्राणी, मनुष्य और ज्योतिष्क देव तथा ऊर्ध्वलोकवासी कल्पोपपन्न देव उपस्थित होते हैं। इस प्रकार समवसरण में तीनों लोक समाहृत होते हैं।

३. समवसरण : तीर्थकर का प्रवेश

सुरुदय पच्छिमाए, ओगाहिंतीए पुव्वओ एति।
दोहिं पउमेहिं पाया, मग्गेण य हांति सत्तउन्ने॥
(बृभा ११८२)

तीर्थकर समवसरण में प्रथम पौरुषी में अथवा पश्चिम पौरुषी में पूर्व दिशा के द्वार से प्रवेश करते हैं। वे प्रवेश करते समय देवविकुर्वित सहस्रपत्र पद्मयुग्म पर पादन्यास करते हैं। उनके पीछे सात अन्य कमल होते हैं। जो-जो पश्चाद्वर्ती कमल होता है, वह-वह चरणन्यास करते हुए भगवान के आगे आ जाता है।

४. समवसरण की मर्यादा-व्यवस्था

इंतं महिद्धियं पणिवयंति ठियमवि वयंति पणमंता।
न वि जंतणा न विकहा, न परोप्परमच्छरो न भयं॥
(बृभा ११८९)

अर्हत्-समवसरण में पहले से ही यदि अल्प ऋद्धि वाले व्यक्ति स्थित हैं तो वे आने वाले महान् ऋद्धि वालों को नमस्कार करते हैं। यदि महर्द्धिक पहले से स्थित हैं तो बाद में प्रवेश करने वाले अल्पर्द्धिक उन्हें प्रणाम करते हुए यथास्थान जाते हैं।

समवसरण में न यंत्रणा (रोक-टोक) होती है, न विकथावार्ता, न परस्पर प्रद्वेष होता है और न भय। (तत्रस्थ व्यक्तियों के मानस तीर्थकर के साम्यसुधासिंधु प्रवाह से प्लवित हो जाते हैं, उनके वैर-विरोध की विषैली ऊर्मियां विलीन हो जाती हैं।)

समिति—चारित्र के अनुकूल प्रवृत्ति।

१. पांच समितियां	
२. ईर्यासमिति : प्राणियुक्तपथगमनविधि	
* ईर्यासमिति का विघ्न	द्र परिमंथ
३. भाषा-समिति : जानते हुए भी मौन	
* भाषा के प्रकार	द्र भाषा
० सावद्य भाषा वर्जन	
० सत्य महाव्रत : भाषासमिति की सूक्ष्मता	
० आगाढ-परुषवचन-निषेध	
० आगाढ वचन : असूचा-सूचा	
० वस्तुसापेक्ष मृदु-अमृदु वचन, षड्विध अवचन	
० निषिद्ध भाषा : नभोदेव आदि	
० अवधारिणी भाषा प्रयोगविधि : षोडश वचन	
० आमंत्रणी भाषा-विवेक	
० इह-परलोक-हितभाषी	
* एषणा समिति	द्र पिण्डैषणा
* एषणा समिति का विघ्न	द्र परिमंथ
४. विचारकल्पक	
० विचारभूमि : उत्सर्गभूमि	
५. उत्सर्ग-समिति : प्रासुक स्थण्डिल	
* जिनकल्पी की स्थण्डिलभूमि	द्र जिनकल्प
० उच्चार-प्रस्ववणभूमि प्रतिलेखन	
० समाधिपात्र	
० उत्सर्ग विधि : दिशा आदि	
* शवपरिष्ठापन विधि	द्र महास्थण्डिल
६. चंचल : गतिचंचलता आदि समिति नहीं	

१. पांच समितियां

इरिएसणभासाणं ।.....

कामं तु सव्वकालं, पंचसु समितीसु होति जतियच्चं ।...

(दशानि ८९, ९०)

मुनि को सदा ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग समिति—इन पांच समितियों से समित रहना चाहिये।

(समिति के आठ प्रकार हैं। समिति और गुप्ति का संयुक्त नाम है प्रवचनमाता। द्र श्रीआको १ समिति)

* जघन्य श्रुत : प्रवचनमाता का ज्ञान द्र स्थविरकल्प

* तीन गुप्तियां

द्र गुप्ति

२. ईर्यासमिति : प्राणियुक्तपथगमनविधि

.....पुरओ जुगामायं पेहमाणे, ददूण तसे पाणे उद्धु पायं रीएज्जा, साहदु.....उक्खिप्प.....तिरिच्छं वा कडु पायं रीएज्जा । सति परक्कमे संजतामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा ।..... (आचूला ३/६)

मुनि आगे युगप्रमाण भूमि को देखता हुआ चले, मार्ग में त्रस प्राणियों को देखे तो पैर को ऊपर उठाकर चले, पैर को संकुचित कर, पैर के अग्रभाग को उत्क्षिप्त कर (एड़ी से) चले, पैर को तिरछा कर चले। दूसरा मार्ग हो तो यतनापूर्वक उससे जाये, सीधे मार्ग से न जाये।

३. भाषा-समिति : जानते हुए भी मौन

से भिक्खु.....गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडि-पहिया उवागच्छेज्जा । ते.....एवं वदेज्जा — आउसंतो! समणा! अविद्याइं एत्तो पडिपहे पासह, तं जहा—मणुस्सं वा, गोणं वा, महिसं वा, पसुं वा, पक्खि वा.....से आइक्खह, दंसेह ।..... ॥केवइए एत्तो गामस्स वा.....मग्गे ? से आइक्खह, दंसेह । तं णो आइक्खेज्जा, णो दंसेज्जा, णो तेसिं तं परिणं परिजाणेज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा, जाणं वा णो जाणंति वएज्जा..... ॥

(आचूला ३/५४, ५८)

भिक्षु को ग्रामानुग्राम परिव्रजन करते हुए बीच में प्रातिपथिक मिलें। वे इस प्रकार कहें—आयुष्मन्! श्रमण! क्या इस प्रतिपथ में मनुष्य, बैल, महिष, पशु या पक्षी को देखा है? (देखा हो तो) बताओ, दिखाओ। यहां से ग्राम या नगर का कौन-सा मार्ग है? उसे बताओ, दिखाओ। वह उनको न बताए, न दिखाए, न उनकी उस परिज्ञा को स्वीकार करे, मौन रहता हुआ उपेक्षा करे, जानता हुआ भी 'जानता हूं' ऐसा न कहे।

० सावद्य भाषा वर्जन

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा इमाइं वइ-आयाराइं सोच्चा णिसम्म इमाइं अणायाराइं अणायरियुव्वाइं जाणेज्जा — जे कोहा वा.....माणा वा.....मायाए वा.....लोभा वा वायं

विउजंति, जाणओ वा.....अजाणओ वा फरुसं वयंति, सव्वमेयं सावज्जं वज्जेज्जा विवेगमायाए ॥

....जा य भासा सच्चा, जा य भासा मोसा, जा य भासा सच्चासोसा, जा य भासा असच्चासोसा, तहप्यगारं भासं सावज्जं सकिरियं कक्कसं कडुयं निदुरं फरुसं अण्हयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परितावणकरिं उद्वणकरिं भूतोव-घाइयं अभिकंखणो भासेज्जा ॥ (आचूला ४/१, १०)

वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी इन वचन-आचारों को सुनकर, अवधारण कर इन पूर्व मुनियों द्वारा अनाचीर्ण अनाचरणीय वचनों को जाने—जो क्रोध, मान, माया और लोभ से वचन का दुष्प्रयोग करते हैं, जानबूझकर या अनजान में परुष बोलते हैं, इस सर्व सावद्य भाषा का विवेकपूर्वक वर्जन करे।

जो सत्यभाषा, मृषाभाषा, मिश्रभाषा और असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा, इस प्रकार की भाषा यदि सावद्य, कर्मबंधकारिणी, कर्कश, कटुक, निष्ठुर, परुष, आस्नवकारिणी, छेदनकारिणी, भेदनकारिणी, परितापकारिणी, प्राण-वियोजनकारिणी और प्राणियों का उपघात करने वाली हो तो मुनि विचारविमर्शपूर्वक सत्य और व्यवहार भाषा भी न बोले।

० सत्य महाव्रत : भाषासमिति की सूक्ष्मता

अस्संजतमतरंते, वट्टइ ते पुच्छ होज्ज भासाए।

वट्टति असंजमो से, मा अणुमति केरिसं तम्हा ॥

....एवं वत्तव्वं—केरिसं ? इह वयणे अत्थावत्तियओगेण वि सुहुमो वि अणुमतिदोसो ण लब्भति। (निभा १०१ चू)

कोई साधु किसी ग्लान गृहस्थ को पूछे—तुम ठीक हो?—यह भाषासमितिजन्य सहसाकार दोष है। इससे असंयमी जीवन के अनुमोदन का दोष लगता है। इससे बचने के लिए इस प्रकार पूछना चाहिए—कैसे है ? (क्या स्थिति है ?)—इसमें अर्थापत्तिप्रयोग होने पर भी सूक्ष्म अनुमति दोष भी नहीं है।

० आगाढ-परुष-वचन-निषेध

जे भिक्खू भदंतं आगाढं फरुसं वदति, वदंतं वा सातिज्जति ॥.....तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहार-द्वाणं अणुघातियं ॥ (नि १०/३, ४१)

जो भिक्षु भदंत (आचार्य आदि) को आगाढ-परुषवचन कहता है, कहते हुए दूसरे का अनुमोदन करता है, वह चातुर्मासिक गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

गादुत्तं गूहणकरं, गाहेतुम्हं व तेण आगाढं।
णेहरहितं तु फरुसं ॥ (निभा २६०८)

कठोर वचन के दो प्रकार हैं—

१. आगाढ वचन—दूसरों को न कहने योग्य गुप्त बात कहना अथवा शरीर में उष्मा पैदा करने वाला वचन बोलना।
२. परुष वचन—स्नेहहीन वचन बोलना।

० आगाढवचन : असूचा-सूचा

आगाढं पि य दुविहं, होइ असूयाइ तह य सूयाए।.....
जाति-कुल-रूब-भासा, धण बल परियाग जस तवे लाभे।
सत्त-वय-बुद्धि-धारण, उग्गह सीले समायारी ॥
अम्हे मो जातिहीणा, जातीमंतेहि को विरोहो णे।
एस असूया सूया, तु णवरि परवत्थु-णिहेसो ॥
.....आतगता तु असूया, सूया पुण पागडं भणति ॥
(निभा २६०७, २६०९, २६१०, २६१६)

आगाढ वचन के दो प्रकार हैं—१. असूचा—अपने दोष बताने के बहाने दूसरों के दोष प्रकट करना। यथा—हम तो जातिहीन हैं, जातिमान् लोगों से हमारा क्या विरोध ?

२. सूचा—स्पष्ट रूप से दूसरों के दोषों को सूचित करना।

जाति, कुल, रूप, भाषा, धन, बल, पर्याय, यश, तप, लाभ, सत्त्व, वय, बुद्धि, धारणा (दृढस्मृति), अवग्रह (बहु-बहुविध आदि), शील और सामाचारी—इन सतरह स्थानों से सूचा-असूचा वचनों की अभिव्यक्ति होती है।

० वस्तुसापेक्ष मृदु-अमृदु वचन, षड्विध अवचन

वत्थुं वियाणिऊणं, एवं खिंसे उवालभेज्जा वा।
खिंसा तु णिप्पिवासा, सपिवासो हो उवालंभो ॥
खिंसा खलु ओमम्मी, खरसज्जे वा विसीयमाणम्मि।
रायणिय-उवालंभो, पुव्वगुरु महिद्धि माणी य ॥
(निभा २६३७, २६३८)

वस्तु (व्यक्ति) को जानकर खिंसा और उपालम्भ देना

चाहिए। निष्ठुर-स्नेहहीन वचनों से भर्त्सना करना खिंसा और मृदु-स्निग्ध वचनों से निन्दा करना उपालम्भ है।

जो छोटे और खरसाध्य (कठोरता से मानने वाले) हैं, स्वखलना करने पर उनकी खिंसा करनी चाहिए।

जो शालिक—ज्येष्ठ हैं, पूर्वगुरु हैं, राजा आदि ऋद्धिमान व्यक्ति हैं अथवा मानी (ऋद्धिमान न होने पर भी स्वाभिमानी) हैं, उन्हें त्रुटि होने पर उपालम्भ देना चाहिए।

नो कप्पइ निग्गंश्राणं...छ अवयणाइं वइत्तए...
अलियवयणे हीलियवयणे खिंसियवयणे फरुसवयणे
गारत्थियवयणे विओसवियं वा पुणो उदीरत्तए ॥ (क ६/१)

निर्ग्रथ को छह प्रकार के अप्रशस्त वचन नहीं बोलने चाहिए—असत्य वचन, अवज्ञापूर्ण वचन, मर्मवेधी वचन, परुष वचन, गृहस्थ वचन (मेरी माता, मेरा पुत्र आदि), उपशांत कलह की उदीरणा करने वाले वचन।

० निषिद्ध भाषा : नभोदेव आदि

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णो एवं वएज्जा—
णभोदेवे ति वा, गज्जदेवे ति वा, विज्जुदेवे ति वा, पवुट्टदेवे
ति वा, निवुट्टदेवे ति वा, पडउ वा वासं मा वा पडउ, णिप्फज्जउ
वा सस्सं मा वा णिप्फज्जउ, विभाउ वा रयणी मा वा विभाउ,
उदेउ वा सूरिए मा वा उदेउ, सो वा राया जयउ मा वा
जयउ । (आचूला ४/१६)

वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी इस प्रकार न बोले—(आकाश को) नभोदेव, (मेघ के गर्जन को) गर्जने वाला देव और (बिजली को) विद्युत देव न कहे। प्रवृष्टदेव (देव बरसा है), निवृष्ट देव (देव नहीं बरसा है)—ऐसा न कहे। वर्षा हो अथवा न हो, धान्य निष्पन्न हो अथवा न हो, रात्रि हो अथवा न हो, सूर्य उदित हो अथवा न हो, वह राजा विजयी हो अथवा न हो—ऐसा न कहे।

० अवधारिणी भाषा-प्रयोगविधि : षोडश वचन

अणुवीइ णिट्ठाभासी, समियाए संजए भासं भासेज्जा...
से एगवयणं वदिस्सामीति एगवयणं...दुवयणं वदिस्सामीति
दुवयणं...बहुवयणं वदिस्सामीति बहुवयणं वएज्जा,
इत्थीवयणं वदिस्सामीति इत्थीवयणं...पुरिसवयणं...
णपुंसगवयणं...अज्झत्थवयणं वदिस्सामीति अज्झत्थवयणं

वएज्जा...उवणीयवयणं...अवणीयवयणं...उवणीयअवणीय-
वयणं...अवणीयउवणीयवयणं वएज्जा, तीयवयणं...
पदुप्पन्नवयणं...अणागयवयणं वदिस्सामीति अणागयवयणं
...पच्चक्खवयणं वदिस्सामीति पच्चक्खवयणं...परोक्ख-
वयणं वदिस्सामीति परोक्खवयणं वएज्जा ॥

(आचूला ४/३, ४)

विचारपूर्वक निष्ठाभाषी (निश्चित जानकारी के पश्चात् निश्चित बोलने वाला) संयमी सम्यक् भाषा बोले। (कहना हो तो वह) १. एकवचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर एकवचन बोले, २. द्विवचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर द्विवचन बोले, ३. बहुवचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर बहुवचन बोले, ४. स्त्रीवचन बोलूंगा—ऐसा जानकर स्त्रीवचन बोले, ५. पुरुषवचन बोलूंगा—ऐसा सोच पुरुषवचन बोले, ६. नपुंसकवचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर नपुंसकवचन बोले, ७. अध्यात्मवचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर अध्यात्मवचन बोले, ८. उपनीत (प्रशंसात्मक) वचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर उपनीत वचन बोले, ९. अपनीत (निन्दात्मक) वचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर अपनीत वचन बोले, १०. उपनीत-अपनीत वचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर उपनीत-अपनीत वचन बोले, ११. अपनीत-उपनीत वचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर अपनीत-उपनीत वचन बोले, १२. अतीत वचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर अतीत संबंधी वचन बोले, १३. वर्तमान संबंधी वचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर वर्तमान वचन बोले, १४. अनागत संबंधी वचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर अनागत वचन बोले, १५. प्रत्यक्षवचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर प्रत्यक्ष वचन बोले, १६. परोक्षवचन बोलूंगा—ऐसा निश्चय कर परोक्ष वचन बोले।

० आमंत्रणी भाषा-विवेक

से भिक्खू...पुमं आमंतेमाणे आमंतिंते वा अपडिसुणेमाणे
णो एवं वएज्जा—होले ति वा, गोले ति वा, वसुले ति वा,
कुपक्खे ति वा, घडदासे ति वा, साणे ति वा, तेणे ति वा,
चारिए ति वा, माई ति वा, मुसावाई ति वा इच्चेयाइं तुमं एयाइं
ते जणगा वा—एत्थप्यगारं भासं सावज्जं सकिरियं जाव
भूतोवघाइयं अभिकंख नो भासेज्जा ॥...एवं वएज्जा—अमुगे
ति वा, आउसो ति वा...सावगे ति वा, उपासगे ति वा, धम्मिए

ति वा, धम्मपिये ति वा—एय्यप्पगारं भासं असावज्जं जाव
अभूतोपघाइयं अभिकंख भासेज्जा ॥ (आचूला ४/१२, १३)

वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी पुरुष को आमंत्रित करते हुए
अथवा आमंत्रित कर चुकने पर (संबंधित व्यक्ति के) न सुनने पर
इस प्रकार न बोले—हे होल! हे गोल! हे वृषल! हे कुपक्ष
(कुत्सित कुलोत्पन्न)! हे घटदास (पानी लाने वाले)! हे श्वान!
हे चोर! हे गुप्तचर! हे मायाविन्! हे मृषावादिन्! तुम ऐसे हो,
तुम्हारे माता-पिता ऐसे हैं—इस प्रकार की सावद्य सक्रिय (हिंसा-
युक्त) यावत् भूतोपघातकारिणी भाषा को पर्यालोचन-पूर्वक न
बोले। भिक्षु इस प्रकार बोले—हे अमुक! हे आयुष्मन्! हे श्रावक!
हे उपासक! हे धार्मिक! हे धर्मप्रिय!—इस प्रकार की निरवद्य
यावत् भूतोपघात न करने वाली भाषा सोच-विचार कर बोले।

० इह-परलोक-हितभाषी

वाहिविरुद्धं भुंजति, देहविरुद्धं च आउरो कुणति।
आयासऽकालचरियादिवारणं एहियहियं तु॥
सामाचारी सीदंत चोयणा उज्जमत संसा य।
दारुणसभावयं चिय, वारेति परत्थहितवादी॥
(व्यभा ६९, ७०)

कोई मुनि व्याधिविरुद्ध (व्याधिवर्धक) आहार करता है
अथवा देहविरुद्ध आचरण करता है। एक मुनि शक्ति-सीमा का
अतिक्रमण कर कोई कार्य करता है, अकालचर्या करता है—जो
मुनि इन कार्यों का निषेध करता है, वह इहलोक हितभाषी है।

जो सामाचारी के आचरण में विषण्ण मुनि को सही आचरण
के लिए प्रेरित करता है, उद्यमशील की प्रशंसा करता है, दारुण
स्वभाव का निवारण करता है, वह परलोक हितभाषी है।

४. विचारकल्पिक

पढित्ते य कहिय अहिय, परिहरति विचारकप्पितो सो उ।
तिविहं तीहि विसुद्धं, परिहर नवगेण भेदेण॥
सूत्रे सप्तसप्तकलक्षणे ओघनिर्मुक्तिलक्षणे वा अप्राप्ते
यदि विचारभूमावेकाकिनं प्रस्थापयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं
चत्वारो गुरुकाः……'त्रिविधं' सच्चित्तमचित्तं मिश्रं च स्थण्डिलं
परिहारविषयेण नवकभेदेन 'त्रिभिः' मनोवाक्कायैर्विशुद्धं
परिहरति…… स भवति विचारकल्पिकः। (बृभा ४१६ वृ)

जिसने आचारचूला के 'उच्चार-प्रसवण सप्तैकक' नामक
अध्ययन अथवा ओघनिर्मुक्ति को पढ़ा है, सुना है, उसके अर्थ को
अधिगत किया है और सूत्रोक्त विधि से स्थण्डिल संबंधी आचरण
करता है, वह विचार-कल्पिक है।

उल्लिखित अध्ययन पढ़ाये बिना विचारभूमि में अकेले
शिष्य को भेजने वाला गुरु चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

सचित्त, आपातसंलोक आदि दोषों से युक्त अचित्त और
मिश्र—इस त्रिविध स्थण्डिल का जो परिहारविषयक नौ भेदों से
परिहार करता है—वहां मनसा, वाचा, कर्मणा न स्वयं जाता है, न
दूसरे को भेजता है और जाने वाले दूसरे का अनुमोदन भी नहीं
करता है, वह विचारकल्पिक है।

० विचारभूमि : उत्सर्गभूमि

सण्णावोसिरणं विचारभूमी। (नि २/४० की चू)

विचारभूमी……द्विविधा—कायिकीभूमिः उच्चारभूमिश्च।
(बृभा ३२०८ की वृ)

संज्ञाव्युत्सर्गभूमि को विचारभूमि कहा जाता है। उसके
दो प्रकार हैं—कायिकीभूमि और उच्चारभूमि।

५. उत्सर्ग समिति : प्रासुक स्थण्डिल

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा……अप्यंडं अप्पपाणं अप्पबीअं
अप्पहरियं अप्पोसं अप्पुदयं अप्पुत्तिंग-पणग-दग-मट्टिय-
मक्कडासंताणयं, तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चार- पासवणं
वोसिरेज्जा ॥ (आचूला १०/३)

वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जहां कीट-अण्ड, जीव-जन्तु,
बीज, हरित, ओस, उदक, चींटियों के बिल, फफूंदी, दलदल और
मकड़ी के जाले न हों, वैसे स्थण्डिल में उच्चार-प्रसवण (मल-
मूत्र) का विसर्जन करे।

* स्थण्डिल के चार प्रकार

द्र श्रीआको १ समिति

० उच्चार-प्रसवणभूमि प्रतिलेखन

जे भिक्खू साणुप्पए उच्चार-पासवणभूमिं ण
पडिलेहेति……आवज्जइ मासियं परिहारट्ठणं उघातिथं॥
साणुप्पओ णाम चउभागावसेसचरिमाए……।

(नि ४/१०८, ११८ चू)

जो भिक्षु चौथी पौरुषी के चौथे भाग में उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रतिलेखन नहीं करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

पासवणुच्चारादीण भूमीओ जो तओ उ पडिलेहे।
अंतो वा बाहिं वा, अहियासिं वा अणहियासिं ॥

अंतो णिवेसणस्स काइयभूमीओ अणहियासियाओ तिन्नि—आसन्न मञ्ज दूरे। अहियासियाओ वि तिन्नि—आसन्न मञ्ज दूरे। बहिं णिवेसणस्स एवं चेव छ काइयभूमीओ एवं पासवणे बारस, सण्णाभूमीओ वि बारस, एवं च ताओ सव्वाओ छउव्वीसं। कयाति एक्कस्स वाघातो भवति तो बितियादिसु परिट्टविज्जति। (निभा १८६० चू)

मुनि उच्चार-प्रस्रवण-परिष्ठापन के लिए तीन भूमियों की प्रतिलेखना करता है। कायिकी भूमि के दो प्रकार हैं—अध्यासिका और अनध्यासिका। इन दोनों के तीन-तीन प्रकार हैं—निकट, मध्य और दूर। प्राचीनकाल में उपाश्रय के भीतर छह और बाहर भी छह—इस प्रकार बारह कायिकी भूमियों की प्रतिलेखना की जाती थी। इसी प्रकार बारह संज्ञाभूमियां होती थीं। कुल चौबीस भूमियों की प्रतिलेखना की जाती थी। इतनी भूमियों का निरीक्षण इसलिए किया जाता था कि एक में बाधा उपस्थित होने पर दूसरी, तीसरी आदि निर्बाध भूमि का उपयोग किया जा सके।

० समाधिपात्र

से भिक्खू...सपाययं वा परपाययं वा गहाय से तमा-
याए एगंतमवक्कमेज्जा अणावायसि असंलोयंसि उच्चार-
पासवणं परिट्टवेज्जा ॥

पात्रकं समाधिस्थानं गृहीत्वा स्थण्डिलं...गत्वा
...प्रस्रवणं...परिष्ठापयेत्। (आचूला १०/२८ वृ)

भिक्षु अपने अथवा दूसरे के पात्र—समाधिपात्र को लेकर एकांत में जाए, अनापात-असंलोक स्थण्डिल में मल-मूत्र का परिष्ठापन करे।

० उत्सर्ग-विधि : दिशा आदि

अजुयलिया अतुरिया, विगहारहिया वयंति पढमं तु।...
दिसि-पवण-गाम-सूरिय-छायाएँ पमज्जिऊण तिक्खुत्तो।
जस्सुग्गहो त्ति काऊण वोसिरे आयमे वा वि॥

उत्तर पुव्वा पुज्जा, जम्माएँ निसीयरा अभिवडंति।
घाणारसा य पवणे, सूरिय गामे अवन्नो उ॥
संसत्तग्गहणी पुण, छायाए निग्गयाएँ वोसिरइ।
छायाऽसति उण्हम्मि वि, वोसिरिय मुहुत्तगं चिट्ठे ॥
(बृभा ४४१, ४५६-४५८)

.....तिण्हं णावापूराणं आयमति..... ॥ (नि ४/११७)

मुनि उत्सर्ग के लिए गुरु को पूछकर प्रथम स्थण्डिल (अनापात-असंलोक) में जाए, समश्रेणी में युगल रूप में न चले, त्वरित गति से न चले, चलते समय कथा-विकथा न करे। दिशा आदि का अवलोकन करे—

० दिशा—पूर्व और उत्तरदिशा लोक में पूज्य मानी जाती है। अतः दिन या रात में उस दिशा में पीठ करके न बैठे। निशाचरों के आवागमन के कारण रात्रि में दक्षिण में पीठ न करे। कहा भी है—

उभे मूत्र-पुरीषे तु, दिवा कुर्यादुदइमुखः।

रात्रौ दक्षिणतरश्चैव, तथा चाऽऽयुर्न हीयते ॥

० पवन-सूर्य-ग्राम-वायु के वेग की ओर पीठ करके बैठने से अशुभ गंधद्रव्य नासिका में प्रविष्ट हो सकते हैं। सूर्य और ग्राम की ओर पीठ करने से लोक में अवज्ञा होती है।

० छाया—जिस मुनि की कुक्षि में कृमि आदि द्वीन्द्रिय जीव हों, वह वृक्ष आदि की छाया में मलोत्सर्ग करे। मध्याह्न में यदि मलोत्सर्ग करना हो और छाया न हो तो धूप में भी शरीर की छाया में मलोत्सर्ग करे और कुछ क्षणों तक वहीं बैठा रहे।

० प्रमार्जन—भूमि का तीन बार प्रतिलेखन-प्रमार्जन करे।

० अनुज्ञा—‘जिसका स्थान है, वह अनुमति दे’—इस प्रकार स्थानाधिपति की अनुज्ञा लेकर व्युत्सर्ग करे।

० आचमन—तीन चुलुक से शुद्धि करे।

६. चंचल : गतिचंचलता आदि समिति नहीं

गइ-ठाण-भास-भावे।.....

दावहविओ गइचंचलो उ ठाणचवलो इमो तिविहो।

कुड्ढादऽसइं फुसइ व, भमइ व पाए व विच्छुभइ ॥

भासाचपलो चउहा, अस त्ति अलियं असोहणं वा वि।

असभाजोग्गमसब्भं, अणूहिउं तं तु असमिक्खं ॥

कज्जविवत्तिं दट्ठुं, भणाइ पुंवि मए उ विण्णायं।

एवमिदं तु भविस्सइ, अदेसकालप्पलावी उ ॥

जं जं सुयमत्थो वा, उद्दिष्टं तस्स पारमप्यत्तो ।
अन्नसुयदुमाणं, पल्लवगाही उ भावचलो ॥
(बृभा ७५१-७५५)

चंचल के चार प्रकार हैं—

१. गति चंचल—जो अत्यन्त द्रुतगामी होता है ।
 २. स्थान चंचल के तीन प्रकार हैं—
 - जो हाथ आदि से दीवार आदि का बार-बार स्पर्श करता है ।
 - जो बैठा-बैठा इधर-उधर घूमता है ।
 - जो पैरों का बार-बार संकोच-विकोच करता है ।
 ३. भाषाचंचल के चार प्रकार हैं—
 - असत्प्रलापी—असत्य अथवा अशोभन बोलने वाला ।
 - असभ्यप्रलापी—असभ्य वचन बोलने वाला ।
 - असमीक्षितप्रलापी—बिना सोचे-विचारे बोलने वाला ।
 - अदेशकालप्रलापी—बिना अवसर बोलने वाला । कार्य को विनष्ट होते देख ऐसा कहने वाला—मैंने तो पहले ही जान लिया था कि यह इस प्रकार होगा ।
 ४. भावचंचल—जो मुनि आवश्यक, दशवैकालिक आदि आगमों के सूत्र और अर्थ का अध्ययन प्रारंभ कर उस अध्ययन को पूर्ण किये बिना ही अन्यान्य शास्त्र रूपी वृक्षों के पल्लवों—आलापक, श्लोक, गाथा आदि को थोड़ा-थोड़ा अपनी रुचि के अनुसार ग्रहण करता है, वह पल्लवग्राही भावचंचल कहलाता है ।
 - * समिति के प्रकार, उदाहरण आदि द्र श्रीआको १ समिति
- सम्यक्त्व** — सम्यग् दृष्टि । अनंतानुबंधीचतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) और दर्शनत्रिक (मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व-मोह)—इस सप्तक के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से होने वाली आत्मविशुद्धि ।

१. सम्यग्दर्शन-मिथ्यादर्शन की परिभाषा

○ दर्शन और ज्ञान में भेद

२. सम्यक्त्व के प्रकार

○ औपशमिक सम्यक्त्व : मिथ्यात्वमोह का अनुदय

○ शेष कर्मों का मंद अनुभाव : नैरयिक दृष्टांत

३. भव्य-अभव्य और ग्रन्थिभेद

४. सम्यक्त्व प्राप्ति : त्रिपुंजी.....अपुंजी

○ सम्यक्त्व-मिथ्यात्व पुद्गलों का संक्रमण

५. सम्यक्त्वप्राप्ति का एक हेतु : जातिस्मृति

६. सम्यक्त्वप्राप्ति और ज्ञान

○ सम्यक्त्व का हेतु : अपाय

* आशातना से सम्यक्त्व का नाश

द्र आशातना

७. मिथ्यात्वप्राप्ति का हेतु और दृष्टांत

८. मिथ्यादर्शन के प्रकार

○ आभिग्रहिक-अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व

९. सम्यक्त्वदीक्षा और वाचना के अयोग्य

१०. अक्रियावादी-कृष्णपक्षी

११. क्रियावादी-शुक्लपक्षी

१. सम्यग्दर्शन-मिथ्यादर्शन की परिभाषा

सोच्चा व अभिसमेच्च व, तत्तरुई चेव होइ सम्मत्तं ।
तत्थेव य जा विरुई, इतरत्थ रुई य मिच्छत्तं ॥

(बृभा १३४)

केवलज्ञानी आदि के उपदेश को सुनकर अथवा जातिस्मरण आदि के द्वारा स्वयं जानकर जो तत्त्वों में रुचि (श्रद्धा) होती है, वह सम्यक्त्व है ।

तत्त्व में अरुचि और अतत्त्व में रुचि होना मिथ्यात्व है ।

○ दर्शन और ज्ञान में भेद

‘यदेवेदं भगवद्भिरुपदिष्टं तदेव तत्त्वं युक्तियुक्तत्वाद् नेतरत्’ इति सम्यग्दर्शनम् । ज्ञानमप्येवंरूपमेवेति कः सम्यग्दर्शन-ज्ञानयोः प्रतिविशेषः ? उच्यते—

दंसणमोग्गह ईहा, नाणमवातो उ धारणा जह उ ।
तह तत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं ॥

...यस्तत्त्वानामवगमः स ज्ञानम्, या त्ववगतेषु तत्त्वेषु रुचिः—परमा श्रद्धा आत्मनः परिणामविशेषरूपा सा सम्यग्दर्शनम्..... ।
(बृभा १३३ वृ)

‘अर्हतों द्वारा जो भी उपदिष्ट है, युक्तियुक्त होने से वही तत्त्व है, अन्य नहीं’—यह सम्यग्दर्शन है और ज्ञान का भी यही रूप है, फिर सम्यग्दर्शन और ज्ञान में क्या भेद है ?

जैसे सामान्य अवबोध के कारण अवग्रह और ईहा दर्शन है, विशेष अवबोधात्मक होने से अपाय और धारणा ज्ञान है, वैसे

ही जो तत्त्वों का अवबोध है, वह ज्ञान है और अवगत तत्त्वों में जो परम श्रद्धा—आत्मा का परिणामविशेष है, वह सम्यग् दर्शन है, जिसके द्वारा उस ज्ञान को रूच्यात्मक किया जाता है।

२. सम्यक्त्व के प्रकार

उवसमियं सासायण, खओवसमियं च वेदगं खइयं ।.....
(बृभा ९०)

सम्यक्त्व के पांच प्रकार हैं— औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक सम्यक्त्व।

* पंचविध सम्यक्त्व का स्वरूप द्र श्रीआको १ सम्यक्त्व

० औपशमिक सम्यक्त्व : मिथ्यात्वमोह का अनुदय
उवसामगसेढिगयस्स होति उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥
वाही असव्वच्छिन्नो, कालाविकखंकरु व्व दड्ढुदुमो ।
उवसामगाण दोणह वि, एते खलु होति दिट्ठंता ॥
ऊसरदेसं दड्ढेल्लयं च विज्झाइ वणदवो पय्य ।
इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं मुणेयव्वं ॥
(बृभा ११८, ११९, १२२)

औपशमिक सम्यक्त्वप्राप्ति के दो स्थान हैं—१. उपशमश्रेणि में आरूढ व्यक्ति औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

२. अक्षीण मिथ्यात्व वाला व्यक्ति, जो अपूर्वकरण में मिथ्यात्व पुद्गलों के तीन पुंज (शुद्ध, मिश्र, अशुद्ध) नहीं करता, वह औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

द्विविध उपशमी अंतर्मुहूर्त तक उपशम सम्यक्त्व का अनुभव कर तत्पश्चात् अवश्य गिरते हैं। जैसे पूर्ण रूप से अक्षीण व्याधि समय पाकर पुनः उद्भूत हो जाती है, दग्ध वृक्ष समय पाकर पुनः अंकुरित हो जाता है, वैसे ही उपशमित मिथ्यात्व अंतर्मुहूर्त पश्चात् पुनः उदित हो जाता है।

औपशमिकसम्यक्त्व में मिथ्यात्वपुद्गलों का अभाव होने से मिथ्यात्व का वेदन नहीं होता। जैसे दावानल तृण आदि से रहित प्रदेश अथवा दग्ध भूमि को प्राप्त कर बुझ जाता है।

० श्लेष कर्मों का मंद अनुभाव : नैरयिक दृष्टांत
जिम्हीभवन्ति उदया, कम्माणं अत्थि सुत्त उवदेसो ।
उववायादी सायं, जह नेरइया अणुभवन्ति ॥

उववाएण व सायं, नेरइओ देवकम्मुणा वा वि ।
अज्जवसाणनिमित्तं, अहवा कम्माणुभावेणं ॥

नैरयिकः.....उपपातकाले सातमनुभवति..... तदानीं हि न तस्य क्षेत्रजा वेदना न परस्परोदीरिता नापि परमाधार्मिको-दीरितेति ।.....देवो हि कश्चिन्महर्द्धिकः पूर्वभवस्नेहतस्तत्र गत्वा कस्यापि कञ्चित्कालं वेदनामुपशमयति, ततः सातं वेदयते ।..... तथाविध शुभाध्यवसायप्रवृत्तिनिमित्तं सातमासादयति, यथा.....सम्यग्दर्शनलाभे हि जात्यन्धस्य चक्षुर्लाभ इव जायते महान् प्रमोदः ।.....कर्मणां सातवेदनीयप्रभृतीनां शुभानाम् अनुभावः.....उदयेन वेदनं तेन सातमनुभवति । तथाहि— भगवतां तीर्थकृतां जन्मनि दीक्षायां ज्ञाने च तत्प्रभावतो नरकेऽप्यालोको जायते, नैरयिकाणामपि च शुभकर्मोदय-प्रसरतः सातमिति । (बृभा १२३, १२४ वृ)

सम्यक्त्वप्राप्ति काल में वेदनीय आदि शेष कर्मों का भी उदय मंद हो जाता है। सूत्र (ग्रंथांतर) में कथन है कि नैरयिक जीव उपपात आदि के समय सातकर्म का अनुभव करते हैं। चार स्थानों से नैरयिक सात का अनुभव करता है—

१. उपपात—जन्म के समय उसके क्षेत्रजा वेदना, परस्पर उदीरित वेदना और परमाधार्मिक द्वारा उदीरित वेदना नहीं होती।

२. देवकर्म—कोई महर्द्धिक देव पूर्वभव के स्नेह के कारण नरक में जाकर कुछ समय के लिए किसी की वेदना को उपशांत कर देता है, तब वह सात का वेदन करता है।

३. अध्यवसान—नैरयिक शुभ अध्यवसाय के निमित्त से सुख प्राप्त करता है। यथा—सम्यक्त्वप्राप्ति के समय उसे महान् हर्ष होता है, मानो जन्मान्ध व्यक्ति को आंख मिल गई हो।

१. कर्म-अनुभाव—सातवेदनीय आदि शुभ कर्मों के उदय से वह सुख का अनुभव करता है। जैसे—तीर्थकरों के जन्म, दीक्षा, कैवल्यप्राप्ति और निर्वाण के अवसर पर उनके प्रभाव से नरक में भी आलोक होता है, तब नैरयिकों को भी शुभ कर्मोदय के योग से सुख होता है।

(चार कारणों से मनुष्यलोक और देवलोक में उद्योत होता है—अर्हन्तों के जन्म, दीक्षा, कैवल्यप्राप्ति और परिनिर्वाणमहोत्सव पर।—स्था ४/४३६, ४३८)

३. भव्य-अभव्य और ग्रंथिभेद
अहभावेण पसरिया, अपुव्वकरणेण खाणुमारूढा ।.....

पच्चोरुहणद्वा खाणुआतो चिद्वृति तत्थ एवावि ।
पक्खविहूणातो पिवीलियातो उडुंति उ सपक्खा ॥
.....भवसिद्धिसलब्धिण य, पंखालपिवीलिया उवमा ॥

कोऽपि मन्दाध्यवसायतया तीव्रविशोधिरहितोऽपूर्व-
करणेन ग्रन्थिभिदामाधातुमुद्यतः समुच्छलितघनरागद्वेष-
परिणामस्तत्रैव तिष्ठति, स्थित्वा च पुनः पश्चात्ततः
प्रतिनवर्त्तते ॥.....भवसिद्धिकाः — कतिपयभवमोक्षगामिनः ।
.....सलब्धिः—उत्तरोत्तरविशुद्धाध्यवसायप्राप्तियेषां ते
सलब्धिकाः । (बृथा १००, १०१, १०४ वृ)

(अभव्य प्राणी ग्रन्थिदेश के पास आकर कैसे रुक जाते हैं ?
वहां से कैसे नीचे गिरते हैं ? तथा भव्य प्राणी ग्रन्थि को भेदकर
आगे कैसे चले जाते हैं ?)

कुछ पिपीलिकाएं सहजभाव से बिल से निकलकर इधर-
उधर जाने लगीं। कुछ पिपीलिकाएं अपूर्व प्रयत्न के द्वारा एक
स्थान पर चढ़ गईं। उनमें से भी पंखविहीन चींटियां स्थान पर ही
ठहर जाती हैं, फिर उससे नीचे आ जाती हैं। पंखयुक्त चींटियां
आकाश में उड़ जाती हैं।

इसी प्रकार तीव्र विशोधिरहित कोई प्राणी मन्द अध्यवसाय
से अपूर्वकरण के द्वारा ग्रन्थिभेद के लिए उद्यत होता है, किन्तु
सघन राग-द्वेष के परिणामों के कारण ग्रन्थि के पार्श्व देश में ही
स्थित हो जाता है, फिर वहां से लौट आता है।

जो प्राणी भवसिद्धिक—कुछेक भवों के बाद मोक्ष जाने वाले
तथा सलब्धिक—उत्तरोत्तर विशुद्ध अध्यवसाय वाले होते हैं, उनको
पंखों वाली पिपीलिकाओं की उपमा दी गई है।

* अपूर्वकरण.....ग्रन्थिभेद द्र श्रीआको १ करण

४. सम्यक्त्व प्राप्ति : त्रिपुंजी.....अपुंजी

सोऊण अहिसमेच्च व, करेइ सो वड्डमाणपरिणामो ।
मिच्छे सम्माभिच्छे, सम्मे वि य पोग्गले समयं ॥
मिच्छत्तम्मि अखीणे, तेपुंजी सम्मदिट्ठिणे नियमा ।
खीणम्मि उ मिच्छत्ते, दु-एकपुंजी व खवगो वा ॥
(बृथा १११, ११७)

केवली आदि की वाणी को सुनकर अथवा जातिस्मरण
आदि के द्वारा सम्यक्त्व के स्वरूप को जानकर अपूर्वकरण में

वर्तमान जीव वर्धमान परिणामधारा के कारण एक साथ मिथ्यात्व
पुद्गलों के तीन पुञ्ज करता है—मिथ्यात्व पुद्गल, सम्यग्-
मिथ्यात्व (मिश्र) पुद्गल और सम्यक्त्व पुद्गल।

जब तक मिथ्यात्व क्षीण नहीं होता, तब तक सम्यक्त्वी
नियमतः त्रिपुंजी होता है। मिथ्यात्वपुंज क्षीण होने पर द्विपुंजी,
मिश्रपुंज के क्षीण होने पर एक पुंजी और सम्यक्त्वपुंज के क्षीण होने
पर अपुंजी अर्थात् क्षपक हो जाता है।

० सम्यक्त्व-मिथ्यात्व पुद्गलों का संक्रमण

मिच्छता संकंती, अविरुद्धा होति सम्म-मीसेसु ।
मीसातो वा दुग्णि वि, ण उ सम्मा परिणमे मीसे ॥
हायंते परिणामे, न कुणति मीसे उ पोग्गले सम्मे ।
न य सोहिया से विज्जंति केइ जे दाणि वेएज्जा ॥
सम्मत्तपोग्गलाणं, वेदेउं सो य अंतिमं गासं ।
पच्छाकडसम्मत्तो, मिच्छत्तं चेव संकमति ॥
(बृथा ११४-११६)

मिथ्यात्व पुद्गलों का सम्यक्त्व और मिश्र (सम्यग्-
मिथ्यात्व) के पुद्गलों में संक्रमण हो सकता है। मिश्र पुद्गलों
का सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के पुद्गलों में संक्रमण हो सकता
है। सम्यक्त्व के पुद्गलों का मिश्र में संक्रमण नहीं होता।

सम्यक्त्वप्राप्ति काल में जिसकी परिणामधारा हीयमान
होती है, वह मिश्र तथा मिथ्यात्व के पुद्गलों को सम्यक्त्व में
संक्रांत नहीं करता और न उसके कोई पूर्वशोधित अन्य पुद्गल
होते हैं, जिनका सम्यक्त्व-निष्ठाकाल में वेदन कर सके।
पश्चात्कृतसम्यक्त्वी सम्यक्त्व पुद्गलों के अंतिम अंश का वेदन
कर मिथ्यात्व में संक्रमण करता है।

५. सम्यक्त्वप्राप्ति का एक हेतु : जातिस्मृति

ये स्वयंभूरमणसमुद्रे मत्स्यास्ते प्रतिमासंस्थितान्
मत्स्यान् उत्प्लानि वा दृष्ट्वेवाऽपोहादि कुर्वन्तो जाति-
स्मरणतः सम्यक्त्वमासादयन्ति । (बृथा १२५ की वृ)

जो स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्य हैं, वे प्रतिमासंस्थित मत्स्यों
अथवा उत्पलों को देखकर ईहा, अपोह और मार्गणा करते हुए
जातिस्मृति (पूर्वजन्मों का ज्ञान) प्राप्त कर उससे सम्यक्त्व को
प्राप्त करते हैं।

६. सम्यक्त्वप्राप्ति और ज्ञान

विभंगी उ परिणामं, सम्पत्तं लहति मतिसुतोहीणि ।
तइभावम्मि मति-सुते, ॥

(बृभा १२५)

विभंगज्ञानी सम्यक्त्व में परिणत होता हुआ तत्काल तीन ज्ञान प्राप्त करता है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान। विभंगज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व में परिणत होता हुआ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्राप्त करता है।

० सम्यक्त्व का हेतु : अपाय

आभिनिबोहमवायं, वयंति तप्यच्चयाउ सम्पत्तं ।
जा मणपज्जवनाणी, सम्पद्दिट्ठी उ केवलिणो ॥

.....आभिनिबोधिकभेदो योऽपायो यद्दशाद् यथा-
वस्थितार्थविनिश्चयस्तं सम्यक्त्वस्य प्रत्ययं वदन्ति पूर्वसूरयः,
सम्यग्ज्ञाने सम्यक्श्रद्धानभावात् ।.....अपायप्रत्ययाच्च सम्यक्त्वं
तावदवसेयं यावन्मनःपर्यायज्ञानिनः ततः परमपायस्याभावात् ।
केवलिनः केवलज्ञानप्रत्ययादेव सम्यग्दृष्टयः । (बृभा ८९ वृ)

आभिनिबोधिक ज्ञान का जो अपाय भेद है जिससे यथावस्थित अर्थ का विनिश्चय होता है—पूर्व आचार्य अपाय को सम्यक्त्व का प्रत्यय—हेतु बताते हैं, क्योंकि सम्यग्ज्ञान सम्यक् श्रद्धान होता है। सम्यक्त्व का यह हेतु मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यवज्ञान पर्यंत होता है। उससे आगे अपाय का अभाव है। केवलज्ञानी केवलज्ञान के प्रत्यय से ही सम्यग्दृष्टि होते हैं।

(दो शब्द हैं—सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि। अपायसद्द्रव्य की अपेक्षा (अपायआभिनिबोधप्रत्ययिक) सम्यग्दर्शन सादिसांत है। सम्यग्दृष्टि सादिअनंत है। केवली और सिद्ध सादिअनंत सम्यग्दृष्टि हैं।—तसू १/७, ८ भा)

७. मिथ्यात्वप्राप्ति के हेतु और दृष्टांत

मतिभेदेण जमाली, पुव्वग्गहितेण होति गोविंदो ।
संसग्गि साव भिक्खु, गोट्टामाहिलऽभिनिवेशेण ॥
(व्यभा २७१४)

चार कारणों से जमाली आदि मिथ्यादृष्टि बने—

कारण	व्यक्ति	कारण	व्यक्ति
१. मतिभेद	जमाली	३. संसर्ग	श्रावक
२. पूर्वाग्रह	गोविन्द	४. अभिनिवेश	गोष्ठामाहिल

गोविंदो णाम भिक्खु । सो एगेणायरिण्ण वादे जितो अट्टारस वारा । ततो तेण चिंतियं सिद्धंतस्सुवं जाव एतेसिं ण लब्धमि ताहे ते जेतुं न सक्केतो ताहे सो णाणावरणहरणद्धा तस्सेवायरियस्स अंते णिक्खंतो । तस्स य सामाडयादि पढेंतस्स सुद्धं सम्पत्तं.....तेण सब्भावो कहितो । ताहे गुरुणा दत्ताणि से वयाणि । (निभा ३६५६ की चू)

० गोविन्द—गोविंद नामक एक बौद्ध भिक्षु थे। वे एक जैन आचार्य द्वारा वाद-विवाद में अठारह बार पराजित हुए। पराजय से दुःखी होकर उन्होंने सोचा कि जब तक मैं इस सिद्धान्त को नहीं जानूंगा, तब तक इन्हें जीत नहीं सकता। इसलिए अपने ज्ञानावरण को दूर करने के लिए उसी आचार्य के पास दीक्षित हुए, सामायिक आदि ग्रंथों का अध्ययन करते हुए उनका सम्यक्त्व शुद्ध हो गया। गोविंद मुनि ने सरलतापूर्वक अपने दीक्षित होने का मूल प्रयोजन गुरु को बतला दिया, तब गुरु ने उन्हें व्रतदीक्षा दी।

.....वायपराइओ वा से, संखडिकरणं च वित्थिण्णं ॥
कइतवधम्मकधाए, आउट्टो बेति भिक्खुगाणाद्धा ।
परमण्णमुवक्खडियं, मा जातु असंजयमुहाइं ॥
तं कुणहऽणुग्गहं मे, साहूजोगेण एसणिज्जेण ।
पडिलाभणा विसेणं, पडिता पडिती य सव्वेसि ॥

भिक्षुपासकः कोऽपि.....वादे पराजितः.....कथय मे भगवन्नार्हतं धर्मम्..... । (व्यभा २३८२-२३८४ वृ)

० भिक्षु-उपासक—एक बार कोई भिक्षु-उपासक वाद में पराजित हो गया। वह छलपूर्वक आचार्य के पास जाकर बोला—भंते ! मुझे अर्हत् धर्म का उपदेश दें। आचार्य ने उपदेश दिया। उसने कपटपूर्वक कहा—मैंने आर्हत धर्म स्वीकार कर लिया है। फिर उसने प्रार्थना की—मैंने भिक्षुओं के निमित्त एक बड़ा जीमनवार किया है, जिसमें पकाया गया परमान् असंयती के मुंह में न चला जाए, इसलिए आप मुझ पर अनुग्रह कर मुनियों को भेजें, मैं साधु योग्य एषणीय आहार दूंगा। मुनि गोचरी गए। उसने विषमिश्रित परमान् का भोजन दिया। मुनि उसको खाकर मृत्यु को प्राप्त हुए।

(० जमालि—एक बार मुनि जमालि रुग्ण हो गया। उसने श्रमणों से कहा—मेरा बिछौना करो। वे करने लगे। अधीरता से पूछा—क्या बिछौना कर दिया? श्रमणों ने कहा—किया नहीं है,

किया जा रहा है। जमालि के मन में विचिकित्सा उत्पन्न हुई— भगवान् महावीर क्रियमाण को कृत कहते हैं—यह मिथ्या है। यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि बिछौना क्रियमाण है, पर कृत नहीं है। इस प्रकार वेदनाविह्वल जमालि मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से निह्व बन गया।—श्रीआको १ निह्व

० गोष्ठामाहिल—‘मिथ्यात्व आदि के द्वारा गृहीत कर्म जीव के साथ एकीभूत हो जाते हैं’—गुरु के द्वारा इसकी व्याख्या सुनकर वह विप्रतिपत्ति को प्राप्त हुआ। उसने कहा—कर्म का जीव के साथ तादात्म्य संबंध होने पर जीव की प्रदेशराशि की तरह कर्मराशि को जीव से अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए यह कथन उचित है कि कर्म जीव का स्पर्श करते हैं, उससे बद्ध नहीं होते।

‘साधु के यावज्जीवन तीन करण तीन योग से सावद्ययोग के प्रत्याख्यान होते हैं’—नौवें प्रत्याख्यान पूर्व की इस व्याख्या को सुनकर गोष्ठामाहिल विप्रतिपत्ति को प्राप्त हुआ। उसने कहा—जिस प्रत्याख्यान में अवधि होती है, वह प्रत्याख्यान आशंसा दोष से दूषित होता है।—श्रीआको १ निह्व

० मिथ्यात्व के तीन हेतु हैं—अभिनवेश आदि। इनके उदाहरण हैं—गोष्ठामाहिल आदि।—श्रीआको १ गुणस्थान)

८. मिथ्यादर्शन के प्रकार

मिच्छादंसणं समासतो दुविहं—अभिग्रहितं अण-भिग्रहितं च। (दशा ६/३ की चू)

संक्षेप में मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है—१. आभिग्रहिक—अभिनवेशात्मक मिथ्यात्व—सही तत्त्व को समझ लेने के बाद भी पूर्वाग्रह से ग्रस्त होना। २. अनाभिग्रहिक—अज्ञान आदि के कारण गलत तत्त्व को पकड़ कर रखना।

० आभिग्रहिक-अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व

अभिग्रहितं—णत्थि अप्पा, ण णिच्चो, ण कुब्बति, कतं न वेदेति, ण णिव्वाणं, णत्थि य मोक्खो-वातो। छ मिच्छत्तस्स ठाणाइं। अणभिग्रहितं असन्नीणं सन्नीणं पि केसिंचि।अण्णाणीओ वा। (दशा ६/३ की चू)

आभिग्रहिक मिथ्यात्व के छह स्थान हैं—आत्मा नहीं है, वह नित्य नहीं है, कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है, मोक्ष नहीं है,

मोक्ष का उपाय नहीं है। (आत्मा है, वह नित्य है, कर्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है—ये छह सम्यग्दृष्टि के स्थान हैं।—सन्मति ३/५५)

असंज्ञी और अज्ञानी अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वी होते हैं। कुछ संज्ञी भी अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वी होते हैं।

९. सम्यक्त्वदीक्षा और वाचना के अयोग्य

तओ दुसण्णप्पा.....दुट्ठे मूढे वुग्गाहिण्ण।

दुःखेन-कृच्छ्रेण संज्ञाप्यन्ते—प्रतिबोध्यन्त इति दुःसंज्ञाप्याः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—‘दुष्टः’ तत्त्वं प्रज्ञापकं वा प्रति द्वेषवान्, स चाप्रज्ञापनीयः, द्वेषेणोपदेशाप्रतिपत्तेः। एवं ‘मूढः’ गुण-दोषानभिज्ञः। ‘व्युद्ग्राहितो नाम’ कुप्रज्ञापक-दृढीकृत-विपरीतावबोधः। (क ४/८ वृ)

सम्मत्ते वि अजोग्गा, किमु दिक्खण-वायणासु दुट्ठादी।

.....मोह परिससमो होज्जा ॥

(वृभा ५२११)

दुःसंज्ञाप्य—कठिनाई से प्रतिबोध्य के तीन प्रकार हैं—

१. दुष्ट—तत्त्व या तत्त्वप्रज्ञापक के प्रति द्वेष रखने वाला। वह द्वेष के कारण उपदेश को स्वीकार नहीं करता है, अतः अप्रज्ञापनीय है।
२. मूढ—गुणों और दोषों से अनभिज्ञ।
३. व्युद्ग्राहित—दुराग्रही, कुप्रज्ञापक द्वारा जिसका विपरीत बोध सुदृढ़ हो जाता है। ये त्रिविध व्यक्ति सम्यक्त्व-ग्रहण के भी योग्य नहीं होते तो दीक्षा और वाचना के योग्य कैसे होंगे? इनको प्रज्ञप्ति देने वाले प्रज्ञापक का श्रम निष्फल होता है।

१०. अक्रियावादी-कृष्णपक्षी

अक्रियवादी भवितो अभविओ वा नियमा किणहपक्खिओ। (दशा ६/३ की चू)

अक्रियावादी नियमतः कृष्णपक्षी (अपरीत संसारी) होता है, चाहे वह भव्य हो या अभव्य।

.....अक्रियवादी यावि भवति—नाहियवादी नाहियपण्णे नाहियदिट्ठी, नो सम्मावादी, नो नित्थियावादी, नसंति-परल्लोगवादी, णत्थि इहल्लोए णत्थि परल्लोए णत्थि माता णत्थि पिता णत्थि अरहंता णत्थि चक्कवट्ठी णत्थि बलदेवा

णत्थि वासुदेवा णत्थि सुकडदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसे, णो सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णाफला भवन्ति, णो दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णाफला भवन्ति, अफले कल्लाणपावाए, णो पच्चायन्ति जीवा, णत्थि णिरयादि ह्व णत्थि सिद्धी। से एवंवादी एवंपण्णे एवंदिट्ठीच्छंद-रागमभिनिविट्ठे आवि भवति। से य भवति महिच्छे जाव उत्तरगामिए नेरइए सुक्कपक्खित्ते आगमेस्साणं सुलभबोधिते यावि भवति।

(दशा ६/७)

....दाहिणगामिए नेरइए किण्हपक्खित्ते आगमेस्साणं दुल्लभबोधिते यावि भवति। (दशा ६/३, ६)

जो नास्तिकवादी, नास्तिकप्रज्ञ और नास्तिकदृष्टि है। जो सम्यग्वादी, नित्यवादी और परलोकवादी नहीं है। न इहलोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है, न अरिहंत है, न चक्रवर्ती है, न बलदेव है, न वासुदेव है, सुकृत और दुष्कृत कर्मों का विशिष्ट फल नहीं होता, न सुचीर्ण कर्म सुचीर्ण फल देते हैं, न दुश्चीर्ण कर्म दुश्चीर्ण फल देते हैं, कल्याण और पाप अफल हैं, जीव का पुनर्जन्म नहीं होता, न नरक आदि चारों गतियां हैं और न सिद्धि है, जो इस प्रकार कहता है, जो ऐसी प्रज्ञा और ऐसी दृष्टि वाला है, जो इस प्रकार के छंद और राग (इच्छालोभ और तीव्र अभिनिवेश) से अभिनिविष्ट होता है, वह अक्रियावादी है। वह वैभव आदि की प्रबल इच्छा वाला, महाहिंसाकर्मी, महापरिग्रही और अधार्मिक होता है। वह दक्षिण दिशा में जाने वाला, नरक में उत्पन्न होने वाला, कृष्ण पाक्षिक और भविष्यकाल में दुर्लभबोधिक होता है।

११. क्रियावादी-शुक्लपक्षी

किरियावादी णियमा भविओ नियमा सुक्क-पक्खिओ। अंतोपुग्गलपरियट्ठस्स नियमा सिञ्झिहिति, सम्महिट्ठी वा मिच्छदिट्ठी वा होज्ज। (दशा ६/३ की चू)

क्रियावादी नियमतः भव्य और शुक्लपक्षी होता है। वह पुद्गलपरावर्त के भीतर-भीतर नियमतः सिद्ध हो जाता है, चाहे सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि।

किरियावादी यावि भवति, तं जहा— आहियवादी आहियपण्णे आहियदिट्ठी सम्मावादी नीयावादी संति-परलोगवादी अत्थि इहलोगे अत्थि परलोगे अत्थि माता अत्थि पिता अत्थि अरहंता अत्थि चक्रवट्ठी अत्थि बलदेवा अत्थि वासुदेवा अत्थि सुकडदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसे, सुचिण्णा

कम्मा सुचिण्णाफला भवन्ति दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णाफला भवन्ति, सफले कल्लाणपावाए, पच्चायन्ति जीवा, अत्थि निरयादि ह्व अत्थि सिद्धी। से एवंवादी एवंपण्णे एवंदिट्ठीच्छंद-रागमभिनिविट्ठे आवि भवति। से य भवति महिच्छे जाव उत्तरगामिए नेरइए सुक्कपक्खित्ते आगमेस्साणं सुलभबोधिते यावि भवति।

क्रियावादी होता है, जैसे—आस्तिकवादी, आस्तिकप्रज्ञ, आस्तिकदृष्टि, सम्यग्वादी, नित्यवादी, अस्तिपरलोकवादी, इहलोक है, परलोक है, माता है, पिता है, अर्हत् है, चक्रवर्ती है, बलदेव है, सुकृत-दुष्कृत कर्मों का विशिष्ट फल है, सुचीर्ण कर्म सुचीर्ण फल वाले होते हैं, दुश्चीर्ण कर्म दुश्चीर्ण फल वाले होते हैं। कल्याणकर्म और पापकर्म सफल होते हैं, जीवों का पुनर्जन्म होता है, नरक आदि चार गतियां हैं, सिद्धि हैं—जो इस प्रकार कहता है, इस प्रकार की प्रज्ञा से संपन्न है, इस प्रकार की दृष्टि, छंद और राग से अभिनिविष्ट है, वैभव आदि की प्रबल इच्छा वाला, महारंभी और महापरिग्रही है, वह उत्तर दिशा में जाने वाला, नरक में उत्पन्न होने वाला, शुक्लपाक्षिक और भविष्यकाल में सुलभबोधिक होता है।

(जब तक जिस जीव की मोक्ष की अवधि निश्चित नहीं होती, तब तक वह कृष्ण-पक्ष की कोटि में होता है और मोक्ष की अवधि की निश्चितता होने पर जीव शुक्ल-पक्ष की कोटि में आ जाता है।...जो जीव अपार्धपुद्गलपरावर्त तक संसार में रहकर मुक्त होता है, वह शुक्लपाक्षिक और इससे अधिक अवधि तक संसार में रहने वाला कृष्णपाक्षिक कहलाता है।—स्था १/१८७ वृ

जो व्यक्ति क्रूरकर्मा होता है, जो साधुओं की निन्दा में रस लेता है, ... वह दाक्षिणात्य नरक में, तिर्यञ्च योनियों में, मनुष्यों में या देवों में उत्पन्न होता है।—सू २/२/३१ वृ

जीव तीन प्रकार के बतलाये गये हैं—

१. परीत २. अपरीत ३. नोपरीत-नोअपरीत।

परीत दो प्रकार का होता है—कायपरीत और संसारपरीत। कायपरीत कायपरीत के रूप में जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यकाल तक रहता है। संसारपरीत संसारपरीत के रूप में जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्तकाल—कुछ कम अपार्धपुद्गलपरिवर्त तक रहता है।

जो जीव कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में आ जाता है, जो जीव एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श कर लेता है, जो जीव संसार को परीत कर लेता है—इन तीनों का उत्कृष्ट संसारावस्थान-काल एक समान होता है।—जीवा १/७५

भवसिद्धिक जीव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार का हो सकता है। सम्यग्दृष्टि जीव परीतसंसारी और अनन्तसंसारी दोनों प्रकार का हो सकता है। परीतसंसारी जीव सुलभबोधि और दुर्लभबोधि दोनों प्रकार का हो सकता है। सुलभबोधि जीव आराधक और विराधक दोनों प्रकार का हो सकता है।—भ ३/७२ भाष्य

कृष्णपाक्षिक अक्रियावादी होते हैं, अज्ञानवादी और विनयवादी भी होते हैं। शुक्लपाक्षिक क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी होते हैं। सम्यग्दृष्टि क्रियावादी होते हैं, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि अज्ञानवादी और विनयवादी होते हैं तथा मिथ्यादृष्टि अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी होते हैं।

क्रियावादी मनुष्यायु और वैमानिकदेवायु का बंध करते हैं। अक्रियावादी किसी भी आयु का बंध कर सकते हैं। अक्रियावादी भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक—दोनों प्रकार के हो सकते हैं। क्रियावादी, शुक्लपक्षी और सम्यग्-मिथ्यादृष्टि भवसिद्धिक होते हैं।—भ ३०/५, ६, १०-१२, ३१, ४२)

साधर्मिक—वेश और मान्यता में समानधर्मा।

साधर्मिक के प्रकार

साधर्मिया य तिविधा, ॥

.....साहम्मिया स्वप्रवचनं प्रतिपन्नेत्यर्थः.....ते तिविहा लिंगसाहम्मि पवयणसाहम्मि चउभंगो.....चउत्थो भंगो असाहम्मिओ.....अहवा तिविहा साहम्मी—साहू, पासत्थादि, सावगा य।अहवा समणा समणी सावगा य।

(निभा ३३६ चू)

समानधर्म वाले स्वप्रवचनप्रतिपन्न (जिनशासन-सेवी) साधर्मिक कहलाते हैं।

साधर्मिक के तीन प्रकार हैं—

१. लिंग साधर्मिक, २. प्रवचन साधर्मिक ३. लिंग-प्रवचन

साधर्मिक। अथवा साधर्मिक के तीन प्रकार हैं—साधु, पार्श्वस्थ आदि और श्रावक। अथवा श्रमण, श्रमणी और श्रावक।

साधर्मिक के नाना विकल्प

लिंगेण उ साहम्मी, नोपवयणतो य निण्हगा सव्वे।
पवयणसाधम्मी पुण, न लिंग दस होति ससिहागा ॥
पत्तेयबुद्धनिण्हव, उवासाए केवली य आसज्ज।
खइयादिए य भावे, पडुच्च भंगे तु जोएज्जा ॥
(व्यभा ९९१, ९९४)

० लिंग से साधर्मिक, प्रवचन से नहीं। जैसे—निहव।

० प्रवचन से साधर्मिक, लिंग से नहीं। यथा—दशम उपासक प्रतिमाधारी सशिखाक (अमुण्डितशिरस्क) श्रावक।

० प्रवचन और लिंग से साधर्मिक। यथा—साधु।

० दर्शन से साधर्मिक, प्रवचन से नहीं। यथा—तीर्थकर और प्रत्येकबुद्ध।

० दर्शन से और प्रवचन से साधर्मिक—समानदर्शनी संघवर्ती साधु।

० ज्ञान से साधर्मिक, प्रवचन से नहीं—तीर्थकर या प्रत्येकबुद्ध।

० प्रवचन से साधर्मिक, चारित्र से नहीं—श्रावक।

० चारित्र से साधर्मिक, प्रवचन से नहीं—तीर्थकर या प्रत्येकबुद्ध।

० प्रवचन से और चारित्र से साधर्मिक—साधु।

० अभिग्रह से साधर्मिक, प्रवचन से नहीं—निहव, तीर्थकर, प्रत्येकबुद्ध।

० भावना से साधर्मिक, प्रवचन से नहीं—समान भावनायुत तीर्थकर, प्रत्येकबुद्ध, निहव।

० लिंग से साधर्मिक, दर्शन से नहीं—निहव।

० दर्शन से साधर्मिक, लिंग से नहीं—प्रत्येकबुद्ध, तीर्थकर।

० लिंग से साधर्मिक, ज्ञान से नहीं—निहव, विभिन्नज्ञानी साधु।

० चारित्र से साधर्मिक, ज्ञान से नहीं यथा—समानचारित्री केवली, समानचारित्री छद्मस्थ। उपर्युक्त तथा अन्य भंग भी प्रत्येकबुद्ध, निहव, श्रावक, केवली और क्षायिक आदि भावों की अपेक्षा से यथास्थान वक्तव्य हैं।

* साधर्मिक के बारह प्रकार द्र श्रीआको १ साधर्मिक

* सांभोजिक-समनुज साधर्मिक द्र साम्भोजिक

तीर्थंकर साधर्मिक नहीं

जा तित्थगराण कता, वंदणया वरिसणादि पाटुडिया।
भत्तीहि सुरवरेहिं, समणाण तथिं कहं भणियं॥
जइ समणाण न कप्पति, एवं एगाणिया जिणवरिंदा।
गणहरमादी समणा, अकप्पिए नेव चिद्धंति॥
तम्हा कप्पति ठाउं, जह सिद्धायणम्मि होति अविरुद्धं।
जम्हा उ न साहम्मी, सत्था अम्हं ततो कप्पे॥
साहम्मियाण अट्टे, चउत्विधो लिंगतो जह कुटुंबी।
मंगलसासयभत्तीय, जं कतं तत्थ आदेसो॥

(व्यभा ३७६८-३७७१)

देव अर्हंतों को भक्तिपूर्वक वन्दन, पुष्पवृष्टि, प्राकारत्रिक-रचना आदि प्राभृतिका करते हैं। साधु वहाँ कैसे रह सकते हैं ? गणधर आदि श्रमण अकल्प्य स्थान में नहीं रहते। यदि श्रमण वहाँ न रहें तो तीर्थंकर अकेले रह जायेंगे।

सिद्धायतन की भांति समवसरण में साधुओं का अवस्थान भी अविरुद्ध है। क्योंकि तीर्थंकर श्रमणों के साधर्मिक नहीं हैं। साधर्मिकों के लिए कृत स्थान कल्पनीय नहीं है। साधर्मिक के लिंग आदि चार प्रकार हैं। तीर्थंकर लिंग से असाधर्मिक हैं, जैसे कुटुंबी। मंगलनिमित्त और शाश्वत (मोक्ष)-निमित्त समवसरण आदि की भक्तिपूर्वक रचना की जाती है, वहाँ रहने की अनुज्ञा है।

सामाचारी—मुनिसंघ का व्यवहारात्मक आचार।

१. दशविध सामाचारी

- | | |
|-----------------------------------|----------------|
| * जिनकल्प और सामाचारी | द्र जिनकल्प |
| * वसति-प्रवेश की सामाचारी | द्र शय्या |
| * साधु-साध्वी : पारस्परिक व्यवहार | द्र स्थविरकल्प |

२. असामाचारी निष्पन्न प्रायश्चित्त

३. समाचरण में स्खलना : असमाधिस्थान

० समाधि के प्रकार

४. बीस असमाधिस्थान

० द्रुतगति से चलना असमाधि स्थान

५. असमाधिस्थान बीस ही क्यों ?

१. दशविध सामाचारी

इच्छा मिच्छा तहक्कारे, आवस्सि निसीहिया य आपुच्छ।
पडिपुच्छ छंदण निर्मत्तणा य उवसंपया चेव॥

ओहेण दसविहं पि य, सामायारिं न ते परिहवन्ति।

(बृभा १६२३, १६२७)

सामाचारी के दस प्रकार हैं—१. इच्छाकार २. मिथ्याकार
३. तथाकार ४. आवश्यकी ५. नैषेधिकी ६. आपुच्छ ७. प्रतिपुच्छ
८. छन्दना ९. निमन्त्रणा १०. उपसम्पदा।

स्थविरकल्पी सामान्यतः इस दसविध सामाचारी की परिहानि नहीं करते।

* सामाचारी का विवरण द्र श्रीआको १ सामाचारी

२. असामाचारीनिष्पन्न प्रायश्चित्त

अचित्ते पुढविवक्काते पुत्तलगादि करेति, एत्थ वि
असामायारिणिप्फणं मासलहुं.....। (निभा १६१ की चू)

कोई मुनि अचित्त मिट्टी से पुरुष का पुतला आदि बनाता है तो हिंसा न होने पर भी उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—यह असामाचारीनिष्पन्न प्रायश्चित्त है।

आवस्सिया णिसीहिय, पमज्जासज्ज अकरणो इमं तु।

पणगं पणगं लहु॥

(निभा २११)

उपाश्रय से निष्क्रमण करते समय 'आवस्सई' और उसमें प्रवेश करते समय 'निस्सही' का उच्चारण नहीं करने पर पांच-पांच अहोरात्र तथा जाते-आते समय प्रमार्जन नहीं करने पर मासलघु प्रायश्चित्त आता है।

३. समाचरण में स्खलना : असमाधिस्थान

जेणाऽऽसेवितेण आतपरोभयस्स वा इह परत्र उभयत्र वा
असमाधी होति तं असमाधिद्वुणं.....। (दशानि ८ की चू)

जिस आचरण से स्वयं के या दूसरे के इहलोक में, परलोक में या उभयलोक में असमाधि होती है, उसे असमाधिस्थान अथवा असमाधिपद कहा जाता है।

० समाधि के प्रकार

दव्वं जेण व दव्वेण, समाधी आहितं च जं दव्वं।

भावो सुसमाहितया, जीवस्स पसत्थजोगेहिं॥

(दशानि ९)

समाधि के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य समाधि—जिस द्रव्य से समाधि होती है, वह द्रव्य अथवा एक या अनेक द्रव्यों का परस्पर अविरोध अथवा तुलारोपित द्रव्य के साथ जो द्रव्य आरोपित होकर तुला के दोनों पलड़ों को सम रखता है, वह द्रव्य द्रव्यसमाधि है।
२. भावसमाधि—जीव के प्रशस्त योगों से होने वाली सुसमाहित अवस्था भावसमाधि है।

४. बीस असमाधिस्थान

.....वीसं असमाहिद्वाणा पण्णत्ता, तं जहा—१. दव-दवचारी यावि भवति। २. अप्पमज्जियचारी...। ३. दुप्प-मज्जियचारी...। ४. अतिरिक्तसेज्जासणिए। ५. रत्तिणिय-परिभासी। ६. धेरोवघातिए। ७. भूतोवघातिए। ८. संजलणे। ९. कोहणे। १०. पिट्टिमंसिए यावि भवइ। ११. अभिक्खणं-अभिक्खणं ओधारत्ता। १२. णवाइं अधिक्खणाइं अणुप्पण्णाइं उप्पाइत्ता भवइ। १३. पोरणाइं अधिक्खणाइं खामित-विओसविताइं उदीरत्ता भवइ। १४. अकाले सज्जाय-कारए...। १५. ससरक्खपाणिपादे। १६. सहकरे। १७. झंझकरे। १८. कलहकरे। १९. सूरप्पमाणभोईं। २०. एसणाए असमिते यावि भवइ।।” (दशा १/३)

(प्रस्तुत संदर्भ में मुनि के जीवनव्यवहार में संभावित कारणों के आधार पर असमाधिस्थानों की सूची है। कारण में कर्ता का उपचार कर असमाधि करने वाले को असमाधिस्थान कहा गया है।) असमाधि के बीस स्थान (कारण) हैं—

१. शीघ्रगति से चलने वाला।
२. प्रमार्जन किए बिना चलने वाला।
३. अविधि से प्रमार्जन कर चलने वाला।
४. प्रमाण से अतिरिक्त शय्या, आसन आदि रखने वाला।
५. रत्नाधिक साधुओं का पराभव करने वाला।
६. स्थविरो का उपघात करने वाला।
७. प्राणियों का उपघात करने वाला।
८. प्रतिक्षण क्रोध करने वाला।
९. अत्यन्त क्रुद्ध होने वाला।
१०. परोक्ष में अवर्णवाद बोलने वाला।
११. बार-बार निश्चयकारी भाषा बोलने वाला।

१२. अनुत्पन्न नए कलहों को उत्पन्न करने वाला।
१३. क्षामित और उपशान्त पुनः कलहों की उदीरणा करने वाला।
१४. अकाल में स्वाध्याय करने वाला।
१५. सचित्त रज से लिप्त हाथ से भिक्षा लेने वाला और सचित्त रज से लिप्त पैरों से अचित्त भूमि में संक्रमण करने वाला।
१६. शब्दकर—बकवास करने वाला।
१७. झञ्झाकर—गण में भेद डालने वाला या गण के मन को पीड़ित करने वाली भाषा बोलने वाला।
१८. कलह करने वाला।
१९. सूर्योदय से सूर्यास्त तक बार-बार भोजन करने वाला।
२०. एषणा समिति का पालन नहीं करने वाला।

० द्रुतगति से चलना असमाधि स्थान

दवदवचारी निरवेक्खो वच्चंतो अत्ताणं परं च इह परत्र च असमाधीए जोएति। अत्ताणं ताव इह भवे आतविराहणं पावति आवडण-पडणादिसु। परलोगे सत्तवहए पावं कम्मं बंधइ। परं संघट्टण-परितावण-उहवण-करे तो असमाहीए जोएति। (दशा १/३ की चू)

द्रुतचारी मुनि निरपेक्ष होकर चलता है। वह स्वयं को और दूसरे मुनि को इहलोक-परलोक संबंधी असमाधि से संयुक्त करता है। शीघ्रगामिता के कारण वह गिर जाता है तो उससे आत्म (शरीर) विराधना होती है। यह इहलोक संबंधी असमाधि है। गिरने से अन्य प्राणियों का भी वध होता है। इससे कर्म बंधते हैं। यह परलोक संबंधी असमाधि है। दूसरों का संघट्टन-परितापन-अपद्रवण करता हुआ वह उन्हें असमाधि से योजित करता है।

५. असमाधिस्थान बीस ही क्यों ?

वीसं तु णवरि णेम्मं, अइरेगाइं तु तेहिं सरिसाइं। नायव्वा एएसु य, अन्नेसु य एवमादीसु॥

.....णेम्मं आधारमात्रं.....न केवलं दवदवचारिस्स असमाही दवदवभासिस्सावि, दवदवपडिलेहिस्सावि, दवदवभोइस्सावि.....जत्तिया असंजमद्वाणा, तत्तिया असमाधि-द्वाणावि। ते य असंखेज्जा। अहवा मिच्छन्त-अविरत्ति-अन्नाणा असमाहिद्वाणा। (दशानि ११ चू)

असमाधि के ये बीस स्थान केवल निदर्शनमात्र हैं। इनके

आधार पर इनके सदृश अन्य अनेक स्थान हो सकते हैं। जैसे द्रुतगति से चलना असमाधिस्थान है, वैसे ही जल्दी-जल्दी बोलना, त्वरता से प्रतिलेखन करना, जल्दबाजी में खाना आदि भी असमाधिस्थान हैं। जितने असंयम के स्थान हैं, उतने ही असमाधि के स्थान हैं। वे असंख्य हैं। अथवा मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान—ये असमाधि के स्थान हैं।

साम्भोजिक—वह मुनि, जिसका अन्य मुनियों के साथ मंडली-व्यवस्था का संबंध हो। समसामाचारी वाला मुनि।

१. सम्भोज का अर्थ
२. सदृशकल्पी ही सांभोजिक
३. संभोज के छह प्रकार : ओघ आदि
४. ओघ संभोज के बारह प्रकार
 - उपधि संभोज के स्थान, विसंभोजविधि
 - श्रुत संभोज
 - भक्तपान-दान-निकाचना संभोज
 - अंजलिप्रग्रह संभोज
 - अभ्युत्थान-कृतिकर्मकरण संभोज
 - वैयावृत्त्यकरण-समवसरण संभोज
 - सन्निषद्या-कथाप्रबंध संभोज
५. अभिग्रह-दान-अनुपालना-संभोज
 - उपपात-संवास संभोज
६. सांभोजिक-समनुज्ञ-साधर्मिक
 - * तीर्थंकर साधर्मिक नहीं द्र साधर्मिक
 - सम्भोज प्रत्ययिक क्रिया
७. विसंभोजविधि-प्रवर्तन : महागिरि-सुहस्ती
८. संभोज-असंभोजविधि-परीक्षा : कूप दृष्टांत
९. विसंभोज : उत्तरगुणों में
 - * परिहारतप : परस्पर संभोज वर्जन द्र परिहारतप
१०. साधु-साध्वी की विसांभोजिककरण-विधि
११. एक ही दोष चौथी बार सेवन से विसांभोजिक
१२. कुशील संसर्ग से विसांभोजिक
१३. साम्भोजिक साधु-साध्वी : आलोचना-निषेध
 - * संभोज हेतु उपसम्पदा द्र उपसम्पदा
१४. संभोज उपसम्पदा विधि

१. संभोज का अर्थ

एकत्रभोजनं संभोगः। अहवा—समं भोगो संभोगो यथोक्तविधानेनेत्यर्थः।
(नि ५/६४ की चू)

सम्भोगः—एकमण्डल्यां समुद्देशनादिरूपः।

(क ४/१९ की वृ)

संभोज का अर्थ है—एक मण्डली में भोजन करना। अथवा समान कल्प वाले साधुओं के साथ शास्त्रविहित विधिविधान के अनुसार आहार, उपधि आदि उत्तरगुणों से संबंधित जो पारस्परिक व्यवहार की व्यवस्था है, वह संभोज है।

(सांभोजिक—एक मंडली में भोजन करने वाला। यह इसका प्रतीकात्मक अर्थ है। स्वाध्याय, भोजन आदि सभी मंडलियों से जिसका संबंध होता है, वह सांभोजिक कहलाता है।

प्राचीन काल में साधुओं के लिए सात मंडलियां होती थीं—१. सूत्रमंडली, २. अर्थमंडली, ३. भोजनमंडली, ४. काल-प्रतिलेखनमंडली, ५. आवश्यकमंडली, ६. स्वाध्याय-मंडली, ७. संस्तारकमंडली।—प्रसा ११९६

विसांभोजिक—जिसका सभी मंडलियों से संबंध विच्छिन कर दिया जाता है, वह विसांभोजिक है।)

२. सदृशकल्पी ही साम्भोजिक

ठितकप्पम्मि दसविहे, ठवणाकप्पे य दुविहमण्णतरे।
उत्तरगुणकप्पम्मि य, जो सरिसकप्पो स सरिसो उ॥
आहार उवहि सेज्जा, अकप्पिएणं तु जो ण गिण्हावे।
ण य दिक्खेति अण्हा, अड्यालीसं पि पडिक्कुट्ठे॥
उग्गमविसुद्धिमादिसु, सीलंगेसुं तु समणधम्मेषु।
उत्तरगुणसरिसकप्पो, विसरिसधम्मो विसरिसो उ॥
अण्णो वि आएसो, संविग्गो अहव एस संभोगी।.....
(निभा ५९३२, ५९३४-५९३६)

जो दशविध स्थितकल्प, द्विविध स्थापनाकल्प और उत्तरगुणकल्प में समान होता है, वह सदृशकल्पी सांभोजिक है।

○ स्थितकल्प—आचेलक्य आदि (द्र कल्पस्थिति)

○ स्थापनाकल्प के दो प्रकार हैं—१. अकल्प स्थापना कल्प—अकल्पनीय आहार, उपधि और शय्या को ग्रहण न करना।

२. शैक्षस्थापना कल्प—अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की

स्त्रियां तथा दस प्रकार के नपुंसक—इन अड़तालीस प्रकार के निषिद्ध व्यक्तियों को निष्कारण दीक्षित न करना।

० उत्तरगुणकल्प—उद्गम आदि दोषों से रहित भिक्षाग्रहण, समिति, गुप्ति आदि शीलांग (अथवा अठारह हजार शीलांग), क्षमा आदि श्रमणधर्म—इन उत्तरगुणों का समान रूप से पालन करने वाला सदृशकल्पी और पालन न करने वाला विसदृशता के कारण विसदृशकल्पी है। सदृशकल्पी का एक अन्य आदेश भी है—जो संविग्न है अथवा सांभोजिक है, वह सदृशकल्पी है।

३. संभोज के छह प्रकार : ओघ आदि

ओह अभिग्रह दाणगग्रहणे अणुपालणाय उववाते ।
संवासम्मि य छट्ठे, संभोगविधी मुणेयव्वो ॥
.....समणारणं समणीओ, भण्णति अणुपालणाए उ ॥
(व्यभा २३५०, २३६०)

संभोज के छह प्रकार हैं—१. ओघ २. अभिग्रह ३. दानग्रहण ४. अनुपालना ५. उपपात ६. संवास। साध्वियां इनमें से केवल अनुपालना संभोज से साधुओं की सांभोजिक हैं।

४. ओघ संभोज के बारह प्रकार

ओघो पुण बारसहा ।.....
उवहि-सुत-भत्तपाणे, अंजलिपग्गहे त्ति य ।
दावणा य निकाए य, अब्भुट्टाणे त्ति यावरे ॥
कीकम्मस्स य करणे, वेयावच्चकरणे ति य ।
समोसरण सन्निसेज्जा, कथाए य पबंघणा ॥
(व्यभा २३५१-२३५३)

ओघ संभोज के बारह प्रकार हैं—

- | | | |
|-----------------|----------------|-----------------|
| १. उपधि | ५. दान | ९. वैयावृत्यकरण |
| २. श्रुत | ६. निकाचना | १०. समवसरण |
| ३. भक्तपान | ७. अभ्युत्थान | ११. सन्निषदा |
| ४. अंजलिप्रग्रह | ८. कृतिकर्मकरण | १२. कथाप्रबन्ध। |

० उपधि संभोज के स्थान, विसंभोजविधि

उवहिस्स य छब्भेदा, उग्गम-उप्पायणेसणासुद्धो ।
परिकम्मण-परिहरणा, संजोगो छट्ठओ होति ॥
यत्साम्भोगिकस्य साम्भोगिकेन सममाधाकर्मादिभिः
षोडशभिरुद्गमदोषैः शुद्धमुपधिमुत्पादयति एष उद्गम-

शुद्ध उपधिसंभोगः,अशुद्धग्राही सांभोगिकःशिक्षमाणः
सती मे प्रतिचोदनेति मन्यमानो मिथ्या-दुष्कृतपुरस्सरं न
पुनरेवं करिष्यामीति बुवाणः प्रत्यावर्तते, तदा यत्प्रायश्चित्त-
मापन्नस्तद्वत्त्वा संभोग्यते । एवं द्वितीयवारं तृतीयवारमपि,
चतुर्थवेलायां त्वावर्त्तस्यापि न संभोगः । अथ निष्कारणे
अन्यसांभोगिकेन समं शुद्धमशुद्धं वोपधिमुत्पादयति तर्हि
सोऽपि यदि शिक्षमाणः व्यावर्त्तते ततः संभोगविषयीक्रियते,
अन्यथा प्रथमवेलायामपि तस्य विसंभोगः..... ।.....परिकर्मणा
नाम यदुपधिमूचितप्रमाणकरणतः संयतप्रायोग्यं करोति.....
सांभोगिकानां संयतीनामुपधिं विधिना संयतीप्रायोग्यं गणधरः
परिकर्मयन् ददानश्च परिशुद्धः,परिहरणा नाम परिभोगः.....
कारणे विधिना.....सांभोगिकैः सममुपकरणं परिभुञ्जानः
शुद्धः.....संयोगो द्वयादिपदानां मीलनं, तत्र भङ्गाः षड्विंशति-
स्तद्यथा.....सांभोगिकः सांभोगिकेन सममुद्गमेनोत्पादनया च
शुद्धमुपधिमुत्पादयतीति प्रथमः ।..... (व्यभा २३५४ वृ)

सांभोजिक साधुओं के साथ मर्यादा के अनुसार उपधि का ग्रहण करना उपधि संभोज है। इसके छह प्रकार हैं—

१. उद्गमशुद्ध
२. उत्पादनशुद्ध
३. एषणाशुद्ध
४. परिकर्मणा
५. परिहरणा और ६. संयोग।

१. उद्गमशुद्ध संभोज—सांभोजिक सांभोजिक के साथ आधाकर्म आदि सोलह उद्गमदोषों से शुद्ध उपधि को प्राप्त करता है।

जिस दोष से अशुद्ध उपधि का उत्पादन करता है, उस दोष (आधाकर्म आदि) का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इस संदर्भ में भी यह व्यवस्था है—अशुद्धग्राही सांभोजिक को अनुशिष्टि दी जाती है, जिससे प्रेरित होकर वह मिथ्यादुष्कृत-पूर्वक (अपनी भूल स्वीकार कर), पुनः ऐसा नहीं करूंगा—ऐसा कहता हुआ उस दोष से निवृत्त हो जाता है तो उसे तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त देकर सांभोजिक के रूप में मान्य कर लिया जाता है। एक बार, दो बार, तीन बार तक अशुद्ध ग्रहण कर निवृत्त होने पर वह सांभोजिक है, चौथी बार ऐसी भूल करके निवृत्त होने पर भी उसे क्षम्य नहीं किया जाता, विसांभोजिक घोषित कर दिया जाता है।

जो निष्कारण अन्य सांभोजिक के साथ शुद्ध या अशुद्ध उपधि का उत्पादन करता है, वह भी अनुशासित करने पर दोष से निवृत्त हो जाता है तो सांभोजिक है, अन्यथा प्रथम बार में ही उसको विसांभोजिक कर दिया जाता है।

- २, ३. उत्पादनशुद्ध-एषणाशुद्ध संभोज का भी यही क्रम है।
 ४. परिकर्मणा संभोज—कारण होने पर विधिपूर्वक परिकर्म करना शुद्ध है। परिकर्मणा का अर्थ है—उपधि को उचित प्रमाण में व्यवस्थित कर साधु के प्रायोग्य बना देना। गणधर सांभोजिक साध्वियों के लिए उपधि का विधिपूर्वक परिकर्म कर साध्वीप्रायोग्य बनाता है और साध्वियों को देता है—यह परिकर्मणा संभोज है।
 ५. परिहरणा संभोज—सांभोजिक के साथ उपकरणों का विधिपूर्वक परिभोग करना परिहरणा संभोज है।
 ६. संयोग संभोज—उल्लिखित पांचों में से दो, तीन आदि का एक साथ प्रयोग करना। दो यावत् पांच पदों के संयोग से छब्बीस भंग होते हैं। जैसे—सांभोजिक सांभोजिक के साथ उद्गम और उत्पादन से शुद्ध उपधि का उत्पादन करता है—यह प्रथम भंग है।

० श्रुत संभोज

वायण पडिपुच्छण, पुच्छणा य परियट्टणा य कथणा य।
 संजोग-विधि-विभत्ता, छट्टाणा होति उ सुतम्मि ॥
 (निभा २०९४)

श्रुतसंभोज व्यवस्था के अनुसार समानकल्प वाले साधुओं को श्रुत की वाचना दी जाती है। इसके छह प्रकार हैं—

- | | | |
|----------------|--------------|---------------|
| १. वाचना | ३. पृच्छा | ५. अनुयोगकथा |
| २. प्रतिपृच्छा | ४. परिवर्तना | ६. संयोगविधि। |

० भक्तपान-दान-निकाचना-संभोज

उग्गम उप्पावण एसणा य संभुंजणा णिसिरणा य।
 संजोग-विधि-विभत्ता, भत्ते पाणे वि छट्टाणा ॥
 सेज्जोवहि आहारे, सीसगणाणुप्पदाण सज्जाए।
 संजोग-विधि-विभत्ता, दवावणाए वि छट्टाणा ॥
 ...संजोग-विधि-विभत्ता, णिकायणाए वि छट्टाणा ॥
 (निभा २०९७, २१०७, २११०)

० भक्तपानसंभोज—इस व्यवस्थानुसार समानकल्पी साधुओं के साथ एक मंडली में भोजन किया जाता है। इसके छह स्थान हैं—

- | | | |
|-----------------|--------------|---------------|
| १. उद्गमशुद्ध | ३. एषणाशुद्ध | ५. निसृजन |
| २. उत्पादनशुद्ध | ४. संभुंजन | ६. संयोगविधि। |

० दानसंभोज—इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधुओं को शय्या आदि दी जाती है। इसके छह स्थान हैं—

१. शय्या, २. उपधि, ३. आहार, ४. शिष्यगण, ५. स्वाध्याय, ६. संयोगविधिविभक्त।

० निकाचना संभोज—इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधुओं को आहार आदि के लिए निर्मत्रित किया जाता है। इसके भी छह स्थान हैं—शय्या, उपधि आदि।

० अंजलिप्रग्रह संभोज

वंदिय पणमिय अंजलि, गुरुगालावे अभिग्गह णिसिज्जा।
 संजोग-विधि-विभत्ता, अंजलिपगहे वि छट्टाणा ॥
 पणवीसजुतं पुण, होइ वंदण पणमितं तु मुद्धेणं।
 हत्थुस्सेह णामो त्ति य, णिसज्जकरणं च तिणहट्टा ॥
 एणेण वा दोहिं वा मउलिएहिं हत्थेहिं णिडालसं-
 ठितेहिं अंजली भण्णाति। भत्ति-बहुमाण-णेह-भरितो
 सरभसं “णामो क्खमासमणाणं” ति गुरुआलावो भण्णाति।
 ...तिणहट्टा सुत्तपोरिसीए अत्थपोरिसीए ततिया अलोयणा-
 णिमित्तं एयाणि सव्वाणि संभोइयाणं अणसंभोइयाण य
 संविग्गाणं करंतो सुद्धो। (निभा २१०३, २१०४ चू)

अंजलिप्रग्रह संभोज व्यवस्था के अनुसार साधु संयम-पर्याय में ज्येष्ठ सांभोजिक को हाथ जोड़कर वन्दन करता है। इसके छह स्थान हैं—१. वन्दना—कृतिकर्म के पच्चीस प्रकारों का प्रयोग करना। (द्र श्रीआको १ वन्दना)

२. प्रणाम—सिर झुकाकर नमन करना।

३. अंजलि—एक अथवा दोनों हाथों को मुकुलित कर ललाट पर संस्थित कर प्रणाम करना।

४. गुरुआलाप—भक्ति-बहुमान और स्नेह से संभूत होकर उत्साहपूर्वक 'क्षमाश्रमण को नमन' ऐसा कहना।

५. निषद्याकरण—सूत्रपौरुषी, अर्थपौरुषी और आलोचना—इन तीन निमित्तों से गुरु के लिए अवश्य निषद्या करना।

६. संयोग—उपर्युक्त विकल्पों के संयोग से निष्पन्न विकल्प।
 सांभोजिक और अन्यसांभोजिक संविगन साधुओं के प्रति इन सब पदों का प्रयोग करने वाला साधु शुद्ध है।

अविरुद्धा सव्वपदा, उवस्सए होति संजतीणं तु।.....
 साधु-उवस्सए पक्खियातिसु आगताण संजतीण
 वंदणातिया पदा सव्वे अविरुद्धा...बाहिं भिक्खादिगताओ

वन्दणादि करेति तो चउगुरुगा ।...सपक्खे पुण बहिणिग्गता
वन्दणाति करेति..... । (निभा २१०६ चू)

पाक्षिक क्षमायाचना आदि के लिए साधुओं के उपाश्रय में समागत साध्वियां वंदना आदि सब पदों का प्रयोग करती हैं—यह विहित है। जब वे भिक्षा आदि के लिए बाहर जाती हैं, तब मार्ग में साधुओं को वंदना करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की भागी होती हैं। मार्ग में स्वपक्ष में वंदना विहित है—साधु साधुओं को और साध्वी साध्वियों को वंदना करती है।

० अभ्युत्थान-कृतिकर्मकरण-संभोज

अब्भुट्ठाणे आसण, किंकर अब्भासकरण अविभत्ती ।
संजोग-विधि-विभत्ता, अब्भुट्ठाणे वि छट्ठाणा ॥
भुंजण-वज्जा अणणे, अविभत्ती..... ।
संजति थेर-विभत्ती, माता..... ॥
सुत्तायामसिरोणत, मुद्धाणं सुत्तवज्जियं चेव ।
संजोग-विधि-विभत्ता, छट्ठाणा होति कितिकम्मे ॥
.....मुहुरोगी आयामे, मुद्ध समत्ते ऽधव गिलाणे ॥
(निभा २१११, २११३, २११४, २११६)

० अभ्युत्थान संभोज—इस व्यवस्था के अनुसार अभ्युत्थान का सम्मान दिया जाता है। इसके छह स्थान हैं—

१. अभ्युत्थान—ज्येष्ठ साधु के आने पर खड़े होना।
२. आसन—आसन ग्रहण करो—यह कहते हुए आसन देना।
३. किंकर—प्राधूर्णक, आचार्य आदि को कहना—आज्ञा दें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?
४. अभ्यासकरण—सदा आचार्य आदि के समीप रहना।
५. अविभक्ति—अन्यसांभोजिकों के साथ एकत्र मण्डली में भोजन नहीं किया जाता, उनकी अविभक्ति की जा सकती है। संविग्न स्थविरा साध्वी की इस रूप में अविभक्ति की जा सकती है—तुम मेरी माता जैसी हो।
६. संयोग—उल्लिखित भंगों के संयोग से निष्पन्न भंग।

० कृतिकर्मकरणसंभोज—इसके छह स्थान हैं—

१. सूत्र—वंदना सूत्र का अस्खलित उच्चारण करना।
२. आयाम—खड़े होना, सूत्रोच्चारण-युक्त आवर्त देना।
३. शिरोनत—सूत्रोच्चारणपूर्वक शिरोनमन करना।

४. मूर्धा—वन्दनासूत्र की समाप्ति पर केवल सिर झुकाना। केवल शिरोनमन आचार्य और ग्लान के लिए विहित है।

५. सूत्रवर्जित—यदि मुखरोग हो तो, मानसिक सूत्रोच्चारण करना तथा आवर्त आदि शेष सारी क्रियाएं करना।

६. संयोग—उल्लिखित स्थानों के संयोग से निष्पन्न भंग।

० वैयावृत्यकरण-समवसरण-संभोज

आहार उवहि मत्तग, अधिकरण-विओसणा य सुसहाए ।...
वास उडु अहालंदे, साहारोग्गह पुहत्त इत्तरिए ।
वुडुवास समोसरणे छट्ठाणा होति पविभत्ता ॥
पंडिबद्धलंदि उग्गह, जं णिस्साए तु तस्स तो होति ।
रुक्खादी पुव्वठिते, इत्तरि वुडु स गहाणदी ॥
साधारण-पत्तेगो, चरिम उच्चित्त उग्गहो होति ।...
समणुण्णमणुण्णे वा, अदित ऽणाभव्वगेणहमाणे वा ।
संभोग वीसु करणं, इतरे य अलंभे य पेल्लति ॥
(निभा २११८, २१२०-२१२४)

० वैयावृत्यकरण संभोज—इस व्यवस्था के अनुसार आहार, उपधि, मात्रक, कलह-शमन और सहयोग के द्वारा सांभोजिक का उपष्टम्भ किया जाता है।

० समवसरण संभोज—इसके अनुसार समानकल्पी साधुओं के एक साथ मिलने पर अवग्रह (अधिकृतस्थान) की व्यवस्था होती है। इसके छह प्रकार हैं—

- | | |
|-------------------|---------------------|
| १. वर्षा-अवग्रह | ४. इत्वरिक-अवग्रह |
| २. ऋतुबद्ध-अवग्रह | ५. वृद्धावास-अवग्रह |
| ३. यथालन्द-अवग्रह | ६. समवसरण-अवग्रह। |

गच्छ-प्रतिबद्ध यथालन्दिक जिसकी निश्रा में विहरण करते हैं, उसका अवग्रह होता है। आज्ञा लेकर वृक्ष आदि के नीचे बैठना इत्वरिक अवग्रह है। जो पहले आज्ञा लेकर जहां बैठता है, वह अवग्रह उसका होता है। जिनका जंघाबल क्षीण है, उनका वृद्धावास अवग्रह होता है। पर्व के दिनों में साधु इकट्ठे होते हैं, वह समवसरण है।

इनमें प्रथम पांच अवग्रहों के दो-दो प्रकार हैं—साधारण और प्रत्येक। समवसरण अवग्रह साधारण होता है, प्रत्येक नहीं।

सांभोजिक साधुओं के अवग्रह में कोई साधु जाकर शिष्य, वस्त्र आदि का जान-बूझकर ग्रहण करता है तथा अनजान में

गृहीत शिष्य, वस्त्र आदि अवग्रहस्थ साधुओं को नहीं सौंपता है, तो उसे विसांभोजिक कर दिया जाता है।

पार्श्वस्थ आदि का अवग्रह शुद्ध साधुओं को मान्य नहीं होता, फिर भी उनका क्षेत्र छोटा हो और शुद्ध साधुओं का अन्यत्र निर्वाह होता हो तो साधु उस क्षेत्र को छोड़ देते हैं। यदि उनका क्षेत्र विस्तीर्ण हो और शुद्ध साधुओं का अन्यत्र निर्वाह कठिन हो तो उस क्षेत्र में साधु जा सकते हैं और शिष्य, वस्त्र आदि ग्रहण कर सकते हैं।

० सन्निषद्या-कथाप्रबंध संभोज

परियदृष्णाणुओगो, वागरण पडिच्छणा य आलोए।^१....
जो उ णिसज्जोवगतो, पडिपुच्छे वा वि अहव आलोवे।
लहुया य विसंभोगो, ॥
वादो जप्प वितंडा, पडण्णग-कहा य णिच्छय-कहा य।^२....
वादं जप्प वितंडं, सव्वेहि वि कुणति समणिवज्जेहिं।
समणीण वि पडिकुट्टा, होति सपक्खे वि तिण्णिह कहा ॥
उस्सग्गो पड्ढकहा य अववातो होति णिच्छयकथा।^३....
(निभा २१२५, २१२८-२१३१)

० सन्निषद्या संभोज—इस व्यवस्था के अनुसार दो सांभोजिक आचार्य अपनी-अपनी निषद्या पर बैठकर संघाटक के रूप में श्रुत परिवर्तना करते हैं। शिष्य द्वारा अनुयोग और व्याकरण के समय निषद्या की जाती है अन्यथा प्रायश्चित्त आता है। जो निषद्या पर बैठकर सूत्र-अर्थ की प्रतिपृच्छा अथवा आलोचना करता है, उसे मासलघु प्रायश्चित्त आता है और निषद्या-संबंधी मर्यादा का अतिक्रमण करने पर विसांभोजिक कर दिया जाता है।

० कथाप्रबंध संभोज—कथासंबंधी व्यवस्था। कथा के पांच प्रकार हैं—१. वाद २. जल्प ३. वितण्डा ४. प्रकीर्णकथा (उत्सर्ग) और ५. निश्चयकथा (अपवादकथा)। प्रथम त्रिविध कथाएं साध्वियों के साथ नहीं की जातीं, अन्यतीर्थिकों आदि के साथ की जा सकती हैं। प्रथम तीन कथाएं साध्वियों साध्वियों के साथ भी नहीं कर सकती।

५. अभिग्रह-दान-अनुपालना संभोज

अभिग्रहसंभोगो पुण, णायव्वो तवे दुवालसविधम्मि।
दाणग्गहणे दुविधो, सपक्खपरपक्खतो भइतो ॥
अणुपालणसंभोगो, णायव्वो होति संजतीवग्गे।^१....

एत्थ चउक्को भंगो — दाणं गहणं, एत्थ संभोतिता।
दाणं नो गहणं, एत्थ संजतितो। नो दाणं गहणं, एत्थ गिहत्था। नो दाणं नो गहणं, एत्थ पासत्थाती। पढम-वितिया सवक्खे, ततितो परपक्खे। चउत्थो.....सुण्णो।

खेत्तोवहिसेज्जाइएसुं खेत्तसंकमणेसु य संजतीओ विधीए अणुपालेयव्वातो। (निभा २१३८, २१३९ चू)

० अभिग्रह संभोज—यथाशक्ति द्वादशविध तप संबंधी अभिग्रह ग्रहण करना।

० दानग्रहण संभोज—स्वपक्ष और परपक्ष के भेद से यह दो प्रकार का है, जिसके चार विकल्प हैं—

१. दान-ग्रहण (देना-लेना)—सांभोजिक साधु से संबंधित।
२. दान-अग्रहण—साध्वी से संबंधित।
३. नो दान-ग्रहण—गृहस्थ से संबंधित।
४. नो दान-नो ग्रहण—पार्श्वस्थ आदि से संबंधित। प्रथम-द्वितीय भंग स्वपक्ष, तीसरा भंग परपक्ष और चौथा भंग संभोज के प्रति शून्य है।

० अनुपालना संभोज—यह साध्वीवर्ग से संबंधित है। (इस व्यवस्था के अनुसार सांभोजिक साधु साध्वी के क्षेत्र, उपधि आदि की विधियुत व्यवस्था करते हैं, क्षेत्रसंक्रमण के समय उनका सहयोग करते हैं, सुरक्षा का दायित्व निभाते हैं।)

० उपपात-संवास संभोज

.....उववाते संभोगो, पंचविधुवसंपदाए तु ॥
सुत सुह-दुक्खे खेत्ते, मग्गे विणए य होइ बोधव्वो।^१....
संवासे संभोगो, सपक्ख-परपक्खतो य णायव्वो।
सरिकप्पेसु सपक्खे, परपक्खम्मी गिहत्थेसु ॥

.....सुहदुक्खोवसंपया धाउविसंवादादिएहिं अहिडक्का-
तीहिं वा आगंतुगेहिं बहुं पच्चवायं माणुस्सं जाणिरुण
अण्णतरेण मे रोगातंकेण वाहियस्स ममेते वेयावच्चं काहिंति,
अहं पि एतेसिं करिस्सामि अतो असहायो गच्छे उवसंपयं
पवज्जति।^२....एक्कस्स आयरियस्स बहुगुणं खेत्तं तमण्णो
आयरिओ जाणिरुण अणुजाणावेरुण तस्स खेत्ते ठायति एस
खेत्तोवसंपया।

दुवे आयरिया...गंतुकामा ताण एक्को देसितो एक्को

अदेसितो ।.....अदेसिओ विसण्णो, देसियं भणाति—अहं तुहप्यभावेण तुमे समाणं गच्छे। देसितो तस्सोवसंपण्णस्स मग्गाणुरुवं उवएसं पयच्छति, एस मग्गोवसंपदा।

....दुवे आयरिया, एगो तत्थ वत्थव्वो, सो आगंतुगस्स सुगम-दुग्गमे मग्गे सुहविहारे य खेत्ते सव्वं कहेति, सचित्ताइयं उप्पणं सव्वं तेण वत्थव्वस्स णिवेदियव्वं, एस विणओव-संपदा। (निभा २१३९-२१४१ चू)

० उपपात संभोज—इस व्यवस्था के अनुसार समान कल्प वाले साधु अपेक्षा होने पर पांच प्रकार की उपसम्पदा ग्रहण करते हैं—

१. श्रुतोपसम्पदा—सूत्र और अर्थ के निमित्त उपसम्पदा।
२. सुखदुःखोपसम्पदा—धातुवैषम्य आदि तथा आगंतुक सर्पदंश आदि अनेक विघ्नों से परिपूर्ण मनुष्य जन्म को जानकर कोई असहाय मुनि गच्छ की शरण स्वीकार करता है। वह सोचता है—किसी रोगातंक से व्यथित होने पर गच्छ मेरी सेवा करेगा, मैं भी गच्छ की सेवा करूंगा।

३. क्षेत्रोपसम्पदा—एक आचार्य के साताकारी क्षेत्र को जानकर दूसरे आचार्य अधिकृत आचार्य की अनुज्ञा लेकर उस क्षेत्र में रहते हैं—यह क्षेत्रउपसम्पदा है।

४. मार्गोपसम्पदा—देशांतरगमन के इच्छुक दो आचार्यों में एक मार्गज्ञ है, एक अमार्गज्ञ है। विषण्ण अमार्गज्ञ आचार्य मार्गज्ञ से कहता है—तुम्हारे प्रभाव-अनुभाव से मैं तुम्हारे साथ ही चलता हूँ, तब मार्गज्ञ उसे मार्ग के अनुरूप उपदेश देता है।

५. विनयोपसम्पदा—दो आचार्य हैं—एक वास्तव्य और एक आगंतुक। वास्तव्य आगंतुक को सुगम-दुर्गम मार्ग, सुखविहार क्षेत्र आदि के बारे में सब कुछ बता देता है। आगंतुक आचार्य को जो शिष्य आदि की उपलब्धि होती है, वह सारी वास्तव्य आचार्य को निवेदित करता है—यह विनय उपसम्पदा है।

० संवास संभोज—इस व्यवस्था के अनुसार सांभोजिक साधु एक साथ रहते हैं। इसके दो भेद हैं—

१. स्वपक्ष—समान कल्प वालों में संवास।
२. परपक्ष—गृहस्थों में संवास।

६. साम्भोजिक-समनुज-साधर्मिक

से भिक्खू.....बहुपरियावण्णं भोयणजायं षडिगाहेत्ता साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया

अदूरगया। तेसिं अणालोइया अणामंतिया परिटुवेइ। माइड्डणं संफासे, णो एवं करेज्जा ।.... (आचूला १/१२७)

....समणुण्णो उज्जयविहारी। (नि २/४४ की चू)

भिक्षु बहुपर्यापन्न—अतिरिक्त भोजनजात ग्रहण कर ले (और उतना खाया न जाए), वहां अपरिहारिक सांभोजिक, समनुज—उद्यत-विहारी साधर्मिक पास में रह रहे हों, उन्हें बिना पूछे, बिना आमंत्रित किए उस आहार को परिष्ठापित करता है, वह मायास्थान का संस्पर्श करता है, वह ऐसा न करे।

....जे तत्थ साहम्मिया संभोइया समणुण्णा उवागच्छेज्जा, जे तेण सयमेसियाए असणं वा पाणं वा....तेण ते साहम्मिया संभोइया समणुण्णा उवणिमंतेज्जा, णो चेव णं पर-पडियाए उगिण्णिय-उगिण्णिय उवणिमंतेज्जा ।।....जे तत्थ साहम्मिया अण्णसंभोइया समणुण्णा उवागच्छेज्जा, जे तेण सयमेसियाए पीढे वा, फलए वा, सेज्जासंधारए वा, तेण ते....उवणिमं-तेज्जा ।। (आचूला ७/५, ७)

उपाश्रय में यदि सांभोजिक और समनुज साधर्मिक (अतिथि रूप में) आए, तो अपने लिए अपने द्वारा एषणापूर्वक लाए हुए अशन, पान आदि देने के लिए उन्हें उपनिमंत्रित करे, दूसरे के निमित्त या दूसरे के द्वारा लाया हुआ ले-लेकर उपनिमंत्रित न करे।

यदि अन्यसांभोजिक समनुज साम्भोजिक आए, तो स्वयं के लिए स्वयं एषणा कर लाये हुए पीठ, फलक और शय्यासंस्तारक देने के लिए उन्हें उपनिमंत्रित करे।

(भिक्षु समनुज और असमनुज मुनि को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोष्ठन न दे, न उन्हें देने के लिए निमंत्रित करे, न उनके कार्यों में व्यापृत हो; यह सब अत्यंत आदर प्रदर्शित करता हुआ करे।

समनुज का अर्थ है—वह मुनि, जो दार्शनिक दृष्टि और वेश से साधर्मिक—समान है, सहभोजन से साधर्मिक नहीं है। असमनुज का अर्थ है—अन्यतीर्थिक।—आ ८/१ भाष्य

लिंग करी सरीषो हुवै पिण सरधा करि जूवो जाण। एहवा भेषधारी जमाली जिसा, ते तो लिंग समनोज पिछाण ।। दिष्टकरी सरीषो हुवै पिण लिंग सरीषो न होय। ते अमड संन्यासी सारसा ते दिष्ट समनोज जोय ।।

इम दिष्ट-लिंग सरोषा भणी रे, न देणो असणादिक आहार।
बले आदर सनमान देणो नहीं एतो अकल्पनीक अवधार ॥
गोतमादिक केसी भणी रे दीयो आदर सनमान।
पवालादिक ब्यावच करी एतो कल्पनीक पहिछान ॥
विप्रीत दिष्ट-लिंग ना धणी रे, तिण नै न देणो आदर निसदीह।
अकल्पनीक इण कारणै रे एम कह्यो धर्मसीह ॥
—आचारांग की जोड़, ढाल ६६/४-८)

० संभोजप्रत्ययिक क्रिया

जे भिक्खू 'णत्थि संभोगवत्तिया किरिय' त्ति वदति,
वदंतं वा सातिज्जति ॥.....आवज्जइ मासियं परिहारट्टाणं
उग्घातियं ॥ (नि ५/६४, ७८)

'भिक्षु के संभोजप्रत्ययिक क्रिया (कर्मबंध) नहीं है' जो
भिक्षु ऐसा कहता है अथवा कहने वाले दूसरे का अनुमोदन करता
है, वह लघुमासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

(श्रमणसंघ में सामान्य परम्परा मण्डली भोजन की रही
है। किन्तु साधना का अग्रिम लक्ष्य है स्वावलम्बन। स्वलाभ में
संतोष—यह दूसरी सुखशय्या है।—स्था ४/४५१

'संभोज-प्रत्याख्यान करने वाला मुनि परावलम्बन को
छोड़ता है। वह भिक्षा में स्वयं को जो कुछ मिलता है, उसी में
संतुष्ट हो जाता है। दूसरे मुनियों को मिली हुई भिक्षा की
अभिलाषा नहीं करता हुआ वह दूसरी सुखशय्या को प्राप्त कर
विहार करता है।'—उ २९/३४)

७. विसंभोजविधि-प्रवर्तन : महागिरि-सुहस्ती

संपत्ति-रणुप्पत्ती सिरिधर उज्जाणि हेट्ट बोधव्वा।
अज्जमहागिरि हत्थिप्पभित्ती जाणह विसंभोगो ॥

वद्धमाणसामिस्स सीसो सोहम्मो। तस्स जंबुणामा। तस्स
वि पभवो। तस्स सेज्जंभवो। तस्स वि सीसो जसभदो।
जसभदसीसो संभूतो। संभूयस्स थूलभदो। थूलभदं जाव
सव्वेसिं एक्कसंभोगो आसी। थूलभदस्स जुगप्पहाणा दो
सीसा—अज्जमहागिरि अज्जसुहत्थी य। अज्जमहागिरि
जेट्टो।.....

थूलभदसामिणा अज्जसुहत्थिस्स नियओ गणो दिण्णो।
तहा वि अज्जमहागिरि अज्जसुहत्थी य पीतिवसेण एक्कओ

विहरंति।.....एणो रंको तं साहुं दट्टुं ओभासति। साहुहिं
भणियं—अहं आयरिया जाणगा, ण च सक्केमो दाउं। सो
रंको साधुपिट्तो गंतुं अज्जसुहत्थिं ओभासति भत्तं।

.....अज्जसुहत्थी उवउत्तो पासति—पवयणाधारो
भविस्सति। भणितो—जति णिक्खमाहि। अब्भुवगतं।
णिक्खंतो सामातियं कारवेत्ता जावतियं समुदाणं दिण्णं,
तहिणरातीए चेव अजीरतो कालगओ। सो अवत्तसामातिओ
अंधकुमारपुत्तो जातो।.....

चंदगुत्तस्स पुत्तो बिंदुसारो। तस्स पुत्तो असोगो। तस्स
पुत्तो कुणालो। तस्स बालत्तणे चेव उज्जेणी कुमारभुत्ती
दिण्णा।.....कुणालकुमारस्स घरे सो रंको उप्पण्णो। णिवत्ते
बारसाहे 'संपती' से णामं कतं।

.....संपतिरण्णा ओलोयणगतेण 'अज्जसुहत्थी' दिट्ठो।
जातीसरणं जातं।.....धम्मं पडिवण्णो। अतीव परोप्परं णेहो
जाओ। तत्थ य महागिरि सिरिधराययणे आवासितो।
अज्जसुहत्थी सिवघरे आवासितो। ततो राया.....अप्पणो
विसए जणं पिंडेतूणं भणाति—तुब्भे साधूणं आहारातिपा-
योगं देह। अहं भे मोल्लं देहामि।

अज्जसुहत्थी सीसाणुरागेण साहु गेणहमाणे सातिज्जति,
णो पडिसेहेति। तं अज्जमहागिरि जाणित्ता अज्जसुहत्थिं
भणाति—अज्जो ! कीस रायपिंडं पडिसेवह ? तओ अज्ज-
सुहत्थिणा भणियं—जहा राया तहा पया, ण एस रायपिंडो।.....
ततो अज्जमहागिरि अज्जसुहत्थिं भणाति—अज्जप्पभित्तिं तुमं
मम असंभोतिओ।.....ततो अज्जसुहत्थी पच्चाउट्टो मिच्छा-
दुक्कडं करेति, ण पुणो गेणहामो। एवं भणिए संभुत्तो।.....

ततो अज्जमहागिरि उवउत्तो, पाएण "मायाबहुला
मणुय" त्ति काउं विसंभोगं ठवेति। (निभा २१५४ चू)

भगवान् वर्धमानस्वामी के शिष्य सुधर्मा। सुधर्मा के शिष्य
जम्बू। उनके शिष्य प्रभव। इस प्रकार उत्तरोत्तर शय्यंभव, यशोभद्र,
सम्भूत और स्थूलभद्र तक सबका एक ही संभोज था। स्थूलभद्र के
दो युगप्रधान शिष्य—ज्येष्ठ आर्य महागिरि, कनिष्ठ आर्य सुहस्ती।
स्थूलभद्रस्वामी ने आर्य सुहस्ती को अपना गण सौंपा किन्तु प्रीतिवश
महागिरि और सुहस्ती दोनों एक साथ विहरण करते थे।

एक बार एक रंक ने सुहस्ती के साधुओं को देखा और उनसे आहार मांगा। साधुओं ने कहा—हम अपने आचार्य सुहस्ती को पूछे बिना नहीं दे सकते। वह वहां पहुंच गया। आर्य सुहस्ती ने ज्ञान-बल से देखा—यह प्रवचन प्रभावक होगा। उससे कहा—तुम दीक्षा लो तो भोजन दे सकते हैं। वह तैयार हो गया। सामायिक चारित्र स्वीकार किया, पर्याप्त भोजन किया, अजीर्ण हो गया, उसी रात्रि को मृत्यु हो गई। वह मरकर अव्यक्त सामायिक के कारण अंधकुमार (कुणाल) का पुत्र हुआ। चन्द्रगुप्त का पुत्र बिंदुसार। बिंदुसार का पुत्र अशोक। अशोक का पुत्र कुणाल। कुणाल को बचपन से ही उज्जैनी का आधिपत्य दे दिया गया। कुणाल के घर में वह रंक पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। जन्म के बारह दिन बीतने पर उसका नाम सम्प्रति रखा गया।

कालान्तर में विहरण करते हुए आर्य सुहस्ती और आर्य-महागिरि उज्जैनी पधारे। राजा सम्प्रति ने गवाक्ष से आर्य सुहस्ती को देखा, जातिस्मृतिज्ञान उत्पन्न हुआ। धर्म स्वीकार किया। परस्पर स्नेहानुराग हो गया। आर्यमहागिरि श्रीगृहआयतन में तथा आर्य सुहस्ती शिवगृह में ठहरे। सम्प्रति नृप ने नागरिकों से कहा—तुम साधुओं को पर्याप्त आहार आदि दो, मैं तुम्हें उसका मूल्य दूंगा। आर्य सुहस्ती के शिष्य राजपिण्ड ग्रहण करने लगे। शिष्यानुराग के कारण आचार्य ने निषेध नहीं किया। आर्यमहागिरि ने कहा—आर्य! राजपिण्ड ग्रहण क्यों कर रहे हो? आर्य सुहस्ती ने कहा—जैसे राजा, वैसे प्रजा, यह राजपिण्ड नहीं है। आर्यमहागिरि ने कहा—‘आज से तुम मेरे लिए असांभोजिक हो।’ तत्पश्चात् आर्य सुहस्ती ने ‘मिच्छा मि दुक्कडं’ कहते हुए पुनः राजपिण्ड ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा की। ऐसा करने पर वे पुनः सांभोजिक हो गए।

आर्यमहागिरि ने जाना—मनुष्य प्रायः मायाबहुल होते हैं—ऐसा सोचकर उन्होंने विसंभोज की व्यवस्था प्रस्थापित की।

ओदरियमओ दारेसु, चउसुं पि महाणसे स कारेत्ति।
णिंताऽऽणिंते भोयण, पुच्छा सेसे अभुत्ते य॥
साहूण देह एयं, अहं भे दाहामि तत्तियं मोल्लं।
णेच्छंति घरे घेत्तुं, समणा मम रायपिंडो त्ति॥
एमेव तेल्लि-गोलिय-पूविय-मोरंड-दुस्सिए चेव।
जं देह तस्स मोल्लं, दलामि पुच्छा य महागिरिणो॥

अज्जसुहत्थि ममत्ते, अणुरायाधम्मतो जणो देती।
संभोग वीसुकरणं, तक्खण आउट्टणे नियत्ती॥

(बृभा ३२७९-३२८२)

‘मैं पूर्वभव में भिखारी था। वहां से मरकर मैं यहां उत्पन्न हुआ हूँ—जातिस्मृति द्वारा इस वृत्तान्त को जानकर सम्प्रति ने नगर के चारों द्वारों पर सत्राकार महानसों का निर्माण करवाया, जहां आते-जाते दीन-अनाथ लोग भोजन करते थे।

राजा ने रसोइयों से पूछा—दीन-अनाथों को देने के बाद जो भोजन शेष बचता है, उसका क्या करते हो? वे बोले—अपने घर में उपभोग करते हैं। राजा ने कहा—आप शेष बचा भोजन साधुओं को दें, मैं उसका मूल्य चुका दूंगा। क्योंकि साधु मेरे घर से राजपिण्ड भिक्षा ग्रहण नहीं करते।

इसी प्रकार राजा ने तैल, छाछ, अपूप, तिल आदि के मोदक और वस्त्र बेचने वालों से कहा—साधुओं को जिसकी अपेक्षा हो, आप दें, मैं उसका मूल्य चुका दूंगा।

आचार्य महागिरि ने पृच्छा की—आर्य सुहस्ति! आजकल यथेष्ट आहार, वस्त्र आदि प्राप्त हो रहे हैं, इसलिए जानकारी करो कि कहीं ये लोग राजा द्वारा प्रवर्तित तो नहीं हैं?

आर्य सुहस्ती यह जानते थे कि वे अनेषणीय आहार का भोग करते हैं किन्तु मोहवश उन्होंने कहा—सारे लोग राजधर्म से अनुवर्तित होने के कारण यथेष्ट आहार देते हैं। आचार्य महागिरि ने कहा—तुम बहुश्रुत होकर भी ऐसा कहते हो तो आज से तुम्हारा और मेरा संभोज—एकत्र भोजन आदि का व्यवहार नहीं होगा। सुहस्ती को अपनी भूल की अनुभूति हुई। वे तत्काल उससे निवृत्त होकर पुनः सांभोजिक हो गए।

८. संभोज-असंभोजविधि परीक्षा : कूप दृष्टांत

एष च संभोगविधिः पूर्वस्मिन्नर्थभरते सर्वसंविग्ना-
नामेकरूप आसीत्। पश्चात्कालदोषत इमे सांभो- गिका इमे
त्वसांभोगिका इति प्रवृत्तम्।...

.....अविणट्टे संभोगे सव्वे संभोइया आसी॥
आगंतु तदुत्थेण व, दोसेण विणट्ट कूवे तो पुच्छा।
कउ आणीयं उदगं, अविणट्टे नासि.....सा पुच्छा॥

(व्यभा २३५६, २३५७ वृ)

प्राचीनकाल में अर्धभरतक्षेत्र में सब संविग्न साधुओं की संभोजविधि एकरूप थी। तत्पश्चात् कालदोष से ये सांभोजिक हैं और ये असांभोजिक हैं—इस प्रकार का विभाग प्रवृत्त हुआ।
 कूप दृष्टांत—एक गांव की एक दिशा में मधुर जल के अनेक कूप थे। उनमें से कुछ कूप आगंतुक दोषों के कारण तथा कुछ कूप उसी भूमि से उत्थित क्षार-लवणमय विषम जलस्रोतों के कारण अपेय बन गए। वहां के लोगों को सदोष-निर्दोष जल की जानकारी थी। इसलिए वे पूछते—यह जल किस कूप से लाए हो? निर्दोष होता तो उपयोग करते अन्यथा वर्जन करते। कोई जानबूझकर सदोष जल लाता तो उसकी भर्त्सना करते। अनजान में लाने वाले को सावधान कर पुनः वैसा जल लाने का निषेध करते। जब तक कूप शुद्ध थे, तब तक यह पृच्छा नहीं होती थी कि पानी कहां से लाए?

अविणट्टे संभोगे, अणातणाते य नासि पारिच्छा।.....

**आर्यसुहस्तिशिष्यद्रमकप्रव्रज्याप्रतिपत्तिप्रभृति आराद्
 विनष्टः संभोगः।** (व्यभा २९०८ वृ)

आर्य महागिरि से पूर्व अथवा उन तक संभोज व्यवस्था विद्यमान थी। तब तक ज्ञात-अज्ञात की परीक्षा नहीं होती थी। आर्य सुहस्ती के शिष्य द्रमक की प्रव्रज्या के पश्चात् संभोज विनष्ट हुआ। तब से ज्ञात-अज्ञात की परीक्षा कर, आलोचनीय की आलोचना कर एक मण्डली में आहार किया जाने लगा।

९. विसंभोज उत्तरगुणों में : दर्शन संभोज आदि

.....दंसण-णाण चरित्ते, तवहेउं उत्तरगुणेसु ॥
 सहहणा खलु मूलं, सहहमाणस्स होति संभोगो ।
 णाणम्मि तदुवओगो, तहेव अविसीयणं चरणे ॥
 दंसण-णाण-चरित्ताण, वुड्ढिहेउं तु एस संभोओ ।
 तवहेउ उत्तरगुणेसु चेव सुहसारणा भवति ॥

**विसंभोओ किं उत्तरगुणे मूलगुणे ? आयरिओ भणति—
 उत्तरगुणे । अधवा—उत्तरगुणे सीयंतो संभोतिओ त्ति काउं
 चोतिज्जति । एवं चोयणाए उत्तरगुणसंरक्खणे मूलगुणा
 संरक्खिया भवंति ।** (निभा २०६९, २१५५, २१५६ चू)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की वृद्धि के लिए संभोज व्यवस्था अभिलषणीय है।

० दर्शन संभोज—दर्शन/श्रद्धा मोक्षमार्ग का मूल है। सूत्रग्रन्थों में उत्सर्ग-अपवादरूप और निश्चय-व्यवहार रूप जो भाव प्रज्ञप्त हैं, उन पर श्रद्धा करने वाला दर्शन-सांभोजिक है।

० ज्ञान संभोज—'किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं'..... इस प्रकार की श्रुतज्ञान की अनुशिष्टि में उपयुक्त होने वाला ज्ञानसांभोजिक है।

० चारित्र संभोज—जो चारित्र में उद्यमशील है, विषण्ण नहीं होता है, वह चारित्र सांभोजिक है।

० तप संभोज—जो इहलोक और परलोक की आशंसा से तप नहीं करता, निर्जरा के लिए तप करता है, वह तप सांभोजिक है। जो तपोयोग में वीर्य का गोपन करता है, उसे विसांभोजिक कर दिया जाता है—यह सोचकर वह तप में उद्यम करता है।

० उत्तरगुणसंभोज—विसंभोज उत्तरगुणों में होता है या मूलगुणों में? आचार्य कहते हैं—विसंभोज उत्तरगुणों में होता है।

जो सांभोजिक होता है, उत्तरगुणों में विषण्ण या शिथिल होने पर उसकी सारणा-वारणा की जाती है। इस प्रकार उत्तरगुणसंरक्षण से मूलगुण संरक्षित होते हैं।

१० साधु-साध्वी की विसांभोजिककरण-विधि

जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो णं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करेत्तए, कप्पइ णं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करेत्तए । जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वाएज्जा—अह णं अज्जो! तुमए सद्धिं इमम्मि कारणम्मि पच्चक्खं संभोगं विसंभोगं करेमि । से य पडित्पेज्जा एवं से नो कप्पइ.....विसंभोइयं करेत्तए ॥ जाओ निग्गंथीओ.....नो णं कप्पइ पच्चक्खं पाडि-एक्कं संभोइणिं विसंभोइणिं करेत्तए ॥ (व्य ७/४, ५)

जो निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियां सांभोजिक हैं, उनमें निर्ग्रन्थ को परोक्ष में सांभोजिक से विसांभोजिक (संबंध-विच्छेद) नहीं किया जा सकता, प्रत्यक्ष में किया जा सकता है। जहां भी वे परस्पर मिलें, वहीं आचार्य इस प्रकार कहे—आर्य! मैं अमुक कारण से तुम्हें प्रत्यक्ष में सांभोजिक से विसांभोजिक करता हूँ यदि वह पश्चात्ताप करे तो उसका संबंध विच्छेद नहीं किया जा सकता। साधवियों को प्रत्यक्ष में विसांभोजिक नहीं करना चाहिए

११. एक ही दोष चौथी बार सेवन से विसांभोजिक
 एगं व दो व तिण्णि व, आउडुं तस्स होति पच्छित्तं ।
 आउडुंते वि ततो, परेण तिण्हं विसंभोगो ॥
 स किमवि कातूणऽधवा, सुहुमं वा बादरं व अवराहं ।
 णाउट्ट विसंभोगो, असहहंते असंभोगो ॥
 (निभा २०७५, २०८३)

एक सांभोजिक मुनि एक बार, दो बार अथवा तीन बार अशुद्ध आहार आदि ग्रहण करता है, तो उसे सचेत करने पर वह 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहता हुआ उस अपराध से निवृत्त हो जाता है, पुनः न करने का संकल्प करता है, तब उसे उस कृतदोष का प्रायश्चित्त दिया जाता है।

तीन बार से अधिक, चौथी बार यदि वही अतिचार सेवन करता है तो उसे विसांभोजिक कर दिया जाता है।

जो मुनि छोटा या बड़ा कोई भी अपराध कर उससे निवृत्त नहीं होता है या साधु-सामाचारीनिरूपण में श्रद्धा नहीं करता है, उसे भी असांभोजिक कर दिया जाता है।

(तीन कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ अपने साधर्मिक सांभोजिक को विसांभोजिक करता हुआ आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता—
 १. स्वयं किसी को सामाचारी के प्रतिकूल आचरण करते हुए देखकर, २. श्राद्ध (विश्वासपात्र) से सुनकर, ३. तीन बार अनाचार का प्रायश्चित्त देने के बाद चौथी बार प्रायश्चित्त विहित नहीं होने के कारण।—स्था ३/३५०

पांच स्थानों से श्रमण-निर्ग्रन्थ अपने साधर्मिक सांभोजिक को विसांभोजिक—मंडली-बाह्य करता हुआ आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता—१. जो अशुभ कर्म का बंधन करने वाले कार्य का प्रतिसेवन करता है। २. प्रतिसेवन कर जो आलोचना नहीं करता। ३. आलोचना कर जो प्रस्थापन (प्रायश्चित्त रूप में प्राप्त तप का प्रारंभ) नहीं करता। ४. प्रस्थापन कर जो निर्वेश (प्रायश्चित्त का पूर्ण निर्वाह) नहीं करता। ५. जो स्थविरों के स्थितिकल्प होते हैं, उनमें से एक के बाद दूसरे का अतिक्रमण करता है, दूसरों के समझाने पर यह कहता है—'लो, मैं दोष का प्रतिसेवन करता हूं, स्थविर मेरा क्या करेंगे?'—स्था ५/४६

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, ज्ञान, दर्शन

और चरित्र—जो इन नौ स्थानों का प्रत्यनीक होता है, उसे विसांभोजिक कर दिया जाता है।—स्था ९/१

० समवाय (१२/२) में बारह प्रकार के संभोग का उल्लेख है।
 ० सांभोजिक का भक्ति-बहुमान और वर्णसंज्वलन करना अनाशातना-दर्शन-विनय है।—भ २५/५८६)

१२. कुशीलसंसर्ग से विसांभोजिक

पडिसेधे पडिसेधो, असंविगो दाणमादि तिक्खुतो ।
 पासत्थादिकुसीले, पडिसिद्धे जा तु तेसि संसग्गी ।
 पडिसिद्धति एसो खलु, पडिसेधे होइ पडिसेधो ॥
 सूयगडंगे एवं धम्मज्झयणे निकाचितं भणियं ।
 अकुसीले सदा भिक्खू नो य संसग्गियं भए ॥
 (व्यभा २८९७-२८९९)

जो असंविग—पार्श्वस्थ आदि कुशील हैं, उनका संसर्ग प्रतिषिद्ध है। दान-ग्रहण (आहार आदि के आदान-प्रदान) द्वारा उनका संसर्ग होता है। जो साधु प्रतिषेध करने पर भी तीन बार से अधिक यह संसर्ग करता है, उसे विसांभोजिक कर दिया जाता है। पार्श्वस्थ आदि कुशील होना भी निषिद्ध है और कुशील का संसर्ग भी निषिद्ध है—यह प्रतिषेध का प्रतिषेध है। सूत्रकृतांग के 'धर्म' अध्ययन (सू १/९/२८) में यह निश्चयपूर्वक प्रतिपादित है—'भिक्षु सदा अकुशील रहे, कुशीलों के साथ संसर्ग न करे।'

१३. सांभोजिक साधु-साध्वी : आलोचना निषेध

जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो एहं
 कप्पइ अण्णमण्णस्स अंतिए आलोएत्तए । अत्थियाइं त्थ केइ
 आलोयणारिहे, कप्पइ एहं तस्स अंतिए आलोएत्तए, नत्थियाइं
 त्थ केइ आलोयणारिहे, एवं एहं कप्पइ अण्णमण्णस्स अंतिए
 आलोएत्तए ॥
 (व्य ५/१९)

सांभोजिक निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी परस्पर एक-दूसरे के समीप आलोचना नहीं कर सकते। स्वपक्ष में आलोचनाई हो तो उसी के पास तथा आलोचनाई न होने पर साधु-साध्वी को परस्पर आलोचना करना चाहिए।

१४. सम्भोज उपसम्पदा दिधि

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं

संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं....कप्पइ से आपुच्छित्ता....ते य से नो विवरेज्जा, एवं से नो कप्पइ.... । जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा, एवं से कप्पइ.... ॥ (क ४/१९)

भिक्षु गण से अवक्रमण कर अन्य गण में संभोज के निमित्त उपसम्पदा ग्रहण कर विहरण करना चाहे तो वह आचार्य को पूछे बिना नहीं जा सकता, पूछकर जा सकता है, वे आज्ञा न दें तो नहीं जा सकता। जिस गण में स्मरणा-वारणा आदि रूप उत्तम आचारविनय का प्रशिक्षण प्राप्त हो, उस गण में वह संभोजप्रत्ययिक उपसम्पदा स्वीकार कर सकता है।

सार्थवाह—व्यापारीयात्रियों के संघ का नायक।

१. सार्थवाह	
२. सार्थ के प्रकार	
○ यात्रापथ में उपयोगी सार्थ	
* मुनि और शुद्ध सार्थ	द्र विहार
३. सार्थ की प्रत्युपेक्षा : यान-वाहन स्वीकृति	
४. सार्थवाह और सार्थरक्षक के प्रकार	
५. सार्थ का प्रस्थान और शकुन	

१. सार्थवाह

जो वाणिओ रातीहिं अब्भणुण्णातो सत्थं वाहेति, सो सत्थवाहो। (निभा १७३५ की चू)

जो वाणिक्—व्यापारी राजा के द्वारा अभ्यनुज्ञात है, राजा की स्वीकृति प्राप्त कर देशांतर-गमन करने वाले व्यापारी वर्ग का नेतृत्व करता है, वह सार्थवाह कहलाता है।

२. सार्थ के प्रकार

.....ओमाणं पंतं सत्थिय, अतियत्तिय अप्पत्थयणो ॥
रागहोसविमुक्को, सत्थं पडिलेहें सो उ पंचविहो।
भंडी बहिलग भरवह, ओदरिया कप्पडिय सत्थो ॥
(बृभा ३०६५, ३०६६)

जिस मुनि का गन्तव्य में न राग हो, न द्वेष हो, उसे सार्थ की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए, क्योंकि सार्थ कदाचित् अपमान से अत्यधिक उद्वेजित हो सकता है, अथवा सार्थिक या सार्थचिन्तक

मुनियों से द्वेष रखने वाले हो सकते हैं अथवा सार्थ स्वल्प संबल (पाथेय)वाला हो सकता है।

सार्थ के पांच प्रकार हैं—

१. भण्डी—बैलगाड़ियों से यात्रा करने वाला सार्थ।
२. बहिलक—करभी, खच्चर आदि से यात्रा करने वाला सार्थ।
३. भारवह—पौट्टलिका-वाहकों का सार्थ।
४. औदरिक—मुद्रा देकर भोजन कर पुनः अग्रगामी सार्थ।
५. कार्पटिक—भिक्षाचरों का सार्थ।

○ यात्रापथ में उपयोगी सार्थ

उप्परिवाडी गुरुगा, तिसु कंजियमादिसंभवो होज्जा।
परिवहणं दोसु भवे, बालादी सल्ल गेलने ॥

(बृभा ३०६८)

मुनि को यथोक्त क्रम का उल्लंघन कर अर्थात् भंडी सार्थ के होने पर बहिलक के साथ जाने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह भंडी के अभाव में बहिलक के साथ, बहिलक के अभाव में भारवह के साथ जा सकता है। प्रथम तीन सार्थों के साथ जाने से कांजी आदि पानक की प्राप्ति हो सकती है। प्रथम दो सार्थ बाल, वृद्ध, दुर्बल, शल्यविद्ध और ग्लान को वहन कर सकते हैं।

३. सार्थ की प्रत्युपेक्षा : यान-वाहन स्वीकृति

अणुरंगाई जाणे, गुंठाई वाहणे अणुणवणा।
धम्म ति वा...., बालादि अणिच्छे पडिकुट्टा ॥
दंतिक्क-गोर-तिल्ल-गुल-सण्णिएमादिभंड भरिएसु।
अंतरवाघातम्मि व, तं दंतिहरा उ किं दंति ॥
खेत्ते जं बालादी, अपरिस्संता वयंति अद्धानं।
काले जो पुव्वण्हे, भावे सपक्खादणोमाणं ॥
(बृभा ३०७१, ३०७२, ३०७५)

मुनि जिस सार्थ के साथ जाना चाहे, उसकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रत्युपेक्षा करे।

○ द्रव्यतः प्रत्युपेक्षा—मुनि चलने में असमर्थ, बाल-वृद्ध आदि के लिए सार्थवाह से अनुरंगा, शकट आदि यान और अश्व, महिष आदि वाहन की स्वीकृति ले। यदि वह अपना धर्म मानकर स्वीकृति दे, तब तो सुन्दर, निषेध करे, तब उसके साथ न जाए।

जिस सार्थ में दंतखाद्य (मोदक आदि), गोधूम, तेल, गुड़, घृत आदि खाद्यपदार्थों के भाण्डों से शकट भरे हुए हैं, वह द्रव्यतः शुद्ध सार्थ है क्योंकि यात्रा में वर्षा, बाढ़ आदि किसी प्रकार का व्याघात होने पर सार्थवाह स्वयं उन खाद्यों को खा सकता है, मुनि को भी दे सकता है। उनके अभाव में वह क्या देगा ?

० क्षेत्रतः प्रत्युपेक्षा—जितने मार्ग तक बाल, वृद्ध आदि बिना थके जा सकते हैं, उतने मार्ग तक यदि सार्थ जाता है तो वह क्षेत्रतः शुद्ध सार्थ है।

० कालतः प्रत्युपेक्षा—जो सार्थ सूर्योदय वेला में प्रस्थान करता है और पूर्वाह्न में ठहर जाता है, वह कालतः शुद्ध सार्थ है।

० भावतः प्रत्युपेक्षा—जिसके पास श्रमणों आदि को भिक्षा देने के लिए पर्याप्त सामग्री है, वह भावतः शुद्ध सार्थ है।

४. सार्थवाह और सार्थरक्षक के प्रकार

.....सत्थाहा अट्ट आइयत्तीया ।.....
पुराण सावग सम्महिट्टि अहाभद् दाणसट्ठे य ।
अणभिग्गहिण् मिच्छे, अभिग्गहे अण्णत्तिथी य ॥
(बृभा ३०७०, ३०८०)

सार्थवाह (सार्थाधिपति) के आठ प्रकार हैं—

१. पुराण (पश्चात्कृत)—जो पहले साधु रह चुका है।
२. श्रावक — अणुव्रती श्रावक।
३. सम्यग्दृष्टि — अविस्त सम्यग्दर्शनी।
४. यथाभद्रक — साधु-दर्शन का पक्षधर।
५. दानश्राद्ध — स्वभावतः दान देने की रुचि वाला।
६. अनभिगृहीत मिथ्यादृष्टि—तटस्थ भाव से गलत तत्त्व को पकड़कर रखने वाला।
७. अभिगृहीत— आग्रहशील मिथ्यादृष्टि।
८. अन्यतीर्थिक — दूसरे सम्प्रदाय का उपासक।
आतियात्रिक—सार्थरक्षक के भी ये ही आठ प्रकार हैं।

५. सार्थ का प्रस्थान और शकुन

.....पुव्वपडिलेहिण्ण सत्थेण गंतव्वं ॥
.....अणुकूले निग्गमओ, पत्ता सत्थस्स सउणेणं ॥
(बृभा २८७९, २८९४)

पूर्व प्रत्युपेक्षित सार्थ के साथ मुनि अनुकूल चन्द्रबल-ताराबल होने पर प्रस्थान करे। उपाश्रय से प्रस्थान स्वयं के शकुन से करे तथा सार्थ प्राप्त होने पर सार्थ के शकुन से चले।

सिद्धान्त—राद्धांत, दर्शन, मत।

जेण उ सिद्धं अत्थं, अंतं णयतीति तेण सिद्धंतो ।.....
(बृभा १७९)

जो सिद्ध/निर्णीत अर्थ को प्रमाण की कोटि में पहुंचाता है, वह सिद्धांत है।

.....सो सव्व-पडींततो, अहिगरणे अब्भुवगमे य ॥
संति पमाणातिं पमेयसाहगाइं तु सव्वंततो उ ।
थेज्जवई य वसुमई, आपो य दवा चलो वाऊ ॥
जो खलु सतंतसिद्धो, न य परतंतसु सो उ पडितंतो ।
निच्चमणिच्चं सव्वं, निच्चानिच्चं च इच्चाई ॥
सो अहिगरणो जहियं, सिद्धे सेसं अणुत्तमवि सिद्धे ।
जह निच्चत्ते सिद्धे, अन्नत्ता-उमुत्तसंसिद्धी ॥
जं अब्भुविच्च कीरइ, सिच्छाएँ कहा स अब्भुवगमो उ ।
सीतो वन्ही गयजूह तणग्गे मग्गु-खरसिंगा ॥
(बृभा १७९-१८३)

सिद्धान्त चार प्रकार का है—

१. सर्वतंत्रसिद्धान्त—प्रमेय के साधक प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सब तंत्रों (सिद्धांतों)में अर्थ के साधक होते हैं। पृथ्वी स्थिर है, जल तरल है, वायु चंचल है—यह सर्वतंत्र सिद्धान्त है।
२. प्रतितंत्र सिद्धान्त—जो अर्थ स्व-तंत्र में मान्य है, पर-तंत्र में मान्य नहीं है, जैसे—सांख्य मत में सब नित्य हैं। बौद्ध मत में सब अनित्य हैं। जैन मत में सब पदार्थ नित्य-अनित्य दोनों हैं।
३. अधिकरण सिद्धान्त—वस्तु के एक धर्म के सिद्ध होने पर उसके शेष अनुक्त धर्म सिद्ध हो जाते हैं। जैसे—आत्मा का नित्यत्व धर्म सिद्ध हो जाने पर उसके अन्यत्व धर्म तथा अमूर्तत्व धर्म की भी स्वतः संसिद्धि हो जाती है।
४. अभ्युपगम सिद्धान्त—अग्नि शीतल है, तृण के अग्रभाग पर गजयूथ है, जलकाक और गधे के सींग होते हैं—ऐसे स्वेच्छिक तथ्यों को स्वीकार कर वादकथा करना।

सूत्र—जो अर्थ का सूचक है, जिसमें अनेक अर्थों का संघात है। अर्हत्-वाणी, आगम।

**सूरमणी जलकंतो, व अत्थमेवं तु पसवई सुत्तं।
वणियसुयंध कयवरे, तदणुसरंतो रयं एवं॥**

.....सुष्टूक्तं सूक्तम्।

(बृभा ३११-३१४ वृ)

सूत्र शब्द के चार निर्वचन हैं—१. जो सूचित करता है,

२. जो स्यूत (संयुक्त) करता है, ३. जो अर्थ का प्रसव करता है, ४. जो अर्थ का अनुसरण करता है, वह सूत्र है।

सूत्र के अनेक नाम हैं—

० सुप्त—सूत्र प्रसुप्त मनुष्य के समान है। जैसे प्रसुप्त मनुष्य अपनी ज्ञात कलाओं को भी प्रबोधित हुए बिना नहीं जानता, वैसे ही सूत्र में जब तक अर्थ का प्रबोध संक्रान्त नहीं हो जाता, तब तक उससे विशेष कुछ नहीं जाना जा सकता।

० श्लेष—सूत्र श्लेष (तंतु) के सदृश होता है। एक तंतु से अनेक वस्तुएं एकत्र संहत होती हैं, बांधी जाती हैं, वैसे ही एक सूत्र से अनेक अर्थ संघातित होते हैं।

० सूचन—सूत्र में पिरोई हुई सूई खो जाती है तो वह पुनः प्राप्त हो जाती है, वैसे ही सूत्र से अर्थ सूचित/ज्ञात होता है।

० सीवन—धागा कंचुक आदि के वस्त्रखंडों को जोड़ता है, वैसे ही सूत्र अर्थपदों को जोड़ता है।

० स्रवण—सूर्यकान्तमणि अग्नि में, जलकान्तमणि जल में दीप्ति का स्रवण करती है, वैसे ही सूत्र अर्थ का प्रस्रवण करता है।

० अनुसरण—इसके दो प्रकार हैं—द्रव्यतः और भावतः। द्रव्यतः अनुसरण में अंधपुत्र-कचवर का दृष्टांत—

एक वणिक का पुत्र अंध था। वणिक ने सोचा—मेरा यह पुत्र बिना कुछ काम किए भोजन करेगा तो इसको बहुत तिरस्कृत होना पड़ेगा, इसलिए मुझे कुछ उपाय करना चाहिए। उसने जमीन में दो खंभे गाड़कर एक रज्जु बांध दी। अब वह पुत्र घर का सारा कचरा उस रज्जु का अनुसरण करता हुआ बाहर जाकर फेंक आता। उसी प्रकार मुनि भी रज्जुस्थानीय सूत्र के सहारे कचवर-स्थानीय कर्म का अपनयन करते हैं।

० सूक्त—जो श्रेष्ठ कथन (सुभाषित) है, वह सूक्त/सूत्र है।

२. सूत्र का लक्षण, स्वरूप, भाषा

अप्यगंथ महत्थं, बत्तीसादोसविरहियं जं च।
लक्खणजुत्तं सुत्तं, अट्टहि य गुणेहिं उववेयं॥

(बृभा २७७)

१. सूत्र के निर्वचन एवं नाम

२. सूत्र का लक्षण, स्वरूप, भाषा

* सूत्र देवता-अधिष्ठित क्यों ?

द्र आगम

* सूत्र-अर्थमण्डली व्यवस्था

द्र वाचना

* सूत्र (आगम) वाचना : संयमपर्याय

द्र श्रुतज्ञान

* सूत्र के क्रमशः अध्ययन के गुण

द्र उत्सारकल्प

* छेदसूत्रनिर्यूहण का प्रयोजन

द्र छेदसूत्र

३. सूत्र और अर्थ में बलवान् कौन ?

४. सूत्र-अर्थपद : प्रासाद का रूपक

५. सूत्र : अर्थ का अनुगामी

* बारह-बारह वर्ष सूत्र-अर्थ-ग्रहण

द्र श्रुतज्ञान

६. आचार्य ही अर्थउत्प्रेक्षक

* अर्थधर मुनि प्रमाण.....

द्र आगम

* उपाध्याय द्वारा सूत्रवाचना

द्र संघ

* सूत्रस्वाध्याय का काल

द्र स्वाध्याय

७. कल्पिक के बारह प्रकार : सूत्रकल्पिक.....

८. सूत्र के तीन प्रकार

९. सूत्र के चार प्रकार

१०. सूत्र के अनेक भेद

११. सूत्र के छह प्रकार : उत्सर्ग सूत्र आदि

१२. उत्सर्ग-अपवाद का विषयविभाग

१३. विधान और निषेध की संगति

१४. उत्सर्ग-अपवाद : निर्जरा के हेतु

१५. उत्सर्ग और अपवाद तुल्य

० उत्सर्ग और अपवाद : बलवान् कौन ?

१६. अपवादसेवन का नियामक तत्त्व

१. सूत्र के निर्वचन एवं नाम

नेरुत्तियाइं तस्स उ, सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइ त्ति।

अणुसरति त्ति य भेया, तस्स उ नामा इमा हुंत्ति॥

पासुत्तसमं सुत्तं, अत्थेणाबोहियं न तं जाणे।

लेससरिसेण तेणं, अत्था संघाइया बहवे॥

सुइज्जइ सुत्तेणं, सूईं नट्ठा वि तह सुएणत्थो।

सिव्वइ अत्थपयाणि व, जह सुत्तं कंचुगाईणि॥

जो अल्प अक्षरों में निबद्ध हो, महान् अर्थ का सूचक हो, बत्तीस दोषों से रहित तथा आठ गुणों से युक्त हो, वही लक्षणयुक्त सूत्र होता है। (द्र श्रीआको १ दृष्टिवाद)

पुष्पावरसंजुतं, वेरगकरं सतंत-अविरुद्धं ।
पोराणमद्धमागहभासा णिययं हवति सुत्तं ॥

तिथ्यरभासितो जस्सत्थो गंधो य गणधरणिबद्धो तं पोराणं । अहवा पाययबद्धं पोराणं, मगहद्धविसयभासाणि-बद्धं अद्धमागहं । अथवा अट्टारसदेसीभासाणियतं अद्धमागधं भवति सुत्तं । (निभा ३६१८ चू)

- ० सूत्र पूर्वापरसंयुक्त—पूर्व सूत्र अपर सूत्र से अबाधित होता है ।
- ० सूत्र विषयों के प्रति वैराग्य का भाव पैदा करता है ।
- ० सूत्र अपने सिद्धान्त के अनुकूल प्रतिपादन करता है ।
- ० सूत्र पोराण—तीर्थकरभाषित अर्थ वाला है और गणधर द्वारा निबद्ध है । अथवा वह प्राकृत में निबद्ध है । अथवा वह अर्धमागधी भाषा—अठारह देशी भाषाओं में निबद्ध है ।

३. सूत्र और अर्थ में बलवान् कौन ?

अत्थेण गंधतो वा, संबंधो सव्वधा अपडिसिद्धो ।
सुत्तं अत्थमुवेक्खति, अत्थो वि न सुत्तमतियाति ॥
(व्यभा २८६७)

अर्थ और सूत्र का संबंध सर्वथा अप्रतिषिद्ध है । सूत्र अर्थसापेक्ष होता है । अर्थ भी सूत्र का अतिक्रमण नहीं करता ।

..... सामाइयादि जा अट्टसीतिं तु ॥
सुत्ते जहुत्तरं खलु, बलिया जा होति दिट्ठिवाओ त्ति ।
अत्थे वि होति एवं, छेदसुत्तत्थं नवरि मोत्तुं ॥
एमेव मीसगम्मि वि, सुत्ताओ बलवगो पगासो उ ।
पुव्वगतं खलु बलियं, हेट्ठिल्लत्था किमु सुयातो ॥
परिकम्मेहि य अत्था, सुत्तेहि य जे य सूइया तेसिं ।
होति विभासा उवरिं, पुव्वगतं तेण बलियं तु ॥
तिथ्यगरत्थाणं खलु, अत्थो सुत्तं तु गणहरत्थाणं ।
अत्थेण य वंजिज्जति, सुत्तं तम्हा उ सो बलवं ॥
जम्हा उ होति सोधी, छेदसुयत्थेण खलितचरणस्स ।
तम्हा छेदसुयत्थो, बलवं मोत्तूण पुव्वगतं ॥
(व्यभा १८२४-१८२९)

० सूत्र—आवश्यक (सामायिक आदि) से दशवैकालिक, दशवैकालिक से उत्तराध्ययन, इसी प्रकार आगे के सूत्र उत्तरोत्तर बलवान् हैं । दृष्टिवाद के अट्टासी सूत्र सर्वाधिक बलवान् हैं ।

० अर्थ—इसी प्रकार अर्थ की बलवत्ता ज्ञातव्य है । केवल छेदसूत्रार्थ इसका अपवाद है

० मिश्र—तदुभय (सूत्रार्थ) में भी यही वक्तव्यता है ।

सूत्र से अर्थ बलवान् होता है । अंग आदि पूर्ववर्ती सब सूत्रों और अर्थों से पूर्वगत सूत्रार्थ बलवान् है । क्यों ?

दृष्टिवाद के पांच प्रस्थान हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका । सिद्धश्रेणिक आदि परिकर्मों और अट्टासी सूत्रों द्वारा सूचित अर्थों का तथा अन्य सभी सूत्र-अर्थों का पूर्वगत में विविध प्रकार से विवेचन/विश्लेषण है, अतः पूर्वगत बलवान् है ।

अर्थ अर्हत्-प्रज्ञप्त होने से अर्हत्-स्थानीय है तथा सूत्र गणधरों द्वारा संदृब्ध होने से गणधर-स्थानीय है । सूत्र अर्थ से प्रकाशित होता है, इसलिए सूत्र से अर्थ बलवान् है । छेदसूत्र तथा उसके अर्थों से चारित्र के अतिचारों की विशोधि होती है, इसलिए पूर्वगत के अतिरिक्त शेष सब अर्थों से छेदसूत्रार्थ बलवान् है ।

४. सूत्र-अर्थपद : प्रासाद का रूपक

अभिनवनगरनिवेशे, समभूमिविरेयणञ्खरविहन्नु ।
पाडेइ उंडियाओ, जा जस्स सठाणसोहणया ॥
खणणं कोट्टण ठवणं, पेढं पासाय रयण सुहवासो ।
इय संजम नगरुंडिय, लिंगं मिच्छत्तसोहणयं ॥
वय इट्टगठवणनिभा, पेढं पुण होइ जाव सूयगडं ।
पासाओ जहिं पगयं, रयणनिभा हुंति अत्थपया ॥
(बृभा ३३१-३३३)

अभिनव नगर में निवास के लिए पहले भूमि की परीक्षा की जाती है । परीक्षित भूमि को सम किया जाता है । तदनन्तर जो भूमि जिसके योग्य हो, उसे देने के लिए अक्षरविधिज्ञ अक्षरकित मुद्राएं डालता है । तत्पश्चात् अपनी-अपनी भूमि का शोधन और खनन किया जाता है । उसमें ईंटों के टुकड़े डालकर मुद्गर से उनका कुट्टन किया जाता है । उस पर ईंटें स्थापित कर पीठिका तैयार की जाती है । पीठिका के ऊपर प्रासाद का निर्माण कर उसे रत्नों से भरा जाता है । फिर उसमें सुखपूर्वक वास किया जाता है ।

भूमिग्रहण के समान है पुरुष । शुद्ध पुरुष की परीक्षा कर

उसे प्रव्रज्या दी जाती है। नगरस्थानीय है संयम और उंडिकास्थानीय है रजोहरण आदि लिंग। कचवर के समान मिथ्यात्व-अज्ञान का शोधन-खनन और सम्यक्त्व मुद्गर से कुट्टन किया जाता है। ईंटों के स्थापन के सदृश है व्रत। पीठिका के समान है आवश्यक यावत् सूत्रकृतांग सूत्र। प्रस्तुत प्रकरण में प्रासाद के समान है कल्प और व्यवहार सूत्र। रत्नों के सदृश हैं सूत्र के अर्थपद।

५. सूत्र : अर्थ का अनुगामी

सुत्तं पमाणं जति इच्छितं ते, ण सुत्तमत्थं अतिरिच्च जाती ।
अत्थो जहा पस्सति भूतमत्थं, तं सुत्तकारीहिं तहा निबद्धं ॥
छाया जहा छायावतो निबद्धा, संपत्थिए जाति ठिते य ठाति ।
अत्थो तहा गच्छति षण्णवेसू, सुत्तं पि अत्थाणुचरं तहेव ॥
(बृभा ३६२७, ३६२८)

यदि तुम्हें सूत्र की प्रमाणता अभीष्ट है तो यह भी जानो कि सूत्र अर्थ का अतिक्रमण कर प्रवृत्त नहीं होता। अर्थ जिस रूप में सद्वृत्त अर्थ (अभिधेय) को देखता है, सूत्रकारों ने सूत्र को उसी अभिप्राय से निबद्ध किया है।

जैसे छाया छायावान् पुरुष का अनुगमन करती है—उसके संप्रस्थित होने पर प्रस्थित हो जाती है और उसके ठहरने पर ठहर जाती है, वैसे ही अर्थ जिन पर्यवों/विकल्पों में प्रवृत्त होता है, सूत्र उसी अर्थ का अनुचारी होकर उन्हीं पर्यवों में प्रवृत्त होता है।

६. आचार्य ही अर्थउत्प्रेक्षक

.....अव्वोकडो उ भणितो, आयरिओ उवेहती अत्थं ॥

यथा किलैकस्माद् मृत्पिण्डात् कुलालोऽनेकानि घट-
शरावादिरूपाणि निष्पादयति, एवमाचार्योऽप्येकस्मात्
सूत्रपदादभ्यूह्यानेकेषामर्थविकल्पानामुपदर्शनं करोति। यथा
वा सान्धकारे गृहादौ विद्यमाना अपि घटादयः पदार्थाः
प्रदीपं विना न विलोक्यन्ते, तथा सूत्रेऽप्यर्थविशेषा आचार्येणा-
प्रकाशिताः सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते। (बृभा ३३१४ वृ)

अग्गीयस्स न कप्पइ, तिविहं जयणं तु सो न जाणाइ ।
अणुन्नवणाए जयणं, सपक्ख-परपक्खजयणं च ॥
निउणो खलु सुत्तत्थो, ण हु सक्को अपडिबोधितो णाउं ।”
.....सर्वेषामप्यागमानामर्थपरिज्ञानमाचार्यसहायका-
देवोपजायते, न यथा- कथञ्चित् । उक्तञ्च—

सत्स्वपि फलेषु यद्वन्न ददाति फलान्यकम्पितो वृक्षः ।
तद्वत् सूत्रमपि बुधैरकम्पितं नार्थवद् भवति ॥
(बृभा ३३३२, ३३३३ वृ)

सूत्र में सामान्यरूप से अर्थ कहा जाता है। आचार्य विषय विभागपूर्वक सूत्र के अर्थ की उत्प्रेक्षा करते हैं। जैसे कुंभकार एक मृत्पिण्ड से घट, शराव आदि अनेक रूपों को निष्पादित करता है, वैसे ही आचार्य एक सूत्रपद से अनेक अर्थ-विकल्पों को उपदर्शित करते हैं। जैसे अंधकारयुक्त घर आदि में विद्यमान घट आदि पदार्थ दीपक के बिना दृष्टिगत नहीं होते, वैसे ही सूत्र में विद्यमान अर्थ-विशेष भी आचार्य के द्वारा अप्रज्ञापित होने पर ज्ञात नहीं होते।

जो अगीतार्थ है, उसके लिए धान्यशाला आदि में रहना अनुज्ञात नहीं है, क्योंकि वह अनुज्ञापना यतना, स्वपक्षयतना और परपक्षयतना—इस त्रिविध यतना को नहीं जानता।

(शिष्य ने पूछा—अगीतार्थ ने भी सूत्र पढ़ा है, फिर वह यतना क्यों नहीं जानता? आचार्य ने कहा—) संब आगमों का अर्थपरिज्ञान जैसे-तैसे नहीं होता, वह आचार्य के अनुग्रहपूर्ण सहयोग से ही प्राप्त होता है। कहा भी है—

जैसे फलों से लदा हुआ होने पर भी वृक्ष तब तक फल नहीं देता, जब तक उसे प्रकम्पित नहीं किया जाता, वैसे ही आचार्य के द्वारा अप्रतिबोधित सूत्र भी अर्थवान् नहीं होता।

सूत्र का अर्थ सूक्ष्म होता है, अतः आचार्य के प्रतिबोध के बिना उसका सम्यक् परिज्ञान संभव नहीं है।

७. कल्पिक के बारह प्रकार : सूत्रकल्पिक.....

सुत्ते अत्थे तदुभय, उव्वट्टु विचार लेव पिंडे य ।
रिज्जा वत्थे पाए, उग्गहण विहारकप्पे य ॥
एयं दुवालसविहं, जिणोवइट्टुं जहोवएसेणं ।
जो जाणिऊण कप्पं, सहहणाऽऽयरणयं कुणइ ॥
सो भविय सुलभबोही, परित्तसंसारिओ पयणुकम्मो ।
अचिरेण उ कालेणं, गच्छइ सिद्धिं धुयकिलेसो ॥
(बृभा ४०५, ७१३, ७१४)

कल्पिक (सूत्रार्थग्रहण-योग्य) के बारह प्रकार हैं—

- | | |
|-----------------------------|----------------|
| १-३. सूत्र-अर्थ-तदुभयकल्पिक | द्र श्रुतज्ञान |
| ४. उपस्थापनाकल्पिक | द्र दीक्षा |
| ५. विचारकल्पिक | द्र समिति |

६.	पात्रलेपकल्पिक	द्र उपधि
७.	पिण्डकल्पिक	द्र पिण्डैषणा
८.	शय्याकल्पिक	द्र शय्या
९, १०.	वस्त्रकल्पिक, पात्रकल्पिक	द्र उपधि
११.	अवग्रहकल्पिक	द्र अवग्रह
१२.	विहारकल्पिक	द्र विहार

यह बारह प्रकार का कल्प अर्हत् द्वारा प्रतिपादित है। जो यथोपदिष्ट कल्प को जानकर उस पर श्रद्धा करता है, उसका आचरण करता है, वह भव्य, सुलभबोधिक, परिमित संसार वाला तथा प्रतनुकर्मा होता है और वह क्लेशों को नष्ट कर शीघ्र ही सिद्धि को प्राप्त करता है।

८. सूत्र के तीन प्रकार

सन्ना य कारगे पकरणे य सुत्तं तु तं भवे तिविहं।
उवयार अनिदुरया, कञ्जित्थीदाणामाहु नित्थक्का।
जे छेएँ आमगंधादि, आरं सन्ना सुयं तेणं॥
सव्वन्नुपमाणाओ, जइ वि य उस्सग्गओ सुयपसिद्धी।
वित्थरओऽपायाण य, दरिसणमिइ कारगं तम्हा॥
पगरणओ पुण सुत्तं, जत्थ उ अक्खेव-निन्नयपसिद्धी।
नमि-गोयमकेसिज्जा, अह्म-नालंदइज्जा य॥

.....'सागारिकं' मैथुनं.....आमम—अविशोधिकोटिः,
गन्धं—विशोधिकोटिः.....आमगन्धं परिज्ञाय.....निरामगन्धः
सन्.....अप्रतिबद्धो विहरेदित्यर्थः। आरः—संसारः.....पारं—
मोक्षः.....। (बृभा ३१५-३१८ वृ)

सूत्र के तीन प्रकार हैं—संज्ञासूत्र, कारक सूत्र, प्रकरण सूत्र।

१. संज्ञासूत्र—जिनमें सामयिक—आगम के सांकेतिक शब्दों का प्रयोग है। जैसे—

० जे छेए से सागारियं ण सेवए। (आ ५/१०) जो इन्द्रियजयी है, वह सागारिक—मैथुन का सेवन नहीं करता।

० सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए। (आ २/१०८)

मुनि सब प्रकार के आमगंध—आहारसंबंधी अविशोधि-कोटि-विशोधिकोटि के दोषों का परित्याग कर निरामगंध—आहार की आसक्ति से मुक्त रहता हुआ परिव्रजन करे।

० आरं दुगुणेणं पारं एगगुणेणं। द्विगुण—राग-द्वेष से आर—संसार बढ़ता है। एकगुण—वीतरागता से पार—निर्वाण प्राप्त होता है।

इस प्रकार सागारिक, आमगंध आदि सामयिकी संज्ञाओं का प्रयोग करने से दो लाभ होते हैं—

० जुगुप्सित अर्थ में प्रयुक्त संज्ञावचन उपचार वचन कहलाता है। उपचार वचन के प्रयोग से जुगुप्सित अर्थ के प्रति निष्ठुरता का भाव पैदा नहीं होता।

० प्रयोजन होने पर साध्वियां साधु के पास पढे तो संज्ञासूत्र से उन्हें सुखपूर्वक आलापक दिया जा सकता है। स्पष्ट शब्द प्रयोग से साध्वी में निर्लज्जता का भाव पैदा हो सकता है।

२. कारकसूत्र—आगमसम्मत सिद्धांत की अपायदर्शनपूर्वक सिद्धि करने वाले सूत्र। सर्वज्ञभाषित होने के कारण यद्यपि सारा श्रुत एकांततः प्रमाण है किन्तु विस्तार से अपायदर्शन (दोषों के ज्ञान अथवा निश्चयात्मक बोध) के लिए कारक-सूत्रों की रचना हुई। (जैसे—से केणट्टेणं भंते! एवं वुच्चइ—आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिद्धिलबंधणबद्धाओ धणिय-बंधणबद्धाओ पकरेइ.....?(भ १/४३७) भंते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—आधाकर्म भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रथ आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की शिथिलबंधनबद्ध प्रकृतियों को गाढ बंधनबद्ध करता है?)

३. प्रकरण सूत्र—जिनमें आक्षेप-प्रत्यवस्थान (प्रश्नोत्तर) अथवा संवादशैली का प्रयोग हो। जैसे—

० नमिप्रव्रज्या (उ ९)। ० आर्द्रकीय (सू २/६)।
० केशिगौतमीय (उ २३)। ० नालंदीय (सू २/७)।

९. सूत्र के चार प्रकार

कत्थइ देसग्गहणं, कत्थति भण्णंति णिरवसेसाइं।
उक्कम-कमजुत्ताइं, कारणवसतो णिजुत्ताइं॥
देसग्गहणे बीएहि सूधिया मूलमादिणो हुंति।
कोहादि अणिग्गहिया, सिंचंति भवं निरवसेसं॥
सत्थपरिण्णादुक्कमे, गोयर पिंडेसणा कमेणं तु।
जं पि य उक्कमकरणं, तमभिणवधम्ममादइत्ता॥
.....मोत्तूणं अहिगारं, अणुयोगधरा पभासंति॥
(बृभा ३३२१-३३२३, ३३२५)

सूत्रों में अधिधेय पदों का कहीं देशग्रहण और कहीं सर्वग्रहण किया गया है तथा प्रयोजनवश कई सूत्र उत्क्रमयुक्त और कई सूत्र क्रमयुक्त विरचित हैं। चार प्रकार के सूत्र हैं—

१. देशसूत्र—जिसमें देशग्रहण करने पर तज्जातीय सभी का ग्रहण हो जाता है। जैसे—...वणस्सइकाइया सबीया... (द ४/सू ८ जिच्)।—इस सूत्र में सबीज शब्द से वनस्पति के मूल, कंद आदि दस भेदों को सूचित किया गया है।

२. सर्वसूत्र—जिसमें निरवशेष अभिधेय पदों का ग्रहण किया गया हो। जैसे—दशवैकालिक (८/३९) में एक साथ चारों कषायों का ग्रहण किया गया है—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवङ्गभाणा ।

चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

अनिगृहीत क्रोध और मान, प्रवर्द्धमान माया और लोभ—ये चारों संक्लिष्ट कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं।

३. उत्क्रम सूत्र—जिनमें वर्णन क्रमशः न हो, जैसे—आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में तेजस्काय के पश्चात् क्रमप्राप्त वायुकाय का वर्णन न करके वनस्पतिकाय और त्रसकाय के पश्चात् उसका वर्णन किया गया है।

४. क्रमसूत्र—जिनमें क्रमशः वर्णन हो। जैसे—पेटा, अर्धपेटा आदि आठ गोचरभूमियां, (उ ३०/१९)। असंसृष्टा, संसृष्टा आदि सात पिण्डैषणाएं (आचूला १/१४१-१४७)।

सूत्रों में उत्क्रम से प्रतिपादन का प्रयोजन है—शैक्ष आदि मुनि प्रतिपाद्य विषय को सहजता से समझ सकें।

कहीं-कहीं अनुयोगधर सूत्र के प्रस्तुत अर्थ को छोड़कर प्रसंगोपात् अर्थ का पहले प्रतिपादन करते हैं।

१०. सूत्र के अनेक भेद

सन्नाइसुत्त ससमय, परसमय उस्सग्गमेव अववाए ।
हीणा-उहिय-जिण-श्रेरे, अज्जा काले य वयणाईं ॥
इह मौनीन्द्रप्रवचनेऽनेकधा सूत्राणि भवन्ति ।...देशी-
भाषानियतं सूत्रं... 'दिगिंछा' इति बुभुक्षा ।...

(बृभा १२२१ वृ)

जिनप्रवचन में अनेक प्रकार के सूत्र होते हैं। जैसे—

- संज्ञासूत्र—आगम के सांकेतिक शब्द प्रयोग वाले सूत्र।
- देशीभाषानियतसूत्र—देशीशब्दप्रयोग वाले सूत्र। जैसे—'दिगिंछापरीसहे... ।' (उ २/३) दिगिंछा का अर्थ है क्षुधा।

- स्वसमयसूत्र—करेमि भंते! सामाइयं... । (आव १)
- परसमयसूत्र—पंच खंधे वयंतेगे... ।... (सू १/१/१७)
- उत्सर्गसूत्र—जिसमें आचारविषयक सामान्य विधि का प्रतिपादन हो। यथा—...अभिकखणं निव्विगइं गया य ।... (द चूला २/७)
- अपवादसूत्र—जिसमें विशेष विधि का प्रतिपादन हो। यथा—
तिण्हमन्नयरगस्स, निसेज्जा जस्स कप्पइं ।
जराए अभिभूयस्स, वाहियस्स तवस्सिणो ॥
(द ६/५९)

○ हीन-अधिक सूत्र—हीनाक्षर सूत्र, जिसका अर्थ उन अक्षरों के बिना पूर्ण न हो। इसी प्रकार अधिक अक्षर वाला सूत्र। मुनि सूत्र का सही अर्थ ज्ञात हो जाने पर हीन सूत्र को पूर्ण करता है और अधिक अक्षरों का परित्याग करता है।

- जिनकल्पिकसूत्र—तेगिच्छं नाभिन्देज्जा... ॥ (उ २/३३)
- स्थविरकल्पिकसूत्र—भिकखू इच्छेज्जा अन्नयरिं तेइच्छं आउट्टिताए (दशा ८ परि सू २७४)

- जिनकल्प-स्थविरकल्प-सामान्य सूत्र—
...संसट्टकप्पेण चरेज्ज भिकखू... ॥ (द चूला २/६)
- आर्यासूत्र—यथा—कप्पइ निग्गंधीणं अंतोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए । (क १/१६)

- कालसूत्र—यथा—अनागत काल विषयक सूत्र—
न या लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।... (द चूला २/१०)
- वचनसूत्र—से एगवयणं वदिस्सामीति एगवयणं वएज्जा... ॥
(आचूला ४/४)

११. सूत्र के छह प्रकार : उत्सर्ग सूत्र आदि

उस्सग्गसुत्तं किंची, किंची अववातियं भवे सुत्तं ।
तदुभयसुत्तं किंची, सुत्तस्स गमा मुणेयव्वा ॥
जेगेसु एगगहणं, सलोम णित्तोम अकसिणे अइणे ।
विहिभिन्नस्स य गहणं, अववाउस्सग्गियं सुत्तं ॥
उस्सग्गठिई सुद्धं, जम्हा दव्वं विवज्जयं लभति ।
ण य तं होइ विरुद्धं, एमेव इमं पि पासामो ॥
उस्सग्ग गोयरम्मी, निसेज्ज कप्पाऽववादतो तिण्हं ।
मंसं दल मा अट्टी, अववाउस्सग्गियं सुत्तं ॥
एते सूत्रस्य 'गमाः' प्रकाराः... । अथवा 'गमा नाम'

द्विरुच्चारणीयानि पदानि। तद्यथा—उत्सर्गात्सर्गिकम् अपवादा-
पवादिकम्। (बृभा ३३१६-३३१९ वृ)

कुछ सूत्र औत्सर्गिक होते हैं, कुछ सूत्र आपवादिक होते हैं और कुछ सूत्र तदुभय होते हैं—ये सूत्र के गम—प्रकार हैं। अथवा गम का अर्थ है—दो बार उच्चारणीय पद। जैसे उत्सर्ग-उत्सर्ग। इस प्रकार सूत्र के छह प्रकार हैं—

- | | |
|------------------------|--------------------------|
| १. उत्सर्ग सूत्र | ४. अपवाद-उत्सर्ग सूत्र |
| २. अपवाद सूत्र | ५. उत्सर्ग-उत्सर्ग सूत्र |
| ३. उत्सर्ग-अपवाद सूत्र | ६. अपवाद-अपवाद सूत्र |

० कुछ सूत्र ऐसे होते हैं, जिनमें एक का ग्रहण साक्षात् रूप से होता है पर अर्थतः वह तत्सदृश अन्य अर्थों का भी ग्राहक होता है। (जैसे—जहां क्रोधनिग्रह का उल्लेख होता है, अर्थतः उसमें माननिग्रह आदि का भी ग्रहण हो जाता है।)

० कुछ सूत्र साधु-साध्वी के प्रत्येकविषयक होते हैं, जैसे—सलोम चर्म का ग्रहण निर्ग्रन्थों के लिए विहित है पर निर्ग्रन्थियों के लिए वही निषिद्ध है। निर्लौम चर्म निर्ग्रन्थों के लिए निषिद्ध एवं निर्ग्रन्थियों के लिए विहित है। (क ३/३, ४)

० अकृत्स्न चर्म विषयक सूत्र साधारण है। (क ३/६)

० विधिभिन्न तालप्रलम्ब के ग्रहण का विधान अपवादौत्सर्गिक सूत्र का उदाहरण है। (क १/५)

० उत्सर्ग मार्ग में उद्गम आदि दोषों से रहित विशुद्ध भक्तपान का ग्रहण ही विहित है। अपवाद पद में विपरीत द्रव्य का ग्रहण भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि वह ज्ञान आदि गुणों का उपकारक है। इसी प्रकार अपवाद रूप से अनुज्ञात तालप्रलम्ब के ग्रहण के सूत्र के साथ अविधिभिन्न तालप्रलम्ब का साध्वियों के लिए निषेध करने वाले सूत्र का कोई विरोध दृष्टिगत नहीं होता है। (अपवाद मार्ग में अनुज्ञात कार्य का भी पुनः प्रतिषेध किया जा सकता है और वही अपवादौत्सर्गिक सूत्र कहलाता है।)

० उत्सर्ग सूत्र—गोचरचर्या करते हुए निर्ग्रन्थ अन्तर्गृह में नहीं बैठ सकते। (क ३/२१)

० अपवाद सूत्र—बुद्ध, रोगी और तपस्वी यदि मूर्च्छित हो रहे हों ...तो वे अन्तर्गृह में बैठ सकते हैं। (क ३/२२)

० अपवादौत्सर्गिक सूत्र—फल का गूदा ग्राह्य है, गुठली नहीं। (आचूला १/१३५)

० उत्सर्गापवादिक सूत्र—रात्रि अथवा विकाल वेला में अशन-पान, वस्त्र-पात्र आदि ग्राह्य नहीं हैं। केवल पूर्वप्रतिलेखित एक शय्या-संस्तरक लिया जा सकता है। (क १/४२, ४३)

० उत्सर्गात्सर्गिक सूत्र—प्रथम प्रहर में गृहीत अशन आदि को पश्चिम प्रहर में नहीं रखा जा सकता। यदि कदाचित् रह जाए तो जो उसका भोग करता है, वह प्रायश्चित्तार्ह है। (क ४/१२)

० अपवाद-आपवादिक सूत्र—जिन सूत्रों में अपवाद का कथन हो, साथ ही अर्थ की दृष्टि से अनुज्ञा प्रवृत्त हो। यथा—

जो भिक्षु राजा के अंतःपुर में प्रवेश करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। (नि ९/३, २९)

(इसका आपवादिक सूत्र है—पांच कारणों से राजा के अंतःपुर में प्रवेश करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।—द्र स्था ५/१०२)

१२. उत्सर्ग-अपवाद का विषय विभाग

उत्सर्गेषां भणियाणि जाणि अववादतो तु जाणि भवे।
कारणजातेण मुणी!, सव्वाणि वि जाणितव्वाणि॥
उत्सर्गेषां निसिद्धाईं, जाईं दव्वाईं संधरे मुणिणो।
कारणजाते जाते, सव्वाणि वि ताणि कप्पंति॥
(बृभा ३३२६, ३३२७)

यह ज्ञातव्य है कि उत्सर्ग और अपवाद रूप से जितने सूत्र प्रतिपादित हैं, वे कारण होने पर ही आचरणीय हैं।

उत्सर्गसूत्रों में साक्षात् उत्सर्ग विषय निबद्ध है, अर्थ की अपेक्षा कारण उत्पन्न होने पर उनमें भी प्रतिषिद्ध के आचरण की अनुज्ञा है। अपवादसूत्रों में साक्षात् रूप से तो सकारण अपवादविषय निबद्ध है, अर्थ की दृष्टि से उनमें भी उत्सर्गविषय निबद्ध है। वास्तव में सब सूत्रों में उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही निबद्ध हैं।

१३. विधान और निषेध की संगति

ण वि किंचि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वा वि जिणरवरिंदिं।
एसा तेसिं आणा, कज्जे सच्चेण होतव्वं॥

तीर्थकृतां निश्चय-व्यवहारनयद्वयाश्रिता सम्यगाज्ञा
मन्तव्या—यदुत 'कार्ये' ज्ञानादावालम्बने 'सत्येन' सद्भाव-
सारेण साधुना भवितव्यम्, न मातृस्थानतो यत्किञ्चिदा-
लम्बनीयमित्यर्थः। अथवा सत्यं नाम संयमः तेन कार्ये

समुत्पन्ने भवितव्यम्, यथा यथा संयम उत्सर्पति तथा तथा कर्त्तव्यमिति भावः। आह च बृहद्भाष्यकारः—

कज्जं नाणादीयं, सच्चं पुण होइ संजमो नियमा।

जह जह सो होइ थिरो, तह तह कायव्वयं होइ ॥

(बृभा ३३३० वृ)

(शिष्य ने कहा—किसी सूत्र में जिसका विधान है, अन्य सूत्र में उसी का निषेध है—यह विसंगति क्यों? आचार्य ने कहा—) तीर्थकर द्वारा कुछ भी अकल्पनीय अनुज्ञात नहीं है और कारण उत्पन्न होने पर निषिद्ध नहीं है। तीर्थकरों की निश्चय और व्यवहार—दोनों नयों के आश्रित आज्ञा है—साधु को कार्यसत्य होना चाहिए, ज्ञान आदि पुष्ट आलम्बन के अभाव में माया से कोई भी आचरण नहीं करना चाहिए।

अथवा सत्य का अर्थ है संयम। प्रयोजन होने पर संयमपूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए—जिस-जिस प्रकार से संयमवृद्धि हो, संयम में स्थिरीकरण हो उस-उस प्रकार का आचरण करना चाहिए—ऐसा बृहद्भाष्य में कहा गया है।

जं जह सुत्ते भणितं, तहेव तं जइ वियालणा नत्थि।

किं कालियाणुओगो, दिड्डो दिड्डिप्पहाणेहिं ॥

(बृभा ३३१५)

सूत्र में विधि अथवा निषेध रूप में जो जहां कहा गया है, यदि उसको वैसा ग्रहण करना होता तथा विषय-विभाग व्यवस्थापन अथवा युक्त-अयुक्त के विमर्श की आवश्यकता नहीं होती तो विशिष्ट ज्ञानी एवं नयविशारद आचार्य निर्युक्ति आदि के माध्यम से कालिकश्रुत के अनुयोग का प्रतिपादन ही क्यों करते?

१४. उत्सर्ग-अपवाद : निर्जरा के हेतु

दोसा जेण निरुब्भति, जेण खिज्जति पुव्वकम्माइं।

सो सो मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं वा ॥

.....उत्सर्गं उत्सर्गमपवादेऽपवादं समाचरतो रागादयो दोषा निरुध्यन्ते.....। अथवा यथा कस्यापि रोगिणः पथ्यौषधादिकं प्रतिषिध्यते कस्यापि पुनस्तदेवानुज्ञायते, एवमत्रापि यः समर्थस्तस्याकल्प्यं प्रतिषिध्यतेऽसमर्थस्य तु तदेवानुज्ञायते। उक्तञ्च भिषग्वरशास्त्रे—

उत्पद्येत हि साऽवस्था, देश-काला-ऽऽमयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्, कर्म कार्यं च वर्जयेत् ॥

(बृभा ३३३१ वृ)

जिससे राग-द्वेष निरुद्ध होते हैं, जिससे पूर्व कर्म क्षीण होते हैं, वह अनुष्ठान मोक्ष का उपाय है। ज्वर आदि रोगों में उचित औषधिसेवन और अपथ्यपरिहार करने से रोग क्षीण होते हैं।

उत्सर्गमार्ग में उत्सर्गविधि और अपवादमार्ग में अपवाद-विधि का समाचरण करने से दोषों का निरोध और कर्मों की निर्जरा होती है। अथवा किसी रोगी के लिए जिस पथ्य या औषधि का निषेध किया जाता है, वही दूसरे रोगी के लिए अनुज्ञात हो जाती है। इसी प्रकार समर्थ मुनि के लिए अकल्प्य का प्रतिषेध और असमर्थ मुनि के लिए उसका विधान किया जाता है। आयुर्वेद शास्त्र में कहा गया है—

देश, काल और रोगों में वह अवस्था उत्पन्न हो सकती है, जिसमें अकार्य कार्य और कार्य अकार्य हो जाता है।

१५. उत्सर्ग और अपवाद तुल्य

उज्जयसग्गुस्सग्गो, अववाओ तस्स चेव पडिवक्खो।

उस्सग्गा विनिवत्तियं, धरेइ सालंबमववाओ ॥

धावंतो उव्वाओ, मग्गन्नु किं न गच्छइ कमेणं।

किं वा मउई किरिया, न कीरये असहुओ तिव्खं ॥

उन्नयमविव्ख निन्नस्स, पसिद्धी उन्नयस्स निन्नाओ।

इय अन्नुन्नपसिद्धा, उस्सग्गाऽववायमो तुल्ला ॥

जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया।

जावइया अववाया, उस्सग्गा तत्तिया चेव ॥

(बृभा ३१९-३२२)

उद्यत सर्ग (विहार) उत्सर्ग है। उसका प्रतिपक्ष है अपवाद। मुनि उत्सर्ग मार्ग से च्युत होने पर पुष्ट कारणों का आलम्बन लेकर अपवाद मार्ग को अपनाता है।

गन्तव्य की ओर दौड़ता हुआ व्यक्ति जब थक जाता है, तब क्या वह अपने ज्ञात मार्ग पर स्वाभाविक गति से नहीं चलता? क्या तीक्ष्ण क्रिया को सहने में असमर्थ रोगी की मृदु क्रिया नहीं की जाती है?

उन्नत की अपेक्षा से निम्न की और निम्न से उन्नत की

प्रसिद्धि होती है। इसी प्रकार उत्सर्ग से अपवाद की और अपवाद से उत्सर्ग की प्रसिद्धि होती है, इसलिए ये दोनों तुल्य हैं। जितने उत्सर्ग मार्ग हैं, उतने ही अपवाद मार्ग हैं। जितने अपवाद मार्ग हैं, उतने ही उत्सर्ग मार्ग हैं।

(अपवादमार्ग विहित है, फिर भी जो अपवादसेवन नहीं करता है, उसे दृढधर्मी कहा गया है। द्र प्रतिसेवना

जिनकल्पी अपवादसेवन नहीं करते। द्र जिनकल्प)

० उत्सर्ग और अपवाद : बलवान् कौन ?

सद्गुणे सद्गुणे, सेया बलिणो य हुंति खलु एए।

सद्गुण-परद्गुणा, य हुंति वत्थूतौ निष्कन्ना॥

संश्रओ सद्गुणं, उस्सग्गो असहुणो परद्गुणं।

इय सद्गुण परं वा, न होइ वत्थू विणा किंचि॥

(बृभा ३२३, ३२४)

उत्सर्ग और अपवाद अपने-अपने स्थान में श्रेयस्कर और बलवान् हैं। स्वस्थान और परस्थान वस्तु (पुरुष) से निष्पन्न होते हैं। समर्थ व्यक्ति के लिए उत्सर्ग मार्ग स्वस्थान और अपवाद मार्ग परस्थान है। असमर्थ व्यक्ति के लिए अपवाद मार्ग स्वस्थान और उत्सर्ग मार्ग परस्थान है। पुरुष के बिना ये स्वस्थान और परस्थान किंचित् भी निष्पन्न नहीं होते।

१६. अपवादसेवन का नियामक तत्त्व

णाणादी परिवुद्धी, ण भविस्सति मे असेवते बितियं।

तेसिं पसंधणद्दा, सालंबणिसेवणा एसा॥

णिक्कारणपडिसेवा, अपसत्थालंबणा य जा सेवा।

बितियपदे जो तु परं, तावेत्ता णाणुत्पप्पते पच्छा।

सो होति अणणुतावी, किं पुण दप्पेण सेवेत्ता॥

(निभा ४६६, ४६७, ४७२)

अपवादसेवन उसी स्थिति में सम्मत है, जब साधक को यह निश्चय हो जाए कि अपवादसेवन के बिना मेरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि या सुरक्षा नहीं होगी। मुनि ज्ञान आदि के संधान—ग्रहण-गुणन के लिए अपवादपद का सेवन करता है। यह सालंबन प्रतिसेवना है।

कोई साधु निष्कारण अथवा अप्रशस्त आलंबन लेकर प्रतिसेवना करता है—यह निरालंबन प्रतिसेवना है।

अपवादपदों का सेवन कर, प्राणियों को संतप्त कर जो पश्चात्ताप नहीं करता, वह अननुतापी है। दर्पप्रतिसेवी पश्चात्ताप नहीं करता है तो वह तो अननुतापी ही है। (द्र प्रतिसेवना)

(विधि-निषेध/उत्सर्ग-अपवाद के मर्मज्ञ आचार्यों ने अपवादमार्ग को नियंत्रित रखने के लिए अपवादसेवन की सीमा-रेखाएं निर्धारित कीं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र के योगक्षेम का कोई अन्य विकल्प दृष्टिगत न हो, उस स्थिति में अपवादपथ का सहारा लिया जाए। दोषसेवन के पश्चात् भी मन में अनुताप का भाव जागे—हा! विवश होकर मुझे अविहित आचरण करना पड़ा।

जैन आचारशास्त्र में जो भी विधि-निषेध हैं; वे परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हैं, जो विधान अहिंसा के लिए है तो उसका निषेध भी अहिंसा के लिए है। विधि-निषेध वहीं तक सम्मत हैं, जहां तक संयमसाधना निर्बाध चले। यही कारण है कि आगमग्रंथों में हिंसा, झूठ आदि अपवाद की स्थिति में भी अनुज्ञात नहीं हैं।

भाष्य-चूर्णि-टीका साहित्य में अपवादों की प्रलम्ब शृंखला है, जिसमें षट्कायवध तक को करणीय मान लिया गया है। जीवन और संघ की सुरक्षा तथा प्रवचनप्रभावना के लिए जो कुछ भी करना पड़े, वह सब विहित है। कितने ही अपवादों की सृष्टि श्रुतज्ञान की प्राप्ति और सुरक्षा के लिए हुई है। वहां इस तथ्य को विस्मृत कर दिया गया है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समन्वित आराधना ही मोक्षमार्ग है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने समय-समय पर मध्ययुगीन अपवादों के प्रति अपनी असहमति प्रकट की। आचार्य भिक्षु और श्रीमज्जयाचार्य ने तो अपवादबहुल भाष्य, चूर्णि और टीका साहित्य के स्वतंत्र प्रामाण्य को भी स्वीकृति नहीं दी।—द्र प्रस्तुति)

स्थविर—वय, श्रुत या पर्याय से वृद्ध श्रमण-श्रमणी।

१. तीन स्थविरभूमियां

० स्थविर (वृद्ध) कौन ?

* दीक्षायोग्य वृद्ध

द्र दीक्षा

* स्थविर द्वारा स्थिरीकरण

द्र संघ

२. विहरण योग्य वृद्ध और उसका वैयावृत्त

० स्थविरों का विनय-वैयावृत्त

* वृद्धसेवा : विनयप्रतिपत्ति का भेद

द्र अंतेवासी

* वृद्धशीलता : आचारसम्पदा का अंग	द्र गणिसम्पदा
* गणधारण से पूर्व स्थविर-पृच्छा	द्र आचार्य
* स्थविर : निशीथविस्मृति और गणधारण	द्र छेदसूत्र
* स्थविर के प्रति वाचक का दायित्व	
* ज्ञान हेतु स्थविर द्वारा कृतिकर्म	द्र वाचना
३. नित्यवास का निषेध और अपवाद	
◦ वृद्धवास नित्यवास नहीं	
४. वृद्धवास का अर्थ, कालावधि	
* वृद्धवास का कालावग्रह	द्र अवग्रह
५. वृद्धावास के हेतु	
* श्रुतग्रहण हेतु वृद्धावास की अनुज्ञा	द्र श्रुतज्ञान
* वृद्धावास योग्य संस्तारक	द्र शय्या
* स्थविर की उपधि	द्र उपधि
* स्थविरा साध्वी : निश्रा संबंधी विकल्प	द्र आचार्य

१. तीन स्थविरभूमियां

तओ धेरभूमिओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जातिथेरे सुयथेरे परिआयथेरे। सट्टिवासजाए समणे निग्गंथे जातिथेरे, ठाणसमवायथेरे समणे निग्गंथे सुयथेरे, वीसवासपरियाए समणे निग्गंथे परिआयथेरे ॥

(व्य १०/१९)

.....भूमि ति य ठाणं ति य, एगट्ठा होंति कालो य ॥

(व्यभा ४५९७)

तीन स्थविरभूमियां प्रज्ञप्त हैं, जैसे—

१. जातिस्थविर—साठ वर्षों की वय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ।
२. श्रुतस्थविर—स्थान और समवाय का धारक श्रमण-निर्ग्रंथ।
३. पर्यायस्थविर—बीस वर्ष के दीक्षापर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रंथ।

स्थविरभूमि, स्थविरस्थान और स्थविरकाल (स्थविर-अवस्था)—ये एकार्थक हैं।

(स्थविर दस प्रकार के होते हैं—१. ग्रामस्थविर, २. नगरस्थविर,

३. राष्ट्रस्थविर, ४. प्रशास्तास्थविर, ५. कुलस्थविर, ६. गणस्थविर
७. संघस्थविर, ८. जातिस्थविर, ९. श्रुतस्थविर, १०. पर्यायस्थविर।

स्थविर का अर्थ है ज्येष्ठ। वह जन्म, श्रुत, अधिकार, गुण आदि अनेक संदर्भों में होता है। ग्राम, नगर और राष्ट्र की व्यवस्था करने वाले बुद्धिमान, लोकमान्य और सशक्त व्यक्तियों को क्रमशः

ग्रामस्थविर, नगरस्थविर और राष्ट्रस्थविर कहा जाता है। धर्मोपदेशक प्रशास्तास्थविर कहलाता है। कुल, गण और संघ—ये तीनों शासन की इकाइयां रही हैं। सर्वप्रथम कुल की व्यवस्था थी। उसके पश्चात् गणराज्य और संघराज्य की व्यवस्था भी प्रचलित हुई। इसमें जिस व्यक्ति पर कुल आदि की व्यवस्था तथा उसके विघटनकारी का निग्रह करने का दायित्व होता है, वह स्थविर कहलाता है। यह लौकिक व्यवस्था पक्ष है।

लोकोत्तर व्यवस्था के अनुसार एक आचार्य के शिष्यों को कुल, तीन आचार्य के शिष्यों को गण और अनेक आचार्यों के शिष्यों को संघ कहा जाता था। इनमें जिस व्यक्ति पर शिष्यों में अनुत्पन्न श्रद्धा उत्पन्न करने और उनकी श्रद्धा विचलित होने पर उन्हें पुनः धर्म में स्थिर करने का दायित्व होता है, वह स्थविर कहलाता है।—स्था १०/१३६ टि)

◦ स्थविर कौन ?

तेवरिसो होति नवो, आसोलसगं तु डहरगं बेत्ति। तरुणो चत्ता सत्तरूण मञ्जिमो धेरओ सेसो ॥

प्रव्रज्यापर्यायेण....त्रिवर्षो भवति नवः। जन्मपर्यायेण चत्वारि वर्षाणि आरभ्य....यावत् परिपूर्णाणि पञ्चदशवर्षाणि षोडशाद् वर्षादवाक् वा तद्दुहरकं....यावत्सप्ततिरेकेन वर्षेणोनां तावन्मध्यमः। ततः परं सप्ततेरारभ्य स्थविरः शेषः।

(व्यभा १५७७ वृ)

◦ नवदीक्षित—तीन वर्ष के प्रव्रज्यापर्याय वाला।

◦ बालक—जन्म की अपेक्षा चार वर्ष से परिपूर्ण पन्द्रह वर्ष की अवस्था अथवा सोलह वर्ष के पूर्व की अवस्था वाला।

◦ तरुण—सोलह से चालीस वर्ष पर्यन्त।

◦ मध्यम (प्रौढ़) इकचालीस से उनहत्तर वर्ष पर्यन्त।

◦ स्थविर—सत्तर और उससे अधिक वर्षों की वय वाला।

* जघन्य-उत्कृष्ट वृद्ध

द्र दीक्षा

२. विहरण योग्य वृद्ध और उसका वैयावृत्त्य

जो गाउयं समत्थो, सूरादारब्भ भिक्खवेला उ। विहरउ एसो सपरक्कमो, न विहरे उ तेण परं ॥ वीसामण उवगरणे, भत्ते पाणेऽवलंबणे चेव। गाउय दिवड्ढोसुं, अणुकंपे सा तिसुं होति ॥

अथवा आहारुवधी, सेज्जा अणुकंप एस तिविधा उ।
 पढमालिदाणविस्सामणादि, उवधी य वोढव्वे॥
 खेत्तेण अद्धगाउय, कालेण य जाव भिक्खवेला उ।
 खेत्तेण य कालेण य, जाणसु अपरक्कमं धेरं॥
 अण्णो जस्स न जायति, दोसो देहस्स जाव मज्झण्हो।
 सो विहरति सेसो पुण, अच्छति मा दोण्ह वि किलेसो॥
 भमो वा पित्तमुच्छा वा, उद्धसासो व खुब्भति।”

(व्यभा २२६६-२२७१)

जो स्थविर सूर्योदय से प्रारम्भ कर जब तक भिक्षावेला होती है, तब तक एक कोस चलने में समर्थ है, वह पराक्रमी है, वह विहार करे। इससे कम चलने वाला विहार न करे।

वृद्धअनुकम्पा—सहयोगी मुनि मार्ग में स्थविर को जब जहां विश्राम की अपेक्षा हो, वहां विश्राम कराए, उसके उपकरणों को वहन करे, तत्प्रायोग्य आहार-पानी लाकर दे, अपेक्षा होने पर हस्तावलम्बन दे। यह त्रिविध—एक, डेढ़ और दो गव्यूत संबंधी अनुकंपा है।

अथवा वृद्ध अनुकंपा के तीन प्रकार ये हैं—

- ० आहार—प्रथमालिका (प्रातराश) देना।
- ० शय्या—स्थान पर पहुंचकर षगचंपी करना।
- ० उपधि—मार्ग में उपधि वहन करना।

जो स्थविर सूर्योदय से भिक्षावेला पर्यंत आधा कोस ही चल पाता है, वह अपराक्रमी है, वह विहार न करे।

प्रातः से मध्याह्न तक मार्ग में चलते हुए जिस स्थविर के चक्कर, पित्तमूर्च्छा, श्वास-प्रकोप आदि अन्य दोष उत्पन्न न हों तो वह विहार करे, अन्यथा न करे, जिससे स्वयं और सहयोगी दोनों को क्लेश न हो।

० स्थविरों का विनय-वैयावृत्य

तिविधम्मि व शेरम्मी, परूवणा जा जधिं सए ठाणे।
 अनुकंप सुते पूया, परियाए वंदणादीणि॥
 आहारोवहि-सेज्जा य, संशारे खेत्तसंकमे।
 कितिछंदाणुवत्तीहिं, अणुवत्तंति धेरगं॥
 उट्टाणासणदाणादि, जोग्गाहारपसंसणं।
 नीयसेज्जाय निहेसवत्तितं पूजए सुत्तं॥
 उट्टाणं वंदणं चेव, गहणं दंडगस्स य।
 परियायधेरगस्सा, करंति अगुरोवि॥
 (व्यभा ४५९८-४६०१)

त्रिविध स्थविरों के प्रति यथोचित व्यवहार करे—

१. जातिस्थविर के प्रति अनुकम्पा—उनके आहार, उपधि, शय्या और संस्तारक की समुचित व्यवस्था करना। यात्रापथ में उनकी उपधि वहन करना, यथास्थान पानी पिलाना आदि।
२. श्रुतस्थविर की पूजा—उनका कृतिकर्म करना, उनके अभिप्राय का अनुवर्तन करना, आने पर खड़ा होना, उन्हें आसन देना, पादप्रमार्जन करना, तत्प्रायोग्य आहार लाकर देना, परोक्ष में भी उनकी प्रशंसा और गुणोत्कीर्तन करना, उनके सामने नीची शय्या (आसन) पर बैठना और उनके निर्देश की अनुपालना करना।
३. पर्यायस्थविर की वन्दना—गुरु न होने पर भी जो दीक्षार्याय में ज्येष्ठ हैं, उनके आने पर खड़े होना, वन्दना करना, उनके हाथ से दण्ड ग्रहण करना आदि।

३. नित्यवास का निषेध और अपवाद

जे भिक्खू नितियं वासं वसति”॥ (नि २/३६)

जो भिक्षु नित्यवास करता है, वह प्रायश्चित्तार्ह है।

(ऋतुबद्धकाल और वर्षाकाल की नियत अवधि के अतिरिक्त एक क्षेत्र में रहना नित्यवास कहलाता है।)

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्टे भए व आगाढे।
 गेलण्णा उत्तमट्टे, चरित्तसज्जाइए असती॥
 एगव्वखेत्तणिवासी, कालातिककंतचारिणो जति वि।
 तह वि य विसुद्धचरणा, विसुद्धमालंबणं जेणं॥
 आणाए ऽमुक्कधुरा, गुणवुट्ठी जेण णिज्जरा तेणं।
 मुक्कधुरस्स मुणिणो, ण सोधी संविज्जति चरित्ते॥
 गुणपरिवुट्ठिणिमित्तं, कालातीते ण होंति दोसा तु।
 जत्थ तु बहिता हाणी, हविज्ज तहियं न विहरेज्जा॥
 (निभा १०२१-१०२४)

निम्न कारणों से नित्यवास किया जा सकता है—

- ० प्रवासस्थान के बाहरी क्षेत्र में महामारी, दुर्भिक्ष, राजा, दुष्ट चोर आदि का अति भय हो। रोग आदि हो। अनशनधारी और उसके परिचारक हों। बाहर चारित्र में दोषों की संभावना हो। स्वाध्याय की अनुकूलता न हो। मासकल्प प्रायोग्य क्षेत्र न हो। इन कारणों से भिक्षु एक क्षेत्र में अतिरिक्त अवधि तक रहता हुआ यद्यपि कालातिक्रान्तचारी होता है, फिर भी ज्ञान आदि विशुद्ध आलम्बनों के कारण उसका चारित्र विशुद्ध होता है।

सकारण एक स्थान पर रहता हुआ मुनि तीर्थकर की आज्ञा का पालन और संयम की धुरा का वहन करता है। मुक्तधुरा वाले संयमी के चारित्र की शोधि नहीं होती; संयमधुरावाही के नियमतः ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि होती है, उस कारण से उसके विपुल निर्जरा होती है। गुणवृद्धि के निमित्त नित्यवास करने वाले के कालातिक्रान्त दोष नहीं लगता। जहां गुणों की हानि हो, वहां विहार नहीं करना चाहिए।

० वृद्धावास नित्यवास नहीं

चाउम्मासातीतं, वासानुदुबद्ध मासतीतं वा।
वुड्ढावासातीतं, वसमाणे कालतोऽणितिते ॥
वुड्ढकार्यपरिसमाप्तौ उपरिष्टाद् वसन् नितिओ भवति।
(निभा १०१६ चू)

वर्षाकाल के चार मास और ऋतुबद्धकाल का एक मास बीत जाने पर जो मुनि उसी क्षेत्र में रहता है, वह कालनित्य के दोष से दूषित होता है। जो वृद्ध के निमित्त एक स्थान पर बहुत समय तक रहता है, वह नित्यवासी नहीं है। वृद्ध का कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् जो वहीं रहता है, वह नित्यवासी है।

४. वृद्धावास का अर्थ, कालावधि

वुड्ढस्स उ जो वासो, वुड्ढिं व गतो तु कारणेणं तु।
एसो उ वुड्ढावासो, तस्स उ कालो इमो होति ॥
अंतोमुहुत्तकालं, जहनमुक्कोसपुव्वकोडीओ।
मोत्तुं गिहिपरियागं, जं जस्स उ आउगं तित्थे ॥
वृद्धावासबुद्ध्या स्थितस्यान्तर्मुहूर्त्तान्तरं मरण-
भावाद् गृहिपर्यायं नववर्षलक्षणं मुक्त्वा नववर्षोना पूर्व-
कोटी...कोऽपि नववर्षप्रमाण एव श्रमणो जातः। स च
श्रामण्यपरिग्रहात् तदनन्तरमेव प्रतिकूलकर्मोदयवशतः क्षीण-
जंघाबलतया रोगेण वा विहर्तुमसमर्थो जातस्तत एकत्र
वासो यथोक्तकालमानो भवति। (व्यभा २२५६, २२५७ वृ)

क्षीण जंघाबल वाले वृद्ध श्रमण-श्रमणी का प्रवास वृद्धावास है। अथवा रोग आदि कारणों से वृद्धिगत वास वृद्धावास है। वृद्धावास की जघन्य कालावधि अंतर्मुहूर्त्त है, क्योंकि वृद्धावास की भावना से स्थित मुनि का अंतर्मुहूर्त्त पश्चात् मरण हो सकता है। इसकी उत्कृष्ट कालावधि गृहिपर्याय के नौ वर्ष कम पूर्वकोटि

हैं। कोई नौ वर्ष की अवस्था में ही श्रमण बन गया और श्रामण्यग्रहण के तत्काल बाद प्रतिकूल कर्मोदय वश जंघाबल की क्षीणता या रोग के कारण विहरण करने में असमर्थ हो गया, उसका एक स्थान पर रहने का काल पूर्वकोटि हो सकता है। यह उत्कृष्ट कालपरिमाण अर्हत् ऋषभ के तीर्थ की अपेक्षा से है। जिस तीर्थकर के शासनकाल में जितनी उत्कृष्ट आयु होती है, नौ वर्ष प्रमाण गृहिपर्याय को छोड़कर उतना उत्कृष्ट वृद्धावास काल हो सकता है।

५. वृद्धावास के हेतु

सुत्तागम बारसमा, चरियं देसाण दरिसणं तु कतं।
उवकरण-देह-इंदिय, तिविधं पुण लाघवं होति ॥
चउत्थच्छट्टादि तवो कतो उ, अब्बोच्छित्ताय होति सिद्धिपहो।
सुत्तविहीए संजम, वुड्ढो अह दीहमाउं च ॥
अब्भुज्जतमचएंतो, अगीतसिस्सो व गच्छपडिबद्धो।
अच्छति जुण्णमहल्लो, कारणतो वा अजुण्णो वी ॥
जंघाबले च खीणो, गेलण्णऽसहायता व दुब्बल्ले।
अहवावि उत्तमट्ठे, निप्फत्ती चेव तरुणाणं ॥
खेत्ताणं च अलंभे, कतसंलेहे च तरुणपडिकम्पे।
एतेहिं कारणेहिं, वुड्ढावासं वियाणाहि ॥
(व्यभा २२५९-२२६३)

जो बारह वर्ष सूत्रग्रहण, बारह वर्ष अर्थग्रहण तथा बारह वर्ष देशाटन कर चुका है, जो उपकरण, शरीर और इन्द्रिय—इस त्रिविध लाघव से सम्पन्न है, जिसने उपवास, बेला आदि नाना प्रकार का तप किया है तथा जिसने देशदर्शन के पश्चात् बारह वर्ष शिष्य परम्परा की अविच्छिन्नता के लिए मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है और आगमविधि से संयम का पालन किया है, इतना सब कुछ करने के पश्चात् जो वृद्ध हो गया है, दीर्घायु है, अभ्युद्यतविहार में असमर्थ है, जिसके शिष्य अभी अगीतार्थ हैं, जो गणप्रतिबद्ध और महान् जराजीर्ण है, वह वृद्धावास में रहता है।

तरुण भी जंघाबल की क्षीणता, रुग्णता, असहायता, दुर्बलता आदि कारणों से वृद्धावास में रहता है।

जो अनशन या संलेखनाप्रतिपन्न है अथवा जो तरुणों को सूत्रार्थ में निष्पन्न करता है या विहरण क्षेत्रों का अभाव है या जो तरुण रोगमुक्त होने पर भी बलवृद्धि करना चाहता है—इन सब कारणों से वृद्धावास अपेक्षित और उपयोगी है।

स्थविरकल्प— संघबद्ध साधना करने वाले श्रमण-श्रमणी-वर्ग की आचार-मर्यादा।

१. स्थविरकल्पी का स्वरूप	
२. स्थविरकल्पी गच्छवासी : आचार्य आदि	
* गच्छ के आधार : आचार्य आदि	द्र संघ
o श्रमणीवर्ग : प्रवर्तिनी, अभिषेका.....	
o गणधर : श्रमणीवर्गव्यवस्थापक	
३. वृषभ : मंडलीनियोजक, कार्यचिन्तक	
* श्रमणी-रक्षक वृषभ की अर्हता	द्र विहार
* वृषभ-चिकित्सा की कालाविधि	द्र वैयावृत्य
* स्थविरकल्प : कल्पस्थिति का भेद	द्र कल्पस्थिति
* स्थविरकल्पी : स्थितकल्पी	द्र कल्पस्थिति
* सदृशकल्पी सांभोजिक	द्र साम्भोजिक
४. स्थविरकल्पी की प्रव्रज्या आदि	
o प्रव्रज्या के बाद शिक्षा	
* साधु द्विसंगृहीत, साध्वी त्रिसंगृहीत	द्र आचार्य
* दशविध सामाचारी	द्र सामाचारी
५. सामाचारी के सत्ताईस बिंदु : श्रुत आदि	
o स्थविरकल्पी की श्रुत-अर्हता	
o संहनन, आतंक, उपसर्ग, वेदना	
o वसति, कतिजन ? स्थण्डिल, कब तक ?	
o उच्चार, प्रश्रवण, अवकाश.....कितने ?	
o भिक्षाचर्या, लेपालेप, अलेप, आचाप्ल, प्रतिमा	
६. जिनकल्प-स्थविरकल्प : आहार-विहार-काल	
o प्रातराश और सूत्रपौरुषी	
* भिक्षाचर्या से पूर्व कायोत्सर्ग	द्र स्वाध्याय
७. भिक्षा के लिए संघाटक-असंघाटक क्यों ?	
* रात्रि में अशन आदि का अग्रहण	द्र महाव्रत
८. दूर भिक्षा के लाभ	
o भिक्षाचर्या और स्वाध्याय में उद्यम	
९. साध्वियों की आहारविधि : गणप्रभावना	
* श्रमण की आहारविधि	द्र आहार
१०. प्राघूर्णक का प्रवेशकाल और आतिथ्य	
११. साधु की साध्वी-वसति में प्रवेशविधि	
o सहभिक्षाविधि	
१२. साधु साध्वी के स्थान पर क्यों ?	

१३. वर्षा आदि में जाना निषिद्ध	
o ज्ञातिजनों में गमन का हेतु और विधि	
१४. रात्रि में एकाकी गमन का निषेध	
१५. शयनविधि, रत्नाधिक की प्राथमिकता	
१६. पृथक् वसति : आलोचना आदि की विधि	
१७. उपधि-प्रतिलेखन का काल	
१८. स्थविर-अवस्थिति : क्षेत्र आदि उन्नीस द्वार	
o क्षेत्र, काल, चारित्र.....वेद	
o लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना	
* अभिग्रह के प्रकार	द्र भिक्षाचर्या
o प्रवाजना-मुंडापना	
o प्रायश्चित्त, कारण, परिकर्म	
१९. सापेक्ष-निरपेक्ष के प्रायश्चित्त में अंतर	
२०. जिन-स्थविर-कल्प : कृतयोगिता, धृति-संहनन	
२१. सापेक्ष-निरपेक्ष : वैयावृत्य और चिकित्सा	
* साधु-साध्वी चिकित्सा : विद्याप्रयोगविधि	द्र मंत्रविद्या
* साध्वी वैयावृत्य : साधु की अर्हता	द्र वैयावृत्य
* गच्छवासी द्वारा क्षेत्रप्रतिलेखना	द्र क्षेत्रप्रतिलेखना
* अवग्रह के प्रकार तथा उसके अधिकारी	द्र अवग्रह
* पर्युषणाकल्प	द्र पर्युषणाकल्प
* मासकल्प	द्र कल्पस्थिति
* नौकाविहार-विधि	द्र नौका

१. स्थविरकल्पी का स्वरूप
संजमकरणुज्जोवा, पिप्फातग गाण-दंसण-चरित्ते।
दीहाउ वुड्ढवासी, वसहीदोसेहि य विमुक्का॥
मोत्तुं जिणकप्पठिइं, जा मेरा एस वण्णिणया हेट्ठा।
एसा तु दुपदजुत्ता, होति ठिती थेरकप्पस्स॥
संयमः...सप्तदशविधः, तं कुर्वन्ति—यथावत् पालय-
न्तीति संयमकरणाः...उद्योतकाः—तपसा प्रवचनस्योज्वा-
लकाः...यद्वा सूत्रार्थपौरुषीकरणेन संयमकरणमुद्योतयन्ति।
या शोषा सामाचारी वर्णिता सा 'द्विपदयुक्ता' उत्सर्गा-
ऽपवादपदद्वययुक्ता'.....। (बृभा ६४८५, ६४८६ वृ)

जो संयमी पृथ्वीकायसंयम आदि सतरह प्रकार के संयम का यथावत् पालन करते हैं, तपस्या के द्वारा प्रवचन की प्रभावना—अर्हत् वाणी को संज्वलित करते हैं, सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी

द्वारा संयम को उद्योतित करते हैं, शिष्यों को ज्ञान, दर्शन और चारित्र में निष्पन्न करते हैं, इस निष्पादकता के द्वारा ज्ञान आदि की परम्परा को अविच्छिन्न रखते हैं, इस प्रकार के स्थविरकल्पिक होते हैं। जब उनका जंघाबल क्षीण हो जाता है और आयु दीर्घ होती है तो वे वृद्धावास में रहते हैं। वे एक क्षेत्र में रहते हुए भी कालातिक्रांत शय्या, औद्देशिक आहार आदि दोषों से मुक्त रहते हैं।

कल्प आदि सूत्रों में जिनकल्पिक आदि गच्छनिर्गत मुनियों की जो सामाचारी वर्णित है, उसे छोड़कर शेष सामाचारी उत्सर्ग और अपवाद—इन दोनों पदों से युक्त है—गच्छगत मुनि उत्सर्ग विधि और अपवाद विधि—दोनों का प्रयोग करते हैं, यह स्थविरकल्पी की स्थिति—सामाचारी है।

२. स्थविरकल्पी गच्छवासी : आचार्य आदि

.....आयरिय उवञ्जाया, भिक्खू थेरा य खुड्डा य ॥

स्थविराः गच्छवासिनः.....गच्छवासिनस्तावत्
पञ्चविधाः । (बृभा १४४७ वृ)

स्थविरकल्पी गच्छवासी होते हैं। उनके पांच प्रकार हैं—

१. आचार्य २. उपाध्याय ३. भिक्षु ४. स्थविर ५. क्षुल्लिक।

आयरिय वसभ भिक्खू थेरो खुड्डो य ।

(निभा २६२४ की चू)

गच्छ में पांच प्रकार के श्रमण हैं—आचार्य, वृषभ (उपाध्याय/अभिषेक), भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लिक।

० श्रमणीवर्ग : प्रवर्तिनी, अभिषेका.....

पवत्तिणि अभिसेगपत्ता, थेरी तह भिक्खुणी य खुड्डी य ।.....

'प्रवर्तिनी' सकलसाध्वीनां नायिका 'अभिषेकप्राप्ता'
प्रवर्तिनीपदयोग्या..... । (बृभा ४३३९ वृ)

पंच संजतीओइमा —खुड्डी, थेरी, भिक्खुणी, अभिसेगी,
पवत्तिणी । (निभा ५३३२ की चू)

निर्ग्रन्थीवर्गोऽपि पञ्च पदानि, तद्यथा—प्रवर्तिनी,
अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा, क्षुल्लिका च । तत्र गणिनी
प्रवर्तिनी । (बृभा ६१११ की वृ)

गच्छ में साध्वियों के पांच पद हैं—

० प्रवर्तिनी—श्रमणीवर्ग का नेतृत्व करने वाली।

० अभिषेका—प्रवर्तिनीपद के योग्य।

० स्थविरा—वृद्ध।

० भिक्षुणी—तरुणी या प्रौढा साध्वी।

० क्षुल्लिका—बाल या शैक्ष साध्वी।

० गणधर : श्रमणीवर्ग-व्यवस्थापक

पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गेऽवज्ज ओय-तेयस्सी ।
संगहुवग्गहकुसले, सुत्तत्थविऊ गणाहिवई ॥

...धर्मः—श्रुत-चारित्ररूपो यस्य...दृढो द्रव्यक्षेत्राद्या-
पदुदयेऽपि निश्चलः... संविग्नो...संसारभयोद्विग्नः... अवद्याभीरुः ।

...संग्रहः—द्रव्यतो वस्त्रादिभिर्भावतः सूत्रार्थाभ्याम्, उपग्रहः—
द्रव्यत औषधा-दिभिर्भावतो ज्ञानादिभिः...कुशलः 'सूत्रार्थविद'
गीतार्थः । एवंविधः 'गणाधिपतिः' आर्यिकाणां गणधरः
स्थापनीयः । (बृभा २०५० वृ)

० गणधर की अर्हता—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म उसे अभीष्ट होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र आदि संबंधी आपदाओं के उदयकाल में भी वह धर्म में सदृढ़ तथा जन्ममरण के भय से उद्विग्न और पापभीरु होता है। वह ओजस्वी (प्रमाणोपेत शरीर वाला), तेजस्वी—दीप्तिमान तथा संग्रह-उपग्रह में कुशल होता है—वस्त्र आदि उपकरणों, औषध आदि द्रव्यों तथा सूत्र-अर्थ-श्रुतज्ञान प्रदान द्वारा साध्वियों का सहयोग करने में दक्ष होता है। वह स्वयं सूत्र और अर्थ का वेत्ता—गीतार्थ होता है—इस प्रकार के मुनि को साध्वियों का गणधर स्थापित करना चाहिए।

खित्तस्स उ पडिलेहा, कायव्वा होइ आणुपुव्वीए ।

किं वच्चई गणहरो, जो चरई सो तणं वहइ ॥

निप्पच्चवाय संबंधि भाविए गणहरऽप्पबिइ-तइओ ।

नेइ भए पुण सत्थेण सद्धि कयकरणसहितो वा ॥

.....एवं यो निर्ग्रन्थीगणस्याधिपत्यमनुभवति, स एव
सर्वमपि तच्चिन्ताभारमुद्ग्रहति । (बृभा २०५२, २०७० वृ)

० गणधर का दायित्व—वह साध्वियों के प्रवासयोग्य क्षेत्र की सूत्रोक्त परिपाटी से प्रतिलेखना करता है। क्षेत्रप्रतिलेखना के लिए गणधर स्वयं क्यों जाता है? गुरु कहते हैं—जो बेल आदि चारि चरता है, वही तृणभार को वहन करता है। इसी प्रकार जो साधु श्रमणीवर्ग के आधिपत्य का अनुभव करता है, वही उसके सभी प्रकार के चिन्ताभार को वहन करता है।

विहार के समय यात्रापथ में गणधर साध्वी वर्ग के आगे चलता है। यदि मार्ग निरुपद्रव हो तो गणधर के साथ एक या दो साधु रहते हैं। वे साधु साध्वी के संबंधी अथवा जिनवचनों से भावित होने चाहिये। यदि मार्ग उपद्रवयुक्त होता है, तो गणधर किसी सार्थ के साथ अथवा शक्तिसम्पन्न साधु के साथ साध्वियों को विवक्षित क्षेत्र में पहुंचाता है।

* गणधरनिश्रा में साध्वी प्रायोग्य वस्त्रग्रहण द्र उपधि

३. वृषभ : मंडलीनियोजक, कार्यचिन्तक

.....भोयणसुत्ते मंडलिय पढंते वा नियोयंति॥

मुनिवृषभा.....नियोजयन्ति। (व्यभा २७८ वृ)

मुनिवृषभ मुनियों को भोजनमंडली, सूत्रमंडली और अर्थमंडली में नियोजित करते हैं।

समस्तगच्छभारोद्वहनसमर्थस्य वृषभस्य....।

(व्यभा २०३० की वृ)

वृषभ समस्त गच्छ का भारवहन करने में समर्थ होता है।

(द्र परिषद्)

'वृषभाः' गच्छस्य शुभाशुभकार्यचिन्तानियुक्ताः।

(वृभा २०८५ की वृ)

गच्छ के लिए कौन सा कार्य शुभ है और कौन सा अशुभ—

इस विमर्श के लिए वृषभ नियुक्त होते हैं।

४. स्थविरकल्पी की प्रव्रज्या आदि

पव्वज्जा सिक्खापय, अत्थग्गहणं च अनियओ वासो।

निष्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिईं चेव॥

(वृभा १४४६)

स्थविरकल्पी की विहारचर्या के आठ पद हैं—१. प्रव्रज्या

२. शिक्षापद ३. अर्थग्रहण ४. अनियतवास ५. निष्पत्ति ६. विहार

७. सामाचारी और ८. स्थिति। (द्र जिनकल्प)

० प्रव्रज्या के पश्चात् शिक्षा

प्रव्रजितस्य च सतोऽस्य शिक्षा दातव्या। सा च द्विधा—.....ग्रहणाशिक्षा सूत्राध्ययनरूपा, आसेवनशिक्षा प्रत्युपेक्षणादिका। (वृभा ११४३ की वृ)

प्रव्रजित होने के पश्चात् शिष्य को शिक्षा दी जाती है।

उसके दो रूप हैं—१. ग्रहण शिक्षा —सूत्रार्थ-अध्ययन।

२. आसेवन शिक्षा—प्रत्युपेक्षणा आदि सामाचारी का प्रशिक्षण।

५. सामाचारी के सत्ताईस बिंदु : श्रुत आदि

सुय संघयणुवसग्गे, आतंके वेयणा कति जणा य।

थंडिल्ल वसहि किच्चिर, उच्चारे चेव पासवणे॥

ओवासे तणफलए, सारक्खणया य संठवणया य।

पाहुडि अग्गी दीवे, ओहाण वसे कइ जणा य॥

भिक्खायरिया पाणग, लेवालेवे तहा अलेवे य।

आयंबिल पडिमाओ, गच्छम्मि उ मासकप्पो उ॥

(वृभा १६२४-१६२६)

स्थविरकल्पी की सामाचारी के सत्ताईस द्वार हैं—१. श्रुत

२. संहनन ३. उपसर्ग ४. आतंक ५. वेदना ६. कतिजन

७. स्थण्डिल ८. वसति ९. कियच्चिर १०. उच्चार ११. प्रस्रवण

१२. अवकाश १३. तृणफलक १४. संरक्षणता १५. संस्थापनता

१६. प्राभृतिका १७. अग्नि १८. दीप १९. अवधान २०. यहां

कितने रहेंगे? २१. भिक्षाचर्या २२. पानक २३. लेपालेप

२४. अलेप २५. आचाम्ल २६. प्रतिमा २७. मासकल्प।

० स्थविरकल्पी की श्रुत-अर्हता

.....पवयणमाय जहन्ने, सव्वसुयं चेव उक्कोसे॥

(वृभा १६२७)

स्थविरकल्पी जघन्यतः आठ प्रवचनमाता और उत्कृष्टतः सर्वश्रुत (चौदह पूर्वी) का ज्ञाता होता है।

(पुलाक निर्ग्रंथ का जघन्यतः श्रुतज्ञान नौवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु है। उत्कृष्टतः वह नौपूर्वी हो सकता है। बकुश, प्रतिसेवनाकुशील, कषायकुशील और निर्ग्रंथ—ये चतुर्विध निर्ग्रंथ जघन्यतः आठ प्रवचनमाता के ज्ञाता होते हैं। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील उत्कृष्टतः दस पूर्वी तथा कषायकुशील और निर्ग्रंथ चौदह पूर्वी हो सकते हैं। स्नातक निर्ग्रंथ श्रुतव्यतिरिक्त होते हैं।—भ २५/३१५-३१८)

० संहनन, आतंक, उपसर्ग, वेदना

सव्वेसु वि संघयणेसु होति धिइदुब्बला व बलिया वा।

आतंका उवसग्गा, भइया विसहंति व न व त्ति॥

दुविहं पि वेयणं ते, निक्कारणाओ सहंति भइया वा ।।

(बृभा १६२८, १६२९)

० संहनन—स्थविरकल्पी में छहों संहनन हो सकते हैं। वे धृति से दुर्बल और धृतिसंपन्न भी होते हैं।

० आतंक-उपसर्ग—इनके होने पर इन्हें सहन करने में भजना है। पुष्ट आलम्बन होने पर वे चिकित्सा भी करा सकते हैं। अन्यथा उसे सहन भी करते हैं।

० वेदना—किसी प्रकार का कारण नहीं होने पर वे आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी—दोनों प्रकार की वेदना सहन करते हैं। असहिष्णुता, तीर्थव्यवच्छेद आदि कारण होने पर सहन नहीं भी करते हैं।

० वसति, कतिजन ? स्थण्डिल, कब तक ?

....अममत्त अपरिकम्मा, वसही वि पमञ्जणं मोत्तुं ।।
तिगमाईया गच्छा, सहस्स बत्तीसई उसभसेणे ।
थंडिल्लं पि य पढमं, वयंति सेसे वि आगाढे ।।
किच्चिर कालं वसिहिह, न ठंति निक्कारणाम्मि इइ पुट्टा ।
अनं वा मगंती, ठवंति साहारणमलंभे ।।

(बृभा १६२९-१६३१)

० वसति—स्थविरकल्पी साधुओं की वसति 'यह मेरी है'—इस ममत्व से रहित तथा उपलेपन आदि परिकर्म से मुक्त होती है। वे उसका परिमार्जन रूप परिकर्म कर सकते हैं।

० कतिजन—एक गच्छ (साधुसमुदाय) में जघन्य तीन, चार आदि और उत्कृष्ट बत्तीस हजार साधु हो सकते हैं। अर्हत् ऋषभ के प्रथम गणधर ऋषभसेन के गच्छ में बत्तीस हजार साधु थे।

० स्थण्डिल—वे प्रथम (अनापात-असंलोक) स्थण्डिल में जाते हैं। कारण होने पर अन्य स्थण्डिल में भी जा सकते हैं।

० कब तक ?—आप कब तक यहां रहेंगे ? गृहस्थ के ऐसा पूछने पर निष्कारण उस वसति में नहीं रहते, क्षेत्रान्तर में चले जाते हैं। कारणवश वहीं रहना पड़े तो अन्य वसति की मार्गणा करते हैं। न मिले तो सामान्य रूप से कुछ कहकर वहीं रह जाते हैं। (यथा—कोई कारण नहीं होगा तो एक मास पर्यंत रहेंगे अन्यथा न्यूनाधिक भी रह सकते हैं।)

० उच्चार, प्रश्रवण, अवकाश—कितने ?

एमेव सेसएसु वि, केवइया वसिहिह त्ति जा नेयं ।।
निक्कारण पडिसेहो, कारण जयणं तु कुव्वंति ।।

यदि तिष्ठतामुच्चार-प्रश्रवणयोः परिष्ठापनमकाले फलिहकाभ्यन्तरतो वा नानुजानन्ति ततस्तत्र न तिष्ठन्ति । अथाशिवादिभिः कारणैस्तिष्ठन्ति तत उच्चारं प्रश्रवणं वा मात्रकेषु व्युत्सृज्य बहिः परिष्ठापयन्ति ।.....अवकाशे यत्र प्रदेशे उपवेशन-भाजनधावनादि नानुज्ञातं तत्र नोपविशन्ति, कमढकादिषु च भाजनानि धावन्ति । तृण-फलकान्यपि यानि नानुज्ञातानि तानि न परिभुञ्जते ।

संरक्षणता नाम यत्र तिष्ठतामगारिणो भणन्ति....गृहं संरक्षत.... । संस्थापनता नाम वसतेः संस्कारकरणं.... सप्राभृतिकायामपि वसतौ कारणतः स्थिता देशतः सर्वतो वा क्रियमाणायां प्राभृतिकायां स्वकीयमुपकरणं प्रयत्नेन संरक्षन्ति, यावत् प्राभृतिका क्रियते तावदेकस्मिन् पार्श्वे तिष्ठन्ति । सदीपायां साग्निकायां वा वसतौ कारणे स्थिता आवश्यकं बहिः कुर्वन्ति । अवधानं नाम यदि गृहस्थाः.... भणन्ति—अस्माकमपि गृहेषुपयोगो दातव्यः.... ।....कतिजना ...पृष्टे सति कारण-तस्तिष्ठद्भिः परिमाणनियमः कृतः.... प्राधूर्णकाः समागच्छन्ति... भूयोष्यनुज्ञापनीयः ।(बृभा १६३२ वृ)

वसति, कब तक ? आदि उल्लिखित द्वारों की भांति उच्चार यावत् कितने रहेंगे ?—ये (१० से लेकर २० तक के)द्वार भी ज्ञातव्य हैं। स्थंडिल आदि की जहां गृहस्थ द्वारा विधिपूर्वक अनुज्ञा न मिले, तो निष्कारण वैसे स्थानों में न रहे, कारण होने पर यतनापूर्वक वहां रहा जा सकता है।

० उच्चार, प्रश्रवण—जहां इनके परिष्ठापन की अथवा अकाल में फलिहक में परठने की अनुमति नहीं मिलती, वहां नहीं रहते। यदि कारणवश वहां रहते हैं तो उच्चार-प्रश्रवण का मात्रक में व्युत्सर्ग कर बाहर परिष्ठापित करते हैं।

० अवकाश—जहां बैठने, पात्र धोने आदि की अनुज्ञा प्राप्त नहीं है, वहां नहीं बैठते और कमढक आदि में पात्र धोते हैं।

० तृणफलक—अनुज्ञात तृणफलकों का उपयोग नहीं करते।

० संरक्षण-संस्थापन—गृहस्थ वसति के संरक्षण और संस्कारकरण में नियुक्त करे, तो वे वहां नहीं रहते।

० प्राभृतिका—घर में पुनर्निर्माण का कार्य चल रहा हो, वहां नहीं रहते। प्रयोजनवश रहना पड़े तो एक पार्श्व में रहते हैं।

० दीप, अग्नि—ज्योति वाले स्थान में नहीं रहते। कारणवश रहते

हैं तो आवश्यक (प्रतिक्रमण आदि) बाहर करते हैं।

० अवधान—गृहस्थ बाहर जाते समय कहे कि मेरे घर का ध्यान रखना, उस घर में नहीं रहते।

० कितने रहेंगे?—गृहस्थ द्वारा यह पूछे जाने पर किसी प्रयोजनवश वहां रहना पड़े तो साधुओं की संख्या का परिमाण बता देना चाहिये। यदि प्राघूर्णक आ जाएं तो पुनः अनुज्ञा लेनी चाहिए।

० भिक्षाचर्या, लेपालेप, अलेप, आचाम्ल, प्रतिमा

नियताऽनियता भिक्षाचर्या पाणऽन लेवऽलेवाडं ।

अंबिलमणांबिलं वा, पडिमा सव्वा वि अविबुद्धा ॥

……गच्छे पुण सव्वाहिं, सावेक्खो जेण गच्छो उ ॥

(बृभा १६३३, १६९२)

० भिक्षाचर्या—स्थविरकल्पिक मुनि की भिक्षाचर्या नियत (असंस्पृष्ट, संस्पृष्ट आदि अभिग्रह संयुक्त) और अनियत दोनों प्रकार की होती है। (भिक्षाचर्या विधि द्र पिण्डैषणा)

गच्छवासी संस्पृष्ट आदि सातों एषणाओं से आहार ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि गच्छ बाल, वृद्ध, शैक्ष आदि से युक्त होने के कारण सापेक्ष होता है।

० लेप-अलेप—उनका अन्न-पान लेपकृत और अलेपकृत दोनों प्रकार का होता है।

० आचाम्ल—वे आचाम्ल और अनाचाम्ल दोनों करते हैं।

० प्रतिमा—वे इच्छानुसार प्रतिमाएं स्वीकार कर सकते हैं।

६. जिनकल्प-स्थविरकल्प : आहार-विहार-काल

निरवेक्खो तइयाए, गच्छे निक्कारणम्मि तह चेव ।

बहु वक्खे वदसविहे, साविक्खे निग्गमो भइओ ॥

गहिए भिक्खे भोत्तुं, सोहिय आवास आलयमुवेइ ।

जहिं निग्गओ तहिं चिय, एमेव य खेत्तसंकमणे ॥

(बृभा १६७०, १६७१)

जिनकल्पी आदि निरपेक्ष मुनि तीसरी प्रहर में उपाश्रय के बाहर निकलते हैं। स्थविरकल्पी भी कारण नहीं होने पर तीसरी प्रहर में ही निकलते हैं। किन्तु गच्छ में आचार्य, उपाध्याय आदि दशविध वैयावृत्य संबंधी कारण होने पर प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ प्रहर में भी निष्क्रमण कर सकते हैं।

जिनकल्पिक आदि तीसरी प्रहर में भिक्षा प्राप्त कर अनापात

और असंलोक स्थान में आहार करते हैं। आवश्यक कार्य से निवृत्त होकर तीसरे प्रहर में ही उपाश्रय में लौट आते हैं। क्षेत्रसंक्रमण—विहार भी तीसरी प्रहर में करते हैं। निष्कारण अवस्था में स्थविर-कल्पिक की भी यही विधि है।

० प्रातराश और सूत्रपौरुषी

यः क्षपको……पर्युषितेन प्रथमालिकां कर्तुकामः स सूत्रपौरुषीं कृत्वा……अथ तावतीं वेलां न प्रतिपालयितुं क्षमः ततोऽर्द्धपौरुष्यां निर्गच्छति । (बृभावृ पृ ५००)

तपस्वी, बाल या वृद्ध बासी अन्न का प्रातराश करना चाहते हैं तो सूत्रपौरुषी करके भिक्षा के लिए निर्गमन करते हैं। यदि वे इतने समय की भी प्रतीक्षा नहीं कर सकते, तब अर्द्धसूत्रपौरुषी करके भिक्षाटन करते हैं।

७. भिक्षा के लिए संघाटक-असंघाटक क्यों ?

एगाणियस्स दोसा, साणे इत्थी तहेव पडिणीए ।

भिक्खविसोहि महव्वय, तम्हा सबिइज्जए गमणं ॥

गारविए काहीए, माइल्ले अलस लुद्ध निद्धम्मे ।

दुल्लह अत्ताहिट्टिय, अमणुन्ने या असंघाडो ॥

(बृभा १७०२, १७०३)

भिक्षा के लिए मुनि अकेला जाता है, वहां अनेक दोषों की संभावना रहती है—श्वान पीछे से आकर अकेले मुनि को काट सकता है। स्त्री उसके साथ व्यभिचार कर सकती है। प्रत्यनीक उसे कष्ट दे सकता है। एषणा की शोधि नहीं कर पाता। महाव्रतों की विराधना कर सकता है। इन संभावित दोषों से बचने के लिए संघाटक (मुनिद्वय) को भिक्षा के लिए जाना चाहिए।

एकाकी भिक्षाटन के नौ कारण हैं—

१. गौरविक—मैं लब्धिसम्पन्न हूँ—ऐसा जिसे गर्व है, वह अकेला जाना चाहता है।

२. काथिक—जो गृहस्थ के घर कथा करता है, वह अकेला जाना चाहता है।

३. मायावी—जो सरस आहार स्वयं खाकर शेष आहार लेकर आता है, वह एकाकी जाना चाहता है।

४. आलसी—जो लम्बे समय तक घूम नहीं सकता।

५. लुब्धक—जो दुग्ध, दधि आदि मांगकर लेता है।

६. निर्धर्मी—जो अनेषणीय पदार्थ ग्रहण करना चाहता है।
 ७. दुर्लभ भैक्ष—जब भिक्षा दुर्लभ होती है।
 ८. आत्मार्थिक—मैं अपनी लब्धि से प्राप्त आहार ही लूंगा—इस संकल्प वाला अकेला जाता है।
 ९. अमनोज्ञ—जो कलहकारी होने के कारण सबके लिए अप्रिय हो, वह अकेला जाता है।

८. दूर भिक्षाटन के लाभ

एवं उग्गमदोसा, विजढा पइरिक्कया अणोमाणं।
 मोहतिगिच्छा य कता, विरियायारो य अणुचिण्णो ॥
 (बृभा ५३०१)

सुदूर भिक्षाटन के पांच लाभ हैं—१. उद्गम आदि दोषों का परिहार। २. प्रचुर भक्त-पान का लाभ। ३. स्वपक्ष वालों के मन में असत्कार का अभाव। ४. (परिश्रम, आतप, वैयावृत्य आदि द्वारा सहजतया) मोह-चिकित्सा। ५. वीर्याचार की परिपालना।

० भिक्षाचर्या और स्वाध्याय में उद्यम

चरणकरणस्स सारो, भिक्खायरिया तधेव सञ्जाओ।
 एत्थ परितम्ममाणं, तं जाणसु मंदसंविग्गं ॥
एत्थ उ उज्जममाणं, तं जाणसु तिच्चसंविग्गं ॥
 (व्यभा २४८४, २४८५)

चरण (व्रत, श्रमणधर्म आदि) और करण (पिण्ड-विशोधि, समिति आदि) का सार है—भिक्षाचर्या तथा स्वाध्याय। जो इन दोनों में कष्टानुभूति करता है, उसे मंद संविग्न जानो। जो इनमें उद्यम करता है, उसे तीव्र मुमुक्षु जानो।

९. साध्वियों की आहार-विधि : गणप्रभावना

मंडलिठाणस्सऽसती,।
 पत्तेय कमढभुंजण, मंडलिथेरी उ परिवेसे ॥
 ओगाहिमाइविगई, समभाग करेइ जत्तिया समणी।
 तासिं पच्चयहेउं, अणहिक्खुद्धा अकलहो अ ॥
 निच्चोइय एवइया, व विगइओ लंबणा व एवइया।
 अण्णगिलायंबिलिया, अज्ज अहं देह अन्नासिं ॥
 दडूण निहुयवासं, सोयपयत्तं अलुद्धयत्तं च।
 इंदियदमं च तासिं, विणयं च जणो इमं भणइ ॥

सच्चं तवो य सीलं, अणहिक्खाओ अ एगमेगस्स।
 जइ बंभं जइ सोयं, एयासु परं न अन्नासु ॥
 बाहिरमलपरिच्छुद्धा, सीलसुगंधा तवोगुणविसुद्धा।
 धन्नाण कुलुप्पन्ना, एआ अवि होज्ज अहं पि ॥

यद्यसागारिकं ततो मण्डल्यां समुद्दिशन्ति। अथ मण्डलीभूमिः सागारिकबहुला तत्रौर्णिकं कल्पमधः प्रस्तीर्य तस्योपरि सौत्रिकं तत्राप्यलाबुपात्रकाणि स्थापयित्वा.....। प्रवर्तिनी च पूर्वाभिमुखा धुरि निविशते। तत एका मण्डली-स्थविरा.....सर्वासामपि परिवेषयेत्, आत्मनोऽपि योग्यमात्मीये कमढके प्रक्षिपेत्। ताश्च समुद्देषुमुपविशन्त्य इत्थं ब्रुवते..... अद्य ममैतावन्तः 'लम्बनाः' 'कवलाः'..... 'अन्नग्लाना' 'ग्लानं'—पर्युषितमन्नं मया भोक्तव्यमित्येवं प्रतिपन्नाभिग्रहा।..... प्रवर्तिन्या कमढकं क्षुत्तिका निर्लेपयति, शेषास्तु स्वं स्वं कमढकम्। ततः सर्वास्वपि समुद्दिष्टासु मण्डलीस्थविरा समुद्दिशति।
 (बृभा २०७६-२०८१ वृ)

साध्वियां जहां गृहस्थ न हों, वहां मण्डली में भोजन करें, मण्डलीभूमि गृहस्थबहुल हो तो वहां नीचे ऊनी कल्प, उसके ऊपर सूती कल्प बिछाकर उस पर अलाबुपात्र स्थापित कर प्रत्येक साध्वी कमढक में भोजन करे। प्रवर्तिनी पूर्व की ओर मुंह कर बैठे, तत्पश्चात् मण्डलीस्थविरा सभी को भोजन परोसे और अपने योग्य द्रव्य अपने पात्र में रख ले।

मण्डलीस्थविरा पक्वान्न, घृत आदि चीजों को, जितनी साध्वियां हैं, उनके अनुपात से समभागों में विभक्त कर परोसती है। इससे तीन प्रयोजन सिद्ध होते हैं—

- ० साध्वियों में स्थविरा के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है।
- ० सभी को अपना संविभाग प्राप्त होता है।
- ० कलह उत्पन्न नहीं होता।

जब साध्वियां आहार के लिए बैठती हैं, तो एक कहती है—आज मुझे विकृति का भोजन नहीं करना है। दूसरी कहती है—मुझे इतनी विकृति से अधिक खाने का त्याग है। कोई कहती है—आज मैं इतने कवल से अधिक नहीं खाऊंगी। कोई कहती है—आज मैंने बासी भोजन करने का अभिग्रह किया है। एक कहती है—आज मुझे आर्यबिल तप करना है, अतः यह विकृति आदि किसी अन्य को दें।

आहार करने के बाद वे स्वच्छ पानक से आचमन करती हैं। प्रवर्तिनी के पात्र को छोटी साध्वी निर्लेप करती है, शेष सब अपने-अपने पात्र को चाटकर साफ करती हैं। सबके आहार करने के बाद मंडलीस्थविरा आहार करती है।

इस आहारविधि को देखकर लोग सोचते हैं—

- ० श्रमणियों का निभृतवास है—शांतसहवास है।
- ० शौचप्रयत्न—ये स्वच्छता का ध्यान रखती हैं।
- ० अलुब्धता—ये नाना प्रकार के अभिग्रह करती हैं।
- ० इन्द्रियदम—ये इन्द्रियों का निग्रह करती हैं।
- ० विनय—अभ्युत्थान आदि द्वारा बड़ों का सम्मान करती हैं।

इस दृश्य को देखकर लोग कहते हैं—सत्य (वचन और कर्म की अविस्वादिता), तप, शील, परस्पर संविभागपूर्वक आहार, ब्रह्मचर्य और शुचिसमाचरण—ये गुण जैसे इन साध्वियों में हैं, वैसे अन्यत्र दिखाई नहीं देते।

यद्यपि ये बाहर से मलिन हैं, तथापि शील से सुगंधित हैं, तप, उपशम आदि गुणों से विशुद्ध हैं। जिनके कुल में ये उत्पन्न हुई हैं, वे कुल धन्य हैं। कितना अच्छा हो यदि हमारी बहन-बेटियां भी ऐसी—अपना कुल उजालने वाली हों।

१०. प्राघूर्णक का प्रवेशकाल और आतिथ्य

भक्तद्विय आवासग, सोधेत्तुमति त्ति पच्छ अवरणहे ।
अब्भुट्ठाणं दंडादियाण, गहणोगवयणेणं ॥
खुट्ठुग विगिट्टु गामे, उण्हं अवरणह तेण तु पगे वि ।
पक्खित्तं मोत्तूणं, निक्खिव उक्खित्त मोहेणं ॥
तिण्णि दिणे पाहुण्णं सव्वेसिं असति बालवुट्ठाणं ।”

(व्यभा २९१४, २९१५, २९१९)

यात्रा सम्पन्न कर गुरुकुल में (या सांभोजिकों के पास) लौटने वाले प्राघूर्णक साधु गांव के बाहर भिक्षाटन कर आहार करें, तत्पश्चात् आवश्यक (उच्चार आदि) शोध कर अपराह कालवेला में प्रवेश करें। वास्तव्य साधु उनके नैषेधिकी (निस्सही) शब्द को सुनकर तत्काल अभ्युत्थान करें और उन्हें कहे—आपका दण्ड, आपके पात्र मुझे दें—इस प्रकार एक बार कहने पर वे दें तो ग्रहण करें (आग्रह करने से पात्र आदि टूट सकते हैं)।

गांव छोटा हो, भिक्षा सुलभ न हो, दूरी अधिक हो अथवा मध्याह्न में धूप तेज हो, तो प्रातः काल ही प्रवेश करें।

आगंतुक साधु के नैषेधिकी शब्द को सुनकर वास्तव्य साधु मुख में प्रक्षिप्त घास को तो निगलें किंतु हाथ में लिए घास को पुनः पात्र में निक्षिप्त कर तत्काल खड़े हो जाएं। उन्हें आहार करवाकर आवश्यकतानुसार पुनः भिक्षाटन करें।

यदि प्राघूर्णक तपप्रायश्चित्तापन्न है तो वह ओष आलोचना कर मण्डली में आहार करे, तत्पश्चात् विभाग आलोचना कर प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

वास्तव्य मुनि आगंतुकों का तीन दिन आतिथ्य करें। सबका संभव न हो तो बाल-वृद्ध का तो अवश्य करें।

११. साधु की साध्वी-वसति में प्रवेश विधि

अद्धाणनिग्गयाई, अग्गुज्जाणे भवे पवेषो य!....
उव्वाया वेला वा दूरुट्ठियमाइणो व परगामे ।
इय थेरऽज्जासिज्जं, विसंतऽणाबाहपुच्छा य ॥

यः स्थविरो गीतार्थः स आत्मद्वितीयः संयतीप्रतिश्रये प्रेष्यते। स च तत्र गत्वा बहिरेकपाश्वे स्थित्वा नैषेधिकीं करोति। यदि ताभिः श्रुतं ततः सुन्दरम्, अथ न श्रुतं ततः शय्यातरीणां निवेद्यते, ताभिरार्यिकाणां निवेदिते यदि सर्वा अप्यार्यिका वृन्देन निर्गच्छन्ति ततश्चत्वारो गुरवः। ततः प्रवर्तिनी....वयपरिणताभ्यामार्यिकाभ्यां सहिता निर्गत्य 'अनुजानीत' इति भणति।....। ततश्च ताभिः कृतिकर्मणि विहिते स गीतार्थसाधुरधोमुखमवलोकमान आचार्यवचनेन तासामनाबाध-पृच्छां करोति ॥ (वृभा २२०७, २२०८ वृ)

दूसरे क्षेत्र में जाते हुए संयत के मार्ग में संयती का क्षेत्र आ जाए, तब वह ग्राम के बाहर उद्यान में ठहर जाए। गीतार्थ मुनि पहले समीपवर्ती ग्राम में भिक्षा के लिए जाए। यदि वह परिश्रान्त है या ग्राम दूर है, वहां पहुंचने तक भिक्षा का समय अतिक्रान्त हो सकता है या वह ग्राम उजड़ गया है तब स्थविर गीतार्थ मुनि के साथ संयती के उपाश्रय में जाए। वहां एक पाश्वर् में स्थित होकर 'नैषेधिकी' शब्द का उच्चारण करें। यदि साध्वी उसे सुन ले तो ठीक अन्यथा शय्यातरी को सूचित करे, शय्यातरी आर्यिका को निवेदन करे, तब सब साध्वियां समूहरूप से बाहर आयें तो चतुर्गु प्रायश्चित्त आता है। प्रवर्तिनी वयप्राप्त साध्वी के साथ बाहर आकर 'आज्ञा दें' ऐसा कहे। तत्पश्चात् दोनों साधु साध्वी के

उपाश्रय में प्रवेश करें। साध्वियों के कृतिकर्म व्यवहार के पश्चात् गीतार्थ मुनि नीची दृष्टि किए आचार्य की ओर से सुखपृच्छा करता है—आपके संयमयोग निराबाधरूप से सध रहे हैं ?

० सहभिक्षाविधि

कडमकड त्ति य मेरा, कडमेरा मित्ति बिंति जइ पुट्टा।
ताहे भणंति थेरा, साहह कह गिण्हमो भिक्खं ॥
ता बेति अम्ह पुण्णो, मासो वच्चामु अहव खमणं णे।
संपत्थियाउ अम्हे, पविसह वा जा। वयं नीमो ॥
तुब्भे गिण्हह भिक्खं, इम्मि घउरन्-पाण गामद्धे।
वाडग साहीए वा, अम्हे सेसेसु चेच्छामो ॥
ओली निवेसणे वा, वज्जेत्तु अडंति जत्थ व पविट्टा।
न य वंदणं न नमणं, न य संभासो न वि य दिट्ठी ॥
(बृभा २२११, २२१२, २२१५, २२१६)

स्थविर आर्या से पूछते हैं—आप सामाचारी में शिक्षित हैं या नहीं? 'हम सामाचारी—भिक्षाविधि जानती हैं' ऐसा कहने पर स्थविर पुनः पूछते हैं—हम गोचरी कैसे-कहां करें?

आर्यिका कहती है—हमारा मासकल्प पूर्ण हो गया है, हम सूत्रपौरुषी करके यहां से विहार कर देंगी। उसके बाद आप यथेच्छ विहरण करें। अथवा मासकल्प तो पूर्ण नहीं हुआ, किन्तु आज हम सबके उपवास है अतः आप इच्छानुसार भिक्षा के लिए जा सकते हैं। दोनों को ही भिक्षा करनी हो तो आर्यिका निवेदन करती है—पहले हम भिक्षा के लिए जाएं, बाद में आप अथवा पहले आप भिक्षा करके आ जाएं, फिर हम चली जायेंगी। प्रचुर अन्न-पान वाले इस ग्राम के अर्ध भाग में आप और अर्धभाग में हम अथवा इस पाटक और इस गली में आप और शेष में हम गोचरी कर लेंगी।

साधु-साध्वियों की भिक्षाटन वाली गृहपंक्ति और निवेशन को छोड़कर अन्य पंक्ति और निवेशन (एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले घरों) में पर्यटन करते हैं। जहां ग्राम छोटा हो, घरों की पंक्ति का विभाग न हो सके वहां घर में प्रवेश करते हुए अथवा गली में संयत-संयती का मिलन हो सकता है, वहां वे परस्पर न वंदना करें, न नमन करें और न ही संभाषण और अवलोकन करें।

१२. साधु साध्वी के स्थान पर क्यों जाए ?

उवस्साए य संथारे उवही संघपाहुणे।
सेहट्टवणुद्देसे, अणुन्ना भंडणे गणे ॥
अणप्यञ्ज अगणि आऊ वीआर पुत्त संगमे।
संलेहण वोसिरणे, वोसट्टे निट्टिए तिहं ॥

काश्चिद् वा संयत्यः परीषहपराजिता अवधावना-
भिमुख्यो वर्तन्ते तासां स्थिरीकरणार्थं संघप्राघुणो गच्छेत्।
इह कुलस्थविरो...संघस्थविरो वा संघस्य गौरवार्हतया...
प्राघुण उच्यते। (बृभा ३७२२, ३७२३ वृ)

सामान्यतः साधु साध्वी के स्थान पर न जाए। परन्तु आपवादिक स्थिति में इन कारणों से जा सकता है—

- ० उपाश्रय, संस्तारक तथा उपधि देने के लिए।
- ० परीषहों से पराजित होकर उत्प्रव्रजित होने वाली साध्वी के स्थिरीकरण के लिए संघप्राघुर्णक मुनि जा सकता है।

संघ के गौरवार्ह होने के कारण कुलस्थविर, गणस्थविर और संघस्थविर प्राघुण—प्राघूर्णक कहलाते हैं।

- ० शैक्ष मुनि की उपस्थापना के लिए।
- ० स्थापनाकुलों की स्थापना के लिए।
- ० श्रुत के उद्देश अथवा अनुज्ञा हेतु।
- ० पारस्परिक कलह का उपशमन करने के लिए।
- ० प्रवर्तिनी के कालगत हो जाने पर गणचिन्ता के निमित्त।
- ० परवश साध्वी को मंत्र आदि से स्वस्थ करने के लिए।
- ० साध्वियों की वसति अग्नि से जल जाने पर अथवा पानी में बह जाने पर नई वसति-ग्रहण हेतु।
- ० विचारभूमि में उपसर्ग उपस्थित होने पर।
- ० साध्वियों के स्वजन की मृत्यु हो जाने पर।
- ० साध्वियों के स्वजन को उनसे मिलाने के लिए।
- ० संलेखना या अनशन के लिए तत्पर अथवा अनशन में स्थित साध्वी को दर्शन देने के लिए।
- ० साध्वी के कालगत हो जाने पर अन्य साध्वियों के शोकापनयन के लिए निरन्तर तीन दिन वहां जाए।

१३. वर्षा आदि में जाना निषिद्ध

.....तिव्वदेसियं वासं वासमाणं पेहाए, तिव्वदेसियं वा

महियं सपिणवयमाणि पेहाए, महावाएण वा रयं समुद्धयं पेहाए, तिरिच्छं संपाइमा वा तसा-पाणा संथडा सन्निवय-माणा पेहाए, से एवं णच्चा णो सपडिग्गहमायाए गाहावड-कुलं पिंडवाय-पडियाए.....बहिया वियारभूमिं वा विहार भूमिं वा णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा, गामाणुगामं वा दूइज्जेज्जा ॥ (आचूला ६/५३)

(यदि भिक्षु) तेज या मंद वर्षा बरसती देखे, तीव्र या मंद कुहरा गिरता देखे, महावात से रजे उड़ती देखे, तिर्यक् संपातिम (भौरा, पतंग आदि) त्रस प्राणी मार्ग में छाये हुए या गिरते हुए देखे, वह ऐसा (जीवविराधना का प्रसंग) जानकर पात्र लेकर गृहपति के घर में भिक्षा की प्रतिज्ञा से न जाए और न प्रवेश करे, न बाहर स्थण्डिलभूमि और स्वाध्यायभूमि में गमन और प्रवेश करे, न ग्रामानुग्राम परिव्रजन करे।

० ज्ञातिजनों में गमन का हेतु और विधि

उवदेसं काहामि य, धम्मं गाहिस्स पव्वयावेस्सं।
सड्ढाणि व वुग्गाहे, भिक्खुगमादी ततो गच्छे ॥
(व्यभा २५१८)

मैं ज्ञातिजनों को धर्मोपदेश दूंगा, उन्हें श्रावकधर्म या श्रमणधर्म में दीक्षित करूंगा। वे कुल दानश्रद्धालु हैं। अन्यतीर्थिकों ने उन्हें बहका दिया है। उनको यथार्थ मार्ग पर लाऊंगा—इन कारणों से साधु ज्ञातिजनों के बीच जा सकता है।

भिक्खू य इच्छेज्जा नायविहिं एत्तए...कप्पइ से श्रेरे आपुच्छित्ता...। श्रेरा य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ नायविहिं एत्तए ।...नो से कप्पइ अप्पसुयस्स अप्पागमस्स एगाणियस्स...। कप्पइ से जे तत्थ बहुस्सुए बब्भागमे तेण सद्धिं नायविहिं एत्तए। (व्य ६/१)

अम्मा-पितिसंबंधो, पुव्वं पच्छा व संथुता जे तु।
एसो खलु णायविधी, णेगा भेदा य एक्केक्के ॥
(व्यभा २४४९)

भिक्षु ज्ञातविधि/ज्ञातवीथि में जाना चाहे तो वह स्थविर (आचार्य) को पूछकर जा सकता है, वे अनुमति दें तो जा सकता है। अल्पश्रुत और अल्पागम भिक्षु अकेला ज्ञातिजनों में नहीं जा

सकता। गच्छ में जो बहुश्रुत-बहुआगमज्ञ है, उसके साथ ज्ञातवीथि में जा सकता है।

माता-पिता आदि का जो संबंध है या जो पूर्वसंस्तुत और पश्चात् संस्तुत है, वह ज्ञातविधि है। इसके अनेक भेद हैं। यहां विधि शब्द भेदवाची है।

१४. रात्रि में एकाकी-गमन का निषेध

नो कप्पइ निग्गंथस्स एगाणियस्स राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा...। कप्पइ से अप्पबिइयस्स वा अप्पतइयस्स वा... ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए...कप्पइ से अप्पबिइयाए वा...अप्पचउत्थीए वा... ।... (क १/४५, ४६)

निर्ग्रन्थ रात्रि में या विकाल में उपाश्रय के बाहर विचारभूमि या विहारभूमि में अकेला नहीं जा सकता। वह एक या दो निर्ग्रन्थों के साथ वहां जा-आ सकता है।

यही विधि साध्वी के लिए निर्दिष्ट है। विशेष इतना है कि वह एक या दो या तीन साध्वियों के साथ जा सकती है।

१५. शयन-विधि, रत्नाधिक की प्राथमिकता

...सेज्जासंथारभूमिं ..., णण्णत्थ आयरिण वा, उवज्जाएण वा, पवत्तीए वा, श्रेरेण वा, गणिणा वा, गणहरेण वा, गणावच्छेइएण वा, बालेण वा, बुद्धेण वा, सेहेण वा, गिलाणेण वा, आएसेण वा, अंतेण वा, मद्धेण वा, समेण वा, विसमेण वा, पवाएण वा, णिवाएण वा तओ संजयामेव पडिलेहिय-पडिलेहिय, पमज्जिय-पमज्जिय बहु-फासुर्यं सेज्जा-संथारगं संथरेज्जा ॥...सेज्जा-संथारए दुरुहमाणे, से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय-पमज्जिय तओ संजयामेव...दुरुहेत्ता तओ संजयामेव...सएज्जा ॥...सयमाणे, णो अण्णमण्णस्स हत्थेण हत्थं, पाएण पायं, काएण कायं आसाएज्जा ।... (आचूला २/७२-७४)

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर, गणावच्छेदक, बाल, वृद्ध, शैक्ष, ग्लान और अतिथि की शय्या-संस्तरक-भूमि को छोड़कर उपाश्रय के अंतिम कोने या मध्य में, सम या विषम, हवादार या निर्वात स्थान में संयमपूर्वक प्रतिलेखन

कर, प्रमार्जन कर पूर्ण प्रासुक शय्या-संस्तारक बिछाए। शय्यासंस्तारक पर आरूढ़ होने से पहले ही सिर सहित शरीर के ऊपरी भाग का तथा पैरों का पुनः पुनः प्रमार्जन कर तत्पश्चात् संयमपूर्वक उस पर बैठकर, संयमपूर्वक सोए। सोता हुआ एक-दूसरे के हाथ से हाथ, पैर से पैर और शरीर से शरीर को न सटाए।

कप्यइ निगंथाण वा निगंथीण वा अहाराइणियाए चेलाइं पडिग्गाहित्तए ॥...सेज्जासंधारए पडिग्गाहित्तए ॥
...अहाराइणियाए किइकम्मं करेत्तए ॥ (क ३/१८-२०)

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी यथारालिक (संयमपर्यायज्येष्ठ के) क्रम से वस्त्र और शय्या-संस्तारक ग्रहण करें। वे यथारालिक क्रम से कृतिकर्म करें।

१६. पृथक् वसति : आलोचना आदि की विधि

वीसुं पि वसंताणं, दोण्णि वि आवासगा सह गुरूहिं ।
दूरे पोरिसिभंगे, उग्घाडांगंतु विगडेंति ॥
गीतसहाया उ गता, आलोयणा तस्स अंतियं गुरुणं ।
अगडा पुण पत्तेयं, आलोएंती गुरुसगासे ॥
एंताण य जंताण य, पोरिसिभंगो ततो गुरु वयंती ।
थेरे अजंगममि उ, मज्झणहे वावि आलोए ॥
(व्यभा २७३०-२७३२)

संकीर्ण वसति के कारण पृथक् वसति में रहने वाले अगीतार्थ साधु प्रतिदिन प्राभातिक और वैकालिक आवश्यक-प्रतिक्रमण गुरु के साथ करते हैं। वे भिक्षाचर्या से लौटकर आचार्य के पास आलोचना करते हैं।

यदि अलग वसति सौ हाथ दूर हो तो चतुर्थ पौरुषी में गुरु के पास आलोचना कर वैकालिक आवश्यक अपनी वसति में करते हैं और प्रातःकालीन आवश्यक भी वहीं कर फिर गुरु के पास आकर प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं। यदि वसति सुदूर हो, गुरु के पास आने में सूत्र-अर्थ पौरुषी वेला अतिक्रान्त होती हो तो उद्घाटा (तृतीय) पौरुषी में गुरु के पास आकर आलोचना और प्रत्याख्यान करते हैं।

सुदूर वसति में यदि कोई गीतार्थ सहायक हो तो सब उसके पास आलोचना करते हैं। वह गीतार्थ उद्घाटा पौरुषी में गुरु के पास आकर सारी बात निवेदन करता है। यदि कोई गीतार्थ सहायक

न हो तो उद्घाटा पौरुषी में सब गुरु के पास आकर आलोचना करते हैं। यदि वसति इतनी अधिक दूर हो कि उद्घाटा पौरुषी काल में, आने-जाने में पौरुषी भग्न होती हो तो गुरु स्वयं इन अगीतार्थ शिष्यों के पास जाते हैं। यदि गुरु स्थविर या चलने में असमर्थ हैं तो अगीतार्थ मध्याह्न में गुरु के पास आकर आलोचना करते हैं।

१७. उपधि-प्रतिलेखन का काल

सूरुग्गए जिणणां पडिलेहणियाए आढवणकालो ।
थेराणऽणुग्गयम्मी, ओवहिणा सो तुलेयव्वो ॥
यथाऽऽवश्यके कृते एकद्वित्रिश्लोकस्तुतित्रये गृहीते एकादशभिः प्रतिलेखितैरादित्य उत्तिष्ठते स प्रारम्भकालः प्रतिलेखनिकायाः। कतरे पुनरेकादश? पंच अहाजातानि, तिनि कप्पा, तेसिं एगो उन्निओ दो सुत्तिया, संधारपट्टओ, उत्तरपट्टओ, दंडओ...। (बृभा १६६१ चू)

जिनकल्पी के सूर्य उदय होने के बाद प्रतिलेखना का प्रारंभ काल है। स्थविरकल्पी के सूर्य उदय से पहले ही प्रतिलेखना काल प्रारम्भ हो जाता है। प्रतिलेखनीय उपधि के आधार पर प्रतिलेखना के काल का माप होता है।

आवश्यक करने के बाद एक-दो-तीन श्लोक प्रमाण तीन स्तुति सम्पन्न की जाती है, उसके बाद ग्यारह उपधि की प्रतिलेखना के पश्चात् सूर्य उदय हो जाए, वह काल प्रतिलेखना का प्रारम्भ काल है। पांच यथाजात (मुखवस्त्र, रजोहरण, दो निषद्याएं, चोलपट्ट), तीन उत्तरीय—एक ऊनी और दो सूती, संस्तारकपट्ट, उत्तरपट्ट और दंड—यह ग्यारह प्रकार की उपधि है। (दसविध उपधि का उल्लेख भी है। ३ श्रीआको १ कालविज्ञान)

१८. स्थविर-अवस्थिति : क्षेत्र आदि उनीस द्वार

खित्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए ।
कप्ये लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य ॥
पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवने उ नत्थि पच्छित्तं ।
कारण पडिकम्ममि उ, भत्तं पंथो य भयणाए ॥
(बृभा १६३४, १६३५)

स्थविरकल्प की स्थिति आदि के उनीस द्वार हैं— १. क्षेत्र २. काल ३. चारित्र ४. तीर्थ ५. पर्याय ६. आगम ७. वेद

८. कल्प ९. लिंग १०. लेश्या ११. ध्यान १२. गणना (इन द्वारों में अवस्थिति वक्तव्य है) १३. अभिग्रह १४. प्रव्राजना १५. मुण्डापना १६. मानसिक अपराध में तप प्रायश्चित्त नहीं। १७. कारण (अपवाद) १८. प्रतिकर्म (धावन, संवाधन आदि) १९. आहार और विहार तृतीय पौरुषी में वैकल्पिक।

० क्षेत्र, काल, चारित्र्य...वेद

पनरसकम्भभूमिसु, खेत्तञ्जोसपिणीइ तिसु होज्जा।
तिसु दोसु य उस्सप्ये, चउरो पलिभाग साहरणे ॥
पढम-बिइएसु पडिवज्जमाण इयरे उ सव्वचरणेसु।
नियमा तित्थे जम्मज्जु जहन्ने कोडि उक्कोसे ॥
पव्वज्जाएँ मुहुत्तो, जहन्नुक्कोसिया उ देसूणा।
आगमकरणे भइया, ठियकप्ये अट्टिए वा वि ॥
वेदः स्त्री-पुं-नपुंसकभेदात् त्रिविधोऽप्यमीषां प्रति-
पत्तिकाले भवेत्, पूर्वप्रतिपन्नकानां त्ववेदकत्वमपि
भवति। (बृभा १६३६-१६३८ वृ)

० क्षेत्र— स्थविरकल्पिक पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह—इन पन्द्रह कर्मभूमियों में होते हैं। संहरण की अपेक्षा तीस अकर्मभूमियों में भी हो सकते हैं।

० काल—अवसर्पिणी काल में जन्म और सद्भाव की अपेक्षा तीसरे-चौथे-पांचवें अर में होते हैं। उत्सर्पिणीकाल में जन्म की अपेक्षा दूसरे-तीसरे-चौथे अर तथा सद्भाव की अपेक्षा तीसरे व चौथे अर में होते हैं। नोअवसर्पिणीउत्सर्पिणी काल में जन्म और सद्भाव की अपेक्षा दुःषमसुषमा प्रतिभाग में होते हैं। संहरण की अपेक्षा चारों प्रतिभागों में हो सकते हैं। (प्रतिभाग द्र जिनकल्प)

० चारित्र्य—प्रतिपद्यमान की अपेक्षा स्थविरकल्पिक सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र्य में होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा इनमें पांचों चारित्र्य हो सकते हैं।

० तीर्थ—ये नियमतः तीर्थ में ही होते हैं, अतीर्थ में नहीं।

० पर्याय—इसके दो प्रकार हैं—१. गृहिपर्याय—जघन्यतः साधिक आठ वर्ष, उत्कृष्टतः पूर्वकोटि।

२. दीक्षा पर्याय—जघन्य अन्तर्मुहूर्त (इसके पश्चात् मरण या पतन हो सकता है), उत्कृष्ट देशोन् पूर्वकोटि।

० आगम—अपूर्वश्रुत का अध्ययन करते हैं, नहीं भी करते।

० कल्प—ये स्थितकल्प और अस्थितकल्प दोनों में होते हैं।

० वेद—प्रतिपत्तिकाल की अपेक्षा स्त्री, पुरुष और कृत नपुंसक—तीनों वेद हो सकते हैं, पूर्वप्रतिपन्न अवेदी भी हो सकते हैं।

० लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना

भइया उ दव्वलिंगे, पडिवत्ती सुद्धलेस-धम्महिं।
पुव्वपडिवन्नगा पुण, लेसा झाणे अ अन्नयरे ॥
पडिवज्जमाण भइया, एगो व सहस्ससो व उक्कोसा।
कोडिसहस्सपुहत्तं जहन्न-उक्कोसपडिवन्ना ॥
(बृभा १६३९, १६४७)

० लिंग—प्रतिपद्यमान और पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा द्रव्य लिंग की भजना है, भावलिंग सदा होता है।

० लेश्या—प्रतिपद्यमान की अपेक्षा उनमें तीन शुभ लेश्याएं होती हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा छहों लेश्याएं हो सकती हैं।

० ध्यान—प्रतिपद्यमान की अपेक्षा धर्म्यध्यान होता है। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा चारों ध्यान हो सकते हैं।

० गणना—कल्प के स्वीकरण में भजना है—विवक्षित काल में स्वीकार करते भी हैं और नहीं भी करते। यदि स्वीकार करते हैं तो एक साथ एक, दो, तीन यावत् सहस्र पृथक्त्व (दो हजार से नौ हजार) व्यक्ति स्वीकार कर सकते हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा सहस्रकरोड़ पृथक्त्व तक हो सकते हैं।

० प्रव्राजना-मुंडापना

सच्चित्तदवियकप्पं, छव्विहमवि आयरंति धेरा उ।
कारणओ असहू वा, उवएस दिंति अन्नत्थ ॥

प्रव्राजना मुण्डापना शिक्षापना उपस्थापना सम्भुज्जना संवासना चेति।'...स्थविराः' गच्छवासिनः।'...स्वयं वस्त्र-
यात्रादिभिर्ज्ञानादिभिश्च शिष्याणां संग्रहोपग्रहौ कर्तुमसमर्था
उपदेशम्...गच्छान्तरे ...प्रयच्छन्ति, अमुकत्र गच्छे संविग्न-
गीतार्था आचार्याः सन्ति तेषां समीपे भवता दीक्षा प्रति-
पत्तव्येति। (बृभा १६५४ वृ)

स्थविरकल्पी छह प्रकारों से सचित्त द्रव्य कल्प का आचरण करते हैं (शिष्य बनाते हैं)—१. प्रव्राजना २. मुण्डापना ३. शिक्षापना ४. उपस्थापना ५. संभुज्जना ६. संवासना।

किसी कारणवश स्थविरकल्पी स्वयं वस्त्र, पात्र, ज्ञान-दान आदि के द्वारा शिष्यों का संग्रह-उपग्रह करने में असमर्थ होने पर दीक्षार्थी को उपदेश देते हैं कि अमुक गच्छ में संविग्न गीतार्थ आचार्य हैं, तुम्हें उनके पास दीक्षा स्वीकार करनी चाहिए।

* दीक्षा के छह प्रस्थान : प्रव्रज्या आदि त्र दीक्षा

० प्रायश्चित्त, कारण, परिकर्म

जीवो पमायबहुलो, षड्विक्रमे दुष्करं ठवेउं जे।
केत्तियमित्तं वोञ्छति, पच्छित्तं दुग्गयरिणी वा॥

.....मनसाऽऽपन्नेऽप्यपराधे नास्ति तपःप्रायश्चित्तं
स्थविरकल्पिकानाम्, आलोचनाप्रतिक्रमणप्रायश्चित्ते तु
तत्रापि भवतः.....। कारणम्.....उत्पन्ने द्वितीयपदमप्यासेवन्ते।
तथा निष्कारणे निष्प्रतिकर्मशरीराः। कारणे तु ग्लानमाचार्य
वादिनं धर्मकथिकं च प्रतीत्य पादधावनमुखमार्जनशरीर-
सम्बाधनादिकरणात् सप्रतिकर्माण इति। (बृभा १६५५ वृ)

० प्रायश्चित्त—जीव प्रमादबहुल है। उसे अप्रमाद में स्थापित करना दुष्कर है। चैतसिक चंचलता के कारण वह पग-पग पर अपराध कर लेता है तो दरिद्र कर्जदार की भाँति वह कितने प्रायश्चित्त रूपी ऋण का वहन करेगा? अतः स्थविरकल्पिकों को मानसिक स्तर पर अपराध होने पर तपप्रायश्चित्त नहीं दिया जाता, किन्तु आलोचना एवं प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त के द्वारा मानसिक दोषों का शोधन किया जाता है।

० कारण—वे महामारी, दुर्भिक्ष आदि कारण उत्पन्न होने पर अपवाद मार्ग का आसेवन भी करते हैं।

० परिकर्म—वे निष्कारण परिकर्म नहीं करते। कारण से ग्लान, आचार्य, वादी और धर्मकथिक पादप्रक्षालन, मुखमार्जन, शरीरसंवाधन आदि परिकर्म करते हैं, अतः वे सप्रतिकर्म हैं।

१९. सापेक्ष-निरपेक्ष के प्रायश्चित्त में अंतर

.....निरवेक्खाण मणेण वि, पच्छित्तितरेसि उभएणं॥

(व्यभा ४०२३)

निरपेक्ष (प्रतिमाप्रतिपन्न, जिनकल्पी आदि) मुनियों को मन मे भी अतिचार सेवन करने पर प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

सापेक्ष (गच्छस्थित) मुनि वाचिक और कायिक दोषसेवन करने पर प्रायश्चित्त प्राप्त करते हैं।

२०. जिन-स्थविर-कल्प : कृतयोगिता, धृति-संहनन
पुरिसा उक्कोस-मज्झिम, जहणया ते चउव्विधा होति।
कप्पट्टिता परिणता, कडयोगी चेव तरमाणा॥
संघयणे संपण्णा, धितिसंपण्णा य होति तरमाणा।
सेसेसु होति भयणा, संघयण-धितिए इतरे य॥
पुरिसा तिविहा संघयण, धितिजुत्ता तत्थ होति उक्कोसा।
एगतरजुत्ता मज्झा, दोहिं विजुत्ता जहणया उ॥
उक्कोसगा तु दुविहा, कप्प-पकप्पट्टिता व होज्जाहि।
कप्पट्टिता तु णियमा, परिणत-कडयोगि-तरमाणा॥
जे पुण ठिता पकप्पे, परिणत-कडयोगिताइ ते भइता।
तरमाणा पुण णियमा, जेण उ उभएण ते बलिया॥
मज्झा य बितिय-ततिया, नियम पकप्पट्टिता तु णायव्वा।
बितिया परिणत-कडयोगिताए भइता तरे किंचि॥
संघयणेण तु जुतो, अदढधिति ण खलु सव्वसो अतरओ।
देहस्सेव तु स गुणो, ण भज्जति जेण अप्पेण॥
ततिओ धितिसंपण्णो, परिणय-कडयोगिता वि सो भइतो।
एमे पुण तरमाणं, तमाहु मूलं धिती जम्हा॥
णामुदया संघयणं, धिती तु मोहस्स उवसमे होति।
तहवि सती संघयणे, जा होति धिती ण साहीणे॥
चरिमो परिणत-कडयोगिताए भइओ ण सव्वसो अतरो।
रातीभत्त-विवज्जण, पोरिसिमादीहिं जं तरति॥

(निभा ७७-८६)

पुरुषों के तीन प्रकार हैं—उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य।

इनके चार-चार प्रकार हैं—कल्पस्थित, परिणत, कृतयोगी और तरमाण (समर्थ/अपने लक्ष्य में निश्चित सफल होने वाला)।

शरीररचना और मनोबल की क्षमता के आधार पर इनके चार विकल्प बनते हैं—१. संहननसंपन्न-धृतिसंपन्न २. संहनन-संपन्न किन्तु धृतिसंपन्न नहीं ३. धृतिसंपन्न किन्तु संहननसंपन्न नहीं ४. न संहननसंपन्न न धृतिसंपन्न।

प्रथम भंगवर्ती पुरुष तरमाण होते हैं, शेष भंगों में सामर्थ्य की भजना है। प्रथम भंगवर्ती पुरुष उत्कृष्ट, द्वितीय-तृतीय भंगवर्ती मध्यम और चतुर्थ भंगवर्ती जघन्य होते हैं।

उत्कृष्ट के दो प्रकार हैं—कल्पस्थित (जिनकल्पिक) और प्रकल्पस्थित (स्थविरकल्पिक)।

कल्पस्थित नियमतः श्रुत और वय से परिणत होते हैं, कृतयोगी (तपोयोग से भावित) और तरमाण होते हैं।

प्रकल्पस्थित परिणत और कृतयोगी होते भी हैं, नहीं भी होते, किन्तु जो संहनन और धृति से सम्पन्न होते हैं, वे नियमतः तरमाण होते हैं—प्रारब्ध अनुष्ठान को पूर्णता तक पहुंचाते हैं।

द्वितीय-तृतीय भंगवर्ती मध्यम पुरुष स्थविरकल्पी ही होते हैं, जिनकल्पी नहीं। उनमें परिणतता और कृतयोगिता वैकल्पिक है। संहननसंपन्न पुरुष धृतिविहीन होने पर भी सर्वथा असमर्थ नहीं होता। संहनन शरीर का उपकारक गुण है। वह अल्प धृति या अधृति से भग्न नहीं होता।

कुछ आचार्यों का अभिमत है—धृति तप-संयम का मूल है, अतः धृतिसंपन्न पुरुष तरमाण/समर्थ होता है।

संहनन नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है। धृति मोहकर्म (अरति नोकषाय चारित्रमोहनीय) के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। यद्यपि संहनन और धृति की उत्पत्ति भिन्न है, फिर भी दृढ़ संहननी में जैसी धृति होती है, वैसी धृति हीन-संहनन वाले में नहीं होती। इसलिए तीसरा भंग अतरमाण है। कुछ इसे तरमाण भी मानते हैं।

चतुर्थ भंग में परिणतता और कृतयोगिता वैकल्पिक है। धृति-संहननविरहित भी सर्वथा अतरमाण नहीं होता। वह भी रात्रिभोजनविरमण, पौरुषी आदि प्रत्याख्यानों का निर्वहन करता है।

२१. सापेक्ष-निरपेक्ष : वैयावृत्य और चिकित्सा

निगन्धं च णं राओ वा वियाले वा दीहपट्टो लूसेज्जा, इत्थी वा पुरिसं...पुरिसो वा इत्थिं ओमज्जेज्जा। एवं से कप्पइ, एवं से चिट्ठइ, परिहारं च णो पाउणइ—एस कप्पे थेर-कप्पियाणं। एवं से नो कप्पइ, एवं से नो चिट्ठइ, परिहारं च पाउणइ—एस कप्पे जिणकप्पियाणं ॥ (व्य ५/२१)

निर्ग्रन्थ को रात्रि या विकालवेला में सांप काट खाये, उस स्थिति में स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का अपमार्जन करे—यह कल्पनीय है। इस स्थिति में उसे प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होता—यह स्थविरकल्पिकों का कल्प है।

जिनकल्पिक को सांप काट खाये, उस स्थिति में वह अपमार्जन न कराए। यदि कराए तो उसे प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—यह जिनकल्पिकों का कल्प है।

जिणकप्पिए न कप्पति, दप्पेणं अजतणाय थेराणं। कप्पति य कारणम्मि, जयणाय गच्छे स सावेक्खो ॥ चिट्ठति परियाओ से, तेण च्छेदादिया न पावेंति। परिहारं च न पावति, परिहार तवो त्ति एगट्ठं ॥ (व्यभा २४४५, २४४६)

जिनकल्पी स्वपक्ष (साधु) और परपक्ष (साध्वी)—दोनों से वैयावृत्य नहीं करवा सकता।

स्थविरकल्पी दर्प से या अयतना से वैयावृत्य (या चिकित्सा) नहीं करवा सकता। कारण उपस्थित होने पर यतनापूर्वक करवा सकता है, क्योंकि वह गच्छ में सापेक्ष है—शरीर-निरपेक्ष होकर साधना नहीं करता।

वैयावृत्य या चिकित्सा करवाने से उसका स्थविरकल्प रहता है (नष्ट नहीं होता) तथा प्रायश्चित्तस्वरूप छेद या परिहार भी प्राप्त नहीं होता। परिहार और तप एकार्थक हैं।

स्थविरावलि—आचार्य-परम्परा।

समणस्स भगवओ महावीरस्स कासवगोत्तस्स अज्ज-सुहम्मं थेरे अंतेवासी अग्गिवेसायणसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जसुहम्मस्स...अज्जजंबुनामे थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते।...अज्जप्पभवे थेरे अंतेवासी कच्चायण सगोत्ते।...अज्जसेज्जंभवे थेरे अंतेवासी मणगपिया वच्छसगोत्ते। अज्जजसभहे...तुंगियायणसगोत्ते।

संखित्तवायणाए अज्जजसभहाओ अग्गओ एवं थेरावली भणिया तं जहा—थेरस्स णं अज्जजसभहस्स...अंतेवासी दुवे थेरा—थेरे अज्जसंभूयविजए माढरसगोत्ते, थेरे अज्जभहवाहू पाईणसगोत्ते।...अंतेवासी थेरे अज्जथूलभहे गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जथूलभहस्स...अंतेवासी दुवे थेरा—थेरे अज्जमहागिरी एलावच्छसगोत्ते, थेरे अज्जसुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते।...थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स...अंतेवासी दुवे थेरा-सुट्ठियसुप्पडिबुद्धा कोडियकाकंदगा वग्घावच्चसगोत्ता। थेराणं सुट्ठियसुप्पडि-बुद्धाणं...अंतेवासी थेरे अज्जइंददिने कोसियगोत्ते।...अंतेवासी थेरे अज्जदिने गोयमसगोत्ते।...अंतेवासी थेरे अज्जसीहगिरी जाइस्सेरे कोसियगोत्ते।...अंतेवासी थेरे अज्जवइरे गोयमसगोत्ते।...अंतेवासी थेरे अज्जवइरेसेणे कोसियगोत्ते।

(दशा ८ परि सू १८६, १८७)

काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान महावीर के अंतेवासी हुए अग्निवैश्यायनगोत्रीय स्थविर आर्य सुधर्मा । आर्य सुधर्मा के अंतेवासी काश्यपगोत्रीय आर्य जंबू । आर्य जंबू के अंतेवासी कात्यायनगोत्रीय आर्य प्रभव । आर्य प्रभव के अंतेवासी वत्सगोत्रीय मुनि मनक के पिता स्थविर आर्य शय्यंभव । आर्य शय्यंभव के अंतेवासी—तुंगियायण गोत्रीय स्थविर आर्य यशोभद्र ।

संक्षिप्त वाचना के अनुसार आर्य यशोभद्र से आगे स्थविरावलि इस प्रकार है—

आर्य यशोभद्र के दो अंतेवासी हुए—माठरगोत्रीय आर्यसंभूत-विजय और प्राचीन गोत्रीय आर्य भद्रबाहु । आर्यसंभूत-विजय के शिष्य—गौतमगोत्रीय आर्य स्थूलभद्र । आर्य स्थूलभद्र के दो अंतेवासी शिष्य हुए—एलापत्यगोत्रीय स्थविर आर्य महागिरि और वाशिष्ठगोत्रीय आर्य सुहस्ति । आर्य सुहस्ति के दो अंतेवासी—व्याघ्रापत्यगोत्रीय सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध । ये दोनों कोडिय काकंदक कहलाते थे । इन दोनों के शिष्य—कौशिकगोत्रीय आर्य इन्द्रदत्त । आर्य इन्द्रदत्त के अंतेवासी गौतमगोत्रीय स्थविर आर्य दत्त । आर्य दत्त के अंतेवासी कौशिकगोत्रीय स्थविर आर्य सिंहगिरि, जिन्हें जातिस्मृति ज्ञान उपलब्ध था । आर्य सिंहगिरि के अंतेवासी गौतमगोत्रीय आर्य वज्र । आर्यवज्र के अंतेवासी कौशिकगोत्रीय आर्यवज्रसेन ।

० सात अंतेवासिनी शिष्याएं

“श्वेरस्स णं अज्जसंभूयविजयस्स”सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिण्णाताओ होत्था, तं जहा—

जक्ख्खा व जक्ख्खदिन्ना, भूया तह होइ भूयदिन्ना य ।

सेणा वेणा रेणा, भगिणीओ थूलभद्रस्स ॥

(दशा ८ परि सू १९१/३)

स्थविर आर्यसंभूतविजय के सात अंतेवासिनी शिष्याएं थीं—यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेना, वेणा, रेणा—ये स्थूलभद्र की बहनें थीं ।

(दशाश्रुतस्कंध (पर्युषणाकल्प), नन्दी आदि के अनुसार छह स्थविरावलि/पट्टावलि यंत्र यहां दिए जा रहे हैं, जो भिन्न-भिन्न गुरुपरम्पराओं के सूचक हैं ।

स्थविरावलि यंत्र

१. आर्य सुधर्मा	१८. ” शिवभूति
२. ” जंबू	१९. ” भद्र
३. ” प्रभव	२०. ” नक्षत्र
४. ” शय्यंभव	२१. ” रक्ष
५. ” यशोभद्र	२२. ” नाग
६. ” संभूतविजय-भद्रबाहु	२३. ” जेहिल
७. ” स्थूलभद्र	२४. ” विष्णु
८. ” महागिरि-सुहस्ती	२५. ” कालक
९. ” सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध	२६. ” संपलित भद्र
१०. ” इन्द्रदत्त	२७. ” वृद्ध
११. ” दत्त	२८. ” संघपालित
१२. ” सिंहगिरि	२९. ” हस्ती
१३. ” वज्र	३०. ” धर्म
१४. ” वज्रसेन	३१. ” सिंह
१५. ” पुष्यगिरि	३२. ” धर्म
१६. ” फल्गुमित्र	३३. ” देवर्द्धिगणी
१७. ” धनगिरि	

—दशा ८ परि सू १८६, १८७, २१७-२२२

१. आर्य सुधर्मा	१४. आर्य शांडिल्य
२. ” जंबू	१५. ” समुद्र
३. ” प्रभव	१६. ” मंगु
४. ” शय्यंभव	१७. ” नन्दिल
५. ” यशोभद्र	१८. ” नागहस्ति
६. ” संभूतविजय	१९. ” रेवतीनक्षत्र
७. ” भद्रबाहु	२०. वाचक सिंह
८. ” स्थूलभद्र	२१. आचार्य स्कन्दिल
९. ” महागिरि	२२. आर्य हिमवन्त
१०. ” सुहस्ती	२३. वाचक नागार्जुन
११. ” बहुल	२४. आर्य भूतदिन
१२. ” स्वाति	२५. आर्य लोहित्य
१३. ” श्याम	२६. आर्य दूष्यगणि

—नन्दी, गाथा २३-४२

नदी की भूमिका तथा गाथा २३-४२ के टिप्पणों में इस आवलि पर गहन विमर्श किया गया है। यथा—पर्युषणाकल्प की स्थविरावली में स्वाति, श्यामार्य और शाण्डिल्य का उल्लेख नहीं है। यदि पर्युषणाकल्प की स्थविरावलि देवर्द्धिगणी से प्राचीन है तो नदी की स्थविरावलि और पर्युषणाकल्प की स्थविरावलि में यह अंतर क्यों? आगम के संकलन काल में देवर्द्धिगणी ने पर्युषणाकल्प की स्थविरावलि को नदी की स्थविरावलि से भिन्न क्यों रखा? यदि पर्युषणाकल्प की स्थविरावलि देवर्द्धिगणी के उत्तरकाल की है तो यह अंतर हो सकता है। भिन्न-भिन्न स्थविरावलियों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि अनेक शाखाएं और अनेक गुरुपरंपराएं रही हैं। जो लेखक जिस शाखा व गुरुपरंपरा का था, उसने अपनी गुरुपरंपरा के आधार पर स्थविरावलियां कर दी। अतः सब स्थविरावलियों में समानता खोजना प्रासंगिक नहीं है।—नदी, गा २६ का टि

वल्लभी युगप्रधान पट्टावली

	समय
१. आचार्य सुधर्मा	२० वर्ष
२. " जम्बू	४४ "
३. " प्रभव	११ "
४. " शय्यंभव	२३ "
५. " यशोभद्र	५० "
६. " सम्भूतविजय	८ "
७. " भद्रबाहु	१४ "
८. " स्थूलभद्र	४६ "
९. " महागिरि	३० "
१०. " सुहस्ती	४५ "
११. " गुणसुन्दर	४४ "
१२. " कालक	४१ "
१३. " स्कन्दिल	३८ "
१४. " रेवतीमित्र	३६ "
१५. " मंगु	२० "
१६. " धर्म	२४ "
१७. " भद्रगुप्त	४१ "
१८. " वज्र	३६ "
१९. " रक्षित	१३ "
२०. " पुष्यमित्र	२० "

२१. " वज्रसेन	३ "
२२. " नागहस्ती	६९ "
२३. " रेवतीमित्र	५९ "
२४. " सिंह	७८ "
२५. " नागार्जुन	७८ "
२६. " भूतदिन	७९ "
२७. " कालक	११ "

दुस्सम-काल-समण-संघत्थव 'युग-प्रधान पट्टावली'

नाम	समय (वीर निर्वाण से)
१. आचार्य सुधर्मा	१-२०
२. " जम्बू	२०-६४
३. " प्रभव	६४-७५
४. " शय्यंभव	७५-९८
५. " यशोभद्र	९८-१४८
६. " संभूतविजय	१४८-१५६
७. " भद्रबाहु	१५६-१७०
८. " स्थूलभद्र	१७०-२१५
९. " महागिरि	२१५-२४५
१०. " सुहस्ती	२४५-२९१
११. " गुणसुन्दर	२९१-३३५
१२. " श्याम	३३५-३७६
१३. " स्कन्दिल	३७६-४१४
१४. " रेवतीमित्र	४१४-४५०
१५. " धर्मसूरि	४५०-४९५
१६. " भद्रगुप्त	४९५-५३३
१७. " श्रीगुप्त	५३३-५४८
१८. " वज्र	५४८-५८४
१९. " आर्यरक्षित	५८४-५९७
२०. " दुर्बलिकापुष्यमित्र	५९७-६१७
२१. " वज्रसेन	६१७-६२०
२२. " नागहस्ती	६२०-६८९
२३. " रेवतीमित्र	६८९-७४८
२४. " सिंह	७४८-८२६
२५. " नागार्जुन	८२६-९०४
२६. " भूतदिन	९०४-९८३

२७. " कालक (चतुर्थ)	९८३-९९४
२८. " सत्यमित्र	९९४-१०००
२९. " हारिल्ल	१०००-१०५५
३०. " जिनभद्रगणि	१०५५-१११५
३१. " उमास्वाति	१११५-११९७
३२. " पुष्यमित्र	११९७-१२५०
३३. " संभूति	१२५०-१३००
३४. " माठर संभूति	१३००-१३६०
३५. " धर्मत्रयिषि	१३६०-१४००
३६. " ज्येष्ठांगगणी	१४००-१४७१
३७. " फल्गुमित्र	१४७१-१५२०
३८. " धर्मघोष	१५२०-१५९८

—जैन धर्म के प्रभावक आचार्य खण्ड १ पृ. ३६-३८

माथुरी युगप्रधान-पट्टावलि

१. आचार्य सुधर्मा	१७. आचार्य धर्म
२. " जम्बू	१८. " भद्रगुप्त
३. " प्रभव	१९. " वज्र
४. " शय्यंभव	२०. " रक्षित
५. " यशोभद्र	२१. " आनन्दिल
६. " सम्भूतविजय	२२. " नागहस्ती
७. " भद्रबाहु	२३. " रेवतीनक्षत्र
८. " स्थूलभद्र	२४. " सिंह
९. " महागिरि	२५. " स्कन्दिल
१०. " सुहस्ती	२६. " हिमवन्त
११. " बलिस्सह	२७. " नागार्जुन
१२. " स्वाति	२८. " गोविन्द
१३. " श्याम	२९. " भूतदिन
१४. " शाण्डिल्य	३०. " लौहित्य
१५. " समुद्र	३१. " दूष्यगणि
१६. " मंगु	३२. " देवर्द्धिगणि

—जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. ६६१, ६६२

तीन प्रधान परम्पराएँ—

१. गणधर-वंश। २. वाचक-वंश ३. युग-प्रधान।

आचार्य सुहस्ती तक के आचार्य गणनायक और वाचनाचार्य दोनों होते थे। वे गण की सार-सम्भाल और गण की शैक्षणिक

व्यवस्था—इन दोनों उत्तरदायित्वों को निभाते थे। आचार्य सुहस्ती के बाद ये कार्य विभक्त हो गए। चारित्र की रक्षा करने वाले 'गणाचार्य' और श्रुतज्ञान की रक्षा करने वाले 'वाचनाचार्य' कहलाए। गणाचार्यों की परम्परा (गणधरवंश) अपने-अपने गण के गुरु-शिष्य क्रम से चलती है। वाचनाचार्यों और युगप्रधानों की परम्परा एक ही गण से सम्बन्धित नहीं है। जिस किसी भी गण या शाखा में एक के बाद दूसरे समर्थ वाचनाचार्य तथा युगप्रधान हुए हैं, उनका क्रम जोड़ा गया है।

आचार्य सुहस्ती के बाद भी कुछ आचार्य गणाचार्य और वाचनाचार्य—दोनों हुए हैं। जो आचार्य विशेष लक्षण-सम्पन्न और अपने युग में सर्वोपरि प्रभावशाली हुए, उन्हें युगप्रधान माना गया। वे गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों में से हुए हैं।

हिमवन्त की स्थविरावलि के अनुसार वाचक-वंश (विद्याधर-वंश) की परम्परा इस प्रकार है—

१. आचार्य सुहस्ती	११. आचार्य सिंह
२. " बहुल-बलिस्सह	१२. " स्कन्दिल
३. " उमास्वाति	१३. " हिमवन्त
४. " श्याम	१४. " नागार्जुन
५. " शाण्डिल्य	१५. " भूतदिन
६. " समुद्र	१६. " लौहित्य
७. " मंगु	१७. " दूष्यगणी
८. " नन्दिल	१८. " देववाचक (देवर्द्धिगणी)
९. " नागहस्ती	१९. " कालक (चतुर्थ)
१०. " रेवतीनक्षत्र	२०. " सत्यमित्र।

—जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृष्ठ ९३, ९४)

स्थापनाकुल—स्थाप्य (निषिद्ध) कुल। विशिष्ट कुल।

१. स्थापनाकुल : पारिहारिक कुल
२. स्थापनाकुल के प्रकार
३. स्थापनाकुल में प्रवेश का निषेध
 - भिक्षानयन के अनर्ह
४. कुलों को स्थापित करने की विधि
५. स्थापनाकुलों में गीतार्थ ही क्यों ?
६. आहार-ग्रहण की सामाचारी
७. अनेक गच्छों के साथ सामाचारी

१. स्थापनाकुल : पारिहारिक कुल

ठप्या कुला ठवणाकुला अभोज्या इत्यर्थः, साधु-ठवणाए वा ठविज्जंति न्ति ठवणाकुला।(नि ४/२१ की चू)

जो स्थाप्य—अभोज्य कुल है, वह स्थापनाकुल है। अथवा गीतार्थ द्वारा स्थापित विशिष्ट कुल स्थापनाकुल है।

गुरु-ग्लान-बालादीनां यत्र प्रायोग्यं लभ्यते तानि कुलानि पारिहारिकाण्युच्यन्ते, एकं गीतार्थसङ्घाटकं मुक्त्वा शेषसङ्घाटकानां परिहारमर्हन्तीति व्युत्पत्तेः। यद्वा पारिहारिकाणि नाम कुत्सितानि जात्यादिजुगुप्सितानीति भावः।

(बृभा २६९६ की वृ)

जहां गुरु, ग्लान, शैक्ष आदि के प्रायोग्य द्रव्य उपलब्ध हो, वे कुल पारिहारिक कहलाते हैं। उन कुलों में एक गीतार्थसंघाटक के अतिरिक्त शेष संघाटकों के प्रवेश का परिहार—निषेध होता है। अथवा जाति आदि से जुगुप्सित कुल पारिहारिक कुल हैं।

२. स्थापना कुल के प्रकार

ठवणाकुला तु दुविधा, लोइयलोउत्तरा समासेणं।
इत्तरिय आवकहिया, दुविधा पुण लोइया हुंति॥
सूयग-मतग-कुलाइं, इत्तरिया जे य होंति णिज्जूढा।
जे जत्थ जुंगिता खलु, ते होंति आवकहिया तु॥
दुविहा लोउत्तरिया, वसधी संबद्ध एतरा चेव।
सत्तघरंतर जाव तु, वसधीतो वसधिसंबद्धा॥
दाणे अभिगमसद्धे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते।
मामाए अचियत्ते य एतरा होंति णायव्वा॥
...लोगजढे परिहरता, तित्थ-विवड्डी य वण्णो य॥
(निभा १६१७-१६२०, १६२२)

स्थापनाकुल के दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तर।
लौकिक स्थापनाकुल के दो प्रकार हैं—

१. इत्वरिक स्थापनाकुल—सूतक और मृतक वाले कुल निर्यूढ होते हैं—सीमित कालावधि के लिए स्थगित (भोजन आदि के लिए निषिद्ध) किये जाते हैं (स्थाप्य होते हैं)।

२. यावत्कथिक स्थापनाकुल—जिस क्षेत्र में जो कुल कर्म, शिल्प और जाति की दृष्टि से जुगुप्सित या अभोज्य होते हैं।

जो एक क्षेत्र में जुगुप्सित माने जाते हैं, वे ही अन्य क्षेत्र में अजुगुप्सित भी हो सकते हैं। यथा—सिंधु में धोबी कुल।

लोकोत्तर स्थापनाकुल के दो प्रकार हैं—

१. वसति से सम्बद्ध—उपाश्रय के पास वाले सात घर संबद्ध कहलाते हैं। वहां से आहार-पानी नहीं लेना चाहिए।

२. असम्बद्ध—दानश्रद्धी (यथाभद्र दानरुचि), अणुव्रती सम्यग्दृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि के कुल गीतार्थसंघाटक के प्रवेश के सिवाय शेष सब साधुओं के लिए स्थाप्य—निषिद्ध हैं क्योंकि इनमें एषणादोषों की संभावना रहती है। मिथ्यादृष्टिभावित, मामाक (मेरे घर में श्रमण न आए—इस भावना से भावित) और अप्रीतिकर (जहां प्रविष्ट होने पर अप्रीति उत्पन्न हो) कुल सर्वथा स्थाप्यकुल हैं।

जो कुल लोक में जुगुप्सित/निंदित हैं, उनका परिहार करने से तीर्थ की वृद्धि होती है, यश बढ़ता है।

३. स्थापनाकुल में प्रवेश का निषेध

जे भिक्खू ठवणकुलाइं अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय पुव्वामेव पिंडवाय-पडियाए अणुप्पविसति...।।...आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घातियं॥ (नि ४/२१, ११८)

जो भिक्षु स्थापनाकुलों की जानकारी, पृच्छा और गवेषणा किए बिना पिंडपात की प्रतिज्ञा से उनमें प्रवेश करता है, वह लघुमासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

अथसो पववणहाणी, विप्परिणामो तहेव य दुगुंछा।
लोइय-ठवणकुलेसुं, गहणे आहारमादीणं॥
आयरिय-बालवुड्ढा, खमग-गिलाणा महोदरा सेहा।
सव्वे वि परिच्चत्ता, जो ठवण-कुलाइं णिव्विसती॥
गच्छो महाणुभागे, सबाल-वुड्ढोऽणुकंपिओ तेणं।
उग्गमदोसा य जढा, जो ठवण-कुलाइं परिहरइ॥
(निभा १६२३, १६२४, १६२६)

लौकिक स्थापना (परिहार्य/अभोज्य) कुलों में आहार आदि ग्रहण करने से संघ का अपयश होता है, प्रवचन की हानि होती है (कोई प्रव्रजित नहीं होता), जो संघ के सम्मुख हैं, वे विमुख हो जाते हैं और भिक्षाग्राही को जुगुप्सित (अस्पृश्य) मानने लगते हैं।
लोकोत्तर स्थापनाकुलों में प्रवेश करने वाले मुनि द्वारा

आचार्य, बाल, वृद्ध, तपस्वी, ग्लान, महोदर (बहुभोजी) और शैक्ष—ये सब परित्यक्त (उपेक्षित) होते हैं।

गच्छ महानुभाग है—बाल, वृद्ध, ग्लान आदि सबका उपकारक है। जो स्थापनाकुलों में प्रवेश नहीं करता, वह गच्छ पर अनुकम्पा करता है तथा उद्गमदोषों से बच जाता है।

० भिक्षानयन के अनर्ह

अलसं घसिरं सुखिरं, खमगं कोह-माण-माय-लोहितलं ।
कोरुहल षडिबद्धं, वेयावच्चं न कारिज्जा ॥
ता अच्छइ जा फिडिओ, सइकालो अलस-सोविरे दोसा ।”
अप्पत्ते वि अलंभो, हाणी ओसक्कणा य अइभदे ।
अणहिंडंतो य चिरं, न लहइ जं किंचि वाऽऽणोइ ॥
गिण्हामि अप्पणो ता, पज्जत्तं तो गुरुण चिच्छामि ।”
परिताविज्जइ खमओ, अह गिण्हइ अप्पणो इयरहाणी ।
अविदिन्ने कोहिल्लो, रूसइ किं वा तुमं देसि ॥
ऊणाणुडुमदिन्ने, थद्धो न य गच्छए पुणो जं च ।
माई भद्दगभोई, पंतेण व अप्पणो छाए ॥
ओभासइ खीराई, दिज्जंते वा न वारई लुद्धो ।”
नडमाई पिच्छंतो, ता अच्छइ जाव फिट्टई वेला ।
सुत्तथे षडिबद्धो, ओसक्क-ऽहिसक्कमाईया ॥
(बृभा १५९२, १५९४-१६००)

आलसी, बहुभक्षी, स्वपनशील, क्षपक, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, कुतूहली और सूत्र-अर्थ में प्रतिबद्ध—इन दशविध शिष्यों को आचार्य वैयावृत्य में नियुक्त न करे—दोषों की संभावना से स्थापनाकुलों में न भेजे। वे दोष ये हैं—

० आलसी और निद्राशील भिक्षु तब तक बैठा रहता है, जब तक भिक्षा का समय अतिक्रान्त हो जाता है। वह अकाल में भिक्षा के लिए घूमता है, जिससे भिक्षा की उपलब्धि नहीं होती है। प्रायोग्य भिक्षा के अभाव में आचार्य के स्वास्थ्य की हानि होती है। अत्यन्त श्रद्धावान् व्यक्ति वैयावृत्य करने वाले को देखकर भिक्षाकाल से पहले ही भिक्षा निष्पादित अथवा स्थापित कर देता है।

० स्थापनाकुलों (वैयावृत्य) के लिए यदि बहुभक्षी नियुक्त है, तो वह पहले अपने प्रायोग्य पर्याप्त भिक्षा को ग्रहण करके फिर गुरु के लिए ग्रहण करता है।

० यदि क्षपक स्थापनाकुलों के लिए नियुक्त है और वह गुरु के लिए प्रायोग्य आहार ग्रहण करता है, स्वयं के लिए नहीं, तो स्वयं परितप्त होता है। अपने लिए ग्रहण करता है, गुरु के लिए नहीं, तो गुरु को हानि होती है।

० क्रोधी व्यक्ति नहीं देने पर क्रोध में आकर कहता है—ऐसा तुम क्या देते हो, जिससे तुम्हें गर्व है कि मैं ही देता हूँ। इस प्रकार के दुर्वचन से गृहस्थ को विपरिणत कर देता है।

० अभिमानी साधु को अल्प आहार दिया जाता है अथवा गृहस्थ उसको देखकर खड़ा नहीं होता है या सर्वथा नहीं देता है, तो अभिमानी पुनः उस घर में प्रवेश ही नहीं करता है।

० यदि वह मायावी है तो प्रायोग्य आहार उपाश्रय के बाहर खाकर प्रान्त आहार गुरु के पास ले जाता है। अथवा प्रान्त आहार से स्निग्ध-मधुर आहार को आच्छादित कर देता है।

० यदि लोभी व्यक्ति स्थापना कुल के लिए नियुक्त है तो वह दूध आदि मांग कर ले लेता है। अथवा गृहस्थ द्वारा अत्यन्त भावना से देने पर वह उसे रोकता नहीं है।

० कुतूहली मार्ग में नाटक आदि को देखता हुआ आहार के समय को अतिक्रान्त कर देता है।

० जो सूत्र और अर्थ में प्रतिबद्ध है, वह गुरु की वाचना के लोभ के कारण कालवेला से पहले या पीछे भिक्षा के लिए जाता है तो अवष्वक्क और अभिष्वक्क दोष उत्पन्न होते हैं।

४. कुलों को स्थापित करने की विधि

दाणे अभिगम सङ्गे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अचियत्ते, कुलाइं ठाविति गीयत्था ॥
कयउस्सग्गाऽऽमंतण, अपुच्छणे अकहिण्णयरोसा ।
ठवणकुलाण य ठवणं, पविसइ गीयत्थसंघाडो ॥
गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे ।
गाम-नगर-निगमेसुं, अइसेसी ठावए सङ्गी ॥
(बृभा १५८०, १५८२, १५८३)

गीतार्थ (क्षेत्रप्रत्युपेक्षक) दानश्रद्धावान्, श्रावक, सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी, मामाक (मेरे घर मत आओ) और अप्रीतिकर कुलों को स्थापित करते हैं—ये कुल गीतार्थसंघाटक के प्रवेशयोग्य हैं, ये कुल सर्वथा प्रवेशयोग्य नहीं हैं—इस रूप में व्यवस्थापित करते हैं।

कायोत्सर्ग (आवश्यक) सम्पन्न करने के पश्चात् गीतार्थ

साधु सब साधुओं को आमन्त्रित करता है—आर्यों! आओ, अब आचार्य स्थापनाकुलों का प्रवर्तन करेंगे। सब साधु गुरु के पास आते हैं, तब आचार्य क्षेत्र-प्रत्युपेक्षकों से पूछते हैं—बोलो, हमें किन कुलों में प्रवेश करना है और किन कुलों में नहीं? यदि आचार्य इन कुलों के बारे में नहीं पूछते हैं अथवा पूछने पर प्रत्युपेक्षक उत्तर नहीं देते हैं तो दोनों ही दोषी हैं।

आचार्य क्षेत्र-प्रत्युपेक्षक द्वारा बताए गए अभिगृहीत-मिथ्यात्वी, मामाक और अप्रीतिकर कुलों में जाने का सर्वथा निषेध करते हैं। दानश्रद्धा आदि कुलों की स्थापना करते हैं—उन कुलों में गीतार्थ संघाटक ही प्रवेश कर सकता है।

वर्षावास और ऋतुबद्ध काल में ग्राम-नगर-निगम में स्थित साधुओं के गच्छ में अतिशायी दानश्रद्धावानु कुलों की स्थापना की जाती है—यह संघीय आचार व्यवस्था है।

५. स्थापनाकुलों में गीतार्थ ही क्यों?

किं कारण चमढणा, दव्वखओ उग्गमो वि य न सुञ्जे।
गच्छम्मि नियय कज्जं, आयरिय-गिलाण-पाहुणाए॥
साहंति य पियधम्मा, एसणदोसे अभिगहविसेसे।
एवं तु विहिग्गहणे, दव्वं वड्ढंति गीयत्था॥
(बृभा १५८४, १६०२)

शिष्य ने पूछा—गुरुदेव! स्थापनाकुलों में एक गीतार्थ संघाटक ही क्यों जा सकता है? आचार्य ने कहा—

- ० अन्य संघाटकों के प्रवेश से वे कुल उद्विग्न हो सकते हैं।
- ० स्निग्ध और मधुर पदार्थों की कमी हो सकती है।
- ० उद्गम आदि दोषों की शुद्धि नहीं रह सकती।
- ० संघ में आचार्य, ग्लान और अतिथि के प्रायोग्य द्रव्य की निश्चित अपेक्षा होती है, वह पूर्ण नहीं हो सकती।

प्रियधर्मा गीतार्थ साधु गृहस्थ को म्रक्षित, निक्षिप्त आदि एषणा के दोषों का बोध देता है तथा जिनकल्पिक और स्थविर-कल्पिक के अभिग्रहों का अवबोध कराता है। इस विधि से आहार ग्रहण करने से गृहस्थ की श्रद्धा बढ़ती है और गीतार्थ के द्रव्य की वृद्धि होती है।

६. आहार-ग्रहण की सामाचारी

संचइयमसंचइयं, नाऊण असंचयं तु गिण्हंति।
संचइयं पुण कज्जे, निब्बंधे चेव संतरियं॥

दव्वप्पमाण गणणा, खारिय फोडिय तहेव अद्धा य।
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पन्नरस॥
(बृभा १६०९, १६११)

आहार-प्रायोग्य द्रव्य के दो प्रकार हैं—

संचयिक—घृत, गुड़ आदि और असंचयिक—दुग्ध, दधि, आदि।

गीतार्थ मुनि स्थापनाकुलों में असञ्चयिक द्रव्य पर्याप्त जानकर ग्रहण करते हैं। किन्तु सञ्चयिक द्रव्य ग्लान आदि प्रयोजनों से ग्रहण करते हैं। गृहस्थ का अत्यन्त आग्रह होने पर अग्लान के लिए सान्तरित ग्रहण करते हैं।

अमुक स्थापनाकुल की रसवती में शालि, मूंग आदि कितने प्रमाण में पकाये जाते हैं? गिनेने योग्य घृतपल आदि का, लवणसंस्कृत व्यंजन और मिर्च, जीरक आदि युक्त स्फोटित द्रव्यों का प्रमाण कितना है? आहार का समय कौन-सा है?—इन सबको जानकर एक संविग्न संघाटक उस कुल में प्रवेश करता है। अनेक संघाटक प्रविष्ट होने से आधाकर्म आदि पन्द्रह उद्गमदोषों की संभावना रहती है (अध्यवपूरक का मिश्रजात में अन्तर्भाव होने से उद्गम दोष पन्द्रह हैं)।

७. अनेक गच्छों के साथ सामाचारी

एणो व होस्स गच्छो, दोन्नि व तिन्नि व ठवणा असंविग्गे।
संविग्गमणुन्नाए, अइंति अहवा कुले विरिंचंति।
अन्नाउंछं व सहू, एमेव य संजईवग्गे॥
एवं तु अन्नसंभोइआण संभोइआण ते चेव।
जाणित्ता निब्बंधं, वत्थव्वेणं स उ पमाणं॥
(बृभा १६१५-१६१७)

विवक्षित क्षेत्र में एक, दो या तीन गच्छ हो सकते हैं। जहाँ अनेक गच्छ हों, वहाँ श्राद्धकुलों में यदि असंविग्न जाते हैं तो उन कुलों की स्थापना कर मुनि उनमें प्रवेश न करें।

उस क्षेत्र में पूर्वस्थित साधु असांभोजिक संविग्न हों तो आगंतुक संविग्न साधु उनकी अनुज्ञा प्राप्त होने पर स्थापनाकुलों में प्रवेश करें। वास्तव्य मुनि अज्ञात उंछ की गवेषणा करें। यदि वे असमर्थ हों, तो उन कुलों का विभाग करें। यदि आगंतुक मुनि सहिष्णु—समर्थ शरीर वाले हों तो अज्ञात उंछ की गवेषणा करें। यही विधि साध्वीवर्ग के लिए है।

यदि वास्तव्य साधु साम्भोजिक हैं, तब वे स्वयं ही आगंतुकों के लिए स्थापनाकुलों से आहार-पानी लाकर दें। गृहस्थ का प्राधूर्णक साधु के लिए आग्रह हो, तब वास्तव्य साधु आगंतुक संघाटक को साथ लेकर जाए। आगंतुक साधु वहां यह न कहे कि अहो! कितना प्रचुर द्रव्य दिया जाता है? कितना द्रव्य ग्राह्य या कल्पनीय है—इसमें वास्तव्य साधु ही प्रमाण है।

स्वप्न—अर्द्ध सुप्तावस्था में जागृत मन की प्रवृत्ति विशेष। पूर्व दृष्ट, श्रुत अथवा अनुभूत वस्तु या विचार की सुप्त-जागृत अवस्था में दृश्यरूप में अभिव्यक्ति।

१. स्वप्न उत्पाद के प्रकार

२. स्वप्न : मन का विषय

* स्वप्नदर्शन : चित्तसमाधि-हेतु द्र चित्तसमाधिस्थान

* प्रश्नप्रश्न (स्वप्न में विद्या का अवतरण) द्र मंत्रविद्या

३. स्वप्नभावना अध्ययन का प्रतिपाद्य

४. किसकी माता ? कितने स्वप्न ?

१. स्वप्न उत्पाद के प्रकार

आहातच्च-पदाणे, चिंता विवरीय तह य अव्वत्तो।
पंचविहो खलु सुमिणो, परूवणा तस्सिमा होइ॥
पाएण अहातच्चं, सुमिणं पासंति संवुडा समणा।
इयरे गिही त भतिता, जं दिट्ठं तं तहातच्चं॥
पयतो पुण संकलिता, चिंता तण्हाइ तस्स दगपाणं।
मेज्झस्स दंसणं खलु, अमेज्झ मेज्झं य विवरीतं॥
जं ण सरति पडिबुद्धो, जं ण वि भावेति पस्समाणो वि।
एसो खलु अव्वत्तो, पंचसु विसएसु णायव्वो॥
(निभा ४३००-४३०३)

स्वप्न उत्पाद के पांच प्रकार हैं—

१. यथातत्त्व—जो स्वप्न जिस रूप में देखा गया है, उसी रूप में घटित होता है, वह यथातत्त्व स्वप्न है। ऐसा स्वप्न प्रायः संवृत अनगार ही देखते हैं। पार्श्वस्थ और गृहस्थ यथातत्त्व स्वप्न देख भी सकते हैं, नहीं भी देखते।

२. प्रतान—इसमें श्रृंखलावत् स्वप्न-परम्परा चलती है।

३. चिंता—जागृत अवस्था में जो चिंतन किया, उसे स्वप्न में

देखना। यथा—प्यास में पानी पीने का चिंतन किया, स्वप्न में पानी पीते हुए देखना।

४. विपरीत—इसमें दृष्ट स्वप्न का विपरीत फल मिलता है। शुचि-दर्शन का फलित अशुचि पदार्थ की प्राप्ति और अशुचिदर्शन का फलित होता है—शुचि पदार्थ की प्राप्ति।

५. अव्यक्त—जागने के पश्चात् जो स्वप्न याद नहीं रहता है अथवा याद रहते हुए भी जिसका अर्थ ज्ञात नहीं होता है, वह अव्यक्त स्वप्न है। यह पांचों इन्द्रियविषयों में संभव है। अथवा इन्द्रियविषय प्रायः सब स्वप्नों के विषय बनते हैं।

(स्वप्न दर्शन का अर्थ है—स्वप्नस्य—स्वापक्रियानुगतार्थ-विकल्पस्य दर्शन—अनुभवनम्—शयनक्रियाअनुगत अर्थविकल्प का अनुभव करना। इसके पांच प्रकार हैं—

१. यथातत्त्व—इसके दो भेद हैं—१. दृष्टार्थअविसंवादी—किसी ने स्वप्न में देखा कि किसी ने मुझे हाथ में फल दिया है। जागृत अवस्था में उसी रूप में हाथ में फल देखता है। २. फल-अविसंवादी—कोई स्वप्न में अपने को वृषभ, हाथी आदि पर आरूढ़ देखता है। वह जागने पर कालांतर में सम्पदा प्राप्त करता है। विशिष्ट संवृतत्वयुक्त सर्वव्रती अनगार चैतसिक निर्मलता के कारण यथार्थ स्वप्न देखता है और देवता के अनुग्रह के कारण भी सत्य स्वप्नदर्शन होता है। संवृतासंवृत और असंवृत व्यक्ति का स्वप्नदर्शन यथार्थ भी हो सकता है, अन्यथा भी हो सकता है।

२. प्रतान—विस्तृत रूप में होने वाला स्वप्नदर्शन। यह यथार्थ और अयथार्थ—दोनों प्रकार का होता है।

३. चिन्तास्वप्न—जागृत अवस्था में किये गए अर्थचिन्तन का संदर्शनात्मक स्वप्न।

४. तद्विपरीत—इसमें जैसी वस्तु देखी जाती है, जागने पर उसके विपरीत अर्थ की प्राप्ति होती है। जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न में स्वयं को अशुचि से लिप्त देखता है, जागने पर शुचि पदार्थ प्राप्त करता है। अन्य अभिमत के अनुसार तद्विपरीत स्वप्न वह है, जिसमें स्वरूप से मृत्तिकास्थल आरूढ़ व्यक्ति स्वप्न में अपने आपको अश्वारूढ़ देखता है।

५. अव्यक्तदर्शन—जिसमें स्वप्नार्थ का अस्पष्ट अनुभव हो।

सुप्त व्यक्ति और जागृत व्यक्ति स्वप्न नहीं देखता, सुप्तजागृत (अर्धजागृत) व्यक्ति स्वप्न देखता है। यह सुप्ताता

द्रव्यनिद्रा है, दर्शनावरण कर्म का उदय है। स्वप्नदर्शन भावनिद्रा है, मोहकर्म का उदय है।—भ १६/७६, ७७, ८१ वृ)

२. स्वप्न : मन का विषय

नोइंदियस्स विसओ, सुमिणं जं सुत्तजागरो पासे।
सुहदुक्खपुव्वरूवं, अरिडुमिव सो णरगणाणं॥
अक्खी बाहु फुरणादि काइओ वाइओ तु सहसुत्तं।
अह सुमिणदंसणं पुण, माणसिओ होइ दुप्पाओ॥
(निभा ४२९८, ४२९९)

स्वप्न मन/मतिज्ञान का विषय है। वह प्रायः सुप्तजागृत अवस्था में देखा जाता है और आगामी सुख-दुःख का निमित्त होता है। जैसे मृत्यु के समय मनुष्य के पहले से ही अनिष्टसूचक उत्पात उत्पन्न होता है, जो कायिक, वाचिक और मानसिक रूप से सुख-दुःख का निमित्त बनता है।

- ० कायिक—अक्षिस्फुरण, बाहुस्फुरण आदि।
- ० वाचिक—अविमृश्यकारी वचन।
- ० मानसिक—दुःस्वप्न दर्शन। (स्वप्नदर्शन का अचक्षुदर्शन में अन्तर्भाव होता है।—स्था ८/३८ की वृ)

३. स्वप्नभावना अध्ययन का प्रतिपाद्य

....चोइसवासुद्धिसती, महासुमिणभावणज्झयणं॥
एत्थं तिसइ सुमिणा, बायाला चेव होंति महसुमिणा।
बावत्तरि सव्वसुमिणा, वणिणज्जंते फलं तेसिं॥
(व्यभा ४६६५, ४६६६)

महास्वप्नभावना अध्ययन में तीस सामान्य स्वप्न और बयालीस महास्वप्न—कुल बहत्तर स्वप्न तथा उनका फल प्रतिपादित है। चौदह वर्ष के संयमपर्याय वाला मुनि इस आगम ग्रंथ का अध्ययन कर सकता है।

(विशिष्ट फलसूचन की अपेक्षा से बयालीस स्वप्न हैं, अन्यथा स्वप्न संख्यातीत हैं। तीस महास्वप्न महत्तम फल के संसूचक हैं। तीर्थंकर की माता चौदह महास्वप्न यावत् मांडलिकमाता एक महास्वप्न देखती है।—भ १६/८३-९० वृ)

* स्वप्ननिमित्त, स्वप्नफल द्र श्रीआको १ अष्टांगनिमित्त

४. किसकी माता ? कितने स्वप्न ?

....सुमिणसत्थे बायालीसं सुमिणा, तीसं महासुमिणा —

बावत्तरिं सव्वसुमिणा....। अरहंतमायरो वा चक्कवट्टिमायरो
वा अरहंतंसि वा चक्कहरंसि वा गब्भं वक्कममाणंसि....चोइस
महासुमिणे पासित्ताणं पडिबुज्जंति, तं जहा— गय वसह।।
वासुदेवमायरो....सत्तमहासुमिणे....बलदेवमायरो....चत्तरि
महासुमिणे....मंडलियमायरो....एगं महासुमिणं पासित्ताणं
पडिबुज्जंति।। (दशा ८ परि सू ४७)

स्वप्नशास्त्र में बहत्तर स्वप्न बताये गए हैं, जिनमें बयालीस स्वप्न और तीस महास्वप्न हैं। अर्हत् और चक्रवर्ती जब गर्भ में आते हैं, तब उनकी माताएं तीस महास्वप्नों में से चौदह महास्वप्न देखकर जागृत होती हैं, जैसे गज, वृषभ आदि। वासुदेव की माता सात, बलदेव की माता चार और मांडलिक की माता एक महास्वप्न देखकर जागृत होती है।

* चौदह महास्वप्न द्र तीर्थंकर

* महावीर के दस महास्वप्न द्र श्रीआको १ तीर्थंकर

(० चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न—चन्द्रगुप्त राजा ने रात्रि के तीसरे प्रहर में सुप्तजागृत अवस्था में सोलह स्वप्न देखे और उनका अर्थ श्रुतकेवली भद्रबाहु से पूछा, जो इस प्रकार है—

१. राजा ने प्रथम स्वप्न में कल्पवृक्ष की भग्न शाखा को देखा— इस स्वप्न का अर्थ बताते हुए आचार्य ने कहा—अब कोई राजा दीक्षित नहीं होगा।

२. अकाल में सूर्य अस्त होते हुए देखा।
अर्थ—अब भरतक्षेत्र में किसी को केवलज्ञान प्राप्त नहीं होगा।

३. सच्छिद्र चन्द्रमा को देखा। अर्थ—एक धर्म अनेक मार्गों में विभक्त होगा। नाना प्रकार की सामाचारी प्रवर्तित होगी।

४. अट्टहास—कुतूहल करते हुए, नाचते हुए भूत-प्रेतों को देखा।
अर्थ—लोग साधु-गुणों से विहीन साधुओं को गुरु मानेंगे।

५. बारह फण वाला काला सर्प देखा।
अर्थ—बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष होगा। अनेक कठिनाइयों के कारण श्रुतपरावर्तन के अभाव में बहुत से श्रुतग्रंथ विच्छिन्न हो जाएंगे।

द्रव्यलोलुप साधु हिंसाधर्म का प्ररूपण और प्रतिमाओं की स्थापना करवाएंगे। जो इसका निषेध और विधिमार्ग का प्ररूपण करेगा, उसकी अवहेलना होगी।

६. आते हुए देवविमान को लौटते हुए देखा। अर्थ—जंघाचारण आदि लब्धिधारी साधु भरत-ऐरवत क्षेत्र में नहीं आएंगे।

७. अकुरड़ी पर कमल उगा हुआ देखा। अर्थ—ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में जो धर्म फैला हुआ है, वह सिमट कर प्रायः वैश्यों के हाथ में चला जाएगा। बहुत थोड़े लोग श्रमणसंघ की सुरक्षा करने वाले तथा बहुत लोग इसके प्रत्यनीक, अवर्णवादी और अपयशकारक होंगे, व्रत-आचार की परम्परा से बाह्य होंगे।

८. राजा ने जुगनू को प्रकाश करते हुए देखा।

अर्थ—श्रमणगण आर्यमार्ग को छोड़, केवल क्रिया का फटाटोप दिखा वैश्यवर्ग में उद्योत करेगा, निर्ग्रन्थों का सत्कार कम हो जाएगा और बहुत लोग मिथ्यात्वरागी हो जाएंगे।

९. शुष्क सरोवर को देखा, केवल दक्षिण दिशा में थोड़ा जल भरा है और वह भी स्वच्छ नहीं है।

अर्थ—जिस-जिस भूमि में तीर्थकरों के पांच कल्याण (च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण) हुए थे, वहां-वहां धर्म की हानि होगी। दक्षिण-पश्चिम में थोड़ा धर्म रहेगा और वह भी अनेक मतवादों और पारस्परिक संघर्षों से पूर्ण होगा।

१०. कुत्ते को स्वर्णथाल में खीर खाते हुए देखा।

अर्थ—उत्तम कुलों की लक्ष्मी नीच कुलों में चली जाएगी। उत्तम व्यक्ति अपने कुलक्रममार्ग को छोड़ देंगे।

११. बन्दर को हाथी पर आरूढ़ देखा।

अर्थ—आचारहीन व्यक्तियों को उच्च पद मिलेंगे।

१२. सागर को मर्यादा तोड़ते हुए देखा।

अर्थ—उत्तम लोग मर्यादाहीन होकर कार्य करेंगे।

१३. एक विशाल रथ में बछड़े जुते हुए देखे।

अर्थ—बालक वैराग्यपरायण होंगे। वृद्ध चारित्र-ग्रहण नहीं करेंगे। जो बाल दीक्षित होंगे, वे लज्जावान् और गुरुकुलवास को नहीं छोड़ने वाले होंगे।

१४. महामूल्यवान् रत्न को तेजहीन देखा। अर्थ—भरत-ऐरवत क्षेत्र के श्रमण चारित्र-तेज से विहीन होंगे। वे कलहकारी और अविनीत होंगे, शुद्धमार्गप्ररूपकों से मात्सर्य रखेंगे।

१५. राजकुमार को वृषभारूढ़ देखा।

अर्थ—क्षत्रिय राज्यभ्रष्ट होंगे, म्लेच्छ राज्य करेंगे।

१६. दो काले हाथियों को युद्ध करते देखा।

अर्थ—पुत्र पिता की और शिष्य गुरुजनों की सेवा नहीं करेंगे। समय पर वर्षा नहीं होगी।—व्यवहारचूलिका

० स्वप्नदर्शन और मोक्ष—भगवती में चौदह ऐसे स्वप्नों का उल्लेख है, जिन्हें देखने वाला उसी भव में अथवा दूसरे भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है। यथा—

१. स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में एक महान् अश्वपंक्ति, गजपंक्ति, नरपंक्ति, किन्नरपंक्ति, किंपुरुषपंक्ति, महोरगपंक्ति, गंधर्वपंक्ति अथवा वृषभपंक्ति को देखता हुआ देखता है, उस पर आरोहण करता हुआ आरोहण करता है, अपने आपको आरूढ़ मानता/जानता है, तत्क्षण ही जाग जाता है, वह उसी जन्म में सिद्ध होता है यावत् सब दुःखों का अंत करता है।

२. स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में पूर्व से पश्चिम तक आयत, समुद्र के दोनों छोरों को छूती हुई एक बड़ी रस्सी को देखता हुआ देखता है, उसे समेटता हुआ समेटता है, मैंने समेट ली है—ऐसा मानता है, तत्क्षण ही जाग जाता है, वह उसी भव में मुक्त होता है।

३. स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में पूर्व से पश्चिम तक प्रसृत, दोनों ओर से लोकांत से स्पृष्ट एक दीर्घ रज्जु को देखता है, उसे छिन्न करता है, अपने द्वारा छिन्न जानता है, तत्काल ही जागता है, वह उसी भव में मुक्त हो जाता है।

४. स्त्री या पुरुष स्वप्न में कृष्ण, नील, रक्त, पीत अथवा श्वेत वर्ण वाले सूत्र को देखता है, विमुग्ध होता है, तत्क्षण जाग जाता है, वह उसी भव में मुक्त हो जाता है।

५. स्वप्न में लोहे, तांबे, रांगे या शीशे की महान् राशि पर स्वयं को आरूढ़ देखने वाला दूसरे भव में मुक्त हो जाता है।

६. स्वप्न में रजत, स्वर्ण, रत्न और वज्र की राशि पर अपने को आरूढ़ देखने वाला उसी भव में मुक्त हो जाता है।

७. जो स्वप्न में एक महान् तृणराशि, काष्ठ, पत्र, छाल, तुष, भूसे, गोबर अथवा कचवर के विपुल ढेर को बिखेर देता है, वह उसी भव में मुक्त हो जाता है।

८. स्वप्न में एक महान् शरस्तंभ, वीरणस्तंभ, वंशीमूलस्तंभ या वल्लीमूलस्तंभ को देखकर उसे उन्मूलित कर देने वाला उसी भव में मुक्त हो जाता है।

९. स्वप्न में क्षीर, दधि, घृत या मधु के महान् कुंभ को देखकर उसे ऊपर उठाने वाला उसी भव में मुक्त होता है।

१०. सुरा, सौवीर, तैल या वसा के बड़े घड़े को देखकर उसका भेदन करने वाला दूसरे भव में मुक्त हो जाता है।

११. स्वप्न में एक कुसुमित महापद्मसरोवर को देखकर उसमें अवगाहन करने वाला उसी भव में मुक्त हो जाता है।
१२. स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न (के अवसान) में हजारों ऊर्मियों से तरंगित एक महासागर को देखता है, उसे तैरता है, मैं तर गया हूँ—ऐसा अपने को मानता है, तत्काल ही जाग जाता है, वह उसी भव में मोक्ष को प्राप्त होता है।
१३. स्त्री या पुरुष स्वप्न में सर्वरत्नमय एक महाभवन को देखता है, उसमें अनुप्रविष्ट होता है, मैं भवन में प्रविष्ट हो गया हूँ—ऐसा अपने को जानता है, तत्क्षण ही जाग जाता है, वह उसी भवग्रहण से सिद्ध होता है।
१४. स्वप्न में सर्वरत्नमय एक महाविमान को देखता है, उसमें आरोहण करता है, मैं विमान में आरूढ हूँ—ऐसा अपने को जानता है और उसी क्षण प्रतिबुद्ध हो जाता है, वह उसी भव में सिद्ध हो जाता है।—भ १६/९२-१०५ वृ)

स्वाध्याय—श्रुतग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन।

१. स्वाध्याय के प्रकार
२. अस्वाध्यायिक के प्रकार
३. अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय वर्जन
४. अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय से हानि
५. अस्वाध्यायिक-परिज्ञान हेतु कालप्रेक्षा
६. अस्वाध्यायिक में स्वाध्यायकरण के अपवाद
७. कालिक-उत्कालिक श्रुतस्वाध्याय-काल
८. व्यतिकृष्ट काल (उद्घाटा पौरुषी) : स्वाध्याय-विकल्प
९. अकाल में श्रुतस्वाध्याय : पृच्छा परिमाण
* उत्सारकल्प में अकाल वर्जन नहीं द्र उत्सारकल्प
१०. संध्याकाल में स्वाध्याय-निषेध
११. संध्याओं में स्वाध्याय-निषेध क्यों ?
१२. अकाल में आवश्यक का निषेध क्यों नहीं ?
१३. अकाल स्वाध्याय से ज्ञानाचार की विराधना
१४. पर्वदिनों में स्वाध्याय का निषेध क्यों ?
१५. स्वाध्यायभूमि : नैषेधिकी, निषेधा, अभिशय्या
१६. नैषेधिकी और अभिशय्या में जाने का हेतु
१७. अभिशय्या का नायक कौन ?
१८. अभिशय्या में गमनागमन-विधि

१९. स्वाध्यायभूमि : विहारभूमि
० विहारभूमि में एकाकी गमननिषेध, अपवाद
० साध्वी की विहारभूमि संबंधी सामाचारी
२०. स्वाध्यायभूमि : आगाढ-अनागाढ
० आगाढयोग-अनागाढयोग
* उपधान : आगाढ-अनागाढश्रुत द्र आचार
२१. योगवाही : भिक्षाचर्या से पूर्व कायोत्सर्ग
२२. विकृति के लिए योगनिक्षेप नहीं
२३. योगवहन में विकृति-वर्जन के विकल्प
२४. उत्थानश्रुत आदि ग्रन्थों का अतिशय
२५. विशिष्ट ग्रंथ-परावर्तन : देवता की उपस्थिति
२६. स्वाध्याय आदि से अतिशय निर्जरा
२७. प्रकीर्णग्रन्थों के स्वाध्याय से विपुल निर्जरा
* श्रुतस्वाध्याय की निष्पत्ति द्र श्रुतज्ञान
* वाचना या स्वाध्याय से लाभ द्र वाचना

१. स्वाध्याय के प्रकार

.....वायण-पुच्छण-परियट्टणाणुपेह-धम्माणु-ओगचिंताए।..... (आचूला १/४२)

स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं—वाचना, प्रच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मानुयोगचिन्ता। (द्र श्रीआको १ स्वाध्याय)

२. अस्वाध्यायिक के प्रकार

असज्झायं तु दुविधं, आतसमुत्थं च परसमुत्थं च।
जं तत्थ परसमुत्थं, तं पंचविहं तु नायव्वं॥
संजमघाउप्पाते, सादिव्वे वुग्गहे य सरीरे।.... (व्यभा ३१०१, ३१०२)

अस्वाध्यायिक के दो प्रकार हैं—आत्मसमुत्थ (शरीर सम्बन्धी) और परसमुत्थ। परसमुत्थ अस्वाध्यायिक के पांच प्रकार हैं—संयमोपघाती, औत्पातिक, देवसंबन्धी, व्युद्ग्रहसंबन्धी तथा औदारिक शरीर संबन्धी।

* अस्वाध्यायिक के भेदों का विवरण द्र श्रीआको १ अस्वाध्याय

३. अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय वर्जन

नो कप्पइ निग्गंधाण वा निग्गंधीण वा असज्झाए सज्झायं करेत्तए॥ नो कप्पइ निग्गंधाण वा निग्गंधीण वा

अप्यणो असञ्जाइए सञ्जायं करेत्तए । कप्यइ ण्हं अण्णम-
ण्णस्स वायणं दलइत्तए ॥ (व्य ७/१७, १९)

साधु अथवा साध्वी अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय नहीं कर सकते । वे अपने शरीरसंबंधी अस्वाध्यायिक होने पर स्वाध्याय नहीं कर सकते, परस्पर वाचना दे सकते हैं ।

४. अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय से हानि

उम्मायं च लभेज्जा, रोगायकं च पाउणे दीहं ।
तित्थकरभासियाओ, खिप्पं धम्माओ भंसेज्जा ॥
इह लोए फलमेयं, परलोए फलं न देति विज्जाओ ।
आसायणा सुयस्स य, कुव्वति दीहं तु संसारं ॥
(निभा ६१७७, ६१७८)

अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करने वाला उन्मत्त हो सकता है, दीर्घकालिक रोग और आतंक से ग्रस्त हो सकता है, अर्हत्-भाषित धर्म से शीघ्र भ्रष्ट हो सकता है—यह इहलौकिक दुष्परिणाम है । ज्ञानाचार की विराधना करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म का बंध करता है, जिसके उदय से परलोक में विद्याएं साधने पर भी सिद्ध नहीं होती हैं । श्रुत की आशातना संसार को बढ़ाती है । (अस्वाध्याय में स्वाध्याय से श्रुतज्ञान की अभक्ति, लोकविरुद्ध व्यवहार आदि दोष उत्पन्न होते हैं ।—श्रीआको १ अस्वाध्याय)

५. अस्वाध्यायिक-परिज्ञान हेतु कालप्रेक्षा

एसो उ असञ्जाओ, तव्वञ्जिय झाओ तत्थिमा जतणा ।
सञ्जाइए वि कालं, कुणति अपेहित्तु चउलहुगा ॥
पंचविधमसञ्जायस्स, जाणणट्टाय पेहए कालं ।.....
(व्यभा ३१५३, ३१५५)

अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय वर्जित है । स्वाध्यायिक में भी यतना—कालप्रतिलेखना किए बिना स्वाध्याय करने वाला चतुर्लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है । पंचविध अस्वाध्यायिक के परिज्ञान के लिए कालप्रेक्षा अनिवार्य है ।

* कालप्रतिलेखना विधि द्र श्रीआको १ कालविज्ञान

६. अस्वाध्यायिक में स्वाध्यायकरण के अपवाद

बित्तियागाढे सागारियादि कालगत असति वुच्छेदे ।
एतेहिं कारणेहिं, जतणाए कप्यती काउं ॥

यथा स्कन्दके चमरे च प्रत्यासन्ने अनुद्दिष्टमपि स्कन्द-
कोद्देशं च रात्रौ रात्रौ त्रीन् वारान् दिवसान्स्वाध्यायिकेऽपि
तदनुग्रहाय कर्षयन्ति । तथा कारणवशेन प्रतिबद्धायां शय्यायां
स्थितस्तत्र सागारिकस्य शय्यातरस्य प्रतिचारणाशब्दं श्रुत्वा
मा शृणुयात् एनमनिष्टं शब्दमिति कृत्वा यत् कालिक-
मुत्कालिकं वा परिजितं केवलं स तदस्वाध्यायिकेऽपि पठति ।
आदिग्रहणेन कदाचित् यथाच्छन्दस्योपाश्रये कारणेन स्थिता-
स्ततो यथामतिविकल्पितां तस्य सामाचारिं मा शृण्वामिति
तत्प्रतिघातार्थमस्वाध्यायिकेऽपि स्वाध्यायं कुर्वन्ति इति
परिग्रहः । तथा कालगते जागरणनिमित्तं मेघनादादिक-
मध्ययनमस्वाध्यायिकेऽपि परावर्त्यते ।.....अधुना गृहीतं
किमप्यध्ययनं यच्च यस्य समीपे गृहीतं स मरणमुपा-
गतः अन्यत्र च तन्न विद्यते ततो माभूत्तद्व्यवच्छेद इत्य-
स्वाध्यायिकेऽपि तत्परावर्त्यते । (व्यभा ३२२१ वृ)

आगाढयोग-वहनकाल में अस्वाध्यायिक में भी यतनापूर्वक
स्वाध्याय किया जा सकता है । यथा—

० स्कन्दक और चमर के प्रत्यासन्न होने पर उनके अनुग्रह के लिए
अनुद्दिष्ट स्कन्दक-उद्देशक का स्वाध्याय रात्रि में तीन बार तथा
दिन में अस्वाध्यायिक में भी किया जा सकता है ।

० शय्यातर से प्रतिबद्ध वसति में उसके प्रतिचारणा संबंधी शब्दश्रवण
से बचने के लिए परिचित कालिक या उत्कालिक श्रुत का
अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय किया जा सकता है ।

० कारणवश यथाच्छन्द श्रमण के उपाश्रय में स्थित मुनि उसकी
स्वच्छंद विकल्पित सामाचारी के श्रवण के प्रतिघात के लिए
अस्वाध्याय में स्वाध्याय कर सकता है ।

० कोई मुनि कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो रात्रिजागरण के निमित्त
मेघनाद आदि अध्ययनों का अस्वाध्यायिक में परावर्तन किया जा
सकता है ।

० तत्काल-गृहीत अध्ययन का प्रदाता यदि कालगत हो जाए और
वह अध्ययन दुर्लभ हो तो उसकी अव्यवच्छिति के लिए
अस्वाध्यायिक में भी उसका परावर्तन किया जा सकता है ।

७. कालिक-उत्कालिक श्रुतस्वाध्याय-काल

जे भिक्खू चाउकालपोरिसिं सञ्जायं उवात्तिणावेति,
उवात्तिणावेतं वा सात्तिज्जति ॥ (नि १९/१३)

पुव्वगहितं च नासति, अपुव्वगहणं कओ सि विकहाहिं ।
दिवस-निसि-आदि-चरिमासु चतुसु सेसासु भइयव्वं ॥

दिवसस्स पढमचरिमासु णिसीए य पढमचरिमासु य-
एयासु चउसु वि कालियसुयस्स गहणं गुणणं च करेज्ज ।
सेसासु ति दिवसस्स वितियाए उक्कालियसुयस्स गहणं करेति
अत्थं वा सुणेति ।.....ततियाए वा भिक्खं हिंडइ, अह ण
हिंडति तो उक्कालियं पढति, पुव्वगहियमुक्कालियं वा
गुणेति, अत्थं वा सुणेइ । णिसिस्स विइयाए एसा चेव
भयणा सुवइ वा । णिसिस्स ततियाए णिहाविमोक्खं करेइ,
उक्कालियं गेणहति गुणेति वा । (निभा ६०७९ चू)

जो भिक्षु चार काल की स्वाध्यायपौरुषी नहीं करता, वह
चतुर्लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

जो विकथाओं में प्रमत्त रहता है, वह गुणन-स्मरण के
अभाव में पूर्व गृहीत श्रुत को नष्ट कर देता है तथा अपूर्वश्रुत का
ग्रहण नहीं कर पाता है ।

कालिकश्रुत के ग्रहण-गुणन के चार काल हैं— दिन का
प्रथम व अंतिम प्रहर तथा रात्रि का प्रथम व अंतिम प्रहर ।

मुनि दिन के दूसरे प्रहर में उत्कालिकश्रुत का ग्रहण
अथवा अर्थश्रवण करता है । तीसरे प्रहर में भिक्षाटन करता है,
अन्यथा उत्कालिकश्रुत पढ़ता है या पूर्वगृहीत उत्कालिकश्रुत का
गुणन/स्मरण/परावर्तन करता है या अर्थ सुनता है ।

दिन के दूसरे प्रहर की तरह रात्रि के दूसरे प्रहर में भी
उत्कालिक श्रुत का ग्रहण-श्रवण करता है अथवा शयन करता
है । रात्रि के तीसरे प्रहर में निद्राविमोक्ष—शयन करता है अथवा
उत्कालिकश्रुत का ग्रहण-गुणन करता है ।

अनुप्रेक्षा सर्वत्र अविरोद्ध है—सर्वकाल में करणीय है ।

८. व्यतिकृष्टकाल (उद्घाटा पौरुषी) : स्वाध्याय के विकल्प
नो कप्पइ निग्गंथाण वा.....विइगिट्टे काले सज्झायं
करेत्तए ॥ कप्पइ निग्गंथीण निग्गंथनिस्साए विइगिट्टे काले
सज्झायं करेत्तए ॥ (व्य ७/१४, १६)

साधु अथवा साध्वी व्यतिकृष्ट काल (उद्घाटा पौरुषी) में
स्वाध्याय नहीं कर सकते । साध्वियां निर्ग्रन्थ की निश्रा में व्यतिकृष्ट
काल में स्वाध्याय कर सकती हैं ।

(जिन आगमों का स्वाध्याय जिस काल में निषिद्ध है, वह
काल उन आगमों के लिए व्यतिकृष्ट काल है । दिन और रात की
दूसरी तथा तीसरी पौरुषी में कालिकश्रुत का स्वाध्याय निषिद्ध है ।

निर्ग्रन्थ की निश्रा का आपवादिक विधान इसलिए है कि
साधु-साध्वियों की परस्पर वाचना या स्वाध्याय के लिए दिन का
दूसरा-तीसरा प्रहर उचित है ।)

९. अकाल में श्रुतस्वाध्याय : पृच्छा परिमाण

जे भिक्खू कालियसुयस्स परं तिण्हं पुच्छाणं
पुच्छति..... ॥.....दिट्ठिवायस्स परं सत्तण्हं पुच्छाणं
पुच्छति..... ॥ (नि १९/९, १०)

पुच्छाणं परिमाणं, जावतियं पुच्छति अपुणरुत्तं ।
पुच्छेज्जाही भिक्खू, पुच्छ णिसज्जाए चउभंगो ॥
अहवा तिण्णि सिलोगा, ते तिसु णव कालिएतरे तिगा सत्त ।
जत्थ य पगयसमत्ती, जावतियं वाचिओ गिण्हे ॥
नयवातसुहुमयाए, गणिते भंगसुहुमे णिमित्ते य ।
गंथस्स य बाहुल्ला, सत्त कया दिट्ठिवात्तम्मि ॥
(निभा ६०६०, ६०६१, ६०६३)

संध्याकाल और अस्वाध्याय काल में कालिकश्रुत की तीन
से अधिक तथा दृष्टिवाद की सात से अधिक पृच्छा (प्रश्न) करने
वाला भिक्षु प्रायश्चित्तभागी होता है ।

अपुनरुक्त रूप से जितना पूछा जाता है, वह एक पृच्छा
है । इसके चार विकल्प हैं—

१. एक निषद्या, एक पृच्छा । ३. अनेक निषद्या, एक पृच्छा ।
२. एक निषद्या, अनेक पृच्छा । ४. अनेक निषद्या, अनेक पृच्छा ।

अथवा एक पृच्छा का परिमाण है तीन श्लोक । इस प्रकार
कालिकश्रुत की तीन पृच्छाओं में नौ तथा दृष्टिवाद की सात
पृच्छाओं में इक्कीस श्लोक होते हैं । अथवा जहां छोटा या बड़ा
एक प्रकरण सम्पन्न होता है, वह एक पृच्छा है । अथवा आचार्य
की वाचना के जितने अंश का उच्चारण या ग्रहण किया जा सकता
है, वह एक पृच्छा है ।

दृष्टिवाद की सात पृच्छा क्यों ? नैगम आदि सात नय हैं । प्रत्येक
नय के सौ-सौ प्रकार हैं । दृष्टिवाद में नयवाद की सूक्ष्मता है । वहां
भेद-प्रभेद सहित नयों तथा द्रव्यों की प्ररूपणा है । परिकर्म सूत्रों में

गणित की सूक्ष्मता है तथा एक गुण काला आदि वर्ण-गंध-रस-स्पर्शयुक्त परमाणु आदि के पर्यवविकल्पों की सूक्ष्मता है। वहाँ अष्टांगनिमित्त का भी निरूपण है। ग्रन्थ की विशालता के कारण दृष्टिवाद की सात पृच्छाएं निर्दिष्ट हैं।

१०. संध्याकाल में स्वाध्याय-निषेध

जे भिक्खू चउसिं संझाहिं सञ्जायं करेति, करेत्तं वा सातिज्जति, तं जहा—पुव्वाए संझाए, पच्छिमाए संझाए, अवरण्हे, अट्टरत्ते ॥ (नि १९/८)

जो भिक्षु पूर्व सन्ध्या, पश्चिम सन्ध्या, अपराह्न और अर्धरात्रि—इन चार संध्याओं में स्वाध्याय करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

११. संध्याओं में स्वाध्याय का निषेध क्यों ?

लोए वि होति गरहा, संझासु तु गुञ्जागा पवियरंति ।
आवासग उवओगो, आसासो चेव खिन्नाणं ॥
(निभा ६०५५)

संध्याकाल में सूत्रपाठ करने से लोक में गर्हा होती है। संध्याओं में गुह्यक देव गमनागमन करते हैं। वे प्रमत्त स्वाध्यायी को छल सकते हैं। स्वाध्याय-विनिविष्ट चित्त वाला संध्या के समय आवश्यक में उपयुक्त होता है, स्वाध्याय से श्रांत हुए चित्त के लिए उस समय वह आश्वास होता है।

१२. अकाल में आवश्यक का निषेध क्यों नहीं ?

जाव होमादिकज्जेसु , उभओ संझओ सुरा ।
लोगेण भासिया, तेण संझावासगदेसणा ॥
(व्यभा ३०२६)

दोनों संध्याओं में लोगों के आवाहन करने पर देव यज्ञ आदि अनुष्ठानों में ठहर जाते हैं, तब तक आवश्यक भी सम्पन्न हो जाता है। आवश्यक (प्रतिक्रमण आदि) दोनों सन्ध्याओं में अवश्य करणीय है।

१३. अकालस्वाध्याय से ज्ञानाचार की विराधना

अट्टहा नाणमायारो, तत्थ काले य आदिमो ।
अकालझाइणा सो तु, नाणायारो विराधितो ॥

कालादिउवयारेणं विज्जा न सिञ्जाए विणा देति ।
रंधे व अवद्धंसं, सा वा अण्णा वा से तहिं ॥
(व्यभा ३०१७, ३०१८)

काल, विनय आदि के भेद से ज्ञानाचार आठ प्रकार का है। अकाल में स्वाध्याय करने वाला ज्ञानाचार के प्रथम प्रकार की विराधना करता है। काल आदि के उपचार के बिना विद्या सिद्ध नहीं होती। प्रान्त/अभद्र देवता कोई न कोई छिद्र खोजकर अकाल-पाठी का अवध्वंस कर सकते हैं।

* ज्ञानाचार के भेद

द्र श्रीआको १ आचार

१४. पर्वदिनों में स्वाध्याय का निषेध क्यों ?

जे भिक्खू चउसु महामहेसु सञ्जायं करेति—इंदमहे खंदमहे जक्खमहे भूतमहे ॥ चउसु महापाडिवएसु सञ्जायं करेति—सुगिम्हयपाडिवए आसाढीपाडिवए आसोय-पाडिवए कत्तियपाडिवए ॥ (नि १९/११, १२)

अन्नतरपमादजुत्तं, छलेज्ज अघ्पिट्ठिओ ण पुण जुत्तं ।
अद्धोदहिट्ठिती पुण, छलेज्ज जयणोवउत्तं पि ॥
(निभा ६०६६)

स्कन्दमह, इन्द्रमह, भूतमह और यक्षमह—ये चार महामह हैं। इन पर्वों की क्रमशः मुख्य तिथियां हैं—चैत्र पूर्णिमा, आषाढ पूर्णिमा (लाटदेश में श्रावणपूर्णिमा को इन्द्रमह होता है), आश्विन पूर्णिमा और कार्तिक पूर्णिमा। इन पूर्णिमाओं और इनके अनन्तर समागत कृष्ण पक्ष की प्रतिपदाओं में स्वाध्याय वर्जित है।

स्वाध्याय निषेध क्यों ? साधु सरागता के कारण किसी भी प्रमाद से, विशेषतः महामह में प्रमत्त होता है, तब अल्पद्विंदक प्रत्यनीक देव उसे छल सकते हैं। अप्रमत्त साधु को अल्पद्विंदक (अर्धसागरोपम से न्यून स्थिति वाला) देव छल नहीं सकता। अर्ध सागरोपम की स्थिति वाले देव में इतना सामर्थ्य होता है कि वह पूर्व बद्ध वैर का स्मरण कर किसी अप्रमत्त साधु को भी छल सकता है।

(आयुर्वेद में भी अस्वाध्यायिक का उल्लेख है—

कृष्णेऽष्टमी तन्निधनेऽहनी द्वे, शुक्ले तथाऽप्येवमर्हद्विसन्ध्यम् ॥
अकालविद्युत्तनयित्पुषोषे, स्वतंत्रराष्ट्रक्षितिपव्यथासु ॥
श्मशानयानायतनाहवेसु, महोत्सवौत्यातिकदर्शनेषु ।
नाध्येयमन्येषु च येषु विप्रा, नाधीयते नाशुचिना च नित्यम् ॥

कृष्णपक्ष की अष्टमी और कृष्णपक्ष की समाप्ति के दो दिन (चतुर्दशी और अमावस्या), इसी प्रकार शुक्लपक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा, द्विसंध्या (प्रातः एवं सायंकाल), अकाल में (वर्षा ऋतु के बिना) बिजली चमकना तथा मेघगर्जन होना, अपने शरीर, अपने संबंधीजन तथा राष्ट्र और राजा के व्यथाकाल में, श्मशान में, यात्राकाल में, वधस्थान में तथा युद्ध के समय, महोत्सव तथा उत्पात (भूकम्प आदि) के दिन तथा जिन दिनों में ब्राह्मण अनध्याय रखते हों, उन दिनों में एवं अपवित्र अवस्था में अध्ययन नहीं करना चाहिए।—सुश्रुत संहिता २/९, १०)

१५. स्वाध्यायभूमि : नैषेधिकी, निषद्या, अभिशय्या

ठाणं निसीहियं ति य, एगद्वं जत्थ ठाणमेवेगं ।
चेतेति निसि दिया वा, सुत्तत्थनिसीहिया सा तु ॥
सञ्जायं काऊणं, निसीहियातो निसिं चिय उवेति ।
अभिवसिउं जत्थ निसिं, उवेति पातो तई सेज्जा ॥
(व्यभा ६३०, ६३१)

स्थान और नैषेधिकी एकार्थक हैं ।

- ० स्थान—जहां स्वाध्याय-व्यापृत मुनि ठहरते हैं ।
- ० नैषेधिकी—जहां स्वाध्याय व्यतिरिक्त शेष सब प्रवृत्तियों का निषेध होता है । दिन हो या रात, वह स्थान एकमात्र सूत्र-अर्थ के स्वाध्याय के लिए नियत होता है । साधु रात्रि में भी वहां स्वाध्याय कर वसति में आ जाते हैं ।
- ० निषद्या—जहां पर स्वाध्याय के निमित्त आकर बैठते हैं ।
- ० अभिशय्या—जिस स्थान में स्वाध्याय कर रात्रि में वहीं रहकर-सोकर प्रत्युषकाल में वसति में आते हैं ।

१६. नैषेधिकी और अभिशय्या में जाने का हेतु

असञ्जाइय पाहुणाए, संसत्ते वुट्टिकाय सुयरहसे ।
पढमचरमे दुगं तू , सेसेसु य होति अभिसेज्जा ॥
छेदसुत्त-विज्जमंता, पाहुड-अविगीत-महिसदिदुंतो ।
इति दोसा चरमपदे, पढमपदे पोरिसीभंगो ॥
(व्यभा ६४५, ६४७)

अभिशय्या या नैषेधिकी में जाने के मुख्यतः पांच कारण हैं—१. वसति में अस्वाध्यायिक हो ।

२. बहुत प्राघूर्णक आने से वसति संकीर्ण हो गई हो ।
३. वसति प्राणियों से संसक्त हो गई हो ।
४. वर्षा के कारण वसति के कई भाग गलित हो रहे हों ।
५. श्रुतरहस्य—छेदश्रुत आदि की व्याख्या करनी हो ।

वसति में निशीथ, व्यवहार आदि छेदश्रुत, विद्यामंत्र और योनिप्राभृत जैसे श्रुतरहस्यों को सुनकर अपरिणामक, अतिपरिणामक आदि शिष्य अनर्थ कर सकते हैं ।

० महिष दृष्टांत—एक बार एक आचार्य योनिप्राभृत नामक ग्रन्थ का एक प्रसंग पढ़ा रहे थे—अमुक-अमुक द्रव्यों के संयोग से महिष उत्पन्न हो जाता है । एक उत्पन्नजित अगीतार्थ साधु ने छिपकर इस वाचना को सुना, अपने स्थान पर गया, निर्दिष्ट द्रव्यों का संयोजन कर अनेक भैसे बनाये और गृहस्थ द्वारा उन्हें बिकवा दिया । इस प्रकार श्रुतरहस्यकथन से ये दोष उत्पन्न होते हैं ।

वसति में अस्वाध्याय होने से सूत्र-अर्थपौरुषी की हानि होती है । अतः अस्वाध्यायिक और श्रुतरहस्य—इन दो कारणों से नैषेधिकी या अभिशय्या में तथा प्राघूर्णक आदि कारणों से अभिशय्या में जाना चाहिए ।

१७. अभिशय्या में नायक कौन ?

गंतव्व गणावच्छो, पवन्ति थरे य गीतभिवखू य ।
एतेसिं असतीए, अग्गीते मेरकहणं तु ॥
मञ्जत्थोऽकंदप्पी, जो दोसे लिहति लेहओ चव ।
...भयगोरवं च जस्स उ, करेति सयमुज्जओ जो य ॥
पडिलेहणोऽसञ्जाए, आवस्सग दंड विणय राइत्थी ।
तेरिच्छ वाणमंतर, पेहा नहवीणि कंदप्पे ॥
एतेसु वट्टमाणो, अट्टिय पडिसेहिए इमा मेरा ।
हियए करेति दोसे, गुरुय कहित्ते स ददे सोधिं ॥
(व्यभा ६५०-६५३, ६५७)

अभिशय्या में गणावच्छेदक को नायक के रूप में नियुक्त करना चाहिए । गणावच्छेदक के अभाव में प्रवर्तक को, उसके अभाव में स्थविर को, उसके अभाव में गीतार्थ भिक्षु को और वह भी न हो तो अगीतार्थ को भी नियुक्त किया जा सकता है । किन्तु उसे सामाचारी अवश्य बता देनी चाहिए । यथा—आवश्यक, आलोचना आदि में प्रायश्चित्त देना है, पौरुषी आदि प्रत्याख्याय यथोचित रूप से देना है ।

अगीतार्थ नायक मध्यस्थ हो, उद्दीपक भाषाभाषी (हंसी-मजाक करने वाला) न हो तथा जिससे साधु डरते हों, जिसका यथोचित सम्मान करते हों, जो स्वयं अप्रमत्त हो, सामाचारी की अनुपालना कराने में कुशल हो, उसी को नायक बनाकर प्रेषित करना चाहिए। जो असामाचारी के दोषों का प्रतिषेध कर सके, वैसा सक्षम नायक हो। यथा—

कोई स्वाध्याय, आवश्यक, कायोत्सर्ग आदि न करे, हीन या अधिक करे। शय्या-संस्तरक, उपधि, दण्ड, उच्चार-प्रस्रवणभूमि—इनकी प्रतिलेखना न करे, हीनाधिक करे, काल का अतिक्रमण कर करे, गुरु और रत्नाधिक का विनय न करे, उनको यथाविधि वन्दना न करे, शीतभय से लेटे-लेटे या बैठे-बैठे कायोत्सर्ग करे। राजा, स्त्री, अश्व, हस्ति, वानमंतर प्रतिमायुक्त रथ आदि को उत्सुकता से देखे, कालप्रतिलेखना न करे, नखों से वीणावादन या घर्षण करे, कामोद्दीपक शब्द बोले, हास्य-कुतूहल करे इत्यादि। नायक के द्वारा इन दोषाचरणों का निषेध किये जाने पर भी अभिशय्यावासी उनसे निवृत्त न हों तो नायक अविस्मरण हेतु उन दोषों को लेखक की भाँति अपने हृदय में लिख ले (मन में सम्यक् अवधारण करे) और फिर गुरु को निवेदन करे। गुरु उन्हें प्रायश्चित्त दें।

१८. अभिशय्या में गमनागमन-विधि

धरमाणच्चिव सूरे, संथारुच्चार-कालभूमीओ।
पडिलेहितऽणुण्णवित्ते, वसभेहि वयंतिमं वेलं॥
आवस्सगं तु काउं, निव्वाघातेण होति गंतव्वं।
वाघातेण तु भयणा, देसं सव्वं वऽकाऊणं॥
आवस्सगं अकाउं निव्वाघाएण होति आगमणं।
वाघायम्मि उ भयणा, देसं सव्वं च काऊणं॥
(व्यभा ६८१, ६८२, ६८६)

वृषभ मुनि अभिशय्या के शय्यातर की अनुज्ञा लेते हैं—
'हम स्वाध्याय के लिए यहाँ रहेंगे।' फिर सूर्यास्त से पहले ही अभिशय्या में संस्तरक, उच्चार और काल-भूमि की प्रतिलेखना कर वसति में आते हैं।

यदि अभिशय्या का पथ निर्व्याघात हो तो गुरु के साथ आवश्यक-प्रतिक्रमण कर तथा व्याघात हो तो देश या सर्व

आवश्यक बिना किए ही गुरु को वन्दना करे, ज्येष्ठ मुनि आलोचना ले और अभिशय्या में जाकर आवश्यक करे।

प्रातः व्याघात न हो, तो आवश्यक किए बिना ही अभिशय्या से वसति में आकर गुरु के साथ आवश्यक करे। व्याघात हो, तो देश या सर्व आवश्यक कर वसति में आये।

१९. स्वाध्यायभूमि : विहारभूमि

असञ्जाए सञ्जायभूमी जा सा विहारभूमी।
(नि २/४० की चू)

उपाश्रय में अस्वाध्यायिक के समय जो स्वाध्यायभूमि होती है, उसे विहारभूमि कहा जाता है।

० विहारभूमि में एकाकी गमन-निषेध, अपवाद

नो कप्पइ निग्गंथस्स एगाणियस्स राओ वा वियाले वा बहिया.....विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।
कप्पइ से अप्पबिड्ढयस्स वा अप्पतइयस्स वा....॥ (क १/४५)

अकेला निर्ग्रन्थ रात्रि या विकाल में उपाश्रय से बाहर विहारभूमि में गमन-प्रवेश नहीं कर सकता। वह एक या दो साधुओं के साथ वहाँ जा सकता है।

....अह विक्कतो उ, नवं च सुत्तं सपगासमस्स।
सञ्जातियं णत्थि रहं च सुत्तं, ण यावि पेहाकुसलो स साहू॥
आसन्नगेहे दियदिदुभोमे, घेत्तूण कालं तहि जाइ दोसं।
वस्सिदिओ दोसविवज्जितो य, णिह्व-विकारालसवज्जितप्पा॥
तब्भावियं तं तु कुलं अदूरे, किच्चाण ज्ञायं णिसिमेव एति।
वाघाततो वा अहवा वि दूरे, सोऊण तत्थेव उवेइ पादो॥
(बृभा ३२१९-३२२१)

जिसने अर्थसहित कोई नया सूत्र सद्यस्क सीखा है और उसका परावर्तन करना है, किन्तु उपाश्रय में स्वाध्यायभूमि नहीं है। अथवा निशीथ जैसे रहस्यमय सूत्र का परावर्तन करना है, ताकि उसे दूसरा सुन न सके अथवा वह अनुप्रेक्षाकुशल नहीं है—इन कारणों से मुनि रात्रि में विहारभूमि में अकेला भी जा सकता है।

मुनि कालग्रहण कर प्रादोषिक स्वाध्याय हेतु उस निकटवर्ती घर में जाये, जहाँ उच्चारप्रस्रवणभूमि दिन में प्रतिलेखित हो। जो

मुनि जितेन्द्रिय, कषायजयी, निद्राजयी तथा हास्य आदि विकार और आलस्य का वर्जन करने वाला हो, वह वहां अकेला जा सकता है।

मुनि स्वाध्याय के लिए जिस कुल (घर) में जाए, वह कुल साधुभावित हो, निकटवर्ती हो, जिससे रात्रि में स्वाध्याय करके मुनि पुनः अपने स्थान पर आ सके। यदि मार्ग में चोर आदि का भय हो अथवा स्वाध्यायभूमि दूर हो तो मुनि रात्रि में वहीं सोकर प्रातः अपने उपाश्रय में लौट आए।

०. साध्वी की विहारभूमि संबंधी सामाचारी

गुत्ते गुत्तदुवारे, दुज्जणवज्जे णिवेसणस्संतो।
संबंधि णिए सण्णी, बित्तिंयं आगाढ संविग्गे॥
पडिवत्तिकुसल अज्जा, सज्झायज्जाणकारणुज्जुत्ता।
मोत्तूण अब्भरहितं, अज्जाण ण कप्पती गंतुं॥
सज्झाइयं नत्थि उवस्सएऽहं, आगाढजोगं च इमा पवण्णा।
तरेण सोहइमिदं च तुब्भं संभावणिज्जातो ण अण्णहा ते॥
खुहो जणो णत्थि ण यावि दूरे, पच्छण्णभूमि य इहं पकामा।
तुब्भोहि लोएण य चित्तमेतं, सज्झाय-सीलेसु जहोज्जमो णे॥
(बृभा ३२३६-३२३९)

जिस साध्वी ने व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि श्रुत संबंधी आगाढ योग स्वीकार किया है, जो संविग्न (हास्य आदि विकारों से रहित) है, वह साध्वी बाढ़ आदि से परिक्षिप्त और कपाटयुक्त द्वार वाले घर में स्वाध्याय के लिए जा सकती है। वह घर दुःशील व्यक्तियों से रहित तथा निवेशन के भीतर होना चाहिए। निवेशन में न हो तो अन्य पाटक में साध्वी के निकट संबंधी, शय्यातर के मित्र या विश्वस्त श्रावक के घर पर भी स्वाध्याय हेतु जा सकती है।

स्वाध्यायभूमि में जाने वाली साध्वी के साथ उत्तर देने में कुशल साध्वी अवश्य हो। आगाढयोग प्रतिपन्न साध्वी एकाग्रता से स्वाध्याय करने में संलग्न हो।

जो कुल साध्वी के आगमन से गौरव का अनुभव करें, उन यथाभद्र कुलों को छोड़कर अन्यत्र स्वाध्याय के लिए न जाए। स्वाध्याय करते समय यदि गृहपति प्रश्न करे—आप यहां क्यों आई हैं? तब प्रतिपत्तिकुशल साध्वी कहे—हे श्रावक! हमारे उपाश्रय में स्वाध्यायिक नहीं है। इस साध्वी को श्रुतसंबंधी आगाढयोग वहन

करना है। शय्यातर के साथ आपके सौहार्दपूर्ण संबंध को सब लोग जानते हैं, इसलिए हम यहां आई हैं। अतः आप हमारे प्रति अन्यथा संभावना न करें।

वह पुनः कहे—यहां क्षुद्रजन नहीं हैं। हमारे उपाश्रय से आपका घर दूर नहीं है। आपके घर में विस्तृत एकान्त भूमि है, जिसमें स्वाध्याय निर्विघ्न सम्पन्न हो सकता है। आपको और लोगों को यह ज्ञात है कि हम साध्वियों का स्वाध्याय और शील में प्रबल प्रयत्न होता है।

२०. स्वाध्यायभूमि : आगाढ-अनागाढ

सज्झायभूमि वोलंते, जोए छम्मास पाहुडे।
सज्झायभूमि दुधिधा, आगाढा चेवऽणागाढा॥
जहण्णेण तिण्णि दिवसा, णागाढुक्कोस होति बारस तु।
एसा दिट्ठीवाए, महकप्पसुत्तमि बारसंगं॥
आगाढो वि जहन्तो, कप्पिगकप्पादि तिण्णऽहोरत्ता।
उक्कोसो छम्मासो, वियाहपण्णत्तिभागाढे॥
द्वादशवर्षप्रमाणा...दुमैधसः प्रतिपत्तव्या, प्राज्ञस्य तु
वर्षम्। (व्यभा २११७, २११८, २१२१ वृ)

स्वाध्यायभूमि का निक्षेप (कायोत्सर्गपूर्वक सम्पन्न) किये बिना जो उसका व्यतिक्रम करता है, वह आभयव्यवहार योग्य है। (उस काल के अन्तराल में प्राप्त होने वाले शिष्य आदि उसके नहीं होते, उद्देशनाचार्य के होते हैं।)

प्राभृत (इष्ट श्रुतस्कन्ध) संबंधी जो योगवहन किया जाता है, वह स्वाध्यायभूमि है। उसके दो प्रकार हैं—

१. अनागाढ—नन्दी आदि अध्ययनों की अनागाढ स्वाध्याय-भूमि जघन्य तीन दिन, उत्कृष्ट एक वर्ष होती है।

२. आगाढ—इसमें सामान्यतः स्वाध्यायभूमि छह मास तथा उत्कृष्टतः बारह वर्ष है। यह दृष्टिवाद तथा महाकल्पश्रुत की अपेक्षा से अल्पमेधावी के लिए है। प्राज्ञ के लिए तो एक वर्ष की स्वाध्याय-भूमि है। कल्पिका, कल्प आदि आगमों का आगाढ योग जघन्य तीन अहोरात्र तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) आदि का आगाढयोग उत्कृष्ट छह मास है।

० आगाढयोग-अनागाढयोग

आगाढमणागाढे, दुविधे जोगे य समासतो होति।.....

आगाढतरा जम्मि जोगे जंतणा...यथा भगवतीत्यादि ।
इतरो...उत्तराध्ययनादि । (निभा १५९४ चू)

योग के दो प्रकार हैं—

१. आगाढयोग—जिस योगवहन में आहार आदि से संबंधित अत्यन्त गाढ/प्रबल नियंत्रण (संयमन) होता है। यथा—भगवती आदि आगमग्रंथों के अध्ययनकाल में नौ प्रकार की विकृतियों का वर्जन किया जाता है।

२. अनागाढयोग—उत्तराध्ययन आदि सूत्रों के अध्ययनकाल में विकृति आदि से संबंधित कड़ा नियंत्रण नहीं होता है।

आगाढजोगिस्स उद्देशसमुद्देशादओ अवस्सं कायव्वा ।
(निभा १०९५ की चू)

आगाढयोगी के लिए उद्देश, समुद्देश आदि अवश्य करणीय होते हैं।

२१. योगवाही : भिक्षाचर्या से पूर्व कायोत्सर्ग

कश्चिद् योगप्रतिपन्नस्तस्य तद्विसमाचाम्लम्, स चोपयोगकायोत्सर्गमकृत्वा गतो दध्नः करम्बं गृहीत्वा समायातः पश्चादपरैः साधुभिस्तस्याचाम्लं स्मारितम्, ततः स यदि तं समुद्दिशति तदा योगविराधना, अथ परिष्ठापयति ततः संयमविराधना, ततः कायोत्सर्गं कृत्वा...चिन्तयेत्, यथा—अद्य किं मे आचाम्लम्? उत निर्विकृतिकम्? उताहो अभक्तार्थम्?...इत्थमुपयोगं दत्त्वा प्रत्याख्यानानुगुणमेवाहारं गृह्णाति ॥ (बृभा १७०४ की वृ)

किसी योगप्रतिपन्न मुनि के आचाम्ल था, उस दिन वह उपयोग-कायोत्सर्ग किए बिना भिक्षा के लिए गया और दधिकरंब लेकर आ गया। तत्पश्चात् दूसरे साधुओं ने उसे आचाम्ल की स्मृति दिलाई, तब यदि वह उसे खाता है तो योगविराधना और परिष्ठापित करता है तो संयमविराधना होती है। अतः कायोत्सर्ग करके जाए। वह कायोत्सर्ग में चिन्तन करे—आज मेरे क्या है—आचाम्ल अथवा निर्विकृतिक? उपवास अथवा एकाशन? इस प्रकार कायोत्सर्ग में प्रत्याख्यान की स्मृति कर भिक्षा में उसके अनुरूप ही आहार ग्रहण करे।

२२. विकृति के लिए योगनिक्षेप नहीं

निष्कारणे न कप्यंति, विगतीओ जोगवाहिणो ।
कप्यंति कारणे भोत्तुं, अणुण्णाया गुरूहि उ ॥
विगतीकए ण जोगं, निक्खिवए अदढे बले ।
से भावतो अनिक्खित्ते निक्खित्ते वि य तम्मि उ ॥
विगतीकते ण जोगं, निक्खिवे दढ-दुब्बले ।
से भावतो अनिक्खित्ते उवघातेण गुरूण उ ॥
(व्यभा २१४२-२१४४)

योगवाही निष्कारण विकृतिसेवन नहीं कर सकता। कारण होने पर गुरु की आज्ञा से विकृति सेवन कर सकता है। बलवान् होने पर भी जो संहनन से दृढ़ नहीं है अथवा दुर्बल होने पर भी जो संहनन से दृढ़ है, वह विकृति के लिए योग का निक्षेप नहीं करता है। कारण होने पर यदि गुरु की आज्ञा से योगनिक्षेप करता है तो वह भावतः अनिक्षेप ही है।

२३. योगवहन में विकृति वर्जन के विकल्प

...आगाढे णवग-वज्जण, भयणा पुण होतण्णागाढे ॥
विगतिमण्णा भुंजति, ण कुणति आर्यबिलं ण सदहती ॥
एसो तु सव्वभंगो, देसे भंगो इमो तत्थ ॥
काउस्सगमकातुं, भुंजति भोत्तूण कुणति वा पच्छा ।
सयं काऊण वा भुंजति, तत्थ लहू तिपिण उ विसिद्धा ॥
ण करेति भुंजितूणं, करेति काऊण भुंजति सयं तु ।
वीसज्जेह मयं ति य, तवकालविसेसिओ मासो ॥
(निभा १५९४-१५९७)

आगाढयोग में अवगाहिम (पक्वान्न) के अतिरिक्त शेष नौ विकृतियों का वर्जन किया जाता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति-अध्ययनकाल में सर्व प्रकार की अवगाहिम विकृति तथा महाकल्पश्रुत-अध्ययनकाल में एक मोदकविकृति ग्राह्य है, शेष आगाढयोग में सब विकृतियां वर्जनीय हैं।

अनागाढयोग में विकृतिवर्जन की भजना है—गुरु-आज्ञा हो तो दसों विकृतियां ग्राह्य हैं, अन्यथा एक भी ग्राह्य नहीं है।

* दस विकृतियां

द्र श्रीआको १ रसपरित्याग

अविधि से अनुज्ञात होने पर योगभंग होता है। उसके दो प्रकार हैं—सर्वभंग और देशभंग।

० सर्वभंग—निष्कारण विकृति खाना। आर्यबिल के क्रम में आर्यबिल

न करना। निर्विकृति तप में श्रद्धा न करना—यह सर्वभंग है। आगाढ और अनागाढ योग के सर्वभंग होने पर क्रमशः चतुर्गुरु और चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है।

० देशभंग—कायोत्सर्ग किए बिना विकृति खाना या विकृतिसेवन के पश्चात् कायोत्सर्ग करना या स्वयं कायोत्सर्ग कर विकृति खाना अथवा गुरु से कहना कि मुझे विकृति की छूट दें—यह देशभंग है। अनागाढ योग के इन सब भंगों में तप और काल से विशिष्ट मासलघु तथा आगाढयोग में मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२४. उत्थानश्रुत आदि ग्रंथों का अतिशय

परियट्टिञ्जति जहियं, उट्ठाणसुतं तु तत्थ उट्टेति।
कुल-गाम-देसमादी, समुट्ठाणसुतं निविस्संति॥
देविंदा नागा वि य, परियाणीएसु एंति ते दो वी।
……चारणालद्धी तहियं, उप्पञ्जती तु अधीतम्मि॥
तेयस्स निसरणं खलु, आसिविसत्तं तहेव दिट्ठिविसं।
लद्धीओ समुप्पञ्जे, समधीतेसुं तु एतेसुं॥
(व्यभा ४६६४, ४६६५, ४६६७, ४६६९)

मुनि एकाग्रचित्त होकर कार्यविशेष से जहां उत्थानश्रुत का परावर्तन करता है, वहां स्थित कुल, ग्राम, देश आदि उजड़ जाते हैं। कार्य निष्पन्न होने पर समुत्थानश्रुत के परावर्तन से वे कुल, ग्राम आदि पुनः बस जाते हैं।

देवेन्द्रपरिज्ञापनिका ग्रन्थ के परावर्तन से देवेन्द्र और नागपरिज्ञापनिका के परावर्तन से नागदेव उपस्थित हो जाते हैं।

चारणभावना अध्ययन को पढ़ने से चारणलब्धि उत्पन्न होती है। तेजोनिर्सा, आशीविषभावना और दृष्टिविषभावना—इन ग्रन्थों को पढ़ने पर क्रमशः तेजोलब्धि, आशीविषलब्धि और दृष्टिविषलब्धि समुत्पन्न होती है।

जिस तपोयोगविधि के प्रयोग से ये लब्धियां उत्पन्न होती हैं, वे विधियां इन अध्ययनों में प्रतिपादित हैं।

२५. विशिष्ट ग्रंथपरावर्तन : देवता की उपस्थिति

बारसवासे अरुणोववाय वरुणो गरुलवेलंधरो।
वेसमणुववाएँ य तथा, एते कप्पंति उट्टिसिउं॥
तेसिं सरिनामा खलु, परियट्टंती य एंति देवा उ।
अंजलिमउलियहत्था, उज्जोवेता दसदिसा उ॥
नामा वरुणा वासं, अरुणा गरुला सुवण्णगं देंति।
आगतूण य बेंती, संदिसह उ किं करेमो त्ति॥

(व्यभा ४६६०-४६६२)

बारह वर्ष के दीक्षापर्याय वाले मुनि को अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, वेलंधरोपपात और वैश्रमणोपपात—इन पांचों अध्ययनों का अध्ययन कराया जा सकता है।

अरुण, वरुण, गरुड, वेलंधर और वैश्रमण—इन देवों का प्रणिधान कर यदि मुनि अरुणोपपात आदि ग्रंथों का परावर्तन करते हैं तो वे देव दशों दिशाओं को उद्योतित करते हुए परावर्तक मुनि के समक्ष बद्धांजलि हो उपस्थित होते हैं। उपस्थित होकर पूछते हैं—मुनिवर! हमें क्या कार्य करना है? आप आदेश दें। वरुण देव गन्धोदक आदि की वर्षा करते हैं। अरुण और गरुड देव सुवर्ण उपहृत करते हैं।

२६. स्वाध्याय आदि से अतिशय निर्जरा

कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
अन्नतरगम्मि जोगे, सज्जायम्मि विसेसेण॥
……अन्नतरगम्मि जोगे, काउस्सग्गे विसेसेण॥
……अन्नतरगम्मि जोगे, वेयावच्चे विसेसेण॥
……अन्नतरगम्मि जोगे, विसेसतो उत्तिमट्टम्मि॥
(व्यभा ४३३८-४३४१)

प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि संयमयोगों में से किसी भी योग में उपयुक्त/तन्मय होने से प्रतिक्षण असंख्य भवों में अर्जित कर्म क्षीण होते हैं। विशेष रूप से स्वाध्याययोग, कायोत्सर्ग, वैयावृत्य और अनशन में उपयुक्त होने से अनुक्षण असंख्य भवोपार्जित कर्मों की विशेष निर्जरा होती है। (कोई भी कर्म निरन्तर अनन्तकाल तक अवस्थित नहीं रहता, इसलिए असंख्य का कथन है।)

२७. प्रकीर्णग्रन्थों के स्वाध्याय से विपुल निर्जरा

चउहससहस्साइं, पइष्णगाणं तु वद्धमाणस्स।
सेसाण जत्तिया खलु, सीसा पत्तेयबुद्धा उ॥
पत्तस्स पत्तकाले, एतेणं जो उ उट्टिसे तस्स।
निज्जरलाभो विपुलो, ………॥
(व्यभा ४६७१, ४६७२)

भगवान महावीर के तीर्थ में चौदह हजार प्रकीर्णककार मुनि थे। उन्होंने चौदह हजार प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना की थी। शेष तीर्थकारों के शासन में जितने शिष्य थे, उतने ही प्रकीर्णककार और उतने ही प्रत्येकबुद्ध थे। जो आचार्य अपने योग्य (परिणामक) शिष्यों को यथाविहित काल में इन प्रकीर्णकों की वाचना देते हैं, उनके विपुल निर्जरालाभ होता है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

१. कथा-दृष्टांत संकेत
२. विशेष शब्द विमर्श
३. युगल शब्द विमर्श

कथा-दृष्टांत-संकेत

प्रस्तुत परिशिष्ट में पांच आगमों—आचारचूला और चार छेदसूत्र तथा उनके व्याख्याग्रंथों (निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि-वृत्ति) में प्रयुक्त कथाओं, दृष्टांतों और उपमाओं का विषयगत विभाजन और कथा-दृष्टांत के संकेत ससंदर्भ संगृहीत हैं। प्रत्येक ग्रंथ के स्वतंत्र संग्रहण के कारण इसमें अनेक विषयों और कथासंकेतों की पुनरावृत्ति हुई है।

आचूला (आचारचूला-निर्युक्ति-चूर्णि-वृत्ति)

विषय	कथा-संकेत	संदर्भ
देवों से शोभित गगनतल	पद्मसरोवर, चम्पकवन आदि की उपमा	१५/२८/१४, १५
दुर्वचनों से विद्ध मुनि	बाणों से विद्ध हाथी	१६/२
अविचल मुनि	पर्वत-दृष्टांत	१६/३
विमुक्त परिज्ञाचारी	रूप्य-दृष्टांत	१६/८
दुःखशय्यात्याग	भुजंगत्वग्-दृष्टांत	१६/९
अंतकृत मुनि	महासमुद्र-दृष्टांत	१६/१०
शय्या	वल्गुमती और निमित्तज्ञ	आनि ३२३ वृ प ३५९
भावना	लोह-शिलाजत दृष्टांत	आचू पृ. ३७७

निभा (निशीथ भाष्य-चूर्णि) भाग-१

ज्ञानाचार : काल स्वाध्याय	तक्रकुट। शृंगधमक। शंखधमक। दो वृद्धाएं	८, १२ चू
विनय	श्रेणिक नृप और हरिकेश चांडाल	१३ चू
भक्ति और बहुमान	ब्राह्मण और पुलिंद	१४ चू
उपधान-तप	अशकटपिता	१५ चू
अनिहवन	नापित और परिव्राजक	१६ चू
दर्शनाचार : निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा	पेया और दो बालक। राजा और अमात्य। विद्यासाधक और चोर	२३, २४ चू
जुगुप्सा	एक श्रावक की कन्या	२५ चू
अमूढदृष्टि	सुलसा श्राविका और अम्मड परिव्राजक	३२ चू
उपबृंहण	श्रेणिक राजा	३२ चू
स्थिरीकरण	आचार्य आषाढभूति	३२ चू
वात्सल्य	वज्रस्वामी। नन्दीषेण	३२ चू

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
निशीथ	कतक-फल	६८
स्त्यानर्द्धि निद्रा	पुद्गल। मोदक। कुम्भकार। गजदन्तोत्पाटक। १३५-१४०	
हिंसा	वटशाखाभञ्जक	
असत्यवादिता	कोंकणक भिक्षु और सिंह	२८९
	धूर्त—शशक, एलाषाढ, मूलदेव, खंडपाणा	२९४-२९६ चू

निभा भाग-२

यतनाशील भी स्वलित	वटपादप दृष्टांत	५६५
प्रणीत आहार से मोहोदय	ब्रह्मदत्त का कल्याणक आहार	५७२
काम शमन का उपाय	कुलवधू	५७४ चू
बहुमूल्य वस्त्र ग्रहण के दोष	रत्न कम्बल और चोर	९७१
रसगृद्धि-रसपरित्याग	आर्य मंगु और आर्य समुद्र	१११६ चू
वेश का महत्त्व	महाराष्ट्र का रसापण	११५८
अति लोभ से हानि	गाय का अदोहन। मालाकार और फूल	१६३९
योनिप्राभृत ग्रंथ	आचार्य सिद्धसेन द्वारा अश्व निर्माण,	१८०४
	महिष-दृष्टिविष सर्प निर्माण	
हंसते हुए खाने से मुखस्तब्धता	श्रेष्ठी। तापसमरण	१८२५
सुखसुविधा-त्यागी	मृत मनुष्य का हास्य	१८२६
पृच्छा का प्रवर्तन क्यों ?	कूप, कुलपुत्र आदि दृष्टांत	२१५१-२१५३
पृथक् संभोज की परम्परा	आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती	२१५४
इतिवृत्त	कुणाल और संप्रति	२१५४ चू
निष्ठुर कथा	जरकुमार और भल्ली	२३४३
गलानावस्था में वेदोदय	सुकुमारिका आर्या	२३५१-२३५६

निभा भाग-३

कलह-उपेक्षा से विनाश	गज और सरट।	२७८५, २७८६
	द्रमक और कनकरस	२७९२
सम अपराध-विषम दण्ड	राजा द्वारा पुत्रों को विभिन्न दण्ड	२८१४
दण्ड की अल्पाधिकता में	पति और चार भार्याएं	२८३३
राग-द्वेष नहीं		
साध्वी सरस्वती की विमुक्ति	कालकाचार्य और गर्दीभिल्ल	२८६०

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
परिहारतप से भीत को आश्वासन	नदी आदि में निमज्जन	२८७७
अतिप्रमाण में भोजन	दरिद्र बटुक और अमात्य	२९३५-२९३७
अल्पाहार से लाभ	अवम और पूर्ण भृत पात्र	२९५१
प्राण रक्षा और तुच्छ भोजन	रत्नवणिक के द्वारा रत्न रक्षण का उपाय	२९६१-२९६४
अहंकार से हानि	राजा और अभिमानी मरुक	२९८२
धर्म का आपण	वैद्य की याचना	३०४७, ३०६६
पर्युषणा (संवत्सरी) तिथि में परिवर्तन	कालकाचार्य और सातवाहन	३१५३ की चू
कलह का उपशमन	कुम्भकार	३१८०, ३१८१
क्षमापना का रहस्य	उदायन और चण्डप्रद्योत	३१८२-३१८५
शरणागत की रक्षा	दरिद्र कृषक और चोर सेनापति	३१८६, ३१८७
क्रोध	गोघातक मरुक	३१९३
मान	अच्चंकारिय भट्टा	३१९४-३१९६
माया	पंडरज्जा साध्वी	३१९८
लोभ/रसलोलुपता	आर्य मंगु	३२००
भाव वैर	ग्राममहत्तर और चोर सेनापति	३३५९
पैतृक सम्पत्ति का समानाधिकार	चार कृषक पुत्र	३४९९
वेदोपघातपण्डक	राजकुमार हेम	३५७५
उपकरणोपघात पंडक	कपिल क्षुल्लक	३५७६
वातिक क्लीब	तच्चन्निय भिक्षु	३५८९
स्त्री-पुरुष संवास	वत्स और मां। आम्र और राजा	३६०४ चू
ज्ञानस्तेन	गोविन्दार्य	३६५६ चू
चरणस्तेन	उदायिमारक। मधुरकोण्डइल	३६५६
सकारण प्रव्रज्या	प्रभव। मेतार्यऋषिघात	३६६२ की चू
दुष्ट शिष्य, स्वपक्ष-परपक्ष	सर्षपनाल। मुखानंतक। उलूकाक्ष। शिखरिणी। उदायिमारक। जउणनृप	३६८३-३६८९
मूढ : द्रव्यमूढ, काल मूढ, गणना मूढ, सादृश्य मूढ, वेदमूढ, व्युद्ग्राहणामूढ	दुःशीला और घटिकावोद्र। महिषीपालक पिंडार। उष्ट्रपाल। ग्राममहत्तर और सेनापति। मातृगामी राजकुमार। वणिक पुत्र। अनंगसेन। अन्धपुरुष। स्वर्णकार	३६९४-३७०१ चू
पिता से पूर्व पुत्र की बड़ी दिक्षा	दंडिक (राजा)-दृष्ट्यांत	३७६५

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
प्रत्याख्यानकालीन उपयोग द्रव्यसंलेखना भाव संलेखना पादोषगमन अनशन में धृति-सहिष्णुता	कंचनपुर में क्षपक का पारण शिष्य द्वारा अंगुलि-त्रोटन अमात्य और कोंकणक दृष्टांत स्कन्दक के शिष्य। चाणक्य। चिलातीपुत्र। कालास अनगर। बांसों का स्फुटन। अवन्ति सुकुमाल। जलप्रवाह का उपसर्ग। म्लेच्छ द्वारा उपसर्ग	३८१४, ३८४६ ३८१४ चू, ३८५५, ३८५८ ३८१४ चू, ३८५६ ३९६४-३९७५
पुस्तक-अयतना और हिंसा उपयोग में धर्म पुरःकर्मकृत कर्मबंध कुशलता से द्रव्य रक्षा श्रम से स्व-परहित नौका संतरण संबंधी दोष	चतुरंगिणी सेना आवेष्टित मृग जैनश्रमण और बौद्धभिक्षु उडंक ऋषि द्वारा इन्द्र को शाप अगारी दृष्टांत श्रमी बालक और बदरीफल मुरुंड राजा और साधु। सुदाढ और नौकारूढ भगवान महावीर	४००५ ४०२३ चू ४०९७ ४१७४ ४१७९ ४२१५-४२१८ चू
पृथ्वीकाय में वेदना, स्नेहगुण, ज्ञान निधान दर्शन सदोष उपेक्षा से हानि व्यवहारनिर्णय भिक्षा का दोष : धातृपिण्ड निमित्त पिण्ड चिकित्सा पिण्ड कोपपिण्ड मानपिण्ड विद्यापिण्ड मन्त्रपिण्ड अन्तर्धान पिण्ड योगपिण्ड क्रीतकृत प्रामित्य परिवर्तन आच्छेद्य	स्थविर और तरुण। रूक्ष भोजन मयूरांक राजा और दीनार वृक्ष दृष्टांत। ऋण दृष्टांत। दो महिला, एक पुत्र अतिशयधारी संगम स्थविर, शिष्य दत्त गर्भवती घोड़ी की हत्या दुर्बल व्याघ्र मासक्षपक धर्मरुचि क्षुल्लक और श्वेतांगुलि आदि पुरुष भिक्षु उपासक पादलिप्त आचार्य और मुरुंड राजा चन्द्रगुप्त, चाणक्य और क्षुल्लकद्वय समिताचार्य और तापस शय्यातर मंख बहन का दासीत्व कोद्रव के बदले शालिकूर प्रभु और गोप। स्वामी। स्तेन।	४२६३-४२६५ ४३१६ ४३३८ ४३५७ ४३९३, ४३९४ चू ४४०५-४४०८ ४४३७ ४४४२ ४४४६-४४५३ ४४५७-४४५९ ४४६० ४४६३-४४६५ ४४७०-४४७२ ४४७७-४४७९ ४४८७-४४८९ ४४९४-४४९६ ४५००-४५१५

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
अनिसृष्ट	बत्तीस मोदक वाला भिक्षु	४५१६-४५२०
आज्ञा भंग	राजा द्वारा सत्कृत पुरुष	४७८३-४७८६
निर्दयता	म्लेच्छ द्वय	४८४३
अनवस्थानिवारण	इक्षुकरण दृष्टांत	४८४८
वर्जना का महत्त्व	कन्याओं का अन्तःपुर। देवद्रोणी	४८५१-४८५३
पलिमंथ (स्वाद का दुष्परिणाम)	मूंग की कच्चीफली खाने से स्त्री की मृत्यु	४८५८
प्रवचन में अनुधर्मता : अर्हत् द्वारा	अचित्त तिलशकट-जलहृद और	४८५७-४८५९
अनाचीर्ण, मुनि के लिए अनाचीर्ण	भगवान महावीर	
विधि-अविधि	विष-शस्त्र-वेताल-औषध दृष्टांत	४८६९-४८७१
परिणामक, अपरिणामक,	चार मरुक और श्व-मांस	४८७४
अतिपरिणामक		
प्रतिसेवना	पटरानी	४९१४
संसर्ग का महत्त्व	दो शुकबन्धु	४९७६
दत्त वस्तु का पुनः ग्रहण	विक्रीत वृक्ष का पुनर्ग्रहण	५०५८
वस्त्रविभूषा से हानि	रत्न कंबल और तस्करउपद्रव	५०९३

निभा भाग-४

स्त्रीयुक्त वसति से चारित्रहानि	अग्निपत्त जतु दृष्टांत	५११०
आज्ञाभंग : गुरुतर दंड	चंद्रगुप्तमौर्य	५१३७-५१४०
कामातुर देवियां, स्त्रियां आदि	व्यंतर देवियां और धूर्त। रयणादेवी।	
	अर्हन्नक-मर्कटी। सिंही-पुरुष। श्वान-मानुषी	५१५५-५१५८, ५१९०-५१९३
व्युद्ग्रह से अपक्रमण	जमालि आदि निह्व	५५९३-५६२४
अनार्य देशों में विहरण	आचार्य स्कन्दक	५७४१-५७४३
श्रमण संघ के प्रभावक	राजा संप्रति और आर्यमहागिरि-सुहस्ती	५७४४-५७५८
मात्रक के अग्रहण से तिरस्कार	वारत्तग-प्रब्रज्या	५८९०
अस्वाध्याय में स्वाध्याय से हानि	म्लेच्छाक्रमण	६०७६
पंचविध अस्वाध्याय	पांच राजपुरुष	६०८०, ६०८१
आचार्यादि युक्त गच्छपंजर	शकुनि-पंजर दृष्टांत	६३५०
परिकुंचित आलोचना	अश्व। तापस। योद्धा।	६३९६-६३९९ चू
	मालाकार। मेघ।	
विषम प्रतिसेवना, तुल्यशोधि	पांच वणिक और पन्द्रह गधे	६४०४, ६४०५

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
अनवस्था प्रसंग का निवारण	राजा और तीन रक्षक	६४०८-६४१०
जानबूझकर बहु-प्रतिसेवना	गंजा और सिपाही	६४१२, ६४१३
अनेक अपराधों का एक साथ कथन	रथकार की भार्या	६५१३, ६५१४
अनेक अपराधों का एक दण्ड	चोर दृष्टांत	६५१५
दोषों का एकत्व कब ?	वध्य मूलदेव राजा बना	६५१७ चू
प्रायश्चित्तदानविधि	वणिक् । ब्राह्मण । निधि-प्राप्ति	६५१८-६५२२
आलोचना और विनयोपचार	निधि-उत्खनन	६५२६
मूलोत्तरगुणप्रतिसेवना से	ताल वृक्ष	६५३१
अन्योन्यविनाश		
मूलगुण-उत्तरगुण प्रतिसेवना	दृति और शकट । एरंड-मंडप	६५३३ चू
प्रायश्चित्त वहन और वैयावृत्य	पुरस्कृत राजसेवक	६५४१
दुर्बल-सबल प्रायश्चित्तवाहक	अग्नि दृष्टांत । चेट दृष्टांत	६५५३ चू
प्रायश्चित्तवृद्धि-हानि का हेतु	वस्त्र और जलकुट	६५६२-६५६७
आलोचनार्ह की गंभीरता	दंतपुरवासी दृढ़मित्र	६५७५ चू
परिहारतपस्वी को आश्वासन	कूप, नदी और राजा का दृष्टांत	६५९२, ६५९९
दोषशुद्धि न करने से चारित्र नाश	नाली में तृण । मंडप और सर्षप । गाड़ी	६६०१, ६६०२
	और पाषाण । वस्त्र पर कज्जल बिन्दु ।	
	लघु शकटिका	
आलोचक के प्रति व्यवहार	व्याध । गाय । भिक्षुणी ।	६६२४, ६६२५
निषद्याकरण का महत्त्व	निःश्मश्रु राजा और नापित	६६२८ चू

दशा (दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति-चूर्णि)

मोहक्षय	तल-सूची । सेनापति । निरिन्धन अग्नि ।	५/७/११-१५
असत् आत्मख्यापन से	शुष्कमूल वृक्ष । दग्ध बीज	
महामोहबंध	गायों में गर्दभ का स्वर	९/२/१३
प्रशास्तामारक	नागिन-अंडपुट	९/२/१८
शबल दोष	खंडित सच्छिद्र घट । कम्मासपट	नि १४
गणी-गण	गज-दंत	नि ३०, ३१
पर्युषणा पर्व	आचार्य कालक	नि ६८ की चू प ५५
ईर्या समिति	ईर्यासमित मुनि । अरहन्नक ।	नि ९१ की चू प ५९

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
एषणा समिति	नंदीषेण । पांच साधु ।	
आदान निक्षेप समिति	श्रेष्ठीसुत मुनि	
उत्सर्ग समिति	धर्मरुचि अनगर	
मन-वचन-कायगुप्ति	श्रेष्ठीसुत । साधु और चोर । साधु ।	नि ९२ की चू प ६०
अधिकरण और क्षमा	दुरूतक-कुंभकार ।	नि ९२-९४ चू प ६०
क्षमादान	उद्रायण और प्रद्योत	नि ९२-९८
शरणागत-रक्षा	द्रमक और चोर सेनापति	नि ९२, ९९, १०० चू प ६१
क्रोध	पर्वत-भूमि-रेणु-जलराजि	नि १०१-१०३ चू प ६१
मान	शैल-अस्थि-काष्ठ-लतास्तंभ	
माया	वंशमूल-मेषविषाण-गोमूत्रिका-अवलेखनिका	
लोभ	कृमिराग-कर्दम-कुसुम्भ-हरिद्राराग	
क्रोध का परिणाम	मरुक	नि १०४-११२ चू प ६२, ६३
मान का परिणाम	अत्वंकारी भट्टा	
माया का परिणाम	पांडुरा आर्या	
लोभ का परिणाम	आचार्य मंगु	
आचारवान	आशीविष सर्प दृष्टांत	९/२/३७ चू प ७६
बृभा (बृहत्कल्पभाष्य) भाग-१		
मंगल	नृप । निधि । विद्या-मंत्र	२०
सम्यक्त्व	सरित्प्रस्तर । पथ । ज्वर । वस्त्र	९६-११०
	जल । पिपीलिका । पुरुष । कोद्रव	
अनुयोग		१७१, १७२
द्रव्यानुयोग	वत्स-गौ	वृ पृ ५२-५८
क्षेत्रानुयोग	शातवाहन और कुब्जा	
कालानुयोग	तक्रविक्रय	
वचनानुयोग	बधिर-उल्लाष । ग्रामेयक	
भावानुयोग	श्रावक भार्या । साप्तपदिक । कौकणकदारक ।	
	नकुल । कमलामेला । शम्ब । श्रेणिक और चेलना ।	
सूत्र-अर्थ	मुद्रायुक्त पत्रक	१९५ वृ पृ ६३
भाषा-विभाषा-वार्तिक	प्रतिश्रुत । अध्रपटल । मंख	१९६-२००
ऋषभ-महावीर की तुल्य प्ररूपणा	वर्तनी दृष्टांत	२०५-२०७

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
निष्पक्ष वाचना	दारु। धातु। व्याधि। बीज। कांकटुक। लक्षण। स्वप्न दृष्टान्त	२१५-२२३
योग्य-अयोग्य शिष्य अध्ययन की प्रेरणा, गर्वत्याग अप्रशस्त-प्रशस्त भावउपक्रम द्रव्यहीन	अग्नि, बाल-ग्लान, सिंह आदि दृष्टान्त कालकाचार्यकथा, धूलि दृष्टान्त गणिका। ब्राह्मणी। अमात्य माता-पुत्र	२२४-२३२ २३९ वृ पृ ७३, ७४ २६२-२६४ २८९ वृ
ज्ञान के अतिचारः हीनाक्षर- अधिकाक्षर आदि शिक्षार्थी की परीक्षा शिक्षा के अनर्ह-अर्ह	विद्याधर और अभय। अशोक-कुणाल वज्जुल और बंदर। पायस। आवली उंडिका (मुद्रा) पातन मुद्गशैल-कृष्णभूमि। कुट। चालनी- तापस भाजन। परिपूणक-हंस। महिष- मेष। मशक-जलौक। बिडाली-जाहक। गौ। भेरी। आभीरी	२९१-२९६ वृ ३३०-३३३ ३३४-३६१
ज्ञान का गर्व अनुभवहीनता त्रुटित आलापक ज्ञान से हानि सूत्रार्थ का व्यवच्छेद पुण्य का उपहनन। रहस्योद्घाटन। महिला रहस्य गुरु का अपलाप शिक्षित शिष्य की परीक्षा	दुर्विदग्ध वैयाकरण वैद्य और राजा उत्सारकल्पिक आचार्य घंटाशृगाल रक्तपट भिक्षु अमात्य। बटुकी और मूलदेव परिव्राजक आम्र और वृक्षबीज दृष्टान्त	३७२ ३७६ ७१७ ७२१-७२३ वृ ७४२ ७६० वृ ७८६ ७९८-८०२

बृभा भाग-२

निर्दयता	म्लेच्छ द्वय	९८३ वृ
असुरक्षा से हानि	इक्षुकरण दृष्टान्त	९८८ वृ
वर्जना का महत्त्व	कन्यान्तःपुर। शकट। स्थली	९९१-९९३ वृ
स्वाद का दुष्परिणाम	अमांसभक्षी और मद्यप। मुद्गफली	९९४
परिणामक-अपरिणामक	चार ब्राह्मण	१०१२-१०१६
प्रतिसेवना	पटरानी	१०५१
श्रुत की आंख	प्रज्ञाचक्षु सोमिल ब्राह्मण	११५३
पठित श्लोकत्रयी से जीवनरक्षा	यवराजर्षि	११५४-११६१

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
अर्हत्-वाणी-श्रवण का लाभ	वणिक की वृद्ध दासी	१२०५
सूत्र के अर्थग्रहण की उपयोगिता	बैल। शालिकरण दृष्टांत	१२१९
प्रतीच्छक शिष्य की परीक्षा	वधू दृष्टांत	१२५८-१२६१
स्मरणा आपात कटु	राजा की नेत्रचिकित्सा	१२७७ वृ
एकत्व भावना	पुष्पचूल और पुष्पचूला	१३४७-१३५२ वृ
पात्र का गुण	साधु और ब्राह्मण	१७१४ वृ
पोषण का उद्देश्य	उरभ्र और अतिथि	१८१२ वृ
पुरःकर्मकृत कर्मबंध	उडंकऋषि और ब्रह्महत्या	१८५६ वृ
अभ्यर्थना की आकांक्षा से हानि	राजा और अभिमानी मरुक	१८८३, १८८४ वृ
अपहरण हेतु प्रलोभन	भृगुकच्छ में कपटश्राद्ध	२०५४ वृ

बृभा भाग-३

दोषायतन वर्जन आवश्यक	आप्रप्रिय राजपुत्र	२१६६ वृ
निमित्त का परिहार	मुरुंड राजा का दूत	२२९१-२२९३
आज्ञा का महत्त्व	चन्द्रगुप्त राजा	२४८७, २४८९ वृ
कामातुर देवियां, स्त्रियां आदि	व्यंतर देवियां और धूर्त। रयणा देवी। अर्हन्नक-मर्कटी। सिंही-पुरुष।	२५०५-२५०८, २५४५-२५४७
योनिप्राभृत : विद्या से अश्व निर्माण	श्वान-मानुषी	२६८१ की वृ
कलह की उपेक्षा से विनाश	सिद्धसेनाचार्य	२७०६, २७०७ वृ
कषाय से चारित्रनाश	गज और सरट	२७१३-२७१५ वृ
अभियोग का प्रयोग	द्रमक और कनकरस	२८१९ वृ
रात्री में भिक्षाटन सदोष	संन्यासी और पणिहारी	२८४१, २८४२ वृ
कृतकरण का साहस	कालोदाई भिक्षु	२९६४ वृ
मिथ्या अहंकार	तीन सिंह और साधु	३२४६-३२५६ वृ
बोली से यथार्थ बोध	सर्पशीर्ष और पूंछ	३२५१ वृ
अयोग्य को उपदेश	खसद्रुम आख्यानक	३२५२ वृ
चिकित्सा का अपप्रयोग	वानर और शकुनि	३२५९, ३२६०
अनार्य क्षेत्र में विहरण के दोष	अनधीत वैद्यपुत्र	३२७१-३२७४ वृ
श्रमण-संघ के प्रभावक	आचार्य स्कंदक	३२७५-३२८९ वृ
	राजा सम्प्रति और आर्यमहागिरि- सुहस्ती	

बृभा भाग-४

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
जागना अच्छा या सोना	श्रमण महावीर और जयन्ती	३३८३
साधु और बहुमूल्य वस्त्र	स्तेन दृष्टांत	३९०२, ३९०४
सुलक्षण वस्तु की विशेषता	द्रमक। वर्धकिसुत	३९५८-३९६० वृ
मात्रक के अग्रहण से तिरस्कार	चारत्तग	४०६६ वृ
सुप्रावृता साध्वी की गरिमा	योध। मुरुण्ड-हस्ती। नर्तकी-लंखिका। कदली स्तम्भ	४१२०-४१२८ वृ
विनय का मूल्य	दास दृष्टांत	४४३०-४४३४ वृ
आचार्य का सम्मान	भद्र भोजिक	४४५८ वृ
अपराधों के एकीकरण से हानि	तृण-सारणि। सर्षप-शकट-मंडप। वस्त्र। मरुक दृष्टांत	४५२१-४५२३
पुरःकर्म का प्रतिषेध	उदक दृष्टांत	४५७६ वृ.
अव्यापृत आदि गृह और शय्यातर	कुटुम्बी। वणिक्। पिशाचगृह	४७६९-४७७६

बृभा भाग-५

वसति का दोष	पादलिप्त आचार्य और राजकन्या। श्रीगृह	४९१५, ४९२५ वृ
कषाय दुष्ट	सर्षपनाल। मुखानन्तक। उलूकाक्ष। शिखरिणी।	४९८७-४९९२
स्त्यानर्द्धि निद्रा	पुद्गल। मोदक। कुंभकार। हाथीदान्त को उखाड़ना। वटशाला भंजन।	५०१७-५०२२
अर्थदान	नैमित्तिक आचार्य और वणिक् मित्र	५११५-५११७
वेदोपहत-उपकरणोपहत पंडक	हेमकुमार। कपिल क्षुल्लक	५१५२-५१५४
द्रव्यमूढ	घटिकावोद्र वणिक्	५२१५ वृ
कालमूढ	पिंडारक	५२१६ वृ
गणनामूढ	उष्ट्रारूढ	५२१७ वृ
सादृश्यमूढ	महत्तर और सेनापति का संग्राम	५२१७ वृ
वेदमूढ	राजदृष्टांत	५२१८ वृ
व्युद्ग्राहित मूढ	द्वीपजात। पंचशैल। अंधदृष्टांत। सुवर्णकार	५२२३-५२२७ वृ
ग्लानावस्था में वेदोदय	सुकुमारिका आर्या	५२५४-५२५९ वृ

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
कुशलता से द्रव्य रक्षा	अगारी दृष्टांत	५२९२, ५२९३ वृ
श्रम से स्व-परहित	बदरीफल दृष्टांत	५२९७-५२९९
ऋजुजड़-ऋजुप्राज्ञ	नटप्रेक्षणक दृष्टांत	५३५२
पारिहारिक-अनुपारिहारिक	गौ दृष्टांत	५६०७
नौका-संतरण संबंधी दोष	मुरुड राजा और साधु। सुदाढ देव और भगवान महावीर	५६२५-५६२८
प्रायश्चित्त के नानात्व के कारण	साहुकार की चार पत्नियां	५७६१ वृ
सदृश अपराध, विसदृश दण्ड	तीन राजकुमार	५७७५, ५७८०
अतिरिक्त भोजन से हानि	अमात्य और बटुक	५८३१ वृ
महाव्रतों की रक्षा	रत्नसहित वणिक्	५८५७, ५८५८
लज्जा से संरक्षण	स्नुषा दृष्टांत	५९४१, ५९४२
दूसरे के मोकपान से हानि	देवी दृष्टांत	५९८७, ५९८८ वृ

बृभा भाग-६

खिंसनाकारी अग्राह्य	यथाघोषश्रुतग्राहक मुनि	६०९१-६०९८
परुष वचन	व्याध की दो पुत्रियां	६१००, ६१०१
परुषवचन और उपशांति	चंडरुद्राचार्य और इभ्यसुत शैक्ष	६१०२-६१०४
दोष का अपलाप, प्रायश्चित्त की वृद्धि	दर्दुर घातक	६१३५-६१४१
अदत्तादान	मोदकग्रहण	६१४६-६१४८
संयमी की स्खलना	परिव्राजिका रोहा और अजापालक	६१६९, ६१७०
भय और राग से क्षिप्तचित्तता	सोमिल बटुक। राजक्षुल्लिक	६१९६-६२००
अतिहर्ष से पागलपन	राजा सातवाहन	६२४३-६२४९
यक्षावेश के हेतु : वैर और राग	सपत्नी। भूतक। दो भाई	६२५८-६२६१
भाषा कौकुचिक	श्रेष्ठी दृष्टांत	६३२५
शरीर कौकुचिक	मृत-सुप्त दृष्टांत	६३२६
मुखरता	राजा और शीघ्रगामी पुरुष	६३२८
प्रतिक्रमण का महत्त्व	तीन प्रकार के वैद्य और राजपुत्र	६४२७-६४३०
	व्यभा (व्यवहार भाष्य-वृत्ति)	

व्यवहर्तव्य और प्रायश्चित्त	ब्राह्मण	१८ वृ
अव्यवहार्य प्रायश्चित्त	कुंभकार का मिच्छा मि दुक्कडं	२५ वृ
निर्णायक की न्यायनिष्ठा	दो गीतार्थ मुनि	२९, ३०

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
ज्ञानाचार : काल, विनय आदि	तक्रकुट। अभय, राजा और हरिकेश। ब्राह्मण और भील। अशकटपिता। नापित	६३ वृ
दर्शनाचार : अमूढदृष्टि आदि मायायुक्त आलोचना	सुलसा। श्रेणिक अश्व। कुंचिक तापस। योद्धा। मालाकार। मेघ	६४ वृ ३२१, ३२४ वृ
विषम प्रतिसेवना, तुल्य शोधि अनवस्था प्रसंग निवारण जानबूझकर बहुदोष सेवन अनेक अपराधों का एक दंड दोषों का एकत्व कब ? प्रायश्चित्त दानविधि प्रायश्चित्त वहन और वैयावृत्त्य आलोचनार्ह की गंभीरता छोटी त्रुटि की उपेक्षा से हानि शुद्धतप-परिहारतप अनुशिष्टि-उपालंभ-उपग्रह निषद्याकरण का महत्त्व योनिसंप्राभृतग्रंथ : जीवोत्पादन शल्योद्धरण से भवसंतरण अंगुलिनिर्देश (रोकटोक) का मूल्य शास्त्रार्थ (वाद) किसके साथ ? बल भावना चिकित्सा : अक्षिप्रत्यारोपण त्रिया (स्त्री) हठ अल्पश्रुत : प्रतिमा के अनर्ह बड़ा अपराध : भय नर : नारी के वशवर्ती गीतार्थनिश्चित विहार क्यों ? मोक्ष का व्याघात : शल्य प्रायश्चित्त-वहन प्रतिशोध प्रोत्साहन-प्रशंसा	पांच वणिक् और पन्द्रह खर राजा और तीन रक्षक गंजा पनवाड़ी और सैनिक पुत्र रथकारभार्या। चोर मूलदेव ब्राह्मण। वणिक्। निधि राजसेवक दंतपुरवासी दृढमित्र तृणशूक। सर्षप। शकट। वस्त्र लघु-वृहत्-गंत्रौ सुभद्रा। मृगावती। आचार्य निःशमश्रु राजा और नापित महिष दृष्टांत दो व्याध कन्यान्तःपुर चाणक्य और नलदाम खंडकर्ण और सहस्रयोधी शैक्ष और देव पटरानी : रणभूमि में बहुपुत्र-विकुर्वणा संग्रामद्विक राजा और पुरोहित तीन गोरक्षक सर्पदंश हरिण की बुद्धिमत्ता राजा का कटु व्यवहार पराजित योद्धा विजयी	३२९, ३३० ३३२-३३४ ३३७, ३३८ ४४८-४५० ४५२ वृ ४५४-४५८ ४८१, ४८२ ५१७, ५१९ वृ ५५५ वृ ५५६ वृ ५६०, ५६१ वृ ५८६ वृ ६४६ वृ ६६२-६६४ ६६७-६६९ ७१६ वृ ७८४ वृ ७९५, ७९६ ८१२ ८२० ८२७-८३० ९३२-९३५ ९९९, १००० १०२१ १०३८-१०४० १०४२ १०४३

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
युक्ति से लाभ	कृषक और वृषभ	१०४५ वृ
राग से विक्षिप्तता	जितशत्रु राजा और कनिष्ठ भ्राता	१०८१, १०८२
अतिहर्ष से पागलपन	शातवाहन राजा	११२५-११३१
यक्षावेश के हेतु	श्रेष्ठी । दो भाई । कौटुम्बिक	११४३-११४५
मानुषिक उपसर्ग	चोरों द्वारा अपहरण	११६१
साधु सुरक्षा के उपाय	राजसेवक और गणिका	११७५-११७९
दासत्व से मुक्ति के उपाय	वणिक पुत्र	११८०-११९०
आचार्य : परगण में उपस्थापना	मिथ्या दोषारोपण	१२३०, १२३१ वृ
प्रतिसेवना	आचार्य को प्रायश्चित्त	१२३२, १२३३
अगृहीभूत उपस्थापना	दो गण : दो आचार्य	१२३४-१२३६
झूठे आरोप का अनावरण	दो मुनि	१२३९-१२४७
परस्परता का लाभ	दो सगे भाई	१२३१, १२३२
आचार्य प्राज्ञ हो	शक्तिहीन राजकुमार	१३७८
शक्तिसम्पन्न की पारगामिता	सिंह और सियार । चन्द्रमा का उद्धार	१३८०, १३८२
वाणी से यथार्थ बोध	नीलवर्णी सियार (खसद्रुम)	१३८३ वृ
बुद्धिसम्पन्न विजयी	शशक और सिंह	१३८५, १३८६
कल्पना के कोरे से उदर नहीं भरता	भिखारी का सपना । ग्वाला और आभूषण	१३८८-१३९१
यथास्थान नियुक्ति : गणवृद्धि	दो भाई	१४०९-१४११
विरक्ति का हेतु : रूपदर्शन	वज्रभूति आचार्य और पद्मावती	१४१४, १४१५
प्रमाद से चारित्र-चन्दन दग्ध	अंगारदाहक और चंदनखोड़ी	१४४४-१४४६
कामशमन का उपाय : व्यस्तता	पुत्रवधु	१६०१ वृ
पद के योग्य : दायित्वशील	अजापालक । श्रीघर का रक्षक	१६११-१६१४
संघकार्य की प्रधानता	विवाद-निर्णय, धूलिजंघ मुनि	१६५०-१६६१
कपटयुक्त व्यवहार	पैर ने मारा । लाट देशवासी	१६९८-१७०१
अनुशासन	मूलदेव राजा	१८९५-१८९७
पिता का दायित्व	कन्यान्तःपुर में वणिक कन्या	१९०१-१९०८
गृहव्यवस्था हेतु परीक्षण	धन श्रेष्ठी और चार पुत्रवधुएं	१९१०
पदयोग्य शिष्य की परीक्षा	राजा और राजकुमार	१९९४
पिता नाराज क्यों ?	पुत्र का राज्याभिषेक	२०४६
प्रमाद से हानि	अजापालक । वैद्य । योद्धा । माली	२३२२-२३२६
देववन्द्य तपस्वी	स्तूप विवाद, संघ विजयी	२३३०, २३३१
सांभोजिक-पृच्छा-प्रवर्तन	कूप दृष्टान्त । दो भाई । तिल-तंदुल । शैव । गोवर्ग	२३५६-२३५८ वृ

विषय	कथा-संकेत	सन्दर्भ
साधु-साध्वी : परस्पर वैयावृत्त्य चिकित्सा	कपट भिक्षुउपासक युद्ध और वैद्य	२३८२-२३८५ २४०३-२४०६
कपटपूर्ण व्यवहार	सूपकार और बकरी	२४५३, २४५४
आचार्य : संज्ञाभूमि में गमनविधि	इन्द्रदत्त राजा का पुत्र	२५४९
लौकिक-लोकोत्तर विनय	गंगा का प्रवाह किस ओर ?	२५५२-२५५७
आचार्य	तोसलिक राजा और दो प्रतिमाएं	२५६०-२५६४
सहयोग से लाभ	एक कौटुम्बिक और बहु कृषक	२६१०-२६१३
भावों के अनुसार निर्जरा	जिन-गौतम-सिंह दृष्टांत	२६३७, २६३८
मुद्रांकन का मूल्य	राजा और तीन पुरुष	२६४१, २६४२
आस्थानिका का महत्त्व	राजा शातवाहन और पट्टरानी पृथिवी	२६४५-२६५७
दृष्टि-विक्षेप (चंचलता) से हानि, एकाग्रता से ज्ञानोपलब्धि	किसान, दासी और कर्मकर। मुडिंबक मुनि। अर्जुनस्तेन	२६५३-२६५९ वृ
प्रमाद का फल	राजा और ग्रामीण	२६६६, २६६७
आचार्य प्रायोग्य आहार	आर्य समुद्र और मंगु	२६८५-२६९२
प्रवर्तनी की जागरूकता अनिवार्य	परिव्राजिका	२८४८, २८६२, २८६३
अमंगल का निवारण	जम्बूवृक्षगृहवासी और वटवृक्षगृहवासी	२८८०, २८८१
आज्ञा उल्लंघन से नाश	आचार्य और श्राविका। म्लेच्छ-भय	२९५६, २९५७, ३१०३
उपकार	राजा और पांच सेवक	३१०६-३१०८
न्याय और करुणा	राजा और वणिक-स्त्री	३२५१
युक्ति और साहस	क्षुल्लक और आर्यिकाएं	३२५२
लोभ से हानि	अमात्य	३६९२-३६९४
अहंकार से हानि	अट्टण मल्ल, मात्सिक मल्ल	३८४०
संस्कारदात्री मां	चोर बालक की मां दंडित	४२०८
संघ रक्षा	दूध रक्त बन गया	४२७८
संलेखना	शिष्य द्वारा अंगुलि त्रोटन	४२९०, ४२९१
आज्ञाभंग : मृत्यु का वरण	अमात्य और कोंकणदेशवासी	४२९२, ४२९३
अनशन में धृति-सहिष्णुता	पांच सौ स्कन्दक-शिष्य। चाणक्य। चिलातीपुत्र। कालासवैश्यपुत्र। बांसों से विद्ध मुनि। अवंतिसुकुमाल। जल-उपद्रुत। म्लेच्छ-उपद्रुत बत्तीस मित्र मुनि	४४१७-४४२९
विनय से वैभवप्राप्ति	राजा शक और सेवक	४५५५-४५६२

विशेष शब्द विमर्श

अकोप्य—अकोपनीय, अदूषणीय।

अकोप्यो अदूसणिज्जो। (निचू ३ पृ ५१२)

अपरिहारी—अन्यतीर्थिक और गृहस्थ।

अपरिहारी ते य अण्णत्तिथियगिहत्था। (निचू २ पृ ११८)

अभिचारक—वशीकरण। उच्चाटन।

अभिचारकं णाम वसीकरणं उच्चाटणं। (निचू १ पृ १६३)

अभिषेक—उपाध्याय। (द्र संघ)

अव्यक्त—सोलह वर्ष से कम उम्र वाला। अगीतार्थ, जिसने निशीथ नहीं पढ़ा हो। जिसकी कांख आदि में बाल न आए हों।

सोलसवरिसारेण वयसा अव्वत्तो। अणधीयणिसीहो अगीयत्थो सुत्तेण अव्वत्तो। (निचू ३ पृ ३०) जाव ककखादिसु रोमसंभवो न भवति, ताव अव्वत्तो, तस्संभवे वत्तो। (निचू ४ पृ २६२)

अशिव—व्यन्तरकृत उपद्रव। महामारि।

'अशिवं' व्यन्तरकृत उपद्रवः। (बृभा १४५५ की वृ) 'अशिवं' मारिः। (व्यभा १७३८ की वृ)

आगन्त्रगार—धर्मशाला।

तत्र आगत्य आगत्यागारा तिष्ठन्ति तं आगन्तागारं।

(आचूलाचू पृ ३४०)

आदेशन—लोहकार आदि की शाला।

'आदेशनानि' लोहकारादिशालाः। (आचूलाचू पृ ३६६)

आलयगुण—प्रतिलेखना आदि बाह्य क्रियाएं। उपशमगुण।

आलयगुणेहिं—बहिश्चेष्टाभिः प्रतिलेखनादिभिरुपशमगुणेन च। (बृभा ३९८ वृ)

उत्तिंग—छिद्र। तृणाग्र पर स्थित जलबिन्दु।

उत्तिंगं णाम छिद्रं। (निचू ४ पृ २०९) उत्तिंगस्तृणाग्रउदक-बिन्दुः। (आचूलाचू पृ ३२२)

उद्भ्रामक भिक्षाचर्या—गांव के बाहरी भाग में भिक्षाटन करना।

बहिर्ग्रामेषु भिक्षार्थं यत् पर्यटनं सा उद्भ्रामकभिक्षाचर्या।

(बृभा १२५६ की वृ)

उद्यान—जहां लोग उद्यानिका (क्रीड़ा/मनोरंजन) के लिए जाते हैं। जो नगर के समीप होता है।

जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति, जं वा ईसि णगरस्स उवकंठं ठियं तं उज्जाणं। (निचू २ पृ ४३३)

उपतल—हस्ततल के सब पार्श्वों में उन्नत भाग।

हत्थतलाओ समंता पासेसु उण्णया उवतलं भण्णति।

(निचू २ पृ २६)

ऊर्ध्वदर (उद्दर)—सुभिक्ष।

उदं जाव भरिया तं उद्दरं, पर्यायवचनेन सुभिक्षमित्यर्थः।

(निचू ३ पृ ८०)

ऋजुप्राज्ञ—ऋजुता-प्राज्ञता-सम्पन्न। मुनिआचार का यथावत् ग्रहण और पालन करने वाले। (द्र कल्पस्थिति)

ओज—राग-द्वेषरहित, मध्यस्थ, तुला-सम।

रागदोसविरहितो दोण्ह वि मज्झे वट्टमाणो तुलासमो ओयो भण्णति। (निचू ३ पृ ५११) यो न रागे न द्वेषे किन्तु तुलादण्डवद् द्वयोरपि मध्ये प्रवर्तते स ओजा भण्यते। (बृभा १५८ की वृ)

कल्पस्थित—आचार्यपद का अनुपालक।

आयरियाणं पदाणुपालगो कप्पट्टितो भण्णति। (निचू ३ पृ ६५)

कल्याणक—प्रायश्चित्त स्वरूप दिया जाने वाला तपविशेष। (द्र कल्याणक)

कामजल—स्नानपीठ।

'कामजलं' स्नानपीठम्। (आचूलाचू पृ ३९७)

कृतयोगी—गीतार्थ।

'कडजोगि' त्ति गीयत्थो। (निचू ३ पृ ५१२)

खुलक्षेत्र—मंद भिक्षा वाला अथवा घृत आदि

उपग्रहकारी द्रव्यों की अप्राप्ति वाला क्षेत्र।

खुलखेतं णाम मंदभिक्षं जत्थ वा घयादि उवग्गहदव्वं न लब्धति। (निचू ४ पृ ३००)

गणी—आचार्य-उपाध्याय।

गणी द्विविध आचार्य उपाध्यायश्च। (व्यभा ३६३४ की वृ)

चन्द्रकवेध—राधावेध, चक्राष्टक के उपरिवर्ती पुतली के बायें अक्षिगोलक का वेधन करना।

चन्द्रको नाम चक्राष्टकोपरिवर्तिन्याः पुत्तलिकाया वामा-
क्षिगोलकः तस्य वेधनः—ताडनम्। (बृभा २८७६ की वृ)

चरती दिशा—वह दिशा, जिसमें तीर्थकर, केवली, श्रुतकेवली, युगप्रधान आचार्य आदि विहरण करते हैं। (द्र आलोचना)

चिरप्रव्रजित—तीन वर्ष का दीक्षित मुनि। पांच वर्ष का दीक्षित मुनि। बीस वर्ष का दीक्षित मुनि। (द्र दीक्षा)

छत्रच्छाया—आचार्य के शय्यातर का घर। (द्र शय्यातर)

जूह—कांजी। चावलोदक अथवा भूंग का पानी।

जूहं च कांजिकमित्यर्थः। तंडुलोदगं मुद्गरसो वा जूहं भणति।
(निचू ३ पृ १०३)

डहरिका—जन्म से लेकर अठारह वर्ष तक की लड़की। जन्मपर्यायेण यावदष्टादशिका अष्टादशवर्षप्रमाणा तावद् भवति डहरिका। (व्यभा २३१२ की वृ)

तीर्थ—चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ। द्वादशांग गणिपिटक।

तित्थं चाउवण्णो समणसंघो दुवालसंगं वा गणिपिटगं।

(निचू १ पृ १२२)

दंडपरिहार—बड़ी जीर्णकम्बल।

महती जीर्णकम्बलिका दण्डपरिहार उच्यते।

(बृभा २९७७ की वृ)

दृष्टिप्रधान—युगप्रधान।

दिट्ठिप्पहाणेहिं...युगप्रधानैरित्यर्थः। (व्यभा ३७११ की वृ)

देवचिन्तक—निमित्तज्ञ, शुभ-अशुभ बताने वाले।

देवचिन्तका नाम ये शुभाशुभं राज्ञः कथयन्ति।

(व्यभा ४५६७ की वृ)

नालिका—घटिका, जिससे जल गिरने के आधार पर कालबोध होता है।

नालीत त्ति घडित्तो उदगगलणोवलक्खित्तो कालो।

(निचू ४ पृ ३४१)

निरुद्धपर्याय—जिसे दीक्षित हुए तीन वर्ष पूर्ण हो चुके हों।

निरुद्धपरियागो णाम जस्स तिण्णि वरिसाणि परियायस्स संपुण्णाणि। (निचू ४ पृ २६८)

निषीधिका—स्वाध्यायभूमि।

‘निषीधिका’ स्वाध्यायभूमिः। (आचूलावृ प ३६१)

पंजर—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणा-
वच्छेदक—इन पांचों से परिगृहीत गच्छ। (द्र उपसम्पदा)

परिज्ञावान्—अनशनकर्ता।

‘परिज्ञावान्’ अनशनी। (बृभा ४४४२ की वृ)

पल्ली—जहां अनेक प्राणी उपमर्दित होते हैं।

बहुप्राण्युपमर्दो यत्र सा पल्ली। (निचू १ पृ १२२)

पश्चात्कृत—वह गृहस्थ, जो पहले साधु था।

पुराणो पच्छाकडो। (निचू ३ पृ १०१)

पारिहारिक—एक मासिक यावत् छहमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त मुनि। भिक्षा आदि के दोषों का परिहार करने वाला उद्यतविहारी साधु।

पायच्छित्तं...आवण्णो मासाति जाव छम्मासियं सो परिहारियो।
(निचू २ पृ ३०३) परिहारिकः—पिण्डदोषपरिहरणादुद्युक्त-
विहारी साधुः। (आचूलावृ प ३२४)

पारिहारिककुल—स्थापित कुल। (द्र स्थापनाकुल)

पूतिकर्म—अविशोधिकोटि के दोष (आधाकर्म आदि) से युक्त सम्मिश्रित आहार आदि। (द्र पिण्डैषणा)

पृष्ठमांसिक—चुगलखोर, जो परोक्ष में दूसरों का अवर्णवाद करता है।

पिड्ढिमंसितो परमुहस्स अवण्णं बोल्लेइ। (दशाचू प ७)

प्रकाशभोजी—दिन में भोजन करने वाला।

प्रकाशभोई दिवसतो भुंजति न रात्रौ। (दशाचू प ४१)

प्रतीच्छक—सूत्रार्थग्राहक साधु, जो अन्य गण से आकर श्रुत आदि के लिए उपसम्पदा स्वीकार करता है।

पाडिच्छे त्ति येऽन्यतो गच्छान्तरादागत्य साधवस्तत्रोपसम्पदं गृह्णन्ति ते प्रतीच्छकाः। (व्यभा १५७ की वृ) प्रतीच्छकः परगणवर्ती सूत्रार्थतदुभयग्राहकः। (व्यभा १६८२ की वृ)

प्रत्याजाति—एक भव से च्युत होकर पुनः उसी भव में जन्म लेना। प्रत्याजाति मनुष्य और तिर्यचों की ही होती है। जतो चुओ भवाओ, तत्थेव पुणो वि जह हवति जम्मं। सा खलु पच्चाजाती, मणुस्स-तेरिच्छिए होइ॥

(दशानि १३२)

प्रथमसमवसरण—वर्षाकाल ।

पढमसमोसरणं वरिसाकालो भण्णति । (निचू १ पृ ११७)

प्राभृतिका—देवों द्वारा कृत समवसरण-रचना, महा-प्रातिहार्य आदि से पूजा ।

‘प्राभृतिकां’ सुरविरचितसमवसरणमहाप्रातिहार्यादिपूजा-लक्षणाम् । (बृभा ४९७६ की वृ)

बकुशत्व—शरीर और उपकरणों की विभूषा करना ।

बकुशत्वं शरीरोपकरणविभूषाकरणम् । (व्यभा १५८९ की वृ)

बिलधर्म—एक ही वसति—साधारण सभा आदि में साधु और गृहस्थ का एकत्र अवस्थान ।

‘बिलधर्मो नाम’ एकस्यामेव वसतौ गृहस्थैः समं संवर्त्यै-कत्रवस्थानम् । साधारणे सभादौ पिण्डीभूय साधवो गृहस्थाश्च यदेकत्रावतिष्ठन्ते स बिलधर्मः । (बृभा ३१५८-३१६१ की वृ)

भूतार्थ—संयम को सिद्ध करने वाली विचार-विहार-संस्तार-भिक्षा आदि क्रियाएं ।

भूयत्थो णाम विआर-विहार-संथार-भिक्षादिसंजमसाहिका किरिया । (निचू १ पृ ४४)

भृगु—नदीतट आदि ।

नदितटमादी उ भिगू । (निभा ३८०२)

मातृग्राम—स्त्री । स्त्रीवर्ग ।

इत्थो माउग्गामो भण्णति । (निचू २ पृ ३७१) मातृग्रामो नाम समयपरिभाषया स्त्रीवर्गः । (बृभा २०९६ की वृ)

मैथुनिका—मामा की पुत्री ।

मैथुनिका—मातुलदुहिता । (बृभा ४९३८ की वृ)

मोहोपासक—कुप्रवचन व कुधर्म का उपासक ।

कुप्पवयणं कुधम्मं, उवासए मोहुवासको सो उ ॥

(दशानि ३६)

म्लेच्छ—अव्यक्त और अस्फुट बोलने वाला ।

मिलक्खू जे अव्वत्तं भासंति । (निचू ४ पृ १२४)

यथाच्छन्द—उत्सूत्र का प्रज्ञापक, स्वच्छंदचारी ।

(द्र श्रमण)

यथालन्द—अप्रमाद की साधना का प्रयोग ।

(द्र यथालन्दकल्प)

यावन्तिका—‘जितने भिक्षाचर आयेंगे, उतनों को भिक्षा दी जाएगी’—इस अभिप्राय से बना भोजन ।

यावन्तो भिक्षाचरा आगमिष्यन्ति तावतां दातव्यम् इत्यभिप्रायेण यस्यां दीयते सा यावन्तिका । (बृभा ३१८४ की वृ)

रचितभोजी—कांस्यपात्र, पट आदि में देयबुद्धि से पृथक् रूप से स्थापित भोजन को करने वाला । (द्र पिण्ढैषणा)

लन्द—काल । तरुण स्त्री का गीला हाथ जितने समय में सूखता है, वह जघन्य लंद है । पूर्वकोटि उत्कृष्ट लंद है ।

लंदमिति कालस्तस्य व्याख्या—तरुणित्थीए उदउल्लो करो जावतिएण कालेण सुक्कति जहण्णो लंदकालो । उक्कोसेण पुव्वकोडी । (निचू ४ पृ ५१)

लवसत्तम—वे देव, जिनकी आयु सात लव अधिक होती तो वे उसी भव में मुक्त हो जाते । (द्र देव)

लाढ—साधु ।

‘लाढे’ त्ति साहुणो अक्खा । (निचू ४ पृ १२५)

वयवान्—तीसवर्षीय युवा ।

तीसतिवरिसो वयवं । (निचू ३ पृ २९)

वस्तु—अर्थाधिकार विशेष ।

वस्तुनि नाम अर्थाधिकारविषेशाः । (व्यभा ४३५ की वृ)

वाताहत—आगंतुक शैक्ष ।

वायाहडो ‘वाताहतो नाम’ आगन्तुक शैक्षः । (बृभा ४६५८ वृ)

विचार—प्रश्नवण ।

‘विचारः’ प्रश्नवणम् । (बृभा २०२५ की वृ)

विचारभूमि—उत्सर्गभूमि । (द्र समिति)

विह—मार्ग ।

विहं णाम अद्धानं । (निचू ४ पृ १०५)

वृषभ—अविकारी गीतार्थ । गच्छ की अनुकूल-प्रतिकूल

स्थिति में भारवहन में समर्थ ।

गीतार्था अविकारिणो वृषभा उच्चन्ते । (बृभा ५१८७ की वृ)

गच्छस्स सुभासुभकारणेसु भारुव्वहणसमत्था वसभा भण्णति ।

(निचू ३ पृ १०७)

वृषभग्राम—जहां ऋतुबद्ध (शेष) काल में पन्द्रह और

वर्षाकाल में इक्कीस मुनि प्रवास करते हों, वह वृषभ क्षेत्र है। (उत्कृष्ट वृषभक्षेत्र—द्र शय्या)

‘वसभगामो णाम’ जत्थ उडुबद्धे आयरिओ अप्पबित्तिओ गणावच्छेओ अप्पतत्तिओ एस पंच, एतेणं पमाणेणं जत्थ तिण्णि गच्छा परिवसंति एयं वसभखेतं। वासासु आयरिओ अप्पतत्तितो गणावच्छेत्तितो अप्पचउत्थो एते सत्त, एतेणं पमाणेणं तिण्णि गच्छा परिवसंति...एते इक्कवीसं एयं वसभखेतं। (निचू ४ पृ १८९)

वैशाख—योद्धा की मुद्रा विशेष, दोनों एड़ियों को भीतर की ओर समश्रेणि में रखकर अग्रिम तल को बाहर की ओर रखना।

‘वइसाहं’ षण्हओ अब्भतराहुत्तीओ समसेढीए करेत्ति अगिमतलो बाहिराहुत्तो। (दशाचू प ४)

शुक्लमास—लघुमासिक प्रायश्चित्त।

‘शुक्लमासं’ लघुमासमित्यर्थः। (बृभा ४४२६ की वृ)

शूरहक—कलहकारी आदि को सीख देने में समर्थ।

‘शूरहकः’ कलहादिकुर्वतां शिक्षां कर्तुं समर्थः।

(बृभा ४४१० की वृ)

शैक्ष—अगीतार्थ। नवदीक्षित।

‘सेहो’ अगीयत्थो अभिणवदिक्खिओ वा। (निचू १ पृ १३८)

संज्ञी—अणुव्रती श्रावक। (द्र संज्ञी)

संलेहा—तीन कवल।

‘संलेहा’ तिण्णि लंबणा। (निचू ३ पृ ७३)

संस्तृत—पर्याप्त आहार-पानी प्राप्त करने वाला। प्रतिदिन पर्याप्त अथवा अपर्याप्त खाने वाला।

भत्तपाणं पज्जत्तं लभंतो संथडो भण्णत्ति।...दिणे-दिणे पज्जत्तं अपज्जत्तं वा भुंजगे संथडीओ भण्णत्ति। (निचू ३ पृ ७४)

समवसरण—एकत्र मिलन, बहुतों का समवाय। दो समवसरण—वर्षाकाल और ऋतुबद्ध काल। आगमग्रन्थ—सूत्र और अर्थ का समवाय। जिनमें जीव, अजीव आदि नौ-पदार्थों के अस्तित्व की सिद्धि हो, वे आगम।

बहूण समवातो समोसरणं। ते य दो समोसरणा—एगं वासासु, बित्थियं उडुबद्धे। (निचू ३ पृ १२६) समोसरणं णाम मेलओ। सो य सुत्तत्थाणं। अहवा जीवादिणवपदत्थभावाणं अहवा दव्वखेत्तकालभावा, एए जत्थ समोसठा सव्वे अत्थि त्ति वुत्तं भवति तं समोसरणं भण्णत्ति। (निचू ४ पृ २५२)

सांवत्सरिक—चातुर्मासिक, वर्षारात्रिक।

संवच्छरिउ त्ति वा वासारत्तिउ त्ति वा। (दशाचू प ६९)

साकार—प्रातिहारिक, लौटाने योग्य।

‘साकारं’ प्रातिहारिकम्। (बृभा २९७६ की वृ)

सागारिका—जिस वसति में रहने से मैथुनोद्भव (कामोत्पत्ति) होता है। जहां स्त्री-पुरुष रहते हैं।

जत्थ वसहीए ठियाणं मेहुणुब्भवो भवति सा सागारिगा।...जत्थ इत्थिपुरिसा वसंति सा सागारिका। (निचू ४ पृ १)

साणुप्पय—चतुर्थ पौरुषी का चतुर्थ भाग।

साणुप्पओ णाम चउभागावसेसचरिमाए...। (निचू २ पृ २९७)

सूक्ष्म—पुष्प।

‘सूक्ष्माणि’ समयपरिभाषया पुष्पाण्युच्यन्ते। (बृभा १६८१)

(पुष्पाणि य कुसुमाणि य, फुल्लाणि तहेव होंति पसवाणि।

सुमणाणि य सुहुमाणि य, पुष्पाणं होंति एगट्टा॥

—दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ३३)

सेडुग—कपास।

‘सेडुगो’ नाम कर्पासः। (बृभा २९९६ की वृ)

स्कन्ध—एक स्तम्भ पर प्रतिष्ठित कक्ष।

स्कन्धः—एकस्य स्तम्भस्योपर्याश्रयः। (आचूलावृ प ३६२)

स्नान—सुगंधित द्रव्यसमूह।

स्नानं—सुगन्धिद्रव्यसमुदयः। (आचूलावृ प ३६३)

हर्म्यतल—भूमिगृह।

हर्म्यतलं—भूमिगृहम्। (आचूलावृ प ३६२)

हायनी—शतायु जीवन की एक अवस्था, छठा दशक, जिसमें बाहुबल और नेत्रज्योति क्षीण हो जाती है।

हायत्यस्यां बाहुबलं चक्षुर्वा हायणी। (दशाचू प ३)

युगल शब्द विमर्श

अनुशिष्टि-धर्मकथा

- अनुशिष्टि—उपदेशप्रदान। स्तुतिकरण। इहलौकिक अपायदर्शक वचन।
 - धर्मकथा—इहलौकिक और पारलौकिक कर्मविपाक का विस्तार से प्ररूपण करने वाले वचन।
- उपदेशपदाणमणुसट्टी, श्रुतिकरणं वा अणुसट्टी। (निचू ४ पृ ३७५) यद् इहलोकापायदर्शनं क्रियते साऽनुशिष्टिरुच्यते। यत् पुनरिह परत्र च सप्रपञ्चं कर्मविपाकोपदर्शनं सा धर्मकथा।
(बृभा २८९८ की वृ)

अनूप-जंगल

- अनूप—नदी आदि के प्रचुर पानी वाला प्रदेश।
 - जंगल—निर्जल प्रदेश।
- नद्यादिपानीयबहुलोऽनूपः, तद्विपरीतो जङ्गलः निर्जल इत्यर्थः।
(बृभा १०६१ की वृ)

अप्रासुक-अनेषणीय

- अप्रासुक—सचित्त।
 - अनेषणीय—आधाकर्म आदि दोषों से दूषित।
- 'अप्रासुकं' सचित्तम् 'अनेषणीयम्' आधाकर्मादिदोषदुष्टम्।
(आचूलावृ प ३२१)

अबहुश्रुत-अगीतार्थ

- अबहुश्रुत—वह मुनि, जिसने निशीथ सूत्र का अध्ययन नहीं किया।
 - अगीतार्थ—वह मुनि, जिसने आवश्यक आदि सूत्रों का अर्थश्रवण नहीं किया।
- जेण आयारपगप्यो ण ज्ञातितो एस अबहुस्सुतो। जेण आवस्सगादियाणं अत्थो ण सुतो सो अगीयत्थो।
(निचू ४ पृ ७३)

आक्रोश-ताडन

- आक्रोश—गाली-गलौज।
- ताडन—हाथ, दंड आदि से प्रहार।

जारजातो त्ति वयणेण अक्कुट्टो। हस्तदंडादिना प्रहारदानं ताडनं। (निचू ३ पृ ४२)

आगाढवचन-परुषवचन

- आगाढवचन—वह वचन, जिसके बोलने से शरीर में उष्मा पैदा होती है।
 - परुषवचन—स्नेहहीन वचन।
- सरीरस्योष्मा येनोक्तेन जायते तमागाढं। णेहरहियं निप्पिवासं फरुसं भण्णति। (निचू ३ पृ १)

आमार्जन-प्रमार्जन

- आमार्जन—हाथ से साफ करना।
 - प्रमार्जन—रजोहरण से साफ करना।
- हत्थेण आमज्जणं, रयहरणेण पमज्जणं। (निचू २ पृ २१०)

आहेण-पहेण

- आहेण—अन्य गृह से आने वाला उपहार (मिठाई आदि)।
 - पहेण—अन्य गृह में नीयमान उपहार। वरगृह से बधूगृह में ले जाया जाने वाला उपहार।
- जमन्नगिहातो आणिज्जति तं आहेणं, जमन्नगिहं णिज्जति तं पहेणं। जं वहूगिहातो वरगिहं णिज्जति तं आहेणं, जं वरगिहातो वहूघरं णिज्जति तं पहेणं। वरवहूणं जं आभव्वं परोप्परं णिज्जति तं सव्वं आहेणकं। (निचू ३ पृ २२२, २२३)

उत्क्षिप्त-विक्षिप्त

- उत्क्षिप्त—धान्यों के पृथक्-पृथक् ढेर।
 - विक्षिप्त—एक ओर से संबद्ध भिन्न-भिन्न धान्यराशियां।
- उत्खिप्तं भिन्नरासी, विखिप्ते तेसि होत्ति संबंधो। (बृभा ३३०२)

उत्सर्ग-अपवाद कथा

- उत्सर्गकथा—प्रकीर्णकथा। व्यवहारनय प्रधान प्रतिपादन।
- अपवादकथा—निश्चयकथा। शुद्ध (ऋजुसूत्र आदि) नय प्रधान प्रतिपादन।

उत्स्रगो पङ्गकहा य, अववातो होति णिच्छयकधा तु ।
 …ववहारणया, पङ्गणसुद्धा य णिच्छइगा ॥ (निभा २१३१)

उद्यानी-अवयानी

- उद्यानी—प्रतिस्रोतगामिनी नौका ।
- अवयानी—अनुस्रोतगामिनी नौका ।

नौः…या नद्याः प्रतिस्रोतगामिनी सा उद्यानी, अनुस्रोतगामिनी
 अवयानी । (व्यभा ११० की वृ)

औदारिक-हिरण्य

- औदारिक—घटित रूप, स्वर्णाभरण आदि ।
 - हिरण्य—स्वर्ण आदि का अघटित रूप ।
- घडियरूवं द्रविणं ओरालियं भण्णति, अघडियरूवं पुण हिरण्णं
 भण्णति । (निचू १ पृ १३१)

औषध-भैषज

- औषध—हरीतकी आदि ।
 - भैषज—पेया आदि अथवा त्रिफला आदि ।
- औषधानि हरीतक्यादीनि । भैषजानि पेयादीनि त्रिफलादीनि
 वा । (बृभा १४८६ की वृ)

कर्म-शिल्प

- कर्म—आचार्य के उपदेश के बिना प्राप्त कला ।
 - शिल्प—आचार्य के उपदेश से प्राप्त कला ।
- विणा आयरिओवदेसेण जं कज्जति तणहारगादि तं कम्मं इतरं
 पुण जं आयरिओवदेसेण कज्जति तं सिपं । (निचू ३ पृ ४१२)

कृतयोगी-गीतार्थ

- कृतयोगी—श्रुतार्थ के प्रत्युच्चारण में असमर्थ ।
- गीतार्थ—श्रुतार्थ के प्रत्युच्चारण में समर्थ । (द्र गीतार्थ)

कोष्ठागार-भाण्डागार

- कोष्ठागार—अन्नभण्डार ।
 - भाण्डागार—हिरण्य-सुवर्ण-भंडार ।
- धण्णभायणं कोट्टागारो, भांडागारो हिरण्ण-सुवण्णभायणं ।
 (निचू २ पृ ४५५)

क्षण-उत्सव

- क्षण—एकदिवसीय पर्व ।
 - उत्सव—बहुदिवसीय पर्व ।
- क्षणः—एकद्वैवसिकः, उत्सवः—बहुद्वैवसिकः ।

(बृभा ३३५५ की वृ)

खरपरुष-निष्ठुर वचन

- खरपरुष—उच्च स्वर से रोषपूर्वक जो कहा जाता है । हिंसक और मर्मवेधी वचन । आक्रोशयुक्त और उपचार रहित वचन ।
 - निष्ठुरवचन—असभ्य वचन ।
- उच्चं सरोसभणियं, हिंसगमम्मवयणं खरं तं तू ।
 अक्कोस णिरुवचारिं, तमसब्भं णिट्टुरं होती ॥ (बृभा ५७५१)

खिंसा-उपालंभ

- खिंसा—निष्ठुर-स्नेहहीन वचन ।
 - उपालंभ—मृदु-स्निग्ध वचन ।
- खिंसा तु णिप्पिवासा, सपिवासो हो उवालंभो ॥ (निभा २६३७)

गंजशाला-उपस्करणशाला

- गंजशाला—जहां धान्य का मर्दन किया जाता है ।
 - उपस्करणशाला—रसोईघर ।
- जत्थ धण्णं दमिज्जति सा गंजशाला, उवक्खडणशाला
 महाणसो । (निचू २ पृ ४५५)

गणित-विभाजित

- गणित—गिने हुए, पांच व्यक्ति, छह व्यक्ति आदि ।
 - विभाजित—‘अमुक-अमुक’ नामोल्लेखपूर्वक निर्धारित ।
- पंच इति गणिया । अमुगनामेहिं विभातिया । (निचू ३ पृ १५)

गिरि-मरु

- गिरि—नीचे का वह प्रपात स्थान, जो पर्वत पर आरूढ़ व्यक्ति को दिखाई देता है ।
 - मरु—जहां से प्रपात दिखाई नहीं देता ।
- जत्थ पवातो दीसति, सो तु गिरो मरु अदिस्समाणो तु ।
 (निभा ३८०२)

ग्लान-बहुरोगी

- ग्लान—तत्काल उत्पन्न रोग वाला ।
 - बहुरोगी—पुराना रोगी अथवा अनेक रोगों से अभिभूत ।
- ग्लानः अधुनोत्पन्नरोगः । बहुरोगी नाम चिरकालं बहुभिर्वा
 रोगैरभिभूतः । (बृभा ५३९९ की वृ)

घृष्ट-मृष्ट

- घृष्ट—दूध आदि के ज्ञाण से जंघाओं को मसलना ।
 - मृष्ट—केशों को अथवा शरीर को तेल से चुपड़ना ।
- घट्टा फेणादिणा जंघाओ, तेल्लेण केसे सरिं वा मट्टेति ।
 (निचू ४ पृ ७७)

जल्ल-मल

- जल्ल—स्वेदजनित मैल।
 - मल—मैल, जो हाथ आदि के घर्षण से दूर हो जाए।
- जल्लो तु होति कमढं, मलो तु हत्थादि घट्टितो सडति।
(निभा १५२२)

जाति-कुल

- जाति—मातृपक्षीय वंश।
 - कुल—पैतृक वंश। इक्ष्वाकु आदि कुल।
- मातिपक्खविसुद्धा इब्भजाई। पियपक्खविसुद्धं इक्खागुमादियं कुलं। (निचू ३ पृ २९)

डाग-शाक

- डाग—डाल (शाखा) प्रधान शाक।
 - शाक—पत्रप्रधान शाक।
- 'डाग' ति डालप्रधानं शाकं पत्रप्रधानं तु शाकमेव।
(आचूलावृ प ४११)

दंड-विदंड

- दंड—तीन हाथ लम्बा।
 - विदंड—दो हाथ लम्बा।
- तिण्णि उ हत्थे डंडो, दोण्णि उ हत्थे विदंडओ होति।
(निभा ७००)

दमक-मेंठ

- दमक—अश्व आदि को सर्वप्रथम प्रशिक्षित करने वाला।
 - मेंठ—अश्व या हाथी को योग्य आसनों में व्यापृत करने वाला।
- आसाण य हत्थीण य, दमगा जे पढमताए विणियंति।
परियट्टमेंठ पच्छ, ॥ (निभा २६०१)

दर्पिका-कल्पिका

- दर्पिका—रग-द्वेष के वशीभूत होकर की जाने वाली प्रतिसेवना।
- कल्पिका—शुद्ध नीति से आवश्यकतावश की जाने वाली प्रतिसेवना। (द्र प्रतिसेवना)

दिशा-अनुदिशा

- दिशा—आचार्य-उपाध्याय-प्रवर्तिनी।
- अनुदिशा—आचार्य-उपाध्यायपद से द्वितीय स्थानवर्ती।
(द्र दिग्बंध)

निरालम्ब-अप्रतिष्ठित

- निरालंब—इह-पारलौकिक आशंसा से मुक्त।
 - अप्रतिष्ठित—इह-पारलौकिक प्रतिबद्धता से मुक्त। अशरीरी।
- 'निरालम्बनः' ऐहिकामुष्मिकाशंसारहितः 'अप्रतिष्ठितः' न क्वचित् प्रतिबद्धोऽशरीरी वा। (आचूलावृ प ४३१)

नृत्य-नाट्य

- नृत्य—गीतविरहित नर्तन।
 - नाट्य—गीतयुक्त अभिनय।
- नट्टं होइ अगीयं, गीयजुयं नाडयं तु नायव्वं। (बृभा २४५३)

पणि-विपणि

- पणि—बृहत्तर दुकान।
 - विपणि—सीमित वस्तुओं वाली दुकान।
- ये बृहत्तरा आपणास्ते पणय इत्युच्यन्ते, ये तु दरिद्रापणास्ते विपणयः। (बृभा ३२७८ की वृ)

पथ-मार्ग

- पथ—जिसमें ग्राम, नगर, पल्ली आदि न हों, वह रास्ता।
 - मार्ग—जिसमें एक ग्राम के बाद दूसरे ग्राम आदि की शृंखला हो, वह रास्ता।
- पंथम्मि नत्थि किंची, मग्गो सग्गामो..... ॥ (बृभा ३०४१)

पुञ्ज-राशि

- पुञ्ज—धान्य का वृत्ताकार ढेर।
 - राशि—वह ढेर, जो किंचित् लम्बा हो।
- पुंजो य होति वट्टो, सो चेव ईसिंआयतो रासी। (बृभा ३३११)

पुष्प-कषाय

- पुष्प—स्वच्छ और मनोज्ञ वर्ण-गंध-रस-स्पर्श युक्त जल।
 - कषाय—दुर्गंधित, अरस और कलुषित जल।
- जं गंधरसोवेतं अच्छं व दवं तु तं भवे पुष्पं।
जं दुब्धिगंधमरसं, कलुसं वा तं भवे कसायं ॥
(निभा ११०४)

पूत-रुधिर

- पूत—पक्व शोणित।
 - रुधिर—स्वभावस्थ शोणित।
- पूयं वा पक्कं सोणियं...रुहिरं सभावत्थं सोणियं भण्णति।
(निचू २ पृ २१५)

पूर्वसंखडि-पश्चात्संखडि

- पूर्वसंखडि—पूर्वाह्नकालीन भोज । जन्म-नामकरण, विवाह आदि के अवसर पर दिया जाने वाला भोज ।
- पश्चात्संखडि—अपराह्नकालीन भोज । मृतकभोज । पुष्यादिच्ये पुरेसंखडी । मङ्गलहपच्छतो पच्छासंखडी । (निचू ३ पृ ७०) जातनामकरणविवाहादिका पुरःसंखडिः तथा मृतकसंखडिः पश्चात्संखडिः । (आचूलावृ प ३३०)

प्रतिलेखन-प्रमार्जन

- प्रतिलेखन—वस्त्र, पात्र आदि का निरीक्षण ।
- प्रमार्जन—स्थान आदि को रजोहरण आदि से साफ करना । चक्रखुणा षडिलेहणा । मुहपोत्तिय-र्यहरण-गोच्छगोहिं पमज्जणा । (निचू २ पृ १९३)

भक्ति-बहुमान

- भक्ति—अभ्युत्थान, दंडग्रहण, पादप्रोक्षण, आसनप्रदान-ग्रहण द्वारा की जाने वाली सेवा ।
- बहुमान—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों से अनुरंजित व्यक्ति के प्रति रसमय प्रीतिप्रतिबंध । (द्र आचार)

भित्ति-कुड्य

- भित्ति—ईंटों से निर्मित दीवार ।
 - कुड्य—मिट्टी आदि से निर्मित भीत ।
- इष्टकादिरचिता भित्तिः, मृत्पिण्डादिनिर्मितं कुड्यम् ।
(बृभा ३३११ की वृ)

मणि-रत्न

- मणि—चन्द्रकांत आदि । स्थल में उत्पन्न मणि ।
- रत्न—इन्द्रनील आदि । जल में उत्पन्न रत्न । चन्द्रकान्तादयो मणयः, इन्द्रनीलादीनि रत्नानि । अथवा स्थल-समुद्भवा मणयः, जलसमुद्भवानि रत्नानि ।
(बृभा ११७९ की वृ)

यश-कीर्ति

- यश—सब दिशाओं में व्याप्त प्रसिद्धि ।
 - कीर्ति—एक दिशाग्रमिनी प्रसिद्धि ।
- यशः—सर्वदिग्गामिनी प्रसिद्धिः, सैवैकदिग्गामिनी कीर्तिः ।
(बृभा ४६५५ की वृ)

यष्टि-वियष्टि

- यष्टि—शरीर प्रमाण लाठी ।
 - वियष्टि—शरीरप्रमाण से चार अंगुल न्यून यष्टि । लट्ठी आतपमाणा, विलट्टि चतुरंगुले पूणा ॥ (निभा ७००)
- ### यानगृह-यानशाला
- यानगृह—जहां रथ आदि यान रखे जाते हैं ।
 - यानशाला—जहां रथ आदि यानों का निर्माण होता है । 'यानगृहाणि' रथादीनि यत्र यानानि तिष्ठन्ति 'यानशालाः' यत्र यानानि निष्पाद्यन्ते । (आचूलावृ प ३६६)

यान-वाहन

- यान—हाथी, घोड़ा आदि । अथवा अनुरंगा, रथ आदि । अथवा शिविका आदि ।
- वाहन—हस्ति, तुरंग, महिष आदि । हत्थितुरंगादिगमेव जाणं । अहवा रहादिगं सव्वं जाणं भण्णति । अहवा सिविगादिगं जाणं भण्णति । (निचू ३ पृ ९९) अणुरंगाई जाणे, गुंटाई वाहणे..... । (बृभा ३०७१)

रोग-आतंक

- रोग—कुष्ठ, राजयक्ष्मा आदि । दीर्घकालस्थायी व्याधि ।
- आतंक—कास, श्वास आदि । सद्योघाती व्याधि । (द्र चिकित्सा)

लांछित-मुद्रित

- लांछित—भस्म आदि से चिह्नित ।
- मुद्रित—गोबर-पानी से मुद्रित । छारेण लंछिताइं, मुद्दा पुण छाणपाणियं दिण्णं । (बृभा ३३१२)

वणिक्-विवणिक्

- वणिक्—दुकान में बैठकर व्यापार करने वाले ।
- विवणिक्—बिना दुकान घूम-फिरकर व्यापार करने वाले । ये आपणस्थिता व्यवहरन्ति ते वणिजः । ये पुनरापणेन विनाप्यूर्ध्वस्थिता वाणिज्यं कुर्वन्ति ते विवणिजः ।
(बृभा ३२७८ की वृ)

वर्म-कवच

- वर्म—लघु तनुत्राण विशेष ।
 - कवच—बृहत् तनुत्राण विशेष ।
- वर्म—लघुस्तनुत्राणविशेषः.....कवचं—महाँस्तनुत्राणविशेषः ।
(बृभा २२८३ की वृ)

विचारभूमि-विहारभूमि

- विचारभूमि—उत्सर्गभूमि।
 - विहारभूमि—स्वाध्यायभूमि।
- वियारे त्ति सण्णाभूमोओ। विहारे त्ति सञ्जायभूमोए।
(निचू २ पृ २११)

विद्या-मन्त्र

- विद्या—जो स्त्रीदेवता अधिष्ठित है अथवा पूर्व सेवा आदि की प्रक्रिया से साध्य है। (द्र मंत्र-विद्या)
- मन्त्र—जो पुरुषदेवता अधिष्ठित है अथवा पठितसिद्ध है।

विरस-अरस

- विरस—पुराना धान्य।
 - अरस—हाँग आदि से असंस्कृत।
- विरसः—पुराणौदनादिः। अरसस्य हिंवाद्यसंस्कृतस्य।
(बृभा १२५६ की वृ)

विवेचन-विशोधन

- विवेचन—मुंह में, हाथ में या पात्र में जो अकल्पनीय भक्तपान है, उसका परिष्ठापन करना। एक बार परिष्ठापन या शुद्धि करना।
 - विशोधन—हाथ से पोंछना, जल से धोना—कल्प करना। बार-बार परिष्ठापन-शोधन करना।
- सव्वस्स छंडुण विगिंचणा उ मुह-हत्थ-पादलूढस्स।
फुसण धुवणा विसोहण, सकिं व बहुसो व णाणत्तं ॥
(बृभा ५८१३)

व्यतिकीर्ण-विप्रकीर्ण

- व्यतिकीर्ण—एक ओर से सम्मिलित सभी धान्य।
 - विप्रकीर्ण—सर्वतः संस्तृत धान्य।
- ...वित्तिक्किण्णे सम्मेलो, विपइण्णे संथडं जाणे ॥ (बृभा ३३०२)

शय्या-संस्तारक

- शय्या—शरीर के प्रमाणवाली। यथासंस्तृत पाट-बाजोट आदि।
- संस्तारक—ढाई हाथ विस्तृत बिछौना। (द्र शय्या)

शिल्प-नैपुण्य

- शिल्प—बढ़ई आदि का कर्म।
 - नैपुण्य—लिपि, गणित आदि कलाओं का कौशल।
- शिल्पानि—रथकारकर्मप्रभृतीनि, नैपुण्यानि लिपिगणितादि-
कलाकौशलानि। (बृभा ५१०९ की वृ)

समान-वसमान

- समान—वृद्धवासी, स्थिरवासी।
- वसमान—मासकल्पविहारी। (द्र विहार)

सहोढ-सविहोढ

- सहोढ—सदृश।
 - सविहोढ—लज्जनीय।
- सहोढ त्ति सरिच्छो...सविहोढ त्ति लज्जावणिज्जो।
(निचू ३ पृ ५०२)

साधारणसूत्र-प्रत्येकसूत्र

- साधारण सूत्र—जिसमें दो, तीन आदि बहुत पद हों। यथा—विकटसूत्र, उदकसूत्र, पिंडसूत्र (क २/४, ५, ८)।
 - प्रत्येकसूत्र—जिस सूत्र में एक पद हो। यथा—ज्योतिसूत्र प्रदीपसूत्र (क २/६, ७)।
- साधारणसूत्राणि नाम यत्रैकसूत्रे द्वयादिप्रभृतीनि बहूनि पदानि भवन्ति। प्रत्येकसूत्राणि तु चात्रैकसूत्रे एकमेव पदम्।
(बृभा ३४०२ की वृ)

सारूपिक-सिद्धपुत्र

- सारूपिक—जिसका शिर मुंडा हुआ होता है, जो श्वेत वस्त्र धारण करता है, जो कच्छा नहीं बांधता, जिसके पत्नी नहीं होती, जो भिक्षाजीवी होता है।
 - सिद्धपुत्र—जो मुंडित है अथवा चोटी रखता है, जो पत्नी सहित होता है।
- मुण्डितशिराः शुक्लवासःपरिधायी कच्छामबध्नानोऽभार्यको भिक्षां हिण्डमानः सारूपिक उच्यते। यस्तु मुण्डः सशिखाको वा सभार्यकः स सिद्धपुत्रकः। (बृभा ५४४९ की वृ)

सुरा-सौवीर

- सुरा—ब्रीहि आदि के आटे से निष्पन्न मद्य।
- सौवीर—द्राक्षा, खर्जूर आदि द्रव्यों से निष्पन्न मद्य। ब्रीह्यादिसम्बन्धिना पिष्टेन यद् विकटं भवति सा सुरा। यत्तु पिष्टवर्जितं द्राक्षाखर्जूरादिभिर्द्रव्यैर्निष्पाद्यते तद् मद्यं सौवीरक-विकटम्। (बृभा ३४०६ की वृ)

सूचा-असूचा वचन

- सूचा वचन—स्पष्ट रूप से पर-दोषसूचक वचन।
- असूचा वचन—अपने दोष बताने के बहाने दूसरों के दोष प्रकट करने वाले वचन। (द्र समिति)

जागरह नरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।
जो सुवति ण सो धण्णो, जो जग्गति सो सया धण्णो ।।

(बृहत्कल्पभाष्य ३३८२)

जागो नर! तुम नित्य, जागृत की मतिसम्पद् बढ़ती ।
जो सोता वह धन्य नहीं है, धन्य वही जो सदा जागता ।।